अ.शा. ६०१

तुलनात्मक अर्थ-पद्धति

R.

*

डब्लू० एन० लॉक्स

R.

तुलनात्मक अर्थ-पद्धति
Comparative Economic Systems

अ.शा.पु.ओ.

क्र.नं. १६३८२

तुलनात्मक अर्थ-पद्धति

लेखक

डब्ल्यू० एन० लॉक्स

अनुवादक

श्री रामचंद्र तिवारी

एम० ए०, एल० एल० बी०, साहित्यरत्न

तथा

श्री रतनचंद्र शर्मा

एम० ए० (अर्थशास्त्र)

पुनरीक्षक

श्री राजेंद्रनाथ द्विवेदी

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना–३

स्वत्वाधिकार सुरक्षित

भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ Harper & Row, New York द्वारा प्रकाशित तथा डब्ल्यू० एन० लॉक्स द्वारा लिखित Comparative Economic Systems का हिंदी अनुवाद है, जो भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित है।

प्रथम संस्करण : १९७१
३०००

मूल्य—२२.०० (केवल बाइस रुपए)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ, पटना-३

मुद्रक :
बिहार प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

इनकी भावी पीढ़ियां विवादग्रस्त विचार-जगत् की
मुक्त भाव से समीक्षा करने की भावना बनाए रखें
तथा उसे बढ़ाएँ,
इस आशा से
यह पुस्तक
विलियम लॉक्स हार्वे
स्कॉट चार्ल्स हार्वे
को

सादर समर्पित

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीतिसंकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से शत-प्रतिशत अनुदान देकर तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। प्रत्येक हिंदीभाषी राज्य में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी-निकाय की स्थापना हुई। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ डब्ल्यू० एन० लॉक्स के Comparative Economic Systems का हिंदी-अनुवाद है। यह अनुवाद श्री रामचंद्र तिवारी, एम० ए०, एल० एल० बी०, साहित्यरत्न तथा श्री रत्नचंद्र शर्मा, एम० ए० (अर्थशास्त्र) ने किया है। इसका पुनरीक्षण भारत सरकार के शिक्षा एवं युवासेवा मंत्रालय के अधिकारी श्री राजेंद्रनाथ द्विवेदी ने किया है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना

दिनांक २१-८-७१

षष्ठ संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की जब भूमिका लिखी गई थी, तब से अब तक चौथाई सदी गुजर चुकी है। आर्थिक संस्थाओं के स्वरूप तथा प्रक्रियाओं के विषय में परीक्षण तेजी के साथ होते ही चल रहे हैं। आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन इतनी तेजी से हो रहे हैं कि वे एक तरह से वर्त्तमान संस्थाओं को, बदले जाने या संशोधित होने से पहले ही, समझने के प्रयासों को ही बेकार कर देते हैं। यह समझना तो शायद तभी संभव होगा, जब कोई ऐसा इलेक्ट्रोनिक मस्तिष्क बन सके, जिससे समस्त आर्थिक और राजनीतिक अनुभव एक साथ आसवित होकर वह बुद्धिमत्ता बन सके, जो संसार की भविष्य की सभी आकांक्षाओं तथा उनकी पूर्ति की योजनाओं की सच्ची मार्ग-दर्शक हो सकेगी। इस पुस्तक के प्रत्येक संस्करण के साथ यह समस्या कि क्या इसमें बढ़ाया जाए तथा क्या निकाला जाए, अधिकाधिक गंभीर होती गई। ऐसा करते समय यह दायित्व-बोध हमारे सामने रहा कि विचार-जगत के उन विशिष्ट विभागों को इसमें अवश्य शामिल किया जाए, जिन्हें 'अर्थतंत्रों' का अध्ययन करने वाले महाविद्यालयों के बहुसंख्यक विद्यार्थी अध्ययन करेंगे।

इन अनेक दशकों के दौरान दो विरोधी राजनीतिक-आर्थिक विचारधाराएँ अधिक प्रखरता से उभरी हैं। एक विचारधारा के अनुसार संसार की बढ़ती आबादी तथा तेजी से बढ़ रही औद्योगिक शिल्प-विद्या उन क्षेत्रों का विस्तार करती है, जहाँ सामूहिक रूप से कार्य, सम्मिलित उद्देश्य तथा उद्देश्य-पालन--स्वेच्छा से नहीं तो बलात्—करना जरूरी है, ताकि आर्थिक कल्याण में तेजी से वृद्धि की जा सके। दूसरी विचारधारा वाले वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा आजादी को ऐसी अमूल्य वस्तु समझते हैं, जिनका आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं द्वारा, कमी नहीं, विस्तार किया ही जाना चाहिए। कुछ लोग इन दोनों विरोधी व्यापक सिद्धांतों को मिलाकर पृथक् अर्थतंत्र के ताने-बाने के रूप में प्रयोग करते हैं। जिस परिमाण में इन दोनों का मिश्रण होता है, उसी से प्रत्येक प्रकार के अर्थतंत्र की विशेषता बन जाती है। इन मिश्रणों के क्या फलितार्थ हैं, उनको समझना तथा इनमें से किसी-न-किसी का चुनाव करने की मानव की शाश्वत् अनिवार्यता को समझना उन छात्रों के लिए जरूरी है, जो इस पुस्तक का उपयोग करेंगे।

इन स्थूल सिद्धांतों ने जो मूर्त स्वरूप ग्रहण किए हैं और इन सिद्धांतों के मिश्रण के कलात्मक नमूने समय-समय पर बदलते तथा परिवर्तित होते रहते हैं, इसलिए थोड़े-थोड़े समय के बाद इस पुस्तक का संशोधन भी आवश्यक हो जाता है। वर्त्तमान संशोधित संस्करण में भी पाँचवें संस्करण की तरह पूँजीवादी संस्थाओं की भावी संभावनाओं पर जोर दिया गया है—इस पर एक अध्याय अंत में दिया गया है। ब्रिटेन में कुछ आधारभूत उद्योगों पर सामाजिक स्वामित्व तथा समाज द्वारा परिचालन और स्वतंत्र व्यवसाय-प्रणाली रखने की जो मिश्रित व्यवस्था है, उसकी प्रकृति तथा परिणामों (जिस रूप में वे विद्यमान हैं) का विवेचन किया गया है। भारत के आर्थिक विकास की विशेष समस्याओं का जहाँ विशाल जनसंख्या की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगीकरण की शुरूआत ही हुई है, एक विशेष दृष्टि से अध्ययन किया गया है, जिसमें सामाजिक मार्गदर्शन तथा प्रशासन पर प्रारंभिक रूप से जोर दिया जाता है। सोवियत संघ में तेजी से जो आर्थिक विकास हुआ है, उसके कारण उसकी आर्थिक प्रक्रियाओं का अधिक विश्लेषणात्मक अध्ययन करना जरूरी है, जो इस संस्करण में मिलेगा। अगर कोई और कारण नहीं, तो चीनी साम्यवादियों ने जिस आर्थिक समस्या को हल करने का बीड़ा उठाया है, उसकी विशालता के कारण ही सही, उनकी अर्थ-व्यवस्था की तरफ हमारा ध्यान जाना चाहिए। यूगोस्लाविया की तथाकथित साम्यवादी संस्थाएँ सोवियत संघ की तुलना में अपूर्व होने के कारण, उसकी अर्थ-व्यवस्था, 'साम्यवादी जगत' की विविधताओं में का एक उदाहरण बन जाता है। व्यावहारिक रूप से संचालित अर्थतंत्रों की पृष्ठभूमि के रूप में मार्क्सवादी सिद्धांत तथा आधुनिक समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतों का परंपरागत विश्लेषण पिछले संस्करणों की भाँति इसमें रखा गया है।

स्वाभाविक तौर पर इसके लिए असंख्य स्रोतों से विचार तथा सामग्री प्राप्त हुई है। इसमें बहुत से विद्यार्थी भी हैं, जिनके साथ लेखक को पिछले संस्करणों की पाठ्य-सामग्री पर विचार-विमर्श करने का उपयोगी अवसर मिला है। इनमें कुछ सहयोगी संस्थाओं के साथी भी शामिल हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में अपने यहाँ लागू करके पुस्तक के दोषों को आँख से ओझल रखने का उदारमना दृष्टिकोण अपनाया है। इन सभी अनाम व्यक्तियों को बहुत-बहुत हार्दिक धन्यवाद ! तीन व्यक्तियों का विशेष हार्दिकता से लेखक ऋणी है। हुगली मोहसिन कॉलेज तथा सेन्ट्रल कलकत्ता कॉलेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्राध्यापक प्रोफेसर मनोरंजन दत्त ने भारत में आर्थिक आयोजन-संबंधी दो अध्यायों का प्रथम मसौदा तैयार करने में अपनी कुशाग्रता तथा व्यापक ज्ञान का उपयोग हमारी खातिर किया है। आपने यूगोस्लाविया तथा लाल चीन विषयक अध्यायों का

संशोधन करने में भी सहायता दी है। श्रीमती हेलेन एस० ह्वाइट ने सामान्य कार्य-दिवस की सामान्य रूप से मान्य सभी धारणाएँ त्याग कर टाइप करने की अनुचित रूप से निर्धारित समय-सीमाएँ पूरी की हैं और एकदम ठीक टाइप किया है। वास्तव में सह-लेखिका के रूप में मेरी पत्नी ओलिव वागनर लौक्स ने पुस्तक में किन-किन विषयों पर विवेचन किया जाए, इन आधारभूत प्रश्नों पर विचारणा तथा वाक्यावली के असंख्य स्पष्टीकरणों के रूप में परामर्श देने से लेकर प्रूफ-संशोधन और सूची बनाने के कठिन काम तक किए हैं।

विलियम एन० लॉक्स

फिलाडेल्फिया
जनवरी, १९६१

प्रथम संस्करण की भूमिका

रिचर्ड एच० टॉनी ने एक बार लिखा था कि 'जीवन एक गगनचारी द्रुतगामी विहंगम है तथा सिद्धांत मंदगामी घोंघा', संभवत: इसी कारण तुलनात्मक अर्थतंत्रों के विषय पर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों के लिए अभी तक एक पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत नहीं की गई है। आर्थिक परीक्षणों की भूलभुलैयों तथा आर्थिक परिवर्तनों की तेजी ने संभवत: इस क्षेत्र में एक परिपक्व दृष्टिकोण का विकास होना मुश्किल भी बना दिया है। लेकिन, हाल ही में ऐसे अनेक पाठ्य-क्रम आरंभ किए गए हैं, जिनमें उन विषयों की शिक्षा दी जाती है, जो इस पुस्तक में लिए गए हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम साफ-साफ यह स्वीकार करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक इस दुरूह तथा विवादग्रस्त विषय पर पहला प्रयास है और हम इस संबंध में अध्यापकों तथा छात्रों के सुझावों का स्वागत करेंगे।

हमारी आशा है कि आगामी पृष्ठों में जो सामग्री दी गई है, उनसे अत्यधिक विवादग्रस्त तथ्यों को एकत्र करने में हुई अत्यधिक कठिनाइयों के साथ की गई स्वतंत्र जाँच-पड़ताल के परिणाम सामने आएँगे। यह बात स्पष्ट कहनी चाहिए कि हम उदार शिक्षा के सिद्धांतों के पक्षपाती हैं। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य निरंकुश प्रतिबंधों से मस्तिष्क को मुक्त करना तथा कष्ट-साध्य विचारणा-प्रक्रिया में सहायता पहुँचाना है। कैसे सोचें, न कि निर्देशन के अनुसार क्या सोचें, इसका प्रशिक्षण देने से योग्य तथा समाज के लिए आवश्यक व्यक्तियों के तैयार होने की संभावना अधिक है। शिक्षा में 'ऑस्ट्रिक सिद्धांत' को तो सर्वथा निकाल ही देना चाहिए, जिससे रुचिकर होने या न होने की परवाह किए बिना तथ्यों का सामना किया जा सके। इसका उद्देश्य उस भविष्य का, जिसके गर्भ में समस्याएँ समाहित रहती हैं, सामना करना तथा अतीत का सामना करने से बचाना है। फ्रांसीसी क्रांति के समय शासक वर्ग का टॉनी ने जो वर्णन किया है, उसका इस संबंध में स्मरण किया जा सकता है, "उन्होंने अनिच्छापूर्वक पीछे हटते-हटते भविष्य में प्रवेश किया, ताकि उनसे भी बुरा घटित न होने पाए।" यदि इस पुस्तक से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है, तो यही है कि—'पिछले बीस वर्षों में हुई सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति यदि भविष्य में भी हो, तो मुख्य समस्या होगी आकांक्षित स्वतंत्रताओं को खोए बिना ऐसे आर्थिक परिवर्तन करना, जो घटनाक्रम के कारण अनिवार्य हो जाए।

फिलाडेल्फिया
अगस्त, १९३८

विलियम एन० लॉक्स
जे० वेल्डन हूट

विषय-सूची

भाग : १

भूमिका

क्रम

पृष्ठ-संख्या

अध्याय : १

अर्थतंत्रों के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका १-१६

[अर्थतंत्र की विविधता; अर्थतंत्रों का निर्माण करने वाले तत्त्व; अर्थतंत्र क्या होता है; अर्थतंत्र मानवनिर्मित हैं; आर्थिक समस्याएँ और आर्थिक शक्ति; आर्थिक सिद्धांतों की सार्वभौमता; ह्रासमान प्रतिफल सिद्धांत; ह्रासमान तुष्टिगुण सिद्धांत; माँग-त्वरण सिद्धांत; मुद्रा-विनिमय दर समीकरण; संस्थाओं और सिद्धांतों के बीच संबंध; अन्य मूलभूत आर्थिक सिद्धांत; आर्थिक सिद्धांतों के अनुरूप अर्थव्यवस्था; अर्थतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन।]

भाग : २

पूँजीवाद

अध्याय : २

पूँजीवादी अर्थतंत्र के मूलाधार १९-५१

[*पूँजीवाद की परिभाषा* : पूँजीवाद तथा अनार्थिक संस्थाएँ; पूँजीवाद का गतिशील रूप; अपूर्ण पूँजीवाद; *आर्थिक प्राणी* : परिभाषा; जटिल अवस्थाओं में स्थिति; प्रतिबंध; कृत्य; *निजी संपत्ति* : परिभाषा; संविदे भी निजी संपत्ति; कृत्य : निजी संपत्ति के उपयोग पर रुकावटें; *उत्तराधिकार* : परिभाषा; पूँजीवाद के साथ संबंध; उत्तराधिकार के अधिकार का स्रोत; *वैयक्तिक पहल की स्वतंत्रता* : परिभाषा; कृत्य; पहल की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध; *प्रतिस्पर्द्धा* : परिभाषा; अन्य संस्थाओं से संबंध; कृत्य; एकाधिकार का पूँजीवाद से संबंध; *सरकारी नियमन तथा स्वामित्व का प्रतियोगिता*

से संबंध : लाभ-अभिप्रेरण : पूँजीवाद से संबंध; आर्थिक प्राणी से तुलना; महत्त्व; कृत्य; निष्कर्ष ।]

अध्याय : ३

अमेरिकी पूँजीवाद की सफलताएँ ५२-७२

[पूँजीवादी अर्थतंत्र के मूल्यांकन की समस्या : नम्यता : बढ़ता हुआ जीवन-स्तर: नई उपभोग्य वस्तुएँ; उद्यमकर्त्री ऊर्जा; शिल्प-विद्याविषयक प्रगति; उत्पादक संसाधनों का उपयोग; व्यक्तिवाद ।]

अध्याय : ४

अमेरिकी पूँजीवाद के अभाव ७३-९६

[धन-संबंधी मूल्यों और मानव-कल्याण के बीच संघर्ष; आर्थिक असमानता; अनर्जित आय; अभाव पैदा करने को प्रोत्साहन; अपव्यय; संतुलन का अभाव; आर्थिक अरक्षा; सामाजिक विघटनकारी शक्तियाँ; व्यक्तिवाद ।]

भाग : ३

समाजवाद और साम्यवाद का मार्क्सवादी सिद्धांत

अध्याय : ५

मार्क्स का जीवन-चरित : उनका दर्शन और इतिहास की व्याख्या ९७-१२५

[मार्क्सवादी सिद्धांत का स्वरूप : कार्ल मार्क्स का जीवन-चरित : मार्क्स का परिवार तथा निवास-स्थान; मार्क्स : पत्रकार के रूप में; वित्तीय स्थिति; मार्क्स : एक विद्यार्थी; क्रांतिकारी मार्क्स; दर्शन : हीगेलीय आधार; मार्क्स द्वारा संशोधन; मार्क्स की सीमाएँ; इतिहास की व्याख्या : मार्क्स का उद्देश्य; इतिहास की अन्य व्याख्याएँ; मार्क्स और एंगिल्स का मत; आधुनिक विद्वानों के मत; वैज्ञानिक प्रकृति; उत्पादन-पद्धति का अर्थ; काल-संबंधी सीमाएँ; विशदता; आर्थिक शक्तियों का अन्य शक्तियों के साथ संबंध; आर्थिक शक्तियों का अप्रत्यक्ष कार्य ।]

अध्याय : ६

मूल्य तथा मजदूरी का मार्क्सवादी सिद्धांत १२६-१५२

[मूल्य-सिद्धांत : मार्क्स : अर्थशास्त्री के रूप में प्रयोग मूल्य, विनिमय मूल्य

तथा दाम : सामान्य मूल्य तथा बाजार मूल्य; सभी पण्यों का सामान्य मूल्य-निर्धारक तत्त्व : श्रम; मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत संबंधी कथन; अतीत और वर्त्तमान श्रम : दोनों संमिलित; सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम; वस्तुओं के पुनरुत्पादन में आवश्यक श्रम ; मूल्य-परिवर्तन में समय का अंतराल; विनिमय से वस्तु का प्रयोग मूल्य प्रमाणित; श्रम-तत्त्व : काल खंडों के रूप में; वस्तु में अंतर्भूत मूल्य; श्रम-अंश ही मुद्रा मूल्य का निर्धारक; मूल्य को मुद्रा-रूप में व्यक्त करने का महत्त्व; मार्क्स द्वारा संशोधन; मूल्य : एक औसत; *मजदूरी सिद्धांत* : श्रम शक्ति एक वस्तु है; सामान्य मजदूरी तथा बाजार मजदूरी; श्रम-तत्त्व ही श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करता है; श्रम-शक्ति की सामान्य कीमत; व्यक्ति नहीं, पारिवारिक जीवन-निर्वाह; निपुणता के लिए मजदूरी में अंतर; निर्वाह का अर्थ; भौतिक निर्वाह पर बल ।]

अध्याय : ७

बेशी मूल्य तथा पूँजी-संचयन का मार्क्सवादी सिद्धांत १५३-१७२

[*बेशी मूल्य* : सिद्धांत की रूपरेखा; सूत्र के रूप में सिद्धांत; श्रम तथा श्रम-शक्ति के अंतर का संबंध; उदाहरण; पूँजीवाद के अंतर्गत अनिवार्य; पूँजीवाद की संचालक शक्ति; शोषण की सीमा; किराया, व्याज और लाभ का संबंध; सामान्य मूल्य तथा सामान्य मजदूरी के कारण बेशी मूल्य; पूँजीवादी उत्पादन से बेशी मूल्य की उत्पत्ति; कार्य-दिवस लंबा होने से संबंध; मशीन के प्रयोग से संबंध; शिल्प-विद्याविषयक प्रगति से संबंध; श्रमिक से तेज काम कराने से संबंध ; श्रमिकों से सहकारी रूप में काम कराने से संबंध; उत्पादन से सभी सुधारों से बेशी मूल्य में वृद्धि; आधुनिक शोषण की पहले के शोषण से तुलना, *पूँजी का संचयन*: बेशी मूल्य का उद्भव; आदिकालीन संचय; आदिकालीन संचय का स्वरूप; बेशी मूल्य से पूँजी-संचयन; उपभोग-स्थगन पूँजी का वास्तविक स्रोत नहीं; पूँजीवाद में श्रम का शोषण अनिवार्य ।]

अध्याय : ८

पूँजीवादी उत्पादन के परिणाम १७३-१९७

[*वर्ग-संघर्ष* : वर्ग-संघर्ष की प्रकृति; ऐतिहासिक स्रोत; एकमात्र आर्थिक स्रोत : बेशी मूल्य; बुर्जुआ वर्ग की रचना; छोटे बुर्जुआ लोगों की स्थिति; बुर्जुआपोषित परिवर्तन; बुर्जुआ वर्ग का योगदान; बुर्जुआ वर्ग ने मजदूर वर्ग

पैदा किया; *राज्य : अवपीड़न का एक माध्यम* : राज्य का स्वरूप; बुर्जुआ राज्य; बुर्जुआ राज्य में प्रजातंत्र; *मजदूर वर्ग के बढ़ते कष्ट* : पूँजीवाद के अंतर्विरोध; बेशी मूल्य और बढ़ते कष्ट; 'आरक्षित' श्रम; मशीनें और आरक्षित श्रम; व्यवसाय-चक्र और अतिरिक्त श्रम; पूँजी का दबाव और आरक्षित श्रम; *लाभ की घटती दर* : कमी होने का कारण ; उस गिरावट का प्रतिरोध; *व्यवसाय-चक्र* : पूँजीवाद में निरूढ़; पूँजीवादी अत्युत्पादन; संकट की गुरुता में वृद्धि; *पूँजी जमा होना और उसका केंद्रीयकरण*: प्रतिस्पर्द्धा की अधिकाधिक तीव्रता; पूँजीपतियों के मध्य परस्परघाती युद्ध; पूँजी का 'जमाव'; पूँजी का केंद्रीयकरण; *जमाव और केंद्रीयकरण स्वयं को चिररक्ष न बनाने वाले हैं*: *वित्त पूँजी तथा पूँजीवादी साम्राज्यवाद* : वित्त पूँजी की एकाधिकारीय प्रकृति; वित्त पूँजी परजीवी होती है; पूँजीवादी साम्राज्य की ओर; पूँजीवादी साम्राज्यवाद की विद्यमानता; पूँजीवाद की 'उच्चतम' अवस्था; साम्राज्यवादी युद्ध; *पूँजीवाद का अनिवार्य पतन*।]

अध्याय : ९

पूँजीवाद के उत्तराधिकारी : समाजवाद और साम्यवाद १९८-२१५

[*क्रांति द्वारा संक्रमण* : पूँजीवाद के बाद; क्रांति और हिंसा का प्रश्न; मजदूर वर्ग को राजनीतिक सत्ता छीन लेनी चाहिए; इतिहास में शक्ति की भूमिका; क्रांति आवश्यक; क्रांति होना अनिवार्य नहीं; क्रांति का कोई मानक स्वरूप नहीं; क्रांतिहीन परिवर्तन पर जोर; मार्क्सवादी सिद्धांत : मूलतः क्रांतिकारी; *मजदूर वर्ग की तानाशाही और समाजवाद* : तानाशाही की प्रकृति; मजदूर राज्य; मजदूर वर्ग की तानाशाहों में 'प्रजातंत्र'; मजदूर अर्थ-व्यवस्था : समाजवाद; समाजवाद में मजदूरी; नए सोपान की तैयारी; *पूर्ण साम्यवाद*; चरम लक्ष्य; पूर्ण समाजवाद अनिवार्य नहीं; पूर्ण साम्यवाद के लिए आवश्यक शर्तें; राज्य भी 'मुरझा कर गिर जाएगा'; पूर्ण साम्यवाद के आर्थिक पहलू; *साम्यवादी दल के काम*; मजदूर वर्ग द्वारा नेतृत्व की आवश्यकता; साम्यवादी दल का स्थान; साम्यवादी दल का लक्ष्य; अनिवार्यता तथा सोद्देश्य कार्य का मेल।]

अध्याय : १०

मार्क्सवादी सिद्धांत का मूल्यांकन २१६-२४४

[कसौटियाँ; *मूल्य, मजदूरी बेशी मूल्यविषयक सिद्धांत* : माँग की

भूमिका की उपेक्षा; मजदूरी-निर्धारण का स्थान; जीवन-निर्वाह का अर्थ; घटती-बढ़ती बनाम स्थिर मजदूरी; बेशी मूल्य का सैद्धांतिक आधार नहीं; 'बेशी मूल्य' तथा 'अनर्जित आय'; कुछ निष्कर्षों की अशुद्धता; मार्क्स की भविष्यवाणियों में सत्यता का अर्थ; मार्क्सवादी सिद्धांत की दुविधा; *मार्क्सवादी दर्शन और इतिहास की व्याख्या* : दर्शन की कसौटी; यह कसौटी और मार्क्स का दर्शन, इतिहास की व्याख्या की कसौटी; मूलभूत दोष; इतिहास की आर्थिक व्याख्या का एकांगीपन; प्रो० बौवर-की आलोचना; मार्क्स के इतिहासविषयक सिद्धांत का योगदान; *क्रांतिकारी मजदूरी संगठन का आधार* : मार्क्स तथा मार्क्स-उत्तर समाजवाद; इंटरनेशनल ।]

भाग ४

आधुनिक समाजवाद और साम्यवाद

अध्याय : ११

समाजवाद तथा साम्यवाद की परिभाषा २४७-२७१

[*कठिनाइयाँ : समाजवाद की परिभाषा* : इस परिभाषा के फलितार्थ; समाजवाद का मर्म आर्थिक; समाजवाद और सामाजिक सुधार; समाजवाद तथा 'सरकारी स्वामित्व'; समाजवाद तथा नागरिक स्वतंत्रताएँ; समाजवाद तथा अराजकतावाद; समाजवाद तथा साम्यवाद; दीर्घकालीन उद्देश्य और अंतिम लक्ष्य; इंटरनेशनल; तृतीय इंटरनेशनल (कॉमिन्टर्न); कॉमिनफार्म; साम्यवादी एक विश्वव्यापी आंदोलन; समाजवादी इंटरनेशनल; *संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी तथा समाजवादी दल* ।]

अध्याय : १२

समाजवाद के कार्यक्रम : संक्रमण २७२-२९०

[*पूँजीवाद पर आक्रमण : विस्तृत कार्यक्रमों का अभाव* : विशिष्ट आयोजनाओं की कमी के कारण; आकस्मिक बनाम क्रमिक समाजीकरण; समाजीकृत संपत्ति का प्रतिकर; प्रतिकर के वैकल्पिक प्रकार; रिगनानो का प्रस्तावित उत्तराधिकार कर; समाजीकरण का तिथि-क्रम]

अध्याय : १३

समाजवाद के कार्यक्रम : स्वामित्व तथा उद्योगों का चलना २९१-३१२

[*स्वामित्व* : स्वामित्व अभिकरण की किस्में; व्यक्तियों और सहकारी संस्थाओं का स्वामित्व; *आर्थिक आयोजना* : समाजवाद का प्रबंध-संबंधी कार्य; समाजवादी आर्थिक आयोजना का स्वरूप; आयोजना-संबंधी अभिकरण;

आयोजना तथा वैयक्तिक पसंद की स्वतंत्रता; *उत्पादक एककों का प्रबंध*: वैयक्तिक तथा सहकारी एकक; बड़े एकक; संगठन के निगमित रूपों का प्रयोग; प्रबंधक मंडल; *समाजवाद के अंतर्गत श्रमिकों का अभिप्रेरण* : पूँजीवाद के अंतर्गत लाभ-अभिप्रेरण का सीमित क्षेत्र; मजदूरी विशेषज्ञों के साथ लाभ-अभिप्रेरण और भ्रांतियाँ; संभाव्य गैर-आर्थिक और धनेतर अभिप्रेरण; समाजवाद के अधीन अभिप्रेरण के रूप में मजदूरी विशेषक; ऊँचे कार्यपालक कृत्यों के लिए समाजवादी अभिप्रेरण; समाजवाद के अधीन गैर-आर्थिक अभिप्रेरण; अभिप्रेरण और अनर्जित आय; प्रबंधकीय योग्यता की पूर्ति ।]

अध्याय : १४

समाजवाद के कार्यक्रम : सरकार तथा अन्य स्वरूप ३१३-३२८

[*सरकार* : लोकतंत्र पर आग्रह; पूँजीवादी लोकतंत्र का स्वरूप; समाजवादी लोकतंत्र का स्वरूप; नौकरशाही की समस्या; समाजवाद के अधीन नौकरशाही का टालना संभव नहीं; *प्रकीर्ण प्रस्ताव* : पूँजी माल संचय; सामाजिक बीमा; उद्योग और रोजगार की स्थिरता; वैज्ञानिक खोज और यांत्रिक आविष्कार: श्रमिक संगठन ।]

अध्याय : १५

समाजवाद की आलोचना ३२९-३५८

[*ऊपरी आलोचनाएँ* : 'समाजवाद बहुत ज्यादा सिद्धांतपरक है'; 'समाजवादी ईमानदार नहीं हैं'; 'पूँजीवाद के सुधार समाजवाद को अनावश्यक बना देते हैं'; 'समाजवाद में बेईमानी और रिश्बत का बोलबाला होगा'; समाजवादी तरीकों का उपयोग समाज-विरोधी लक्ष्यों के लिए किया जा सकेगा'; 'समाजवाद गैर-अमेरिकी है'; *बुनियादी आलोचना* : बुनियादी आलोचना का स्वरूप; अर्थतंत्र के प्रारंभिक कृत्य; समाजवाद का संचालनात्मक काम; समाजवाद के अधीन दाम तय करने की प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप; पूँजीवादी दाम-प्रक्रिया के कथित लाभ; समाजवाद के अधीन उत्पादन के मार्गदर्शन का 'मनमाना' स्वरूप; सामाजिक अर्थतंत्र के लक्ष्य के रूप में आदर्श समतोल; गणितीय समाधान; स्पर्धी समाधान; चुनाव की आजादी को सीमित करने वाले समाधान; समाजवाद के अधीन मनमानी व्याज दर के प्रतिफल; समाजवादी दाम-प्रक्रिया के प्रत्यक्ष फायदे; *व्यक्ति की चुनाव आजादी पर समाजवादी दाम-व्यवस्था का प्रभाव* : समाजवाद में बुनियादी असंगति; समाजवाद की द्विधा ।]

भाग ५

ब्रिटिश समाजवाद

अध्याय : १६

लेबर दल : वित्त का राष्ट्रीयकरण ३६१-३८१

[*ब्रिटिश लेबर दल :* इतिहास; सन् १९५१ ई० और १९५५ का आम चुनाव; १९५९ का आम चुनाव; संगठन; क्या लेबर दल सचमुच समाजवादी है ? *वित्त का राष्ट्रीयकरण :* बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण; निवेश का नियंत्रण ।]

अध्याय : १७

ईंधन और बिजली का राष्ट्रीयकरण ३८२-४२९

[*कोयला :* कोयला-उद्योग; राष्ट्रीयकरण की पीठिका; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; भूतपूर्व मालिकों को प्रतिकर; राष्ट्रीयकरण के प्रत्याशित लाभ; राष्ट्रीयकृत कोयले की सफलताएँ और अभाव; राष्ट्रीयकृत कोयले की समस्याएँ; संगठन की समस्याएँ; पूँजी निवेश आयोजना; कोयले का दाम तय करने की समस्याएँ; *बिजली :* राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; राष्ट्रीयकृत उद्योग की समस्याएँ; *गैस :* राष्ट्रीयकरण की पीठिका; राष्ट्रीयकरण अधिनियम ।]

अध्याय : १८

परिवहन, संचार और इस्पात का राष्ट्रीयकरण ४३०-४७४

[*अंतर्देशीय परिवहन :* राष्ट्रीयकरण की पीठिका; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; राष्ट्रीयकरण पर संसदीय बहस; अंतर्देशीय परिवहन का पुनर्गठन; राष्ट्रीयकृत परिवहन की सफलताएँ और असफलताएँ; दूरगामी ट्रक व्यवस्था का विराष्ट्रीयकरण; *नागर विमानन :* राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; प्रतिफल और समस्या; *केबुल और रेडियो संचार :* राष्ट्रीयकरण की पीठिका; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; *इस्पात :* राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि; राष्ट्रीयकरण अधिनियम; इस्पात का विराष्ट्रीयकरण; इस्पात और १९५९ ई० के आम चुनाव ।]

अध्याय : १९

सामाजिक सुरक्षा और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा ४७५-४९८

[*समाज बीमा और सहायता* : पीठिका; अधिनियम; *राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा* : पीठिका और उद्देश्य; राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का संगठन और संचालन; अस्पताल और विशेषज्ञ; स्थानीय सरकार; सामान्य चिकित्सक सेवा; समस्याएँ ।]

अध्याय : २०

आर्थिक आयोजना ४९९-५२९

[*कृषि में भूमि-उपयोग की आयोजना* : लेबर सरकार के कार्यक्रम की पृष्ठभूमि; १९४७ ई० का कृषि अधिनियम; समस्याएँ; *शहरी भूमि उपयोग आयोजना* : पीठिका; नए शहर; विकास का खर्च; *सरकारी आय-व्ययक* : पूरा नियोजन; उपभोग का नियंत्रण; सामान्य सेवाएँ; *औद्योगिक आयोजना* : समस्याएँ; तकनीकें; केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग; आर्थिक आयोजन-मंडल; उद्योग संबंधी राष्ट्रीय उत्पादन सलाहकार परिषद्; दर्शन ।]

अध्याय : २१

राष्ट्रीयकृत उद्योगों की समस्याएँ : ब्रिटिश समाजवाद का एक मूल्यांकन ५३०-५६५

[*समस्याएँ* : राजनीतिक समस्या; आर्थिक आयोजना; मूल्य नीति; कार्यकुशलता की कसौटी; मजदूर संघों की स्वाधीनता; राष्ट्रीय उद्योगों का प्रबंध-संचालन; संसदीय उत्तरदायित्व; *मूल्यांकन* : पीठिका; अभाव; सफलताएँ; निष्कर्ष ।]

भाग : ६

रूस का अर्थतंत्र

अध्याय : २२

सरकार और साम्यवादी दल ५६६-६००

[*सरकार* : क्रांति से पूर्व का रूस; साम्यवादी क्रांति; सरकार का सामान्य स्वरूप; स्थानीय सरकार; सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम

सोवियत; सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम; मंत्रिपरिषद्; राज्य अभियोजक और अदालतें; विधि प्रणाली; दल : दल की सदस्यता; दल संगठन; केंद्रीय समिति और प्रेसीडियम; सोवियत संघ में प्रभुसत्ता; क्या सोवियत सरकार की दल प्रणाली 'प्रजातंत्रीय' है ?]

अध्याय : २३

सोवियत अर्थतंत्र की भूमिका ६०१-६१३

[संगठन; संपत्ति की संस्थाएँ; आर्थिक आयोजना; प्रसामान्यक; भौतिक और वित्तीय संकल्पनाएँ; लेखाओं और लक्ष्यों का विलय; आर्थिक सुधार; आर्थिक विकास; आर्थिक आँकड़े ।]

अध्याय : २४

कृषि ६१४-६४५

[*सरकारी फार्म : सामूहिक फार्म* : संगठन और नियंत्रण; श्रमिक और उनका मुआवजा; मशीन ट्रैक्टर केंद्र सुधार; मशीन ट्रैक्टर केंद्र के सुधार में व्यावहारिक समस्याएँ; मशीन ट्रैक्टर केंद्र के सुधार की सिद्धांतात्मक समस्याएँ; सामूहिक फार्म की अविभाज्य निधि; *अंतःसामूहिक फार्म प्रायोजनाएँ* : नई अधिप्राप्ति पद्धति; सामूहिक फार्मों पर लागत नियंत्रण; कृषि की वर्त्तमान स्थिति; सामूहिक फार्म का भविष्य ।]

अध्याय : २५

निर्माण उद्योग और श्रमिक उद्योग ६४६-६८१

[औद्योगिक संपत्ति पर सरकारी स्वामित्व; १९५७ ई० से पूर्व के उद्योग संगठन; औद्योगिक व्यवस्था का १९५७ ई० का विकेंद्रीकरण; प्रादेशिक अर्थ-परिषदें; वाणिज्यिक करार और उद्यमों के लेखे; उत्पादक सहकारिताएँ; *निर्माता उद्योगों के श्रमिक*; पीठिका; श्रम कानून; मजदूर संघ; सामूहिक श्रम करार; कार्य-सप्ताह और छुट्टियाँ; मजूरी; अनुपूरक श्रम प्रोत्साहन; श्रमिक अनुशासन; सामाजिक बीमा ।]

अध्याय : २६

वित्तीय और विपणन पद्धतियाँ ६८२-७२४

[*बैंक व्यवस्था* : राज्य-बैंक; राज्य-बैंक : ऋण-व्यापार; राज्य-बैंक : लेखा परीक्षण कार्य; राज्य-बैंक : नियंत्रण कार्य; राज्य-बैंक : निधियों का स्रोत;

द्रव्य; 'लाभ'; दीर्घकालीन ऋण निवेश बैंक; बचत बैंक और सरकारी बंधपत्र; *विपणन* : विदेशी व्यापार खुदरा विपणन के बदलते हुए स्वरूप; सरकारी दुकानें; उपभोक्ता सहकारिताएँ; सामूहिक फार्म बाजार; खुदरा बिक्री सेवाएँ; दाम-निर्धारण; सोवियत दाम-निर्धारण की युक्तिसंगतता; पण्यावर्त कर और दाम ।]

अध्याय : २७

आर्थिक आयोजना तथा सरकारी बजट ७२५-७४४

[*आर्थिक आयोजना* : आयोजना के सामान्य लक्षण; सरकारी आयोजना समिति; आयोजना प्रक्रिया; सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के गौसप्लान का महत्त्व; वित्तीय आयोजना; *सरकारी बजट* : बजट का महत्त्व; बजट प्रक्रिया ।]

अध्याय : २८

सोवियत पद्धति का मूल्यांकन ७४५-७८७

[मूल्यांकन की कसौटी; सोवियत आर्थिक विकास की दर; रहन-सहन के स्तर; स्वास्थ्य, शिक्षा एवं वैज्ञानिक प्रगति; सोवियत अर्थतंत्र की समस्याएँ : लक्ष्य-निर्धारण; सोवियत अर्थतंत्र की समस्याएँ : पूँजी प्रभावशीलता का अनुमान; व्यक्ति और सरकार में संबंध ।]

भाग : ७

यूगोस्लाविया और लाल चीन का साम्यवाद

अध्याय : २९

यूगोस्लाविया में साम्यवाद ७९१-८२६

[*प्रस्तावना : सरकार : दल : यूगोस्लाविया की सरकार : उद्योग* : आर्थिक आयोजना; श्रमिक परिषदें; श्रमिक परिषद की बैठक; *कृषि* : सामूहिक फार्में; सामान्य कृषि; सहकारी समितियाँ; अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक संबंध; *मूल्यांकन* ।]

अध्याय : ३०

लाल चीन में साम्यवाद ८२७-८६०

[*प्रस्तावना : साम्यवादी सरकार और दल* : चीन लोक गणतंत्र सरकार; *चीन की अर्थतंत्र-संबंधी योजना* : विरासत; पुनर्वास; विकास-संबंधी आयो-

जना; चीन के आयोजित अर्थतंत्र में निजी उपकरण; सोवियत आर्थिक सहायता; कृषि : पृष्ठभूमि; भूमि-सुधार; सामूहिकीकरण : स्वैच्छिक; सामूहिकीकरण : जबर्दस्ती; सामूहिक फार्म का स्वरूप; कम्यून; मूल्यांकन ।]

भाग : ८

भारत में आर्थिक आयोजना

अध्याय : ३१

भारत की आर्थिक आयोजना ८६३-९०४

[भूमिका; राजनीतिक और सरकारी ढाँचा; भारत की आर्थिक विरासत; भारतीय आयोजना का सामान्य रूप; राष्ट्रीय आयोजना आयोग; आयोजना के उद्देश्य; आयोजना की रूपरेखा; भारत की 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था में निजी उद्योग-क्षेत्र; आयोजना की तकनीक; भारतीय आयोजना में कृषि; सामुदायिक विकास प्रायोजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा ; उद्योग; सिंचाई और बिजली; परिवहन और संचार; तीसरी आयोजना ।]

अध्याय : ३२

भारत की आर्थिक आयोजना : एक मूल्यांकन ९०५-९२१

[जनसंख्या और खाद्य समस्याएँ; बचत-आय अनुपात; वृद्धिशील पूँजी निकाय अनुपात; निवेश का ढाँचा; अभाव और अतिरिक्त क्षमता; घाटे की वित्त-व्यवस्था; वाह्य संसाधनों का उपयोग; सारांश, भारत का आर्थिक विकास और बाकी दुनिया; पूर्व और पश्चिम से मदद]

भाग : ९

उपसंहार

अध्याय : ३३

संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद का भविष्य ९२२-९८४

[भावी समस्याएँ; *स्थिर पूरा नियोजन* : स्थिर पूरे नियोजन का महत्त्व; स्थिर पूरे नियोजन की संकल्पना; स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने की संभावना; कीनेस का सिद्धांत; स्थिरता के बारे में कारबार करने वालों का दृष्टिकोण; नवयुग दर्शन से तुलना; स्थिरीकरण साधन; राजकोषीय नीतियाँ; खर्च करना और उधार लेना; राजकोषीय नीतियाँ; कर लगाना; स्वचालित स्थिरक; मुद्रा-

नीतियाँ; संघीय रिजर्व; खुला बाजार संक्रियाएँ; संघीय रिजर्व बट्टा दर; आर्थिक विकास के साथ स्थिरीकरण; स्थिरकों का मिश्रण या मिलाया जाना; स्वचालित और प्रबंधित स्थिरकों की तुलना; प्रबंधित स्थिरकों का राजनीतिक पक्ष; *आर्थिक भविष्य-कथन* : राष्ट्रीय आय लेखे; अंतर्वेशन और बहिर्वेशन लेखे; १९४६ ई० का नियोजन अधिनियम; *सहकारिता* : आर्थिक हित वर्ग; *निष्कर्ष* ।]

परिशिष्ट

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का संविधान (मौलिक विधि) ९८७-१०१६

पारिभाषिक शब्दावली

[पृष्ठ १०१७]

भाग १

भूमिका

अध्याय १

अर्थतंत्रों के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका

दुनिया के चारो ओर एक सरसरी दृष्टि डालने से पता चलता है कि मनुष्य आजीविका कमाने के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक संगठनों का उपयोग करता है। प्रत्येक प्रकार के आर्थिक संगठन का मूलभूत उद्देश्य एक ही है : उत्पादन के जो भी स्वल्प साधन सुलभ हैं, उनके सहारे मानव की असीमित आवश्यकताओं में से अधिक से अधिक को पूरा करना। इस मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानव ने जो मार्ग अपनाया है, उसमें देश काल के अनुसार प्रमुख बातों में अंतर रहा है। यहाँ हमारा विचार-क्षेत्र आर्थिक संगठन के विभिन्न प्रकारों अर्थात् विभिन्न अर्थतंत्रों का अध्ययन करना है, जिनके द्वारा मानव वर्त्तमान काल में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

अर्थतंत्रों की विविधता

अर्थतंत्रों की शृंखला में एक सिरे पर ऐसा अर्थतंत्र है, जो इस बात पर जोर देता है कि श्रमिक, पूँजीनियोजक, उपभोक्ता अथवा व्यावसायिक उद्यमी के रूप में व्यक्ति को अपने हित-साधन के लिए पूरी स्वतंत्रता रहे तथा प्रेरणा मिलती रहे। यह अर्थतंत्र यह मानकर चलता है कि आत्महित-साधन की भावना के आधार पर जो भी उत्पादक आर्थिक गतिविधि होगी, उससे कुल मिला कर सामाजिक कल्याण हो सकेगा। अत्यंत सामान्य रूप से 'पूँजीवाद' के नाम से अभिहित किए जाने वाले इस अर्थतंत्र का सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका की आज की अर्थ-व्यवस्था है। दूसरे सिरे पर ऐसा अर्थतंत्र है, जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा 'समाज' आर्थिक गतिविधि के संगठन, आयोजन एवं संचालन में मुख्य भूमिका अदा करता है। वहाँ व्यक्ति समाज के किसी न किसी आर्थिक अभिकरण के लिए काम करके प्रतिफल के रूप में वेतन प्राप्त करता है। आदर्श मान्यता यह है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के लिए काम करते-

तु० अ० प०—१

करते इतना अभ्यस्त हो जाएगा कि अंततः उसे काम करने के लिए 'वेतन प्रोत्साहन' की आवश्यकता न रहेगी और वह अपनी 'योग्यता' के अनुसार सामाजिक उत्पादन में उन्मुक्त रूप से अपना योगदान करेगा तथा उस सामाजिक उत्पादन में से अपनी 'आवश्यकताओं' के अनुसार उपभोग करेगा। इसे 'पूर्ण साम्यवाद' कहा जाएगा। सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ यद्यपि अभी इस 'चरम अवस्था' को प्राप्त करने से बहुत दूर है, फिर भी इन लक्ष्यों को लेकर चलने वाली अर्थ-व्यवस्था का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि है। लेकिन, वह इन लक्ष्यों को पाने के मार्ग का अंशतः ही अनुकरण कर रहा है। हम कह सकते हैं कि वहाँ अभी 'समाजवादी' अर्थ-व्यवस्था है।

इन दो चरम सीमाओं के बीच अनेक प्रकार के अर्थतंत्र विद्यमान हैं, जिनके संगठन तथा कार्य-संचालन में व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक निदेशन के तत्त्व भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिश्रित हैं। अमेरिकी छात्रों की दृष्टि से इन अर्थतंत्रों में सर्वाधिक दिलचस्प अर्थतंत्र है ग्रेट ब्रिटेन का। श्रमिक दल की सरकार के कार्य काल, सन् १९४५-५१ में ब्रिटेन ने समाजवाद की दिशा में काफी अच्छी शुरूआत की थी और आज वह 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' का एक अच्छा उदाहरण है।

अर्थतंत्रों का निर्माण करने वाले तत्त्व

किसी अर्थ-व्यवस्था के ठोस स्वरूप का निरूपण करने वाले पाँच प्रकार के निर्धारक तत्त्व होते हैं:—(१) वहाँ की जनता के आदर्शों, आकांक्षाओं तथा दृष्टिकोणों के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक स्रोत; (२) उसके प्राकृतिक संसाधन जिनमें जलवायु भी शामिल हैं; (३) वे दर्शन जिन्हें उसकी जनता का कुछ भाग या अधिकांश भाग मानता हो तथा उनका पालन करता हो; (४) निश्चित आदर्शों तथा लक्ष्यों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस विषय में वहाँ की जनता के अतीत काल तथा वर्त्तमान काल के सिद्धांत; (५) आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति करने में वहाँ के लोगों द्वारा परीक्षण करना तथा भूलें करना।

संसार की अर्थ-व्यवस्थाओं को पूरी तरह समझने के लिए हमें प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था का इनमें से प्रत्येक दृष्टि से अध्ययन करना होगा। इसके लिए महाविद्यालय के एक पूरे पाठ्यक्रम (या संभवतः पूरे एक जीवन) की आवश्यकता है, न कि अर्थतंत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के एक पाठ्यक्रम की; तत्संबंधी सामग्री के एक पूरे पुस्तकालय की आवश्यकता है न कि केवल एक पुस्तक की। अतः, यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि इस पुस्तक को हाथ में लेते समय हम यह मान कर चलें कि हमारे विषय से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इसके तात्कालिक विचार-क्षेत्र से बाहर होंगी।

अपना अध्ययन पूरा करने के पश्चात् हमें व्यक्तिगत रूप से निकाले अपने निष्कर्षों के वारे में आगे पढ़ने तथा अनुभव के आधार पर अर्थतंत्रों के संवंध में हमारा ज्ञान-क्षेत्र बढ़े, तो हमें इन निष्कर्षों पर पुर्नविचार करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए ।

हम सवसे पहले पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के जिस रूप में कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका में विद्यमान है, दर्शन, सिद्धांत तथा अनुभवों पर कुछ विचार करेंगे। इसके पश्चात् हम मार्क्सवादी सिद्धांतों का कुछ विस्तार के साथ विश्लेषण करेंगे। इसके बाद आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद के सैद्धांतिक कार्यक्रमों का अध्ययन करेंगे। ग्रेट ब्रिटेन की 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' के तथा सोवियत संघ की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के क्या-क्या अनुभव रहे हैं, इस पर तनिक विस्तार से दृष्टि डालेंगे। उसके वाद यूगोस्लेविया और लाल चीन के 'साम्यवाद' का अध्ययन करेंगे और फिर एक अल्पविकसित देश भारत के प्रयास पर दृष्टिपात करेंगे, जो 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था तथा आर्थिक आयोजना के द्वारा तेजी से अपना आर्थिक विकास करने का प्रयास कर रहा है। अंत में हम संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद की भावी संभावनाओं का विश्लेषण करेंगे। जैसे-जैसे हम आगे चलेंगे, हमारा अध्ययन कभी दार्शनिक, कभी सैद्धांतिक, कभी व्यावहारिक तथा कभी ऐतिहासिक पक्षों को छूता चलेगा। इससे विद्यार्थी को किसी प्रकार की उलझन नहीं होगी, बशर्ते वह हर जगह ध्यान से उस विशिष्ट दृष्टि को समझता चले, जो उस संदर्भ में अपनाई गई है। आर्थिक तंत्रों में अनेक पहलू होते हैं और विद्यार्थियों को इन दृष्टिकोणों का प्रयोग करने की कुछ क्षमता अपने में पैदा करनी चाहिए।

अर्थतंत्र क्या होता है ?

यह उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थतंत्र अथवा अर्थ-व्यवस्था एक ऐसा संगठन है, जिसके द्वारा सुलभ उत्पादन साधनों का प्रयोग करके मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। इसे और भी विशिष्ट रूप से यों कहा जा सकता है कि अर्थतंत्र में उन संस्थाओं का समावेश होता है, जिन्हें कोई मानव-समुदाय अथवा कोई राष्ट्र या राष्ट्र-समूह ऐसे साधनों के रूप में अपनाता या स्वीकार करता है, जिनमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके संसाधनों का प्रयोग किया जा सके। 'संस्था' यहाँ केवल किसी काम के करने की एक रीति या किसी मामले को निबटाने का एक तरीका, किसी बात के बारे में निर्णय करने का एक ढंग या किसी चीज का प्रबंध करने की एक पद्धति होती है। अर्थतंत्र में किसी जन-समुदाय अथवा एक राष्ट्र द्वारा मानवीय आवश्यकताएँ संतुष्ट करने के अपने साधनों को

उपयोग में लाने का काम करने की पद्धतियों का सर्वांगतः समावेश होता हैं। ये पद्धतियाँ प्रमुख रूप से उस राष्ट्र के कानूनों के रूप में व्यक्त हुई मिलती हैं, किंतु पूरक रूप में ये वहाँ की जनता के उन रीति-रिवाजों, आदतों तथा नैतिक मानदंडों से भी मुखर होती हैं, जिन्हें वे लोग मानवीय आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अपने साधनों का उपयोग करने से संबंधित गतिविधियों में स्वयं को लगाते समय अपनाते हैं।

इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी राष्ट्र विशेष के संबंध में निम्न प्रकार के प्रश्नों के उत्तर दे पाता है, तो समझिए, वह वहाँ की आर्थिक संस्थाओं से परिचित हो गया है :--

(१) कौन अथवा किन अभिकरणों को क्या संपदाएँ (अर्थात् वे चीजें जिनमें तुष्टिगुण, दुर्लभता, पदार्थता और परदेयता के तत्त्व हों) अपनी मिल्कियत बनाने (अर्थात् उनके उपयोग और बिक्री का नियंत्रण करने की) अनुमति मिली हुई है ?

(२) आर्थिक प्रयत्न के किन-किन क्षेत्रों में व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक जा सकते हैं और अपने इन आर्थिक प्रयासों से अर्जित फल से उनको क्या-क्या करने की अनुमति है या उनसे क्या अपेक्षा की जाती है ?

(३) व्यक्तियों के अपने आर्थिक प्रयासों को संगठित रूप देने के लिए किस प्रकार के संयुक्त उपक्रम बनाने की अनुमति प्राप्त है ?

(४) संसाधनों को उपभोग्य वस्तुओं में परिवर्तित करने के काम में भाग लेने के लिए लोगों को किस प्रकार अथवा प्रकारों के प्रोत्साहन दिए जाते हैं ?

(५) जो भी उत्पादक गतिविधियाँ चलती हैं, उनसे व्यक्तियों को प्राप्त हो सकने वाले वैयक्तिक लाभ को कौन-कौन शक्तियाँ अथवा प्रभाव निर्धारित करते हैं ?

(६) यदि मुद्रा में व्यक्त मूल्य-प्रणाली का उपयोग होता है--आधुनिक औद्योगिक समाज में (पूर्ण साम्यवाद को छोड़ कर) निश्यचतः ऐसा होगा ही--तो मूल्य-निर्धारक शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं और वे किस प्रकार काम करती हैं ?

अर्थतंत्र मानवनिर्मित हैं

इन प्रश्नों की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन सब में 'क्या' तथा 'कैसे' के प्रश्न हमेशा रहते हैं। इससे केवल यहीं बात प्रकट होती है कि इन प्रश्नों के उत्तर किसी जाति अथवा किसी राष्ट्र के लिए प्राकृतिक अथवा दैवी कानून या शक्ति के द्वारा पूर्व-निर्धारित नहीं हैं। आर्थिक संस्थाएँ ठीक वैसी ही होती हैं, जैसा मानव उन्हें बनाते हैं। वे न तो प्राकृतिक शक्तियों के घात-प्रतिघात से बनती हैं और न किसी दैवी शक्ति के आदेश से। ये संस्थाएँ बनाने तथा समय-समय पर उनमें संशोधन करने में उन कानूनों को जो पारित किए जाते हैं, उन आदेशों का जिन्हें

सत्ताधारी अभिकरण जारी करते हैं, उन निर्णयों का जिन्हें न्यायिक अभिकरण अपने पीछे छोड़ते हैं, उन संविदात्मक व्यवस्थाओं का जिन्हें लोग आपस में बनाते हैं, उन रीति-रिवाजों तथा आदतों का जो लोगों की बन जाती हैं तथा जनता के उन मतों का बड़ा हाथ रहता है, जिनके द्वारा वे किसी काम के किए जाने को सही या गलत, अच्छा या बुरा मानते हैं। इस प्रकार आर्थिक संस्थाओं को जनता अनंत बार बनाती, नष्ट करती, बदलती, एक खास साँचे में ढालती या पुनः ढालती है। जनता यह कार्य विधायक, श्रमिक, उपभोक्ता, नागरिक, पूँजीनियोजक, न्यायाधीश, उद्यमी, सरकारी प्रशासक आदि के रूप में करती है। आर्थिक संस्थाओं की सर्वप्रमुख विशेषता उनका लचीलापन है। कभी-कभी तो ये संस्थाएँ जनता के इस अथवा उस वर्ग द्वारा जान-बूझकर, योजनाबद्ध ढंग से प्रयास करने पर बनती अथवा बदलती हैं। किसी और अवस्था में ये व्यक्ति अथवा समूह के ऐसे कार्य से निःसृत सूक्ष्म शक्तियों के परिणामस्वरूप बदलती हैं, जिनका उद्देश्य जान-बूझकर वैसा करना नहीं होता। जब ये संस्थाएँ किसी विशिष्ट तरीकों से बदलती या संशोधित की जाती हैं, तो वे बहुत कुछ उनके समान हो जाती हैं, जिन्हें हम समग्र रूप से 'पूँजीवाद' कहते हैं। जब वे अन्य दिशाओं में बदलती हैं तो वे बहुत कुछ या संभवतः अंत में वह बन जाती हैं, जिसे हम 'समाजवाद' या 'पूर्णसाम्यवाद' अथवा एक 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' कहते हैं। आर्थिक संस्थाओं में किस हद तक परिवर्तन की संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं, यह बात मध्ययुगीन सामंती प्रथा, सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के वणिक्वाद तथा इसके बाद आने वाली अबंध नीति प्रणाली में विद्यमान प्रमुख संस्थाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाती है।

इन संस्थागत परिवर्तनों तथा मानवों के साथ उनके संबंधों को हमें आवश्यकता से अधिक सरल बनाकर नहीं देखना चाहिए। ये परिवर्तन किसी साधारण से मानवीय कार्य के परिणाम नहीं होते। संस्थागत परिवर्तन करने वाली शक्तियाँ सायास तथा जान-बूझकर और डट कर सामने आती हैं और उनका जन्म तथा वे स्रोत जहाँ से वे अपना बल ग्रहण करती हैं, आश्चर्यजनक ढंग से जटिल होती हैं। यद्यपि मानव इन संस्थाओं को बराबर बनाता तथा बदलता रहा है और कभी ये परिवर्तन जबर्दस्त तथा कभी साधारण से होते हैं, किंतु यदि एक संस्था बदल जाती है, तो वह स्वयं भी मनुष्यों पर एक नया या भिन्न प्रभाव डालती है, जिसका उनके कार्यों पर प्रभाव पड़ता है या कार्यों में स्वयं एक नया मोड़ आ जाता है। उदाहरण के तौर पर, जिस उत्तराधिकार प्रथा के द्वारा संतान को उनके माता-पिता की संपत्ति उनकी मृत्यु होने पर प्राप्त होती है, उसमें उत्तराधिकार से प्राप्त होने वाली धन-संपत्ति पर भारी कर लगा कर संशोधन किया जा सकता है। इसके

फलस्वरूप माता-पिता को पहले की अपेक्षा बचाने या धन जमा करने का काम अथवा अधिक प्रोत्साहन मिल सकता है अथवा उनके बच्चे अपने स्वयं के आर्थिक प्रयासों के प्रति कम या अधिक उत्साहशील बन सकते हैं। लोगों तथा उनकी आर्थिक संस्थाओं के मध्य ये घात-प्रतिघात तो स्पष्टत: चलते ही रहते हैं, लेकिन उनकी सूक्ष्मता, व्यापकता तथा इनके महत्त्व को कम नहीं कहा या सकता।

आर्थिक संस्थाएँ और आर्थिक शक्ति

किसी भी अर्थ-व्यवस्था के संस्थागत ढाँचे का मूलभूत महत्त्व इस बात से है कि इससे यह निश्चित होता है कि अर्थ-व्यवस्था द्वारा संसाधनों के उपयोग के विषय में निर्णय करने का अधिकार किसके पास है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की संस्थाएँ आमतौर पर यह अधिकार बहुविध उपभोक्ताओं, श्रमिकों, उद्यमियों, पूँजीनियोजकों सरकारी अधिकारियों आदि के हाथ में दे देती हैं, फिर भी यह मानना होगा कि हाल के वर्षों से हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भी उद्योगों के नियंत्रण के केंद्रीकरण से—जो हमारी संस्थाओं, उनके व्यावहारिक उपयोग तथा व्यापारिक गतिविधियों में केंद्रीय सरकार के अधिकाधिक हस्तक्षेप का परिणाम है—निर्णायक शक्ति का अधिक से अधिक केंद्रीकरण होने की प्रवृत्ति बढ रही है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की संस्थाएँ सामान्य तौर पर साधनों के उपभोगविषयक निर्णयों में बिखरे हुए व्यक्तियों अथवा व्यापारिक इकाइयों पर सरकारी सत्ता के प्रभाव को प्रमुख बना देती है। समाजवाद में उद्योगों और उनके संचालन पर समाज के अधिकार तथा केंद्रीय आर्थिक आयोजन पर जोर दिया जाता है। इसी से सरकारी प्राधान्य की साफ झलक मिलती है। 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' में यह शक्ति अलग-अलग व्यक्तियों या व्यापारिक इकाइयों के कार्यों तथा सरकारी कार्यों में विभक्त रहती है।

आर्थिक सिद्धांतों की सार्वभौमता

अभी तक हम किसी अर्थ-व्यवस्था की आर्थिक संस्थाओं के लचीलेपन की बात कह रहे थे। जब हम अर्थतंत्रों के तुलनात्मक अध्ययन में 'आर्थिक सिद्धांतों' के स्थान पर विचार करना आरंभ करते हैं, तो इसकी ठीक उल्टी बात—इनकी अनम्यता—पर जोर देना होगा। जिन छात्रों ने अर्थशास्त्र के आरंभिक पाठ्यक्रम में संयुक्त राज्य अमेरिका में हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक सिद्धांतों का प्रयोग देखा-समझा हो, उनकी यह धारणा बन सकती है कि वे सिद्धांत उस एक प्रकार के अर्थतंत्र में ही विशेष रूप से मिलते हैं। यदि ऐसी बात है, तो उन्हें अर्थतंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन आरंभ करने से पहले वह धारणा अपने मस्तिष्क से निकाल देनी होगी। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाले आधारभूत

आर्थिक सिद्धांत अन्य प्रकार की सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में—संभवतः पूर्ण साम्यवाद कौ छोड़ कर—काम करते पाए जाते हैं। इस भूमिका में हम पूर्ण साम्यवाद पर विचार नहीं करेंगे; क्योंकि इस प्रकार का अर्थतंत्र तभी स्थापित हो सकता है, जब मानव अपना मनोविज्ञान ही सर्वथा वदल डाले और यह किसी अर्थतंत्र का व्यावहारिक स्वरूप बन सकने की अपेक्षा एक आदर्शपरक स्वप्न ही लगता है।

ह्रासमान प्रतिफल सिद्धांत

आर्थिक सिद्धांत विविध आर्थिक शक्तियों के बीच विद्यमान कार्य-कारण-संबंध मात्र होते हैं। उदाहरण के तौर पर 'ह्रासमान प्रतिफल' सिद्धांत ऐसा आर्थिक सिद्धांत है, जिसे छात्र अर्थशास्त्र के आरंभिक पाठ्यक्रम के समय से ही याद रखता है। यह सिद्धांत केवल यही बताता है कि यदि कोई शक्ति—कारण—काम करे तो उसका परिणाम क्या होगा। यह सिद्धांत बताता है कि 'उत्पादन कला' की किसी विशिष्ट स्थिति में अगर अन्य उत्पादक उत्पादन किसी निश्चित भू-परिमाण या प्राकृतिक साधनों पर प्रयोग किए जाएँ तो परिमाणात्मक दृष्टि से उसका नतीजा यह होगा कि एक सीमा के बाद, प्रमुख उत्पादक उपादान के परिमाण की तुलना में तज्जन्य उत्पादन घटता जाएगा। संभवतः ह्रासमान प्रतिफल का यह सिद्धांत मूलभूत आर्थिक सिद्धांतों की सार्वभौमता का सर्वोत्तम उदाहरण है। यही सिद्धांत तथा इसका अधिक सामान्य स्वरूप 'ह्रासमान उत्पादकता नियम' जिसमें उत्पादन के समस्त भौतिक उपादानों का सभी प्रकार से उपयोग किया जाता है— इस प्रकार के अर्थतंत्रों में समान रूप से क्रियाशील पाए जाते हैं। 'उत्पादक उपादान का अतिरिक्त परिमाण' में प्रयोग करने से ह्रासमान भौतिक प्रतिफल ही प्राप्त होते हैं चाहे रासायनिक उर्वरक की वह अतिरिक्त मात्रा अमेरिका का स्व-व्यवसायी किसान अपने निजी फार्म का उत्पादन बढाने के लिए करे, चाहे सोवियत संघ में सरकार के अपने नियंत्रण में संचालित विशाल फार्म में मैनेजर के आदेश पर प्रयोग किया जाए।

ह्रासमान तुष्टिगुण सिद्धांत

यही बात अन्य आधारभूत आर्थिक सिद्धांतों के बारे में सत्य है। ह्रासमान तुष्टिगुण का सिद्धांत सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में काम करता है और सभी प्रकार की मूल्य-निर्धारण-प्रणाली में चाहे वह पूँजीवादी, समाजवादी अथवा 'मिश्रित' प्रणाली हो, इसका बहुत बड़ा महत्त्व होता है। सोवियत संघ में सरकार द्वारा संचालित एक 'राजकीय स्टोर' का मैनेजर जब खुदरा सामान बेचता है, तो उसे यह पता होता है कि अगर वह किसी वस्तु को एक निर्धारित समय पर अधिक

परिमाण में बेचेगा तो उस वस्तु की हर इकाई का संभाव्य खरीदार उपभोक्ता के लिए महत्त्व कम होता जाएगा। इसलिए सोवियत अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-निर्धारण, विपणन और उत्पादन संबंधी नीतियाँ इस सिद्धांत के आधार पर ही चलती होंगी। ब्रिटेन की सरकार द्वारा संचालित सरकारी रेलें यदि परिचालन की प्रति यात्री मील ऊपरी लागत कम करने के उद्देश्यों से अधिक रेल-यात्रा—परिवहन—जनता को बेचने की कोशिश करे, तो इसी कार्य-कारण-संबंध का सामना करना पड़ेगा। हमारी अपनी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, खुदरा सामान बेचने वाले छोटे या बड़े स्टोर का निजी मालिक या संचालक जब अपने सामान का बिक्रय-मूल्य निर्धारित करता है अथवा क्या-क्या चीजें वह बेचे, इसका निर्णय करता है, तो इसी सिद्धांत को स्वीकार करके चलता है और अपनी व्यावसायिक नीतियाँ तदनुरूप बनाता है। खुदरा स्तर पर काम करने वाला यह सिद्धांत सभी प्रकार की अर्थ-व्यबस्थाओं में खुदरा बिक्रेताओं अथवा निर्माताओं, सभी के निर्णयों पर प्रभाव डालता है भले ही ये पूँजीवादी, समाजवादी या किसी अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में क्यों न हो।

माँग त्वरण सिद्धांत

इस सिद्धांत की मान्यता यह है कि यदि उपभोग्य वस्तु की माँग में परिवर्तन होता है, तो उस वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली मशीनों की माँग में अनुपातिक परिवर्तन से कहीं अधिक परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक कारखाने में पूरी क्षमता के साथ उत्पादन हो कर प्रति वर्ष १ लाख उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण होता है और इन्हें बनाने के लिए १० मशीनों का प्रयोग किया जाता है। मान लीजिए कि सभी मशीनें एक-जैसी हैं और प्रति वर्ष एक मशीन घिस कर बेकार होती है। जब तक उस उपभोग्य वस्तु का उत्पादन एक लाख प्रति वर्ष रहता है, वह कारखाना प्रति वर्ष बदलने के लिए एक मशीन खरीदता रहता है। अगर उस कारखाने की बिक्री १, १०, ००० वस्तु प्रति वर्ष हो जाए—अर्थात् उसमें दस प्रतिशत वृद्धि हो जाए, तो उस कारखाने को वह अतिरिक्त माँग पूरी करने के लिए एक अतिरिक्त मशीन लगानी होगी। इस प्रकार यदि नियमित बदलाव के लिए आवश्यक मशीन को भी जोड़ लें, तो उस कारखाने की मशीन की माँग उस वर्ष में एक की बजाय दो मशीनों की हो जाएगी। इस प्रकार उपभोग्य वस्तु की दस प्रतिशत माँग बढ़ने से उस वस्तु का निर्माण करने वाली मशीन की माँग में सौ प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इस प्रकार यदि उस वस्तु की माँग १ लाख से घट कर ९०,००० रह जाए अर्थात् उसमें दस प्रतिशत कमी हो जाए, तो वह कारखाना उस मशीन के बदले नई मशीन नहीं लगाएगा जो उस साल खराब हुई होगी। इस प्रकार मशीन

के लिए उसकी माँग में सौ प्रतिशत की कमी हो गई। यह सिद्धांत ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में 'उत्पादक वस्तु' उद्योगों में 'उपभोक्ता वस्तु उद्योगों' की अपेक्षा कहीं अधिक घट-बढ़ पैदा किया करता है। अन्य प्रकार की, उदाहरणार्थ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी यही सिद्धांत काम करेगा। किंतु, इसके परिमाण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा भिन्न रूप में सामने आएँगें। फिर भी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के आयोजन तथा संचालन में भी इस कार्य-कारण-संबंध का सामना अवश्य ही करना पड़ेगा और यह कुछ विकल्प अवश्य उपस्थित करेगा, जिनमें से किसी एक का ध्यान वहाँ के योजना-निर्माताओं तथा प्रबंधकों को करना होगा। वहाँ इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होंगे : क्या उपभोग्य वस्तुओं के प्रति उपभोक्ताओं की इच्छा में आए परिवर्तन का खुले तौर पर उपभोग्य वस्तुओं की बिक्री पर प्रभाव पड़ने दिया जाए और इसके विक्रय में परिवर्तन आने दिया जाए, जिसके कारण उत्पादक वस्तु उद्योगों के उत्पादन में अत्यधिक उथल-पुथल होने की संभावना है; अथवा उपभोग्य वस्तु उद्योगों का उत्पादन स्वेच्छा से एक स्तर पर स्थिर कर दिया जाए जिससे उत्पादक वस्तु उद्योगों का परिचालन भी स्थायी बना रह सके? इस सिद्धांत के काम करने से जो परिणाम प्रकट होते हैं, उनमें परिवर्तन करने के लिए, किस प्रकार के संस्थागत नियंत्रण लागू किए जाते हैं, इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। यह सिद्धांत उन सभी आर्थिक संगठनों से व्याप्त रहता है जहाँ ऐसी उत्पादक वस्तुएँ विशेष रूप से बनाई जाती हैं, जिन्हें अन्य उद्योग मशीनों, औजारों या उपकरणों के रूप में प्रयोग करने के लिए खरीदते हों।

मुद्रा-विनिमय दर समीकरण

एक अन्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक सिद्धांत है, जिसकी सार्वभौमता हम संभवतः नजर अंदाज कर जा सकते हैं, वह है मुद्रा निर्माण-दर समीकरण, जो प्रायः पी-एम वी/टी फार्मूला[1] के रूप में व्यक्त की जाती है। आधारभूत रूप से इस समीकरण का अर्थ यह है कि मूल्य-स्तर जो सभी मूल्यों का औसत होता है विद्यमान उस द्रव्य की क्रय शक्ति के परिमाण के साथ कारण रूप से संबद्ध है, जिसकी हर इकाई किस रफ्तार से एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती है.तथा खरीदने के लिए कितने

---

[1] इस समीकरण में 'एम' का मान चलन में विद्यमान मुद्रा का (परिमाण जिसमें माँग पर वापस की जाने वाली धनराशियाँ भी, वास्तविक जाँच के बाद, शामिल हैं) हैं, 'वी' का मान वह तेजी है, जिस पर क्रय शक्ति की सुलभता एक से दूसरे के पास जाती है। 'टी' से तात्पर्य उन वस्तुओं तथा सेवाओं से है, जो खरीदने के लिए सुलभ है। 'पी' का तात्पर्य मूल्य-स्तर से है।

परिमाण में वस्तुएँ तथा सेवाएँ सुलभ करती हैं यदि उपलब्ध क्रय शक्ति या जिस रफ्तार से वह क्रय शक्ति एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती है, वह रफ्तार बढ जाती है तो अन्य तत्त्व समान रहें तो भी, मूल्यों के बढने की प्रवृत्ति हो जाती है। अगर अन्य तत्त्व समान रहें और उपलब्ध वस्तुओं या सेवाओं का परिमाण घट जाए तो भी मूल्यों में वृद्धि होती देखी जाती है। यदि इस कार्य-कारण-संबंध में इसका उल्टा होता है, तो वह भी इस समीकरण से सिद्ध हो जाता है। ये कार्य-कारण-संबंध उन सभी अर्थ-व्यवस्थाओं पर ठीक उतरते हैं जहाँ मूल्य द्रव्य पर आधारित होते हैं। यह बात उन सभी किस्मों की अर्थ-व्यवस्थाओं के बारे में सत्य है, जो आधुनिक उद्योगीकृत विश्व में व्यावहारिक रूप से संभव समझी जा सकती है।

पहली दृष्टि में देखने से यह लग सकता है कि मुद्रा विनिमय-दर समीकरण सरीखा आर्थिक सिद्धांत केवल उसी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयुक्त है, जहाँ प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण बाजार है तया अलग-अलग चीजों के मूल्य प्रतिद्वन्द्वी माँग तथा पूर्ति के तत्त्वों के फलस्वरूप घटने या बढ़ने के लिए स्वतंत्र है। ऐसा लगता है कि यह सिद्धांत उस अर्थ-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं रखता, जहाँ सभी मूल्य किसी सरकारी मूल्य निर्धारक या योजना-निर्माता अभिकरण द्वारा सरकारी तौर पर निर्धारित किए जाते हैं। इस पर दुबारा गौर करें, तो यह मान्यता गलत लगती है। आर्थिक संगठन चाहे जैसा हो, अगर माल तथा सेवाओं की उपलब्धता बढ़े बिना क्रय शक्तियों में वृद्धि हो जाती है, तो निश्चय ही कीमतों में वृद्धि की ओर दबाव बढ़ जाएगा।

उदाहरण के तौर पर यदि यह मान लें कि पूर्ण रूप से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में जहाँ केंद्रीय आर्थिक प्रशासन सरकारी स्तर पर सभी मूल्यों का निर्धारण करता है, यदि प्रचलित क्रय शक्ति उसी समय बहुत अधिक बढ़ जाती है, जब बिक्री के लिए उपलब्ध वस्तुएँ तथा सेवाएँ बिल्कुल नहीं बढ़तीं तो संभवत: सबसे पहले यह होगा कि सरकारी स्टोर में बिक्री के लिए सुलभ सभी चीजें समाप्त हो जाएँगी। इसके बाद भी लोगों की जेबों में अनखर्चा धन रह जाएगा जिससे वे अलग-अलग रूप से सामान खरीदने के लिए खर्च करने को उत्सुक होंगे। इसके फलस्वरूप नीचे लिखे सीमित परिणामों से एक परिणाम हो सकता है:— (१) एक ऐसा-गैरकानूनी बाजार या काला बाजार बन जाए, जिसमें लोग सरकारी स्टोरों के निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर चीजें खरीदें या वेचें—अर्थात् मूल्य-स्तर बढ गया; या (२) प्रचलन में आ गई अतिरिक्त क्रय शक्ति को सरकार अतिरिक्त कर लगाकर प्रचलन में से हटा ले— अर्थात् अतिरिक्त क्रय शक्ति जबर्दस्ती प्रचलन से हटा दी गई है और

समीकरण में 'एम' का परिमाण जान-बूझ कर घटा दिया गया है; या (३) सरकार अतिरिक्त क्रय शक्ति को फिर से प्राप्त करने तथा सरकारी स्टोरों की वस्तुओं की सुरक्षा की दृष्टि से कुछ या सभी वस्तुओं की कीमत बढा दे— इस प्रकार भी मूल्य-स्तर बढ गया। इन परिणामों के अलावा केवल एक बात और हो सकती है— लोग उस अतिरिक्त क्रय शक्ति को अपने पास रख लें और उसे खर्च करने का प्रयास ही न करें। इससे समीकरण में 'वी' का मान घट जाएगा और इस प्रकार मूल्यों के बढने का दबाव नहीं रहेगा।

संस्थाओं और सिद्धांतों के बीच संबंध

इस प्रकार मुद्रा विनिमय-दर का समीकरण जो एक आधारभूत आर्थिक सिद्धांत है, समाजवादी तथा पूँजीवादी दोनों प्रकार के अर्थतंत्रों में सत्य तथा वैध है। कभी-कभी हमें समाजवादी अर्थतंत्र में वह वैध नहीं दिखाई देता, इसका कारण यह है कि समाजवादी अर्थतंत्र से इस सिद्धांत के लागू होने के परिणाम निश्चय ही पूँजीवादी अर्थतंत्र में होने वाले परिणामों से सर्वथा भिन्न होते हैं। इस समीकरण में व्यक्त होने वाले कार्य-कारण-संबंध के अनुसार समाजवादी अर्थतंत्र में मुद्रा स्फीति कारक तत्त्व क्रियाशील हो सकते हैं, तो वे जो स्वरूप ग्रहण करेंगे, जिन विशिष्ट मूल्यों पर उनका प्रभाव पड़ेगा या जिन पर नहीं पड़ेगा और जनता के विभिन्न आर्थिक समूहों को उसके आर्थिक लाभ या हानियाँ उठानी होंगी, वे सब निश्चय ही उन सबसे भिन्न होंगी, जो किसी पूँजीवादी अर्थतंत्र में होंगी। इसका कारण वे विभिन्न संस्थाएं हैं, जिनके माध्यम से मुद्रा विनिमय-दर समीकरण का कार्य-कारण-संबंध काम करता है। वास्तव में कुछ वर्ष पहले हमारी अपनी अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के तत्काल बाद की मुद्रा स्फीति तंग कर रही थी, तो यही अवस्था सोवियत संघ की अर्थ-व्यवस्था की थी। इस मुद्रा स्फीति के परिणाम तथा जिन तरीकों से इससे निबटा गया, वे इन दोनों देशों में अलग-अलग थे; क्योंकि इन दोनों की आर्थिक संस्थाएँ भी अलग-अलग थीं। लेकिन, दोनों ही देशों में मुद्रा स्फीति के कारण और उसका मूल्यस्वरूप बिल्कुल एक-जैसा ही था। इन अनुभवों की विस्तृत बातों पर हम सोवियत अर्थतंत्र का अध्ययन करते समय और प्रकाश डालेंगे।

इन बातों को ध्यान में रखने पर सामान्य तौर पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हालांकि मूलभूत आर्थिक सिद्धांत सभी प्रकार के आर्थिक संगठनों को भेद कर कार्य करते रहते हैं, लेकिन इसमें वे जो विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करते हैं और उनके काम करने के जो विशिष्ट सामाजिक परिणाम होते हैं, एक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के परिणामों से दूसरे प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में सर्वथा भिन्न होते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसका कारण यही है कि विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं के मध्य संस्थागत अंतर बहुत अधिक है और जिन तरीकों से ये सिद्धांत काम करते हैं, उन पर ये बहुत प्रभावपूर्ण नियंत्रण रखते हैं।

एक उपमान देकर संमवतः बात अच्छी तरह समझी जा सकेगी। यह बिलकुल ऐसी ही बात है कि कोई सोचे कि प्रतिदिन हजारों मोटरगाड़ियाँ सड़क के चौराहे पर से गुजरती हैं, जिनसे कुछ पूर्व और पश्चिम की दिशा में चल रही थीं और कुछ उत्तर एवं दक्षिण की दिशा में। इन गाड़ियों के आने-जाने में समान मूलभूत कार्य-कारण-संबंध विद्यमान हैं। यदि दो गाड़ियाँ इस चौराहे पर चलती हुई एक ही समय पर आएँ तो टक्कर हो जाती है और थोड़ा या अधिक नुकसान हो जाता है। लेकिन, यह कार्य-कारण-संवंध कैसे काम करता है अर्थात् चलती हुई दो गाड़ियाँ कितनी बार एक ही स्थान पर एक ही समय पहुँचती हैं और उनकी टक्कर से वास्तव में कितनी क्षति होती है, यह स्थितियों अथवा संस्थागत तत्त्वों पर निर्भर करेगा। अगर मान लीजिए कि इस चौराहे पर यातायात के नियंत्रण का एकमात्र नियम यही हो कि आपके दायीं ओर चलने वाले ड्राइवर को आगे जाने का हक है या इसके विपरीत एक सड़क पर 'रुकने' का संकेत है और दूसरे पर 'जाने' का संकेत है, तो एक ही कार्य-कारण-संबंध से सर्वथा भिन्न परिणाम प्रकट होंगे। लेकिन अगर अन्य संस्थागत तत्त्व यथा यातायात-नियंत्रक प्रकाश-संकेत हो, तो इसके और भी भिन्न परिणाम होंगे। यातायात की दिशा के संस्थागत स्वरूप से प्रमुखतः यह निश्चित होता है कि ये कार्य-कारण-संबंध किस प्रकार काम करें और उनका अंततः परिणाम क्या होगा। एक ही आर्थिक सिद्धांत विभिन्न प्रकार की आर्थिक संस्थाओं में प्रयोग किया जाए, तो तुलनात्मक अंतर प्रकट हो जाते हैं।

अन्य मूलभूत आर्थिक सिद्धांत

कुछ अन्य मूलभूत आर्थिक सिद्धांत भी हैं, जो सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में काम करते हुए समझे जाने चाहिए। इन पर विस्तार के साथ विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, वह इन पर भी समान रूप से लागू होता है। एक अर्थ-व्यवस्था के अनेक भागों के मध्य कार्य-कारण-संबंध परस्पर इतना अधिक जुड़ा हुआ होता है कि उनका एक दूसरे के साथ किसी-न-किसी प्रकार का संतुलन अथवा एक साम्यावस्था रहनी ही चाहिए। इस तरह का संबंध उदाहरण के तौर पर राष्ट्र के इस्पात-निर्माता उद्योग तथा उन उद्योगों के बीच रहना चाहिए, जो इस्पात कच्चे माल के रूप में प्रयोग करते हैं, राष्ट्र के खाद्य देने वाले उद्योगों तथा उस शक्ति के बीच

रहना चाहिए, जो उसको जनता को आर्थिक प्रयासों के लिए सुलभ होगी, मानव-श्रम को सुलभ प्रोत्साहनों तथा उद्योगों के पहिए चालू रखने के बीच होना चाहिए तथा आय प्राप्तकर्त्ताओं को किए जाने वाले कुल भुगतानों तथा उन समस्त वस्तुओं के कुल मूल्य के वीच रहना चाहिए, जिनकी खरीद की उनसे अपेक्षा की जाती है। वस्तुओं का उपभोग शुरू से होने के समय से पर्याप्त पहले ही, उत्पादक प्रक्रिया के शुरू हो जाने के कारण, आर्थिक प्रक्रिया में जोखिम पैदा हो जाते हैं। जब तक किसी-न-किसी रूप में इस तरह के जोखिम का प्रतिफल मिलने की व्यवस्था न हो, तो उद्योगों का चलना ही ठप्प हो जाएगा। पूँजीगत माल-मशीनें, औजार, उपकरण—बनाने के लिए कुछ चालू उपभोग का वलिदान करना पड़ता है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कुछ ऐसे साधन होने चाहिए कि जिससे यह नापा जा सके कि कितने साधनों के अंतर्वेशन के फलस्वरूप कितना बहिर्वेशन हुआ (उत्पादन हुआ) अथवा किसी उद्योग के परिचालन की कार्य-कुशलता नापने के लिए तथा प्रबंधकों के समक्ष चुनने के लिए जो विकल्प उपलब्ध हैं, उनमें से किसे अपनाया जाए, वह निश्चय करने का कोई मापदंड नहीं।

इन कुछ आर्थिक सिद्धांतों के उल्लेख से ही मूलभूत कार्य-कारण-संबंधों का महत्त्व प्रकट है जो प्रत्येक संभव प्रकार की गतिशील अर्थ-व्यवस्था में काम करते हैं। वे अपना काम करते हैं; क्योंकि आर्थिक प्रक्रिया की मूलभूत प्रकृति एक-सी ही होती है हालांकि संगठन तथा क्रियाशीलता के साधनों की दृष्टि से उनमें संस्थागत अंतर होते हैं।

आर्थिक सिद्धांतों के अनुरूप अर्थ-व्यवस्था

इन विचारों से सर्वाधिक स्पष्ट रूप से यह बात प्रकट होती है कि प्रत्येक राष्ट्रविशेष के लोग किसी विशिष्ट प्रकार की आर्थिक सेवाओं को चुन सकते हैं, जिनके द्वारा वे उत्पादक साधनों को उपभोग्य वस्तुओं या सेवाओं का रूप दे सकें। लेकिन, उनका यह चुनाव आर्थिक सिद्धांतों द्वारा लगाई गई सीमाओं के अनुरूप ही होना चाहिए। इन सिद्धांतों के क्रिया-रूप को बदलने का उनका अधिकार नहीं, वे अपनी संस्थाओं को उनके अनुरूप ही बना सकते हैं—बशर्ते कि उनका लक्ष्य—जैसा कि हम मानते हैं—सुलभ साधनों से अधिकतम संभव मानव-आवश्यकताओं की तुष्टि करना हो।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि भिन्न प्रकार की स्थितियों में—अर्थात् प्राकृतिक संसाधनों, ऐतिहासिक विकास, लोगों की मनोदशाओं, मानवीय दर्शन नीतियों, औद्योगिक शिल्प-विद्या इत्यादि में जो अंतर हैं, उनके कारण भिन्न प्रकार की

आर्थिक संस्थाओं का चुनाव किया जाएगा। यही कारण है कि आज संसार की अनेक अर्थ-व्यवस्थाओं में अलग-अलग प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ पाई जाती हैं। इसका फलितार्थ यह होता है कि किसी एक खास प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ सभी कालों में सब लोगों के लिए सर्वोत्तम नहीं हो सकतीं। यही नहीं, इसका अर्थ यह भी होता है कि जो भी आर्थिक संस्थाएँ स्थापित की जाएँ, जब वे स्थितियाँ जिनमें उनकी स्थापना की गई है, बदलेंगी, तो उनमें धीरे-धीरे अथवा एकदम परिवर्तन होने की आशा की जाती है। अगर धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन पर्याप्त तेज नहीं हैं या इतने कारगर नहीं हैं कि वे समाज की संस्थागत रचना कर सकें, तो क्रांतिकारी परिवर्तन संभवतः उसमें सहायक हो सकते हैं। यह संस्थागत समाज-रचना ऐसी हो जो उपलब्ध साधनों से आवश्यकताओं के अधिकतम संतोष चाहनेवाले लोगों के आर्थिक लाभों को अधिकतम करने में सहायक हो।

अर्थतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन

इस प्रकार अर्थतंत्रों के तुलनात्मक अध्ययन का मर्म यह है कि प्रत्येक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के संस्थागत ढाँचे का विश्लेषण किया जाए तथा यह देखा जाए कि इस ढाँचे के माध्यम से काम करने वाले मूलभूत आर्थिक सिद्धांतों के कुछ परिणाम किस प्रकार होते हैं। हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं के इन संस्थागत ढाँचों में ये अंतर किन कारणों से आ जाते हैं, प्रत्येक के कारण क्या समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, इन समस्याओं को हल करने के लिए क्या प्रयास किए गए हैं और इन प्रयासों को कहाँ तक सफलता अथवा विफलता मिली है। यद्यपि इन सारे मुद्दों का, हमारे अध्ययन के प्रत्येक खंड में इसी क्रम से विवेचन नहीं किया गया है, तथापि हमारे विश्लेषण का सार यही है और अध्ययन करते समय विद्यार्थियों को ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

यहाँ एक चेतावनी देना भी आवश्यक है। अपने अध्ययन के प्रत्येक सोपान में हमें प्रचारात्मकता तथा किसी भाग को अनावश्यक महत्त्व देने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए और सदैव अर्थतंत्रों तथा उनके कार्य-व्यापारों के विषय में वस्तुगत सत्य की खोज करनी चाहिए। निश्चय ही, इस 'वस्तुगत सत्य' से समाजवादी या साम्यवादी कार्यक्रम अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ या ग्रेट ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्थाओं के कार्य-संपादन के विषय में हम अंतिम रूप से मूल्यांकन न कर पाएँगे। वस्तुगत रूप से, हम इन अर्थ-व्यवस्थाओं की संस्थाओं का वर्णन कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि उन संस्थाओं से किस प्रकार काम करने की अपेक्षा की जाती है और वास्तव में वे किस प्रकार काम करती हैं। इन वस्तुगत

तथ्यों का जब हम इस दृष्टि से मूल्यांकन करने बैठेंगे कि अपनी वर्त्तमान स्थितियों में कौन-सी अर्थ-व्यवस्था अच्छी या वेहतर है अथवा हमारे लिए सर्वोत्तम है तो हमें बहुत सी ऐसी बातों का सामना करना पड़ता है जो वैयक्तिक रुचि से संवंध रखती हैं और जो हमारे इस मूल्यांकन में सही रूप में वहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुगत रूप से इस प्रत्येक अर्थतंत्र की शक्तियों तथा कमजोरियों की उसकी सफलताओं और विफलताओं की सूची वना सकते हैं। जब हम इन द्विपक्षीय सूचियों का मूल्यांकन करने वैठते हैं तो प्रत्येक सूची की हरेक बात को हम कितना सापेक्ष महत्त्व देते हैं, इस पर हमारी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का गहरा प्रभाव पड़ता है। हम पहले जिस तंत्र-पूँजीवाद का विश्लेषण करेंगे, उससे संबंधित इन व्यक्तिगत पहलुओं पर विचार करते समय आनेवाली कठिनाइयों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन करेंगे। इस बात का यहाँ चेतावनी के रूप में ही उल्लेख किया गया है और यह बात हमारे समूचे अध्ययन के समय ध्यान में रखी जानी चाहिए।

हमने यह जो अध्ययन आरंभ किया है, उससे विभिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न रूप से लाभ हो सकता है। लेकिन, पुस्तक लिखने का प्रधान उद्देश्य स्पष्टतः है—सभी प्रकार के अर्थतंत्रों के विषय में तथ्य जानने और उनका विश्लेषण करने की विद्यार्थियों की योग्यता वढाना, ताकि वे आर्थिक संगठन के इन विभिन्न स्वरूपों में आर्थिक सिद्धांतों के स्थान को समझ सकें और अंततः मानव-आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन के रूप में अर्थतंत्रों को मूल्यांकन करने की योग्यता उनमें आ सके। हालांकि अपने-आप में यह उद्देश्य एक व्यापक अनुभव हो सकता है, किंतु इसका उद्देश्य अधिक व्यावहारिक है। इस प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता की सच्ची तथा अंतिम कसौटी तो यही है कि किस सीमा तक विद्यार्थी हमारे राष्ट्र के आर्थिक नीति-निर्धारण में अपनी भूमिका अदा करने में कुशल हो पाता है तथा उन राष्ट्रों के भी जो हमारे उदाहरण तथा हमारे मार्ग-दर्शन को स्वीकार करने के लिए तैयार हों। खेद की बात यह है कि इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि गलत चुनाव करना संभव होता है, जिसके मानव-कष्टों के रूप में अकथनीय परिणाम होते हैं। जर्मनी का आधुनिक इतिहास इस बात का साक्षी है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि व्यक्ति के रूप में हम स्वयं को उन साधनों से सम्पन्न बनाएँ, जिनसे हम अपने समाज को सही चुनाब करने में सहायता पहुँचा सकें।

हमारे वर्गों के चुनाव में हम में से कुछ लोग अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं; क्योंकि हमी में से भविष्य के प्रमुख पत्रों के संपादक, व्यापारी, चिकित्सक, वकील, विधायक, मंत्री, अध्यापक, समाचार-समीक्षक, गृह-

निर्माता और मजदूर संघों के नेता आदि होंगे। साथ ही वे लोग भी हमी में से होंगे, जो रोजमर्रे की दुनिया के बीच अधिक दैनंदिन कार्यो को संपादित कर रहे होंगे। लोकतंत्रीय समाज में जिसमें नागरिक स्वतंत्रताओं की पर्याप्त रूप से रक्षा की गई है, जरूरी नहीं है कि किसी का प्रभाव इसी कारण कम हो; क्योंकि उसे बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं समझा जा सकता। हमारे विवेकपूर्ण तथा उत्साहपूर्ण सम्मिलित प्रयासों के द्वारा ही सही चुनाव किए जा सकते हैं, जिससे मानव-सुविधा, सुरक्षा, शांति तथा प्रसन्नता के लक्ष्य की दिशा में हमारा समाज बढ़ सके। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह पुस्तक समर्पित है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न—

१. 'आर्थिक पद्धति' क्या होती है? इसके अंग क्या-क्या होते हैं?
२. क्या-क्या तत्त्व आर्थिक पद्धति की रचना करते हैं? इनमें से कौन से तत्त्व मानव के नियंत्रण में हैं तथा कौन से उससे बाहर?
३. संस्थाएँ मनुष्य का निर्माण करती हैं अथवा मनुष्य संस्थाओं का निर्माण करता है? यह एक महत्त्वपूर्ण बात क्यों है?
४. 'आर्थिक शक्ति' क्या है? आर्थिक संस्थाओं का आर्थिक शक्ति के साथ क्या संबंध है?
५. 'आर्थिक सिद्धांत' किसे कहते हैं? क्या आर्थिक सिद्धांत एक अर्थतंत्र में कुछ तथा दूसरे में कुछ और होते हैं?
६. क्या 'माँग त्वरण सिद्धांत' निर्बाध बाजार अर्थ-व्यवस्था के बाहर भी काम करता पाया जाता है?
७. क्या समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी 'मूल्य-वृद्धि' हो सकती है?
८. आर्थिक सिद्धांत किस प्रकार काम करते हैं, इन पर क्या आर्थिक संस्थाओं का कुछ प्रभाव रहता है?
९. क्या समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की इस प्रकार व्यवस्था की जा सकती है कि ह्रासमान प्रतिफल सिद्धांत काम ही न करे?
१०. आर्थिक पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन में वस्तुगत दृष्टिकोण की विशेष रूप से क्यों आवश्यकता है?
११. तुलनात्मक पद्धतियों के अध्ययन से आप व्यक्तिशः तथा दूसरी ओर समस्त समाज को क्या लाभ होने की आशा करते हैं?

●

भाग २

पूँजीवाद

अध्याय २

पूँजीवादी अर्थतंत्र के मूलाधार

पूँजीवाद की परिभाषा

कभी-कभी 'पूँजी' और 'पूँजीवाद' शब्दों का गलती से समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। पूँजी का अर्थ है—मानवनिर्मित और प्रकृतिदत्त वे स्थूल वस्तुएँ, जो प्रत्यक्षतः मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति तो नहीं करतीं, वरन् जो अन्य वस्तुओं के उत्पादन में सहायता देती हैं, जिन्हें अंततः मानव-उपभोक्ता प्रत्यक्षतः प्रयोग करता है। मशीनें, औजार, औद्योगिक उपकरण, कारखाने की इमारतें, खानें, कृषि-भूमि तथा कच्चे और आंशिक रूप से तैयार माल पूँजी के उदाहरण हैं।

पूँजी का आशय जहाँ उन वस्तुओं से होता है, जो उत्पादक प्रक्रिया में प्रयोग की जाती हैं, वहाँ पूँजीवाद का आशय स्वामित्व तथा इसके उत्पादक तंत्र के संचालन की एक विशिष्ट प्रणाली से भी है। पूँजीवाद उस समय विद्यमान होता है, जब पूँजी पर व्यक्तियों या संस्थाओं के रूप में संगठित व्यक्तियों का, जिन्हें व्यापारिक निगमों के नाम से अभिहित किया जाता है, स्वामित्व हो। जब पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व होता है, तो उसका उपभोग कैसे किया जाए, इस पर उनका नियंत्रण होता है। स्वामी अपनी पूँजी को उन कार्यों तथा उन ढंगों से प्रयोग करता है, जो उन्हें अपने लिए सर्वाधिक लाभप्रद प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद आर्थिक संगठन की एक प्रणाली है, जिसमें मानवनिर्मित तथा प्रकृतिदत्त पूँजी पर निजी स्वामित्व होता है तथा जिसका निजी लाभ के लिए उपयोग होता है।

आर्थिक तंत्रों के विद्यार्थी को पूँजी की विद्यमानता तथा उसके स्वामित्व के स्वरूप के बीच स्पष्ट भेद करना चाहिए। कोई भी समाज उन कुछ प्रकृतिदत्त संसाधनों के बिना नहीं चल सकता जो खाद्य, वस्त्र तथा आवास-सरीखी उपभोग्य

वस्तुओं के अंतिम स्रोत होते हैं। इसी प्रकार कोई भी आधुनिक समाज बहुसंख्यक, मानवनिर्मित औजारों, मशीनों तथा अन्य औद्योगिक उपकरणों की सहायता के बिना भी जीवित नहीं रह सकता। किंतु, इस पूँजी पर स्वामित्व अनेक तरीकों से रखा जा सकता है और अनेक विधियों से इसके उपभोग का नियंत्रण किया जा सकता है। पूँजीवाद इन विधियों में से एक है। पूँजीवाद के समर्थकों का विश्वास है कि अनेक संभावित विधियों में से यह सर्वोत्तम विधि है। इसके विरोधियों का विश्वास है कि कोई भी अन्य विधि इससे अच्छी होगी। किंतु, दोनों ही यह मानते हैं कि पूँजी होनी चाहिए। पर, वे इस बात पर एक मत नहीं हैं—उसका स्वामित्व कैसे हो अर्थात् उसके उपयोग से संबंधित निश्चय किस प्रकार किए जाएँ।

पूँजीवाद तथा अनार्थिक संस्थाएँ

अतः, पूँजीवाद तत्त्वतः आर्थिक संकल्पना है। इसका आशय उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में पूँजी के उपयोग के नियंत्रण से है। बहुत से लोग भ्रमवश, पूँजीवादविषयक अपनी संकल्पना में अन्य सामाजिक संस्थाओं को भी सम्मिलित कर लेते हैं, जो अनिवार्यतः इसकी अंग नहीं हैं। इस प्रकार कुछ लोग धार्मिक उपासना या भाषण की स्वतंत्रता या स्वतंत्र प्रेस या स्वयं प्रजातंत्रीय सरकार को पूँजीवाद का अंतरंग भाग मान सकते हैं जब कि स्थिति ऐसी नहीं होती। जिस समाज से हम सर्वाधिक परिचित हैं, उसकी विशेषताओं से सर्वथा भिन्न राजनीतिक, धार्मिक, पारिवारिक, शैक्षिक और अन्य संस्थाओं के होते हुए भी पूँजीवाद की परिकल्पना की जा सकती है। वास्तव में, ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, तो आर्थिक संगठन के एक प्रकार के रूप में पूँजीवाद के साथ-साथ अनेक प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ भी विद्यमान रही हैं।

यद्यपि आर्थिक संकल्पना के रूप में पूँजीवाद को अन्य सामाजिक संस्थाओं से स्पष्टतः पृथक् रखा जाना चाहिए, तथापि पूँजीवाद का स्वरूप-निर्धारण अंशतः गैर-आर्थिक संस्थाओं से होता है और इन संस्थाओं को ढालने में पूँजीवाद सहायक होता है। ये संस्थागत संबंध परस्पर इतने उलझे हुए हैं कि यहाँ उनका संतोषजनक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। किंतु उनकी संख्या, उनका महत्त्व और उनकी सूक्ष्मता तो स्पष्ट है और उस व्यक्ति के लिए चेतावनी देने वाली है, जो केवल आर्थिक संस्थाओं को उनके पूर्ण संस्थागत परिप्रेक्ष्य से अलग करके उनका वर्णन

करने चलेगा एवं उनका मूल्यांकन करेगा।[1] पूँजीवाद का मूल्यांकन तब तक भली प्रकार नहीं किया जा सकता, जब तक हम ये दोनों बातें ध्यान में न रखें कि गैर-आर्थिक संस्थाओं ने पूँजीवाद के अभ्युदय और विकास में क्या ऐतिहासिक भूमिका अदा की है और पूँजीवाद ने, प्रतिदान के रूप में इन गैर-आर्थिक संस्थाओं पर क्या प्रभाव डाला है। उदाहरण के रूप में यदि यह सत्य है कि सरकारी संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं तथा इनसे होने वाले परिवर्तनों का पूँजीवाद के विकास पर प्रभाव पड़ता है, तो यह बात भी कम सत्य नहीं है कि पूँजीवादी प्रणाली के कार्य-कलापों का सरकार के स्वरूप तथा गतिविधियों पर भी प्रभाव पड़ता है। धर्मों तथा धार्मिक आदर्शवादिता ने पूँजीवाद को वह रूप ग्रहण करने में, जिस रूप में उसे हम जानते हैं, सहायता पहुँचाई है। किंतु, इसके साथ ही पूँजीवाद ने धार्मिक सिद्धांतों को मोड़ने तथा नैतिकता के मापदंडों को स्थापित करने में भी सक्रिय सहायता पहुँचाई है। इसलिए पूँजीवाद को आर्थिक संस्थाओं का ही समुचित रूप समझना, आर्थिक मानदंडों के अनुरूप ही उसका मूल्यांकन करना और यह मानना सर्वथा अवास्तविकतापूर्ण होगा कि यदि हम चाहें, तो समाज की गैर-आर्थिक संस्थाओं को ज्यों-का-त्यों रख कर पूँजीवाद के स्थान पर किसी अन्य प्रकार की आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

पूँजीवाद का गतिशील स्वरूप

पूँजीवाद का वर्णन करने तथा उसका मूल्यांकन करने का काम कभी-कभी अंतिम रूप से समाप्त नहीं हो सकता; क्योंकि यह सर्वदा गतिशील तथा विकासपरक रहा है। यह कभी भी स्थिर-गति नहीं रहता। यह कभी आज ठीक वैसा ही नहीं रहता है जैसा कि कल था। जो भी इसका विश्लेषण करेगा या इसका मूल्यांकन करेगा, वह भी अपने अध्ययन के समय विद्यमान प्रवृत्तियों तथा गतिविधियों की सर्वोत्तम झलक के आधार पर ही ऐसा करेगा। इस झलक के आधार पर ही इसके भविष्य का अंकन किया जाना चाहिए और उन प्रवृत्तियों एवं गतिविधियों के जारी रहने या उलट जाने की संभावनाओं का अनुमान लगाया जाना चाहिए। इन तथ्यों के एक सीधे से उदाहरण से पता चल जाएगा कि

---

[1] उदाहरण के तौर पर, कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि आर्थिक जगत से व्यवसाय की स्वतंत्रता गायब कर दी जाए, तो व्यक्तियों के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता बनाए रखना असंभव होगा। यद्यपि इस प्रश्न पर यहाँ विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता, तथापि यह आर्थिक एवं अन्य संस्थाओं के संबंधों के संभावित महत्त्व को भली प्रकार प्रकट करता है।

अर्थतंत्रों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयाँ आ सकती हैं। आधुनिक पूँजीवाद अनेक सदियों से अंग्रेजी भाषाभाषी जगत में विद्यमान रहा है और इस अवधि में उसकी मूलभूत संस्थाओं में बड़े भारी परिवर्तन आए हैं। पूँजीवाद का सार रूप से आशय है—पूँजी का निजी स्वामित्व और निजी लाभ के लिए उसका उपयोग अर्थात् उत्पादक वस्तुओं में निजी संपत्ति की संस्था। लेकिन, निजी संपत्ति की धारणा आज डेढ़ सदी पहले की निजी संपत्ति की धारणा से सर्वथा बदल गई है। उस समय निजी स्वामित्व 'में जो उत्पादक वस्तुएँ गिनी जाती थीं, वे थीं : भूमि, पशु, सामान्य औजार तथा मशीनें, जिनका उपभोग केवल उनका मालिक या परिवार के निकट संबंधी करते थे। इन वस्तुओं का उपभोग निजी लाभ के लिए किया जाता था और वह निजी फायदा था उत्पादित वस्तु का, स्वामी के परिवार वालों द्वारा उपभोग या उस छोटे बाजार में उस वस्तु की बिक्री से प्राप्त आय का लाभ; जिसके सभी ग्राहक बिक्रेता से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। उसके बाद, 'निजी संपत्ति' का अर्थ बदलते-बदलते आज इतना भिन्न हो गया है कि आज के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किए जाने को ही चुनौती दी जा सकती है। हालांकि कुछ उत्पादक वस्तुएँ आज भी इस शब्द के अभिधेयार्थ रूप में निजी संपत्ति के रूप में प्रयोग होती हैं, लेकिन आज अधिकांश उत्पादक वस्तुएँ मशीनों तथा उपकरणों के विशाल समूहों में परिवर्तित हो गई हैं और प्रत्येक का समग्ररूपेण स्वामित्व हजारों भागों में विभक्त है, जो निगमों के शेयरों के रूप में हैं। पूँजीवाद के आरंभिक दिनों से तुलना करें, तो आज हम पाते हैं कि पूँजी का स्वामी शायद ही कभी अपनी पूँजी का सीधा प्रयोग करता है। शायद वह ऐसे किसी औजार या मशीन को बता भी नहीं सकता, जिसे वह अपनी कह सके; क्योंकि वह जिसका स्वामी है, वह एक निगमित संस्था की संपत्ति का एक आंशिक भाग ही होता है। यही नहीं, यह निगमित संस्था न केवल स्थूल उत्पादक वस्तुओं को अपनी निजी संपत्ति कह सकती है, वरन् वह साख, पेटेन्ट अधिकार और लेखा प्राप्यता सरीखी अत्यंत अमूर्त्त वस्तुओं की भी स्वामी होती है। अपने स्वामित्व वाली वस्तुओं के उपभोग का अर्थ अब अपने उत्पादक माल का अपने उपभोग के लिए माल बनाने या अपने पड़ोसी को बेचने के लिए माल बनाने के लिए उनका सर्वथा व्यक्तिगत रूप से उपभोग करना नहीं रह गया है। इसका प्रायः यह अर्थ होता है कि जो लोग स्वामी नहीं, उन्हें पूँजी का उपभोग करके ऐसी चीजें बनाने के लिए नौकर रखना, जो व्यापक बाजारों में ऐसे खरीदारों के हाथों बेची जाती है, जिन्हें बिक्रेता एकदम नहीं जानता होता।

इस प्रकार लाभ के लिए प्रयोग होने वाली निजी सम्पति संकल्पना में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। फिर भी, इस समय भी उस अर्थतंत्र को पहले की तरह पूँजीवाद कहते हैं।

एडम स्मिथ ने १७७६ ई० में पूँजीवादी अर्थतंत्र का निरूपण किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि पूँजी के निजी स्वामी तथा उपभोगकर्त्ता, लाभ की खोज के द्वारा, जनसाधारण की भलाई में सामान्य रूप से, 'अदृश्य हाथ' की तरह योगदान करेंगे। उस समय वह एक ऐसे अर्थतंत्र का विश्लेषण कर रहे थे, जो बड़ी तेजी के साथ विकसित हो कर उस रूप से सर्वथा भिन्न होता जा रहा था, जिसका उन्होंने निरूपण किया था। आज पूँजीवाद का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी भी, संभवतः यही कुछ करेगा। पूँजीवाद का सार्थकतापूर्ण निरूपण करने तथा उसके मूल्यांकन में उसके विकासपरक भावी स्वरूपों के बारे में कुछ भविष्यवाणी करनी होगी तथा तदनुसार उसका मूल्यांकन करना होगा। हमारे अत्यंत गतिशील समाज में यह काम सर्वथा अटकल के आधार पर किए बिना कौन बच सकता है?

अपूर्ण पूँजीवाद

पूँजीवाद संसार में कभी भी पूर्ण अथवा विशुद्ध रूप में विद्यमान नहीं रहा। इस कारण पूँजीवाद के निरूपण तथा उसके मूल्यांकन के सभी प्रयासों में उलझन उपस्थित होती है। निजी संपत्ति की सार्थकता केवल एक संगठित समाज-व्यवस्था से ही हो सकती है; क्योंकि इसका अर्थ है एक पक्ष अथवा एक अधिकरण ऐसा है जो व्यक्तियों से पृथक् तथा उनसे अधिक शक्तिशालो है, जो संपत्ति के प्रति व्यक्तियों के अधिकार को स्वीकार करता है तथा उसकी रक्षा करता है। लेकिन, किसी भी संगठित समाज ने व्यक्ति को अपनी उन वस्तुओं पर पूर्ण नियंत्रण रखने की अनुमति कभी नहीं दी। आरंभिक पूँजीवाद के दिनों में भी भूमि अथवा औजारों के स्वामी को पूरी तरह यह छूट नहीं थी कि वह इनसे जो भी चीज बनाना ठीक समझे, वह बना सकता है। पूँजी को किस उद्देश्य के लिए तथा किस रूप से प्रयोग किया जा सकता है, इस पर सामाजिक प्रतिबंधों के बढ़ते चले जाने से पूँजीवाद के स्वरूप में अधिकाधिक परिवर्तन आता चला गया। ऐसी स्थिति में अर्थतंत्र के विद्यार्थियों के सामने सर्वाधिक कठिन प्रश्न उपस्थित होना कभी समाप्त नहीं होता। क्या वह किसी अर्थतंत्र की संस्थाओं का उनके परिकल्पित सर्वथा शुद्ध रूप में विश्लेषण करता है और यदि वह ऐसा करता है, तो क्या उसके निष्कर्ष उन संस्थाओं के वास्तव में विद्यमान अपूर्ण स्वरूप पर सटीक बैठते है? अथवा, यदि उसने इन संशोधनों को ध्यान में रखा है, तो उसे वर्तमान

अर्थ-व्यवस्था में दिखाई पड़ने वाले गुण एवं दोष किस सीमा तक विशुद्ध पूँजीवाद के विद्यमान न होने के ही कारण है ? इन कठिनाइयों तथा सीमाओं को अंगीकार करते हुए हम पूँजीवाद की प्रमुख संस्थाओं का वर्णन करेंगे और बताएँगे कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में उनसे क्या कुछ कार्य करने की अपेक्षा की जाती है ।

आर्थिक प्राणी

परिभाषा

पूँजीवादी अर्थतंत्र में यह तथ्य निरुढ़ है कि लोग 'आर्थिक प्राणी' के रूप में आचरण करते हैं । मोटे तौर पर कहें, तो हम में से प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं एवं सेवाओं को प्राप्त करने तथा उनका उपयोग करने में ऐसे कार्य करता है, जिससे हमें अधिकतम संतोष प्राप्त हो और उसके लिए न्यूनतम कष्ट उठाना पड़े, और न्यूनतम पूँजी अथवा लागत लगे । सर्वथा वैयक्तिक दृष्टि से कहें तो लागत का अर्थ है--मानव-शक्ति का व्यय अथवा अप्रिय या कष्टकर कार्य करना । इसके विपरीत संतोष का अर्थ होता है—प्रीतिकर संवेदन । लागत शारीरिक हो सकती है, तथा कायिक थकान अथवा मनोवैज्ञानिक जैसे हल्के, बार-बार किए जाने वाले कार्यों से उत्पन्न अप्रिय अथवा कष्ट की भावना । संतोष भी शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक हो सकता है । यह भौतिक संतोष छक कर भोजन करने से प्राप्त हो सकता है और मनोवैज्ञानिक संतोष भौतिक संतोष के स्थान पर या पूरक के रूप में प्राप्त हो सकता है जैसे किसी व्यक्ति की कार उसके पड़ोसी की कार से कुछ बड़ी तथा अधिक तेज चलने वाली होना ।

जो व्यक्ति अपना निर्णय करने में सर्वथा स्वतंत्र होगा; वह जब यह निश्चय करेगा कि कितने बड़े खेत में आलू बोए तथा उगाए जाएँ, तो वह लागतों की संतोष से तुलना अवश्य करेगा । अगर उसे यह आशा है कि वह उन आलुओं का स्वयं ही उपभोग करेगा, तो उसे पता है कि आगामी सरदियों में कुछ मात्रा के बाद जो भी अतिरिक्त बुशल आलू वह खाएगा, उससे उसे ह्रासमान संतोष ही प्राप्त होगा । वह यह भी बखूबी समझता होगा कि जितनी अधिक एकड़ जमीन में वह आलू बोएगा और खेती करेगा, उतना ही अधिक समय तथा प्रयास इसमें लगाना होगा । एक स्थिति तक पहुँचने के बाद अतिरिक्त प्रयास करने से, पहले तो धीरे-धीरे, किंतु बाद में तेजी से शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक अरुचिकरता अर्थात् लागत बढ़ेगी । आर्थिक प्राणी केवल उतनी एकड़ जमीन में ही आलू बोएगा जितनी जमीन के सभी आलू का उपभोग करके वह यह कह सके कि, मैंने सर्वथा ठीक परिमाण में ही आलू बोए थे । यदि मैंने अधिक आलू बोए होते, तो उन्हें

पैदा करने की लागत उन्हें खाने से प्राप्त आनंद से पूरी नहीं होती। अगर मैंने कम एकड़ जगह में आलू बोए होते, तो अतिरिक्त बुशल आलू खाने से जो अतिरिक्त संतोष मुझे प्राप्त हुआ, वह उन्हें बोने तथा उगाने की अतिरिक्त लागत से कहीं अधिक होता। आलू-उत्पादक ने कम-से-कम लागत के साथ अधिक-से-अधिक संतोष प्राप्त करने का प्रयास किया—इस प्रकार वह एक आर्थिक प्राणी सिद्ध हुआ।

जटिल अवस्थाओं में स्थिति

दस्तुत: उपर्युक्त उदाहरण की सीधी-सादी अवस्था में आर्थिक प्राणी होना सुगम है; क्योंकि तब अपने निर्णय संतोष एवं लागत का संतुलन करने के हिसाब की अपेक्षा किसी अन्य आधार पर करना तर्कसंगत न लगता। लेकिन, आधुनिक पूँजीवादी समाज में इस प्रकार की सीधी-सादी अवस्थाएँ यदि होती भी हैं, तो चंद मामलों में ही मौजूद होती हैं। एक व्यक्ति केवल आलू उगाता और उसे खाता ही नहीं है। उपभोक्ता के रूप में उसे अनेक प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं की भी आवश्यकता रहती है। उत्पादक के रूप में वह संभवत: उन वस्तुओं में से किसी वस्तु का उत्पादन नहीं करता, जिनका वह उपभोग करता है और न वह पूरी एक वस्तु अथवा सेवा का ही उत्पादन करता है। उसकी उपभोग शक्ति है एक निश्चित काल-अवधि में पैसे के रूप में हुई कुल शुद्ध आय और उसकी लागतें हैं किसी विशेष कार्य को करने में खर्च हुई मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति। हमारी जटिल अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति उस समय एक आर्थिक प्राणी होता है, जब वह अप्रिय प्रयास के रूप में कम-से-कम खर्च करके रुपये के रूप में अधिक-से-अधिक आमदनी करना चाहता है। रुपये के रूप में प्राप्त आय को, उपभोक्ता वस्तुएँ खरीदने के लिए, वह संभवत: इस प्रकार वितरित करता है कि किसी डालर से वह उतने संतोष से अधिक संतोष की प्राप्ति नहीं कर सकता था जितना वर्त्तमान रूप में खर्च करके उसने प्राप्त किया है। आर्थिक प्राणी के रूप में वह, जितनी शक्ति खर्च करता है, उसके बदले में अधिक-से-अधिक डालर और जो डालर वह व्यय करता है, उससे अधिकतम संतोष प्राप्त करना चाहता है।

हमारी अर्थ-व्यवस्थाओं के अधिकांश निर्णय व्यापारिक निगमों द्वारा किए जाते हैं जो विशेष रूप से आर्थिक प्राणी के रूप में आचरण करने की योग्यता रखते हैं और ऐसा करने के लिए उत्सुक भी रहते हैं। अपने आर्थिक निर्णयों से संबंधित ज्ञान प्राप्त करने की व्यक्ति की योग्यता सीमित हो सकती है और उसकी पसंद-नापसंदगियों में ऐसे बहुत से अभिप्रेरण, अभिवृत्तियाँ तथा इच्छाएँ प्रभाव डाल सकती हैं, जो आर्थिक न हों। निगम की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न होती है। सामान्यत:

उसको विस्तृत सुविधाएँ सुलभ होती हैं जैसे लागत लेखांकन विभाग और बिक्री विभाग, जो उसकी लागत तथा प्राप्तियों से संबंधित गणना करने में उसकी सहायता करते हैं। ये निगम गैर-आर्थिक अभिप्रेरणों तथा इच्छाओं से प्रभावित होंगे, इसकी संभावना बहुत ही कम होती है। निगमों के रूप में व्यापारिक संगठनों का तेजी से महत्त्व बढ़ते जाना इस मूल पूँजीवादी धारणा का समर्थन करता है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यापारिक निर्णय आर्थिक प्राणी के आधार पर ही किए जाते हैं।

प्रतिबंध

व्यक्ति और व्यापारिक संस्थाएँ अपनी प्राप्तियाँ या संतोष अधिक-से-अधिक करने तथा अपनी लागतें अर्थात् त्याग कम-से-कम करने का प्रयास करते हैं, लेकिन ऐसा पूर्णरूपेण नहीं होता है। वास्तव में एक आर्थिक प्राणी बनने का 'प्रयास' ही उस मूलभूत शक्ति के रूप में काम करता है, जो पूँजीवादी व्यवस्थाओं की प्रक्रियाओं का एकीकरण करती है। जब निर्णयकर्त्ता को यह विदित हो कि अन्य अनेक संभावित वैकल्पिक निर्णयों में से प्रत्येक निर्णय से कितना संतोष मिल सकता है और कितना त्याग करना होगा अर्थात् उससे क्या आय होगी और कितनी लागत पड़ेगी, इसका जब पूरा-पूरा ज्ञान हो, तभी आर्थिक प्राणी की स्थिति पूर्णरूपेण प्राप्त की जा सकती है। स्पष्ट है कि इतना ज्ञान होना असंभव है; क्योंकि इसका अर्थ होगा, उन असंख्य गतिशील आर्थिक तत्त्वों के आचरण का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होना, जिनमें अल्पकालीन परिवर्तन होते रहते हैं। आलू-उत्पादक के अत्यधिक सीधे-सादे उदाहरण को ही लें, तो भी हम पाते हैं कि वह अपने संतोषों तथा लागतों का पूर्णरूपेण संतुलन तभी कर सकता है, जब वह मौसम, अपने स्वयं के स्वास्थ्य, अपनी रुचियों के परिवर्तन तथा आलू-उत्पादन की उद्योग-विद्या में हो सकने वाले परिवर्तनों के बारे में ठीक-ठीक पूर्व-कल्पना कर सके। लेकिन, यदि वह इतना सब नहीं करता, तो भी, वह एक आर्थिक प्राणी के रूप में जो निर्णय करेगा, वे भविष्य में पड़ने वाली लागतों या त्यागों तथा भविष्य में प्राप्त संतोषों के यथासंभव सावधानी के साथ लगाए गए 'अनुमानों' पर आधारित होगा।

कृत्य

आर्थिक प्राणी के रूप में किया गया यह निर्णय ही हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में एकीकरण लाने वाला तत्त्व होता है। प्रत्येक व्यापारिक संस्था के निर्णय इसी प्रकार की गणना पर आधारित होते हैं और इस प्रकार कार्य-व्यापारों की समग्र शृंखला सुव्यवस्थित तथा सुचिंतित व्यापारिक संचालनों के रूप में प्रकट होती है।

उदाहरण के लिए पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उस हालत में वस्त्र-उद्योग नहीं चल सकता, जब कताई तथा बुनाई कारखाने तो अपने निर्णय एक आर्थिक प्राणी के रूप में करें, रुई-उत्पादक कपास बीजने, कपास उगाने, फसल काटने और उसे बेचने के निर्णय ज्योतिष के आधार पर करें और ऊन-उत्पादक अपने निर्णय केवल भेड़ पर दया दिखाते हुए करें। अगर आधे व्यापारी अपने निर्णय धन की प्राप्ति एवं लागत के आधार पर हिसाब लगाकर करें तथा आधे व्यापारी अपने निर्णय मानवीय दया-भाव के आधार पर करें, तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उस सामञ्जस्य के तत्त्व का सर्वथा अभाव हो जाएगा, जिसके बल पर समूची व्यवस्था जुड़ी रहती है और एक इकाई के रूप में काम करती रहती है।

यही नहीं, प्रत्येक व्यापारी को इस आधार पर अपने निर्णय करते समय यह ज्ञात होता है कि अन्य लोग भी अपने निर्णय इसी आधार पर कर रहे हैं। दूसरा व्यक्ति किस आधार पर निर्णय कर रहा है, इसकी एक दूसरे को जानकारी होने का कितना महत्त्व है, इस बारे में अधिक कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के तौर पर यह मान लें कि एक जूता-निर्माता यह विचार कर रहा है कि अपने कारखाने की क्षमता बढ़ाये या नहीं। उपयुक्त हिसाब-किताब लगाकर वह यह निर्णय कर सकता है कि वह अपने कारखानों में बने अधिक जूतों को बेच सकता है और इस प्रकार वह अपनी शुद्ध आय बढ़ा सकता है; क्योंकि उसके कारखाने की कार्यकुशलता ऐसी होगी कि वह अपने प्रतियोगियों के मुकाबले सस्ते दाम पर जूते बेच सकेगा। यह हिसाब-किताब तथा निर्णय उसी अवस्था में चल सकेंगे, जब अन्य जूता-निर्माता भी इसी प्रकार का हिसाब-किताब सोचकर चल रहे हों। अगर पहले निर्माता को पता हो कि अन्य अनेक निर्माता अपनी उत्पादन-क्षमताओं का निर्णय करते समय शुद्ध आय के रूप में प्रकट होने वाले परिणाम सोचे बिना ही उत्पादन-क्षमता बढ़ाने का निर्णय कर रहे हैं, तो अपना निर्णय करने का उसका कोई आधार ही नहीं रहेगा।

अगर पूँजीवादी व्यापारिक निर्णय आर्थिक प्राणी के आधार को छोड़ कर किसी अन्य आधार पर होने लगें, तो इसका परिणाम आर्थिक अराजकता के अलावा कुछ न होगा। उस समय उसमें एकीकरण तत्त्व का अभाव होगा, जिससे अर्थ-व्यवस्था इतने विशिष्ट रूप से तथा कुछ भागों में जटिलतापूर्वक नहीं चल सकती जैसी कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था चल रही है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकल्प के रूप में जिन अन्य अर्थतंत्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें निर्णय-कर्त्ता के रूप में आर्थिक प्राणी का आधार समाप्त भले ही कर दिया हो, किंतु वहाँ

भी अर्थ-व्यवस्था को एकीकृत रूप देने के लिए किसी अन्य तत्त्व को अवश्य उपस्थित किया गया है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्राणी की परिकल्पना आधारभूत है; क्योंकि निर्णय करने का यही एक ऐसा आधार प्रदान करता है, जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कार्य-निष्पादन के अनुरूप ठीक बैठता है।

निजी संपत्ति

परिभाषा

निजी संपत्ति पूँजीवादी अर्थतंत्र की एक अन्य आधारभूत संस्था है। निजी संपत्ति का संबंध उस अधिकार से है, जो एक स्वामी को प्राप्त है, जिसकी रक्षा समाज करता है और जिसके द्वारा स्वामी अपनी वस्तु के उपभोग पर नियंत्रण करता है। अधिक शुद्ध रूप से कहें तो यह समूल्य वस्तुओं को प्राप्त करने, अपने पास रखने, स्वेच्छया अपने काम में लाने तथा उसे बेच सकने का अधिकार है। इस अधिकार में अपने स्वामित्व वाली वस्तु स्वयं प्रयोग करने के साथ वे स्थितियाँ निर्धारित करने का अधिकार भी शामिल है, जिनके अनुसार अन्य व्यक्ति भी उसका उपभोग कर सकें। स्वामित्व वाली वस्तु मूर्त्त या अमूर्त्त दोनों ही हो सकती है। वास्तव में आधुनिक पूँजीवाद की एक विशेषता यह भी है कि निजी संपत्ति की संकल्पना का तेजी से व्यापक रूप से विस्तार हुआ है और उसमें अमूर्त्त वस्तुएँ भी शामिल की जाती हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी खुदरा दूकान का स्वामी है, तो उसकी दूकान में जो सामान है, या उस दूकान की इमारत और उसकी जमीन है, उसके प्रयोग या बिक्री आदि पर ही उसका नियंत्रण नहीं है, बल्कि वह उन अमूर्त्त परिसंपत्तियों का भी स्वामी है, जो उस दूकान से संबद्ध हों। इन अमूर्त्त परिसंपत्तियों में व्यापारिक नाम के प्रयोग का अधिकार, प्राप्य हिसाब-किताब, किसी निश्चित मूल्य पर कुछ निश्चित सेवाएँ प्रदान करने के लिए व्यक्तियों या व्यापारिक संस्थाओं के साथ हुए करार या कुछ कार्य न करने के करार और यहाँ तक कि साख भी शामिल होती हैं, जो एक काल्पनिक धारणा है कि पुराने ग्राहक उस दूकान से सामान खरीदने के लिए आते ही रहेंगे।

निजी संपत्ति का अर्थ मात्र कब्जे से कहीं अधिक होता है। कब्जा तो किसी वस्तु पर भौतिक अधिकार होता है और इससे उस वस्तु पर, जब तक वह कब्जे में है तब तक, उसके उपभोग का निश्चय करने से संबंधित सीमित या असीमित अधिकार ध्वनित होता है। 'निजी संपत्ति' से समाज के ऐसे संघटित अभिकरणों द्वारा संपत्तिविषयक अधिकार की मान्यता की बात भी जानी जाती है, जो स्वामी के अधिकारों की रक्षा करते हैं और यदि उसकी चीजें किसी अन्य व्यक्ति के भौतिक अधिकार में गैर कानूनी ढंग से चली जाएँ, तो उसे पुनः दिला देते हैं। इस प्रकार

एक किराएदार जिस मकान में रहता है, उसका कब्जा तो उसके पास होता है लेकिन यह उसका स्वामी नहीं होता। लेकिन यह पट्टे का मालिक होता है; क्योंकि वह पट्टे की शर्तों के अधीन कुछ निर्धारित अवधि के लिए मकान में रहने या काबिज रहने का अधिकार उसे होता है। यद्यपि 'कब्जे' को मोटे तौर पर 'नौ बटा दस' (९/१०) कानूनी हक कहा जाता है, किंतु निजी संपत्ति का सार तत्त्व 'कब्जा' नहीं है, वरन् स्वामी के अधिकार की किसी सरकारी अभिकरण द्वारा स्वीकृति और उसकी रक्षा है। जब यह प्रश्न उठता है कि उसका कानूनी तौर पर स्वामी कौन है, तो इसका अंतिम निर्णय उपयुक्त सरकारी अभिकरण ही करता है।

संविदे भी निजी संपत्ति

संविदे भी निजी संपत्ति का एक महत्त्वपूर्ण रूप होते हैं। अगर 'क' और 'ख' परस्पर एक कानूनी संविदा करते हैं जिसके अधीन 'ख' एक निर्दिष्ट प्रतिकर प्राप्त करके 'क' के लिए कुछ सेवा करने का करार करता है तो यह कहा जा सकता है कि 'क' को 'ख' से उस मूल्य पर वह सेवा कराने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु का वह स्वामी है, वह विशुद्ध अमूर्त्त अधिकार है, लेकिन वह सच्चे अर्थों में वैसी ही निजी संपत्ति है, जैसा कि अपने कारखाने की इमारत पर 'क' का स्वामित्व। उपयुक्त सरकारी अभिकरण 'ख' के विरुद्ध 'क' के दावों को स्वीकार करेगा और अगर अन्य व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप करेंगे, या उस पर 'कब्जा' कर लेंगे तो वह अभिकरण उस अधिकार की रक्षा करेगा और यदि 'ख' अपने विरुद्ध किए गए दावे को मानने से इन्कार करेगा तो वह अभिकरण उसे आदेश देगा कि उसके द्वारा निर्धारित हरजाने की राशि वह अदा करे। इन संविदाजन्य उत्तरदायित्वों की लंबी-चौड़ी शृंखला अनवरत रूप से देखने में आती है, जो सारे-के-सारे निजी संपत्ति संस्था के अंग हैं। निजी संपत्ति की संकल्पना में जब संविदाओं तथा मूर्त्त वस्तुओं के स्वामित्व के अधिकार दोनों सम्मिलित होते हैं, तभी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में इस संस्था का महत्त्व प्रकट होता है।[1]

---

[1] यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र का कानूनी आधार संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के संपत्तिविषयक अनुच्छेद हैं। पाँचवें और चौदहवें संशोधनों में लिखा है कि—"किसी भी व्यक्ति का—जीवन, स्वतंत्रता या संपत्ति उपयुक्त कानूनी प्रक्रिया के बिना छीनी नहीं जा सकती और न निजी संपत्ति उपयुक्त क्षतिपूर्ति दिए बिना सार्वजनिक उपयोग के लिए ही ली जा सकती है। कोई भी राज्य—किसी व्यक्ति का जीवन, उसकी स्वतंत्रता या संपत्ति को उपयुक्त कानूनी प्रक्रिया के बिना छीन नहीं सकेगा।"

कृत्य

उत्पादक वस्तुओं तथा संविदों में निजी संपत्ति पूँजीवाद का अंतर्भूत अंग है। अगर यह समाप्त हो जाए, तो आवश्यक रूप से पूँजीवाद समाप्त हो जाएगा। अगर पूँजीवाद के स्थान पर भिन्न प्रकार का आर्थिक संगठन आएगा, तो निजी संपत्ति के रूप में तात्विक परिवर्तन आ जाएगा। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र के संचालन में निजी संपत्ति महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। इनमें सबसे पहले जिस बात पर विचार किया जाएगा, वह है उत्पादक तत्त्वों का किस प्रकार किस काम में प्रयोग किया जाए, इसके निर्णय की शक्ति। उत्पादक गतिविधि तब तक नहीं चल सकती, जब तक अर्थ-व्यवस्था में कुछ व्यक्तियों को यह स्पष्ट अधिकार न हो कि वे विभिन्न उत्पादक तत्त्वों की विभिन्न इकाइयों को एक निर्धारित ढंग से इस, उस या किसी और रूप में कार्य करने का आदेश दे सकें। उत्पादक प्रक्रिया जितनी अधिक जटिल तथा विशेषज्ञतापूर्ण हो जाती है, उतनी ही अधिक गहराई तक निर्णय करने की शक्ति होनी चाहिए। पूँजीवादी अर्थतंत्र में निजी संपत्ति के द्वारा ये अधिकार उनके मालिकों को प्राप्त हो जाते हैं जो उन अधिकारों को किन्हीं अन्य लोगों को भी सौंप सकते हैं। अर्थतंत्रों के हमारे इस तुलनात्मक अध्ययन में सर्वत्र यह प्रकट होगा कि ये शक्तियाँ अन्य स्थानों में भी विद्यमान हो सकती हैं। पूँजीवाद के विषय में आधारभूत बात यही है कि ये शक्तियाँ स्वामियों के हाथों में होती हैं, जो आर्थिक प्राणियों के रूप में आचरण करते हैं।

विशेष रूप से प्राकृतिक संसाधनों के स्वामियों को यह निर्णय करने का अधिकार होता है कि उन संसाधनों का किन-किन उद्देश्यों के लिए किस रूप में उपयोग किया जाएगा। कारखाने की इमारतों, औजारों तथा समस्त मानवनिर्मित उपकरणों के मालिकों को भी इनके उपभोग के बारे में इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। जिस व्यक्ति ने श्रमिकों को नौकर रखने का संविदा किया हुआ है, उसे यह अधिकार है कि वह इन श्रमिकों को उन कामों में लगा सके, जिनमें वह उन्हें लगाना ठीक समझे। जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से धन उधार लेने का संविदा करता है, तो यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह उस धन को अपनी पसंद के कामों में अपने ढंग से लगा सके। संविदा द्वारा प्राप्त अधिकारों से (जो निजी संपत्ति का एक रूप होता है) पेटेंट की गई मशीनों और प्रक्रियाओं के प्रयोग, किसी व्यापारिक नाम या सूत्र के प्रयोग, किसी विशिष्ट तकनीकों के उपभोग या वस्तुओं को किसी खास ढंग और किन्हीं खास बाजारों में बेचने का अधिकार भी प्राप्त होता है। निजी संपत्ति की संस्था के द्वारा ये अधिकार उन निश्चित व्यक्तियों को प्राप्त हो जाते हैं, जो एक पूँजीवादी प्रणाली की विभिन्न व्यापारिक फर्मों में उत्पादन-कार्य

जारी रखने के लिए आवश्यक आदेश देकर उन अधिकारों का प्रयोग करते हैं। उत्पादक गतिविधि जारी रखने के लिए निर्णय करने वाली शक्ति का कुछ निश्चित स्वरूप होना चाहिए और निजी संपत्ति संस्था उस स्वरूप को जन्म देती है, जो पूँजीवाद की एक सहजात विशेषता है।

निजी संपत्ति संस्था का दूसरा कार्य संपत्ति जमा करने की प्रवृत्ति बढ़ाना है। मानव-निर्मित संपत्ति जमा हुए बिना आधुनिक उत्पादन गतिविधि का होना असंभव होगा और उसका परिमाण बढ़े बिना समाज के प्रति व्यक्ति के औसत उपभोग में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाएगी। यद्यपि ऐसे अनेक तरीके हैं, जिनके द्वारा पूँजीगत माल के रूप में संपत्ति जमा करना संभव है, किन्तु केवल एक तरीका ही ऐसा है, जो पूँजीवाद के सर्वथा अनुकूल है। यह तरीका है व्यक्तिगत या निगमों की अतिरिक्त आय को बचा कर उसका मानवनिर्मित मूर्त्त उपकरणों के रूप में परिवर्तन करना। बड़े पैमाने पर बचत संभवतः तब तक न होगी, जब तक व्यक्तियों और निगमों को बचत करने के लिए कोई अभिप्रेरण न हो। अभिप्रेरण प्रदान करने का कार्य निजी संपत्ति करती है।

उत्पादक तथा उपभोक्ता वस्तुओं दोनों में ही निजी संपत्ति होना बचत करने तथा संपत्ति जमा करने को प्रोत्साहन प्रदान करता है। उत्पादक वस्तुओं के स्वामियों को यह अधिकार है कि वह उत्पादक प्रक्रिया में अपनी वस्तुओं के उपभोग से होने वाला लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यही बात बुनियादी तौर पर बचत करने और बचे धन को उत्पादक वस्तुओं में लगाने का प्रलोभन पैदा करती है। यदि समाज ने इस सुविधा के प्रति व्यक्तियों को आश्वस्त न किया होता, तो इस समय होने वाली आय को पाने वाले लोग तत्काल उपभोज्य वस्तुओं एवं सेवाओं पर अधिक संभवतः सारा ही धन खर्च करने को प्रवृत्त होते।

उपभोज्य वस्तुओं के भी निजी संपति होने के कारण बचत करने तथा धन संग्रह करने का उद्दीपन मिलता है। आज प्राप्त किए टिकाऊ उपभोग्य सामान को उसका स्वामी भविष्य में भी प्रयोग कर सकता है, यह आश्वासन निस्संदेह ऐसा उपभोग्य सामान खरीदने के लिए बचत करने की प्रेरणा देता है। चूँकि इस प्रकार जमा किया सामान बाद में चल कर बेचा जा सकता है और उससे प्राप्त धन का पूँजीगत उपकरण प्राप्त करने में प्रयोग किया जा सकता है, अतः इस प्रकार की बचत पूँजी के संग्रह में एक भूमिका अदा करती है। अंततः, जो व्यक्ति पूँजी-निर्माण में अपना धन लगाता है, उसे निजी संपत्ति की संस्था के रूप में यह आश्वासन मिलता रहता है कि वह अपने धन के प्रयोग से हुई आय प्राप्त कर सकता है, वह

टिकाऊ उपभोग्य वस्तुएँ खरीद सकता है और उसके स्वामित्व के अधिकार की रक्षा समाज करेगा ।

बहुत कुछ इसी रूप में निजी संपत्ति धन को सुरक्षित रखने में एक उद्दीपन के रूप में काम करती है; भले ही वह धन उपभोग वस्तुओं के रूप में हो या उत्पादक वस्तुओं के रूप में । जब वस्तुओं का स्वामी यह अनुभव करता है कि संग्रहीत धन से प्राप्त होने वाले लाभों का भविष्य में भी उपभोग करना सुरक्षित है, तो वह इन वस्तुओं की ह्रास से रक्षा करता है । प्राकृतिक संसाधनों के स्वामी को इसी प्रकार उनके उत्पादक तत्त्वों को सुरक्षित रखने के लिए उद्दीपन मिलता है । इसी प्रकार मानवनिर्मित वस्तुओं के स्वामी उनकी रक्षा के लिए प्रवृत्त होते हैं । उपभोग्य वस्तुओं के स्वामी भी अपनी चीजों को सँभालने की इच्छा कर सकते हैं और इस प्रकार ऐसे स्टॉक को सुरक्षित रखते हैं, जिसे बाद में उत्पादक वस्तुओं में परिवर्तित किया जा सकता है । पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के परिचालन में, वस्तुओं को सँभाल कर रखने के ये अभिप्रेरण महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । इनसे न केवल एक निश्चित कालावधि में उपलब्ध पूँजीगत उपकरणों का परिमाण बढ़ता है, बल्कि उद्यमी लोगों के द्वारा उत्पादन लागतों का हिसाब लगाते समय वस्तुओं के मूल्य ह्रास-संबंधी अनुमानों के लिए इससे एक व्यवस्थित आधार सुलभ हो जाता है ।

निजी संपत्ति के उपभोग पर रुकावटें

निजी संपत्ति की संस्था द्वारा ये जो आधारभूत भूमिकाएँ अदा की जाती हैं, उसका निहितार्थ यह कदापि नहीं है कि संपत्ति के स्वामी के अधिकारों पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं है । यह तो सोचा ही नहीं जा सकता कि एक संगठित समाज में किसी भी व्यक्ति को अपनी वस्तु का जैसा वह चाहे, ठीक वैसा ही उपयोग करने का पूर्ण तथा अमर्यादित अधिकार प्राप्त होगा । हाल के दशकों में निजी स्वामित्व की उपभोग एवं उत्पादक वस्तुओं के उपभोग पर लगी रोक-टोकें कई गुनी हो गई हैं । प्रकृतिदत्त और मानवनिर्मित पूँजीगत वस्तुओं का स्वामी उन्हें उत्पादक प्रक्रिया में प्रयोग करने से संबंधित निर्णय करने का अपना अधिकार उन अनेक कानूनों से घिरा पाता है जिसमें अनेक सकारात्मक और नकारात्मक शर्तें दी गई होती हैं, जो उसे पूरी करनी होती हैं । अपने कारबार में धन लगाते, अपने उत्पादनों का निर्माण करते तथा उनकी बिक्री करते, श्रमिक रखते तथा सभी प्रकार के संविदे करते समय हर मौके पर उसके सामने कुछ कानून रहते हैं, जिनमें कहा जाता है कि वह ऐसा नहीं करेगा या वह ऐसा अवश्य करेगा ।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सामाजिक नियंत्रणों की अधिकता तथा इनके महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद निजी स्वामित्व वाली वस्तुओं के उपभोग से संबंधित निर्णय करने का मुख्य अधिकार अब भी उनके स्वामियों या उनकी तरफ से कार्य करने वाले लोगों के हाथ में है। अब भी हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में निर्णय करने के अधिकार का मूलभूत आधार निजी संपत्ति ही है। निजी संपत्ति की संस्था होना आज भी धन जमा करने तथा उसकी रक्षा करने के लिए एक मुख्य अभिप्रेरण बना हुआ है। जब तक यह स्थिति चलती रहेगी, तब तक निजी संपति पूँजीवाद की एक आधारभूत संस्था बनी रहेगी। जब यह संस्था समाप्त हो जाएगी अर्थात् जब आर्थिक निर्णय तथा अभिप्रेरण का स्रोत निजी संपति न रह कर कुछ और हो जाएगा, तो पूँजीवाद गायब हो जाएगा।[1]

उत्तराधिकार

परिभाषा

यद्यपि उत्तराधिकार को कभी-कभी निजी संपत्ति संस्था का एक चरण मात्र ही कहा जाता है, तथापि सिद्धांत-रूप में यह उससे पृथक् किया जा सकता है। सामान्य रूप से इसे संपत्ति का उत्तराधिकार कहा जाता है। इसमें दुहरे अधिकार की बात आती है: (१) संपत्ति के स्वामियों को यह अधिकार है कि अपनी मृत्यु के समय वह अपनी संपत्ति के अधिकारी को मनोनीत कर सकता है और (२) मृतक व्यक्ति का निर्धारित श्रेणी का रिश्तेदार जो व्यक्ति हो, उसे उस संपति पर दावा करने का अधिकार होता है। संकुचित अर्थ में कहें, तो पहला अधिकार 'वसीयत' करने का अधिकार है और दूसरे प्रकार का अधिकार 'उत्तराधिकार' का अधिकार है। यहाँ जब हम 'उत्तराधिकार' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो ये दोनों अधिकार उसमें आ जाते हैं।

कानूनी संस्था के रूप में उत्तराधिकार निजी पूँजी से पृथक् है या उसे पृथक् किया जा सकता है। सैद्धांतिक रूप से इसमें संशोधन किया जा सकता है अथवा इसे पूरी तरह समाप्त ही किया जा सकता है, फिर भी निजी संपत्ति की संस्था बनी रह

---

[1] निजी संपति के कार्य जो अभी बताए गए हैं और विभिन्न प्रकार की संपत्ति के प्रयोग पर जो सामाजिक प्रतिबंध लगे हैं, उसे कभी-कभी 'संपत्ति का सामाजिक सिद्धांत' कहते हैं। इस सीमित वाक्यांश से इस बात का महत्त्व प्रकाश में आता है कि संपत्ति का अधिकार न तो प्राकृतिक हैं और न स्वयंपूर्ण बल्कि मूल रूप में ही कृत्यमूलक हैं। वे जो कार्य करते हैं, केवल उन्हीं के कारण इनका औचित्य है और समाज किन्हीं विशेष स्थितियों में उनसे वे कार्य कराते रहने के लिए जो प्रतिबंध अथवा संशोधन लागू करना उचित समझे, वे लागू किए ही जाने चाहिए।

सकती है। अपने जीवन काल में व्यक्ति को कुछ वस्तुओं के उपभोग पर नियंत्रण रखने का अधिकार हो सकता है भले ही उसकी मृत्यु के बाद उन वस्तुओं पर किसकी विरासत हो, इसके नियंत्रण का सीमित या असीमित अधिकार उसे न हो और भले ही किसी अन्य व्यक्ति को अपने उत्तराधिकार का दावा करने का भी अधिकार न हो। समाज ने उत्तराधिकार पर नियंत्रण लागू करके इस पर कुछ प्रतिबंध लगाए हैं, किंतु समस्त निजी संपत्ति पर उस प्रकार के प्रतिबंध नहीं लगाए हैं, इस तथ्य से ऐसा लगता है कि मूल संकल्पना की दृष्टि से ये दो पृथक् संस्थाएँ हैं।

पूँजीवाद के साथ संबंध

पूँजीवाद लगातार बना रहे, इसके लिए उत्तराधिकार का होना अत्यंत आवश्यक है। अगर उत्तराधिकार प्रथा को सर्वथा समाप्त कर दिया जाए, तो निजी संपत्ति संस्था अकेली ही पूँजीवादी प्रणाली को हमेशा के लिए जीवित न रख पाएगी। अगर उत्तराधिकार को समाप्त कर दिया जाए अथवा धन या धन के दावों के समस्त उत्तराधिकार पर सौ प्रतिशत की दर से कर लगा दिया जाए, तो प्रत्येक पीढ़ी के जीवन काल में ही समस्त संकलित धन का स्वामित्व सरकारी अभिकरणों के हाथ में आ जाएगा। यदि इस संपत्ति पर अथवा कम से कम उसके पूँजीगत उपकरण भाग पर समाज का अधिकार रहना है, तो पूँजीवादी प्रणाली बहुत हद तक समाजवादी प्रणाली में ही परिवर्तित हो जाएगी। इस स्थिति का एक ही विकल्प होगा कि सरकार के पास जैसे ही यह संपत्ति आए, सरकार इस संचित संपत्ति को फिर लोगों के हाथ बेच दे। इस संपत्ति को खरीदने के लिए धन भी व्यक्ति की आय के बचत भाग से ही आएगा, जो संभवतः उस निजी बचत के अतिरिक्त होगा, जो प्रति वर्ष नई पूँजी के निर्माण के लिए पहले ही सुलभ हो जाता है। यदि इतने बड़े परिमाण में क्रय-विक्रय संभव हो, तो सरकार को कर के इस स्रोत से ही बड़ी भारी आमदनी होगी। इस प्रकार के कर तथा उससे प्राप्त होने वाले धन के उपयोग से संबंधित समस्याएँ तब तक हल नहीं की जा सकतीं, जब तक उत्पादक वस्तुओं पर सामाजिक स्वामित्व का विस्तार न किया जाए। ऐसा करना पूँजीवादी तंत्र को धीरे-धीरे नष्ट करना होगा।

कृत्य

पूँजीवादी अर्थतंत्र में उत्तराधिकार अनेक विशिष्ट प्रकार के काम करता है। निजी संपत्ति की संस्था धन को जमा करने तथा उसे सुरक्षित रखने के लिए व्यक्ति की प्रेरणा का मूलभूत स्रोत है, उसी प्रकार उत्तराधिकार भी इसी उद्देश्य की पूर्ति में एक जबर्दस्त पूरक तत्त्व है। यह बात धनिक वर्ग में ही देखने में नहीं आती जहाँ उद्देश्य परिवार के लिए बहुत सी धन-संपत्ति जमा करना होता है, बल्कि मध्य

वर्ग में भी यह पाया जाता है जहाँ माता-पिता अपने बच्चों के लिए एक छोटा-सा 'घोंसला' बनाने के लिए बहुत अधिक त्याग करते हैं। इसका प्रभाव सभी श्रेणी के लोगों पर बहुत अधिक होता है, हाँ सबसे कम आय वाले वर्ग के लोगों पर इसका प्रभाव अधिक नहीं होता; क्योंकि सामान्यतः जीवन की उत्कट आवश्यकताएँ किसी भी काम के लिए बचत करने की तरफ ध्यान ही नहीं जाने देतीं।

उत्तराधिकार के अधिकार का स्रोत

चूँकि इसकी समाप्ति से स्पष्टतः उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व का क्रमिक समाजीकरण हो जाएगा और चूँकि यह बहुत ही निश्चित रूप से धन जमा करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है जो पूँजीवादी के कार्य-व्यापार जारी रहने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, अतः उत्तराधिकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक स्वाभाविक संस्था है। लेकिन यह संस्था किसी भी रूप में 'प्राकृतिक' नहीं है और न यह व्यक्ति के 'अन-अन्यसंक्राम्य' अथवा 'निरंकुश' अधिकारों से निःसृत है। जैसा कि निजी संपत्ति के बारे में सत्य है, उत्तराधिकार में बहुत अधिक परिवर्तन किया जा सकता है अथवा समाज द्वारा व्यक्ति के प्रदत्त अधिकारों की श्रेणी से उसे सर्वथा निकाल भी दिया जा सकता है। ये संस्थाएँ मानवनिर्मित हैं और उन्हें मानव नए सिरे से बना सकता है और समाप्त तक कर सकता है। ये अधिकार इस पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा अधिक प्राकृतिक अथवा अन-अन्यसंक्राम्य या निरंकुश नहीं हैं जिसके कि ये अंग हैं। ये तो केवल उस अर्थतंत्र के लिए ही प्राकृतिक अथवा अन-अन्यसंक्राम्य है; क्योंकि तब तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था रहेगी, तब तक निजी संपत्ति और उत्तराधिकार को अस्तित्व में रखना ही होगा।

वैयक्तिक पहल की स्वतंत्रता

परिभाषा

जिन संस्थाओं पर विचार किया जा रहा है, उनमें से प्रत्येक एक स्तंभ है, जिसके सहारे के बिना पूँजीवाद खड़ा नहीं रह सकता है। संयुक्त रूप से ये पूँजीवादी व्यवस्था के संस्थागत ढाँचे का काम करती है। पूँजीवाद का एक अन्य स्तंभ है आर्थिक मामलों में व्यक्ति द्वारा अपनी पहल शक्ति का प्रयोग करने की स्वतंत्रता। उपभोक्ता के रूप में वह इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह अपनी आमदनी जिस वस्तु अथवा सेवा की खरीद के लिए चाहे खर्च करे और उन वस्तुओं या सेवाओं का, वह जिस तरीके से चाहे, उसी तरीके से उपभोग करे। उत्पादन में भाग लेने वाले के रूप में, वह जिस तरह चाहे, जब चाहे और जहाँ चाहे, वहाँ आजीविका कमा सकता है। वह चाहे तो अपनी शक्तियों का अकेले उपभोग करे अथवा किसी

दूसरे के साथ मिलकर साझेदारी करे, या निगम का अंग बन जाए या किसी अन्य प्रकार के धंधे में पड़ जाए।

कृत्य

पूँजी अर्थ-व्यवस्था के परिचालन के लिए वैयक्तिक पहल-शक्ति की स्वतंत्रता रहना आवश्यक है। इस संस्था के फलस्वरूप ही, उत्पादक तत्त्वों का सर्वोत्तम उपयोग किए जाने के लिए दिशा-निर्देश मिल सकता है। श्रमिक अपना व्यवसाय चुनने के लिए स्वतंत्र है और आर्थिक प्राणी के रूप में कार्य करते हुए अपने लिए ऐसा कार्य चुनता है, जिसके द्वारा सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् उसे सर्वाधिक आकर्षक प्रतिफल प्राप्त होता है। यदि समाज उसके इस चुनाव से संतुष्ट नहीं होता, तो बाजार में वेतन-प्रलोभन मिलता है, जो उसे दूसरे व्यवसाय में जाने को आकर्षित करता है। जब उसे अपनी व्यक्तिगत पहल-शक्ति का प्रयोग करने की स्वतंत्रता होगी, तभी श्रमिक इन प्रलोभनों के प्रति आकर्षण दिखाएगा और इस प्रकार वहाँ जा सकेगा, जहाँ समाज उसे सर्वाधिक चाहता प्रतीत होता है। इसी प्रकार, भूमि या अन्य प्राकृतिक साधनों का स्वामी अपने साधनों को इस प्रकार के प्रलोभनों के प्रत्युत्तर में प्रयोग का निर्देश तभी कर सकता है, जब वह उन्हें जिस स्थान पर चाहे, उस स्थान पर ले जाने के लिए स्वतंत्र हो। जमा पूँजी के मालिक तथा उसे उधार लेने वाले के लिए भी यही बात सर्वथा सत्य है। जब इन संभावनाओं के साथ व्यक्ति की, अपनी इच्छानुसार उपभोज्य वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो इसका शुद्ध परिणाम यह माना जाता है कि उत्पादक तत्त्वों का उनके विभिन्न संभावित उपयोगों में जो सर्वोतम उपभोग संभव है, वह हो रहा है।

उद्यम की स्वतंत्रता पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में बहुत महत्त्व रखती है। उद्यमकर्त्ता का कार्य निर्धारित वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए आवश्यक परिमाण तथा आवश्यक किस्म के उत्पादन तत्त्वों को इकट्ठा करना तथा उनमें समन्वय लाना होता है। उत्पादन-तत्त्वों का जब तक किसी विशेष रूप में उपभोग नहीं हो पाता, तब तक उद्यमकर्त्ता उन्हें किराये पर लेने या अन्य प्रकार से प्राप्त करने और उनका उत्पादन में प्रयोग करने से स्वयं को किसी प्रकार का लाभ होता नहीं देखता। पूँजीवादी अर्थतंत्र में उद्यमकर्ता को यह स्वतंत्रता रहनी चाहिए कि वह किन-किन संभावनाओं को लाभकर समझता है और वह उन लाभकर उद्देश्यों की प्राप्ति के उत्पादक तत्त्वों को प्राप्त तथा उनका उपभोग कर सके। अगर उत्पादन इस प्रकार से नहीं किया जाता है, तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन बिल्कुल ही नहीं किया जा सकेगा।

उत्पादन धटकों, उनके स्वामियों तथा उद्यमकर्ताओं की यह स्वतंत्रता ही वे शक्तियाँ हैं, जिन पर किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूँजीवादी समाज निर्भर करता है। इस 'संस्था' के द्वारा ही पूँजीवादी समाज उपलब्ध उत्पादक सुविधाओं को काम में लगाए रखने का प्रयास करता है। यदि किसी उत्पादक तत्त्व की कुछ इकाइयाँ बेकार हैं, तो यह माना जाता है कि उनके स्वामी उनका कुध उपभोग खोजने में पहल करेंगे; संभवतः इसके लिए उनकी सेवाओं के वदले माँगे जाने वाले दाम में कमी कर देंगे। इतना हीं नहीं, यह भी माना जाता है कि स्वतंत्र उद्यमकर्त्ता इस प्रकार की इकाइयों को बेकार देख कर और सेवाएँ कम प्रतिफल दे कर प्राप्त कर सकने की संभावना देख कर पहल करेगा और उनके लिए कोई न कोई उपयोग खोज निकालेगा। जब उद्यमकर्त्ता कार्य करने को स्वतंत्र होगा और श्रमिक तथा अन्य उत्पादक तत्त्वों के स्वामी उसके जवाव में आगे आने को स्वतंत्र होंगे, तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में विद्यमान संसाधनों के पूर्ण उपभोग की दिशा में दवाव पैदा होगा।

पहल-शक्ति की स्वतंत्रता से नई-नई मशीनों के आविष्कार तथा उनके उपयोग और शिल्प-विद्याविषयक नए सिद्धांतों के प्रकाश में आने की संभावना रहती है। उदाहरण के तौर पर वस्तु-निर्माण-कार्य में संयोजन-शृंखला (असेम्वली लाइन) का उपभोग ऐसे उद्यमकर्ता ने शुरू किया था, जो उत्पादक तत्त्वों को अपने लाभ की दृष्टि से एक अपूर्व अनुपात में प्रयोग करने को स्वतंत्र था। कारखाना-संगठन के इस नए सिद्धांत की शुरूआत तथा उसका विस्तार प्रत्यक्ष रूप से उद्यम-कर्त्ता द्वारा परीक्षण करने तथा उसको उपभोग करने की स्वतंत्रता का ही परिणाम है। यही वात नए प्रकार के व्यापारिक संगठनों जैसे निगमों तथा नई प्रकार की आंतरिक प्रबंध-व्यवस्था और व्यापारिक संस्थाओं के नियंत्रण जैसे लागत लेखांकन के बारे में भी सत्य है। पूँजीवादी समाज में वैयक्तिक पहल-शक्ति की स्वतंत्रता से ही इनका आरंभ, विकास तथा व्यापक प्रयोग होना संभव हो सकता है। यही वात नई वस्तुओं तथा सभी प्रकार की सेवाओं और पुरानी वस्तुओं एवं सेवाओं के नई शैलियों, रंगों, आकारों तथा डिजायनों आदि के विषय में भी सच है। भले ही इन विकास-कार्यों को सामाजिक रूप से अवांछनीय सीमाओं तक पहुँचा दिया जा सकता है, तथापि पूँजीवादी अर्थतंत्र नई वस्तुओं के आविष्कार तथा पुरानी वस्तुओं की नई किस्में निकालने की सुविधा रहने के बिना काम करता नहीं रह सकता। वैयक्तिक पहल करने की स्वतंत्रता पूँजीवाद का अनिवार्य अंग है; क्योंकि इस संस्था के कारण ही नए-नए आविष्कार होने संभव हैं।

पहल की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध

वैयक्तिक पहल-शक्ति की निर्बाध स्वतंत्रता नहीं है, इस बात से पूँजीवादी व्यवस्था में इस संस्था का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता। अपने विकास के सभी सोपानों में तथा जीवन के लगभग सभी पहलुओं में समाज ने व्यक्ति को ठीक मनचाहा करने देना असंभव पाया है। संगठित समाज एक ऐसी संकल्पना है, जो प्रत्येक व्यक्ति को; क्योंकि वह जन्मा है, 'प्राकृतिक' अथवा अहरणीय स्वतंत्रता देने की संकल्पना के ठीक विपरीत है। व्यक्ति के जीवन के विभिन्न दौरों में, व्यक्ति के निजी कार्यों पर लगे सामाजिक प्रतिबंधों की संख्या आज बहुत ज्यादा है। जितने प्रतिबंध आर्थिक क्षेत्र में लगे हैं, संभवतः उतने अधिक प्रतिबंध कहीं नहीं हैं। कारखाना-कानून, बाल श्रमिक कानून, शुद्ध भोजनविषयक कानून, निगमों के ऋणपत्रों की बिक्री का नियमन करने वाले कानून, बैंकविषयक कानून तथा सार्वजनिक उपयोगिता प्रतिष्ठान नियंत्रण आदि इन सामाजिक प्रतिबंधों के उदाहरण हैं। काम की बात यह है कि व्यक्ति को पहल करने की जो स्वतंत्रता आज प्राप्त है, वह प्रतिबंधों की अपेक्षा अब भी अधिक है। यद्यपि प्रतिबंधों में बहुत सी वे बातें निर्धारित की जाती हैं, जो व्यक्तियों या व्यापारिक संस्थाओं को नहीं करनी चाहिए, फिर भी अन्य संभावित कार्यों समेत बहुत बड़ा क्षेत्र सुलभ होता है, जिसमें अपनी पहल-शक्ति का प्रयोग करने की स्वतंत्रता होती है। जब यह स्थिति उलटी हो जाए और जब समाज उन चंद कार्यों का ही निर्धारण करे, जो व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में कर सकता है तथा अन्य सभी कार्यों के करने पर रोक लगा दे, तो वैयक्तिक पहल करने की स्वतंत्रता और उसके साथ ही पूँजीवाद भी गायब हो जाएगा।

प्रतिस्पर्द्धा

परिभाषा

अनेक प्रकारों तथा असंख्य रूपों में प्रतिस्पर्द्धा का होना पूँजीवाद की विशेषता है। प्रतिस्पर्द्धा का सबसे सरल समानार्थक शब्द है, होड़। किसी अर्थ-व्यवस्था में स्पर्द्धा का अर्थ है—आर्थिक होड़। एक ही प्रकार की उपभोज्य वस्तुएँ बेचने वालों में यह होड़ ग्राहक पकड़ने के लिए होती है; खरीदारों में यह होड़ अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने हेतु वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए होती है। संभावित श्रमिकों में नौकरी प्राप्त करने के लिए और मालिकों में कारीगर प्राप्त करने के लिए; ऋण लेने वालों में पूँजी लगाने के लिए; धन हासिल करने और बचतकर्त्ताओं में वे स्थान ढूँढने के लिए होड़ होती है, जहाँ वे अपना धन सुरक्षापूर्वक और लाभकर ढंग से

लगा सकें। प्राकृतिक संसाधनों के स्वामियों में उन साधनों के उपभोग के लिए तथा व्यापारियों में अपने व्यवसाय के लिए प्राकृतिक संसाधन जुटाने की होड़ होती है, चूँकि प्रत्येक उपभोक्ता के पास खर्च करने के लिए सीमित आय होती है, इसलिए सभी वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादकों एवं बिक्रेताओं में होड़ चलती रहती है; क्योंकि किसी एक वस्तु पर खर्च किया हुआ डालर किसी अन्य वस्तु पर खर्च नहीं किया जा सकता। किसी एक उत्पादक तत्त्व के कुछ भाग के स्थान पर अन्य तत्त्व के कुछ भाग का प्रयोग किया जा सकता है, इसलिए श्रमिक और पूँजीगत वस्तुओं में नियोजन के लिए होड़ चलती है।

होड़ तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसमें भाग लेने वाले एक से अधिक नहीं होते। आर्थिक होड़ अथवा प्रतिस्पर्द्धा में एक से अधिक बिक्रेता या एक से अधिक खरीदार या एक से अधिक ऋणदाता या एक मालिक होना आवश्यक है, तभी प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति उपस्थित हो सकती है। इसमें भाग लेने वालों की संख्या जितनी अधिक होगी, कम से एक सीमा तक तो, उतनी ही तीव्र प्रतिस्पर्द्धा होगी, बशर्ते अन्य सभी प्रतिस्पर्द्धी एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे हों। अतः, एक ही बाजार में जितने अधिक बिक्रेता एक वस्तु के बेचने के लिए लाएँगे, वह बाजार उतनी ही अधिक स्पर्द्धापूर्ण हो जाएगा। स्थिति का यह सामाजीकरण श्रमिक बाजार तथा पूँजी बाजार पर लागू होता है।

विशुद्ध अथवा पूर्ण स्पर्द्धा उस अवस्था में विद्यमान मानी जाती है, जब एक ही वस्तु अथवा सेवा या उत्पादन तत्त्व के बहुत सारे बिक्रेता अथवा खरीदार एक ही समय पर एक ही बाजार में उसे बेचने अथवा खरीदने का प्रयास करें और किसी एक खरीदार अथवा बिक्रेता की खरीद या बिक्री का अपेक्षाकृत इतना महत्त्व न हो कि वह बाजार भाव पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव डाल सके। यह बात, उदाहरण के लिए, सामान्य रूप से गेहूँ के क्रय-विक्रय में सच है। हजारों प्रतिद्वन्द्वी खरीदार तथा हजारों प्रतिद्वन्द्वी बिक्रेता विश्व के गेहूँ बाजार में लगातार गेहूँ बेचने अथवा खरीदने का प्रयास करते रहते हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि कोई एक बिक्रेता बिक्री के लिए लाया माल चाहे जितना बढ़ा ले या कम कर ले और एक खरीदार चाहे अपनी खरीद कितनी ही क्यों न बढ़ा या कम कर ले, फिर भी वह गेहूँ के भाव पर कोई खास प्रभाव नहीं डाल सकता।

यदि वर्त्तमान पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सभी बाजारों को देखते हुए विचार करें, तो पूर्णतया स्पर्द्धापूर्ण बाजारों की कमी तथा बहुत से बाजारों पर महत्त्वपूर्ण एकाधिकारीय नियंत्रण विद्यमान होने से स्पर्द्धा की अत्यधिक महत्ता कम नहीं

होती। यदि किसी वस्तु के थोड़े से बिक्रेताओं या खरीदारों ने व्यापार-चिन्हों या पेटेन्टों के प्रयोग से अथवा चंद बिक्रेताओं और खरीदारों द्वारा बाजार पर प्रभाव डालने की शक्ति प्राप्त करके कुछ सीमा तक एकाधिकार प्राप्त कर भी लिया, तो भी बहुत से मामलों में स्पर्द्धा के महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रभावपूर्ण ढंग से काम करते रहते हैं। यदि किसी उद्यम ने उस बाजार पर जिसमें वह माल बेचता है, एकाधिकार प्राप्त भी कर लिया तो उसे मजदूर, सामग्री, मशीनें और आवश्यक धन प्राप्त करने में अन्य उद्यमों से स्पर्द्धा करनी पड़ती है और उसे अन्य असंख्य वस्तुओं के साथ भी वे ग्राहक खींचने के लिए भी स्पर्द्धा करनी पड़ती है, जो प्रत्येक डालर खर्च करके यह या वह चीज एक बार ही ले सकते हैं। जब प्रतियोगिता को इन व्यापक पहलुओं से देखा जाए, तो पूँजीवाद के साथ इसके व्यापकतापूर्ण संबंध स्थापित हो जाते हैं।

किसी महत्त्वपूर्ण सीमा तक स्पर्द्धा तब तक विद्यमान नहीं हो सकती, जब तक बाजार उन सभी खरीदारों तथा बिक्रेताओं के लिए जो उनका उपयोग करना चाहते हों, उसे खरीदने या बेचने की पूर्ण स्वतंत्रता न हो। इन बाजारों को 'अबाध' बाजार कहते हैं और पूँजीवाद को 'अबाध बाजार अर्थ-व्यवस्था' कहा जा सकता है। यह तो केवल इसी बात को कहने का दूसरा ढंग हुआ कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के चलने के लिए स्पर्द्धा की संस्था का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

अन्य संस्थाओं से संबंध

पूँजीवाद की विविध संस्थाओं के बीच कितने जटिल संबंध हैं, इसका दूसरा संकेत इस बात से मिलता है कि प्रतियोगिता उन अनेक संस्थाओं से घनिष्ट रूप से संबंधित है, जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है। यदि व्यक्तिगत पहल की स्वतंत्रता न हो, तो प्रतियोगिता बिलकुल काम ही नहीं कर सकती। अगर बिक्रेताओं और खरीदारों को व्यक्तिगत रूप से वह स्थान चुनने, जहाँ से खरीद या बिक्री करने का प्रयास करे, वे व्यक्ति समूह या व्यापारिक फर्में चुनने जिनके साथ वे खरीद या बिक्री के लिए माल पेश कर सकें, या जिस प्रकार के खरीद या बिक्री के प्रस्ताव करना चाहें, वह करने की स्वतंत्रता न होगी, तो प्रतियोगिता-जैसी स्थिति की बात करना सर्वथा अर्थहीन होगा। यही नहीं, प्रतियोगिता तभी विद्यमान हो सकती है जब खरीदार या बिक्रेता आर्थिक प्राणी के रूप में कार्य करें; क्योंकि उसी अवस्था में उन्हें बाजार की जरूरत हो सकती है और वे क्रय तथा बिक्रय-कार्यों में संलग्न होते हैं। बिक्रेताओं तथा खरीदारों के बीच प्रतियोगिता तब तक अर्थहीन होगी, जब

तक वे व्यक्तिगत रूप से, उन वस्तुओं को जो वे खरीदना चाहते हैं, कम-से-कम कीमत देने और वे जो वस्तु बेचना चाहते हैं, उनकी अधिक-से-अधिक कीमत प्राप्त करना न चाहें। इन संस्थाओं के साथ ये अंतःसंबंध होने के कारण ही प्रतियोगिता पूँजीवाद का एक स्तंभ बन जाती है।

कृत्य

प्रतियोगिता का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कृत्य मूल्य-निर्धारण-प्रक्रिया से संबंध रखता है, जो पूँजीवाद के संचालन के लिए महत्त्वपूर्ण है। प्रतियोगिता अथवा 'अबाध' व्यापार के माध्यम से ही उपभोक्ता वस्तुओं तथा उत्पादन तत्त्वों का 'उचित' अथवा 'सामान्य' मूल्य स्थापित हो जाता है। इन वस्तुओं तथा उत्पादन तत्त्वों के मूल्य-निर्धारण की किसी प्रणाली के बिना, पूर्ण साम्यवाद के अलावा कोई भी अन्य आर्थिक संगठन नहीं चल सकता। मूल्य-निर्धारण के अन्य असंख्य संभावित तरीके हो सकते हैं, किंतु प्रतियोगितापूर्ण अथवा अबाध बाजार मूल्य-निर्धारण प्रणाली ही पूँजीवाद की अन्य आवश्यक संस्थाओं की उपस्थिति के अनुरूप पड़ती है। जब मूल्य-निर्धारण की यह प्रणाली प्रभावपूर्ण ढंग से काम करती है, तभी पूँजीवादी प्रणाली इस संबंध में सामान्य रूप से चल रही होती है। प्रतियोगितापूर्ण अथवा अबाध बाजार निर्धारण-व्यवस्था उस समय विद्यमान होती है, जब विक्रेता आर्थिक प्राणी के रूप में जिस बाजार में भी अपना माल बेचने के जो भी विक्रय प्रस्ताव करना चाहें, करने के लिए अपनी पहल-शक्ति का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग कर सकें और जब खरीदार भी अपनी पसंद के बाजार में उन शर्तों पर खरीद करने को समान रूप से स्वतंत्र हों, जिन्हें वे आर्थिक प्राणी के रूप में ठीक समझें। उदाहरण के लिए जब जूते के विक्रेता इन शर्तों पर मिलते हैं तो प्रत्येक बाजार में, एक समय विशेष पर जूते की प्रत्येक किस्म का काफी हद तक सामान्य भाव प्रचलित हुआ करता है। पूँजीवाद के अधीन वह भाव, उस किस्म के जूते का उस समय उस बाजार में उचित अथवा सामान्य मूल्य होता है। इन स्थितियों में जब श्रमिक-सेवा बेची जाती है, तो तज्जनित मजदूरी प्रतियोगितापूर्ण अथवा उचित मजदूरी होती है। जब पूँजी निवेश के लिए धन इन स्थितियों में उधार दिया जाता है, तो इससे जो ब्याज-दर निर्धारित होती है, वह सामान्य ब्याज-दर होती है। जब प्राकृतिक संसाधन अबाध बाजार की स्थितियों में बेचे जाते हैं अथवा उनका उपयोग करने के लिए पट्टा दिया जाता है तो तज्जनित दाम अथवा लगान उन संसाधनों का उचित दाम होता है।

पूँजीवादी अर्थतंत्र में प्रतियोगिता का समान रूप से आवश्यक एक अन्य कार्य होता है कि वस्तुओं के उत्पादन में कुशलता पैदा करना और उसे बनाए रखना। कोई आर्थिक संस्था बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती, जब तक उसमें कुशलता लाने वाले शक्तिशाली तत्त्व विद्यमान न हों। उत्पादक कुशलता का अर्थ है वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन की प्रत्येक इकाई पर उत्पादक तत्त्वों का यथासंभव कम से कम खर्च करके उत्पादन करना। मुद्रा-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में जिसमें प्रत्येक तत्त्व की धन के रूप में कीमत आँकी जा सकती है, कार्य-कुशलता का अर्थ है कि उत्पादन की प्रत्येक इकाई की मुद्रा के रूप में लागत यथासंभव कम-से-कम हो। प्रतियोगिता का काम वे दबाव पैदा करना है, जो इस उद्देश्य की पूर्ति कराएँ। जब स्वतंत्र रूप से बहुसंख्यक बिक्रेता एक ही वस्तु, एक ही बाजार में, एक ही समय पर लाएँ, तो कोई भी बिक्रेता अपने कारखाने में उसे बनाते समय पड़ी लागत से कम दाम पर उसे नहीं बेच सकता। सारे खरीदार आर्थिक प्राणी के रूप में आचरण करते हुए संभवतः ऐसे बिक्रेता की तलाश करेंगे, जिसके दाम सबसे कम हों। इसका परिणाम होगा सबसे अधिक दाम वाले उत्पादक और इसलिए सबसे कम कुशलता वाले उत्पादक की समाप्ति के लिए दबाव पड़ेगा। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगिता ही वह एकमात्र शक्ति होती है, जो अर्थ-व्यवस्था के अकुशल व्यापारिक फर्मों तथा उद्यमकर्त्ताओं से मुक्त करने की दिशा में बढ़ती है।

इसी प्रकार नौकरियों की तलाश में मजदूरों के बीच होने वाली प्रतियोगिता का प्रभाव यह होता है कि श्रमिकों का प्रयोग चुनाव करके किया जाता है। यदि एक व्यक्ति एक विशिष्ट काम पर लगा दिया जाता है, तो उस स्थिति को प्राप्त करने के इच्छुक संभावित व्यक्तियों की प्रतियोगिता के कारण वह पदासीन व्यक्ति कार्य-कुशल रहता है। जो मालिक यह जानता है कि श्रमिकों का प्रभावपूर्ण ढंग से कैसे प्रयोग किया जाए, उसे श्रमिक प्राप्त करने में अपने कम कुशल प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक लाभप्रद स्थिति प्राप्त होती है। इसलिए पहला मालिक उपलब्ध श्रमिकों को रख लेगा और दूसरा (अर्थात् कम कुशल) मालिक धंधे से धकिया दिया जाएगा। निर्जीव पूँजीगत उपकरण तथा प्राकृतिक संसाधन भी उपयोग किए जाने में एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं और अधिक कुशल इकाइयों की कम कुशल इकाइयों की अपेक्षा सुखद स्थिति प्राप्त होती है, अतः वे इनका स्थान ले लेते हैं। प्रतियोगिता की यह शक्ति कभी धीमे-धीमे और सहज रूप से और कभी अन्य समय पर तेजी तथा कठोरता से काम करती है। यह शक्ति ही पूँजीवादी प्रणाली में कुशलता की एकमात्र रक्षक तथा प्रोत्साहन प्रदान करने वाली होती है।

एकाधिकार का पूँजीवाद से संवंध

उचित दाम तथा कुशलता पैंदा करने और उसे बनाए रखने के लिए प्रतियोगिता की भूमिका पर पूँजीवाद जितना भरोसा करता है, उसमें हमारी अर्थ-व्यवस्था में पायी जाने वाली अधूरी अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के बीच का अंतर विद्यार्थियों को सावधानी से समझना चाहिए। इन बातों के संवंध में पूँजीवाद प्रतियोगिता पर पूर्णतः निर्भर कर सकता है, फिर भी वह प्रतियोगिता पूर्णता से बहुत दूर हो सकती है।

प्रायः एकाधिकार की एक या एकाधिक विधियों या व्यवहारों के द्वारा प्रतियोगिता को आंशिक रूप से नष्ट कर दिया जाता है। एकाधिकार की ये तरकीबें संख्या में इतनी अधिक तथा विख्यात हैं कि उनका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। यही नहीं, सामाजिक रूप से हानिकर समझे जाने के कारण समाज ने ऐसे कुछ कार्यों पर रोक लगा दी है, जो प्रतियोगितापूर्ण लगते हैं। उदाहरण के रूप में अंतर्राज्यीय व्यापार में विभिन्न खरीदारों को भावों में भेदमूलक छूट देने या भेदमूलक भाव बताने पर प्रतिवंध लगा दिया है। इससे पूँजीवादी प्रणाली जितनी प्रतियोगितापूर्ण हो सकती थी, उससे कम प्रतियोगितापूर्ण रह गई है। यहाँ जोर इसी वात पर दिया जा रहा है कि इन निजी रोक-पावंदियों तथा सामाजिक स्तर पर किए गए संशोधनों के वाद भी प्रतियोगिता की शक्तियाँ ही उचित दाम तथा कुशलता पैंदा कर सकती हैं और उन्हें बनाए रख सकती हैं। वर्त्तमान पूँजीवाद में मूल्य-व्यवस्था उतनी ही 'उचित' होगी और उसके उत्पादन में उतनी ही 'कुशलता' होगी, जितनी कि वर्त्तमान स्थिति में प्रतियोगिता की शक्तियाँ ऐसा होने देंगी; न उससे अधिक होगी और न उससे कम हो सकेगी। इस प्रकार प्रतियोगिता पूँजीवाद का एक स्वाभाविक अंग है। निजी एकाधिकार एक आर्थिक संगठन के रूप में पूँजीवाद से अनिवार्यतः सर्वथा असंगत है। हाँ, सार्वजनिक एकाधिकार जैसे लोक-उपयोगी सेवा या सरकारी स्वामित्व में चलने वाला उद्यम तभी तक पूँजीवादी प्रणाली के अनुरूप हो सकता है, जब तक वह उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के एक साधन के रूप में प्रयोग किया जाए, जिनकी पूर्ति संभवतः प्रतियोगिता को चलते रहने देने की अवस्था में होती।

प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के सार रूप में किए गए इस वर्णन से प्रकट है कि निजी स्वामित्व एवं संचालन में चलने वाले उद्यमों में गैर-प्रतियोगितापूर्ण व्यवहार जितने अधिक और गहन होते जाएँगे, अर्थ-व्यवस्था सच्चे अर्थों में उतनी ही कम पूँजीवादी होती जाएगी और वह इसी रूप में काम करती रहे इसकी संभावना उतनी ही कम होती जाएगी। निजी एकाधिकार स्पष्ट रूप से वाजारों का निर्वाध वाजार रहना वंद कर देता है और एकाधिकारी को छोड़कर अन्य लोगों की व्यक्तिगत

पहल-शक्ति की स्वतंत्रता पहले ही समाप्त कर देता है। निजी एकाधिकार की शक्तियाँ जितनी अधिक व्यापक तथा शक्तिशाली बन जाती हैं, यह मान्यता उतनी कम सत्य रह जाती है कि उपभोज्य वस्तुओं तथा उत्पादक तत्त्वों के वर्त्तमान मूल्य उचित अथवा सामान्य है और अर्थतंत्र में अपने-आप वे दबाव पैदा हो रहे हैं जो उत्पादन में कुशलता पैदा करते हैं तथा उस कुशलता को बनाए रखते हैं। इन सभी बातों से निजी एकाधिकार, पूँजीवादी प्रणाली की सहज प्रकृति से सर्वथा असंगत होता है और इस प्रणाली के आगे चलते रहने की आवश्यक अवस्थाओं के प्रतिकूल होता है।

सरकारी नियमन तथा स्वामित्व का प्रतियोगिता से संबंध

यही नहीं, 'लोक सेवा संकल्पना के अधीन सरकार' के नियमन-संबंधी अधिकार जितने बढ़ेंगे और उन उद्यमों पर जिन्हें सामान्यत: निजी उद्यमकर्त्ता चलाते, सरकार का स्वामित्व एवं संचालन जितना अधिक बढ़ेगा, उतना ही वह अंततः पूँजीवाद को समाप्त करने की दिशा में काम करेगा। जब तक बहुत थोड़ी संख्या में उद्योगों का लोकोपयोगी सेवा के रूप में नियमन सरकार करती है, तब तक उचित दाम, उचित मजदूरी, उचित ब्याज-दर अथवा उचित किराये का निर्धारण निर्वाध बाजार में होता रहेगा। प्रतियोगिता के आधार पर निर्धारित इन प्रसामान्यकों का लोकोपयोगी आयोगों द्वारा लोकोपयोगी उद्योगों के नियमन में उपयोग किया जाता है और जो बातें प्रतियोगिता के क्षेत्र में नहीं आती हैं, उनका समन्वय आधारभूत रूप से प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्था के साथ इस प्रकार किया जाता है। लेकिन, अगर सभी उद्योगों का नियमन लोकोपयोगी उद्योग के आधार पर किया जाने लगेगा, तो सभी भावों का निर्धारण सार्वजनिक आयोगों द्वारा प्रशासकीय स्तर पर किया जाएगा और प्रतियोगिता एवं निर्वाध व्यापार समाप्त हो जाएँगे और प्रतियोगिता के फलस्वरूप सामान्य भावों का निर्धारण न होगा। इन स्थितियों में वैयक्तिक पहल की स्वतंत्रता न रहेगी और उत्पादक वस्तुओं के निजी संपत्ति होने की धारणा ही एक प्रकार से अर्थहीन हो जाएगी।

यही परिणाम उस समय सामने आएँगे जब सरकारी स्वामित्व तथा संचालन में चलने वाले उद्योगों की संख्या बढ़ते-बढ़ते इतनी हो जाएगी कि आर्थिक गतिविधि के प्रधान क्षेत्र इनके अंतर्गत आ जाएँ। पूँजीवाद शब्द को सार्थक बनाने वाली अवस्था तभी विद्यमान हो सकती है, जब गैर-सरकारी तथा सरकारी एकाधिकार बिलकुल न हो अथवा उनका क्षेत्र इतना सीमित हो कि प्रतियोगिता की शक्तियाँ प्रधान हों ताकि दाम निर्धारण कर सकें और अकुशलता समाप्त कर सकें। यह हिसाब लगाना तथा वर्णन करना तो असंभव ही है कि आर्थिक गतिविधि पर किस

सीमा तक कैसा एकाधिकार नियंत्रण हो तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के बीच सीमा-रेखा का काम दे सके; फिर भी इतना स्पष्ट है कि इस प्रकार की एक सीमा-रेखा होती है। उस रेखा के एक ओर प्रतियोगिता का प्रभाव और पूँजीवाद विद्यमान होता है और दूसरी ओर एकाधिकार प्रधान होता है तथा पूँजीवाद विद्यमान नहीं होता। इसी दृष्टि से प्रतियोगिता पूँजीवाद की आधारभूत संस्थाओं में से एक अन्यतर संस्था होती है।

लाभ अभिप्रेरण

पूँजीवाद से संबंध

'लाभ अभिप्रेरण' पूँजीवादी अर्थतंत्र की किसी भी अन्य संस्था की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि आर्थिक प्राणी निजी संपत्ति, उत्तराधिकार, वैयक्तिक पहल-शक्ति की स्वतंत्रता और प्रतियोगिता—ये पूँजीवाद के प्रकृत अंग हैं, किंतु इनमें से प्रत्येक गैर-पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं में संशोधित रूप में अथवा अवशेष रूप में मिल सकता है। टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं पर दावे के रूप में निजी संपत्ति गैर पूँजीवादी समाज में भी मिल सकती है या उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है। लोग अपने कुछ निर्णय आर्थिक प्राणी के रूप में कर सकते हैं, भले ही वे गैर-पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में रहते हों। कुछ रूप में उत्तराधिकार का होना भी समाजवादी अथवा कुछ अन्य गैर-पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रतिकूल न होगा। वैकल्पिक अर्थतंत्र होते हुए भी समाजवाद और साम्यवाद व्यक्तियों को वैयक्तिक पहल-शक्ति की कुछ स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। प्रतियोगिता या आर्थिक होड़ किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में आर्थिक समाज के प्रत्येक संगठन में पायी जाती है। इस प्रकार इन संस्थाओं के विद्यमान होने की संभावना केवल पूँजीवाद तक ही सीमित नहीं है। इस दृष्टि से लाभ अभिप्रेरण की स्थिति सर्वथा भिन्न है। यह न केवल पूँजीवाद का अंतरंग है, वरन् यह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के बाहर विद्यमान हो ही नहीं सकता। यद्यपि प्रत्येक अन्य संस्था संकलपना की दृष्टि से पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है, तथापि लाभ अभिप्रेरण को पूँजीवाद के ताने-बाने से पृथक् नहीं किया जा सकता।

परिभाषा

इस पद के संयोजक शब्दों को अलग-अलग करके देखें, तो इसका अर्थ प्रकट हो जाता है। लाभ का अर्थ होता है, खर्च की अपेक्षा आय की अधिकता अथवा अधिक ठीक कहें तो प्राप्तियों तथा खर्चों का अंतर; क्योंकि लाभ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। अभिप्रेरण उसे कहते हैं, जो कार्य करने के लिए उत्तेजन प्रदान करे। हमारा विचार-विमर्श विशिष्ट रूप से उन समाजों के विषय में

ही है, जहाँ मुद्रा प्रणाली प्रचलित है, अतः लाभ अभिप्रेरण का तात्पर्य प्राप्तियों और खर्चों के बीच का वह वित्तीय अंतर है, जो कार्य करने के लिए अभिप्रेरण प्रदान करता है। लाभ अभिप्रेरण उस समय काम करता है, जब लोग व्यक्तियों, हिस्सेदारों अथवा निगमों के रूप में आय तथा खर्चों के बीच वित्तीय अंतर का हिसाब लगाते हैं और इस प्रकार कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। सामान्यतः यह हिसाब-किताब भविष्य के बारे में लगाया जाता है। कार्यों के बारे में भी वास्तव में भविष्य के लिए ही निर्णय किया जाता है। अतीत काल में हुए लाभों अथवा हानियों से इसी सीमा तक कार्य होता है कि इससे भविष्य के लिए संभावित प्रतिफल के बारे में अनुमानित सूत्र मिल जाते हैं।

इस संकल्पना के लाभ और अभिप्रेरण पहलू जब मिल जाते हैं, तो एक ऐसी संस्था का वोध कराते हैं, जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक है और सर्वथा इस व्यवस्था तक ही सीमित है। अकेला लाभ अथवा अकेला अभिप्रेरण गैर-पूँजीवादी समाजों में भी महत्त्वपूर्ण चीज हो सकती है। सोवियत संघ में प्राप्तियों तथा खर्चों के अंतर का हिसाब-किताब विभिन्न आर्थिक इकाइयों द्वारा लगाया जाता है। यही नहीं, उस अर्थ-व्यवस्था में लोग व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से अन्य प्रकार से भी अभिप्रेरण प्राप्त करके कार्यशील होते हैं। जब प्राप्तियों तथा खर्चों के बीच का अंतर अपने-आप में तथा अन्य किसी अभिप्रेरण से सर्वथा रहित होकर एक ऐसी शक्ति वन जाता है जो व्यक्तियों को कार्य में प्रवृत्त करें, तभी लाभ अभिप्रेरण वस्तुतः काम कर रहा होता है। सोवियत अर्थ-व्यवस्था में यह नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ आर्थिक आयोजना बनाने और प्रशासन कार्य केंद्रीय अभिकरणों के द्वारा किया जाता है। विशिष्ट आर्थिक एककों के लिए जोड़े गए 'लाभों' अथवा 'हानियों' का प्रशासकीय निर्णयों में महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है, किंतु ये निर्णय अपने-आप हानि या लाभ होने के कारण नहीं किए जाते। ऐसा पूँजीवादी समाज में होता है। उदाहरण के रूप में जब टोपों के निर्माता को टोप बनाने से पर्याप्त लाभ होने की संभावना दिखती है, तो वह अपने कारखाने के विस्तार का निश्चय करता है और अधिक टोप बनाता है अथवा जब उसे घाटा होने की आशा दिखाई देती है तो इसका उलटा करता है। इसके निर्णय का एकमात्र कारण वह लाभ या हानि ही होता है। पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था में लाभ अभिप्रेरण की यह स्थिति है।

आर्थिक प्राणी से तुलना

लाभ प्रेरण और आर्थिक प्राणी नामक संस्था को एक ही नहीं समझना चाहिए। जो व्यक्ति लाभ अभिप्रेरण के अनुसार कार्य करता है अर्थात् अपने निर्णय संभावित लाभ या हानियों के आधार पर करता है, वह आर्थिक प्राणी होता है।

लेकिन आर्थिक प्राणी के रूप में वह जो निर्णय करता है, वे सब लाभ अभिप्रेरण से ही प्रभावित नहीं होते हैं। केवल वे निर्णय ही जो प्राप्तियों तथा खर्चों के वित्तीय अंतर के अनुसार किए जाते हैं, लाभ अभिप्रेरण से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के तौर पर जब एक कर्मचारी जोन्स के बदले स्मिथ के यहाँ केवल इसीलिए काम करने का फैसला करता है; क्योंकि वह उसे १० सेंट प्रति घंटा अधिक देता है, तो वह आर्थिक प्राणी के रूप में आचरण करता है। यहाँ वह लाभ अभिप्रेरण के अनुसार कार्य नहीं करता; क्योंकि व्यापारिक अर्थ में वह कोई खर्च नहीं करता और वह आय-व्यय के वित्तीय अंतर या लाभ अथवा हानि के आधार पर निर्णय नहीं करता है।

महत्त्व

इससे प्रकट है कि आर्थिक प्राणी संस्था पूँजीवादी अर्थतंत्र में सर्वव्यापी है, किंतु लाभ अभिप्रेरण बहुत ही सीमित क्षेत्र में अत्यधिक संकुचित ढंग से कार्य करता है। लेकिन, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि लाभ अभिप्रेरण आर्थिक प्राणी की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सत्य बात तो इसकी उलटी ही है; क्योंकि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के संचालन में उद्यमकर्त्ता द्वारा किए जाने वाले महत्त्वपूर्ण निर्णय लाभ अभिप्रेरण के आधार पर ही किए जाते हैं। इन निर्णयों के अनुसार ही उत्पादक तत्त्वों को मिलाया जाता है, जिससे नई-नई वस्तुएँ बनती हैं तथा पुरानी वस्तुओं की नई किस्में तैयार की जाती हैं। नई प्रक्रियाएँ एवं नई मशीनें प्रयोग करने तथा उत्पादन-प्रक्रिया में उत्पादक तत्त्वों को मिलाने के नए तरीके अपनाने में भी ये निर्णय काम करते हैं और इन निर्णयों से ही अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक शक्तियों के संगठन के स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से निर्धारण होता है। क्या संभावित प्राप्ति होगी, क्या संभावित खर्च होगा, दोनों में कितना अंतर रहेगा, इसकी गणना के आधार पर ही ये निर्णय किए जाते हैं और इसके अनुसार होने वाले लाभ या हानि के आधार पर ही अंतिम निर्णय किए जाते हैं।

कृत्य

पूँजीवादी अर्थतंत्र में लाभ अभिप्रेरण के कृत्यों का वर्णन कई रूपों में किया जा सकता है। एक दृष्टि से लाभ अभिप्रेरण केन्द्रीय नियंत्रक तंत्र का काम करता है; क्योंकि इसकी प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें कोई एक व्यक्ति अथवा अभिकरण इसकी बहुविध गतिविधियों का जान-बूझकर संचालन नहीं कर रहा होता है। यह अपेक्षा की जाती है कि इस अभिप्रेरण के फलस्वरूप उद्यमकर्त्ता उत्पादक तत्त्वों को सर्वोत्तम उत्पादक कार्यों में लगाएँगे और लगातार इस बात के लिए सजग रहेंगे कि प्रत्येक उत्पादक तत्त्वों के कुछ विशिष्ट अंश को कम उत्पादक उपभोग से हटा कर अधिकतम

उपभोग की तरफ मोड़ते रहेंगे। दूसरे शब्दों में कहें तो अत्यधिक विशिष्टतापूर्ण अंगों से मिल कर बनी अर्थ-व्यवस्था में लाभ अभिप्रेरण समन्वय करने वाली शक्ति का काम करता है। यही नहीं, यह उद्यमकर्त्ता को उद्यमकर्त्ता बनने के लिए प्रेरित करता है।। उद्यमकर्त्ता बन जाने के वाद खर्चों की अपेक्षा वचत प्राप्त करने की संभावना उपस्थित करके यह लाभ अभिप्रेरण ही उसे कार्रवाही करने के लिए प्रेरित करता है और उद्यमकर्त्ता के रूप में सेवाएं अर्पित करने का निश्चय करने को उद्यत करता है। उसके इन कार्यों में ऐसे कुछ खतरे उठाना भी शामिल है, जो एक प्राणवान् गतिशील समाज में स्वाभाविक है, जिनकी पहले से भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि लाभ अभिप्रेरण पूंजीवाद की सभी संस्थाओं का हृदय है। पूंजीवाद की यही एक ऐसी संस्था है, जो पूंजीवादी व्यवस्था से बाहर विद्यमान नहीं रह सकती। उद्यमकर्त्ता का कार्य वह संगठनात्मक केंद्र बनना होता है, जिसके चारों ओर पूंजीवादी तंत्र की सभी संचालनात्मक गतिविधियाँ घूम रही होती हैं। उद्यमकर्त्ता के निर्णयों का नियंत्रण करने वाला तत्त्व यह लाभ अभिप्रेरण ही है। इस रूप में तथा उस निर्झर के रूप में जिससे उद्यमकर्त्ता की सभी शक्तियाँ निःसृत होती हैं। यह लाभ अभिप्रेरण पूंजीवाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

निष्कर्ष

विद्यार्थियों को सावधान रहना चाहिए और पूंजीवाद की संस्थाओं के इस वर्णन से धोखे में नहीं जाना चाहिए। पूंजीवाद का यह चित्र बहुत ही सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में कुछ और संस्थाएं भी हैं, जिन्हें इसमें शामिल किया जाना चाहिए था और यहाँ जिन संस्थाओं का वर्णन किया गया है, उनके बहुत से अंग हैं और उनका बहुत विस्तार है तथा प्रत्येक अंग का विश्लेषण किया जाना चाहिए था, तभी हमारा अध्ययन पूर्ण होता। इन संस्थाओं के मध्य विद्यमान अत्यंत महत्त्वपूर्ण संबंधों तथा एक संस्था के विकास एवं कार्य-व्यवहार पर दूसरी संस्था के प्रभाव आदि के बारे में यहाँ मात्र संकेत ही करना संभव हो पाया है। इनमें से कोई संस्था आकाश में काम नहीं करती है। अन्य सभी संस्थाओं के होने तथा काम करने से ही प्रत्येक संस्था का स्वरूप बनता है तथा बदलता है। अगर अन्य संस्थाएं, जिस रूप में वे हैं, उस रूप में न हों, तो प्रत्येक संस्था का स्वरूप ही भिन्न होगा।

इतना ही नहीं, इस अध्याय में पूँजीवाद के संस्थागत स्वरूप पर ही जोर दिया गया है और यह ढाँचा मात्र है, जिसके भीतर आर्थिक गतिविधि हुआ करती है। मोटे तौर पर कहें तो हम पूँजीवाद की इमारत, मशीनों तथा कारखाने के नक्शे का ही वर्णन करते रहे हैं। वास्तविक कार्य-प्रक्रियाएँ तो इनके भीतर ही होती हैं और इसके द्वारा सामान और मानव शक्तियों का प्रवाह इसे जीवन प्रदान करता है और इसके अस्तित्व को महत्त्व देता है।

कच्चे माल पैदा किए जाते हैं या खानों से निकाले जाते हैं तथा उपभोक्ता तक पहुँचाने की लंबी यात्रा पर रवाना होते हैं। इनमें से कुछ की मशीनें तथा औजार बनाएँ जाते हैं, जो अन्य उपकरण के निर्माणों में काम आते हैं और ये उपकरण वस्तुओं के लिए मानवीय इच्छा की पूर्ति के अंतिम लक्ष्य को पूरा करते हैं। धन बचाया जाता है और उसका उपकरणों में निवेश किया जाता है, जो लंबे अर्से तक उपयोगी रहते हैं। अन्य धन की व्यवस्था व्यापारिक बैंकों द्वारा की जाती है जो श्रमिक, वस्तुएँ तथा ब्रिजली उस समय से पहले अग्रिम रूप में खरीदने के लिए उधार देती हैं, जब उपभोक्ता सामान खरीदने के लिए खुदरा दुकानदार को धन देता है। मालिकों तथा श्रमिकों, उत्पादक एककों और पूँजीनियोजकों, ऋण-दाताओं तथा बैंकरों, थोक व्यापारियों एवं खुदरा व्यापारियों और विभिन्न निर्माताओं के बीच एक दूसरे को कच्चा माल या तैयार माल का कुछ भाग देने के लिए संविदे किए जाते हैं और उन्हें पूरा किया जाता है। इन संविदागत दायित्वों के प्रतिदिन पूर्ण किए जाने के फलस्वरूप ही अर्थ-व्यवस्था गतिशील रहती है। पूँजी बाजारों, श्रमिक बाजारों तथा उपभोग्य वस्तु बाजारों में वहाँ होने वाले लंबे-चौड़े क्रय-विक्रय से भावों का निर्धारण होताहै। इनके कारण ऐसी आर्थिक प्रक्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है, जिनसे उन वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है, जो दुर्लभ हैं और दुर्लभ होने के कारण समूल्य हैं और उन वस्तुओं का कम उत्पादन होता है, जो प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं और प्रचुरता के कारण लागत की तुलना में सस्ती हैं। भविष्य के लिए अनेक प्रकार के वचन दिए जाते हैं। और एक बार वचनवद्धता हो जाए, तो उससे अनेक प्रकार के बहुत-से जोखिम उठाने होते हैं।

इन सबसे प्रकट है कि व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए अत्यधिक ठीक-ठीक रूप में समन्वय होना चाहिए। जिन माध्यमों से सामग्री, धन, संविदों, क्रय और विक्रय अथवा मानव-प्रयास का प्रवाह होता है, यदि इनमें से एक भी अवरुद्ध होता है, तो उसका प्रभाव अन्य अनेक माध्यमों पर पड़ेगा और अर्थतंत्र की गतिविधि रूक जाएगी। लेकिन, इनके पारस्परिक संबंध योजनावद्ध और पूर्व-निर्धारित नहीं होते। प्रत्येक

व्यक्ति और प्रत्येक व्यावसायिक एकक द्वारा अधिकतम संभव लाभ की खोज के फलस्वरूप ही ये बनते हैं। बहुत हद तक शुद्धता के साथ जो समन्वय इन माध्यमों में देखने में आता है वह उन शक्तियों के फलस्वरूप बाजारों में उस दाम-प्रणाली के द्वारा अपनेआप पैदा होती है और दाम-प्रणाली सभी व्यक्तियों तथा व्यावसायिक एककों द्वारा अनवरत् रूप से किए जाने वाले बहुसंख्यक स्वतंत्र आर्थिक निर्णयों के फलस्वरूप बनती रहती है।

संक्षेप में आर्थिक गतिविधि का स्वरूप वही होता है, जो हमारी वर्णित की हुई इन संस्थाओं के मध्य तथा आसपास होती रहती है। इनके विभिन्न पहलुओं का वर्णन उसी अवस्था में संभव है, जब पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक सिद्धांतों का पूर्ण रूप से तथा विस्तार के साथ अध्ययन किया जाए। जब हम उन अर्थव्यवस्थाओं पर विचार करेंगे, जो आधारभूत रूप से पूँजीवाद से भिन्न हैं, तो हम उनकी संस्थाओं तथा कार्य-प्रक्रियाओं की पूँजीवादी समाज से तुलना करते हुए बार-बार इन पर पुनः विचार करते चलेंगे।

कक्षा-चर्चा के लिए प्रश्न

१. 'पूँजी' और 'पूँजीवाद' में क्या अंतर है ?
२. 'पूँजीवाद' सार रूप में आर्थिक क्यों है ? क्या इसका अर्थ यह है कि पूँजीवाद का गैर-आर्थिक संस्थाओं से कोई संबंध नहीं ?
३. उन कारणों की एक सूची दें, जिनकी वजह से पूँजीवाद का मूल्यांकन बहुत कठिन है।
४. पूर्णतया आर्थिक प्राणी होना क्यों असंभव है ? हम कैसे कह सकते हैं कि 'आर्थिक प्राणी' पूँजीवाद की एक आधारभूत मान्यता है ?
५. निजी संपत्ति समरूप होती है अथवा विषम रूप ? उदाहरण दे कर बताइए।
६. निजी संपत्ति की संकल्पना के अंतर्गत संविदों को भी सम्मिलित करना क्यों आवश्यक है ? सोदाहरण बताइए।
७. पूँजीवादी अर्थतंत्र में निजी संपत्ति की क्या भूमिका है ? यह भूमिका आधारभूत महत्त्व की होती है अथवा गौण महत्त्व की ?
८. संगठित समाज में निजी संपत्ति का अधिकार निरंकुश क्यों नहीं हो सकता ?
९. क्या उत्तराधिकार को पूँजीवाद की एक पृथक् संस्था समझा जाना चाहिए या निजी संपत्ति अंगमात्र है ? सकारण बताइए।

१०. उत्तराधिकार एक प्रकृत अधिकार क्यों नहीं है ?

११. पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में वैयक्तिक पहल-शक्ति को स्वतंत्रता देना कहाँ तक उचित है ?

१२. क्या यह कहना सच होगा कि यदि हम पूँजीवाद को जीवित रखना चाहते हैं, तो व्यावसायिक गतिविधियों को विशुद्ध रूप से प्रतियोगितापूर्ण रखना होगा ?

१३. पूँजीवाद की अन्य संस्थाओं की अपेक्षा लाभ अभिप्रेरण पूँजीवाद का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग क्यों है ?

१४. लाभ अभिप्रेरण एक नियंत्रक तंत्र, एक समन्वय कर्त्तृ शक्ति तथा एक प्रेरणा है। इसका क्या अर्थ है ?

●

अध्याय ३

अमेरिकी पूँजीवाद की सफलताएँ

पूँजीवादी अर्थतंत्र के मूल्यांकन की समस्या

पूँजीवाद को बनाए रखा जाए या उसके स्थान पर किसी अन्य विकास-मूलक या क्रांतिकारी अर्थतंत्र की स्थापना विकल्प रूप में की जाए, इस विवादग्रस्त प्रश्न पर निस्संदेह प्रत्येक नागरिक को व्यक्तिगत रूप से कुछ-न-कुछ निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए। प्रत्येक प्रकार की वैकल्पिक अर्थ-व्यवस्था के काम करने से उसके जिन विविध प्रकार के गुण या दोषों के प्रकाश में आने की संभावना हो सकती है, उनकी विवेकपूर्वक नाप-तोल उक्त निश्चय करते समय की जानी चाहिए। दुर्भाग्य की बात यह है कि इन गुण-दोषों को खाने बनाकर सर्वांग मूल्यों के रूप में नहीं लिखा जा सकता और फिर जोड़ अथवा बाकी करके यह पता नहीं लगाया जा सकता कि किस प्रकार का आर्थिक संगठन मानव-हित करने में समर्थ है। प्रत्येक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में कुछ लाभों तथा हानियों का मूल्यांकन वस्तुगत ढंग पर किया जा सकता है तथा उन्हें निश्चित रूप से मापा जा सकता है तथा कुछ अन्य का मापना संभव नहीं होता। वास्तव में जब व्यक्ति पूँजीवाद का मूल्यांकन करेंगे, तो आत्म-निष्ठ तत्त्व ही अंत में इस तरफ या उस तरफ निर्णय करने वाले होंगे।

पूँजीवादी अर्थतंत्र के स्पष्टतः दिखने वाले कुछ दोष एवं गुण एक निश्चित अवधि में इस अर्थतंत्र के कार्य-कलापों का अध्ययन करके ज्ञात किए जा सकते हैं। वैकल्पिक अर्थतंत्रों तथा समाजवाद एवं साम्यवाद के कुछ संभावित परिणाम इस जानकारी से स्पष्ट हो सकते हैं कि इनमें से प्रत्येक अर्थतंत्र की संस्थाएँ कैसी हैं अथवा कैसी हो सकती हैं। विश्लेषण करते समय—जो वह या इन रहस्यों का प्रशिक्षित विद्यार्थी करेगा ही—इन सब बातों की खोज करनी चाहिए। यही नहीं, जो व्यक्ति पूँजीवाद की भलाई-बुराई समझना चाहता है, उसे उन लोगों के गहना

निष्कर्षों से परिचित होना ही चाहिए, जिन्होंने इसे विषयनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ दोनों ही रूपों से देखा-समझा है। इन मूल्यांकनों से व्यक्ति को स्वयं अपनी ओर से मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है। लेकिन, इतनी सारी संभव पृष्ठभूमि प्राप्त करने के बाद भी, व्यक्ति के सामने प्रश्नों की एक जटिलता, एक सूक्ष्मता तथा एक आत्मनिष्ठता उपस्थित होती है, जिससे यह भावना पैदा होती है कि इनकी तरफ जितना कम ध्यान दिया जाए या जितना कम चिंतन प्रयास किया जाए, उतना ही अच्छा रहेगा। अर्थतंत्रों के विषय में इस प्रकार का सनकीपन हाल के दशकों में बहुत से राष्ट्रों के नागरिकों में बहुत तीव्रता के साथ पाया जाता है। इस भावना के अभ्युदय के कारण यद्यपि समझ में आने वाले हैं, तथापि इनका जोर रोका जाना चाहिए; क्योंकि यदि मानवों को अपनी इच्छा के अनुरूप समाजों का निर्माण करना है, तो इन्हें रोकना ही होगा।

ये प्रश्न न केवल जटिल, सूक्ष्म तथा आत्मनिष्ठता लिए हुए हैं, वरन् सर्वथा आर्थिक भी नहीं हैं। हम जिस प्रकार का आर्थिक संगठन स्थापित करते हैं, उसका हमारे समाज की गैर-आर्थिक संस्थाओं के स्वरूप-निर्धारण में भी बहुत प्रभाव पड़ता है और ये संस्थाएँ पलट कर स्वयं अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति पर प्रभाव डालती हैं। अतः, पूँजीवादविषयक निर्णय पूर्णतः अथवा संभवतः मुख्य रूप से भी उसके आर्थिक परिणामों के आधार पर नहीं किया जा सकता। संभव है कि पूँजीवाद सामाजिक जीवन, धर्म, शिक्षा, साहित्य, कला, प्राकृतिक विज्ञानों पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालता हो, जिनके मानवीय महत्त्व के आगे पूँजीवाद से प्राप्त संकुचित आर्थिक परिणाम भी हलके पड़ते हों। यदि आर्थिक बातों के आत्मनिष्ठ महत्त्व का मूल्यांकन इतना कठिन है तो उन आत्मनिष्ठ मूल्यों की तुलना करना कितना कठिन होगा जिन में से कुछ आर्थिक हैं तथा कुछ गैर-आर्थिक; क्योंकि ये कठिनाइयाँ व्यक्ति स्वयं अपने अंदर ही व्यक्तिगत रूचि-अरूचि के आधार पर ही हल कर सकता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति चाहे वह आर्थिक विश्लेषण का कितना ही अच्छा जानकार क्यों न हो, पूँजीवाद का अंतिम रूप से व्यापक मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं होता।

मामलों को सरल बनाने के लिए समय-समय पर अर्थशास्त्रियों तथा अन्य लोगों ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कार्य-संपादन के कुछ मानक बताए हैं और यह बताने का यत्न किया है कि इनमें से किसी एक को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतिम कसौटी माना जा सकता है। उदाहरण के रूप में, कुछ लोगों का विचार है कि पूँजीवाद की सफलता का निर्णय पूर्ण रूप से (या लगभग पूर्ण रूप से) इस आधार पर किया जाना चाहिए—क्या इसने उन शक्तियों को जन्म दिया है जो मानवीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं के उत्पादन में उत्पादन के सभी उपलब्ध साधनों

को लगातार लगाए रखती हैं। स्पष्ट है कि इस कसौटी को अंतिम कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि किसी अर्थ-व्यवस्था को विद्यमान रहना है तो यह तो न्यूनतम मानदंड है, जो उसे प्राप्त करना ही चाहिए। किंतु, इससे यह प्रश्न तो पैदा ही नहीं होता कि साधनों का कितनी कुशलता से उपयोग किया गया है, किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया गया है, लोगों की इच्छाएँ क्या हैं अथवा कैसे पैदा होती हैं अथवा उत्पादक प्रक्रिया में मानव घटक का कैसे प्रयोग किया गया है। भले ही पूँजीवाद न्यूनतम कसौटी पर ठीक उतरे, फिर भी कुछ अन्य पहलुओं की दृष्टि से उसमें ऐसी कमियाँ हो सकती हैं कि उसकी मानवीय उपयोगिता ही संदिग्ध हो जाए।

इस न्यूनतम कसौटी के पूरक के रूप में यह कहा जा सकता है कि साधनों के उपयोग का उद्देश्य अधिकतम मानवीय कल्याण करना होना चाहिए। तब हमारी कसौटी होगी, समस्त सुलभ साधनों का लगातार तथा पूर्ण उपयोग, जिससे अधिक-से-अधिक मानव-कल्याण होना संभव हो। लेकिन, यह कसौटी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि मानव-कल्याण की संकल्पना व्यक्तिपरक है। श्रमिक, पूँजीनियोजक तथा उपभोक्ता के रूप में उसके साथ क्या हो तथा अन्य लोगों के साथ क्या हो जिससे उसका तथा अन्य लोगों का अधिकतम मानव-कल्याण हो; इस विषय में हर व्यक्ति के विचार अलग-अलग होते हैं। मानव-कल्याण में निश्चय ही ऐसी बातें आ जाती हैं जो विशुद्धतः आर्थिक नहीं होतीं, फिर भी उन पर आर्थिक संस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। अतः, यह कसौटी भी मूल्यांकन-प्रक्रिया में व्यक्तिपरकता के स्थान पर वस्तुपरकता लाने में असफल रहती है। इसकी सही प्रकृति पर विचार करने से हमारा यह निष्कर्ष पुष्ट ही होता है और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए मूल्यांकन करना चाहिए, भले ही इसके लिए वह अपनी निजी कसौटी क्यों न बनाए।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजीवाद का मूल्यांकन अधिकाधिक दार्शनिकता के क्षेत्र में चलता चला जाए और हम विशुद्ध दार्शनिक के पास पहुँच जाएँ, जो अपने निपट एकांत कक्ष में बैठा सोचे और संसार की वास्तविकताओं से सर्वथा पृथक् हो कर इस बारे में अनुमान लगाए। यदि यही बात होती, तो हमें अपनी यह चर्चा इस विंदु से आगे बढ़ाने की कोई बात हो न होती। लेकिन, सौभाग्य से ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि सामान्य रूप से स्वीकार की जाने वाली शक्ति के कुछ अन्य तत्त्व भी हैं, जिनका उदय संयुक्त राज्य अमेरिका में पिछली डेढ़ शताब्दी से पूँजीवादी व्यवस्था चलने के फलस्वरूप हुआ है। इसी प्रकार सामान्य रूप

से मान्य कुछ कमजोरियाँ या खामियाँ भी पूँजीवादी प्रणाली के चलने से प्रकाश में आई हैं। इन्हें न केवल सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, वरन् वे इतनी स्वयं स्पष्ट हैं कि इनकी वस्तुगत वास्तविकता को अस्वीकारा नहीं जा सकता। यही नहीं, समस्त सूक्ष्म व्यक्तिपरक समस्याओं के बाद भी इनका मानवीय महत्त्व असंदिग्ध है। पूँजीवाद के मूल्यांकन में इन सफलताओं तथा कमियों पर विचार करना ही होगा, भले ही प्रत्येक व्यक्ति इनके साथ अपने निजी विचार तथा अपना दर्शन जोड़ लें। इनकी जानकारी तथा इनका महत्त्व तो सामान्य भूमिका का काम देगी और उसके आगे प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना मूल्यांकन करने की स्वतंत्रता रहेगी। पूँजीवादविषयक किसी भी अंतिम निर्णय में ये सफलताएँ तथा कमियाँ बहुत आवश्यक हैं, इसलिए यहाँ इन प्रश्नों पर कुछ विस्तार के साथ विचार किया जाएगा।

पूँजीवाद के ऐसे मूल्यांकन में दृष्टिकोण पूँजीवाद की संस्थाओं के वर्णन की अपेक्षा भिन्न रहेगा। संस्थाओं का वर्णन करते समय दृष्टिकोण सैद्धांतिक था। प्रत्येक संस्था का विशुद्ध रूप में वर्णन किया गया था और बताया गया था कि उनसे किस-किस प्रकार के कृत्यों की अपेक्षा की जाती है। इसके साथ ही यह बात भी स्वीकार की गई थी कि वास्तव में वे संस्थाएँ अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान नहीं हैं और ये संस्थाएँ अपने मूलभूत कार्यों का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं करती हैं, लेकिन वे किसी सीमा तक ऐसा नहीं करतीं, इसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। इस तथा आगामी अध्याय में प्रमुख प्रश्न होगा : संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद वास्तविक रूप में जिस प्रकार चल रहा है, उसमें क्या-क्या सफलताएँ तथा क्या कमियाँ प्रकाश में आई हैं? इन सफलताओं या कमियों के कारण-रूप में विभिन्न संस्थाओं की क्या भूमिका रही, इसका अलग-अलग विचार नहीं किया जाएगा। यहाँ जिन सफलताओं और कमियों का वर्णन किया जाएगा, वे समूची अर्थ-व्यवस्था की सफलताएँ या कमियाँ होंगी।

जब किसी कार्यरत अर्थतंत्र की सफलताओं और कमियों का वर्णन किया जाता है, तो ठीक-ठीक तौर पर यह अंतर कर पाना असंभव होता है कि उनमें से कौन-सी सफलता या कमी उस अर्थतंत्र की संस्थाओं की मूल प्रकृति का परिणाम है या कौन-सी उन परिस्थितिजन्य अवस्थाओं का परिणाम है, जिनके अंतर्गत उन संस्थाओं को काम करना पड़ा है। इन परिस्थितिजन्य तत्त्वों में संसाधनों तथा जलवायु की प्राकृतिक शक्तियों तथा व्यक्तियों की शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को सम्मिलित किया जा सकता है। इन्हें अर्थतंत्र की आर्थिक

संस्थाओं का कार्य-कारण नहीं कहा जा सकता। अमेरिकी पूँजीवाद की कौन-सी सफलताएँ उसकी संस्थाओं की मूल प्रकृति के कारण संभव हुई हैं और कौन-सी हमारे प्राकृतिक साधनों की संपदा तथा हमारी जनता की शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के फलस्वरूप संभव हुई है, इसका अंतर कोई भी स्पष्ट तथा निश्चित रूप से नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि पूँजीवाद की कुछ कमियाँ मुख्यतः इस अर्थतंत्र की संस्थागत कमजोरियों के फलस्वरूप उदित हुई हैं या अमेरिका के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण। इस कठिन समस्या का विवेचन करने का यहाँ प्रयास नहीं किया जाएगा। अमेरिकी परिवेश में पूँजीवादी अर्थतंत्र कार्यरत होने पर पूँजीवाद को जो सफलताएँ मिली हैं या उसमें जो कमियाँ रही हैं, उन्हीं का यहाँ विवेचन किया जाएगा।

नम्यता

संयुक्त राज्य अमेरिका के पूँजीवाद में एक नम्यता, एक अनुकूलनीयता तथा एक लचीलापन प्रकट हुआ है, जिनके कारण इसकी संस्थाएँ, प्रक्रियाएँ असंख्य परिस्थितिजन्य परिवर्तनों के अनुरूप बन सकती हैं। कम-से-कम एक तरह से यह युद्ध और फिर शांति के अनुरूप बन सकी है और द्रुत तथा बाद में मंथर शिल्प-विद्या विषयक प्रगति और अपार अछूते साधनों के दोहन तथा बाद में अपेक्षाकृत अल्प-विकसित साधनों की कमी की स्थिति के अनुरूप स्वयं को ढाल सकी हैं। वास्तव में यह सब अपने-आप नहीं हुआ है। उद्यमकर्त्ताओं; श्रमिकों, उपभोक्ताओं, यूनियनों, स्वामियों तथा ऐसे ही अन्य लोगों द्वारा किए गए निर्णयों से नए तथा कभी-कभी तो अकल्पनीय परिवर्तन आए हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूँजीवादी ढाँचे ने अनुकूलनीयता लाने वाले निर्णय करने दिए तथा इन निर्णयों के लिए प्रेरणा प्रदान की।

व्यापारिक संगठनों में निगमों का अभ्युदय तथा विकास इस अनुकूलनीयता की प्रक्रिया के अनेक संभावित उदाहरणों में से एक उदाहरण है। औद्योगिक शिल्प-विद्या की प्रगति ने जिसमें विद्युतचलित मशीनों का प्रयोग और कारखानों के रूप में मशीनों की लाभकर समूहवद्धता शामिल है, एक प्रबंध-व्यवस्था के अधीन बड़े परिमाण में पूँजी जमा किए जाने की आवश्यकता पैदा की। आधुनिक निगम प्रणाली के विकास ने यह सब इस सीमा तक किया कि इस समय जितनी वस्तुओं का निर्माण होता है, उसका ९५ प्रतिशत भाग निगमित उद्यमों द्वारा तैयार किया जाता है। पूँजीवादी तंत्र के परिधान में बुने जा कर निगम इस प्रकार उसमें एकाकार हो गए हैं कि हम यह भूल गए हैं कि कभी पूँजीवाद इनके बिना भी विद्य-

मान था। इसी प्रकार निजी संपत्ति की संस्था भी बदलती आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे बदल गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में आरंभिक पूँजीवादी अवस्था में निजी संपत्ति केवल भूमि, इमारतों तथा पशुधन, मशीनों या टिकाऊ या उपभोग्य वस्तुओं सरीखी चीजों तक ही सीमित थी। आज उसमें अनेक प्रकार के अमूर्त्त अधिकार, संविदागत अधिकार, दावे आदि भी गिने जाते हैं, जो अत्यधिक विशेषज्ञतापूर्ण औद्योगिक तंत्र के काम करने के लिए आवश्यक हैं।

व्यावसायिक संगठन, निजी संपत्ति तथा अन्य संस्थाओं में ये परिवर्तन कानूनों तथा न्यायालयों के निर्णयों द्वारा आए हैं। उनके ये निर्णय उद्यम-कर्त्ताओं, स्वामियों, श्रमिकों अथवा उपभोक्ताओं के फलस्वरूप सामने आए हैं जिन्होंने निगमों, निजी संपत्ति अथवा कुछ संस्थाओं के नए उद्योगों की परिकल्पना की तथा कानूनों एवं न्यायिक निर्णयों को बदलने की उत्तेजना प्रदान की। विद्यमान आर्थिक प्रणाली के अधीन अधिकतम लाभ उठाने के उद्देश्य से व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों ने नई आवश्यकताएँ पूरी करने के हेतु संस्थागत परिवर्तन के लिए आरंभिक कार्रवाइयाँ कीं। पूँजीवाद में वैयक्तिक पहल-शक्ति पर जोर दिए जाने तथा उनकी नम्यता के कारण पूँजीवादी संस्थाओं का नवीनतर तथा अधिक उपयोगी स्वरूप में आश्चर्यजनक परिवर्तन संभव हुआ है और इन परिवर्तनों को प्रेरणा मिली है। इस नम्यता का समान रूप से महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि पूँजीवाद अधिकाधिक संख्या एवं जटिलता वाले उन सरकारी विनियमनों के अनुसार स्वयं को बना सका, जिनका उद्देश्य सामाजिक कल्याण की रक्षा तथा उसकी वृद्धि करना होता है। यदि सौ वर्ष पहले आज के सामाजिक नियंत्रण व्यावसायिक कार्यों पर लगाए गए होते, तो भविष्यद्रष्टाओं ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विनाश की भविष्यवाणी की होती। किंतु आज, हमारा पूँजीवादी अर्थतंत्र अब भी उत्पादक शक्ति में मुख्य स्रोत के लिए वैयक्तिक पहल-शक्ति तथा निजी उद्यम-शक्ति पर ही निर्भर करता है। और, निश्चय ही अनेक विधि तथा कठोर सामाजिक नियंत्रणों के फलस्वरूप बेहतर ढंग से काम कर रहा है। हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र की शक्ति में इस नम्यता को अक्सर भुला दिया जाता है।

बढ़ता हुआ जीवन-स्तर

चाहे हम अपने आसपास दृष्टि डालें अथवा जटिल आँकड़ों की नाप-जोख के जाल में पड़ें, इस बात के प्रचुर प्रमाण सुलभ हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में जीवन-स्तर दीर्घकालीन दृष्टि से काफी ऊँचा उठा है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जीवन-स्तर में यह वृद्धि सुस्थिर रूप से चल रही थी और उसकी रफ्तार

में कभी-कभी धट-बढ होती थी। सन् तीस की मंदी के दौरान हमारी अर्थ-व्यवस्था पर दबाव पड़ा था, ताकि वह पहले हुई बृद्धि को ही वनाए रख सके। बीसवीं सदी के चौथे दशक तथा छठे दशक में उपभोग्य वस्तुओं के प्रति व्यक्ति उत्पादन में अपार वृद्धि हुई। इस दीर्घकालीन वृद्धि में से कितनी वृद्धि स्वयं पूँजीवाद की अपेक्षा हमारे प्राकृतिक संसाधनों की संपदा के फलस्वरूप हुई, यह विवादग्रस्त प्रश्न है और इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि संसाधन मान लीजिए समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में सुलभ होते तो क्या इससे कम या अधिक वस्तुएँ प्रति व्यक्ति बनाई गई होतीं, इसका निर्धारण परीक्षण के तौर पर भी नहीं किया जा सकता। हम इतना अवश्य जानते हैं कि प्रचुर प्राकृतिक संसाधन अपने-आप उच्च जीवन-स्तर में परिवर्तित नहीं हो जाते। ये संसाधन उपभोग्य वस्तुओं अथवा इन वस्तुओं का निर्माण करने वाली मशीनें बनाने में परिवर्तित किए जाएँ, इसके लिए इनका अभिसंस्कार होना चाहिए। हम यह भी जानते हैं कि पूँजीवादी अर्थतंत्र के अंदर हमने अपने प्राकृतिक संसाधनों की संपदा से प्रति व्यक्ति अधिकाधिक उपभोग्य वस्तुएँ तैयार की हैं। इसी दृष्टि से बृद्धिमान जीवन-स्तर हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र की 'सफलताओं' में से एक है।

जीवन-स्तर की इस वृद्धि का एक सर्वोत्तम एकल मापन है प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि होना, जो स्थायी क्रय शक्ति वाले डालरों में व्यक्त की जाती है। सन् १९२० में प्रति व्यक्ति औसत आय जितनी थी, सन् १९५० में उससे दुगुनी हो गई। उसके बाद के दशक में यह १०प्रतिशत और बढ गई।[1] व्यय भोग्य निजी आय अर्थात् व्यक्तिशः लगे करों को निकाल कर शेष बची निजी आय, स्थायी क्रय शक्ति वाले डालरों के रूप में सन्१९२९ में १०९६ डालर प्रति व्यक्ति थी,जो आर्थिक मंदी के दिनों में घट कर सन् १९३३ में ७५४ डालर रह गई थी। उसके बाद उसमें लगातार वृद्धि होती गई; सन् १९४० में यह ११०१ डालर, सन् १९५० में १५१३ डालर हो गई और उसके बाद के दशक में इसमें १५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पिछले २० वर्षों में प्रति व्यक्ति औसत आय में ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है।[2]

इन आँकड़ों से भी स्थिति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश नहीं पड़ता। प्रति व्यक्ति वास्तविक औसत आय में हुई इस वृद्धि के साथ तीन बातें और हुईं

---

[1] जे० फ्रेडरिक ड्यूहर्ट तथा सहयोगी, अमेरिकाज नीड्स एंड रिसोर्सिज, ए न्यू सर्वे, न्यूयार्क ट्वैन्टिएथ सेंचुरी फंड, १९५५ पृष्ठ ८३५; फेडरल रिजर्व बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, पृष्ठ १९७ सॉलोमन फैब्रीकेन्ट, नेशनल ब्यूरो ऑफ इकोनॉमिक रिसर्च दि न्यूयार्क टाइम्स, ३ जून, १९६०।

[2] इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९५९, पृष्ठ १७८; १९६० पृष्ठ १७१।

जिनके कारण इसका महत्त्व और भी बढ जाता है। कृषीतर कार्यों में काम के घंटे सन् १८५० से १९५० ई० के बीच प्रति सप्ताह ६६ से घट कर ४८ घंटे रह गए ।[1] इस प्रकार सुलभ अधिक अवकाश को भी वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में मापे गए जीवन-स्तर की वृद्धि में जोड़ना चाहिए। प्रति व्यक्ति औसत राष्ट्रीय आय में गम्य वस्तुओं तथा सेवाओं में से अधिकांश की नहीं तो बहुतों की उत्कृष्टता भी बढ़ी है। इसके ज्वलंत उदाहरण के रूप में मोटरगाड़ियों, घर गरम करने तथा शीत के उपकरणों, सार्वजनिक संचार-साधनों एवं परिवहन की सुविधाओं और रोगों के निदान तथा चिकित्सा की सुविधाओं में हुए परिवर्तनों को गिना जा सकता है। यही नहीं, प्रति व्यक्ति औसत आय में शामिल की जाने वाली वस्तुओं में अनेक नई वस्तुएँ तथा सेवाएँ आ गई हैं। मानवीय इच्छाओं को संतुष्ट करने में उनका जितना योगदान है, वह डालरों में व्यक्त उनके मूल्यों में अत्यंत अपर्याप्त रूप से प्रतिबिंबित होता है। इनके उदाहरण के रूप में जीवाणु द्वेषीभेषज (जिसका एक नमूना साल्क टीका है), टेलीविजन, व्यापारिक वायु सेवा तथा डायपर लांड्री सेवा के नाम गिनाए जा सकते हैं।

विविध सूत्रों से प्राप्त जानकारी के आधार पर हम दृष्टांत रूप में कुछ नोट बना सकते हैं, जिनसे प्रकट होगा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में जीवन-स्तर किस सीमा तक ठोस रूप में बढा है।

सन् १८५०-१९५० ई० के बीच की शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या छह गुनी हुई है जबकि कुल वार्षिक राष्ट्रीय आय, स्थायी क्रय शक्ति वाले डालरों के रूप में ३० गुनी बढी है।[2]

हमारी अर्थ-व्यवस्था के निजी उद्यम क्षेत्र में जिसमें निर्माण उद्योग, व्यापार, कृषि, खनन तथा परिवहन शामिल हैं, उत्पादिता (अर्थात् प्रति श्रमिक द्वारा प्रति घंटे में किए काम का उत्पादन) प्रति वर्ष औसतन प्रथम महायुद्ध से पहले के २५ वर्षों में लगभग २२ प्रतिशत, प्रथम महायुद्ध के बाद के दस वर्षों में प्रति वर्ष २९ प्रतिशत तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रत्येक दशक में प्रतिवर्ष ३५ से ४० प्रतिशत बढी है।[3]

---

१. ड्यूहर्ट और उनके सहयोगी, वही पृष्ठ १०७३; इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९६० पृष्ठ १८५।

२. विलियम एबन्स्टीन, 'टूडेज इज्म्स,' न्यू यार्क, प्रेन्टिस हॉल १९५४, पृष्ठ १३०।

३. नेशनल ब्यूरो ऑफ इकोनॉमिक रिसर्च, जैसा कि विवरण बिजनेस वीक, जनवरी, १६, १९६०; पृष्ठ २३ पर छपा है।

सन् १९५९ में भौतिक औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक सन् १९४७-४९ के औसत से ४९ प्रतिशत अधिक था।[1] जिन परिवारों के पास अपनी मोटरें थीं, उनका प्रतिशत सन् १९४८ में जहाँ ५४ था, वहाँ सन् १९५९ में ७४ हो गया और जिनके पास दो मोटरें थीं, उनकी संख्या ४ प्रतिशत से बढ कर आज १५ प्रतिशत हो गई है।[2]

टेलीविजन सेटों वाले तार लगे घरों की संख्या सन् १९४७ में एक तरह से नहीं के बराबर थी, जो सन् १९५९ में बढ कर ९० प्रतिशत हो गई। जिन घरों में बिजली से कपड़े धोने वाली मशीनें हैं, उनकी संख्या ६२ प्रतिशत से बढ कर ९३ प्रतिशत तथा वातानुकूलन व्यवस्था वाले घरों की संख्या ०·२ प्रतिशत से बढ कर १२·८ प्रतिशत हो गई है।[3]

कॉलेजों तथा व्यावसायिक विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में सन् १९५० से सन् १९५९ के बीच ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है।[4] इन आँकड़ों से संबंधित दो बातों को ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि जहाँ प्रति व्यक्ति जीवन-स्तर बढता जा रहा है, वहाँ कुल जनसंख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् १८९० से सन् १९१० तक संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या ५·५ करोड़ से बढ कर ९·२ करोड़ हो गई और सन् १९६० तक वह बढ कर १८ करोड़ हो गई है अर्थात् सन् १८९० की अपेक्षा तीन गुनी से भी अधिक बढी है। हमारी अर्थ-व्यवस्था न केवल प्रति व्यति के लिए पर्याप्त अधिक उत्पादन करती रही है, वरन् प्रत्येक दशक के बाद बढती जाने वाली जनसंख्या के अधिकाधिक लोगों के लिए यह उत्पादन बढाती रही है। दूसरी वात यह है कि जीवन-स्तर में होने वाली यह वृद्धि जनसंख्या के सभी वर्गों तक व्यापक रूप से दूर-दूर तक पहुँची है। यद्यपि हमारी राष्ट्रीय आय परिवारों में काफी असमान रूप से बँटी हुई है, फिर भी उसके केंद्रीयकरण में वृद्धि होने के प्रमाण देखने में नहीं आए हैं। यह बात इसलिए महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यदि इसका केंद्रीयकरण होता, तो प्रतिव्यक्ति उत्पादन में हुई वृद्धि को मुश्किल से पूँजीवाद की 'सफलता' कहा जाता।

बढे हुए जीवन-स्तर का लाभ व्यापक रूप से पहुँचना आंशिक रूप से, पूँजीवादी प्रणाली में काम कर रही आत्मचलित शक्तियों के फलस्वरूप संभव हुआ है।

---

[1] इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९६०, पृष्ठ १८८।

[2] इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९५९, पृष्ठ ६५, १९६०, पृष्ठ १३७।

[3] वही; पृष्ठ १३९।

[4] वही; पृष्ठ १४१।

आंशिक रूप से यह हमारी पूँजीवादी प्रणाली में अपेक्षाकृत हाल में आए संस्थागत परिवर्तनों का परिणाम भी है। इनमें से एक परिवर्तन है श्रमिक संघों का आकार तथा उनकी शक्ति बढ़ जाना। इन संघों की सामूहिक सौदेबाजी से श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी बराबर बढ़ती रहती है, कम-से-कम उत्पादन में हुई वृद्धि के अनुरूप बढ़ती है। जीवन-स्तर के इस विस्तारण को संभव बनाने वाला एक अन्य संस्थागत परिवर्तन है—सरकार द्वारा करों के रूप में राष्ट्रीय आय का अधिकाधिक प्रतिशत भाग संग्रह करना तथा उसे सरकारी सेवाओं पर खर्च करना। कम-से-कम सामान्य बात तो यह होती है कि अगर हम अधिक आय वर्ग के लोगों द्वारा दिए गए करों को देखें, तो पता चलेगा कि व्यक्ति अपनी ज्यादा आय का अधिक प्रतिशत धन कर के रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देता है। मोटे तौर पर कहें, तो करों से होने वाली आय सामाजिक आवश्यकताएँ पूर्ण करने पर खर्च की जाती है। इसका सम्मिलित रूप से परिणाम यह होता है कि कर-संग्रह तथा सरकारी खर्च स्वाभाविक रूप से वे विधियाँ बन जाती हैं; जिनका वास्तविक आय (जिनमें सरकारी सेवाओं से प्राप्त वास्तविक आय भी सम्मिलित है) के रूप में अंततः प्रभाव होता है—उच्च आय वर्ग वालों से धन ले कर कम आय वाले वर्ग को देना। हमारे करों में से एक कर—संघ सरकार द्वारा लागू निजी आय कर—से स्थिति स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। एक परिवार जिसमें एक पुरुष, उसके पत्नी तथा दो बच्चे हैं, ५००० डालर वार्षिक आय होने पर अपनी आय में से लगभग ८·५ प्रतिशत कर के रूप में देता है, जब कि इतना ही बड़ा परिवार १ लाख डालर आय होने पर ८० प्रतिशत कर देता है।[1]

यहाँ यह बात खास तौर पर ध्यान देने की है कि प्रगामी कर प्रणाली द्वारा हमने अपने पूँजीवादी अर्थतंत्र में सशक्त आय-समानक प्रवृत्तियों की कलम लगा ली है। सन् १९६० में समाप्त होने वाले दशक में हमारी अर्थ-व्यवस्था की आर्थिक गति-विधि के स्तर को देख कर हम अनुमान लगाएँ, तो हम देखते हैं कि आय-समानक प्रवृत्तियों ने आर्थिक अभिप्रेरण पर कोई खास प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाला है। सारणी एक में इस आय-समानक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन मिलता है।

---

[1] इन दृष्टांतों से यह मान लिया गया है कि प्रत्येक परिवार ने धर्मादे खाते में धन देने के लिए १० प्रतिशत की (लेकिन १००० डालर से अधिक नहीं) कमी कर दी है।

सारणी एक : सन् १९४१ से सन् १९५५ के बीच विशिष्ट आय वाले परिवारों —(क)—के प्रतिशत में परिवर्तन

(यहाँ दिखाई गई आय, कर तथा डालर के रूप में क्रय-शक्ति में आए परिवर्तन का समंजन करके दिखाई गई है।)

परिवारों की आय	परिवारों के वर्गों की संख्या में हुई प्रतिशत घट-बढ़
१,००० डालर से कम	४४ प्रतिशत कमी
१,०००-२,००० डालर	२९ प्रतिशत कमी
२,०००-३,००० डालर	८ प्रतिशत कमी
३,०००-४,००० डालर	५३ प्रतिशत वृद्धि
४,०००-५००० डालर	५७ प्रतिशत वृद्धि
५,०००-७००० डालर	९६ प्रतिशत वृद्धि
७,०००-१०,००० डालर	९२ प्रतिशत वृद्धि
१०,०००-१५,००० डालर	१०३ प्रतिशत वृद्धि
१५,०००-२०,००० डालर	७९ प्रतिशत वृद्धि
२०,०००-२५,००० डालर	८० प्रतिशत बृद्धि
२५,००० से ऊपर	८ प्रतिशत वृद्धि

(क) इसमें परिवार तथा अकेले व्यक्ति शामिल हैं।

स्रोत : संयुक्त राज्य अमेरिका के वाणिज्य विभाग की रिपोर्टों पर आधारित जिसमें यूनाइटेड स्टेट्स न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्टों के २८ अक्टूबर सन् १९५५ पृष्ठ ५० पर दी गई जानकारी भी जोड़ दी गई है।

इससे स्पष्ट है कि सबसे कम जीवन-स्तर वाले लोगों तथा सबसे अधिक जीवन-स्तर वाले लोगों की संख्या घट कर मध्यम जीवन-स्तर वाले वर्गों की संख्या बढ़ रही है। अधिक विशिष्ट रूप से कहें, तो स्थिति यह है कि जिस अवधि में अमेरिका की कुल जनसंख्या २५ प्रतिशत बढ़ी है, उसी बीच १,००० डालर से ३,००० डालर की वास्तविक आय (कर काट कर) वाले लोगों की संख्या घटी है तथा ३,००० से २५,००० डालर आय वाले लोगों की संख्या, जनसंख्या में हुई वृद्धि के अनुपात से, भी अधिक प्रतिशत बढी है। यह वृद्धि खास तौर से ५,००० और सबसे अधिक यानी २५,००० डालर से अधिक आय वालों की संख्या जनसंख्या में हुई

बृद्धि का केवल एक तिहाई ही बढ़ी है। इन परिवर्तनों के महत्त्व पर यहाँ पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डाला जा सकता, फिर भी इससे यह रूढ़िवादी निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में जीवन-स्तर की वृद्धि का विस्तारण काफी व्यापक रूप से हुआ है।

इसी प्रकार क्रय शक्ति का हस्तांतरण व्यक्तिगत सेवा-भाव से प्रेरित कार्यों के लिए होता है, जिसका प्रतिबिंब ऊपर की सारणी एक से नहीं मिलता। धनी लोग जरूरतमंद परिवारों को नकद धन देते हैं या स्वास्थ्य, मनोरंजन, धर्म, शिक्षा और गवेषणा की सुविधाओं के लिए धन खर्च करते हैं, जिससे जनसाधारण का सामाजिक कल्याण होता है। दया या सेवा-भाव से प्रेरित दानों या अनुदानों के रूप में सन् १९६० में ८ अरब डालर दिए गए। इनमें से शिक्षा, (जिसका ९५ प्रतिशत उच्च शिक्षा के लिए था) तथा स्वास्थ्य के लिए एक-एक अरब डालर दिए गए। सेवाभावी प्रतिष्ठानों का हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक अंग बन जाना एक उल्लेखनीय दिशा है। यह प्रतिष्ठान 'गैर-सरकारी' लाभ न कमाने वाली संस्था होता है, जिसका मूलधन अपना होता है, जिसका प्रबंध उसके अपने न्यासधारी अथवा निर्देशक करते हैं और जो सामाजिक, शैक्षणिक, धर्मार्थ या जनसामान्य का कल्याण करने वाले कार्य-कलापों को जारी रखने या सहायता पहुँचाने के लिए बनाया जाता है।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार के ५२०० प्रतिष्ठान सन् १९६० में थे, जिनकी कुल संपदा ११.५ अरब डालर थी। हाल के वर्षों में इन प्रतिष्ठानों की संख्या में जबर्दस्त बृद्धि हुई है। सन् १९५६ तथा १९५९ ई० के बीच में इनकी संपदा में ३ अरब डालरों की बृद्धि हुई है। बहुत से प्रतिष्ठानों की स्थापना व्यावसायिक निगमों ने की है, जिससे वे अपनी आय का एक भाग सेवापरायण कार्यों में स्वयं खर्च कर सकें। करों में उल्लेखनीय छूट दिए जाने के कारण निगमों को इस तरह के कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है। सन् १९५९ में निगमों ने इन प्रतिष्ठानों को ५० करोड़ डालर दिए थे।[2] इन सेवापरायण प्रतिष्ठानों से हमारे समाज को क्या महत्त्वपूर्ण लाभ पहुँचे हैं, यह इन प्रतिष्ठानों द्वारा प्रति वर्ष खर्च की गई धनराशि से नहीं मापा जा सकता। इनकी धनराशि को 'सेवापरायण पुरुषार्थ पूँजी' कहा जाता है, जो कुछ नहीं तो आंशिक रूप से 'मानवीय अस्तित्व की आधारभूत समस्याओं' के बारे में परीक्षण एवं गवेषणा करने के लिए सुलभ होती है। एक सेवापरायण परिवार अथवा प्रतिष्ठान का संभावित महत्त्व बहुत अधिक होता है। बताते

---

१. एफ० इसर्मन, दि न्यूयार्क टाइम्स, ११ जुलाई, १९६० ।

२. तथ्यात्मक जानकारी अमेरिकन एसोसिएशन ऑफ फंड रेजिंग, इन्का० से ली गई है। दि न्यूयार्क टाइम्स, ११ जुलाई, १९६० तथा ३० दिसंबर १९६० ।

हैं कि ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ जॉन डी० रॉक फेलर द्वारा सभी रूपों में दिए गए दानों की राशि ढाई अरब डालर से भी अधिक है।[१]

राष्ट्रीय आय का कितना भाग वास्तविक आय के रूप में व्यक्ति के पास पहुँच कर सरकारी करों तथा खर्चों और व्यक्तिगत सेवापरायण खर्चों तथा प्रतिष्ठानों के खर्चों के रूप में फिर से वितरित होता है, इसका सही अनुमान लगाना असंभव है। किंतु, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ये खर्चे कुल मिला कर हमारी अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण वितरक तत्त्व रहे हैं।

नई उपभोग्य वस्तुएँ

संयुक्त राज्य अमेरिका में बढ़ते हुए जीवन-स्तर का एक अन्य पहलू है, जिसकी तरफ अलग से ध्यान दिया जाना चाहिए। असंख्य नई उपभोग्य वस्तुओं का आविष्कार हो गया है और बड़े पैमाने पर उनका उत्पादन संभव हो गया है। यही नहीं, पहले से विद्यमान उपभोग्य वस्तुओं की नई-नई शैलियाँ, नए-नए रूप, नए-नए रंग तथा आकार बहुत बड़ी संख्या में निकल आए हैं। इस बात को अधिक प्रयासपूर्वक कहने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रतिदिन बाजार के अवलोकन से ही इस प्रवृत्ति का पता चल जाता है। मोटरगाड़ियों, बिजली के सामानों, एकदम नए-नए किस्म के कपड़े, नए-नए इमारती सामान, वातानुकूलन व्यवस्था, टेलीविजन, द्रुतगामी परिवहन-साधन तथा सैकड़ों प्रकार की अन्य वस्तुएँ एवं सेवाएँ सामने आ गई हैं और पूँजीवादी व्यवस्था में सर्वत्र पहुँच रही हैं।

बाजार में खरीदने वाला हर व्यक्ति जानता है कि आज लगभग प्रत्येक वस्तु कितने प्रकार के रंगों, आकारों तथा शैलियों में मिलती है, उनकी संख्या एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है। पुरुषों के टोप न केवल विभिन्न आकारों में मिलते हैं, वरन् वे उस शक्ल में खरीदे जा सकते हैं जो पहनने वाले व्यक्ति के सिर पर एकदम फिट रहे। आज बिजली के बल्ब हर कल्पनीय शक्ल, आकार, रंग तथा वाट और उनके संभावित संयोजनों के रूप में मिल सकते हैं तथा उनका दाम इतना है कि उसे कोई भी गृहस्थ खरीद सकता है। सन् १९०७ में ६० वाट के बल्ब की कीमत १.५० डालर होती थी। लेकिन, आज उससे भी अच्छे किस्म का बल्ब २५ सेंट में मिल जाता है। आज बर्फ ५० या सौ पौंड की सिल्लियों में नहीं मिलती, वह आज कुटी हुई, घनपिंडों तथा छोटे सिलिंडरों में मिलती है, जिसे पेय पदार्थ के गिलास के हिसाब से लिया जा सकता है। नाश्ते का खाना तथा साबुन किसी भी कल्पनीय व्यक्तिगत रुचि अथवा स्वास्थ्य की स्थिति के अनुसार खरीदा जा सकता

---

[१] दि न्यूयार्क टाइम्स, १३ दिसंबर, १९५५।

है। इसके बहुत अधिक दृष्टांत देने की आवश्यकता नहीं। आज की किसी विभागीय दूकान या ५ और १० सेंट वाली वस्तुओं की दूकानों की वस्तु-सूची पर दृष्टि डालने से यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाएगी। न्यूयार्क शहर की एक-एक विभागों वाली दूकान में तीन-तीन लाख तक वस्तुएँ सुलभ होती हैं।

इतनी अधिक वस्तुओं तथा उनके बहुविध आकारों और शैलियों की सामाजिक हानियाँ न हों, ऐसी बात नहीं है, किंतु इसे आधुनिक जीवन को पूँजीवाद की एक देन कहा जा सकता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की उपभोग शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे वह निश्चय ही इस बढ़ी हुई शक्ति का कुछ भाग नई चीजें प्राप्त करने पर खर्च करना चाहता है। किसी वस्तु के जितने अधिक प्रकार के साइज, आकार, शैलियाँ तथा रंग होंगे, खरीददार उसे उतनी ही आसानी से छाँट सकेगा तथा उतने अधिक रूप में उसकी आवश्यकता पूरी होगी। इसलिए इन सबको उपभोगकर्त्ता की सेवा ही समझा जाता है और बढ़ते हुए जीवन-स्तर का एक उपयुक्त पहलू माना जाता है।

यही नहीं, आर्थिक संगठन के रूप में पूँजीवाद अकेला ही इन सब नवीनताओं का कारण नहीं है। इसमें वैज्ञानिकों तथा टेकनीशियनों की सेवाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है और उनकी ये योग्यताएँ पूँजीवादी अर्थतंत्र की स्वाभाविक उपज नहीं हैं। फिर भी विज्ञान तथा शिल्प-विद्या का यह योगदान पूँजीवादी अर्थतंत्र के माध्यम से उपभोक्ता तक पहुँचा है। इस अर्थतंत्र ने ऐसे घातक प्रतिबंध पैदा नहीं किए हैं, जिनसे इनकी सेवाओं की चरम परिणति नई वस्तुओं तथा पहले से विद्यमान वस्तुओं की नई-नई किस्मों के रूप में रुक ही जाए। बहुत से तथा अधिकांश मामलों में तो पूँजीवादी उद्यम द्वारा अपनी बिक्री बढ़ाने के दबाव के कारण ही टेकनीशियन को आगे आने की प्रेरणा मिली है। इन कारणों से इन सब नव-आविष्कारों को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक सफलता ही समझा जाना चाहिए।

उद्यमकर्त्री ऊर्जा

संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद ने बड़े परिमाण में उद्यमकर्त्री योग्यता तथा ऊर्जा का उपभोग संभव बनाया है। उद्यमकर्तृत्व का आर्थिक गतिविधि की अनवरतता के लिए विशेष महत्त्व है; क्योंकि इस स्रोत से ही अन्य उत्पादक घटकों को संगठन, समन्वय एवं निर्देशन होता है और एक दृष्टि से तो उनमें क्रियाशीलता लाई जाती है। प्राकृतिक संसाधन प्रकृति ने दिए हैं। प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात रूप से संभावित श्रमिक होता है। पूँजी मानव की आधारभूत इच्छा से प्रेरित बचत की साधारण प्रक्रिया से प्राप्त होती है। किंतु, उद्यमकर्तृत्व उन विभिन्न स्थितियों

के सम्मिश्रण से पैदा होता है जो न तो आसानी से पैदा होती है और जिन्हें नष्ट करना भी मुश्किल नहीं होता। इसलिए पूँजीवाद समाज की आर्थिक प्रक्रियाओं का यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण तथा नाजुक तत्त्व होता है। इसमें दुस्साहस, जोखिम उठाने, आमदनी तथा प्रतिष्ठा बढ़ाने, आत्माभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा, सृजनात्मकता तथा स्वतंत्रता की भावना के साथ-साथ जुआड़ी की हिम्मत तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सम्मिश्रण रहता है। बदलती स्थितियों—जिनमें से बहुत-सी तो ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्व-कल्पना करना एक व्यावसायिक उद्यमकर्त्ता के लिए संभव नहीं होता—के अनुसार व्यावसायिक गतिविधि में बराबर परिवर्तन एवं समन्वय करते रहना सुलभ उद्यमकर्त्ताओं की संख्या तथा उत्कृष्ट योग्यता पर निर्भर करता है।

इस बात को सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पूँजीवादी अर्थतंत्र ने संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिक तथा बेहतर किस्म के उद्यमकर्त्ता पैदा किए हैं, जो इसी प्रकार की स्थितियों में अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्था पैदा नहीं कर सकती थी। लेकिन, यह बात अवश्य स्पष्ट है कि हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में इतनी संख्या में उस प्रकार के उद्यमकर्त्ताओं की कमी नहीं रही, जिनकी आवश्यकता अधिक-से-अधिकतर और अधिकतम उत्पादन करने वाली आर्थिक गतिविधि का संगठन तथा संचालन करने के लिए पड़ती। हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र की कुछ संस्थाएँ जैसे अबाध उद्यम तथा लाभ अभिप्रेरण स्वाभाविक रूप से उद्यमकर्त्री शक्ति को जन्म देती हैं। इन प्रेरणाओं के फलस्वरूप हमने उद्यमकर्त्री योग्यता तथा क्षमताओं का जन्म तथा इस सीमा तक विकास देखा है कि जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या का जीवन-स्तर ऊँचा करना, अनेक नई उपभोग्य वस्तुओं की नई किस्में निकालना, अधिक अवकाश प्रदान करना तथा तेजी से शिल्प-विद्याविषयक प्रगति करना संभव हुआ है, जो हमारे आर्थिक जीवन की विशेषता है।

शिल्प-विद्याविषयक प्रगति

संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद के साथ-साथ मशीनों तथा प्रक्रिया शिल्प-विद्या में इतनी अधिक प्रगति हुई है कि उसकी कल्पना करना भी कठिन है। वस्तु-स्थितियों पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। शक्ति-उत्पादक मशीनों के प्रयोगों में जबर्दस्त वृद्धि हुई है। सन् १८५० से १९५० ई० तक के १०० वर्षों में उद्योगों में प्रयुक्त कुल शक्ति में मानवीय शक्ति १२ प्रतिशत से घट कर १ प्रतिशत रह गई है; पशुओं की शक्ति का भाग ५२ प्रतिशत से घट कर ०.५ प्रतिशत रह गया है, जबकि खनिज ईंधनों (कोयला, तेल तथा गैस) और जल से उत्पन्न

विद्युत-शक्ति का भाग ३५ प्रतिशत से बढ़ कर ९८.५ प्रतिशत हो गया है ।[१] शक्ति-स्रोतों के प्रयोग कीं कुशलता भी गत एक शताब्दी में ५० प्रतिशत बढ़ गई है ।[२]

शिल्प-विद्याविषयक इस प्रगति का कुल मिलाकर परिणाम यह है कि उद्योगों में प्रति मानव-श्रम घंटे पीछे उत्पादन में वृद्धि हुई है । डालर के बदलते मूल्य के हिसाब से उपयुक्त समंजन करके देखें तो प्रति मानव-श्रम घंटे का शुद्ध उत्पादन सन् १८५० में जहाँ १७.३ सेंट के बराबर मूल्य का होता था, वहाँ द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ७४ सेंट के बराबर हो गया अर्थात् श्रम उत्पादकता में चार गुने से भी अधिक वृद्धि हुई । सन् १९४७ से सन् १९५९ के बीच निर्माता उद्योगों का भौतिक उत्पादन लगभग ६० प्रतिशत बढ़ा है जबकि इन उद्योगों में श्रमिकों की संख्या में ५ प्रतिशत की कमी हुई है ।[३] चूँकि प्राकृतिक संसाधन बढ़ते नहीं हैं और निर्माता उद्योगों में श्रमिकों की श्रमकुशलता अपेक्षाकृत थोड़ी बढ़ी है, अतः श्रम-उत्पादकता में यह सारी वृद्धि एक तरह से शिल्प-विद्या की प्रगति—अच्छी मशीनों, प्रति कर्मचारी अधिक मशीनों, संयोजन लाइन पद्धतियों में हुए सुधार तथा संयंत्रों द्वारा सामान के अनवरत् आवागमन—के फलस्वरूप हुई हैं । इस बात के महत्त्व का कुछ पता इस तथ्य से लगता है कि सभी निर्माता उद्योगों का संयंत्र तथा उपकरणों पर हुआ पूँजीगत खर्च सन् १९६० में १५ अरब डालर कूता जाता है ।[४] इस वार्षिक खर्चे का अधिकाधिक प्रतिशत भाग विशेष प्रकार के इलेक्ट्रॉनिक तथा स्वचलित उपकरणों पर खर्च किया जाता है जिससे निर्माण प्रक्रियाओं की कुशलता तथा रफ्तार बढ़ सके । शायद ही कभी मशीन इसलिए बदली जाती है; क्योंकि उसका पूर्ण उपयोग हो गया है और न ही संयंत्रों में विद्यमान प्रकार के ही यंत्रादि लगाए जाते हैं.... शिल्प-विद्या में हुई प्रगति के कारण....नई प्रक्रियाएँ प्रकाश में आई हैं तथा अधिक कार्य-कुशल और लागत घटाने वाली मशीनें बन गई हैं, जिनमें बेहतर प्रकार की नियंत्रण व्यवस्था है जो तेज चलती हैं और सामान अधिक अच्छे ढंग से उतारा-चढ़ाया जा सकता है, इत्यादि ।[५]

शिल्प-विद्या की यह प्रगति वास्तव में वस्तु-निर्माता उद्योगों के अलावा भी अनेक प्रकार के खनन-उद्योगों, सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं तथा व्यापारिक गति-

---

[१] ड्यू हर्स्ट तथा सहयोगियों की पुस्तक पर आधारित, वही पृष्ठ १११६ ।

[२] वही, पृष्ठ १११३ ।

[३] इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९६०, पृष्ठ, १८०, १८८ ।

[४] संयुक्त राज्य अमेरिका का वाणिज्य विभाग, 'सर्वे ऑफ करेंट बिजनेस', मार्च. १९६०, पृष्ठ १३ ।

[५] वही, जनवरी १९६०, पृष्ठ १४।

विधियों और कृषि के क्षेत्र में भी हुई है। कृषि के यंत्रीकरण से तो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं और प्रति एकड़ और प्रति जन-घंटे पीछे फसल की उपज बहुत बढ़ गई है। १९१० ई० में खेतों पर जहाँ घोड़ों और खच्चरों की संख्या १९० लाख थी, वहाँ १९५९ ई० में ३१ लाख रह गई, जबकि इस अवधि में फार्मों पर ट्रैक्टरों की संख्या १००० से बढ़ कर ४८ लाख हो गई।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका में कृषि-क्षेत्र में भौतिक उत्पादन का सूचक अंक सन् १९२९ से सन् १९५९ के बीच ७० प्रतिशत बढ़ा है जब कि कृषि-कार्य में लगे लोगों की संख्या में ५० प्रतिशत की कमी हुई है।[2] बीसवीं सदी के चौथे दशक से लेकर छठे दशक तक कृषि में प्रति जन-घंटे उत्पादन १५० प्रतिशत बढ़ा है।

हमारे आर्थिक संगठन के इस स्वरूप ने ही अपने-आप शिल्प-विद्याविषयक यह प्रगति नहीं कर दिखाई है। नई कार्य-प्रक्रियाओं तथा नई मशीनों के आविष्कार के पीछे जो आधारभूत वैज्ञानिक ज्ञान काम करता है, उसका विस्तार करने वाले लोग वे भौतिकीविद्, रसायनविद्, इंजीनियर, उत्पादन टेकनीशियन हैं, जिनमें से बहुत से लोग विश्वविद्यालयों तथा अन्य अव्यापारिक प्रयोगशालाओं में काम करते हैं। लेकिन पूँजीवादी ढंग की अर्थ-व्यवस्था ने वह परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है, जिसमें इनका विकास हो कर नई उत्पादन शिल्प-विद्याएँ बन सकीं। वास्तव में पूँजीवादी संस्थाओं तथा उन्नत शिल्प-विद्या के उपयोग में कोई संबंध नहीं दिखाई देगा। इसके लिए प्रतियोगिता और लाभ अभिप्रेरण प्रेरक तत्त्व रहे हैं। व्यावसायिक उद्यमों को उन्नत शिल्प-विद्या द्वारा उत्पादन-लागत घटाने, मुनाफा बढ़ाने और बिक्री बढ़ाने का अवसर मिला, जिसका उन्होंने प्रयोग किया।

स्पष्ट रूप से हम इस नई औद्योगिक क्रांति की देहली पर खड़े हैं; क्योंकि शक्ति साधन के रूप में परमाणु शक्ति का विकास हो गया है, इलेक्ट्रॉनिक 'मस्तिष्क' बन गए हैं और स्वचलन व्यवस्था सुलभ है। स्वचलन व्यवस्था में स्वचलित मशीनों की बैटरियों को विद्युदणु (इलेक्ट्रॉनिक) विधियों से इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि एक मशीन से सामान स्वतः दूसरी मशीन तक चलता जाता है और इसके लिए किसी श्रमिक को लगाना जरूरी नहीं होता। इन नए तथा चौंका देने वाले आविष्कारों का हमारी अर्थ-व्यवस्था के लिए कितना महत्त्व है, इसकी पूरी संभावनाओं को तो अभी आँकना संभव नहीं है, लेकिन इस बात के पूरे-पूरे संकेत मिलते हैं कि प्रतियोगिता करने और लाभ कमाने वाली शक्तियाँ इनका तेजी से उपयोग

---

[1] ड्यू हर्स्ट एण्ड एसोशिएट. पूर्वोक्त सारणी २१४, पृष्ठ ६१६, इकोनॉमिक अल्मैनक, १९५६, पृष्ठ, ५९, इकोनॉमिक रिपोर्ट आफ़ दि प्रेसीडेंट, १९६० पृष्ठ १०५।

[2] इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, १९६०, पृष्ठ १०२, १७४, २३२।

बढ़ायेंगी। वस्तु निर्माता उद्योगों में उत्पादित प्रति वस्तु पीछे मशीनों पर किए गए पूँजी निवेश में सन् १९५० तथा सन् १९५५ के बीच कितनी वृद्धि हुई है, इसका अंदाज इस बात से लगता है कि नए संयंत्रों एवं उपकरणों पर वार्षिक पूँजी निवेश (डालर के मूल्य में हुई घट-बढ़ का हिसाब रखने के बाद) कुल वार्षिक भौतिक उत्पादन का आधार और बढ़ गया है।[1]

उत्पादक संसाधनों का उपयोग

हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में शिल्प-विद्या की यह प्रगति मानवीय अथवा अमानवीय उत्पादक साधनों को दीर्घकालीन दृष्टि से बेकार बनाए बिना की गई है। यद्यपि मजदूरों की वेकारी कभी-कभी बहुत गंभीर रूप धारण कर गई और सन् १९३० से सन् १९४० तक श्रमिकों की वेकारी वरावर वनी रही, फिर भी दीर्घ अवधि में हमारे श्रमिकों का लगभग पूरा-पूरा उपयोग होता रहा है। यह वात इस तथ्य के वाद भी सत्य है कि हमारे कुल श्रमिकों की संख्या सन् १९०० के बाद जहाँ ३ करोड़ के करीब थी, वहाँ अव ७ करोड़ के करीब हो गई है।

हमारी अर्थं-व्यवस्था में प्रत्येक श्रमिक की औसत उत्पादिता बढ़ी है और किसी खास वस्तु अथवा सेवा के लिए उपभोक्ताओं की रुचि बदलती है तो अनावश्यक श्रमिकों को अपने पुराने कार्यों से अलग होना पड़ा है। किंतु, दीर्घ अवधि में हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में इतना लचीलापन रहा है कि वह इन श्रमिकों को अन्य कामों में लगा सकी और बढ़ती हुई आबादी के कारण बढ़े नए श्रमिकों को भी रोजगार दे सकी।[2] चार प्रकार की शक्तियों ने इस स्थिति को संभव बनाया है। एक, प्रति जन घंटे के रूप में औद्योगिक उत्पादिता में हुई वृद्धि के एक उल्लेखनीय भाग को हमने अधिक अवकाश के रूप में लेने का निर्णय किया है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, सन् १८५० में अमेरिकी श्रमिक प्रति सप्ताह औसतन कोई ७० घंटे काम करता था लेकिन सन् १९५० तक यह औसत घट कर ४० घंटे रह गया है। दूसरे, जीवन-स्तर ऊँचा होने तथा जनसंख्या बढ़ने के कारण, पहले से प्रचलित प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं की प्रति व्यक्ति खरीद बढ़ी है। तीसरे, सर्वथा नई वस्तुएँ और विशेषत: नई सेवाओं का आविष्कार हो गया है और उनका

---

[1] वही। पृष्ठ १८८-१९०।

[2] यह यहाँ ध्यान रखने की बात है कि यह कोई भविष्यवाणी नहीं है कि भविष्य में क्या होगा। यह तो अतीत में जो हुआ, उसका वर्णन मात्र है। किसी भी अर्थ में इससे 'वेकारी की समस्या' की गंभीरता कम नहीं होती; क्योंकि 'दीर्घ अवधि' मानव-जीवन की तुलना में इतनी लंबी हो सकती है कि अधिक बेकारी को बरदाश्त ही न किया जा सके। देखिए अध्याय ४।

व्यापक रूप से उपयोग होने लगा है। इन सब शक्तियों ने हमारी अर्थ-व्यवस्था पर नौकरियाँ पैदा करने के लिए जबर्दस्त प्रभाव डाला। नई वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के महत्त्व पर नई नौकरियाँ पैदा करने की दृष्टि से अधिक जोर दिया जाना चाहिए; क्योंकि इसकी संभावनाएँ सीमाहीन लगती हैं। टेलीविजन सेट, व्यापारिक तथा निजी विमान सेवा, सौंदर्यवर्द्धक सेवाएँ एवं वस्तुएँ, वातानुकूलन उपकरण, घरों में प्रयोग किए जाने वाले यांत्रिक प्रशीतक, जमाए हुए खाद्य पदार्थ, बहुसंख्यक जीवाणुद्वेषी भेषज तथा घरों से वाहर रहने के समय प्रयुक्त होने वाली सहायक चीजें तो उन अनगिनत नए प्रकार के उत्पादनों में गिनाई जा सकती हैं, जिन्होंने पिछले कुछ दशकों में बहुत रोजगार पैदा किए हैं। चौथे, हमारे श्रमिकों का औसत कार्यपरायण जीवन कम हो रहा है। बीसवीं सदी के तीसरे और छठे दशक में श्रमिक दल में १४ से २८ वर्ष के बीच के पुरुषों का प्रतिशत काफी कम हो गया है तथा ६५ वर्ष से ऊपर के श्रमिकों का प्रतिशत तो एकदम घट गया है। रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने के कारण, आरंभिक जीवन में श्रमिकों के लिए अधिक शिक्षा प्राप्त करना संभव होता है। संघीय वृद्धावस्था तथा उत्तरजीवियों की बीमा (सामाजिक सुरक्षा) व्यवस्था तथा कंपनियों द्वारा वेतनभोगी तथा प्रति घंटा के हिसाव से मजदूरी पाने वाले कर्मचारियों के अवकाश ग्रहण करने की योजनाओं ने हमारे श्रमिक दल के बहुत से लोगों का जल्दी अवकाश ग्रहण करना संभव बना दिया है।

श्रमिकों के अलावा अन्य उत्पादक तत्त्वों का अध्ययन करें, तो हम दीर्घकालावधि में इनका पूर्ण उपयोग होता पाते हैं। हमारे प्राकृतिक साधनों का अधिक-से-अधिक पूर्ण उपभोग होता है। सन् तीस के बाद की मंदी के दिनों बड़े पैमाने पर लंबे अर्से तक औद्योगिक उपकरणों के निष्क्रिय खड़े रहने के बाद, मशीनों के बेकार रहने की दीर्घकालीन प्रवृत्ति बढ़ी नहीं है।

हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने दीर्घकालावधि में उत्पादक साधनों को पूरी तरह उपयोग करते रहने में जो सफलता दिखाई है। इसे उन कुछ बातों की पृष्ठभूमि में देखना चाहिए, जिन्होंने यह सफलता प्राप्त करना कठिन बना दिया होता। जैसे-जैसे लोगों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय वढ़ी है, वैसे-वैसे उपभोक्ताओं की इच्छाएँ अधिक चलायमान होती गईं और उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति आवश्यकताओं के क्षेत्र से आगे निकल गई जिनकी माँग अधिक स्थिर होती है। इसके साथ-ही-साथ, मशीनें अधिक-से-अधिक विशेष प्रकार की हो गईं। इसलिए उन्हें इस काम से हटा कर दूसरे काम में प्रयोग करना अधिकाधिक मुश्किल हो गया। यही नहीं, पूँजीगत

उपकरणों के अधिकाधिक भारी होने और टिकाऊ होने से इन कठिनाइयों को और भी बढ़ाया। दीर्घकालीन दृष्टि से देखें, तो हमारी अर्थ-व्यवस्था ने इस सब बातों का सफलतापूर्वक सामना किया, जो हमारे उत्पादक संसाधनों के पूर्ण उपभोग करते रहने को अधिकाधिक कठिन बनाती हैं।

व्यक्तिवाद

पूँजीवादी प्रणाली को व्यक्तिवाद के साथ घनिष्ट संबंध होने के कारण ही ये सफलताएँ मिली हैं। इस व्यक्तिवाद के कारण ही व्यक्तियों ने अकेले तथा निगमों के रूप में गठित होकर बहुत बड़े परिमाण में उद्यमकर्त्री शक्ति पैदा की है। लाभ अभिप्रेरण तथा अपने निज के स्वार्थों की पूर्ति के लिए व्यक्ति अपेक्षाकृत—स्वतंत्र होने के कारण इस शक्ति को उन माध्यमों में ढाला गया है, जिससे हमारे प्राकृतिक साधनों, हमारे श्रमिकों तथा हमारी पूँजी का उत्पादक रूप में उपभोग किए जाने की संभावनाएँ पैदा हुई हैं। पूँजीवाद की व्यक्ति-स्वातंत्र्य विशेषता का उपयोग करते हुए व्यक्तियों तथा निगमित प्राणियों ने नए-नए प्रकारों का संगठन बनाया, नई मशीनें, नई प्रक्रियाएँ तथा नई वस्तुएँ निकालीं, जिनसे हमारी अर्थ-व्यवस्था जीवन-स्तर में इतनी अधिक वृद्धि कर सकी।

निजी संपत्ति तथा उत्तराधिकार की व्यक्तिपरक संस्थाओं ने दूरदेशी को प्रोत्साहन दिया, जिससे भविष्य में प्रयोग किए जाने के लिए उत्पादन संपदा जमा करने का प्रोत्साहन मिला। यहीं नहीं, मूलभूत नियामक शक्ति भी प्रकृति से व्यक्ति-परक होती है। बहुत से व्यक्ति तथा निगम इकाइयाँ आर्थिक क्षेत्र में एक दूसरे स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं, इसलिए दाम, मजदूरी, व्याज-दर तथा लाभ उचित स्तर पर रहते हैं और राष्ट्रीय उत्पादन में हुई वृद्धि जनता के बहुसंख्यक वर्ग तक पहुँच सकी है। यह व्यक्तिवादिता या व्यक्तिवाद पूँजीवाद का सार है और उसकी सफलताओं का रहस्य है।

कक्षा-चर्चा के लिए प्रश्न

१. क्या पूँजीवाद का मूल्यांकन पूर्णतः वस्तुपरक हो सकता है? **स्पष्ट** कीजिए।

२. पूँजीवाद की वे सफलताएँ तथा वे विफलताएँ जो पूँजीवाद की संस्थाओं के फलस्वरूप हुई या जो उसकी परिस्थितिजन्य अवस्थाओं के कारण हुई हैं, अलग-अलग करना इतना कठिन क्यों है?

३. ऐसे कुछ उदाहरण बताइए जिनमें पूँजीवादी प्रणाली ने अपनी अनुकूलनीयता को प्रदर्शित किया है।

४. पूँजीवाद को अधिकाधिक परिमाण में सरकारी नियंत्रण के अनुकूल स्वयं को बनाना पड़ा है, यह उसकी सफलता का बोधक है या विफलता का ?

५. रहन-सहन का बढ़ा हुआ स्तर किस प्रकार पूँजीवाद के कारण संभव हुआ ? क्या यह वैज्ञानिक आविष्कारों तथा वैज्ञानिक प्रगति का परिणाम है ?

६. जीवन-स्तर में हुई वृद्धि समस्त जनता में व्यापक रूप से दूर-दूर तक पहुँची है, इस बात का क्या महत्त्व है ? जीवन-स्तर के इस विस्तारण में कराधान तथा सेवापरायणता-भावना की क्या भूमिका रही है ?

७. यह दावा क्यों किया जाता है कि उपभोग्य वस्तुओं की नई-नई किस्मों का आविष्कार पूँजीवाद की सफलता है ? क्या वस्तुओं की बहुत सी किस्में ग्राहक को अपनी पसंद की चीजें चुनते समय उलझन में डालती हैं ?

८. उद्यमकर्त्ता की गतिविधि आरंभ करना मुश्किल क्यों है और नष्ट करना सुगम क्यों है ? इस संबंध में पूँजीवाद की क्या सफलताएँ हैं ?

९. शिल्प-विद्याविषयक प्रगति का क्या अर्थ है ? इसके कुछ उदाहरण दीजिए।

१०. क्या हम शिल्प-विद्या के क्षेत्र में अतीत में हुई प्रगति का कारण वैज्ञानिकों को समझें या पूँजीवाद को या दोनों को ? क्यों ?

११. कोई अर्थतंत्र अपने उत्पादक साधनों का जिस सीमा तक उपयोग करता है, वही उसकी सफलता की कसौटी क्यों है ? पूँजीवाद इस कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरा है ?

१२. व्यक्तिवाद का पूँजीवाद की सफलताओं के साथ किस प्रकार का संबंध है ?

●

अध्याय ४

अमेरिकी पूँजीवाद के अभाव

हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कार्य-व्यापार में दो प्रकार के अभाव या खामियाँ प्रकाश में आती हैं, जिनका पूँजीवाद के मूल्यांकन में सर्वथा भिन्न प्रकार का महत्त्व है। इनमें पहली है पूँजोवादी अर्थ-व्यवस्था की आर्थिक समस्याएँ, जिनके अंतर्गत अर्थ-व्यवस्था के उन अनेक छोटे-मोटे भागों की विफलताएँ आती हैं, जो उतनी कुशलता से काम नहीं कर पाते; जितनी कुशलता से करना चाहिए। इस प्रकार के दृष्टांत हैं, बैंक-व्यवस्था की उपचारी दुर्वलता, गलत प्रकार अथवा गलत परिमाण में द्रव्य का जारी होना अथवा कृषि का अन्य उद्योगों के साथ तालमेल ठीक न होना।

दूसरे अभाव को 'मूलभूत कमियाँ' कह सकते हैं। विशिष्ट खराबियों से अधिक आधारभूत कठिनाइयाँ होने का प्रमाण मिलता है, लेकिन ये कठिनाइयाँ उन खरात्रियों की अपेक्षा अधिक व्यापक हो सकती हैं और बराबर प्रकाश में आती रह सकती हैं। मूलभूत खराबियाँ तभी सामने आती हैं जब अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी संस्थाएँ मानव-कल्याण की वृद्धि करने के उद्देश्य को पूरा करने में गंभीर रूप से विफल रहें। छोटी-मोटी खराबियों की तो अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न संबद्ध भागों को उस ढंग से चला कर, जिस तरह उनको पूँजीवादी अर्थतंत्र में चलना ही चाहिए, संभवतः ठीक किया जा सकता है, लेकिन मूलभूत खराबियों को, यदि वे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो गई हों, तो दूर करने के लिए पूँजीवाद की एक या एकाधिक आधारभूत संस्थाओं में जबर्दस्त परिवर्तन करना पड़ेगा या उसे हटाकर सर्वथा नई संस्था उसके स्थान पर लानी पड़ेगी। इस विश्लेषण में केवल मूलभूत खराबियों का ही विवेचन किया जाएगा; क्योंकि ये खराबियाँ पूँजीवाद की ऐसी खामियाँ या दुर्वलताएँ हैं, जो भविष्य में उसका अस्तित्व विद्यमान रखने के लिए एक चुनौती बन सकती हैं।

धन-संबंधी मूल्यों और मानव-कल्याण के बीच संघर्ष

पूँजीवादी प्रणाली में सभी व्यावसायिक प्रक्रियाएँ धन, मूल्य, दाम तथा लागत की दृष्टि से चलती हैं। ये सारी संकल्पनाएँ धन से संबंधित हैं और अलग-अलग तौर पर देखें, तो इनका मानव-कल्याण के साथ आवश्यक रूप से कोई संबंध नहीं है।[1] यद्यपि आर्थिक गतिविधि का अंततः उद्देश्य मानव-कल्याण बढाना होता है, लेकिन उद्यमकर्ता के निर्णय जो हमारी अर्थ-व्यवस्था का सामूहिक रूप से संचालन करते हैं, विशुद्ध रूप से धन-संबंधी हिसाब-किताब करके किए जाते हैं। चूँकि एक डालर का मानव-कल्याण के साथ कोई सतत् तथा स्वाभाविक संबंध नहीं है, इसलिए डालर के आधार पर किए गए निर्णय उन निर्णयों से बहुत अधिक भिन्न हो सकते हैं, जो विशुद्धतः मानव-कल्याण को ध्यान में रख कर किए जाते और बहुत से मामलों में यह अंतर अवश्य ही होता है।

इस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उद्यमकर्त्ता उस समय उत्पादन बढ़ाता है, जब वस्तु का दाम उसकी लागत से अधिक होता है और उस समय उत्पादन घटाता या सर्वथा बंद ही कर देता है, जब वस्तु की लागत उसके दाम से अधिक होती है। उत्पादन की जिन विधियों से उत्पादन की प्रति इकाई लागत कम-से-कम होती है, उन्हें प्रयोग के लिए अपनाया जाता है और इनकी वैकल्पिक प्रक्रियाओं को ठुकरा दिया जाता है। प्राकृतिक साधनों का उपयोग भी इस प्रकार किया जाता है, जिससे उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई पीछे लागत घटे। श्रमिकों का नियोजन तथा प्रबंध करने के तरीके भी उसी आधार पर चुने जाते हैं। चूंकि दाम का अर्थ सदैव धन दाम और लागत का अर्थ सदैव धन लागत होता है, इसलिए ये महत्त्वपूर्ण निर्णय सदैव धन-संबंधी हिसाब-किताब लगाकर किए जाते हैं। पूँजीवादी अर्थतंत्र में यदि कोई बात उद्यमकर्त्ता के निर्णयों से प्रत्यक्षतः संबंधित है, तो यह सर्वथा गौण प्रश्न बन जाता है कि उपभोक्ता को उससे लाभ होगा अथवा हानि। इस प्रकार कुछ उत्पादन प्रक्रियाओं का कर्मचारियों पर मानव प्राणियों के रूप में तथा उन दुर्लभ प्राकृतिक साधनों पर जिनके अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती, पड़ने वाले प्रभावों को इस प्रकार आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से नजरन्दाज कर दिया जाता है। व्यक्तियों तथा सामाजिक जीवन के लिए दीर्घकालीन महत्त्व की ऐसी अनेक बातों का उद्यम-

---

[1] इस संघर्ष का उतनी स्पष्टता से वर्णन संभवतः किसी अन्य ने नहीं किया है, जितना ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे. ए. होब्सन ने किया है। उन्होंने अपनीं शानदार पुस्तक 'वर्क ऐंड वेल्थ : ए ह्यूमन वेल्यूएशन' न्यूयार्क, मैकमिलन, १९२८ में विस्तार के साथ उन बातों पर प्रकाश डाला है, जिनका इन पैराग्राफों में उल्लेखमात्र ही किया गया है।

कर्त्ता के उन निर्णयों पर प्रत्यक्ष रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में किस-किस वस्तु का उत्पादन किया जाएगा और किस प्रकार किया जाएगा।

पूँजीवाद की मान्यता है कि जिन वस्तुओं का बाजार दाम होता है, उनके उत्पादन में होने वाली समी प्रकार की वृद्धियाँ अच्छी हैं और सभी कमियाँ बुरी हैं; उत्पादन की प्रति इकाई लागत में होने वाली सभी कमियाँ वांछनीय हैं और उनमें होने वाली सभी वृद्धियाँ अवांछनीय हैं—ये मान्यताएँ झूठी हैं; क्योंकि इनसे क्या चीजें पैदा की जाएँ और कैसे पैदा की जाएँ, इस संवंध में जवर्दस्त अंतर पड़ता है। वास्तव में धन-संवंधी दामों और मानव-कल्याण के इस संघर्ष को समाज ने स्वीकारा है और उद्यमकर्त्ता के धन-संबंधी निर्णयों पर अनेक प्रकार के सरकारी नियंत्रण लगाए गए हैं। कानून के द्वारा कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर रोक लगा दी गई है और कुछ उत्पादन प्रक्रियाओं का प्रयोग जारी रखा गया है। लेकिन, ये पावंदियाँ अनिवार्यतः स्वरूप में नकारात्मक हैं और उनका उपयोग सीमित है। इन कानूनों में यह निर्देश दिया जा सकता है कि अमुक-अमुक वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाएगा और अमुक-अमुक उत्पादन प्रक्रिया का प्रयोग नहीं किया जाएगा। लेकिन, उन कानूनों में शायद ही कभी किसी पूँजीवादी उद्यम से उस खास वस्तु के वनाने या अन्य उत्पादन-विधियों को अपनाने के लिए कहा जाता हो। उद्यमकर्त्ता के स्वविवेक द्वारा निर्णय किए जाने का अनिवार्यतः जो विस्तृत क्षेत्र है, उसमें यह मानने का हर संभव कारण है कि अनेक मामलों में ऐसे निर्णय होते हैं, जिनसे प्रत्यक्षतः मानव-कल्याण नहीं होता।

यह पूँजीवादी अर्थतंत्र की एक महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक कमी है। पूँजीवाद में सरकारी नियंत्रण उस सीमा तक नहीं हो पाता कि धन-संवंधी मूल्यों और मानव-कल्याण के बीच का संघर्ष समाप्त हो सकता; क्योंकि यदि वह इस संघर्ष को समाप्त कर सकेगा, तो पूँजीवाद विद्यमान नहीं रह सकता और न व्यावसायिक फर्मों से यह आशा की जा सकती है कि वे मानव-कल्याण का ख्याल धन-संवंधी लागत तथा आय के हिसाब-किताब की उपेक्षा करके करेंगी। जो पूँजीवादी उद्यमकर्त्ता ऐसा करने का प्रयास करेगा, वह प्रतियोगितापूर्ण व्यापार-जगत में काम करता न रह पाएगा। यदि एकाधिकारी अथवा अल्पाधिकारी उद्यमकर्त्ता अपने मुनाफे में कमी करने को तैयार हो तो अपने ग्राहकों, अपने कर्मचारियों तथा समाज के कल्याण का ध्यान रखने का कुछ अधिकार उसके पास रहता है लेकिन ऐसी फर्म अपवाद रूप में ही देखने में आती है जो अपना धन-लाभ अधिकतम करने में पीछे रहे। बहरहाल पूँजीवादी अर्थतंत्र में निजी व्यावसायिक एकाधिकार उसी प्रकार बाहरी वस्तु है,

जिस प्रकार व्यापक सरकारी नियंत्रण। यदि उनके क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार कर दिया जाए, तो पूँजीवादी प्रणाली को हम जिस रूप में देखते हैं, वह नष्ट हो जाएगा।

पूँजीवाद की इस स्वाभाविक कमी की सामाजिक शाखा-प्रशाखाएँ इतनी अधिक संख्या में हैं तथा इतने अधिक रूप में फैली हुई हैं कि उनका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अर्थतंत्र धन-संबंधी मूल्यों पर जो बल देता है, उसका निस्संदेह हमारे गैर-व्यावसायिक कार्यों को वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यांकन पर प्रभाव पड़ता है। 'सर्वाधिक सफल नागरिक' वही व्यक्ति होता है जो वित्तीय दृष्टि से सर्वाधिक सफल होता है। मित्रताएँ भी धन-संबंधी सफलताओं के अनुसार होती हैं। कला, संगीत तथा साहित्य को भी धन के रूप में व्यक्ति-उपयोगिता से आँके जाने का खतरा होता है। कॉलेज की शिक्षा की श्रेष्ठता का अंकन भी अधिकतर शिक्षार्थी द्वारा धन कमाने की संभावनाओं से प्रभावित हो सकता है और यहाँ तक कि सामुदायिक विकास की योजनाएँ भी इस बात से स्वीकृत या अस्वीकृत की जा सकती हैं कि उनका संबंधित सामाजिक वर्गों की वित्तीय स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। धन के रूप में हर बात का मूल्यांकन किए जाने के इन सामाजिक फलितार्थों को नापा नहीं जा सकता, फिर भी इनके विद्यमान होने से पूँजीवाद के इस दोष का महत्त्व अधिक हो जाता है।

आर्थिक असमानता

आर्थिक असमानता का अर्थ है या तो राष्ट्रीय संपदा या राष्ट्रीय आय का असमान वितरण। राष्ट्रीय संपदा के असमान वितरण का अर्थ है कि हमारी जनसंख्या के लोगों का हमारे विद्यमान प्राकृतिक संसाधनों, औद्योगिक उपकरणों तथा टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं में हिस्सा बहुत भिन्न प्रकार का है। राष्ट्रीय आय के असमान वितरण का अर्थ है—प्रति वर्ष व्यक्तियों या परिवारों द्वारा भिन्न-भिन्न परिमाण में आर्थिक वस्तुएँ प्राप्त कर पाना। यह आय केवल डालरों के रूप में कूती जा सकती है हालांकि दरअसल वास्तविक वस्तुओं का होना ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हमारा संबंध केवल आय की असमानता से है और चूंकि पारिवारिक इकाई का ही महत्त्व है, इसलिए हम यहाँ केवल पारिवारिक आय पर ही विचार करेंगे।

सारणी दो से प्रकट है कि अनेक प्रकार की आय प्राप्तकर्त्ता श्रेणियों की व्ययकर्त्ता इकाइयों का स्वरूप सन् १९५९ में क्या था। व्ययकर्त्ता इकाइयों का यह वर्गीकरण व्यक्तिगत कर देने से पूर्व की स्थिति का है। 'व्ययकर्त्ता इकाई' में या तो ऐसे रिश्तेदार लोगों का वर्ग आता है जो साथ रहते हैं और सारी आमदनी इकट्ठी कर लेते हैं (जैसे कि एक परिवार) अथवा एक व्यक्ति जो अकेला रहता है। इस सारणी से प्रकट है कि ३५ प्रतिशत व्ययकर्त्ता इकाइयाँ सबसे कम आय वाली हैं,

जिनकी आय ४००० डालर प्रति वर्ष से कम है और वे कुल आय का केवल १२ प्रतिशत पाती हैं जबकि आय के उच्चतम स्तर १०, ००० डालर प्रतिवर्ष वाली व्ययकर्त्ता इकाइयाँ १४ प्रतिशत ही हैं और उन्हें कुल आय का ३७ प्रतिशत प्राप्त होता है।

सारणी दो : व्ययकर्त्ता इकाइयों का आय वर्गीकरण तथा कर से पहले धन के रूप में हुई आय : सन् १९५९

कर देने के पूर्व धन के रूप में हुई आय	व्ययकर्त्ता इकाइयों का प्रतिशत	धन के रूप में कुल आय का (प्रतिशत)
२,००० डालर से कम	१४	२
२,००० से ३,९९९ डालर	२१	१०
४,००० से ५,९९९ डालर	२३	१८
६,००० से ७,९९९ डालर	१८	१९
८,००० से ९,९९९ डालर	१०	१४
१०,००० से १४, ९९९ डालर	९	१६
१५,००० डालर से ऊपर	५	२१
	१००	१००

स्रोत : संयुक्त राज्य अमेरिका के वाणिज्य-विभाग द्वारा प्रकाशित 'सर्वे ऑफ करेंट बिजनेस,' अप्रैल, १९६०। आँकड़े व्यक्तिगत आय कर के संघीय विवरणों व्यूरो ऑफ सेंसस के वार्षिक पारिवारिक आय सर्वेक्षण, फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के अध्ययनों तथा मिशीगन विश्वविद्यालय के सर्वे रिसर्च सेंटर द्वारा किए गए सर्वेक्षणों पर आधारित है।

कर से पूर्व आय के वितरण में इतनी ही असमानता संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ दशकों से चली आ रही है। समस्त सुलभ तथ्यों से प्रकट है कि हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में आय के वितरण में यह अत्यधिक असमानता जारी रहेगी।[1]

यद्यपि असमानता के इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी यह असमानता पूँजीवाद के कारण ही है, इस बात को कभी-कभी चुनौती दी जाती है। पूँजीवाद तथा असमानता दोनों के साथ-साथ विद्यमान होने से उनके

---

[1] इसे उस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ मिला कर घपला नहीं करना चाहिए, जो कर दिए जाने के बाद आय के वितरण में आएगा। देखिए पृष्ठ ४६-४७।

बीच कार्य-कारण-संबंध सिद्ध नहीं होता। नकारात्मक दृष्टि से ही पूँजीवाद को इस असमानता के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है; क्योंकि इसने वे आधारभूत शक्तियाँ पैदा नहीं की हैं, जो क्रमशः राष्ट्रीय आय को जनता में व्यापक रूप से वितरित करतीं। लेकिन, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूँजीवाद असमानता का असली कारण है। जब हम पूँजीवाद की मूलभूत संस्थाओं के वितरक प्रभावों का विश्लेषण करते हैं, तो यह कार्य-कारण-संबंध अधिक स्पष्टता के साथ उभरता है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र आय की पर्याप्त असमानता का पोषण करता है अथवा कम-से-कम उसे विद्यमान रहने देता है।

पूँजीवाद की तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का असमानता के विद्यमान होने से जो सीधा संबंध है, उसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। अबाध बाजार पूँजीवादी अर्थतंत्र का प्रकृत अंग है; क्योंकि अबाध बाजार ही स्थापित तभी होता है जब खरीदार और बिक्रेता अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए व्यक्तिगत पहल-शक्ति का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। जब तक बाजार अबाध है, तभी तक पूर्ति और माँग की शक्तियों के घात-प्रतिघात से बाजार में बिकने वाली वस्तुओं, सेवाओं तथा उत्पादक तत्त्वों का वर्त्तमान दाम निर्धारित होता है। अबाध बाजार में उन वस्तुओं अथवा उत्पादक तत्त्वों का अधिक दाम मिलेगा, जो माँग की अपेक्षा कम परिमाण में सुलभ हैं जबकि उन वस्तुओं का बाजार भाव कम होगा जो माँग की तुलना में अधिक हैं। इन बाजार भावों से ही व्यक्तियों की आय आती है, इसलिए वह असमान होगी।

जिस व्यक्ति की आय किसी वस्तु की लागत और उसके बाजार भाव के अंतर से प्राप्त की जाती है, उस व्यक्ति की आय उस अवस्था में अपेक्षाकृत अधिक होगी, जब उस वस्तु की माँग बहुत अधिक हो और विक्रेता उसे बहुतायत के साथ न बेचें। किसी नई वस्तु अथवा सेवा का उत्पादक अपनी वस्तु या सेवा को तब तक इन्हीं स्थितियों में बेचेगा, जब तक कोई अन्य संभावित उत्पादक बाजार में न आ जाए। जो उत्पादक अपनी उत्पादन लागत अपने प्रतियोगियों की अपेक्षा कम कर सकता है, वह निर्बाध बाजार में तब तक पर्याप्त मुनाफा कमा सकता है, जब तक कि अन्य उत्पादक भी उसके तरीकों की नकल न करने लगें और तदनुसार बाजार-भाव ही न घट जाए। असंख्य प्रकार की इन स्थितियों में अबाध बाजार जो पूँजीवाद का प्रकृत अंग है, कुछ लोगों को अपेक्षाकृत अधिक आय करने देता है और इस प्रकार आर्थिक असमानता विद्यमान होने में सहायक बनता है। जो व्यक्ति पूर्ति और माँग की उक्त स्थिति से विपरीत स्थितियों में विक्री करेगा,

उसे ऐसे बाजार से अपेक्षाकृत कम आय प्राप्त होगी। उदाहरण के रुप में छोटे कृषि उत्पादक का स्थान युद्धकाल को छोड़ कर सदा ही प्रमुखतः हमारे कम आय वाले वर्ग में रहा है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपेक्षाकृत दुर्लभ उत्पादन तत्त्व की सेवाएँ बेचता है, उसे अबाध बाजार में अधिक आय प्राप्त होती है और जो व्यक्ति प्रचुर मात्रा में सुलभ उत्पादन तत्त्व का बिक्रय करता है, उसे उसका कम दाम मिलता है। साधारण तथा अर्द्ध कुशल श्रमिकों की संख्या उनकी माँग की अपेक्षा अधिक होती है जबकि कुशल तथा प्रबंधकर्ता श्रमिक और कुछ प्रकार के प्राकृतिक साधन अपेक्षाकृत अल्प परिमाण में सुलभ होते हैं। अबाध बाजार की दाम-निर्धारण प्रक्रियाओं में इन वर्गों के विक्रेताओं की आय तदनुसार अलग-अलग ही होती है।

भूमि के भी निजी संपत्ति संस्था के अंतर्गत अनेक कारण आर्थिक असमानता पैदा करने में सहायता मिलती है। जब भूमि खरीदी गई हो, उस समय भूगर्भ में प्राकृतिक साधन दबे हो सकते हैं, जिनके परिमाण अथवा किस्म के बारे में किसी को कल्पना भी न हो। इन प्राकृतिक संसाधनों का इतने पैमाने पर दोहन किया गया हो कि उससे बहुत अधिक आय हो। इन प्राकृतिक साधनों का स्वाभाविक रूप से अभाव होता है; क्योंकि समय बीतने के साथ इनका परिमाण या किस्म बदलती नहीं है, हाँ ये समाप्त अवश्य हो जाते हैं। माँग बढ़ने से अपूरणीय प्राकृतिक साधनों की कुल संभावित पूर्ति तो बढ़ नहीं जाती, इसलिए अबाध बाजार में इनके जो दाम चढ़ते हैं, उन्हें प्राकृतिक साधनों के स्वामी अपनी जेब में डालते हैं। ज्यों-ज्यों आबादी तथा औद्योगिक गतिविधि बढ़ती है, त्यों-त्यों प्राकृतिक साधनों की माँग सामान्यतः बढ़ती जाती है। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक विकास के दौरान इस प्रकार के प्राकृतिक साधनों के स्वामी अधिक आय प्राप्त करने की विशेष सौभाग्यपूर्ण स्थिति में आ गए।

निजी संपत्ति से घनिष्ट रूप से संबंधित उत्तराधिकार की संस्था है, जो असमानता का एक और स्रोत है। कभी-कभी यह उत्तराधिकार परिवार की धन-दौलत व्यवसाय में बढ़ने का अवसर दे कर असमानता को कई पीढ़ियों तक बढ़ा देता है। अथवा यह संस्था असमानता को बनाए रख सकती है; क्योंकि संपत्ति से आय का स्रोत कई पीढ़ियों तक उत्तराधिकार में मिलता चला जाता है। कुछ अन्य मामलों में यह संभव है कि यह इतने प्रत्यक्ष रूप से काम न करे। उस अवस्था में उत्तराधिकारी प्राप्त धन से स्वयं को उत्पादक गतिविधि के लिए बेहतर ढंग से तैयार कर सकता है और स्वयं को अत्यधिक कुशल कारीगर, प्रबंधकर्त्ता या

व्यावसायिक कर्मचारी बना सकता है, जिनकी सेवाओं की अपेक्षाकृत अधिक माँग होती है।

जब तक अबाध बाजार, निजी संपत्ति और उत्तराधिकार की संस्थाएँ विद्यमान हैं, तब तक राष्ट्रीय आय के वितरण में पर्याप्त समानता नहीं आ सकती। ये संस्थाएँ पूँजीवादी अर्थतंत्र का प्रकृत अंग हैं अतः यह अर्थतंत्र ही असमानताओं का पोषक कहा जा सकता है। इस अर्थतंत्र में यदि कुछ तत्त्वों ने राष्ट्रीय आय को व्यापक पैमाने पर वितरीत करने की प्रवृत्ति दिखाई है, तो अर्थतंत्र ने पर्याप्त शक्ति वाली कुछ अन्य शक्तियाँ भी पैदा की हैं, जिन्होंने उन्हें प्रतिसंतुलित कर दिया है।

पूँजीवाद तथा अत्यधिक असमानता के बीच विद्यमान इस संबंध को इस अर्थतंत्र का एक दोष अथवा कमजोरी समझना चाहिए; क्योंकि इससे अर्थतंत्र कई तरह से अपनी उपयोगिता से भटक जाता है। जीवन-स्तर में अत्यधिक अंतर होने से वर्ग-भावना तथा वर्ग-संघर्ष पैदा होते हैं, जो उस घनिष्ट संपर्क को रोकने वाला बनता है, जो अत्यधिक जटिल अर्थ-व्यवस्था के संतोषजनक रूप से चलने के लिए बहुत आवश्यक होता है। उच्च आय वाले वर्गों के हाथ में समाज के उत्पादक तत्त्वों को अपनी इच्छानुसार चलाने का अधिकार होता है, जो उनकी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक होता है। उत्पादक साधनों के उपयोग में से कुछ उपयोग ऐसे हो सकते हैं, जिन्हें मानवीय महत्त्व की दृष्टि से ठीक न समझा जाए और इसका परिणाम अपेक्षाकृत महत्त्वहीन विलास-सामग्रियों का उत्पादन होता है, जो चंद लोगों के लिए होती है, जबकि अन्य लोगों की आवश्यकता की उन चीजों के बिना गुजर करनी होती है, जो सिर्फ संतोषजनक जीवन के लिए बड़ी आवश्यक होती है। आय की यह असमानता ही प्रदर्शनात्मक उपभोग का मूल कारण हो सकती है। इसमें व्यक्ति की इच्छा अपनी आमदनी इस प्रकार खर्च करने की होती है, जिससे प्रकट हो कि उसकी आय भी उतनी ही अधिक या उससे भी अधिक है, जितनी पड़ोसी की है। इससे भ्रष्ट उपभोग-स्तर बनते हैं जो उपभोक्ता द्वारा अपनी आय से प्राप्य वास्तविक कल्याण को कम करते हैं, फिर वह उपभोक्ता किसी भी आय-वर्ग का क्यों न हो।

आर्थिक असमानता उच्च शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा अंतरंग क्षमताओं के विकास के अवसरों में भी असमानता पैदा करती है, यद्यपि यह स्थिति संबंधित व्यक्तियों को तो महँगी पड़ती है, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात इससे उत्पन्न सामाजिक हानि की हो सकती है। ऐसे कुछ लोग जिनमें अपनी अंतर्जात योग्यता तो कम हो, किंतु जिनको प्रशिक्षण प्राप्त करने के अवसर अधिक हों तथा जिनके पास उपयुक्त संबंध आदि हों, व्यवसाय तथा उद्यमों में उन स्थानों पर पहुँच सकते हैं

जिन पर वे अन्य लोग अधिक उपयोगी रूप से पहुँच सकते थे, जिनकी अपनी योग्यता तो बहुत थी, किंतु उन योग्यताओं के विकास का अवसर या तो था ही नहीं, या बहुत थोड़ा था। इस प्रकार आर्थिक असमानता इस बात में स्थायी संदेह पैदा करती है कि समाज के सहज रूप से सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही अर्थ-व्यवस्था में सर्वाधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर पहुँच पाते हैं। यदि ऐसा नहीं हो पाया है, तो उसके परिणामस्वरूप कार्य-कुशलता तथा राष्ट्रीय आय का नुकसान होता है। व्यापक स्तर पर इस आर्थिक असमानता की सामाजिक तथा सांस्कृतिक शाखा-प्रशाखाएँ असंख्य हैं। अधिक आय प्राप्त व्यक्तियों की राजनीतिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं या संगठनों पर नियंत्रण उनकी अन्य योग्यताओं की अपेक्षा कहीं अधिक हो सकता है। यदि यह नियंत्रण इन सामाजिक शक्तियों को सामूहिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के प्रति क्रियाशील होने से रोकता है, तो स्वस्थ मानव-समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

अनर्जित आय

अनर्जित आय किसी ऐसे अन्य स्रोत से आर्थिक वस्तुएँ या क्रय शक्ति प्राप्त करना है, जो प्रतियोगितापूर्ण बाजार में निजी उत्पादक प्रयास को बेचने के अलावा हो। पूँजीवाद इस प्रकार की आय होते रहने की अनुमति दिए हुए है और कुछ मामलों में तो उसे यह जरूरी तौर पर पैदा भी करता है। इनकी विद्यमानता का अर्थ यह है कि कुछ लोग इस प्रकार से काम किए बिना रहते हैं और बहुत से मामलों में तो अच्छी तरह रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ लोग तो अपने प्रयास की तुलना में अधिक धन प्राप्त करते हैं और इसलिए अन्य लोग कम प्राप्त करते हैं; क्योंकि समग्र राष्ट्रीय उत्पादन ही व्यक्तिगत आमदनियों का एकमात्र स्रोत होता है। यदि कुछ लोग संपूर्ण उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में सहायक हुए बिना उपभोग करते हैं, तो अन्य लोगों को निश्चय ही उस समग्र राशि में उससे कम मिलता है, जितना वे उसमें जोड़ते हैं। उसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों में जो संघर्ष होने की संभावना उपस्थित होती है, उससे वह शांति तथा तथा सहयोग नष्ट हो जाता है, जो किसी जटिल अर्थ-व्यवस्था के कुशलतम संचालन के लिए आवश्यक है।

कुछ आमदनियाँ, जो पहली दृष्टि में अनर्जित लगती हैं, उनसे चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। चोरी से की गई आय वास्तव में अनर्जित होती है, लेकिन, वह स्पष्टतः गैर-कानूनी और अनौचित्यपूर्ण होती है तथा समाज उसे रोकने की चेष्टा करता है। उपहार से प्राप्त आय की भी हमें चिंता नहीं करनी चाहिए, हालांकि वह आमदनी प्राप्तकर्त्ता कमाकर प्राप्त नहीं किए होता है। जो

लोग इतने वृद्ध या इतने छोटे हैं, कि काम नहीं कर सकते या किसी अन्य कारण से कमाने के योग्य नहीं हैं, उनकी आमदनियों को भी अनर्जित नहीं समझना चाहिए। पूँजी लगाने वाला अपनी अर्जित आय में से स्वयं जो धन इकट्ठा करता तथा प्रतियोगितापूर्ण बाजार में उसे उधार देता है, उस पर मिले ब्याज को अर्जित आय समझा जाना चाहिए; क्योंकि उसे बचाने में किया गया प्रयास उसकी व्यक्तिगत उत्पादक सेवा है। वास्तव में तीन प्रकार की अनर्जित आय में वह सब शामिल हो जाता है, जो इस विवेचन से संबंधित है। तीन प्रकार की वह आय है—एकाधिकार से प्राप्त मुनाफा, भूमि या अन्य प्राकृतिक साधनों के अधिशेष से प्राप्त आय तथा उत्तराधिकार में प्राप्त धन से आय।

एकाधिकारजन्य लाभ वह शुद्ध प्राप्ति है जो प्रतियोगितापूर्ण बाजार से होने वाली आय के अलावा हो। यह लाभ इसलिए अनर्जित है; क्योंकि किसी वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन की प्रेरणा देने के लिए वह आवश्यक नहीं है। यद्यपि एकाधिकार उसका उत्पादन करने में व्यक्तिगत उत्पादक प्रयास कर सकता है, किंतु उसे प्रयास की तुलना में अधिक प्रतिफल मिलता है; क्योंकि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उसका उचित मूल्यांकन प्रतियोगितापूर्ण अथवा अबाध बाजार में किया जाता है। यद्यपि हमारी अर्थ-व्यवस्था में अनर्जित एकाधिकारजन्य लाभ प्रमुख रूप से देखने में आते हैं, तथापि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या इसका कारण पूँजीवादी प्रणाली है? एकाधिकार स्पष्ट रूप से पूँजीवाद के लिए बाह्य वस्तु है; क्योंकि पूँजीवाद की आधारभूत संस्था तो प्रतियोगिता है। संभवतः ठीक से चल रहे पूँजीवादी अर्थतंत्र में निजी एकाधिकार या तो होगा ही नहीं और होगा भी तो बहुत थोड़ा। उस अवस्था में, निजी व्यापारिक एकाधिकारों के कारण जो अनर्जित आय होती है, उसके लिए पूँजीवाद अप्रत्यक्ष रूप से ही उत्तरदायी कहा जा सकता है। भूमि के निजी स्वामित्व तथा उत्तराधिकार से प्राप्त अनर्जित आमदनियों की स्थिति सर्वथा भिन्न है; क्योंकि ये पूँजीवाद की मूलभूत तथा स्वाभाविक संस्थाएँ हैं। यदि इन संस्थाओं के होने के कारण अनर्जित आमदनियाँ होती हैं, तो उनके लिए पूँजीवादी प्रणाली उत्तरदायी है और वह इनके बिना विद्यमान नहीं रह सकता।

स्वामित्व के अधिकार के कारण ही भू-स्वामी अपनी जमीन के उपभोग के लिए प्रतियोगितापूर्ण मूल्य वसूल करता है। इन स्वामित्व-अधिकारों के इतिहास को खोजें, तो ये अधिकार शुरू में भौतिक बल के आधार पर किए गए अधिग्रहण के ही परिणाम हैं। उदाहरण के लिए पेंमिलवानिया में [illegible] मूल स्वामित्व-अधिकार विलियम पैन द्वारा दिए गए पट्टों के फलस्वरूप [illegible] पट्टे पर [illegible] का

अधिकार पैन को इंगलैंड के सम्राट् से प्राप्त हुआ था और इंगलैंड के सम्राट् को यह अधिकार इसलिए प्राप्त हुआ था; क्योंकि वह अपने स्वामित्व की, चुनौती देने वाले अमेरिकी इंडियनों से रक्षा कर सका। आज का जमीदार, यदि वह मात्र जमीदार है, तो उत्पादक प्रक्रियाओं में अपनी शक्ति का बिल्कुल प्रयोग नहीं करता। भूमि तो प्रकृति की देन है और अगर जमीदार न हो, तब भी शायद वह उत्पादक रहेगी और उपभोग करने के लिए सुलभ रहेगी। वह भू-स्वामी जो अपनी जमीन अथवा प्राकृतिक साधन के उपभोग के बदले में अधिकतम धन प्राप्त करता है, अनर्जित आय प्राप्त करता है, जिससे वह कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय के एक भाग का स्वयं उपभोग करता है, जिसके उत्पादन में वह कतई सहायक नहीं होता। भूमि ऐसी वस्तु है, जिसकी बाद में पूर्ति नहीं हो सकती, इसलिए ज्यों-ज्यों जनसंख्या तथा औद्यौगिक गतिविधि बढ़ती है, त्यों-त्यों भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी बढ़ती जाती है।

आश्रित विधवा तथा नाबालिग बच्चों को छोड़ कर उन व्यक्तियों की भी यही स्थिति होती है, जो लगायी गई पूँजी अथवा मानवनिर्मित उत्पादक वस्तुओं को उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। उत्तराधिकार में प्राप्त धन तथा उससे होने वाली आय उत्तराधिकार के लिए अनर्जित आय होती है। इस धन या आय के प्राप्तकर्त्ता ने उसे बचाने की प्रक्रिया में कोई भाग नहीं लिया है, जो धन जमा करने वाले का उत्पादक प्रयास होता है। वह अपने प्राप्त धन को उन उपभोग्य वस्तुओं में बदल सकता है जिनके उत्पादन में, उत्तराधिकारी के रूप में उसने कोई हिस्सा नहीं लिया है।

इन अनर्जित आमदनियों तथा इन्हें प्राप्त करने वाले लोगों का हमारे समाज में जो स्थान है, उसका विश्लेषण करने तथा निर्णय करने में विद्यार्थियों को अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिए। यद्यपि इनका विद्यमान होना पूँजीवादी अर्थतंत्र का एक दोष है, तथापि इसका लक्षितार्थ यह नहीं है कि इसका विद्यमान होना प्राप्तकर्त्ताओं की तरफ से किसी प्रकार का समाजविरोधी कार्य या प्रेरणा का सूचक है। जब तक आय के ये स्रोत प्राकृतिक साधनों पर निजी स्वामित्व तथा उत्तराधिकार के अंतर्गत आते हैं, तब तक आय के ये रूप सर्वथा वैध हैं और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के औचित्य के मानदंडों के अधीन ही आते हैं। यहाँ मूल्यांकन 'अर्थतंत्र' का किया जा रहा है, 'व्यक्ति' का नहीं। अनर्जित आय इस अर्थतंत्र की एक कमजोरी है, उनके प्राप्तकर्त्ताओं द्वारा किया गया सामाजिक अपराध नहीं।

यहाँ अनर्जित आमदनियों के कई अन्य पहलुओं का संक्षेप में स्पष्टीकरण कर दिया जाए। कुछ मामले ऐसे हो सकते हैं कि एक भू-स्वामी अपनी जमीन का स्वयं

प्रबंध करता है या उसके उपयोग का प्रशासनिक कार्य देखता है। वह यह निश्चय करता है कि उसकी ज़मीन का किस प्रकार उपयोग किया जाए और वह इस बात के बहुत प्रयास करता है कि उसके उत्पादक तत्त्व अनावश्यक रूप से नष्ट न किए जाएँ। इसी प्रकार एक उत्तराधिकारी उद्यमों में लगे धन की प्रबंध-व्यवस्था करता है। वह उत्तराधिकार में प्राप्त कंपनियों के हिस्से बनाए रखने को सहमत हो सकता है और समय-समय पर इस बात का गौर के साथ अध्ययन करता रह सकता है कि उस धन को एक काम से हटा कर दूसरे में लगाना ठीक होगा। भू-स्वामी तथा उत्तराधिकारी की ये या ऐसी ही गतिविधियाँ व्यक्तिगत उत्पादक सेवाएँ हैं और इनका स्पर्द्धी महत्त्व होने से इन्हें अर्नजित आय नहीं कह सकते। ऐसे भू-स्वामियों या उत्तराधिकारियों की आमदनी, जो इस इस प्रकार की सेवा नहीं करते या जिनकी आय उनकी प्रबंधकीय सेवा के स्पर्द्धी मूल्य से कहीं अधिक होती है, वह अर्नजित होती है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भूमि से होने वाली इन आमदनियों तथा उत्तराधिकार में प्राप्त आमदनियों को समाप्त नहीं किया जा सकता। जिन संस्थाओं के फलस्वरूप ये आमदनियाँ होती हैं, उन संस्थाओं को समाप्त करना पूँजीवाद को ही समाप्त करना होगा। और इन संस्थाओं को बनाए रखना, हमारे समाज के वितरण-तंत्र में अर्नजित आय के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को स्थायी रूप से बनाए रखना होगा। यहाँ तक कि पूँजीवाद के अन्यायों को ठीक करने के लिए जिस कराधान प्रणाली पर इतना अधिक भरोसा किया जाता है, वह भी इस संबंध में आंशिक रूप से ही प्रभावपूर्ण होती है। व्यक्तियों की अर्नजित आय के कुछ भागों को ही करों द्वारा उनसे लिया जा सकता है और उसे सामाजिक उपयोग में लगाया जा सकता है। लेकिन, यदि प्राकृतिक साधनों से प्राप्त अधिशेष और उत्तराधिकार में प्राप्त धन के प्रतिफल की समस्त धन-राशि करों द्वारा ले लेंगे, तो प्राकृतिक साधनों के विषय में निजी संपत्ति और उत्तराधिकार की संस्थाओं का ही तत्काल अंत हो जाएगा। ऐसा करने से पूँजीवाद की मूलभूत संस्थाओं में इतना परिवर्तन आ जाएगा कि तज्जन्य आर्थिक व्यवस्था आर्थिक जीवन में एक सर्वथा भिन्न चीज होगी।

अभाव पैदा करने को प्रोत्साहन

पूँजीवाद की यह दुर्बलता है कि अनेक अवसरों पर और अनेक तरह से यह कारखानों को उत्पादन घटाने और माल की पूर्ति कम करने को जबर्दस्त प्रलोभन देता है। इसने लाभ अभिप्रेरण को उन उद्देश्यों से सर्वथा विपरीत दिशा में चलने दिया है, जिनकी पूर्ति करने की उससे अपेक्षा की जाती है। सामान्य रूप से यह आशा की जाती है कि उत्पादन तथा उत्पादक सुविधाओं के विस्तार द्वारा लाभ

कमाया जाए, लेकिन यह लाभ उत्पादन कम करके तथा बेची हुई प्रति वस्तु पर अपेक्षाकृत अधिक लाभ ले कर भी प्राप्त किया जा सकता है। व्यापारिक उद्यमी इन अवसरों का लाभ उठाने में पीछे नहीं रहे हैं।

पूँजीवाद के इस दोष के परिमाणात्मक महत्त्व का अनुमान तो नहीं किया जा सकता, किंतु इसके विविध पहलुओं को सार रूप में देखने पर इसका सामान्य महत्त्व विदित हो जाता है। निजी एकाधिकार एक व्यापक शब्द है जिसमें विविध प्रकार के संगठन तथा अनेक प्रकार की शक्तियाँ ध्वनित होती हैं, जिनका काम उत्पादन कम करना तथा कीमतें चढ़ाना होता है जिससे निजी व्यापारिक मुनाफे अधिक हो सकें। 'अमेरिकी उद्योग में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार' नाम से प्रकाशित एक सरकारी प्रतिवेदन में आश्चर्यजनक प्रकार की एकाधिकारीय हरकतों का वर्णन है, जो हाल के दशकों में अमेरिकी व्यापारिक जगत में चालू रही हैं। इन कार्यों में निम्नलिखित की गणना की जा सकती है जिनके नाम बहुत हद तक उनकी प्रकृति को प्रकट कर देते हैं—दाम नेतृत्व, एकाधिकारीय नियंत्रण, बाजारीय प्रभुता, आधारबिंदु पर दाम-निर्धारण, मशीनों का पट्टा देना, व्यापारी संघ का नियंत्रण, बाजार की हिस्सेदारी, अंतःनिगम स्टॉक संबंध, अंतःपाशन निदेशालय, उत्पादक संघ, समूहन प्रणाली, विशिष्ट विक्रय संविदे, उत्पादन का केंद्रीयकरण, उत्पादन आबंटन, प्रकट भाव संघ, पेटेंट, दामविषयक करार, क्षेत्रीय दाम-व्यवस्था, पेटेंट की लाइसेंस की प्रणाली, उत्पादन नियंत्रण, पेटेंट की समूहन व्यवस्था तथा कच्चे माल का नियंत्रण।[१]

हाल के वर्षों में वस्तु-निर्माता तथा खनन-उद्योग के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में इनमें से एक या एकाधिक तरकीबों का एक समय या किसी दूसरे समय प्रयोग किया गया है। इन आचरणों में पड़ने वाली विशिष्ट व्यावसायिक फर्मों की यदि एक सूची बनाई जाए, तो हमारी बड़ी-बड़ी निर्माता तथा खनन फर्मों की एक खासी बड़ी पूरी की पूरी निर्देशिका ही बन जाएगी। यह जाना जा सकता है कि अधिकांश मामलों में इस आचरण के फलस्वरूप उत्पादन घटेगा, कीमतें बढ़ेंगी तथा अन्यथा संभव होने की अपेक्षा अधिक लाभ होगा।

अपव्यय

हमारी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगितापूर्ण अपव्यय के महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान रहते हैं, हालांकि उनका ठीक-ठीक परिमाण मापा नहीं जा सकता।

---

१. अस्थायी राष्ट्रीय आर्थिक समिति, कम्पटीशन ऐंड मॉनोपोली इन अमेरिकन इंडस्ट्री; मोनोग्राफ नं० २१, वाशिंगटन, अमेरिकन गवर्नमेंट प्रिंटिंग आफिस, १६४०, इन एकाधिकारीय आचरणों का विवरण इस अध्याय के विभिन्न खंडों में मिल सकेगा।

अपव्यय उस समय होता है, जब निर्धारित परिमाण एवं प्रकार के उत्पादक साधनों से उतने परिमाण से कम आर्थिक वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, जितना पैदा करने की क्षमता उत्पादक साधनों में होती है। किसी भी आर्थिक तंत्र में साधनों के उपयोग में पूर्णतम कुशलता नहीं आ सकती, इसलिए सभी आर्थिक गतिविधियों में कुछ न कुछ अपव्यय होना स्वाभाविक है। किंतु, हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में प्रतियोगिता का तत्त्व विद्यमान होने से बड़े परिमाण में लगातार अपव्यय होता रहता है। चूँकि पूँजीवाद पर्याप्त शक्तिशाली ऐसी शक्तियाँ पैदा नहीं कर पाया है, जो इस अपव्यय को समाप्त कर दे या पर्याप्त रूप से कम कर दे, इसलिए यह पूँजीवादी प्रणाली की एक कमजोरी है। इनमें से अधिकांश प्रकार के अपव्ययों का विस्तार से विश्लेषण अन्यत्र किया जा चुका है, इसलिए यहाँ उनका सार रूप में उल्लेख करने की ही आवश्यकता है।

प्रतियोगिता से औद्योगिक उपकरण तथा कर्मचारियों की अनावश्यक रूप से द्विरावृत्ति होने की एक प्रवृत्ति पैदा होती है। किसी उद्योग विशेष के प्रत्येक प्रतियोगी को उत्पादन करने के लिए मशीनों तथा श्रमिकों की पूरी व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है। अतः, वह यह सोचे बिना ही इनको प्राप्त करता है कि सभी उपलब्ध उत्पादन सुविधाओं से जितना उत्पादन हो सकेगा, क्या वह सारा का सारा बाजार में खप सकेगा? इसका परिणाम होता है, उपकरण बेकार रहते हैं और अपव्यय होता है।

कई बार एक कारखाना उत्पादक उपकरण इसीलिए हस्तगत कर लेता है, ताकि उसका प्रतियोगी उसे हस्तगत न कर ले। यह सर्वविदित तथ्य है कि तेल कंपनियाँ उस स्थान पर जो अच्छी जगह समझी जाती है, अपने तेल-केंद्र के ठीक सामने सड़क की दूसरी तरफ जमीन प्राप्त करके अपना ही सर्विस स्टेशन खोल देती हैं, जिससे उनकी प्रतियोगी कंपनी उस स्थान को प्राप्त न कर सके। इसी प्रकार खुदरा दूकानों की संख्या, जितनी आवश्यकता होनी चाहिए, उससे कहीं अधिक हो गई है। रेलवे कंपनियों ने एक दूसरे का यातायात छीनने के लिए प्रतियोगितापूर्वक उन्हीं इलाकों में दुवारा रेल लाइनें डाली हैं, जहाँ किसी अन्य कंपनी की लाइनें पहले से हैं। दूध का वितरण करने वाली आधा दर्जन कंपनियाँ एक ही नगर में उन्हीं मार्गों पर प्रतिदिन अपने वितरणकर्त्ता ट्रकों को भेज सकती हैं और हर कंपनी के पास रास्ते के षष्ठांश या इससे भी कम घरों में दूध देने का काम हो सकता है। इस प्रकार से वास्तव में कितना अपव्यय होता है, इसका अनुमान लगाना संभव नही, किंतु वह अपव्यय अधिक होना चाहिए।

प्रतियोगिता के कारण अक्सर औद्योगिक उपकरण तेजी के साथ अप्रचलनीय हो जाते हैं और इस प्रकार अपव्यय का कारण बनते हैं। वस्तुओं तथा सेवाओं की नई शैलियाँ तथा नई किस्मों का आविष्कार करके जब प्रतियोगिताजन्य लाभ प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, तो पुराने विशिष्ट उपकरणों को उनकी भौतिक उपयोगिता पूर्णतः समाप्त होने से पहले ही हटाना पड़ता है। इस प्रकार होने वाले खर्च का कुछ भाग तो उपभोक्ता की इच्छाएँ अधिक अच्छी तरह पूरी करने की औचित्यपूर्ण लागत हो सकती है, किंतु उसका अगणनीय तथा पर्याप्त बड़े भाग का अपव्यय होता है जहाँ थोड़े समय के बाद नियमित रूप से शैलियाँ बदलती रहती हैं, जिनका उद्देश्य मुख्य रूप से उपभोक्ता को यह सोचने के लिए अभिप्रेरित करना है कि उसके पास जो वस्तु है, वह प्रचलित नहीं रह गई है और उसे बदला जाना चाहिए, वहाँ विशिष्टतापूर्ण उपकरणों का अपव्यय सबसे भयंकर होता है। बताते हैं कि मोटरगाड़ी उद्योग में प्रतिवर्ष नया मॉडल बदलने के कारण किए गए परिवर्तनों पर एक वर्ष में एक अरब डालर खर्च हुआ है। यह खर्च प्रति उत्पादित कार के हिसाब से १५० डालर बैठेगा।

सच्चा तथा सूचनाप्रधान विज्ञापन उत्पादक होता है; क्योंकि यह उपभोक्ता के लिए उपयोगी होता है और उसे अपनी इच्छाएँ पूरी करने में सहायता पहुँचाता है। सचाई से रहित, भ्रामक या सूचना न देने वाले विज्ञापन अथवा अन्य विक्रय-प्रयास स्पष्टतः उत्पादक नहीं होते और इन पर किया जाने वाला खर्च संभावित उत्पादक साधनों का अपव्यय ही होता है। यद्यपि खुदरा दूकानों का समाचार-पत्रों में दिया गया अधिकांश विज्ञापन ऊपर वर्णित दृष्टिकोण से उत्पादक है, किंतु पत्रिकाओं तथा बिल बोर्डों पर और रेडियो और टेलीविजन पर सौंदर्य-प्रसाधनों, मोटरों, सिगरेटों तथा पेटेंट दवाइयों-सरीखी वस्तुओं पर किया गया अधिकांशतः प्रमाण देने वाला, उत्तेजक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चाल भरा तथा समाघातकर्त्ता विज्ञापन उपभोक्ता के लिए उपयोगी हो सकता है। यह बड़ी संदेहास्पद बात है, भले ही वह उपभोक्ता की उपभोग-रुचियों को बिगाड़ने वाला न हो। इस प्रकार के विज्ञापन को प्रतियोगितापूर्ण व्यापारिक कार्यों के एक आर्थिक अपव्यय की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। बीसवीं सदी के छठे दशक में विज्ञापन पर किया गया कुल खर्चा ८६ अरब डालर है और अकेले १९५९ ई० में तो यह ११ अरब डालर रहा है।[1]

प्रतियोगिता से प्रायः प्राकृतिक संसाधनों का अपव्यय होता है। कोयला कंपनी अन्य कंपनियों से प्रतियोगिता करने के लिए अपनी खानों से अच्छी किस्म

---

१. राष्ट्रीय औद्योगिक संमेलन बोर्ड का न्यूयार्क टाइम्स में ७ मार्च १९६० को छपा समाचार।

का और कम से कम लागत का कोयला मथ सकती है और फिर खान की खुदाई बंद कर सकती है, भले ही उनमें बहुत-सा कोयला रह गया हो, जिसे बाद में निकालना संभव न रह जाए। उस भूमि के नीचे पेट्रोल का भंडार हो सकता है, जिसके स्वामी कई व्यक्ति हों। प्रत्येक भू-स्वामी को तेल का यह भंडार निकालने का अधिकार है। जो व्यक्ति आज उस तेल को न निकाले, उसकी भूमि के नीचे से तेल निकाले जाने के कारण उसे बलात् यह निर्णय करना पड़ सकता है कि या तो वह तेल को अभी निकाल ले या फिर कभी न निकाल पाए। इसका परिणाम अक्सर यह होता है कि बहुत बड़ी संख्या में प्रतियोगिता करने वाले 'जवाबी' कुएँ खोदे जाते हैं और पेट्रोल-भंडार को इतनी तेजी के साथ निकाला जाता है, जो चालू भावों अथवा दीर्घकालीन सामाजिक आवश्यकताओं को देखते हुए अनावश्यक होता है। लकड़ी समय से पहले ही काट ली जा सकती है और जिन इलाकों से लकड़ी काटी जाती है, वहाँ पेड़ फिर से नहीं लगाए जा पाते; क्योंकि लकड़ी काटने के लिए तो प्रतियोगितापूर्ण बाजार सुलभ होता है, जबकि पेड़ लगाने के लिए नहीं। किसान प्रतियोगितापूर्ण बाजार में माल बेचने के लिए कम-से-कम लागत पर उत्पादन का प्रयास करते हैं तो जमीन की उर्वरता नष्ट हो जाती है, भू-क्षरण तथा अन्य तरीकों से जमीन खराब होने देने को प्रोत्साहन मिलता है।

संतुलन का अभाव

संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था जिस तरह से काम करती है, उसमें उसके विभिन्न विशिष्ट अंग एक दूसरे के साथ पूर्णतया स्थायी संतुलन नहीं रख पाते। इसका परिणाम होता है—आर्थिक गतिविधि और आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में अस्थायी गिरावट।

पूँजीवाद की सभी संस्थाएँ जब सुचारू रूप से काम करती हैं, तो माना जाता है कि वे अर्थ-व्यवस्था के सभी भागों का अपने-आप समन्वय करती है। उदाहरण के लिए यदि उपभोक्ताओं की इच्छा किसी वस्तु को खरीदने की कम हो जाती है, तो उसका मूल्य गिर जाता है और उसके उत्पादन में प्रमुख उत्पादक तत्त्वों को प्राप्त प्रतिफल कम होने से यह आशा की जाती है कि वे उत्पादक तत्त्व कहीं अन्यत्र अपना बेहतर उपयोग खोजने में प्रवृत्त होंगे। उत्पादक तत्त्व अप्रयुक्त होने से उनका मूल्य तब तक गिरता रहेगा, जब तक वह उस स्तर तक नहीं पहुँच जाता कि उद्यमकर्त्ता उन्हें उन अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने में प्रयोग करने की संभावना देखें जो इतने दाम पर बिक सकेंगी, जिनसे लागत निकल आए। अगर उत्पादक तत्त्व पूरी तरह सचल हैं और सब दाम अत्यधिक नम्य हैं अर्थात् माँग और पूर्ति में होने वाले हर परिवर्तन से शीघ्र ही और निश्चित रूप से बदलती हैं, तो

इस प्रकर का कुछ परिवर्तन हो जाएगा, जिससे अर्थ-व्यवस्था के सभी अगों का समन्वय होगा और उनका पूर्ण उपयोग हो सकेगा।

लेकिन, ऐसा होता नहीं है। श्रमिक विशेष प्रकार की कुशलता प्राप्त कर लेता है और कुछ भौगोलिक स्थानों में ही सीमित हो जाता है। मशीनें बहुत ही टिकाऊ सामग्री से बनती हैं और विशिष्ट कामों के लिए बनाई जाती हैं। भूमि की अलग-अलग विशेष किस्में होती हैं और विशिष्ट कामों के लिए उसे बनाया तथा ठीक किया जाता है। रीति-रिवाजों तथा मजदूर-संघों के समझौते के फलस्वरूप वेतन-दरें निर्धारित होती हैं। व्याज-दरों तथा भू-अधिशेष के विषय में भी कुछ रीति-रिवाज बन जाते हैं या इनकी दरों का निर्धारण दीर्घकालीन ऋणों अथवा अधिशेष संविदों द्वारा होता है। उपभोग्य वस्तुओं की दरें भी रिवाजों, कानूनों तथा एकाधिकारीय नियंत्रणों के कारण अनम्य हो जाती हैं। इन सब का परिणाम यह है कि उत्पादन घटकों की सचलता तथा दाम की नम्यता, जो आर्थिक गतिविधि के पूर्ण तथा अनवरत् समन्वय के लिए आवश्यक है, हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में विद्यमान नहीं होती। अर्थतंत्र के एक भाग में यदि कोई परिवर्तन होता है तो अन्य भाग इतने परिवर्तनशील नहीं होते कि वे तुरन्त उसके तदनुसार बदल सकें। इससे समन्वय तथा संतुलन में कमी आती है जो यद्यपि अस्थायी होता है, लेकिन इतना भयंकर होता है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र की एक महत्त्वपूर्ण कमजोरी बन जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, तो व्यावसायिक चक्र पूँजीवादी अर्थतंत्र की इसी कमजोरी का सूचक है। यही नहीं, यह कभी मूलभूत समझी जा सकती है; क्योंकि इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि व्यावसायिक चक्र पूँजीवादी अर्थतंत्र की संस्थाओं की कार्य-प्रणाली का परिणाम है। ये संस्थाएँ अलग-अलग रूप से अथवा संयुक्त रूप से किस प्रकार आर्थिक गतिविधि में चक्रपूर्ण उतार-चढाव पैदा करती हैं, इसका अभी तक अंतिम रूप से विश्लेषण नहीं हुआ है। लेकिन, व्यावसायिक चक्र के विद्यार्थी जानते हैं कि इन चक्रों का मूल स्रोत किसी परिवेशविशेष में उद्यमकर्त्ता के निर्णय ही होते हैं। उस विशेष परिवेश में लाभ अभिप्रेरण, वैयक्तिक पहल-शक्ति की स्वतंत्रता तथा प्रतियोगिता आदि संमिलित हैं।[1]

---

[1] व्यापारिक मंदी कितनी महँगी पड़ती है और पूँजीवाद की संस्थाओं को नष्ट किए विना व्यापारिक गतिविधि को स्थिर बनाने की संभावनाविषयक चर्चा के लिए ३३वाँ अध्याय देखिए। उस अध्याय में जो कुछ सुझाव दिए गए हैं, उन्हें देखते हुए यह प्रश्न उचित रूप से पूछा जा सकता है कि क्या व्यावसायिक चक्र को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कार्यकलाप का एक निरूढ़ सोपान समझा जाना चाहिए?

आर्थिक अरक्षा

आर्थिक अरक्षा का अर्थ मुख्य रूप से है—व्यक्तिगत आय बनी रहने के बारे में अनिश्चित स्थिति। जब तक सभी आर्थिक गतिविधि में जोखिम का तत्त्व रहता है, तब तक प्रत्येक प्रकार के अर्थतंत्र में व्यक्तियों को अरक्षा का अनुभव होगा। आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं की प्राप्ति कर पाना या न कर पाना प्रत्यक्षतः प्रकृति के रोष या तोष पर निर्भर करता था। ज्यों-ज्यों मनुष्य ने मौसम की प्रतिकूल स्थितियों का मुकाबला करने तथा वस्तुएँ संग्रहीत करने की विधियों का आविष्कार कर लिया, त्यों-त्यों आर्थिक अरक्षा के प्राकृतिक कारणों का महत्त्व कम होता गया। लेकिन, इसके साथ-साथ अन्य कारण पैदा होते गए।

ज्यों-ज्यों विशेषीकरण बढ़ता गया और उत्पादन की प्रक्रियाएँ 'अप्रत्यक्ष' होती गईं, एक नए प्रकार की आर्थिक अरक्षा प्रकाश में आई है। किसी विशेष काम को करके आजीविका कमाने वाला व्यक्ति उस कार्यविशेष में गड़बड़ी पाकर अपनी आजीविका को ही खतरे में पड़ा पाता है। अप्रत्यक्ष उत्पादक प्रक्रिया पूर्ण रूप से ठीक-ठीक काम करे, इसके लिए आवश्यक है कि उसमें संतुलन और समन्वय हो—किंतु, वह प्रक्रिया अवसर छोटी अथवा बड़ी गड़बड़ियों के कारण बाधित होती और उससे श्रमिकों की आय खतरे में पड़ जाती है। जब संभावित श्रमिक को आजीविका कमाने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता, तो उससे श्रमिक की आय में पड़े व्याघात को सटीक रूप से कहें, तो 'बेकारी' कह सकते हैं। प्रमुख प्रकार की अरक्षाओं में से यह भी एक ऐसी आर्थिक अरक्षा है जो ऐतिहासिक रूप से पूँजीवाद के साथ-साथ विद्यमान रही है।

मशीनें ज्यों-ज्यों तेज रफ्तार के साथ चलने लगी हैं और उत्पादन की व्यवस्था में संयोजन लाइन प्रणाली पूर्णता प्राप्त करती गई है, त्यों-त्यों श्रमिक के शारीरिक वल-नियंत्रण तथा स्फूर्तिवत्ता को और अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है; क्योंकि श्रमिक की ये दोनों चीजें आयु के साथ कम होती जाती हैं। इसलिए उसके लिए यह जानना मुश्किल हो गया है कि वह आधुनिक उत्पादन कारखाने में किसी काम के लिए कब इतना अधिक वड़ा हो जाएगा कि वह उस काम के लायक न रहे। मशीनों की रफ्तार और जटिलता वहुत वढ़ जाने से औद्योगिक दुर्घटनाओं की भी संख्या बहुत वढ़ गई है, जिससे श्रमिक की अर्जन-शक्ति तथा परिवार की आय कम होती है। हमारे समाज में उद्योगीकरण के साथ-साथ शहरीकरण भी हुआ है। शहरी परिवार ग्रामीण परिवार की तुलना में अपने लिए खाद्य-सामग्री का उत्पादन बहुत कम कर सकता है और अपने लिए ईंधन या अन्य उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति भी

बहुत थोड़ी कर सकता है। इस प्रकार जनता का शहरीकरण की ओर झुकाव होने से भी अधिक अरक्षा बढ़ी है । इन तमाम बातों के प्रभाव को उपभोक्ताओं की इच्छाओं की अस्थिरता ने और भी बढ़ाया है। रेडियो, सिनेमा, समाचारपत्र, पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकार कर साधनों के द्वारा आज का उपभोक्ता पुरानी उपभोग की आदतें रातों-रात छोड़कर नई आदतें अपना लेता है। बदलती माँग का उत्पादन पर जो असर पड़ता है, उससे विशिष्ट कमाने वाले श्रमिकों में अरक्षा का तत्त्व बढ़ने में मदद मिलती है।

जिन बातों से अरक्षा बढ़ी है, वे उस पूँजीवादी परिधान की ही अंग रही हैं जो संयुक्त राज्य अमेरिका में विद्यमान है। इसलिए आर्थिक अरक्षा पूँजीवाद का एक दोष है। पूँजीवाद ने अपने तत्त्वों के घात-प्रतिघात से ऐसी शक्तियों को जन्म नहीं दिया है, जो आर्थिक अरक्षा की प्रवृत्ति को पर्याप्त ढंग से रोक पातीं। यही नहीं, मानवीय दृष्टिकोण से देखें तो यह पूँजीवाद की एक गंभीरतम कमजोरी है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आय की सुरक्षा मानव की सर्वाधिक उत्कट इच्छा होती है और इसके अभाव से मूलभूत मानवीय उद्देश्य ही नष्ट हो जाते हैं। इसके परिणाम आर्थिक क्षेत्र से कहीं आगे निकल जाते हैं, जो असंख्य रूपों में पारिवारिक जीवन और अन्य सामाजिक संबंधों पर प्रभाव डालते हैं।

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, दीर्घ कालावधि में हमारी अर्थव्यवस्था ने कुल श्रमिक संख्या का करीब-करीब पूरा उपयोग किया है। लेकिन, यह पुस्तक लिखते समय वर्त्तमान प्रवृत्तियों से यह भय उत्पन्न हो रहा है कि श्रमिकों की बेरोजगारी से भविष्य में काफी अधिक अरक्षा पैदा होगी। १९४० ई० के बाद के दशक में हमारे श्रमिकों की बेरोजगारी ४.१ प्रतिशत थी। यह बेकारी करीब-करीब १९५५ ई० के आसपास तक औसतन प्रतिवर्ष ४ प्रतिशत तक बनी रही। किंतु, सन् १९६० तक के पाँच वर्षों में बढ़कर औसत पाँच प्रतिशत हो गई।

सन् १९५७ से १९५९ ई० के बीच औद्योगिक उत्पादन तथा कृषीतर उद्योगों के श्रम-नियोजन में हुई घट-बढ़ की तुलना करना बड़ा रोचक है। १९५७ ई०में औद्योगिक उत्पादन का देशनांक (सन्१९४७-४९ को आधार=१००मान कर) १५२ था। १९५८ में आई मंदी के दौरान यह घट कर १४१ रह गया। जनवरी, १९५९ तक यह देश-नांक फिर बढ़कर १९५७ई०के स्तर तक यानी १५२ पर आ गया। लेकिन,१९५७ई० तथा जनवरी, १९५९ के बीच कृषीत्तर उद्योगों में श्रमिकों की संख्या ७,७६,००० कम हो गई। इस प्रकार बेरोजगारी ६ प्रतिशत (मौसमी परिवर्तनों के साथ) थी, जबकि सन् १९५७ में ४.३ प्रतिशत थी। १९५५ के आसपास उद्योगों में शिल्प-विद्या-विषयक जो तीव्र प्रगति हुई थी, उससे यह धारण बनी थी कि दो वर्ष की अवधि

से, शिल्प-विद्याविषयक उन्नति के कारण जो मजदूर मशीनें लगाने से बेकार हुए हैं, वे हमारी अर्थ-व्यवस्था के कृषीतर भागों में बढ़ने वाली जगहों में सबके सब न खप सकेंगे। वास्तव में कृषीतर कार्यों में रोजगार पाने वालों की संख्या मई, १९५९ तक १९५७ ई० के स्तर से आगे नहीं निकल सकी जबकि मई, ५९ में औद्योगिक उत्पादन का देशनांक १६६ था। स्पष्ट है कि उद्योगों में २० प्रतिशत उत्पादन श्रमिकों की सेवा में वृद्धि हुए बिना ही बढ़ गया था।

सामाजिक विघटनकारी शक्तियाँ

पूँजीवाद मानव-स्वभाव की संग्रहकर्त्री तथा संघर्षपरायण प्रवृत्तियों पर जोर देता है और इस प्रकार उसकी परहित करने एवं सहयोग करने की भावनाओं का दमन करता है। निजी संपत्ति और लाभ अभिप्रेरण की संख्याओं के कारण लोग वस्तुएँ प्राप्त करने तथा उनका स्वामी बनने पर बहुत अधिक जोर देते हैं। वे यह प्रयास करते हैं कि संसार की वस्तुओं में से जितने अधिक भाग का प्रयोग अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना रोक पाएँ, रोकें। यह प्रयास अक्सर संघर्षशीलता की भावना के साथ किया जाता है और यह माना जाता है कि अन्य व्यक्ति शत्रु हैं—यानी कि उसके और आपके हित किसी उल्लेखनीय सीमा तक मिल नहीं सकते। प्रतियोगिता और अबाध बाजार की संस्थाओं के कारण संघर्ष और विरोध की भावना पैदा होती है। प्रत्येक व्यक्ति यह मानता है कि दूसरा व्यक्ति अपना ही भला करने की भावना लेकर चल रहा है, इसलिए वह अपने हितों को सबसे ऊपर रखना आवश्यक समझता है। इस प्रकार अधिग्रहण, आत्महित तथा संघर्ष परिस्थितिजन्य प्रमुख प्रभाब बन जाते हैं, जो हमारे मनोवैज्ञानिक विकास का स्वरूप-निर्धारण करते हैं। उपयुक्त पोषक प्रेरणाओं के अभाव में सहयोग एवं परहित की संभावित प्रवृत्तियाँ मुरझा जाती हैं तथा संघर्षपरायणता बढ़ती एवं फलती-फूलती जाती हैं। इस प्रकार विघटनकारी शक्तियों का अभ्युदय होता है, जबकि सामाजिक जीवन को साहचर्य की भावना की अपेक्षा होती है। नागरिकता तथा सामाजिक सेवाओं के जिन कार्यों में सामाजिक प्रगति के लिए सहयोगपूर्ण प्रयासों की परम आवश्यकता होती है, वहाँ सहयोग की तथा आत्मत्याग की भावनाओं के अभाव के कारण हम स्वयं को पंगु पाते हैं।

संग्रह और संघर्ष के इन प्रभावों से भी अधिक सूक्ष्म बात है कि इन सबके कारण हमारे नैतिक मानदंडों में मोड़ आ गया है। हमारे आर्थिक प्रयासों को सर्व-प्रमुख स्थान प्राप्त होने के कारण हम आर्थिक श्रेष्ठताओं को अपने मनोजगत में उच्च आसन पर विराजमान कर देते हैं। जो सबसे अधिक धन प्राप्त कर लेता है

अथवा जो आर्थिक संघर्ष में सर्वाधिक उच्च सीमा तक सफल होता है, उसी को सभी प्रकार से 'सर्वोत्तम' कहे जाने की संभावना हो जाती है । आर्थिक संघर्ष में सर्वाधिक सफलता दिलाने वाला नीति या कार्यक्रम ही सबसे अच्छा समझा जाता है। इस आर्थिक संस्थागत पृष्ठभूमि में नैतिकता के जो मानदंड बनते हैं या जो इसके अनुरूप रहते हैं वे ही अक्सर राजनीति, धर्म, परिवार, शिक्षा तथा सामाजिक जीवन के अन्य गैर-आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रसार पा जाते हैं तथा इन क्षेत्रों में भी आर्थिक क्षेत्र के समान मान्य समझे जाते हैं। इस प्रकार इन गैर-आर्थिक मामलों में वैयक्तिक और फलतः सामाजिक कार्य भी उन मूल्यों तथा नैतिक मानदंडों पर आधारित हो जाते हैं, जिनकी उपयुक्तता संदिग्ध होती है। मानवीय सौख्य तथा मानव-कल्याण की उदात्त भावनाएँ, यदि कहीं पायी भी जाती हैं, तो वे राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा अन्य संस्थाओं और हमारे समाज की अन्य कार्यविधियों में दूसरा स्थान ही प्राप्त कर पाती हैं। पूँजीवादी दुनिया में नैतिक मानदंडों पर विद्यमान यह प्राधान्य मानव-जीवन पर संकोचक प्रभाव डालता है। संघर्ष और संग्रहण वृत्तियों से जन्मा सामाजिक विघटनकारी तत्त्वों के साथ-साथ यह भी पूँजीवादी अर्थतंत्र का एक दोष अथवा कमजोरी समझा जाएगा, हालांकि स्पष्टतः इसके महत्त्व का मापन नहीं किया जा सकता।

संस्थाओं की प्रकृति के फलस्वरूप पूँजीवाद कुछ ऐसी शक्तियों को जन्म देता है, जो व्यक्तियों तथा विभिन्न व्यक्ति-समूहों को पृथक्-पृथक् रखता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरे का विरोधी तथा एक-दूसरे की तरफ से संघर्षशील बना देता है और इन भेदों को लगभग स्थायी रूप से समाज का स्थायी वर्गगत ढाँचा बना देता है। मार्क्सवादी समाजवादी इन प्रभावों को ही पूँजीवादी अर्थतंत्र के अनिवार्य आत्म-विनाश का सार समझते हैं। ये बातें इस अर्थतंत्र की कमजोरी तो हैं, लेकिन इसके लिए इतनी दूर तक जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारी समाज-व्यवस्था जितनी जटिल है, उसमें सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए सहयोग की और आत्म-त्याग की भी बड़ी आवश्यकता है। व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों को घनिष्ट सौमनस्य, एक दूसरे को अच्छी तरह समझते हुए तथा सहकारी प्रयास करने वाला बनाने के लिए अभिकेंद्री शक्तियों की आवश्यकता है।

व्यक्तिवाद

क्या इन दोषों के पीछे कोई ऐसा सामान्य तत्त्व हो सकता है, जो पूँजीवाद की मूलभूत संस्थाओं में सूत्रवत् विद्यमान हो ? जिस प्रकार व्यक्तिवाद पूँजीवाद को शक्ति देने वाला एक तत्त्व है और उसकी बहुविध सफलताओं का कारण है, उसी

प्रकार पूँजीवादी संस्थाओं का व्यक्तिवादी स्वरूप मुख्य रूप से पूँजीवाद की कमजोरियों का भी कारण है।

जब किसी व्यक्ति तथा निगम संस्था को नया उद्यम खोलना लाभप्रद लगता है तो वह दूसरे के निर्णयों की परवाह किए बिना, स्वयं अपना निर्णय करने में स्वतंत्र होने के कारण, नया उद्यम स्थापित कर देता है, भले ही उससे द्विरावृत्ति हो अथवा सामाजिक अपव्यय हो। वह व्यक्ति अथवा संस्था ऐसे निर्णय कर डालती है जो उनके लिए तो लाभप्रद होंगे चाहे कुल मिला कर निर्णयों का परिणाम सामाजिक रूप से हानिकर 'व्यापार उत्कर्ष' हो अथवा 'व्यापार अपकर्ष' ही क्यों न हो। प्रत्येक व्यक्ति आय की अंतिम सीढी तक पहुँचना चाहता है और निजी संपत्ति तथा उत्तराधिकार की संस्थाओं के द्वारा अपना स्थान अपने पुत्र के लिए सुरक्षित रखना चाहता है, भले ही इससे हानिकर स्थायी वर्ग-विभेद या वर्ग-विभाग ही क्यों न बन जाए। अगर उसे एकाधिकारीय लाभ कमाने या किसी अन्य तरह से 'अनर्जित आय' प्राप्त करने का अवसर भी मिलता है तो वह मुक्त व्यवसाय तथा पूँजीवादी संपत्ति संस्थाओं का प्रयोग इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करता है। यदि वस्तुओं की प्रचुरता के स्थान पर वस्तुओं की कमी करने से उसका हित-साधन होता है, तो पूँजीवादी संस्थाएँ उसे वस्तुओं का अभाव पैदा करने का रास्ता अपनाने की छूट देती हैं। इस प्रकार तथा अन्य अनेक तरह से पूँजीवादी संस्थाओं की व्यक्तिवादी प्रकृति ने पूँजीवादी अर्थतंत्र में ये दोष पैदा होने दिए हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. पूँजीवाद की आधारभूत कमी का क्या अर्थ है? मूलभूत कमी अन्य प्रकार की कमियों से किस प्रकार भिन्न है?

२. क्या यह आवश्यक है कि पूँजीवाद धन-संबंधी मूल्यों की प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त हो? क्या वह मानव-कल्याण की भी बात नहीं सोच सकता? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

३. यह कैसे कहा जा सकता है कि आर्थिक असमानता पूँजीवादी प्रणाली की एक कमी है? क्या यह वास्तव में मनुष्यों की योग्यताओं में विद्यमान स्वाभाविक अंतरों का परिणाम नहीं है?

४. अबाध बाजारों के होने और आर्थिक असमानता के बीच क्या संबंध है?

५. क्या यह संभव है कि पर्याप्त रूप से आर्थिक समानता ला कर भी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को बनाए रखा जा सकता है? क्यों?

६. अनर्जित आय को अर्जित आय से कैसे भिन्न किया जा सकता है?

७. पूँजीवादी अर्थतंत्र को नष्ट किए बिना क्या अनर्जित आमदनियों को समाप्त किया जा सकता है ?

८. पूँजीवादी अर्थतंत्र किस रूप में उपयोगी चीजों का अभाव पैदा करने के लिए प्रोत्साहन देता है ?

९. अपव्यय के ऐसे कुछ उदाहरण बताइए, जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के साथ घनिष्ट रूप से संबंधित हों।

१०. पूँजीवादी अर्थतंत्र समय-समय पर किन कारणों से असंतुलित हो सकता है ?

११. कभी-कभी आर्थिक असमानता को आर्थिक शक्तियों की अपेक्षा प्राकृतिक शक्तियों का परिणाम कहा जाता है, इसका क्या-क्या अर्थ है ? क्या यह सच है ?

१२. पूँजीवादी अर्थतंत्र की कमियाँ किन-किन रूपों में जीवन के गैर-आर्थिक पहलुओं को प्रभावित करती हैं ? सोदाहरण बताइए।

भाग दो के लिए छात्र-प्रतिवेदनों के विषय

१. पूँजीवाद के अंतर्गत आर्थिक और गैर-आर्थिक संस्थाओं के मध्य संबंध।

२. 'निजी संपत्ति' की संकल्पना का इतिहास।

३. संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने निजी संपत्ति संस्था में किस प्रकार से परिवर्तन किए हैं ?

४. व्यावसायिक उद्यमों पर प्रतिबंध के रूप में राज्य का पुलिस–अधिकार।

५. उत्तराधिकार करों के उत्तराधिकार संस्था पर प्रभाव।

६. किसी उद्योगविशेष में किस सीमा तक प्रतियोगिता विद्यमान है ?

७. पूँजीवाद के मूल्यांकन में दर्शन का स्थान।

८. व्यावसायिक संस्थाओं की निगम-व्यवस्था का इतिहास।

९. हमारी अर्थ-व्यवस्था में व्यावसायिक उद्यमकर्त्ताओं की संख्या का अनुमान।

१०. व्यावसायिक निर्णयों में धनेतर बातों का स्थान।

११. आर्थिक असमानता के सामाजिक परिणाम।

१२. संयुक्त राज्य अमेरिका में अनर्जित आमदनियों पर कर।

१३. किसी उद्योगविशेष में होने वाले अपव्यय का अनुमान।

१४. हमारी अर्थ-व्यवस्था के लिए 'पूँजीवाद' की अपेक्षा कुछ बेहतर नाम की खोज। (उदाहरण के तौर पर 'जन पूँजीवाद' जिसका सुझाव दिया जाता है।)

१५. उच्च शिक्षा में सहायता देने में निगमों की अधिकाधिक रूचि।

१६. व्यावसायिक जगत में नैतिक संहिता का वर्त्तमान महत्त्व।

१७. हमारे सामाजिक सुरक्षा कानूनों में आवश्यक सुधार।

भाग दो के लिए विषय आगे अध्ययन के लिए पुस्तकें

ए० ए० वर्ल; दि ट्वेन्टीयेथ सेंचुरी कैपिटलिस्ट रिवोल्यूशन, न्यूयार्क, हारकोर्ट प्रेस, १९५४।

के० ई० वौल्डिंग; दि ऑर्गेनाइजेशनल रिवोल्यूशन, न्यूयार्क, हार्वर १९५३।

एच० आर० बौयन; सोशल रेस्पोन्सिबिलिटीज ऑफ दि बिजनेस मेन, न्यूयार्क, हार्वर, १९५३।

आर० टी० बाई; सोशल इकोनॉमी एंड दि प्राइस सिस्टम, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९५०।

जे० एम० क्लार्क; आल्टरनेटिव टु सर्फडम, न्यूयार्क, क्नौफ, १९४८।

टी० सी० कोशस; दि अमेरिकन बिजनेस सिस्टम : ए हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव—१९००–१९५५, कैम्ब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७।

ए० एच० कोल; बिजनेस एंटरप्राइज इन इट्स सोशल सेटिंग, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९।

जे० ए० हौब्सन; वर्क एंड वेल्थ, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९२६ (प्रथम संस्करण, १९१४)।

सी० बी० हूबर; इकोनॉमी लिबर्टी एंड दि स्टेट, न्यूयार्क ट्वेन्टियेथ सेंचुरी फंड, १९५९।

ए० हक्सले; ब्रेव न्यू वर्ल्ड रीविजिटेड, न्यूयार्क, हार्पर, १९५८।

डी० ई० लिलिन्थल; बिग विजनेस : ए न्यू एरा, न्यूयार्क, हार्पर, १९५३।

ई० एस० मैसन; दि कॉरपोरेशन इन मॉडर्न सोसाइटी, कैब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६०।

एम० सत्वा डोरी; दि इकोनॉमिक्स ऑफ फ्रीडम अमेरिकन कैपिटलिज्म टू डे, न्यूयार्क, डबलडे, १९५९।

एस० के० तथा बी० एम० सेल्कमैन; पावर एंड मोरेल्टी इन ए बिजनेस सोसाइटी, न्यूयार्क मैक ग्रोहिल, १९५६।

जे० स्टेची; कन्टेम्पोरेरी कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, रैण्डम हाउस, १९५६।

आर० एच० टाउनी; दि एक्वीजीटिव सोसाइटी, न्यूयार्क, हारकोर्ट प्रेस, १९२०।

टी० वैब्लन; दि इंजीनियर्स एंड दि प्राइस सिस्टम, न्यूयार्क वाइकिंग, १९२१।

आर० एच० टाउनी; इक्वेलिटी, न्यूयार्क, हारकोर्ट प्रेस, १९३१।

जे० सी० वैजवुड; दि इकोनॉमिक्स ऑफ इनहैरिटेंस, लंदन, राउटलेज; १९२९।

जे० टी० वेंडजल; दि डायनेमिक्स ऑफ कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, हार्पर, १९५९।

जे० सी० वर्दी; बिग विजनेस एंड फीमैन, न्यूयार्क, हार्पर, १९५९।

डी० एम० राइट; कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, मैक ग्रोहिल, १९५१।

डी० एम० ग्राइट; डेमोक्रेसी एंड प्रोग्रेस, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९४८।

भाग ३

समाजवाद और साम्यवाद का मार्क्सवादी सिद्धांत

अध्याय ५

मार्क्स का जीवन-चरित : उनका दर्शन और इतिहास की व्याख्या

मार्क्सवादी सिद्धांत का स्वरूप

संसार के अधिकांश लोगों के लिए कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धांत एक गूढ़ पहेली थे और अब भी हैं। यद्यपि मानवीय विचारधारा पर उनका जबर्दस्त प्रभाव असंदिग्ध लगता है, तथापि बहुत से लोग उस व्यक्ति और उसके सिद्धांतों को दुराग्रहपूर्ण मानते हैं। यद्यपि संसार में करोड़ों व्यक्ति मार्क्सवाद पर हुए विचार-विमर्श में भाग लेते हैं, तथापि अपेक्षाकृत बहुत थोड़े लोगों ने मार्क्स द्वारा लिखित पुस्तकें आदि पढ़ी हैं और उन लोगों की संख्या तो और भी कम है, जिन्होंने उनको किसी सीमा तक समझा है। कुछ लोग उन्हें धार्मिक कट्टरता के साथ स्वीकार करते हैं जबकि कुछ लोग उनको बौखलाए दिमाग वाले मूर्ख का प्रणयन कह कर उनकी निंदा करते हैं। कभी-कभी इन सिद्धांतों को इतना आदर्शपरक समझा जाता है कि ये सर्वथा निरर्थक लगते हैं, जबकि कुछ लोगों ने इन्हें घोर भौतिकवादिता कह कर गर्हित समझा है। कुछ लोगों की मान्यता है कि इन सिद्धांतों का महत्त्व किन्हीं कालविशेष तथा स्थानविशेष तक ही सीमित है, जबकि अन्य लोग मार्क्सवाद में समस्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाक्रम की मूलभूत तथा सर्वव्यापी व्याख्या सुलभ पाते हैं। आधुनिक संसार के कुछ भागों में विद्यार्थियों को मार्क्स की लिखी पुस्तकें आदि पढ़ने की मनाही है; क्योंकि ये तथ्य के सर्वथा विपरीत समझी जाती हैं, जबकि अन्य मार्ग में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विचारों के अतिरिक्त अन्य सब पाखंड है। मार्क्स के 'अनुयायियों' ने उनके सिद्धांतों की व्याख्या, पुनर्व्याख्या की है, उसमें कुछ जोड़ा है तथा कुछ घटाया है और वे अनुयायी कभी इस बात पर

पूर्णतः एक मत नहीं हुए हैं कि उनका असली मंतव्य क्या था। जब वह लिख रहे थे, उस समय मार्क्स और उनके घनिष्ट सहयोगी एंगिल्स ने उन बहुत से मतों को गैर-परंपरापूर्ण बताया था, जिनमें उनके प्रशंसक स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी विचारधारा की स्पष्ट झलक देखते हैं। मृत्यु ने ही मार्क्स को उस कष्ट से बचा लिया है, जिसे जीवित होने पर वह आज मार्क्सवाद कहलाने वाले विषमांग सिद्धांतों के नाम मात्र के पिता होने के कारण भोगते।

इन सब के बावजूद अथवा संभवतः इसी कारण से, आर्थिक आंदोलनों के आधुनिक छात्र को मार्क्सवादी सिद्धांत समझने का प्रयास करना ही चाहिए। यह आधुनिक समाजवाद और साम्यवाद की सैद्धांतिक आधारशिला है। जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, मार्क्सवादी सिद्धांत को समझ पाना कोई आसान काम नहीं है। उसके व्याख्याकारों द्वारा पैदा किए विभ्रम को और भी जटिल बनाने का कारण मार्क्स की स्वयं अपनी रचनाओं में अनेकार्थता तथा अस्पष्टता का होना है। उसके सिद्धांतों की कुछ मूल बातों को उपयुक्त विवेचन किए बिना ही छोड़ दिया गया, जबकि मुख्य तर्क-सरणि की जानी-मानी शाखा-प्रशाखाओं की विस्तृत विवेचना उन्होंने की है। किसी एक पुस्तक में मार्क्स ने अपनी विचारण-पद्धति का सुव्यवस्थित, सुस्थिर तथा व्यापक विश्लेषण नहीं किया है। साम्यवादी घोषणापत्र, में जिसे उन्होंने तथा एंगिल्स ने 'लीग ऑफ कम्युनिस्ट्स' के कार्यक्रम के रूप में तैयार किया था, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा भविष्य के बारे में मोटे तौर पर शीघ्रता से निकाले निष्कर्षों का कथन तो मिलता है, किंतु उसमें कहीं भी उन निश्चयात्मक कथनों को आधार प्रदान करने वाली सूक्ष्म तर्क-पद्धति, सावधानी से विषय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को नहीं मिलती, यद्यपि स्पष्टतः मार्क्स इस प्रकार का विवेचन अपनी पुस्तक 'कैपिटल' में करना चाहते थे। किंतु, इस पुस्तक में भी बहुत कुछ अपूर्ण रह गया। मार्क्स अपनी मृत्यु से पहले इसके प्रस्तावित तीन भागों में से केवल एक ही भाग पूरा कर पाए। उनके नोटों के आधार पर एंगिल्स ने शेष दो भाग पूरे किए। इस भाग में अतिगूढ़ता, जटिल तर्क-सरणि और कुछ असंगतियाँ पाई जाती हैं। इस पुस्तक में मार्क्स ने उस विद्यमान तथा ऐतिहासिक सामग्री का निगमनिक तर्क-पद्धति के आधार पर विश्लेषण किया है, जिसे उन्होंने अपने निष्कर्षों के लिए अनुभवात्मक समर्थन समझा है।

आज जो कुछ परंपरावादी मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसका मार्क्स के साथ सौतेले बेटे-जैसा ही संबंध है, तथापि कुछ सिद्धांत ऐसे हैं, जो मार्क्सवादी विचारधारा के तंतु को जोड़ने वाले हैं। इसे संक्षिप्त रूप

में आगे के पैराग्राफों में प्रस्तुत किया जाएगा। मार्क्स के जीवन-चरित से संबंधित बातों पर प्रारंभिक दृष्टिपात करने के पश्चात् मार्क्सवाद की द्वंद्वात्मक प्रणाली और इतिहास की आर्थिक व्याख्या का अध्ययन करके हम उनके दृष्टिकोण की सामान्य प्रकृति समझेंगे। इसके बाद हम पूँजीवादी उत्पादन की मुख्य प्रक्रियाओं तथा विशिष्टताओं का मार्क्स द्वारा किया वर्णन समझेंगे। इसके बाद वस्तु के मूल्यों के उनके सिद्धांत तथा उनके मजदूरी-सिद्धांत की समीक्षा करेंगे, जो संमिलित रूप से 'बेशी मूल्य' के सैद्धांतिक अस्तित्व को बल देते हैं। इन दो सिद्धांतों के आधार पर ही पूँजीवादी निर्माण तथा पूँजी के संचय की व्याख्या होती है। इसके बाद हम उन विभिन्न परिणामों की समीक्षा करेंगे, जिनके बारे में मार्क्स का कहना है कि वे इन पूँजीवादी प्रक्रियाओं के फलस्वरूप प्रकट होते हैं और अंततः ये ही पूँजीवाद के विनाश का कारण बनेंगे। इसके बाद सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना, समाजवाद तथा सामाजिक विकास के अगले कदमों के रूप में पूर्ण साम्यवाद की स्थापना की चर्चा करेंगे। इन सब में सर्वहारा वर्ग तथा साम्यवादी दल का क्या स्थान होगा, इस पर भी प्रकाश डाला जाएगा। मार्क्सवादी सिद्धांत का विश्लेषण पूर्ण करते हुए हम उसकी शक्तियों तथा दुर्बलताओं पर भी विचार करेंगे।

कार्ल मार्क्स का जीवन-चरित

मार्क्स का परिवार तथा निवास-स्थान

समाज-विज्ञान विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल सायंसिज) में मार्क्स के जीवन के विषय में संक्षेप में यों लिखा है—'कार्ल मार्क्स (सन् १८१८-८३), सामाजिक दार्शनिक क्रांतिकारी नेता तथा आधुनिक साम्यवाद की प्रमुख धारा के संस्थापक।' उनके जीवन से संबंधित मुख्य बातें संक्षेप में नीचे दी जाती हैं—

मार्क्स का जन्म दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी में एक यहूदी परिवार में हुआ था। उनके पिता एक वकील थे और उनके पितामह जर्मन यहूदी धर्माधिकारी। उनकी माता डच यहूदी धर्माधिकारी परिवार की वंशज थी। उनके पिता की 'वकालत संपूर्ण ढंग से चल रही थी।' लेकिन, उन्हें कभी भी धन कमाने की कला नहीं आई।[1] जब मार्क्स बहुत छोटे थे, तभी उनके परिवार ने यहूदी धर्म छोड़ कर ईसाई धर्म अपना लिया।

---

[1] एम० बीयर ; दि लाइफ ऐंड टीचिंग ऑफ कार्ल मार्क्स, लंदन, पारसन्स, १९२१, पृष्ठ ३१।

आपने आरंभिक शिक्षा अपने जन्म-स्थान वाले जर्मन कस्बे में ही प्राप्त की। इसे समाप्त करके आपने एक वर्ष तक बोन विश्वविद्यालय तथा चार वर्ष बर्लिन विश्वविद्यालय में बिताए और जेना विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। अनेक वर्षों तक जर्मनी में रहने के बाद वह पेरिस चले गए। सन् १८४५ में प्रशा की सरकार ने जब आपको फ्रांस छोड़ने को विवश किया, तो तीन वर्षों के लिए ब्रूसेल्स में जा जमे। बेल्जियम सरकार ने इनकी क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से डरकर इन्हें फिर पेरिस वापस जाने पर विवश कर दिया। वाद में आप उसी वर्ष जर्मनी लौट गए और वहाँ से फिर पेरिस आए तथा अंत में सन् १८४९ में, आपने लंदन को अपना निवास-स्थान बनाया, जहाँ बस गए।

मार्क्स : पत्रकार के रूप में

१८४० ई० के बाद दस वर्षों तक वह इधर-उधर मारे-मारे फिरे जो अधिकांशतः अनिच्छापूर्वक था। मार्क्स के क्रांतिकारी सिद्धांतों से उन अस्थिरतापूर्ण वर्षों में यूरोप के देशों की सरकारें डरती थीं और अनेक बार तो वह स्वयं अपने देश में नापसंद किए जाने वाले नागरिक समझे गए तथा विदेशों में स्वयं को समान रूप से नापसंद किया जाने वाला विदेशी पाया। यही नहीं, इन वर्षों में मार्क्स की जैसे-तैसे गुजर करने वाली अवस्था में आय का प्रमुख साधन पत्रकारिता थी। जिन पत्रों के साथ इनका संबंध था, सरकारें उनका विरोध करने लगती थीं और उनकी वित्तीय स्थिति कमजोर होने के कारण वे पत्र-पत्रिकाएँ अकाल में ही कालकवलित हो जाती थीं।

बर्लिन से डॉक्टरेट प्राप्त करते ही मार्क्स ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं के लिए काम किया। किंतु, वेतनयोगी कर्मचारी के रूप में नहीं। आपके लेखन की ओर राइन प्रांत के एक उदार पत्र-संपादक का ध्यान आकृष्ट हुआ और २४ वर्ष की ही आयु में वह उसके संपादक बना दिए गए। आप एक वर्ष बाद ही इस पत्र का संपादकत्व छोड़कर चले गए और पेरिस से प्रकाशित होने वाली 'फ्रांको-जर्मन ईयर बुक्स' के संपादक बन गए, जिनका उद्देश्य सामाजिक संस्थाओं की आलोचना करना था। इस प्रायोजना के अधीन केवल एक अंक ही निकल सका और सारी योजना ही ठप हो गई। इस अंक में फ्रेडरिक एंगिल्स का एक लेख छपा था, जो

बाद में इनके घनिष्ठ सहयोगी बन गए ।[1] मार्क्स, अध्ययन और लेखन में बिताए गए एक अंतराल के बाद, फिर विरोधी नीति एक अन्य रैनिश पत्र के संपादक बन गए । एक वर्ष के बाद वित्तीय रूप से यह पत्र भी विफल हो गया और उनको जितना जिसका चुकाना था, उससे उनका सीमित धन समाप्त हो गया । इन तमाम वर्षों में तथा बाद में वह पत्रकारिता-संबंधी अन्य बहुत से छिटपुट कार्य करते रहे। यूरोप के अनेक पत्रों के लिए तो आप लिखते ही थे, साथ ही कुछ समय के लिए 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के यूरोपीय संवाददाता भी रहे ।

वित्तीय स्थिति

इन तमाम प्रयासों से मार्क्स को न तो अधिक आमदनी हुई और न कुछ स्थायी आमदनी बनी । बर्लिन विश्वविद्यालय छोड़ने के कई वर्ष पश्चात् आपने अपने ही मूलस्थान के एक प्रिवी कौंसिलर की पुत्री से बिवाह कर लिया । उनकी

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स (सन् १८२०-१८९५ ई०) सामाजिक सिद्धांत के प्रणेता और क्रांतिवादी । एंगिल्स को मार्क्स के साथ-साथ वैज्ञानिक समाजवाद का संस्थापक बनने का गौरव प्राप्त है। इनका जन्म बरमेन, जर्मनी के एक संपन्न व्यापारी परिवार में हुआ था । यद्यपि इनका लालन-पालन अत्यधिक पुजारी भावना वाले प्रोटेस्टेंट वातावरण में हुआ, तथापि इन्होंने शीघ्र ही धर्म से एकदम नाता तोड़ लिया ।...सन् १८४२ में आप जर्मनी छोड़ कर मान्चेस्टर, इंगलैंड की एक फर्म में उच्च पद पर नियुक्त हो गए, जिसमें उनके पिता के हिस्से थे। वहाँ आपने स्वतंत्र व्यवसाय प्रधान अर्थ-व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त किया ।...इन्हीं दिनों आपने चार्टिस्ट तथा ओवनाइट पत्रों के लिए लिखा । सन् १८४४ की सर्दियों में जब यह जर्मनी जाते हुए पेरिस में रुके थे, तो इनकी मार्क्स से भेंट हुई, जिन्हें वह १८४२ से जानते थे । यहीं से इनकी आजीवन मैत्री तथा घनिष्ट सहयोग का सूत्रपात हुआ ।...सन् १८४५ से १८५० ई० तक के वर्ण आपने फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम में गुजारे जहाँ आपने भूमिगत क्रांतिकारी ग्रुपों का संगठन किया और मार्क्स के साथ अनेक पुस्तकें, जिसमें कम्युनिस्ट घोषणापत्र भी शामिल है लिखने में सहयोग किया...। सन् १८५० के बाद जब यूरोप में तत्काल क्रांति होने की आशा धूमिल हो गई, तो आप अनिच्छापूर्वक इंगलैंड वापस आ गए और व्यापार करने लगे । इससे हुई आय से आपने मार्क्स की उस समय सहायता की जब वह 'दास कैपिटल' लिख रहे थे । व्यवसाय से आपने १८६९ ई० में निवृत्ति ले ली और शेष जीवन साहित्यिकता तथा व्यावहारिक क्रांतिकारी कार्यों में समर्पित कर दिया । आप प्रथम इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल के एक सदस्य थे और द्वितीय इंटरनेशनल के प्रारंभिक वर्षों से आपने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । उस अवधि में आपने मार्क्सवादी दर्शन तथा समाजवाद का विकास किया और मार्क्स की मृत्यु के बाद मार्क्स द्वारा छोड़े कच्चे मसौदे तथा नोटों के सहारे 'दास कैपिटल' पुस्तक के दूसरे और तीसरे भाग का संपादन किया ।

—सिडनी हुक, एन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल सायंसिज, भाग ५, पृष्ठ-५४०-४१

पत्नी, जो एक मध्यमवर्गीय परिवार की संतान थी, और उनकी तीन संतानें, जो धीरे-धीरे बड़ी होती गईं, वे सभी मार्क्स की इस वित्तीय अरक्षापूर्ण स्थिति भोगने की भागीदार बनीं। कभी-कभी तो उनकी हालत गरीबी तक हो जाती थी। परिवार की वित्तीय स्थिति गंभीर होने पर गिरवी-घर ही नियमित रूप से उन्हें संकट से उबारा करता था। कहते हैं कि एक बार तो उन्होंने अपनी एक पांडुलिपि के लिए, जो तैयार हो रही थी, कागज का बंदोबस्त करने के लिए अपना एकमात्र कोट तक गिरवी रख दिया था। अपने जीवन के उत्तरवर्त्ती भाग में, जो लंदन में बीता, उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई थी। यह स्थिति भी उनके अपने प्रयासों की अपेक्षा, उनके मित्रों के ही कारण थी। एक मित्र ने, जो इनकी रचनाओं से प्रभावित हुआ था, एक विरासत छोड़ी थी और काफी समय तक वह अपने सहयोगी एंगिल्स से, वार्षिक वृत्ति पाते रहे। एंगिल्स का अपना समृद्ध पारिवारिक व्यवसाय था।

मार्क्स : एक विद्यार्थी

पत्रकार के अलावा, जिन दो तंतुओं से मार्क्स का सादा जीवन संबद्ध है, वे ये हैं कि वह एक विद्यार्थी और एक क्रांतिकारी नेता रहे। सदैव और सर्वत्र ही मार्क्स एक विद्यार्थी थे। १७ वर्ष की आयु में आप बोन में कानून का अध्ययन करने के लिए भरती हुए। कानून वास्तव में उनके पिता की पसंद थी, उनकी नहीं। एक वर्ष के बाद वह बर्लिन विश्वविद्यालय चले गए, जहाँ उन्होंने अपने अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार कर लिया और दर्शन, साहित्य, इतिहास तथा कला का अध्ययन किया। इन वर्षों में आपका ध्यान लगातार कानून की तरफ से कम होता गया और वे विवश हो दर्शन की तरफ खिंचते गए। इससे तथा बौद्धिकताप्रधान कार्यों को छोड़ कर विश्वविद्यालय से अन्य सभी कार्यों से दिलचस्पी हटा लेने के कारण उनके पिता उन पर बड़े नाराज हुए और अपने पुत्र को परामर्श दिया कि वह अपने साथी छात्रों का अनुकरण करें। पिता ने उनको निम्नलिखित परामर्श दिया :—

निस्संदेह ये युवक बड़ी शांति के साथ सोते हैं और तभी रात को जगते हैं, जब वे समूची रात या उसका कुछ भाग मौज-बहार में लगाते हैं जबकि मेरा चतुर तथा प्रकृतिदत्त प्रतिभासंपन्न पुत्र कार्ल निद्रारहित रातें, थका-थका शरीर तथा दिमाग नीरस अध्ययन में लगाता है। वह जटिल अध्ययन में स्वयं को खपाने के एक मात्र उद्देश्य से सभी आनंदों से विरत रहता है। लेकिन वह आज जो बनाता है, उसे ही कल नष्ट कर देता है और अंत में वह पाता है कि उसके पास जो कुछ था, वह सब नष्ट हो गया है और अन्य लोगों से वह कुछ भी तो हासिल नहीं कर सका है। आखीरकार उसका शरीर रुग्ण रहने लगा है और दिमाग उलझन भरा

हो गया है। उसके मुकाबले ये साधारण लोग उससे आगे निकल गए हैं और अपने लक्ष्यों को उन लोगों से अधिक अच्छी तरह से नहीं, तो मजे के साथ तो प्राप्त कर ही लिया है जो यौवन के आनंदों की निंदा करते हैं तथा अपना स्वास्थ्य खराब कर लेते हैं, जिससे अभावों के भूत को भगा सकें। यह काम वह संभवतः समाज के सुयोग्य व्यक्तियों की संगति में बैठ कर अधिक अच्छी तरह कर सकते थे और इसके बदले सामाजिक आनंद प्राप्त कर सकते थे।[1]

स्पष्ट है कि पिता की यह सलाह मानी नहीं गई; क्योंकि मार्क्स, विश्वविद्यालय में अध्ययत करने के दौरान एकांतिक बुद्धिवादी बने रहे। उन्होंने अधिकांश समय दर्शन के अध्ययन में व्यतीत किया और दार्शनिक विचारधारा की सभी प्रणालियों को आत्मसात् किया। इनमें भी उन्हें मुख्य रूप से जर्मन हीगेल का दर्शन सर्वाधिक रुचिकर लगा। विश्वविद्यालय में 'ग्रेजुएट्स क्लब' ने उनको वांछित बौद्धिक संसर्ग तथा संघर्ष का अवसर प्रदान किया। वास्तव में, इस जमाने में मार्क्स को शिक्षा के क्षेत्र में ही जीविका का साधन मिल जाने की आशा थी। डॉक्टरेट लेने के बाद उन्होंने बोन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक-पद के लिए आवेदन भी किया था। अपनी क्रांतिकारी विचारधारा के कारण जव वह इस पद को प्राप्त करने में सफल नहीं हुए, तो वह पत्रकारिता की तरफ मुड़े।

यद्यपि मार्क्स जीवन भर प्रचंड विद्यार्थी बने रहे, तथापि उनका आरंभिक अध्ययन, खास कर दर्शन का अध्ययन, बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। हीगेल के दर्शन को आधारभूत रूप में स्वीकार करते समय उन्होंने कुछ धारणाएँ, मान्यताएँ तथा दृष्टिकोण वना लिए थे, जिन्होंने उनके वाद के समस्त अध्ययन को बहुत अधिक प्रभावित किया। यह सच है कि मार्क्स ने इन दार्शनिक संकल्पनाओं को शीघ्रता के साथ स्वीकार नहीं किया था, वास्तव में दार्शनिक विचारधाराओं का अत्यधिक परिश्रम और अन्वेषक दृष्टि से गहन अध्ययन करने के वाद ही वह उस आदर्श पर पहुँचे थे, जो उन्हें पर्याप्त ठीक लगा। लेकिन इसके साथ ही, यह भी सत्य है कि एक बार इस दार्शनिक विचारधारा को अपना लेने के वाद उसे उन्होंने आजीवन पर्याप्त रूप में अपरिवर्तित रखा। यद्यपि वह मानव-कार्य-व्यापारों के सर्वग्राही विद्यार्थी बने रहे, किंतु बाद के अध्ययनों के फलस्वरूप उन्होंने जो भी निष्कर्ष निकाले, वे आरंभ में निर्मित अपने दार्शनिक संकल्पनाओं के साँचे में ही फिट की गई चीजें थीं। इसलिए यह अनुमान लगाना बड़ा रोचक होगा कि खुलकर स्वीकार किए गए इन दार्शनिक सिद्धांतों के कारण क्या मार्क्स अपने समय के अन्य लोगों की अपेक्षा

---

१. एम० वीयर। पूर्वोक्त, पृष्ठ ३६

मानव-कार्य-व्यापारी के कम वैज्ञानिक तथा अधिक पक्षधर विद्यार्थी थे अथवा उन्होंने केवल अपनी रूचियों तथा दर्शन को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप से तथा अधिक स्पष्टता से अपनाया था। कम-से-कम मार्क्स यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं कि किन दार्शनिक स्तरों से उनका विश्लेषण आरंभ होता है और अपनी पूर्व-निर्धारित धारणाओं को कहीं भी सूक्षमता के साथ छिपाया नहीं गया है।

इस आरंभिक दार्शनिक अध्ययन के तत्काल बाद वाले दशक में, मार्क्स ने समकालीन समाजवादी साहित्य विशेषतः फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। उस सदी के मध्यकाल में विद्यमान सामाजिक संस्थाओं की आलोचना करते हुए बहुत-सा साहित्य प्रकाश में आया था। इन प्रभावों के कारण मार्क्स एक समाजवादी बन गए, हालांकि एक आदर्श के अर्थ में नहीं। इन अध्ययनों के आरंभिक चरण में उनका यह निश्चित मत हो गया था कि समाजवाद सामाजिक प्रक्रियाओं के परिचालन से ही आएगा और इनकी कार्य-प्रणाली को उन्हें भली-भाँति समझना चाहिए।

अपना निवास-स्थान बदलते रहने वाले दशक में मार्क्स ने स्थानीय आर्थिक अवस्थाओं का अध्ययन करते रहने और अपने निष्कर्ष को अपनी दार्शनिक विचार-शृंखला में जोड़ते रहने का हर संभव प्रयास किया। ब्रुसेल्स में अपने मित्र एंगिल्स के विशाल पुस्तकालय का पूरा-पूरा उपयोग किया। लंदन जाने और 'कैपिटल' के प्रकाशन से पहले उन्होंने दस वर्षों तक ब्रिटिश संग्रहालय में जी-तोड़ अध्ययन किया। बताते हैं कि वह संग्रहालय खुलने से ले कर बंद होने तक वहाँ जमे रहते और सदियों के दौरान विद्यमान आर्थिक प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं के विस्तृत विवरणों की गहराई के साथ खोज करते रहते।

मार्क्स पत्रकार की अपेक्षा विद्यार्थी के रूप में कहीं अधिक विशिष्टता रखते हैं। उनके जीवन की अधिकांश शक्ति तो युवाकाल में अपना निज का एक दार्शनिक ढाँचा खड़ा करने में लग गया। बाद में उन्होंने मानव-जीवन के आर्थिक पहलुओं का गहन अध्ययन किया, जिनसे उन्होंने अपने मार्क्सवादी सिद्धांत की रचना की।

क्रांतिकारी मार्क्स

मार्क्स पत्रकार के रूप में या विद्यार्थी के रूप में जितने विख्यात हैं, उतने एक क्रांतिकारी नेता के रूप में विख्यात नहीं हैं। यद्यपि उनके प्रयासों का अपेक्षाकृत थोड़ा भाग ही इसमें लगा, फिर भी श्रमिक वर्ग का संगठन ही उनके जीवन का अंतिम उद्देश्य था। यद्यपि वे श्रमिकों को उनके बंधनों से मुक्त कराने के सक्रिय संघर्ष में कूद पड़ने की आवश्यकता बहुत अधिक अनुभव करते थे और ऐसा करने की उनकी उत्कट इच्छा भी थी, तथापि इस संबंध में उनकी योग्यताएँ

अत्यल्प थीं। जब वे बर्लिन में विद्यार्थी थे, तो उनको कविताएँ और कहानियों लिखने को दी गईं। उस समय उन्होंने जो लिखा, वह संभवतः उनकी उत्कट इच्छा का ही सूचक है :—

दारुण पराधीनता में।हम करें न अरे व्यतीत,
जीवन अपना सारा का सारा रह कर भयभीत,
जब कि कार्य से अपने, या फिर आकांक्षा दुर्धर्ष,
ले कर सकते कूद और हम कर सकते संघर्ष।[1]

१८४० ई० के बाद मार्क्स जब यूरोप में कभी इधर और कभी उधर आते-जाते रहे, तो उन्होंने श्रमिकों के ऐसे असंतुष्ट वर्गों से संपर्क रखा, जो आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्यापक तथा आधारभूत परिवर्तन करना चाहते थे। सामान्यतः इन वर्गों में वे श्रमिक होते थे, जो जर्मनी से आ कर उन देशों में बसे थे। उन्होंने ढीली-सी एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था बना रखी थी, जिसका नाम था 'लीग ऑफ दि जस्ट' (औचित्यपूर्ण मार्ग अनुसरणकर्त्ता संघ), जिसके द्वारा स्थानीय स्थितियों पर विचार एक वर्ग से दूसरे वर्ग तक भेजे जाते थे। जब मार्क्स ब्रुसेल्स में थे, तो इस संस्था का उनसे संपर्क हो गया। सन् १८४७ ई० में हुए एक संमेलन में जिसमें मार्क्स (जो उस समय २९ वर्ष के थे) और एंगिल्स (जो २७ वर्ष के थे) दोनों ने भाग लिया था—इनसे लीग के लिए एक कार्यक्रम बनाने के लिए कहा गया।

बाद में इस संस्था का नाम 'लीग ऑफ कम्युनिस्ट' हुआ और मार्क्स तथा एंगिल्स ने जो कार्यक्रम बनाया, उसका नाम 'साम्यवादी घोषणापत्र' पड़ा। साम्यवादी नाम इसलिए चुना गया था जिससे लीग तथा उसका कार्यक्रम उन अन्य आदर्शवादी तथा सुधारवादी सासाजिक वर्गों से भिन्न रहे, जो उस समय समाजवादी कहे जाते थे और जिन्हें मार्क्स के सिद्धांतों के प्रति कोई आदर-भाव नहीं था।

साम्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित होने के साथ ही साथ १८४८ ई०की फ्रांसीसी क्रांति हुई। इसके थोड़े से ही समय के बाद वियना, इटली तथा जर्मन प्रांतों

---

[1] लेट अस नॉट इन बेस सब्जेक्शन
ब्रूड अवे इन आवर फीयरफुल लाइफ,
ह्वेन विद डीड ऐंड ऐस्पिरेशन
वी माइट इंटर इन दि स्ट्राइफ।

–हेनरी डब्ल्यू० लेडर द्वारा 'ए हिस्ट्री ऑफ सोशलिस्ट थॉट' न्यूयार्क, क्रावेल, १९२७ में पृष्ठ १५३ पर अंग्रेजी में उद्धृत पद्यांश का हिन्दी-अनुवाद (अनुवादक द्वारा)

जनरोष का विस्फोट हुआ, जबकि स्विट्जरलैंड और इंगलैंड में भी सरकार में जबर्दस्त परिवर्तन किए जाने की माँग की गई। इन उपद्रवों के कारण इन देशों की स्थापित सरकारों ने श्रमिक वर्ग की क्रांतिकारी गतिविधियों के सभी चिन्ह नष्ट करने के हेतु कार्रवाई की। कम्युनिस्ट लीग के नेता लोग जेलों में डाल दिए गए और संस्था भंग कर दी गई।

श्रमिक वर्ग के एक संगठन के साथ हुए इस संक्षिप्त संपर्क के बाद अनेक वर्षों तक मार्क्स ने स्वयं को लंदन में अध्ययन करने तथा लिखने में लगा दिया। लंदन में १८६४ ई०में आपने एक अंतर्राष्ट्रीय संमेलन में जर्मन श्रमिकों का प्रतिनिधित्व किया। यहाँ 'अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ' का, जिसे सामान्य रूप से 'प्रथम इंटरनेशनल' कहते हैं, आयोजन था। उस वर्ष में मार्क्स ने इस इंटरनेशनल के समक्ष अनेक भाषण किए और बहुत से पत्र भेजे तथा 'इसके सिद्धान्तों का एक वक्तव्य' तैयार किया। श्रमिक वर्ग के हितों का सबसे अच्छे ढंग से संवर्द्धन कैसे हो सकता है, इस संबंध में विभिन्न विचार रखने वाले विभिन्न गुट इस इंटरनेशनल में थे और एक समय था, जब मार्क्स के नेतृत्व में काम करने वाले गुट का उसकी नीतियों पर नियंत्रण था। इस इंटरनेशनल के द्वारा ही उन्होंने १८७१ ई०के विद्रोह में फ्रांसीसी श्रमिकों को सलाह दी थी (जिसके अनुसार आचरण नहीं किया गया)। उस वर्ष में पेरिस कम्युन के टूट जाने के बाद, मार्क्स ने जो उस समय इंटरनेशनल के महामंत्री थे, सलाह दी कि इस संस्था का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क सिटी में स्थापित किया जाए। इस संस्था के अंदर विद्यमान विवादों तथा फ्रांस में क्रांतिकारी गतिविधि की विफलता के कारण, 'इंटरनेशनल' इतना कमजोर हो गया कि सन् १८७६ में भंग ही हो गया।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि मार्क्स यह अनुभव अवश्य करते थे कि सिद्धांतों तथा संगठित क्रांतिकारी कार्यों के बीच संबंध रहने चाहिए और उन्होंने यह प्रकट दिखाया भी कि वह इस प्रकार की गतिविधियों को फैलाने में अपनी शक्तियाँ लगाने को तैयार हैं, तथापि कार्य एवं विचार-जगत की शक्तियों से एक साथ जूझने में उन्होंने स्वयं को असमर्थ पाया। इन वर्षों के अनुभवों तथा संपर्कों ने अपने सिद्धांतों का निरूपण करने में मार्क्स को महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचाई। लेकिन जिस प्रकार उनकी पत्रकारिता श्रमिक वर्ग का प्रचार करने वाला एक पत्र नहीं चला सकी, उसी प्रकार उनके संगठन-संबंधी प्रयास और नेतृत्व क्रांति करने वाला श्रमिक वर्ग का ऐसा अभिकरण तैयार करने तथा स्थायी रूप से बनाए रखने में सर्वथा विफल रहा। इस प्रकार हमारे सामने मार्क्स एक विद्यार्थी और लेखक के रूप में ही रह गए। उनके कार्यों के ये पहलू ही स्थायी सिद्ध हुए हैं और उन्होंने अपना

विश्वव्यापी प्रभाव डाला है। अतः, हम मार्क्सवादी सिद्धांत का कुछ विस्तार के साथ विचार करने की दिशा में बढ़ते हैं।[1]

दर्शन

हीगेलीय आधार

मार्क्स के विचारों का दार्शनिक आधार आरंभिक काल ही में बन गया था और सारे जीवन अपरिवर्तित रहा। विद्यार्थी के रूप में उन्होंने यह स्वीकार कर लिया था कि हीगेल का दर्शन ही विश्व के कार्य-व्यापारों का एक मात्र पक्का और पर्याप्त व्याख्या करने वाला है। उनके इस दर्शन के अनुसार 'एक मात्र स्थिर वस्तु गतिविधि को अभौतिक बनाना है।'[2] परिवर्तन एक सार्वभौम तत्त्व होता है और इस तत्त्व का एक मात्र सार्वभौम स्वरूप है पदार्थ का अभौतिक हो जाना। इस प्रकार हीगेल ने केवल उसी को वास्तविक माना था, जो मस्तिष्क में विद्यमान रहता है। वस्तुगत तत्त्व तथा घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं; उनके विषय में जो धारणाएँ मानव-मस्तिष्क में अवशिष्ट रह जाती हैं, वे ही वास्तविक हैं। यह सृष्टि पदार्थों से नहीं, विचारों से रची गई है। यह विश्व तथा उसके समस्त कार्य-व्यापार केवल मस्तिष्क में ही विद्यमान होते हैं और वहीं सब कुछ होता है और समस्त परिवर्तन विचारों का ही परिवर्तन है। अतः, विचारों में परिवर्तन आना विश्व में परिवर्तन आने का कारण है।

हीगेल के दर्शन में कोई भी विचार उनके विलोम के बिना विद्यमान नहीं रह सकता। 'प्रकाश' का भाव तब तक विद्यमान नहीं हो सकता, जब तक 'अंधकार' न हो। इसी प्रकार 'सत्य' 'असत्य' के बिना और 'उच्च' 'नीच' के बिना नहीं हो

---

[1] मार्क्स, एंगिल्स तथा लेनिन के जो बहुत से उद्धरण मार्क्सवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए दिए गए हैं, उनका उद्देश्य (१) विद्यार्थियों को इन लोगों की लेखन-शैली से परिचित कराना तथा (२) यह सुनिश्चित करना है कि मार्क्सवादी सिद्धांत शुद्ध रूप से प्रस्तुत किया जा सका है।

[2] कार्ल मार्क्स, 'दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी', 'हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म', पृष्ठ ३५५ संकलनकर्ता ई० बर्न्स की 'हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म', प्रकाशक रंडम हाउस (१९३५) मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन तथा स्टालिन की रचनाओं से लिए गए उद्धरणों का एक शानदार संकलन है। इसमें विविध पुस्तकों तथा दस्तावेजों से मूल सामग्री ली गई है और वह सामग्री संकलित करने का महत्त्व बताते हुए संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। जो विद्यार्थी मार्क्सवादी सिद्धांत का आगे अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है, इसलिए, मार्क्स की रचनाओं की जो पृष्ठ-संख्या दी गई है, सीधे 'कैपिटल' के उल्लेखों को छोड़ कर वह इस हैंड बुक से ही दी गई हैं।

सकता। यदि किसी भाव को 'पूर्व पक्ष' की संज्ञा दी जाए, तो 'उत्तर पक्ष' उसका विपर्यय होगा। फलतः इस मानसिक जगत में जहाँ विश्व वास्तव में विद्यमान होता है, असंख्य 'पूर्व पक्ष' तथा 'उत्तर पक्ष' होते हैं। इस प्रकार के विश्व में संघर्ष अथवा विरोध अनिवार्य तत्त्व है – पूर्व पक्ष तथा उसके उत्तर पक्ष का सतत् संघर्ष रहता है। इस संघर्ष में पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष का एक दूसरे के साथ घात–प्रतिघात होता रहता है और फिर एक नए तत्त्व–एक संश्लेषण का—उदय होता है। हीगेल के दर्शन के अनुसार सभी कार्य अथवा इस विश्व में होने वाले परिवर्तन पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष तथा तज्जन्य संश्लेषण के परिणाम हैं। ये सभी वैचारिक क्षेत्र से संबंधित हैं; क्योंकि वस्तुगत वास्तविकता केवल इसी क्षेत्र में विद्यमान होती है। यह प्रक्रिया सार्वभौम है और कभी समाप्त न होने वाली है। अतः, यह विश्व के अंदर सभी प्रकार के तत्त्वों को पैदा करने वाली कारण–प्रक्रियाओं का पूर्ण समाधान प्रस्तुत करती है।

मार्क्स द्वारा संशोधन

परस्परविरोधी शक्तियों के संश्लेषण के रूप में परिवर्तन के आधारभूत विचार को मार्क्स ने उस सार्वभौम सत्य का अंकुर समझा है, जिसे दार्शनिक के रूप से वह प्राप्त करना चाहते थे। फिर भी वह हीगेल की यह मान्यता स्वीकार नहीं कर सके कि यह परस्परविरोधी प्रतिपक्ष वास्तविक रूप से केवल व्यक्ति के मनोजगत में ही विद्यमान होता है। अतः, उन्होंने हीगेल के दर्शन का एक भाग ही स्वीकार किया और दूसरे भाग को ठुकरा दिया।

मार्क्स के विचार से जिस वस्तु की कल्पना मस्तिष्क कर सकता है, वह अपने-आप में एक वास्तविकता होती है। वस्तुगत विद्यमानता व्यक्ति के मनोजगत से बाहर होती है और विचार उन वाह्य तत्त्वों के प्रतिबिंब होते हैं। इसलिए जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाना है वे हैं विश्व की वस्तुगत घटनाएँ, न कि उन घटनाओं के संबंध में मनोजगत में रहने वाले विचार। अतः, यह कहा जा सकता है कि मार्क्स ने हीगेल के आदर्शवाद को अस्वीकार कर दिया और उसके स्थान पर यथार्थवाद की स्थापना की। पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष मार्क्स की दृष्टि में वास्तव में परस्परविरोधी शक्तियाँ बन गईं, जो विश्व में विद्यमान रहती हैं और संश्लेषण तज्जन्य वस्तुगत तत्त्व होता है जो कभी पूर्व पक्ष अथवा उत्तर पक्ष बन कर एक नए संश्लेषण तत्त्व को जन्म देने में अपनी भूमिका अदा करता है। उनकी यथार्थवादिता ने हीगेल की दार्शनिक विचारधारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए यह इसी बात से प्रकट है कि हीगेल के विशुद्ध आदर्शपरायण अनुयायियों के साथ मार्क्स के बहुत से संघर्ष हुए। यद्यपि हीगेल कभी भी मनोजगत के चित्रों की दुनिया से बाहर नहीं निकले, तथापि मार्क्स ने मानवीय

कार्य–व्यापार जगत की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में इस सार्वभौम सत्य का अध्ययन किया। इस प्रकार मार्क्स ने सर्वाधिक उपयोगी उपकरण के रूप में उस भावधारा को अपनाया, जिसे सामान्यतः 'मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक पद्धति' कहा जाता है, जिससे विश्व को भली प्रकार समझा जा सकता है।

मार्क्स की सीमाएँ

मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक पद्धति दो दृष्टियों से सार्वभौम व्याख्या मानी जा सकती है। एक तो यह सभी प्रकार के यथार्थ तत्त्वों की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करती है जो भौतिक, रासायनिक, खगोलीय, गणितीय, भूगर्भी तथा अन्य सभी तत्त्वों पर लागू होती है और जो विद्यमान है तथा विश्व में जो भी हलचल हो रही है,उसकी सार्वभौम व्याख्या के रूप में लागू होती है। दूसरे, इसमें विश्व के एक भाग के रूप में मनुष्य का मनोजगत भी संमिलित है जिसमें पूर्व पक्ष (प्रतिपादित पक्ष), उत्तर पक्ष तथा संश्लेषण के द्वारा होनेवाले परिवर्तन कभी समाप्त न होने वाली सृजनात्मक प्रक्रिया का कारण बनते हैं। द्वंद्वात्मक पद्धति में ऐसा कुछ नहीं है कि जो किसी श्रेणी की क्रिया को अपने परिवेश से निकाल दे और न ही ऐसा कुछ है, जो किसी एक विशेष प्रकार की क्रिया को विशेष स्थान दे, जिससे वह अन्यों की अपेक्षा अधिक सृजनात्मक अथवा निर्णयात्मक स्थिति वाली समझी जाए।

मार्क्स ने जब द्वंद्वात्मक पद्धति को अपने अध्ययनों पर लागू किया, तो सीमाएँ बाँध दीं। एक सीमा तो यह रही कि भले ही यह पद्धति सभी तत्त्वों की सार्वभौम व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ है, तथापि वह सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के क्षेत्र के बाहर इसका उपयोग नहीं करना चाहते। वास्तव में एक दार्शनिक संकल्पना को सीमित क्षेत्र के अलावा अन्यत्र गहनता के साथ प्रयोग करना संभव भी नहीं है।

इतना ही नहीं, सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के क्षेत्र के अंतर्गत एक विशिष्ट श्रेणी की क्रियाएँ दूसरे वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सृजनात्मक क्षमताओं वाली सिद्ध हो सकती हैं। इस श्रेणी में आर्थिक क्रियाएँ आती हैं और मार्क्स की शब्दावली प्रयोग करें, तो 'उत्पादन की पद्धति' इस श्रेणी में आती है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष तथा संश्लेषण मूलभूत रूप में विद्यमान रहते हैं और अन्य सामाजिक संस्थाएँ तो आर्थिक शक्तियों की शाखाएँ ही मानी जाती हैं। मार्क्स ने जिस मूलभूत दार्शनिक मान्यता से अपना विश्लेषण आरंभ किया है, उससे आर्थिक शक्तियों को अन्य शक्तियों से श्रेष्ठ नहीं समझा गया है। इसलिए उनके दृष्टिकोण के इस पहलू पर आगे विचार किया जाना चाहिए।

इतिहास की व्याख्या

मार्क्स का उद्देश्य

मार्क्स द्वारा प्रस्तुत की गई इतिहास की व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धांत का एक अभिन्न अंग है। उनका उद्देश्य भविष्य के गर्भ में झाँकना तथा यह निश्चित करना था कि पूँजीवादी अर्थतंत्र का ऐतिहासिक दृष्टि से क्या भाग्य होना है। जिन शक्तियों ने ऐतिहासिक घटनाओं को स्वरूप दिया है, उनको समझ लेने से ही उन शक्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है, जो भविष्य का स्वरूप-निर्धारण करेंगी। इसी कारण से मार्क्स ने ऐतिहासिक घटनाओं के अंतिम अथवा मूलभूत कारणों की खोज की।

मार्क्स के दिनों में इतिहास में से सृजनात्मक तत्त्वों को खोज निकालना अब की अपेक्षा अधिक नूतन तथा साहसपूर्ण बात थी। अब तो बहुत से इतिहासवेत्ता ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों का अध्ययन करने में अत्यधिक दिलचस्पी ले रहे हैं। मार्क्स ने ऐसा कुछ करने का प्रयास किया, जिसे इतिहासकार अथवा अर्थशास्त्रियों ने उस समय तक नहीं किया था। इतिहासकारों ने तो ऐतिहासिक घटनाक्रम का वर्णन किया था और अर्थशास्त्रियों ने, विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्थाओं में आर्थिक घटनाओं का निरूपण किया, जबकि उन अवस्थाओं का सृजन क्यों हुआ, इसका विश्लेषण नहीं किया गया था। मार्क्स के अनुसार जिन प्रयासों का उत्तर प्राप्त किया जाना था, उनको लेनिन ने संक्षेप में इस प्रकार लिखा है :—

"लोग अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं लेकिन उनके अभिप्रेरण में अर्थात् सामूहिक लोगों के अभिप्रेरण किस आधार पर बनते हैं, विरोधी विचारों तथा प्रयासों के कारण क्या होते हैं, समग्र समाजों के बीच विद्यमान ये संघर्ष कुल मिला कर कितने हैं, जीवन के उन भौतिक साधनों के उत्पादन के लिए जो मानव की समस्त ऐतिहासिक गतिविधि के आधार बनते हैं, वास्तविक स्थितियाँ क्या हैं तथा इन स्थितियों के विकास के क्या नियम हैं ?[1]"

यदि यह मान लिया जाए कि इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक पक्ष भी होता है, तो यह कल्पना की जा सकती है कि अर्थशास्त्रियों ने ऐतिहासिक विकास के, खास कर आर्थिक तत्त्वों के क्षेत्र में, नियमों की खोज की होगी। किंतु, मार्क्स ने देखा कि ऐसा नहीं होता। उन्होंने इस अभाव का संकेत 'दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी' नामक कृति में उन शब्दों में दिया है :—

अर्थशास्त्री बताते हैं कि उल्लिखित संबंधों की अवस्था में उत्पादन कैसे

---

[1] वी० आई० लेनिन, दि टीचिंग्स ऑफ कार्ल मार्क्स, हैंडबुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५४५।

होता है लेकिन वे यह नहीं बताते कि स्वयं वे संबंध ही कैसे पैदा हुए। अर्थात् उन्हें जन्म देने वाली ऐतिहासिक गतिविधि की वे व्याख्या नहीं करते।[1]

इतिहास की अन्य व्याख्याएँ

मार्क्स ने अपने सिद्धांत के अलावा इतिहास के दो अन्य सिद्धांतों की भी चर्चा की है, किंतु संक्षेप में ही। इन सिद्धांतों को 'आदर्शवादी' तथा 'ईश्वरवादी' कहा जा सकता है। आदर्शवादी सिद्धांत की मान्यता है कि ऐतिहासिक घटनाएँ मानवीय विचारों की कृति हैं और ये विचार ही मूल सर्जक तत्त्व हैं, जिनके जटिल मिश्रण से ही ऐतिहासिक घटनाओं का निःसरण होता है। मार्क्स ने इस व्याख्या को सर्वथा अपर्याप्त माना था। उनकी मान्यता थी कि "विचार मस्तिष्क की विशुद्ध कृति के रूप में विद्यमान नहीं रह सकते। विचार वास्तव में मानवीय मस्तिष्क में प्रतिबिंबित भौतिक जगत तथा विचारों के रूप में हुई परिणति से भिन्न कुछ नहीं है।"[2]

एंगिल्स ने इसी विचार की पुनरावृत्ति करते हुए लिखा था कि मानव-मस्तिष्क की कृतियों का अंततः विश्लेषण करके देखें, तो वे प्राकृतिक उपादानों की भाँति, शेष प्रकृति के विरोधी नहीं होतीं, वरन् उसके अनुरूप ही होती हैं[3]। आगे लिखते हुए आपने बताया कि "आदर्शवादी इस अरक्षणीय स्थिति को स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं कि "आत्मा प्रकृति से पहले विद्यमान थी।" इस स्थिति को स्वीकार करने के बाद समस्त ऐतिहासिक घटनाओं में 'सबसे महान' ऐतिहासिक घटना—विश्व की सृष्टि—का वह कोई निरूपण नहीं कर सकते थे, इसलिए वे इस या उस रूप में यह 'मान लेते' हैं कि विश्व की सृष्टि की गई थी।[4]

मार्क्स इस सिद्धांत को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे कि कोई ईश्वरीय व्यक्ति या शक्ति विश्व की नियामिका है और वही अपनी सर्वशक्तिमान् इच्छा के अनुसार ऐतिहासिक घटनाक्रम का सृजन करती है। 'दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी'

---

[1] हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३५०।

[2] 'कैपिटल' के द्वितीय संस्करण में लेखक की भूमिका (पृष्ठ २५)। 'कैपिटल' के प्रथम भाग का आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण विद्यार्थियों के लिए सबसे सुविधाजनक तथा सुलभ संस्करण है। अतः, इस पुस्तक में पृष्ठ-संख्या इसी संस्करण की दी गई हैं, अन्यथा अन्य सभी उल्लेख प्रथम भाग के ही हैं।

[3] फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक अफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५३६।

[4] फ्रेडरिक एंगिल्स, लुडविग फ्यूरबाख, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५३६। उद्धरण हमारे हैं।

नामक पुस्तक में उन्होंने इस सिद्धांत की तरफ बहुत थोड़ा ध्यान दिया। वे इस सिद्धांत को इससे अधिक का हकदार नहीं समझते थे। उन्होंने लिखा है :—

"आज इतिहास के घटनोक्रम की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए दैव, दैवी प्रेरणा-जैसे भारी-भरकम शब्द प्रयोग किए जाते हैं। वास्तव में इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है। अधिक-से-अधिक यह शब्द मात्र आलंकारिक है, यह तथ्यों को दूसरे ढंग से कहना ही है।"[1]

ईश्वरवादी सिद्धांत के प्रति अपनी पूर्ण घृणा व्यक्त करते हुए मार्क्स ने नीचे के पैराग्राफ में लिखा है कि उनके विचार में 'ईश्वरवादी इतिहास' क्या है :—

"यह सच बात है कि इंगलैंड में उद्योगों के विकास से स्कॉटलैंड में भू-संपत्ति की कीमत नए सिरे से चढ़ गई। इस उद्योग ने ऊन के लिए नए मार्ग खोल दिए। बड़े पैमाने पर ऊन का उत्पादन करने के लिए, खेती योग्य भूमि को चरागाहों में परिवर्तित करना पड़ा। जमीनों को इकट्ठा करने के लिए पहले छोटी आराजियों को समाप्त करना पड़ा, हजारों काश्तकारों को उनकी पुरानी जमीनों से हटाना पड़ा और उनके स्थान पर कुछ गड़ेरियों को रखा गया, जिनके पास दसों लाख भेड़ें थीं। इस प्रकार की स्थिति एक से दूसरी जगह में आती गई, जिसमें व्यक्ति को भेड़ों ने जमीन पर से भगा दिया। अब यह कहिए कि स्कॉटलैंड में भू-संपत्ति संस्था में दैवी इच्छा थी कि मनुष्यों को भेड़ें अपदस्थ कर दें, तभी आप दैवी प्रेरणा के इतिहास की बात कर सकते हैं।"

मार्क्स और एंगिल्स का मत

'क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में मार्क्स ने लिखा था कि :—

"अपने विश्लेषण के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कानूनी संबंधों तथा राज्य के स्वरूपों को अपने-आप नहीं समझा जा सकता और न मानव-मस्तिष्क के तथाकथित सामान्य विकास ही समझा जा सकता है। किंतु, इसके विपरीत इन सब की जड़ें जीवन की भौतिक स्थितियों में गहरी जमी हुई हैं.... नागर समाज का रचना-विज्ञान राजनीतिक अर्थशास्त्र में मिल जाएगा। मैं जिस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ—और एक बार यह निष्कर्ष निकाल लेने के बाद वह मेरे अध्ययन का मार्गदर्शक सूत्र बन गया है—वह संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है :—निर्वाह के साधनों का सामाजिक उत्पादन करने में मनुष्य निश्चित तथा आवश्यक संबंध जोड़ता है, जो उनकी स्वतंत्र इच्छा से संबंध नहीं रखते। यह

---

[1] हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३६४।

उत्पादक संबंध-श्रृंखला भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप ही होती है। इन उत्पादक संबंधों का कुल योग ही समाज के आर्थिक ढाँचे का स्वरूप बनता है। यही वह वास्तविक आधार है, जिस पर कानून तथा राजनीति का ढाँचा बनता है और सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूप भी इन्हीं के अनुसार होते हैं। "अस्तित्व के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति ही समस्त सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करती हैं।"[१]

मार्क्स के सहयोग से एंगिल्स ने मार्क्स के विचारों को ही सार रूप से दूसरे शब्दों में अपनी 'एंटी ड्यूहरिंग' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। उसमें आपने इतिहास की आर्थिक व्याख्या निम्न शब्दों में की है :—

"इस धारणा के अनुसार, समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रांतियों के अंतिम कारण मनुष्यों के मस्तिष्क में, शाश्वत सत्य तथा न्याय-संबंधी उनकी गहरी अंतर्दृष्टि में नहीं खोजे जाने चाहिए, वरन् उत्पादन पद्धति तथा विनिमय-व्यवस्था में आए परिवर्तनों में ढूँढ़े जाने चाहिए। ये कारण दर्शन में नहीं, संबंधित काल की आर्थिक प्रणाली में खोजे जाने चाहिए।"[२]

आधुनिक विद्वानों के मत

अनेक आधुनिक विद्वानों ने इतिहास के इस सिद्धांत की भली-भाँति समीक्षा की है। मार्क्स और एंगिल्स की विचारधारा से आगे, यदि कुछ लोग गए हैं, तो उनकी संख्या बहुत थोड़ी ही है। हैरी डब्ल्यू० लेडलर ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ दि सोशलिस्ट थॉट' (समाजवादी विचारधारा का इतिहास) नामक पुस्तक में इस सिद्धांत की सार रूप में व्याख्या इस प्रकार की है :—

"इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या का अर्थ यह है कि किसी कालविशेष में समाज के आर्थिक संबंध, वे साधन जिनमें स्त्री-पुरुष अपना जीवन-निर्वाह करते हैं तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुएँ पैदा करते, विनिमय करते और वितरित करते हैं, वे समाज की प्रगति की रूपरेखा निर्धारित करने और राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक संबंधों को ढालने पर जबर्दस्त प्रभाव डालते हैं।"[३]

प्रो० बौबर ने जिन्होंने 'कार्ल मार्क्स के इतिहास की व्याख्या' पर पूरी एक पुस्तक ही लिखी है, इस सिद्धांत का संक्षेप में इन शब्दों में वर्णन किया है :—

---

[१] वही, पृष्ठ ३७१-७२। उद्धरण हमारे हैं।

[२] फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म; पृष्ठ २७९।

[३] हैरी डब्ल्यू० लेडलर; उपर्युक्त, पृष्ठ १९९।

"उत्पादन इतिहास का अर्थ और इति है। बाकी सब कुछ तो निश्चय ही सुप्रकट प्रसंग से बाहर की बात है। अन्य अभिकरणों द्वारा किए गए कुछ परिवर्तनों, कुछ प्रतिगति अथवा द्रुतगति के अलावा उत्पादन की पद्धति ही इतिहास का मुख्य कारण-एकमात्र कारण रही है।"[1]

वैज्ञानिक प्रकृति

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स तथा एंगिल्स यह मानते थे कि आर्थिक शक्तियाँ भी उसी अनिवार्यता के साथ सुनिश्चित रूप से काम करती रहती हैं, जिस प्रकार प्राकृतिक नियम काम करते हैं। नीचे दो संक्षिप्त उद्धरणों से इस कथन की पुष्टि होती है :—

"प्रश्न यह है कि स्वयं ये नियम, ये प्रवृत्तियाँ अनिवार्य परिणामों की ओर दुर्धर्ष आवश्यकता के साथ बढ़ती रहती हैं। जो देश औद्योगिक रूप से अधिक विकासमान होता है, वह कम विकसित देशों को, स्वयं अपने भविष्य की एक झाँकी प्रस्तुत करता है।"[2]

"समाज में काम करने वाली शक्तियाँ ठीक उसी प्रकार काम करती हैं जिस प्रकार प्राकृतिक शक्तियाँ काम करती हैं। जब तक हम उन्हें नहीं समझते और अपने आचरण में उनका ध्यान भी नहीं रखते, तब तक ये शक्तियाँ अंधी हो कर, उग्रता के साथ विनाशक रूप से काम करती ही रहेंगी।"

मार्क्स और एंगिल्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या को ही वैज्ञानिक तथा यथार्थवादी मानते थे। जब हम उनके इस सिद्धांत की उस जमाने के अन्य सिद्धांतों से तुलना करते हैं, तो उनका यह दृष्टिकोण कुछ उचित ही प्रतीत होता है। संयुक्त रूप से लिखी 'जर्मनी आइडियोलॉजी' (जर्मन विचारधारा) नामक पुस्तक में मार्क्स तथा एंगिल्स ने इसी बात को निम्न शब्दों में प्रकट किया है :—

"इस जर्मन दर्शन के स्पष्ट प्रतिकूल जो स्वर्ग-लोक से भू-लोक पर उतरता है, यहाँ पर भू-लोक से स्वर्ग-लोक की तरफ बढ़ गया है। अर्थात् हम इस बात से शुरूआत नहीं करते कि मनुष्य क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं, क्या कल्पना करते हैं और न जिस रूप में मनुष्य का वर्णन किया जाता है, जैसे उसके बारे में सोचा या कल्पना की जाती है, न उस मनुष्य से शुरूआत करके फिर, और उसके द्वारा, हम मूर्त्त मनुष्यों तक नहीं पहुँचते। हम तो वास्तविक, सक्रिय

---

[1] एम० एम० बौबर, कार्ल मार्क्सज इंटरप्रिटेशन ऑफ दि हिस्ट्री, कैम्ब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९२७, पृष्ठ २७४। इस पुस्तक से लिए गए उद्धरणों के लिए हार्वर्ड कॉलेज के अध्यक्ष तथा सदस्यों की अनुमति प्राप्त कर ली गई है।

[2] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १३।

मानवों तथा उनकी जीवन-प्रक्रियाओं से शुरूआत करते हैं तथा सैद्धांतिक बिंबों एवं जीवन-प्रक्रिया की प्रतिध्वनियों के विकास-क्रम को चित्रित करते हैं।"[१]

और अधिक ठोस शब्दों में एंगिल्स ने मार्क्स की प्रणाली को 'सकारात्मक विज्ञान' कहा है :—

"यदि हम यह निष्कर्ष निकालें कि विश्व की व्यवस्था हमारे दिमाग से नहीं निकलती है बल्कि हमारे मस्तिष्कों द्वारा वास्तविक जगत से निकलती है, तो जो है, उससे अवस्थिति के मूलभूत सिद्धांतों का निरूपण करने के लिए हमें दर्शन की आवश्यकता नहीं है, वरन् विश्व का तथा उसमें क्या हो रहा है, इसका सकारात्मक ज्ञान होने की ही आवश्यकता है और इससे जो बात निकलती है, वह दर्शन नहीं है, वरन् सकारात्मक विज्ञान है।"[२]

उत्पादन-पद्धति का अर्थ

इतिहास की आर्थिक व्याख्या कभी-कभी उस समय असंगत लगने लगती है, जब उत्पादन-पद्धति वाक्यांश की बहुत ही संकुचित व्याख्या की जाती है। यदि हम इसका अर्थ केवल उत्पादन की विधि—अर्थात् प्रयुक्त औजारों तथा मशीनों की किस्म लेते हैं, तो यह दलील देना सर्वथा हास्यास्पद होता कि सभी सामाजिक संस्थाएँ इस संकुचित आधार के अनुसार ही स्वरूप ग्रहण करती या सामग्री लेती हैं। मार्क्स की रचनाओं में इस बात के बहुत से प्रमाण मौजूद हैं कि उत्पादन-पद्धति का अर्थ मात्र उत्पादन-विधि से कहीं अधिक व्यापक है।

मार्क्सवाद के इतिहास-सिद्धांत के कटु आलोचक प्रो० बौबर तक का कहना है कि 'उत्पादन-पद्धति' की मार्क्सवादी संकल्पना में श्रमिक तथा भूमि भी उसी प्रकार अंगस्वरूप आते हैं, जिस प्रकार उत्पादन-विधि।[३] अतः, श्रमिक तथा श्रमिकों के वर्गों की सामान्य प्रकृति श्रमिक विभाजन तथा श्रमिक सहयोग की व्यापक योजना में उत्पादन-पद्धति की विशेषता प्रकट करती है तथा उस पर जबर्दस्त प्रभाव डालती है।[४] श्रमिकों की उत्पादकता में परिवर्तन आना उत्पादन के स्वरूप पर जबर्दस्त प्रभाव डालता है। इसी प्रकार श्रमिकों के संगठन की अवस्था भी महत्त्वपूर्ण है। सुलभ प्राकृतिक साधनों यथा, किसी विशेष प्रकार की बिजली, हवा या पानी से चालित—की प्रचुरता या अभाव, अच्छी या घटिया किस्म के कच्चे मालों के होने या न होने, को

---

[१] हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २१२।

[२] फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २३४।

[३] एम० एम० बौबर, पूर्वोक्त अध्याय २१।

[४] वही पृष्ठ १७। इस पैराग्राफ का शेष भाग प्रो० बौबर के विचारों का अपनी भाषा में प्रस्तुतीकरण ही है।

भी मार्क्स की 'उत्पादन-पद्धति' विषयक संकल्पना में संमिलित किया जाना चाहिए। यही नहीं, तकनीक (विधि), श्रमिक तथा भूमि इन सब की हर विशेषता एक दूसरे को प्रभावित करती है। इस प्रकार वर्त्तमान 'उत्पादन-पद्धति' में वे तत्त्व भी संमिलित हो जाते हैं, जो मूलभूत उत्पादक तत्त्वों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों के परिणाम होते हैं।

एंगिल्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या से संबंधित अपनी धारणा को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए 'उत्पादन' और विनिमय की पद्धति में हुए परिवर्तनों[1] को सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में हुए परिवर्तन का आधार ही बना दिया है। जिस पुस्तक से यह कथन लिया गया है, उसकी समूची पांडुलिपि एंगिल्स ने मार्क्स को पढ़ कर सुनाई थी। इस बात से सिद्ध हो जाता है कि 'उत्पादन-पद्धति' की धारणा को इस प्रकार व्यापक बनाए जाने से मार्क्स सहमत थे। मार्क्स ने स्वयं "समग्ररूपेण संबंधों को समाज के आर्थिक ढाँचे का निरूपणकर्त्ता माना है। यही वह वास्तविक आधार है, जिस पर कानूनी तथा राजनीतिक भवन खड़ा होता है और सामाजिक जागरूकता सुनिश्चित प्रकारों से इसी के अनुरूप होती है।"[2]

इतिहास की आर्थिक व्याख्या को इन शब्दों में यदि व्यक्त करें तो वह मार्क्सवाद की मूल विचारधारा से बहुत भिन्न नहीं होगा। किसी स्थितिविशेष में, जिसमें कुछ प्राकृतिक साधन, मानवीय साधन तथा प्रक्रियाओं का तकनीकी ज्ञान विद्यमान होता है—उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग की आर्थिक प्रक्रियाएँ किन्हीं संस्थाओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं, जो प्राथमिक रूप से सामाजिक होती हैं; क्योंकि ये मानवों के परस्पर संबंधों से ही जुड़ी होती हैं। इन संबंधों की समग्ररूपता को, जिसमें इनके अंतर्गत होने असंख्य घात-प्रतिघात भी संमिलित हैं, कुल मिला कर उत्पादन-पद्धति कहा जाता है। इस 'उत्पादन-पद्धति' में संमिलित किसी एक या एकाधिक तत्त्व में आने वाला परिवर्तन सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में हुए परिवर्तन के रूप में प्रतिबिंबित होगा और इस प्रकार समस्त ऐतिहासिक घटनाएँ मूलभूत रूप में या प्राथमिक रूप से 'उत्पादन-पद्धति' में आए परिवर्तनों का परिणाम होंगी।

काल-संबंधी सीमाएँ

आगे चलें तो हम देखते हैं, जैसा कि जी० डी० एच० कोल[3] ने भी कहा है कि इतिहास की यह व्याख्या एक सभ्यता के अंदर की ही घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करती है। एंगिल्स भी कहते हैं कि इतिहास का यह सिद्धांत 'इतिहास के किसी काल-

---

[1] उद्धरण-चिन्ह हमारे हैं।

[2] कार्ल मार्क्स, 'क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म। पृष्ठ ३७१-३७२।

[3] जी० डी० एच० कोल, ह्वाट मार्क्स रीयली मेंट, न्यूयार्क, क्नौफ, १९३४, पृष्ठ ३५-३६।

विशेष' पर ही लागू होता है।''[१] इस प्रकार इतिहास की आर्थिक व्याख्या यह नहीं बताती कि 'समस्त' इतिहास एक ऐसी अनवरत् प्रक्रिया है, जो 'उत्पादन-पद्धति' में आए परिवर्तनों से प्रभावित होती है। उदाहरण के तौर पर इस व्याख्या से आवश्यक रूप से यह प्रमाणित नहीं होता कि प्राचीन सभ्यताएँ आर्थिक शक्तियों के आधार पर ही बदल कर आधुनिक सभ्यता के रूप में आई हैं। यह तो केवल एक ऐतिहासिक युग में घटित होने वाली ऐतिहासिक घटनाओं की निरंतरता का ही कार्य-कारण-संबंध प्रस्तुत करती है। इन सीमाओं के साथ यह इतिहास की सार्वभौम व्याख्या प्रस्तुत करती है।[२]

विशदता

'उत्पादन–पद्धति' के महत्त्व की व्यापकता समझना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक संगठन का एक भाग ही नहीं, वरन् समूचा सामाजिक संगठन ही इन आर्थिक संबंधों से निर्धारित होता है। मार्क्स के साहित्य के अनगिनत अंशों से प्रकट है कि मार्क्स का उद्देश्य भी स्पष्टतः यही था। उदाहरण के तौर पर उन्होंने लिखा था कि "नई उत्पादक शक्तियों को प्राप्त करने में लोग अपनी उत्पादन-पद्धति बदल देते हैं और उत्पादन-पद्धति बदलने में वे अपनी जीविका कमाने का ढंग ही बदल देते हैं। वे अपने 'सभी सामाजिक संबंधों को' बदल देते हैं।"[३] एंगिल्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या के इस पहलू पर निम्नलिखित उद्धरण में जोर दिया :–

"....समाज का आर्थिक ढाँचा सदैव वास्तविक मूलाधार प्रस्तुत करता है, इतिहास के किसी कालविशेष में कानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं तथा धार्मिक, दार्शनिक एवं 'अन्य विचारों का समस्त ऊपरी ढाँचा' इसी पर बनता है।"[४]

इस बात की पुष्टि में अन्य उद्धरण भी दिए जा सकते हैं कि मार्क्स तथा एंगिल्स ने जो ऊपर से कहा लगता है, उनका ऊँचा वास्तविक अभिप्राय उसी से है। न केवल सामाजिक संस्थाएँ, वरन् मनुष्य के विचार तथा उसके आदर्श भी आर्थिक मूलाधारों से उत्पन्न होते हैं। इस संबंध में कुछ प्रतिनिधि कथनों का उद्धरण दिया जा सकता है :–

"स्वयं तुम्हारे विचार बुर्जुआ ढंग के उत्पादन तथा बुर्जुआ संपत्ति की स्थितियों की अतिवृद्धि का परिणाम है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तुम्हारा न्यायशास्त्र

---

[१] एम० एम० बौबर द्वारा उद्धृत, ऊपर लिखित कृति, पृष्ठ २८३।

[२] लेकिन न तो मार्क्स ने और न एंगिल्स ने ही स्पष्ट रूप से व्याख्या की है कि 'ऐतिहासिक अवधि' अथवा 'ऐतिहासिक काल' से उनका क्या तात्पर्य है।

[३] कार्ल मार्क्स, दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३५५। उद्धरण हमारे हैं।

[४] एम० एम० बौबर द्वारा उद्धृत, ऊपर लिखित कृति, पृष्ठ २८३, उद्धरण हमारे हैं।

तुम्हारे वर्ग की इच्छा को सब पर लागू होने वाले कानून का रूप दिए जाने के अलावा और कुछ नहीं है। और उस वर्ग की अनिवार्य अवस्था तथा दिशा का निर्धारण तुम्हारे वर्ग की विद्यमान आर्थिक स्थितियों के द्वारा होता है।''[१]

''मेरा दृष्टिकोण, जिसके द्वारा समाज की आर्थिक रचना के विकास को प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, मनुष्य को उन संबंधों के लिए अन्य किसी की अपेक्षा कम जिम्मेदार ठहराएगा, जिनका वह सामाजिक रूप से एक प्राणी रहता है, भले ही वह अपने को उन सबसे चाहे कितना ही ऊपर क्यों न उठाए।''[२]

''हमारी यह मान्यता है कि····सभी पूर्ववर्त्ती नैतिक सिद्धांत अंततः उस आर्थिक अवस्था के परिणाम हैं, जिसमें वह समाज उस कालविशेष में पहुँच चुका था।''[३]

''विचारों का इतिहास इस बात के अलावा और क्या सिद्ध करता है कि बौद्धिक उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन उसी अनुपात में आता है, जिसमें भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है।''[४]

लेकिन, डेस्कर्टिस से हीगेल और हौब्स से फ्यूरवास तक आने की लंबी कालावधि में दार्शनिक विशुद्धतः तर्कशक्ति से प्रेरित नहीं हुए थे, जैसा कि वे समझते थे। इसके विपरीत जिस चीज ने उन्हें आगे बढ़ने में प्रवृत्त किया, वह थी प्राकृतिक विज्ञान तथा उद्योग की जबर्दस्त तथा लगातार तेजी से बढ़ती चली गई प्रगति।[५]

आर्थिक शक्तियों का अन्य शक्तियों के साथ संबंध

मार्क्सवादी सिद्धांत के विद्यार्थियों को सर्वाधिक परेशानी इस प्रश्न से होती है कि क्या मार्क्स का उद्देश्य आर्थिक शक्तियों को ऐतिहासिक घटनाक्रम का एकमात्र निर्धारक तत्त्व मानना था अथवा अन्य अनेकविध शक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति मानना भर था ? मार्क्स का इरादा सर्वथा स्पष्ट था। वह इतिहास की कारणवत्ता की किसी व्याख्या से तब तक संतुष्ट होने वाले नहीं थे जब तक कि वह प्रमुख, मौलिक या अंतिम रूप से कारण न हो। इसी दृष्टि से 'उत्पादन के संबंध' अथवा उत्पादन-पद्धति इतिहास का चरम तत्त्व बन गई। इस मान्यता को कमजोर बताते हुए मार्क्सवादी

---

१. साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ४१।

२. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १५।

३. फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक आफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २४६।

४. साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ४४।

५. फ्रेडरिक एंगिल्स, लुडविग फ्यूरबास, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २१८।

सिद्धांत में संशोधन करना तो इतिहास की उस संकल्पना को नष्ट करना है, जो समस्त मार्क्सवादी विचारधारा में निरंतरता लाने के लिए अत्यधिक आवश्यक है।

तथापि इसी प्रकार की, घातक रूप से कमजोर बनाने वाली मार्क्स की व्याख्याएँ लगातार की जा रही हैं। उदाहरण के लिए जी० डी० एच० कोल ने, पहले विचार किए गए एक प्रकरण में कि—मानव के विचार आर्थिक शक्तियों से ही जन्में हैं—मार्क्स की विचारधारा की व्याख्या करते हुए कहा है कि "स्थिति एक प्रेरणा का काम करती है; क्योंकि वह उस प्रारंभिक विंदु का संकेत करती है, जिससे हम समस्याओं की अंतिम रूप से व्याख्या कर सकते हैं और वही आवश्यकता की भावना पैदा करती है। लेकिन प्रेरणा से अनिवार्य रूप से कार्य होना आवश्यक नहीं। संसार में ऐसी कितनी ही प्रकार की प्रेरणाएँ हैं, जो बाँझ ही रह जाती हैं।"[1] इस कथन से मार्क्सवादी सिद्धांत पूर्णरूप से अमान्य-सा हो जाता है; क्योंकि श्री कोल के कथन का फलितार्थ यह है कि कुछ गैर-आर्थिक शक्तियाँ यह निश्चय कर सकती हैं कि किसी स्थितिविशेष में कौन सी प्रेरणा का परिणाम निकलेगा और किस प्रेरणा का नहीं। इसके विपरीत यदि हम यह मान लें कि आर्थिक शक्तियाँ यह निर्धारित करती हैं कि कौन सी प्रेरणा कारगर रहेगी तथा कौन सी नहीं; तो यह 'स्थिति', जो श्री कोल के अर्थ में आर्थिक होगी, न केवल 'प्रेरणा' का काम करेगी, वरन् भाव की निर्धारण-कर्त्री भी होगी। इस कथन के द्वारा या तो श्री कोल विचारों का आर्थिक शक्तियों से जन्म होने के मार्क्सवादी सिद्धांतों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं अथवा वे इसे स्वीकार तो करते हैं, किंतु इस सिद्धांत को उन्होंने अधिक रुचिकर भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है। जो भी बात हो, उन्होंने मार्क्स के सिद्धांत में कोई औचित्य-पूर्ण व्याख्या जोड़ी नहीं है।

आर्थिक शक्तियों का अप्रत्यक्ष कार्य

मार्क्सवाद के कुछ छात्र यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होते कि इतिहास में आर्थिक शक्तियों का क्या स्थान है। इस बारे में मार्क्स ने जो लिखा है, वैसा ही मानने की उनकी मंशा थी। यह स्थिति इसलिए उपस्थित होती है; क्योंकि ये छात्र यह समझ नहीं पाते कि उत्पादन-पद्धति और सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं का संबंध मार्क्स के विचार से, अनिवार्य रूप से तात्कालिक, प्रत्यक्ष या साधारण रूप से समझ में आने वाला नहीं है। मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के विकासमान स्वरूप पर जोर दिया है और विकासपरक परिवर्तन की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। इस प्रकार यह परिवर्तन गौण रूप

---

[1] जी० डी० एच० कोल; ऊपर उल्लिखित कृति, पृष्ठ ९७।

से और निश्चय ही अवचेतन रूप से होता है कि विकासपरक प्रक्रियाओं के आदि तथा अंत, प्रक्रिया के किसी एक सोपान में द्रष्टा को दिखाई नहीं देते हैं।

आर्थिक शक्तियों के काम करने में समय का लगना स्वाभाविक है, उसमें अप्रत्यक्षता तथा एक अदृश्यता आना निश्चित है, जिसकी मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की आर्थिक व्याख्या में परिकल्पना कर ली गई है। उदाहरण के तौर पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या के अनुसार यह आशा करना उचित नहीं कि किसी नए आविष्कार के होते ही पूर्ण आकार में वे आर्थिक संबंध तत्काल ही पैदा हो जाएँगे, जो अंततः आगे चल कर उनके परिणामस्वरूप बन सकते हैं। आविष्कार किसी एक स्थिति में होते हैं और वह स्थिति संस्थाओं—नैतिक, कानूनी, राजनीतिक तथा अन्य बातों—से मिल कर उत्पन्न होती है। मार्क्स मानते हैं कि ये सब धीरे-धीरे बदलती है। इसलिए यह दलील देना मार्क्सवादी सिद्धांत के सर्वथा अनुरूप है कि गैर-आर्थिक सामाजिक संस्थाएँ समय के उस अंतराल पर काफी प्रभाव डाल सकती हैं, जो किसी आविष्कार के परिणामस्वरूप आने वाले परिवर्तनों में लग सकता है। इस प्रकार समय की दृष्टि से गैर-आर्थिक तत्त्व काम कर रहे हो सकते हैं, जो उत्पादन-पद्धति से आए परिवर्तनों तथा सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं में आने वाले तज्जन्य परिवर्तनों के बीच विद्यमान महत्त्वपूर्ण कार्य-कारण-संबंधों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डालते।

दूसरे शब्दों में मार्क्सवाद के इतिहास-सिद्धांत पर प्रभाव डाले बिना ही गैर-आर्थिक संस्थाएँ काम कर रही हो सकती हैं। इस सिद्धांत में इस बात को अस्वीकार नहीं किया गया है कि मूलभूत आर्थिक शक्तियों से एक बार गैर-आर्थिक संस्थाएँ स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाने पर वे स्वतंत्र शक्तियों के रूप में 'उत्पादन-पद्धति' में परिवर्तन लाने का काम करती रहती हैं। विचार-जगत में पुनः लौटें, तो एंगिल्स का कहना है कि समानता का भाव ही उस ऐतिहासिक विकास-क्रम का परिणाम है, जिसमें आर्थिक शक्तियाँ प्रमुख भूमिका अदा करती हैं।[1] लेकिन, एक बार 'समानता' का विचार मनुष्य के दिमाग में एक निश्चित स्थान बना ले, तो वह उत्पादन-पद्धति में हुए किसी परिवर्तन के परिणाम में परिवर्तन ला सकता है। 'समानता' का यह विचार, जो स्वयं आर्थिक शक्तियों की संतान है—उस विधि में पर्याप्त संशोधन प्रस्तुत कर सकता है, जिससे कि आविष्कर्त्ता या समाज किसी आविष्कार का प्रयोग कर सकते हैं। किंतु, यहाँ ध्यान में रखने की बात यही है कि इस मामले में भी आर्थिक शक्तियाँ ही अब भी प्रमुख शक्तियाँ हैं, जो उन विचारों को

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स, 'ऐंटी ड्यूहरिंग,' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २५४।

जन्म देकर अप्रत्यक्ष रूप से काम करती हैं, जो बाद में सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं को निर्धारित करने वाले आर्थिक तत्त्वों के कार्य में संशोधन ला देती हैं। जब हम विद्यमान उन संस्थाओं के बीच जो पहले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक शक्तियों से उत्पन्न हुई थीं एक दूसरे पर आश्रित अनंत प्रकार के संबंध होने तथा उनकी प्रक्रियाएँ होने और 'उत्पादन-पद्धति' में परिवर्तन होने की बात स्वीकार कर लेते हैं, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मार्क्स का अध्ययन करने वाले छात्र आर्थिक शक्तियों के परिणामों की इस अप्रत्यक्षता को भ्रमवश उन शक्तियों का विद्यमान होना समझ लेते हैं, जिन्हें वे स्वतंत्र गैर-आर्थिक प्रमुख कारण-शक्तियाँ मानते हैं।

एंगिल्स ने इस बात को इतनी स्पष्टता तथा अधिकार के साथ कहा है कि उनकी कृतियों से निम्न अंश उद्धृत करना सर्वथा समीचीन होगा :—

"इतिहास की भौतिकतावादी संकल्पना के अनुसार उत्पादन तथा वास्तविक जीवन का पुनरुत्पादन अंततः इतिहास का निर्धारक तत्त्व होता है। न मैंने और न मार्क्स ने इससे अधिक कुछ माना है। अब यदि कोई आ कर इसे तोड़-मरोड़ कर यह अर्थ निकालता है कि आर्थिक तत्त्व ही एक मात्र निर्धारक तत्त्व हैं, तो वह पूर्व-कथन को निरर्थक, अमूर्त्त तथा असंगत वाक्यांश बना देता है। आर्थिक स्थिति मूल आधार है। किंतु ऊपरी ढाँचे के विभिन्न तत्त्व वर्ग-संघर्षों के विभिन्न राजनीतिक स्वरूप तथा उनके परिणाम यथासंविधान आदि जो विजयी वर्ग, कठिनाई के साथ—जीते संघर्षों के बाद स्थापित करते हैं, कानूनी स्वरूप और इन समस्त वास्तविक संघर्षों के संघर्षरत व्यक्तियों के मस्तिष्क में विद्यमान प्रतिबिंबों, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक संकल्पनाएँ, जो विकसित होकर व्यवस्थापूर्ण मतों का रूप ले चुकी हैं—ये सब ऐतिहासिक संघर्षों की धारा पर प्रभाव डालते हैं और अनेक बार तो अधिकांशतः उनके स्वरूप तक का निर्धारण करते हैं। ये सभी तत्त्व एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, जिनमें से अनंत आकस्मिकताओं के (अर्थात् उन वस्तुओं और घटनाओं को जिनका एक दूसरे के साथ आंतरिक संबंध इतना दूरस्थ होता है अथवा उसे सिद्ध करना बहुत मुश्किल होता है कि हम उनकी उपेक्षा कर सकते हैं और उनका न होना ही मान लेते हैं) मध्य आर्थिक आंदोलन एक आवश्यक तत्त्व बन कर उदित होता है। यदि ऐसा न होता, तो इस सिद्धांत को किसी ऐतिहासिक काल पर लागू करना प्रथम कोटि के साधारण समीकरण को हल करने से भी कहीं अधिक सरल होता।"[1]

---

[1] सिडनी हुक की 'ट्वार्ड्स दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ कार्ल मार्क्स', न्यूयार्क, डे, १९३३, पृष्ठ १७९ पर उद्धृत।

इसी प्रकार की गड़बड़ीयुक्त अस्पष्टता इस बात से पैदा होती है कि सामाजिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं का विकास अकल्पनीय सोपानों में अकल्पनीय कार्य-कारण-संबंधों द्वारा संपन्न होता है। उदाहरण के तौर पर अनेक लेखकों ने लिखा है कि किस प्रकार प्रोटेस्टेंट धर्म का उदय धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में उस जमाने में काम कर रही आर्थिक शक्तियों का परिणाम हो सकता है। 'स्पष्ट है कि यदि इस प्रकार का कोई कार्य-कारण-संबंध विद्यमान भी था, तो उसकी कल्पना उस संघर्ष में भाग लेने वाले लोगों ने नहीं की थी। उनके लिए धार्मिक समस्याएँ विशिष्ट समस्याएँ थीं और जो परिवर्तन आए, वे स्वयं विकासशील एक संस्था का अंगमात्र थे, जो उस समय पूरी की जाने वाली आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक ऊँची आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उदित हुए थे। फिर भी, यह ऐतिहासिक घटना स्वयं संस्था के संबंध में बनी कुछ मानसिक आकृतियों से इतनी अधिक ढँकी रही है, इस बात से ही ये अकल्पनीय परिवर्तन का मूल कारण नहीं बन जाते और न ही कारण-शक्तियों की मूलभूत प्रकृति को बदल सकते हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. आधुनिक आर्थिक आंदोलनों तथा अर्थतंत्रों के छात्र को मार्क्सवादी सिद्धांत से क्यों परिचित होना चाहिए ?

२. मार्क्सवादी सिद्धांत की सब कुछ को समेटने की शक्ति कुछ अनिश्चित है। किस दृष्टि से और क्यों ?

३. क्या आप यह कहेंगे कि मार्क्स सीमित या व्यापक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति थे ? संसार के दिन-प्रतिदिन के व्यापक या सीमित अनुभव वाले व्यक्ति थे ? वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक मानसिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे ?

४. मार्क्स के समस्त सिद्धांत किस मूलभूत मान्यता अथवा स्थिति से उत्पन्न हुए हैं ? क्या मार्क्स की यह मान्यता अपनी मौलिक वस्तु थी ?

५. 'इतिहास की व्याख्या' का क्या अर्थ है ? क्या मार्क्स यह मानते थे कि इतिहास की एक ही व्याख्या हो सकती है या बहुत-सी व्याख्याएँ हो सकती हैं ? क्या आप इससे सहमत हैं ?

६. मार्क्स 'उत्पादन-पद्धति' वाक्य-खंड का क्या अर्थ लगाते थे और इसका 'इतिहास की व्याख्या' से क्या संबंध है ?

७. क्या मार्क्स का यह दावा है कि इतिहास की उन्होंने जो व्याख्या की है, वह अतीत की असंख्य शताब्दियों पर लागू होती है ?

८. मार्क्स की इतिहास की व्याख्या किस अर्थ में संस्थाओं के अभ्युदयों का भी सिद्धांत है ? क्या उनके मस्तिष्क में यह सभी संस्थाओं के अभ्युदय से संबंधित सिद्धांत था ?

९. क्या मार्क्स के मतानुसार, ऐतिहासिक घटनाक्रम के मूलभूत कारण प्रत्यक्ष तथा दृश्य रूप से काम करते हैं ? मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की व्याख्या से संबंधित कुछ सामान्य भ्रांत धारणाओं के विषय में इसका क्या महत्त्व है ?

१०. मार्क्स ने इतिहास की जो व्याख्या की है, वह कभी-कभी 'भौतिकवादी' क्यों कही जाती है ?

११. मार्क्स इतिहास की व्याख्या के अपने सिद्धांत को उन ऐतिहासिक घटनाओं पर किस प्रकार लागू करेंगे, जिन्हें 'युद्ध' कहा जाता है ? किसी विशिष्ट युद्ध की परिस्थितियों के बारे में आप जो जानते हैं, उससे इस कथन का सोदाहरण निरूपण कीजिए ।

●

अध्याय ६

मूल्य तथा मजदूरी का मार्क्सवादी सिद्धांत

मूल्य-सिद्धांत

मार्क्स : अर्थशास्त्री के रूप में

मार्क्स का दार्शनिक के रूप में अध्ययन करके, उनके द्वंद्वात्मक सिद्धांत तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या का निरूपण करने के बाद, अब हम उनका एक अर्थशास्त्री के रूप में अध्ययन करते हैं, जिसने अपने जमाने में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाली प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया था। वह कहाँ तक एक अच्छे अर्थशास्त्री थे अथवा उनको अर्थशास्त्री कहना भी चाहिए या नहीं, इस बारे में प्रायः शंका की जाती है। कुछ टीकाकारों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मार्क्स के दर्शन अथवा क्रांतिकारी उद्देश्य और उनके आर्थिक सिद्धांत को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये एक संपूर्ण इकाई के अवयव हैं।[1] उनकी दृष्टि से मार्क्स एक वैज्ञानिक अर्थशास्त्री नहीं हैं, जो परिणामों या फलश्रुतियों की परवाह किए बिना आर्थिक तत्त्वों का सच्चा विश्लेषण प्राप्त करना चाहता है। वह तो एक क्रांतिवादी थे, जो आर्थिक तत्त्वों का सच्चा विश्लेषण प्राप्त करना चाहते थे। वह तो एक क्रांतिवादी थे, जो आर्थिक तत्त्वों का विश्लेषण इस तरीके से करना चाहते थे कि अपने अनुयायियों में विद्यमान आर्थिक तंत्र के प्राप्त घृणा जाग्रत कर सकें और उसे उलट सकें।

यही नहीं, मार्क्स को अक्सर घटिया दर्जे का अर्थशास्त्री कहा जाता है; क्योंकि आर्थिक तत्त्वों की उन्होंने जो व्याख्या की है (जिस पर बाद में विचार किया जाएगा)

---

[1] सिडनी हुक, टुवार्ड्स दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क, डे, १९३३. पृष्ठ २२३। डी० जी० एच० कोल, ह्वाट मार्क्स रियली मेंट, न्यूयार्क, क्नोफ, १९३४, पृष्ठ २०६।

वह आर्थिक सिद्धांत की हाल की नई बातों की दृष्टि से अमान्य हो जाती है। यदि इस बात को कसौटी बनाया गया तो स्मिथ, मिल, माल्थस-सरीखे आर्थिक विज्ञान के मूर्द्धन्य विद्वान तथा संभवतः मार्शल को भी इस क्षेत्र से निकाल फेंकना होगा।

इन तमाम संदेहों के बाद भी, उद्देश्य तथा क्रिया-पद्धति—दोनों ही दृष्टि से मार्क्स स्वयं को एक अर्थशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित कर चुके हैं। उनके सिद्धांत को पढ़ने से ही प्रकट हो जाता है कि उन्होंने आर्थिक तत्त्वों—विशेषतः मूल्य, दाम तथा लाभ का उपयुक्त विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जब उन्होंने आर्थिक तत्त्वों का निरूपण किया है तो उनका उद्देश्य सर्वथा वही था, जो आधुनिक अर्थशास्त्री का होता है अर्थात् किसी ऐतिहासिक युग में विद्यमान आर्थिक तत्त्वों तथा उनके कारण-संबंधों की वस्तुपरक तथा उपयुक्त विवेचन प्रस्तुत करना। उन्होंने इस बात का निरूपण करने का प्रयास किया कि कौन से तत्त्व विनिमय मूल्यों तथा मजदूरी की दरों का वास्तव में निर्धारण करते हैं। यह प्रयास ठीक उसी प्रकार का था, जिस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य तथा मजदूरी-संबंधी सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में मार्क्स ने मूल्य, मजदूरी तथा लाभ-संबंधी अपने सिद्धांत प्रस्तुत करने में जो निगमनिक तर्क-पद्धति अपनाई है और विशृंखल निगमनिक सार-सामग्री प्रस्तुत की है, उसमें प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से आधुनिक आर्थिक सिद्धांतों से बहुत अधिक साम्य है।

इससे भी आगे, मार्क्स का अनुभव था कि "आर्थिक तत्त्वों का उपयुक्त विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली बातें तो सतही स्वरूप-भंगिमा के तल में गहराई में जाकर विद्यमान होती हैं।" मूल्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं "कि वही अंतर यहाँ भी विद्यमान है, जो अन्य सभी तत्त्वों तथा उनके अंतस्थल में छिपे तत्त्वों के बारे में सत्य है। पूर्व-कथित (अर्थात् सभी तत्त्व) प्रत्यक्षतः और अपने-आप आधुनिक विचार-पद्धति के रूप में प्रकट होते हैं, जबकि अनुकथित तत्त्वों को पहले विज्ञान के द्वारा खोजना होता है।"[1] आर्थिक तत्त्वों का विश्लेषण करने में मार्क्स का यही उद्देश्य था और अपनी सफलताओं के बारे में उनके यही विचार थे।

अन्य अनेक दृष्टियों से भी मार्क्स ने 'अर्थशास्त्री' की उपाधि अर्जित कर ली थी। एक तो उन्होंने दो प्रकार के अध्ययनों में अनेक वर्ष लगाए, जो इस क्षेत्र में बहुत पुरानी चीज हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में आर्थिक आधारभूत सामग्री का उन्होंने जो अध्ययन किया था, इसका उल्लेख किया ही जा चुका है। उन्होंने अपने युग के प्रमुख अर्थशास्त्रियों की कृतियों का गहन अध्ययन किया था। उनकी रचनाओं से

---

[1] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण, पृष्ठ ५६४।

प्रकट है कि वह पैटी, स्मिथ तथा रिकार्डो-सरीखे अंग्रेज अर्थशास्त्रियों तथा फ्रांसीसी अर्थशास्त्री सिसमांदी की रचनाओं से भली-भाँति परिचित थे।[1] दूसरे—और यह बात मार्क्स के नए अध्येताओं को आश्चर्यजनक लग सकती है कि—मार्क्स को यदि उनके समय के आर्थिक विज्ञान की दृष्टि से देखें, तो वह एक परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्री थे। मूल्य तथा मजदूरी से संबंधित उनके सिद्धांतों का आधार ज्यों-का-त्यों आर्थिक विचार की समकालीन परंपरानिष्ठ धाराओं से ले लिया गया है। आंशिक रूप से सत्य तथा एकपक्षीय इन सिद्धांतों के स्थान पर, आर्थिक तत्त्वों की कहीं अधिक शुद्ध, व्यापक तथा संतुलित व्याख्या प्रस्तुत कर दिए जाने से मार्क्स उसी प्रकार एक मूर्द्धन्य अर्थशास्त्री नहीं रह जाते, जिस प्रकार आरंभिक प्राकृतिक विज्ञानों के अर्द्धसत्यों से आगे की खोजें हो जाने पर उन अर्द्ध सत्यों की खोज करने वालों को वैज्ञानिकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

प्रयोग मूल्य, विनिमय मूल्य तथा दाम

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाली मूल्य-निर्धारक शक्तियों का विवेचन करते हुए मार्क्स ने स्पष्ट रूप से दो प्रकार के मूल्यों में भेद किया है:— 'प्रयोग मूल्य' तथा 'विनिमय मूल्य'। प्रयोग मूल्य का अर्थ है किसी वस्तु की उसके मालिक के लिए प्रयोजनीयता, उसकी उपयोगिता अथवा उसके मालिक द्वारा उनके उपयोग से प्राप्त आनंद अथवा संतोष। 'प्रयोग मूल्य' विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक बात होती है। यह ऐसा अमूर्त्त भाव है जो किसी वस्तु के उपभोगकर्त्ता या संभावित उपभोगकर्त्ता के मस्तिष्क में परिमाणात्मक रूप से विद्यमान होता है और किसी अन्य वस्तु के उपभोग से मिले संतोष की तुलना में अधिक या कम परिमाण में हो सकता है। विनिमय से मार्क्स का अर्थ है किसी वस्तु द्वारा अपने विनिमय में अन्य वस्तुएँ प्राप्त करने की शक्ति अथवा "वह अनुपातिक परिमाण, जिसमें उसका अन्य समस्त वस्तुओं से विनिमय हो सकता है।"[2] चूँकि उनका मंतव्य केवल विनिमय मूल्य की ही विवेचना करना था, अतः उन्होंने उपसर्ग हटा कर केवल 'मूल्य' शब्द का ही प्रयोग किया है। 'मूल्य' शब्द से मार्क्स ठीक वही अर्थ लेते हैं, जिसमें आज के परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्री इस शब्द का पाठ्य-पुस्तकों में प्रयोग करते हैं।

---

[1] देखिए हैरी डब्ल्यू० लैडलर, ए हिस्ट्री ऑफ सोशलिस्ट थाट, न्यूयार्क, क्रौवेल, १९२७, पृष्ठ २०४।

[2] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३५; पृष्ठ २९।

मार्क्स का कहना है कि 'प्रयोग मूल्य' तथा विनिमय मूल्य का स्पष्ट रूप से बड़ा संबंध है; क्योंकि किसी वस्तु का तब तक विनिमय मूल्य हो ही नहीं सकता, जब तक 'प्रयोग मूल्य' न हो। अर्थ-व्यवस्था के अत्यधिक आदिकालीन स्वरूपों में ही किसी वस्तु का विनिमय मूल्य के बिना भी प्रयोग होना संभव था। यदि विशेषीकरण और विनिमय बहुत ही थोड़ा हो, तो अधिकांश वस्तुओं का प्रयोग मूल्य तो होगा, किंतु उनका विनिमय मूल्य न होगा। मार्क्स उस पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य के निर्धारक तत्त्वों का विश्लेषण कर रहे थे, जिसमें विशेषज्ञता होती है, जटिल विनिमय-प्रक्रियाएँ विद्यमान होती हैं, सामान्य रूप से बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुएँ उनके उत्पादकों द्वारा अन्य वस्तुओं के विनिमय में दिए जाने के लिए ही होती हैं। अत:,उनका न केवल प्रयोग मूल्य होता है,वरन् विनिमय मूल्य भी होता है। जिन वस्तुओं में ये दोनों मूल्य होते हैं, उनको उन्होंने 'पण्य' की संज्ञा दी है। वास्तव में पण्यों के विनिमय मूल्य (अथवा केवल 'मूल्य') के निर्धारण की ही विवेचना करने का उन्होंने प्रयास किया है।

मार्क्स ने 'दाम' शब्द का प्रयोग आधुनिक परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्रियों की भाँति ही किया है, जिसका अर्थ किसी पण्य की अपने बदले में द्रव्य प्राप्त करने की क्षमता से है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, दाम किसी पण्य के मूल्य का 'द्रव्य-नाम' है।

सामान्य मूल्य तथा बाजार मूल्य

मार्क्स आधुनिक अर्थशास्त्रियों की भाँति मानते हैं कि 'विनिमय मूल्य' (यहाँ से आगे इसे केवल 'मूल्य' ही कहा जाएगा) अनेक प्रकार के होते हैं। उन्होंने प्राकृतिक मूल्यों (तदनुसार प्राकृतिक दामों) में भेद किया है। 'प्राकृतिक मूल्यों' से जिसे मार्क्स 'वास्तविक मूल्य' कहते हैं, उसका तात्पर्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों के सामान्य मूल्य से है। यह किसी पण्य के मूल्य का सामान्य दीर्घकालीन औसत स्तर होता है और अल्पकाल के अंदर पण्य का मूल्य घट-बढ़ सकता है। इस सामान्य मूल्य अथवा वास्तविक मूल्य में घट-बढ़ माँग और पूर्ति के तत्त्वों के कारण होती है जबकि सामान्य मूल्य जो माँग और पूर्ति पूर्णरूपेण संतुलित अवस्था में होने से बाजार मूल्य बन जाता है, एक अन्य शक्ति द्वारा निर्धारित होता है, जिसका विश्लेषण आगे किया जाएगा। इसलिए उन्होंने अनेक बार कहा है कि बाजार मूल्य अथवा दाम सामान्य मूल्य अथवा दाम से आगे-पीछे हो जाते हैं।[1] जिस

---

[1] उदाहरण के तौर पर उन्होंने 'प्राप्त दाम' मूल्य से अत्यधिक ऊपर या नीचे होने की बात एक स्थान पर कही है। कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १२१।

प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्री मुख्य रूप से अपने प्रयास सामान्य मूल्य के निर्धारक तत्त्वों का विश्लेषण करने में लगाते हैं; उसी प्रकार मार्क्स की भी इस विश्लेषण में प्राथमिक रूप से रूचि थी। "प्रश्न यह है कि उस मात्रा के निर्धारक तत्त्व क्या हैं, जो माँग तथा पूर्ति का संतुलन होने की अवस्था में वांछित मात्रा बन जाती है।"[1]

मार्क्स ने अपनी 'वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट' (मूल्य, कीमत तथा लाभ) नामक पुस्तक में सामान्य अथवा वास्तविक मूल्य तथा बाजार मूल्य के अंतर का कई पैराग्राफों में वर्णन किया है।

"....आप देखेंगे कि बाजार के दामों में घट-बढ़, उनका मूल्यों से आगे-पीछे होना, दामों का ऊपर जाना या नीचे आना एक दूसरे को पंगु बनाते हैं तथा एक दूसरे के पूरक का काम करते हैं जिनसे एकाधिकारों या इन दामों में आए कुछ अन्य परिवर्तनों के प्रभावों को जिन पर मैं उस समय विचार नहीं कर रहा, छोड़ दें, तो सभी प्रकार की वस्तुएँ औसतन अपने मूल्यों या प्राकृतिक दामों पर ही बिकती हैं।"[2]

"उस समय जब माँग तथा पूर्ति एक दूसरे के साथ संतुलित होती है और इसीलिए प्रभाव नहीं डाल पाती, किसी पण्य का बाजार दाम उसका वास्तविक मूल्य उसके मानक दाम के बराबर होता है और इसी के आसपास बाजार दाम चला रहता है। उस मूल्य की प्रकृति की विवेचना करते समय हमें बाजार दामों पर पड़ने वाले माँग और पूर्ति के अस्थायी प्रभावों से कोई वास्ता नहीं होता।"[3]

यहाँ यह देखना बड़ा ही रोचक है कि मार्क्स द्वारा प्रस्तुत किया गया यह अंतर एडम स्मिथ के इन शब्दों से कितना मिलता-जुलता है, जिनको मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट' में उदधृत किया है :—"बाजार दाम मूल्यों से बराबर घटते-बढ़ते रहते हैं, लेकिन जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है : प्राकृतिक दाम तो तो वह केंद्रीय विंदु है, जिसकी तरफ पण्यों के दाम बराबर आकृष्ट होते रहते हैं। विभिन्न दुर्घटनाओं के कारण कभी ये दाम इससे काफी ऊँचे होते हैं और कभी काफी कम; यहाँ तक कि प्राकृतिक दाम से भी कुछ नीचे पहुँच जाते हैं। लेकिन जो भी बाधाएँ हों, जिनके कारण वे इन केंद्र-बिंदु पर पहुँच न पाएँ फिर भी, उनमें निरंतर इस विंदु तक पहुँचने की प्रवृत्ति रहती है।"[4]

---

[1] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३५, पृष्ठ २९।
[2] वही, पृष्ठ ३९।
[3] वही, पृष्ठ २९।
[4] वही, पृष्ठ ३९।

सभी पण्यों का सामान्य मूल्य-निर्धारक तत्त्व : श्रम

मार्क्स तथा उस समय की 'श्रम-लागत' विचारधारा के अन्य अर्थशास्त्रियों का एक मूलभूत सिद्धांत यह था कि मूल्य-निर्धारण करने वाली शक्ति चाहे जो हो, वह सभी पण्यों के लिए एक ही होनी चाहिए ।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि मूल्य की उपयुक्त व्याख्या के लिए किसी ऐसे तत्त्व की खोज की जानी आवश्यक है, जो पदार्थगत हो (इसलिए प्रयोग मूल्य उपयुक्त न होगा) और सभी पण्यों के लिए समान रूप से लागू होता हो और जिसका काया-परिवर्तन होता हो, ताकि वह सामान्य तत्त्व जो सभी पण्यों में पाया जाता हो, मूल्य बन सके ।

मार्क्स ने श्रम अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक मानवीय प्रयास को एक ऐसा तत्त्व माना था, जो सभी पण्यों में समान रूप से विद्यमान होता है । प्रश्न-उत्तर रूप में उन्होंने इस बात को इस रूप में कहा है :—"सभी पण्यों में सामान्य सामाजिक पदार्थ क्या होता ? वह श्रम है । किसी पण्य के उत्पादन में एक मात्राविशेष में श्रम लगना ही चाहिए अथवा उस पर उतना श्रम व्यय होना चाहिए ।"[2] यदि सभी पण्यों में सामान्य रूप से पाया जाने वाला तत्त्व श्रम है, अतएव मूल्यों का भी निर्धारक तत्त्व यही है, ऐसी अवस्था में सभी प्रकार के श्रमिकों में पाया जानेवाला सामान्य तत्त्व क्या है ? स्पष्ट है कि इसकी कोई गुणात्मक विशिष्टता नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि एक विशिष्ट व्यवसाय का श्रम दूसरे व्यवसाय के श्रम से बहुत अधिक भिन्न होता है । तब सामान्य तत्त्व परिमाणात्मक ही हो सकता है और इस श्रेणी का जो एक तत्त्व सभी प्रकार के श्रमिकों में पाया जा सकता है, वह है समय । इस प्रकार श्रमिक-समय सभी पण्यों के लिए मूल्य पैदा करने वाला तथा मूल्य निर्धारित करने वाला तत्त्व बन जाता है । मार्क्स ने संक्षेप में यही तर्क-सरणि 'कैपिटल' पुस्तक में अपनायी है ।

"प्रयोग मूल्य अर्थात् उपयोगी वस्तु का मूल्य इसीलिए है कि मानव-श्रम उसमें अमूर्त्त रूप से अंगी बन गया है अथवा पदार्थ रूप में आ गया है । तब इस मूल्य के परिमाण को कैसे नापा जाए ? स्पष्टतः, उस वस्तु का मूल्य पैदा करने वाले तत्त्व-श्रमिक के परिमाण को नाप कर । लेकिन श्रम का परिमाण केवल उसके समय से नापा जा सकता है और श्रम-समय के मानक नाप है सप्ताह, दिन तथा घंटे ।"[3]

---

[1] यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि कोई भी वह वस्तु पण्य है, जिसमें 'प्रयोग मूल्य' तथा 'विनिमय मूल्य' दोनों हों ।

[2] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३० ।

[3] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ४५ ।

मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत-संबंधी कथन

इस मूल्य-सिद्धांत के कुछ अन्य भागों पर आगे विचार करने से पूर्व, इसके अनेक सार-रूपों को सर्वाधिक सटीक रूप में जान लेना लाभप्रद रहेगा :

"लेकिन किसी पण्य का मूल्य क्या है? उसके उत्पादन में व्यय हुए सामाजिक श्रम का वस्तुगत रूप। और उस मूल्य का परिमाण के रूप में हम मापन कैसे करेंगे? उसमें प्रयुक्त श्रम के परिमाण को नाप कर।"[1]

"किसी पण्य का मूल्य इसीलिए है कि वह सामाजिक श्रम का प्रकट केंद्रीभूत रूप है। उसके मूल्य की अधिकता, अथवा सापेक्ष्य मूल्य इसमें लगे इस सामाजिक तत्त्व की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर करता है अर्थात् उसके उत्पादन के लिए अपेक्षाकृत कितने परिमाण में श्रम की आवश्यकता हुई। इसलिए पण्यों का सापेक्ष्य मूल्य उसमें लगे, प्रयुक्त या व्यवहृत श्रमिकों के परिमाण के आधार पर निर्धारित होता है।"[2]

"इस दृष्टि से प्रत्येक पण्य एक प्रतीक है; क्योंकि जहाँ तक मूल्य का संबंध है, यह उस पर खर्च किए गए मानव-श्रम का पदार्थभूत आवरण मात्र है।"[3]

अतीत और वर्त्तमान श्रम : दोनों संमिलित

इस मूल्य-सिद्धांत को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि बहुत सी बातों को सावधानी से समझ लिया जाए। मार्क्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी पण्य में अंतर्भूत श्रम से उनका तात्पर्य प्रक्रिया के अंतिम चरण में प्रयुक्त श्रम तथा उस सोपान में प्रयुक्त श्रम से ही नहीं है, जब पण्य उन विशिष्टताओं को अंतिम रूप से ग्रहण करता है, जो उसकी परिवर्तनीयता के लिए आवश्यक है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि किसी पण्य के मूल्य-निर्धारक श्रम में उत्पादन के 'सभी' चरणों में प्रयुक्त हुआ सारा श्रम शामिल है। इसमें आवश्यक कच्चा माल, बिजली या मशीनें बनाने में प्रयुक्त श्रम भी संमिलित है। किसी वस्तु के उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त मशीन की, जो किसी वस्तु के उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त मशीन की जो घिसाई या टूट-फूट हुई है, उसकी पूर्ति के लिए प्रयुक्त श्रम भी उस वस्तु के श्रम-तत्त्व में शामिल किया जाएगा। इसी प्रकार यदि उस वस्तु में प्रयुक्त कच्चा माल मशीन द्वारा निर्मित है, तो उस कच्चे माल के उत्पादन से उसे बनाने वाली मशीन का जो भाग घिसे या टूटेगा, उसकी पूर्ति के लिए प्रयुक्त श्रम भी उस

---

१. वही, पृष्ठ ५८६।

२. कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३१।

३. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १०३

पण्य के श्रम-तत्त्व में गिना जाएगा। इस प्रकार प्रत्येक पण्य उस मानव-श्रम का पदार्थगत आवरण बन जाता है, जो उसे बनाने में व्यवहृत हुआ है, हालांकि उस श्रम के समायोजक अंग विभिन्न उपयोगों, उत्पादक कारखानों तथा अनेक कालखंडों में बिखरे हो सकते हैं। मार्क्स ने अपने मूल सिद्धांत के इस भाग को संक्षेप में इस प्रकार सोदाहरण प्रस्तुत किया है :—

"किसी पण्य के विनिमय मूल्य का हिसाब लगाते समय अंत में प्रयुक्त श्रम में उस श्रम को भी जोड़ लेना चाहिए जो उस वस्तु में प्रयुक्त कच्चे माल में लगा है और जो उपकरणों, औजारों, मशीनों तथा इमारतों के प्रयोग में लगा है।"[1]

सूत के कच्चे माल कपास के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम सूत के उत्पादन में लगे श्रम का ही अंग है। इसलिए वह सूत के श्रम में ही गिना जाएगा। यही बात उस तकुए में लगे श्रम के बारे में भी सत्य है, जिसकी घिसाई या टूट-फूट के बिना सूत का काता जाना संभव नहीं है।

इसलिए सूत के मूल्य का निर्धारण करने में अथवा उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-समय निर्धारित करने में सभी विशेष प्रक्रियाओं को मिला कर इस रूप में देखना होगा कि वे एक ही तथा उसी प्रक्रिया के विभिन्न और एक के बाद एक होने वाले चरण हैं जो पहले तो कपास के उत्पादन, तकुए की छीज तथा बाद में सूत कातने के लिए कपास एवं तकुए के उपभोग के लिए आवश्यक हैं। सूत में लगा सारा श्रम अतीत श्रम है और इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि उसके समायोजक तत्वों के उत्पादन के लिए आवश्यक कार्य अलग-अलग समयों पर किए गए, जिनको कि वर्त्तमान दृष्टि से देखें, तो कताई की अंतिम प्रक्रिया से बहुत दूर का संबंध बैठता है। यदि किसी मकान के बनाने के लिए निश्चित परिमाण में मान लीजिए, तीस दिन के श्रम की आवश्यकता है, तो इस बात से मकान में लगे कुल श्रम-परिमाण में किसी प्रकार का अंतर नहीं आता कि अंतिम दिन का काम पहले दिन के काम के उनतीस दिन बाद किया गया। इसलिए कच्चे माल में तथा उपकरणों में लगे श्रम को यही समझना चाहिए, मानो वह कताई की प्रक्रिया के किसी पूर्ववर्त्ती चरण पर वास्तविक कताई शुरू होने से पहले लगाया गया हो।[2]

सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम

इस मूल सिद्धांत की मंशा यह नहीं है कि अकेला श्रम ही मूल्य पैदा करने वाला तत्त्व है, भले ही उस श्रम से निर्मित वस्तु चाहे जो हो और उसके अंदर

---

[1] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३२।

[2] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ २०६।

कितनी ही कुशलता क्यों न हो। मार्क्स ने यह तर्क कभी नहीं दिया कि किसी वस्तु के उत्पादन में जितना अधिक श्रम लगेगा, उतना ही अधिक मूल्य उसका होगा। 'सामाजिक रूप से आवश्यक' श्रम ही मूल्य-निर्धारक तत्त्व होता है।

"किसी पण्य का मूल्य उसमें लगे अथवा उसमें केंद्रीभूत श्रम के परिमाण से निर्धारित होता है, यह बात जब हम कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य समाज की स्थिति-विशेष में उसके उत्पादन के लिए उत्पादन की कुछ विशिष्ट सामाजिक औसत स्थितियों की विशिष्ट सामाजिक औसत तीव्रता तथा उसमें लगे श्रमिकों की औसत कुशलता के साथ आवश्यक श्रमिकों के परिमाण से होता है।"[१]

इस प्रकार यदि एक फर्म किसी वस्तु का उत्पादन, उस वस्तु को उत्पादित करने वाली अन्य फर्मों की सर्वप्रचलित विशेषता की अपेक्षा, उसमें अंतर्हित्त श्रम-समय के रूप में, अधिक या कम कुशलता के साथ करती है, तो उस फर्म के उत्पादन का सामान्य मूल्य-निर्धारण 'उसमें' श्रम-समय के आधार पर नहीं होगा, वरन् 'अधिकांश' फर्मों के श्रम-समय के आधार पर होगा। यदि कोई एक उत्पादक असाधारण स्थितियों का अनुभव करता है, जिससे उसके उत्पादन में लगने वाले श्रम-समय पर प्रभाव पड़ता है और जो उस वस्तु के उत्पादन के लिए 'सामाजिक रूप से आवश्यक' नहीं होता है, तो वे स्थितियाँ मूल्य-निर्धारक नहीं होतीं। मार्क्स इस कथन को इस उदाहरण से स्पष्ट करते हैं:—

"यदि किसी पूँजीपति की रुचिविशेष हो और वह सूत कातने के लिए इस्पात की अपेक्षा सोने का तकुवा प्रयोग करे, तो भी उस सूत के मूल्य-निर्धारण के लिए उस श्रम की ही गिनती की जाएगी, जिसका प्रयोग इस्पात का तकुवा बनाने में हुआ है; क्योंकि जो सामाजिक स्थितियाँ हैं, उनमें इससे अधिक की आवश्यकता ही नहीं है।"[२]

वस्तुओं के पुनरुत्पादन में आवश्यक श्रम

इसका अर्थ यह हुआ कि टिकाऊ पण्य के विद्यमान स्टॉक के सामान्य मूल्य में सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय में आ जाने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप परिवर्तन आता रहेगा, जो उस प्रकार की वस्तुएँ बनाने के लिए आवश्यक होगा। मार्क्स तर्कसंगत रूप से यह मानते हैं कि विशेष प्रकार के वर्त्तमान पण्यों के सामान्य मूल्यों का निर्धारण उसमें अंतर्निहित अतीत श्रम के परिमाण के आधार पर उस अवस्था में नहीं किया जा सकता, जबकि उनके पुनरुत्पादन के लिए सामाजिक रूप

---

१. कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३३।

२. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ २१०।

से आवश्यक श्रम-परिमाण बदल गया हो। रुई के सामान्य मूल्य के निर्धारण का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि "यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय बदल जाता है—एक निश्चित परिमाण में रूई का खराब फसल के बाद अच्छी फसल की अपेक्षा, अधिक श्रम-मूल्य होगा–उसी श्रेणी की सभी विद्यमान वस्तुओं पर इसका प्रभाव पड़ेगा; क्योंकि वे पहले की भाँति अब भी, उस श्रेणी की अलग-अलग अदद होंगी और उनका मूल्य किसी निश्चित काल-अवधि में सामाजिक रूप से आवश्यक समय के अनुसार अर्थात् उस समय विद्यमान सामाजिक स्थितियों के अंतर्गत उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम के अनुसार निर्धारित होता है।"[1] मार्क्स के सिद्धांत में किसी वस्तुविशेष के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के परिमाण में परिवर्तन की कोई सीमा नहीं है। उनके कथनानुसार यह काम समग्र परिस्थितियों का होता है, जिनके अंतर्गत उत्पादन हुआ करता है और इसके फलस्वरूप इन स्थितियों के लिए आवश्यक श्रम-समय घटने या बढ़ने का कारण हो सकता है।

मूल्य-परिवर्तन में समय का अंतराल

किसी वस्तुविशेष के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक समय में परिवर्तन करने वाली शक्तियों के बारे में मार्क्स का कहना है कि "वे अपूर्ण रूप से तथा समय के अंतराल के साथ काम करती हैं। इस प्रकार यदि एक फर्म ही एक ऐसी मशीन प्राप्त कर ले, जिससे किसी वस्तु के उत्पादन में लगने वाला कुल समय उस कारखाने में कम हो जाए, तो वह फर्म कुछ समय के लिए इस बात से लाभ उठा सकेगी कि उसकी उत्पादित वस्तु का मूल्य खुले बाजार में (जो सामान्य रूप से उस वस्तु के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय के आधार पर निर्धारित होता है) बदलता नहीं है, जबकि सीमित क्षेत्र में उस वस्तु का दाम (जो इस कारखाने में उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-समय के आधार पर निश्चित होगी) कम हो गया है।"[2] लेकिन इस संबंध में मार्क्स का यह भी कहना है कि ऐसी स्थिति में वस्तु के सामान्य मूल्य को नीचे की तरफ ले जाने की प्रवृत्ति होगी और मूल्य कितनी तेजी से गिरता है और यह इस बात पर निर्भर होगा कि इस वस्तु का उत्पादन करने वाली फर्मों में कितनी प्रतियोगिता है और यह प्रतियोगिता भी इस बात पर बहुत हद तक निर्भर करेगी कि आविष्कार करने वाली फर्म अपनी उस आविष्कृत मशीन को कहाँ तक गोपनीय भेद बनाए रख सकती है।

---

[1] कार्ल मार्क्स, कैपिटल; पृष्ठ २१० ।

[2] देखिए कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ४४३–४४४ ।

विनिमय से वस्तु का प्रयोग मूल्य प्रमाणित

श्रम-समय किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण करता है, इस सिद्धांत में 'सामाजिक रूप से आवश्यक ' तत्त्व का समावेश करने से प्रकट है कि जब तक किसी वस्तु का 'प्रयोग मूल्य' न हो, तब तक उस पर लगाए गए श्रम से विनिमय मूल्य पैदा नहीं किया जा सकता। इस निर्धारित परिमाण में श्रम-समय से वस्तु का मूल्य पैदा होता है या नहीं, इसका निर्धारण विनिमय-प्रक्रिया में होता है। मार्क्स का कहना है कि "वह श्रम अन्य लोगों के लिए उपयोगी है या नहीं और उत्पादित वस्तु दूसरे लोगों की आवश्यताएँ पूरी कर सकती है अथवा नहीं, यह बात विनिमय-कार्य से ही प्रमाणित होती है।"[1]

इस प्रकार अंतिम रूप से यह निर्धारण कि श्रम सामाजिक रूप से उपयोगी है अथवा नहीं, उन वस्तुओं के जिनमें श्रम पदार्थीभूत है, खरीददार ही करते हैं; क्योंकि विनिमय-कार्यों में उन्हीं के सामने वस्तुएँ आती हैं और उनके अच्छे या बुरे होने से संबंधित प्रतिक्रिया भी उन्हीं की होती है।

'सामाजिक रूप से उपयोगी' विचार की एक और प्रशाखा है। मार्क्स के मतानुसार यह भी संभव है कि एक निश्चित परिमाण के श्रम की सामाजिक उपयोगिता उसकी अन्य प्रकार के उत्पादन-कार्य में लगाने से वे कम हो सकती है, जबकि वस्तुओं के खरीददार उसे किसी अन्य प्रकार के उत्पादन में लगाना पसंद करें। यह स्थिति उस संभावना से थोड़ी सी ही भिन्न है जिसका कि अभी उदाहरण दिया गया है, जिसमें यह संकल्पना की जाती है कि श्रम को उन वस्तुओं के बनाने में लगाया जाए जिसका कोई प्रयोग मूल्य न हो। इस प्रकार प्रयोग किया गया श्रम सामाजिक रूप से 'अनावश्यक' हो और इसलिए उसका मूल्य ही पैदा नहीं होता है। 'सामाजिक रूप से आवश्यक' शब्द का यह सूक्ष्म अर्थ मार्क्स ने नीचे के उदाहरण से स्पष्ट किया है।

"अंत में, मान लीजिए कि बाजार में बिकने वाले हर कपड़े में उससे अधिक श्रम-समय नहीं लगा, जितना कि सामाजिक रूप से आवश्यक है। (अर्थात् उसे भौतिक रूप से बनाने के लिए आवश्यक समय से अधिक नहीं) इसके बाद भी सभी कपड़ों को संमिलित रूप से लें, तो उस पर फालतू श्रम-समय खर्च हो सकता है। यदि बाजार में सारा कपड़ा सामान्य मूल्य पर (अर्थात् कपड़े को भौतिक रूप से पैदा करने के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक परिमाण के अनुसार मूल्य पर) नहीं खपा सकता....तो इससे सिद्ध हो जाता है कि समुदाय के कुल श्रम-समय का बहुत बड़ा भाग इस प्रकार की बुनाई पर खर्च किया गया है। इसका परिणाम वही होगा, जो

---

[1] वही, पृष्ठ ६८।

प्रत्येक बुनकर द्वारा अपनी वस्तुविशेष के उत्पादन में सामाजिक रूप से आवश्यक समय अधिक श्रम-समय खर्च करने पर होगा।"[१]

उत्पादन की विविध पद्धतियों में लगे कुल श्रम-समय का समाज नए सिरे से वितरण चाहता है, यह बात वस्तु के किसी एक समय पर बाजार मूल्य अथवा दाम सामान्य अथवा प्राकृतिक मूल्य या दाम से कम या अधिक होने से प्रकट है। मार्क्सवादी सिद्धांत में इन गड़बड़ियों से जो लाभ या हानि होगी, उससे संबंधित प्रयोग में श्रम-समय का पुनर्वितरण होगा और इस प्रकार फिर वही सामान्य मूल्य प्रधान हो जाएगा, जो सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम समय के माध्यम से निर्धारित होता है।

श्रम तत्त्व : कालखंडों के रूप में

मूल्य-निर्धारण के संबंध में श्रम के गुणों का कोई महत्त्व नहीं है—कालखंडों के रूपों में नापा श्रम-परिमाण ही प्रभावशाली मूल्य-निर्धारणकर्त्ता तत्त्व है। "वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम का परिमाण न कि श्रम का उत्कृष्ट स्वरूप, वह तत्त्व है, जिसे उस वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।"[२] "इसलिए प्रयोग मूल्य के संबंध में वस्तु में लगे श्रम की उत्कृष्टता की दृष्टि से नापा जाता है लेकिन मूल्य की दृष्टि से श्रम को परिमाण के रूप में ही लिया जाता है और उसे पहले विशुद्ध एवं सामान्य मानव-श्रम के रूप में ही गिना जाना चाहिए।"[३] "कुशल श्रम को केवल सामान्य गहन श्रम के रूप में अथवा वह बहुगणित साधारण श्रम के रूप में गिना जाना है। इस प्रकार कुशल श्रम का विशिष्ट परिमाण अधिक परिमाण में साधारण श्रम ही समझा जाता है।"[४] 'विशुद्ध एवं सामान्य मानव श्रम' का क्या अर्थ है, इस संबंध में मार्क्स ने स्थिति अस्पष्ट ही छोड़ दी है। इस संबंध में प्रो० बौबर का निष्कर्ष यह है कि उनका आशय 'सजातीय', अमूर्त्त अकुशल श्रम[५] से है।

मार्क्स ने यह कल्पना की थी कि सभी किस्मों तथा सभी स्तरों की व्यावसायिक कुशलता को मानक कालखंडों तथा अकुशल श्रम एककों के रूप में घटित किया जा सकता है। इस प्रकार उदाहरण के रूप में एक कुशल यांत्रिक एक घंटे

---

[१] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ६८।

[२] वही, पृष्ठ ५८८।

[३] वही, पृष्ठ ५२–५३।

[४] वही, पृष्ठ ५१।

[५] एम० एम० बौबर, कार्ल मार्क्सज इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री, कैम्ब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२७, पृष्ठ २०३।

में अकुशल श्रमिक चार मानक कालखंडों के बराबर उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार यदि हम एक औसत अकुशल श्रम घंटों को मानक कालखंड मानें, तो उस कुशल यांत्रिक का काम उस वस्तु में प्रति घंटे के हिसाब से सामाजिक रूप से आवश्यक चार घंटा (उपकरण की मानक कुशलता, आदि मान कर) श्रम समय के बराबर होगा जबकि अकुशल श्रमिक का किया हुआ प्रति घंटा काम सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय के एक घंटे के ही बराबर होगा। चूँकि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय के घंटे ही, न कि घड़ी के हिसाब से काम करते बीते घंटे, मूल्य का निर्धारण करने वाले तत्त्व हैं, इसलिए एक कुशल यांत्रिक द्वारा (इस उदाहरण को आसान बनाने के लिए मान लें कि इसमें उसको अन्य कर्मचारियों या मशीनों या सामान की सहायता नहीं मिली) जो वस्तु घड़ी से एक घंटे में बनायी गई है, उसका सामान्य मूल्य अकुशल श्रमिक द्वारा (यहाँ भी यह मान लें कि उसे किसी ने मदद नहीं दी) चार घंटे में बनायी वस्तु के बराबर होगा। इसी प्रकार ऐसी स्थिति में एक कुशल यांत्रिक तथा चार अकुशल श्रमिक एक घंटे तक काम करें तो उनका श्रम यदि अकुशल श्रमिक के मानक कालखंड के रूप में व्यक्त करें, तो सामाजिक रूप से आवश्यक आठ घंटा श्रम-समय के बराबर होगा और वह आठ अकुशल श्रमिकों के एक-एक घंटे काम करके बनायी चीज या एक अकुशल श्रमिक आठ घंटे के काम या एक कुशल यांत्रिक द्वारा आधा घंटा और एक अकुशल श्रमिक द्वारा किए छह घंटे के काम के बराबर होगा। दूसरे शब्दों में वस्तुओं के समान मूल्य का विनिमय-अनुपात उनके उत्पादन में प्रयुक्त अकुशल श्रमिक के सामाजिक रूप से आवश्यक मानक कालखंडों के प्रत्यक्ष अनुपात के बराबर होता है।

एक कुशल श्रमिक द्वारा घड़ी के अनुसार लगाया कोई समय अकुशल श्रम-समय की कितनी समय इकाइयों के बराबर होगा, इसका निर्धारण किस प्रकार होगा, इसके विवेचन में मार्क्स अत्यधिक स्पष्ट थे कि किसी एक वस्तु में लगे, सामाजिक रूप से आवश्यक सभी श्रम को अकुशल श्रम-समय के रूप के परिवर्तन करते समय जितने अनुपातों का हिसाब-किताब रखना होगा, उनकी संख्या बहुत बड़ी ही नहीं होगी, वरन् ऐसी अर्थ-व्यवस्था में बहुत ही जटिल भी होगी, जिसमें इतनी अधिक प्रकार की विशेषता हो तथा कुशलता की इतनी अधिक श्रेणियाँ हों। इसीलिए जो व्यक्ति किसी वस्तुविशेष के उत्पादन का अध्ययन करना चाहे तथा इस प्रकार की गणना करना चाहे, वह कुशल श्रम का अकुशल श्रम इकाइयों में परिवर्तन नहीं कर सकता। मार्क्स के अनुसार, "जिन विभिन्न अनुपातों में विभिन्न प्रकार के श्रम को मानव के तौर पर अकुशल श्रम के रूप में घटित किए जाते हैं, वे अनुपात एक

सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं जो उत्पादनों की पीठ के पीछे चलती रहती हैं और इसीलिए रीति-रिवाजों द्वारा निश्चित-सी लगती हैं।"[१] बाद में कुशल श्रम इकाइयों को अकुशल श्रम इकाइयों के रूप में परिवर्तित करने की समस्या का उल्लेख आने पर उनका कहना है कि "जब भी हम विनिमय के द्वारा अपनी विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के समतुल्य करते हैं तो इस कार्य के द्वारा ही हम उनके बनाने पर खर्च हुए विभिन्न प्रकार के श्रम के रूप में मानव-श्रम को भी समतुल्य करते हैं।"[२] स्पष्ट रूप से मार्क्स यह अनुभव करते थे कि इन संबंधों का वस्तुगत रूप से हिसाब लगाना अथवा बाजार में इनका निर्धारण करने वाली शक्तियों को अलग कर पाना असंभव होने से इनकी स्वतंत्र सत्ता की असलियत को कम नहीं करती।

वस्तु में अंतर्भूत मूल्य

ऊपर जिन कुछ कमियों का उल्लेख किया गया है, उनके बाद भी, मार्क्स ने यह संभव माना है कि इस प्रकार मूल्य वस्तु में अंतर्भूत तत्त्व होता है। "यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुओं का विनिमय-मूल्य उनके मूल्य के परिमाण को निर्धारित नहीं करता वरन् इसके विपरीत, इनके मूल्य का परिमाण उनके विनिमय-अनुपातों का नियंत्रण करने वाला होता है।"[३] जैसा कि प्रो० बौबर ने बताया है, इसी मुद्दे पर मार्क्स रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धांत से भिन्न मार्ग पर चले हैं। "रिकार्डो के दिमाग में लगातार विनिमय-मूल्य, आनुपातिक मूल्य रहा है। उनके लिए मूल्य किसी वस्तु की वह शक्ति होती है, जिसके बल पर वह विनियय में अन्य वस्तु ले सकती है। मार्क्स की दृष्टि में विनिमय-मूल्य ही मूल्य है लेकिन वह वस्तु के रूप में पदार्थभूत उसका आंतरिक अस्तित्व होता है और इस अस्तित्व का सार घनीभूत श्रम होता है।"[४] इसी संबंध में मार्क्स ने अपने मूल्य-सिद्धांत को कुछ आंतरिक असंगतियों में उलझा दिया[५] और वे अपने मूल्य सिद्धांत को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की विनिमय-प्रक्रिया में घटित होने वाली बातों की वस्तुगत विवेचना के स्थान पर अपने दर्शन का एकमात्र अंग बनाने के निकट ले आए।

मूल्य-निर्धारण में मानवनिर्मित तथा प्रकृतिनिर्मित उपकरणों का संबंध

वास्तव में यदि मूल्य सदैव सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का घनीभूत रूप ही है, तब वे न तो उत्पादन में प्रयोग होने वाले मानवनिर्मित और न प्रकृतिनिर्मित

---

१. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ५२।

२. वही, पृष्ठ ८५।

३. वही, पृष्ठ ७३।

४. एम० एम० बौबर, पूर्व उल्लिखित कृति, पृष्ठ २०३।

५. इस प्रश्न पर बाद में विचार किया जाएगा।

निर्धारण में कोई प्रत्यक्ष भूमिका अदा कर सकते हैं, जैसा पहले देखा जा चुका है। मार्क्स मानवनिर्मित औजारों तथा मशीनों को श्रम से उत्पादित मानते हैं और वे अप्रत्यक्ष रूप से मूल्य-निर्धारण में काम करते हैं; क्योंकि किसी वस्तु के उत्पादन में वास्तव में प्रयुक्त औजारों तथा मशीनों के उत्पादन में जो भी सामाजिक रूप से श्रम लगा है, वह उस वस्तु के अंदर अंतर्निहित सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का एक अंग माना जाता है। जहाँ तक प्राकृतिक या प्रकृतिनिर्मित उपकरणों का संबंध है, मार्क्स स्पष्ट रूप से यह अस्वीकार करते हैं[1] कि वे उत्पादन में जो भी काम आते हैं, उसका उत्पादित वस्तु के मूल्य-निर्धारण में किसी प्रकार का प्रभाब पड़ता है।

"विनिमय-मूल्य किसी वस्तु पर लगाए गए श्रम-परिमाण को व्यक्त करने की एक निश्चित सामाजिक पद्धति है, इसलिए प्रकृति विनिमय का स्वरूप निर्धारित करने के अलावा कुछ नहीं करती।"[2] "अभी तक कोई भी रसायनशास्त्री मोती अथवा हीरे का विनिमय-मूल्य नहीं खोज पाया है।"[3] अर्थात् विशुद्ध प्राकृतिक रूप में वे पण्य नहीं होतीं; क्योंकि उनका विनिमय-मूल्य नहीं होता। जो भी विनिमय-मूल्य वे ग्रहण करती हैं, वह उसी अवस्था में आ पाता है, जब प्राकृतिक पदार्थों पर श्रम लगाया जाता है अथवा प्राकृतिक साधनों पर मानव-श्रम के उपयोग की संभावना होती है। यदि वह श्रम उस पर नहीं लगाया जाता, तो उसका विनिमय-मूल्य तत्काल समाप्त हो जाएगा। प्रकृति तो केवल परिस्थितियाँ प्रदान करती हैं। विनिमय मूल्य प्रदान करना परिस्थितियों का काम बिलकुल नहीं है। विनिमय-मूल्य तो तभी आते हैं, जब प्रकृति के साथ श्रम-समय भी जुड़ जाता है और परिणामस्वरूप वे वस्तुएँ विशुद्ध श्रम-समय का ही परिणाम होती हैं––यही मार्क्सवादी सिद्धांत की तर्क-सरणि है।

श्रम-अंश ही मुद्रा मूल्य का निर्धारक

मार्क्स दाम को तो मूल्य का मात्र 'मुद्रा नाम' ही मानते हैं। मुद्रा के लिए धातु चाहे जो चुनी जाए, उसका मूल्य ठीक उन्हीं शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, जो अन्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करती हैं—अर्थात् वस्तुओं में अंतर्भूत सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय। "सोने अथवा चाँदी, उस तरह की अन्य वस्तुओं का मूल्य, उन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक श्रम के परिमाण से नियमित होता है।"[4] इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का विनिमय उतने डालरों या पौंडों के साथ

---

[1] हालांकि मामूली से परस्परविरोधी कथन भी मिल जाते हैं।

[2] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ९४।

[3] वही, पृष्ठ ९५।

[4] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३५।

होता हैं, जिससे उतना सोना अथवा चाँदी लाभ हो। जिसमें उतना ही सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम लगा हो, जो उस वस्तु में लगे श्रम-समय के बराबर हो। "एक टन लोहे का मूल्य अथवा दूसरे शब्दों में कहें, उसमें प्रयुक्त मानव श्रम का परिमाण कल्पना रूप में उतनी मुद्रा वस्तु के परिमाण में व्यक्त किया जाता, जिसमें उतना ही श्रम-समय लगा हो, जितना लोहे में।"[1] इस प्रकार मुद्रा मूल्यों का सामान्य मापदंड बन जाती है और मुद्रा के रूप में व्यक्त कीमतें केवल मूल्यों के बीच विद्यमान संबंधों को अर्थात् वस्तुओं में अंतर्भूत मानव-श्रम तथा मुद्रा की धातु के परिमाण में लगे मानव-श्रम के संबंध को व्यक्त करती हैं।

मूल्य को मुद्रा-रूप में व्यक्त करने का महत्त्व

यद्यपि मार्क्स की मान्यता थी कि मुद्रा-रूप में व्यक्त कीमतें मूल्यों को ही प्रतिबिंबित करती हैं, तथापि वह इस बात को बहुत महत्त्व देते थे कि मूल्यों को मुद्रा-रूप में व्यक्त किया जाता है। मूल्य जिस वास्तविक तत्त्व से निर्मित होते हैं—अर्थात् श्रम—वह इस प्रकार मानवीय तत्त्वों से रहित हो जाता है और एक प्रकार की अपदार्थ अमूर्त्तता में परिवर्तित हो जाता है। "जब वस्तुएँ यह मुद्रा-रूप धारण कर लेती हैं तो वे अपने प्राकृतिक प्रयोग मूल्य तथा विशिष्ट प्रकार के श्रम से वे बनी हैं, उसके समस्त लक्षणों से रहित हो जाती है ताकि वे सजातीय मानव-श्रम का एक रूप तथा सामाजिक रूप से स्वीकृत रूप ग्रहण कर सकें।"[2] इसी बात की विवेचना करते हुए लेनिन का कहना था कि मुद्रा व्यक्तिगत श्रम के सामाजिक स्वरूप का आवरण होती है और विभिन्न उत्पादकों के सामाजिक संबंधों को छिपाती है, जो बाजार में साथ-साथ आते हैं।"[3]

मार्क्स द्वारा संशोधन

यहाँ तक तो मार्क्स का मूल्य-सिद्धांत स्पष्ट तथा सरल प्रतीत होता है। लेकिन, इस विंदु से आगे यह बात नहीं है। 'कैपिटल' के तीसरे खंड में मूल्य का जो सिद्धांत या कई सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं, उनमें घोर अस्पष्टता तथा स्पष्ट विरोधाभास मिलते हैं। अपनी विचार-सरणि को आगे बढ़ाते हुए मार्क्स स्पष्ट रूप से उन कुछ कठिनाइयों में फँस गए हैं, जो उनके मूल्य के सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-सिद्धांत से प्रकाश में आई हैं। उनको प्रतीत हुआ कि यह सिद्धांत बाजारों में मिलने वाले वास्तविक कीमत जंजाल की व्याख्या करने में पूरी तरह समर्थ नहीं हैं। मार्क्स की बाद की रचनाओं में मूल्य का एक संशोधित सिद्धांत देखने को मिलता है। मार्क्स

---

१. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १०८।

२. वही, पृष्ठ १२३।

३. वी० आई० लेनिन, 'दि टीचिंग्स ऑफ दि कार्ल मार्क्स, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म." ई० बर्न्स, कौम्प, न्यूयार्क, रैंडम हाउस, १९३५, पृष्ठ ५४९।

के अध्येता इस बात से बहुत अधिक असहमत हैं कि इस संशोधित सिद्धांत की पहले प्रस्तुत किए गए मूल मूल्य-सिद्धांत के साथ संगति बैठती है अथवा नहीं।

प्रस्तुत विवेचन तथा मार्क्स की विचारधारा की मूलभूत बातों को समझने के लिए इन संशोधनों तथा तज्जन्य शाखा--प्रशाखाओं को विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है। पहले के मूल्य-सिद्धांत में बताया गया है कि जिसका विवेचन किया जा चुका है, प्रत्येक वस्तु उस मूल्य या दाम पर बिकने का प्रयास करती है, जिसका निर्धारण उसके निर्माण के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-तत्त्व द्वारा होता है। अपनी बाद की रचनाओं में मार्क्स ने इस सिद्धांत में औसतों की संकल्पना और जोड़ दी है। इस संबंध में लेनिन ने मार्क्स की विचारधारा की व्याख्या इन शब्दों में की है :—"अतएव, स्वाभाविक है कि ऐसे समाज में जिसमें वस्तुओं के बहुत से पृथक्-पृथक् उत्पादक बाजार के एकमात्र माध्यम द्वारा जुड़े होते हैं, सिद्धांत की मान्यता केवल एक औसत के रूप में हो सकती है। अलग-अलग तथा एक दूसरे की अभाव-पूर्ति करने वाले ऊँच-नीचों के बीच यही एक सामान्य अभिव्यक्त माध्यम तथा सामूहिक तत्त्व हैं।"[1]

मूल्य : एक औसत

इस प्रकार, सभी वस्तुओं के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम ही पारस्परिक दृष्टि से उनके कुल मूल्य का निर्धारण करता है अथवा सामाजिक रूप से आवश्यक औसत श्रम-तत्त्व ही औसत मूल्य का निर्धारण करता है। प्रो० बोबर ने मार्क्स की मान्यता की व्याख्या इन शब्दों में की है :—"सभी उद्योगों में उत्पादित कुल वस्तुएँ ही उनमें अंतर्भूत सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के समुच्चय के अनुसार बिकती कही जा सकती है। अलग-अलग तौर पर उत्पादन की एक शाखा की वस्तुएँ उस मूल्य से आर्थिक भाव पर बिक सकती हैं। लेकिन यह घटा-बढ़ी एक दूसरे की अभाव-पूर्ति कर देती है, जिसकी हमें आशा करनी चाहिए; क्योंकि वस्तुओं के औसतों में होने वाली घट-बढ़ सदैव एक दूसरे को काट देती है।"[2] जैसा कि 'बेशी मूल्य' विषयक विवेचन से बाद में प्रकट होगा, मार्क्स की रुचि मुख्य रूप से समुच्चय या समग्र उत्पादन या मूल्यों के प्रति होगी। उनकी सारी-की-सारी विचारधारा सामाजिक स्वरूप में आने वाले विकासात्मक परिवर्तनों की सामूहिकता से संबंधित है। स्पष्ट है कि वह मूल्य-सिद्धांत को उसी अवस्था में अधिक सटीक तथा

---

[1] वही, पृष्ठ ५५६।

[2] एम० एम० बौबर, पूर्व उल्लिखित कृति, पृष्ठ २१२-२१३।

सार्थक समझते थे, जब उसे औसतों अथवा समग्ररूपता से व्यक्त किया जाए न कि व्यक्तिगत वस्तुओं के रूप में। "उन्होंने यह दावा कभी नहीं किया कि ये दोनों सिद्धांत एक-जैसे हैं। लेकिन उनका कहना था कि पहला अब भी दूसरे का हृदय तथा आत्मा है और इसीलिए प्रथम भाग में जिस श्रम-सिद्धांत का निरूपण किया गया था, उसे तीसरे भाग में त्याग नहीं दिया गया है।"[1]

मजदूरी-सिद्धांत

श्रम-शक्ति एक वस्तु है

मार्क्स का मजदूरी-सिद्धांत उनके सामान्य मूल्य-सिद्धांत को ही एक विशिष्ट श्रेणी के दामों पर ही लागू करना मात्र है। मार्क्सवादी अर्थ में मजदूरी श्रम-शक्ति के लिए, न कि श्रम के लिए, अदा किया गया दाम होता है। "श्रम शक्ति अथवा श्रम करने की क्षमता से किसी मानव में विद्यमान उन मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं का अभिप्राय होता है, जिसे वह व्यक्ति किसी प्रकार का 'प्रयोग मूल्य' पैदा करते समय काम में लाता है।"[2] 'श्रम-शक्ति' वह वस्तु होती है, जो श्रम बाजार में आती है, जिसे श्रमिक बेचता है और पूँजीपति मालिक खरीदता है। इस प्रकार 'श्रम-शक्ति' एक वस्तु होती है जिसका विनिमय मूल्य होता है; क्योंकि उसे श्रमिक अपने व्यक्ति से उस समय अलग कर सकता है, जब वह पूँजीपति के हाथ अपने प्रयोग मूल्य का उपयोग करने का अपना अधिकार अथवा श्रम बेचता है। उसके इस अधिकार को ही किसी दूसरे को दिया जा सकता है और परिणामतः "श्रम सारभूत है और मूल्य का विश्वव्यापी मानदंड है, किंतु स्वयं उसका कोई मूल्य नहीं है।" (अर्थात् विनिमय-मूल्य नहीं है)।[3]

दूसरे शब्दों में मार्क्स की मान्यता यह है कि श्रमिक मालिक के हाथ जो चीज बेचता है, वह उसे श्रमिक के रूप में काम पर लगाने का अधिकार बेचता है। श्रमिक की उत्पादकता नहीं बेची जाती, वरन् श्रमिक का स्वयं मेहनत करने का अधिकार बेचा जाता है। लेकिन, श्रमिक की उत्पादकता के प्रयोग मूल्य को इस प्रयोग मूल्य अथवा उत्पादकता मुक्त करने वाली उसकी शक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसलिए मालिक 'खरीदता' तो श्रम-शक्ति है, किंतु 'पाता' उस श्रम-शक्ति का प्रयोग-मूल्य है या स्वयं श्रम ही को प्राप्त करता है। इस प्रकार यद्यपि प्रतीत तो यह होता है कि श्रमिक का प्रयोग मूल्य या स्वयं श्रमिक का ही मजदूरी संविदा किया जाता है

---

1. वही, पृष्ठ २१४।
2. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १८६।
3. वही, पृष्ठ ५८८।

और उसी की वेतन रूप में कीमत अदा की जाती है, जबकि वस्तुस्थिति यह होती है कि श्रम-शक्ति का ही दाम दिया जाता है और उस श्रम-शक्ति का वास्तविक उपयोग उससे पृथक् तथा उससे भिन्न वस्तु होती है। हर हालत में श्रम-शक्ति का ही दाम चुकाया जाता है और इस श्रम-शक्ति का ही दाम मजदूरी होता है। इस स्थान पर इस अंतर को मार्क्स के मजदूरी-सिद्धांत के अंगस्वरूप समझा जाना चाहिए। उसका महत्त्व अगले अध्याय में 'बेशी मूल्य' का निरूपण करते समय प्रकट होगा।

मार्क्स के अनुसार मजदूरी उसी अवस्था में विद्यमान हो सकती है जब (१) श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति बेचने को स्वतंत्र हो और (२) वह स्वयं बिक्री के लिए कोई वस्तु बनाने में उसका उपयोग न कर सके। ··· "श्रम-शक्ति बाजार में एक वस्तु के रूप में तभी आती है और तभी तक बनी रहती है, जब उसका मालिक अर्थात् वह शक्ति जिसकी वह श्रम-शक्ति है, उसे बिक्री के लिए प्रस्तुत करे अथवा उसे एक वस्तु के रूप में बेचे। वह ऐसा कर सके, इसके लिए वह अपनी श्रम करने की क्षमता अथवा अपने व्यक्तित्व का स्वयं अबाध स्वामी हो।····बाजार में वस्तु के रूप में धन के बदले बिकने वाली श्रम-शक्ति के स्वामी के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि श्रमिक उन वस्तुओं को जिनमें उसका श्रम पदार्थीभूत है, बेचने की स्थिति में होने की अपेक्षा, अपनी उस श्रम-शक्ति से ही एक वस्तु के रूप में बेचने को बाध्य हो, जो उसके सजीव व्यक्ति का ही अंग होती है।"[१]

सामान्य मजदूरी तथा बाजार मजदूरी

सामान्य मूल्यों तथा बाजार मूल्यों के अंतर के समान ही मार्क्स का कहना है कि श्रमिक अथवा श्रमिकों के समूहविशेष को वास्तव में अदा की जाने वाली मजदूरी अस्थायी रूप से सामान्य मजदूरी से अधिक या कम हो सकती है। मजदूरी का एक निश्चित मध्यमान से ऊपर या नीचे होने का कारण माँग तथा पूर्ति की शक्तियाँ होती हैं। वह मध्यमान है स्वाभाविक मूल्य ···· जिसका निर्धारण माँग और पूर्ति के तत्त्वों से स्वतंत्र रूप से होता है।[२] मार्क्स ने जिस प्रश्न का उत्तर देना चाहा है वह है—इस मध्यमान के उच्चतम विंदु का निर्धारण कौन करता है? वे कौन से तत्त्व हैं जो 'प्राकृतिक' अथवा संतुलन मजदूरी निर्धारित करते हैं जिसकी ओर बाजार में प्रचलित वास्तविक मजदूरी अनवरत् रूप से बढ़ती रहती है हालांकि उससे अस्थायी रूप से घट-बढ़ होती ही रहती है। वर्त्तमान व्यवस्था के

---

[१] वही, पृष्ठ १८६–१८७।

[२] वही, पृष्ठ ५८६।

आधार पर श्रम भी अन्य वस्तुओं की भाँति एक वस्तु है। इसलिए इसमें भी वे सभी घट-बढ़ें होनी चाहिए, जिससे वह अपने मूल्य के वराबर औसत कीमत प्राप्त कर सके।[1] मार्क्स ने ऐसी अनेक स्थितियों का उल्लेख किया है, जिनमें श्रम-शक्ति वास्तव में अपने 'मूल्य' से अधिक अथवा कम दाम पर बेची गई है।"[2] ये घटा-बढ़ी एक दूसरे को काट देती हैं और 'सामान्य मजदूरी' ही वह विक्रय मूल्य रह जाता है, जिसे श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति को बेच कर दीर्घ काल में प्राप्त करता है।

श्रम-तत्त्व ही श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करता है

अन्य वस्तुओं के मूल्यों की भाँति श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय तत्त्व से निर्धारित होता है। "इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-समय उतना ही होता है, जितना जीवन-निर्वाह के साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में श्रमिक को ठीक हालत में जीवित रखने के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य ही श्रम-शक्ति का मूल्य होता है।"[3] मार्क्स के साहित्य में मजदूरी-सिद्धांत के अनेक संक्षिप्त कथन देखने को मिलते हैं। उनमें से बहुत से, उदाहरणार्थ नीचे के कथन, 'जीवन-निर्वाह' से कल्पना के भौतिक पक्ष को प्रकट करते हैं :—

"श्रम करने वाली शक्ति का मूल्य-निर्धारण उन आवश्यक वस्तुओं के मूल्य से होता है जो उस श्रमकर्त्री शक्ति को पैदा करने, विकसित करने, बनाए रखने तथा स्थायित्व प्रदान करने के लिए जरूरी होती हैं।"[4]

"बदले में वह (श्रमिक) जीवन के लिए आवश्यक उतनी ही वस्तुएँ—उससे अधिक कतई नहीं—पाता है, जिससे अगले दिन भी यही सौदा दुबारा करने की स्थिति में बना रह सके।"[5]

"मजदूर का औसत मूल्य न्यूनतम मूल्य होता है अर्थात् जीवन-निर्वाह साधनों का उतना ही परिमाण जितना उस श्रमिक को श्रमिक के रूप में मात्र बनाए रखने के लिए परमावश्यक होता है।"[6]

---

[1] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट पृष्ठ ५५।

[2] उदाहरण के लिए देखिए, कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ५६६, ५७२, ५७३, ६५७, और ६८०।

[3] वही, पृष्ठ १८९–९०।

[4] कार्ल मार्क्स, वैल्यू प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ४०।

[5] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ब्रिटिश लेबर गूवमेंट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ १९९।

[6] कम्युनिस्ट घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३९।

"इसलिए एक श्रमिक के उत्पादन की लागत, एक तरह से पूर्णतः जीवन-निर्वाह के उन साधनों तक ही सीमित होती है, जो उसे बनाए रखने तथा उसकी जाति को नष्ट न होने देने के लिए आवश्यक होते हैं"।[1]

"श्रम-शक्ति का मूल्य प्रत्येक अन्य वस्तु की भाँति उस श्रम-समय द्वारा निर्धारित होता है, जो इस विशेष वस्तु के उत्पादन और परिणामस्वरूप पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक होता है।"[2]

"....जैसा अन्य सभी वस्तुओं के बारे में होता है, वैसे ही श्रम के संबंध में भी इसकी बाजार-कीमत दीर्घ कालावधि में इसके मूल्य के अनुरूप होनी चाहिए और समस्त उतार-चढ़ावों के बाद तथा वह जो भी करें, उन सबके बाद श्रम करने वाला व्यक्ति, औसतन अपने श्रम का मूल्य ही प्राप्त कर सकेगा, जो उसकी श्रमिक शक्ति का मूल्य होता है और श्रम-शक्ति का यह मूल्य उन आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है, जो उसको बनाए रखने तथा संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है। इन आवश्यक वस्तुओं का मूल्य अंततः उन्हें पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम-परिमाण द्वारा निर्धारित होता है।"[3]

श्रम-शक्ति की सामान्य कीमत

अतः, यदि धन के रूप में व्यक्त की जाए, तो एक दिन की श्रम-शक्ति की सामान्य कीमत मानक मुद्रा का वह परिमाण होगी, जिसमें उतनी धातु लगी हो जिसे पैदा करने में सामाजिक रूप से आवश्यक उतना ही श्रम-समय लगा होगा जितना उन आवश्यक वस्तुओं के पैदा करने में लगेगा, जो श्रमिक के एक दिन के जीवन-निर्वाह के लिए जरूरी है। मार्क्स ने इस सिद्धांत को निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया है :—

"मान लीजिए औसत दिन के लिए आवश्यक इस वस्तु समुच्चय में सामाजिक श्रम के छह घंटे पदार्थभूत हैं तो (एक कार्य-दिवस का मानक समय १२ घंटे मानें) दैनिक श्रम-शक्ति में आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम सन्निहित है। दूसरे शब्दों में दैनिक श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आधे दिन का श्रम आवश्यक है। यह श्रम-परिमाण एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य होता है अर्थात् प्रतिदिन पुनः अर्जित श्रम-शक्ति का मूल्य होता है। यदि आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम तीन शिलिंगों

---

[1] वही, पृष्ठ ३०।

[2] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १८६।

[3] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्रॉइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ५६-५७।

में सन्निहित है, तो तीन शिलिंग दाम एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर होता है।"[१]

व्यक्ति नहीं, पारिवारिक जीवन-निर्वाह

मजदूरी के इस सिद्धांत का विवेचन करते समय मार्क्स ने व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को आधार माना है। श्रम-शक्ति के मूल्य का निर्धारण अकेले प्रौढ श्रमिक की जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक श्रम-समय के आधार पर न होगा, वरन् उसके परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक श्रम-समय के आधार पर होगा।[२] इसलिए श्रम-शक्ति का उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह साधनों में वे साधन भी संमिलित किए जाने चाहिए जो श्रमिकों के स्थानापन्न अर्थात् उनके बच्चों के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं ताकि इस विशिष्ट वस्तु के मालिकों की जाति बनी रहे और बाजार में आती रहे।[३] जब पारिवारिक मजदूरी तथा पारिवारिक जीवन-निर्वाह-व्यय इस प्रकार एक साथ जोड़ दिए जाते हैं, तो मार्क्स का आगे कहना है कि "जो तंत्र परिवार के प्रत्येक सदस्य को श्रम बाजार में आने पर लाचार कर देता है, उससे मानव के श्रम का मूल्य उसके तमाम परिवार के लोगों में बँट जाता है। वह तंत्र इस प्रकार उसकी श्रम-शक्ति की कीमत घटा देता है।"[४]

निपुणता के लिए मजदूरी में अंतर

इस सिद्धांत के अनुसार ही, विभिन्न श्रेणी की निपुणता के मध्य विद्यमान मजदूरी का अंतर उन विभिन्न श्रेणियों की निपुणताओं के उत्पादन पर आई लागत के अंतर के कारण ही होता है। निश्चित कोटि की निपुणता प्राप्त करने के लिए यदि एक निश्चित समय तक प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक हो, तो उस निपुणता के उत्पादन पर सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय का अधिक परिमाण खर्च होगा और ऐसे निपुण श्रमिक की श्रम-शक्ति का तदनुसार अधिक मूल्य होगा।......"चूंकि विभिन्न प्रकार की श्रम-शक्ति के भिन्न-भिन्न मूल्य होते हैं अथवा उनके उत्पादन के लिए विभिन्न परिमाणों में श्रम की आवश्यकता होती है, इसलिए श्रम-बाजार में उसका विभिन्न दाम मिलना ही चाहिए।"[५]

---

[१] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १६१–१६२।

[२] वही, पृष्ठ ४३१।

[३] वही, पृष्ठ १६१।

[४] वही, पृष्ठ ४३१।

[५] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३६।

स्पष्टतः इस बात से 'जीवन-निर्वाह' तत्त्व का अर्थ बदल कर निपुणता को जीवित रखना हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की निपुणता के बदले इस प्रकार सामान्यतः उतनी मजदूरी मिलेगी, जिससे उस प्रकार की निपुणता पुनः उत्पादित की जा सके। नीचे के सार-कथन में मार्क्स का आशय यह था कि शिक्षा तथा प्रशिक्षण वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अतिरिक्त लागतें हैं, जो निपुण श्रम-शक्ति के उत्पादन पर आती हैं :

"मानव प्राणी में परिवर्तन लाने के लिए, जिससे किसी उद्योग की शाखा-विशेष में निपुणता तथा सहजता प्राप्त कर सके और एक विशेष प्रकार की श्रम-शक्ति बन सके, एक विशेष शिक्षा अथवा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और इस प्रकार उतनी ही लागत आती है, जो कम या अधिक धन की वस्तुओं के बराबर होती है। श्रम-शक्ति की जटिलता जितनी कम या अधिक होगी, उसी के हिसाब से यह धन कम या अधिक होगा। इस शिक्षा का खर्च (समान श्रम-शक्ति पर यह खर्च अत्यधिक कम होता है) उस श्रम-शक्ति के उत्पादन पर आने वाले कुल खर्च में सारा-का-सारा शामिल होता है।"[1]

निर्वाह का अर्थ

मजदूरी के इस सिद्धांत की आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण करने में लागू करते समय मार्क्स के सामने दो कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। यदि एक ओर, सामान्य मजदूरी अथवा श्रम को पैदा करने की लागत को वह धन समझा जाए, जो श्रमिक के 'भौतिक' निर्वाह मात्र के लिए आवश्यक हो, तो यह सिद्धांत न केवल मजदूरी-संबंधी कुछ स्पष्ट रूप से दिखने वाली बातों के प्रतिकूल पड़ता है, वरन् पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी बढ़ाने के सभी प्रयासों को भी निरर्थक ही सिद्ध करेगा। लेकिन यदि श्रम-शक्ति की उत्पादन लागत श्रमिकों की नई इच्छाओं के कारण 'बढ़ सकती है', तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रमिकों के अपने प्रयासों के द्वारा मजदूरी बढ़ना संभव प्रतीत होता है। चूँकि मार्क्स ने अपने मजदूरी-सिद्धांत के इन उप-सिद्धांतों को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया, इसलिए मजदूरी का उनका विवेचन इन दोनों स्थितियों के बीच घूमता रहता है। किन्हीं विशिष्ट संदर्भों में वह केवल भौतिक निर्वाह संकल्पना को ही श्रम-शक्ति की मजदूरी निर्धारित लागत स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। अपने विवेचन के अन्य अंशों में वह 'निर्वाह' विषयक संकल्पना की अधिक लोचशील व्याख्या का प्रयोग करते हैं।

---

[1] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १९२।

वास्तव में मार्क्स की रचनाओं में ऐसे अंश मिल सकते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि 'निर्वाह' विषयक संकल्पना में शामिल किए जाने से किसी चीज को निकाला नहीं जा सकता, बशर्ते कि श्रमिक उस वस्तु की आवश्यकता बहुत अधिक अनुभव करे और यह सोचे तथा तदनुसार आचरण भी करे कि वह वस्तु उसके जीवन-निर्वाह का आवश्यक अंग है। एक या दूसरे संदर्भ में मार्क्स तथा एंगिल्स ने जिन चीजों को 'जीवन-निर्वाह' में शामिल किया है, उनको शामिल करने की संभावना नीचे के उद्धरणों से प्रकट होती है।[1]

श्रम-शक्ति के मूल्य का निर्धारण जीवन की उन आवश्यकताओं के मूल्य से होता है, जिनकी औसत श्रमिक को आदतन जरूरत होती हैं।[2]

इसलिए उसके निर्वाह-साधन इतने पर्याप्त होने चाहिए कि वे श्रम करने वाले व्यक्ति के रूप में सामान्य अवस्था में बनाए रख सकें।[3]

अतः अन्य वस्तुओं की तुलना में, श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्धारण में एक ऐतिहासिक तथा नैतिक तत्त्व भी संमिलित हो जाता है।[4]

सामान्य स्थितियों में एक उचित दिन की मजदूरी वह धनराशि होती है, जो स्थान तथा देश के मानदंड के अनुसार श्रमिक के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक चीजें प्राप्त करने के लिए जरूरी हो, ताकि वह स्वयं को काम करने की स्थिति में रख सके और अपनी वंश-वृद्धि कर सके।[5]

लेकिन, जहाँ लंबे अर्से से मजदूरी की एक निश्चित दर परंपरा से निर्धारित हो गई हो और उसे घटाने में विशेष रूप से कठिनाइयाँ उपस्थित होती हों, ऐसे अपवादस्वरूप मामलों में मालिक लोग कभी-कभी अनिवार्य रूप से समय-मजदूरी अनिवार्य रूप से लागू करने को बाध्य होते हैं।

इस मान्य भौतिक तत्त्व के अतिरिक्त, प्रत्येक देश में श्रम के मूल्य का निर्धारण 'रहन-सहन के परंपरागत स्तर' से होता है। 'केवल भौतिक जीवन' ही नहीं, वरन् कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि भी जरूरी है जो उन सामाजिक स्थितियों के कारण उत्पन्न होती हैं, जिनमें लोग रहते तथा लालन-पालन प्राप्त करते हैं।....

---

१. महत्त्वपूर्ण शब्दों तथा वाक्यांशों को उद्धरणों में रखना लेखक की ओर से है।

२. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ५६८।

३. वही, पृष्ठ १९०।

४. वही, पृष्ठ १९०।

५. फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ब्रिटिश लेबर मूवमेंट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ १९८।

'ऐतिहासिक परंपराएँ तथा सामाजिक आदतें' इस संबंध में जो महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा करती हैं, उसका ज्ञान श्री थॉर्नटन की पुस्तक, 'ओवर पोपुलेशन' (जनसंख्यातिरेक) से मिल सकता है। ....श्रम के मूल्य में संमिलित होने वाला यह ऐतिहासिक अथवा सामाजिक तत्त्व 'बढ़ भी सकता है, घट भी सकता है' अथवा एकदम समाप्त भी हो सकता है, जिससे भौतिक सीमा के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहे।.... विभिन्न देशों में मजदूरी के स्तरों की अथवा श्रम के मूल्यों की तुलना करने पर तथा एक ही देश के विभिन्न ऐतिहासिक कालों में उनकी तुलना करने पर आप पाएँगे कि श्रम का मूल्य अपने-आप में एक स्थिर नहीं, वरन् परिवर्तनीय होता है।....[१]

इस प्रकार मार्क्स का मजदूरी-सिद्धांत विशुद्ध सैद्धांतिक रूप में पर्याप्त स्पष्ट है। लेकिन, वह उन तमाम अपवादों के कारण धुँधली हो गई है कि जिन्हें मार्क्स ने श्रम-शक्ति के 'निर्वाह' के अंतर्गत आने वाली चीजें गिनाते समय अपवाद मानना आवश्यक समझा। एक समय तो 'जीवन-निर्वाह' का अर्थ केवल वह महत्त्वपूर्ण चीजें ही लगती हैं, जो शारीरिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जरूरी हैं। किंतु, दूसरे समय उनका विस्तार कर दिया जाता है, जिससे वे चीजें भी शामिल हो जाती हैं जिनकी श्रमिकों द्वारा अपनी सामाजिक अथवा ऐतिहासिक स्थितियों के कारण इच्छा की जाने लगती है।

भौतिक निर्वाह पर बल

फिर भी जब मार्क्सवादी सिद्धांत पर समग्र रूप से विचार करें, तो वह स्पष्ट रूप से बताता है कि मजदूरी भौतिक निर्वाह-स्तर से घनिष्ट रूप से संबंधित है। यदि भौतिक निर्वाह के प्रतिकूल काम करने वाली कुछ प्रवृत्तियाँ हैं भी तो वे या तो अस्थायी होती हैं अथवा वे इतनी मंथर गति से काम करती हैं कि पूँजीवाद में काम करने वाले मूलभूत्त तत्त्वों का विश्लेषण करते समय उनकी उपेक्षा की जा सकती है। अपनी विचारधारा के विभिन्न अन्य अंशों में मार्क्स ने उन शक्तिशाली तत्त्वों की चर्चा की है, जो पूँजीवाद में मजदूरी को 'भौतिक निर्वाह-स्तर' से ऊपर बहुत अधिक बढ़ने को प्रभावपूर्ण ढंग से रोकते हैं। मार्क्स ने अपने मूल्य-सिद्धांत में (औसत की संकल्पनाओं का समावेश करके) जो संशोधन किए हैं, उनके बाद भी वह मूल-सिद्धांत को मूल्य-निर्धारण का 'हृदय' मान सकते हैं। इसी प्रकार उनके मजदूरी-सिद्धांत में 'निर्वाह' संकल्पना में स्पष्टतः की गई अनेक रियायतों तथा

---

१. कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ५७–५८ ।

संशोधनों के बाद भी मार्क्स भौतिक निर्वाह को मजदूरी-निर्धारण करने वाली श्रम-शक्ति उत्पादन लागत को 'हृदय' मानते हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. अक्सर यह कहा जाता है कि या तो मार्क्स अर्थशास्त्री विलकुल थे ही नहीं और यदि थे भी, तो बहुत घटिया किस्म के। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? यदि हाँ तो क्यों और नहीं, तो क्यों ?

२. इस बात का क्या प्रमाण है कि मार्क्स ने मूल्य तथा मजदूरी के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जिसे वह ठीक समझते थे ?

३. निम्नलिखित पदांशों की उस रूप में व्याख्या कीजिए, जिसमें मार्क्स ने उनका प्रयोग किया है :— प्रयोग मूल्य, विनिमय मूल्य, दाम, बाजार मूल्य, सामान्य मूल्य।

४. जब मार्क्स ने मूल्य-निर्धारण करने वाली शक्तियों का विश्लेषण किया है, तो प्रश्न-संख्या ३ में दिए गए किस प्रकार के मूल्य उनके मस्तिष्क में थे ?

५. किस तर्क-प्रणाली के द्वारा मार्क्स से अपने इस कथन का समर्थन किया है कि वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण कर्त्ता तत्त्व 'श्रम' होता है ?

६. जब मार्क्स श्रम को मूल्य-निर्धारणकर्त्ता मानते हैं, तो श्रम से उनका मतलब शारीरिक श्रम से होता है, या मानसिक श्रम से या दोनों से ?

७. इस कथन में किसी वस्तु का 'श्रम-तत्त्व' उसके मूल्य को निर्धारित करता है और इस कथन में कि वस्तु में सन्निहित 'सामाजिक रूप से आवश्यम श्रम-समय' उसके मूल्य को निर्धारित करता है, क्या अंतर है ?

८. क्या मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत में उन मशीनों की लागत को, जिनका प्रयोग उस वस्तु के बनाने में होता है, उस वस्तु के मूल्य-निर्धारक तत्त्वों से अलग रखा गया है ?

९. क्या मार्क्स की मान्यता यह थी कि किसी पदार्थ को बनाने में प्रयुक्त श्रम के प्रयोग मात्र से ही उस पदार्थ का मूल्य हो जाता है ?

१०. क्या श्रम-समय अनिवार्य रूप से एक सजातीय तत्त्व है अथवा विजातीय ? इस तथ्य के कारण उपस्थित हुई कठिनाई का सामना मार्क्स ने किस प्रकार किया था ?

११. मार्क्स के अनुसार इस बात का क्या महत्त्व है कि आधुनिक समाजों में मूल्यों की अभिव्यक्ति मुद्रा के रूप में होती है ?

१२. क्या मार्क्स यह मानते थे कि मजदूरी 'श्रम' के लिए दी जाती है अथवा 'श्रम-शक्ति' के लिए ? इस अंतर का क्या महत्त्व है ?

१३. किस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का मजदूरी-सिद्धांत केवल उनके मूल्य-सिद्धांत का अंगमात्र है ?

१४. मार्क्स ने अपने मजदूरी-सिद्धांत में 'जीवन-निर्वाह' की संकल्पना का प्रयोग किस रूप में किया है ? जैसा उन्होंने प्रयोग किया है, क्या संकल्पना पूरी तरह सुस्पष्ट है ? सोदाहरण वताइए ।

●

अध्याय ७

बेशी मूल्य तथा पूँजी-संचयन का मार्क्सवादी सिद्धांत

बेशी मूल्य

सिद्धांत की रूपरेखा

मार्क्स के लिए अपने मूल्य-सिद्धांत तथा मजदूरी-सिद्धांत को एक साथ मिला कर बेशी मूल्य के नए सिद्धांत का प्रतिपादन एक साधारण-सी बात थी। मोटी रूपरेखा के तौर पर बेशी मूल्य का सिद्धांत इस प्रकार है : "चूँकि वस्तु में अंतर्भूत सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय ही उसके मूल्य का निर्धारण करता है, अतः एक दिन के श्रम-समय में उत्पादित समस्त मूल्य, उस दिन भर के प्रयास से उत्पादित सभी वस्तुओं के कुल विनिमय-मूल्यों के बराबर होगा। एक और स्वयं एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य उन वस्तुओं में अंतर्भूत सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय से निर्धारित होता है, जो श्रमिक के एक दिन के जीवन-यापन के लिए जरूरी होती हैं। लेकिन इस बात की आवश्यकता नहीं कि मजदूर उतने ही घंटे काम करे जितने घंटे काम करना अपना जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक उत्पादन करने के लिए सामाजिक रूप से जरूरी हो। जब श्रमिक अपने एक दिन की श्रम-शक्ति पूँजीपति मालिक के हाथों बेचता है, तो वह मालिक ही कार्य-दिवस के काम के समय का निर्धारण करता है। यदि पूँजीपति मालिक काम के घंटों का निर्धारण उस समय से अधिक करता है जितने समय में मजदूर के जीवन-निर्वाह के लिए चीजें पैदा की जा सकें तो मालिक श्रमिक को जो वेतन दे, जिसका निर्धारण जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक चीजें बनाने में लगे समय से हो, तो वह एक दिन में उत्पादित वस्तुओं के कुल मूल्य

से कम होगा; क्योंकि कितने मूल्य की चीजें पैदा की गई हैं—यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि कुल कितने घंटे काम किया गया। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के अंतर्गत कार्य-दिवस में काम के घंटे श्रम के इन औसत घंटों से अधिक होंगे, जिनमें श्रमिक के जीवन-निर्वाह की चीजें पैदा की जा सकें (अर्थात् वह धनराशि जो वह मजदूरी के रूप में प्राप्त करता है)। इन अतिरिक्त घंटों में वह जो मूल्य पैदा करता है, वह 'बेशी मूल्य' होता है अर्थात् श्रमिकों द्वारा उत्पादित मूल्य। लेकिन, जो वे स्वयं प्राप्त नहीं कर पाते; क्योंकि उनकी मजदूरी तो उनके जीवन-निर्वाह मूल्य के बराबर होती है।

सूत्र के रूप में सिद्धांत

इस सिद्धांत को सरल करके एक सूत्र (फार्मूला) बनाया जा सकता है: क-ख = ग। यदि 'क' का मान एक कार्य-दिवस में पैदा की जाने वाली कुल वस्तुएँ हैं और 'ख' का मान श्रमिक के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक कुल वस्तुएँ हैं, तो 'ग' का मान वे समस्त वस्तुएँ होंगी, जिनका मूल्य 'बेशी मूल्य' कहलाएगा। यदि 'क' मानक कार्य-दिवस में उत्पादित कुल मूल्य हों और 'ख' श्रमिक के एक दिन के जीवन-निर्वाह का मूल्य हो, तो 'ग' बेशी मूल्य है। यदि 'क' घंटों के रूप में एक कार्य-दिवस की लंबाई है और 'ख' श्रमिक के एक दिन के जीवन-निर्वाह की चीजें पैदा करने में सामाजिक रूप से आवश्यक घंटों का सूचक हो, तो 'ग' उन घंटों का सूचक है जिनमें श्रमिक ने 'बेशी मूल्य' पैदा किया। यदि 'क' एक दिन के एक श्रम-प्रयास द्वारा वस्तुओं का कुल मूल्य है और 'ख' मजदूर को मजदूरी के रूप में अदा किए गए मूल्य हैं तो 'ग' वह मूल्य है, जिसका उत्पादन तो श्रमिक ने किया, किंतु जिसे पूँजीपति मालिक ने हड़प लिया। यदि 'क' मानक श्रम-दिवस है और 'ख' इस दिवस का वह भाग है, जो श्रमिक के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में लगाना जरूरी है, तो 'ग' श्रम-दिवस का वह भाग है, जिसका प्रतिफल श्रमिक को मिला ही नहीं। अथवा, इस समूचे को जिस दृष्टि से देखा जाए, उसके हिसाब से 'ग' श्रमिक की श्रम-शक्ति का शोषित भाग है अथवा ये वे घंटे हैं, जिनमें श्रमिक ने अपने लिए नहीं, पूँजीपति के लिए काम किया है। एक अन्य दृष्टिकोण से, यदि 'क' विनिमय के लिए प्रस्तुत सभी वस्तुओं का कुल मूल्य है, तो 'ख' इन वस्तुओं का यह भाग है जो श्रमिकों को मिलती रहेगी; क्योंकि इतना उनको मजदूरी के रूप में दिया ही जाना चाहिए और 'ग' वे वस्तुएँ होंगी जिन्हें पूँजीपति मालिक विनिमय-प्रक्रिया से निकाल लेगा। इनमें से कुछ को तो वह अपने खुद के उपभोग के लिए रखेगा और कुछ को भविष्य के लिए अग्रिम रूप में (संचय पूँजी-कोष) रखेगा जिससे वह श्रमिकों को फिर नौकर रख सके, ताकि अधिक बेशी मूल्य का उत्पादन हो सके।

श्रम तथा श्रम-शक्ति के अंतर का संबंध

मार्क्स ने बेशी मूल्य-सिद्धांत का उसी समय आधार बना दिया था, जब उन्होंने एक वस्तु के रूप में श्रम के विनिमय मूल्य तथा उसके प्रयोग मूल्य में (अथवा श्रम-शक्ति खरीदने तथा श्रम खरीदने) के बीच भेद किया था। पूँजीपति मालिक श्रम-शक्ति खरीदता है, किंतु श्रम को हासिल करता है। वह मजदूरी के रूप में श्रम-शक्ति का मूल्य (जीवन-निर्वाह-मात्र के लिए धन) देता है और श्रम का प्रयोग मूल्य हासिल करता है, यानी वह उस श्रम को जिस रूप में चाहे, प्रयोग कर सकता है। श्रम-शक्ति के विनिमय-मूल्य (अथवा मजदूरी) का निर्धारण उसे उत्पादित करने की लागत (उसके जीवन-निर्वाह) से होता है, जबकि श्रम का मालिक के लिए प्रयोग मूल्य जो उसे अपने यहाँ नौकर रख कर, उसका मालिक बन जाता है, इस बात से निर्धारित होता है कि वह उसका क्या उपयोग कर पाता है।

यद्यपि ऐसे बहुत से तरीके हैं, जिनके द्वारा मालिक श्रम के प्रयोग मूल्य को उस विनिमय-मूल्य से जो वह अदा करेगा, कहीं अधिक विनिमय-मूल्य पैदा कर सके, लेकिन इसका सबसे स्पष्ट मार्ग श्रमिक से उतने घंटों से अधिक घंटे काम कराना है, जितने में वह मालिक से प्राप्त मजदूरी के बराबर विनिमय-मूल्यों का उत्पादन कर दे। ऐसा पूँजीपति मालिक अवश्य करेगा और यदि नहीं करता, तो वह स्पष्ट रूप से मूर्ख होगा—और इसीलिए बेशी मूल्य पैदा होता है।

उदाहरण

मार्क्स ने कर्मचारियों की एक संस्था के लिए बेशी मूल्य का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया था :—

''अब मान लीजिए कि श्रम करने वाले एक व्यक्ति की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य औसत परिमाण के उत्पादन में औसत श्रम के छह घंटे लगते हैं। यह और मान लीजिए कि औसत श्रम के छह घंटे तीन शिलिंग के बराबर दाम के सोने से वसूल हो जाते हैं, तब तीन शिलिंग उसकी कीमत होगी अथवा उस व्यक्ति की श्रम-शक्ति के दैनिक मूल्य की मुद्रा के रूप में अभिव्यक्ति होगी? यदि वह प्रतिदिन छह घंटे तक काम करे तो वह इतने मूल्य की वस्तुएं पैदा कर सकता है जिससे उसकी प्रतिदिन की औसत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है अथवा वह स्वयं को श्रम करने वाले व्यक्ति के रूप में बनाए रख सकता है।

लेकिन हमारा व्यक्ति मजदूरी पाने वाला श्रमिक है, इसलिए उसे तो अपनी श्रम-शक्ति पूँजीपति के हाथों बेचनी चाहिए। यदि वह उसे तीन शिलिंग प्रतिदिन अथवा चौदह शिलिंग प्रति सप्ताह के हिसाब से बेचता है तो वह उसे उस कीमत पर बेचता है। मान लीजिए वह एक कताई करने वाला है। अगर वह प्रतिदिन छह घंटे

काम करता है तो वह रुई का प्रतिदिन ३ शिलिंग मूल्य बढ़ा देता है। वह इस प्रकार जो मूल्य बढ़ाएगा, वह उसकी मजदूरी के ही बराबर होगा अथवा वह उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य होगा, जो उसे प्रतिदिन मिलता रहा। लेकिन उस अवस्था में पूँजीपति को बेशी मूल्य अथवा बेशी उत्पादन प्राप्त न होगा; तब यहीं संघर्ष की स्थिति आती है।

कर्मचारी की श्रम-शक्ति खरीद कर तथा उसे उसका मूल्य अदा करके पूँजीपति को किसी भी अन्य खरीददार की भाँति खरीदी वस्तु का उपभोग करने या स्वेच्छापूर्वक उपभोग करने का अधिकार मिल जाता। किसी व्यक्ति की श्रम-शक्ति का आप उपभोग या उपयोग उससे ठीक उसी प्रकार काम करा कर करेंगे, जिस प्रकार आप मशीन का उपभोग या उपयोग उसे चला कर करते हैं। कर्मचारी की श्रम-शक्ति का दैनिक या साप्ताहिक मूल्य चुका कर उसे यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह उस श्रम-शक्ति से पूरे दिन या पूरे सप्ताह काम कराए। वास्तव कार्य-दिवस अथवा कार्य सप्ताह की कुछ सीमाएँ हैं, लेकिन इन पर हम बाद में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

इस समय तो मैं आपका ध्यान एक निर्णायक बात की ओर ही आकृष्ट करना चाहता हूँ।

श्रम-शक्ति के मूल्य का निर्धारण श्रम के उस परिमाण के आधार पर होता है, जो उसके जीवन-निर्वाह तथा उसके संतति-विस्तार के लिए आवश्यक होता है। लेकिन, उस श्रम-शक्ति का उपयोग केवल श्रमिक की सक्रिय क्षमताओं तथा शारीरिक बल के अनुसार ही होता है। श्रम-शक्ति दैनिक अथवा साप्ताहिक उपयोग से सर्वथा भिन्न होती है, ठीक उसी तरह जिस तरह एक घोड़े को चारा चाहिए और घुड़सवार को वह जितने समय तक लेकर चल सकता है, ये बातें अलग-अलग होती हैं। कर्मचारी की श्रम-शक्ति का मूल्य जिस श्रम-परिमाण तक ही सीमित होता है, वह उस श्रम-की कोई सीमा नहीं है, जो इस श्रमिक को करना होता है। अपने कताई वाले का ही उदाहरण लीजिए। हमने देखा है कि अपनी श्रम-शक्ति की पुनःप्राप्ति के लिए उसे प्रतिदिन तीन शिलिंग का मूल्य फिर से पैदा करना चाहिए, जो वह प्रतिदिन छह घंटे काम करके कर सकता है। लेकिन इससे कोई उसे प्रतिदिन दस-बारह या इससे अधिक घंटे काम करने से तो नहीं रोकता। कताई वाले की श्रम-शक्ति का दैनिक अथवा साप्ताहिक मूल्य चुका कर पूँजीपति को उस श्रम-शक्ति को पूरे दिन या सप्ताह भर प्रयोग करने का अधिकार मिल जाता है। अतः, वह उससे प्रतिदिन कोई १२ घंटे काम कराएगा। उसकी मजदूरी का खर्च चुकाने अथवा उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य अदा करने के लिए आवश्यक छह घंटों के अलावा उसे छह घंटे और

काम करना पड़ेगा जिसे मैं बेशी श्रम के घंटे कहूँगा और इस बेशी श्रम से बेशी मूल्य तथा बेशी उत्पादन प्राप्त होगा। उदाहरण के तौर पर हमारा कताई वाला छह घंटे के श्रम से रुई में तीन शिलिंग का मूल्य बढ़ता है, जो उसकी मजदूरी के बराबर है, तो बारह घंटों में, रुई के मूल्य में ६ शिलिंगों की वृद्धि करेगा और वह इसी अनुपात में अतिरिक्त सूत कातेगा। चूंकि उसने अपनी श्रम-शक्ति पूँजीपति के हाथों बेच दी है, इसलिए उसके द्वारा बढ़ाया गया समस्त मूल्य या उत्पादन पूँजीपति का है जो कि उसकी श्रम-शक्ति का मालिक है। अतः, पूँजीपति ३ शिलिंग देकर ६ शिलिंगों का मूल्य वसूल करेगा; क्योंकि वह उतना मूल्य श्रमिक को देकर जितने में छह घंटे का श्रम पदार्थीभूत है, बदले में उतना मूल्य प्राप्त करेगा, जितने में १२ घंटों का श्रम पदार्थभूत है। यही प्रक्रिया प्रतिदिन दुहरा कर पूँजीपति प्रतिदिन तीन शिलिंग देकर छह शिलिंग जेब में डालेगा, जिसमें से आधा तो नए सिरे से मजदूरी देने पर खर्च करेगा तथा दूसरा आधा भाग बेशी मूल्य होगा, जिसके लिए पूँजीपति कुछ भी अदा नहीं करता। पूँजी और श्रम के इस प्रकार के परिवर्तन के आधार पर ही पूँजीबादी उत्पादन अथवा मजदूरी-प्रणाली टिकी हुई है और जिससे मजदूरी करने वाले की संतति मजदूरी करने वाली बनती चली जाएगी एवं पूँजीपति की संतानें एक पूँजीपति बनती चली जाएँगी।"[1]

पूँजीवाद के अंतर्गत अनिवार्य

इस प्रकार मार्क्स ने बेशी मूल्य को 'पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था' का अनिवार्य भाग बना दिया है। जिस अर्थतंत्र में वस्तु के मूल्यों तथा मजदूरियों का निर्धारण वर्त्तमान रूप में होता है और जिस अर्थतंत्र में श्रमिक को पूँजीपति मालिक के हाथों अपनी श्रम-शक्ति एक वस्तु रूप में बेचने की स्वतंत्रता हो तथा अनिवार्यता हो, वहाँ बेशी मूल्य होगा ही। यह न तो पूँजीपति के अपनाने से पैदा होता है और न श्रमिकों के विरोध के कारण समाप्त हो सकता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अधीन बेशी मूल्य उसी अवस्था में समाप्त हो सकते हैं, जब पूँजीवादी मालिक श्रमिक से दिन में उतने घंटों से अधिक घंटों तक काम न लें, जितने श्रमिक के जीवन-निर्वाह के साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक हों अथवा श्रमिक बलात् अपनी मजदूरी इतनी बढ़वा ले कि बेशी मूल्य ही समाप्त हो जाएं। मार्क्स का मत है कि पहली बात तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि वह पूँजीपति मालिक के लिए आत्मघातक होगा कि वह अपनी आजीविका का एकमात्र साधन लगा दे। दूसरी बात इसलिए नहीं हो सकती; क्योंकि

---

[1] कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३५। पृष्ठ ४०-४२।

पूँजीवादी अर्थतंत्र में आर्थिक नियम मजदूरी को जीवन-निर्वाह-स्तर से ऊपर नहीं जाने देंगे।

पूँजीवाद की संचालक शक्ति

बेशी मूल्य न केवल पूँजीवादी अर्थतंत्र में अनिवार्य है, वरन् मार्क्स के मतानुसार यह इस अर्थतंत्र का हृदय तथा आत्मा है। पूँजीपति मालिक की केंद्रस्थ स्थिति होती है। पूँजीवाद के आरंभिक ऐतिहासिक चरणों में उसने उत्पादन का संगठन करने के लिए व्यक्तिगत रूप से पहले की और पूँजीवाद के परिपक्व हो जाने पर भी वह अन्य उत्पादक तत्त्वों को किराए पर लेता रहा और उनका संचालन करता रहा, जबकि वह स्वयं श्रमिकों को वेतन के रूप में दिए जाने वाले धन का दाता की निष्क्रिय भूमिका ही अदा करता रहा। पूँजीवादी प्रणाली में अधिशेष मूल्य प्राप्त करने के प्रयास वस्तुओं के उत्पादन की एक प्रमुख प्रेरणा का काम करता है।.... "हमारे पूँजीपति के सामने दो उद्देश्य होते हैं; एक तो वह प्रयोग मूल्य पैदा करना चाहता है, जिसका विनिमय मूल्य होता है;....दूसरे वह ऐसी वस्तुएँ पैदा करना चाहता है, जिसका मूल्य, उसके उत्पादन में प्रयुक्त सभी वस्तुओं के कुल मूल्य से अधिक हो।....उसका उद्देश्य एक प्रयोग मूल्य ही पैदा करना नहीं, वरन् एक वस्तु भी पैदा करना होता है; न केवल प्रयोग मूल्य, वरन् मूल्य; न केवल मूल्य वरन् इसके साथ-साथ बेशी मूल्य भी पैदा करना होता है।"[१] इस प्रकार बेशी मूल्य पूँजीवादी व्यवस्था की उत्पादन शक्तियों से इतनी अधिक घनिष्टता से जुड़ा हुआ है कि यदि उत्पादन होता है तो बेशी मूल्य को प्राप्य रहना ही चाहिए। चूँकि मूल्य को पूँजीवादी व्यवस्था के तंत्र से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए उसके नैतिक औचित्य पर उस तमाम तंत्र से भिन्न रख कर विचार नहीं किया जा सकता, जिसका कि वह स्वाभाविक अंग है।

शोषण की सीमा

पूँजीपति मालिक जब संपूर्ण बेशी मूल्य वसूल करता है, तो वह श्रमिक का पूर्ण शोषण अथवा लूट होती है। मार्क्स ने बेशी मूल्य को प्रतिशत के रूप में एकदम ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने का तरीका खोजा था, जिससे प्रत्येक श्रमिक का अलग-अलग रूप से तथा समस्त समाज का कितना शोषण होता है, इसकी गणना की जा सके। इस गणना को विस्तारपूर्वक जानना बेशी मूल्य-सिद्धांत को समझने के लिए आवश्यक नहीं है। फिर भी, यह ध्यान में रखना जरूरी है कि मार्क्स यह अनुभव करते थे कि पूँजीपति के स्वामित्व में जो धनराशि है, उस सबके प्रतिशत के रूप में

---

[१] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण, पृष्ठ २०७।

लाभ को बताना बहुत भ्रामक है और शोषण किस सीमा तक हो रहा है, उसे बहुत घटा कर बताता है। उत्पादन-कार्य में लगी पूँजी को मार्क्स ने दो भागों में विभक्त किया है। इनमें पहले भाग में वह पूँजी शामिल की जाती है, जो स्थिर उपकरणों तथा कच्चे मालों की खरीद में खर्च की जाती है और दूसरी पूँजी वह होती है, जिसे श्रम-शक्ति का मूल्य अदा करने के लिए मजदूरी के रूप में प्रयोग किया जाता है। पहले प्रकार की पूँजी को 'अचल' पूँजी कहते हैं तथा दूसरी प्रकार की पूँजी को 'चल' पूँजी। इसके बाद यह तर्क देते हैं कि बेशी मूल्य का प्रतिशत निकालने का एकमात्र उचित उपाय चल पूँजी की राशि से उसकी तुलना करना है। उनकी मान्यता है कि इस संबंध से ही पूँजीपति मालिक द्वारा 'श्रमिक के शोषण की वास्तविक सीमा' प्रकट होगी; क्योंकि इसी से 'दत्त मूल्य श्रम और अदत्त मूल्य श्रम' के वास्तविक अनुपात का पता चलता है।

'किराया', 'ब्याज' और 'लाभ' का संबंध

मार्क्स के अनुसार अधिशेष मूल्य एक विषमांग निधि होती है। यद्यपि पूँजीपति मालिक की झोली में समान रूप से यह बेशी मूल्य जाता है, तथापि वह अनेक प्रकार की व्यक्तिगत आय के रूप में बँट जाता है। "किराया, ब्याज (अधिक सक्रिय पूँजीपति मालिक से भिन्न, कर्ज पर धन देने वाले पूँजीपति के लिए) तथा औद्योगिक लाभ (पूँजीपति मालिक के पास रहने वाला) आदि किसी वस्तु के बेशी मूल्य अथवा उससे प्राप्त अदत्त मूल्य श्रम के विभिन्न भागों के विभिन्न नाम हैं और ये सब सामान्य रूप से इस स्रोत तथा मात्र इसी स्रोत से प्राप्त किया जाता है।" एक अन्य संदर्भ में, मार्क्स कहते हैं कि "समस्त बेशी मूल्य जो बाद में कोई भी स्वरूप (लाभ, ब्याज या किराया व लगान) ग्रहण करे, तात्त्विक रूप से अदत्त मूल्य श्रम का ही प्रकट रूप है।"[१] इस प्रकार किराया (या लगान), ब्याज और लाभ प्राप्त करने वाले तथा इनसे अपनी आय प्राप्त करने वाले अनुषंगी वर्गों के लोग वास्तव में अनर्जित अधिशेष ही प्राप्त करते हैं:, वे सब श्रम-शोषण की पूँजीवादी प्रणाली से लाभ उठाने वाले लोग हैं। मार्क्स तथा एंगिल्स कुछ अतिशयोक्ति के साथ मानते हैं कि इस प्रकार के समाज में "जो लोग काम करते हैं, वे कुछ प्राप्त नहीं कर पाते और जो कुछ प्राप्त करते हैं, वे काम नहीं करते।"[२]

---

[१] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ५८५।

[२] कम्युनिस्ट घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, ई० बर्न्स, कोम्प न्यूयार्क रैंडम हाउस, १९३५।

सामान्य मूल्य तथा सामान्य मजदूरी के कारण बेशी मूल्य

यहाँ जो महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की है, वह यह है कि अधिशेष मूल्य न तो वस्तुओं को उनके वास्तविक मूल्य से अधिक दाम पर बेचने से प्राप्त होता है और न श्रम-शक्ति को उनके वास्तविक मूल्य से कम पर खरीदने से। इस प्रश्न पर मार्क्स का आग्रह बड़ा प्रबल था। दामों तथा मजदूरी का सामान्य स्तर से कम या ऊपर होने से मुनाफे में अस्थायी तौर पर वृद्धि या कमी हो सकती है लेकिन जिस बेशी मूल्य का वर्णन वह करते हैं, वह स्थायी तत्त्व है और अपने-आप में सामान्य बातें हैं। पूँजीपति मालिक के लिए बेशी मूल्य तो उस समय भी अदा होता है, जब वह अपनी वस्तु को सही अथवा सामान्य मूल्य पर बेचता है तथा श्रम को उसका पूरा सामान्य मूल्य देकर खरीदता है।

"किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के कुल परिमाण के आधार पर निर्धारित होता है, किंतु इस श्रम-परिमाण का एक अंश उस मूल्य के रूप में प्राप्त कर लिया जाता है, जो मजदूरी के रूप में अदा किया जाता है और उसका एक भाग उस मूल्य के रूप में प्राप्त किया जाता है, जिसके बराबर धनराशि श्रम को अदा नहीं की जाती। इस प्रकार किसी वस्तु में लगे श्रम का एक भाग दत्त मूल्य श्रम होता है और एक भाग अदत्त मूल्य श्रम। इसलिए किसी वस्तु को उसके मूल्य पर अर्थात् उसमें लगे कुल श्रम-परिमाण के पदार्थभूत मूल्य पर, बेचने से भी पूँजीपति अनिवार्य रूप से उसे लाभ लेकर बेचता है। वह न केवल उस वस्तु को बेचता है, जिस पर उसकी लागत आई है, वरन् वह उस अंश को भी बेचता है, जिस पर स्वयं उसकी लागत कुछ नहीं आई है, हालांकि उसके कारीगर का श्रम उसमें लगा है। वस्तु की पूँजीपति को बड़ी लागत और उसकी असली लागत दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अतः, मैं दुहराता हूँ कि सामान्य तथा औसत लाभ वस्तु को उसके वास्तविक मूल्य से अधिक नहीं, वरन् वास्तविक मूल्य पर बेचने से होता है।"[1]

पूँजीवादी उत्पादन से बेशी मूल्य की उत्पत्ति

इस प्रकार बेशी मूल्य न तो पूँजीपति मालिक की बेईमानी के कारण और न उसकी बदनीयती के कारण उत्पन्न होते हैं। वह इच्छा करके इस बेशी मूल्य को बना नहीं सकता। यह तो उस अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति के एक अद्भुत तत्त्व के रूप में पैदा होता है, जिसमें वह तथा श्रमिक दोनों रहते हैं। पूँजीपति मालिक बेशी मूल्य को झपट कर पकड़ नहीं लेता। यह तो ऐसी वस्तु है, जो उन शक्तियों के काम करने से उसके हाथ में रह जाती है, जिनके ऊपर उसका व्यक्तिशः रूप में कोई नियंत्रण नहीं

---

१. कार्ल मार्क्स, वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ४४ ४५।

होता । "मान लीजिए पूँजीपति उसके पूरे मूल्य पर श्रम-शक्तियों को एक दिन की मजदूरी देता है, तो उस दिन भर तक उस श्रम-शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार उसे उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार एक घोड़े को एक दिन के लिए किराए पर लेने के पश्चात् होता है।" पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पूँजीपति मालिक को जो ये औचित्यपूर्ण अधिकार प्रदान करता है, उन्हीं के कारण वह अधिशेष मूल्य का मालिक हो जाता है।

कार्य-दिवस लंबा होने से संबंध

यद्यपि पूँजीपति मालिक किसी भी प्रकार से अधिशेष मूल्य के इस अद्भुत तत्त्व के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं होता है, तथापि उसका परिमाण कितना हो, इसके निर्धारण में पूँजीपति मालिक का काफी हाथ रहता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सामाजिक रूप से जितने घंटे श्रम के जीवन-निर्वाह की वस्तुएँ पैदा करने के लिए आवश्यक हैं, उनसे जितने अधिक घंटों का मानक कार्य-दिवस होगा, पूँजीपति मालिक द्वारा प्राप्त लिया जाने वाला बेशी मूल्य उतना ही बढ़ता जाएगा; क्योंकि इससे कार्य-दिवस के अदत्त मूल्य श्रम का भाग बढ़ता है। इससे श्रमिक को उस समय से अधिक समय तक काम पर रखा जा सकता है, जितना समय पूँजीपति मालिक द्वारा कर्मचारी को मजदूरी के रूप में अदा किए जाने वाले मूल्य को पैदा करने के लिए पर्याप्त है। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष तथा सर्वाधिक स्पष्ट तरीका था और मार्क्स के जमाने में सर्वाधिक व्यापक रूप से प्रयुक्त तरीका था, जिससे पूँजीपति मालिक श्रमिक का शोषण बढ़ा सकता था। अपनी रचनाओं के अनेक भागों में मार्क्स ने इसकी संभावनाओं की चर्चा की है और उनके जमाने में मालिकों ने अधिक घंटों तक श्रम कराने तथा बेशी मूल्य बढ़ाने के लिए जो व्यावहारिक प्रयास किए थे, उनकी बहुत बारीकी के साथ समीक्षा की है। मार्क्स ने दलील दी थी कि कार्य-दिवस कितना लंबा हो, इस बारे में कानूनी रूप से कठोर पाबंदियाँ लगाई जाएँ, तभी इस प्रकार के शोषण की कोई सीमा बँध सकती है। 'कैपिटल' पुस्तक के लिए नीचे के उद्धरण से प्रकट होगा कि मार्क्स के जमाने में कार्य-दिवस कितना लंबा होता है तथा इससे उन स्थितियों का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है :—

जून, १८६३ के अंतिम सप्ताह में लंदन के सभी दैनिक पत्रों में एक पैराग्राफ छपा था, जिसका 'सनसनीखेज' शीर्षक था—'अत्यधिक काम करने मात्र से मृत्यु।' इसमें कपड़े बनानेवाली बीसवर्षीया मेरी एन्ने वाकली की मृत्यु का वर्णन था, जो सुंदर एलिस नाम वाली एक महिला की पोशाकें बनाने के, अत्यधिक सम्मानीय

प्रतिष्ठान में काम करती थी। प्राचीन, अक्सर दुहराई जाने वाली कहानी एक बार फिर दुहराई गई। यह लड़की औसतन १६½ घंटे और जब काम का जोर ज्यादा होता, तो लगातार ३० घंटे तक काम करती थी, जबकि उसकी थकती श्रम-शक्ति को बार-बार शैरी; पोर्ट या काफी दे-दे कर फिर से सहारा दिया जाता था। इस समय मौसम में काम का जोर सबसे अधिक था। इस समय आभिजात्य वर्ग की महिलाओं के लिए जो हाल ही में विदेश से आई वेल्स की राजकुमारी के सम्मान में होने वाले बाल नृत्य में जाने वाली थीं, पलक झपकते ही शानदार-से-शानदार पोशाकें बनाकर देना आवश्यक या। मेरी एन्ने वाकली ने उस दिन लगातार २६½ घंटे तक काम किया। वह ६० अन्य लड़कियों के साथ काम कर रही थी। उनमें तीस लड़कियाँ एक कमरे में थीं, जिसमें उनको ⅓ घन फुट हवा ही मिल पाती थी। रात के समय वे लड़कियाँ छोटे-छोटे छेदों से खोलों में दो-दो मिल कर सोती थीं। इनमें तख्तों के द्वारा बिस्तरों का विभाजन होता था और यह लंदन की पोशाकें बनाने वाली सर्वोत्तम दूकान थी। एक शुक्रवार को मेरी एन्ने वाकली बीमार पड़ गई और रविवार को मर गई। मैडम एलिस को यही आश्चर्य या कि वह हाथ का काम समाप्त करने से पहले क्यों मर गई। डाक्टर श्री बीज को बहुत देर में बुलाया गया, जबकि वह मरणासन्न थी। उसने कौरोनर की जूरी के सामने यह गवाही दी थी कि "मेरी एन्ने वाकली की मृत्यु अत्यधिक भीड़ वाले कमरे में, लंबे समय तक काम करने तथा बहुत ही छोटे तथा बहुत कम रोशनदान वाले कमरे में रहने से हुई है।" उस डाक्टर को शराफत का पाठ पढ़ाने के लिए कौरोनर की जूरी ने अपने निर्णय में कहा था कि 'मृतक की मृत्यु रक्तमूर्च्छा रोग से हुई है, लेकिन इस आशंका के भी कारण विद्यमान हैं कि उसकी मृत्यु अत्यधिक भीड़वाले कमरे में अत्यधिक काम करने आदि से जल्दी हो गई।' मुक्त उद्यम के समर्थक कौब्डन ऐंड ब्राइट के मुख्य पत्र 'मॉर्निंग स्टार' ने 'हमारे श्वेत दास' शीर्षक से चिल्ला-चिल्ला कर लिखा था "हमारे श्वेत दास जो काम करते-करते कब्रों को चल देते हैं, अधिकांशतः चुपचाप कष्ट सहन करते रहते हैं और मर जाते हैं।"

"पोशाकें बनाने वालों की दूकान में ही काम करते-करते लोग नहीं मरते हैं, बल्कि ऐसे अन्य हजारों ही स्थान हैं। मैं कहता हूँ कि जहाँ भी फलता-फूलता रोजगार चलता है, वहाँ सर्वत्र यही ऐसा होता है।……… हम लोहार का उदाहरण ही लेते हैं। यदि हम कवियों की बात सच मानें, तो लोहार-जैसा सहृदय तथा प्रसन्नवदन कोई अन्य नहीं होगा। वह तड़के ही उठता है और सूर्योदय से पहले की भट्ठी गरम करता है। वह जिस प्रकार खाता-पिता तथा सोता है, वैसा अन्य लोग नहीं करते। सामान्य रूप से काम करते हुए, वास्तव में वह शारीरिक रूप

से सर्वोत्तम मानवीय स्थिति में होता है। लेकिन, जब शहर या कस्बें में उसी लोहार को देखते हैं तो हम देखते हैं कि उस तगड़े आदमी पर काम का कितना दबाव होता है और उस अवस्था में इस देश की मृत्यु-दर में उनकी स्थिति क्या है। मेरी लोबोन मे प्रति वर्ष प्रति हजार के पीछे ३१ लोहार मरते हैं, जो इस समूचे देश के पुरुष प्रौढ़ों की मृत्यु-संख्या के मध्यमान से ११ अधिक है। लोहारी का धंधा मानव-कला का एक प्रकार से एक अंग है और मानव-उद्योग की एक शाखा के रूप में किसी प्रकार से आपत्तिजनक नहीं है। लेकिन, अत्यधिक काम के द्वारा इस धंधे को मानव का विनाशक बना दिया गया है। यदि वह प्रतिदिन इतनी चोटें करे, इतने कदम चले तथा इतनी साँसें ले, तो औसतन पचास वर्ष तक जीवित रह सकता है। लेकिन, उससे इतने अधिक प्रहार, प्रतिदिन कराए जाते हैं, इतने अधिक कदम चलाया जाता है और इतनी अधिक साँसें लेने को बाध्य किया जाता है और अपने जीवन का चतुर्थांश अधिक करने को कहा जाता है। वह तदनुसार प्रयास करता है और एक निश्चित समय तक चौथाई काम अधिक करता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह ५० वर्ष की बजाय ३७ वर्ष की आयु में ही मर जाता है।"[1]

मशीन के प्रयोग से संबंध

मार्क्स की मान्यता है कि मशीन के प्रयोग से पूँजीपति मालिक को कार्य-दिवस और भी लंबा करने की प्रेरणा मिलती है।……"कार्य-दिवस कितना लंबा हो, इसकी सभी प्रकार की नैतिक तथा प्राकृतिक सीमाएँ मशीनें तोड़ देती हैं। यहाँ भी एक नई आर्थिक विचित्रता सामने आती है कि श्रम-समय कम करने के लिए अत्यधिक शक्तिशाली उपकरण इस बात का सबसे अचूक साधन बन जाता है कि श्रमिक तथा उनके परिवार का प्रत्येक क्षण पूँजीपति को अपनी पूँजी का मूल्य बढ़ाने के लिए सुलभ हो जाता है।"[2] मशीन से अधिकाधिक उत्पादन प्राप्त करने के प्रयास में, उसका मालिक उसे संभावित कार्य-समय में अधिकाधिक चलाते रहना चाहेगा। इससे अनिवार्य रूप से उसके मानव-अंग (अर्थात् उसे चलाने वाले) का कार्य-समय भी बढ़ता जाएगा। चूँकि पूँजीपति मालिक को मिलने वाला बेशी मूल्य अंशतः उन श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करता है, जो वह नौकर रखेगा और मशीन के प्रयोग से उन श्रमिकों की संख्या कम हो जाएगी, इसलिए मार्क्स की मान्यता है कि कर्मचारियों की संख्या में कमी होने से बेशी मूल्य में होने वाली कमी को वह मालिक प्रत्येक कर्मचारी से प्रतिदिन अधिक समय तक काम ले कर पूरा करने का प्रयास

---

[1] वही, पृष्ठ २८०–२८२।

[2] वही, पृष्ठ ४४५।

करेगा और इस प्रकार प्रत्येक श्रमिक के दिन के अधिकाधिक भाग को अदत्त मूल्य समय में परिवर्तित करेगा।[1]

शिल्प-विद्याविषयक प्रगति से संबंध

यही नहीं, यदि ऐसा कुछ हो जाता है, या पूँजीपति मालिक ऐसा कुछ करता है, जिससे श्रमिकों के जीवन-निर्वाह के लिए प्रयुक्त वस्तुओं का श्रम-तत्त्व घट सके, तो जीवन-निर्वाह की वस्तुओं के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय का परिमाण भी घट जाता है। जब तक कार्य-दिवस के घंटे उतने ही बने रहते हैं, तब तक, कार्य-प्रक्रिया में हुए सुधार या मशीनों के प्रयोग से, जिनके कारण उक्त बात संभव हुई है, अपने-आप अधिशेष मूल्य बढ़ जाएगा; क्योंकि कुल उत्पादित मूल्य से मालिक श्रमिक का मजदूरी के रूप में जो भाग देगा, वह कम हो जाएगा ·दूसरे शब्दों में कार्य-दिवस का अदत्त मूल्य-भाग बढ़ जाएगा। मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग तथा मशीनों या प्रक्रियाओं में किए गए सुधार सभी इसी उद्देश्य की पूर्ति करेंगे।[2]

श्रमिक से तेज काम कराने से संबंध

अधिक बेशी मूल्य के रूप में यही परिणाम श्रमिकों की गतिविधि को अधिक गहन तथा अधिक तेज करके प्राप्त किया जा सकता है। एक निर्धारित समय के अंदर श्रमिक जितना अधिक उत्पादन करेगा, उतना ही बेशी मूल्य अधिक होगा; क्योंकि उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धन में वृद्धि नहीं होगी। मार्क्स ने यह दलील दी कि जब कानून से काम करने के घंटे सीमित हो गए, तो मालिकों ने श्रमिक से अधिक तेजी से काम लेना आरंभ कर दिया। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए मालिक ने मशीनों तथा 'काम के हिसाब से दाम देना' ये दो पद्धतियाँ अपनाई हैं।

"ज्योंही अनिवार्य रूप से (कार्य-दिवस) छोटा हो गया, पूँजी के हाथों में मशीनें वे भौतिक साधन बन गईं, जिनको वह एक निर्धारित समय के अंदर अधिक श्रम निचोड़ने के लिए व्यवस्थित रूप से प्रयोग करता है। यह भी दो तरीकों से किया गया है—मशीनों की रफ्तार तेज करके और कर्मचारी को अधिक मशीनों की देख-भाल सौंप कर।"[3]

'जितना काम करो, उतना दाम लो' यह मालिक के लिए उपयोगी पद्धति बन गई; क्योंकि इससे पूँजीपति के हाथ में वह मापदंड आ गया, जिससे वह नाप

---

[1] वही, पृष्ठ ४४५।

[2] वही, पृष्ठ ३४५, ३५०, ३५२, ३५६, ३५७, ४०५।

[3] वहीं, पृष्ठ ४५०।

सकता था कि श्रमिक कितनी तेजी से काम कर सकता है।[1] इस प्रकार मार्क्स ने पाया है कि "काम के हिसाब से दाम देने की पद्धति पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के सर्वाधिक अनुरूप हैं।"[2] और वर्कशापों में कारखाना अधिनियमों के अधीन काम के हिसाब से दाम देना एक साधारण बात बन जाती है; क्योंकि "इस रूप में पूँजीपति श्रमिक से अधिक काम लेकर कार्य-दिवस की उपयोगिता बढ़ा लेता है।"[3]

श्रमिकों के सहकारी रूप में काम करने से संबंध

पूँजीपति मालिक अपने प्रयास से एक अन्य तरीके से भी अधिशेष मूल्य बढ़ा सकता है। मार्क्स का कहना है "जब किसी कारखाने में श्रमिक सहकारी सदस्यों के रूप में उत्पादन कार्य करते हैं, तो उनके सहकारी प्रयास अलग-अलग कार्य करने की अपेक्षा अधिक उत्पादक होते हैं। यह बढ़ी हुई श्रम-शक्ति अदत्त मूल्य होती है; क्योंकि पूँजीपति मालिक अपने श्रमिकों की श्रम-शक्ति अलग-अलग रूप से खरीदे होता है। यह अदत्त मूल्य श्रम-शक्ति जो उत्पादन करेगी, वह बेशी मूल्य को ही बढ़ाएगी।[4] इसी प्रकार मालिक श्रम-शक्ति की कुशलता बढ़ाने तथा उसने जो श्रम-शक्ति खरीदी है, उसकी अलग-अलग इकाइयों के मध्य सहयोग में सुचारूता लाने के लिए जो कुछ करेगा, उससे बेशी मूल्य बढ़ेगा। यही नहीं, पूँजीपति को सहयोग करने की इस शक्ति पर कुछ भी खर्च नहीं आता और दूसरी तरफ, जब तक श्रमिक का श्रम पूँजीपति का नहीं बनता, तब तक यह शक्ति उसे प्राप्त नहीं होती। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह वैसी शक्ति है, जो पूँजी को प्रकृति ने दी है—एक ऐसी उत्पादक शक्ति है, जो पूँजी में सर्वव्यापी रूप से विद्यमान होती है।[5]

उत्पादन में सभी सुधारों से बेशी मूल्य में वृद्धि

मार्क्स ने निष्कर्ष निकाला है कि जब मजदूरी तो जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से संबद्ध हो, तब उत्पादन में होने वाले सभी सुधार, जो उद्योग की कुशलता बढ़ाते हैं और श्रमिक की उत्पादकता में बहुत वृद्धि करते हैं, वे सब पूँजीपति मालिकों, धन ऋण के रूप में देने वाले पूँजीपतियों तथा भू-स्वामियों की बेशी मूल्य आयों को ही बढ़ाते हैं। आर्थिक व्यवस्था की पूँजीवादी प्रणाली में मालिकों के द्वारा इस प्रकार श्रमिकों का शोषण होता है।

---

[1] वही, पृष्ठ ६०५।

[2] वही, पृष्ठ ६०८।

[3] वही, पृष्ठ ६०९।

[4] वही, पृष्ठ ३६१, ३६५, ३६६।

[5] वही, पृष्ठ ३६५-३६६।

आधुनिक शोषण की पहले के शोषण से तुलना

लेकिन, श्रमिकों का शोषण पूँजीवादी प्रणाली के साथ-साथ शुरू नहीं हुआ है। एंगिल्स ने शोषण के तीन ऐतिहासिक रूपों का वर्णन किया है :—

"दास-प्रथा शोषण का पहला स्वरूप है और यह स्वरूप अति प्राचीन विश्व के लिए ही उपयुक्त था। इसके बाद मध्य काल में कृषक दासता आई और आधुनिक युग में वेतनभोगी श्रमिक का रूप लिया। दासता के ये तीन महान स्वरूप हैं, जो सभ्यता के तीन महान कालों की विशेषता है।"[1]

इसी प्रकार मार्क्स ने यह भी माना था कि आधुनिक समाज में वेतनभोगी श्रमिक वास्तविकता में एक दास ही है :

"समाज के विभिन्न आर्थिक स्वरूपों-जैसे दास—श्रमिक पर आधारित समाज तथा वेतनभोगी श्रम पर आधारित समाज में असली अंतर उस पद्धति का है, जिसके द्वारा वास्तविक उत्पादक, श्रमिक से बेशी श्रम किस प्रकार लिया जाता है।"[2]

किंतु, मार्क्स ने आधुनिक 'वेतनभोगी दासता' को दासता के प्राचीन स्वरूपों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा गोपनीय बताया है। प्रथम काल में, जिसकी कि चर्चा एंगिल्स ने की है, यह स्पष्ट है कि दास के श्रम का कोई मूल्य नहीं दिया जाता था। उसका मालिक उसे जीवित रखता था और जब तक वह जीवित है, मालिक दास का सारा समय अपनी सेवा में लगा सकता था। कृषक दासता काल में कृषक दास के जिस समय का कोई मूल्य नहीं दिया जाता था, वह स्पष्ट रूप से निर्धारित था। कृषक दास अपने मालिक को अपने समय का कुछ भाग देने को बाध्य था, किंतु शेष समय उसका अपना था। यदि अपने स्वामी की वह सेवा बेशी मूल्य थी, तो वह कम-से-कम हुक्म अधिशेष नहीं था। इसके विपरीत आधुनिक वेतनभोगी श्रमिक की दासता अप्रकट होती है। प्रकट रूप से वह इस बात के लिए पूर्ण स्वतंत्र है कि किसी मालिक को अपनी सेवाएँ बेचने का संविदा करे या न करे। उसे उन सेवाओं के अलावा किसी अन्य प्रकार की सेवा करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, जिनको बेचने के लिए वह सहमत हो गया है। इस प्रकार वह जितना श्रम-समय लगाता है, उसका मूल्य उसे मिलता प्रतीत होता है। लेकिन, यदि श्रमिक को जो मजदूरी प्रतिदिन मिलती है, वह उसके परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए ही पर्याप्त है और यदि कार्य-दिवस के घंटों का निर्धारण मालिक करता है, जो यह

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स, 'दि ओरिजन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी ऐंड दि स्टेट' (परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्य का अभ्युदय)- हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३३५।

[2] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ २४१।

नियम बना सकता है कि काम के उन घंटों में श्रमिक को कितनी तेजी से काम करना चाहिए, तो मार्क्स की मान्यता के अनुसार श्रमिक को दिया जाने वाला प्रतिफल उसके काम के अनुसार नहीं है और कार्य-दिवस के एक अप्रकट भाग की मजदूरी उसे नहीं दी जाती ।

"इस प्रकार वेतन ने कार्य-दिवस के आवश्यक श्रम तथा बेशी श्रम, दत्त मूल्य श्रम तथा अदत्त मूल्य श्रम की विभाजक रेखा के सभी चिह्न समाप्त कर दिए हैं। सारा ही श्रम दत्त मूल्य श्रम प्रतीत होता है।.... दास श्रम में कार्य-दिवस का उस भाग में भी, जिसमें दास अपने जीवन-निर्वाह के साधन के मूल्य के बदले काम करता है इसलिए जिसमें वह अकेले अपने लिए काम करता है, अपने मालिक के लिए काम करता प्रतीत होता है—दास का सारा का सारा श्रम अदत्त मूल्य श्रम लगता है। इसके विपरीत वेतनभोगी श्रम प्रथाएँ अधिशेष श्रम अर्थात् अदत्त मूल्य श्रम भी दत्त श्रम मूल्य प्रतीत होता है। दास प्रथा में संपत्ति-संबंध दास द्वारा स्वयं अपने लिए, किए श्रम को छिपा लेता था जबकि यहाँ (वेतनभोगी श्रम प्रथा में) मुद्रा-संबंध वेतनभोगी श्रमिक के अदत्त मूल्य श्रम को छिपा लेता है।"[1]

"रोमनदास तो जंजीरों से बँधा होता था। लेकिन वेतनभोगी श्रमिक अपने मालिक के साथ अदृश्य धागों से बँधा होता है। लगातार मालिक बदलते रहने तथा ठेके के कानूनी स्वरूप के द्वारा स्वाधीनता का मुखौटा बनाए रखा जाता है।"[2]

पूँजी का संचयन

बेशी मूल्य का उद्भव

मार्क्स ने अनुभव किया कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जो प्रक्रियाएँ काम कर रही हैं; उनका पूर्णरूपेण विश्लेषण होने पर ही यह विदित हो सकेगा कि इस अर्थतंत्र का आरंभ कैसे हुआ। उनके मूल्य, मजदूरी तथा बेशी मूल्यविषयक सिद्धांतों से इस प्रणाली के वर्त्तमान प्रचलन की व्याख्या प्रस्तुत होती थी। इस समय जो संस्थाएँ तथा जटिल प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं; उनके अंगस्वरूप मौजूद तत्त्वों का विश्लेषण होता है, लेकिन पहले पूँजीपति मालिक आखिर कहाँ से आए ? आखिर उनको सबसे पहले ठेके के अनुसार मजदूरी पर श्रमिक को रखने के लिए 'बेशी धन' कहाँ से आया ? सामंतवादी कृषक दास प्रथा की विशिष्ट स्थितियों में वे स्वतंत्र श्रमिक कहाँ से आए, जिन्हें अपना श्रम बेचने का अधिकार था ?

---

[1] वही, पृष्ठ ५६१।

[2] वही, पृष्ठ ६२८।

एक बार यदि पूँजीवादी प्रक्रियाएँ चलने लगें, तो फिर मार्क्सवादी सिद्धांत की मान्यता है कि पूँजीवादी मालिक उस धनराशि को, जिससे वह मजदूर को नौकर रखता है, बेशी मूल्य के द्वारा बढ़ाता रहता है। लेकिन सबसे पहले बेशी मूल्य कहाँ से आया और मूल पूँजी का धन क्या था ?……"इसलिए यह संभव प्रतीत होता है कि एक जमाने में पूँजीपति के हाथ पैसा कुछ संचय के द्वारा आ गया, जो अन्य लोगों के अदत्त मूल्य श्रम के अलावा संचित हुआ और इस प्रकार, इस धन ने उसे बाजार में श्रम-शक्ति खरीदने के लिए बार-बार जाने की क्षमता प्रदान की।"[1] "वह व्यक्ति जो पहले धनपति था, अब हमारे सामने एक पूँजीपति के रूप में आता है जो श्रम-शक्ति का स्वामी है, जो उसके श्रमिकों के रूप में उसके पीछे होते हैं।"[2] एक बार यह धनराशि जमा हो गई और इसके साथ-ही-साथ श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति धन के बदले बेचने के लिए स्वतंत्र नहीं थे, बल्कि दबाव के वश में थे, तो पूँजीवादी प्रणाली के दो अनिवार्य अंग समाज में प्रचलित हो गए। इस विंदु से आगे इस प्रणाली का विकास अपने-आप होता चला गया; क्योंकि पूँजीगत धन बेशी मूल्य से जमा होता चला गया।

'आदिकालीन संचय'

मार्क्स की मान्यता है कि—"पूँजीवादी प्रणाली का उद्‌गम कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं से हुआ है, जो उनके इतिहास की आर्थिक व्याख्या के अनुरूप, उत्पादन-पद्धति में आए परिवर्तनों के कारण घटित हुई है। उन्होंने ऐसी घटनाएँ इंगलैंड में पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में तथा सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में देखीं तथा यूरोप में पूँजीवादी के अभ्युदय से पूर्व अन्य विविध कालों में भी। इन वर्षों को उन्होंने आदिकालीन संचय की संज्ञा दी है।" "आदिकालीन संचय से एक ओर जहाँ 'स्वतंत्र' मजदूर वर्ग का जन्म हुआ, वहाँ दूसरी तरफ धन के स्वामियों—पूँजीपति का जन्म हुआ अर्थात् आदिम मजदूर तथा मूल पूँजीवादी मालिक का अभ्युदय हुआ।"[3] कृषि उत्पादक, किसान को भूमिहीन कर देना समस्त प्रक्रिया का आधार है। विभिन्न देशों में इस संपत्तिहरण के इतिहास ने अलग-अलग स्वरूप अपनाए हैं और विभिन्न कालों में, विभिन्न सोपानों में, भिन्न-भिन्न क्रिया-क्रम अपनाये। अकेले इंगलैंड में ही— यह श्रेष्य रूप में है।"[4]

---

[1] वही, पृष्ठ ६२३ ।

[2] वही, पृष्ठ १६६ ।

[3] वी० आई० लेनिन, 'दि टीचिंग्स ऑफ कार्ल मार्क्स' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म पृष्ठ ५५३ ।

[4] काल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ७८७ ।

'आदिकालीन संचय' का स्वरूप

इन सदियों में 'संपत्तिहरण' की प्रक्रियाओं का मार्क्स ने विस्तार के साथ निरूपण किया है[१] और बताया है कि किस प्रकार आर्थिक घटनाओं तथा सत्ताधीशों द्वारा बल के बेरहमी के साथ प्रयोग करके पुराने सामंतवादी संबंधों को तहस-नहस कर दिया और कृषक आधारित कृषि अर्थ-व्यवस्था को उखाड़ फेंका। सेवाएँ प्राप्त करने के सामंतों के अधिकार धन की अदायगी में बदल दिए गए और भूमि को प्रयोग करने के किसानों के अधिकार समाप्त कर दिए गए तथा भूमि का उन कामों में प्रयोग किया जाने लगा जो अधिक लाभप्रद लगे, खास कर भेड़ पालने में। मार्क्स ने इस संक्रमण काल के मूल तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन इन शब्दों में किया है :—

"गिरजाघर की संपत्ति का लुंठन, राज्य के अधिकारियों को धोखेधड़ी से औरों को सौंपना, शामिलात जमीनों की लूट, सामंती, तथा कुनवा, संपत्ति को हड़प लेना तथा निर्मम आतंकवाद की स्थितियों में उसे आधुनिक रूप की निजी संपत्ति बना डालना आदिकालीन संचय के अनेक निर्वाध तरीकों में से कुछ थे। उन्होंने पूँजीवादी कृषि के लिए खेत प्राप्त किए, जमीन को पूँजी का अभिन्न अंग बना लिया और नगरीय उद्योगों के लिए स्वतंत्र तथा अवैध घोषित मजदूर लोगों के आवश्यक संभरण जुटाए।"[२]

यही आरंभिक पूँजी राशि जो धन के रूप में थी तथा आरंभिक मजदूरों को जमीन पर कोई अधिकार नहीं था, जिससे अपने जीवन-यापन के लिए पैदा कर सकते थे और वे उन लोगों के हाथों, जिनके पास धन था, अपनी श्रम-शक्ति बेच कर ही जीवित रह सकते थे। मार्क्स ने पूँजीवाद का उद्गम तात्कालिक उत्पादकों के संपत्तिहरण में अर्थात् स्वामी के श्रम पर आधारित निजी संपत्ति के भंग हो जाने में पाया है।"[३] अर्थात् "उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के क्रम से पूँजीवाद बना है, जिससे मेहनत करने वाले व्यक्तियों तथा उसके मेहनत के साधन के बीच विद्यमान मूल संबंध समाप्त हो गए।"[४] "आर्थिक संबंध की इस नई विधा का न तो कोई प्राकृतिक आधार था और न ऐसा सामाजिक आधार था, जो सभी ऐतिहासिक कालों में समान रूप से मिलता हो। यह तो स्पष्ट रूप से अतीतकाल का ऐतिहासिक घटनाक्रम था, अनेक आर्थिक क्रांतियों तथा सामाजिक उत्पादन की समस्त प्राचीन परिपाटियों के नष्ट होते जाने का परिणाम था।"[५]

---

[१] देखिए भाग ८ के आरंभिक अध्याय 'कैपिटल'।

[२] काल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ८०५।

[३] वही, पृष्ठ ५३४।

[४] कार्ल मार्क्स, वेल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, पृष्ठ ३६।

[५] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ १८८।

बेशी मूल्य से पूँजी-संचयन

एक बार आदिकालीन संचय का काल बीत जाने पर पूँजी का संचयन बेशी मूल्य के जमा होने से होता गया। जो भी बेशी मूल्य प्राप्त होता है, वह पूँजीपति की संपत्ति बन जाता है। इस अधिशेष का कुछ भाग उसके निजी उपभोग में प्रयोग किया जाता है जबकि अवशिष्ट भाग श्रमिकों को नौकर रखने पर खर्च किया जाता है, जिससे और अधिक बेशी मूल्य प्राप्त करने के लिए और उत्पादन किया जा सके। श्रमिकों को जो धन दिया जाता है, उसे मार्क्स 'पूँजी' कहते हैं और मूर्त्त उपकरणों (अचल पूँजी) में लगे धन को श्रमिकों की चालू मजदूरी अदा करने में खर्च किए गए धन (चल पूँजी) से भिन्न मानते हैं। चूँकि यह स्पष्ट है कि पूँजीगत उद्देश्यों के लिए बेशी मूल्य का प्रयोग तब तक नहीं किया जाएगा, जब तक पूँजीपति को यह आशा न हो कि उसे लगायी गई पूँजी से अधिक मिलेगा और चूँकि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-संबंधी प्रक्रिया अनिवार्य रूप से इसी दिशा में काम करती है, इसलिए उत्पादन में लगायी गई इस पूँजी से बेशी मूल्य होता ही है। मूल रूप से पूँजी लगाने से जो अधिशेष प्राप्त होते हैं, उनसे अगली उत्पादन-क्रिया में और अधिक लगती है और इसी प्रकार पूँजीवाद में बेशी मूल्य से पूँजी-संचयन का कभी समाप्त न होने वाला कम चलता रहता है। मार्क्स ने जोर देकर यह बात इन शब्दों में कही है कि "नवनिर्मित पूँजी के साथ-साथ मूल पूँजी भी बढ़ती चलती है और बेशी मूल्य पैदा करती है और यह बात समस्त संचित पूँजी तथा उससे पैदा होने वाली अतिरिक्त पूँजी के बारे में भी सत्य है।"[1]

"पूँजी संचय की यह प्रक्रिया जब एक बार चालू हो जाती है, तो श्रमिक का अपना श्रम ही जो वस्तु के रूप में होता है, पूँजीपति उसको दिया करता है,"[2] "जो लोग काम करते हैं, उनके श्रम का उत्पादन अनिवार्य रूप से उन लोगों के हाथों में इकट्ठा हो जाता है, जो काम नहीं करते हैं और उन लोगों के हाथों में जा कर यह ऐसा शक्तिशाली साधन बन जाता है, जिससे उनके उत्पादनकर्त्ताओं को ही दास बनाया जाता है।"[3] "बेशी मूल्य को पूँजी के रूप में प्रयोग करना उसे पूँजी में पुनः परिवर्तन करना ही पूँजी का संचयन कहलाता है।"[4]

उपभोग-स्थगन पूँजी का वास्तविक स्रोत नहीं

मार्क्स राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के इन दावों से परिचित थे कि उत्पादक

---

[1] वही, पृष्ठ ६३७।

[2] वही, पृष्ठ ६२२।

[3] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ब्रिटिश लेबर मूवमेंट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २००।

[4] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ६३४।

प्रक्रिया में अधिकाधिक श्रमिकों को रखने के लिए धन का उपभोग करने में पूँजीपति 'उपभोग-स्थगन' करते हैं अर्थात् बचत कर रहे होते हैं। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि इस प्रकार के उपभोग-स्थगन के बिना पूँजी-संचयन नहीं हो सकता है और यह आगे उत्पादन करने के लिए उतना ही आवश्यक है, जितनी श्रम-शक्ति और इसीलिए वे प्रतिफल के उतने ही अधिकारी होते हैं। इसका मार्क्स ने दुहरा उत्तर दिया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उनका कहना है कि एक तो आदि पूँजी राशि कृषक मजदूरों के संपत्तिहरण से बलात् प्राप्त की गई थी। दूसरे आधुनिक पूँजीपति जो 'बचत' करते हैं, वह चोरी से कम नहीं है। उसका ही दूसरा तरीका है; क्योंकि ये बेशी मूल्य से ही आती है। इसके लिए मार्क्स प्रश्न करते हैं कि क्या किसी को वह धन जो अंततः उसने चुराया हो उपभोग न करके बचाने के लिए प्रतिफल दिया जाना चाहिए? निम्नलिखित व्यंग्यपूर्ण उद्धरण में मार्क्स ने कहा है कि चूँकि पूँजीपति को वह धन बचाने में कठिनाई होती है, जो उसने चुराया है, इसलिए उसे इस भार से मुक्त करने के लिए चोरी से ही बचा देना चाहिए।

"इसलिए विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से सीधी बात यही है कि पूँजीपति को इस शहादत तथा प्रलोभनों से उसी प्रकार मुक्त कर दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार जार्जिया के दास मालिक को हाल ही में दास प्रथा समाप्त करके इस कष्टकर द्विविधा से मुक्त कर दिया गया था कि वह अपने अश्वेत दासों से प्राप्त सारे-के-सारे बेशी उत्पादन को शराब पीकर उड़ा दे अथवा उसके एक भाग को अधिकाधिक अश्वेत दास तथा अधिकाधिक भूमि में पुनः परिवर्तन करे।"[1]

पूँजीवाद में श्रम का शोषण अनिवार्य

मार्क्स की दृष्टि में पूँजीवादी अर्थतंत्र की कार्य-प्रणाली उसका मूल्य तथा वेतन निर्धारक प्रक्रियाओं तथा पूँजी के संचयन में मूर्त्त है। इनकी उन्होंने भर्त्सना नहीं की है। ये तो समस्त पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अनिवार्य अंग हैं। अविच्छेद अंग होने के कारण न तो ये अपने-आप में अकेले खड़े रह सकते हैं और न इनके बिना पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ही खड़ी रह सकती है। ये अपने-आप में अनैतिक नहीं हैं; पर चूँकि ये समूचे आर्थिक तंत्र के स्वाभाविक अंग हैं, अतः इनसे ऐसे परिणाम निकलते हैं, जिन्हें मार्क्स मानवीय कल्याण के विपरीत तथा आंतरिक रूप से असंगत समझते थे। अब हम उन परिणामों की विवेचना करेंगे, जिन्हें मार्क्स पूँजीवाद की आर्थिक प्रक्रियाओं का अनिवार्य परिणाम मानते थे।

---

[1] वही, पृष्ठ ६५५।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. किस दृष्टि से मार्क्स का बेशी मूल्य-सिद्धांत उनके मूल्य-सिद्धांत तथा मजदूरी-सिद्धांत का तर्कसंगत संमिश्रण है ?

२. पूँजीपति मालिक 'श्रम-शक्ति खरीदता है और बदले में श्रमिक को पाता है' यह कथन कहाँ तक बेशी मूल्य-सिद्धांत से संबंधित है ?

३. क्या मार्क्स का कहना यह था कि चूँकि बेशी मूल्य-सिद्धांत नैतिक दृष्टि से गलत है, इसलिए इसे हमारे आर्थिक तंत्र से समाप्त कर दिया जाना चाहिए ?

४. क्या यह कहना ठीक होगा कि यद्यपि मार्क्स ने बेशीं मूल्य से होने वाली आमदनियों पर आपत्ति की थी, किंतु ब्याज तथा भू-राजस्व के प्रति इस प्रकार की आपत्ति नहीं थी ?

५. क्या यह कहना ठीक होगा कि मार्क्स बेशी मूल्य को पूँजीपति मालिक द्वारा अपनी वस्तुओं का अधिक दाम लेने तथा अपने श्रमिकों को आवश्यकता से कम देने का परिणाम मानते हैं ?

६. क्या कार्य-दिवस के घंटे कम करके बेशी मूल्य को समाप्त किया जा सकता है ? क्या मार्क्स का विश्वास था कि ऐसा हो सकता है ?

७. मार्क्स ने स्थिति का जैसा विश्लेषण किया है, उसके अनुसार क्या पूँजीपति मालिक मशीन के अधिकाधिक उपभोग तथा तकनीकी प्रक्रियायों में हुए सुधारों के सभी लाभ प्राप्त कर लेता है ?

८. क्या मार्क्स का यह कहना था कि आधुनिक 'वेतन दासता' पुराने जमाने की मानव-दासता-जैसी ही थी, ठीक है ?

९. 'आदिकालीन संचयन' की अवधि से मार्क्स का क्या तात्पर्य था ? वे इसे 'पूँजी का संचयन' के साथ कैसे संबद्ध करते हैं ?

१०. क्या मार्क्स उन अर्थशास्त्रियों से सहमत थे, जो यह मानते थे कि समाज के समस्त वर्त्तमान पूँजीगत उपकरण 'बचत' की प्रक्रिया द्वारा बने हैं ?

अध्याय ८

पूँजीवादी उत्पादन के परिणाम

वर्ग-संघर्ष

वर्ग-संघर्ष की प्रकृति

पूँजीवादी प्रणाली में मूल्य-संबंधी प्रक्रियाओं के काम करने तथा वेशी मूल्य में उनकी परिणति होने का सबसे स्पष्ट परिणाम आधुनिक समाज का दो महान वर्गों में विभाजन हो जाना है, जिनके मध्य आर्थिक हितों का कभी न सुलझने वाला संघर्ष विद्यमान रहता है। परस्परविरोधी हितों वाले वर्गों की विद्यमानता को मार्क्स ने सार्वभौमिक ऐतिहासिक तत्त्व माना है। उन्होंने तथा एंगिल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र में लिखा था कि "अब तक विद्यमान सारे समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।"[1] मार्क्स की पूर्वपक्ष, प्रतिपक्ष तथा संश्लेषण संबंधीत मान्यता और मार्क्स द्वारा की, इतिहास की आर्थिक व्याख्या संमिलित रूप से इस निष्कर्ष का समर्थन करती है, जिसमें आगे कहा गया है कि :—

इतिहास के आरंभिक कालों में हम करीब-करीब सर्वत्र ही यह पाते हैं कि समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं और सामाजिक मान के अनेक प्रकार के वर्गों की एक जटिल व्यवस्था विद्यमान है। प्राचीन रोम साम्राज्य के दिनों में पैट्रीसियन, नाइट, प्लेबियन तथा दास होते थे। मध्यकाल में सामंत, वासल, गिल्ड मास्टर, जर्नीमैन, अप्रैन्टिस तथा कृषक दास होते थे और इन सभी वर्गों में इनसे नीचे अधीनस्थ वर्ग थे।

आधुनिक बुर्जुआ समाज में जो कि सामंतवादी समाज के अवशेषों से निकला है, इस वर्ग-विभेद की समाप्ति नहीं हुई है। इसके विपरीत इसने नए वर्ग अत्याचार

---

[1] हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, ई० बर्न्स, कौम्प, न्यूयार्क, रैंडम हाउस, १९३५, पृष्ठ २२।

की नई स्थितियाँ पैदा की हैं तथा पुरानों के स्थान पर संघर्ष के नए स्वरूपों को जन्म दिया है।

हमारे काल में जो बुर्जुआ काल है, यह विशिष्ट बात है। इसने वर्ग-विभेद को सरल बना दिया है। समस्त समाज दो महान विरोधी शिविरों में, एक दूसरों के सीधे आमने-सामने खड़े दो महान वर्गों में बँटता जा रहा है और ये दो वर्ग हैं—बुर्जुआ तथा मजदूर वर्ग।[1]

ऐतिहासिक स्रोत

प्राचीन सामंतवादी समाज में विद्यमान संबंधों के अंगभंग होने पर ही नए वर्ग-संबंधों का जन्म हुआ है। आरंभिक संचयन के काल में एक दूसरे से भिन्न दो आर्थिक वर्गों का स्पष्ट निर्माण हुआ–एक उन लोगों का वर्ग बना, जिनके पास दूसरों का श्रम मोल लेने के लिए था और दूसरा उन लोगों का, जिनके पास स्वयं को किराए पर देने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता थी, लेकिन जो जीवन-निर्वाह के एक मात्र संभव स्रोत के रूप में अपना श्रम बेचने को बाध्य थे। एक वर्ग तथा उनके बंशजों के हाथ में पूँजी संचित होने तथा श्रमिकों के लिए अपने जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त कुछ और न पा सकने की अनवरत् प्रवृत्ति के कारण तथा पूँजीगत धन का नई-नई और बढ़िया मशीनों का रूप ग्रहण करते रहने से ये दोनों ही वर्ग एक दूसरे से अलग, बहुत अलग होते गए। यहाँ तक कि मार्क्स के जमाने में उनके हित एक दूसरे के इतने विरोधी हो गए कि उन्होंने यह अनुभव किया कि अब दोनों के बीच स्पष्टतः जीवन-मरण के संघर्ष की स्थिति आ गई है। मार्क्स का उद्देश्य श्रमिकों के अंदर हितों को कभी न सुलझाने वाली संघर्ष-भावना भर देना था। जब उनमें वर्गविषयक जागृति आ जाएगी, तो वर्ग-संघर्ष होगा ही और यह स्थिति जब राजनीतिक स्वरूप ग्रहण करेगी, तो पूँजीवाद को समाप्त करने तथा एक नई व्यवस्था स्थापित करने की तैयारी की दिशा में पहला कदम होगी।

एकमात्र आर्थिक स्रोत : बेशी मूल्य

अपनी शोषित स्थिति के प्रति श्रमिकों में जागरूकता पैदा करने के प्रयास में मार्क्स ने अपनी तर्क-शृंखला बेशी मूल्य पर ही आधारित की। यह अधिशेष ही हितों के संघर्ष का सार है। जब तक यह रहेगा और जब तक यह उन लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता रहेगा, जिनके पास हमें प्राप्त करने का अधिकार है, तब तक समाज के अंदर मूलतः शांति स्थापित नहीं हो सकती। जब तक पूँजीवाद की संपत्ति संस्थाएँ यह अधिशेष एक वर्ग को देती रहेंगी और दूसरे को जीवन-निर्वाह

---

[1] वही, पृष्ठ २३।

के साधन के अलावा कुछ नहीं देंगी, तब तक दोनों वर्गों के बीच एक अपूरणीय खाई बनी ही रहेगी। एक तरफ तो वे मालिक लोग खड़े हैं जो बेशी मूल्य प्राप्त करते हैं, और दूसरी तरफ श्रमिक खड़े हैं, जो अपनी भावी संतानोत्पत्ति पर ही अपनी मजदूरी को खर्च करते रहते हैं। पहले को मार्क्स ने 'बुर्जुआ' कहा है और दूसरे को मजदूर। जब तक पूँजीवाद बना रहेगा, बेशी मूल्य पैदा होते रहेंगे और बुर्जुआ लोगों के हाथों में जाते रहेंगे। और जब तक यह होता रहेगा, तब तक मजदूर वर्ग के लोग कभी भी अपनी आर्थिक स्थिति को न बदल पाएँगे। वह किसी प्रकार अपना अस्तित्व ही बनाए रख सकेंगे।

बुर्जुआ वर्ग की रचना

बुर्जुआ वर्ग की सबसे प्रमुख पहचान संपत्ति का स्वामित्व है—चाहे वह संपत्ति धनराशि के रूप में, भूमि के रूप में या उत्पादन के मानवनिर्मित उपकरणों के रूप में हो। चूँकि मार्क्स ने धन उधार देने वाले, भूमि के स्वामी और पूँजीपति मालिक की आमदनियों का स्रोत अधिशेष मूल्य को ही माना है, इसलिए उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा है कि उनके हितों अथवा बुर्जुआ वर्ग में उनकी स्थितियों में अनिवार्य रूप से कोई अतर नहीं है। वे इसीलिए आय प्राप्त कर पाते हैं; क्योंकि वे स्वामी हैं। "कोई व्यक्ति उद्योग का नेता है, इसलिए वह पूँजीपति है, ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत वह किसी उद्योग का नेता इसलिए होता है; क्योंकि वह पूँजीपति होता है।"[१]

छोटे बुर्जुआ लोगों की स्थिति

लेकिन, बुर्जुआ लोगों के कुछ वर्ग अपनी श्रेणी से घनिष्ट रूप से संबंधित नहीं होते। वे उसके सदस्य अनिश्चित काल तक बने नहीं रह सकते। "मध्यम श्रेणी के निचले स्तर के लोग, छोटे व्यापारी, दुकानदार तथा धंधा छोड़े हुए व्यापारी एवं दस्तकार और किसान ये सब धीरे-धीरे मजदूर वर्ग में मिल जाते हैं। इसका अंशतः कारण यह होता है कि उनकी धीरे-धीरे घटती पूँजी इतनी पर्याप्त नहीं होती कि उससे उस स्तर पर काम किया जा सके, जिस स्तर पर आधुनिक उद्योग चलते हैं और बड़े पूँजीपतियों से प्रतियोगिता होने पर उखड़ जाते हैं। इसका दूसरा कारण यह होता है कि उनकी विशिष्टतापूर्ण योग्यता उत्पादन के नए-नए तरीकों के कारण बेकार हो जाती है।"[२] यह भी कहा जा सकता है कि "जब वर्ग-संघर्ष 'निर्णायक बिन्दु के समीप पहुँचेगा' तो बुर्जुआ वर्ग के लोग भी भाग कर आ जाएँगे;

---

[१] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण, पृष्ठ ३६५।

[२] साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३१।

क्योंकि बुर्जुआ सिद्धांतवादियों का एक भाग सैद्धांतिक रूप से ऐतिहासिक गतिविधि को समझकर इस स्तर तक आ गया होगा।"[1]

बुर्जुआ-पोषित परिवर्तन

बुर्जुआ वर्ग अनुदार वर्ग से जैसा कि इस शब्द के उपयोग से अभिप्रेरित लगता है, सर्वथा भिन्न होता है। मार्क्स और एंगिल्स का कहना है कि "ऐतिहासिक रूप से बुर्जुआ लोगों ने सर्वाधिक क्रांतिकारी भूमिका अदा की है। जहाँ भी बुर्जुआ लोगों का जोर हुआ है, उन्होंने समस्त सामंतवादी, पितृसत्तात्मक तथा मौज-भरे संबंध समाप्त कर दिए। इन्होंने वे मजबूत सामंतवादी बंधन निर्दयतापूर्वक तोड़कर समाप्त कर दिए, जो मनुष्य को उसके 'स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ' लोगों के साथ बँधे हुए थे और विशुद्ध आत्महित या नकद धन अदा करने के अलावा कोई अन्य संबंध मानव और मानव के बीच विद्यमान नहीं रहने दिए। इसने धार्मिक उन्माद, वीरोचित उत्साह, फिलिस्तीनी भावुकता के अत्यधिक स्वर्गिक आनंद को अहंवादी हिसाब-किताब के हिमानी जल में डुबो दिया। इसने व्यक्तिगत उपयोगिता का विनिमय-मूल्य प्रदान कर दिया और असंख्य अरक्षित गणनीय स्वतंत्रताओं के स्थान पर एक अंतर्भावनाशीलता से रहित स्वतंत्रता—निर्बाध व्यापार की स्थापना कर दी है। एक शब्द में कहें "तो धार्मिक तथा राजनीतिक धोखे की टट्टियों से ढँके शोषण का स्थान इसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष पाशव शोषण को प्रदान कर दिया है।"[2] संक्षेप में, बुर्जुआ वर्ग ने उन परिवर्तनों के आविष्कारक की भूमिका अदा की है, जिन पर आधुनिक उद्योग की आधारशिला रखी गई है। जो व्यवस्थाएँ, रीति-रिवाज तथा संस्थाएं इस परिवर्तन के मार्ग में बाधक बनीं, उनको इसने फौरन समाप्त कर दिया और कभी-कभी तो उन्हें बलात् समाप्त किया गया, जिसमें लोगों को बहुत कष्ट हुए।

बुर्जुआ वर्ग का योगदान

इन परिवर्तनों का मानव समाज को कुल मिलाकर लाभ न हुआ हो, ऐसी बात नहीं थी। इन्होंने संसार के भागों को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया। "आधुनिक उद्योग ने विश्व-बाजार की स्थापना की और अमेरिका की खोज ने इसका मार्ग सरल बनाया। इस बाजार ने वाणिज्य, नौ-परिवहन तथा स्थल मार्ग के संचार-साधनों का बहुत विकास किया।"[3] बुर्जुआ वर्ग····सबसे पहले यह दिखाने में

---

[1] वही, पृष्ठ ३४।

[2] वही, पृष्ठ २५।

[3] वही, पृष्ठ २४।

सफल रहा कि मानव की गतिविधि से ही क्या कुछ किया जा सकता है। इससे ऐसी आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त कीं जो मिस्री पिरामिडों, रोमन जलसेतुओं तथा गॉथिक गिरजाघरों से भी आगे निकल गईं। इसने ऐसे-ऐसे अभियान किए जिन्होंने पूर्वकालीन राष्ट्रों के निष्क्रमण तथा धर्मयुद्धों को भी अंधकार में डाल दिया।....बुर्जुआ वर्ग ने अपने मुश्किल से सौ वर्षों के शासनकाल में इतनी जबर्दस्त तथा इतनी विशाल उत्पादक शक्तियाँ पैदा कीं जो उससे पहले की पीढ़ियों की कुल सफलता से भी अधिक थीं। इसने प्राकृतिक शक्तियों को मानव तथा यंत्रों के वशीभूत किया, रसायन-विद्या का उद्योगों तथा कृषि में प्रयोग किया, भाप से नौ-परिवहन, रेलें, बिजली, तार बनाये। समस्त महाद्वीपों को खेती करने के लिए साफ किया, नदियों से नहरें निकालीं अर्थात् समस्त जनता को जमीन पर से उठा कर खड़ा कर दिया—क्या उससे पहले की शताब्दी में किसी को यह ख्याल भी था कि सामाजिक श्रम के अंतर में इस प्रकार की उत्पादक शक्तियाँ भी सो रही हैं?"[१]

बुर्जुआ वर्ग ने मजदूर वर्ग पैदा किया

इन समस्त सफलताओं के बाद भी बुर्जुआ वर्ग ने ऐसी कुछ शक्तियों को भी गतिशील बना दिया है, जो इसकी समाप्ति का अंततः कारण बनेंगी। एक दृष्टि से ये शक्तियाँ मजदूर वर्ग में मूर्त्तिमान हैं—श्रमिकों का एक ऐसा वर्ग जो तभी तक जीवित रहता है, जब तक उसे काम मिलता रहता है और उसे तभी तक काम मिलता रहता है, जब तक उसके श्रम से पूँजी बढ़ती है। इन श्रमिकों को स्वयं अलग-अलग रूप में वाणिज्य-योग्य किसी भी अन्य वस्तु की भाँति स्वयं को बेचना पड़ता है और इसके फलस्वरूप प्रतियोगिता की सभी ऊँच-नीचों का इन्हें सामना करना होता है और बाजार की घट-बढ़ का इन पर सीधा असर पड़ता है।"[२] बुर्जुआ वर्ग तभी तक और उसी सीमा तक विद्यमान रह सकता है; जब तक मजदूर वर्ग है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुर्जुआ वर्ग ने ही मजदूर वर्ग को पैदा किया है।

यही नहीं; आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाओं का विकास करते समय बुर्जुआ वर्ग ने अक्सर श्रमिकों को एक छत के नीचे तथा एक ही नगर में इकट्ठा कर दिया। इसलिए मजदूर वर्ग इस बात की बेहतर स्थिति में आ गया कि वह बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध अपने संगठन (मजदूर संघ) बना सके, मजदूरी की दर ऊँची रख सकने के लिए इकट्ठा हो सके और स्थायी संबंधों की नींव डाल सके, ताकि समय-समय पर

---

[१] वही, पृष्ठ २६-२८।

[२] वही, पृष्ठ ३०।

किए जाने वाले इन विद्रोहों के लिए पहले से ही व्यवस्था कर सके । आधुनिक उद्योग ने संचार के जो उन्नत साधन प्रदान किए और विभिन्न इलाकों के श्रमिकों को एक दूसरे के संपर्क में आने का अवसर दिया, उससे मजदूर वर्ग और भी सशक्त हुआ । यही नहीं, बुर्जुआ वर्ग भी मजदूर वर्ग के कुछ भागों को अपने लिए संघर्ष करने—बुर्जुआ वर्ग से आंतरिक विरोधी तत्त्वों तथा विदेशी बुर्जुआ वर्ग से लड़ने के लिए लगातार प्राप्त करता रहता है । इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग ने मजदूर वर्ग को राजनीति के अपने तत्त्व तथा सामान्य शिक्षा प्रदान की; दूसरे शब्दों में मजदूर वर्ग को बुर्जुआ वर्ग से लड़ने के हथियार प्रदान किए ।''[1] इन सबको यदि बुर्जुआ वर्ग से भागकर मजदूर वर्ग में शामिल होने वाले लोगों से मिला दिया जाए, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, तो इसके आधार पर मार्क्स ने निष्कर्ष निकाला कि ''इसलिए बुर्जुआ वर्ग ने जो चीजें पैदा की हैं, वे चीजें उसकी अपनी कब्रें खोदने वाली हैं । उसका पतन तथा मजदूर वर्ग की विजय समान रूप से अवश्यंभावी है ।''[2]

राज्य : अवपीड़न का एक माध्यम

राज्य का स्वरूप

मार्क्स की मान्यता थी कि वर्ग-संघर्ष में राज्य एक ऐसा माध्यम अथवा एक प्रणाली है, जिस पर बुर्जुआ वर्ग का नियंत्रण है और उसके द्वारा वह अपने स्वार्थों का साधन करता है । 'राज्य' शब्द को मार्क्स ने कभी भी संगठित समाज अथवा सरकार का सम्मानार्थी नहीं माना ।[3] सिडनी हुक का कहना है कि 'मार्क्सवादी भाषा में हम राज्य की बात उसी अवस्था में करते हैं, जब अवपीड़न कर सकने वाली एक-विशेष सार्वजनिक सत्ता विद्यमान हो, जो एक सशस्त्र संगठन के रूप में जनता से एकदम ऊपर हो ।' इस कथन के समर्थन में उन्होंने मार्क्स के इस कथन को उद्धृत किया है कि ''राज्य से अवपीड़न कर सकने वाली सार्वजनिक सत्ता की पूर्वकल्पना होती है, जो उसके समग्र सदस्य समुदाय से भिन्न हो ।''[4] संभवतः ऐसी शक्ति के अभाव में एक संगठित समाज कायम रह सकता है (जैसा कि मार्क्स का कहना है कि

---

[1] वही, पृष्ठ ३२-३३ ।

[2] वही, पृष्ठ ३६ ।

[3] संक्षिप्त उल्लेखों के अलावा मार्क्स ने राज्यविषयक सिद्धांत का विवेचन नहीं किया है । इस सिद्धांत का प्रतिपादन एंगिल्स तथा लेनिन ने किया है । इस विश्लेषण में उनके विचारों को मार्क्सवादी सिद्धांत का अंग माना गया है ।

[4] सिडनी हुक, ट्वार्ड्स दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क, डे, १९३३, पृष्ठ २५६ ।

पूर्ण साम्यवाद के अंदर हो सकता है) जब कि सरकार मात्र वह तंत्र है, जिसमें इस शक्ति का निवास होता है।

'अवपीड़क शक्ति' के रूप में राज्य का तब तक कोई काम न होगा, जब तक ऐसी कोई चीज या व्यक्ति न हो, जिसे उस अवपीड़क शक्ति का लक्ष्य बनाया जा सके। "अतः राज्य अनादि काल से विद्यमान नहीं रहा है। ऐसे समाज रहे हैं, जिन्होंने राज्य के बिना ही काम चलाया है, जिनमें राज्य अथवा राज्य की शक्ति कोई धारणा ही नहीं थी। आर्थिक विकास के एक चरण में, जिसमें समाज का वर्गों में विभिन्न होना अनिवार्य था, इस विभाजन के कारण राज्य का होना निहायत जरूरी हो गया।"[1] "इस प्रकार राज्य वर्ग-वैषम्य के बीच किसी प्रकार का समझौता न हो सकने की स्थिति से प्रादुर्भूत है तथा उसका एक प्रकट लक्षण है। राज्य का उदय वही, उसी समय तथा उस हद तक होता है, जहाँ तक वर्ग-वैषम्य को वस्तुगत रूप से सुलझाया नहीं जा पाता। और इसके विपरीत राज्य के विद्यमान होने से ही यह सिद्ध है कि वर्ग-वैषम्य ऐसा है कि उसका समझौता ही नहीं कराया जा सकता।"[2] "राजनीतिक शक्ति, यदि उसे ठीक ढंग से कहें तो एक वर्ग की दूसरे वर्ग के अवपीड़न के लिए संगठित शक्ति होती है।"[3]

इसलिए इतिहास के प्रत्येक काल में, राज्य उस वर्ग के अधिकार में रहा है, जो उस कालविशेष में प्रबल रहा है। "पहले के समाज को, वर्ग-वैषम्य के चलते हुए राज्य की आवश्यकता पड़ी अर्थात् प्रत्येक काल में यह शोषक वर्ग का ऐसा संगटन जो उत्पादन की वाह्य स्थितियों को बनाए रखे; यानी कि शोषित वर्ग को अवपीड़न की उन स्थितियों (दासता, कृषक दास, वेतनभोगी श्रमिक) में जबंदस्ती बनाए रखे, जो उत्पादन की विद्यमान पद्धति के अनुसार निर्धारित होती है। राज्य समस्त समाज का वैध प्रतिनिधि होता है, समाज का जीवंत निगमित स्वरूप होता है; लेकिन उसका यह रूप केवल उस वर्ग के राज्य के रूप में होता है, जिसका वह अपने काल में प्रतिनिधित्व करता है। प्राचीन काल में राज्य दासों के स्वामी नागरिकों का था, मध्य काल में सामंतशाही कुलीनों का था और दूसरे युग में

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली प्रॉइवेट प्रापर्टी एंड दि स्टेट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३३२।

[2] वी० आई० लेनिन, 'दि स्टेट एंड रिवोल्यूशन' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७२४।

[3] साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ४६।

बुर्जुआ वर्ग का हैं।"[१] इस प्रकार "राज्य एक तानाशाही—किसी एक या एकाधिक अन्य वर्गों पर एक वर्ग की तानाशाही के अलावा कुछ नहीं होता।"[२]

बुर्जुआ राज्य

एक संस्था के रूप में राज्य का अमूर्त्त स्वरूप यह है। इसके विशिष्ट विकासशील स्वरूपों का निर्धारण परिवर्तनशील उत्पादन पद्धतियों के अनुसार होगा। इसीलिए जिन तत्त्वों ने आरंभिक पूँजीपति मालिक तथा आरंभिक वेतनभोगी श्रमिक पैदा किए; उन्हीं ने, उस राज्य की स्थापना की जिसे मार्क्स, एंगिल्स तथा लेनिन ने बुर्जुआ राज्य की संज्ञा दी है। पूँजी के संचित होते जाने से जैसे-जैसे स्वामी वर्ग की शक्ति बढ़ती गई, उसके साथ-ही-साथ बुर्जुआ राज्य की शक्ति भी बढ़ती गई। "यहाँ तक कि वह स्वामी वर्गों भूमि के स्वामियों तथा पूँजीपतियों की शोषित वर्गों, किसानों तथा श्रमिकों के विरुद्ध सामूहिक संगठित शक्ति के अलावा कुछ नहीं है। अलग-अलग पूँजीपति (यहाँ केवल प्रश्न इन्हीं का है; क्योंकि इस मामले में भूमि के स्वामी का भी संबंध तो होता है, लेकिन वह प्राथमिक रूप से पूँजीपति की भाँति आचरण करता है) जो नहीं चाहते, राज्य भी वह नहीं चाहती।"[३] "वे अधिकारी जो अब समाज से ऊपर समाज के अंग के रूप में खड़े हैं, वे समस्त बुर्जुआ वर्ग के मिले-जुले कार्यों को संपन्न करने वाली एक समिति मात्र ही होते हैं।"[४] "यही नहीं, यह शक्ति जो राज्य का सार होती है, और जिसका प्रयोग बुर्जुआ वर्ग करता है, उसी परिमाण में बढ़ती जाती है, जिस परिमाण में राज्य के अंदर वर्ग-वैमनस्य तीव्रतर होता जाता है।"[५]

बुर्जुआ राज्य में प्रजातंत्र

मार्क्सवादी सिद्धांत में राज्य जिसके कार्यों का चित्रण इस प्रकार किया गया है, वह अनिवार्यतः राजतंत्रात्मक राज्य नहीं है, हालांकि कुछ कालों में राजाओं का राज्य रहा है। एंगिल्स ने विशेष रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि "आधुनिक प्रतिनिधि राज्य" पूँजीपति द्वारा वेतनभोगी श्रमिक के शोषण का साधन है।...."

---

[१] फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटीड्यूहरिंग, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २६५।

[२] सिडनी हुक, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३००।

[३] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि हाउसिंग क्वेश्चन, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ६४७।

[४] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ओरिजन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऐंड दि स्टेट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २३०; साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २५।

[५] फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ओरिजन ऑफ दि फैमिली, प्रॉइवेट प्रॉपर्टी ऐंड दि स्टेट, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३२६।

राज्य का सर्वोच्च स्वरूप–प्रजातांत्रिक गणराज्य है, जो हमारे आधुनिक सामाजिक संबंधों में अधिकाधिक अनिवार्य आवश्यकता बनती जा रही है। यह राज्य का ऐसा स्वरूप है, जिसमें मजदूर वर्ग तथा बुर्जुआ वर्ग के मध्य निर्णायिक संघर्ष हो सकता है। इसमें संपत्तिविषयक विभेदों की अधिकाधिक तौर पर कोई स्वीकृति नहीं होती हैं। इसमें संपत्ति इसकी सत्ता का 'गौण' रूप से किंतु अधिक 'कारगर' रूप से प्रयोम करती है।"[1] एंगिलस की दृष्टि में 'अप्रत्यक्ष नियंत्रण' एक ओर तो अफसरों के प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार के रूप में विद्यमान होते हैं–अमेरिका इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है, और दूसरी ओर सरकार तथा शेयर बाजार के बीच एक संधि का स्वरूप लेते हैं। ज्यों-ज्यों सार्वजनिक ऋण बढ़ते जाते हैं और अधिकाधिक कंपनियाँ उनके हाथों में आती जाती हैं, त्यों-त्यों यह संधि आसानी से काम करती है। ये कंपनियाँ न केवल परिवहन, वरन् उत्पादन से संबंधित होती हैं और शेयर बाजार में इनका आकर्षण केंद्र होता है।"[2]

और भी अधिक सूक्ष्म रूप से "सत्ताधारी वर्ग वयस्क मताधिकार के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासन करता है। जब तक पीड़ित वर्ग, जो हमारी दृष्टि में सर्वहारा वर्ग है, अपनी मुक्ति के लिए तैयार नहीं होता, तब तक यह वर्ग जो बहुमत में हैं, वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को एकमात्र संभव व्यवस्था समझेगा और राजनीतिक रूप से पूँजीपति का दुम बना रहेगा, उसका सर्वाधिक काम पक्ष होगा।"[3]

लेनिन ने अधिक विस्तारपूर्वक उन विधियों की सूची प्रस्तुत की है, जिनके द्वारा बुर्जुआ लोग "प्रजातंत्र में मजदूर वर्ग के मतों का नियंत्रण करते हैं। उनकी मान्यता है कि मतदान की छोटी-छोटी तथाकथित बातों (आवास-संबंधी योग्यता महिलाओं को शामिल न करना आदि) तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की विधियों.... दोनों ही के रूप में, सभाओं आदि के अधिकार में वास्तविक बाधाएँ (सार्वजनिक इमारतें 'भिखारियों' के लिए नहीं होती हैं)। दैनिक पत्रों का विशुद्ध पूँजीवादी संगठन आदि–सभी दिशाओं में हम प्रजातंत्र पर पाबंदी-दर-पाबंदियाँ लगी देखते हैं। गरीब लोगों पर लगे ये प्रतिबंध, अपवाद, श्रेणी-बहिष्कार, बाधाएँ मामूली लगती हैं, खास कर उन लोगों को, जिन्होंने कभी अभावों का सामना नहीं किया और पीड़ित वर्ग के लोगों के सामूहिक जीवन को जिन्होंने कभी भी निकट से नहीं देखा है,....

---

[1] वही, पृष्ठ ३३०-३३१, उद्धरण-चिह्न हमारे हैं।

[2] वही, पृष्ठ ३३१।

[3] वही, पृष्ठ ३३२।

लेकिन कुल मिला कर ये प्रतिबंध गरीब लोगों को राजनीति से तथा प्रजातंत्र में सक्रिय भाग लेने से वंचित कर देते हैं एवं बाहर निकाल देते हैं। मार्क्स ने पूँजीवादी प्रजातंत्र को बड़े शानदार ढंग से हृदयंगम कर लिया था। जब कम्यून के अनुभव का विश्लेषण करते हुए यह कहा था कि "पीड़ित लोगों को हर कुछ सालों के बाद यह निश्चय करने का अधिकार रहता है कि पीड़क वर्ग का कौन सा प्रतिनिधिविशेष संसद में उनका प्रतिनिधित्व करेगा और उनको पीड़ित करेगा।"[१]

लेनिन ने न केवल यह निष्कर्ष निकाला है कि पूँजीवाद के अधीन तथाकथित प्रजातांत्रिक राज्य मजदूर वर्ग को पीड़ित करती है, वरन् "प्रजातांत्रिक गणराज्य पूँजीवाद का सर्वोत्तम राजनीतिक कवच है और इसीलिए यदि एक बार पूँजी .... इस सर्वोत्तम कवच को अपने हाथ में कर पाती है, यह अपनी सत्ता को इतनी पक्की तौर से, इतनी दृढ़ता से जमा लेती है कि बुर्जुआ गणराज्य में व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा दलों के किसी परिवर्तन से उसे हिलाया नहीं जा सकता।"[२] इसलिए अत्यधिक अपवाद के रूप में ही ऐसे मौके आते हैं कि संघर्षरत वर्षों में एक तरह से संतुलन वाली स्थिति आ जाए कि राजसत्ता प्रकटतः मध्यस्थ के रूप में प्रकट होते हुए, दोनों पक्षों से कुछ स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण कुछ समय के लिए कर ले। आधुनिक 'प्रजातांत्रिक' पूँजीवाद समाज में राज्य उत्पीड़न का एक माध्यम होता है, जिसे बुर्जुआ वर्ग मजदूर वर्ग के विरुद्ध प्रयोग करता है।

इस बात से यह निष्कर्ष निकलता है कि "श्रमिक का कोई देश नहीं होता"[३] राज्यतंत्र के ऊपर मजदूर वर्ग की छोटी-मोटी तकलीफों को छोड़कर किसी और बात को दूर करने के लिए निर्भर नहीं किया जा सकता। इसे ऐसे साधन के रूप में तो प्रयोग किया ही नहीं जा सकता, जिससे समाजवाद की दिशा में कारगर रूप से धीरे-धीरे कदम उठाए जा सकें। राज्य की जड़ें प्रकृतितः वर्ग-संघर्ष में है, अतः यह तब तक कभी भी उत्पीड़न के माध्यम के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता, जब तक वर्ग-संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता और बुर्जुआ वर्ग तथा मजदूर वर्ग में यह वर्ग-संघर्ष तब तक समाप्त नहीं हो सकता, जब तक कि स्वयं पूँजीवाद के स्थान पर साम्यवाद की स्थापना नहीं होती।[४]

---

१. वी० आई० लेनिन, दि स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७४४।

२. वही, पृष्ठ ७३१।

३. फ्रेडरिक एंगिल्स, दि ओरिजन ऑफ दि फैमिली, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ३३०।

४. साम्यवादी घोषणापत्र; हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ४३।

मजदूर वर्ग के बढ़ते कष्ट

पूँजीवाद के 'अंतर्विरोध'

न तो वर्ग-संघर्ष और न राजनीतिक राज्य का उत्पीड़न के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाना अपने-आप में पूँजीवादी प्रणाली को नष्ट करेगा। इन दोनों विशिष्ट तत्त्वों के साथ पूँजीवाद अनिश्चित काल तक विद्यमान रह सकता है बशर्ते कि वे चीजें, जिन्हें मार्क्स 'अंतर्विरोध' कहते हैं, अपने-आप और अनिवार्य रूप से पूँजीवादी प्रणाली में पैदा न होतीं। पूँजीवाद तथा बुर्जुआ राज्य इन कठिनाइयों का सामना नहीं कर पाता, जो इस प्रणाली का अंत अनिवार्य रूप से लाकर रहेंगी। पूँजीवादी समाज जिसने उत्पादन तथा विनिमय के जो इतने भीमकाय साधन पैदा कर दिए हैं, उस ऐंद्रजालिक के रूप हैं, जिसने अपने इंद्रजाल के बल पर जादू-जगत् की शक्तियाँ बुलाई हों और फिर उन पर नियंत्रण न रख पा रहा हो।[1]

ज्यों-ज्यों पूँजी एकत्र होती जाती है, श्रमिकों को और अधिक-से-अधिक कष्ट दिए जाते हैं। इसके बाद भी, पूँजीपति मालिक द्वारा प्राप्त होने वाले मुनाफे की दर घटती जाती है और वे उद्योगों से होने वाले उत्पादन का वह भाग भी उपयोग नहीं कर पाते, जिसके वह अभ्यस्त होते हैं। तज्जन्य अत्युत्पादन से औद्योगिक गतिविधि में सामयिक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। बाजार में अधिक माल आने तथा मुनाफे की दर घटते जाने से, पूँजीवादी व्यावसायिक संस्थाओं के मध्य प्रतिद्वंद्विता और भी तेज हो जाती है। यह प्रतिद्वंदिता जब एकदम गलाकाटू होती है, तो छोटे औद्योगिक कारखाने समाप्त हो जाते हैं और उद्योगों का नियंत्रण अधिकाधिक कम हाथों में पहुँच जाता है तथा केंद्रित होता जाता है। एकाधिकारी संस्थाएँ बनने से 'वित्त पूँजी' के चरण में ही उनका नियंत्रण धनकुबेरों के इस वर्ग के हाथ में पहुँचता जाता है। अत्युत्पादन के स्वदेश में होने वाले इन परिणामों के साथ-साथ, पूँजीपति मालिक अपने अतिरिक्त माल के विदेशों में बाजार खोजने के प्रयास करते हैं। राजसत्ता का उपयोग करके—जिसका वे नियंत्रण करते हैं, वे पूँजीपति साम्राज्यवाद का सृजन करते हैं। ये अंतर्विरोध 'वित्त पूँजी' आने के समय तक पूँजीवाद की नींव बहुत अधिक कमजोर कर देते हैं और साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान में अपनी सीमा पर पहुँच जाते हैं। उस समय एक 'क्रांति' होगी और यदि मजदूर वर्ग ठीक ढंग से तैयार है तथा साम्यवादी दल के नेतृत्व में संगठित है, तो नियंत्रण की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा और लिए रहेगा।

---

[1] वही, पृष्ठ २६।

यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धांत इतनी अच्छी तरह सुग्रथित नहीं है, जितना इस संक्षिप्त विवरण से प्रकट होता है। किंतु, उसमें इस बात पर अवश्य जोर दिया गया है कि ये अंतर्विरोध पूँजीवादी प्रणाली में अपने-आप पैदा होते हैं, उसे एक सोपान से दूसरे सोपान में ले जाते हैं, जिससे अंततः पूर्ण रूप से आर्थिक विश्रृंखलता उपस्थित हो जाती है। अब हम संक्षेप में पूँजीवादी प्रणाली में प्रकृत रूप से रहने से इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतर्विरोधी की उसी रूप में विवेचना करेंगे, जिस रूप में मार्क्स और उनके निकटस्थ अनुयायियों ने उसे प्रस्तुत किया है।

बेशी मूल्य और बढ़ते कष्ट

अधिशेष मूल्य-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया था कि श्रम की उत्पादिता अथवा उद्योग की कुशलता में जितनी-जितनी वृद्धि होगी, वह बेशी मूल्य प्राप्तकर्त्ताओं के हाथों में पहुँचती रहेगी; क्योंकि उससे श्रम के जीवन-निर्वाह-साधनों के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-समय में कमी होती जाएगी। इस प्रकार ज्यों-ज्यों उत्पादन की कुशलता बढ़ेगी, त्यों-त्यों कुल उत्पादन में श्रम द्वारा प्राप्त अनुपातिक भाग कम होता जाएगा।

'आरक्षित' श्रम

मार्क्स के विचार से पूँजीवादी व्यवस्था में काम करने वाली शक्तियाँ और भी अन्य तरीकों से सर्वहारा वर्ग को अधिकाधिक कष्टों में डालती हैं। उन्होंने तर्क दिया है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता जाता है, श्रम की माँग उसी अनुपात में नहीं बढ़ती है, जिसमें पूँजी का संचयन होता है; इससे 'आरक्षित श्रम' अथवा 'जनसंख्याधिक्य' की स्थिति पैदा होती है। इससे उपलब्ध काम प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता होने से मजदूरी की दरें और भी घट जाती हैं।

मशीनें और आरक्षित श्रम

यह आरक्षित श्रम मुख्य रूप से इसलिए पैदा होता है; क्योंकि जैसे-जैसे पूँजी का कुल परिमाण बढ़ता है, उसका अधिकाधिक भाग, उत्पादन के उपकरण (अचल पूँजी) बनाने में लगता है उसका क्रमिक रूप से घटता भाग श्रम को सीधे रखने पर खर्च होने (चल पूँजी) के लिए सुलभ होता है। मार्क्स की मान्यता थी कि "श्रम की माँग का निर्धारण⋯⋯उसके परिवर्तनीय भाग से ही होता है।"[1] इसका तात्पर्य दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ज्यों-ज्यों अधिक मशीनों का प्रयोग किया जाएगा, श्रमिकों को पुराने कामों से नए काम तैयार होने की अपेक्षा अधिक तेजी से हटाया जाएगा। इसका कारण यह है कि मशीनों के विस्तार से उत्पादन में जो कुशलता

---

[1] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ६६० ।

बढ़ी, उससे सामूहिक क्रय-शक्ति पैदा नहीं हुई; क्योंकि उसे बढ़े हुए वेतन के रूप में नहीं दिया गया, वरन् बेशी मूल्य के रूप में दिया गया। आधुनिक भाषा में कहें, तो मार्क्स की मान्यता यह थी कि शिल्पविद्याजन्य बेकारी बढ़ने से बेकार श्रमिकों की संख्या अधिक होती जाएगी। इससे अनेक रूपों में वेतन-दर घटती जाएगी। "........ बेकार श्रमिकों का दवाब काम में लगे लोगों को अधिक श्रम करने के लिए बाध्य करता है और इसलिए श्रम की पूर्ति को एक सीमा तक श्रमिकों की पूर्ति से भिन्न कर देता है।"[1] "यह बेशी श्रम' सभी उद्योगों की आसानी सुलभ शाखाओं में श्रम की बाढ़ ला देते हैं, श्रम बाजार में भर जाते हैं और श्रम-शक्ति की कीमत उसके मूल्य में भी गिरा देते हैं।"[2] "अंत में फालतू श्रमिक संख्या, जो पूँजी के आदेशों का पालन करने को बाध्य है, मजदूरी में कमी किए जाने अथवा पूँजीपति मालिक द्वारा काम के घंटे बढांने का विरोध करने के लिए कम से कम प्रवृत्त होंगी।"[3]

व्यवसाय-चक्र और अतिरिक्त श्रम

इसी प्रकार व्यवसाय-चक्र के कारण भी अस्थायी रूप से श्रम-शक्ति फालतू होती है। जब रोजगार-धंधे में समृद्धि का काल चल रहा होता है, उस समय अतिरिक्त श्रमिक फिर से खपा लिए जाते हैं, जिससे माँग की तीव्रता रुक जाती है और वेतन-दर उतनी बढ़ने नहीं पाती, जितनी अन्यथा बढ़ सकती है, जबकि मंदी के दिनों में ये अतिरिक्त श्रमिक एक दूसरे के साथ नौकरियों के लिए प्रतियोगिता करते हैं, जिससे वेतन की चालू दरें भी नीचे आ जाती हैं। मार्क्स के शब्दों में :—

"औद्योगिक आरक्षित श्रम सेवा आर्थिक गतिहीनता तथा औसत समृद्धि काल में सक्रिय श्रम सेवा की स्थिति हलकी करती है; लेकिन अत्युत्पादन तथा सहसोत्पादन के जमाने में वह उसके छद्म रूपों को रोकती है।"[4]

पूँजी का दवाब और आरक्षित श्रम

आरक्षित श्रम सेवा को पैदा करने में सहायक होने वाली तीसरे प्रकार की शक्तियाँ भी होती हैं, जो पूँजीवादी प्रणाली की विशेषता है। मार्क्स की मान्यता है कि "उद्योग में यह अनवरत् प्रवृत्ति होती है। वे संख्या में थोड़े-से-थोड़े, किंतु आकार में बड़े कारखानों के रूप में केंद्रित होते जाते हैं। प्रत्येक औद्योगिक कारखाने में उत्पादन का परिमाण जितना-जितना अधिक होता जाता है, उतना ही श्रमिक द्वारा

---

१. वही, पृष्ठ ७०८।

२. वही, पृष्ठ ४७०।

३. वही, पृष्ठ ४४५।

४. वही, पृष्ठ ७०१।

हाथ से काम कराने के बजाय मशीन से काम कराने का दवाब बढ़ता है और इस प्रकार आरक्षित श्रमिकों की संख्या और भी बढ़ती जाती है।"[१]

लाभ की घटती दर

कमी होने का कारण

यद्यपि बेशी मूल्य पूँजीवादी प्रणाली का अनिवार्य अंग है और उद्योग के कुल उत्पादन के अंश रूप में बढ़ता ही जाता है और यद्यपि श्रमिकों की आरक्षित सेवा और वेतन पर उसके प्रभाव पूँजीवादी प्रणाली में श्रमिकों की दुरवस्था को और भी बढ़ाते हैं, तथापि ज्यों-ज्यों पूँजीवादी उत्पादन बढ़ता जाता है और पूँजी संचित होती जाती है, त्यों-त्यों मुनाफे की दर घटती जाती है।

इस संबंध में मार्क्स की तर्क-सरणि संक्षिप्त है। "पूँजीवादी समाज में ज्यों-ज्यों पूँजी इकट्ठी होती जाती है, कुल पूँजी के अनुपात में मशीनों तथा औजारों (अचल पूँजी) का परिमाण बढ़ता जाता है और चालू मजदूरी के रूप में किए जाने वाले भुगतान (चल पूँजी) का परिमाण घटता जाता है। लेकिन, श्रमिकों को दिए जाने वाले वेतन से ही बेशी मूल्य पैदा होता है; क्योंकि श्रम ही मूल्य पैदा करता है। इस प्रकार चूँकि, कुल पूँजी परिव्यय का अपेक्षाकृत कम भाग उस प्रयोग में लगता है, जिससे बेशी मूल्य पैदा होता है, अतः ज्यों-ज्यों कुल पूँजी (अचल और चल) बढ़ती है, त्यों-त्यों बेशी मूल्य उस कुल पूँजी का न्यून से न्यूनतर होता जाएगा।"[२]

इस गिरावट का प्रतिरोध

इस गिरावट की प्रवृत्ति का प्रतिरोध पूँजीपति मालिक जिस व्यावहारिक ढंग से कर सकता है, वह ढंग श्रमिक के शोषण का स्तर और भी बढ़ा देना है, जिससे चल पूँजी पर होने वाले व्यय से इतना पर्याप्त बेशी मूल्य प्राप्त हो सके, जिससे कुल पूँजी पर होने वाला लाभ उतना ही रहे अथवा उसमें वृद्धि हो। लाभ की दर गिरते जाने का यह सिद्धांत उन अंतर्विरोधों तथा प्रतिरोधों की ही एक अन्य अभिव्यक्ति है, जिन्हें मार्क्स पूँजीवादी प्रणाली में स्वाभाविक मानते हैं। श्रमिकों के कष्ट बढ़ने तथा लाभ की दर गिरते जाने की प्रवृत्तियों के बीच प्रतिलोम संबंध है। अगर पूँजीपति मालिक द्वारा शोषण बढ़ाने के प्रयासों को श्रमिक सफलतापूर्वक रोक सकते हैं, तो उसके लाभ की दर अवश्य घटेगी और अगर वे इसे रोक नहीं पाते, तो लाभ की दर स्थिर रह सकती है अथवा बढ़ भी सकती है।

---

[१] वही, पृष्ठ ६८६।

[२] देखिए, 'कैपिटल' पुस्तक से उद्धरण, जिल्द तीन, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ४९५।

व्यवसाय-चक्र

पूँजीवाद में निरूढ़

अगर यह मान भी लिया जाए कि श्रमिक पूँजीपति द्वारा अधिकाधिक शोषण करने के प्रयासों को कारगर रूप से रोक सकता है और अगर यह भी मान लिया जाए कि लाभ की दर काफी हद तक स्थिर रह सकती है, तो भी मजदूरी को जीवन-निर्वाह-स्तर तक रखने और बेशी मूल्य के विद्यमान होने से पूँजीवादी प्रणाली में एक अन्य अंतर्विरोध का जन्म होगा। 'संकट' अथवा आधुनिक शब्दावली में कहें, तो 'मंदी' इन तत्त्वों का अनिवार्य परिणाम है जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सर्वथा स्वाभाविक है। मार्क्स और एंगिल्स के मतानुसार संकट इस बात से पैदा होता है कि कारखाने के अंदर सामाजिक संगठन इस सीमा तक बढ़ जाता है, जहाँ वह समाज के अंदर उत्पादन की उस अराजकता के अनुकूल नहीं रह जाता जो उसके साथ तथा उसके ऊपर विद्यमान रहती है।[1] पूँजीपति मालिक पर लगातार प्रतियोगिताजन्य दवाब इस बात के लिए होता है कि वह नई तथा अच्छी मशीनें लगाए और अपने औद्योगिक कारखाने का उत्पादन बढ़ाये। चूँकि वह अपने कारखाने के लिए एक मात्र निर्णयकर्त्ता होता है, इसलिए वह नई मशीन लगा सकता है और लगाता भी है, श्रमिकों को इधर उधर-करता है और अपने कारखाने के अंदर समस्त उत्पादन-प्रक्रिया का समन्वय इस प्रकार करता है, जिससे अधिकाधिक उत्पादन करने का लक्ष्य पूरा हो सके। चूँकि प्रत्येक पूँजीपति मालिक पर एक-जैसे ही दवाब पड़ते हैं, इसलिए प्रत्येक मालिक वही नीति अपनाता है। यदि एक कारखाने की दृष्टि से देखें, तो यह बात व्यवस्थित तथा तर्कसंगत प्रक्रिया लगती है, लेकिन यदि 'समग्र उद्योग' की दृष्टि से देखें, तो स्थिति 'अराजकता' की होती है; क्योंकि कुल उत्पादन का बाजार की कुल क्रय-शक्ति के साथ कोई योजनाबद्ध समन्वय नहीं होता है।

पूँजीवादी अत्युत्पादन

वस्तुतः चूँकि श्रमिक वर्ग की आमदनी उनके जीवन-निर्वाह-व्यय तक ही सीमित होती है और चूँकि अधिशेष मूल्य, जो अवशिष्ट उत्पादित मूल्यों का रूप होता है, सीमित संख्या वाले मालिकों के हाथों में जाता है, जिनकी आमदनी पहले ही बहुत अधिक होती है, इसलिए ऐसा पर्याप्त तत्त्व काम नहीं कर रहा होता, जिससे उद्योग का उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ सामूहिक क्रय-शक्ति नहीं बढ़ती। इससे एक ही बात हो सकती है। कुछ समय के वाद पूँजीपति मालिक पाता है कि उसके पास अनबिकी वस्तुओं का स्टॉक जमा हो गया है, 'अत्युत्पादन' हो गया है और

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स, एँटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २६०।

इस अतिरिक्त स्टॉक के निकालने के लिए उद्योग को उत्पादन की रफ्तार घटा देनी चाहिए। माल निकलने के एक मध्यवर्त्ती समय के बाद, जिसमें मानव कष्ट के रूप में भारी कीमत चुकानी होती है और 'आरक्षित' (अतिरिक्त) श्रमिक पैदा करके उद्योग में फिर से जान आती है और इस प्रकार इस चक्र की पुनरावृत्ति होती रहती है।[1]

मार्क्स ने सावधानी के साथ इस बात की तरफ इंगित किया है कि संकट का मूलभूत कारण 'अत्युत्पादन' पूँजीवादी अर्थ में है न कि इस अर्थ में कि उत्पादन इतना हो गया है कि उसका उपभोग नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है कि यह सच नहीं है कि वर्त्तमान जनसंख्या के अनुपात में जीवन की आवश्यकता की बहुत अधिक वस्तुएँ पैदा हो गई हैं। बात तो इसके विपरीत है। इतना पर्याप्त पैदा नहीं किया जाता, जो इतनी बड़ी जनसंख्या की आवश्यकताओं को अच्छी तरह मानवीय रूप में पूरा किया जा सके।.... "इतनी अधिक वस्तुएँ पैदा की जाती हैं, जिससे पूँजीवादी उत्पादन की वितरण तथा उपभोग की विशिष्ट 'स्थितियों में' मूल्य तथा उनमें विद्यमान बेशी मूल्य प्राप्त किया जा सके अर्थात् केवल इतनी ही अधिक जिससे बार-बार विस्फोट न होने दे कर इस प्रक्रिया को चालू रखा जा सके।"[2]

संकट की गुरुता में वृद्धि

इस प्रकार आधुनिक पूँजीवादी समाज में अनिश्चितता तथा अस्थिरता बिल्कुल सामान्य बातें हो गई हैं। लेकिन इससे भी अधिक बात यह है कि औद्योगिक संकट लगातार अधिकाधिक गंभीर होते जाते हैं। थोड़े-थोड़े समय के बाद ये संकट उपस्थित होते रहते हैं और "हर बार अधिक संकटपूर्वक आते हैं।"[3] यांत्रिक विधियों की लगातार बढ़ती हुई उत्पादक शक्तियाँ पूँजीपति मालिक पर इस बात के लिए और अधिक दवाब डालती हैं कि वह अपने उपकरणों का 'आधुनिकीकरण' करे। बेशी मूल्य में वृद्धि होती है, जबकि वेतन जीवन-निर्वाह-स्तर पर ही रहते हैं तो स्वदेशी बाजार चालू उत्पादन को खपाने में असमर्थ होता है और अतिरिक्त वस्तुओं के भंडार जमा होता रहता है। इन अतिरिक्त वस्तुओं की बिक्री के लिए विदेशी बाजारों के दोहन की भी एक सीमा होती है और जब उस सीमा तक इनका उपयोग भी हो जाता है, तो स्वदेशी बाजारों में, अत्युत्पादन के कारण माल बहुत

---

[1] देखिए, वही पृष्ठ २८९-२९१। साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २९-३०; "कैपिटल' भाग ३ से उद्धरण हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५२४-५२७।

[2] वही पृष्ठ ५२५-५२६। उद्धरण-चिन्ह हमारे हैं।

[3] 'कम्युनिस्ट' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २९।

अधिक जमा हो जाता है और संकट और भी गुरुतर होता है। पूँजीवादी उत्पादन में प्रकट तथा विद्यमान ये अंतर्विरोध अधिकाधिक गंभीर औद्योगिक संकटों के रूप में प्रयोग होते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार ये ही पूँजीवादी प्रणाली के अंततः पतन के प्रमुख कारणों में से एक कारण होंगे।

पूँजी जमा होना और उसका केंद्रीयकरण

प्रतिस्पर्द्धा की अधिकाधिक तीव्रता

लाभ की दर में कमी होने, अत्युत्पादन के कालों का थोड़े-थोड़े समय के बाद आने तथा अधिकाधिक मशीनों के उपयोग से वस्तुओं के सस्ते होने और श्रमिकों की उत्पादिता बढ़ने की प्रवृत्ति, इन सभी के कारण अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति उत्पन्न होती है।......"संचयन के कारण मुनाफे की दर में कमी होने से आवश्यक रूप से प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष पैदा होता है........यही बात अत्युत्पादन होने तथा बाजारों में अत्यधिक माल के आ जाने पर उपस्थित होती है। पूँजी का लक्ष्य कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं, वरन् लाभ कमाना होता है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के ऐसे तरीके प्रयोग किए जाते हैं, जिससे उत्पादन का परिमाण उतना ही रखा जाता है जितना उत्पादन-स्तर की दृष्टि से ठीक समझा जाता है न कि उत्पादन का स्तर-परिमाण की दृष्टि से; इसलिए पूँजीपति आधार पर उपभोग की सीमित स्थितियों तथा उस उत्पादन के मध्य लगातार संघर्ष होना अवश्यंभावी है, जो सदैव अपनी विश्वव्यापी सीमाओं को पार करना चाहता है।"[१] "प्रतिस्पर्द्धा का युद्ध वस्तुएँ सस्ती करके लड़ा जाता है।"[२]

पूँजीपतियों के मध्य परस्परघाती युद्ध

जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन बढ़ता जाता है, प्रत्येक पूँजीवादी मालिक स्वयं को अपने प्रतिद्वंद्वियों से जीवन-मरण के संघर्ष में उलझता जाता है। उधार ले सकने की सुविधाओं का विकास हो जाने पर उन पूँजीपतियों के हाथ में प्रतिस्पर्द्धा का एक अतिरिक्त हथियार हाथ में आ जाता है, जो उधार ले सकते हैं। वास्तव में, "प्रतिस्पर्द्धा और उधार........उसी परिणाम में बढ़ते हैं, जिन परिणाम में उत्पादन और संचयन बढ़ता है।"[३] छोटा पूँजीपति मालिक अपनी स्थिति घातक रूप से कमजोर पाता है। वह प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष से हट जाता है अथवा यों कहें कि उसे बड़े औद्योगिक कारखाने निगल जाते हैं। "यह एक नए प्रकार की, अधिकार की

---

[१] 'कैपिटल', भाग ३ के उद्धरण', हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५२४।

[२] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ६८६।

[३] वही, पृष्ठ ६८७।

छीना-झपटी है। एक पूँजीपति दूसरे को वंचित करता है, उसे 'पूँजीविहीन' बनाता है। एक पूँजीपति अनेक को मार देता है। संघर्ष के दवाब में और तनावों के फलस्वरूप पूँजियाँ अंततः अपनी पुरानी स्थिति त्याग कर चंद शक्तिशाली हाथों में मिल कर इकट्ठी हो जाती हैं।"[1]

पूँजी का 'जमाव'

इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूँजी का द्विपक्षीय जमाव होना शुरू होता है। उत्पादन-प्रक्रिया का स्वरूप ही ऐसा है जो इस बात को बल देता है; क्योंकि "अलग-अलग पूँजीपतियों के हाथ में उत्पादन साधनों का बड़े पैमाने पर जमा होना वेतनभोगी श्रमिकों के सहयोग की एक आवश्यक शर्त है।"[2] पूँजी के इस जमाव को मार्क्स ने दो सोपानों में विभाजित किया है। एक सोपान को वह पूँजी का 'जमाव' कहते हैं। यह नई पूँजी के संचयन का स्वरूप ग्रहण करता है और अपेक्षाकृत थोड़े लोगों के हाथों में जमा होता है, जहाँ यह बड़े-बड़े औद्योगिक कारखानों की शक्ल अख्तियार करता है।

पूँजी का 'केंद्रीयकरण'

दूसरे सोपान को वह पूँजी का 'केंद्रीयकरण' कहते हैं। पूँजी का संचयन हो या न हो, किंतु केंद्रीयकरण हो सकता है; क्योंकि यह पहले बन चुकी पूँजियों का जमाव है, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विनाश एवं पूँजीपति द्वारा दूसरे पूँजीपति का अधिकार वचन है तथा अनेक छोटी पूँजियों का चंद बड़ी पूँजियों में स्वरूप-परिवर्तन है।........."एक स्थान पर एक व्यक्ति के हाथ में विशाल परिमाण में पूँजी तभी जमा हो जाती है, जब किसी अन्य स्थान पर अनेक लोग उससे हाथ धो बैठते हैं।"[3] यह केंद्रीयकरण उस प्रतिस्पर्द्धा का परिणाम है, जिसमें, 'बड़ी पूँजी छोटी को पछार देती है'....."इसलिए छोटी पूँजियाँ उत्पादन के उस क्षेत्र में जमा हो जाती है, जहाँ आधुनिक उद्योग कभी-कभी अथवा अपूर्णता के साथ जाता है। यहाँ जितने अधिक उत्पादक उतनी अधिक प्रतियोगिता होती है, जो परस्परविरोधी पूँजियों के परिमाण के प्रतिलोभ अनुपात में होती है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से छोटे पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं जिनकी कुछ पूँजी तो उनके विजेता के हाथ में चली जाती है और कुछ नष्ट हो जाती है।[4] इस बीच "प्रतिस्पर्द्धा संघर्ष

---

१. एम० एम० बौबर, कार्ल मार्क्सज़ इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री (कार्ल मार्क्स द्वारा इतिहास की व्याख्या), कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६२७, पृष्ठ ११६।

२. कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ६६२।

३. वही, पृष्ठ ६८६।

४. वही, पृष्ठ ६८६ ६८७।

में उधार एक नया तथा जबर्दस्त हथियार बन जाता है और अंततः पूँजियों के केंद्रीयकरण के लिए एक जबर्दस्त सामाजिक तंत्र बन जाता है।"[1]

जमाव और केंद्रीयकरण स्वयं को चिररक्ष न बनाने वाले हैं

"एक बार पूँजी का जमाव और केंद्रीयकरण शुरू हो जाए, तो ये स्थायी बन जाते हैं और स्वयं को और शक्तिशाली बनाते हैं; क्योंकि वस्तुओं का सस्ता होना श्रमिक की उत्पादकता पर निर्भर करता है और श्रमिक की यह उत्पादकता उत्पादन के पैमाने पर निर्भर करती है।"[2] यही नहीं, बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की प्रणाली में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने की अपेक्षा अधिक मशीनें तथा शारीरिक श्रम का कम प्रयोग होता है; इससे ऐसे तत्त्व सक्रिय हो जाते हैं, जो मुनाफे की दर को कम करने वाले होते हैं। वस्तुओं का सस्ती होना तथा मुनाफे की दर घटना ये दोनों बातें प्रतिस्पर्द्धा को और भी तेज बना देती हैं, जिससे पूँजी का और केंद्रीयकरण होता जाता है।

वित्त पूँजी तथा पूँजीवादी साम्राज्यवाद

मार्क्स के कथन का फलितार्थ यह है कि 'पूँजीवादी औद्योगिक कारखानों में सतत् तीव्र होती जानेवाली प्रतिस्पर्द्धा का परिणाम 'वित्त पूँजी तथा पूँजीवादी साम्राज्य में होता है।' पूँजी-संचयन की ऐतिहासिक प्रकृति का मार्क्स ने जो निर्देशन किया है, उसके अनुसार' "पूँजी का एकाधिकार समस्त उत्पादन को बाँधने वाली एक हथकड़ी बन जाता है।"[3] यही नहीं, मार्क्स ने देखा कि 'इस केंद्रीकरण के साथ अथवा चंद पूँजीपतियों द्वारा अनेक पूँजीपतियों को अधिकारवंचित किए जाने से सभी लोग विश्व बाजार के जाल में फँस जाएँगे 'और पूँजीवादी शासन का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप पैदा होगा।"[4]

वित्त पूँजी की एकाधिकारीय प्रकृति

लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धांत के उस भाग पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार पूँजीवादी विकास के इस चरण में, जिसे उन्होंने 'वित्त पूँजी' की संज्ञा दी है, दो प्रकार की परिस्थितियाँ विशेष रूप से सामने आती हैं:—

---

[1] वही, पृष्ठ ६८७।

[2] वही, पृष्ठ ६८६।

[3] वही, पृष्ठ ८३७।

[4] वही, पृष्ठ ८३६।

१. "उत्पादन तथा पूँजी का जमाव इस सीमा तक बढ़ गया है कि उसने एकाधिकार पैदा कर दिए हैं, जो आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका अदा करती है।"

२. औद्योगिक पूँजी के साथ बैंक पूँजी का मिल जाना और इस 'वित्त पूँजी' के आधार पर 'एक वित्तीय अल्पतंत्र की स्थापना होना।"[1]

इस प्रकार 'पूँजीवादी एकाधिकार' पूँजीवादी निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा का स्थान ले लेंगे। "एकाधिकार निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा का प्रत्यक्ष विरोधी होता है, लेकिन हमने अपनी आँखों के सामने निर्बाध प्रतियोगिता को एकाधिकार में परिणत होते देखा है, जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। छोटे पैमाने पर होनेवाला उत्पादन समाप्त हो जाता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन के स्थान पर और भी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है और अंत में उत्पादन तथा पूँजी का ऐसा जमाव होता है कि एकाधिकार बन जाते हैं; अनेक कार्टल; सिंडीकेट तथा ट्रस्ट बनते हैं और उनके साथ एक दर्जन या इससे भी कुछ अधिक बैंकों की पूँजी मिल जाती है और इस प्रकार अरबों-खरबों रुपयों का नियंत्रण उनके हाथों में होता है।"[2]

वित्त पूँजी परजीवी होती है

पूँजीवादी उत्पादन के इस सोपान में पूँजीपति स्वयं अधिकतम परजीवी बन जाता है। उत्पादन पर नियंत्रण नकद धन तथा उधार के द्रव्य-रूपों में निहित रहता है। एकाधिकारीय औद्योगिक कारखानों द्वारा इन द्रव साधनों का प्रयोग किया जाता है, जिससे पूँजीवादी उत्पादन-प्रक्रियाओं से न केवल मूल्य अधिशेष अपितु एकाधिकारीय 'बेशी मूल्य' खींच लिया जाता है, बल्कि पूँजीपति तथा वित्त पूँजी के इस चरण पर उसके इस नियंत्रण के कारण प्रयोग मूल्य वाली वस्तुओं के वास्तविक उत्पादन के मध्य विद्यमान क्रियात्मक संबंध के अंतिम तंतु भी नष्ट हो जाते हैं।

पूँजीवादी साम्राज्य की ओर

'वित्त पूँजी' जब किसी एक पूँजीवादी देश की सीमाओं से आगे निकल जाती है, तो 'पूँजीवादी साम्राज्यवाद' बन जाती है। लेनिन के मतानुसार इस संक्रमणकाल के निम्न चरण होते हैं:

"वस्तुओं के निर्यात से भिन्न, पूँजी का निर्यात विशेष रूप से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

---

[1] वी० आई० लेनिन, 'इंपीरियलिज्म : दि हाइयेस्ट स्टेट ऑफ कैपिटलिज्म' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ६६० ।

[2] वही, पृष्ठ ६८९ ।

"पूँजीपतियों के अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संगठन बन जाते हैं, जो संसार को बाँट लेते हैं।"

"सबसे बड़ी पूँजीवादी शक्तियों द्वारा संसार का प्रादेशिक विभाजन पूर्ण रूप से किया जाता है।"[१]

पूँजीवादी साम्राज्यवाद की यह स्थिति तब तक नहीं आ सकती, जब तक वित्त पूँजी अपने देश में ही प्रधान नहीं हो जाती अर्थात् जब तक पूँजी का वह द्रव्य रूप अथवा ऋण रूप नहीं ग्रहण कर लेती कि वह आसानी से एक देश को छोड़ कर दूसरे देश को जा सके। यद्यपि पूँजीवादी साम्राज्यवाद"····निस्संदेह पूँजीवाद के विकास का एक विशेष सोपान होता है····तथापि इस बात पर बहस करना बेहूदा होगा कि····किस वर्ष या दशक में साम्राज्यवाद 'निश्चित रूप से' स्थापित हुआ।"[२] "वास्तव में विभिन्न देशों में वित्त पूँजी और पूँजीवादी साम्राज्यवाद के सोपान भिन्न-भिन्न कालों में आते हैं; क्योंकि पूँजीवाद के अंदर विभिन्न प्रतिष्ठानों, ट्रस्टों, उद्योग की शाखाओं अथवा देशों का 'समान' रूप से विकास नहीं हो सकता।"[३]

पूँजीवादी साम्राज्य की विद्यमानता

पूँजीवादी उत्पादन के विकास के इस चरण में अनिश्चितताओं तथा अनियमितताओं के बाद भी, जिसमें बाजारों के लिए तथा 'वित्त पूँजी' लाभजनक रूप से लगा सकने के अवसरों के लिए साम्राज्यवादी संघर्ष भी होता है, लेनिन के ख्याल से कुछ देशों में, जब उन्होने सन् १९१६ में यह लिखा था, पूँजीवादी साम्राज्यवाद आ चुका था।

"····हम देखते हैं कि कुछ साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस एकाधिकार में हिस्सा पाने के अधिकार के लिए आपस में लड़ रही हैं और यह संघर्ष बीसवीं सदी के आरंभ के समस्त काल की एक विशेषता है।"[४]

---

[१] वही, पृष्ठ ६९० ।

[२] वही, पृष्ठ ६९०-६९१ ।

[३] वही, पृष्ठ ७१८ ।

[४] वही, पृष्ठ ७०९ ।

एक वर्ष बाद लेनिन ने प्रथम महायुद्ध का इसी किंतु अधिक जोरदार भाषा में वर्णन करते हुए लिखा था कि :—

"युद्धरत शक्तियाँ, पूँजीपतियों के 'युद्धरत वर्ग', पूँजीवादी प्रणाली के 'मालिक' तथा पूँजीवादी गुलामी गुलाम हाँकने वाले युद्ध द्वारा एक दूसरे के साथ लोहे की जंजीरों से बँध गए हैं। इतिहास के इस काल का, जिससे हम गुजर रहे हैं, सामाजिक-राजनीतिक जीवन ही इसका शिकार हुआ है।"[1]

पूँजीवाद की 'उच्चतम' अवस्था

लेनिन के मतानुसार 'पूँजीवादी साम्राज्यवाद' पूँजीवाद की उच्चतम स्थिति है; क्योंकि यह उसकी अंतिम स्थिति होती है। 'वित्त पूँजी' और पूँजीवादी साम्राज्यवाद में, पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के अंदर विकसित होने वाले सभी अंतर्विरोध अपनी अंतिम तथा एकत्र चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। पूँजीवादी प्रणाली में पनपे हुए परस्परविरोधी हित अंततः इस सीमा तक उठते हैं कि वे एक दूसरे का विनाश करते हैं और अंतिम संघर्ष में, स्वयं पूँजीवादी प्रणाली ही नष्ट हो जाती है। "पूँजीवादी प्रक्रियाओं से जिन एकाधिकारों का जन्म होता है, वे अनिवार्य रूप से परजीवी होते हैं। 'वित्त पूँजी' के अंतर्गत, "प्राविधिक और परिणामस्वरूप अन्य सभी प्रकार की प्रगति करने तथा आगे बढ़ने की प्रेरणा समाप्त हो जाती है....। "इससे एकाधिकार जो वस्तु उत्पादन तथा प्रतिस्पर्द्धा की सामान्य पूँजीवादी परिस्थिति में विद्यमान होता है, इस सामान्य परिस्थिति का स्थायी तथा हल न किया जा सकने वाला अंतर्विरोध बन जाता है।"[2] पूँजीवादी प्रणाली उत्पादन के बिना जीवित नहीं रह सकती और एकाधिकार अथवा वित्त पूँजी का सोपान, जिसे पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली स्वयं जन्म देती है, अनिवार्य रूप से उत्पादक तत्त्वों का विनाशक है। अतः, मार्क्स के शब्दों में "पूँजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियम की भाँति अपने ही विनाश के बीज छिपाए रहता है। वह एकाधिकारीय शक्तियों को गतिशील बना देता है, जो अंततः एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाती हैं कि वे अपने पूँजीवादी वाह्य आवरण के साथ भी नहीं रह सकती। यह वाह्य आवरण फट कर अलग जा पड़ता है। पूँजीवादी निजी संपत्ति की मृत्यु की घंटी बज उठती है।"[3]

---

[1] वी० आई० लेनिन, लेटर्स फ्रॉम एफार, हैंडबुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७६२।

[2] वी० आई० लेनिन, इम्पीरियलिज्म : दि हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म; हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७००।

[3] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ८३७।

साम्राज्यवादी युद्ध

"पूँजीवादी साम्राज्यवाद का जन्म उस समय होता है, जब पूँजीवादी उत्पादन से पैदा किए जाने वाले अंतर्विरोध एक राष्ट्र की अपेक्षा संसारव्यापी स्तर पर काम करने लगते हैं। वित्त पूँजी तथा एकाधिकार जब राष्ट्रीय सीमाओं से आगे निकल जाते हैं तो सर्वत्र अपनी प्रभुता स्थापित करने, न कि स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए प्रयास करते हैं····राष्ट्रीय अत्याचार विशेष रूप से भीषण हो जाता है, अन्य राष्ट्रों को अपने में मिलाने अर्थात् राष्ट्रीय स्वाधीनता भंग करने के प्रयास होते हैं।"[1] साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद पूँजीवादी प्रणाली के सच्चे स्वरूप को प्रकट करता है। बुर्जुआ संस्कृति का उत्कट पाखंड तथा स्वाभाविक बर्बरता हमारी आँखों के सामने स्पष्ट है, जो अपने देश से हट कर जहाँ वह संस्कृति सम्मानीय रूप अपनाती है, उपनिवेशों की ओर मुड़ जाता है जहाँ वह अपने नग्न स्वरूप में सामने आती है।"[2]

पूँजीवादी साम्राज्यवाद के एक चरण में किए गए समझौते, चाहे वे एक के खिलाफ दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति का गठबंधन हों चाहे 'सभी' साम्राज्यवादी शक्तियों का सामान्य गठबंधन, वह अनिवार्य रूप से युद्धों के बीच का केवल साँस लेने का समय होता है। शांतिपूर्ण गठबंधन युद्धों के लिए जमीन तैयार करते हैं "और गठबंधन युद्धों के फलस्वरूप हुआ करते हैं।"[3] ये अंतर्राष्ट्रीय दुश्मनियाँ विनाशक होती हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत की मान्यता है कि साम्राज्यवादी युद्ध अथवा अनेक युद्ध पर्याप्त विनाशक शक्तियाँ पैदा करेंगे, जो पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली को फाड़ देगा और उन स्थितियों जिनमें पूँजीवादी साम्राज्यवाद विद्यमान होता है तथा उसके सृजनकर्त्ता (प्रणेता) को अलग-अलग करके रख देगा।

पूँजीवाद का अनिवार्य पतन

हमने इन अंतर्विरोधों का अथवा शत्रुताओं का अध्ययन किया है, जिनकी जड़ें मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की मूल्य-निर्धारक

---

[1] वी० आई० लेनिन, इंपीरियलिज्म : दि हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७१६-७२०।

[2] कार्ल मार्क्स, इंडिया, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ १६३।

[3] वी० आई० लेनिन, इंपीरियलिज्म : दि हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७१८।

प्रक्रियाओं में विद्यमान हैं और वे ही इसका पोषण करती हैं और वे ही अंततः इसको नष्ट कर देंगी। इस प्रकार पूँजीवाद का अंत अतिवार्य है; क्योंकि इसका भाग्य उस प्रक्रियाओं द्वारा निश्चित होता है, जिन्हें पूँजीवादी प्रणाली स्वाभाविक रूप से पैदा करती है। मार्क्सवादी सिद्धांत में उन संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं का भी विश्लेषण मिलता है, जो पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का स्थान ले सकता है। अब हम अपना ध्यान उन्हीं की तरफ मोड़ते हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. अपने 'वर्ग-संघर्ष' सिद्धांत में 'वर्ग' से मार्क्स का क्या तात्पर्य है? आधुनिक समाज में मजदूर वर्ग और बुर्जुआ वर्ग में किस आधार पर अंतर किया जा सकता है?

२. पूँजीवाद के अंतर्गत 'वर्ग-संघर्ष' किस दृष्टि से उन वर्ग-संघर्षों से भिन्न है, जो पूँजीवाद के अभ्युदय से पहले चले थे?

३. क्या मार्क्स इस बात पर सहमत हुए होते कि यदि पूँजीवाद में वर्ग-संघर्ष है, तो संघर्षरत् वर्गों के हितों में समझौता कराने की हर संभव कोशिश की जाए?

४. क्या वर्ग-संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धांत किसी रूप में बेशी मूल्य के सिद्धांत से संबंधित है?

५. मार्क्स ने 'महान मध्य वर्ग' के संबंध में क्या विशिष्ट भावधारा प्रस्तुत की, जिसका उल्लेख आज के वक्ता तथा लेखक प्रायः किया करते हैं?

६. मार्क्स की यह मान्यता किस दृष्टि से है कि 'बुर्जुआ वर्ग सबसे ऊपर, अपनी ही कब्रों को खोदने वाले पैदा करता है'?

७. क्या मार्क्स ने 'राज्य' शब्द का प्रयोग 'सरकार' अथवा संगठित समाज के समानार्थी के रूप में प्रयोग किया है?

८. मार्क्स के मतानुसार 'पूँजीवादी' विशेषता वाले समाज में राज्य की भूमिका क्या होती है? क्या यही बात प्रजातांत्रिक राज्य के बारे में भी सच होगी?

९. पूँजीवादी प्रणाली में मार्क्स ने ऐसी कौन-सी शक्तियाँ काम करती पाईं, जो श्रमिकों की दुरवस्था बढ़ाती हैं?

१०. क्या मार्क्स की यह तर्क-शृंखला परस्पर मेल नहीं खाती कि जब श्रमिकों को कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने पर मजबूर किया जाता है, 'लाभ की दर' घटती जाती है ?

११. पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत व्यावसायिक गतिविधि में समय-समय पर आते रहने वाले उतार-चढ़ावों को कम करने के मार्क्स पक्षपाती थे ?

१२. पूँजी के 'जमाव' तथा पूँजी के केंद्रीकरण का अंतर बताइए। मार्क्स के मतानुसार ये दोनों बातें किस उद्देश्य की ओर अग्रसर होती हैं ?

१३. किस अर्थ में 'पूँजीवादी साम्राज्यवाद' पूँजीवाद का उन्नतम सोपान समझा जाता है ?

१४. क्या मार्क्स का यह विश्वास था कि भले ही कोई क्रांतिकारी वर्ग उसे पलटना न चाहे, तो भी पूँजीवादी प्रणाली का पतन हो कर रहेगा ?

●

अध्याय ६

पूँजीवाद के उत्तराधिकारी : समाजवाद और साम्यवाद

क्रांति द्वारा संक्रमण

पूंजीवाद के बाद

मार्क्स की मान्यता थी कि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से उत्पन्न हुए आंतरिक अंतर्विरोध समस्त पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली तथा उसके सहधर्मी राजनीतिक राज्य को भी समाप्त कर देंगे। मजदूर वर्ग सत्ता पर अधिकार कर सकता है, अपना राज्य स्थापित कर लेगा, समस्त पूँजीवादी मालिकों तथा उनके वर्ग के सिद्धांतों को कुचल सकता है और सभी आर्थिक प्रक्रियाओं को मजदूर वर्ग के राज्यतंत्र के अधीन कर लेगा। यह समाजवाद अथवा साम्यवाद का प्रथम सोपान होगा। पूँजीवादी संपत्ति, संस्थाएँ तथा वेशी मूल्य समाप्त हो जाने के पश्चात् एक नई समाजवादी अथवा साम्यवादी मनोदशा का विकास होगा, जो धीरे-धीरे मजदूर राज्य को तथा उसके अत्याचार के वे अभिकरण जो भूतपूर्व पूँजीपतियों के विरुद्ध काम कर रहे थे, समाप्त हो जाने देंगे। उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूरी 'क्षमता' के साथ काम करेगा और सामूहिक उत्पादन में से अपनी 'आवश्यकताओं' के अनुसार उपभोग करेगा। तभी पूर्ण साम्यवाद के युग का अभ्युदय होगा। मार्क्स के मतानुसार यही आर्थिक समाज का सर्वोत्तम संभव स्वरूप होगा। चूँकि आर्थिक संस्थाएँ ही सभी संस्थाओं को बल देती हैं, इसलिए उस अवस्था में समाज भी पूर्णता की सर्वोत्तम संभव स्थिति में पहुँच गया होगा।

क्रांति और हिंसा का प्रश्न

पूँजीवादी उत्पादन का पतन होने तथा मजदूर वर्ग द्वारा आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता हथियाते समय कितनी शक्ति और हिंसा का प्रयोग किया जाना चाहिए ? क्या यह परिवर्तन शांतिपूर्ण, क्रमिक विकासपरक, संसदीय पद्धति द्वारा हो सकता है अथवा क्रांतिपूर्ण सत्ता परिवर्तन द्वारा जिसमें परिवर्तन के साथ पर्याप्त परिमाण में हिंसा का प्रयोग किया जाता है ? मार्क्सवादी सिद्धांत के विद्यार्थी इन प्रश्नों पर शाब्दिक युद्ध करते रहे हैं और मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत परिवर्तन काल में क्या करने की तरफ इशारा है, इस संबंध में, विरोधी मान्यता वालों में गंभीर मतभेद होते रहने के कारण अतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलनों को बराबर धक्का लगता रहा है ।

मजदूर वर्ग को राजनीतिक सत्ता छीन लेनी चाहिए

अनेक दृष्टियों से इस संबंध में मार्क्सवादी सिद्धांत एकदम स्पष्ट है । पूँजीवादी तंत्र में, राज-सत्ता मालिक वर्ग के हाथ में होती है और उसका प्रयोग इस तंत्र के समर्थन तथा रक्षा में किया जाता है । मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार इसका अर्थ यह होता है कि सर्वहारा वर्ग राजनीतिक राज्य पर अधिकार किए बिना अर्थतंत्र पर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकता । जैसा कि लेनिन ने कहा है—"प्रत्येक आर्थिक संघर्ष आवश्यक रूप से राजनीतिक संघर्ष में परिणत हो जाता है और सामाजिक प्रजातंत्र को आर्थिक संघर्ष अविच्छिन्न रूप से राजनीतिक संघर्ष से जोड़कर उसे मजदूर वर्ग का संयुक्त वर्ग-संघर्ष बना देना चाहिए ।"[1] निस्संदेह, मार्क्स की मान्यता यह थी कि जब पूँजीवाद की 'मृत्यु की आखिरी घंटी' बजे, तो मजदूर वर्ग को राजनीतिक सत्ता अपने कब्जे में कर लेनी चाहिए ।

इतिहास में शक्ति की भूमिका

यही नहीं, इतिहास के घटनाक्रम में शक्ति की जो भूमिका रही है, उस पर मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत बहुत जोर दिया गया है । पूँजीवादी निजी संपत्ति तथा पूँजी के संचय की जड़ें उन संस्थाओं तथा संबंधों को समाप्त करने में विद्यमान होती हैं, जिन्हें मार्क्स 'आदिकालीन संचयन' कहते हैं । एंगिल्स ने ड्यूहरिंग की इस बात के लिए कड़ी आलोचना की है कि 'शक्ति एकदम एक बुरी वस्तु है' और 'मूल अपराध' है । लेकिन, शक्ति इतिहास में एक अन्य—एक क्रांतिकारी भूमिका भी अदा करती है और मार्क्स के शब्दों में यह उस प्रत्येक पुराने समाज की, जो नवीन को अपने गर्भ में धारण किए होती है, दाई होती है । यह वह उपकरण है, जिसकी

---

[1] वी० आई० लेनिन, अवर प्रोग्राम; हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म; ई० वर्न्स, कौम्प, न्यूयार्क, रैंडम हाउस, १९३५, पृष्ठ ५७५ ।

सहायता से सामाजिक आंदोलन अपना मार्ग बनाते हैं मृत, फौसिल बनी राजनीतिक व्यवस्थाओं को तोड़-फोड़ कर फेंक देती हैं····इस बारे में हेर ड्यूहरिंग ने एक शब्द भी नहीं कहा है। और यह जबर्दस्त नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं के बावजूद प्रत्येक सफल क्रांति का परिणाम होती है।''[1]

क्रांति आवश्यक

मार्क्स तथा एंगिल्स की कृतियों ने लेनिन की इस मान्यता को पर्याप्त आधार प्रदान कर दिया था कि ''बुर्जुआ राज्य को हिंसापूर्ण क्रांति के बिना उलटना असंभव है।''[2] इस क्रांति के सिद्धांत के विषय में बहुत से संक्षिप्त उद्धरण दिए जा सकते हैं:-

वह (मार्क्स) यह कहना निश्चय ही कभी नहीं भूले कि उन्हें इस बात की आशा नहीं थी कि अंग्रेज शासक वर्ग इस शांतिपूर्ण तथा कानूनी क्रांति को 'दासता समर्थक क्रांति' के बिना मानने को तैयार होगा।[3]

हमारे लिए प्रश्न निजी सपत्ति का सुधार करने का नहीं है, वरन् उसको समाप्त करने का है; वर्ग-विरोध को दवा देने का नहीं है, वरन् वर्गों को ही समाप्त करने का है; वर्त्तमान समाज को सुधारने का नहीं, वरन् नए समाज की स्थापना का है।[4]

समूचे मजदूर वर्ग को राइफलों, तोपों तथा गोले-बारूद से सज्जित करने का काम फौरन शुरू किया जाना चाहिए, हमें पुरानी बुर्जुआ सेना को फिर से खड़ा नहीं होने देना चाहिए, जिसका प्रयोग सदैव श्रमिकों के विरूद्ध किया गया है। जहाँ इस दूसरी स्थिति को पूरा नहीं किया जा सकता, श्रमिक स्वयं को एक स्वतंत्र प्रहरी दल के ''रूप में गठित करे जिसके अपने प्रधान तथा जनरल स्टॉफ हो और स्वयं को सरकार के आदेशों के अधीन नहीं, बल्कि श्रमिकों द्वारा स्थापित क्रांतिकारी अधिकारियों के अधीन रखना चाहिए। जहाँ श्रमिक सरकारी सेवा में हो, उन्हें स्वयं को सशस्त्र करके विशेष सैन्य दलों में गठित कर लें और उनके प्रधानों का स्वयं चुनाव करें अथवा मजदूर सैन्य दल का एक भाग बना लें। किसी भी नाम पर उन्हें अपने शस्त्र तथा उपकरणों का त्याग नहीं करना चाहिए और उन्हें निःशस्त्र करने के हर प्रयास का बलपूर्बक प्रतिरोध करना चाहिए।''[5]

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स, ऐंटी ड्यूहरिंग, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २७८।

[2] वी० आई० लेनिन, 'दि स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन' हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७३६।

[3] कार्ल मार्क्स की कैपिटल की एंगिल्स-लिखित भूमिका, कैपिटल, आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण, पृष्ठ ३२।

[4] कार्ल मार्क्स, 'कम्युनिस्ट लीग के समक्ष भाषण', हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ६४।

[5] वही, पृष्ठ ६७।

संक्षेप में साम्यवादी सर्वत्र ऐसे प्रत्येक क्रांतिकारी आंदोलनों का समर्थन करते हैं, जो वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विरूद्ध हो।.... "साम्यवादी अपने विचारों तथा उद्देश्यों को छिपाने से घृणा करते हैं। वे प्रकट रूप से घोषणा करते हैं कि उनके उद्देश्यों की पूर्ति केवल वर्त्तमान सामाजिक स्थितियों को बलपूर्वक बदल देने से ही हो सकती है। शासक वर्ग साम्यवादी आंदोलन पर टूट भी पड़े तो क्या है? सर्वहारा वर्ग के पास खोने के लिए अपनी दासता के अलावा क्या है? जीतने के लिए सारी दुनिया खुली पड़ी है। सभी देशों के श्रमिको, एक हो जाओ।"[1]

"अगर अंततः कभी श्रमिकों का राज्य स्थापित होना है तो यह शक्ति ही है, जिसका उपयुक्त समय आने पर श्रमिक सहारा लेगा।"[2]

क्रांति होना अनिवार्य नहीं

असल में इन मान्यताओं के अनुसार क्रांति होना अनिवार्य नहीं है। जैसा कि सिडनी हुक ने कहा है, "मार्क्सवादी सिद्धांत तर्कसंगत रूप से यह मानता है कि यदि सर्वहारा वर्ग राजनीतिक तथा आर्थिक नियंत्रण की लगाम अपने हाथ में लेने के लिए पूरी तरह संगठित तथा सुसज्जित नहीं है, तो पूँजीवादी, उत्पादन-व्यवस्था टूटने के फलस्वरूप तथा उसके बाद अराजकर्त्ता की स्थिति होगी।"[3] लेकिन, यदि ऐसा नहीं होता और यदि संगठित समाज का कार्य चलते रहना है, तो परिवर्तन क्रांतिकारी रूप में होना चाहिए, जिसमें संगठित शक्ति का प्रयोग होगा और संभवतः हिंसापूर्ण कार्य होंगे।

क्रांति का कोई मानक स्वरूप नहीं

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक देश में एक ही साथ किसी एक मानवीकृत ढंग से क्रांति होनी ही चाहिए। मार्क्स तथा एंगिल्स ने यह स्वीकार किया था कि "संघर्ष की विशिष्ट क्रांतिकारी चालें तथा अस्त्र क्रांतिकारी गतिविधि के स्थान और काल के अनुरूप होंगी।"[4] क्रांति भी तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि कुछ वस्तुगत स्थितियाँ विद्यमान न हों। परिवर्तन करके नए समाज में पदार्पण,

---

१. साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५६।

२. कार्ल मार्क्स, सिडनी हुक द्वारा उद्धृत, 'टुवार्ड्स दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क, डे, १९३३, पृष्ठ २८६।

३. वही, पृष्ठ ११०।

४ देखिए हैरी डब्ल्यू० लैडलर; ए हिस्ट्री ऑफ सोशलिस्ट थॉट, न्यूयार्क, क्रोवेल, १९२७, पृष्ठ १८२-१८४।

"इस धारणा से मूर्तिमान नहीं हो सकता कि विभिन्न वर्गों का होना न्याय, समानता आदि का विरोधी है, न इन वर्गों का समाप्त करने की इच्छा से हो सकता है, बल्कि कुछ नई आर्थिक स्थितियों के द्वारा ही संभव हो सकता है।"[1] सिडनी हुक ने संक्षेप में उन स्थितियों का वर्णन इस प्रकार किया है—"प्रथम; पूँजीवादी अर्थतंत्र में उत्पादन तथा वितरण करने वाले तत्त्वों को विश्रृंखल हो जाना, 'दूसरे, शासक-वर्ग में तात्कालिक राजनीतिक मतैक्य का अभाव' जैसाकि किसी संकट; युद्ध, किसी प्राकृतिक कोप अथवा बुर्जुआ वर्ग में नीति के प्रश्न पर मतभेद होना, इनमें से कोई एक जो बुर्जुआ वर्ग की प्रतिष्ठा को पर्याप्त परिमाण में गिरा दें, तीसरे वर्ग जागरूकता तथा संघर्ष का स्वयं स्फूर्त प्रदर्शन—जैसे हड़तालें, दंगे अथवा जनता के प्रदर्शन।"[2]

जब इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तो यह आशा की जाती है कि मार्क्सवादियों को उनका अर्थ स्पष्टतः समझ में आता होगा। लेकिन उनका वास्तविक रूप से समझ में आना उस समय संदिग्ध लगता है, जब यह देखते हैं कि एंगिल्स द्वारा सन् १८८६ में इंगलैंड में लिखते हुए यह मान्यता प्रकट की थी कि "हम गणना लगा कर वह क्षण ज्ञात कर सकते हैं कि जब बेकार लोग, धैर्य की सीमा तोड़ कर अपने भाग्य को अपने हाथ में ले लेंगे।"[3] और साम्यवादी घोषणापत्र में कहा था कि जर्मनी "बुर्जुआ क्रांति के मुहाने पर बैठा है, जो उसके तत्काल बाद होने वाली मजदूर वर्ग की क्रांति की पूर्व-भूमिका होगी।"[4]

ऐसे समय में तथा ऐसे स्थान में जहाँ सफलता के लिए जरूरी ये वस्तुगत अवस्थाएँ विद्यमान न हों, इन स्थितियों के पैदा होने की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा क्रांति आरंभ कर देना सच्ची साम्यवादी क्रांति नहीं, "पागलपन भरी दुस्साहसिकता है।"[5] ऐसीं क्रांति की अंततः अंतःआवश्यकता नहीं, ताकि उन लोगों को जो इसकी आवश्यकता समझते हैं, ऐसे समाज-सुधारकों के साथ जो इसकी आवश्यकता नहीं समझते, सहयोग करने को रोका जा सके। साम्यवादी घोषणापत्र में साम्यवादियों से कहा गया है कि "उन्हें सभी देशों में प्रजातांतिक दलों को मिलाने तथा समझौते कराने की सर्वत्र चेष्टा करनी चाहिए।"[6] इस तरह के सहयोग से सर्वहारा वर्ग

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स; 'ऐंटी ड्यूहरिंग', हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ २९६।

[2] सिडनी हुक : ऊपर लिखित, पृष्ठ २७६।

[3] कार्ल मार्क्स की 'कैपिटल' की फ्रेडरिक एंगिल्स द्वारा लिखित भूमिका, पृष्ठ ३१-३२।

[4] साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५६।

[5] सिडनी हुक, ऊपर लिखित, पृष्ठ २७३-२७४।

[6] हैंडबुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५६।

क्रांति के बाद के कार्य संपन्न करने के लिए अधिक बलशाली होगा और बेहतर ढंग से संगठित होगा।

क्रांतिहीन परिवर्तन पर जोर

ऊपर जिस 'भौतिक हिंसा' के गीत गाए हैं, उसके विपरीत मार्क्स का निम्नलिखित उद्धरण अक्सर उद्धृत किया जाता है :—

"लेकिन यह हम जोर देकर नहीं कहते कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी जगह यही एक रास्ता है। हम जानते हैं कि विभिन्न देशों की संस्थाएँ, तौर-तरीके तथा रीति-रिवाजों पर विचार किया जाना चाहिए। इस बात से इंकार नहीं करते कि इंग्लैंड और अमेरीका सरीखे कुछ देश हैं। अगर मैं आपकी व्यवस्थाओं को अच्छी तरह समझता हूँ, तो मैं इनमें हालैंड को भी शामिल कर सकता हूँ, जहाँ श्रमिक अपना उद्देश्य शांतिपूर्ण उपायों से भी प्राप्त कर सकता है। लेकिन, सभी देशों में ऐसी स्थिति नहीं है।"[1]

मार्क्स और एंगिल्स के बाद के रचना-वर्षों में, कुछ अन्य वक्तव्यों में जो कम प्रत्यक्ष लेकिन सारगर्भित हैं, सामाजिक परिवर्तनों के लिए क्रांति के स्थान पर धीरे-धीरे विकास की प्रक्रियाओं की ओर कुछ झुकाव है। यहाँ मार्क्स और एंगिल्स क्रांतिकारी परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता पर कम निर्भर करते प्रतीत होते हैं और मजदूर वर्ग द्वारा अंतिम नियंत्रण अपने हाथ में लेने के साधन के रूप में समाज-सुधार के उपायों को अधिक आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं।

यद्यपि प्रो० बौबर ने यह स्वीकार किया है कि 'यह बताना बहुत मुश्किल हैं कि मार्क्स और एंगिल्स ने यह परिवर्तन क्यों किया, तथापि इसके लिए उन्होंने कुछ 'कारण' बताने का प्रयास इन शब्दों में किया है :—

"आरंभिक काल में (सन् १८४८-१८५० ई०), ये लोग तीस वर्ष की आयु पार कर ही चुके थे और उनमें जोश छलक रहा था। निर्वासन में भी तेजी से काम में जुटे रहे थे और विभिम्न सरकारों ने उनके साथ जो अभद्र व्यवहार किया था, उनकी स्मृतियाँ ताजी थीं। लेकिन, बाद में उम्र अधिक बढ़ने से उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत शांत हो गया और वे शांतिपूर्वक सारी स्थितियों पर सोचने लगे थे। पहले भी विकासवाद के सिद्धांत प्रचलित थे और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इनकी धूम रही। लेकिन, १८५९ ई०में डारविन ने जीवों के विकास के जिस सिद्धांत का निरूपण किया, उसने लोगों के दिमागों में धीरे-धीरे विकास होने की वात बहुत जोर से बैठा दी। मार्क्स और एंगिल्स वैज्ञानिक सफलताओं के बहुत ही उत्सुक अनुयायी थे। सन् ४८

---

[1] १८७२ ई०में हुए प्रथम इंटरनेशनल के हेग सम्मेलन में दिए गए मार्क्स के भाषण से उद्धृत। हैरी डब्ल्यू० लैडलर, उपरिउद्धृत, पृष्ठ १९५।

तथा बाद के विद्रोहों के वास्तविक अनुभव से वे यह बात भला-भाँति मान गए थे कि उत्साह से भरे हुए नए लोगों की, गोलियों तथा गोलों के सामने नहीं चल सकती, जिनका निर्देशन कुछ लोग कर रहे थे। यही नहीं, १८४० ई० में तथा उसके बाद श्रमिकों की दुरवस्था बहुत गंभीर हो गई थी। न तो कारगर कारखाना-कानून थे और न जनमत ही किसी खास सीमा तक श्रमिकों के अनुकूल था। वह एकदम निराश्रित था। यह ऐसा समय था कि जान स्टुअर्ट मिल-सरीखा सयाना व्यक्ति भी पूँजीवाद की सफलता के प्रति आशावान् नहीं था। इन्हें स्वयं संदेह था कि कहीं सारे आविष्कार मानवीय श्रम पर गिरने वाली बिजली के समान तो नहीं और कभी-कभी यह सोचा करते थे कि क्या समाजवाद इससे अच्छा सिद्ध होगा? मार्क्स और एंगिल्स को श्रमिकों के उद्धार का अनिवार्य साधन बर्बर संघर्ष ही मालूम पड़ता था। लेकिन बाद में जब श्रमिकों के सपूर्ण स्थिति, सत्ता तथा मताधिकार प्राप्त हो गया, तो वे अन्य साधनों के द्वारा भी अपनी मुक्ति की आशा करने लगे।"[1]

मार्क्सवादी सिद्धांत : मूलतः क्रांतिकारी

मार्क्सवादी सिद्धांत में क्रांति का क्या स्थान है, इस बारे में क्या निष्कर्ष निकाला जाए? उनके सिद्धांत के उन अंशों की, जिनमें क्रांतिकारी परिवर्तन की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है, जब उन अंशों के साथ तुलना की जाए, जिनमें विकासवादी तथा संसदीय प्रणाली से भी समाजवाद आ सकने की बात ध्वनित होती है, तो हम पाते हैं कि पहले अंश बहुत वजनदार हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत में सर्वत्र ये दलीलें भरीं पड़ी हैं, जिनसे पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की हिंसापूर्ण मृत्यु होने के अतिरिक्त किसी अन्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। मार्क्स की ऐसी व्याख्या करने के लिए, जिससे वास्तव में इसके अलावा कोई अन्य आशा पैदा होती हो अथवा किसी अन्य बात पर जोर दिया जाता हो, मार्क्सवादी विचारधारा के अधिकांश को नए सिरे से मूर्खतापूर्वक बदल कर लिखना होगा। मार्क्स के उन कथनों की जिनसे यह संभावना ध्वनित होती है कि पूँजीवाद से बेहतर कोई व्यवस्था गैर-क्रांतिकारी परिवर्तन के द्वारा भी आ सकती है, तुलना जब मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों के अभिन्न अंशों से करते हैं, तो प्रतीत होता है कि ये कथन सरसरी तौर पर, ऊपरी रूप से तथा जल्दबाजी में कहे लगते हैं। उनका मूल सिद्धांत सर्वथा क्रांतिकारी है और आगामी क्रांति के एक चरण के रूप में हिंसा की आवश्यकता असंदिग्ध रूप से वर्णित है।

---

[1] एम० एम० बौवर, 'कार्ल मार्क्स द्वारा इतिहास की व्याख्या' कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२७, पृष्ठ २५२-२५३।

इस क्रांतिकारी सिद्धांत का खंडन करने वाले कथन इसीलिए पाए जाते हैं कि मार्क्स और एंगिल्स ने खंड-खंड रूप में लिए हैं और उन्होंने समझा था कि इन कथनों को तात्कालिक रूप से ही पढ़ा या समझा जाएगा।[१] यही नहीं, उन दिनों की घटनाओं ने भी उनके ऊपर आवश्यक रूप से, विषम किंतु ऊपरी तौर पर दबाव डाले थे। जब मार्क्सवादी सिद्धांत के सजग विद्यार्थी मार्क्स की गैर-क्रांतिकारी व्याख्या की व्यापक रूप से समीक्षा करेंगे, तो वह कभी टिक नहीं सकती और न कभी टिक भी सकेगी।

मजदूर वर्ग की तानाशाही और समाजवाद

तानाशाही की प्रकृति

आज जिसे मार्क्सवादी सिद्धांत कहते हैं, उसके भाग मार्क्स और एंगिल्स के अत्यधिक संक्षिप्त, किंतु सारगर्भित कथनों के विस्तार मात्र हैं। यही बात उन सिद्धांतों के विषय में सत्य है, जिनमें बताया गया है कि पूँजीवाद के विनाश के तत्काल वाद जो राजनीतिक तथा आर्थिक तंत्र स्थापित होगा, उसका स्वरूप तथा कार्य क्या होंगे। इस तंत्र को संयुक्त रूप से मजदूर वर्ग की तानाशाही कहा जाता है। पूर्ण साम्यवाद की मंजिल तक पहुँचने के लिए उस प्रकार के संक्रमणकालीन सोपान की आवश्यंकता का संक्षिप्त उल्लेख मार्क्स ने मोथा प्रोग्राम—जो सामाजिक सुधार का एक कार्यक्रम था, की आलोचना करपे हुए इस रूप में किया था :—

"पूँजीवादी और साम्यवादी समाज तंत्रों के बीच एक ऐसा समय होगा, जिसमें क्रांतिकारी परिवर्तन द्वारा एक तंत्र दूसरे का स्वरूप ग्रहण करेगा। यह एक ऐसा राजनीतिक परिवर्तन काल होगा, जिसकी स्थिति मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी तानाशाही के अतिरिक्त कुछ न होगी।"[२]

मजदूर राज्य

जैसा कि बाद में लेनिन ने स्पष्टीकरण किया, मजदूर वर्ग की तानाशाही के दौरान, राज्य ठीक वैसा ही राज्य होगा, जैसाकि उसकी सदा से प्रकृति रही है, वह उत्पीड़न का एक माध्यम होगा। इस विशिष्ट स्थिति में, इसका स्वामी सर्वहारा वर्ग होगा (जो पूँजीवादी प्रणाली के पतन के बाद सत्ताधिकारी बना है) और वह इसका प्रयोग पूँजीवादी वर्ग के उत्पीड़न—वास्तव में पूँजीपतियों को सर्वथा समाप्त करने के लिए करेगा; "क्योंकि पूँजीवादी शोषकों का प्रतिरोध समाप्त करने के लिए

---

[१] विशेग रूप से विभिन्न भाषणों तथा अखबारों में निकले लेखादि।

[२] हैरी डब्ल्यू लैडलब द्वारा उद्धृत : उपरिलिखित; पृष्ठ १६५।

और कोई साधन तथा कोई अन्य रास्ता नहीं है।"[१] राजनीतिक सत्ता के रूप में वर्गों का केवल स्थान ही बदला है। बुर्जुआ वर्ग के हाथ से राजसत्ता निकल गई है और मजदूर वर्ग ने उसे प्राप्त कर लिया है; शासित शासक बन गए हैं और राजनीतिक सत्ता से निकलने वाले स्वयं इससे वंचित हो गए हैं।

मजदूर वर्ग की तानाशाही में 'प्रजातंत्र'

लेकिन, इस 'तानाशाही' में बुर्जुआ राज्य की अपेक्षा अधिक वास्तविक प्रजातंत्री भावना होती है, हालांकि बुर्जुआ राज्य 'प्रजातंत्र' कहलाता है। प्रजातंत्र का यह स्वरूप जहाँ पहले पूँजीपतियों (चंद लोगों) के लिए था श्रमिकों (बहुसंख्यकों) के लिए नहीं; वहाँ अब वह श्रमिकों (बहुसंख्यकों) के लिए होता है, ह्रासोन्मुख पूँजीपतियों (चंद लोगों) के लिए नहीं होता। पूँजीपतियों को तो कुचल दिया जाना चाहिए जिससे मानवता को वेतन-दासता से मुक्त किया जा सके; उनके प्रतिरोधों को शक्ति बल से समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि जहाँ दमन होगा, वहाँ हिंसा होगी, वहाँ स्वतंत्रता न होगी, प्रजातंत्र न होगा :......"बहुसंख्यक लोगों के लिए प्रजातंत्र तथा शक्ति-बल से दमन अर्थात् जनता के शोषकों और दमनकर्त्ताओं को प्रजातंत्र से निकाल फेंकना पूँजीवाद से साम्यवाद में परिवर्तित करने के काल में प्रजातंत्र का यही संशोधन करना होगा।"[२]

मजदूर अर्थ-व्यवस्था : समाजवाद

मजदूर वर्ग की तानशाही की कुछ आर्थिक बातें तो आश्चर्यजनक रूप से पूँजीवादी उत्पादन से मिलती-जुलती होंगी। उद्योगों के ऊपरी स्वरूप में बहुत ही कम परिवर्तन होगा। औद्योगिक उपकरणों अथवा उत्पादन की तकनीकी प्रक्रियाओं में कोई भी प्रमुख परिवर्तन न होगा। एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यही होगा कि पूँजीपतियों की सपत्ति मजदूर वर्ग द्वारा ले ली जाएगी, जो उस समय अपने राज्य के माध्यम से काम कर रहा होगा। "उत्पादन के साधन अब व्यक्तियों की निजी संपत्ति नहीं रहेंगे। उत्पादन के साधन अब समस्त समाज के हो जाएँगे।"[३] सभी नागरिक उस राज्य के वेतन भोगी कर्मचारी बन जाते हैं, जो सशस्त्र श्रमिकों का होगा। सभी नागरिक एक राष्ट्रीय राज्य 'सिंडीकेट' के कर्मचारी बन जाते हैं। "वैज्ञानिक रूप से प्रशिक्षित इंजीनियर, कृषिविद् तथा अन्य जो अब तक पूँजीपतियों की आज्ञा का पालन करते थे,....अब सशस्त्र श्रमिकों के आदेशों का पालन करते हुए और भी अच्छी तरह से काम करेंगे।"[४]

---

[१] वी० आई० लेनिन, दि स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७४४।
[२] वही, पृष्ठ ७४५।
[३] वही, पृष्ठ ७४८।
[४] वही, पृष्ठ ७५७।

समाजवाद में मजदूरी

श्रमिक वेतन लेकर काम करेंगे। प्रत्येक श्रमिक को उसके श्रम के परिमाण के बराबर परिणाम में उत्पादन मिलेंगे और जो काम नहीं करेगा, वह खाएगा नहीं।[1] यदि मार्क्स के मजदूरी सिद्धांत का स्मरण करें, तो कुशल श्रमिक का एक घंटा, अकुशल श्रमिक के कुछ निश्चित गुने घंटों के बराबर होगा, इसलिए सभी श्रमिकों का दैनिक वेतन समान नहीं होगा, इसलिए प्रत्येक श्रमिक समाज से उतना ही प्राप्त करेगा, जितना उसने उसे दिया है।[२] इसलिए साम्यवाद का पहला सोपान फिर भी न्याय और समानता पैदा नहीं कर सकता; धन-संबंधी अंतर और अनुचित अंतर विद्यमान रहेंगे लेकिन एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असंभव हो जाएगा; क्योंकि उत्पादन-साधनों, कारखानों, मशीनों, जमीन तथा इसी तरह की अन्य चीजों को निजी संपत्ति के रूप में हथियाना असंभव होगा।[3] 'यह समाज ऐसा होगा' जो पूँजीवादी समाज से निकल रहा होगा और इसीलिए—आर्थिक, नैतिक तथा बौद्धिक—सभी रूपों में इस पुराने समाज के जन्म के चिन्ह शेष होंगे, जिसके गर्भ से उसका जन्म हुआ है।[४]

नए सोपान की तैयारी

मजदूर राज्य के आधिपत्य में चलने वाली इस प्रकार को अर्थ-व्यवस्था जब सुगम रूप से चल पड़ेगी, तो एक व्यक्ति द्वारा भी उसका पालन न करना "दुर्लभ होगा और संभवत: इसका उसे तेजी के साथ इतना कठोर दंड मिलेगा (क्योंकि सशस्त्र श्रमिक व्यावहारिक जीवन के प्राणी होंगे, भावनाप्रवण व्यक्ति नहीं और वे शायद ही किसी को अपना उल्लंघन करने दें) कि शीघ्र ही सामाजिक सामूहिक जीवन के रोजमर्रा के सादे तथा आधारभूत नियमों का पालन उनकी आदत बन जाएगी। उस समय साम्यवाद के पहले सोपान से समाज को उच्चतर सोपान में प्रविष्ट करने के लिए द्वार खुल जाएंगे....।[५]

पूर्ण साम्यवाद

चरम लक्ष्य

पूँजीवाद से आदर्श समाज में परिवर्तन का काम सर्वहारा वर्ग के राज्य द्वारा उद्योगों का स्वामित्व तथा संचालन अपने हाथ में ले लेने अर्थात् समाजवाद

---

१. वही, पृष्ठ ७५१।

२. वही, पृष्ठ ७४६।

३. वही, पृष्ठ ७४६।

४. लेनिन द्वारा मार्क्स के कथन का उद्धरण, वही पृष्ठ, ७४८।

५. वही, पृष्ठ ७५६।

प्राप्त करने के बाद समाप्त नहीं हो जाता। मार्क्स ने एक साम्यवादी समाज की चर्चा की थी और लेनिन ने उस संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला था। इस समाज सर्वहारा वर्ग की समाजवादी तानाशाही से निःसृत होने की आशा की जाती है। जाहिर है कि मार्क्स और एंगिल्स ने ऐसे समाज का स्वप्न उस समय लिया था, जब उन्होंने साम्यवादी घोषणापत्र में यह लिखा था कि "यदि सर्वहारा वर्ग सफलतापूर्वक शक्ति के बल पर पुरानी उत्पादन स्थितियों को बदल सका, तो वह इन स्थितियों को भी समाप्त कर देगा जो वर्ग-विद्वेष को तथा सामान्यतः वर्गों को बनाए रखती है और इस प्रकार एक वर्ग के रूप में अपनी सर्वोच्चता भी समाप्त कर देगा। पुराने बुर्जुआ समाज के स्थान पर जिसमें उसके वर्ग तथा वर्ग-विद्वेष भी मौजूद होते हैं, हम एक ऐसी संस्था बनाएँगे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का विकास सभी के निर्वाध विकास की शर्त होगी।"[1] अधिक विशिष्टतापूर्वक मार्क्स ने पूर्ण साम्यवाद का वर्णन इन शब्दों में किया है :—

"साम्यवादी समाज के उच्चत्तर सोपान में, जब श्रम के विभाजन में व्यक्तियों की दासतापूर्ण अधीनता समाप्त हो जाएगी और उनके साथ-साथ मानसिक तथा शारीरिक श्रम में विषमता समाप्त हो जाएगी; जब श्रम आजीविका का एक साधन मात्र नहीं होगा, वरन् अपने-आप में जीवन की सर्वप्रथम आवश्यकता बन जाएगा; जब व्यक्तियों के सर्वतोमुखो विकास के साथ-साथ, उत्पादन-शक्तियाँ भी बढ़ेंगी और सामाजिक संपदा के सभी निर्झर अधिक मुक्त रूप से प्रवाहित होंगे—इसी सोपान में आ कर यह संभव होगा कि बुर्जुआ अधिकारों के क्षितिज से सर्वथा परे जाया जा सके और तभी ऐसे समाज में पदार्पण किया जा सकेगा, जिसके झंडों पर लिखा होगा—अपनी योग्यता के अनुसार प्रतिफल प्राप्त करने के स्थान पर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से प्राप्त करना।"[2]

पूर्ण समाजवाद अनिवार्य नहीं

लेकिन परिवर्तनकालीन समाजवाद से पूर्ण साम्यवाद का आना उस रूप में सर्वथा अनिवार्य नहीं, जिस रूप में पूँजीवादी प्रणाली के अंतर्विरोधों के फलस्वरूप उसका विनाश होना सुनिश्चित है। जो आलोचक यह कहते थे कि पूर्ण साम्यवाद एक ऐसी आदर्श स्थिति है जो कभी प्राप्त नहीं की जा सकती, उनका जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था कि "उनका यह कथन अज्ञानता वाला है; क्योंकि किसी भी

---

[1] साम्यवादी घोषणापत्र, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज़म, पृष्ठ ४७।

[2] दि स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन में लेनिन द्वारा मार्क्स का उद्धरण, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज़्म, पृष्ठ ७५१-७५२। अधोरेखन हमारा है।

समाजवादी के दिमाग में यह 'वायदा' करने की बात नहीं आई कि साम्यवाद की उच्चतम अवस्था आएगी ।……"[१] उन्होंने आगे कहा है कि "पूर्ण साम्यवाद को 'लागू' नहीं किया जा सकता और किन साधनों, किन व्यावहारिक उपायों द्वारा मानवता इस उच्चत्तर लक्ष्य तक पहुँचेगी, ये हम नहीं जानते और न जान ही सकते हैं ।"[२]

पूर्ण साम्यवाद के लिए आवश्यक शर्त

अगर मजदूर वर्ग की समाजवादी तानाशाही के अंतर्गत मजदूर वर्ग अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने को तैयार है और अपने अधिकार को उन उद्देश्यों की पूर्ति तथा मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं के लाने में प्रयोग करने को तैयार हो, तभी साम्यवाद के उच्चतम सोपान तक पहुँचा जा सकता है । इन परिस्थितियों का स्वरूप क्या होगा, इसका संकेत मार्क्स ने ऊपर उद्धृत कथन में दिया है । लेनिन ने उनको संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "श्रम की उत्पादिता न तो आज की जैसी होगी और न उस समय का व्यक्ति आज के सामान्य व्यक्ति की भाँति होगा, जो बिना सोचे-समझे खराब हो सकता है····सामाजिक संपदा का भंडार होने पर भी असंभव की माँग करता है ।"[३] उनका कहना है कि "जब हम देखते हैं कि कितने अश्रेयपूर्वक पूँजीवाद उत्पादक शक्तियों के प्रयास व्यर्थ कर देता है, तो हमें यह कहने का अधिकार होता है कि पूँजीपतियों को अधिकारवंचित करने से मानव समाज की उत्पादक शक्तियों का जबर्दस्त विकास अनिवार्य रूप से होगा ।"[४]

इस प्रकार संगठित मजदूर वर्ग पूँजीवादी प्रणाली के पतन के बाद राजकीय स्वामित्व तथा राज्य द्वारा संचालित उद्योग की स्थापना करेगा, उसे पूँजीवादी प्रतिबंधों से मुक्त करके उत्पादन में जबर्दस्त वृद्धि करेगा और एक नई मनोदशा का निर्माण करेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना सामाजिक कर्त्तव्य पूर्ण करना चाहेगा । समस्त पूँजीवादी सिद्धांतों को ध्वस्त कर दिया जाएगा और शारीरिक तथा मानसिक श्रम (और इसीलिए नगरों और देहातों तथा विभिन्न श्रेणी के कुशलता वाले लोगों) के बीच सभी वैषम्यपूर्ण अंतर समाप्त हो जाएँगे ।

राज्य भी 'मुरझा कर गिर जाएगा'

ज्यों-ज्यों सर्वहारा वर्ग धीरे-धीरे इन लक्ष्यों की प्राप्ति करता जाएगा, त्यों-त्यों राज्य—जो उसकी तानाशाही के दौरान मजदूर वर्ग का एक राजनीतिक अस्त्र

---

[१] वही, पृष्ठ ७५३ ।
[२] वही पृष्ठ ७५४-७५६ ।
[३] वही, पृष्ठ ७५३ ।
[४] वही, पृष्ठ ७५२ ।

होगा, की उपयोगिता समाप्त होती जाएगी; वह 'मुरझाकर गिर जाएगा।' चूँकि मार्क्सवादी सिद्धांत में राज्य केवल वर्ग-उत्पीड़न का एक अभिकरण मात्र है, अतः ज्यों-ज्यों वर्ग-विभेद तथा वर्ग-वैषम्य समाप्त होता जाएगा, त्यों-त्यों धीरे-धीरे राज्य के लिए अपेक्षाकृत कम-से-कम काम करने के लिए रहते जाएँगे और इसीलिए उसका अपक्षय हो जाता है।[1] राज्य 'समाप्त' नहीं किया जा सकता, वरन अपने-आप काम करने वाली प्रक्रियाओं के फलस्वरूप यह अदृश्य हो जाता है; ये क्योंकि प्रक्रियाएँ 'उत्पादन साधनों' के परिवर्तन के फलस्वरूप पैदा होती है। 'ज्यों ही ये शक्तियाँ काम करती हुई स्वाभाविक चरम परिणति तक पहुँचती हैं, जो 'अनिवार्य रूप से स्पष्टतः एक लंबी प्रक्रिया होगी।''[2] राज्य किसी भी अंश में विद्यमान नहीं रह जाता। वर्ग सर्वथा समाप्त हो जाते हैं और कोई भी वर्ग नहीं रह जाता, जिसका दमन किया जाना हो, फलतः राजनीतिक राज्य का कोई काम नहीं रह जाता। पहले राज्य, नियंत्रण के जो आर्थिक कार्य कर रहा था, वे मानो व्यक्तियों की साम्यवादीकृत मनोदशा में डूब जाएँगे, जो अब उन्हें वे कार्य करने का निदेश देंगे जिनको करने का आदेश पहले राज्य देता था या वे नागरिक श्रमिकों के स्वेच्छापूर्वक किए गए सहयोगात्मक समझौते के द्वारा (यथा दिन में कितने घंटे काम किया जाए) किए जाएँगे। लेनिन ने साम्यवाद के इस उच्चतम सोपान के राजनीतिक पहलू का अनेक उल्लेखनीय अवतरणों में वर्णन किया है।

केवल साम्यवादी समाज में ही, जब पूँजीपतियों का प्रतिरोध पूरी तरह तोड़ दिया जाएगा, जब पूँजीपति पूरी तरह समाप्त कर दिए जाएँगे, जब वर्ग ही नहीं रहेंगे (अर्थात् समाज के सदस्यों के मध्य उत्पादन के सामाजिक साधनों के संबंध में, किसी प्रकार का अंतर नहीं रह जाएगा) तभी केवल 'राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा' और 'स्वाधीनतता की बात करना संभव होगा।' केवल तभी वास्तविक रूप से पूर्ण प्रजातंत्र बिना किसी अपवाद के प्रजातंत्र स्थापित करना संभव होगा तथा उसकी स्थापना होगी। उसी अवस्था में प्रजातंत्र इस साधारणकरण से 'मुरझा कर' गिरने लगेगा कि पूँजीवादी दासता और पूँजीवादी शोषण के अकथनीय आतंक, वर्बरता, वदतमीजियों तथा अपमानों से मुक्त हो कर लोग धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के उन आरंभिक नियमों का पालन करने के अभ्यस्त हो जाएँगे, जो सदियों से सर्वविदित है और जिनको हजारों वर्षों से सभी पाठ्य-पुस्तकों में दुहराया गया है। वे इन नियमों को बिना किसी बल-प्रयोग, बिना किसी अनिवार्यता, बिना किसी

---

[1] फ्रेडरिक एंगिल्स तथा कार्ल मार्क्स, देखिए : हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ५६४, ७३३, ७३४, ७३५।

[2] वी० आई० लेनिन, दि स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ७४०।

अधीनता तथा जबर्दस्ती के बिना किसी-किसी विशेष उपदान के जिसे 'राज्य' कहते हैं—मानने के लिए अपने-आप अभ्यस्त हो जाएँगे ।[१]

अंत में साम्यवाद ही, राज्य को सर्वथा अनावश्यक बनाता है; क्योंकि कोई भी दमन करने के लिए नहीं रह जाता। यहाँ 'कोई नहीं' एक वर्ग के अर्थ में, जनता के एक निश्चित भाग के विरुद्ध एक सुचारू संघर्ष के अर्थ समझा जाना चाहिए । हम आदर्श राज्य (यूटोपिया) के समर्थक नहीं हैं और हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि कुछ व्यक्तियों द्वारा ज्यादतियाँ होने की संभावना नहीं या ऐसा होना अनिवार्य नहीं और न इस बात से ही इन्कार करते हैं कि इस प्रकार की ज्यादतियों को दबाने की आवश्यकता नहीं होगी । लेकिन एक तो इसके लिए किसी विशेष व्यवस्था, किसी विशेष तंत्र की या किसी प्रकार के कदम की आवश्यकता न होगी, यह काम सशस्त्र लोग ही इतनी आसानी तथा तत्परता से कर डालेंगे, जिस तरह आधुनिक समाज में सभ्य लोगों की भीड़ दो लड़ने वालों को अलग कर देती है अथवा किसी महिला का सम्मान भंग नहीं होने देती । और दूसरे, हम जानते हैं कि उन ज्यादतियों का, जिनके द्वारा सामाजिक जीवन के नियमों का उल्लंघन किया जाता है, आधारभूत सामाजिक कारण जनता का शोपण, उनके अभाव तथा उनकी गरीबी होती है। इस प्रधान कारण के समाप्त हो जाने पर, अनिबार्य रूप से ज्यादतियाँ झड़ कर गिर जाती हैं । "हम यह नहीं जानते कि कितनी तेजी से तथा किस क्रम से वे झड़ कर गिरेंगी, लेकिन हम इतना अवश्य जानते हैं कि वे समाप्त हो जाएँगी । उनके इस प्रकार समाप्त हो जाने पर राज्य भी झड़ जाएगा ।"[२]

पूर्ण साम्यवाद के आर्थिक पहलू

पूर्ण साम्यवाद की मुख्य-मुख्य आर्थिक बातों को संक्षेप में सारतः यों कहा जा सकता है । अब समाज में सारे के सारे शारीरिक या मानसिक रूप से जो अशक्त हैं, उन्हें छोड़ कर, श्रमिक हैं । वे ही उत्पादन के प्राकृतिक तथा मानव द्वारा सृजित उपकरणों के स्वामी हैं । यद्यपि व्यक्तिगत रुचियों तथा विविध वैयक्तिक विशेषताओं का अंतर तो रहेगा तथा समाज वर्गहीन होगा; क्योंकि भूतपूर्व स्वामी वर्ग में कुछ तो नष्ट हो गए और कुछ को श्रमिक वर्ग में शामिल कर लिया गया है । अब कोई भी व्यक्ति बेशी मूल्य प्राप्त करने वाला नहीं । इसलिए श्रमिक वर्ग ही समस्त उत्पादित संपदा का स्वामी है, जो उसने प्रकृति तथा मानवनिर्मित उपकरणों की सहायता

---

[१] वही, पृष्ठ ७४५ ।

[२] वही, पृष्ठ ७४७ ।

से पैदा की है। श्रमिक जितना अधिक पैदा करता है, उतना ही अधिक उसका होता है। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक श्रमिक उत्पादन के सहकारी उपक्रमों में अपनी भूमिका अपनी अधिकतम योग्यता के साथ निभाने को प्रेरित होता है। समाज की उत्पादिता बढ़ने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रत्येक सदस्य उतना प्राप्त कर सकता है, जितने की उसे आवश्यकता है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग कर सकता है। इस प्रकार के समाज का नागरिक अपनी निजी वस्तुओं को पूँजी या पूँजीगत धनराशि के रूप में जमा नहीं कर सकता और अपने अधिकार में होनेवाली उपभोग्य वस्तुओं का संचय करना अनावश्यक पाता है।

एक अद्भुत बात यह होती है कि फौरन ही आर्थिक जीवन एकदम पूर्णता प्राप्त कर लेता है और सरल हो जाता है, जिससे एक ओर श्रेष्ठतर आनद तथा संस्कृति का भौतिक आधार बनता है और दूसरी तरफ आराम एवं आर्थिक परेशानियों से मुक्ति मिलने के कारण और भी अधिक आनंद-प्राप्ति की प्रेरणा मिलती है। "जब यह चिर-वांछित व्यवस्था स्थापित हो जाती है, तो प्रतिपक्ष के पलने के लिए कुछ भी नहीं रहता, विषमताएँ समाप्त हो जाती हैं और द्वंद्वात्मकता की कठोरता समाप्त हो जाती है।"[1] सच्चे अर्थों में यह एक 'नया समाज' है, जो उसके दार्शनिक आधारों की दृष्टि से भी सर्वथा नया है।

साम्यवादी दल के काम

मजदूर वर्ग द्वारा नेतृत्व की आवश्यकता

पूँजीवादी अर्थतंत्र की समाप्ति हो कर साम्यवाद का अभ्युदय क्रमिक विकासवाद के द्वारा होगा अथवा अराजकता से, यह, मार्क्सवादी सिद्धांत में सर्वथा इस बात पर निर्भर करता है कि मजदूर वर्ग उपयुक्त समय पर सत्ता अपने हाथ में लेने को तैयार है या नहीं तथा स्थिति के अनुसार जो काम करने हैं, उनके अनुरूप युक्तिनैपुण्य दिखाता है अथवा नहीं। मार्क्स ने कहा है कि ये मुक्तियाँ किसी श्रेष्ठ सिद्धांत-पुस्तक में नहीं खोजी जा जा सकतीं। "समाज के क्रांतिकारी हित जिस वर्ग में केंद्रित हो जाते हैं, वह जब उठ खड़ा होता है तो वह अपनी स्थिति में ही प्रत्यक्ष रूप से क्रांतिकारी गतिविधि का लक्ष्य तथा युक्ति प्राप्त कर लेता है। उसे पता चलता है कि किन दुश्मनों को नीचा दिखाना है; संघर्ष की आवश्यकता के अनुसार क्या कदम उठाने हैं और उसके अपने कामों के क्या परिणाम होंगे। वह अपने स्वयं के कार्य की कोई सैद्धांतिक खोजबीन नहीं करता है।"[2]

---

[1] एम० एम० वौबर, उपरिवर्णित पृष्ठ ४४ (फ्रांस म० वर्ग संघर्ष, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ १०५ ।

[2] कार्ल मार्क्स 'दि क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस' ।

फिर भी मार्क्स ने जब अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, तो यह पाया कि मजदूर असंगठित हैं, अपने सामान्य हितों के प्रति जागरूक नहीं हैं, राजनीतिक रूप से अज्ञानी हैं और मानसिक रूप से प्रचलित बुर्जुआ सिद्धांतों के गुलाम हो चुके हैं। अगर वह ऐसा ही रहा तो पूँजीवाद का खात्मा होने से केवल अराजकता फैलेगी। शोषण से अपने-आप वर्ग-जागरूकता आए यह आवश्यक नहीं, अतः स्थिति को समझने तथा उसके लिए भावनात्मक रूप से उभार आना जरूरी है। संक्षेप में मजदूर वर्ग का नेतृत्व होना आवश्यक है।

साम्यवादी दल का स्थान

मार्क्स ने साम्यवादी दल के कार्यों के बारे में निम्न शब्दों में परिकल्पना की है—एक नया, सर्वथा क्रांतिकारी दल जो मजदूर वर्ग का नेतृत्व करे। स्टालिन ने एकदम मार्क्स की बात ही दूसरे शब्दों में कही थी कि "एक क्रांतिकारी दल के बिना श्रमिक वर्ग वैसा ही है, जैसा जनरल स्टाफ के बिना सेना। पार्टी सर्वहारा वर्ग के सैनिक स्टाफ के समान होती है।"[1] "साम्यवादी, श्रमिक वर्ग के अन्य दलों की अपेक्षा इन बातों में भिन्न होते हैं :—(१) विभिन्न देशों के मजदूर द्वारा किए जाने वाले राष्ट्रीय संघर्ष में अलग-अलग राष्ट्रीयता भूल कर, समस्त मजदूर वर्ग के सामान्य हितों को ध्यान में रखते हैं और उनको सामने लाते हैं। (२) श्रमिक वर्ग का बुर्जुआ वर्ग से जो संघर्ष होता है, उसे विकास के जिन चरणों से हो कर गुजरना पड़ता है, उसमें वे सदैव और सर्वत्र समस्त आंदोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।" साम्यवादियों को प्रत्येक देश में श्रमिक दलों का अत्यधिक प्रगतिशील दृढ़प्रतिज्ञ वर्ग बनना होता है; 'क्योंकि' उन्हें बहुसंख्यक सर्वहारा लोगों की अपेक्षा सर्वहारा आंदोलन के बढ़ने का मार्ग, स्थितियाँ तथा अंततः सामान्य परिणामों के विषय में अधिक ज्ञान होता है।[2]

साम्यवादी दल का लक्ष्य

"साम्यवादियों का तात्कालिक लक्ष्य होता है....सर्वहारा लोगों को एक वर्ग का स्वरूप देना, बुर्जुआ वर्ग की श्रेष्ठता समाप्त कर देना और मजदूर वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता जीत लेना।"[3] मार्क्सवादी शब्दावली में मजदूर लोगों को एक 'वर्ग' का रूप देने का अर्थ है उनमें वर्गविषयक जागरूकता लाना अर्थात् उन्हें पूरी तरह से ये अनुभव करा देना कि पूँजीवादी मालिक उनका शोषण कर रहे हैं और यह शोषण पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली का अनिवार्य अंग है। उन्हें आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से इस हद तक शिक्षित करना कि वे सब बातों की बारीकियाँ समझने लगें तथा साम्य-

---

[1] जे० वी० स्टालिन, फाउंडेन्शन ऑफ लेनिनिज्म, हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ८४३।

[2] साम्यवादी घोषणापत्र 'हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, पृष्ठ ८४३।

[3] वही, पृष्ठ ३७।

वादी दल को अपने वर्ग की एकता का केंद्र बना कर मजदूर वर्ग आवश्यक वस्तुगत स्थितिथाँ उपस्थिति होते ही उठ खड़ा हो तथा राजनीतिक तंत्र और पूँजी के स्वामित्व का अधिकार छीन ले। एक बार यह हो जाने पर साम्यवादी दल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सरकारी तंत्र पर हावी हो जाएगा और सर्वहारा वर्ग का, समाजवाद अथवा साम्यवाद के पहले चरण की स्थापना करने के लिए मार्गदर्शन करेगा।

साम्यवादी दल पूँजीपतियों और पूँजीवादी सिद्धांत को पूर्णतः समाप्त करने, सभी वर्ग को एक रूप करने, राज्य को अदृश्य करने तथा अंततः पूर्ण साम्यवाद लाने के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की व्यूह-रचना का निर्देशन करेगी। जब यह उद्देश्व पूरा हो जाएगा, तो साम्यवादी दल या तो स्वयं ही समाप्त हो जाएगा अथवा उसके स्वरूप तथा कार्यों में पर्याप्त परिवर्तन हो जाएगा; क्योंकि वह प्रतिनिधि राज्य, जिसका संचालक साम्यवादी दल था, विद्यमान न रहेगा। निस्संदेह उस समय साम्यवादी दल के कार्य कुछ शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा सहकारी आर्थिक गतिविधि तक ही सीमित रह जाएँगे।

अनिवार्यता तथा सोद्देश्य कार्य का मेल

क्रांति के द्वारा पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना, समाजवाद की स्थापना तथा उसके बाद साम्यवाद का आना मार्क्स, एंगिल्स तथा लेनिन की दृष्टि में अपने-आप होने वाली अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली, अपने-आप ही ऐसी कुछ भौतिक स्थितियाँ पैदा करेगी जिससे पूँजीवाद का पतन होगा; इस मान्यता के अलावा इसके कोई भी पूर्व-निर्धारित परिणाम नहीं हैं। सर्वहारा वर्ग द्वारा राजसत्ता का हथियार लिया जाना जो पूर्ण अराजकता का एक मात्र विकल्प है—तथा पूर्ण साम्यवाद का विकास तभी हो सकेगा, जब सर्वहारा वर्ग अपनी भूमिका का कारगर रूप से निर्वाह करने के लिए पूरी तरह तैयार हों। इसी उद्देश्य के लिए मार्क्स ने एक क्रांतिकारी साम्यवादी दल की स्थापना में बहुत रुचि ली थी और बहुत अधिक शक्ति लगाई थी। इसी दृष्टि से क्रांतिकारी मार्क्स सिद्धांत-निरूपक मार्क्स से कहीं अधिक प्रधान था।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. इस कथन का क्या अर्थ है कि 'प्रत्येक आर्थिक संघर्ष आवश्यकतावश राजनीतिक संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है?' क्या यह कथन मार्क्स के राज्यविषयक सिद्धांत से मेल खाता है?

२. क्या मार्क्स यह मानते थे कि मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता छीनने का काम आकस्मिक होगा या धीरे-धीरे? क्रमिक विकास के रूप में होगा या क्रांतिकारी? शांतिपूर्ण होगा या हिंसापूण? क्या इन विषयों में मार्क्स का मत सदैव एक-सा रहा है?

३. क्या मार्क्स यह मानते थे कि पूँजीवाद के पतन के बाद राजसत्ता अपने- आप सर्वहारा वर्ग के कब्जे में आ जाएगी ?

४. क्या मार्क्स का यह कहना था कि संगठित मजदूर वर्ग को जब भी कोई अवसर आवे, सक्रिय क्रांतिकारी चालें प्रयोग करनी चाहिए ?

५. सफल क्रांति के तत्काल बाद, मजदूर वर्ग का हर शब्द कानून है, ताकि उसे 'तानाशाही' कहा जा सके ?

६. क्रांति के बाद क्या मजदूर राज्य, उस बुर्जुआ राज्य, जिसे उसने उल्टा है, की मूल बातों से भिन्न होगा ?

७. क्या इस बात की संभावना है कि मजदूर वर्ग की तानाशाही के अधीन बना मजदूर राज्य बुर्जुआ राज्य की अपेक्षा अधिक 'प्रजातंत्रीय' होगा ?

८. मजदूर वर्ग की तानाशाही के दौरान आर्थिक तंत्र की क्या मुख्य बातें होंगी ? किन खास दृष्टियों से वह अपनी पूर्ववर्त्ती अर्थ-व्यवस्था से भिन्न होगा ?

९. किन खास दृष्टियों से 'पूर्ण साम्यवाद' के अधीन स्थापित अर्थ-व्यवस्था मजदूर वर्ग की तानाशाही के अधीन स्थापित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था से भिन्न होगी ?

१०. जब तक पूर्ण साम्यवाद की स्थापना होगी, तब तक राज्य के स्वरूप में क्या-क्या परिवर्तन आ चुके होंगे ?

११. क्या यह अनिवार्य है कि 'समाजवाद' का विकास होकर पूर्ण साम्यवाद आएगा ही ?

१२. मार्क्स द्वारा निर्मित चित्र के अनुसार साम्यवादी दल के (क) क्रांति से पहले और (ख) क्रांति के बाद क्या-क्या मुख्य काम होंगे ?

●

अध्याय १०

मार्क्सवादी सिद्धांत का मूल्यांकन

कसौटियाँ

ऐसी अनेक कसौटियाँ हैं, जिन पर मार्क्सवादी सिद्धांत की कस कर परीक्षा की जा सकती है। क्या उसके विश्लेषण के विशुद्ध सैद्धांतिक भाग ठीक और पक्के हैं ? क्या वे आगमनात्मक आधार-सामग्री से पर्याप्त रूप से पुष्ट हैं ? मार्क्सवादी विचारधारा में कुछ विवेक सफल विसंगतियाँ हैं ? क्या विचारकों का खासा बड़ा वर्ग अब भी इस पर विश्वास करता है ? भावी घटनाक्रम के बारे में क्या इसकी भविष्य-वाणियाँ पूर्णतः अथवा अंशतः सत्य सिद्ध हुई हैं ? जिन बुनियादी बुराइयों का इसने विवेचन किया है, क्या उनका उपचार करने के लिए किसी कार्रवाई को कराने में योग दिया है ? क्या इससे परवर्त्ती सिद्धांत-निरूपण और कार्रवाई के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत हुआ है ? क्या यह हमारे समाज के अन्य विश्लेषणों की पूरक है और उसको अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता पहुँचाई है ? क्या इसने हमारे सामाजिक सिद्धांतों में कोई मौलिक विचार प्रदान किया है। क्या इसके निष्कर्ष वैज्ञानिक-विश्लेषण से मुक्त है अथवा वे केवल पक्षपातपूर्ण तथा संवंधित प्रश्न हैं ? लेकिन, यहाँ इनमें से कुछ प्रश्नों का ही विवेचन किया जा सकता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत का मूल्यांकन इस दृष्टि से किया जा सकता है कि वे जो उद्देश्य लेकर चले, उसे प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता या विफलता मिली। मार्क्स के सामने स्पष्टतः तीन प्रमुख उद्देश्य थे :—

१. वह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाली मूलभूत प्रक्रियाओं का सही-सही विवरण प्रस्तुत करना चाहते थे। इस संबंध में उनका प्रयास उनके मूल्य, मजदूरी तथा बेशी मूल्यविषयक सिद्धांतों के रूप में पाया जाता है।

२. उन्होंने संसार भर में काम करने वाली सरल आधारभूत कारण शक्तियों को खोजने का प्रयास किया, जिससे वे अतीत काल की घटनाओं की व्याख्या कर सकें और भावी घटनाओं के विषय में भविष्यवाणी कर सकें। उनके आधारभूत दर्शन तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने उनको यह आधार प्रदान किया, जिससे वह पूँजीवादी प्रणाली के भविष्य का चित्र अंकित कर सकें।

३. उन्होंने वर्ग-जागृति से परिपूर्ण सर्वहारा वर्ग की संस्था की नींव डालने की आशा की थी, जो पूर्ण साम्यवाद के विकास के लिए बौद्धिक केंद्र भी बन सकेगा और उसके लिए आवश्यक कार्रवाई शुरू कर सकेगा।

मार्क्सवादी सिद्धांत का मूल्यांकन बुनियादी रूप से भले ही पूर्ण रूप से न सही, इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए और अब हम इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

मूल्य, मजदूरी बेशी मूल्यविषयक सिद्धांत

माँग की भूमिका कि उपेक्षा

आर्थिक नाटक में नायक की भूमिका मूल्य को सौंप कर मार्क्स ने सर्वथा ठीक ही किया, हालांकि यह कोई मौलिक बात नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से देखा कि मूल्य की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के गुह्यतर प्रदेशों में किस तरह प्रविष्ट कर गया है। जिस बात की तरफ उन्होंने ध्यान नहीं दिया, वह है उस प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ, मूल्य-निर्धारण की असली प्रकृति जिसका वह वर्णन कर रहे थे, जिसमें निजी स्वामित्व है तथा प्रतियोगी औद्योगिक कारखानों का संचालन निजी लाभ के लिए किया जाता है। यदि हम यह मानें कि किसी वस्तु का प्रयोग मूल्य है, तो उसमें अंतर्भूत सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम ही उसका विनिमय मूल्य-निर्धारित करता है। मार्क्स का यह सिद्धांत मान्य यहीं है, हालांकि उनके व्याख्याताओं तथा संशोधकों ने उसे आधुनिक मूल्य-सिद्धांतों के अनुरूप बनाने की पूरी-पूरी चेष्टाएँ की हैं। मार्क्स का मूल्य-सिद्धांत अंशतः पुरातनपंथी और उनके समय का मान्य सिद्धांत था, इस बात से हम उनको इस सिद्धांत के प्रयोग के लिए तो क्षमा कर सकते हैं, लेकिन इससे उस सिद्धांत को प्रयोग करने का औचित्य तथा उस पर आधारित निष्कर्षों का औचित्य सिद्ध नहीं होता। मार्क्स ने इस तथ्य पर ध्यान ही नहीं दिया कि 'सामान्य मूल्य' जिस मात्रा में पूर्ति का परिणाम है, उससे कम मात्रा में माँग का परिणाम नहीं है और किसी वस्तु की पूर्ति पर उसमें अंतर्नि-

हित अन्य उत्पादन तत्त्वों का श्रम-समय की अपेक्षा किसी कदर कम प्रभावशाली नहीं होता।

मूल्य-निर्धारण में माँग का क्या स्थान है, इसकी गहरी अंतर्दृष्टि मार्क्स को थी, लेकिन इसे उन्होंने महत्त्वहीन कह कर छोड़ दिया था। प्रयोग मूल्य को विनिमय मूल्य की पहली शर्त स्वीकार करके उन्होंने श्रम-लागत की, मूल्य-निर्धारण करने वाले एकमात्र तत्त्व के रूप में अपर्याप्तता स्वीकारी भी है। यदि किसी वस्तु का विनिमय मूल्य होने के लिए उसमें कुछ प्रयोग मूल्य होना आवश्यक है तो स्पष्टतः उस वस्तु के प्रयोग मूल्य के 'परिमाण' का भी उसके विनिमय मूल्य के परिमाण से कुछ संबंध होगा। वस्तुओं के लिए उपभोक्ता के प्रयास को प्रभावित करने वाला यह प्रयोग मूल्य का वह दबाव बन जाता है, जो विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त दुर्लभ उत्पादक तत्त्वों पर पड़ता है। जिस गहनता के साथ इन उत्पादक तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है, उसका उनकी भौतिक उत्पादिता से, ऐसे समाज में जिसमें उन पर निजी स्वामित्व है, उनकी उपयोगिता से और परिणामतः वस्तुओं के उत्पादन की दीर्घकालीन लागत से बहुत कुछ संबंध है।

माँग की लागत पर और इस प्रकार सामान्य दीर्घकालीन मूल्य पर पड़ने वाले प्रभाव को मार्क्स अपने जमाने के अन्य लोगों के सहित, आँक नहीं पाए। उनके मूल्य-सिद्धांत में ऐसी स्थिति का वर्णन नहीं है, जिसमें जब वस्तु की माँग बढ़ जाती है, तो मान लीजिए जमीन पर वह वस्तु अधिक पैदा करने का दबाव बढ़ जाता है। जमीन पर उत्पादन का दबाव ज्यों-ज्यों बढ़ेगा, त्यों-त्यों ह्रासमान प्रतिफल सिद्धांत लागत तथा उस वस्तु की सामान्य दीर्घकालीन लागत बढ़ा देगा।

पूँजीगत उपकरणों के विषय में भी यही बात सच है। यदि मार्क्स का यह कथन स्वीकार भी कर लिया जाए कि पूँजी तो 'चुराय गए' धन से आती है, तो वस्तुओं की माँग आम प्राप्तकर्त्ताओं पर बचत करने के लिए दबाव डालती है और इस प्रकार उन पूँजीगत उपकरणों के उत्पादन में सहायता करती है, जिनका प्रयोग उन वस्तुओं के निर्माण में किया जा सकता है। जब तक बचत करने की अपेक्षा, तात्कालिक उपभोग पर खर्च करना अधिक सुखकर होगा, तब तक बचत करने को पुरस्कृत करना ही होगा। इस प्रकार बचत का मूल्य भी लागत का एक तत्त्व बन जाता है, जो दीर्घकालीन सामान्य दाम से निकलना ही चाहिए।

संक्षेप में मार्क्स ने यह अनुभव नहीं किया है कि जिस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रम इसीलिए मूल्यवान है; क्योंकि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग है, उसी प्रकार भूमि तथा पूँजी का मूल्य उन वस्तुओं की माँग में प्रतिबिंबित

होता है, जिनके उत्पादन में वे सहायक होती हैं। इन उत्पादक तत्त्वों श्रम सहित के उत्पादन की लागत को उत्पादित वस्तुओं के विक्रय मूल्य से वसूल किए जाने का कोई 'स्वाभाविक' अधिकार नहीं है। यह लागत तो तभी निकलेगी, जब ये उत्पादक तत्त्व इतने परिमाण में वस्तुओं का उत्पादन करें, जिनकी माँग उस पर इन्हें पूरा-का-पूरा खपा सके, जो इनके उत्पादन की कुल लागत के बराबर हो। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य तो एक संतुलन मूल्य है, जिसका निर्धारण एक ओर तो वस्तुओं के लिए उपभोक्ता की माँग और दूसरी ओर उत्पादक तत्त्वों की दुर्लभता की परस्पर-विरोधी शक्तियों द्वारा होता है। यह मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाएँ किसी एक उत्पादक तत्त्व का परिमाण ही विनिमय मूल्य निर्धारित करने में एकमात्र अथवा प्रमुख भाग अदा करे। इसलिए मार्क्स का मूल्य-सिद्धांत उन वास्तविक मूल्यों का आधार प्रदान नहीं करता, जिन पर वस्तुओं का पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में विनिमय होता है।

मजदूरी-निर्धारण का स्थान

मार्क्स ने मजदूरी सिद्धांत में भी यही त्रुटि रहने दी है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि श्रम-शक्ति का मूल्य इसलिए है; क्योंकि वह श्रम-शक्ति जीवन-निर्वाह पर कुछ धन खर्च करके पैदा की गई है। यह इसी तरह है, जिस तरह यह कहना कि बढ़िया कटाई करके तैयार किए मोटरगाड़ी के टायर का मूल्य इसलिए होगा; क्योंकि उसे बनाने में श्रम खर्च किया गया है। इसी प्रकार श्रम-सेवा या शक्ति में निहित मूल्य (मजदूरी) के परिमाण के निर्धारण उसी प्रकार उसके उत्पादन पर खर्च किए गए जीवन-निर्वाह के धन के परिमाण से नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार लकड़ी के टायर का मूल्य-निर्धारण उसके उत्पादन पर खर्च किए गए श्रम के परिमाण से नहीं किया जा सकता। दुर्लभ वस्तु के रूप में श्रम-शक्ति का मूल्य इसलिए है; क्योंकि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग का दवाव है। इन वस्तुओं को जितनी अधिक माँग होगी और उनके उत्पादन में प्रयोग करने के उपयुक्त श्रमिकों का परिमाण जितना ही सीमित होगा, उस श्रम का मूल्य उतना अधिक। उस समय यह ध्यान नहीं रहेगा कि उस श्रम-शक्ति को पैदा करने में क्या लागत आई थी। प्रकृतिदत्त प्रतिभा का मूल्य अथवा उनके प्रयोग के लिए प्रदत्त मजदूरी उन मूल्यों से न तो अधिक होती है और न कम, जिसपर उस तरह की प्रतिभा प्रशिक्षण के द्वारा प्राप्त की सकती है। योग्यता को पैदा करने की लागत का उस योग्यता के मूल्य से इसके सिवा और कोई संबंध नहीं होता कि वह उसकी उपलब्धता में एक प्रकार का प्रतिरोध होता है। अन्य प्रकार के प्रत्येक प्रतिरोध (उदाहरण के तौर पर प्राकृतिक कमी) भी उसी प्रकार मूल्य-निर्धारक है, जिस प्रकार श्रम-शक्ति को पैदा करने की यह लागत।

वास्तव में मार्क्स ने इस मुद्दे को उस समय भाँप लिया था, जब उन्होंने कुशल श्रम की इकाइयों को अकुशल श्रम की मानक समरूप समय इकाइयों में परिवर्तित करने की बात पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि कुशल श्रम का मूल्यांकन अकुशल श्रम के द्वारा और अकुशल श्रम का मूल्यांकन कुशल श्रम द्वारा बाजार की उन प्रक्रियाओं द्वारा होता है, जिनके माध्यम से खरीददार विभिन्न कुशल श्रम वर्गों की बनाई वस्तुएँ प्राप्त करता है। लेकिन, इस एक अप्रकट उल्लेख के अलावा जो तर्कसंगत सीमा तक नहीं ले जाया गया है, मार्क्स ने अपने मजदूरी-सिद्धांत में कहीं भी माँग को ऐसा तत्त्व नहीं माना है, जो मजदूरी के निर्धारण में काम आता है।

जीवन-निर्वाह का अर्थ

एक अन्य दृष्टि से भी मार्क्स का मजदूरी-संबंधी सिद्धांत बहुत असंतोषजनक है। उनकी रचनाओं में जीवन-निर्वाह श्रम-शक्ति पैदा करने वाली लागत और इसलिए मजदूरी का आधार है, एक निर्णायक तत्त्व नहीं बन पाया है। किन्हीं अवसरों पर उन्होंने जीवन-निर्वाह में केवल उन वस्तुओं को ही शामिल किया था, जो उसके शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो, किंतु किन्हीं अन्य अवसरों पर उन्होंने जीवन-निर्वाह में उन उपभोग्य वस्तुओं को भी शामिल किया है, जिन्हें श्रमिक प्राप्त करने की इच्छा करता है अथवा किसी रहस्यमयी सामाजिक आदत अथवा रिवाज के कारण कुछ वस्तुओं को न्यूनतम जीवन-निर्वाह-स्तर की श्रेणी में रख दिया है। मार्क्स ने कभी भी यह स्पष्ट नहीं किया कि किस प्रकार जीवन-निर्वाह-स्तर का विस्तार करके उसमें हुए समय परंपरागत चीजें संमिलित की जा सकती हैं, जबकि उनके अनुसार, मजदूरी उस जीवन-निर्वाह-स्तर से ही बँधी है, जिसमें इन वस्तुओं का समावेश नहीं है।

बेशी मूल्य पर उन्होंने जो सिद्धांत दिया है, उसके कारण मार्क्स को सामान्य रूप से जीवन-निर्वाह की धारणा शरीर-रक्षा के रूप में ही स्वीकार करनी पड़ी है, तथापि यह लगातार उसी से बँधे नहीं रहे हैं। प्राण-रक्षा-संबंधी निर्वाह-धारणा को बहुत कड़ाई के साथ स्वीकार कर लेने पर ही उनका बेशी मूल्य का सिद्धांत कुछ सार्थकता रखता था। लेकिन, जीवन-निर्वाह में प्राण-रक्षा वाली धारणा को सार्वभौम रूप से लागू करना असंभव था, क्योंकि कुछ स्थानों में तथा कुछ मौकों पर सामान्य मजदूरी भौतिक जीवन-निर्वाह स्तर से अधिक हो जाती है और इस बात को मार्क्स ने भी स्वीकार किया है। यही नहीं, प्राण-रक्षाविषयक मान्यता को लगातार प्रयोग करते रहने के कारण ही मार्क्स को यह स्वीकार करना पड़ा होगा कि मजदूरी को भी उनके वर्त्तमान स्तर से अधिक हो ही नहीं सकती। अतः, मजदूरी बढ़वाने के तात्कालिक

उद्देश्य से श्रमिकों का संगठन प्रभाव हीन होना चाहिए और उसे वर्ग-चेतना वाले सर्वहारा लोगों के संगठन के प्रारंभ विंदु के रूप में प्रयोग किया ही नहीं जाना चाहिए।

इसके विपरीत, ज्यों ही मार्क्स यह स्वीकार करते कि उनके मजदूरी के जीवन-निर्वाह-स्तर में (जो श्रम-शक्ति के उत्पादन की लागत होती है) परंपरागत जरूरत की कुछ चीजें भी शामिल की जा सकती हैं, जो इससे पूर्व शामिल नहीं की गई थीं, तो वह उस सैद्धांतिक आधार को पूर्णत: नष्ट कर लेते, जो उन्होंने बेशी मूल्य सिद्धांत के लिए तैयार किया था। यदि मजदूरी इतनी बढ़ सकती है कि उसमें परंपरागत आवश्यकता की वस्तुएँ भी संमिलित की जा सकें तो मजदूरी इतनी क्यों नहीं बढ़ सकती कि उसमें ऐसी अन्य चीजें भी शामिल की जा सकें, कि उन सब को जिसे मार्क्स 'बेशी मूल्य' कहते हैं, मजदूरी आत्मसात् कर ले और वह मजदूरी इतनी ऊँची हो कि 'इस प्रकार' का 'निर्वाह' संभव बना दे? इसलिए यदि वह परंपरागत आवश्यकताओं सहित जीवन-स्तर को मजदूरी का निर्धारक तत्त्व मानते तो पूँजीवाद में मजदूरी अनिश्चित सीमा तक बढ़ सकती थी, सैद्धान्तिक रूप से इस सीमा तक कि उसमें समस्त 'बेशी मूल्य' समा जाता। इससे यह मार्क्सवादी सिद्धांत सर्वथा नष्ट हो जाता कि बेशी मूल्य पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का अनिवार्य तत्त्व है। अपने तर्कों से वे जिस सिद्धांत की पुष्टि करना चाहते थे, उसकी सैद्धांतिक समरूपता ने मार्क्स को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह जीवन-निर्वाह की प्राण-रक्षा धारणा को ही अपनाते। लेकिन, उन्होंने विद्यमान वेतन-स्तरों तथा पूँजीवाद के अंदर श्रमिकों द्वारा अपनी मजदूरी बलात् बढ़वाने की संभावनाओं का बहुत जगह जो उल्लेख किया है, उससे प्रकट होता है कि उन्होंने वास्तविक तथ्यों की खातिर तथा श्रमिकों में संगठित होने का प्रोत्साहन मिले, इस इच्छा से सैद्धांतिक समरूपता का अनेक बार बलिदान भी कर दिया है।

घटती-बढ़ती बनाम स्थिर मजदूरी

वास्तव में, यदि जीवन-निर्वाह में वे वस्तुएँ भी शामिल कर ली जाएँ, जो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक नहीं हैं, तो मजदूरी में इतना लचीलापन होगा कि कुछ तत्त्वों का दबाव पड़ने पर, जिनका चित्रण स्वयं मार्क्स ने किया है; मजदूरी इतनी बढ़ सकती है कि वह समस्त 'बेशी मूल्य' को आत्मसात् कर ले। ये तत्त्व हैं प्रतिद्वंद्वितापूर्ण संघर्ष जिन्हें मार्क्स ने पूँजीवाद के अधीन बहुत तीव्र बताया है। यदि यह मान लिया जाए कि मजदूरी घटती-बढ़ती रहती है, तो यह तर्क दिया जा सकता है कि पूँजीपति मालिकों में श्रमिकों के लिए जो प्रतिद्वंद्विता होगी, उससे बाध्य होकर बेशी मूल्य मजदूरी के रूप में अदा किया जाएगा। जब तक

किसी कर्मचारी के श्रम से 'उसके' पूँजीपति मालिक को उस प्रकार की बेशी प्राप्त होगी, जिसका वर्णन मार्क्स ने किया है, तो भी 'किसी अन्य' पूँजीपति के लिए थोड़ी-सी अधिक मजदूरी दे कर भी उस कर्मचारी को अपने यहाँ नौकर रखना लाभप्रद होगा। यदि प्रतिद्वंद्विता की यह स्थिति बड़े पैमाने पर गहनता के साथ विद्यमान हो, तो अपने-अपने लिए अधिक से अधिक वेशी प्राप्त करने के उद्देश्य से मालिकों में अपने कर्मचारियों को रखने के लिए संघर्ष होने के कारण मजदूरी इतनी अधिक बढ़ती चली जाएगी कि 'किसी' पूँजीपति मालिक के लिए किसी अन्य मालिक द्वारा नौकर रखे हुए श्रमिक से कोई बेशी मूल्य प्राप्त न हो पाएगा। इस प्रकार की प्रतिद्वंद्विता तभी समाप्त होगी, जब सारा वेशी मुल्य जो पहले पूँजीपति मालिक की जेब में जाता था, मजदूरी में समा जाएगा। मार्क्स ने यह तो माना है कि पूँजीपति मालिकों के बीच अपनी वस्तुओं की बिक्री के लिए प्रतिद्वंद्विता होगी, लेकिन यह बात नहीं बताई कि उनमें उस श्रम-शक्ति को खरीदने के लिए प्रतिद्वंद्विता क्यों नहीं होगी, जिनसे इतने आकर्षक बेशी मूल्य की प्राप्ति होती है। अगर यह मान लिया जाए कि मजदूरी घटती-बढ़ती रहती है और पूँजीपति मालिकों में प्रतिद्वंद्विता विद्यमान है, तब समस्त स्थिति में स्वभावत: ऐसे तत्त्व विद्यमान होंगे, जिनसे बेशी मूल्य मालिक की आमदनी में से निचुड़ कर मजदूरी में पहुँच जाएँगे। प्रतीत होता है कि बेशी मूल्यविषयक मार्क्सवादी सिद्धांत तर्कसंगत रूप से तब तक स्वीकार्य नहीं हो पाता, जब तक वह प्राण-रक्षात्मक जीवन-निर्वाह लाभ कहीं मजदूरी मिलने के सिद्धांत पर आधारित न हो। और प्राण-रक्षा योग्य जीवन-निर्वाह-स्तर जितनी ही मजदूरी मिलने की बात इसलिए स्वीकार्य नहीं हो पाती; क्योंकि सब जानते हैं कि मजदूरी इस स्तर से अधिक हो जाती है।

न केवल, मजदूरी का प्राण-रक्षा योग्य जीवन-निर्वाह-स्तर-सिद्धांत सामान्य रूप से जाने-माने तथ्यों के अनुकूल नहीं बैठता, वरन् मार्क्सवादी सिद्धांतशास्त्रियों के लिए बड़ी ही परेशानी में डालने वाले प्रश्न पैदा करता है। उदाहरण के लिए यदि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी प्राण-रक्षात्मक जीवन-निर्वाह-स्तर तक ही रहती है, तो उनके सिद्धांतों के अनुसार समाजवाद अथवा साम्यवाद में वह उस स्तर से भिन्न किन कारणों से होगा ?

मजदूरी के प्राण-रक्षात्मक जीवन-निर्वाह-सिद्धांत का समर्थन एक ही संभव तर्क से किया जा सकता है। वह तर्क यह है कि यदि मजदूरी प्राण-रक्षा योग्य जीवन-निर्वाह-स्तर से अधिक होगी, तो उपभोग्य वस्तुओं के अधिक सुलभ होने से जन्म-दर बढ़ जाएगी और इस प्रकार उपभोग्य वस्तुओं की वृद्धि होने के अनुपात में ही खाने वालों की संख्या बढ़ जाएगी। यदि पूँजीवाद में यह प्रवृत्ति होगी, तो क्या यही

प्रवृत्ति उद्योगों के अन्य प्रकार के संगठन के अंतर्गत नहीं होगी ? आर्थिक संगठन में परिवर्तन आने से संभवतः मनुष्यों के प्रजनन-कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। कम-से-कम मार्क्सवादी सिद्धांत में ऐसा नहीं माना जाता और न उससे कहीं यह अभिप्राय निकलता है कि जानबूझ कर उसमें कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। इसलिए यह तर्क देना उचित लगता है कि पूर्ण साम्यवाद में भी रहन-सहन का स्तर पूँजीवाद की भाँति ही मात्र जीवन-निर्वाह ही होगा (हालांकि इस समय सविदागत मजदूरी की अपेक्षा वह निर्बाध उपभोग पर आधारित है) और ठीक वही शक्ति अर्थात् जीवन-निर्वाह की वस्तुएँ अधिक प्रचुर होने पर जन्म-दर बढ़ाने की प्रवृत्ति काम करेगी। इस प्रकार कोई भी यह पूछ सकता है कि साम्यवाद के अंतर्गत जनता की स्थिति पूँजीवाद की अपेक्षा किस प्रकार वेहतर होगा। संभवतः बढ़ी हुई उत्पादिता बढ़ी हुई जनसंख्या का खर्च उठाने में लगेगी और इस प्रकार प्रति व्यक्ति के रहन-सहन का स्तर वही रहेगा, जहाँ वह पहले कभी था। वास्तव में मजदूरी के प्राण-रक्षात्मक जीवन-निर्वाह-सिद्धांत को इन कुछ बारीकियों के साथ देखें, तो उसका मार्क्सवादी सिद्धांत के अन्य भागों से मेल नहीं बैठता और अगर बैठता है, तो मजदूरी के लोचशील जीवन-निर्वाह-सिद्धांत मानने से ही बैठता है।

वेशी मूल्य का सैद्धांतिक आधार नहीं

यदि मार्क्सवादी मूल्य सिद्धांत अथवा मार्क्सवादी मजदूरी-सिद्धांत स्वीकार नहीं किए जा सकते और यदि वे सिद्धांत ही वेशी मूल्य सिद्धांत की दुतरफी थूनियाँ हैं, तो उस अवस्था में वेशी मूल्य सिद्धांत का क्या होगा ? पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ऐसी मूल्य निधि प्राप्त करना असंभव है, जिसमें वे सैद्धांतिक विशेषताएँ हों तथा उन सैद्धांतिक उद्गमों से निकलता हो, जिनको मार्क्स ने वेशी मूल्य की संज्ञा दी है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण न तो एक मात्र उनके श्रम-तत्त्व से होता है और न श्रम-मूल्य मजदूरी से होता है, जो जीवन-रक्षा की भौतिक आवश्यकताओं से निर्धारित होती है। मार्क्स ने जिसे वेशी मूल्य कहा है, वह पूँजीवादी अर्थतंत्र में उसी प्रकार मजदूरी में खप सकता है, जिस प्रकार पूँजीपति मालिक के मुनाफे में अथवा धन उधार देने वाले के व्याज में अथवा भूस्वामी के किराए (लगान) में अथवा इन तीनों में खप सकता है। जैसा कि मार्क्स ने वर्णन किया है, उस रूप में स्वाभाविक वेशी मूल्य नहीं हो सकता जो पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में अपरिवर्तनीय रूप से मालिकों की जेबों में ही चला जाता है।

'वेशी मूल्य' तथा 'अनर्जित आय'

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्स के मूल्य, मजदूरी तथा वेशी मूल्य-विषयक सिद्धांत अपनी आंतरिक असंगतियों के कारण ही बिखर जाते हैं और उनके

आधार पर मार्क्स ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे निराधार हो कर हवा में झूलते रह जाते हैं। लेकिन ऐसा निष्कर्ष निकालना अनपेक्षित है। बहुत संभव है कि यदि मार्क्स आज आधुतिक मूल्य-सिद्धांत के आधार पर लिख रहे होते, तो उन्होंने मूल्य-निर्धारक प्रक्रियाओं का वर्णन कुछ भिन्न रूप में ही किया होता और अपने 'बेशी मूल्य' अथवा शोषण-सिद्धांत का दूसरी तरह से ही सैद्धांतिक आधार स्थापित किया होता।

यदि मार्क्स ने यह दिखलाया है कि निजी स्वामित्व तथा प्रकृतिदत्त एवं मानवनिर्मित उत्पादक उपकरणों के उत्तराधिकार की संस्थाओं की प्रधानता वाले पूँजीवादी समाज में अवश्य ही इन चीजों का स्वामी वर्ग होगा, जिन्हें ऐसी आमदनियाँ प्राप्त होंगी, जो अर्नजित होंगी। ऐसी अवस्था में उनके सिद्धांत पर आगे विचार करना आवश्थक हो जाता है। यह महत्त्वपूर्ण वात है कि मार्क्स ने 'कैपिटल' पुस्तक का प्रथम भाग इस कथन के साथ समाप्त किया है कि "पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति और संचयन-पद्धति तथा इसीलिए पूँजीवादी निजी संपत्ति में कुछ आधारभूत शर्तें विद्यमान रहती है, जिनसे स्वअर्जित निजी संपत्ति का नाश हो जाएगा; दूसरे शब्दों में, यह शर्त है श्रमिकों का अधिकारवंचन"[1] क्या मार्क्स की दृष्टि में, यह उसके 'देशी मूल्य' सिद्धांत का सार था ?

यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाए कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था प्रकृतिदत्त तथा भावनानिर्मित उपकरणों के निजी स्वामित्व के विना अथवा उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति एवं 'निजी उत्पादिता' से अर्जित संपत्ति के स्वामित्व के बिना पूँजीवादी प्रणाली चल नहीं सकती, तो पूँजीवादी अर्थतंत्र में ऐसी कुछ निजी आमदनियों को स्वाभाविक रूप से होना संभव हो सकता है, जो बहुत हद तक उस धारणा के समीप आ जाती है, जिसे मार्क्स ने 'बेशी मूल्य' कहा है। भूमि अथवा प्राकृतिक संसाधनों का स्वामी, विशुद्ध रूप से स्वामी के रूप में, धन प्राप्त करता है, जिसे अर्थशास्त्री 'आर्थिक किराया' कहते हैं। यह उसकी भूमिका किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रयोग किए जाने के प्रतिफल के रूप में दिया धन है अथवा भूमि के उसके अपने प्रयोग से अन्य सभी उत्पादन-खर्चों के भी ऊपर प्राप्त होने वाला अधिशेष है। उसके स्वामी ने भूमि बनाई नहीं है; उसकी उत्पादकता प्रकृति ने पैदा की है। लेकिन, उन दुर्लभ उत्पादक तत्त्वों का जिन्हें 'भूमि' कहते हैं—आर्थिक लाभ इस समय उसके मालिक को प्राप्त होता है।

---

[1] कार्ल मार्क्स, कैपिटल, आधुनिक पुस्तकालयीय संस्करण, पृष्ठ ८४८।

इस आमदनी को प्राप्त करने वाला या तो उसे स्वयं अपने उपभोग में प्रयोग करता है अथवा पूँजीगत धनराशि के स्रोत के रूप में काम में लाता है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मार्क्स ने बेशी मूल्यजन्य धन के उपयोग का वर्णन किया है। यदि उस धन का उपयोग उपभोग्य वस्तुओं को खरीदने में खर्च किया जाता है, तो ये वस्तुएँ समग्र राष्ट्रीय आय का एक अंश हैं, जिनके उत्पादन में श्रम ने अपनी भूमिका अदा की है। इस अवस्था में 'बेशी मूल्य' इस अर्थ में है कि मालिक वास्तविक आमदनी के बदले स्वयं निजी तौर पर कोई उत्पादक प्रयास नहीं करता है। वह जो भी प्रयोग करता है, उसमें चूँकि कुछ-न-कुछ श्रम अंतर्निहित होता है और चूँकि वह मालिक समाज को कोई श्रम बदले में नहीं देता, इसलिए यह कहा जहा सकता है कि वह और लोगों के श्रम का 'शोषण' करता है और शोषण का माध्यम भूमि का निजी स्वामित्व है।

भूमि का लगान प्राप्त करने वाला अधिकाधिक सौभाग्यपूर्ण स्थिति में दिखाई देता है, इसलिए मार्क्स का कहना है कि लगान प्राप्तकर्त्ता लगातार अधिकाधिक 'बेशी मूल्य' प्राप्त करता रहता है। भूमि ही उत्पादन का वह तत्त्व है, जिसका परिमाण मानव-प्रयासों के द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिए उसके मालिकों के पास ऐसी चीज होती है, जो जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ अधिकाधिक दुर्लभ होती जाती है। जैसे-जैसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है और प्राकृतिक साधन उतने ही रहते हैं, वैसे-वैसे इस दुर्लभ प्राकृतिक उत्पादन तत्त्व के लिए अधिक गहन प्रतियोगिता के कारण दीर्घकालीन अवधि में जमीन के लगानों में वृद्धि होती जाती है। इस प्रवृत्ति को प्रतिसंतुलित करने वाला कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो लगानों में वृद्धि होने के कारण जमीन को परिमाण बढ़ने के रूप में हो सके। जमीन का लगान अन्य मूल्यों की तुलना में लगातार बढ़ते जाने से मार्क्स के इस सिद्धांत का स्मरण हो आता है कि श्रम की समस्त बढ़ी हुई उत्पादिता से बेशी मूल्य का ही परिमाण बढ़ता जाता है।

उत्तराधिकार में प्राप्त पूँजी के स्वामी की स्थिति भी 'अनर्जित आय' की प्राप्ति की दृष्टि से वही है। यदि हम पूँजी पर दिए जाने वाले व्याज को बचत करने की इच्छा का प्रतिफल कहें, तो भी उत्तराधिकार में प्राप्त धन का व्याज जिस उत्तराधिकारी को मिलता है, उसने वह कष्टसाध्य प्रयास नहीं किए हैं, जिसका प्रतिफल उसे अदा किया जाए। सामाजिक उत्पादन में उसे हिस्सा मिल जाता है और उसके लिए आर्थिक प्रक्रिया में उसका निजी उत्पादक प्रयास बिल्कुल नहीं होता।

केवल इस प्रकार की 'अनर्जित आमदनियों' की दृष्टि से न कि मार्क्स द्वारा दिए गए सैद्धांतिक स्वरूप की दृष्टि से 'बेशी मूल्य' सरीखी कोई वस्तु पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में स्वभावतः विद्यमान कही जा सकती है। मार्क्स का आधुनिकीकरण करने वाले कुछ विद्वान तो उनके बेशी मूल्य-सिद्धांत का बहुत कुछ उस रूप में पुनः निरूपण कर गए हैं, जिसको हमने यहाँ 'अनर्जित आय' की संज्ञा दी है।[1]

कुछ निष्कर्षों की अशुद्धता

मार्क्स ने अपने मूल्य-सिद्धांत, मजदूरी-सिद्धांत तथा बेशी मूल्य-सिद्धांत से जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अपने सैद्धांतिक आधारसहित, दोषपूर्ण हैं। मजदूर वर्ग को 'अधिकाधिक कष्ट' नहीं भोगने होते, जैसाकि मार्क्स ने उनका भाग्य बताया है। हालांकि यह प्रश्न तो उठ सकता है कि पूँजीवाद के अंतर्गत बढ़ने वाली राष्ट्रीय आय में मालिकों की तुलना में श्रमिकों को कितना भाग मिला, किंतु निरपेक्ष रूप से देखें, तो उनके कष्ट बढ़ने की अपेक्षा घंटे ही होते हैं। अगर मजदूरी को प्राणरक्षात्मक जीवन-निर्वाह से पूरी कड़ाई के साथ संबद्ध न करें, तो वे भयंकर परिणाम जो मार्क्स ने अपने सैद्धांतिक तर्कों द्वारा मजदूर वर्ग के लिए बताए हैं, पूँजीवादी प्रणाली के स्वाभाविक अंग हो ही नहीं सकते। मशीनें श्रमिकों को फालतू करके मजदूरी गिराने वाले माध्यम के रूप में कभी-कभी वही काम करती लगती हैं, जो उनके बारे में मार्क्स ने बताया है। लेकिन, इसका जोर इस दिशा में न तो उतनी पूर्णता के साथ है और न इतनी निरंतरता के साथ जैसाकि मार्क्स के सिद्धांत-कथन को देखकर विश्वास होता है। यद्यपि उन्नत शिल्प-विधि के कारण हुई बेकारी समय-समय पर एक प्रमुख समस्या रही है, तथापि हमारी अर्थ-व्यवस्था में बार-बार मशीनी कुशलता से ऐसे दीर्घकालीन परिवर्तन हुए हैं, जिनके कारण प्रतिउत्पादित वस्तु की लागत घटी है और दाम गिरे हैं, जिनसे श्रम की नई माँगें पैदा हुई हैं, जो मार्क्स की मान्यता की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त तथा स्थायी रही हैं।

मुनाफे की दर में उतनी कमी नहीं हुई है, जितनी मार्क्स के विचार से मूल्य-प्रक्रियाओं और मशीनों के बढ़ने से मिल कर होगी। व्यवसाय-चक्र भी उतनी पूर्णता के साथ अत्युत्पादन का ही परिणाम नहीं है, जितना मार्क्स ने बताया है। गौर के साथ किए गए अध्ययनों से प्रकट होता है कि बहुत-सी बातें, जो उनके

---

[1] उदाहरण के लिए देखिए जी० डी० एच० कोल की पुस्तक, 'ह्वाट मार्क्स रीयली मेंट, न्यूयार्क, १९३४, पृष्ठ २७५।

साधारण अत्युत्पादन सिद्धांत के क्षेत्र (वेशी मूल्य सिद्धांत के कारण) सर्वथा बाहर है, व्यवसाय-चक्र पैदा करने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। यही नहीं, यहाँ यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या सन् १९३० की भयंकर मंदी के पश्चात् व्यावसायिक संकट तथा मंदियाँ क्या अधिक गंभीर हुआ करती हैं ?

पूँजीवाद में मजदूर वर्ग की वर्ग-चेतना तथा स्वामी वर्ग की समरूपता भी उतने पक्के रूप में सामने नहीं आती, जितनी मार्क्स के मतानुसार आनी चाहिए। मजदूर वर्ग—कम-से-कम संयुक्त राज्य अमेरिका में—अब भी उन श्रमिक संस्थाओं का संस्थापक है, जो पूँजीवाद की सभी आधारभूत संस्थाओं की सक्रिय रूप से करता है। कार्यालयों में काम करने वाले तथा बाबू वर्ग के रूप में जो असंगठित मजदूर वर्ग हैं, उसे अब भी भयंकर रूप से बनाया, विश्वास है कि हमारे हित हमारे पूँजीपति मालिकों के हितों के साथ पूरी तरह से संबद्ध है। इस बात का प्रदर्शन वह 'क्रांतिकारी' विचारण, व्यवहार तथा मतदान के खतरनाक रास्ते पर चलने से इन्कार करके करते हैं। आज बुर्जुआ वर्ग में—कम-से-कम संयुक्त राज्य अमेरिका में—ऐसे विषमतापूर्ण और कभी-कभी तो विरोधी हितों के लोग जैसे छोटे व्यापारी, स्टोर-शृंखलाओं के स्वामी, विशाल उद्योगपति, छोटे किसान तथा शक्तिशाली बैंकर तक शामिल हैं। शक्तिशाली बैंकरों ने जो मार्क्सवादी सिद्धांत में 'वित्त पूँजी' के मूर्त्त रूप हैं, वह प्रभुत्व स्थापित नहीं कर पाया है जिसका चित्रण मार्क्स ने पूँजीवाद के अंतर्गत काम करने वाले अनिवार्य तत्त्वों के परिणामस्वरूप में किया था। वकीलों, चिकित्सकों, मंत्रियों तथा अध्यापकों के व्यवसायी वर्ग के लोग, सदा रहने वाले अपवाद रूप व्यक्तियों तथा अल्पसंख्यकों सहित परंपरागत बुर्जुआ स्रोतों की अपेक्षा किसी और की तरफ अपने आदर्शों या मुख्य समर्थन समय के रूप में नहीं देखते। औद्योगिक तकनीशियन—रसायनशास्त्री, इंजीनियर, औद्योगिक मैनेजर तथा ऐसे ही लोग—राजनीतिक कार्यक्रमों, हड़तालों तथा 'क्रांतिकारी' आंदोलनों के प्रति अब भी बुर्जुआ ढंग से अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं।

पूँजीवाद के वे स्वाभाविक तत्त्वों की प्रवृत्ति ने कि वे बुर्जुआ वर्ग के कुछ भागों को मजदूर वर्ग में धकेल देंगे और अन्य भागों को अपने हित उनके साथ मिला देंगे, उतने शक्तिशाली रूप से काम नहीं किया है, जितना कि मार्क्स ने सकेत किया है। यदि बुर्जुआ वर्ग के कुछ भागों में यह प्रवृत्ति रही होती, तो अन्य भागों में भी प्रतिसंतुलन वाली गतिविधियाँ हुई होतीं। उदाहरण के लिए स्वतंत्र सर्विस स्टेशनों तथा छोटे पैमाने के गैरेजों के एक बड़े वर्ग के स्वामियों तथा स्टोर-शृंखलाओं और सुपर बाजारों ने बहुत से छोटे पैमाने के स्वतंत्र बुर्जुआ व्यापारियों को वेतनभोगी कर्मचारी बना दिया होता। यद्यपि प्रतिद्वंद्विता तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने

के लाभों के परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में आर्थिक नियंत्रण सिमट कर कुछ लोगों के हाथों में पहुँचता जा रहा है, तथापि आधुनिक कंपनियों की सिक्योरिटियों, बीमा-व्यवसाय के विकास, बदलती तकनीकों तथा नई-नई वस्तुओं ने स्वामित्व का विस्तार किया है और नए 'छोटे-छोटे बुर्जुआ' लोग पैदा किए हैं, जिसकी केंद्रीय बुर्जुआ हितों वाले लोगों के प्रपति कम दृढ़ता से निष्ठा नहीं रही है।

इस बात का तो प्रश्न ही नहीं है कि सैद्धांतिक विश्लेषण की अशुद्धताओं तथा अपर्याप्तताओं के कारण मार्क्स पूँजीवादी उत्पादन के परिणामों के संबंध में कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे हैं कि जिनका सैद्धांतिक आधार एक बार भ्रामक सिद्ध होने पर वे सैद्धांतिक समर्थन रहित लगते हैं और मार्क्सोत्तर पूँजीवादी संसार के अनुभव आश्रित तथ्यों से सिद्ध नहीं होते। पूँजीवाद में ऐसे तत्त्वों की अनिवार्यता मानना जो अंततः उसे नष्ट कर देंगी, एक सैद्धांतिक अनिवार्यता मात्र है। सामाजिक विज्ञानों में आधार-सामग्री का निष्कर्षात्मक अध्ययन मार्क्स के जमाने में पूर्णतः विकसित हुआ ही नहीं था और आज भी उसका विकास सर्वथा अपर्याप्त है, जो व्यापक तौर पर किसी ऐसे लंबे-चौड़े सिद्धांत का, जैसा मार्क्स का सिद्धांत है, समर्थन या खंडन करने की स्थिति में नहीं है। मार्क्स ने आर्थिक विश्व की तथ्यात्मक सामग्री के बड़े पैमाने पर उद्धरण दिए हैं। किंतु, ये सारे अवतरण वस्तुतः उदाहरण मात्र हैं न कि उनके सिद्धांत-कथनों के निष्कर्षात्मक समर्थक तथ्य और इनमें से कोई भी सामग्री ऐसी नहीं है, जो आधुनिक सांख्यकीय कसौटी पर खरी उतरे।

मार्क्स की भविष्यवाणियों में सत्यता का अर्थ

इन सब के बाद भी हम मार्क्स के निष्कर्षों तथा भविष्यवाणियों को एक सपाटे में अपर्याप्त तथा अशुद्ध सैद्धांतिक आधार पर बनी रचना कह कर खत्म नहीं कर सकते। हम इस बात की संभावना का विश्लेषण कर ही चुके हैं कि पूँजीवादी समाज में अनर्जित आयों का होना स्वाभाविक है और यह संभव है कि सार रूप में में ये आएँ न कि इनका सैद्धांतिक स्रोत, मार्क्स के 'बेशी मूल्य' के समान हो सकता है।

इसी प्रकार, यह भी स्पष्ट है कि मार्क्स ने अपनी सैद्धांतिक तर्क-शृंखला से पूँजीवाद के जो अनेक परिणाम बताए हैं, वे हमारी पूँजीवादी प्रणाली में लगातार व्याप्त हैं। जब से पूँजीवाद में पर्याप्त परिपक्वता आई है, उन्नत शिल्प-विधिजन्य बेकारी फैलाती ही रही है और उसे विशुद्ध सैद्धांतिक आधार पर टाल देना मूर्खता मात्र होगी।

धारक कंपनी तथा इसी प्रकार की अन्य विधियों के कारण उद्योग से होने वाले लाभों की हिस्सेदारी की दृष्टि से उद्योग 'स्वामित्व' की अपेक्षा, उसका 'नियंत्रण'

अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। यह तो एक सर्वमान्य बात बन गई है कि उद्योगों का नियंत्रण हर दशक के बाद थोड़े से थोड़े लोगों के हाथों में सिमट कर जमा होता गया है। कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों में तो यह नियंत्रण एकाधिकार की स्थिति तक पहुँच गया है और जो लोग उधार देने वाले अभिकरणों का नियंत्रण करने वाले हैं, वे ही बहुत से आधारभूत निर्णय करने वाले होते हैं।

जब तक हम देखें कि उत्पादन-विधियों तथा उपकरणों में जो जबर्दस्त तकनीकी प्रगति हुई है, तो इसके देखते हुए बहुसंख्यक श्रमिकों का वेतन बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ा है। यद्यपि यह सच है कि अत्युत्पादन—अर्थात् जितना माल उसे बनाने की लागत पर बिक सकता है, उससे अधिक माल का उत्पादन व्यावसायिक संकटों तथा मंदियों का एकमात्र कारणभूत तत्त्व नहीं होता है, फिर भी एक सम्मानीय गवेषण संस्था के अध्ययन से पता चलता है कि कभी-कभी ऐसा हो सकता है और हमने देखा है कि ऐसा होता भी है कि उपयोग्य वस्तुओं की माँग इतनी अपर्याप्त हो कि इन वस्तुओं के उत्पादन की हमारी जितनी क्षमता है, उतनी पूरी क्षमता के साथ हुए उत्पादन को खपा ही नहीं सके। भले ही वास्तविक उत्पादन इन वस्तुओं की वर्त्तमान माँग के ही अनुसार घटा-बढ़ा लिया जाए, फिर भी वर्त्तमान 'माँग' की तुलना में उत्पादन-क्षमता तो अधिक विद्यमान होगी।"[1] एक सामान्य अध्ययन से प्रकट है कि शुरू में अत्युत्पादन की यह बीमारी किसी एक उद्योग या उद्योगों के वर्गों में होती है, वही बाद में हमारी समूची अर्थ-व्यवस्था में फैल जाती है। हाल के दशकों में सरकार ने अनेक कृषि फसलों पर जो पाबंदियाँ लगाई हैं, उनसे भले ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था सामान्य अत्युत्पादन की सैद्धांतिक अनिवार्यता प्रकट न होती हो, लेकिन इससे यह तो अवश्य प्रकट होता है कि कभी-कभी यह इतनी बड़ी समस्या बन जाती है कि सरकार को इसकी तरफ पूरा-पूरा ध्यान देना पड़ता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत की दुविधा

हम पुनः उसी प्रश्न पर लौट आते हैं—मार्क्स के मूल्य मजदूरी तथा वेशी-मूल्यविषयक सिद्धांत कहाँ तक ठीक हैं और मार्क्स ने उनसे जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे कहाँ तक उचित हैं? यह ऐसा प्रश्न बन जाता है कि उसका उत्तर दिया जाना अत्यधिक कठिन है। मार्क्स की तर्क-शृंखला का सैद्धांतिक औचित्य तथा सुसंगतता

---

[1] ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूशन। दि डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम इन रिलेशन टु इकोनॉमिक प्रोग्रेस (आर्थिक प्रगति के अनुरूप आय का वितरण) वाशिंगटन डी० सी० १९३६, पाठ्य-पुस्तक संस्करण, भाग ४; इनकम ऐंड इकोनॉमिक प्रोग्रेस (आय और आर्थिक प्रगति), पृष्ठ ६३-६४।

इतनी गड़बड़ है कि उसकी हिमायत नहीं की जा सकती। मार्क्स की विचारधारा के सैद्धांतिक भाग की गलतियाँ इतनी गंभीर तथा इतनी आधारभूत हैं कि उनको व्याख्या द्वारा अथवा मार्क्स का आधुनिकीकरण करके ठीक नहीं किया जा सकता, लेकिन इसके साथ ही उनको फालतू भी नहीं समझा जा सकता।

लेकिन, इससे मार्क्सवादी सिद्धांत का मूल्य नष्ट नहीं हो जाता। हम यह देख ही चुके हैं कि इससे सैद्धांतिक विश्लेषण द्वारा मार्क्स ने किसी-न-किसी प्रकार से पूँजीवाद के उन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जो इस प्रणाली के हिमायतियों के लिए सबसे बड़े सिर-दर्द हैं। जैसे औद्योगिक नियंत्रण सिमट कर थोड़े-से-थोड़े लोगों के हाथों में होते जाना, एकाधिकार, अत्युत्पादन, शिल्पविधिजन्य बेरोजगारी, व्यवसाय-चक्र और मंदियों का आना तथा बहुसंख्यक श्रनिकों की अपेक्षाकृत कम आय होना। यह समस्या बड़ी ही उलझनपूर्ण है कि मार्क्स अपुष्ट सैद्धांतिक विश्लेषण से किस प्रकार सही अथवा नवीन उद्भावनापूर्ण निष्कर्ष निकाल सके? मार्क्स के उन अगणित अध्येताओं के लिए यह एक बड़ी भारी दुविधा बनी हुई है, जिन्होंने उनकी सैद्धांतिक तर्क-प्रणाली को तो पूर्ण तथा असंतोषजनक पाया है, लेकिन जो यह अनुभव करते हैं कि इन सिद्धांतों से कम से कम कभी-कभी, पूँजीवादी प्रणाली में काम करने वाली प्रक्रियाओं को मार्क्सवादी धारणाओं को पूर्णतः नहीं, तो अंशतः अपना कर अधिक पूर्णता से समझा जा सकता है।

मार्क्सवादी दर्शन और इतिहास की व्याख्या

दर्शन की कसौटी

एक तरह से कहें, तो एक व्यक्ति के दर्शन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसको न तो अनुभवजन्य परीक्षाओं से परखा जा सकता है और न वाह्य जगत के साथ उसके तर्कसंगत रूप से सुसंगत होने की कसौटी द्वारा। यह दर्शन तो उस व्यक्ति, उसके दृष्टिकोण, संस्था को समझने की उसकी धारणा, उसकी मूलभूत मान्यताओं तथा उसकी रुचि-अरुचियों का अंग होता है। यह तो मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की वाह्य प्रेरणाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं की समग्रता से उसमें आती है।

केवल एक ही कसौटी ऐसी है, जो एक व्यक्ति के दर्शन पर लागू की जा सकती है। उसके अनुसार यह देखना होता है कि अन्य दर्शनों के साथ उसके संपर्क कितनी व्यापकता तथा गहनता के साथ रहे हैं तथा उसके अपने दर्शन के निरूपण में प्रयुक्त वस्तुगत तत्त्वों का अध्ययन करना होता है। इस दृष्टि से एक व्यक्ति का दर्शन उसकी अपनी सृष्टि बन जाती है; क्योंकि या तो वह समझ-बूझ कर चैतन्य रूप में

संसार के दर्शनों तथा वस्तुगत तथ्यों के साथ व्यापक एवं खुले संपर्क में रख सकता है अथवा वह स्वयं को अपने ही घेरे में बंद कर लेता है और उसके अँधेरे में अपने दर्शन का सृजन करता रहता है।

यह कसौटी और मार्क्स का दर्शन

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बाद की स्थितियों में निरूपित दर्शन संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। इनमें वह तत्त्व नहीं होता, जिनसे पर्याप्त दर्शनों का निर्माण होता है और वह तत्त्व होता है अन्य लोगों के विचारों तथा यथा-रूप में संसार के साथ संपर्क। उस दृष्टि से मार्क्स के दर्शन की कोई भी आलोचना नहीं की जा सकती। मार्क्स ने अपने जीवन के आरंभिक काल में विभिन्न दर्शनों का गहराई के साथ अध्ययन किया था। उनके समक्ष जो विरोधी दार्शनिक विचार-धाराएँ आईं, उनके साथ वे अंतिम सीमा तक वस्तुतः जूझते रहे। अपने जमाने तथा अतीत काल की दार्शनिक विचारधाराओं का अत्यधिक सावधानी के साथ अध्ययन करने के पश्चात् ही, उन्होंने हीगेल के दर्शन के सार को स्वीकार किया था।

यद्यपि अपने जीवन के आरंभिक वर्षों में बाहरी संसार के साथ, उनके संपर्क थोड़े ही थे, लेकिन वह अपने छात्र-जीवन के बाद ही वास्तविक संसार के सर्वाधिक सक्रिय जीवन-संग्राम में कूद पड़े थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में किए गए उनके बहु-संख्यक प्रयासों, श्रमिक वर्गों के साथ उनके संपर्कों तथा ब्रिटिश-संग्रहालय में वर्षों तक किए अध्ययन के कारण, उन्हें उस संसार का जिसमें वह रह रहे थे, बहुत ही व्यापक तथा निकटतम ज्ञान हो गया था। यद्यपि उनका दर्शन एक दृष्टि से मुख्यतः उनके दार्शनिक अध्ययनों का परिणाम है, तथापि वह निश्चय ही उनके सांसारिक संपर्कों के फलस्वरूप सुपुष्ट एवं परिपक्व हुआ होगा। इन कसौटियों पर कस कर देखें, तो मार्क्स का मूलभूत दर्शन किसी भी आलोचना से परे प्रतीत होता है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मार्क्स ने अनिवार्य रूप से विश्व का एक मात्र चरम सत्य प्राप्त कर लिया था। उनका दर्शन सही है तथा अन्य सभी दर्शन गलत रहे हैं तथा हैं; यह कहना ठीक उसी प्रकार अर्थहीन है, जिस प्रकार बिना किसी मापदंड से मापे एकदम यह कहना कि सभी लंबे आदमी ठिगने आदमियों से अच्छे होते हैं अथवा काली आँखें भूरी आँखों से अच्छी होती हैं। उसकी अंतरंग श्रेष्ठता की दृष्टि से देखें, तो मार्क्स का दर्शन अन्य ऐसे किसी दर्शन से बेहतर नहीं हैं जिसका निरूपण समान रुप से निष्ठापूर्वक व्यापक एवं गहन रूप से विचारों एवं घटनाओं के साथ संपर्क रख कर किया गया हो। इसके विपरीत यह अन्य दर्शनों से बुरा भी हो सकता है; क्योंकि एक तरह से उसका निरूपण अन्य दर्शनों की तुलना में छिछले और कम खोजपूर्ण विचारों के आधार पर किया गया है। इस दृष्टि से देखें, तो

मार्क्स का दर्शन उचित रूप से ऐसा माना जा सकता है, जिसे चुनौती नहीं दी जा सकती और ऐसा दार्शनिक आरंभ-विंदु मान कर चला जा सकता है, जहाँ से कोई भी व्यक्ति जो इसे स्वीकार करता है, संसार में काम करने वाली शक्तियों को समझने का अपना प्रयास आरंभ कर सकता है।

इतिहास की व्याख्या की कसौटी

अन्य प्रश्न उस समय उलझते हैं, जबकि इस दर्शन का इतिहास की व्याख्या में प्रयोग किए जाने का मूल्यांकन करते हैं। एक व्यक्ति के दर्शन का उसकी प्रकृति के हिसाब से मूल्यांकन करना जरूरी न हो, लेकिन यह बात उस तरीके के बारे में नहीं कही जा सकती, जिससे वह उस दर्शन का प्रयोग करता है अथवा जिस दुनिया में वह रहता है, उसकी विशिष्ट घटनाओं की प्रकटतः वस्तुगत व्याख्या करने में प्रयोग करता है। यहाँ मूल्यांकन के मानदंड के रूप में अध्ययन, तर्क तथा सुसंगतता के कुछ नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है। दार्शनिक भाषा में सारतः यह मानना ठीक लग सकता है कि समस्त मानवीय गतिविधि स्वार्थ-भावना से प्रेरित होती है। सार-कथन की दृष्टि से इस दर्शन को ऊपर उल्लिखित उपयोगितावादी कसौटी पर न कसें, तो चुनौती नहीं दी सकती। लेकिन यदि इस दर्शन का मानने वाला हर व्यक्ति के काम को अपने लिए होने वाले अधिकतम आर्थिक लाभ की दृष्टि से प्रेरित कहने लगे, तो उसकी व्याख्या को चुनौती दी जा सकती है। इस हालत में, या तो स्वार्थ के कुछ ऐसे पहलू भी हैं, जो अर्थेत्तर हैं अथवा आर्थिक पहलू ही इतना सर्वव्यापी बना दिया गया है कि वह निरर्थक हो गया है। आधारभूत दर्शन को इस दृष्टि से लागू न किए जा सकने के कारण उसकी आलोचना की जा सकती है।

मलभूत दोष

वास्तव में अपने दर्शन का इस प्रकार प्रयोग करने के कारण ही मार्क्स की आलोचना की जाती है। उनकी मूलभूत दार्शनिक मान्यता यह है कि सभी वस्तुगत तत्त्व संसार में चल रहे पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष का संश्लिष्ट रूप होता है। इसे किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी जा सकती, जिसके कारण ऊपर बताए जा चुके हैं। लेकिन उनकी आलोचना उस समय की जा सकती है, जब वह, संसार में जो घटित हो चुका है या आगे घटित होने वाला है, उसकी विशिष्ट रूप से व्याख्या करने में इस दर्शन का प्रयोग करते हैं और आर्थिक पूर्व पक्ष एवं उत्तर पक्ष को छोड़कर अन्य सभी पूर्व पक्षों एवं उत्तर पक्षों की उपेक्षा कर जाते हैं अयवा आर्थिक पूर्व पक्ष एवं उत्तर पक्ष की ऐसी परिभाषा करते हैं कि उसमें अन्य कुछ संमिलित हो जाए। इस प्रकार उसे सीमित समरूप दर्शन बना कर निरर्थक कर देता है। उन्हें अपनी मूलभूत दार्शनिक मान्यताओं को अपनाने का पूरा अधिकार है; क्योंकि वे व्यापक तथा गहन

विचारों एवं अनुभवों से निरूपित की गई हैं, लेकिन इस 'दर्शन' का 'उपभोग' तर्क एवं सुसंगतता के सामान्य रूप से स्वीकृत नियमों का इस सीमा तक उल्लंघन करते हैं कि उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या की व्यावहारिक उपयोगिता में ही उचित रूप से शंका प्रकट की जा सकती है।

इस दिशा में आगे चलते हैं, तो हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि मार्क्सवादी सिद्धांत के कुछ आधुनिक समर्थक मार्क्स के दर्शन तथा उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या के बीच अंतर नहीं करते हैं। संकुचित पुरानपंथी ढंग के लोग मार्क्स की सारी बातों को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं और वे इस बात की जिद करते हैं कि या तो यह सब कुछ सच है या कुछ भी सच नहीं। उन्हें मार्क्स का मूलभूत दर्शन पर्याप्त लगता है और जब एक बार हम इस स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, तो उनका कहना है कि ऐतिहासिक घटनाओं की समस्त मार्क्सवादी व्याख्या तथा इस दर्शन का प्रयोग करके भावी घटनाओं के बारे में उन्होंने जो भविष्यवाणियाँ की हैं, सभी सविस्तर स्वीकार की जानी चाहिए। जी० डी० एच० कोल ने इस दृष्टिकोण को 'समाजवादी कठमुल्लों की अफीम' कहा है और इसके मानने वालों को ऐसे लोग कहा है, जो स्वयं को मानसिक निर्माण के कष्ट से बचाने के लिए मृत व्यक्तियों के दिमागों में रहना चाहते हैं।'[1]

इतिहास की आर्थिक व्याख्या का एकांगीपन

इस प्रकार यद्यपि मार्क्स की विचारधारा के अध्येताओं ने शायद ही कभी उनके मूलभूत दर्शन को चुनौती दी हो, लेकिन उन्होंने इस दर्शन का विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या के लिए जो उपयोग किया है, उसके वे बहुत भारी आलोचक हैं। यहाँ स्मरणीय है कि मार्क्स ने केवल आर्थिक पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष को संसार में काम करने वाली शक्तियाँ माना है। अन्य सभी तत्त्व तो आर्थिक तत्त्व से ही निकलते हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से तथा किसी कालखंड विशेष में 'उत्पादन-प्रणाली' की संज्ञा दी है। इसे इतिहास की एकांगी व्याख्या कहा जाता है; क्योंकि यह दावा किया जाता है कि मार्क्स ने बिना किसी उदाहरण के यह मान लिया था कि 'उत्पादन-पद्धति' ही समस्त सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं में विद्यमान रहती है और इस 'उत्पादन-पद्धति' में परिवर्तन होने पर सभी सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन आता है और वही इस परिवर्तन का मार्ग निर्धारित करती है। मार्क्स के आलोचकों ने स्पष्टता के साथ उन तत्त्वों का संकेत किया है, जिन्हें वे गैर-आर्थिक तत्त्व मानते हैं और ये ऐसे स्वतंत्र एवं मूल तत्त्व हैं, जो संमिलित रूप

---

[1] जी० डी० एच० कोल, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ ४२।

से सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के वर्त्तमान तथा भावी स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

प्रो० बौबर ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या की इस कमजोरी पर विस्तार से विचार किया है। वास्तव में उन्होंने तो अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि "ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का कार्य-कारण संबंध समझने में मार्क्स का सिद्धांत नपुंसक सिद्ध होता है और इसका कारण यही है कि उन्होंने इतिहास के बहुत से गैर-आर्थिक अभिकरणों को उपयुक्त महत्त्व नहीं दिया है।"[१] यद्यपि मार्क्स ने गैर-आर्थिक तत्त्वों का विद्यमान होना स्वीकार किया है, लेकिन "उनको उन्होंने आर्थिक भूमि से ही उद्धृत माना है और उनको नीचा महत्त्व दिया है जिनका काम उत्पादन-पद्धति की कार्य-प्रणाली में तेजी लाना, प्रगति रोकना या उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन लाना ही है।"[२] प्रो० बौबर का कहना है कि मार्क्स ने जिन तत्त्वों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा है, वे वास्तव में स्पष्ट रूप से अन्य तत्त्वों से गौण हैं। "भौगोलिक स्थितियाँ तथा मनुष्य, उसकी प्रतिभासंपन्नता तथा अन्य चीजें इतिहास के प्राथमिक तथा मूलभूत तत्त्व हैं। उत्पादन-पद्धति को इनके समकक्ष नहीं रखा जा सकता; क्योंकि यह तो अन्य तत्त्वों से निकली हुई चीज हैं।"[३]

प्रो० बौबर की आलोचना

प्रो० बौबर ने स्वीकार किया है कि मार्क्स भौगोलिक तत्त्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनका कहना है कि वह 'उसके आर्थिक प्रभाव के विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त ज़ोर नहीं देते, जबकि उसके गैर-आर्थिक प्रभावों की तरफ से तो सर्वथा आँख ही मूँद लेते हैं।' इस बात को प्रकट करने के लिए अनेक उदाहरण दिए गए हैं :—

"... कुछ भौगोलिक तत्त्वों के निश्चित रूप से मिल जाने पर एक सभ्यता स्थापित होने की संभावना पैदा होगी, जो व्यवसायों का, जीवन-निर्वाह के तरीकों तथा लोगों के हितों का मार्ग-निर्देशन करेगी, और इससे आर्थिक विकास की सुविधाएँ या बाधाएँ उपस्थित होंगी।....भौगोलिक स्थितियों के गैर-आर्थिक प्रभाव इतिहास के लिए कम महत्त्व के नहीं होते।....पहाड़ों से घिरी भूमियों में स्वतंत्रता-प्रिय तथा सुगठित शरीर के लोग होते हैं। ये पहाड़ जहाँ उन निवासियों की बाहर

---

[१] एम० एम० बौवर; कार्ल मार्क्संज इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२७, पृष्ठ २९०।

[२] वही, पृष्ठ २८९।

[३] वही, पृष्ठ ३००।

से आक्रमण करने वालों से रक्षा करते हैं, वहाँ उनको अकेला डाल देते हैं और शेष संसार के साथ उनके आगमन के द्वारा बंद रखते हैं।....इनके विपरीत पठारों पर बसे देश या अनेक नदियों वाले देशों को आवागमन तथा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और वहाँ के लोगों की समरूपता और एकता संभव बनती है।....वास्तव में इंगलैंड फ्रांस के समीप है और समुद्र में है, यह एक स्थिर तत्त्व है फिर भी लाल डोरी की भाँति उसके इतिहास में विद्यमान है।....यही नहीं, प्राकृतिक स्थितियाँ बदस्तूर नहीं रहतीं। प्राकृतिक साधन समाप्त हो जाते हैं और वैज्ञानिक गवेषणाओं के फलस्वरूप अब तक उपेक्षित तथा अप्रयुक्त संपदा प्रधान बन सकती है। ह्रासमान प्रतिफल प्राचीन देशों के लिए स्थायी समस्याएँ उपस्थित करती हैं और नवोदित देशों को अपने भविष्य के बारे में आशंकाएँ रहती हैं तथा वे उपयुक्त नीतियाँ अपनाते हैं।....कथ्य तो यही है कि उन्होंने (मार्क्स तथा एंगिल्स ने) उन आर्थिक प्रभावों की तरफ आश्चर्यजनक रूप से कम ध्यान दिया है, जो उत्पादन-पद्धति के परिणामों से सर्वथा भिन्न प्राकृतिक सीमाओं के फलस्वरूप पैदा होते हैं। चलते-चलते किए गए थोड़े से उल्लेख के अलावा, उन्होंने इन भौगोलिक स्थितियों से निकलने वाले और आर्थिक परिणामों की पूरी तरह उपेक्षा कर दी है।"[1]

जो विशेषताएँ मानव को पशुओं से भिन्न बनाती हैं, वे इतिहास के शक्तिशाली तत्त्व हैं।....उत्परिवर्तन या इसे जो भी कहा जाए, जिसने मानव प्राणी को काम करने के लिए बेहतर मस्तिष्क दिया, इतिहास तथा मानवता के विश्लेषण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व की बात है।....विचार बहुत-कुछ ऐसी प्रक्रिया से संचित होते हैं, जिसे प्रजा ही अपना सकती है, जो पशुओं में नहीं होती। पहले संचित इन विचारों में से भी बहुत से विचारों का जन्म होता है। विचारों का एक समुच्चय ही वाह्य तथ्यों के बीच में आए बिना ही नए विचारों को पैदा करता है।....यह प्रज्ञा निकाल दीजिए, प्रकृति मनुष्य को भी उसी प्रकार दासता की जंजीरों में जकड़ देगी, जिस प्रकार वह पशुओं को जकड़ रखती है और तब उत्पादन-पद्धति मनुष्यों को इतिहास बनाने में उतनी

---

[1] यह तथा इससे आगे के पैराग्राफ एम० एम० बौंबर की 'कार्ल मार्क्सज इंटरप्रिटेशन' नामक पुस्तक से पुनर्मुद्रित किए गए हैं। यह पुस्तक कैंब्रिज, मेसाचूसेट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से छपी है, जिसका कापीराइट, १९२७, सन् १९४८ प्रथम संस्करण हार्वर्ड कॉलेज के अध्यक्ष तथा फेलोज के पास है। पृष्ठ २९२-२९७।

ही सहायता कर पाएगी जिस प्रकार पशुओं से प्रचलित उत्पादन-पद्धति उनकी सहायता कर पाती है।····सामाजिक प्रक्रियाओं में बहुत-सी अन्य विभेदक विशेषताएँ तथा प्रकृतियाँ सर्वोपरि महत्त्व की होती हैं, जो इतिहास तथा संस्कृति का अंग बनती हैं। अनुकरण, प्रतिस्पर्द्धा, प्रेरणात्मकता, सहानुभूति तथा समस्त प्रकार की भावनाओं और इच्छाओं पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाना चाहिए।[1]

आधारभूत तत्त्वों, मानव और प्रकृति से निःसृत होने वाले विभिन्न तत्त्वों में जो इतिहास की दिशा का प्रमुख रूप से संचालन करते हैं, उनमें धर्म और विज्ञान ऐसे हैं, जिनकी तरफ सामान्य दृष्टिपात से भी ध्यान जाना चाहिए।····यद्यपि उन्होंने (मार्क्स तथा एंगिल्स ने) आर्थिक जमीन से धर्म का दूर होना और उसका स्वतंत्र रूप से उद्भूत होना, स्वीकार किया है, तथापि उन्होंने इतिहास के माध्यम से उसकी समृद्धि को केवल आर्थिक मायाजाल की छाया समझा है और सभ्यता के स्वरूप-निर्माण में मामूली-सी भूमिका अदा करने वाला तत्त्व माना है। इस बात में वे गलत थे। धर्म के आदि उद्गम के विषय में सचाई चाहे जो हो····धर्म अधिकांश लोगों के निजी जीवन में एक शक्तिशाली तत्त्व होता है।····ये अप्रत्यक्ष ऐतिहासिक उल्लेख (बहुत से उदाहरणों के पश्चात्) यह सिद्ध नहीं करते, जैसाकि मार्क्स सिद्ध करना चाहते थे कि, धर्म केवल ऐसा नौकर है जो अपने आर्थिक स्वामियों के आदेशों का पालन करता है। इनसे तो उलटे यह बात ही प्रकट होती है कि धर्म एक शक्तिशाली धारा है, जो अकेले ही अथवा आर्थिक और अन्य धाराओं से मिल कर जबर्दस्त परिणाम प्रकट करती है। यह एक ऐसी शक्ति है, जो अब आर्थिक तथा अन्य शक्तियों को कभी बढ़ाती, अथवा क्षीण करती है तथा कभी डुबाती अथवा उनका मार्ग बदल देती है।[2]

वे (मार्क्स तथा एंगिल्स) यह तो स्वीकार करते हैं कि धर्म का स्वतंत्र रूप से अभ्युदय हुआ है, किंतु वे यह स्वीकार नहीं करते कि इतिहास की दिशा पर उसका कोई आधारभूत प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक विज्ञान का संबंध है, उसके उच्चतम महत्त्व से वे वाकिफ थे लेकिन उसका स्वतंत्र अस्तित्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। उनकी दृष्टि से विज्ञान उत्पादन-प्रणालियों का ही अनुचर है। वह तो उत्पादन का शिशु तथा उसकी दासी दोनों है और इससे अधिक कुछ नहीं। इसमें वे अंशतः गलती पर हैं।····जिन उदाहरणों द्वारा यह दिखाया गया है कि विज्ञान आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही बढ़ा-पनपा है, उनके जवाब में ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं,

---

[1] वही, पृष्ठ २९७ ३००।

[2] वही, पृष्ठ ३००-३०३।

जो गैर-आर्थिक आवश्यकताओं के परिणाम हैं। संभवतः विज्ञान का उद्भव अनेक कारणों से हुआ जैसे आर्थिक आवश्यकताएँ, भौगोलिक स्थितियाँ धार्मिक प्रेरणाएँ, आविष्कारिणी प्रतिभा, जिज्ञासा तथा संयोग ।....वैज्ञानिक गवेषण की अनेक शाखाएँ ऐसी हैं, जो विशेष रूप से अथवा अधिकांश रूप से मानव के भौतिक कल्याण—जैसे जीवन-काल लंबा करने, रोगों का उन्मूलन करने, स्वास्थ्य-सुधार करने तथा जनता के अंदर श्रेष्ठता लाने से संबंधित हैं। अनेक विज्ञान ऐसे साधनों की खोज में लगे हैं, जिनसे मानव तथा मानव के बीच संबंध अच्छे हों, जिनका उद्देश्य पदार्थों, संस्थाओं तथा विश्व के बारे में उनका मानसिक विस्तार हो सके।....यही नहीं, इसका आरंभ जैसे हुआ हो, एक बार विज्ञान की शुरुआत हो जाने के पश्चात् यह विकास करता है और अधिकांशतः स्वेच्छा से बढ़ता है। यह अपनी ही समस्याएँ, रुचियाँ तथा प्रोत्साहन पैदा करता है।....यह कहना भी ठीक नहीं है कि वैज्ञानिक जब गवेषण-कार्य में श्रम करना आरंभ करता है, उसका एकमात्र ध्येय आर्थिक प्रतिफल तत्काल पाने का उपयोगितावादी दृष्टिकोण नहीं होता है।... मानव विज्ञानवेत्ता तथा पुरातत्त्ववेत्ता, भाषा-विज्ञानविद् आधुनिक खगोलशास्त्रियों को अपने काम में उत्पादन की समस्याओं से कोई प्रेरणा नहीं मिलती है, वरन् मानवीय समस्याओं तथा मानवीय रुचियों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। जब ऐसा है, तो यह स्पष्ट नहीं होता कि हम क्यों इस बात पर जिद करें कि भौतिक विज्ञानवेत्ताओं, रसायन-शास्त्रियों तथा गणितज्ञों को आर्थिक प्रेरणा आवश्यक होती है। क्या ये वैज्ञानिक किसी अन्य जाति के होते हैं? उपयोगितावादी उद्देश्य तथा आर्थिक हित वैज्ञानिक विकास के कारण अवश्य होते हैं लेकिन अन्य उद्देश्य तथा अन्य हित भी इसमें अपनी भूमिका अदा करते हैं और काफी हद तक करते हैं।....मार्क्स की इस मान्यता के लिए कोई औचित्य नहीं है कि यद्यपि यह एक ऐसी जबर्दस्त शक्ति होती है, जो सामाजिक विकास के भविष्य की रचना करती है, तथापि विज्ञान उत्पादन-पद्धति का अनुचर मात्र है।[1]

प्रगति के विषय में किया गया ऐसा कोई भी विचार-विमर्श पर्याप्त नहीं है, जो उसके कारणों में से कुछ कारण मानव की प्रकृति के रूप में नहीं पाता ।....कुल मिला कर देखें; तो मानवों में सुधार करने की तथा जो है, उसे बढ़ाने की अनवरत् इच्छा होती है।....आगे कदम बढ़ाने के लिए आंतरिक उत्कंठा होती है ।....इस उत्कंठा से उल्लेखनीय छलांगें तो नहीं लगायी जातीं, बल्कि इससे लगातार, धीरे-धीरे, अदृश्य और कभी-कभी महत्त्वहीन परिवर्तन तथा फेर-बदल होते रहते हैं।

---

[1] वही, पृष्ठ ३०४-३०८।

प्रत्येक परिवर्त्तन एक बूँद के समान होता है और बूँद-बूँद से ही सागर भरता है। मानव की प्रकृति ऐसी ही है। वह चाहे आत्महित हो, आर्थिक या गैर-आर्थिक बातें हों जो यहाँ काम करती हों, लेकिन वही सब कुछ नहीं होता। अनुकरण, प्रतिस्पर्द्धा, सहानुभूति, मान्यता पाने की इच्छा तथा अन्य विशिष्टताएँ निश्चित रूप से अपना काम करती हैं।....उन बहुसंख्यक लोगों में से जो बदल सकते हैं और स्थितियों में सुधार कर सकते हैं; कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो गभीर तथा महत्त्वपूर्ण प्रगति करने की परिकल्पना कर सकते हैं। ये ही आविष्कर्त्ता होते हैं।....अक्सर आविष्कर्त्ता को ही पहले आवश्यकता खोजती होती है और उसे पूरा करने का तरीका निकालना होता है तथा आवश्यकता एवं उसके हल के प्रति लोगों की आँखें खोलनी होती हैं।....आविष्कर्त्ता अनुभवों तथा विचारों का नए सिरे से वर्गीकरण करता है और उनको भिन्न दृष्टि से देखता है। इस तरह का काम विशिष्ट मानसिक क्षमताओं से अपना स्रोत तथा शक्ति प्राप्त करता है।....परिस्थितियों में उसके संकेत तथा इंगित मिल सकते हैं—हुआ भी करते हैं—लेकिन प्रत्येक व्यक्ति उन संकेतों को समझ नहीं पाता और बहुत ही थोड़े लोग होते हैं, जो उनको नई खोजों तथा आविष्कारों में परिणत कर देते हैं। ये सफलता प्रेरणाओं को पाते ही अपने-आप तथा यंत्रवत् बढ़ कर काम करने की बातें नहीं होतीं....इनके लिए मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का गुण होना अत्यावश्यक है।....जो बात कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में सच है, वह अन्य क्षेत्रों में भी उतना ही सच है। उदाहरण के लिए राजनेता, सुधारक अथवा सामाजिक प्रश्नों के विचारकों को अदृश्य सामाजिक व्यक्तियों की संभावनाओं की गहन अंतर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है और वे यह सोच सकते हैं कि परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है तथा उसके लिए भूमि तैयार हो।....इतिहास किसी एक तानाशाही परिस्थितियों के मूक अभिकर्त्ताओं की यंत्रवत् तथा अपने-आप होने वाली प्रतिक्रियाओं का संकलन मात्र तो नहीं है। यह तो समझदारी वाले बहुसंख्यक लोगों की प्रतिक्रियाओं का समुच्चयन है और उनमें से कुछ लोगों की प्रतिक्रियाएँ भी शामिल हैं।....इतिहास साहसपूर्ण विशिष्ट छलांगों से नहीं बनता, वरन् छोटी-छोटी वृद्धियों के कष्टसाध्य संचयन से बनता है, जिनमें छोटे-छोटे आविष्कारकर्त्ताओं की लंबी श्रृंखला सहयोग किए होती है।[1]

सभ्यता की मुख्य शक्तियाँ क्या हैं, यह बताना एक जटिल तथा एक कठिन विषय है एवं इस अथवा उस तत्त्व के विषय में विमर्श करने से हमें कुछ झलकियों से अधिक कुछ नहीं मिलता।....भौगोलिक परिस्थितियाँ, मानव-प्रकृति की प्रधान

---

[1] वही, पृष्ठ ३०९-३१८।

विशेषताएँ आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्तियाँ, संस्थाएँ और दृष्टिकोण में सभी परस्पर बहुत मिले-जुले होते हैं। इतिहास को ढालने, परिवर्तन लाने की बाध्यताओं और प्रगति लाने में एक दूसरे को काटते हुए चलते हैं। सरसरे रूप में किए गए इस सर्वेक्षण से ही यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने इस समस्या को कितने हलके ढंग से देखा है और उनके सिद्धांत की एक अनुभवजन्य कसौटी पर कस कर इतिहास के सामान्य तथ्यों पर दृष्टि डालते हैं। यह बात सिद्ध हो जाती है कि उनकी व्याख्या वास्तव में व्याख्या नहीं कर पाती। उत्पादन-पद्धति को एक-मात्र तथा सर्वोच्च तत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता जो सामाजिक अवस्थाओं को समझने की एकमात्र कुंजी है। अन्य शक्तियाँ, जिनमें से कुछ पूर्ण रूप से तथा कुछ आंशिक रूप से उत्पादन से स्वतंत्र हैं, मानव-इतिहास पर प्रभाव डालती हैं। मार्क्स ने इन शक्तियों को पर्याप्त मान्यता नहीं दी है और इनका समुचित विश्लेषण नहीं किया है। कुछ शक्तियों पर अपूर्ण रूप से विचार किया गया है तथा कुछ शक्तियों पर पर्याप्त रूप से जोर नहीं दिया गया है और कुछ की तरफ से तो एकदम ही चुप्पी साध ली गई है।[1]

मार्क्स के इतिहासविषयक सिद्धांत का योगदान

यदि हम यह भी मान लें कि मार्क्स का इतिहासविषयक सिद्धांत तथा उसके आधार पर की गई भविष्यवाणियाँ, प्रक्रियाओं तथा समाज की संस्थाओं का स्वरूप-निर्धारण करने वाली वास्तविक शक्तियों का अत्यधिक साधारण किया हुआ एकांगी वर्णन है, तो भी इसने मानव-विचार-सरणि तथा ज्ञान में पर्याप्त योगदान दिया है। इसने कुछ उन अन्य असंतुलित सिद्धांतों की अपेक्षा इतिहास की अधिक वास्तविकतापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है, जो इसके पहले प्रचलित थे अथवा बाद में प्रकाश में आए। उदाहरण के लिए यह, इतिहास के 'महान व्यक्ति' सिद्धांत से व्यापकता तथा दृष्टि की गहराई के हिसाब से अतुलनीय रूप से श्रेष्ठ है, जो यह प्रतिपादित करता है कि एक संस्था एक व्यक्ति की ही लंबी होने वाली परछाई होती है। इसने इतिहास की निरंतरता पर जोर दिया है और समस्त ऐतिहासिक घटनाओं के कारण खोज कर इसने इतिहासविषयक इस धारणा को चुनौती दी है कि इतिहास अस्त-व्यस्त रूप से अथवा आकस्मिक रूप से घटने वाली घटनाओं का संग्रह मात्र है। इसने मानवीय संस्थाओं, प्रक्रियाओं तथा विचारों की गतिशील प्रकृति पर जोर दिया है यद्यपि ठीक-ठीक तौर पर यह निर्णय करना तो वास्तव में असंभव है कि आजकल इतिहासकार इतिहास की घटनाओं में आर्थिक कार्य-कारण की खोज

---

[1] वही, पृष्ठ ३१८-३१९।

में जो अधिकाधिक दिलचस्पी लेते हैं, उसमें मार्क्स की रचनाओं का कितना प्रभाव है। किंतु, निस्संदेह रूप से यह तो माना जाता है कि मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की व्याख्या ने इस प्रवृत्ति को जन्म देने में काफी हाथ बँटाया है। मार्क्स को इस बात का तो श्रेय नहीं दिया जा सकता कि उन्होंने सामाजिक संस्थाओं का विचार प्रस्तुत किया है, किंतु उन्होंने इसका अपने चिंतन में इतने कारगर ढंग से प्रयोग किया है कि जिससे अन्य अनेक लोगों को उसका अनुकरण करने की प्रेरणा मिली है। उन्होंने यह दिखला दिया है कि यदि खोज की जाए, तो इतिहास का जितना व्यापक एकात्मक सिद्धांत प्रस्तुत किया जा सकता है—कम-से-कम इन रूपों, मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने जिस जगत में हम रहते हैं, उसके आर्थिक उद्गम स्थानों को समझने में, उस जगत के आर्थिक तथा अन्य पहलुओं के बीच विद्यमान संबंधों की घनिष्टता जानने तथा इतिहास प्रक्रियाओं की प्रकृति जानने में योगदान किया है।

क्रांतिकारी मजदूर-संगठन का आधार

मार्क्स तथा मार्क्स-उत्तर समाजवाद

मार्क्स की मूल्य, मजदूरी तथा बेशी मूल्य-संबंधी सिद्धांत बुनियादी तौर पर दोषपूर्ण सिद्ध किए जा सकते हैं, फिर भी अनेक प्रकार के संशोधित तथा व्याख्यात्मक रूपों में ये सिद्धांत जीवित रहे हैं। यदि मार्क्स का इतिहासविषयक सिद्धांत इतना आर्थिक असंतुलित था कि वह उतना प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ, जितना मार्क्स चाहते थे, तथापि अनेक व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि यह इतिहास की सर्वाधिक उपयुक्त सुलभ व्याख्या उपस्थित करता है। इन दोनों ही क्षेत्रों में सिद्धांतों के दोषों तथा अपर्याप्तताओं के बावजूद मार्क्स के बाद भी उसका प्रभाव रहा है, जिसने संसार के करोड़ों लोगों की विचार-पद्धति को प्रभावित किया है तथा अधिकांश आधुनिक संसार के आर्थिक तथा राजनीतिक तंत्रों पर असर डाला है। लेकिन, अपने जीवन-काल में मार्क्स जिस क्षेत्र में सबसे कम कारगर रहे लगते हैं, उसी क्षेत्र में उनका योगदान सबसे ठोस रहा है। वह तथा उनके सहयोगी एंगिल्स ने निस्संदेह समस्त संगठित सर्वहारा क्रांतिकारी गतिविधि का आधार प्रस्तुत किया है और यह गतिविधि इन लोगों की रचनाओं के वाद से ही आरंभ हुई है।

मार्क्स के पहले भी एक प्रकार की समाजवादी विचारधारा थी तथा गतिविधि थी, जिसने अपने जमाने के संसार में तथा समाजवाद एवं साम्यवाद के आधुनिक आंदोलनों की स्थापना में अपनी भूमिका अदा की थी। लेकिन, वह आधुनिक संसार की वास्तविकताओं का सामना करने के उपयुक्त न थी। उस विचारधारा वाले

को आशा थी कि वे एक नई व्यवस्था स्थापित कर सकेंगे और इसके लिए विद्यमान संसार को बदलने की आवश्यकता नहीं थी। इसके अनुसार लोगों को जिस दुनिया में वे रहते थे, उससे निकाल कर एक नई दुनिया में बसा दिया जाता था, जिसमें वे एक दुनिया से दूसरी दुनिया में परिवर्तनकालीन कठोर लोगों का अनुभव किए बिना ही पहुँचा जाए।

मार्क्स के अभ्युदय के बाद इस आदर्शवादी समाजवाद का लोगों के दिमागों पर से प्रभाव जाता रहा और उसका स्थान उस समाजवाद ने ले लिया, जिसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' और संभवतः बेहतर शब्दों में कहें, तो 'वास्तविकतापूर्ण समाजवाद' कहा जाता है। मार्क्सोत्तर समाजवाद ने मार्क्स की यह मान्यता स्वीकार कर ली कि यदि समाजवाद और अंततः पूर्ण समाजवाद स्थापित होना है, तो मजदूर वर्ग को संसार की वास्तविक स्थितियों से जूझना होगा। नए समाजवाद की व्यवस्था के लिए कोई सीधा राजपथ नहीं बना हुआ है। उसके अंतर्विरोध ही पूँजीवाद को एक आर्थिक संगठन के रूप में नष्ट कर देंगे और बुर्जुआ 'प्रजातंत्र' का भी उसके साथ पतन हो जाएगा। सर्वहारा वर्ग को इन वास्तविकताओं का सामना करना ही होगा और स्वयं को संगठित करना होगा तथा अन्य रूपों से स्वयं को, पूँजीवाद के पतन के समय आर्थिक तथा राजनीतिक बागडोर अपने हाथ में लेने के लिए तैयार रहना होगा। जब यह किया जाएगा, तभी अराजकता को बचाया जा सकेगा। इस प्रकार संगठन सर्वहारा वर्ग का केंद्रीय आवश्यकता बन गया।

इंटरनेशनल

पिछली शताब्दी में श्रमिकों के अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी तथा साम्यवादी संगठन का इतिहास उस कार्रवाई का इतिहास है, जिसकी नींव मार्क्स के सिद्धांतों ने रखी थी। इन संस्थाओं के मध्य विद्यमान मतभेदों, इनके बहुविध आंतरिक झगड़ों तथा असफलताओं के बाद भी, ये जीवित रही हैं और मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार काम करती रही हैं। जिन क्रांतिकारी संस्थाओं के साथ उनका व्यक्तिगत रूप से संबंध था, उनकी प्रकट असफलताओं के पश्चात् भी मार्क्स अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन की नींव डालने के अपने सर्वोच्च उद्देश्य में सफल रहे थे। अब हम आज के इन समाजवादी तथा साम्यवादी आंदोलनों के कार्यक्रम पर विचार करेंगे।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. किसी भी चीज के मूल्यांकन से पहले उसके लिए कसौटियाँ निर्धारित होनी चाहिए। मार्क्सवादी सिद्धांत के लिए आपके विचार से क्या कसौटियाँ होनी चाहिए ?

२. मार्क्स के मूल्यविषयक सिद्धांत की मुख्य कमियाँ क्या हैं ? इनका उनके 'बेशी मूल्य' सिद्धांत पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

३. क्या वही कमी उनके मजदूरीविषयक सिद्धांत में भी देखने में आती है ?

४. मार्क्स के लिए लगातार यह मानना क्यों आवश्यक रहा है कि मजदूरी या तो 'लोचशील' होती है अथवा वे 'लोचरहित' (स्थिर) होती हैं ? उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया ?

५. मार्क्स ने मजदूरी के संबंध में अपना जो 'जीवन-निर्वाह-सिद्धांत' प्रतिपादित किया है, उसमें क्या-क्या असंगतियाँ देखने में आती हैं?

६. मार्क्स के मजदूरीविषयक सिद्धांत में पाई जाने वाली गलतियों का उनके बेशी मूल्य सिद्धांत पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

७. मार्क्स के बेशी मूल्य सिद्धांत के समर्थन में प्रस्तुत सैद्धांतिक आधार दोषपूर्ण हैं, क्या यह सिद्ध हो जाने से उनकी यह मान्यता भी खंडित हो जाती है कि पूँजीवाद में पूँजीवादी मालिक श्रमिकों का शोषण करते हैं ?

८. यदि बेशी मूल्य सिद्धांत को ठुकरा दिया जाए, लेकिन यह स्वीकार किया जाए कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कुछ शोषण होता है, तब क्या पूँजीवाद को समाप्त किए बिना इस शोषण को समाप्त किया जा सकता है ? अपने उत्तर की मार्क्स के उस विश्लेषण से तुलना कीजिए, जिसमें उन्होंने पूँजीवादी प्रणाली से अधिशेष मूल्य समाप्त करने की संभावना पर विचार किया है ।

९. पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत कुछ घटनाएँ घटित होने के बारे में विशिष्ट भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हुई हैं ?

१० मार्क्स के मूलभूत दार्शनिक सिद्धांतों का मूल्यांकन करना केवल कठिन है अथवा व्यवहारतः असंभव ? क्या इसका अर्थ यह है कि हम मार्क्सवादी दर्शन को स्वीकार कर लें ?

११. किस दृष्टि से मार्क्स के इतिहासविषयक सिद्धांत को एकांगी कहा जा सकता है? क्या यह कहने का अर्थ यह है कि उसका कोई मूल्य नहीं ?

१२. क्या मार्क्स के सिद्धांतों का, उनकी सैद्धांतिक त्रुटियों का ख्याल न करते हुए इस आधार पर मूल्यांकन करना उचित है कि विश्व की विचारधारा पर उनका प्रभाव पड़ा है ? जब यह कसौटी अपनायी जाए, तो उसका क्या निष्कर्ष निकल सकता है ?

तृतीय भाग के लिए छात्र प्रतिवेदनों के विषय

१. किस सीमा तक सन् १८७१ के पेरिस कम्यून ने मार्क्सवादी विचारों का पालन किया ?

२. किस सीमा तक इंटरनेशनलों ने मार्क्सवादी सिद्धांतों को अपनाया ?
३. एक या एकाधिक इंटरनेशनलों का इतिहास।
४. मार्क्सवादी दर्शन तथा हीगेल के दर्शन की तुलना।
५. मार्क्सवादी सिद्धांत में गैर-आर्थिक संस्थाओं का स्थान।
६. इतिहास के आधुनिककालीन लेखन तथा अध्यापन पर मार्क्स का प्रभाव।
७. मार्क्स के मूल्यों तथा मजदूरीविषयक सिद्धांतों के मूल स्रोत।
८. संयुक्त राज्य अमेरिका में समाजवादी तथा साम्यबादी दलों के हाल के राजनीतिक तंत्रों में मार्क्सवादी सिद्धांत का स्थान।
९. मार्क्स के पूँजीवादी साम्राज्यवादी सिद्धांत की इतिहासकारों द्वारा प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों के कारणों के विश्लेषण से तुलना।
१०. इंग्लैंड में घेराबंदियों (एन्क्लोजर्स) की कहानी।
११. क्या व्यावसायिक मंदियाँ अधिकाधिक तीव्रतापूर्ण होती जा रही हैं ?
१२. संयुक्त राज्य अमेरिका में उद्योगों के नियंत्रण का केंद्रीकरण।
१३. मार्क्सवादी सिद्धांत तथा कीनेस के सिद्धांत की समानताएँ और भिन्नताएँ।
१४. आज के सोवियत संघ में मार्क्सवादी सिद्धांत की भूमिका।

तृतीय भाग का और अध्ययन करने के लिए सहायक पुस्तकें

एम० वीयर; दि लाइफ एंड टीचिंग ऑफ कार्ल मार्क्स, लंदन पारसन्स, १९२१।

एम० एम० बौबर; कार्ल मार्क्सज इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२७, १९४८।

ई० आर० ब्राउडर; मार्क्स ऐंड अमेरिका : ए स्टडी ऑफ दि डौक्ट्रिन ऑफ इम्पौवरिशमेंट, न्यूयार्क, लौंगमैंस, ग्रीन, १९५८।

ई० बर्न्स कौम्प; हैंड बुक ऑफ दि मार्क्सिज्म, न्यूयार्क रैंडम हाउस, १९३५।

एस० एच० एम० चांग; दि मार्क्सियन थियरी ऑफ स्टेट, न्यूयार्क, जान्स स्पेन्सर, १९३१।

जी० डी० एच० कोल; हवाट मार्क्स रीयली मेंट, न्यूयार्क क्नोफ, १९३४।

एम० डौब; पौलिटिकल इकोनॉमी ऐंड कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३७।

आर० दुनायेसकाया; मार्क्सिज्म एंड फ्रीडम, न्यूयार्क, बुकमैन एशोसिएट्स, १९५८।

एम० इस्टमेन; 'मार्क्सिज्म', इज इट साइंस ?' न्यूयार्क, नौर्टन १९४० ।

एस० हुक; मार्क्सिज्म : पास्ट ऐंड प्रेजेन्ट, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९५४ ।

एच० डब्ल्यू० लैडलर; सोशियो-इकोनॉमिक मूवमेंट्स, न्यूयार्क, क्रोवेल, १९४४ भाग दो, 'मार्क्सिज्म' ।

कार्ल मार्क्स; 'कैपिटल' लंदन, लौरेन्स ऐंड विशार्ट, १९६० भाग १, 'कैपिटलिस्ट प्रोडक्शन' भाग २, 'सरक्यूलेशन ऑफ कैपिटल', भाग ३ 'कैपिटलिस्ट प्रोडक्शन : ऐज ए होल' । (अनेक वर्षों में यह पहला अवसर है, जब 'कैपिटल' के तीन भागों का अंग्रेजी से संस्करण एक साथ उपलब्ध हुआ है ।)

कार्ल मार्क्स; वैल्यू, प्राइस ऐंड प्रॉफिट, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३५ ।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगिल्स; कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो, शिकागो, ग्रेट बुक्स फाउंडेशन, १९५२ ।

ए० जी० मीयर; मार्क्सिज्म : दि यूनिटी ऑफ थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५४ ।

जे० रोबिन्सन; ऐन एस्से इन मार्क्सियन इकोनॉमिक्स, लंदन, मैकमिलन, १९४९ ।

सी० रौजिटर; मार्क्सिज्म : दि व्यू फ्रॉम अमेरिका, न्यूयार्क, हारकोर्ट प्रेस, १९६० ।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० रौस्टोव; दि स्टेज ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ : ए नॉन कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो, लंदन, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६० ।

●

भाग ४

आधुनिक समाजवाद और साम्यवाद

अध्याय ११

समाजवाद तथा साम्यवाद की परिभाषा

कठिनाइयाँ

समाजवाद का अर्थ बहुत सी चीजें होती हैं और बहुत सी बातों को समाजवाद कहा जाता है। सामान्य व्यक्ति जो शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग करने, सूक्ष्म तथा महत्त्वपूर्ण भेद करने में दक्ष नहीं होता, 'समाजवाद' के अंतर्गत उस सब कुछ को इकट्ठा कर देता है जो उसको अप्रिय हों; भले ही वे आर्थिक सिद्धांत हों अथवा कुछ व्यवहार। आय बढ़ने के साथ अधिकाधिक दर पर यह निजी आय पर कर लगाने के साधारण से प्रस्ताव से लेकर, सरकारी नेताओं की षडयंत्रपूर्ण हत्या के हिंसापूर्ण कार्य तक सारी बातें समाजवादी कही जाती हैं। यह भ्रमपूर्ण स्थिति अंशतः इसलिए उपस्थित हुई है कि इसे आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं के प्रस्तावित परिवर्तनों का बोध इस सर्वग्राही शब्द के द्वारा कराने का जानबूझ कर कराया जाता है और अंशतः स्वयं समाजवाद की बहुमुखी प्रकृति के कारण उपस्थित होती है। समाजवाद की इस बहुरंगी प्रकृति का अनेक वर्षों पहले एक ब्रिटिश लेखक ने जो वर्णन किया था, वह आज भी ठीक ही है :—

> "यह अमूर्त्त और ठोस, सैद्धांतिक और व्यावहारिक, आदर्शवादी और भौतिकवादी, अत्यंत पुरानी तथा सर्वथा आधुनिक दोनों हैं; यह मात्र मनोभाव से लेकर कार्रवाई के एक निश्चित कार्यक्रम तक इसका विस्तार है। इसके विभिन्न उपासक इसे एक जीवन-दर्शन, एक प्रकार का धर्म, एक नैतिक संहिता, एक आर्थिक प्रणाली, एक ऐतिहासिक वर्ग तथा एक कानूनी सिद्धांत मानते हैं। यह एक लोकप्रिय आंदोलन; एक वैज्ञानिक विश्लेषण, अतीत की एक व्याख्या तथा भविष्य की एक झाँकी, एक युद्ध का नारा तथा युद्ध की अस्वीकृति, एक हिंसात्मक क्रांति तथा एक सरल-सुगम क्रांति, प्रेम तथा ध्रुव सत्य की दिव्य वार्ता तथा घृणा एवं लोभ का एक आंदोलन

है; मानवता की आशा तथा सभ्यता की समाप्ति, सहस्राब्दि का अभ्युदय तथा एक महान आपदा है।"[१]

समाजवाद की धारणाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। समय के प्रहारों से मानव के रहन-सहन में जो परिवर्तन आए हैं, उन्होंने समाजवाद की धारणा में परिवर्तन लाने में कुछ कम भाग अदा नहीं किया है। यह आंदोलन भी अन्य आंदोलनों की भाँति अपनी परिस्थितियों के प्रति मानव की मानसिक प्रतिक्रिया की ही संतान है। ये परिस्थितियाँ बदलती रही हैं। कभी यदि जमीन की उर्वरता, दूरियों, समय, तापमान, वर्षा तथा इस प्रकार की प्राकृतिक शक्तियाँ अधिकांशतः नियंत्रणहीन थीं, तो स्थितियाँ बदल कर ऐसी भी हुईं कि मानव ने आधुनिक तथा यांत्रिक विधियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को काफी हद तक झुका दिया है। इन परिवर्तनों के साथ उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं में भी परिवर्तन आए हैं। एक अवस्था ऐसी थी, जब मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति में प्रकृति की सीमाओं की कारण समर्थ नहीं था और इसे मानता तथा इनको दैवीय मानकर इनके समक्ष नत था और अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए उसने अनगढ़ प्रकार की नैतिक मान्यताएँ बना डाली थीं। इस अवस्था से बदलते-बदलते ऐसी अवस्था भी आ गई है कि वह वस्तुओं के उत्पादन में स्वयं अपने ज्ञान की कमी के अलावा कोई सीमा मानने को तैयार नहीं। अब सीमाएँ मनुष्य की अपनी हैं—प्रकृति की नहीं—कम-से-कम बेहतर जीवन-स्तर की प्राप्ति की योजना बनाते समय मानव का यही विश्वास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि 'समाजवाद' शब्द पिछली दो शताब्दियों से ही प्रचलित है तथा समाजवाद-जैसी बात अनेक सदियों से विद्यमान थी। समस्त आदर्शवादी विचारधारा में समाजवाद के तत्त्व विद्यमान पाए जाते हैं। मार्क्स के प्रभाव में आकर इसका स्वरूप सर्वथा भिन्न हो गया। मार्क्सवादी समाजवाद का अभ्युदय कोई एक सदी पहले हुआ है और यह ऐसी स्थिति के प्रति कुछ प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है, जिसमें औद्योगिक क्रांतिजन्य समस्त यांत्रिक आविष्कार आ जाते हैं। अब हमें आधुनिक समाजवाद की परिभाषा करनी है तथा उस पर विचार करना है जिसका उद्गम तो मार्क्सवादी समाजवाद से हुआ है, लेकिन जिसका अंतिम उद्देश्य, कार्यक्रम, संगठन तथा चालों पर आधुनिक परिस्थितियों का प्रभाव है और इन परिस्थितियों में हमारे आज के वे यांत्रिक तथा वैज्ञानिक साधन संमिलित हैं, जो प्रकृति को बाध्य करके मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी करने वाली वस्तुएँ पैदा करते हैं।

---

१. ए० शैडवेल, क्वाटरली रिव्यू, जुलाई, १९२४, पृष्ठ २।

समाजवाद की परिभाषा

यहाँ समाजवाद का जिस रूप में प्रयोग किया जाएगा, उस रूप में इस शब्द का तात्पर्य उस आंदोलन से है जिसका उद्देश्य व्यक्तियों की अपेक्षा, समस्त समाज के हाथ में उन समस्त प्रकृतिदत्त तथा मानवनिर्मित उत्पादक वस्तुओं का प्रवंध सौंपना है, जिनको बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में प्रयोग किया जाता है, जिसका उद्देश्य बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का अधिक समान रूप से वितरण किया जा सके और इससे व्यक्ति की आर्थिक प्रेरणा अथवा उसकी व्यवसायविषयक और उपभोग के चुनाव से संबंधित स्वतंत्रता मौलिक रूप से नष्ट न हो।

समाजवाद जिन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है, उनको यद्यपि सामान्य रूप से उसकी परिभाषाओं में स्थान नहीं दिया जाता, लेकिन समाजवादी कार्यक्रमों में इनको सभी स्वीकार करते हैं कि वे समाजवाद की संतोषजनक धारणा का आवश्यक अंग बन गए हैं। समाजवाद के विद्यार्थी जब उसके कार्यक्रमों की सूक्ष्मता से परीक्षा करेंगे, तो यह शंका कर सकते हैं कि समाजवादी क्या व्यक्ति की व्यवसायविषयक तथा उपभोगसंबंधी चुनावों में स्वतंत्रता बनाए रखने का वचन देते भी हैं या नहीं? लेकिन लगभग सभी समाजवादी बिना किसी अपवाद के, इस वात के लिए प्रत्यक्ष वक्तव्य द्वारा अथवा परोक्ष रूप से, इस स्थिति के संबंध में वचनवद्ध होते हैं।

इस परिभाषा के फलितार्थ

हमारी परिभाषा के कुछ फलितार्थ हैं, जिनका पूर्ण महत्त्व तथा व्यावहारिक उपभोग इस विचार-विमर्श के बाद के अंशों से प्रकट होगा। समाजवाद को 'आंदोलन' कहने का अर्थ यह है कि पहले ऐसी संस्थाएँ रही हैं और अब भी हैं, जो विशिष्ट कार्यक्रम लेकर ऐसे हथकंडे कार्य में लाती हैं, जिनका उद्देश्य समाजवाद के विचार को ठोस रूप से काम करने वाली समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं को परिणत करना है। 'समस्त समाज' में संपत्तिविषयक कुछ अधिकार निहित करने का फलितार्थ यह है कि संगठित समाज किसी-न-किसी रूप या रूपों में विद्यमान रखना। समाज के ये स्वरूप वर्त्तमान स्वरूप होना तथा आजकल की तकनीकों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। हाँ, कहीं-न-कहीं तथा किसी-न-किसी रूप में समाज के अधिकरणों की सत्ता विद्यमान रहनी चाहिए, जो ऐसा नियंत्रण कर सके, जिसके बिना व्यवस्थित तथा कुशल उत्पादक प्रक्रियाएँ चल ही नहीं सकतीं। यही नहीं 'समस्त समाज' का अर्थ यह भी है कि किसी-न-किसी रूप में समाज ऐसे विद्यमान रहेगा, जिसे हम व्यापकतम तथा परम आदर्शवादी दृष्टि से समाज का 'प्रजातांत्रिक' संगठन कहते हैं।

उत्पादन के साधनों पर अपेक्षाकृत चंद लोगों का स्वामित्व हो 'समस्त समाज' का स्वामित्व नहीं होगा; क्योंकि उनकी कार्रवाइयाँ जनता की इच्छाओं को

प्रतिबिंबित नहीं करेंगी। 'स्वामित्व तथा प्रबन्ध व्यवस्था' व्यक्तियों की अपेक्षा समाज के हाथ में सौंपने का वास्तव में अर्थ यह होता है कि उत्पादक वस्तुओं के प्रयोग संबंधित निर्णय समाज ही सीधे करेगा न कि कुछ व्यक्ति। संपत्ति का "स्वामित्व' उसके प्रयोग-संबंधी निर्णय करने के अधिकार का पर्यायवाची है और समाजवाद निर्णय करने संबंधी यह अधिकार ही व्यक्तियों से लेकर समाज को देना चाहता है। यह हस्तांतरण 'प्रकृतिदत्त तथा मानवनिर्मित उत्पादक वस्तुओं' दोनों में होगा। अर्थशास्त्री प्रकृतिदत्त वस्तुओं से भूमि अथवा 'प्राकृतिक साधनों' का उल्लेख करते हैं और मानवनिर्मित उत्पादक वस्तुओं में से 'पूँजी' अथवा 'उपकरणात्मक पूँजी' का। लेकिन केवल उन्हीं उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व का हस्तांतरण होना है, जिनका प्रयोग बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए किया जाता है। इसका निश्चित रूप से यह अर्थ होता है कि जिस भूमि तथा औजारों को उनके स्वामी स्वयं प्रयोग करते हैं, उनके प्रयोगविषयक निर्णय उनके स्वामी ही करते रहेंगे। इस पर भी मोटे तौर पर यह अर्थ हुआ है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन तभी होता है, जब एक व्यक्ति के पास इतने परिमाण में उत्पादक वस्तुएँ हों कि उसे उनके प्रयोग में सहायता करने के लिए मजदूर नौकर रखना पड़े।

'अधिक राष्ट्रीय आय' प्राप्त करने के समाजवाद के लक्ष्य का फलितार्थ यह है कि वर्त्तमान उत्पादक वस्तुओं से जितना उत्पादन गैर-समाजवादी प्रणाली के अधीन होता है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्पादन हो सकने की क्षमता मौजूद है। इससे यह वात भी ध्वनित होती है कि समाजवाद के अंतर्गत 'मानवनिर्मित' उत्पादक वस्तुओं का सृजन कम-से-कम उसी प्रभावी ढंग से हो सकता है, जितना पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में होता है। राष्ट्रीय आय का 'अधिक समान रूप से' वितरण होने का वास्तव में अर्थ यह है कि अत्यधिक ऊँची तथा अत्यधिक नीची व्यक्तिगत आय का अंतर समाप्त हो जाएगा और सामान्य रूप से व्यक्ति कीं आय वहुत कुछ औसत आय के समीप आ जाएगी जैसाकि इस समय नहीं है। लेकिन, इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि व्यक्तिगत आय के वितरण में पर्याप्त विस्तार नहीं होगा—वास्तव में 'अधिक समान' शब्द का प्रयोग ही स्पष्टतः व्यक्तिगत आयों में महत्त्वपूर्ण सीमा तक अंतर रखने की अनुमति देता है। यह सब 'व्यक्ति की आर्थिक अभिप्रेरणा नष्ट किए बिना' किया जाएगा। इसका अर्थ यही है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मानव-शक्तियों को उत्पादक प्रक्रिया में लगाने वाला मूल स्रोत व्यक्तियों द्वारा आमदनी प्राप्त करने की इच्छा होगी, जिससे व्यक्ति अपने निजी प्रयोग के लिए वस्तु खरीद सके। लेकिन इससे समाजवाद के अंदर किए जा सकने वाले उस प्रयास को समाप्त नहीं किया जा सकता, जिसके अनुसार व्यक्तिगत आर्थिक अभिप्रेरणों की आनुपातिक भूमिका कम की

जा सके तथा सामाजिक गैर-आर्थिक अभिप्रेरणा की अनुपातिक भूमिका बढ़ाई जा सके, जिससे हमारी उत्पादक प्रक्रियाओं को चालू रखने के लिए आवश्यक मानव-ऊर्जा को गतिशील रखा जा सके।

व्यक्ति के 'व्यावसायिक चुनाव की स्वतंत्रता' बनाए रखने का अर्थ यह नहीं है कि सभी व्यक्तिगत कार्यों की निर्वाध स्वतंत्रता हो। इसके लिए यह अवश्य जरूरी है कि व्यक्तियों को इस बात की पर्याप्त स्वतंत्रता रहेगी कि वह व्यावसायिक प्रयास के (सामाजिक रूप से उपयोगी अनेक माध्यमों में से किसी) विशिष्ट माध्यम को चुनने के लिए पर्याप्त रूप से स्वतंत्र रहेगा, जिससे वह अपने व्यक्तिगत प्रयास लगाना चाहे। 'उपभोगविषयक चुनाव की स्वतंत्रता' का अर्थ यही है कि उपभोग्य वस्तुओं का राशन नहीं होगा। इसका अर्थ यह भी है कि भ्रामक विज्ञापन तथा विक्रय-विधियों द्वारा प्रस्तुत सीमाओं के बिना, उपभोग्य वस्तु के चुनाव की स्वतंत्रता रहेगी। यही नहीं, इसका अभिप्राय यह भी है कि व्यक्तिगत आमदनी के बढ़ने मात्र से इस लिहाज से भी उपभोक्ता के चुनाव की स्वतंत्रता बढ़ जाती है कि पहले आमदनी कम होने से जो वस्तुएँ प्रयोग करना संभव नहीं था, उन्हें अब प्रयोग करना संभव होगा।

समाजवाद का मर्म आर्थिक

समाजवाद का हृदय आर्थिक है। जब उसकी परिभाषा तथा फलितार्थों का सावधानी के साथ अध्ययन किया जाए तो ये मुख्य समस्याएँ सामने आती हैं—उत्पादक वस्तुओं के संपत्ति अधिकार इन वस्तुओं से संबंधित निर्णय तथा इनके साथ श्रम का संबंध जुड़ जाने पर उत्पादित वास्तविक आय का वितरण। इस केंद्रस्थ मर्म के चारों ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य समस्य एँ घूमती हैं, लेकिन इसे इस इस केंद्रीय समस्या के साथ उलझना नहीं चाहिए कि समाज किस प्रकार आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग की व्यवस्था करना चाहता है। हमारी तथाकथित पूँजीवादी प्रणाली में इन प्रक्रियाओं का गठन किसी एक विशिष्ट ढंग से, कुछ विशिष्ट संस्थाओं के द्वारा होता है। समाजवाद इनका गठन कुछ भिन्न रूप से करना चाहता है और इस उद्देश्य से इन संस्थाओं में परिवर्तन करने की बात करता है। समाजवादी इस बात से इन्कार नहीं करता कि इन परिवर्तनों से रहन-सहन के गैर-आर्थिक क्षेत्रों और गैर-आर्थिक तथा विधिइतर संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों में भी बहुत से परिवर्तन इसके साथ-साथ आएँगे। वास्तव में समाजवादी आपस में इस बात पर एकमत नहीं हैं कि समाजवाद अपने-आप क्या परिवर्तन गैर-आर्थिक संस्थाओं में लाएगा अथवा कौन-कौन से परिवर्तन उसे जानबूझ कर करने चाहिए। लेकिन, प्रस्तावित आर्थिक व्यवस्था की मूल प्रकृति के बारे में ये समाजवादी एकमत हैं। आर्थिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के विषय में जो बल दिया जाता

है, उससे तर्क साधन रूप से यह प्रकट होता है कि समाजवाद 'एक आर्थिक आंदोलन' है।

समाजवाद और सामाजिक सुधार

चूँकि समाजवाद से अन्य अनेक प्रकार की वस्तुओं का अभिप्राय लिया जाता है और इस कारण से बहुत बड़ा भ्रम-जाल फैला हुआ है, इसलिए यह वांछनीय होगा कि अपनी औपचारिक परिभाषा के साथ समाजवाद को उन अन्य विचारों, योजनाओं, तथा प्रस्तावों से अलग करके समझा जाए, जिनके साथ इसे सामान्य लोग मिलाया करते हैं। इनमें से कुछ भ्रमों की समीक्षा कर लेने पर छात्रों के लिए यह आसान होगा कि वह समाजवाद के अनिवार्य अंगों को परिवर्तन के उन अनेक प्रस्तावों से भिन्न करके देख सकें, जो सभी संभव स्रोत से लगातार सामने आते रहते हैं। कुछ गैर-समाजवादी विचारों तथा योजनाओं में समाजवाद की अपेक्षा कुछ कम जोरदार, कम महत्त्वपूर्ण तथा कम व्यापक परिवर्तन की बात कही जाती है जबकि कुछ अन्य में ऐसे परिवर्तनों का प्रतिपादन किया जाता है, जिनसे हमारी आर्थिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में समाजवाद की अपेक्षा और अधिक परिवर्तन हो सकते हैं। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के कुछ प्रस्तावों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाएगा।

समाज-सुधारकों को अक्सर समाजवादी समझा जाता है और सामाजिक सुधार के कार्यों को समाजवाद। यह गलतफहमी अंशतः समाज-सुधारकों के कारण होती है, जो अक्सर स्वयं को 'समाजवादी' कहते हैं—हालांकि वे समाजवाद के आवश्यक तत्त्व (उत्पादन-साधनों पर समाज के स्वामित्व तथा संबंध) को समझ-बूझकर स्वीकार किया गया, उद्देश्य मानने से इन्कार करते हैं। इसका कारण अंशतः यह भी है कि यदि हमारी अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त रूप से मूलभूत सुधार कर दिए गए, तो सैद्धांतिक रूप से हम समाजवाद के समीप पहुँच सकते हैं। लेकिन, सामान्य रूप से समाज-सुधारक तथा समाजवादी के बीच की विभाजक रेखा सर्वथा स्पष्ट है। समाज-सुधारक का विश्वास है कि यदि उत्पादक वस्तुओं के निजी स्वामियों की निर्णय करने की शक्ति के चारों ओर पर्याप्त पाबंदियाँ लगा दी जाएँ तो इन वस्तुओं का स्वामित्व तथा प्रबंध संतोषजनक रूप से इन व्यक्तियों के हाथ में अनिश्चित काल तक रखा जा सकता है।

समाजवादी इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि यदि हमारी अर्थ-व्यवस्था का संतोषजनक संचालन किया जाना है, तो यह सर्वथा आवश्यक है कि निर्णय करने की यह शक्ति व्यक्तियों के स्थान पर समाज के हाथों में हो। बहुत से सामाजिक सुधारकों का कहना है कि संपत्ति अधिकारों के एक पुंज के अलावा कुछ भी नहीं है और उनके समाज-सुधार के उपायों द्वारा व्यक्तिगत 'स्वामियों' के

अधिकार-पुंज में से एक के बाद दूसरे अधिकार छिनते जाएँगे और धीरे-धीरे वे अधिकार समाज द्वारा प्रयुक्त अधिकारों में जुड़ते जाएँगे, तो हम समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं। समाज-सुधारक यह भी कहते हैं कि हम इन सुधारों का प्रतिपादन इसलिए नहीं करते कि इससे समाजवाद की दिशा में एक झुकाव पैदा होगा, बल्कि वह तो कभी-कभी कहता है, मैं तो एक वास्तविक 'समाजवादी' हूँ या कम-से-कम 'हृदय से समाजवादी' हूँ अथवा समाजवाद के साथ सहानुभूति रखता हूँ। समाजवाद में वास्तव में ऐसे सुधारों की संभावना को स्वीकार किया गया है, जिससे समाजवाद की तरफ एक झुकाव पैदा किया जा सके। लेकिन आधुनिक समाजवाद, जिस रूप में कि हम इस शब्द का उपयोग करते हैं, यह मानता है कि इस झुकाव से कुछ अधिक की आवश्यकता है। समाज-सुधारक की अस्पष्ट आधार अथवा मान्यता प्राप्त होती है कि उसके सुधारों से अंततः पूर्ण समाजवाद आ आएगा। इसके स्थान पर समाजवादी एक ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता पर जोर देता है, जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विशेष रूप से बनाया गया है, जिसका मंतव्य यह है कि उस उद्देश्य की प्रयासपूर्वक पूर्ण समय के साथ प्राप्ति करनी है और अस्पष्ट तथा सुदूर भविष्य में नहीं, शीघ्र ही।

इस प्रकार समाज-सुधारकों के अनेक प्रस्तावों को बराबर समाजवाद समझा जाता है। उदाहरण के लिए ऐसे प्रत्येक प्रस्ताव की समाजवादी कह कर आलोचना की जाती है, जिसमें श्रमिकों को मजदूरी, काम के घंटों या काम की स्थितियों से संबंधित मालिक के अधिकारों पर किसी प्रकार की रोक लगायी जाती है। यह सच है कि इस प्रकार कानून बनते रहने से वह अधिकार-पुंज, जिसे निजी संपत्ति कहते हैं, कुछ कम हुआ है और आगे भी कम होते जा सकते हैं। लेकिन ये कानून शब्द के सही अर्थों में समाजवादी नहीं हैं। इन कानूनों का उद्देश्य निजी संपत्ति के अधिकारों को हमारे संसार के तकनीकी और यांत्रिक चरणों में आए परिवर्तनों तथा मानव-आवश्यकताओं से संबंधित बदलते विचारों के अनुरूप बनाना है न कि व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर समाज के स्वामित्व की स्थापना। ये कानून रूप से पूँजीवादी होते हैं; क्योंकि इनसे उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं होता। वास्तव में इन कानूनों के समर्थक तो बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप इनको बना कर वर्त्तमान संपत्ति संस्थाओं को केवल सुदृढ़ ही बनाते हैं।

समाजवाद तथा 'सरकारी स्वामित्व'

यह भ्रम उस समय और भी जटिल हो जाता है, जब हम सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योगों पर 'सरकारी स्वामित्व' की समस्या पर विचार करते हैं। आज-

कल कहीं''''नगरपालिकाएँ बिजलीघरों, जल-व्यवस्था, स्ट्रीट रेलवे, गैस कारखाने तथा अन्य अनेक प्रकार के उद्योगों की स्वामी तथा संचालक हैं जबकि राज्य और संघीय सरकारें उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में उद्योगों का संचालन करती हैं। क्या यह समाजवाद है ? पहली दृष्टि में तो लग सकता है कि हमारी परिभाषा की शर्तें पूरी हो रही हैं। लेकिन, यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि सभी मामलों में 'सरकारी स्वामित्व' समर्थक इस आंदोलन का विस्तार सुनिश्चित सीमाओं के अंदर ही करना चाहते हैं। स्वास्थ्य-सुरक्षा अथवा जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से घनिष्ट रूप से संबंधित सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योगों पर ही सरकारी स्वामित्व किए जाने की बात कही जाती है।

जिन उद्योगों पर सरकारी स्वामित्व होता है, उनका संचालन भी सरकारी अभिकरणों से होता है, जिनकी तुलना समाजवादियों के 'समस्त समाज' वाक्यखंड से मुश्किल से ही की जा सकती है। समाजवादियों के अनुसार सरकारी स्वामित्व के ये इक्के-दुक्के उदाहरण पूँजीवादी प्रणाली में लगी कलम के समान हैं और इन्हें भी उसी से शक्ति प्राप्त होती है तथा उसी के स्वरूप में ढल जाते हैं। ये तो समस्त संगठन का पूरा परिवर्तन करने के समाजवादी प्रस्ताव के स्पष्ट रूप से विरोधी होते हैं। समाजवादी तो चाहते हैं कि अधिकांश स्वामित्व तथा प्रबंध व्यवस्था 'समस्त समाज' की हो और यदि हो, तो थोड़े से ही अपवाद हों। इसके विपरीत सरकारी स्वामित्व के समर्थकों का कहना है कि अधिकांश स्वामित्व तथा प्रबंध निजी हों और इनमें बड़े पैमाने के कुछ ही अपवाद हों। बहुत से समाजवादी परीक्षण तथा व्यूह-रचना की दृष्टि से सरकारी स्वामित्व का विस्तार करने की बात कहते हैं, हालांकि कुछ समाजवादी इन प्रयोजनाओं का आधे मन से ही समर्थन करते हैं; क्योंकि इनके साथ-साथ वे अधिक व्यापक परिवर्तन नहीं होते, जिन्हें समाजवादी आवश्यक समझते हैं।

समाजवादी तथा नागरिक स्वतंत्रताएँ

कभी-कभी समाजवाद का तात्पर्य इस विचार से समझा जाता है कि हमारे संविधान में व्यक्ति को जिन अधिकारों की गारंटी दी गई है, उनकी रक्षा की जाए और उन्हें सार्थकता प्रदान की जाए। यह सर्वथा अविश्वसनीय है, किंतु फिर भी सत्य है कि बहुत से व्यक्ति समाजवाद के समर्थन तथा इस बात के समर्थन में अंतर नहीं समझते अथवा अंतर नहीं कर सकते हैं कि भाषण करने, संगठन करने तथा संगठनात्मक गतिविधियाँ शांतिपूर्वक चलाने में समाजवादी स्वतंत्र हों। इसका परिणाम यह होता है कि अमेरिकी नागरिकों द्वारा स्वतंत्रता संघ सरीखी संस्थाओं को अक्सर समाजवादी संस्था कह दिया जाता है, जिसका उद्देश्य हमारे संविधान

में निर्धारित नागरिक अधिकारों के प्रयोग में व्यक्तियों या संस्थाओं की रक्षा करना है। वास्तव में 'समाजवाद' शब्द के प्रयोग में यह एक गंभीर भूल है।

समाजवाद तथा अराजकतावाद

समाजवाद तथा उन विचारों, प्रस्तावों एवं आंदोलनों के मध्य अंतर करना आसान है, जो हमारी अर्थ-व्यवस्था में छोटे-मोटे परिवर्तन लाने के लिए होते हैं। समाजवाद तथा अराजकतावाद में भेद करना भी सुगम है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति के दिमाग में ये दोनों घनिष्ट रूप से संबंधित हैं, तथापि सिद्धांत, गठन एवं व्यूह-रचना की दृष्टि से ये दोनों दो सिरों की भाँति एक दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ तो केवल उनके सैद्धांतिक अंतर पर ही प्रकाश डाला जाएगा। अराजकतावादियों का कहना है कि समस्त सामाजिक बुराइयों की जड़ अभिकरणों द्वारा धमकी देना या बल-प्रयोग करना है। उनका कहना है कि 'मानव-प्रकृति' परम आरंभिक दृष्टि से, सहयोगपूर्ण तथा भ्रातृ-भावना मुक्त है। लेकिन, जैसे-जैसे यह मूल प्रकृति परिपक्व होती जाती है, इस पर दमनकारी संस्थाओं--जिनमें सबसे प्रमुख सरकार है--की छाप पड़ती जाती है, जिससे मानव के मनोजगत में स्वार्थपरता, संग्रह-वृत्ति और युद्ध-वृत्ति प्रधान हो जाती है। चूँकि मानव इस प्रकार की स्थितियों में ही पोषण पाते हैं, इसलिए जब वे एक दूसरे के निकट संपर्क में आते हैं—जब समाज में रहेंगे, तो आएँगे ही—तो सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

इसलिए अराजकतावादियों का विचार है कि राज्य अथवा सुव्यवस्थित सरकार को ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह सर्वोच्च दमनकारी संस्था हट जाने के बाद, जब व्यक्ति परिपक्वता प्राप्त करेंगे, तो उनको अनुभव होगा कि उनकी प्राकृतिक इच्छाओं का दमन के बजाय विकास हो रहा है। इस प्रकार जिस समाज का जन्म होगा, उससे लोग वे काम करने के लिए प्रेरित नहीं होंगे, जिन्हें आज हम कानून द्वारा रोकना आवश्यक समझते हैं और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनमें जीवन के सामान्य व्यवहार में प्रधानतः सहयोग करने की तथा भाई-चारे की भावना भर जाएगी, जिससे व्यक्ति अपना सर्वाधिक कल्याण समझेगा। समाजवाद की हमारी परिभाषा से यह स्पष्ट है कि समाजवादी समाज के संगठित स्वरूप के विषय में सर्वथा दूसरे प्रकार का दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। समाजवाद के अंतर्गत उत्पादक वस्तुओं का स्वामित्व तथा प्रबंध व्यवस्था समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रजातांत्रिक ढंग से गठित अभिकरणों में निहित रहेगी। इन अभिकरणों का यद्यपि वर्त्तमान सरकारी अभिकरणों के समान होना जरूरी नहीं है, फिर भी सत्ता प्रधान होंगे, जबकि अराजकतावादी इन सरकारी अभिकरणों की निंदा करते हैं।

समाजवाद तथा साम्यवाद

समाजवाद तथा साम्यवाद के बीच अंतर करने की कठिनाई इसलिए उपस्थित नहीं होती; क्योंकि इन दोनों में महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक अंतर नहीं है, बल्कि कठिनाइयाँ इनके उलझन-भरे अतीत तथा वर्त्तमान के संगठनात्मक अंतःसंबंधों, दोनों आंदोलनों के नेताओं के बीच आपसी अविश्वास तथा एक दूसरे को पसंद न करने एवं दोनों आंदोलनों द्वारा मिले-जुले हथकंडे अपनाने के कारण उपस्थित होती हैं और इन हथकंडों का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहता है। इन दुर्भावनाओं के कारण छोटे तथा गंभीर— दोनों प्रकार के आरोप तथा प्रत्यारोप एक दूसरे पर लगाए जाते हैं। वर्षों तक यह स्थिति रहने के कारण, उनके विभेद-विंदु बदले हैं, लेकिन उनकी संख्या अथवा तेजी में किसी प्रकार का अंतर नहीं आया है। इस जंजाल को काट कर तथा वास्तविक मुद्दों को समझ पाना तो मुश्किल है। समाजवादी हथकंडे कभी साम्यवादियों के हथकंडों के समीप हो सकते हैं और कभी दूर हो सकते हैं और इसी तरह साम्यवादी हथकंडों में भी परिवर्तन होता रह सकता है।

इन दोनों के बीच जो सबसे पहला प्रमुख सैद्धांतिक भेद है, वह उन वस्तुओं की किस्मों से संबंधित है, जिन पर समाज का स्वामित्व हो तथा समाज द्वारा व्यवस्थित हों। समाजवादियों का कहना है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के काम आने वाली उत्पादक वस्तुओं पर व्यक्तियों का नहीं, वरन् समाज का स्वामित्व हो और वही इन्हें चलाए। साम्यवादी उपभोग्य वस्तु उद्योगों पर भी समाज का स्वामित्व चाहते हैं। स्पष्ट रूप से उनका आशय यह होता है कि सभी उपभोग्य वस्तुओं पर मूलभूत अधिकार (और इसलिए तत्संबंधी निर्णय करने का अधिकार) समाज में निहित रहना चाहिए जबकि (१) उन उपभोग्य वस्तुओं का वास्तविक स्वामित्व जिसके उपभोग का संबंध उपभोक्ता के व्यक्ति से है, व्यक्तियों तथा परिवारों को सौंपा जा सकता है। तथा इस प्रकार की कितनी वस्तुएँ एक व्यक्ति या परिवार को दी जाएँ, यह उनकी अलग अलग आवश्यकताओं के आधार पर होगा और (२) उन उपभोग्य वस्तुओं का वास्तविक स्वामित्व, जिनका उपभोक्ता का व्यक्तिशः घनिष्ट संबंध नहीं है, समाज के हाथ में ही रहेगा। लेकिन इन (संभवतः अधिकांश टिकाऊ) उपभोग्य वस्तुओं का तात्कालिक उपभोग व्यक्तियों तथा परिवारों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार, उनको सौंपी जाएगी। खाना तथा कपड़ा पहली श्रेणी की उपभोग्य वस्तुओं में आती है, जबकि घर, थिएटर, नृत्य-हॉल और संभवतः पुस्तकें दूसरी श्रेणी के उदाहरण हैं।

कृत अन्य समय में लाया जा सकता है और यह मानता है कि समाजवाद उस उद्देश्य के लिए आवश्यक किंतु अपेक्षाकृत कम समय तक रहने वाली अवस्था है। इसलिए वह अनावश्यक विलंब के बिना ही साम्यवाद की स्थापना का प्रयास करता है।

समाजवाद तथा साम्यवाद के बीच के संबंधों के कारण यह समीचीन प्रतीत होता है कि आगे वाले अध्यायों में आधुनिक समाजवाद पर अधिक विचार-विमर्श किया जाए और हर जगह यह न देखा जाए कि साम्यवादी सिद्धांत तथा कार्यक्रम समाजवादी सिद्धांत और कार्यक्रमों से किस रूप में भिन्न है।

इंटरनेशनल

समाजवाद तथा साम्यवाद के इतिहास में सिद्धांतबद्ध अंतर्राष्ट्रीयता का उपयोग संमिलित है। प्रथम इंटरनेशनल, जिसका ठीक-ठीक नाम 'अतर्राष्ट्रीय श्रमकर्मी संघ' (इंटरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन) था और मार्क्स की सहायता से १८६४ ई० में इसकी स्थापना लंदन में की गई थी। उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि यह संसार के क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग आंदोलन का अग्रिम दस्ता होगा। लेकिन, इसमें सैद्धांतिक तथा संगठन-संबंधी मामलों पर प्रचंड विवाद उठ खड़े हुए। कुछ समय के लिए इसका प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में रखा गया और संयुक्त राज्य के कुछ समाजवादी ग्रूप इसके संघ से संबद्ध हो गए। यह सन् १८७६ में समाप्त हो गया। दूसरे इंटरनेशनल की स्थापना १८८९ ई० में हुई। यह १९१४ ई० में समाप्त हो गया। जब प्रथम महायुद्ध के आरंभ होने पर इनमें शामिल हुए दलों को बाध्य होकर यह चुनाव करना,पड़ा कि वे अपने राष्ट्रों के प्रति निष्ठावान् रहें अथवा अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन के प्रति और इसमें उन्होंने राष्ट्र के प्रति निष्ठावान् रहने का निश्चय किया।

तृतीय इंटरनेशनल (कौमिन्टर्न)

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने से पूर्व ही रूसी क्रांति हो चुकी थी और सोवियत संघ का साम्यवादी दल तृतीय इंटरनेशनल का प्रमुख तत्त्व बन गया, जिसे 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' अथवा कौमिन्टर्न कहते हैं, जिसकी स्थापना मास्को में सन् १९१९ में हुई। इस तृतीय इंटरनेशनल के साथ यूरोपीय देशों के क्रांतिकारी समाजवादी और साम्यवादी दल एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्यवादी दल संबद्ध था। अमेरिकी साम्यवादी दल की स्थापना सन् १९१९ में हुई थी, जब पुराने समाज वाले दल के वामपक्ष ने उससे अलग हो कर अपना दल बनाया था। तृतीय इंटरनेशनल १९४३ ई० तक एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में काम करता रहा, जिस पर सोवियत संघ के साम्यवादी दल का पूर्णतया प्रभाव रहा। द्वितीय महायुद्ध में सोवियत संघ द्वारा पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ सहयोग करने के अंगस्वरूप तृतीय इंटरनेशनल को

भंग कर दिया गया। यूरोप की कुछ सोशल डेमोक्रेट (गैर-क्रांतिकारी समाजवादी) पार्टियों की तृतीय इंटरनेशनल में संमिलित हुई थी, किंतु जब उन्हें पता चला कि इसका दर्शन तो क्रांतिवादी है और इसकी गतिविधियों पर मास्को का प्रभाव है, तो वे उससे अलग हो गई थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्यवादी दल सन् १९४० तक औपचारिक रूप से इसके साथ रहा, लेकिन इसके बाद यह बाकायदा तौर पर इससे हट गया, ताकि न्याय विभाग में उसे अपना नाम न दर्ज कराना पड़े; क्योंकि उस वर्ष में पास हुए एक अधिनियम के अधीन ऐसे दलों को अपना नाम दर्ज कराना आवश्यक था, जिनके संपर्क विदेशों के साथ हैं। यद्यपि उस वर्ष से संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्यवादी दल नाम के लिए तो स्वतंत्र रहा, लेकिन वास्तव में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की नीतियों से मिलती-जुलती नीतियों का अनुसरण करता रहा। प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद गैर-क्रांतिवादी समाजवादी दलों ने द्वितीय इटरनेशनल को सन् १९१९ तथा सन् १९२९ में पुनर्जीवित किया और इसे श्रमिक तथा समाजवादी इंटरनेशनल के रूप में पुनर्गठित किया, जिसे कि 'अढ़ाइवां इंटरनेशनल' कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध का आरंभ होने के पश्चात् इस इंटरनेशनल की भी गतिविधियां समाप्त हो गईं; क्योंकि फिर समाजवादी दलों ने अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन की अपेक्षा अपनी राष्ट्रीय सरकारों के युद्ध-प्रयासों का समर्थन करने का निश्चय किया।

कामिन्फार्म

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर न तो समाजवादी और न साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित थे। लेकिन, तृतीय इंटरनेशनल और श्रमिक एवं समाजवादी इंटरनेशनल दोनों के भूतपूर्व संघटक तत्त्वों ने इसके तत्काल बाद अपने-अपने पृथक् विश्वव्यापी संगठन खड़े किए। मार्च, १९४७ में यूरोप की सभी महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्ट पार्टियों ने जिनमें सोवियत संघ, इटली तथा रुमानियां की पार्टियां शामिल नहीं हैं, पहली पूर्णतः अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन बुलाया, जो १९४३ में तृतीय इंटरनेशनल भंग होने के बाद पहला सम्मेलन था। इसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कुछ भागों, क्यूबा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से आए साथी प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। लेकिन, ऊपरी तौर पर तो कम-से-कम इस सम्मेलन का सोवियत संघ के साम्यवादी दल के साथ कोई संबंध नहीं था। इसमें मुख्य भाषण एक ब्रिटिश साम्यवादी ने किया था, जो अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद का एक प्रमुख सिद्धांत माना जाता था। उनके भाषण से प्रकट था कि अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी कार्यक्रम निम्न बातें करने का प्रयास करेगा—(१) साम्यवाद की ओर झुकने वाले राष्ट्रों तथा ग्रेट ब्रिटेन को सोवियत संघ के अधिक समीप लाना, (२) राष्ट्रवादी मुक्ति आंदोलनों को पूर्ण राष्ट्रीय

इस अंतर से एक और अंतर प्रकाश में आता है। यदि कुछ उपभोग्य वस्तुओं का स्वामित्व तथा सभी उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग समस्त समाज को 'आवश्यकता' के आधार पर वितरित किया जाता है, तब व्यक्ति का उपभोग इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि वह कितनी अधिक मेहनत तथा कितनी अधिक कुशलता से काम करता है। समाजवाद के अंतर्गत व्यक्ति की आर्थिक अभिप्रेरणा में विशेष परिवर्तन नहीं आता है। व्यक्तियों की निजी आय से यह अधिकांशतः निश्चित होगा कि वह किस प्रकार की तथा कितनी उपभोग्य वस्तुएँ प्रयोग कर सकता है और व्यक्ति की आय लोगों की मजदूरी तथा वेतनों के उस अंतर पर निर्भर करेगी, जिसे समाज द्वारा वांछित समग्र मानव-प्रयास प्रयोग किए जाने के उद्देश्य से रखा गया है। लोगों को जिन्हें उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ दी जा चुकी हैं, अपनी क्षमता के अनुसार उत्पादक-प्रक्रियाओं में अपने प्रयास करने की दिशा में उन्मुख करने के लिए साम्यवाद व्यक्ति के अपने आर्थिक अभिप्रेरण पर बहुत कम निर्भर करता है और कुछ गैर-आर्थिक सामाजिक अभिप्रेरणों पर कहीं अधिक निर्भर करता है। इस स्थिति को सार रूप में समाजवादी फारमूले तथा साम्यवादी फारमूलों की तुलना करके समझा जा सकता है। समाजवादी सूत्र है "प्रत्येक से उसकी प्रतिफल की इच्छा के अनुसार काम तथा प्रत्येक को उसकी उत्पादिता के हिसाब से वस्तुएँ।" इसके विपरीत साम्यवादी फार्मूला है— "प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार काम तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार चीजें।"

संगठन तथा चालों की दृष्टि से समाजवाद तथा साम्यवाद के कुछ अंतरों का मौटे तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। समाजवादी संगठन अधिकांशतः स्वशासित होते हैं और केंद्रीय सत्ता या अनुशासन या नीति-निर्धारण के लिए कोई ऊपर बहुत ही कम होता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठनों में केंद्रीय संस्था तथा सत्ता का केंद्रीयकरण होता है। समाजवादी चालों का निर्धारण स्थानीय रूप से होता है और इसीलिए समूचे राष्ट्र में खासकर समूचे संसार में वे एक समान हों, ऐसी संभावना नहीं होती। इसके विपरीत साम्यवादी चालों का राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सुनिश्चित रूप से निर्धारण आंदोलन की केंद्रीय संस्था करती है और इसीलिए किसी कालविशेष में सर्वत्र उनकी एक-सी विशेषताएँ ही देखने में आती हैं। यहाँ एक और जोड़ा जा सकता है कि साम्यवादियों की अपेक्षा समाजवादियों को इस बात की अधिक आशा होती है कि पूँजीवाद के बाद का परिवर्तन शांतिपूर्ण संविधानिक उपायों द्वारा लाया जा सकता है।

दीर्घकालीन उद्देश्य और अंतिम लक्ष्य

बहुत से समाजवादी साम्यवाद को दीर्घकालीन वांछित लक्ष्य स्वीकार करते हैं, जबकि अधिकांश साम्यवादी समाजवाद को पूँजीवाद तथा साम्यवाद की स्थापना के बीच का एक आवश्यक मध्यवर्त्ती सोपान मानते हैं। चूँकि समाजवादी तथा साम्यवादी दल के सामान्य सदस्यों और छुटभैयों ने अंतिम लक्ष्यों के बारे में विचार नहीं किया है, इसीलिए ये मत मुख्य रूप से इन आंदोलनों के सिद्धांतवेत्ताओं के हैं। यही नहीं, ये समाजवादी तथा साम्यवादी इस बात पर एकमत हैं कि मानव-समाज का अंतिम स्वरूप अराजकतावादी होगा। इस प्रकार अराजकतावादी साम्यवाद अथवा साम्यवादी अराजकता समाजवादियों, साम्यवादियों तथा अराजकतावादियों का अंतिम लक्ष्य बन जाता है। इस प्रकार के समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा तथा उपभोग करेगा। इस सूत्र के अनुसार व्यक्तियों के कार्यों के संचालन के लिए कोई भी सत्तात्मक अभिकरण नहीं होगा। इसका कारण यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिप्रेरणाओं में इतना अधिक सामाजिक हो जाएगा कि उसे अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए सार्वजनिक भलाई का उल्लंघन करने का कोई दबाव अनुभव नहीं होगा। तब क्या आश्चर्य अराजकतावादी साम्यवादियों को समस्त आदर्शवादियौं में भी सर्वाधिक आदर्शवादी कहा जाता है ?

दीर्घकालीन लक्ष्यों के विषय में कुछ वास्तविक समानता के बावजूद समाजवाद तथा साम्यवाद को सर्वथा पृथक्-पृथक् कार्यक्रमों के रूप में देखा जाना चाहिए। यद्यपि समाजवादी साम्यवाद को दीर्घकालीन लक्ष्य स्वीकार करता है, लेकिन वह उसकी 'दीर्घकालीनता' पर जोर देता है। वह मानता है कि किसी भावी कालखंड के लिए, जिसके साथ हमारा प्रत्यक्ष संबंध है, समाजवाद की आर्थिक गठन का सर्वथा उपयोगी तथा संतोषजनक सूत्र प्रस्तुत करता है। वह मानता है कि समाजवादी शासनकाल में ही कुछ उपभोग्य वस्तुओं के सामाजिक स्वामित्व की निश्चित प्रवृत्तियाँ प्रकट होंगी, लेकिन ये प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे ही पनपेंगी और वह जिस समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है, उसके आधारभूत तत्त्वों में प्रमुख परिवर्तन नहीं करेंगी।

इसलिए समाजवादी समाजवाद की संस्था को अपने संगठित प्रयासों का उद्देश्य मान कर चलता है और अपने सिद्धांत के अवचेतन भाग में वह अस्पष्ट-सी आशा तथा विश्वास लेकर चलता है कि साम्यवादी व्यवस्था कभी समाजवाद का स्थान लेगी। इसके विपरीत साम्यवादी यह अनुभव करके कि पूर्ण साम्यवाद अपेक्षा-

तथा श्रमिक वर्गों की ओर हाथ बढ़ा रहे थे कि वे साम्यवादी संस्थाओं से मिल कर आर्थिक सुधार की गतिविधियों में हाथ बटाएँ।

साम्यवादी एक विश्वव्यापी आंदोलन

१९५६ में कामिन्फार्म का अधिकृत रूप से विघटन होने के बाद इसके समकक्ष या इसके पूर्ववर्त्ती संगठनों से मिलता-जुलता कोई औपचारिक अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन नहीं बनाया गया। 'पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद्' (१९४९ में गठित) बनी हुई है, जिसके सदस्य सोवियत संघ तथा उसके यूरोपीय पिछलग्गू राष्ट्र हैं। इसका उद्देश्य आर्थिक सहायता का विनिमय करना तथा अर्थ-व्यवस्था का एकीकरण करना है। इस संस्था का सैनिक अंग 'वारसा पैक्ट' (१९५४ में स्थापित) है, जिसका उद्देश्य सोवियत संघ तथा उसके यूरोपीय पिछलग्गू देशों की सैनिक व्यवस्थाओं का एकीकरण करना है। सामान्य रूप से 'पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद्' तो 'मार्शल योजना' और तत्संबंधित संस्थाओं के नमूने पर और 'वारसा पैक्ट' उत्तर अटलांटिक संधि-संगठन के नमूने पर है। लेकिन इन साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में से किसी में गैर-साम्यवादी देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि नहीं हैं और इस प्रकार वे कामिन्टर्न तथा कामिन्फार्म से उल्लेखनीय रूप से भिन्न हैं।

फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसार के साम्यवादी दल एक दूसरे के साथ घनिष्ट संपर्क बनाए रखते हैं। यूरोपियन, अफ्रीकी तथा दक्षिण अमेरिकी साम्यवादी दलों के हित सोवियत साम्यवादी दल के साथ संबंधित हैं, जबकि एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के हित चीन की मुख्य भूमि के साम्यवादी दल के साथ हैं। अब बराबर द्विपक्षीय सम्मेलन हुआ करते हैं, जिनमें इन गुटबंदियों को परस्पर ग्रथित किया जाता है और संसार के प्रमुख साम्यवादी दलों के—जिनमें गैर-साम्यवादी देशों के दल भी शामिल हैं, बहुपक्षीय सम्मेलन बहुत कम हुआ करते हैं। उदाहरण के तौर पर सन् १९५७ में इस तरह का सम्मेलन मास्कों में सोवियत क्रांति की चालीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर आयोजित किया गया था। इसमें सोवियत संघ, चीन, समस्त पिछलग्गू देशों, युगोस्लाविया, फ्रांस, इटली, उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वियतनामी साम्यवादी दलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इन नेताओं ने दावा किया था कि वे ९५ करोड़ जनता की तरफ से बोल रहे हैं। इस बैठक का मुख्य ध्यान इस बात पर दिया गया था कि संसार के साम्यवादी दलों—में घनिष्ट संबंधों का विकास करने के तरीकों एवं उपायों पर विचार करना। ज़ाहिर है कि इस समय साम्यवादी नीति संसार के दलों के आंतरिक संबंधों को द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय सम्मेलनों में तय करते रहने की है। सन् १९६० में, मास्कों में हुई लंबी बैठक के बाद ८१ साम्यवादी दलों के प्रतिनिधियों ने एक लंबा घोषणपत्र जारी

किया, जिसका उद्देश्य सोवियत संघ तथा लाल चीन के बीच सैद्धांतिक मतभेद दूर करना था। सामान्य रूप से इसमें पूँजीवाद के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की स्थिति स्वीकार की गई थी, जिससे पूँजीवादी देशों में वर्ग-संघर्ष के विकास का अवसर मिल सके और औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन सफल हो सके।[1]

साम्यवादी स्रोतों के विवरण के अनुसार गैर-साम्यवादी देशों में साम्यवादी दलों की सदस्य-संख्या ४५ लाख है। पश्चिमी यूरोप, कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में इनकी संख्या घट रही है, जबकि एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में साम्यवादी दलों की सदस्य-संख्या बढ़ रही है।[2] गैर-साम्यवादी स्रोतों के अनुसार संसार भर की साम्यवादी संस्थाएँ अनुमानतः संसार की एक तिहाई जनता का नियंत्रण करती हैं।[3] वास्तव में दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों में अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की बढ़ती दिलचस्पी के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका को विशेष रूप से चिंता है। समाचार है कि सोवियत संघ दक्षिण अमेरिका के लोगों का मन जीतने, वहाँ घुसपैठ करने तथा तोड़-फोड़ करने पर प्रति वर्ष दस करोड़ डालर खर्च कर रहा है और ऐसा करते समय मार्क्सवाद अथवा साम्यवादी विचारधारा पर अधिक जोर न दे कर 'सद्भावना और सम्माननीयता' पर अधिक जोर दिया जाता है तथा व्यापार बढ़ाने, सांस्कृतिक विनिमय, वैज्ञानिकों का विनिमय, मैत्री संस्थाओं तथा राष्ट्रीय एकता मोर्चे, राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम-सरीखे नारों की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता है।[4]

समाजवादी इंटरनेशनल

जून, १९४७ में—१९ राष्ट्रों के समाजवादी दलों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन ज्यूरिच, स्विटजरलैंड में हुआ, जिससे श्रमिक तथा समाजवादी इंटरनेशनल में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की जाए। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश दलों की मान्यता थी कि समाजवादी दल श्रमिकों के समर्थन के बल पर संसदीयसाधनों के द्वारा प्रजातांत्रिक समाजवाद की ओर धीरे-धीरे तथा शांतिपूर्वक बढ़े। लेकिन, पूर्वी यूरोप के कुछ देशों के समाजवादी दल या तो अपने राष्ट्रों के साम्यवादी दलों के सहयोग से चल रहे थे या उन पर साम्यवादी प्रभाव था और इसी कारण से इस संस्था की औपचारिक रूप से स्थापना नहीं हो पाई। बाद में १९४७ ई० में दूसरा सम्मेलन

---

[1] घोषणापत्र का पाठ, न्यूयार्क टाइम्स, ७ दिसंबर, १९६०।

[2] न्यूयार्क टाइम्स, १५ नवंबर, १९५९।

[3] यूनाइटेड स्टेट्स न्यूज ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट, २ जनवरी, १९५९।

[4] स्विर्ड सी० हौटलैट, दि न्यू लीडर, ४ अप्रेल, १९६०।

स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायता देना (३) संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद को कमजोर करना, (४) ग्रेट ब्रिटेन तथा कनाडा-जरीखे राष्ट्रों को संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ घनिष्ट संबंध रखने से रोकना, (५) माल्ट, साइप्रस, भारत, बर्मा तथा अफ्रीकी उपनिवेशों में अलगाव की भावना को प्रोत्साहित करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नष्ट करना, (६) फ्रांसीसी साम्राज्य को समाप्त करना और (७) साम्यवादी दलों में 'संगठनात्मक संपर्क' जोड़ कर, विभिन्न राष्ट्रों के श्रमिक वर्ग के बीच सहकारी संबंध स्थापित करना।"[1] सितंबर, १९४७ में पालैंड में ९ यूरोपीय राष्ट्रों, जिनमें सोवियत संघ भी शामिल था, का एक अन्य सम्मेलन हुआ। इस बैठक में एक स्थायी संस्था, कम्युनिस्ट इन्फॉरमेशन ब्यूरो की स्थापना की गई, जिसे 'कामिन्फार्म' कहते थे। इसका उद्देश्य साम्यवादी दलों के अनुभवों को एकत्र करना तथा विनिमय करना और यदि आवश्यकता हो तो पारस्परिक समझौते के आधार पर साम्यवादी दलों की गतिविधियों के बीच समन्वय करना था।[2]

इस सम्मेलन में एक घोषणापत्र स्वीकार किया गया, जिसमें घोषित किया गया कि दो परस्परविरोधी राजनीतिक स्थितियाँ स्पष्ट हो गई हैं। एक तरफ तो सोवियत संघ तथा प्रजातंत्रीय देश हैं, जिनका लक्ष्य साम्राज्यवाद को गिराना तथा प्रजातंत्र को सशक्त करना है। दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैंड का उद्देश्य साम्राज्यवाद को सशक्त करना तथा प्रजातंत्र का गला घोंट देना है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता के लिए शुरू की गई 'मार्शल योजना' को 'केवल एक धोखा' तथा संसार के सभी भागों में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा किए जा रहे अपने राजनीतिक विस्तार की विश्वव्यापी योजना को 'यूरोपीय शाखा' कहा गया। 'दक्षिणपंथी समाजवादियों यथा फ्रांसीसी समाजवादी, ब्रिटेन के श्रमिक दल तथा पुनरुज्जीवित जर्मन सोशल डेमोक्रेटों' की इस बात के लिए निंदा की गई कि वे "प्रजातंत्र तथा समाजवादी दर्शन के मुखौटे के पीछे साम्राज्यवाद के असली चेहरे को छिपा रहे हैं।"[3] इस कामिन्फार्म में हिस्सा लेने वाले साम्यवादी दल सोवियत संघ, यूगोस्लाविया, फ्रांस, इटली, चेकोस्लोवाकिया, बल्गारिया, हंगरी, रूमानियाँ तथा पोलैंड की थी। कामिन्फार्म का प्रधान कार्यालय; बेलग्राड, यूगोस्लाविया में रखा गया, लेकिन सन् १९४८ में जब इस देश को इससे निकाल दिया गया, तो इसका प्रधान कार्यालय बुखारेस्ट, रूमानियाँ में कर दिया गया। यद्यपि कामिन्फार्म का स्वरूप अथवा राजनीतिक कार्य कभी भी तृतीय इंटरनेशनल-जैसे नहीं दिखाई दिए, तथापि

---

१. न्यूयार्क टाइम्स, ३ मार्च, १९४७।

२. सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का मूल पाठ, न्यूयार्क टाइम्स, ९ अक्टूबर, १९४७।

३. वही।

इस काम के लिए इसका किस सीमा तक—कम-से-कम आरंभिक दिनों में सदस्य साम्यवादी दलों की नीतियों तथा कार्यों का समन्वय करने के लिए प्रयोग किया गया, यह वास्तव में किसी को ज्ञात नहीं। काफी दिनों के बाद इसकी जो एक गतिविधि सार्वजनिक रूप से प्रकाश में आई, वह थी 'फार ए लास्टिंग पीस, फार ए पीपुल्स डेमोक्रेसी' (स्थायी शांति तथा लोक प्रजातंत्र के लिए) नामक एक साप्ताहिक का विभिन्न प्रमुख भाषाओं में प्रकाशन है। इसके सदस्यों का अंतिम ज्ञात सम्मेलन १९४९ ई० में हुआ था। अप्रेल, १९५६ में इसे भंग कर दिया गया, जिसके आदेश पर शेष आठ साम्यवादी दलों की कद्रीय समितियों के हस्ताक्षर थे। कामिन्फार्म ने 'श्रमिक वर्ग तथा समस्त श्रमिकों के बीच बेहतर संपर्क रख कर स्थायी शांति, प्रजातंत्र तथा समाजवाद के लिए किए जाने वाले संघर्ष' में तथा बंधु दलों को बल प्रदान करके और जनता में साम्यवादी दलों का प्रभाव बढ़ाने में जो सेवाएँ की थीं, उनका उल्लेख विघटन वक्तव्य में किया गया था। इसके विघटन का कारण बताते हुए कहा गया था कि 'गत कुछ वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन' आए हैं, 'एक देश की सीमाओं में बँध समाजवाद का विस्तार हुआ है तथा यह एक विश्वव्यापी प्रणाली में बदल गया है, पूँजीवादी, पराधीन तथा औपनिवेशिक देशों में बहुत से साम्यवादी दल सशक्त हो गए हैं। साम्यवादी दलों में श्रमिक वर्ग द्वारा कार्रवाइयाँ करने के लिए नई स्थितियाँ' पैदा हो गई हैं और कामिन्फार्म इन नई स्थितियों के अनुरूप नहीं रह गया था।' इस वक्तव्य में सुझाव दिया गया था कि "अलग-अलग साम्यवादी दल······ एक दूसरे के साथ संपर्क रखने के नए उपयोगी तरीके खोज निकालेगी।" [1]

संभावना इस बात की है कि कामिन्फार्म का त्याग बहुत से संघटक तत्त्वों के कारण किया गया है, जिनमें से कुछ (कम से कम उस समय के लिए) से यूगोस्लाविया को साम्यवादी राष्ट्र परिवार में फिर सम्मान के साथ ले आना तथा स्टालिन की मृत्यु, जो कामिन्फार्म को एक तरह से अपना व्यक्तिगत अस्त्र मानते थे; उस समय सोवियत संघ का साम्यवादी दल और सरकार को यह दिखावा बचाना चाहते थे कि वह गैर-साम्यवादी देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। सोवियत संघ के साम्यवादी दल के नेताओं ने अपनी बीसवीं अखिलसंघीय पार्टी कांग्रेस में यह सुझाव दिया था कि उन राष्ट्रों में जहाँ श्रमिक संस्थाएँ बहुत अधिक विकसित हैं, वहाँ पूँजीवाद से समाजवाद तक का परिवर्तन गैर-क्रांतिकारी साधनों द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से हो सकता है और उस समय संसार के साम्यवादी दल मौडरेट सोशलिस्टों

---

[1] विघटन वक्तव्य का पाठ, न्यूयार्क टाइम्स, १८ अप्रैल, १९५६।

षज्ञों की सहायता से इसके कारणों का अध्ययन कराने का निश्चय किया। आम धारणा यह है कि मार्क्सवादी झुकाव, पूंजीवाद के खोखलेपन तथा उद्योगों पर जनता के नियंत्रण की बातों पर अभी तक समाजवादी दल जो जोर देते हैं, इन सब का असर पश्चिमी यूरोप में समाप्त हो गया है; क्योंकि इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ भले ही मूलभूत रूप से समाजवादी हैं, तथापि उनमें या तो नाटकीय तेजी के साथ प्रगति हुई है जैसा पश्चिमी जर्मनी में हुआ है या संतोषजनक समृद्धि आ गई है जैसा ब्रिटेन में है। इंटरनेशनल से संबद्ध समाजवादी दल अलग-अलग तौर पर इस मामले में आत्मनिरीक्षण कर रहे हैं—जैसे ब्रिटिश श्रमिक दल''[1] अथवा अपने सिद्धांतों और कार्यक्रमों में वास्तविक संशोधन कर रहा है। उदाहरण के लिए जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने पाँच वर्ष के लिए विचार-विमर्श के पश्चात् सन् १९५९ में प्रचंड बहुमत से नया घोषणापत्र अथवा 'सिद्धांतों का कार्यक्रम' स्वीकार किया, जिसमें पूंजीवादी स्वामित्व की विस्फोटक प्रकृति के मार्क्सवादी सिद्धांत के अपनाए रहने की बात छोड़ दी गई थी और सैद्धांतिक जोर इस पर नहीं दिया जा रहा था। इस घोषणापत्र में इन बातों पर ध्यान केंद्रित किया गया था—आर्थिक सत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, इस पर सार्वजनिक नियंत्रण लगाने की आवश्यकता, बाजारों पर एकाधिकारीय प्रभुत्व स्थापित होने से रोकना, मालिकों द्वारा व्यावसायिक निर्णय करते समय श्रमिकों का प्रतिनिधित्व (सह-निर्णय) होना; उपभोक्ता तथा श्रमिकों के लिए प्रतियोगिता और चुनाव की स्वतंत्रता, जहाँ नियंत्रण के अन्य साधन प्रभावपूर्ण नहीं हैं; वहाँ सार्वजनिक स्वामित्व पुनः लागू करना। संक्षेप में इस नए कार्यक्रम में कहा गया था कि ''जहाँ तक संभव हो, वहाँ तक स्पर्द्धा और जहाँ आवश्यक हो वहाँ आयोजना।''[2] तथ्यों से प्रकट होता है कि प्रजातांत्रिक समाजवाद कम-से-कम यूरोप में तो संक्रमण की स्थिति में है और इसका भविष्य इस समय अनिश्चित है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी तथा समाजवादी दल

संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी दल को यद्यपि आधिकारिक तौर पर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा साम्यवादी दल की गतिविधियों से कोई संबंध नहीं है, तथापि इसने सिद्धांत और कार्यक्रम की दृष्टि से सोवियत संघ के साम्यवादी दल का ही अनुसरण किया है। अधिकाधिक संयुक्त राज्य अमेरिका का समाजवादी दल भी सर्वथा

---

[1] देखिए, पृष्ठ २७०-२७२।

[2] दि न्यू लीडर, २५ जनवरी, १९६०, पृष्ठ १५। देखिए, वही, १४ मार्च, १९६०, पृष्ठ १२-१३।

अकेला तथा समाजवादी इंटरनेशनल से भी अलग रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी तथा समाजवादी दल दोनों ही इतने कमजोर हैं, जितने किसी भी उद्योगप्रधान देश में नहीं होंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी दल का दावा है कि उसकी सदस्य-संख्या १०,००० है। किंतु, बाहरी प्रेक्षकों का मत है कि सदस्यता-शुल्क आदि देने वाले वास्तविक लोगों की संख्या ३००० के करीब है। यह सन् १९४५ की स्थिति से सर्वथा भिन्न है, जब इसकी सदस्य-संख्या ७५,००० थी। इसके दैनिक समाचार पत्र 'डेली वर्कर' की प्रसार-संख्या में इतनी कमी हुई कि यह 'वर्कर' बन कर रह गया है और साप्ताहिक निकलने लगा है, जिसकी प्रसार-संख्या १५,००० प्रति सप्ताह है। १९५९ ई० में हुए इसके राष्ट्रीय सम्मेलन में ४० राज्यों से कोई २२२ प्रतिनिधि आए। इसमें स्वीकार किए गए उद्देश्यों तथा कार्यों के घोषणापत्र में 'शांतिपूर्ण समाजवादी क्रांति' की बात कही गई थी···क्योंकि यह अधिक अच्छा है और आधारभूत परिवर्तन का सबसे कम कष्टपूर्ण तरीका है, इसमें परमाणविक युद्ध को अवांछनीय बताया गया था, 'बिल ऑफ राइटस' की पुन:प्रतिष्ठा एवं जातिभेद समाप्त करने का कानून बनाने की माँग की गई थी। श्रमिक वर्ग को यह समझाने का प्रयास किया गया था कि "साम्यवादियों को समस्त श्रमिक और संयुक्त राज्य अमेरिका, क्यूबा से हाथ अलग रखने की नीति अपनाने को कहा गया था।"[1]

बहुत सारे संघीय कानून इस देश से साम्यवादी दल को समाप्त करने के उद्देश्य से बनाए गए हैं।[2]

१, न्यूयार्क टाइम्स, १३ एवं १४ दिसंबर, १९५९।

२. स्मिथ ऐक्ट (१९४०) ने शक्ति या हिंसा से सरकार को उलट देने की सीख देने या इसका समर्थन करने या जान-बूझ कर किसी ऐसी संस्था का सदस्य बनना अपराध घोषित कर दिया, जिसका उद्देश्य सरकार शक्ति और हिंसा से उलटना हो। स० रा० अमेरिका के साम्यवादी दल के १०० से ऊपर तो इस कानून के अधीन सरकार को शक्ति और हिंसा से उलटने का षडयंत्र करने के अभियोग में दंडित किए गए थे। १९५१ ई० में सर्वोच्च न्यायालय ने इस षड्यंत्र के लिए इस अधिनियम के अधीन दिए गए इस दंड को वैध बताया था। साम्यवादी दल के तीन सदस्यों को 'षडयंत्र के किसी आरोप' के बिना, अलग-अलग तौर पर इस अधिनियम के अधीन दंडित किया गया है और यह पुस्तक लिखे जाने के समय उनकी अपीलें सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष विचारार्थ पडी हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले पर निर्णय करना अनेक बार स्थगित किया है और एक न्यायपति ने तो इस पर कड़ी आपत्ति प्रकट की है। उनका कहना है कि "मैंने इस न्यायालय के इतिहास में कोई भी ऐसा मुकदमा नहीं देखा जो इसके सामने इतनी बार आया हो या जिस पर इतनी अधिक बार बहस हुई हो।" (न्यूयार्क टाइम्स, ६ फरवरी, १९६०)। इस मुकदमे की जिरह अदालत ने २९ अप्रील, १९५९ को

हुआ। इसमें भी इसी कठिनाई के कारण यह संस्था फिर न बन पाई, लेकिन समाजवादी दलों के साथ संपर्क बनाए रखने के लिए एक स्थायी समन्वय समिनि की स्थापना की गई। सन् १९४८ से १९५० तक और सम्मेलन किए गए और साम्यवादी प्रभाव वाले दलों को उसमें से धीरे-धीरे निकाल दिया गया जिनसे इन ग्रुप में अनेक समाजवादी तथा सोशल डेमोक्रेट पार्टियाँ रह गईं, जो मुख्य रूप से पश्चिमी यूरोप की—जिसमें पश्चिमी जर्मनी भी शामिल हैं, थीं। जून, १९५१ में, फ्रांकफर्ट, जर्मनी में २२ राष्ट्रों के दलों ने औपचारिक रूप से समाजवादी इंटरनेशनल की स्थापना की, जिसे कभी-कभी 'द्वितीय इंटरनेशनल' भी कहते हैं। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के समाजवादी दल ने कोई भी भाग नहीं लिया, हालांकि उस दल के एक भाग को इस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

'प्रजातांत्रिक समाजवाद के सिद्धांतों के एक घोषणापत्र' में नई संस्था के सदस्यों ने पूँजीवाद की "साम्राज्यवादी विस्तार और औपनिवेशिक शोषण करने, तथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं पर 'आम संख्यक लोगों द्वारा उत्पादन के साधनों का स्वामित्व अथवा नियंत्रण' होने के लिए निंदा की। उन्होंने सरकारी आर्थिक आयोजना तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को वास्तविक प्रजातंत्र के अनुरूप होने में अपना विश्वास प्रकट किया और सोवियत संघ के शासन के तानाशाही स्वरूप की भी निंदा की।"[1] यद्यपि समाजवादी इंटरनेशनल समाजवादी दलों का एक ढीला-ढाला सा संघ है और इस समय उसमें सम्मिलित ४० दलों की नीतियों या सिद्धांतों का संचालन नहीं करता, तथापि यह पुस्तक लिखते समय बहुत ही सक्रिय संस्था है और इसके सदस्य दलों का पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों में विभिन्न मात्रा में प्रभाव है। सन् १९५६ में ज्यूरिच, स्विटजरलैंड में हुए इसके एक सम्मेलन में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की बीसवीं अखिलसंघीय काँग्रेस में स्वीकृत प्रस्ताव पर मुख्य रूप से विचार किया गया। इसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि साम्यवादी, समाजवादी तथा ऐसे अन्य दलों के साथ पुनः कार्य साधने-योग्य संपर्क स्थापित किए जाएँ, जो अपने कार्यों द्वारा शांति के समर्थक हों, साम्राज्यवादी जुए को उतार फेंकने के लिए संघर्ष कर रहे हों तथा अपनी जनता के राष्ट्रीय हितों की, प्रजातंत्र तथा स्वतंत्रता की रक्षा करते हों।' (गैर-साम्यवादी देशों में समाजवादी तथा श्रमिक वर्ग के अन्य ग्रुपों के साथ मिल कर संयुक्त मोर्चे बनाना जिनमें वह ग्रुप अपनी राजनीतिक अथवा सैद्धांतिक स्वतंत्रता या पृथक् सत्ता न खोए, १९५६ से ही कम्युनिस्टों की प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय चाल बन गई थी।) प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। सम्मेलन ने

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, ७ जुलाई; १९५१।

इस अस्वीकृति के लिए 'समाजवादी इंटरनेशनल' का अन्य राजनीतिक शक्तियों के साथ संबंधों के बारे में एक वक्तव्य का प्रारूप भी तैयार किया गया था। इसमें कहा गया था कि सोवियत संघ में हाल में चाहे जो परिवर्तन हुए हों, फिर भी, 'साम्यवादी तानाशाही के सिद्धांतों तथा नीतियों में वास्तविक परिवर्तन होने के 'पर्याप्त प्रमाण' मौजूद नहीं हैं और इसलिए 'प्रजातांत्रिक समाजवाद' ने जो स्थिति अपनाई है, उससे हटने का कोई कारण नहीं है, जिसके अनुसार 'तानाशाही वाले दलों के साथ कोई संयुक्त मोर्चा बनाने अथवा किसी अन्य प्रकार का राजनीतिक सहयोग करने की बात को पूरी तौर से अस्वीकार किया गया है।' इस वक्तव्य में विशेष रूप से कहा गया है कि 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बातचीत करने की संभावना तक के लिए न्यूनतम पूर्व शर्त उन सभी देशों में वास्तविक रूप से स्वतंत्र प्रजातांत्रिक श्रमिक आंदोलन की पुनः स्थापना है, जहाँ वह पहले विद्यमान था। लेकिन, साम्यवादी तानाशाही ने जिसे दबा दिया है अथवा समाप्त कर दिया है।'

समाजवादी इंटरनेशनल की बैठकें लगभग प्रतिवर्ष होती रहीं। हैम्बर्ग, जर्मनी में सन् १९५९ में हुई बैठक में ३८ राष्ट्रीय दलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनका दावा था कि उनकी सदस्य-संख्या १ करोड़, १० लाख है और जिनके पीछे ६ करोड़ मतदाता हैं। यूरोप के तीन देशों में समाजवादी एवं श्रमिक दलों की सरकारें बनी हुई थीं और संसार भर के अन्य अनेक देशों में ये दल या तो मिली-जुली सरकारों में शामिल थे या सशक्त विरोधी दल के रूप में थे। १९५९ ई० के सम्मेलन में जर्मनी के भविष्य, अणुशास्त्रियों की समस्याओं और अल्प विकसित देशों को सहायता देने के प्रश्न पर मतभेद था। यह १९६० ई० का सम्मेलन है जो इजराइल में हुआ, जिसमें २९ देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें पहली बार 'इंटरनेशनल' का ध्यान एशिया तथा अफ्रीका के समाजवादी दलों की समस्याओं की ओर गया लगता है। इन महाद्वीपों के देशों में उन राजनीतिक समस्याओं की अपेक्षा तेजी से आर्थिक विकास करने की समस्या अधिक प्रमुख है, जिनकी तरफ यूरोपीय समाजवादी दलों का ध्यान पहले बहुत अधिक रहा। इस इंटरनेशनल ने विकासशील क्षेत्रों के लिए स्थायी संयुक्त समिति की स्थापना की और एशिया तथा अफ्रीका में गोष्ठियाँ करने की योजना बनाई, जिससे अल्प विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास तथा विदेशी आर्थिक सहायता के प्रश्नों पर विचार किया जा सके।

हाल के यूरोपीय चुनावों में प्रजातंत्रीय समाजवादी दलों को जो पराजय उठानी पड़ी, समाजवादी इंटरनेशनल ने उसमें बहुत अधिक दिलचस्पी ली—इसमें सबसे उल्लेखनीय पराजय ब्रिटिश श्रमिक दल की १९५९ ई०में हुई थी(इस विषय पर बाद के किसी अध्याय में विचार किया जाएगा) समाजवादी इंटरनेशनल ने "विशे-

६. क्या अराजकतावाद और समाजवाद में पाई जाने वाली समानताओं के कारण दोनों को सर्वथा एक ही जैसा समझना उचित है ?

७. क्या आप यह कहेंगे कि समाजवाद और साम्यवाद में बहुत-सी बातें मिलती हैं अथवा कुछ भी नहीं मिलता ? सोदाहरण बताइए ।

८. किस दृष्टि से समाजवाद अधिक तात्कालिक तथा साम्यवाद अधिक दूरवर्त्ती आदर्श है ?

९. अराजकतावादी साम्यवाद की परिभाषा कीजिए और समाजवाद तथा साम्यवाद के साथ उसका संबंध बताइए ।

१०. युद्ध तथा अनेक 'इंटरनेशनलों' की सफलता या विफलताओं में क्या संबंध रहा है ?

११. क्या 'कोमिन्फार्म' और 'कौमिन्टर्न' एक ही हैं या अलग-अलग ? किन कारणों से 'कोमिन्फार्म' को समाप्त कर दिया गया है ?

१२. संयुक्त राज्य अमेरिका के समाजवादी दल की वर्त्तमान कमजोरियाँ आने में किन-किन तत्त्वों का हाथ है ?

१३. संयुक्त राज्य अमेरिका में इस समय साम्यवादी दल और उनके सदस्यों की कानूनी स्थिति क्या है ?

अध्याय १२

समाजवाद के कार्यक्रम : संक्रमण

पूँजीवाद पर आक्रमण

समाजवादी आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं में से एक विशेषता पूँजीवाद पर आक्रमण करना रही है। इस आक्रमण की क़िस्म समय-समय पर बदलती रही है, किंतु उसकी उग्रता में कभी भी कमी नहीं आई। पूँजीवाद की कुछ आलोचनाओं की, जो मार्क्सवादी सिद्धांत का एक निरूढ़ अंग बन गई है, समीक्षा की गई है। मार्क्सवाद ने इस पर जोर दिया था कि ऐसी पद्धति का पतन होना अवश्यंभावी है, जिससे 'बेशी मूल्य' पूँजीपतियों की जेबों में जाता है। इससे मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या तथा अपेक्षाकृत छोटे पूँजीपति-वर्ग के हितों में एक ऐसा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जिसको ले कर समझौता नहीं हो सकता है। जो आधुनिक समाजवादी मार्क्सवादी सिद्धांत का कठोरता से पालन करते हैं, उनकी विचारधारा में न तो इस प्रकार की आलोचना में कोई परिवर्तन हुआ है और न उसकी तीव्रता में ही कमी आई है।

फिर भी, आधुनिक समाजवाद के अंदर एक दूसरे ही ढंग का आक्रमण पनपा है। इसमें उन मौजूदा कमियों पर जोर दिया गया है, जिसकी चर्चा पहले के अध्याय में पूँजीवाद की कमियों के रूप में की जा चुकी है। समाजवादी का तर्क यह है कि ये कमियाँ इतनी अधिक और मूलभूत हैं कि पूँजीवादी पद्धति की अब आगे कोई उपादेयता नहीं रह जाती है। उसका कथन है कि चूँकि उनका प्रादुर्भाव पूँजीवादी पद्धति की मूल संस्थाओं के लागू होने से होता है, इसलिए इन्हें तर्कसम्मत समझा जाना चाहिए और उनमें चाहे कितना भी सुधार क्यों न कर दिया जाए, फिर भी उसके परिणाम से बचा नहीं जा सकता। समाजवादी इन आलोचनाओं को मूलतः मार्क्सवाद द्वारा पूँजीवाद पर किए गए आक्रमण से बिल्कुल सुसंगत समझता है, जो मार्क्सवादी सिद्धांतों की उपयुक्तता की विशिष्ट प्रमाण मात्र है।

हाल के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका का समाजवादी दल एकदम ही बेकार हो गया है; क्योंकि उसके सदस्यों में आंतरिक मतभेद चल रहे हैं। सन् १९१२ के

पृष्ठ २६८ की पाद-टिप्पणी दो का शेषांश।

सुनी थी। ३ जून, १९५९ को इसने नए सिरे से जिरह सुनने का आदेश दिया जो १९ नवंबर, १९५९ को होनी थी। न्यायालय ने कहा था कि वह चाहती है कि सरकारी वकील तथा बचाव पक्ष के वकील दोनों ही इस मामले पर नए सिरे से दलीलें प्रस्तुत करें और दुबारा दलीलें देते समय वे जिन बातों पर प्रकाश डालें, वे बहुत सारे प्रश्न भी उसने उपस्थित किए थे। १२ अक्टूबर, १९५९ को अदालत ने एक अन्य दंडित व्यक्ति की अपील भी इसके साथ मिला दी और दलीलें देने के लिए ९३ फरवरी, १९६० की तारीख मुकर्रिर की ५ फरवरी, १९६० को उसने एक अन्य मुकदमा भी इन दोनों के साथ मिला दिया—यह ऐसा मुक़दमा था, जो ऊपरी तौर पर इनसे कतई संबद्ध नहीं लगता था—और पुनः दलीलें देने की तारीख १० अक्तूबर, १९६० डाल दी। यह पुस्तक लिखते समय न्यायालय का निर्णय हुआ नहीं था। आंतरिक सुरक्षा अधिनियम (१९५०) में व्यवस्था की गई है कि यदि कोई संस्था, इस अधिनियम के अधीन स्थापित किए गए 'ध्वंसात्मक कार्यवाही नियंत्रक बोर्ड' द्वारा साम्यवादी कार्रवाई वाला दल घोषित किया जाए (साम्यवादी दल ऐसा ही दल घोषित कर दिया गया है) तो उस संस्था को महान्यायवादी के यहाँ अपना नाम दर्ज कराना होता है, सदस्यों की सूची प्रस्तुत करनी होती है तथा वित्तीय रिपोर्ट देनी होती है और सभी डाक तथा प्रसारणों को साम्यवादी संस्था द्वारा प्रचारित करना होता है। इस प्रकार की संस्था का सदस्य न तो पासपोर्ट प्राप्त कर सकता है, न सरकारी नौकरी पा सकता है और न किसी रक्षा-कारखाने में काम कर सकता है। यह कानून वैध है या नहीं, यह प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष कानून बनने के दस साल बाद भी निर्णयाधीन पड़ा है। दि इम्यूनिटी ऐक्ट (१९५४) में व्यवस्था की गई है कि यदि कोई व्यक्ति संसदीय समिति, ग्रैंड जूरी अथवा अदालत के समक्ष गवाही देने के लिए बुलाया गया और यदि उसे न्याय विभाग मुक़दमा न चलाने का कानून संरक्षण प्रदान करे, उस अवस्था में यदि प्रश्नों के उत्तर इस आधार पर देने से इन्कार करे कि उसके ऊपर से उसी को दोषी ठहराया जा सकता है, तो वह पाँचवें संशोधन के अधीन प्राप्त संरक्षण खो देगा। सर्वोच्च न्यायालय ने उस कानून को वैध करार दे दिया है। इसके अधीन काँग्रेस की जाँचकर्त्री समिति साम्यवादी दल के किसी भी अनिच्छुक सदस्य को अन्य सदस्यों के नाम बताने के लिए विवश कर सकती है और यदि वह नाम बताने से इन्कार करे तो काँग्रेस की अवमानना करने के अपराध में उसे कारावास-दंड दिया जा सकता है। कम्युनिस्ट कंट्रोल ऐक्ट (१९५४) में व्यवस्था की गई है कि साम्यवाद दल को वे अधिकार, सुविधाएँ तथा निरापदताएँ प्राप्त न होंगी, जो विधि-सम्मत निकायों को प्राप्त होती हैं। लेकिन इस अधिनियम में किसी प्रकार के दंड की व्यवस्था ही हैं।" यद्यपि इस अधिनियम का उद्देश्य 'साम्यवादी दल को गैर कानूनी करार' करना है, तथापि यह स्पष्ट नहीं है कि इसका ऐसा प्रभाव है। यह अधिनियम काँग्रेस के एक सत्र के अंतिम घंटों में जल्दी-जल्दी में पारित करने के उद्देश्य राजनीतिक थे और सरकारी वकील भी इसके अर्थों के विषय में अनिश्चित ही हैं। यह पुस्तक लिखते समय इस अधिनियम की सांविधानिक वैधता पर संघीय अदालतों में विचार किया जा रहा है।

राष्ट्रपति-चुनाव में, समाजवादी दल के उम्मीदवार को कुल मतदाताओं के ६ प्रतिशत मिले ये। सन् १९५२ के राष्ट्रपति-चुनाव में, जब कुल मतदाताओं के प्रतिशत का अर्थ ३५ लाख मतदाता होता है, इसके उम्मीदवार को २०,००० से कुछ ही अधिक मत मिले थे।

सन् १९६० के राष्ट्रपति-चुनाव वाले वर्ष में समाजवादी दल का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें २००प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसमें उन्होंने १८९७ ई०में यूजीन वी० डेब्स द्वारा स्थापित किए जाने के बाद, राष्ट्रपति के चुनाव में कोई उम्मीदवार न खड़ा करने का पहली बार निश्चय किया। सम्मेलन का ध्यान दल के एक घोषणा पर ही केंद्रित रहा, जिसका शीर्षक था—'अमेरिका में राजनीतिक पुनर्लक्ष्य निर्धारण की ओर' जो अंततः स्वीकार कर लिया गया था। इसमें कहा गया था कि दल 'संयुक्त राज्य अमेरिका में सभी राजनीतिक शक्तियों का पुनर्मूल्यांकन तथा पुनः लक्ष्य निर्धारण कर रहा है' दो राजनीतिक दलों की किसी भी सैद्धांतिक राजनीतिक कार्य के अनुरूप नहीं है। 'श्रमिकों, किसानों, नीग्रो लोगों तथा अन्य अल्पसंख्यकों, उदार एवं शांति चाहने वाली शक्तियों को अपने दल के झंडे के नीचे इकट्ठा होना चाहिए और अनुदारवादियों, बड़े व्यापारियों, सैनिकवादियों, राष्ट्रवादियों और उनके सभी साथियों को अपने अलग दल में चले जाना चाहिए।' "इस सम्मेलन में आए कुछ लोगों ने इस वक्तव्य को स्वीकार किए जाने का यह अर्थ लिया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्र समाजवादी आंदोलन समाप्त हो जाएगा।"[1]

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. सामान्य व्यक्ति अक्सर समाजवाद शब्द के सही अर्थ के विषय में भ्रम में क्यों पड़े होते हैं? क्या इसका कारण यह है कि समाजवाद एक ऐसा शब्द है, जिसकी परिभाषा करना कठिन है?

२. समाजवाद की परिभाषा में क्या-क्या बातें आनी ही चाहिए, जिससे वह ठीक-ठीक तथा पूर्ण हो सके?

३. समाजवाद के अनेक गैर-आर्थिक पहलू होते हैं। क्या समाजवाद की व्याख्या इनकी दृष्टि से करना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा?

४. समाजवाद तथा सामाजिक सुधारों को क्यों अक्सर एक ही समझा जाता है? क्या वे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं?

५. क्या समाजवाद के पीछे भी वही विचार काम करता है, जो सरकारी स्वामित्व आंदोलन के पीछे है?

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, २१ मई, १९६०।

विस्तृत कार्यक्रमों का अभाव

समाजवाद की आलोचना पूँजीवाद को समाप्त करने का एक प्रयत्न के रूप में की गई है। किंतु, उसके स्थान पर कौन सी चीज रखी जाए, यह नहीं बताया गया। इसे एक आदर्श कहा गया है, जिसका कोई व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं है। मौजूदा समाजवादी साहित्य के केवल एक छोटे से हिस्से में इस बात का विश्लेषण किया गया हैं कि भावी समाजवादी अर्थतंत्र किस प्रकार का होगा और उसे प्राप्त करने के लिए कौन-कौन सी विशिष्ट आयोजनाएँ अपनानी पड़ेंगी। समाजवाद के आलोचक इसे समाजवाद के अव्यावहारिक और कल्पनात्मक स्वरूप का अकाट्य प्रमाण मानते हैं। इस प्रवाह में एक यूरोपीय अर्थशास्त्री ने लिखा है कि समाजवादियों ने "इस बात की व्याख्या अवश्य की है कि उनके अभीप्सित मेघाच्छादित और कोकिल कल्पनाओं से पूर्ण जगत् में पकाए हुए कबूतर भी उड़ कर उनके कामरेडों के मुँह तक पहुँच जाएँगे, उन्होंने यह नहीं बताया कि आखिर यह चमत्कार होगा किस प्रकार ?"?[1]

यह केवल एक हास्यास्पद अतिशयोक्ति ही नहीं है, अपितु इसका आशय काफी सारपूर्ण है। समाजवादी अनेक प्रकार से यथार्थवादी हैं। वस्तुतः बहुधा वे पूँजीवाद की हिदायत करने वालों से भी अधिक यथार्थवादी होते हैं। यह समस्या मूल रूप से एक उच्च दार्शनिक ढंग की समस्या है। जब तक इस संबंध में व्यावहारिक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों द्वारा इसको विचार करने योग्य नहीं समझा जाता, तब तक यह कह सकना असंभव है कि समाजवादी आंदोलन का अग्रिम कार्यक्रम क्या होना चाहिए। किसी प्रस्तावित परिवर्तन के ब्योरों पर पर्याप्त विचार कर लेने के लाभ स्पष्ट ही हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि यदि भविष्य के लिए विशद् योजनाएँ नहीं बनाई गई हैं, तो यह आवश्यक नहीं है कि समाज में जो वांछित परिवर्तन किए जाने हैं, उन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़े। इसमें कितना सत्य है, यह जानने के लिए हमें केवल यही याद रखना पड़ेगा कि अमेरिका में किसी भी निर्धारित राजनीतिक कार्यक्रम के न होना ही अमेरिकी क्रांतिकाल में नेतृत्व का स्वरूप था। फिर भी, इस सादृश्य पर हमें बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिए; क्योंकि उस समय अपेक्षाकृत सादा जीवन होने के कारण ही किसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई, जैसा आज आयोजनारहित क्रांति के फलस्वरूप हो सकता है।

---

[1] एफ० ए० वॉन हायिक (संपादक) 'कलेक्टिविस्ट इकोनॉमिक प्लानिंग,'' लंदन, राउट लैज, १६३५, अध्याय लेखक लुडविग वान माइसेज, पृष्ठ ८८।

विशिष्ट आयोजनाओं की कमी के कारण

समाजवाद विशिष्ट आयोजनाओं पर जोर क्यों नहीं देता, इसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला कारण इसकी व्याख्या है, औचित्य नहीं; जबकि दूसरा कारण दोनों प्रकार से एक उपाय है। आधुनिक समाजवाद एक शताब्दी पहले सीधे मार्क्सवादी समाजवाद से उत्पन्न हुआ है, जिसमें पूँजीवाद के अवश्यंभावी पतन पर जोर दिया गया था। इस अवश्यंभाविता से एक नए समाज की स्थापना हुई और पुराना समाज नष्ट हो गया। यदि मजदूरों को यह पता होता कि परिवर्तन होने वाला है और उन्होंने इसके लिए अपने-आप को विचारों और मानसिक रूप से तैयार कर लिया होता तो जैसे ही परिवर्तन आया था, उसके स्वरूप को जानकर अपने-आप को बदल लेते। किंतु, इससे एक नई व्यवस्था की स्थापना की भावना पैदा हो गई, जिससे मार्क्सवादी सिद्धांतों का पालन करने वालों को भविष्य के बारे में जानने अथवा नई व्यवस्था में आर्थिक कार्यविधियों को संगठित करने के लिए योजना बनाने में प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

आधुनिक समाजवादियों ने इन विशिष्ट योजनाओं के न होने का जो कारण बताया है, उसमें अनिवार्यता और आत्मगतिकता का रंग तो कम है, किंतु उसमें समाजवाद के द्वारा तात्कालिक परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन का उन विशिष्ट तरीकों और कार्यविधि पर जो प्रभावशाली असर पड़ेगा, उस पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यदि समाजवाद का उद्देश्य एक धीमी और क्रमिक वैज्ञानिक प्रक्रिया से आना है, तो धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन का भी उस तरीके पर बहुत असर पड़ेगा, जिसके द्वारा संपूर्ण समाजवाद की स्थापना की जानी है। यदि युद्ध या मंदी अथवा दोनों के फलस्वरूप पूँजीवाद को बिलकुल भंग करना हो, तो समाजवाद की योजनाएँ उन योजनाओं से बिल्कुल भिन्न हो जाएँगी यदि सामान्य रूप से भली प्रकार कार्य कर रही अर्थ-व्यवस्था में संक्रमण पैदा हुआ होता। यदि उत्पादक वस्तुओं का हक केवल मुट्ठी भर लोगों के हाथ में ही रहता है, तो समाजीकरण के लिए अपनायी जाने वाली उनकी कार्रवाई का नमूना इस समय स्वीकृत योजना से बिलकुल भिन्न होगा, जब इन वस्तुओं के निर्माण का काम सारी जनता में बँटा हुआ हो।

इसके अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। यहाँ पर इतना बता देना ही काफी होगा कि समाजवादी का तर्क यह होता है कि इस प्रकार की परिस्थितियों की संभाव्य भिन्नता के कारण यह निश्चित कर सकना असंभव हो जाता है कि समाजवाद को अपनाने के लिए कौन-कौन से कदम उठाए जाने चाहिए, इनका क्या

क्रम होना चाहिए अथवा वह संगठन-संबंधी कौन विशिष्ट योजना अपनाना चाहेगा। फिर भी, इतना तो मानना पड़ेगा कि आधुनिक समाजवादी ने अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा इस बात पर अधिक ध्यान दिया है कि विभिन्न प्रकार की कल्पित स्थितियों में क्या होगा अथवा क्या किया जा सकता है।

आकस्मिक बनाम क्रमिक समाजीकरण

संपूर्ण समाजवादी कार्यक्रम का मूल ध्येय उत्पादक पदार्थ का हक व्यक्ति-विशेष से लेकर समाज को देना है। जब कोई यह पूछने लगता है कि यह किस प्रकार किया जाना है, तो कुछ मूलभूत प्रश्न तत्काल ही सामने आ जाते हैं।

हक दिलाने का यह काम आकस्मिक और विशद रूप से किया जाना चाहिए या धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा करके ? यदि दूसरे प्रकार से करना है, तो विभिन्न प्रकार की संपत्ति को किस क्रम से लिया जाना चाहिए ? क्या संपत्ति के पहले मालिकों को उनकी संपत्ति का पूरा या आंशिक प्रतिकर दिया जाना चाहिए अथवा कुछ भी प्रतिकर नहीं दिया जाना चाहिए ? क्या स्वामित्व में यह परिवर्तन जब्त करने की कार्रवाई किए बिना संभव हो सकता है ? इस प्रकार से स्वामित्व में समाज के सरकारी तंत्र का कितना अंश होना चाहिए ? स्पष्ट है कि ये बनावटी प्रश्न नहीं हैं। इनके महत्त्व को समझते हुए आधुनिक समाजवादी इस संबंध में पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं, जिससे इन प्रश्नों के सर्वसम्मति से स्वीकृत उत्तर मिल सकें। पर, इसमें सफल नहीं हो पा रहे हैं।

एक प्रश्न के बारे में कि क्या उत्पादक माल का समाजीकरण आकस्मिक होना चाहिए अथवा धीरे-धीरे, विश्व के समाजवादी आंदोलन में अनेक वर्षों से दो विचारधाराएँ चली आ रही हैं। 'क्रांतिकारी' समाजवादियों का मत है कि यह आकस्मिक होना चाहिए, जबकि 'विकासशील' समाजवादी स्वामित्व का हस्तांतरण धीरे-धीरे करने के पक्ष में हैं। निस्संदेह ही तार्किक दृष्टि से यही पता चलता है कि क्रांतिकारी संपत्ति के अधिकारों को बहुत कुछ हिंसा का प्रयोग कर अथवा बल दिखा कर (जब तक उन्हें स्वेच्छा से न छोड़ दिया गया हो) ले लेंगे, जबकि विकासशील इन हकों को धीरे-धीरे लोकतंत्रात्मक ढंग से वैधानिक कार्यों के द्वारा लिए जाने की वकालत करते हैं। अतः, क्रांतिकारी के सामने प्रतिकर का प्रश्न ही नहीं रह जाता; क्योंकि यदि ये हक एकदम इकट्ठे ही ले लिए जाते हैं, तो जो उपाय प्रयोग में लिया गया है, उससे सीधे जब्त कर लिए जाने का बोध होता है। दूसरी ओर थोड़ा-थोड़ा करके और धीरे-धीरे जो वैधानिक उपाय से लिए जाते हैं, उनका अनिवार्य रूप से यह तात्पर्य नहीं निकलता है कि पहले वाले मालिकों को प्रतिकर दिया जाएगा, किंतु इसमें प्रतिकर के दिए जाने का प्रश्न अवश्य उठता है।

मार्क्सवादी मार्ग का पूरी तरह अनुसरण करके आधुनिक समाज द्वारा क्रांतिकारी ढंग से उत्पादक पदार्थ को विशद रूप से अपने अधिकार में ले लिए जाने पर बल देता है। यह बात इस सिद्धांत पर आधारित है कि इसके अतिरिक्त इन हकों को बदलने का और कोई भी तरीका नहीं है। मार्क्स के लिए क्रांतिकारी उपाय अपनाने के अतिरिक्त और कोई उपाय संभव नहीं था; क्योंकि मालिक इन हकों को प्रतिकर लिए बिना स्वेच्छा से छोड़ने को तैयार नहीं थे तथा प्रतिकर देने से तो समाजवाद का प्रयोजन ही निष्फल हो जाता। इस हक को बदलने का क्रांतिकारी तरीका स्वामियों की पसंद है, समाजवादियों की नहीं। समाजवादी यह समझते हैं कि यदि उत्पादक पदार्थ के स्वामी समाज को अपनी संपत्ति के हक बिना मूल्य लिए दे देते हैं, तो उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता होगी। बताया जाता है कि ऐसा न तो कभी कहीं भी हुआ है और न होगा ही। स्वामी अपने कुछ हक प्रतिकर लेकर सरकार को हस्तांतरित कर सकते हैं या उन विनियमन विधियों के द्वारा जो लागू की जाने पर वास्तव में जब्त करने वाली किस्म की हों, अपनी संपत्ति के अधिकारों के संबंध में रूप भेद एक बार शांतिपूर्वक भले ही सहन कर लें, किंतु यदि उत्पादक पदार्थ के व्यक्तिगत हकों का संपूर्ण रूप से रद्द करने की धमकी दी जाती है, तो स्वामी उस संपत्ति का कब्जा देने के बदले बल प्रयोग से उसकी रक्षा करेंगे। यह क्रांति समाजवादियों की न हो कर समाज द्वारा संपत्ति को पुनः प्राप्त करके विरोध में उन स्वामियों की होगी, जिन पर स्वामियों का कोई दावा नहीं है।

दूसरी ओर अक्रांतिकारी लोग हैं। वह स्वीकार करते हुए कि आधुनिक समाज में शांतिपूर्वक संक्रमण के द्वारा पूरा समाजवाद कभी भी नहीं आया है। वे अब भी यही महसूस करते है कि समाजवाद की तात्कालिक योजनाओं में यह व्यवस्था होनी चाहिए कि उत्पादक माल के हक को क्रांतिकारी ढंग से लेने की अपेक्षा उन्हें धीरे-धीरे लिया जाना चाहिए। क्रांतिकारी ढंग के बारे में उनकी आपत्ति दो प्रकार की है। पहली तो यह है कि आज किसी ऐसे राष्ट्र में सामाजिक क्रांति होती है, जिसमे काफी उद्योगीकरण हो चुका है, तो ऐसी दशा में क्या स्वामी वर्ग की सैन्य-शक्ति इससे बहुत ज्यादा मात्रा मे होगी? जितनी उनकी संख्या है या लड़ाई के साधन जुटाने की उनकी भासमान योग्यता है दावा यह किया गया है कि स्वामियों की ऐसी महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति होगी कि उन्हें आवश्यक तकनीकी ज्ञानप्राप्त व्यक्तियों का समर्थन मिल जाएगा, जिससें उनकी संख्या को देखते हुए उन्हें कहीं अधिक अधिकार मिल जाएंगे।

इसके अतिरिक्त इस बात पर बल दिया गया है कि यदि संक्रमण क्रांतिकारी ढंग का होता है, तो उससे जितना विनाश होगा, उससे समाजवादी व्यवस्था के मार्ग

प्रकार स्थापित हो जाने पर भी निश्चय रूप से समाजवाद का प्रारंभ बड़े घटिया किस्म का होगा। हो सकता है कि इसका परिणाम यह निकले कि इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप पुनः क्रांति हो जाए और समाजवाद की स्थापना विफल हो जाए। जिस अर्थतंत्र में जटिल विशिष्ट प्रकार की मशीनें और प्रक्रियाएं काम में लायी जाती हैं, उसमें तनिक भी वास्तविक विनाश से संपूर्ण आर्थिक कार्यकलापों में ऐसी व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, जिससे इस नई व्यवस्था में जिसकी अभी शुरूआत ही हुई है, वस्तुओं के वास्तविक उत्पादन में काफी बाधा पहुँचे। कहा जाता है कि समाजवाद की सफलता की सबसे अधिक संभावना इसी बात में है कि उसकी शुरूआत इस प्रकार की होनी चाहिए कि उत्पादन-कार्यों में किसी प्रकार की बाधा न पड़ने पाए और यह तभी हो सकता है, जबकि संक्रमण क्रांतिकारी ढंग की अपेक्षा क्रमबद्ध रूप से हो।

समाजीकृत संपत्ति का प्रतिकर

जो समाजवादी क्रांतिकारी कार्यक्रम का विकासशील कार्यक्रम चुनते हैं, उन्हें इस समस्या का सामना करना ही पड़ता है कि क्या समाजीकृत संपत्ति के लिए प्रतिकर दिया जाना चाहिए या नहीं ? और यदि दिया जाना चाहिए, तो उसका भुगतान किस प्रकार किया जाना चाहिए ? इस मामले में समाजवादी प्रस्तावों में भिन्नता है। इस संबंध में एकदम जब्त कर लिए जाने से ले कर ऐसे प्रतिकर तक के भी प्रस्ताव रखे गए हैं जिससे वर्त्तमान स्वामियों की आर्थिक स्थिति इस समय जैसी है, इससे भी कुछ खराब न हो। इन सुझावों की विस्तार में समीक्षा नहीं की जा सकती, अपितु कुछ मोटे-मोटे सिद्धांत प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनमें समाजवादी कार्यक्रम का सार दिया हुआ है। विस्तृत रूप से विचार करने पर इनमें मतभेद होने की काफी गुंजाइश है, जिनमें से यहाँ पर केवल कुछ के ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। उन सिद्धांतों के लिए समाजवादी संगठनों की स्वीकृति नहीं मिली है। ये तो समाजवादी विचारधारा के मुख्य विंदु को व्यक्त करने का प्रयत्न मात्र है।

१. वर्त्तमान स्वामियों को उनके उत्पादक पदार्थ के कुल मूल्य का प्रतिकर देना समाजवाद के मूलभूत सिद्धांतों का उल्लंघन करना होगा— 'वर्त्तमान स्वामी' शब्द का उल्लेख निस्सदेह उन व्यक्तियों के लिए किया गया है, जो समाजवादी व्यवस्था द्वारा अपने अधिकारों में लिए गए उत्पादक पदार्थों के स्वामी हैं। पूरे प्रतिकर का स्पष्ट रूप से यह तात्पर्य होगा कि भूतपूर्व स्वामियों (संभवतः उनके उत्तराधिकारियों) और हमेशा के लिए पेंशन पाने वालों को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के उत्पादक कार्यों से आमदनी होती रही। इसका अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति संक्रमण से पहले यद्यपि मूल्यवान् उत्पादक माल के स्वामी थे, उन्हें बिना कुछ काम

किए इसका लाभ मिलता रहेगा और इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि उन लोगों के और भी मजे रहेंगे, जो सबसे अधिक मूल्यवान् उत्पादक माल के मालिक थे। पूरे मुआवजे की व्यवस्था करने के लिए जो रकम दी जाए, वह आय देने वाले ऋण-पत्र के किसी ऐसे रूप में होनी चाहिए, जो खरीदे और बेचे जा सकें, जिससे संभवतः पूँजीवाद की पहले वाली विभाजनकारी असमानता और बढ़ सके। इस प्रकार की संभावनाओं तथा बिना कमाई हुई (कम-से-कम एक पीढ़ी निकल जाने के बाद) आय से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजवादी उत्पादक वस्तुओं के लिए पूरा प्रतिकर देने की लगातार वकालत नहीं कर सकते।

२. व्यक्तिगत स्वामियों को प्रतिकर दिए बिना एकदम जब्त कर लेना भी उतना ही असंतोषजनक है—यद्यपि कुछ बिखरे हुए उद्योगों से प्रारंभ करके उत्पादक माल के हक को धीरे-धीरे लिए जाने की संक्रमण-अवधि बढ़ा भी दी जाए, तो भी इस हक को एकदम जब्त कर लिए जाने से शायद एक या उससे अधिक ऐसे संकट उत्पन्न हो जाएँगे, जिनसे पूर्ण सक्रमण की सफलता ही खतरे में पड़ सकती है। इसके बहुत कारण हैं। पहला यह कि समाज द्वारा एकदम संपत्ति का जब्त कर लिया जाना विद्यमान नैतिक स्तर के अनुरूप नहीं है। विद्यमान प्रणाली के अनुसार समाज द्वारा यदि संपत्ति ली जाती है, तो उसके लिए प्रतिकर देना ठीक और उचित समझा जाता है, भले ही निजी स्वामित्व कितना ही सहन न किए जाने योग्य रहा हो अथवा सपत्ति की समाज को कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो। इसके अतिरिक्त समाजवादी अर्थों में भी संपत्ति को एकदम जब्त कर लेने से व्यक्तियों के साथ कितना अन्याय होगा। भले ही इसके बारे में पता न हो, किंतु इसमें संदेह नहीं है कि समाज के पास इस समय जितनी पूँजी है उसका एक काफी बड़ा हिस्सा संपत्ति के स्वामियों की बचत से मिल कर बना है। सामाजिक अर्थ में यह बचत उत्पादक सिद्ध हुई है और बचाए हुए धन से जो संपत्ति बनाई गई है, उसे जब्त कर लेना अर्जित आय को असंतुलित कर देना होगा। एक संगत समाजवादी को अर्जित आय मनमाने ढंग से समाप्त कर देना अनर्जित आय को चालू रखने से कम बुरा नहीं लगना चाहिए और संभवतः वह संक्रमण काल के लिए जो योजनाएँ बनाएगा, उसमें इन दोनों ही बातों को दूर किया जाएगा।

अंत में यदि उत्पादक माल के स्वामित्व का धीरे-धीरे समाजीकरण किया जाता है, तो यह स्पष्ट हो गया कि यदि इस प्रकार के माल को एकदम जब्त कर लिया जाता है, तो तत्काल ही अनेक रूपों में बड़ा विनाश हो सकता है। इसके महसूस किए जाते ही लोग अपनी बचत में और आगे औद्योगिक विकास में पैसा लगाना निश्चय ही बंद कर देंगे। ऐसी दशा में समाज को संभवतः पूँजी के विकास का सारा

काम अपने हाथों में लेना पड़ेगा। और यह निर्णय करना होगा कि सभी उत्पादक-माल का हक धीरे-धीरे जब्त कर लिया जाए । इसके साथ ही स्वामियों का उत्पादक-माल के प्रबंध में निस्संदेह कोई रुचि नहीं रह जाएगी; क्योंकि उसे प्रतिकर मिले बिना तत्काल खतरे की संभावना बनी रहेगी । यहाँ पर इसका अनुमान लगा सकना कठिन है कि निजी स्वामी जो पूँजीवादी अर्थतंत्र में उत्पादक माल के प्रबंध में युक्तिसंगत निदेश देते हैं, अपने हाथों से एकदम बागडोर कैसे छोड़ दगे । आर्थिक क्रिया विधि के विघटन के बारे में कुछ कहे बिना इतना तो कहा ही जाएगा कि यदि जितने उत्पादक पदार्थ किसी के अधिकार में हैं, उनसे उसका हक खोए बिना सभी उत्पादक पदार्थ पर अधिकार कर लेने के संभावित प्रयत्न से तो वास्तविक पूँजी का दुरुपयोग ही होगा, जिसकी परिपक्व अवस्था वाली समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पर बड़ी तेजी से प्रतिक्रिया होगी । यदि यह अनिश्चितता और बढ़ जाती है कि अगली बार कौन से संपत्ति-संबंधी हक जब्त किए जाने हैं और इस प्रकार की अनिश्चितता का क्रमिक समाजीकरण के कार्यक्रम में होना जन्मजात है, तो इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समाजवाद के क्रांतिकारी संक्रमण के एक अंग के रूप में एकदम जब्त किया जाना भले ही संतोषजनक सिद्ध हो जाए, किंतु क्रमिक समाजीकरण के कार्यक्रम में इसे नहीं अपनाया जा सकता ।

३. वर्तमान स्वामियों को प्रतिकर के रूप में चाहे कितनी ही रकम का भुगतान किया जाना हो, किंतु उसका निर्धारण अत्यंत स्वैच्छिक तरीके से करना पड़ेगा—किसी व्यक्ति का कितने उत्पादक माल पर अधिकार है या उसके स्वामित्व को बताने वाले ऋण-पत्रों के बारे में इस समय जो महत्त्व दिया जाता है, वह केवल विद्यमान आर्थिक संस्थाओं के चलते रहने तक ही रहेगा । कुछ ऐसे उत्पादक पदार्थों का वास्तविक मूल्य निर्धारित करने का कोई भी तरीका नहीं है, जिनका स्वामित्व समाज द्वारा अपने हाथ में लिया जाने वाला होता है । चूँकि किसी भी व्यक्ति-विशेष को अब उनका उपयोग अपने लाभ के लिए नहीं करने दिया जाएगा और यह भी कि समाज यदि चाहे तो उसे इन वस्तुओं को जब्त कर लेने का अधिकार और शक्ति प्राप्त है, ऐसी संभावना में कोई भी व्यक्ति उन वस्तुओं का कुछ भी मूल्य लगाने को तैयार नहीं होगा । चाहे धीरे-धीरे ही हो, किंतु उत्पादक पदार्थ का समाजीकरण करने का निर्णय कर लेने से ही उनका चालू बाजार मूल्य गिर जाएगा । यदि ऐसी परिस्थिति में समाज ने प्रतिकर देने का निश्चय कर लिया है, तो वास्तव में भुगतान की जाने वाली रकम का निर्णय बिल्कुल स्वैच्छिक ढंग से किया जाएगा; क्योंकि इस समय उनका वास्तविक मूल्य-निर्धारण समाजीकरण करने के निर्णय या समाजीकरण करने की संभावना से पूर्व किया गया था और यह मूल्य निम्नतम शून्य और अधिकतम

सीमा में प्रचलित बाजार मूल्य के बीच कहीं होगा; क्योंकि उस समय यह निश्चित नहीं हो सकता था।

४. यद्यपि व्यक्तिगत स्वामियों को उनकी संपत्ति का प्रतिकर समाज के दृष्टिकोण से दिया गया था, किंतु इसका तरीका जब्त किए जाने की तरह का होगा— यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि समाज के अस्तित्व के रूप में ऐसी कोई भी आमदनी नहीं है, जिसमें से वह उन व्यक्तियों को प्रतिकर दे सकें, जिनसे उत्पादक पदार्थ खरीदे जाने हैं। इस कार्य के लिए समाज के अभिकरण जितनी भी आय का प्रयोग करते हैं, वह अनिवार्य रूप से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से व्यक्तियों से ही लेनी पड़ेगी। यदि व्यक्तिगत स्वामियों से उत्पादक पदार्थ खरीदने के लिए कर राजस्व का प्रयोग किया जाना है, तो स्वामी यह महसूस करेंगे कि कुछ भी जब्त नहीं किया गया है; क्योंकि जब्ती का बोझ उनके ऊपर से हटकर कर देने वालों पर पहुँच गया है। कर देने वाली सामान्य जनता या नागरिक होंगे या उनमें से कुछ ऐसे चुने हुए लोग होंगे, जिन पर करों से प्राप्त यह रकम विशेष रूप से इस्तेमाल की जाती है। ~~यदि~~ समाजीकरण के फलस्वरूप समाजीकृत उद्योगों के उत्पादन के लिए प्राप्त मूल्यों से पहले स्वामियों को प्रतिकर दिया जाता है, तो उपभोक्ता के रूप में समाज के सदस्य ही इस राशि का भुगतान करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह समझ लेना तार्किक दृष्टि से उपयुक्त होगा कि समूचे समाज के दृष्टिकोण से उत्पादक पदार्थों वाली संपति को जब्त करना असंभव है। चूँकि समाज का कोई ऐसा अस्तित्व नहीं है कि जिन व्यक्तियों से मिलकर उसका निर्माण हुआ है, उनसे अलग कोई अपनी संपत्ति रख सके, इसलिए समाज उन व्यक्तियों की संपत्ति जब्त भी नहीं कर सकता। वह तो केवल इतना ही कर सकता है कि कुछ व्यक्तियों के हकों को जब्त कर इन्हें सारे व्यक्तियों अर्थात् समाज को सौंप दे, जो सबका पर्यायवाची है। अतः, यह मामला मुआवजा बनाम जब्ती के बदले वर्ग से जब्त किए गए धन से किसी व्यक्ति को प्रतिकर देने बनाम वर्ग द्वारा जब्त करने की कार्रवाई से होने वाली आय से व्यक्तिगत संपत्ति को जब्त करने का हो जाता है।

यह सब केवल शब्दों का ही खिलवाड़ नहीं है; क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि यदि केवल समाजीकृत संपत्ति के लिए व्यक्तियों को प्रतिकर दिया जाना है, तो उस वर्ग के अन्य सदस्यों को मुआवजे की रकम छोड़ देनी चाहिए। दूसरी ओर जबकि कुछ व्यक्तियों की संपत्ति जब्त कर ली जाती है, तो जहाँ तक संपत्ति के स्वामित्व का संबंध है, संपूर्ण रूप से वर्ग की स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है और उसमें कोई भी लाभ या हानि नहीं होती है। यद्यपि संक्रमण की विधि और उसके

परिमाणों की दृष्टि से मुआवजा या जब्ती में से कौन सी चीज पसंद की जाती है, यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। किंतु, यह तथ्य बनाने में कोई हानि नहीं है कि जब समाज संपत्ति का अधिकार ले लेता है, तो यह अधिकार व्यक्तियों से छीन लिए जाते हैं। ऐसा करने में इस पर कोई भी ध्यान नहीं दिया जाता है कि क्या तथाकथित 'जब्ती' योजना के अधीन इस हानि का पूरा बोझ संपत्ति-स्वामियों के एक छोटे वर्ग की अथवा तथाकथित 'प्रतिकर देने' की योजना के अधीन करदाताओं के एक छोटे या बड़े वर्ग को अथवा उपभोक्ताओं को उठाना पड़ेगा।

५. इसका विश्वास करने का कोई भी कारण नहीं है कि सभी किस्मों के उत्पादक पदार्थों एवं उत्पादक पदार्थों के सभी स्वामियों के लिए प्रतिकर की समान योजना लागू की जानी चाहिए :—वास्तव में समाजवादी दृष्टिकोण से विभिन्न श्रेणियों के उत्पादक पदार्थों तथा इन पदार्थों के विभिन्न श्रेणियों के स्वामियों में विभेद करना अत्यंत ही तर्कसंगत होगा। इस प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि जहाँ उन पूँजी पदार्थों का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए जिनका निर्माण व्यक्ति की बचत द्वारा किया गया है, उदारतापूर्वक प्रतिकर दिया जाना सर्वोत्तम और सबसे निष्पक्ष योजना होगी, वहीं उन नैसर्गिक साधनों के हक प्राप्त करने के लिए, जिनके निर्माण में न तो वर्त्तमान स्वामियों का और न उनके पूर्वजों का कोई हाथ रहा, लगभग जब्त कर लेना अच्छा होगा और यह कोई अनुचित योजना नहीं होगी। इसी प्रकार के एक तर्क से यह ज्ञात होता है कि पूरा प्रतिकर तभी दिया जाना चाहिए, जब समाज उन व्यक्तियों की पूँजी को अपने अधिकार में लेता है, जिनकी बचत से इस पूँजी का निर्माण हुआ था। संपत्ति का लगभग जब्त करना उन वस्तुओं के लिए अच्छा और अनुपयुक्त न होगा, जिन्हें समाज उन व्यक्तियों से अपने अधिकार में लेता है, जिन्हें उनका पैतृक हक प्राप्त है। यहाँ यह माना जा सकता है कि उन व्यक्तियों को संपत्ति का प्रतिकर देना वाछनीय होगा, जिनका उसमें कुछ हक हैं अथवा जिन्हें नई समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में मजदूरों की सेवाओं के बदले में मौजूदा आमदनी प्राप्त करने के या तो बिल्कुल ही साधन सुलभ नहीं हैं या कुछ थोड़े से साधन सुलभ हैं न कि उन व्यक्तियों को, जिनके पास काफी संपत्ति है और जो समाजवाद के अंतर्गत श्रमिकों के द्वारा काफी आय प्राप्त कर सकते हैं। इन नीतियों को व्यावहारिक रूप से लागू करने के लिए उनका संभावित वर्गीकरण या समुच्चय करने की कोई भी सीमा नहीं है।

६. समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों की संपत्ति के अतिरिक्त इससे किसी प्रकार का प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिलता, चाहे

कोई पहले कितने ही अधिक उत्पादक पदार्थों का स्वामी रहा हो :—समाजवाद के अंतर्गत उत्पादक वस्तुओं का प्रयोग करने के बारे में सभी निर्णय करने का अधिकार व्यक्तियों की अपेक्षा समाज को होता है। इसमें आवश्यकता इस बात की होती है कि इस प्रकार की संपत्ति का समाजीकरण करते समय पहले वाले स्वामियों को चाहे कितना भी मुआवजा दिया जाए, तो भी उन्हें व्यक्ति के रूप में पहले चाहे जो भी अधिकार मिले हुए हों, किंतु उन्हें इस संबंध में निर्णय करने का कोई भी अधिकार नहीं है।

७. संपत्ति का एकदम या लगभग जब्त कर लिया जाना :—नैतिक दृष्टि से यह निम्न कार्य नहीं है। यह सच है कि किसी की संपत्ति को जब्त कर लेना विद्यमान संपत्ति-संबंधी कानून एवं प्रचलित नैतिक स्तर का उल्लंघन करना है; क्योंकि कुछ अंशों में या तो ये स्तर ही कानून बनाते हैं अथवा उनके द्वारा यह कानून बनता है। यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी प्रकार की नैतिक धारणा रखता है, तो वह व्यक्तिगत संपत्ति को समाज द्वारा जब्त किए जाने में किसी अन्य नैतिक दृष्टिकोण अपनाने के निष्कर्ष पर पहुँचेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति भूमि के निजी स्वामित्व की प्रथा के प्रादुर्भाव का पता लगाना चाहता है और वह यह देखता है कि जो उसकी भूमि पर वास्तविक अधिकार रखने का दावा करता है और जिसका उस पर कब्जा है, तो वह संपत्ति-संबंधी मौजूदा कानून को चुनौती दे सकता है। इसका एक और उदाहरण दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति यह प्रस्ताव पहले ही मान कर चलता है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा उत्पादक पदार्थों पर तब तक नैतिक दृष्टि से अधिकार प्राप्त कर लेना उपयुक्त नहीं है, जब तक कि जितनी संपत्ति पर उसका कब्जा है, उससे संपूर्ण समाज की यथासंभव अधिकाधिक आवश्यकताएँ पूरी न होती हों। यदि ऐसा है, तो वह अपने संपत्ति-संबंधी कानून की उपयुक्तता को चुनौती दे सकता है। इसका एक और भी उदाहरण दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किन्हीं ऐसी उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व पर नैतिक अधिकार रखने के दावे को चुनौती देता है, जिनके निर्माण में उसका कुछ भी व्यक्तिगत प्रयास नहीं रहा है अर्थात् वर्त्तमान कानून में स्वीकृत शर्तों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य शब्दों में वह जब्त करने की व्याख्या करना चाहता है तो हमारे संपत्ति-संबंधी कानून के कुछ अंशों को नैतिक रूप से न्यायोचित ठहराने को चुनौती दी जा सकती है।[1] इसी

---

[1] उदाहरण के लिए कार्ल कौत्सकी उपनिवेशी विस्तार, कागजी मुद्रा का उदाहरण (आधुनिक शब्दों में बैंक में जमा राशि) तथा धन का अवमूल्यन जैसी वस्तुओं का इन तरीकों के रूप में उल्लेख करता है, जिनको कुछ वर्त्तमान स्वामियों ने जब्त करके प्राप्त किया है, दि न्यू लीडर, अगस्त २२, १९३६।

प्रकार के विचारों से समाजवादियों ने उन कानूनों 'नैसर्गिक, अथवा 'अंततोगत्वा' सही न मानने तथा संपति से संबंधित क्षेत्र में इस समय प्रचलित सिद्धांतों को मानने से इन्कार कर दिया है। इस प्रकार समाजवादियों के लिए जब्ती का वह आवश्यक अर्थ नहीं रह गया, जो बहुत से विधिक एवं नैतिक दृष्टि से यथास्थिति उसकी वकालत करने वाले समझते हैं।

प्रतिकर के वैकल्पिक प्रकार

यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि बहुत से आधुनिक समाजवादी समाजीकृत संपत्ति के लिए प्रतिकर की वकालत करते हैं, तो इससे उनका तात्पर्य यह नहीं होता कि पहले वाले स्वामियों को उनकी संपत्ति के लिए पुराने मूल्य के बराबर जो पूँजीवादी शासन में थे, स्थायी, बिना किसी शर्त के हस्तातंरणीय ब्याज वाले दावे दिए जाने चाहिए। यद्यपि कुछ समाजवादी प्रस्ताव इस प्रकार के हैं और बहुत से समाजवादी तो पहले वाले स्वामियों को इससे बहुत कम मुआवजा देने की बात कहते हैं। संभवतः अधिकांश समाजवादियों के विचारों को पूरा करने वाला प्रतिकर का सबसे बढ़िया तरीका यह है कि पहले स्वामियों को अहस्तांतरणीय अमोच्य सरकारी आय बंधपत्र दिए जाने चाहिए, जिन पर पूँजीवाद के अंतर्गत जारी किए गए औद्योगिक बंधपत्रों से कुछ कम ब्याज दिया जाए तथा ये बंधपत्र पूँजीवादी शासन के अंतर्गत समाज द्वारा वास्तव में अपने अधिकार में लिए गए उत्पादक पदार्थों के बाजार मूल्य के लगभग बराबर मूल्य के हों। यद्यपि इस प्रकार के प्रतिकर से उत्पन्न होने वाली सभी समस्याओं की चर्चा कर सकना संभव नहीं होगा, तो भी इस प्रकार के प्रतिकर की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को देखा जा सकता है।

'अहस्तांतरणीय' की व्यवस्था करने से वंशज उत्तराधिकार से वंचित रह जाएँगे और इस प्रकार प्रतिकर का लाभ केवल पहले स्वामी के जीवनकाल तक ही सीमित रहेगा। इस प्रकार की व्यवस्था करने से उन जीवित व्यक्तियों को इन दावों का हस्तांतरण करने के बारे में भी पेशबंदी हो जाएगी, जो इन्हें पाने के हकदार हैं। इस प्रकार समाजीकृत संपत्ति के स्वामित्व की अपेक्षा इन बंधपत्रों के स्वामित्व को भी इकट्ठा करने से भी रोका जा सकेगा। इन बंधपत्रों के लिए उत्तराधिकार का नियम न होने से पहले स्वामी की मृत्यु होते ही वास्तव में धीरे-धीरे संपत्ति जब्त होने लगेगी। यदि बंधपत्र अमोच्य होते हैं, तो इससे यह पता चलता है कि समाज उनके ही मूल धन को प्रतिकर के किसी अन्य रूप में (उदाहरण के लिए धन) भविष्य में बदले जाने के लिए सहमत नहीं हैं। इन बंधपत्रों के सरकारी होने के कारण उनके हित-संबंधी दावे सरकार के सभी विद्यमान साधनों के विपरीत

होंगे। यहाँ जिस संदर्भ में 'सरकार' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य होगा कि इन सौदों में समाज का प्रतिनिधित्व करने के लिए चाहे किसी भी केंद्रीय अभिकरण की स्थापना की जाए। यहाँ पर सरकार का तात्पर्य मौजूदा सरकारी अभिकरण के लिए यह संभव नहीं होगा कि वह सारे उत्पादक पदार्थों पर अपना स्वामित्व प्राप्त कर सकें। इसलिए जो भी संपत्ति वह अपने अधिकार में लेगा, उसका भुगतान करने के लिए अनेक अभिकरण इस प्रकार के बंधपत्र जारी करेंगे।

यहाँ जो 'आय बंधपत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह केवल वर्त्तमान आय पर दावे से संबंधित है, जिसके लिए कोई गोचर संपति का वचन नहीं दिया जाता जिसके पीछे प्रतिकर रखी गई हो। इस प्रकार के बंधपत्र के मालिकों को यह अधिकार नहीं होगा कि वे ब्याज का भुगतान न किए जाने पर वे अपने वंधपत्र के मूलधन के बराबर मूल्य की संपत्ति प्राप्त कर सकेंगे। बंधपत्र के द्वारा जो ब्याज का भुगतान करने के लिए कहा गया है, वही एक वास्तविक लाभ है, जो बंधपत्रों के मालिकों को उनसे मिलेगा। चूँकि समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में इसकी तो कोई गुंजाइश होगी नहीं कि बंधपत्र के मालिक दावों की इन रसीदों को बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाए जाने वाले उत्पादक पदार्थों में लगा सकें, अतः उन्हें उधार लिए बिना केवल मालिक ही या तो उपभोक्ता की वस्तुओं के लिए अथवा औजारों और साज-सामान पर ही खर्च कर सकेगा। इस प्रकार के बंधपत्रों पर ब्याज की दर क्या होनी चाहिए, इस पर काफी वाद-विवाद हो सकता है। चूँकि बंधपत्र का मालिक पूँजीवादी व्यवस्था में स्वामित्व के बारे में उतना खतरा अब नहीं उठाना चाहेगा, इसलिए समाजवादियों का मत यह है कि इन बंधपत्रों पर दिए जाने वाले ब्याज की दर पूँजीवाद के अंतर्गत दिशेष प्रकार की संपत्ति के लिए इस प्रकार के दावों की ब्याज दर से कम होनी चाहिए। कुछ प्रकार की उत्पादक वस्तुओं तथा पहले मालिकों की कुछ श्रेणियों के बीच विभेद करने का कोई तर्कसम्मत कारण नहीं है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पहले मालिकों को जारी किए गए बंधपत्रों की मूलराशि अनिवार्य रूप से स्वेच्छा से निश्चित की जाएगी। वास्तव में जितने उत्पादक पदार्थ अधिकार में लिए गए हैं, उनके पूँजीवादी बाजार भाव के जितने ही यथासंभव निकट यह राशि रखी जाएगी। इसके अनेक लाभ महसूस किए जाने चाहिए। इस प्रकार के नियम से शायद यह भावना उत्पन्न होगी कि अपेक्षाकृत पूरा प्रतिकर मिल रहा है, दूसरी ओर समाज के लिए यह भी आवश्यक नहीं

होगा कि वह पहले वाले मालिकों को अमूर्त्त संपत्ति जैसे पूर्ति एवं अन्य एकाधिकार संबंधी परिलब्धियों, वयस्क मताधिकारों आदि की व्यवस्था करे। वास्तविक पदार्थों के मूल्यों को अमूर्त्त मूल्यों से अलग करने से संबंधित समस्याओं से आगे विचार करने पर यह महसूस होता है कि मूल राशि को निश्चित करने के लिए कितनी अधिक स्वेच्छा से काम लेना पड़ेगा।

इस विषय के बहुत से रूप-भेद प्रतिकर की समस्या से संबंधित समाजवादी साहित्य में मिलते हैं। उनमें पूरा एवं बेरोक नकद प्रतिकर दिए जाने के प्रस्ताव भी शामिल हैं। इस पर होने वाले खर्च को अधिक करों एवं अत्यधिक वर्धमान आय-कर से पूरा किया जाएगा। इन प्रस्तावों में वार्षिकी के एक विशेष अवधि तक भुगतान करने, पहले स्वामी के संपूर्ण जीवनकाल तक वार्षिकी भुगतान किए जाने के अतिरिक्त यदि उसके प्राप्तकर्त्ता की एक विशिष्ट अवधि पूरे किए बिना ही मृत्यु हो जाती है, तो प्रतिकर की रकम एक मुश्त तय किए जाने, उसकी संपत्ति के मूल्य की अपेक्षा की पहले की आय के आधार पर वार्षिकी निश्चित किए जाने, पहले जिन्हें अधिक वार्षिकी मिलती रही है, उसकी राशि निश्चित करने तथा पहले कम आय प्राप्त करने वालों के लिए फिर से राशि निश्चित करने, अपेक्षाकृत मुद्रा में पूरा भुगतान किए जाने तथा इस खर्च को पूँजीगत कर से पूरा किए जाने इत्यादि की भी व्यवस्था की गई है।

रिगनानों का प्रस्तावित उत्तराधिकार कर

उत्तराधिकार के जरिए व्यक्तियों से समाज को संपत्ति हक हस्तांतरित करने की विशिष्ट योजनाओं में से एक अत्यंत विशिष्ट योजना प्रो० युगीनियों रिगनानों ने तैयार की है। इस योजना का संक्षिप्त सारांश निम्न प्रकार होगा :—

"वंशज द्वारा छोड़ी गई उस संपदा के पहले हिस्से पर जो उसके अपने श्रम और मितव्यय का परिणाम है और जिसकी गणना, वंशज द्वारा छोड़ी गई संपदा तथा विभिन्न प्रकार की वह संपत्ति, जो उसने अपने जीवनकाल में उत्तराधिकार, उपहार या दहेज में प्राप्त की थी, के बीच अंतर से दी जाए तो राष्ट्र उस पर उतना ही कर लगा देगा जितना इस समय लगता है। उसी संपदा के दूसरे हिस्से पर जो वंशज को अधिकार में मूल स्वामी से इकहरे हस्तांतरण (इस हिस्से को इकट्ठा करने वाला) के जरिए आई थी, उस पर राष्ट्र उदाहरण के लिए ५० प्रतिशत कर लगावेगा। शेष संपदा पर जो मूल स्वामी (अथवा प्रथम इकट्ठा करने वाला) और वंशज के बीच दो बार हस्तांतरित हो चुका है, राष्ट्र सारी-की-सारी अपने अधिकार में लेना चाहेगा। यह स्वतः स्पष्ट है कि इस प्रकार की कर प्रणाली से श्रम करने तथा व्यक्तिगत पूँजी

को निरंतर संचय करने की सूरत उत्पन्न होगी, जो बिना किसी शर्त की विरासत अथवा पैतृक विशेषाधिकार प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक अच्छी होगी। नई संपत्ति धीरे-धीरे और अंत को स्वतः ही राष्ट्र की संपत्ति हो जाएगी....।"[1]

इस प्रकार की योजना में प्रशासनिक कठिनाइयाँ होने के अलावा इस सुझाव से यह भी पता चलता है कि संपूर्ण समाजीकरण कभी भी नहीं होगा। इस प्रकार किसी समय निजी स्वामित्व के बहुत-से उत्पादक पदार्थ हो जाएँगे जो मुख्यतः जीवित पीढ़ी के होंगे और शायद कुछ हिस्सा पूर्ववर्त्ती पीढ़ी का भी होगा, जबकि उस समय मौजूदा सभी समाजीकृत संपत्ति पूर्ववर्त्ती पीढ़ी के संचय का अंश होगी। किंतु, अधिकांश संचय दूसरी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी एवं उससे पहले की सभी पीढ़ियों का होगा। यद्यपि आंशिक समाजवाद प्राप्त करने में इस योजना के अनेक लाभ हैं, किंतु इससे उन समाजवादियों की आवश्यकता पूरी नहीं होती जो औद्योगिक विकास करने के लिए निजी रूप से संचय किए धन का विनियोजन किए जाने की अपेक्षा उत्पादक पदार्थों का लगभग पूरा समाजीकरण करने की कामना करते हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह ध्यान में रखा जा सकता है कि उत्पादक पदार्थों पर से किसी निजी व्यक्ति के हक समाज द्वारा लिए जाने के संबंध में संतोषजनक योजना बनाते समय कुछ प्रतिकर इस रूप में और इस तरीके से देने की व्यवस्था करनी होगी कि उसका स्वरूप कुछ समय तक जब्त करने वाला होगा। किसी भी अन्य दशा में वास्तविक समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था नहीं लाई जा सकती। जब तक संपत्ति जब्त किए जाने के प्रभाव इकट्ठे नहीं महसूस कर लिए जाते तथा इस अवधि के अंदर प्रतिकर पर होने वाले खर्च के भार का वितरण नहीं कर लिया जाता, तब तक के लिए इस अवधि को बढ़ाने या घटाने के बारे में सैद्धांतिक रूप से इतने निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जिनका कोई अंत ही नहीं होता। किसी भी दशा में इस बारे में विस्तृत निर्णय जिस समय संक्रमण हुआ था, उस समय परिस्थितिविशेष में ही किया जा सकता है।

समाजीकरण का तिथि-क्रम

अर्थ-व्यवस्था के समाजीकरण के लिए योजनाएँ बनाने में विकासशील समाजवाद को एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या हल करनी पड़ती है और वह यह है कि विभिन्न उद्योगों का समाजीकरण किस क्रम में किया जाएगा? यदि आसानी से पूरा समाजीकरण किया जाना है, तो इसमें प्राथमिकता का क्रम करने में सावधानी बरती

---

[1] यूजेनियो रिगनानो, दि सोशल सिग्निफिकेंस ऑफ दि इन्हेरिटेंस, न्यूयार्क, नाफ, १९२४, पृष्ठ ३४-३५।

जाएगी; क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि समाजीकरण की प्रत्येक अवस्था में सफलता तभी मिल सकेगी, जब तक जनता का सहयोग प्राप्त होगा। समाजीकरण की इस तिथिक्रम की भावना में समाजवादी कार्यक्रम के पर्याप्त निश्चित सिद्धांतों पर दृढ़ रहना पड़ता है।

निस्संदेह समाजीकरण की सूची में पहला स्थान बैंकों का आता है। निवेशकर्ता बैंक मालिकों द्वारा पूँजीवादी ऋणपत्रों संबंधी मामलों की हामी भरने के कार्य का स्वतः ही निराकरण हो जाएगा और उनका समाजवाद के अंतर्गत आयोजन करने वाले निकायों का स्थानांतरण हो जाएगा। समाजवादी दृष्टिकोण से वाणिज्यिक बैंकिंग का आधुनिक आर्थिक तरीकों में असाधारण स्थान है, जिसका अर्थतंत्र के किसी भी अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का समाजीकरण करने के साथ या उससे पूर्व समाजीकरण किया जाना आवश्यक है। चूँकि आधुनिक उद्योग अपनी तकनीकी प्रकृति के कारण प्रत्याशित माँग की अपरिहार्य मानकर उत्पादन करता है और चूँकि वाणिज्यिक बैंकिंग प्रणाली ही निधियों की पूर्ति करने वाला वह अभिकरण है जिसके द्वारा ऐसा करना संभव होता है, अतः आधुनिक उत्पादन-क्रिया को जारी रखना वाणिज्यिक बैंकिंग प्रणाली के कार्य करते रहने पर निर्भर करता है। इन अभिकरणों को ऋण मंजूर करने या रोक रखने का अधिकार प्राप्त होने के कारण ये उत्पादक कार्य-कलाप पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। समाजवादी यह नहीं सोच सकते कि उद्योग को अपने हाथ में लेकर समाज को उसके इस्तेमाल के लिए ऋण के पर्याप्त आश्वस्त सूत्र के बिना उसे चलाने का प्रयत्न करना चाहिए। विशेषकर उस दशा में जबकि किसी उद्योग की एक ऐसी सर्वविदित योजना के कदम के रूप में लिया गया हो, जिसका उद्देश्य संपूर्ण समाजीकरण करना हो। तब तो वाणिज्यिक ऋण की पूर्ति पर प्रतिबंध लगाकर निजी स्वामित्व और निजी रूप से संचालित वाणिज्यिक प्रणाली या तो इसे नष्ट कर देगी अथवा उसका संचालन कम-से-कम अकुशल तो हो ही जाएगा। इसके परिणामस्वरूप समाजवादी सामाजिक स्वामित्व तथा समाजवादी कार्यक्रम के पहले आवश्यक कदम के रूप में वाणिज्यिक बैंकिंग की सुविधाएँ दिलाने की वकालत करते हैं।

समाजवादी राष्ट्र के सार्वजनिक उपयोगिता उद्योगों को शीघ्र ही अधिकार में लेने का समर्थन करते हैं। वे इसके अनेक कारण बताते हैं। उद्योगपतियों का सामान्यतः जनता के स्वास्थ्य या उसके हित से घनिष्ट संबंध होता है कि इन उद्योगों का स्वामित्व जब तक अत्यंत आवश्यक न हो, तब तक निजी लाभ कमाने वाले व्यक्तियों के हाथ में नहीं रखना चाहिए। इसके साथ-साथ ऐसे उद्योगों के एकाधिकार के आधार पर सरकारी अधिकारियों द्वारा स्वीकृत मताधिकार पर पहले ही

संगठित किया जा चुका है। बहुत से मामलों में उन्हें समाज से अन्य विशेषाधिकार दिए गए हैं। उन्हें चलाने और उनकी दरों का विनियमन सरकारी आयोगों द्वारा इनके कार्य-कलापों को लोकहित के अनुकूल तथा उनके द्वारा निर्मित पदार्थों की दरें उत्पादन-लागत के स्तर पर रखने के उद्देश्य से किया गया। वस्तुतः इनमें से कुछ उद्योग और प्रमुख रूप से अंतर्राजीय रेलों पर संघीय सरकार का इतना कठोर नियंत्रण रहता है कि इन्हें चलाने और उसकी दरें निश्चित करने की व्यवस्था का अधिकांश सरकार को पहले से ही दिया हुआ जान पड़ता है। सार्वजनिक उपयोगिता उद्योगों के इन सभी रुखों से यह समझा जाता है कि वहाँ शीघ्र ही समाजीकरण किए जाने की उपयुक्त अवस्था आ गई है। इस दशा में तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए पहला कदम उठाया जाएगा। किसी भी तत्कालिक उपयोगी सेवा का रुक जाना जैसे प्रथम विश्व युद्ध में हमारी रेलों के मामले में हुआ था, अत्यधिक प्रतिद्वंद्विता बढ़ जाना जैसे बसों और ट्रकों के बीच में हुआ, वित्तीय घटा-बढ़ी जैसी कुछ वर्ष पूर्व विद्युत-उद्योग को महसूस करनी पड़ी या निजी संचालकों द्वारा व्यवस्थित सेवा के प्रति असंतोष जैसे रेडियो तथा दूर-दर्शन प्रसारण आदि में यदि अलग-अलग अथवा अन्य कारणों के साथ यदि इस प्रकार की कोई परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो इस विशिष्ट उपयोगिता वाले उद्योग का एक विशिष्ट समय के अंदर वाध्य होकर समाजीकरण करना होगा।

संभवतः तिथिक्रम में दूसरा वर्ग प्राकृतिक संसाधन उद्योग (कृषि को छोड़ कर) होगा। उस वर्ग में कोयला, इमारती लकड़ी, पेट्रोलियम तथा इसी प्रकार के उद्योग आते हैं। बहुत से समाजवादी इन वस्तुओं को या तो सार्वजनिक उपयोगिता उद्योगों के समक्ष रखेंगे या उनसे अलग करना चाहेंगे। इस वर्ग में प्रथम स्थान संभवतः उन उद्योगों को दिया जाएगा, जिनमें बहुत दुर्लभ साधनों के प्रयोग में अधिक अपव्यय होता है।

इसके पश्चात् संभवतः बड़े पैमाने के उद्योग आते हैं। मोटे तौर से वे उद्योग जिनकी एक उत्पादन-इकाई पर अत्यधिक पूँजी लगती है और जिनका निर्माण सामान्य ढंग से होने लगता है, जिनके लिए कोई विशेष तकनीकी खोज और आविष्कार की आवश्यकता नहीं होती और जो अत्यंत मानक किस्म के होते हैं, जिनकी काफी माँग भी है, ऐसी वस्तुओं का शीघ्र ही समाजीकरण करने की आवश्यकता है। इस वर्ग में बड़े-बड़े व्यापारिक संगठन तथा विभागीय और शृंखला वाली दूकानें सम्मिलित हैं। फिर भी बहुत से समाजवादी यह महसूस करते हैं कि समाजवादी-व्यवस्था में व्यापारिक माल सरकारी योजनाओं के अंतर्गत चल रही विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों के जरिए बेचा जाएगा न कि समाजीकृत व्यापार एककों के द्वारा जैसाकि इसका अर्थ है।

उन बड़े निर्माण और व्यापारिक उद्योगों के लिए समाजीकरण की प्राथमिकता निर्धारित करते समय जिनमें अत्यधिक एकाधिकार की संभावना होती है, उनका सबसे पहले समाजीकरण किया जाएगा। इसके अनेक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। इसमें संदेह नहीं कि जिन उद्योगों में स्पर्धा अधिक रहती है, उनकी अपेक्षा इस प्रकार के उद्योगों का समाजीकरण करने के पक्ष में जनता की अधिक आय होगी। इसके अतिरिक्त कम-से-कम एक अर्थ में ये ऐसे उद्योग हैं, जिनका समाजीकरण करने की अत्यंत आवश्यकता है; क्योंकि एकाधिकार द्वारा मूल्य अधिक रखने के कारण उत्पादन कम होता है जिससे प्रति व्यक्ति जितना उत्पादन करने की क्षमता है, इससे कम उत्पादन होता है। इस प्रकार के उद्योगों में जहाँ तक संक्रमण का संबंध है, समाजीकरण अधिक सरलता से किया जा सकता है। उद्योगों पर अधिक नियंत्रण रखने-संबंधी अध्ययन से पता चलता है कि ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि कुछ लाख डालर मूल्य का माल उन कंपनियों के करोड़ों डालर मूल्य के उत्पादक उपकरण रखने वाली कंपनियों की नीतियों और कार्यों का संचालन करता है। ऐसे मामलों में इस प्रकार का नियंत्रणकारी हित एक ऐसे अभिकरण के हाथ में सौंप देना, जो समाज का प्रतिनिधित्व करता हो, अपेक्षाकृत अधिक सरल होगा।

जिन उद्योगों में समाजवाद सबसे बाद में और कम-से-कम बदलेगा, वे दस्तकारी तथा कृषि-उद्योग हैं। सोचा यह जाता है कि इन क्षेत्रों में बहुत-से गैर-समाजवादी एकक का काम करने लगेंगे। ये एकक या व्यक्तिगत स्वामित्व के होंगे अथवा सहकारी ढंग के, जो समाजीकृत व्यवस्था के रूप में काम करेंगे, किंतु ये सार्वजनिक सेवा के इतने प्रत्यक्ष अंग नहीं होंगे, जितने बड़े उद्योग होंगे।

जिन उद्योगों का समाजीकरण करने का प्रयत्न किया गया है, उनके संभावित क्रम की विशद् सूची बिना बताए ही इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि धीरे-धीरे समाजवाद की ओर ले जाने वाले अधिकांश कार्यक्रम बैंकों और उपयोगिता वाले उद्योगों से प्राप्त होते हैं। बीच में और फिर बड़े पैमाने पर चलने वाले निर्माता एवं व्यापार करनेवाले उद्योगों को लिया जाएगा, पर छोटे पैमाने के व्यापारिक उद्योग, दस्तकारी की वस्तुओं और कृषि को छोड़ दिया जाएगा, जिनमें अधिकतर व्यक्तियों और विभिन्न प्रकार के सहकारी एककों का आधिपत्य रहेगा।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. समाजवादियों को अपने प्रस्तावों के चर्चा किए जाने के योग्य समझे जाने के लिए कितना विस्तृत अग्रिम कार्यक्रम रखना चाहिए ?

२. क्या समाजवादी अपनी विशिष्ट विस्तृत आयोजनाओं के न होने के लिए केवल बहाने ढूँढ़ते हैं या उसके लिए कोई युक्तियुक्त कारण भी देते हैं ?

३. समाजवादी कार्यक्रम 'यदि और अथवा' कार्यक्रम हैं, इसका आप क्या तात्पर्य समझते हैं ?

४. धीरे-धीरे कानूनी व्यवस्था से समाजवाद को प्राप्त करने के पक्ष और विपक्ष में कौन-कौन से तर्क और वितर्क हैं ?

५. समाजवादी पहले के मालिकों को उन औद्योगिक संपत्तियों के लिए जिसका समाजीकरण करना है, पूरा प्रतिकर देने पर आपत्ति क्यों करते हैं ?

६. संपत्ति का समाजीकरण करते समय संपूर्ण संपत्ति जब्त करने का क्या तात्पर्य है ? क्या कोई समाजवादी इस प्रकार की नीति का समर्थन करता है ?

७. समाजीकृत संपत्ति के लिए पूरा प्रतिकर देने का प्रयत्न करने में कौन-कौन-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ आएँगी ?

८. समाजवादियों के प्रस्तावों में कम-से-कम कुछ संपत्ति जब्त की जाने की बात अनिवार्य रूप से क्यों सम्मिलित की जाती है ?

९. क्या समाजवादी जब्त किए जाने को केवल कालोचित समझता है और किसी नैतिक स्तर से उसे न्यायोचित नहीं मानता है ?

१०. पहले के स्वामियों को उनकी संपत्ति का प्रतिकर देने के लिए समाजवादियों के अधिकांश प्रस्तावों में कौन-कौन-सी विशेषताएँ सम्मिलित हैं ?

११. समाजीकरण की प्रक्रिया में संपत्ति का अधिग्रहण करने के लिए रिगनानो की क्या योजना है ?

१२. जो समाजवादी धीरे-धीरे समाजीकरण करने की योजना का समर्थन करता है, वह किन-किन सिद्धांतों के अनुसार योजना का क्रम निर्धारित करता है, जिसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंशों का समाजीकरण किया जाना है ?

१३. समाजवादी बैंकिंग प्रणाली पर नियंत्रण प्राप्त करने पर इतना अधिक जोर क्यों देता है ?

अध्याय १३

समाजवाद के कार्यक्रम : स्वामित्व तथा उद्योगों का चलना

स्वामित्व

समाजवादी कार्यक्रम के संभवतः किसी अन्य अंग को इतना गलत नहीं समझा जाता, जितना समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत स्वामित्व को समझा जाता है । उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिकतर यह विश्वास किया जाता है कि सभी उत्पादक पदार्थ संघीय सरकार के अधिकार में होंगे या उस सरकार के किसी ऐसे अंग के अधिकार में होंगे, जिसका निर्माण स्वामित्व प्राप्त करने के प्रयोजन तथा सभी समाजीकृत उद्योगों को चलाने के लिए किया गया है । समाजवाद की वास्तविक योजना इस अर्थ को मान कर नहीं चलती ।

उत्पादक पदार्थों का स्वामित्व 'संपूर्ण रूप से समाज' के अधिकार में रखने का समाजवादी यह तात्पर्य नहीं समझता कि समाज एक अभिकरण है । वस्तुतः सभी समाजवादी कार्यक्रमों में विभिन्न किस्मों के उत्पादक पदार्थों का हक विभिन्न किस्मों के सामाजिक अभिकरणों को दिए जाने पर बल देता है, जिसका प्रयोजन निर्णय करने की शक्ति उन अभिकरणों को देना है, जो अत्यंत कुशलता के साथ कार्य कर सकें । इस योजना की यहाँ पर केवल वाह्य रूपरेखा दी जा सकती है और वह भी देना कठिन होगा; क्योंकि समाजवाद के अंतर्गत विभिन्न सरकारी अभिकरणों में आज के इसी प्रकार के अभिकरणों से काफी अंतर हो सकता है ।

स्वामित्व अभिकरण की किस्में

यदि हम यह मानें कि समाजवाद के अंतर्गत सरकार की इकाइयाँ राष्ट्र, जिला तथा स्थानीय आधार पर होंगी, तो विभिन्न एककों को संपत्ति का बंटन करने

की योजना स्पष्ट हो जाती है। राष्ट्रीय सरकार उन औद्योगिक संपत्तियों को अपने अधिकार में रखेगी, जिनके कार्य इतने अधिक विस्तृत हैं कि जिनके प्रवंध से संबंधित निर्णय केवल इसी प्रकार के विस्तृत अधिकार वाले अभिकरणों द्वारा संतोषजनक ढंग से किए जा सकते हैं। इस प्रकार उदाहरण के लिए समाजवादी सभी ट्रंक लाइन रेलों का हक केवल राष्ट्रीय सरकार अथवा उसके किसी विभाग को ही सौंपना चाहेंगे। जहाजरानी और बैंकिंग इसी प्रकार के अन्य उद्योगों के उदाहरण हैं, जिनका संगठन राष्ट्रीय आधार पर किया जाना है। हमारी सरकार के समाजवादी पुनर्गठन ढाँचे के अंतर्गत हमारे वर्त्तमान राज्यों में संभवतः कुछ औद्योगिक हेर-फेर करने पड़ेंगे, जिससे वे प्राकृतिक या प्राप्त आर्थिक विशेषताओं के निकट आ जाएँ और तभी इस प्रकार के अभिकरणों को स्थानीय लाभ के उत्पादक पदार्थों के स्वामित्व का हक देना संभव हो सकेगा। उदाहरण के लिए आटे की मिलों को उन स्थानों की जिला-सरकार के प्राधिकारियों के स्वामित्व में रखा और चलाया जा सकता है, जहाँ गेहूँ का उत्पादन एक विशेष उद्योग है। जिला-सरकारों द्वारा इस प्रकार के जो अन्य उद्योग अधिकार में रखे और चलाए जा सकते हैं उनके नाम खनन, कपास ओटना और साफ करना, फल छाँटना और पैक करना, डिब्बों में बंद करना, धातु पिघलाना और गोश्त के डिब्बों में बंद करना आदि उद्योग हैं।

समाजवादियों का विचार बहुत से उद्योगों पर स्थानीय सरकारों का स्वामित्व और उन्हें चलाने का अधिकार सौंप देने का है। इन उद्योगों में स्थानीय उपयोगिता सेवा वाले उद्योग जैसे—जल-संभरण-व्यवस्था, मोटर चलानेवाली कंपनियाँ और गैस तथा विद्युत से चलने वाले संयंत्र शामिल हैं। नगरपालिका संबंधी सरकारों से आशा की जाती है कि वे ऐसे बहुत से उद्योगों का स्वामित्व और उन्हें चलाने का अधिकार अपने हाथ में लेंगी, जो अन्य स्थानीय किस्म के कार्य करते हैं। इनमें ताजे फल और सब्जियों को बेचने का कार्य, अस्पतालों और अन्य स्वास्थ्य-सुविधाओं को चलाने, थिएटर और संगीतशालाएँ चलाने, दुग्ध-वितरण, गृह-निर्माण आदि से संबंधित कार्य-कलाप शामिल हैं। ऐसे मामलों में नागरिकों के दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं का उत्पादन इतने घनिष्ठ रूप से संबंधित है कि समाजवादी यह विश्वास करते हैं कि इन सुविधाओं को संतोषजनक ढंग से तभी चलाया जा सकता है, जबकि इनका प्रबंध करने वालों का उपभोक्ताओं से निकटतम संबंध हो। वस्तुतः बहुत से समाजवादी यह समझते हैं कि इसे सिद्ध करने का भार उन व्यक्तियों पर अधिक है, जो स्थानीय सरकार से ज्यादा विस्तृत स्वामित्व और संचाचन का समर्थन करते हैं। निरसंदेह यह बात उन उद्योगों पर लागू नहीं होगी, जो स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय आधार पर नहीं चलाए जा सकते।

व्यक्तियों और सहकारी संस्थाओं का स्वामित्व

समाजवादी स्थानीय सरकारों द्वारा उद्योगों के स्वामित्व और संचालन पर जो बल देता है, उससे विभिन्न स्थिरकों के व्यक्तिगत और सहकारी स्वामित्व तथा उत्पादक पदार्थों के बारे में अनेक कारण और भी उठ खड़े होते हैं। समाजवादी किसी व्यक्ति के स्वामित्व और उन उपकरणों का प्रयोग मनमाने ढंग से करने की वकालत करता है, जिन्हें वह अन्य किसी से सहायता प्राप्त किए बिना अधिक कुशलता से प्रयोग में ला सकता है। इस प्रकार समाजवादी योजना विशेष रूप से कृषि और दस्तकारी के उत्पादन में औजारों, वर्कशॉपों, पशुओं, कृषि-उपकरणों तथा कुछ हद तक भूमि पर निजी स्वामित्व रखने के लिए भी तैयार है, जिनमें भूमि का प्रयोग स्वयं मालिक के द्वारा मजदूरों को लगाए बिना किया जा सकता है। इस प्रकार के निजी स्वामित्व और सरकारी स्वामित्व के विभिन्न रूपों के बीच कहीं पर सहकारी संगठनों द्वारा उत्पादक पदार्थों का स्वामित्व और प्रयोग आ जाएगा। ये वे उपभोक्ता हो सकते हैं, जिन्होंने सरकारी संगठनों का निर्माण कर लिया है और जिनका विपणन-सुविधाओं पर अधिकार है और जिनकी खुदरा दुकाने हैं या जो इनकी खपत की व्यवस्था करते हैं अथवा वे उत्पादक जिनके पास सम्मिलित औजार और महँगे उपकरण आदि हैं अथवा जो व्यक्तिगत स्वामियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक हो सकते हैं। इस प्रकार के सहकारी संगठनों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनको होने वाली आय में सहकारियों का भी हिस्सा होता है, जो मालिक-कर्मचारियों के बीच संविदा के आधार पर न होकर स्वामित्व तथा संस्थापना को सक्रिय रूप से चलाने में पूरे वर्ग के साझे आधार पर होता है।

समाजवादी योजना के अनुसार उत्पादक पदार्थों का स्वामित्व केंद्रीयकृत राष्ट्रीय सरकार में सीमित न रह कर उन विभिन्न प्रतिनिधित्व वाले जिला और स्थानीय सरकारों, सरकारी संगठनों एवं कुछ मामलों में व्यक्तियों तक में बिखर जाएगा, जो समाज के हित के लिए कार्य करते हैं। विभिन्न अभिकरणों के स्वामित्व और तदनुरूप निर्णय करने की शक्ति देने की व्यवस्था इस सिद्धांत के अनुसार की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति उस संपत्ति का हकदार होगा, जिसका इस्तेमाल सर्वोत्तम रीति से और समाज के हित में होगा।

आर्थिक आयोजना

समाजवाद का प्रबंध-संबंधी कार्य

ज्यों-ज्यों हम समाजवादी कार्यक्रम के एक अंश की ओर से दूसरे अंश की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि सामान्य व्यक्ति के

लिए समाजवाद एक बिल्कुल साधारण चीज जान पड़ती है। किंतु, सावधानी से जाँच करने पर पता चलता है कि वह अत्यंत जटिल चीज है। समाजीकृत उत्पादक पदार्थों की व्यवस्था करना समाजवादी योजना के इस सामान्यीकरण का अपवाद नहीं है। साधारण व्यक्ति का यह विश्वास जान पड़ता है कि समाजवाद के अंतर्गत उद्योगों का नियुक्त किया हुआ या निर्वाचित अथवा इसी प्रकार का महाप्रबंधक होगा, जो उस प्रबध को उसी प्रकार चलाएगा, जैसाकि वर्त्तमान स्वामी अपने औद्योगिक संयंत्र की व्यवस्था करता है। यद्यपि समाजवादी अपनी योजना को अत्यंत साधारण बनाना चाहता था किंतु ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि समाजवादी व्यवस्था होने से कुछ प्रबध-सबंधी ऐसी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो वर्त्तमान निजी स्वामित्व में भी नहीं हैं।

वर्त्तमान स्वामी अपने संयंत्रों को चलाने के बारे में निर्णय करते समय वह उनको मूल्य तथा उत्पादन-प्रणाली के भीतर ही करता है, जिसका मुख्य रूप से निर्धारण स्वतः स्पर्द्धा प्रक्रियाओं के द्वारा हो जाता है। दैनिक कार्यों के लिए आवश्यक कच्चे माल, श्रम, कार्यकारी व्यक्तियों के नीचे काम करने वाले लोग तथा अन्य वस्तुओं के लिए उसे कितना भुगतान करना पड़ेगा, इसका पता अपेक्षाकृत निर्बाध बाजारों से लग जाएगा। इसके साथ-साथ इन अपेक्षाकृत निर्बाध बाजारों से उसे इस बात की भी सूचना मिल जाएगी कि उसे अपने माल का कितना मूल्य रखना चाहिए। पूँजीवाद के अंतर्गत किसी फर्म के प्रबंधक को समय-समय पर इन सब बातों को ध्यान में रखना पड़ता है कि उसे कौन सा माल बनाना चाहिए तथा कौन-कौन सा सामान और प्रक्रिया प्रयोग में लानी चाहिए। पूर्ण समाजीकृत अर्थतंत्र में ये आत्मगतिक प्रक्रियाएँ अब लागू नहीं होतीं। अतः, यह आवश्यक हो जाता है कि प्रबंध-संबंधी कोई विशद व्यवस्था की जाए जिससे इन सामान्य निर्देशों को लागू किया जा सके, जो पूँजीवादी व्यवस्था में आत्मगतिक स्पर्द्धा कारणों के द्वारा लागू होती है। इस प्रकार समाजवाद के द्वारा प्रबंध-संबंधी एक इतना विशाल कार्य उपस्थित हो जाता है, जैसाकि विद्यमान पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत नहीं है।

समाजवादी आर्थिक आयोजना का स्वरूप

इस आयोजन के लिए समाजवाद आर्थिक आयोजना का प्रस्ताव रखता है। इस शब्द का हाल के वर्षों में इतना दुरूपयोग किया गया है कि यहाँ इसका निश्चित अर्थ बताने की अत्यंत आवश्यकता है कि इस संबंध में इसका किस प्रकार प्रयोग किया जाए। आर्थिक आयोजना का तात्पर्य है कि सभी आर्थिक कार्य-कलापों को "कार्य के उन वर्ग-परिभाषित क्षेत्रों में एक रूप देना है, जिन्हें एक समन्वित समग्र चित्र के अंग-

स्वरूप युक्तिसंगत तरीके से चित्रित किया गया हो और उपयुक्त रूप से बैठाया गया हो, जिससे कुछ युक्तिसंगत रूप से सोचे गए और सामाजिक दृष्टि से विशद् लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें।"[1] आर्थिक आयोजना का समर्थन केवल समाजवादी ही नहीं करते। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिल सके जो आर्थिक आयोजना पर आपत्ति करे, बशर्ते कि उसे इसकी परिभाषा करने की अनुमति प्राप्त हो। आर्थिक आयोजना की चर्चा में समाजवादी का सबसे अद्वितीय योगदान उसकी यह धारणा है कि वास्तविक आयोजना केवल समाजीकृत अर्थतंत्र में हो सकती है। उसका तर्क यह है कि उत्पादक पदार्थों के प्रयोग के बारे में निर्णय करने का अधिकार इन पदार्थों के स्वामित्व में निहित है। जब तक स्वामित्व संबंधी हक एवं उससे संबंधित अधिकार व्यक्तियों को प्राप्त रहेंगे, तब तक उनके स्वामी उत्पादक पदार्थों का प्रयोग मनमाने ढंग से करते रहेंगे। इसके संबंध में निर्णय करने का अधिकार और उनका स्वामित्व समाज को मिल जाने के बाद ही वह इसका प्रत्यक्ष रूप से निर्णय कर सकेगा कि उस संपत्ति का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। इस स्पष्ट स्वरूप के बावजूद बहुत से लोग समाजवाद और आर्थिक आयोजना का वास्तविक संबंध जानने में असफल रहते हैं। वे यह देखें बिना असंख्य योजनाएँ बना डालते हैं कि जब तक ये योजनाएँ व्यक्तिगत स्वामियों की इच्छा के अनुकूल न होंगी, (ऐसी दशा में किसी भी योजना की आवश्यकता नहीं रहेगी), तब तक आयोजकों को उत्पादक पदार्थों के बारे में निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए अर्थात् या तो उन पर इसका स्वामित्व अथवा नियंत्रण हो।

आयोजना-संबंधी अभिकरण

चूँकि अधिकांश समाजवादी सोवियत संघ में प्रयुक्त आर्थिक आयोजना-जैसी प्रविधियों का अनुमोदन करते हैं और जिनकी कुछ विस्तार में चर्चा बाद में की जानी है, इसलिए यहाँ पर समाजवादी कार्यक्रम के एक अनिवार्य अंग के रूप में आर्थिक आयोजना के बारे में अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है। समाजवादी को वस्तुतः चाहे वह पसंद करे या न करे, विशद् आर्थिक आयोजना का समर्थन विवश होकर करना ही पड़ता है। समाजवाद के अंतर्गत उत्पादक पदार्थों का स्वामित्व अनेक प्रकार के सरकारी अभिकरणों में बँट जाएगा। इस बात पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि कोई ऐसी अज्ञात शक्ति है जो इन अनेक निकायों के विभिन्न आर्थिक कार्य-कलापों में समन्वय स्थापित कर देगी। इसके लिए तो निर्णय करने

---

१. डब्ल्यू० एन० लाउदस, दि एनल्स ऑफ दि अमेरिकन एकेडमी ऑफ दि पौलिटिकल ऐंड सोशल साइंस, जुलाई, १९३२ ई०, पृष्ठ ११४।

वाले सभी अभिकरणों के कार्य-कलापों का समन्वय करने हेतु एक ऐसा अधिनिर्णय करने के लिए जागरूक प्रयत्न करने की आवश्यकता होगी, जिसमें समस्त आर्थिक प्रणाली का नमूना मौजूद हो। यह समन्वयकारी प्रयास ही आर्थिक योजना है।

इस बारे में हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि आर्थिक आयोजना की समाजवादी व्यवस्था जितना जितना जटिल कार्य उसे करना है, उससे अधिक जटिल बन गई है। औद्योगिक एवं कार्यात्मक दोनों आधार पर संगठित आयोजना अभिकरणों का लगभग अनिवार्य रूप से सोपानात्मक संगठन होगा। इसके साथ ही यह मानना युक्तिसंगत होगा कि किसी एक केंद्रीय आयोजन निकाय को इस बात का अंतिम अधिकार होगा कि वह छोटे निकायों की योजनाओं को संपूर्ण राष्ट्र के लिए आर्थिक 'चित्रण' करने की योजना में बदल दे। फिर भी आयोजन-सबंधी अधिकार का केंद्रीकरण करना नागरिकों द्वारा केंद्रीय आयोजना निकाय पर राजनीतिक दृष्टि से लोकतंत्रात्मक नियंत्रण रखने के अनुकूल नहीं होगा और न छोटे आयोजना-संबंधी निकायों को अपनी अस्थायी आयोजना बनाने और उनके दृष्टिकोण से उन सभी विशद आयोजनाओं के सभी पहलुओं की आलोचना करने का अधिकार देना ही संगत होगा, जिनके लिए केंद्रीय निकाय उत्तरदायी है। समाजवादी अपने इस दावे पर जोर देते हैं कि जहाँ कारगर आर्थिक आयोजना उत्पादक पदार्थों के निजी स्वामित्व से सर्वथा असंगत है, वहीं वह समाज के वास्तविक लोकतंत्रात्मक राजनीतिक संगठन से असंगत नहीं है।

आयोजना तथा वैयक्तिक पसंद की स्वतंत्रता

हमने समाजवाद की जो परिभाषा दी है, उसके अनुकूल बनाने के लिए आर्थिक आयोजना को अपना समन्वयकारी कार्य उपभोक्ताओं द्वारा अपनी इच्छानुसार व्यवसाय अपनाने की स्वतंत्रता से वंचित किए बिना करना पड़ेगा। ऐसा करने के लिए समाजवादी आर्थिक आयोजना को इसको सुनिश्चित करने के लिए साधनोपाय ढूँढने होंगे कि उपभोक्ता क्या चाहते हैं (क्योंकि निर्बाध बाजारों में मूल्यों के उतार-चढ़ाव का उपभोक्ता की पसंद पर कोई प्रभाव नहीं रह जाएगा)। इसके लिए तो विभिन्न व्यवसायों में कितने श्रमिकों की आवश्यकता होगी, इसका प्रबंध करना पड़ेगा जिससे पुरस्कार देने की कोई ऐसी प्रणाली अपनाई जा सके, ताकि इस व्यवसायों को अपनाने के लिए मजदूरों को प्रभावित किया जा सके। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करने के लिए समाजवादी आयोजना प्रणाली को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, उनकी चर्चा आधुनिक समाजवाद के हमारे विश्लेषण के अंतिम अंश में की जाएगी। इस संबंध में यह बता देना उपयुक्त होगा कि समाजवादियों की यह धारणा नहीं है कि उनकी आयोजना-व्यवस्था सारी समस्याओं का

पूरी तरह समाधान कर देगी। उनका केवल इतना दावा है कि यह व्याख्या पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा कहीं अच्छी सिद्ध होगी।

उत्पादक एककों का प्रबंध

वैयक्तिक तथा सहकारी एकक

इस प्रकार लगभग सभी औद्योगिक कार्य-कलापों की विशद् नीतियाँ आर्थिक आयोजना के जरिए निर्धारित की जाएँगी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के बैयक्तिक उत्पादक एककों के दैनिक कार्यों का संचालन करने और उनके प्रबंध की समस्या रह जाती है। जहाँ तक व्यक्तियों के स्वामित्व वाले व्यापार एककों और उन्हें उन्हीं के द्वारा चलाए जाने का संबंध है, उनका प्रबंध पूँजीवादी प्रणाली के अंतर्गत इस समय चलने वाले वैसे ही एककों की भाँति ही होगा। इस प्रकार के एकक पूर्णतः कृषि और दस्तकारी के उत्पादन तक ही सीमित रहेंगे; क्योंकि केवल वे ही ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें कोई व्यक्ति मजदूर रखे बिना अपने श्रम से लाभ कमा सकता है। इन क्षेत्रों में निर्णय करने का एकमात्र अधिकार मालिक मजदूर को ही होगा। विशद् आयोजना की व्यवस्था के द्वारा न तो वह किसी को कोई आदेश देगा और न किसी को मना करेगा। तो भी इन व्यक्तियों के निर्णय विद्यमान आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होंगे। हमारी अर्थ-व्यवस्था में किसान कितने एकड़ भूमि में खेती करे, इसका निर्णय अधिकतर गेहूँ के बिक्री मूल्य और गेहूँ उगाने के लिए वह जो आवश्यक सामान खरीदता है, उसकी लागत के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में किसान अपना निर्णय विद्यमान आर्थिक तत्त्वों के द्वारा करता है, जिनकी स्थापना अधिकतर आयोजना–अभिकरणों द्वारा की जाती है।

इस प्रकार एक दृष्टिकोण से समाजवादी आयोजना अभिकरणों को इन व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ताओं के निर्णयों के निष्कर्षों को स्वीकार कर उन्हीं के अनुसार अपनी योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। किंतु, दूसरे दृष्टिकोण से आयोजना अभिकरण व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ता को छोड़ कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे वह वही निर्णय करने को तैयार हो जाए, जैसा आयोजना करने वाले उससे चाहते थे। उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दो अत्यधिक कारगर तरीके इस्तेमाल किए जा सकते हैं। उन आयोजित मूल्य-तालिकाओं को बढ़ा कर और घटा कर जिन पर गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदी और सरकारी अधिकरणों द्वारा पुनः बेची जाती है। इस प्रकार की वस्तुओं के निर्माता को वैयक्तिक रूप से निर्मित उत्पादन-तालिकाओं के लिए प्रोत्साहित या निरुत्साहित किया जा सकता है। साथ ही करारोपण के अत्यंत लचीले तरीके के प्रयोग से इसी प्रकार के उद्देश्यों

को प्राप्त किया जा सकता है। कुछ खास किस्मों के उत्पादन पर कर बढ़ा कर या घटा कर व्यक्तियों के कार्य-कलापों को कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने का प्रोत्साहन दिया जा सकता है, तो अन्य वस्तुओं के लिए निरुत्साहित किया जा सकता है। सहकारिता के आधार पर उत्पादन करने वाले एककों के कार्य-कलापों में भी कुछ इस प्रकार के परिवर्तन करके और इन तरीकों का इस्तेमाल करके उन्हें इस प्रकार ढाला जा सकता है, जिससे वे विशद् आर्थिक योजनाओं के अनुरूप हो सकें। इस प्रकार समाजवादी व्यक्तियों द्वारा और सहकारिता के आधार पर चलाए जा रहे अनेक आर्थिक एककों को आर्थिक आयोजना—अभिकरणों के विशद् प्रबंध-संबंधी निर्णयों के अनुरूप लाने की आयोजना समाजवादी प्रकार के एककों को प्राधिकृत प्रबंध संबंधों के जरिए किसी केंद्रीय प्राधिकारी से जोड़े बिना बना सकते हैं।

बड़े एकक

अधिकांश बड़े पैमाने पर निर्माण करने वाले खनन, परिवहन, संचार तथा सेवा-संबंधी उद्योगों के लिए आर्थिक निश्चित किस्म का प्रवंध-संदंधी नियंत्रण अवश्य निश्चित किया जाना चाहिए। चूँकि इस प्रकार का निर्माण करने वाले एककों का स्वामित्व अनेक सरकारी या अर्द्ध सरकारी अभिकरणों में फैला रहेगा, अतः ये प्रबंध-संबंध संभवतः केवल इस आधार को छोड़ कर कि विशद् आयोजना की सामान्य नीतियों और कार्यक्रमों का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए, किसी एक केंद्रीय अभिकरण में केंद्रित नहीं किए जाएँगे। जहाँ तक नीति का संबंध है, आर्थिक आयोजना के जरिए केंद्रीय नियंत्रण अवश्य रहना चाहिए। इसको लागू करने के उपायों के रूप में स्थानीय प्रबंधकों को निर्णय करने में उतनी स्वतंत्रता अवश्य दी जानी चाहिए, जो उसको सौंपे गए उत्तरदायित्वों से संगत हो।

बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले इन विशिष्ट एककों के प्रबंध का पुनर्गठन करने में, जिससे प्रशासन के विशेष उपाय दैनिक इस्तेमाल में लाए जा सकें, समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था के द्वारा अनेक रूपों में से उपयुक्त रूप का चुनाव किया जा सकेगा। ऐसी कोई भी धारणा नहीं है कि कोई एक मानक नमूना सभी उद्योगों या एक ही उद्योग के सभी एककों में समान रूप से लागू किया जाएगा। समाजवादी तो विभिन्न स्थितियों में सबसे अधिक उपयुक्त लचीले रूप और परीक्षण के आधार पर संगठनात्मक रूप का पता लगाने पर बल देते हैं। समाजवाद के अंतर्गत भी प्रबंध-संबंधी नियंत्रण के रूपों में उतनी ही विविधता रहती है, जितनी पूँजीवाद में होती है। समाजवाद के अंतर्गत प्रबंध के विभिन्न रूपों की जटिलताओं के बारे में यदि विस्तार से चर्चा की जाए, तो बड़ी आसानी से एक जिल्द ही भर जाएगी। यहाँ पर केवल

कुछ उन्हीं मोटे-मोटे सिद्धांतों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन पर समाजवादी अधिक जोर देते हैं।

संगठन के निगमित रूपों का प्रयोग

समाजवाद के अंतर्गत अधिकांश बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले एककों का विस्तृत संगठन उन निगमित संगठनों की किस्म का है, जिस रूप में वे हमारी वर्त्तमान अर्थ-व्यवस्था में विद्यमान हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विशेष प्रकार के और केवल निश्चित संख्या में ही संचालन एकक स्थापित किए जाएंगे और उन में से प्रत्येक एकक को प्रबंध-संबंधी प्रयोजन के लिए उसको एक लाभप्रद अस्तित्व माना जाएगा। इन्हें आपस में विभिन्न पड़े और खड़े रूप से सम्मिलनों में जोड़ा जा सकता है, जिसकी कार्यवश आवश्यकता हो। इनमें से प्रत्येक निगम गणना की एक इकाई का काम करेगा यद्यपि निस्संदेह समंकित तुलना-पत्र और आय-विवरणों में कार्यों का हवाला रहेगा। प्रत्येक निगम में एक प्रकार का मंडल होगा, जो दैनिक कार्यो पर विशेष प्रकार का प्रबंध-संबंधी नियंत्रण रखेगा। यह मंडल संभवत; एक महाप्रबंधक और अधीनस्थ कर्मचारियों को अधिकार देगा। यह मडल उसी प्रकार का होगा, जैसा अधिकांश गैर-सरकारी निगमों में होता है और जिससे हम सब परिचित हैं। इस मंडल में कौन-कौन से व्यक्ति होंगे, इससे समाजवादी सबसे अधिक संबंध रखते हैं। मंडल में सदस्यों को चुनाव के द्वारा रखा जाए या नियुक्त किया जाए, इसका सबसे अच्छा तरीका क्या होना चाहिए, इस संबंध में तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सदस्यों में से किन-किन हितों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, इस पर भिन्न-भिन्न रायें हैं।

प्रबंधक मंडल

इन प्रबधक मंडलों की रचना के संबंध में अपनाया जाने वाला सामान्य समाजवादी सिद्धांत स्पष्ट है। इसमें कार्य करने वाले प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि होने चाहिए। ये वर्ग कौन-कौन से और क्या-क्या हैं? सरकार के अतिरिक्त तीन वर्गों का उल्लेख करना प्रथागत है :—

१. **प्रबंध-विशेषज्ञ कर्मचारी**—ये महा संयंत्र प्रवंधक और उनके सहायकों से ले कर शॉप फोरमैन या स्क्वाड बॉस तक होते हैं। इस वर्ग के उच्च पद वालों पर विशद् आर्थिक आयोजना द्वारा निर्धारित की गई नीतियों और कार्यक्रमों के अनुरूप संयंत्र का कार्य चलाने का उत्तरदायित्व होता है। इस वर्ग के प्रतिनिधि संभवतः प्रबंधक मंडल के सम्मुख यह दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे और मंडल के ऐसे निर्णय करेंगे, जिनसे इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इस वर्ग में तकनीकी विशेषज्ञ जैसे—वैज्ञानिक

अनुसंधानकर्त्ता, मैकेनिकल इंजीनियर आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। फिर भी बाद वाले वर्ग के बारे में यह समझा जा सकता है कि उसका प्रतिनिधित्व मंडल में संयुक्त रूप से मजदूरों या उनके अपने प्रतिनिधियों द्वारा किया जा रहा है।

२. मजदूर—इस वर्ग की परिभाषा में मोटे रूप से कुशल और अकुशल तथा शारीरिक एवं मानसिक श्रम करने वाले मजदूर सम्मिलित हैं। इनके प्रतिनिधियों से यह आशा की जाती है कि वे ऐसे निर्णय करने पर जोर देंगे, जो काम करने की अच्छी हालतों, काम के घंटों में कमी, अधिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मजदूरी को दिलाने के बारे में अनुकूल हों। संभवतः उनके इस रुख से प्रबंधक वर्ग के उन प्रस्तावों का प्रतिसंतुलन हो सकेगा, जिनके बारे में मजदूर यह समझते हैं कि वे उनके ऊपर अनुचित रूप से लाद दिए गए हैं और वे उनके लिए अनावश्यक भारस्वरूप हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधियों से यह भी आशा की जाती है कि वे विशेष एकक और मजदूर संघों के वीच एक कड़ी का काम करेंगे, जिस तरह से संबंध स्थापित करने का काम प्रवंधक कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधि आयोजना निकायों और संबंधित सरकारी प्राधिकारी के बीच करते हैं।

३. उपभोक्ता—इस प्रकार के प्रतिनिधियों का मिलना कठिन है, जिनका इस वर्ग के हितों की रक्षा करने में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान हो। बहुत से मामलों में भारी उद्योगों के उत्पादन का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से अंतिम उपभोक्ताओं द्वारा नहीं किया जाता और जहाँ कहीं कुछ उत्पादों जैसे इमारती सामान का इस प्रकार उपयोग किया जाता है, वहाँ इनके प्रयोग का कुछ ऐसे तरीका है कि उपभोक्ता उनके बारे में अपनी रूचि जानने या उसे व्यक्त करने में असमर्थ रहता है। कुछ मामलों में उपभोक्ता संगठनों जैसे उपभोक्ता सहकारी संगठनों के प्रतिनिधि मिलने की संभावना होगी, वहाँ वे मंडल में शामिल होंगे। बहुत से मामलों में इस बुनियादी हित का प्रतिनिधित्व मंडल में एक सलाहकार-परिषद् के जरिए होना आवश्यक होगा, जिसे आयोजना करने का कुछ भी अधिकार नहीं होगा और यह विशद् निर्णय करने में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं ले सकेगी। किसी भी दशा में इस वर्ग का प्रत्यक्ष या सलाहकार के रूप में प्रतिनिधित्व हो जाने से यह मंडल के निर्णयों और उपभोक्ता के हितों के बीच कड़ी का काम करेगा।

इस चर्चा में प्रबंध-संबंधी संगठन की बहुत सी विशद् समस्याएँ नहीं ली गई हैं। फिर भी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में, जैसा कि यहाँ बताया गया है, प्रबंध-नियंत्रण की प्रमुख बातों से इस बात का आभास मिलता है कि निर्णय करने वाले उन अधिकारों को जो समाजवाद के अंतर्गत समाज को दिए जाते हैं, समाजवादी

किस प्रकार लागू करने का विचार रखते हैं। ऐसा वे विस्तृत तथा विशद दोनों ही मामलों में उत्पादन को प्राधिकृत प्रबंध को छोड़े बिना करना चाहते हैं, जिनका होना व्यवस्थित रूप से संचलित ऐसी अर्थ-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है, जिसमें आधुनिक तरीकों की मशीनों द्वारा उत्पादन होता है।

समाजवाद के अंतर्गत श्रमिकों को अभिप्रेरण

समाजवादियों से इससे ज्यादा बार-बार दूसरा प्रश्न नहीं पूछा जाता कि "आप समाजवाद के अंतर्गत लोगों से अधिक काम किस प्रकार लेंगे?" प्रश्नकर्त्ता को जब यह उत्तर "पूँजीवादी व्यवस्था में जितना आप काम करते हैं उससे अधिक" मिलता है, तो वह समाजवाद की अव्यावहारिकता के बारे में निश्चित हो जाता है। उत्पादन कार्य चलाते रहने के लिए जिस मानवशास्त्री की आवश्यकता होती है, उसे उत्पन्न करने के संबंध में समाजवादियों की आयोजनाओं की संक्षिप्त जाँच करने से यह सिद्ध होता है कि यह उत्तर सचाई से दिया गया है और सार्थक है। आधुनिक समाजवादियों द्वारा प्रस्तावित विद्यमान अभिप्रेरण में सुधार से संभवतः जिन व्यक्तियों को काम मिला हुआ है, उनके बहुत थोड़े से अंश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और इस छोटे वर्ग पर भी उतना विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा, जैसा प्रायः समझा जाता है।

पूँजीवाद के अंतर्गत लाभ अभिप्रेरण का सीमित क्षेत्र

समाजवादी, अभिप्रेरण-संबंधी अपना कार्यक्रम उन अनेक मिथ्यावादों को बता कर प्रारंभ करता है, जिनके बारे में वह यह महसूस करता है कि जनसाधारण ने उन्हें सत्य समझ रखा है। सबसे पहले तो वह यह कहता है कि पूँजीवाद के अंतर्गत उत्पादन में जितना कुल शारीरिक और मानसिक मानव-प्रयास लगता है, उसका अधिकांश लाभ से अभिप्रेरित होता हो, जैसा जनसाधारण समझता है। पर, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वह यह बताता है कि 'लाभ' कमाने का अवसर अर्थात् क्रय-मूल्य और बिक्रय-मूल्य के बीच का अंतर वर्त्तमान अर्थ-व्यवस्था के द्वारा केवल व्यक्तियों के अपेक्षाकृत एक छोटे वर्ग तक ही सीमित रह सकता है। शारीरिक और मानसिक कार्य करने वाले वेतनभोगी व्यक्तिसमूहों को 'लाभ' कमाने का कोई अवसर नहीं मिलता, इसलिए उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे लाभ कमाने से प्रभावित हो गए हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वेतनभोगी वर्ग में न केवल 'निम्न' सेवा के ही, अपितु उच्च श्रेणी के श्रमिक भी सम्मिलित हैं। जैसे—फोरमैन, शॉप मैनेजर, अधीक्षक, महाप्रबंधक, उपाध्यक्ष, जो अलग-अलग कार्यों के प्रभारी हैं तथा इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जो संख्या में कम होते हुए भी कार्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्ग के होते हैं, जैसे वैज्ञानिक और अनुसंधान-कार्य करने

वाले एवं इंजीनियर, जिनके हाथों में हमारे उद्योगों को सुचारू रूप से चलाने तथा उनके भावी तकनीकी विकास की कुंजी होती है। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के केवल 'उद्यमकर्ता' ही इस स्थिति में रह जाते हैं कि उनका उद्देश्य लाभ कमाना होता है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग में भी संभवतः बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो बहुत हद तक अपने उस उच्च वर्ग वालों से आदेश लेते हैं और जिनके वेतन उनको मिलने वाले लाभ की अपेक्षा अधिक होते हैं।

इस प्रकार हमारी अर्थ-व्यवस्था में लाभ कमाने का अभिप्रेरण अपेक्षाकृत केवल उसी छोटे उद्यमकर्त्ता वर्ग को मिलता है, जो विभिन्न औद्योगिक एककों के नीति-संबंधी निर्णय करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि न तो यह वर्ग कम महत्त्वपूर्ण है और न यह ही, कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में लाभ-अभिप्रेरण का कोई प्रभाव नहीं होता। समाजवादी सबसे पहले लाभ कमाने के आधार पर उद्यमकर्त्ताओं द्वारा किए गए निर्णयों पर बल देते हैं।

मजदूरी विशेषज्ञों के साथ लाभ-अभिप्रेरण और भ्रांतियाँ

लाभ-अभिप्रेरण और मजदूरी विशेषज्ञों के बीच भेद न करने से कुछ गड़बड़ी उठ खड़ी होती है। यह निःसंदेह सच है कि ज्यादा मजदूरी या वेतन पाने की इच्छा अधिकांश मजदूरी वाले श्रमिकों के अभिप्रेरण में एक बड़ी भारी भूमिका निभाती है। पर, लाभ पाने के लिए प्रयास करने या अपने को लाभ कमाने की संभावनाओं वाले उद्यमकर्त्ताओं की श्रेणी में रखने के प्रयासों से यह बिलकुल भिन्न चीज है। समाजवाद के बहुत-से आलोचक यह तो मानते हैं कि मजदूरी पाने वाले कामगर इस समय इस स्थिति में नहीं हैं, जहाँ लाभ कमाना व्यावहारिक अभिप्रेरण हो। पर, उनका तर्क है कि लाभ-अभिप्रेरण मजदूर को कम-से-कम इस अर्थ में प्रभावित करता है कि वे उद्यमी-वर्ग में प्रवेश करने के लिए प्रयास करते हैं, जहाँ लाभ कमाने के अवसर होते हैं। इसलिए यह तर्क दिया जाता है कि लाभ-अभिप्रेरण अप्रत्यक्ष रूप से श्रमिक-समूह को प्रभावित करता है। हालाँकि हमारे देश में आरंभिक औद्योगिक इतिहास में ऐसी बात देखने को मिली थी, पर समाजवादियों का तर्क है कि अब यह बात सच नहीं रही। विशाल कारबार (सामान्यतः निगमित) इकाइयों का ज्यादा संख्या में आगे आ जाना उद्यमकर्त्ताओं के कार्य के नीति-नियंत्रक छोटे से वर्ग में केंद्रित हो जाने की प्रवृत्ति पैदा कर देता है। स्पष्ट ही कामगर अब मज़दूरी के काम करने वालें के स्तर से उद्यमकर्त्ता के स्तर तक पहुँचने के बहुत कम मौके अनुभव करने लगे हैं। यह बात सच है, ऐसी समझ जिस दिन कामगर को आ जाएगी, उस दिन लाभ-अभिप्रेरण का यह अवशेष बाकी न रहेगा।

समाजवादियों का कहना है कि पूँजीवाद अपने कर्मचारियों को अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति को काम में लगाने की जो प्रेरणा देता है, उसका मूल उद्दीपन उनका यह भय है कि वे और उनके परिवार भूखे मर जाएँगे। मजदूरों के समूह के ऊपर 'काम नहीं तो खाना नहीं' का पुराना नियम उग्रता के साथ काम करता है, जो अपने दैनिक कार्य को दोनों चीजों में से कम बुरा मानते हुए करते रहते हैं। मजदूरियों में विशेषक भेद रहना मजदूरों को अपनी सर्वोत्तम शक्ति से काम करने के लिए अतिरिक्त अभिप्रेरण देता है, अन्यथा वे नौकरी बची रही, इससे ज्यादा काम न करते। काम और प्रवीणता के कुछ सामान्य स्तर पूरा करने वालों को जो घंटों और दिन के हिसाब से ज्यादा दर से वेतन दिया जाता है, वह ऐसी प्रवीणता प्राप्त करने के लिए और काम द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रलोभन पैदा कर देता है। विशिष्ट काम कर लेने पर आधारित उभरती मजदूरियाँ और बहुत प्रकार के अभिप्रेरण बोनस इस तरह मजदूर को अपनी प्रवीणता और शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए प्रलोभित करते हैं।

संभाव्य गैर-आर्थिक और धनेतर अभिप्रेरण

समाजवादी इस प्रचलित विचार को भी मिथ्या वताते हैं कि आर्थिक और मूलतः धन-संबंधी स्वरूप के प्रलोभनों में इतर कोई अन्य प्रलोभन मिलने पर न तो मजदूरी पर काम करने वाले और न उद्यमकर्त्ता ही अपने आर्थिक कृत्यों का निर्वहन करेंगे। इस प्रकार के कुछ फायदे को ही कुछ लोग एकमात्र उद्देश्य मानते हैं, जिसके पाने की कामगरों और उद्यमर्त्ताओं को आशा होती है। घोषित किया जाता है कि यह मनुष्य की अंतर्जात इच्छा होती है और समाजवाद चूँकि दूसरे कुछ अभिप्रेरणों पर निर्भर करने का प्रस्ताव करता है, इसलिए 'मानव-प्रकृति के विपरीत' माना जाता है।

समाजवादी विना तर्क किए ही यह बात मान लेते हैं कि बहुत कुछ अंशों में प्रौढ़ व्यक्ति, जो हमारे समाज में बड़े हुए हैं, आर्थिक महत्त्व की चीजें प्राप्त करने की इच्छा से आक्रांत रहते हैं—जो सामान्यतः धन में व्यक्त होती हैं। पर, वे दो बातें और कहते हैं : पहले तो यह बताया जाता है कि हमारे समाज में रहने वाले काफी प्रौढ़ व्यक्ति बहुत ज्यादा 'अर्जित' करने का स्वभाव रखते हैं, यह बात ही यह सिद्ध नहीं कर देती कि अर्जनशीलता इस अर्थ में 'मानव-स्वभाव' का अंग नहीं है कि वह विकास के समय मानव-भ्रूण में चिपट जाने वाली अंतर्जात मानवीय विशेषता हो और इसलिए जन्म के समय विद्यमान रहे। प्रौढ़ व्यक्तियों के चरित्र दो प्रकार की शक्तियों में बनते हैं—एक सहजात और दूसरी परिवेशीय। प्रौढ़ व्यक्तियों के पास

रहने वाली कितनी अर्जनशीलता पहले से पैदा होती है और कितनी दूसरी से, इस पर तो अनंत काल तक बहस होती रहेगी। समाजवादी यह बताते हैं कि पूँजीवाद की संस्था अर्जन वाली प्रवृत्तियों के विकास को पसंद करती है। पूँजीवाद के सभी समर्थक यह तर्क करते समय इस बात को मानते हैं कि पूँजीवादी अर्थतंत्र में इन विशेषताओं का आग्रह ही उत्पादन का प्रमुख उद्दीपक बनता है। समाजवादियों का निष्कर्ष है कि विधिक और आर्थिक संस्थाओं के दूसरे वर्ग द्वारा कम और हल्की अर्जनशील प्रवृत्तियों वाले लोगों के पैदा होने की बात की कल्पना की जा सकती है।

आगे यह भी कहा जा सकता है कि अर्जनशील प्रकार की संभाव्य मानवीय विशेषता भी कल्पना की ही बात नहीं कही जा सकती। तर्क दिया जाता है कि दूसरे जमाने में भी अर्जनशील अभिप्रेरण से प्रभावित सामाजिक वर्ग विद्यमान रहे हैं और वस्तुतः आज भी दुनिया में विद्यमान हैं। प्रबल साक्ष्य के ब्यौरे उद्धृत करना बड़ा ही रोचक होगा कि हमारे अर्थतंत्र के बड़े प्रमुख उद्यमकर्त्ताओं से बहुत से लोगों ने आर्थिक प्रयास करने की अपनी निज की प्रेरणाओं के कुल जोड़ में आर्थिक अभिप्रेरणों की तुच्छता और गैर-आर्थिक अभिप्रेरणों की प्रबलता को चरितार्थ किया है। इसे दूसरी जगह इतने विशद् रूप में किया गया है कि हम केवल इस साक्ष्य के अस्तित्व को ही मान लेते हैं।

समाजवाद के अधीन अभिप्रेरण के रूप में मजदूरी विशेषक

इस विद्यमान मिथ्यावाद को निपटा कर कि हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में 'लाभ-अभिप्रेरण' व्यापक रूप से चलता है और यह कि गैर-आर्थिक अभिप्रेरण 'मानव-स्वभाव' के विपरीत है, समाजवादी अपने समाजवादी कार्यक्रम के यंत्र को चलाने के लिए जरूरी मानव-प्रयास जागृत करने के अपने कार्यक्रम को पेश करते हैं। इस कार्यक्रम का सामान्य स्वरूप पूर्ववर्त्ती चर्चा में देखा जा सकता है। इसका पहला स्थूल सिद्धांत यह है कि जरूरी दैनंदिन शारीरिक और मानसिक श्रम के अधिकांश के लिए अभिप्रेरण प्रथमतः वैसा ही बना रहेगा, जैसा कि आज है—यह नियम कि जो काम न करेगा, उसे खाने को न मिलेगा और इस नियम के पूरक के रूप में प्रयास की ज्यादा मात्रा तथा ज्यादा अच्छी किस्म के लिए इन अंतरों की मापजोख उद्देश्य-निष्ठ रूप से उनके कृत्यों से ही की जाएगी। कार्यपालिका और तकनीकी श्रेणियों के उच्च पदों के लिए उसी तरह अप्रवीण, अर्द्ध प्रवीण और प्रवीण श्रम के लिए मजदूरी और वेतन के मौजूदा विशेषक बने रहेंगे। इस समय हमें इन अभिप्रेरक वेतन और मजदूरी के मानों के ब्यौरों की चिंता नहीं करनी चाहिए।

सामान्यतः समाजवादियों का प्रस्ताव है कि मजदूरियों के मान इस तरह व्यवस्थित किए जाएँ कि आज जिन बातों को पूँजीवाद के अधीन मजदूरी आयोजना का दुरुपयोग समझा जाता है, उनके खिलाफ कामगरों को संरक्षित किया जा सके। उदाहरण के लिए संभवतः समाजवादी यह अपेक्षा करेंगे कि एक न्यूनतम प्रति घंटा या दैनिक मजदूरी तय की जाए और संबंधित काम विशेष पर लगाए गए प्रत्येक कामगर को दी जाए। इस न्यूनतम के ऊपर ही अभिप्रेरण विशेषक रखे जा सकेंगे। साथ ही संभवतः आज के मालिकों को जो एक चाल चलनी पड़ी है, उसका समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उपयोग न किया जाएगा। अर्थात् जब कामगरों को अभिप्रेरण द्वारा निकास बढ़ाने के लिए प्रलोभित कर दिया जाएगा, तो भी उजरती दरें खत्म हो जाएँगी। स्पर्धी उद्योग में व्यक्तिगत मालिक के दृष्टिकोण से मजदूरी की लागत कम करने के लिए उजरती दरों में कटौती करना बिल्कुल ठीक बात है तथा समूचे ही वर्ग के लिए अभिप्रेरण मजदूरी-मानों के मूल प्रयोजन का ही नाश कर देता है। जो कामगर इन उजरती दरों की कटौती को भुगत चुके हैं, वे अपने-आप उत्पादन की ऐसी सीमाएँ अपने पर लागू करने के लालच में पड़ जाते हैं, जो उनके विचार से निकास की उस दर से कुछ ही कम रहती है, जो उनके मालिकों का 'उजरती दरों' में और कटौती करने की ओर ले जाएँगी।

इन प्रत्यक्ष धन अभिप्रेरणों में समाजवादी बहुत से गैर-आर्थिक अभिप्रेरण जोड़ देंगे, वे बढ़े हुए उत्पादन के लिए ऐसे पुरस्कार देंगे, जैसे कम घंटे, लंबी छुट्टियाँ और अन्य पुरस्कार। साथ ही ऐसे गैर-आर्थिक अभिप्रेरण भी इस्तेमाल में लाए जाएँगे, जो हमारे अर्थतंत्र में भी विद्यमान हैं। इसमें ये चीजें शामिल हो सकेंगी : गैर-आर्थिक मान देय पुरस्कार स्पर्धाएँ, कार्यदक्ष कामगरों के नामों की सुप्रदर्शित सूचियाँ निकालना, कंपनी के पत्रों में अनुकूल नामोल्लेखन, दीर्घ सेवा वाले कर्मचारियों के लिए क्लबों और सांध्य भोजनों की व्यवस्था और दूसरे 'सम्मान'। समाजवादी व्यवस्था में धनेतर और गैर-आर्थिक अभिप्रेरणों के व्यापक उपयोग के बावजूद उत्पादी प्रक्रियाओं में शारीरिक और मानसिक योगदान के लिए उपभोक्ता द्रव्यों में परिवर्तनीय ऊँची मजदूरी या वेतन की इच्छा मुख्य अभिप्रेरण बनी रहेगी।

ऊँचे कार्यपालक कृत्यों के लिए समाजवादी अभिप्रेरण

समाजवादियों के लिए अभिप्रेरणों की मुख्य समस्या उच्चतर कार्यपालिका और संगठन कृत्यों के प्रसंग में है। स्पर्धी उद्योग में रोग की तरह विद्यमान कुछ स्तरों और अनिश्चयों को दूर कर देने के बावजूद के अधीन इन स्थानों पर आसीन व्यक्तियों के पास भारी जिम्मेवारियाँ बनी रहेंगी। क्या इन कृत्यों का निर्वहन करने के लिए व्यक्ति ऐसा करने और पूँजीवाद के अधीन विद्यमान लाभ कमाने के इन

अवसरों के भिन्न रूप में या कुछ कम मिलने पर भी अपने निर्णयों के लिए जिम्मेवारी लेने के इच्छुक बने रहेंगे ? समाजवादी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि लोग तभी यह बोझ सँभालने के इच्छुक बनेंगे, जब उनको उचित अनुपात में प्रतिकर दिया जाए। वे दो तरह के प्रतिकरों की आयोजना बनाते हैं और उनके तर्क के अनुसार दोनों ही पूँजीवादी-प्रणाली में अपनी व्यावहारिकता सिद्ध कर चुके हैं। इनमें से पहला तो यह होगा कि जो लोग उच्चतर कार्यपालिका और संगठन-कार्यों का संतोषजनक रूप से निर्वहन करेंगे, उनको ज्यादा वेतन दिए जाएँगे। इस बात की विस्तृत चर्चा किए बिना कि इन वेतनों का निर्धारण कैसे किया जाएगा और वे दिए जाने वाले न्यूनतम वेतन से कितना ज्यादा होंगे, हम यह कह सकते हैं कि वे ऐसे उच्चतर कार्यपालकों के आज के वेतन से संभवतः ज्यादा भिन्न न होंगे, जो किसी विशेष महत्त्व की स्थिति में नहीं हैं, जिससे वे अपनी सेवाओं के स्पर्धी मूल्य से ज्यादा वेतन पा सकें।

आज हमारे उच्चतर सरकारी अधिकारियों के निचले सरकारी पदों वाले कामगरों को मिलने वाले वेतन से काफी ज्यादा वेतन दिया जाता है। यह तथ्य कि किसी गंभीर विरोध के बिना ये विशेषक चालू हैं, यह बताता है कि समाजवाद के अधीन मोटे तौर पर ये विशेषक व्यावहारिक बने रहेंगे। मजदूरी के ये अभिप्रेरण विशेषक आज विद्यमान आर्थिक समानता से ज्यादा समानता पैदा करने के समाजवादी लक्ष्य के साथ असंगत न होंगे; क्योंकि आज उच्चतम आय साधारणतः संपत्ति के स्वामित्व से, उसमें सट्टा करने से प्राप्त होती है, श्रम-सेवाओं के विक्रय से नहीं। हाँ, समाजवादी अच्छे वेतन वाले पदों को स्पर्धी चीज बना देना चाहते हैं, जिससे आपवादिक योग्यताओं वाले व्यक्ति अपनी योग्यताओं को समाज के लिए कुछ उपयोगी रीति से प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित किए जा सकेंगे।

समाजवाद के अधीन गैर-आर्थिक अभिप्रेरण

यह संभव है कि धन-पुरस्कार भले ही ऊँचे हों, समाजीकृत-प्रणाली में सर्वाधिक जिम्मेवार कार्यपालिका पदों पर आसीन लोगों को वे इतने प्रेरक न लगें कि वे वैयक्तिक आनंद, स्वास्थ्य, समय और शक्ति का महान् बलिदान करने को तैयार हो जाएँ। वस्तुतः हमारी विद्यमान आर्थिक और सरकारी प्रणाली में ऐसे पदों को स्वीकार करने के लिए धन-पुरस्कार ही एकमात्र प्रेरणा नहीं होते हैं। बहुत थोड़े से व्यक्ति यह तर्क करेंगे कि अमेरिका के राष्ट्रपति का १,००,००० डालर का वेतन ही एकमात्र या प्रमुख अभिप्रेरण है, जिनके कारण बड़े-बड़े लोग उस पद को हर चौथे साल स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाले संकल्प के साथ प्राप्त करना चाहते हैं। वस्तुतः इस उच्च पद पर आसीन हो सकने में समर्थ अधिकांश लोग, राष्ट्रपति-पद

पर आसीन व्यक्ति के लिए न टाले जा सकने योग्य कुछ निजी खर्चों को घटाने के बाद, इस वेतन को स्वास्थ्य की ग्रस्त परेशानी के लिए भी पर्याप्त प्रतिकर नहीं समझेंगे। राबर्ट मैकनमारा के लिए कैनेडी की केबिनेट में रक्षा-सचिव बन कर २५,००० डालर का वार्षिक वेतन और शोफर द्वारा चलाई जाने वाली कार क्या अभिप्रेरण हो सकती है, जब इसके लिए उनको निजी कारबार के ४,१०,००० डालर (कर घटाने के बाद १,५०,००० डालर) के वेतन को छोड़ना पड़ा और लगभग ३० लाख डालर के घाटे पर अपने निवेशों को बेचना पड़ा।

अनुपात से कम वेतन पर ज्यादा सख्त काम करने और जिम्मेवारी सँभालने की यह इच्छा अब सरकारी सेवा तक ही सीमित नहीं है। ऐसे उच्च कार्यपालकों और उद्यमकर्त्ताओं की, जिन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि उनका मुख्य अभिप्रेरण धन की आय नहीं है, सूची अमेरिकी कारबार व्यक्तियों का विशाल परिचय-ग्रंथ ही बन जाती है। वे लोग आग्रह के साथ कहते हैं कि उनका मुख्य अभिप्रेरण शक्ति प्राप्त करने की, कारबार का 'खेल खेलने की', सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की, जनता की सेवा करने की या कुछ रचनात्मक काम करने की उनकी इच्छा ही है। काफी मजे की बात यह है कि इस वर्ग के बहुत से लोग ऐसे हैं, जो यह जानने की माँग करते हैं कि समाजवाद के अधीन व्यक्ति सब कार्यपालिका या संगठन का काम क्यों करते रहेंगे, जहाँ पुरस्कारस्वरूप केवल वेतन ही मिलेगा और लाभ कमाने के कोई अवसर न रहेंगे। उनका विश्वासपूर्वक कहना है कि समाजवादी अव्यावहारिक बात करते हैं, जब वे उन्हीं अभिप्रेरणों का विस्तार करना चाहते हैं और उनकी प्रखरता बढ़ाना चाहते हैं, जिनके बारे में वे यह स्वीकार करते हैं कि वे उनको पूँजीवाद की चक्की में फँसाते हैं।

इन सबका मतलब यह नहीं कि समाजवादी यह विश्वास करते हैं कि सबेरे के अखबार में यह घोषणा छाप देना ही जादू की तरह आज की व्यवस्था के सभी लाभ कमाने वाले उद्यमकर्ताओं को समाजवादी व्यवस्था के बहुत ही ज्यादा अच्छे वेतन पाने वाले कार्यपालकों के वर्ग में बदल देगा और वे अपना रोज का काम उसी तरह करते रहेंगे, जिस तरह वे पूँजीवाद के अधीन करते थे। यह सोचा जा सकता है कि पूँजीवाद के अधीन काम करने वाले बहुत से उद्यमकर्त्ता अपने को समाजवाद की संस्थाओं के अनुकूल ढालने में असमर्थ पाएँगे और एक समाजीकृत अर्थतंत्र में व्यवहारतः कोई भूमिका अदा न करेंगे। समाजवादी कार्यक्रम में जिस बात पर प्रायः सर्वत्र ही जोर दिया जाता है, वह यह है कि समाजवाद में प्रशासनिक कार्य को सक्षम रूप से चलाने के लिए प्रतिकर के रूप में गैर-आर्थिक पुरस्कार मिलने के अवसर बढ़ा दिए जाएँगे। समाजवादी का तर्क है कि संगठन के रूप की

परवाह किए बिना ही समाज हमेशा ही समाज के कल्याण के लिए बहुत ही जरूरी और महत्त्वपूर्ण इन कामों के निष्पादन के लिए प्रेरणा देने के हेतु गैर-आर्थिक पुरस्कारों पर निर्भर बना रहा है। वह हमारी आर्थिक प्रणाली के लिए एक ऐसे संगठन का प्रस्ताव करता है, जो उसके विश्वास के अनुसार इस तरह के पुरस्कार बहुत संख्या में और बहुत प्रभावी रूप में प्रस्तुत करेगा और इस तरह विद्यमान अर्थतंत्र में चलने वाली सेवा को चालू कर सकेगा।

अभिप्रेरण और अनर्जित आय

निष्कर्ष में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाजवादी कार्यक्रम उत्पादक प्रक्रियाओं के लिए अतिरिक्त मानवीय ऊर्जा के स्रोत के रूप में अनर्जित आय को हटा देने पर बड़े भारी रूप में निर्भर करते हैं। जब व्यक्ति के लिए यह संभव हो जाएगा कि आय केवल उत्पादक निजी प्रयास से ही प्राप्त की जा सकेगी, केवल स्वामित्व से या स्वामित्व के दावे के अनुत्पादक सट्टे से ही नहीं, तो बहुत से वे लोग जो उत्पादी प्रक्रियाओं में मानव-शक्ति का योगदान आज नहीं भी दे रहे हैं, वे भी दूसरे उस विकल्प को मंजूर करने की अपेक्षा इसे ही ज्यादा उपयुक्त समझेंगे, जिसका मतलब है कि कोई आय ही न हो। फिर यह भी बताया जाता है कि इस प्रकार माल पैदा करने के समाज के कार्य में उत्पादक निजी प्रयास का योगदान देने के लिए जो लोग आगे बढ़ेंगे (या ढकेले जाएँगे), वे ही लोग होंगे, जिनके पास उच्चतम और दुर्लभ प्रकार की निजी योग्यता हो, तो फिर इसका मतलब यह होगा कि इस संस्थागत परिवर्तन के कारण समाज को जो अतिरिक्त उत्पादक ऊर्जा प्राप्त होगी, वह उन व्यक्तियों की संख्या के अनुपात में कहीं ज्यादा होगी, जो बिना 'काम किए' रहना असंभव पा कर अपनी सर्वोत्तम योग्यताओं का यथासंभव सर्वाधिक प्रभावी उपयोग करने के लिए समाजीकृत अर्थतंत्र में अपने लिए अवसर खोजना चाहेंगे।

प्रबंधकीय योग्यता की पूर्ति

समाजवाद के आलोचक प्रत्यक्ष तो यह बात नहीं करते, पर अक्सर उनका निहितार्थ यही रहता है कि पूँजीवाद से समाजवाद तक के संक्रमण काल में वह विद्यमान तकनीकी ज्ञान या तो समूचा नष्ट हो जाएगा या काफी कम हो जाएगा, जो औद्योगिक फर्मों के चलाने में काम में लाया जाता है। समाजवादियों का कहना है कि इसको सच मानने के कोई कारण नहीं हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकेगा कि पूरे अमेरिका में बहुत से ऐसे बैंक कार्यपालक हैं, जिनके पास वाणिज्यिक बैंक चलाने का विस्तृत तकनीकी ज्ञान है। हमारी बैंक व्यवस्था के समाजीकरण से ही यह ज्ञान नष्ट न हो जाएगा और यह मान कर चलना होगा कि संक्रमण काल

ऐसी हिंस्र क्रांति के बिना ही पूरा हो गया, जिनमें बैंक कार्यपालक भारी संख्या में मारे गए हों।

इस बात का उस समय ज्यादा महत्त्व बढ़ जाता है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि समाजवाद के अधीन वाणिज्य बैंकों के बहुत से या संभवतः अधिकांश तकनीकी संचालन-कार्यों के पहले की तरह समाजवाद के अधीन चलते रहने की उम्मीद की जाएगी। इस बात को समझते हुए समाजवादी हर हालत में समाजवाद के लिए संक्रमण काल में बैंक के तकनीकी विज्ञों की रक्षा करने और उनको सुरक्षित रखने का प्रयत्न करेंगे। समाजवादियों को उन लोगों को समाजीकृत बैंक प्रणाली चलाने के लिए अभिप्रेरित करने में दिक्कत का सामना करना पड़ेगा, जो पहले निजी बैंकों मालिक थे। पर, समाजवाद के लिए संक्रमण काल में कम-से-कम दैनंदिन काम चलाने का वास्तविक ज्ञान नष्ट नहीं हो जाएगा।

प्रबंध ज्ञान और प्रवीणता के काफी भंडार सरकारी अभिकरणों में भी मिलेंगे, जो पूंजीवाद के अधीन विभिन्न उद्योगों के ऊपर नियंत्रणों का प्रशासन कर रहे थे। इस बात का बहुत महत्त्व है; क्योंकि इसका मतलब है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों के लिए सापेक्ष व्यावहारिक प्रकार का बहुत सारा मूल्यवान् ज्ञान और अनुभव ऐसे लोगों के पास है, जिनसे समाजवाद के अधीन इसको मात्र नियंत्रण की अपेक्षा सीधे प्रबंध कार्य के लिए उपयोग करने की प्रत्याशा की जाएगी और यह जरूरी नहीं कि उनको अपने निजी अभिप्रेरणों में किसी परिवर्तन का अनुभव होगा ही। सरकारी व्यक्तियों के पास इस प्रकार के ज्ञान की मात्रा व्यापक भी है और सघन भी।

संभवतः इस बात के विशिष्ट उदाहरण अंतःराज्य वाणिज्य आयोग और संघीय रिजर्व प्रणाली का शासी मंडल है। पहले के सदस्यों के पास अपने विस्तृत अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ रेलवे तथा अन्य परिवहन-सुविधाओं के संचालन के संबंध में बहुत ही विस्तृत जानकारी, ज्ञान और अनुभव का विपुल भंडार है। पिछले के पास भी इसी तरह बहुत से कर्मचारी हैं और उनके पास भी देश की बैंक प्रणाली के बारे में वैसे ही ज्ञान का भंडार है। अगर अंतःराज्य वाणिज्य आयोग में राज्य लोक उपयोगिता आयोगों को और संघीय रिजर्व प्रणाली के शासी मंडल में राज्य के बैंक विभागों को जोड़ दें, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उद्योग के इन दो महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में संचालन का काफी तकनीकी ज्ञान पहले से ही सरकारी व्यक्तियों के पास है। ऐसी परिस्थितियाँ जैसी ही कुछ चीज डाकघर विभाग के पास भी लगती है, जो आज एक सुविशाल संचार परिवहन उद्योग को चला रहा है, सरकारी मुद्रण कार्यालय में भी है, जो दुनिया की एक सबसे बड़ी मुद्रण स्थापना को चलाता है, नागरिक विमानन मंडल के पास भी है, जो विमान सेवाओं के संचालन को

विनियमित करता है, संघीय संचार आयोग के पास भी है, जो रेडियो दूरदर्शक और कई अन्य संचार-उद्योगों के निकट संपर्क में रहता है, संघीय व्यापार आयोग और वाणिज्य विभाग में भी है जो अपने अनेक विशेषज्ञ ब्यूरो के साथ घरेलू निर्माण, बाजार और विपणन उद्योगों की प्रक्रियाओं और संचालन के बारे में व्यापक ज्ञान रखता है; प्रतिभूति और विनिमय-आयोग के पास भी है जो निगमित वित्त के क्षेत्र में अनुभव रखता है, श्रम विभाग और राष्ट्रीय श्रम मंडल के पास भी है, जिसके श्रमिकों की हालतों, घंटों और मजदूरियों संबंधी ज्ञान की अनुपूर्ति मजदूर संघों के ठेकों के अनुसार बातचीत चलाने और उनको लागू करने में उनके परिचय के कारण हो जाती है, और कृषि विभाग के पास भी है, जहाँ कृषि प्रक्रियाओं के बारे में बहुत सा ज्ञान संगठित और जमा किया जाता है तथा व्यक्तिगत किसानों को उपलब्ध कर दिया जाता है एवं जहाँ उत्पादनों के वितरण और कृषि के लिए 'आर्थिक आयोजना' बनाने के संबंध में काफी अनुभव इकट्ठा हो गया है।[1]

अनेक अतिरिक्त उदाहरण दे कर इस सूची को बढ़ाया जा सकता है, जिसमें राज्य और स्थानीय सरकारों के वे अभिकरण जोड़े जा सकते हैं जो इस समय निजी स्वामित्व की और उसके द्वारा संचालित कारबार इकाइयों के आर्थिक कार्यकलाप के विस्तृत क्षेत्र के बारे में बहुत सा तकनीकी ज्ञान रखते हैं। समाजवादी यह तर्क नहीं देते कि अंगुली का इशारा करते ही अंतःराज्य वार्षिक आयोग बिना बाधा के सभी रेलवे और जहाज कंपनियों का सक्षम संचालन अपने हाथ में ले सकता है या संघीय रिजर्व प्रणाली का शासी मंडल तत्काल ही अमेरिका के सभी निजी बैंकों के कार्यपालों के पदों की पूर्ति कर देंगे। स्पष्ट है कि संक्रमण काल ऐसी आसान बात न होगी। समाजवादी यह तर्क देते हैं कि समाजवाद के अधीन उच्च तकनीकी सक्षमता के साथ अपने उद्योगों को चलाने की व्यावहारिक संभावनाओं का निर्धारण करते समय आलोचक अवसर तकनीकी योग्यता के उन संसाधनों का बहुत कम अंदाज लगाते हैं, जो सरकारी अभिकरणों को उपलब्ध हो जाएँगे या जो अनेक मामलों में पहले से ही उनके पास हैं। साथ ही समाजवाद का अस्तित्व सरकारी अभिकरणों के विनियामक कृत्यों को स्वतः समाप्त कर देगा और इस तरह उनके व्यक्तियों और सुविधाओं को प्रत्यक्ष प्रशासनिक कर्त्तव्यों के लिए मुक्त कर देगा।

---

[1] इनमें से कुछ अभिकरणों में काम कर रहे बहुत सारे कर्मचारियों की बात की पुष्टि १९५९ के रोजगार के नीचे लिखे आँकड़ों से हो जाती है : अंतःराज्य वाणिज्य आयोग २२८३, कृषि विभाग ९७,२२०; परमाणु ऊर्जा आयोग ६८५५, संघीय संचार आयोग १२८१, गृहव्यवस्था और मकान वित्तीय पोषण अभिकरण ११, ११५, राष्ट्रीय श्रम संपर्क मंडल १४८४।

यह बात कहना तर्कहीन होगा कि इन सरकारी ब्यूरो के पास इस समय जो जानकारी और ज्ञान है, वह व्यावहारिक प्रकार का नहीं है; क्योंकि सभी जानते हैं कि निजी अभिकरण अक्सर इन क्षेत्रों के सरकारी कर्मचारियों को अपनी नौकरियों में लाने के लिए उनको बढ़-बढ़ कर प्रलोभन देते रहते हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. समाजीकृत अर्थतंत्र में कौन-कौन से विभिन्न अभिकरण औद्योगिक उपकरणों के स्वामी होंगे ?

२. जमीन का स्वामित्व और मशीनों के अनेक अभिकरणों में निहित होने से समाजवादी किस लाभ का दावा करते हैं ? सोदाहरण बताइए।

३. क्या आप सहमत हैं कि समाजीकृत अर्थतंत्र का बुनियादी प्रबंधकीय कार्य पूँजीवादी अर्थतंत्र के कार्य से सर्वथा भिन्न है ?

४. समाजवादी, पसंद करें या न करें, वे आर्थिक आयोजना की वकालत करने के लिए क्यों विवश होते हैं ?

५. समाजवादियों द्वारा प्रस्तावित आर्थिक आयोजना पूँजीवादी अर्थतंत्र में प्रस्तावित विभिन्न प्रकार की आयोजनाओं से किस बात में भिन्न होती है ?

६. अगर समाजवाद के अधीन कुछ आर्थिक कार्यकलाप व्यक्तियों और सहकार-संगठनों के हाथ में छोड़ दिए जाएँ, तो ये कार्यकलाप आर्थिक आयोजना प्रक्रिया के अधीन कैसे लाए जा सकते हैं ?

७. समाजवादी किस तरीके से कारबार संगठनों के निगमित रूप को इस्तेमाल में लाने का प्रस्ताव करते हैं ? इसमें उनको क्या लाभ दिखाई देते हैं ?

८. समाजवाद के अधीन प्रत्येक औद्योगिक इकाई के संचालन के बारे में दैनंदिन फैसले कौन करेगा ?

९. समाजवादियों का कहना है कि पूँजीवाद के अधीन लाभ कमाना एक बड़ा व्यापक अभिप्रेरण नहीं है, जितना कि हम अक्सर उसे मानते हैं। इसका वे क्या प्रमाण पेश करते हैं ?

१०. जब समाजवादी लाभ-अभिप्रेरण को खत्म कर देने की और साथ ही मजदूरी विशेषकों के उपयोग द्वारा सर्वोत्तम प्रयास करने के लिए कामगरों को उद्दीपित करने की बात करते हैं, तो क्या वे परस्परविरोधी बात नहीं करते ?

११. गैर-आर्थिक और धनेतर अभिप्रेरणों के बीच क्या अंतर है? उस तरीके का उदाहरण दीजिए, जिससे समाजवादी इनमें से प्रत्येक का इस्तेमाल करने का प्रस्ताव करते हैं?

१२. समाजवाद के अधीन अभिप्रेरण की मुख्य समस्या कहाँ पर उटती है? समाजवादी इस समस्या का समाधान किस तरह करना चाहते हैं?

१३. अनर्जित आय को खत्म करना आर्थिक कार्यकलापों के लिए किस प्रकार अभिप्रेरण दे सकेगा?

१४. अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि नई पदासीन समाजवादी प्रणाली को तुरंत ब्यौरेवार प्रबंधकीय समस्याओं के निपटाने में सक्षम प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव का सामना करना पड़ेगा। इस तर्क पर चर्चा कीजिए।

●

अध्याय १४

समाजवाद के कार्यक्रम : सरकार तथा अन्य स्वरूप

सरकार

समाजवाद समाज में संगठित सरकार के अस्तित्व को मान कर चलता है। इस सरकार के कुछ स्थूल स्वरूप या तो वता दिए गए हैं या समाजवादी कार्यक्रम के अन्य अंशों के सिलसिले में लक्षित हो जाते हैं, जो समाजवादी व्यवस्था में बचे रहेंगे।

लोकतंत्र पर आग्रह

महत्त्व की दृष्टि से पहली बात समाजवादियों की यह घोषणा है कि वे 'लोकतंत्र' में विश्वास करते हैं। इस शब्द की अपेक्षा किसी दूसरे शब्द के प्रयोग में उनको इतना मजा नहीं आता। बहुत साल पहले एक समाजवादी ने इस आग्रह की जरूरत की व्याख्या संक्षेण में इस तरह की थी : "समाजवादी को लोकतंत्रवादी होना चाहिए; क्योंकि वह अपने राज्य के लिए जनता के समर्थन के अलावा और किसी बुनियाद को नहीं खोज सकता। वह ताकत से या कपट से आई किसी तानाशाही पर विश्वास नहीं कर सकता; क्योंकि उसके समाज को काम करते रहना है और दिमाग की उन प्रवृत्तियों की समताल में जो सहजात हैं और राजाज्ञा तथा अधिकारी के आदेश वचनों की शक्तियां से परे हैं; न वह बिना सोचे-विचारे रोजमर्रे का जीवन यों ही बिताने वाले लापरवाह लोगों के वास्ते जनोत्तेजक नेता के जैसे उपदेशों

से ही काम चला सकता है।"[1] समाजवादी के लिए लोकतंत्र कुछ गहरी और मूलभूत चीज है और यह सभी समाजवादी कार्यक्रमों में ओतप्रोत रहती है।

पूँजीवादी लोकतंत्र का स्वरूप

इस समाजवादी मतवाद की व्याख्या करते हुए समाजवादी यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे लोकतंत्र का तात्पर्य केवल ऊपरी-ऊपरी ढाँचे का सरकारी रूप ही नहीं समझते और न वह आज संयुक्त राज्य अमेरिका में चल रहे तथाकथित लोकतांत्रिक सरकारी सगटनों का ही निर्देश करता है। नियमित या अनियमित अंतराल के बाद नागरिकों को मतदान देने का जो अवसर मिलता है और चुने हुए विधान मंडल या संसद् द्वारा जो कानून बनाए जाते हैं, वे समाजवादी के लिए बहुत मामूली चीजें हैं। लोकतंत्र से उनका अभिप्राय यह होता है कि सरकारी निकाय या अभिकरण उन प्रबुद्ध नागरिकों की, जिनमें विचाराधीन इलाके में रहने वाले सभी वयस्क शामिल हैं, लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी बने रहें।

इस परिभाषा में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण शब्द संभवतः 'प्रबुद्ध' है; क्योंकि इसी प्रसंग में समाजवादी यह अनुभव करता है कि हमारी विद्यमान लोकतंत्री संस्थाओं में कुछ अभाव रह जाते हैं। प्रबुद्ध लोकमत अपनी आवाज जब बुलंद करता है, जब नागरिक समूह (१) ऐसे प्रकार की पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कर चुकते हैं, जो उनको विशद समस्याओं और व्यक्तियों का उनके साथ संबंध समझने में समर्थ बनाती है और (२) जब उनको समस्याओं से संबंधित सभी प्रकार की राय से प्रभावित हो सकने के लिए अवसर मिल चुकते हैं और इस प्रकार की राय को दूसरे से ज्यादा अच्छी सुविधाएँ मिलने के कारण उनके पालन के लिए उसमें कोई खास पक्षपात नहीं आ जाता है। सच्चे लोकतंत्र की इन दो पूर्व अपेक्षाओं का ही समाजवादी पूँजीवादी समाज में अभाव अनुभव करते हैं। इन अभावों का कारण उनके विचार से निजी संपत्ति का विद्यमान होना है। उनका विश्वास है कि असली लोकतंत्र वहाँ पर अभी नहीं मिल सकता, जहाँ बड़े पैमाने पर उत्पादक पदार्थों का स्वामित्व विद्यमान रहता है।

जिस बुनियादी सैद्धांतिक विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है, उसकी समीक्षा राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत के सिलसिले में की जा चुकी है। इस सिद्धांत के नए संस्करण में कई बातों पर जोर दिया जाता है। उत्पादक पदार्थों में निजी संपत्ति के अस्तित्व मात्र से ही निजी संपत्ति की संस्थाएँ बनाए रखने के लिए गहरी दिलचस्पी पैदा होती है। चूँकि वे प्रथमतः विधिक होते हैं और चूँकि उनमें प्रत्यक्ष

---

[1] जे० रैमजे मैकडोनल्ड; सोशलिज्म: क्रिटिकल ऐंड कंस्ट्रक्टिव, न्यूयार्क बोन्स मैरिल, १९२४, पृष्ठ २३४, २३५।

या अप्रत्यक्ष रूप से कर लगा कर परिवर्तन वैधानिक अधिनियम बना कर ही किया जा सकता है, इसलिए मालिक यह अनिवार्य नहीं तो बड़ा वांछनीय समझते हैं कि इन कार्यों का नियंत्रण किया जाए। हमारे समाज में विधान-मंडलों को सीधे नियन्त्रित करने और उनके मतदान को निर्देशित करने का तो सामान्यतः सवाल ही नहीं उठता। उपभोक्ता पदार्थों के स्वामित्व से ही ज्यादा सूक्ष्म और ज्यादा प्रभावी तरीके निकाले जा सकते हैं। समाजवादियों का कहना है कि मुद्रणालय, रेडियो और दूरदर्शन केंद्र, फिल्म स्टूडियो और रगमंच बहुत कुछ ऐसे व्यक्तियों के स्वामित्व की पूंजी के समुच्चय ही होते हैं, जो आमतौर पर नियमित रूप से संगठित होते हैं। विश्वविद्यालय, धर्मादा और धार्मिक निकायों के बजट (विधवा के नए पैसों की कहानी के बावजूद) अपने वस्तुतः महत्त्वपूर्ण अंशदान संपत्ति के स्वामियों या उनके द्वारा स्थापित प्रतिष्ठानों से प्राप्त करते हैं। अखबार, सामयिक पत्रिकाएं और रेडियो-दूरदर्शन केंद्र अपनी आय की मोटी मदें निजी स्वामित्व और संचालन की कारबार फर्मों के विज्ञापन आंदोलनों से ही प्राप्त करते हैं। यह तर्क दिया जाता है कि अखबार और रेडियो दूरदर्शन शृंखलाएँ प्रथमतः और प्रत्यक्ष लाभ के लिए चलाई जाती हैं और विश्वविद्यालयों के न्यासी मंडल तथा अधिकृत गिरजाघर-मंडल अपने संगठनों की नीति भेट की प्राप्ति को चालू रखने और बढ़ाने पर निगाह रख कर ही अपनी नीतियाँ बनाते हैं।

इस तरह समाजवादी मानते हैं कि जनमत के निर्माण के हृदयस्थल में स्थित अभिकरणों की नीतियाँ उन संस्थाओं के शिक्षण और पोषण को ध्यान में रख कर बनाई जाती हैं, जिनसे वे अपना संधारण प्राप्त करते हैं। एक बार बन जाने के बाद यह लोकेच्छा ऐसे स्रोतों से होकर विधान-मंडलों तक पहुँचायी जाती हैं, जो अपने तंत्र में लोकतंत्र के आस्वाद से पूरी तरह ओत-प्रोत होते हैं। 'लोकेच्छा' और इनको विशिष्ट कानूनों में अनूदित करने की प्रक्रिया को 'प्रबुद्ध' या 'लोकतांत्रिक' कहा जा सकेगा। नियंत्रण के सूक्ष्मतम रूप शिक्षा संस्थाओं और प्रक्रियाओं के भीतर होते हैं और ज्यादा खुले एवं प्रत्यक्ष रूप विशद चुनाव आंदोलनों में देखने को मिलते हैं या कानून बनाने के लिए मजबूर करने या विशिष्ट कानूनों को पास न होने देने के लिए जनता का दबाव पैदा करने में समाजवादी इस प्रकार के नियंत्रण के खिलाफ लड़ने में अपने प्रयास को बरबाद नहीं करते। वह इस बात को पूंजीवादी पद्धति का सहवर्त्ती मानते हैं और इस बात की असंभवता पर जोर देते हैं कि सच्चा राजनीतिक लोकतंत्र उनके ही द्वारा कहे जाने वाले 'आर्थिक लोकतंत्र' उत्पादक पदार्थों का सामाजिक स्वामित्व के बिना नहीं मिल सकता।

समाजवादी कार्यक्रमों का तर्क यह है कि आज हमारी तथाकथित लोकतंत्री सरकारों की मुख्य कठिनाई उतनी दोषपूर्ण सरकारी तंत्र से पैदा नहीं होती, जितनी उस परिवेश से जिसमें वह तंत्र काम करता है। उसका दावा है कि इस परिवेश का समाजीकरण करना ही पहले कभी विद्यमान लोकतंत्र से कहीं ज्यादा असली लोकतंत्र को तत्काल और स्वतः जन्म दे देगा, भले ही सरकारी तंत्र यथार्थतः अपरिर्वातित बना रहे।

समाजवादी लोकतंत्र का स्वरूप

समाजवादी कार्यक्रमों का अंत यहीं नहीं हो जाता। समाजवाद की इस भावना के कारण सरकारी ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन आ जाता है कि समाजवाद के अधीन सरकार के मुख्य कृत्य आर्थिक होंगे। उनका प्रस्ताव है कि समाजवाद के अधीन जो विभिन्न आर्थिक हित विद्यमान होंगे, उन सबको इन हितों के प्रतिनिध्यात्मक पर्यालोचक विधाननिकाय में सामने लाना होगा। समाजवादी इस बात को लेकर कोई दावा नहीं करते कि समाजवाद विशालतर सामाजिक वर्ग में से सभी संघर्षशील हित-वर्गों का सफाया कर सकेगा। विशेषीकृत उद्योगों के कामकर अपने हितों को उनके उत्पादनों का उपभोग करने वाले उपभोक्ताओं के हितों से भिन्न पाएँगे, कृषि के ऐसे बहुत से हित होंगे जो निर्माता उद्योगों के संघर्ष में आएँगे, कामकरों की व्यवसायिक श्रेणियाँ कामकरों के दूसरे वर्गों के संघर्ष में आ सकती हैं, कोयला-खनन से जीविका कमाने वालों के हित निश्चय ही बिजली-उद्योग के कामकरों से भिन्न होंगे, आदि। समाजवाद के अधीन सरकारी विधायिकाएँ इन संघर्षों का केंद्र बन जाएँगी और संघर्षी दावों को समूचे अर्थतंत्र के लिए कार्य-संचालन की एक योजना में सौजन्यपूर्वक ढालने के तंत्र बन जाएँगी। इस कारण सरकारी विधायिकाएँ आर्थिक हित-वर्गों के प्रतिनिधियों से बनाई जानी चाहिए।

इस आर्थिक प्रतिनिधित्व के ब्योरों की चर्चा जरूरी नहीं; क्योंकि कार्यक्रमों का प्रस्तावों से काफी अंतर रहता है। कुछ समाजवादी विधान-कृत्यों को प्रायः विशुद्धतः आर्थिक मानते हैं और केवल आर्थिक हित-वर्गों के प्रतिनिधियों से ही बनी एक अकेली विधायिका का प्रस्ताव करते हैं। दूसरी पराकाष्ठा के कुछ और समाजवादी हैं, जो यह प्रस्ताव करते हैं कि विधायिकाएँ सभी नागरिकों का भौगोलिक प्रतिनिधित्व करती रहें और आर्थिक हित-वर्गों के प्रतिनिधियों से बने सलाहकार निकाय अलग से बनाए जाएँ। इन दोनों पराकाष्ठाओं के बीच वे समाजवादी आते हैं, जो द्विसदनी संसद् का प्रस्ताव करते हैं, जिसमें एक सदन भौगोलिक वर्गों को प्रतिनिधित्व दे और दूसरा आर्थिक वर्गों को।

इसी प्रकार सरकारी तंत्र स्थानीय, जिला और राष्ट्रीय सरकारों के लिए चलेगा। साधारणतः समाजवादी अमेरिकावासियों के लिए (कम-से-कम) नाम में काफी परिचित स्वतंत्र कार्यपालिका और स्वतंत्र न्यायपालिका-जैसी संस्थाओं को समाप्त कर देने का प्रस्ताव करते हैं। समाजवादी दोनों को सरकार में विधानांग के अधीन बना देंगे; क्योंकि वे महसूस करते हैं कि सच्चे लोकतंत्र में न केवल कानूनों का निर्माण लोकतंत्री तरीके से होना चाहिए, बल्कि कानूनों के अर्थ निर्वाचन और अनुपालन के स्वरूप पर भी सीधा लोकतंत्री नियंत्रण रहना चाहिए।

नौकरशाही की समस्या

सरकारी तंत्र की अपनी सारी आयोजनाओं में समाजवादियों को इस केंद्रीय समस्या का सामना करना पड़ता है कि निर्णय करने की शक्ति रखने वाले ऐसे सरकारी अंगों की रचना किस तरह की जाए कि वे सच्चे लोकतंत्र के विघातक न बन जाएँ। यह नौकरशाही की समस्या है, जिसके बारे में समाजवाद के आलोचक बहुत डींग मारते हैं और सच्चा समाजवादी चिंता में पड़ जाता है। समाजवादी कई मौलिक बातों पर जोर देते हैं। पहले तो यह यह मान कर चलते हैं कि केंद्रीकृत सरकारी अभिकरणों के हाथ में पर्याप्त शक्ति का होना सच्ची लोकतंत्री राजनीतिक संस्थाओं के अस्तित्व के साथ अवश्यमेव असंगत नहीं है। जनता का मन अक्सर सशक्त सरकार के अस्तित्व की लोकतंत्री प्रक्रियाओं के अभाव के साथ जोड़ बैठता है। वास्तव में ऐसा कोई तकनीकी कारण नहीं है कि समाज सरकार के दैनंदिन संचालन के बारे में काफी अधिकार एक अधिकरण को क्यों न सौंप दे और इसके बाद फिर भी इस अधिकरण के ऊपर लोकतंत्री नियंत्रण बनाए रहे।

विशिष्ट रूप से कहा जाए, तो संभवतः इसका मतलब होगा कि एक समाजवादी व्यवस्था में स्थापित सशक्त सरकारी (निकाय खास तौर पर आर्थिक आयोजना अभिकरण) प्रतिनिधि सभाओं से शक्ति लेने वाले प्राणी होंगे। इन निकायों के बीच के संबंधों के ब्यौरों की हमें यहाँ पर चिंता नहीं करनी चाहिए। महत्त्व की बात यह है कि इन अभिकरणों को कितनी शक्ति दी जाती है, इसका तब तक कोई मूल्य नहीं जबतक उनके कार्यों के अनुसमर्थन की शक्ति, उनके व्यक्तियों को नियुक्त करने और हटा सकने की शक्ति और संभवतः उनके कुछ कार्यों का सूत्रपात करने की शक्ति एक ऐसे संसदीय निकाय के पास रहती है, जो स्वरूप में सचमुच लोकतांत्रिक है। जहाँ तक सरकार के तकनीकी ढाँचे का संबंध है, शब्द 'नौकरशाही' का असली मतलब कुछ नहीं है। इसकी समाजविरोधी संभावनाएँ उस समय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं, जब सशक्त सरकारी अभिकरण अपनी नीतियों और कार्यों में प्रबुद्ध लोकेच्छा को बिंबित करने में असफल रहते हैं।

साथ ही पिछले अर्थ में, नौकरशाही की समस्या किसी भी प्रकार समाजवाद तक ही सीमित नहीं है। समाजवादी अर्थतंत्र को नौकरशाही संभावनाओं और प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ता है। यह बात सभी संदेहों से परे सिद्ध हो गई है कि उत्पादन की आधुनिक प्रक्रियाएँ और व्यक्तियों एवं वर्गों के बीच उनके साथ-साथ चलने वाले जटिल तथा विशेषीकृत संबंधों ने अनेकानेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, जिनका समाधान राजनीतिक संस्थाओं के जरिए खोजना होगा और जिनसे संबंधित नीतियों का क्रियान्वयन सशक्त सरकारी अभिकरणों को करना होगा। कुछ साल पहले राष्ट्रपति ने कांग्रेस के संदेश में कहा था कि हमारी संघीय सरकार में "सौ से ऊपर ऐसे अलग विभाग, मंडल, आयोग, निगम, प्राधिकार और कार्यकलाप हैं जिनके जरिए सरकार का काम चल रहा है।"[१] यह विस्तृत सरकारी तंत्र अधिकांश रूप से प्रथमतः आर्थिक स्वरूप के कार्यों के ऊपर नियंत्रण करने के लिए खड़ा किया गया है।

निश्चय ही हमारे विद्यमान सरकारी तंत्र को लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी बनाए रखना मामूली काम नहीं है। यह दावा किया जा रहा है कि समाजवाद के अधीन इस काम का निर्वहन करने में उत्पादक द्रव्यों के निजी स्वामित्व और लाभ-अभिप्रेरण के अभाव से ही असली लोकतंत्र चलाना संभव हो जाएगा। निजी लाभ के लिए आकाश-पाताल एक करने वाले और भारी निगमित संसाधनों से लैस हो कर सरकारी अभिकरणों की नीतियों और कार्यों को अपने निजी हितों की ओर मोड़ने एवं समूचे समाज के हितों से दूर रखने के अवसर की प्रतीक्षा करने या पैदा करने वाले व्यक्ति ही न रह जाएँगे। समाजवादियों का तर्क है कि इस तरह समाजवाद के अधीन ही आधुनिक आर्थिक प्रक्रियाओं द्वारा अत्यावश्यक बनाए गए ऐसे सशक्त सरकारी निकायों का अस्तित्व संभव हो सकेगा, जो प्रबुद्ध लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी होंगे।

समाजवाद के अधीन 'नौकरशाही' का टालना संभाव्य नहीं

वास्तव में यह मान भी लिया जाए कि समाजवाद पूँजीवाद की अपेक्षा 'लोकतंत्री नौकरशाही' के लिए ज्यादा अनुकूल परिवेश पैदा कर देगा, तो भी इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि सरकारी अभिकरण निश्चय ही और अनिवार्य रूप से लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी हो जाएँगे। समाजवाद में कोई ऐसी चीज सहजात नहीं है, जो समाजीकृत अर्थतंत्र में नौकरशाही अभिकरणों के वर्ग या अधिकारियों को अपनी नीतियाँ और कार्य अपने निजी लाभ की ओर मोड़ने, अपनी निजी शक्ति और

---

[१] दि न्यूयार्क टाइम्स, १३ जनवरी, १९३७।

प्रतिष्ठा को बनाए रखने या समाज के किसी अन्य वर्ग के विशेष लाभ के लिए उनके मोड़ने से रोक सके। लोकतंत्री नियंत्रण के स्रोतों को खुला रखना ही सर्वोत्तम संरक्षण है, लेकिन सशक्त सरकारी अभिकरण उनको बंद कर देना ही उचित समझ सकते हैं। यहाँ हमें निजी अभिप्रेरण और निजी आदर्शवाद की समस्या तक खींच लाता है। अगर राजनीतिक अधिकार की स्थिति वाले व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग अपने निजी फायदे के लिए करने लगते हैं, तो वे पूँजीवादी व्यवस्थाओं में भारी गड़बड़ पैदा कर सकते हैं। वे समाजीकृत व्यवस्था को पूँजीवादी व्यवस्था की तुलना में ज्यादा हानि पहुँचा सकते हैं; क्योंकि समाजवाद के अधीन इन अभिकरणों की जिम्मेवारियाँ और शक्तियाँ ज्यादा बढ़ जाएँगी।

उत्पादक पदार्थों में निजी स्वामित्व और लाभ-अभिप्रेरण हटा देने से कुछ लालच तो दूर कर दिए जाते हैं, पर समाजवादी कार्यक्रम इस समस्या का कोई और हल इसके अलावा नहीं सुझा पाता कि विश्वास के पद को पाने वाले व्यक्तियों में एक सबल सामाजिक अभिप्रेरण का विकास हो जाएगा। एक प्रबुद्ध लोकेच्छा वस्तुतः समाजीकृत अर्थतंत्र में उच्च पद की प्राप्ति के लिए ऐसे सामाजिक अभिप्रेरण का होना एक पूर्वापेक्षा ही मान कर चलेगी। तथापि, समाजवाद ऐसा कोई जादू का सूत्र बन कर नहीं आता है कि उसमें मनुष्य की समग्र दुर्बलताओं को तुरन्त दूर कर दिया जाए। इसलिए यह उम्मीद करना कुछ अनुचित होगा कि यह पहले से ही कुछ ऐसी आयोजना या रीति स्थापित कर देगा, जिससे व्यक्तिगत उच्च अधिकारियों का अभिप्रेरण अपने-आप सामाजिक जरूरतों के अनुकूल हो जाएगा। समाजवादी अपनी प्रस्तावित पद्धति के लिए किसी अतिमानवीय चीज का दावा नहीं करते। तब भी इसकी आयोजना और संचालन मनुष्यों के ही हाथ में रहेगा, जो अपने कार्यों से समाज द्वारा पूर्ण संभाव्य लाभों के प्राप्त किए जाने में बाधा डाल सकेंगे।

प्रकीर्ण प्रस्ताव

पूर्ववर्ती पैराग्राफों में आधुनिक समाजवादी कार्यक्रमों के प्रमुख पहलुओं को पेश किया गया है। समाजवादियों के कुछ अतिरिक्त प्रस्तावों का भी संक्षेप में उल्लेख किया जाएगा। इनमें से कुछ पहले वर्णित उनके कार्यक्रमों के अंगों से निकट से जुड़े हैं या लक्षित हैं।

पूँजी माल संचय

मनुष्य द्वारा पैदा किए गए उत्पादक पदार्थों की जरूरत और उनके बुनियादी स्रोत समाजवाद के अधीन भी वैसे ही बने रहेंगे, जैसे वे पूँजीवाद के अधीन थे। अगर सामाजिक वर्ग का भौतिक जीवन-स्तर बढ़ता रहे—और समाजवादियों का

तर्क है कि पिछले दशकों में वे जितना बढ़े हैं, उससे कहीं ज्यादा समाजवाद के अधीन बढ़ेंगे—तो मनुष्य की शारीरिक और मानसिक ऊर्जा की अनुपूर्ति हमेशा बढ़ने वाली सभी प्रकार की मशीनों, औजारों और साज-सामान से करनी होगी। चालू उपभोग के लिए जितने माल का उत्पादन होगा, समाज को कुल मिला कर उससे कम का उपभोग करना होगा, शेष में उत्पादित तरह-तरह की स्थायिता वाले औजार होंगे, जो उत्पादन के लिए मनुष्य के प्रयास में मदद देने के लिए बनाए जाएँगे। पूँजी-संचय के प्रयोजन से इस तरह जो 'संयम' किया जाएगा, वह पूँजीवादी समाज की तरह, जहाँ मनुष्यनिर्मित पूँजी बढ़ रही है, समाजवाद के अधीन भी करना होगा।

समाजवादी कार्यक्रम में पूँजी-संचय के ठीक तरीकों के बारे में कुछ थोड़े से ही विशिष्ट सुझाव दिए जाते हैं, जिनका समाजीकृत अर्थतंत्र द्वारा उपयोग किया जाएगा। लेकिन, पूँजीवादी अर्थतंत्र में अपनाई गई प्रक्रिया से इनकी प्रक्रिया जो विशेष रूप से भिन्न होगी, वह समाजवाद के सभी कार्यक्रमों में स्पष्ट रूप से लक्षित रहती है। पूँजीवाद के अधीन बचत या पूँजी का संचय निधि के निवेश के लिए ज्यादा आकर्षक अवसरों के प्रति व्यक्तियों और निगमित कारबार के प्रत्युत्तर के रूप में किया जाता है। समाजवाद के अधीन बचत प्रथमतः समाजीकृत उद्योगों के निदेशित और आयोजित कार्यकलाप के अनुसार की जाएगी। उसका उपयोग अब व्यक्ति या निगमित कारबार के लिए धन-लाभ के अवसरों से न जोड़ा जाएगा, बल्कि उसे समूचे समाजीकृत अर्थतंत्र के हितों की पूर्ति के लिए काम में लाया जाएगा। पूँजीवाद के अधीन पैसे के दीर्घकालीन निवेश पर आने वाले व्याज का उपार्जन व्यक्तियों और निगमों के निवेश कार्यकलाप की सहायता को कभी उद्दीपित करने, कभी कम करने का काम करता है, लेकिन समाजवाद निवेश को आयोजित आर्थिक संगठन का सीधा कृत्य ही बना देगा।

समाजवाद का प्रस्ताव तो यह है कि समाज के उत्पादक कार्यकलाप के प्रवाह में जिस स्थल को भी वांछनीय समझा जाए, वहीं पर डुबकी लगा कर समाज की बचत या पूँजी-सचय को समग्रतः ही प्राप्त किया जाए और इस तरह उत्पादक प्रयास के अंश को उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन से हटा कर उत्पादक पदार्थों के उत्पादन में लगाया जाए। इसकी प्राप्ति के लिए किन खास स्थानों पर ऐसा किया जाए और कौन से तरीके काम में लाए-जाएँ, इसका चुनाव तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार किया जाएगा। समाजवादी जिस बात पर आग्रह करते हैं, वह यह है कि संचय के तरीके लचीले होते हैं, जबकि पूँजीवादी तरीके नहीं होते। समाजवाद के अधीन किन खास व्यक्ति वर्गों को घटे हुए स्तर और चालू उपभोग के रूप में पूँजी-संचय की लागत चुकानी चाहिए, इसकी चुनाव पहले से आयोजन और नियंत्रण

अभिकरणों द्वारा किया जा सकेगा। समाजीकृत अर्थतंत्र द्वारा आम तौर पर इस लागत चुकाने को केंद्रित करने के लिए इस्तेमाल होने वाले हथियार मूल्य-नियंत्रण और कराधान ही होंगे। किसी चीज का मूल्य उच्च स्तर पर रख कर इस उत्पादन को पैदा करने वाले समाजीकृत उद्योग से निवेश के ऊपर बेशी प्राप्तियाँ पैदा करने के लिए कहा जाएगा, जिसको उस या दूसरे उद्योग में उपयोग के लिए पूँजी पदार्थों का निर्णय करने में लगाया जा सकेगा। वस्तुतः उस उद्योग के उत्पादन के उपभोक्ता उस खास पूँजी संचय की लागत को बरदाश्त करेंगे। या नमूने के लिए इस दूसरी संभावना को देखा जा सकता है, किसी खास आय वर्ग के ज्यादा आय कर केंद्रित किया जा सकता है, जिसके द्वारा उनसे पूँजी निर्णय में लगाने के लिए अतिरेक की प्राप्ति की जा सकेगी। अनुमानतः नियंत्रक अभिकरणों का लक्ष्य होगा कि समूचे वर्ग के लिए कम-से-कम लागतवाली रीति से कुल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रवाह में से इन पूँजी निधियों को निकाल दिया जाए और यह 'उपभोक्ता के संतोष' के अनुसार किया जाए, जो किसी स्थल पर पूँजी-संचय के लिए कम कर दिया जाए।

सामाजिक बीमा

हर समाजवादी कार्यक्रम में एक विशद् सामाजिक बीमा की बात कही जाती है, जो व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा के हित में होनी चाहिए। अनुभव किया जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अधीन रहने वाले व्यक्तियों में जो बड़ी ही व्यापक समाजविरोधी प्रवृत्तियाँ और कार्यकलाप देखने को मिलते हैं, उनमें से कुछ आर्थिक असुरक्षा के लिए मनुष्य की तर्कसंगत प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं और यह असुरक्षा पूँजीवादी पद्धति द्वारा व्यक्ति की आय के लिए उनकी अपनी जिम्मेवारी पर उसके आसपास की परिस्थितियों की बहुत कुछ परवाह किए बिना आग्रह करने से पैदा होती है।

समाजवादी इस बात से इन्कार नहीं करते कि स्वरूप में अनिवार्यतः पूँजीवादी अर्थतंत्र के अधीन भी सफलतापूर्वक सामाजिक बीमा की पद्धतियाँ स्थापित और संचालित की जा सकती हैं। लेकिन, उनका तर्क है कि सामाजिक बीमा की एक 'विशद्' योजना का 'कार्यकुशल' रूप से संचालन समाजवाद के ही अंतर्गत संभव है। ऐसी पद्धति के अधीन काम में लगाए गए केंद्रीकृत और आयोजित नियंत्रण से ही मजदूरियों, अंशदानों और फायदों के बीच, काम के लिए फायदों का भुगतान तथा अवसर प्रदान करने के बीच एवं तरह-तरह के फायदों के बीच जरूरी समन्वय विकसित किया जा सकता है। साथ ही समाजवादी का तर्क है कि व्यक्ति के नियं-

त्रण के बाहर आय की अनिश्चितता के विरुद्ध व्यक्ति के संरक्षण की लागत पूरे समाज द्वारा पूरे वर्ग के लिए उसे कम-से-कम खर्चीली बना कर बरदाश्त की जानी चाहिए। इस रीति से लागत के वितरण के लिए आय और लेखाओं का जो व्यवस्थापन जरूरी होता है, वह पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के अधीन संभव नहीं है। इन कारणों से सभी आधुनिक समाजवादी कार्यक्रम सामाजिक बीमा की योजनाओं की बात करते हैं, जिनमें बेरोजगारी, दुर्घटना, बीमारी, बुढ़ापा और मृत्यु के लिए बीमाकृत व्यक्ति पर उसके आश्रितों को मुआवजा देना शामिल किया जाता है। समाजवादी कार्यक्रम के ये अंश फिर भी हमेशा इन चीजों के पूरक होते हैं : (१) उनका यह प्रस्ताव है कि कार्य-निवृत्ति आयु पाने पर भी प्रत्येक स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति द्वारा वास्तविक श्रम किसी भी प्रगति की पहली शर्त है और (२) उनकी प्रस्तावित अभिप्रेरण मजदूरी और वेतन-पद्धति, जो इसलिए बनाई गई है कि प्रत्येक कामकर को अपना सर्वोत्तम प्रयास स्वेच्छा से करने की प्रेरणा दी जाए।

उद्योग और रोजगार की स्थिरता

समाजवादी कार्यक्रम यह मान कर चलते हैं कि कारबार सचालन और रोजगार की प्रमुख अस्थिरताएँ पूँजीवादी पद्धति के स्वरूप से ही पैदा होती हैं और इस तरह वे समाजवाद द्वारा खत्म हो जाएँगी। चक्र मंदी और साथ चलने वाली चक्र बेरोजगारी के कारण पूँजीवाद के अधीन क्रय-शक्ति के वितरण की असमानता निजी स्पर्धी निवेश और अन्य कारबार-निर्णय बताए जाते हैं। समाजवादी नीचे लिखे उपायों से पूँजीवाद की अपेक्षा कहीं अच्छी कारबार कार्यकलाप की एक समगति पैदा करना चाहते हैं और इस तरह बेरोजगारी की लहरों को खत्म कर देना चाहते हैं : (१) इस असमानता को कम करके और कम प्रतिरोधी स्रोत पैदा करके जिनके जरिए कार्यकुशलता में वृद्धि और लागत में घाटे के फलस्वरूप बाजार भाव कम हो सकते हैं; (२) मूल्य और मजदूरियों की आयोजना इस तरह करके कि उनके बीच कुछ अनुरूपता आ जाए और (३) निजी लाभ चाहने वाले निवेशों और कारबार-निर्णयों की जगह आर्थिक आयोजना को ला कर। वे यह मान कर चलते हैं कि कारबार मंदी के उतार-चढ़ावों को तब तक समतल नहीं बनाया जा सकता, जब तक पूँजीवादी समृद्धि की चोटियों को समतल न किया जाए, हालाँकि प्रत्यक्ष कारणों से समाजवादी कार्यक्रम पिछले की अपेक्षा पहले पर ज्यादा जोर देता है। समाजवादियों का ख्याल है कि औद्योगिक कार्यकलाप की परिणामस्थिरता के साथ-साथ औद्योगिक उत्पादन की निरपेक्ष प्रवृत्ति में अब की अपेक्षा ज्यादा तेजी आएगी।

चक्र बेरोजगारी खत्म होने के बाद बाकी गंभीर बेरोजगार की समस्या

कल्पनीय रूप से मशीन द्वारा विस्थापित औद्योगिकीय बेरोजगारी की ही हो सकती है। समाजवादी के विचार से पूँजीवादी अर्थतंत्र में यह समस्या स्पर्धी कारबार इकाइयों द्वारा नई प्रक्रियाओं और नई मशीनों को असमन्वित रूप में अपनाने के फलस्वरूप पैदा हो सकती है, जिनमें से प्रत्येक अपने संचालन द्वारा ज्यादा-से-ज्यादा लाभ पाने की कोशिश में होती है। नए मजदूरी बचाने वाले तरीकों के अपनाने में समय, स्थान, रीति और जल्दी का फैसला करने के लिए व्यक्तिगत उद्यम को लागत में कमी करना ही सबसे पहली बात लगती है। इसके स्थान पर समाजवादी पूरे अर्थतंत्र में नई प्रक्रियाओं और मशीनों को आयोजित, समन्वित तथा लगातार रूप में अपनाने का प्रस्ताव करते हैं। उद्योगों का समाजीकरण वस्तुतः कभी-कभी किसी उद्योग के हर व्यक्तिगत उद्यम पर पड़ने वाले दबाव को दूर करके उसे तत्काल प्रक्रियाओं में सभी उपलब्ध सुधार अपनाने को प्रेरित करेगा। यह दबाव हटने पर एक समाजीकृत अर्थतंत्र के आयोजना अभिकरण संभवतः समूचे अर्थतंत्र के लिए एक औद्योगिक आयोजना के अभिन्न अंग के रूप में नई प्रक्रियाओं के अपनाने की आयोजना बना लेंगे। विभिन्न उद्योगों में प्रक्रियाओं के ये संभाव्य सुधार जिस दर से अपनाए जाएँगे, वह फिर इस तरह की बातों से भी प्रभावित होंगे: विस्थापित श्रमिकों के अन्यत्र संभाव्य तत्काल लगा लिए जाने, ऐसे विस्थापित मजदूरों के इस तरह लगाए जाने तक उनको मुआवजा देने के लिए समाज पर पड़ने वाले खर्च, मानव कामकरों के लिए कुछ बहुत ही खतरनाक या अन्यथा अवांछनीय कामों को खत्म कर देने के रूप में सुधार की तत्काल आवश्यकता, सुधार से लागत में क्या संभाव्य कमी आएगी, जिन विलास या जरूरत की चीजों के उत्पादन के लिए नई प्रक्रिया बनी है, उनके संभव चालू अभाव या आधिक्य के रूप में सुधार की तत्काल आवश्यकता और वस्तुतः परिवर्तन द्वारा समाज को मिलने वाले धन-संबंधी, आर्थिक प्रतिफल।

वैज्ञानिक खोज और यांत्रिक आविष्कार

समाजवाद के कुछ आलोचकों में यह धारणा रहती है कि समाजवाद हम सब को सादा जीवन में वापस ले जाएगा। वे यह मान कर चलते हैं कि माल के लिए मनुष्य की इच्छाओं का आम तरीके से कई गुना बढ़ना रोक देने से मनुष्य ज्यादा खुश रह सकेगा। समाजवाद के कार्यक्रमों को देखने से पता चलता है कि यह विचार सही नहीं है। समाजवादी न केवल मशीनों और साज-सामान के ज्यादा संचय पर जोर देते हैं, जिससे हम प्रति व्यक्ति ज्यादा-से-ज्यादा उपभोक्ता पदार्थ पैदा कर सकें, बल्कि वे यह भी तर्क देते हैं कि समाजवाद के अधीन नई प्रक्रियाओं और मशीनों के आविष्कारों को पूँजीवाद की तुलना में कहीं ज्यादा सघन और विस्तृत रूप से उद्दीपित किया जा सकेगा।

समाजवादियों का तर्क रहता है कि निजी कारबार में लाभ-अभिप्रेरण के कारण नव-आविष्कृत प्रक्रियाओं और मशीनों को 'दबा कर' रखा जाता है, ताकि चालू लाभों और पूँजी मूल्यों की रक्षा की जा सके और समाजवाद के अधीन यह अभिप्रेरण विद्यमान न रहेगा। साथ ही, यह भी दावा किया जाता है कि समाजवाद वैज्ञानिक खोज और यांत्रिक आविष्कारों के लिए आज की तुलना में बहुत ज्यादा निश्चित अवसर पैदा करेगा। समाजवाद 'विशुद्ध विज्ञान' में लगाए जाने वाले प्रयासों में कोई कमी नहीं, बल्कि वृद्धि ही करना चाहता है। पूँजीवादी पद्धति के अधीन विशुद्ध वैज्ञानिक को या तो उच्च अध्ययन के किसी संस्थान का सहारा लेना पड़ता है, जो उसके अध्यापन-कार्य के बाद उदारतापूर्वक उसे अपना अनुसंधान-कार्य करने देने की अनुमति दे देता है या फिर वह किसी औद्योगिक उपक्रम द्वारा वित्तपोषित किसी अनुसंधान प्रयोगशाला में काम करता है, जो अक्सर इस बात पर जोर देती है कि अपने प्रयास किसी तात्कालिक समस्या के समाधान तक ही केंद्रित रखे। अनुमानतः कार्यकलाप की विभिन्न दिशाओं में प्रयास के आबंटन के लिए समाजवाद ज्यादा लचीला सिद्ध हो सकेगा, जिससे वह विशुद्ध विज्ञान के विकास की सुविधाओं का विस्तार कर सकेगा। विशुद्ध विज्ञान का समूचे समाज के लिए अमाप्य मूल्य है, पर पूँजीवादी व्यवस्था के अधीन विशिष्ट लाभ चाहने वाले उद्योगों के साथ उसका सीधा संबंध कम ही रहता है।

विशुद्ध विज्ञान के बढ़ते हुए आधार के विशिष्ट उत्पादन-समस्याओं में अनुप्रयोग के बारे में यह दावा किया जाता है कि उसे पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के अधीन ज्यादा प्रभावी रूप से बढ़ाया जा सकेगा। समाजवाद के अधीन स्वीकृत तरीके से या अनेक उद्योगों की एक ही प्रकार की समस्याओं के प्रसंग में ऐसा किया जा सकेगा। यह तब अनेक अनुसंधान इकाइयों के बीच न बँट सकेगा, जिनमें से प्रत्येक एक कारबार इकाई से संबद्ध रहती और वैसी ही दूसरी इकाइयों के काम को संभवतः दुहराती रहती; क्योंकि यह उनकी खोज से फायदा उठाने में असमर्थ रहती। इस बात को ज्यादा बढ़ा कर कहने की जरूरत नहीं है; क्योंकि यह भी समाजवादियों के इस सामान्य दावे का ही एक अन्य उदाहरण है कि आयोजित एकीकृत कार्यकलाप स्पर्धी अभिकरणों के असमन्वित कार्यकलाप की तुलना में कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं।

विज्ञान और आविष्कार के क्षेत्र में व्यक्तिगत सफलताओं को उद्दीपित करने के लिए समाजवाद भी दूसरे व्यवसायों की भाँति ही पुरस्कार प्रदान करेगा, पर यह पुरस्कार खासकर उच्चतम प्रबंध-सेवा को दिए जाने वाले पुरस्कार के समान ही होगा। सामान्यतः वैज्ञानिक और अन्वेषक को काफी आर्थिक सुरक्षा प्रदान की

जाएगी और इस तरह उसके मन को केवल सृजनशील प्रयास करने के लिए निश्चित बना दिया जाएगा। विषयनिष्ठ सफलता पर आधारित मजदूरियाँ और वेतन भी और अपना सर्वोतम प्रयास करने के लिए उसकी ओर ज्यादा प्रेरित करेंगे। आर्थिक प्रकार के (जैसे नगद पुरस्कार) विभिन्न विशेष पुरस्कार या गैर-आर्थिक पुरस्कार (जैसे विज्ञान-अकादमी की सदस्यता या अलंकरण-उपाधियाँ) इस क्षेत्र में खास तौर पर उपयोगी होंगे। अंत में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाजवाद में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो एक आविष्कारक को हमारी सरकार द्वारा दिए गए पेटेंट जैसे दावे के मिलने से निरूढ़ रूप में रोकती हो। विशेष प्रयास के लिए पेटेंट भी प्रेरणा बन सकते हैं और समाजीकृत उद्योगों में नए आविष्कारों के उपयोग के लिए रायल्टी के भुगतान की संभावना के प्रस्ताव किए जा सकते हैं। समाजवाद के सिद्धांत के अनुरूप रहने के लिए ये दावे धारक की मृत्यु के समय समाप्त हो जाएँगे या ज्यादा-से-ज्यादा बताए गए रूप में उसके कुछ वर्षों बाद। साथ ही ऐसे आविष्कारक को यह वैध अधिकार न देंगे कि समाजीकृत अर्थतंत्रों में किसी नई प्रक्रिया या मशीन के उपयोग को रोक ले या उसके इस्तेमाल के स्वरूप या सीमा के बारे में कोई शर्त लगा सके। इस रीति से समाजीकृत अर्थतंत्र भी आज की ही तरह खोज और आविष्कार के श्रम के लिए स्पष्टतः इसी प्रकार की प्रेरणा प्रदान कर सकेगा।

श्रमिक संगठन

समाजवादी कार्यक्रम प्रायः सर्वजनीन रूप से श्रमिकों के सुदृढ़ संगठनों पर जोर देते हैं, विद्यमान अर्थ-व्यवस्था में भी और समाजीकरण के बाद भी। विद्यमान अर्थ-व्यवस्था के अधीन समाजवाद की और काम करने वाली संगठित शक्तियों के रूप में प्रथमतः उनकी जरूरत होती है, जबकि एक समाजीकृत समाज में वे कृत्यकारी वर्ग के रूप में काम करेंगे और उनके प्रतिनिधि नई पद्धति के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भाग लेंगे। समाजवादी अपने आंदोलन को 'कामकर' वर्ग का आंदोलन मानकर चलते हैं, इसलिए यह उम्मीद करना बड़ा तर्कसंगत है कि मजदूर संघ उसके सक्रिय केंद्र रहेंगे। समाजवाद की यूरोपीय नसलें प्रायः ही समूची ही मजदूर संघ के आधार पर बनी हैं। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका में समाजवादी नेता कभी विद्यमान मजदूर संघों का नेतृत्व अपने हाथ में लेने में न सफल हो पाए हैं और न समाजवादी मजदूर संघ बना सकने में ही, तथापि उसके कार्यक्रमों में अब भी संगठित श्रमिकों के साथ निकट का संबंध जोड़ने पर जोर दिया जाता है; क्योंकि समाजबादी समझते हैं कि इस एक सामूहिक आंदोलन के जरिए ही आगे चल कर एकदम समाजवादी कार्यक्रम अपनाया जा सकेगा।

समाजीकृत अर्थतंत्र में मजदूर संघों के कृत्यों को सामान्य रूप से समाजवादी कार्यक्रम में स्वतः उल्लिखित नहीं किया जाएगा। समाजवाद में एक प्रत्यक्ष निहितार्थ है कि समाजीकृत व्यवस्था में मजदूर संघों के सामान्य कार्य पूँजीवादी अर्थतंत्र के सामान्य दैनंदिन कृत्यों की तुलना में सारतः भिन्न रहेंगे। विद्यमान पद्धति के अधीन मजदूर संघ मालिक नियोजकों के, जो आम तौर पर मजदूरों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भुगतान यथासंभव कम रखना चाहते हैं और मजदूरों के, जो अपने प्रयास के लिए यथासंभव ज्यादा-से-ज्यादा पाने की कोशिश करते हैं, बीच निरंतर संघर्ष में प्रथमतः लड़ने और सौदे करने वाली इकाइयों के रूप में काम करते हैं। उद्यमकर्त्ता व्यक्तिगत कारबार इकाइयों की नीतियों के बारे में जो निर्णय लेते हैं, उनके निर्णय में मजदूर संघों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती। उस समय मजदूर संघों का काम यही होता है कि यथासंभव शक्तिशाली रूप में अपने सदस्यों के वर्ग हितों को उद्यमकर्त्ताओं के सामने रखें, जिससे ये हित 'अप्रत्यक्ष रूप से' उद्यमकर्त्ताओं के निर्णयों पर प्रभाव डालें। मजदूर संघों की स्थिति और कृत्यों में समाजवाद जो मूलभूत परिवर्तन लाएगा, वह इस बात से पनपते हैं कि उसके अधीन मजदूर संघ नीति-निर्माण के कार्य में 'प्रत्यक्ष रूप से' हिस्सा लेंगे—स्थानीय विशेषीकृत आर्थिक इकाइयों की नीतियों के बारे में भी तथा आयोजना और प्रशासन के ज्यादा सामान्य केंद्रीकृत अभिकरण के बारे में भी। समाजवादियों का कहना है कि इस प्रत्यक्ष हिस्सा लेने से (१) मजदूर संघों का दृष्टिकोण और उनके कार्यकलाप आज की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह से समझे जा सकेंगे; क्योंकि इससे संघ-प्रतिनिधि उन स्थितियों में आ जाएँगे, जहाँ प्रशासनिक अभिकरणों के अंग बन कर वे उद्योग की समस्याओं को एक दिशा की अपेक्षा सभी दिशाओ से देखने के अवसर और जरूरत का सामना करेंगे और (२) मजदूर संघों की चालों को आज की अपेक्षा कम युद्धात्मक और कम हिंसात्मक बताया जा सकेगा; क्योंकि संघों को अपने दावे निर्णय लेने वालों के ध्यान में लाने के लिए अब शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा।

हमारे अर्थतंत्र में और समाजवादियों की आशा के अनुकूल इसके बाद आने वाले अर्थतंत्र दोनों में मजदूर-संगठनों की वांछनीयता और जरूरत पर समाजवादी जोर देते हैं। यह कहने का मतलब यह नहीं है कि समाजवादी आज अमेरिका में संगठित श्रमिकों से संतुष्ट हैं। वे विद्यमान मजदूर-संगठनों के लक्ष्यों, नेतृत्व और संगठन के ढाँचे की कड़ी आलोचना करते हैं। समाजवादी यह विश्वास तो करते हैं कि जब तक पूँजीवाद का अस्तित्व रहेगा, मजदूर संघों को पूरी ताकत से ज्यादा मजदूरी, कम घंटों और बेहतर काम की हालतों के लिए सौदा करते रहना चाहिए, पर साथ ही वे दीर्घकालीन समाजवादी लक्ष्यों के तथाकथित दुखद अभाव का भी

निर्देश करते हैं। वे कहते हैं कि संघों के लिए यह सुसंगत ही होगा कि वे सोदा करने वाले घटकों के रूप में भी काम करें और पूँजीवाद की जगह समाजवाद को लाने के लिए भी सीधे और सशक्त ढंग से काम करें। समाजवादी कार्यक्रम संगठित श्रम के ऊपर हमेशा ऐसे दावों के लिए जोर देते रहते हैं। अमेरिका के संगठित श्रम के नेताओं की आलोचना श्रम-संगठनों की पूरी संभाव्यताओं का बहुत मामूली-सा ज्ञान रखने के लिए की जाती है। कुछ मामलों में दावा यह रहता है कि नौकरशाही पैदा हो गई है, जिसे केंद्रित कर इकट्ठा करने, मतों को हाथ में रखने, सरकारी नौकरियों पर बने रहने और भारी वेतन लेते रहने में है और वे अंगभूत सदस्यता की असली इच्छाओं तथा हितों के प्रति बड़ा ही संदेहास्पद उत्तरदायित्व दिखाते हैं। सामान्यतः समाजवादी—'मजदूर संघ' या 'शिल्प' प्रकार के संगठनों की आलोचना करते हैं, जो अब तक अमेरिकी श्रम-संगठन पर हावी रहे हैं। उनका आग्रह है कि संगठन सामान्यतः 'औद्योगिक' प्रकार के बनने चाहिए; क्योंकि वही प्रकार आधुनिक उद्योग में मजदूरों की स्थिति की वास्तविकताओं के प्रति सबसे ज्यादा अनुकूल पड़ता है। संक्षेप में समाजवादियों के कार्यक्रम आदर्शों, नेतृत्व और संगठन-ढाँचों में 'बाँयीं ओर' बढ़ने का प्रस्ताव करते हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. हमारी आज की लोकतंत्री सरकारों की समाजवादी मुख्य-मुख्य रूप से क्या-क्या आलोचना करते हैं ?

२. हमारे प्रतिनिध्यात्मक सरकारी निकायों के ढाँचे के लिए समाजवादी किन मूलभूत परिवर्तनों का प्रस्ताव करते हैं ? इसका प्रस्ताव वे क्यों करते हैं ?

३. क्या समाजवादी यह मानते हैं कि समाजवाद के अधीन सरकारों की प्रवृत्तियाँ नौकरशाही वाली हो जाती हैं ? अगर ऐसा है, तो वे उसके बारे में क्या प्रस्ताव करते हैं ?

४. क्या नौकरशाही की समस्या समाजवाद तक ही सीमित है ? उदाहरण दीजिए।

५. जिन प्रक्रियाओं में पूँजी माल पैदा होते हैं, उनका बुनियादी स्वरूप क्या पूँजीवाद की तुलना में समाजवाद के अधीन भिन्न प्रकार का होगा ? क्या पूँजी-संचय की प्रक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण मामले में भिन्न रहेगी ?

६. समाजवादी यह तर्क क्यों देते हैं कि केवल समाजवाद के ही अधीन सामाजिक बीमा की विशद और पर्याप्त पद्धति स्थापित की जा सकती है ?

७. समाजवादियों के पास बेरोजगारी के दो मुख्य प्रकारों—चक्र और औद्योगिकीय—का मुकाबला करने के लिए क्या-क्या आयोजनाएँ हैं ?

८. समाजीकृत व्यवस्था में वैज्ञानिक प्रगति और आविष्कार को उद्दीपन देने के लिए समाजवादी किस बात का सहारा लेते हैं ?

९. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि समाजीकृत अर्थतंत्र में श्रम-संगठनों की जरूरत ही न रहेगी ?

●

अध्याय १५

समाजवाद की आलोचना

आधुनिक समाजवाद की आलोचना अनेक दिशाओं से की जा सकती है। उसका संगठन, कौशल और व्यक्ति सभी ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका अध्ययन किया जाना चाहिए और आलोचनात्मक मूल्यांकन। चूँकि हमारी चर्चा प्रायः सैद्धांतिक समाजवादी कार्यक्रमों को ही लेकर चली है, यह आलोचनात्मक विश्लेषण भी उसी पर केंद्रित किया जाएगा। समाजवादी कार्यक्रम की अनेक आलोचनाओं को प्रसंगवश उक्त व्याख्या के सिलसिले में ही लिया गया है। इस चर्चा में पहले कुछ ऊपरी लोकप्रचलित आलोचनाओं को लिया जाएगा और कुछ बुनियादी बातों पर अध्याय के अंत में विचार किया जाएगा।

ऊपरी आलोचनाएँ

समाजवाद की अनेक आलोचनाएँ तो इतनी ऊपरी तरह की होती हैं कि उन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जा सकता। कुछ आलोचनाएँ ऐसे व्यक्तियों द्वारा सचाई के साथ की जाती हैं, जो समाजवाद को समझ ही नहीं पाते, जैसाकि अनेक आर्थिक मसलों को लेकर होता है। सबसे ज्यादा ऊपरी आलोचना वही होती है, जो आम जनता को समझाने के लिए की जाती है, जबकि ज्यादा बुनियादी और गुरुत्वपूर्ण विचारों पर या तो कुछ भी चर्चा नहीं की जाती है या मामूली चर्चा की जाती है। इन ऊपरी आलोचनाओं में से कुछ का सारांश और आंशिक उत्तर नीचे दिया जा रहा है।

'समाजवाद बहुत ज्यादा सिद्धांतपरक है'

इस आलोचना में आम तौर पर यह कहा जाता है कि अमेरिकी समाजवाद कागजी समाजवाद है; यह विशुद्धतः एक आयोजना या सिद्धांत है, जबकि जिस पूँजीवाद को वह इतना चाहता है, वह विद्यमान है और काम कर रहा है। तो फिर हम एक व्यावहारिक काम करती हुई पद्धति को क्यों छोड़ दें, जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह काम कर रहा है, भले ही अपरिपूर्ण रूप से काम कर रहा हो और

यह उसकी जगह एक ऐसी सैद्धांतिक पद्धति को स्वीकार कर लें जो अगर वास्तव में स्थापित भी हो जाए, तो भी वह किस तरह काम करेगी, इसके बारे में हम यकीन के साथ कुछ भी नहीं कह सकते ?

इस आलोचना के अनेक रूप-भेद भी होते हैं। आमतौर पर वास्तव में वे समाजवाद के प्रतिकूल तर्क नहीं होते, जितने समाजवाद में आयोजित नए सुधारों के विरुद्ध होते हैं। जो लोग इस तरह के तर्क करते हैं, उनका अभिप्राय होता है कि समाज की संस्थाओं में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए या ऐसा परिवर्तन जानबूझ कर आयोजित या रेखांकित नहीं किया जा सकता। अपनी बात के प्रति असंगत रहने वाले समाजवाद के कुछ आलोचक 'ज्यादा सिद्धांतपरक' होने का आरोप लगाने के बाद फिर समाजवादियों की इस बात के लिए आलोचना करने लगते हैं कि वे जिस समाज को जन्म देना चाहते हैं, उसकी संस्थाओं और प्रक्रियाओं की रूपरेखा पूरे व्यौरों के साथ नहीं बताते। इससे समाजवादी के लिए यह अनुत्तरणीय समस्या खड़ी हो जाती है कि वह समाजीकृत व्यवस्था का व्यौरेवार नक्शा किस तरह अंकित करे और ऐसा करने में वह इतना अव्यावहारिक और सिद्धांतपरक न बनने पाए कि ऐसी चीजों का वर्णन करे, जो आज विद्यमान नहीं हैं।

इस तरह की अधिकांश आलोचना ऊपरी और अवैध होती है। सचाई यह कि जब पूंजीवादी व्यवस्था के भी रूप-भेद प्रस्तुत किए जाते हैं, तो भी ऐसा करने का बुद्धिमानी का तरीका यही होता है कि पहले प्रस्तावों का अमूर्त्त निरूपण किया जाए और फिर उनकी वांछनीयता की चर्चा की जाए। समाजवादी यही करने की कोशिश करते हैं, हालांकि उनकी योजना का विशद् स्वरूप पूंजीवाद की संस्थाओं में प्रस्तावित विशिष्ट परिवर्तनों की तुलना में उनको ज्यादा 'सिद्धांतपरक' प्रतीत कराने लगता है। कोई भी व्यक्ति वास्तुविद् को 'सिद्धांतपरक' नहीं कह सकता; क्योंकि वह बनने वाले मकान का नक्शा छोटे-से-छोटे विवरणों के साथ बना देता है। इसे प्रायोजना का अनिवार्य अंग माना जाता है। आधुनिक समाजवादी यह मानते हैं कि निर्माण की जाने वाली अर्थ-व्यवस्था का नक्शा कुछ सीमा तक पहले बना लेना जरूरी है और उतना वैध न्यायोचित। खास तौर पर यह आरोप विकासशील समाजवादियों पर तो नहीं लगाया जा सकता, जो समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था की ओर प्रयोगात्मक तरीके से अग्रसर होना चाहते हैं। उनकी आयोजनाओं और प्रस्तावों में बहुत ही ज्यादा व्यावहारिक रीति से आग्रह तथा तरीके में निरंतर रूप-भेद करने की गुंजाइश रहती है।

'समाजवादी ईमानदार नहीं हैं'

कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि समाजवादी का कार्यक्रम समाज के

हित में है । किंतु, उसका यह दावा एक बहाना मात्र है । वस्तुतः वह केवल अपने निजी कल्याण में ही रुचि लेता है और समाजवाद को दूसरों की कीमत पर अपना भला साधने का एक रास्ता मात्र समझता है ।

हमारे समाज में हर एक सुधारक पर आमतौर पर ईमानदार न होने का आरोप लगाया ही जाता है । कोई ऐसा विषयनिष्ठ तरीका नहीं है, जिससे समाजवाद आने से पहले समाजवादियों की व्यक्तिगत या सामूहिक ईमानदारी की परख की जा सके, इस बात के कारण ही जनसमूह के मन में समाजवाद का विरोध पनपाने के लिए यह एक विशेषतः प्रभावी हथियार बन जाता है । कोई उत्साही रिपब्लिकन या डेमोक्रेट की ईमानदारी की परख यह पूछ कर नहीं करता कि क्या वह अपनी निजी संपदा को दल के कोष में जमा करने के लिए तैयार है ? सरकारी नौकरों को ज्यादा वेतन देने के समर्थकों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे पूरक क्षतिपूर्ति का अंश उनको अपनी जेब से देकर अपनी ईमानदारी सिद्ध करें ।

स्वर्गीय जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार सुझाया था कि समाजवाद के धनी समर्थकों की ईमानदारी का एकमात्र विषयनिष्ठ प्रमाण यही है कि पूरी पद्धति के समाजीकरण के बाद वह अपने निजी जीवन-स्तर में कुछ कमी करने के लिए तैयार हो हो जाएं ।[1] शॉ उन थोड़े से समाजवादियों में से हैं, जो निजी आय में प्रायः ठीक-ठीक समानता का समर्थन करते हैं । इसलिए उन्होंने कहा था कि ऐसी पद्धति में उनकी अपनी आय में भी काफी कमी आ जाएगी । उन्होंने जोर दिया कि जब समूची पद्धति बदल जाए, तो वह भी यह कमी स्वीकार करने के लिए तैयार और इच्छुक हैं । लेकिन, उनका ख्याल था कि उस समय से पहले की अपनी निजी संपदा और बड़ी भारी आय को छोड़ देने में न तो उनका ही फायदा है और न समाज का । वह यह नहीं मानते थे कि ऐसे रवैए से उनकी अपनी ईमानदारी में कोई फर्क आता है ।

शॉ का तर्क था कि कोई भी वस्तुतः चाहे कितनी इच्छा रखे, तब तक समाज़वाद को व्यवहार मे नहीं ला सकता, जब तक कि राष्ट्रीय आय के वितरण पर समाज का पूरा-पूरा नियत्रण न हो जाए । उनका विचार था कि समाजवादी समाजीकरण की वांछनीयता में ईमानदारी के साथ विश्वास रखने के एक तरह के प्रमाण के रूप में यह किया जा सकता है कि कोई अपनी निजी आय का बहुत सा हिस्सा उनको दे दे, जिनके पास कम संपत्ति है। पर, इससे शायद पाने वालों को हानि

---

[1] जार्ज बर्नार्ड शॉ, दि इंटेलिजेंट वोमेंस गाइड टु सोशलिज्म एंड कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, ब्रेंटानी, १६२८ ।

ही होगी और इससे समाजवाद का किसी प्रकार हित-साधन न होगा। शॉ की राय थी कि जो व्यक्ति समाजवाद की ईमानदारी का ऐसा प्रमाण चाहता है, वह सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप के प्रति अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करता है।[1]

चूंकि समाजवादी की सत्यनिष्ठा या असत्यनिष्ठा का विषयनिष्ठ प्रमाण समाजवाद के आने से पहले नहीं दिया जा सकता, इस आलोचना को हमेशा ऊपरी आलोचना कह कर और असली मामले को झमेले में डालने की इच्छा से प्रेरित मानते हुए छोड़ देना चाहिए। यह तर्क इतने आमतौर पर दिया जाता है कि किसी के भी द्वारा और कभी भी किए गए परिवर्तन के छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े प्रस्ताव के विरोध में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। इस तर्क को इतनी ही उग्रता के साथ और उतनी ही वैधता के साथ विद्यमान पूंजीवाद के समर्थकों के विरुद्ध भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जितनी उग्रता के साथ समाजवाद के विरुद्ध अक्सर प्रस्तुत किया जाता है। समाजवाद के गुणों के बारे में किसी का भी अंतिम निर्णय कुछ भी हो, सत्यनिष्ठ आलोचना के आधार के रूप में उनके समर्थकों की सत्यनिष्ठा और ईमानदारी को मान कर ही चलना चाहिए।

"पूंजीवाद के सुधार समाजवाद को अनावश्यक बना देते हैं"

समाजवादियों की अक्सर इसलिए आलोचना की गई है कि वे बहुत सीमा तक सुधार करने की दिशा में प्रवण नहीं होते, जिन सुधारों का हमारी पूंजीवादी पद्धति में हाल के दशकों में अनुभव किया गया है और न वे इसके आगे उन सुधारों को मानव की जरूरतों के लिए अनुकूलित करने की संभावनाओं की ओर ही प्रवण होते हैं। यह माना गया है कि पूंजीवादी पद्धति इतनी लचक वाली रही है और वस्तुतः उसमें इतने रूप-भेद किए गए हैं कि आर्थिक संगठन के रूप में उनसे उसकी स्थायी पर्याप्तता प्रदर्शित हो जाती है और इस तरह समाजवाद के कार्यक्रम बेकार हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के उदाहरण देकर यह तर्क किया जाता है कि हमारे आर्थिक जीवन में सुधार करने के लिए पूंजीवाद ने वह सब कुछ किया है, जो समाजवाद कर सकता है और इसमें भविष्य के सुधार की संभावनाएं समाजवाद की संभावनाओं की अपेक्षा कहीं ज्यादा हैं।

इस प्रकार की आलोचना को इस कारण ऊपरी आलोचना नहीं माना जाता कि पूंजीवाद के अधीन प्रगति का इसका दावा निराधार है, पर चूंकि वह समाजवादी कार्यक्रम में प्रमुख विंदु तक पहुंचने में असफल रहती है। बहुत से समाज-

---

[1] देखिए, वही, पृष्ठ ६७-६६।

वादियों ने निःसंदेह पूँजीवाद की लचकपूर्णता का कम अनुमान लगाया है और बदलती हुई जरूरतों के अनुसार अपने रूपों और प्रक्रियाओं को अनुकूलित कर लेने की इसकी योग्यता का भी ऐसा ही कम अनुमान लगाया है, फिर भी आधुनिक समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था के अधीन आर्थिक प्रगति की संभावना से इन्कार नहीं करता। इसे मानते हुए समाजवादी यह तर्क देते हैं कि पूँजीवाद की मूलभूत संस्थाओं के भीतर उत्पादक पदार्थों में निजी संपत्ति और फलस्वरूप लाभ-अभिप्रेरण—मानव-लक्ष्यों को पूरा करने की उस पद्धति की संभावनाओं की कुछ निरूढ़ सीमाएँ विद्यमान होती हैं। पूँजीवाद के अधीन ऐतिहासिक प्रगति का उल्लेखमात्र इस तर्क तक नहीं पहुँच पाता, जो सभी समाजवादी कार्यक्रमों का आधार होता है और उन्हें रूप प्रदान करता है। यह अतीत में कुछ आर्थिक प्रगति का प्रश्न नहीं है। समाजवादियों द्वारा अतीत की प्रगति सिद्ध करने के लिए अनेक विषयनिष्ठ तथ्य स्वीकारे जाते हैं। यह प्रश्न इस बात का है कि भविष्य में अधिकतम आर्थिक प्रगति के लिए किस प्रकार की प्रणाली साधक होगी।

'समाजवाद में बेईमानी और रिश्वत का बोलबाला होगा'

समाजवाद के कुछ आलोचक यह तर्क देते हैं कि समाजीकृत व्यवस्था में पूँजीवाद की अपेक्षा जालसाजी, रिश्वत और निजी बेईमानी के अन्य रूपों के ज्यादा अवसर होंगे और समाजवाद के अधीन सरकारी अभिकरणों के पास करने के लिए इतने ज्यादा और इतने भारी काम होंगे कि वे इन समाजविरोधी कामों की किसी सारवान् संख्या का पता लगाने और उनके लिए दंड देने में असमर्थ होंगे। इस सुझाव के साथ जो बहुत सी शर्तें रहती हैं और तदनुसार इसमें फेर-बदल करनी होती है, वे इसके सामान्य लोकप्रचलित रूप को बड़ा ही ऊपरी बना देती हैं।

चूँकि ज्यादा व्यक्ति पूँजीवाद की तुलना में समाजवाद के अधीन सरकारी प्रशासनिक अभिकरणों के साथ सबद्ध रहेंगे, इसलिए पूँजीवाद की तुलना में समाजवाद के अधीन सरकारी कर्मचारियों की ओर से बेईमानी की संख्या में ज्यादा संभावनाएँ रहेंगी। इस रूप में की गई आलोचना का मतलब कुछ नहीं है। अगर कोई बेईमानी की समस्या पर उचित रूप से विचार करे, तो विद्यमान पूँजीवाद के अधीन समूची सरकारी पद्धति और कारबार पद्धति में बेईमानी के लिए जो कुल अवसर और अभिप्रेरण उपलब्ध हैं, उनकी तुलना प्रस्तावित समाजवादी पद्धति के अधीन वैसे ही कुल अवसरों के साथ करनी होगी। बड़ा प्रश्न यह है कि : अगर समाजवादी अभिकरणों में बड़े पैमाने के 'निजी' कारबार के सारे कार्यकलाप आ जाएँ, तो क्या निजी कारबार में इस समय विद्यमान बेईमानी भी किसी रूप में इसमें आ जाएगी, क्या वह उसमें आ जाएगी और बढ़ भी जाएगी या वह उसमें आ जाएगी और घट जाएगी?

इस प्रश्न को इस रूप में रखने से हमारा ध्यान निजी कारबार की विद्यमान पद्धति में विद्यमान बेईमानों की ओर जाता है। इसमें बहुत थोड़ा संदेह किया जा सकता है कि निजी कारबार के क्षेत्र में रिश्वत और बेईमानी के विभिन्न रूप, विभिन्न मात्रा में उपस्थित हैं। निजी कारबार को रिश्वत और बेईमानी से मुक्त मान लेना पूरी तरह गलत है, फिर भी समाजवाद के बहुत से आलोचकों का ठीक-ठीक लक्षितार्थ यही रहता है, जो एक विशुद्ध निजी कारबार प्रणाली के समाजीकृत होने की रूपरेखा बनाते हैं और इस तरह उसे सरकारी अभिकरणों में चल रही बेईमानी एवं रिश्वत के साथ दूषित होता हुआ पाते हैं। निबल (धन या ऋण) परिवर्तन को रिश्वत और बेईमानी की मात्रा में, जो निजी कारबार के समाजीकरण के कारण पैदा होंगी, जोड़ते समय निजी कारबार में उस समय चालू मात्रा को आरंभ बिंदु के रूप में लेना होगा, जहाँ से समाजीकृत व्यवस्था में बेईमानी और रिश्वत की संभावित कुल मात्रा को जोड़ा जाएगा। जबतक कोई यह उम्मीद न कर ले कि समाजवाद के अधीन रिश्वत और बेईमानी की कुल मात्रा पूँजीवाद के अधीन कुल मात्रा से ज्यादा हो जाएगी, यहाँ पर समाजबाद के खिलाफ कोई तर्क नहीं दिया जा सकेगा।

वास्तव में समाजवाद के साथ काफी सा अनुभव होने से पहले ही ठीक-ठीक निश्चित रूप में यह तुलना नहीं की सकती और निजी कारबार की ध्यान से छानबीन करने पर रिश्वत तथा बेईमानी काफी मात्रा में देखने को मिलती है। इस बात से यह तर्क इतना कमजोर हो जाता है कि ऊपरी तर्क मात्र रह जाता है। साथ ही, यह विश्वास करने के कारण हैं कि निजी कारबार से तुलना करने पर आज सरकार में रिश्वत और बेईमानी इतनी प्रचलित नहीं है जितनी कि आमतौर पर अंदाज कर लिया जाता है। समाजवादियों का कहना है कि विद्यमान सरकारी रिश्वत और बेईमानी की औसत से बहुत ज्यादा मात्रा को निजी कारबार की तुलना में जनता को बता दिया जाता है। सरकारी कर्मचारियों के लिए बेईमानी और रिश्वत के अपने काम छिपाना ज्यादा मुश्किल होता है तथा तुलना में निजी कारबारी उपक्रम के लिए यह उतना मुश्किल नहीं होता; क्योंकि सरकारी अधिकारियों को अपने लेखे-जोखे के लिए प्रचार की ज्यादा उग्र जरूरत का सामना करना पड़ता है, जबकि तुलना में निजी कारबार उपक्रमों के अधिकारियों को वैसा नहीं करना पड़ता। इसके अलावा समाजवादी अकसर यह तर्क देते हैं कि हमारे अर्थतंत्र का पूर्ण समाजीकरण हो जाने के बाद रिश्वत और बेईमानी के लिए आज सरकारी कर्मचारियों को प्रभावित करने का जो मुख्य लालच होता है, वह दूर हो जाएगा। उनका दावा है कि सरकारी सेवा में रिश्वत या बेईमानी को सामान्य मामले में मुख्य प्रेरक अभिकर्त्ता एक निजी

कारबार का उद्यमकर्ता व्यक्ति ही होता है, जो सरकार के विशेष अनुग्रह के जरिए लाभ कमाना चाहता है। चूँकि समाजवाद के अधीन बड़े पैमाने के कारबार के क्षेत्र से लाभ-अभिप्रेरण समाप्त हो जाएगा, इसलिए समाजवादी यह तर्क करते हैं कि उस समय सरकारी वेईमानी और रिश्वत का मुख्य अभिप्रेरण ही लुप्त हो जाएगा।

'समाजवादी तरीकों का उपयोग समाजविरोधी लक्ष्यों के लिए किया जा सकेगा'

समाजवादी कार्यक्रमों को दूसरे प्रकार की आलोचना यह है कि समाजीकृत अर्थतंत्र के ढाँचे और प्रक्रियाओं का उपयोग समाजवादियों द्वारा घोषित लक्ष्यों से बिलकुल भिन्न लक्ष्य प्राप्त करने में किया जा सकेगा। ऐसी आलोचना प्रत्यक्ष ही केंद्रीकृत नियंत्रण तंत्र को मान कर चलती है, जो सफल आधुनिक समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है और आशंका है कि वह अपना भला साधने वाले सिद्धांतहीन वर्गों के हाथ में पड़ जाएगा, जो पूरे समाज के भले के लिए नहीं, बल्कि अपने निजी फायदे के लिए उन नियंत्रणों का उपयोग करेंगे।[1]

यह आलोचना नौकरशाही द्वारा अक्सर समाजवाद के खिलाफ लगाए जाने वाले आरोप-जैसी ही है, जिसको इस चर्चा के शुरू में निपटाया जा चुका है। सरकार कि केंद्रीकृत अभिकरणों को लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी बनाए रखना मामूली काम नहीं है, लेकिन यह एक मात्र समाजवाद की भी समस्या नहीं है। यह सच है कि जब कभी किसी सरकारी अभिकरण को प्रशासनिक शक्ति दी जाती है, तो यह संभव हो जाता है कि इस शक्ति का उपयोग ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकेगा जो उनसे भिन्न हैं, जिनके लिए वह शक्ति दी गई थी। यह भी सच है कि हमारे जैसे एक जटिल समाज में केंद्रीय नियंत्रण और प्रशासनिक अभिकरणों के पास समाज के विशेषीकृत अंगों के समन्वित रूप से काम करते रहने के लिए अनिवार्य शक्ति रहनी चाहिए। इसलिए यह आलोचना खास तौर से समाजवाद के विरुद्ध करना ऊपरी बात लगती है, जबकि वैसी ही समस्याओं का सभी केंद्रीकृत अभिकरणों द्वारा सामना करना पड़ता है जो निरंतर ज्यादा जटिल और ज्यादा विशेषीकृत होते जाने वाले समाज में समन्वित प्रयास की जरूरत के अनिवार्य प्रतिफल के रूप में पैदा हो रहे हैं।

'समाजवाद गैर-अमेरिकी है'

संभवतः 'गैर-अमेरिकी' विशेषण जितना ज्यादा समाजवाद के साथ लगाया

---

[1] देखिए एफ० ए० वान हायेक, दि रोड टू सर्फडम, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, शिकागो, १९४४।

जाता है, उतना किसी दूसरी चीज के साथ नहीं। स्थूलतम अर्थ में इस अलोचना का मतलब इससे ज्यादा कुछ नहीं है कि यह आलोचना करने वाला व्यक्ति समाजवाद को पसंद नहीं करता। बहुत से व्यक्ति सामाजिक वर्ग के हितों को अपने व्यक्तिगत हितों के साथ इतना चिपका कर चलते हैं कि वे समझते हैं कि जो कुछ उनके व्यक्ति को हानि पहुँचाएगा, वर्ग को हानि पहुँचाएगा। इस तरह गैर-अमेरिकी होने का आरोप निजी नापसंद को ही प्रकट करने का अवसर एक और तरीका होता है और जब यह बात इस रूप में समाजवाद पर लागू होती जाती है, तो यह एक बड़ी ही ऊपरी आलोचना मात्र बन जाती है।

तथापि इस शब्दावली का प्रयोग ज्यादा सार्थक रूप में किया जा सकता है। कभी-कभी यह माना जाता है कि समाजवादी कार्यक्रमों का उद्भव बहुत कुछ यूरोपीय देशों में हुआ है और वे संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा वहाँ पर विद्यमान आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का प्रतिबिंब अधिक हैं। यह सच है कि आरंभिक अमेरिकी समाजवाद का आयात अमेरिका में बाहर से किया गया था। इसके दर्शन, संगठन और कार्यक्रम इस देश में एक शताब्दी से कुछ कम समय पहले आव्रजकों की जो लहर यहाँ आई थी, उनके साथ यहाँ आए थे। बहुत से आरंभिक कार्यक्रमों को इस अर्थ में 'गैर-अमेरिकी' कहा जा सकता था। तथापि जैसे-जैसे समाजवाद यहाँ के स्थानीय परिवेश के अनुसार अपने को अनुकूलित करता गया और जैसे-जैसे अमेरिका की पूँजीवादी पद्धति प्रौढ़ होती गई, वैसे-वैसे समाजवादी कार्यक्रम यहाँ के लिए काफी संगत होते गए और तदनुसार गैर-अमेरिकी होने का आरोप अवैध हो गया।

बुनियादी आलोचना

बुनियादी आलोचना का स्वरूप

कुछ विशिष्ट ऊपरी तर्कों का जो समाजवाद के विरुद्ध किए जाते हैं, विचार करने के बाद अब हम समाजवादी कार्यक्रमों की कुछ बुनियादी आलोचनाओं को लेंगे। 'बुनियादी' का मतलब 'उत्तर न दे सकने योग्य' आलोचना नहीं है और न इसका मतलब उन तर्कों से ही है कि जो समाजवाद की बात का अंतिम रूप से खात्मा कर देते हैं। इस तरह की आलोचना भी हो सकती है, लेकिन जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, वह उस तरह की नहीं मानी जाती। समाजवादी व्यवस्था के संचालन में ऐसी सैद्धांतिक समस्याएँ भी अंतर्ग्रस्त होती हैं, जो आर्थिक प्रक्रिया की तह तक जाती हैं और जिनका समाजवाद के समर्थकों द्वारा आज तक संतोषजनक रूप से समाधान नहीं किया गया है। इन समस्याओं का समाधान सुलझाते हुए समाजवादी

कुछ बुनियादी असंगतियों में फंस जाते हैं। साथ ही कुछ मामलों में प्रस्तावित समाधान के अनेक अंग आपस में असंगत होते हैं। उनके समाधान के लिए समाजवादियों द्वारा किए गए प्रस्तावों में अंतर्ग्रस्त इन सैद्धांतिक समस्याओं और असंगतियों का उल्लेख यहाँ पर 'समाजवाद की बुनियादी आलोचनाएं' कह कर किया गया है।

अर्थतंत्र के प्रारंभिक कृत्य

इन बुनियादी आलोचनाओं को लेने से पहले यह ज्यादा अच्छा होगा कि इस बात को समझ लिया जाए कि समाजीकृत अर्थतंत्र के भी प्रारभिक कृत्य वही होंगे, जो एक पूंजीवादी अर्थतंत्र के होते हैं और इन कृत्यों का पालन करने में समाजीकृत अर्थतंत्र को भी उन्हीं परिवेशी परिस्थितियों में से अनेक का सामना करना होगा, जो एक पूंजीवादी अर्थतंत्र को घेरती हैं। किसी भी आर्थिक पद्धति का एक आरंभिक कृत्य, भले उसका नाम या रूप कुछ भी हो, यह है कि मानवीय इच्छाओं की तुष्टि के लिए प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों में मानवीय प्रयास को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लगा कर माल पैदा किया जाए।

इस कृत्य का पालन करने में पूंजीवादी अर्थतंत्र की तरह समाजवादी अर्थतंत्र को भी प्रकृति द्वारा दिए गए पदार्थों की सीमित मात्रा और मानव-इच्छाओं के फैलने की असीमित क्षमता की समस्या का सामना करना होता है। साथ ही आदमी द्वारा वनाए गए उत्पादक पदार्थ और मानव-प्रयास किसी भी समय केवल सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हो सकते हैं और इसकी तुलना में असंतुष्ट मानव-इच्छा स्थायी होती है। प्रति व्यक्ति उत्पादन में समाजीकृत अर्थतंत्र के अधीन जो भी वृद्धि होती है, इसके बावजूद यह स्पष्ट लगता है कि पूंजीवाद की तरह ही समाजवाद के अधीन भी आर्थिक पदार्थों की कमी काफी समय तक चलती रहेगी।

समाजवाद का संचालनात्मक काम

किसी समाजीकृत अर्थतंत्र का प्रारंभिक संचालनात्मक काम वही होगा, जो विद्यमान अर्थतंत्र के अधीन होता है। उत्पादन के न्यून अभिकरणों का उत्पादी उपयोग के विशिष्ट स्त्रोतों में ले जाना और विशिष्ट पदार्थों के लिए उपभोक्ता की प्रभावी मांगों को उतने पदार्थों तक सीमित कर देना जितने पैदा किए जाते हैं। पूंजीवादी अर्थतंत्र में, इसके लिए जो मार्गदर्शन दिया जाता है, वह सर्वोत्तम हो या न हो, मुख्यतः उपभोक्ताओं द्वारा अपनी आय का हिस्सा विशिष्ट उत्पादों के लिए खर्च करने की उनकी इच्छा को अनुमति देकर ही प्राप्त किया जा सकता है, जो अपेक्षतया अबाध बाजार में देखा जा सकता है, और उद्यमकर्ताओं को न्यून उत्पादी अभिकरणों को भाड़े पर लेकर उत्पादक इकाइयों में लगाने

की अनुमति देकर जहाँ ऐसे पदार्थ पैदा किए जा सकें, जिनके लिए इतने दाम मिल जाते हैं, जो उनके लिए आकर्षक होते हैं।

समाजवाद के अधीन दाम तय करने की प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप

समाजवाद की जो आलोचना की जाती है, उसमें से सबसे ज्यादा उग्र और बुनियादी आलोचना उत्पादन के उस मार्गदर्शन की होती है, जिसे समाजवादी इस मुक्त दाम मार्गदर्शन प्रणाली की जगह पर लाना चाहते हैं; क्योंकि समाजवादी उत्पादन-साधनों के सामाजिक स्वामित्व और संचालन का प्रस्ताव करते हैं, इसलिए स्पर्धी बिक्रेता उसके अधीन बाजार में मनचाहा माल आगे चल कर नहीं भर पाएँगे। वे बिक्री के लिए ऐसे विभिन्न अभिकरणों द्वारा प्रस्तुत किए जाएँगे,जो उत्पादन के लिए जिम्मेवार सामाजिक अभिकरणों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार बाजार में पदार्थ का संभरण सामाजिक स्वामित्व के एकाधिकार द्वारा ही प्रभावतः किया जाएगा और उस माल के लिए दिए जाने वाले दाम और बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाने वाली मात्रा का निर्धारण इस एकाधिकार द्वारा किया जाएगा, न कि बहुत से स्पर्धी बिक्रेताओं द्वारा प्रस्तुत किए गए पदार्थों की बहुत से स्पर्धी क्रेताओं द्वारा की गई परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया वाली मुक्त माँग द्वारा।

कुछ लोग यह मानते हैं कि विभिन्न प्रकार के पदार्थों का बाजार में आना और उनके लिए माँगे गए दामों का नियंत्रण करने वाले अभिकरणों के निर्णय मनमाने रूप से केंद्रीय आयोजना निकायों द्वारा किए जाएँगे और इसमें विद्यमान दाम तय करने की प्रक्रिया के कई लाभप्रद अंग नष्ट हो जाएँगे। साथ ही, ये सामाजिक अभिकरण समाजवाद के अधीन दाम तय करने की प्रक्रिया के मनमाने स्वरूप को बाजार में सभी पदार्थों की उत्पादन लागत के दाम पर देने का फैसला करके दूर नहीं कर सकते। ऐसा करना भी बहुत कुछ मनचाही प्रक्रिया होगी; क्योंकि समाजवाद के अधीन उत्पादन के दो महत्त्वपूर्ण अभिकरणों के—प्रकृति द्वारा बनाए गए और मनुष्य द्वारा बनाए गए उत्पादक पदार्थों के—बीच कोई स्पर्धा न होगी। चूँकि समाजवाद की परिभाषा के ही अनुसार इनका स्वामित्व सामाजिक स्वामित्व होगा और लागत जोड़ने में उनके साथ जो मूल्य लगाए जाएँगे, वे मनचाहे मूल्य होंगे; जो उन पर उनके संभवतः एक मात्र उपभोक्ता और स्वामी—अंतर्ग्रस्त सामाजिक अभिकरणों-द्वारा लगाए जाएँगे। इस तरह उपभोक्ता पदार्थ के स्तर के दाम, उत्पादन के विभिन्न स्तरों से होकर प्रकृति के साथ मानव के प्रयास के उनके उद्भव के प्रसंग में मनमाने रूप में लगाए गए मूल्य होंगे, जिनका निर्धारण स्पर्धी बाजार में चलने वाले माँग और संभरण के तत्त्वों द्वारा नहीं किया जाएगा।

उत्पादक और उपभोक्ता पदार्थों के दाम इस तरह मनमाने रूप से लगाने में अंतर्जात रूप से कोई गलत बात नहीं है। आलोचक जिस बात पर जोर देते हैं, वह यह है कि अगर इस तरह दाम लगाए जाते हैं, तो उपभोक्ता की चुनाव की आजादी और कामगर की पेशा चुनने की आजादी की रक्षा नहीं की जा सकेगी। अगर पदार्थों के दाम मनमाने रूप से तय किए जाते हैं, तो या तो उनका उत्पादन भी उस मात्रा तक मनमाने रूप से योजित करना होगा, जितनी उपभोक्ता तय किए गए दाम पर ले जाने को तैयार है। (इस तरह श्रम को पेशों की कुछ दिशाओं में निर्देशित करना जरूरी हो जाएगा), या उपभोक्ताओं द्वारा ली गई मात्रा को उस मात्रा तक सीमित करना होगा जितने का उत्पादन करना सामाजिक अभिकरण उपयुक्त समझते हैं (इस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राशनिंग करना होगा)। संक्षेप में समाजवादी दाम तय करने की प्रक्रिया या तो उपभोक्ता के या कामगर के या दोनों के चुनाव की आजादी के साथ असंगत है और फिर भी समाजवादी या तो घोषणा द्वारा या लक्षित रूप में इस बात पर जोर देते हैं कि वे अपनी नई व्यवस्था के अधीन इन दोनों की भी रक्षा कर सकेंगे। इस असंगति के कुछ विवरणों की और ज्यादा ब्यौरों में जाँच की जाएगी।

पूँजीवादी दाम-प्रक्रिया के कथित लाभ

समाजवाद की दाम-प्रक्रिया के आलोचक विद्यमान दाम-प्रक्रिया के कुछ निरूढ़ और कथित लाभप्रद पहलुओं का उल्लेख करते हैं, जिनके बारे में उनका तर्क है कि समाजवाद उनको दोहरा नहीं सकता। विद्यमान प्रणाली में दाम तय करने की प्रक्रिया इस अर्थ में 'अवैयक्तिक' है कि यह जानबूझ कर किए गए विशद मानवीय नियंत्रण के बिना संचालित होती है। पूँजीवाद के अधीन पदार्थों के दाम तय करने में मान निर्णय के जो तत्त्व आ जाते हैं, वे बहुत से स्वतंत्र क्रेताओं और बिक्रेताओं के निर्णय ही संभवतः होते हैं। कोई क्रेता या क्रेताओं का वर्ग और कोई बिक्रेता या बिक्रेताओं का वर्ग अकेले दाम तय करने के ऊपर कोई महत्त्वपूर्ण नियंत्रण नहीं रखता। यह कुल मिला कर अकेले व्यक्तियों के स्वतंत्र निजी कार्य का प्रतिफल होता है और इसके 'अवैयक्तिक' प्रतिफल मिलते हैं। किसी एक क्रेता या विक्रेता के वर्गों द्वारा जोड़ने या निर्णय में जो गलती हो भी जाती है, उसका समाधान अन्य व्यक्तियों और वर्गों के दूसरे निर्णयों द्वारा हो जाता है। तर्क यह है कि यदि दाम-प्रक्रिया के केंद्रीय अंश के ऊपर सीधे 'निजी' नियंत्रण लागू किए जाएँ, जैसाकि समाजवाद के अधीन होगा, तो इसकी बहुत ज्यादा गुंजाइश है कि निबल प्रतिफल एक 'निजी' दाम-प्रक्रिया के अधीन होने वाले प्रतिफल की तुलना में अवांछनीय होगा।

चिंतन की इसी दिशा का अनुसरण करते हुए यह बताया जाता है कि पूँजीवाद के अधीन कार्यकुशल रूप में काम करने के लिए दाम तय करने की प्रक्रिया को समझ लेना जरूरी नहीं है, जबकि समाजवादी दाम-प्रक्रिया को बड़े-बड़े दाम-संबंधी निर्णय करने वाले अभिकरणों के व्यक्तियों द्वारा समझा ही जाना चाहिए। इस तरह पूँजीवादी दाम-प्रक्रिया में व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयाँ अपना-अपना भाग कार्यकुशलता के साथ निबाहती हैं। हालाँकि प्रत्येक पूरी दाम-प्रक्रिया के स्वरूप का बिल्कुल अज्ञान होने की स्थिति में अपना व्यक्तिगत निर्णय कर सकता है। ऐसा अज्ञान प्रक्रिया के समुचित कार्य-संचालन के आड़े नहीं आता, लेकिन समाजवादी दाम-प्रणाली के स्वरूप और संचालन का विशद ज्ञान न होने से उसका प्रभावी कार्य-संचालन तुरंत रुक जाएगा।

पूँजीवाद के अधीन दाम तय करने के बारे में यह दावा किया जाता है कि उसके ऊपर न तो उत्पादक हावी रहते हैं और न उपभोक्ता; क्योंकि दोनों में से कोई भी वर्ग निरूढ़ रूप से इस पर हावी नहीं हो सकता। संभाव्य उपभोक्ताओं द्वारा लगाए गए दाम मुक्त बाजारों में संभाव्य उत्पादकों द्वारा प्रस्तुत किए गए माल के सम्मुख आते हैं और फलस्वरूप इन दो स्वतंत्र तत्त्व-समूहों द्वारा 'समतोल दाम' तय कर दिया जाता है। इस तरह उत्पादक को घाटा देकर उपभोक्ता के अनुकूल दाम तय नहीं किए जा सकते; क्योंकि अगर ऐसा करने की कोशिश की गई, तो उत्पादक इसे स्वतः रोकेंगे (भले ही वे इसके लिए आयोजना न बनाएँ)। यह तो उनका समाधान न करने वाले दाम पर बाजार में माल भेजने की उनकी अनिच्छा द्वारा ही हो जाएगा। साथ ही उत्पादकों द्वारा अपने फायदे के लिए और उपभोक्ताओं को हानि पहुँचाने वाले दाम तय करने के लिए जो प्रयत्न किए जाएँगे, उनको उपभोक्ता स्वयं रोकेंगे। हाँ, इस मोटे समानीकरण के कुछ अपवाद हैं। लेकिन, निरूढ़ रूप से विद्यमान प्रणाली का स्वरूप ऐसे रोक और संतुलन पैदा कर देता है। समाजवाद के अधीन मनमानी करने पर ऐसी कोई सीमाएँ नहीं रहेंगी। समाजवाद के अधीन सैद्धांतिक रूप से उपभोक्ता या उत्पादक दाम तय करने वाले अभिकरणों के ऊपर प्रमुख नियंत्रण प्राप्त कर लेंगे और उनका अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करेंगे और इन कार्यों के ऊपर रोक यही रहेगी कि इन अभिकरणों के ऊपर राजनीतिक नियंत्रण रहेगा। यह पिछला नियंत्रण कार्य में खुले बाजार के क्रेता और विक्रेता के तत्काल प्रत्युतर की तुलना में कम प्रत्यक्ष है, जहाँ पर एक या दूसरा वर्ग अपने ही हित में दाम तय करना चाहता है।

तो फिर इन निर्वैयक्तिक, विना हथकंडे वाली और स्वचालित दाम प्रक्रियाओं के जरिए ही आर्थिक कार्यकलाप को कुछ लक्ष्यों की ओर निवेशित किया जाता

है, जिनको ऐसे रूप में सामाजिक दृष्टि से चुना जाता है, जो किसी आयोजित समाजवादी व्ययस्था के अधीन संभव नहीं है। समाजवाद के ये आलोचक यह मानते हैं कि कोई दूसरी पद्धति नहीं है, जो आर्थिक प्रक्रियाओं के विशेष हिस्सों या पूरी प्रक्रिया में ही एक 'युक्तिसंगत आर्थिक' मोड़ ला सके। प्रो० वान माइसेस ने इस बात को इस तरह कहा है: "आर्थिक आकलन के बिना कोई अर्थ-व्यवस्था नहीं चल सकती। इसलिए समाजवादी राज्यों में जहाँ आर्थिक आकलन तैयार करना असंभव है, हमारे अर्थ में कोई भी अर्थ-व्यवस्था नहीं चल सकती""यह तय करने का कोई साधन नहीं होगा कि युक्तिसंगत क्या है। इसलिए यह स्पष्ट है कि उत्पादन कहीं भी आर्थिक विचारों से निवेशित न होगा""युक्तिसंगत आचरण उस आधार से ही विलग हो जाएगा, जो उसका उपयुक्त क्षेत्र है।"[१]

समाजवाद के अधीन उत्पादन के मार्गदर्शन का 'मनमाना' स्वरूप

आलोचक यह नहीं कहते कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में दाम तय करने के इस मनमाने तरीके के साथ कुछ दुरभिप्रेरित रखना होगा, ताकि अयुक्तिसंगत या वर्ग के समग्र कल्याण के विरुद्ध हुआ जा सके। अपने स्वरूप के कारण ही समाजवादी दाम तय करना उसको प्रशासित करने वालों को कुछ ऐसे मानक या प्रसामान्यक चुनने के लिए विवश कर देगा, जिनकी ओर वे उत्पादक कार्यकलाप को निर्देशित करेंगे। और, ऐसा प्रसामान्यक अपने चुनाव के स्वरूप के कारण ही पूँजीवादी दाम-प्रक्रिया द्वारा उत्पादन को दिए गए स्वचालित मोड़ की-तुलना में अयुक्तिसंगत होगा।

इस तरह यह बताया गया है कि ऐसा अभिकरण तकनीकी दृष्टि से सबसे अधिक कार्यकुशल दिशा की ओर उत्पादन को निदेशित करने का चुनाव करेगा। एक औद्योगिक इकाई में सम्मिलित अभिकर्त्ताओं के गुण और परिमाण ऐसे हो सकेंगे कि उस इकाई में उत्पादन का उच्चतम तकनीकी स्तर प्राप्त किया जा सके। यह नियंत्रक अभिकरणों द्वारा अपनाए जाने के लिए एक बड़ा ही प्रशंसनीय लक्ष्य लगता है। फिर भी ऐसे 'तकनीकी अनुकूलतम' को उद्योन-संगठन में प्राप्त करने के प्रयत्न के फलस्वरूप बहुत कुछ उत्पादन की दिशा विशेष में निश्चित घटक इस्तेमाल करना पड़ सकता है। लेकिन, अगर उत्पादक अभिकरणों और उपभोक्ता पदार्थ के मूल्य खुले स्पर्धी बाजार में तय किए जाते और उपक्रमी सबसे ज्यादा 'आर्थिक या न्यूनतम संभव लागत' रूप से माल पैदा करने के घटकों को सँजोने के लिए मुक्त रहे होते, तो ऐसा न होता।[२]

---

[१] एफ० वान् हापेक, संपादित, कलेक्टिविस्ट इकोनॉमिक प्लानिंग, रूटलेज, लंदन, १९३५, वान् माइसेस का अध्याय, पृष्ठ १०५।

[२] देखिए वही, हाम का अध्याय, पृष्ठ १४६।

जैसे ही उपभोक्ता पदार्थों और उत्पादन घटकों के खुले बाजार दाम उत्पादन का मार्गदर्शन करने वाले नियंत्रण तंत्र के अनुसार छोड़ दिए जाते हैं, प्रशासनिक अभिकरण यथेच्छ प्रसामान्यक चुनने के लिए आजाद हो जाते हैं। संभव चुनाव का यह असीमित विस्तार और कौन-सा प्रसामान्यक सर्वोत्तम है, इसके विषयनिष्ठ निर्धारण का लक्षित अभाव, 'युक्तिसंगत आर्थिक, मोड़, की तुलना में उत्पादन में 'अयुक्तिसंगत' और 'गैर-आर्थिक' मोड़ ला देते हैं' जो खुले बाजार में नियंत्रक तत्त्व के रूप में स्पर्धी रूप से निर्धारित किए गए दाम मानने के कारण होता है।

सामाजिक अर्थतंत्र में लक्ष्य के रूप में आदर्श समतोल

इस आरोप का उत्तर देने के लिए बहुत से प्रयास किए गए हैं कि समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का बिषयनिष्ठ मार्गदर्शन वस्तुतः होता ही नहीं। उदाहरण के लिए माना गया है कि हालांकि पूँजीवाद के अधीन ऊपर बताए गए तरीके से दाम-प्रक्रिया का काम करना अनुमाना जाता है, वस्तुतः यह ऐसे अपरिपूर्ण रूप से काम करती है कि स्वतंत्र रूप से निर्धारित पदार्थों के समतोल दाम पूँजीवाद के अधीन अस्तित्व में आए वास्तविक दाम ढाँचे के साथ अगर कुछ समानता रखता है, तो नाम मात्र ही। वस्तुतः कुछ समाजवादी तो यहाँ तक तर्क देते हैं कि समाजीकृत अर्थतंत्र में नियंत्रण अभिकरण प्रायः इतने ही प्रभावी रूप से अपने लक्ष्य बना सकते हैं और वह स्वयं कल्पित स्पर्धी दाम समतोल ज्यादा यथातथ्य रूप में प्राप्त कर सकते हैं, जिनके प्राप्त करने का अनुमान तो लगाया जाता है, पर जिन्हें एक पूँजीवादी अर्थतंत्र में वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री ने इस दृष्टिकोण को संक्षेप में निरूपित किया है : "वस्तुतः हम यहाँ तक कह सकते हैं कि केवल समाजवादी समुदाय में ही, जहाँ उत्पादन को आँकड़ों के माप और प्रचार के पूरे प्रकाश में चलाया जा सकता है, इस आर्थिक मूल्यन के सच्चे सिद्धांतों को प्राप्त करना संभव है। पूँजीवादी समाज में वैयक्तिक आय की असमानता, स्पर्धा, एकाधिकार और दूसरे उद्यमकर्त्ताओं के कार्यकलाप के संबंध में उद्यमकर्त्ताओं के परस्पर अज्ञान के कारण समतोल में हेरफेर रहता है और आर्थिक आदर्श बहुत ही अपरिपूर्ण सीमा तक प्राप्त किए जा सकते हैं। बोहम-वावर्क, मीजर, मार्शल और कैसेल द्वारा आर्थिक समतोल की जिन सुंदर पद्धतियों की चर्चा की गई है, वे समाज के विद्यमान स्वरूप का निरूपण नहीं करतीं, बल्कि भविष्य के समाजवादी अर्थतंत्र की एक भावी झाँकी ही प्रस्तुत करती हैं।"[1]

---

[1] एच० डी० डिकिन्सन, दि एकोनॉमी जरनल, जून, १९३३, पृष्ठ २४६-४७।

गणितीय समाधान

समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने दाम तय करने की इस 'मनमानी' की इस समस्या के लिए अनेक समाधान प्रस्तुत किए हैं और इस तरह समाजवादी अर्थतंत्र की घटक आवंटन प्रक्रियाओं में भी। इनमें से कुछ समाधान कथित रूप से ऊपर उद्धृत स्पर्धा तर्क को अमल में लाते हैं कि केवल समाजवादी अर्थतंत्र में ही विशुद्ध आदर्श समतोल सारतः प्राप्त किया जा सकता है। समाधान इतने असंख्य और ब्यौरेवार हैं कि उनका वर्णन मात्र करने से ही एक ग्रंथ बन जाएगा। इन बातों में अभिरुचि रखनेवाले छात्रों को चाहिए कि पाद-टिप्पणियों और भाग चार के अंत में दी गई ग्रंथ-सूची मे सुझाई गई पठन-सामग्री का अध्ययन करें।

समाजवादी अर्थतंत्र के लिए सुझाई गई दाम-पद्धति को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है: (१) गणितीय समाधान, (२) स्पर्धी समाधान और (३) वे समाधान, जो उपभोक्ता और कामकर की चुनाव आजादी के ऊपर बंधनों को मानते तथा उनका अनुमोदन करते हैं। पहले का उदाहरण दाम-समस्या के लिए ऑस्कर लॉग और स्वर्गीय प्रोफेसर फ्रेड एम० टेलर द्वारा अपनी पुस्तक 'ऑन दि थ्योरी ऑफ सोशलिज्म' द्वारा प्रस्तावित समाधान में दिया जाता है।[1] इस समाधान में समाजवादी अर्थतंत्र के दाम तय करने वाले प्राधिकार द्वारा कुछ दत्त सामग्री विनिश्चेय मान ली गई है: (१) उपभोक्ताओं की पसंद; क्योंकि यह हर पदार्थ की विभिन्न मात्रा में विभिन्न दामों पर खरीदने की इच्छुकता के रूप में व्यक्त होतो है और जो प्रभावतः माँग अनुसूची रही है। इनका विनिश्चय अनुभव से उपभोक्ता द्वारा विभिन्न दामों पर निश्चित समय में और पूरे अर्थतंत्र के लिए खरीदे गए माल के अनुसार किया जा सकता है और यह मात्रा में उतने ही पूर्ण रूप से जाना जा सकता है, जैसाकि खुले बाजार वाले अर्थतंत्र में निजो कारबार द्वारा जाना जाता है। (२) "वे शर्तें जिनके अधीन विकल्प प्रस्तुत किए जाते हैं।" इसका मतलब है कि तकनीकी ज्ञान के आधार पर तय की गई सारणियाँ, जो हर उत्पादी घटक की हर विभिन्नता में और बाकी सभी घटकों की विभिन्न किश्तों के साथ हर संभव संयोजन में उनकी भौतिक उत्पादी प्रभाविता का निरूपण करती हैं। (३) हर उत्पादी घटक की हर विभिन्नता की उपलब्ध मात्रा। जानी हुई दत्त सामग्री की इन तीन किस्मों के साथ अगर हर उत्पादी घटक की हर विभिन्नता को कुछ मूल्य दे दिया जाए तो कुछ ऐसे समीकरण तय किए जा सकेंगे, जिनका समाधान यह पता लगाने के लिए किया जा सकेगा कि हर घटक को हर विभिन्नता की कितनी मात्रा प्रत्येक उपयोग के लिए दी जाए।

---

[1] मियापोलिस, मिनैसोटा विश्वविद्यालय प्रेस, १८३८।

ऐसे समीकरणों में प्रयुक्त घटक मूल्य प्राप्त करने के लिए 'जाँच और भूल' तरीका अपनाया जाता है। अर्थात् पहले मनचाहे रूप से घटक मूल्यों का एक समूह चुना जा सकता है (वस्तुतः यह सहसा भी हो सकता है) और ये मूल्य इकाई लागत के आधार बनाए जा सकते हैं जो फिर उपभोक्ता पदार्थों के व्यक्तिगत दाम बन जाते हैं। ऐसे दामों के समूह को काम करते हुए उनका निरीक्षण करके फिर पता चलेगा कि कुछ उपभोक्ता पदार्थों को, क्रेता जितना बन रहे हैं, उससे ज्यादा मात्रा में खरीदना चाहते हैं और दूसरे पदार्थों को जितना बन रहे हैं, उससे कम मात्रा में। यह ज्ञान पाने के बाद दाम तय करने वाले लोग विभिन्न उत्पादी घटकों के अनेक भेदों को दिए गए मूल्य बदल देंगे और यह संशोधन तब तक लगातार होते रहेंगे, जब तक लागत और दाम के आधार के रूप में अंततः प्राप्त घटक मूल्य की दर से हर घटक की हर किस्म का उपलब्ध पूरा स्टॉक उत्पादन में लगाया जाने लगे और प्रत्येक उपभोक्ता पदार्थ के लिए क्रेताओं द्वारा चालू दाम पर ली जाने वाली मात्रा उत्पादित यथातथ्य मात्रा बन जाए। इस स्थल पर वह परिपूर्ण स्पर्धी समतोल आ जाएगा, जिसे पूँजीवादी अर्थतंत्र के एक परिपूर्ण रूप से खुले बाजार का अंतिम उत्पाद बताया गया है।

यह 'समाधान' दो बातों में अपर्याप्त है : (१) उपभोक्ता की रुचियों के गतिशील स्वरूप की दृष्टि में उत्पादक घटकों के असंख्य भेद और उत्पादन के लगातार बदलते हुए शिल्पविज्ञान की दृष्टि में माँग अनुसूचियों की जानकारी और वे शर्तें जिन पर वैकल्पिक पदार्थ प्रस्तुत किए जाते हैं, उनकी जानकारी जो निश्चित ही समीकरण का हल करनेवालो के पास होना चाहिए, वह इन दोनों में से किसी क्षेत्र के केंद्रीकृत ज्ञान के किसी सोचे गए रूप से विनिश्चेय समूह से निश्चय ही ज्यादा हो जाएगी। इस तरह हालांकि गणितीय समाधान सैद्धांतिक रूप से ठोस हो सकता है, यह पूरी तरह से अव्यावहारिक है। (२) अगर घटकों के सच्चे मूल्य तय करने के लिए 'जाँच और भूल' का तरीका काम में लाया जाए, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि समाजवादियों द्वारा सोची गई आर्थिक आयोजन का क्या रूप होगा ? यह स्पष्ट है कि असंख्य गतिशील तत्त्वों के अधीन जो जाँच और भूल का तरीका प्रयुक्त किया गया है (जैसे उदाहरण के लिए उपभोक्ता की रुचियों में अनेक परिवर्तन) उनके कारण उत्पादी घटकों के आबंटनों में लगातार ऐसे फेर-बदल जरूरी हो जाएँगे कि विशद् आर्थिक आयोजन में बाधा पड़े, जिसे समाजवादी अपनी पद्धति की मूल प्रेरणा और स्पंदन तत्त्व मानते हैं। समाजवादी दाम-प्रणाली के रूप में इस गणितीय समाधान में सैद्धांतिक सुदृढ़ता है, लेकिन व्यवहार रूप में यह असंभव है और विशद आर्थिक आयोजन के समाजवादी प्रस्तावों के साथ इसकी बिलकुल तालमेल नहीं बैठती।

इसलिए इसे समाजवादी पद्धति में दाम तय करने और घटक आवंटन के निरूढ़ कथित मनमानेपन के ऊपर के रूप में स्वीकार किया जा सकता।

स्पर्धी समाधान

दूसरे समाजवादी यह तर्क देकर समाजवादी दाम तय करने की प्रक्रियाओं का प्रतिपादन करते हैं कि उत्पादक और उपभोक्ता पदार्थों की दोनों श्रेणियों में पदार्थों के स्पर्धी मूल्य तय करने के लिए समाजवाद के अधीन काफी स्पर्धा हो सकती है। ऐसा स्पर्धी दामों का ढाँचा कुछ मात्रा में स्वचालित रूप में उत्पादन का मार्गदर्शन कर सकता है अथवा आयोजना और दाम तय करने वाले अभिकरणों द्वारा दामों के उत्पादन और उपभोग का पूँजीवादी दाम-प्रणाली के सैद्धांतिक समतोल के आमतौर पर तत्संभावी लक्ष्यों की ओर मार्गदर्शन देने के लिए भी उपयोग किया जा सकता है।

एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री ने इस प्रस्ताव को कुछ ब्यौरों के साथ तैयार किया है।[1] समाजवादी अर्थतंत्र के प्रत्येक उद्योग के भीतर बहुत सी सरकारी स्वामित्व की लेकिन अर्थ स्वायत्त कारबार इकाइयाँ संगठित की जाएँगी। प्रत्येक अपने उत्पाद बेचने और भूमि श्रम और भाड़े पर लेने एवं उपयोग के लिए पूँजी लगाने में काफी स्वायत्त होंगे। उत्पादन के घटकों के उपलब्ध संभरण के उतार-चढ़ाव में हर घटक की हर किस्म के लिए स्पर्धी दाम अस्तित्व में आ जाएँगे। इस तरह हर औद्योगिक इकाई को पता चल जाएगा कि अपना उत्पाद पैदा करने में क्या लागत आएगी। इन विभिन्न इकाइयों द्वारा स्पर्धी बिक्री के जरिए दाम लागत पर या लागत के आसपास रखे जाएँगे और उतना ही पैदा किया जाएगा, जितना उपभोक्ता उत्पादन लागत वाले दामों पर खरीदना चाहेंगे। इस तरह समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता पदार्थों के दाम उसी तरह से समतोल दाम प्राप्त कर लेंगे, जिस तरह स्पर्धी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में होता है। उत्पादन घटकों के लिए उत्पादक इकाइयाँ कितने उतार-चढ़ाव के दाम दे सकती हैं, यह तय करके ये दाम घटकों के विभिन्न संभव

---

[1] एस० डी० डिकिंसन, इकोनॉमिक्स ऑफ सोशलिज्म, लंदन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३९। दूसरी ऐसी आयोजनाओं के लिए जो इससे मिलती-जुलती हैं, पर ब्योरों में कुछ भिन्न हैं, देखिए आर० एल० हॉल, दि इकोनॉमिक्स सिस्टम इन ए सोशलिस्ट स्टेट, लंदन, मैकमिलन १९३७, ए० सी० पिगु, सोशलिज्म वर्सेस कैपिटलिज्म, लंदन, मैकमिलन, १९३९, आर० टी० बाई०, सोशल इकोनॉमी ऐंड दि प्राइस सिस्टम, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९५०, अध्याय ११,, "प्राइसिंग इन कलेक्टिविज्म।

उपयोग को एक विषयनिष्ठ तरीके से मार्गदर्शित करेंगे, जैसे बहुत कुछ पूँजीवादी दाम-व्यवस्था के अधीन होता है।

तथापि ऐसी प्रक्रिया आर्थिक कलाप की समाजवादी आर्थिक आयोजना के साथ पूरी तरह असंगत है। या तो उत्पादक इकाइयों को एक आयोजना के अनुकूल चलना चाहिए अथवा वे अपने माल के लिए भावी संभाव्य माँग की अपनी कल्पना के अनुसार चल सकता है। स्वायत्त उत्पादक इकाइयों की बात करना और साथ ही आर्थिक आयोजना की बात करना समाजवाद के एक ऐसे रूप की बात है, जो 'रोटी खा भी लें और बच भी जाय' जैसा ही है और वह इस प्रस्ताव का प्रतिरूप भी है कि पूँजीवादी प्रणाली के भीतर भी विशद आर्थिक आयोजना शुरू की जानी चाहिए।

साथ ही इस प्रस्ताव की और भी ज्यादा मूलभूत आलोचना की जा सकती है। समाजवादी प्रणाली के अधीन उत्पादन घटकों के दाम तुलनात्मक रूप से तय नहीं किए जा सकते। इसलिए 'स्वायत्त' उत्पादक घटकों की इकाई की लागत बहुत कुछ निरर्थक होगी। इस तरह ये तथाकथित स्वायत्त इकाइयाँ भूमि और पूँजी के अपने संभरण के लिए स्पर्धा करते समय सभी उसी विक्रेता से खरीदना चाहेंगी। चूँकि भूमि का संभरण प्रकृति द्वारा तय कर लिया गया है और चूँकि उसका स्वामित्व समाज का होना चाहिए और समाजवाद के अधीन पूँजी पदार्थ सामाजिक बचत से पैदा किए जाएँगे, व्यक्तियों द्वारा नहीं, इसलिए इन दोनों में से किसी भी संभरण के लिए कोई स्वतंत्र स्पर्धी स्रोत नहीं हो सकता, जिसके लिए ये स्वायत्त इकाइयाँ बोली लगाएँ।

विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों से संलग्न दामों में स्पर्धी स्वायत्त इकाइयों द्वारा भूमि के दूसरे खंडों की अपेक्षा एक खंड के लिए कितनी ज्यादा बोली लगाई जाती है, इसे ध्यान में रख कर स्पर्धी विशेषक तय करने की कुछ संभावना हो सकती है। भूमि के मूल्य का सामान्य स्तर ज्यादा था या कम, इसका निर्णय निश्चय ही इन संसाधनों के एकमात्र स्वामी का प्रतिनिधित्व करने वाले समाज के अधिकरण या अभिकरणों द्वारा तय किया जाएगा। कोई दूसरा वैकल्पिक संभरण स्रोत नहीं है, जहाँ स्वामी द्वारा 'बहुत अधिक' (मूल्य-स्तर के अर्थ में) माँगे जाने पर उत्पादक इकाइयाँ अपनी माँग का स्थानांतरण कर सकती हैं, और अगर भूमि का मूल्य कम कर दिया जाए (मूल्य-स्तर के अर्थ में), तो भी भूमि को रोका न जा सकेगा। दूसरे शब्दों में विभिन्न प्रकार की भूमि के लिए मूल्यों में कुछ विशेषकों के अलावा एकमात्र स्वामी स्थिति के स्वभाव के ही कारण इस बात के तिए विवश हो जाता है कि उत्पादन में भूमि के उपयोग के लिए मूल्य-स्तर मनमाने रूप से तय कर दे। यही जरूरत विभिन्न

स्वायत्त उत्पादक इकाइयों पर आदमी द्वारा तैयार किए गए सामाजिक स्वामित्व के उत्पादक पदार्थों के लिए (या दीर्घकालीन उधार के लिए) लगाए गए शुल्कों के सिलसिले में रहेगी, जो वे उत्पादन के लिए जरूरी पाएंगे।

समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में मनमाने रूप से तय किए गए भूमि और पूंजी मूल्यों में निरूढ़ रूप से कोई गलत बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब इन स्वायत्त इकाइयों में लागत जोड़ने में मनमाने रूप से तय किए गए भूमि के लगान और मनमानी व्याज-दरें शामिल होती हैं, तो फलस्वरूप प्रति इकाई लागत भी अनुपातिक रूप से मनमाने आधार पर तय की गई चीज़ ही होगी। फलतः ऐसी स्थिति में लागत और दाम स्पर्धी पूंज़ीवादी अर्थ-व्यवस्था के लागत और दामों से बहुत ही भिन्न होते हैं। इसलिए ज़ब उपभोक्ता इन दामों को चुकाने की अपनी इच्छा या अनिच्छा तय करते हैं और जब इन दामों पर आधारित उपभोक्ता निर्णयों के अनुसार उत्पादक घटक उपयोग की विभिन्न दिशाओं में निदेशित किए जाते हैं, तो फलस्वरूप विशिष्ट उपयोगों के लिए घटकों का परिणामी आवंटन मनमाने प्रकार का हो जाता है। सारतः इसका रूप-निर्धारण दो सामाज़िक स्वामित्व के महत्त्वपूर्ण घटकों—भूमि और पूंज़ी—के मनमाने मूल दाम-निर्धारण द्वारा ही किया ज़ाता है। समाज़वाद के अधीन उत्पादक घटकों का बुनियादो रूप से मनमाने स्परूप का मार्गदर्शन समाजवाद के अधीन कुछ 'मिथ्या स्पर्धा' पैदा करने की कोशिश द्वारा सारतः प्रभावित नहीं किया ज़ा सकता।

इस प्रक्रिया का मनमाना स्वरूप और उत्पादन घटकों के मार्गदर्शन में इसके घटकों को एक छोटे से उदाहरण से देखा जा सकता है। मान लीजिए वस्तु 'क' के उत्पादन में तकनीकी कारणों से भूमि की तुलना में ज्यादा मात्रा में पूंजी की जरूरत है, जबकि वस्तु 'ख' के उत्पादन में पूंजी की तुलना में कहीं ज्यादा भूमि की जरूरत है। अगर यह तय किया जाए कि पूंजी का मूल्य ऊंचे स्तर पर रखा जाएगा और भूमि का मूल्य नीचे स्तर पर, तो वस्तु 'क' के उत्पादन की लागत इस तुलना में बहुत ज्यादा होगी, अगर पूंजी लागत कम होती और भूमि लागत ज्यादा। वस्तु 'क' की तुलना में वस्तु 'ख' पर वस्तुतः उलटे तरीके से प्रभाव पड़ेगा। फलतः ऊंचे पूंजी मूल्य और नीचे भूमि मूल्य से वस्तु 'ख' की लागत अपेक्षतया कम रहेगी (अगर दूसरी चीजें एक जैसी बनी रहें)। इसी तरह कम पूंजी व्यय और ऊंचे भूमि व्यय से वस्तु 'क' की लागत वस्तु 'ख' की तुलना में कम रहेगी। इस तरह अगर एक फैसला किया जाए, तो वस्तु 'ख' के उपभोक्ताओं का पक्ष लिया जाएगा और ज्यादा उत्पादक संसाधन उनकी सेवा में लग जाएंगे और अगर दूसरा फैसला किया जाए, तो वस्तु

'क' के उपभोक्ताओं के संसाधनों के आवंटन में पक्ष लिया जाएगा। कुछ स्थलों पर दाम—प्रक्रिया में कुछ 'स्पर्धा' डाल देने के बाद भी यह निश्चय ही सच होगा। समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में दो महत्त्वपूर्ण उत्पादक घटकों—भूमि और पूँजी का निश्चय ही मनमाना दाम तय करना पूरी ही समाजीकृत दाम प्रणाली में मनचाहे दाम तय करने का काफी तत्त्व पैदा कर देता है और इसका मतलब है कि उत्पादन-संसाधनों का विभिन्न संभव उपयोगों में आबंटन भी निरूढ़ रूप से और सारतः मनमाने प्रकार का रहता है।[1]

चुनाव की आजादी को सीमित करने वाले समाधान

दूसरे समाजवादी अर्थशास्त्री इस समस्या के प्रति बिलकुल ही दूसरा दृष्टिकोण अपनाते हैं। उदाहरण के लिए मोरिस डौब इस बात को सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं करते कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में लागत और दाम तय करना गैर-मनमाने ढंग से किया जा सकता है।[2] उनका कहना है कि उत्पादक घटकों के आवंटन के मार्गदर्शन में उपभोक्ताओं के चुनाव की आजादी या उपभोक्ताओं के प्रभुत्व की बात एक वास्तव में काम कर रही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रसंग में बहुत कुछ थोथी बात है। उपभोक्ता का ज्ञान, आय की असमानता, विज्ञापन देकर दबाव डालना और एकाधिकार ये चीजें ऐसी हैं, जो पूँजीवाद के अधीन उपभोक्ता को युक्तसंगत आधार पर घटक आबंटन के ऊपर नियंत्रण रखने से वंचित रखती हैं,

---

[1] इस उदाहरण को सरल रखने के लिए श्रम लागत पर विचार नहीं किया जाता। यह बहुत संभव है कि भूमि और पूँजी के स्पर्धी मूल्यांकणों के अस्तित्व में आने की अपेक्षा समाजवादी अर्थतंत्र में स्पर्धी वेतन-दरों जैसी कुछ चीज स्थापित की जा सकती है। संभरण की ओर संभवतः बहुत से स्वतंत्र और विभिन्न प्रकार एवं मात्रा की प्रवीणता के मालिक स्पर्धियों द्वारा श्रम सेवाएँ प्रस्तुत की जाएँगी। साथ ही समाजीकृत उद्योग ही ठेके पर मजदूरों की माँग के एकमात्र स्रोत होंगे, संभवतः व्यक्तियों को हस्तशिल्प या कृषि-उत्पादन या किसी सहकारी उत्पादन इकाई में काम करने के लिए वैकल्पिक स्रोत फिर भी उपलब्ध बने रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में समाजवाद के अधीन वस्तुतः स्पर्धी श्रम बाजार बनने की संभावना है या नहीं, इस बात की ओर ज्यादा ध्यान यहाँ पर नहीं दिया जा सकता; क्योंकि इससे दाम प्रक्रिया संबंधी विचार को बहुत ज्यादा आगे बढ़ाना होगा। इस बात को छोड़ कर भी समाजवादी भूमि और पूँजी के दाम तय करने की प्रक्रिया का स्वरूप ही यह बताने के लिए काफी है कि समाजावदी अर्थ-व्यवस्था में दाम की यह पूरी प्रक्रिया ही मनमाने तरह की रहेगी।

[2] मौरिस डौब, पौलिटिकल इकोनॉमी ऐंड कैपिटलिज्म, न्यूयार्क, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, १९३७।

जिनका कि वर्णन ही मात्र सामान्यतः पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या करनेवाली पाठ्य-पुस्तकों में मिलता है। साथ ही, उनका कहना है कि लागत के कुछ तत्त्व जैसे उदाहरण के लिए लगान या ब्याज पदार्थों के उत्पादन में सामाजिक त्याग के सच्चे तत्त्वों को ठीक तरह से निरूपित नहीं करते, जबकि सामाजिक त्याग के कुछ तत्त्व जैसे श्रम द्वारा परेशान किया जाना या सीमित प्राकृतिक संसाधनों का बर्बादीपूर्ण उपयोग कारबार लागत जोड़ने में पर्याप्त रूप से ध्यान में नहीं रखा जा सकता।

डौब के मतानुसार उसका अर्थ यह है कि घटकों और उपभोक्ता पदार्थों का दाम कुछ मात्रा में मनमाने रूप से तय किया जाना समाजवादी अर्थतंत्र में मानव-कल्याण को अधिकतम रूप में प्राप्त करने के लिए जरूरी हो सकता है। वे यह नहीं सोचते हैं कि कल्याण का समाजवादी अधिकतम रूप मुक्त बाजार और स्पर्धी घटकों द्वारा पूँजीवादी दाम-व्यवस्था के परिपूर्ण रूप से काम करने पर जो अधिकतम कल्याण होता है उसका ही दोहरा रूप है, इसलिए यह दिखाने की कोशिश करने का वह कोई कारण नहीं देते कि सैद्धांतिक रूप से परिपूर्ण पूँजीवादी पद्धति के ये स्वरूप समाजवादी पद्धति में भी दोहराएँ जाएँ। वह समाजवादी आर्थिक आयोजना को ज्यादा पसंद करते हैं, हालांकि आयोजना के लाभ और विशेषज्ञों के निर्णयों का लाभ उठाने के हित में इसमें व्यक्ति के चुनाव की आजादी पर कुछ बंधन लगाने पड़ सकते हैं। उनका कहना है कि अगर समाजवादी समाज की बहुत काफी जनसंख्या के मत के साथ आयोजकों और विशेषज्ञों के निर्णय घटकों के आबंटन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं के बारे में मेल नहीं खाते, तो विरोध इतनी ज्यादा तेजी से किया जाएगा कि ऐसी गलतियों की ओर ध्यान दिया जा सके। और जब घटकों के आबंटनों के गैर-महत्त्वपूर्ण पहलुओं के बारे में आयोजक और विशेषज्ञ कुछ गलती करते हैं, तो इसका मानव-कल्याण के ऊपर कोई बहुत ज्यादा प्रभाव न पड़ेगा। डौब इस बात से बड़े प्रभावित हैं कि आर्थिक प्रक्रियाओं के जरिए होनेवाले मानव-कल्याण की दिशा में विशेषज्ञ आर्थिक आयोजना कितना ज्यादा संभाव्य योगदान दे सकती है और उन्हें इस बात की परवाह नहीं है कि व्यक्तियों की चुनाव की आजादी के ऊपर विशेष नतीजा न डालने वाले जो बंधन लगाए जाएँगे, वे समाजवादी व्यवस्था में लागत और दाम तय करने के अंशतः मनमाने स्वरूप से पैदा होंगे। स्पष्टतः इस तरह का समाधान दाम तय करने और घटकों के आबंटनों के बारे में समाजवादियों के मनमानेपन को ही उचित ठहराने का प्रयास करता है, जबकि गणितीय और स्पर्धी समाधान मनमानेपन को दूर करने की कोशिश करते हैं।

समाजवाद के अधीन मनमानी ब्याज दर के प्रतिफल

समाजवादी अर्थतंत्र में पूँजी की सेवाओं का दाम तय करने का मनमाना

स्वरूप विशेष महत्त्व का है। पूँजी पदार्थों से निजी स्वामित्व वाले तंत्र में ये पदार्थ बहुत अंश में दो स्रोतों से आएँगे : (१) व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छिक बचत (२) निगमों में संगठित व्यक्तियों द्वारा, जो उपार्जनों का पुनर्निवेश करते हैं। ऐसे स्रोतों से प्रथमतः आने वाला संभरण निजी स्वामित्व और संचालन वाली कारबार इकाइयों की जो पूँजी पदार्थों में बदलने के लिए पैसे की तलाश में रहती हैं, पैसे की माँग पूरी करता है। निवेश बाजारों पर इन दो शक्तियों की परस्पर क्रिया से दीर्घकालीन निधियों पर स्पर्धी व्याज दर ली जाती है। सभी संभाव्य बचत करने वालों को इस दर से बचत करने के लिए प्रलोभन मिलता है और वे अपनी वर्त्तमान आय के कुछ अंश का उपभोग करने से बचे रहते हैं। इस तरह उत्पादी ऊर्जा के समग्र रूप का समाज में यह विभाजन उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन में और उत्पादक पदार्थों के उत्पादन के बीच संपन्न होता है और इसमें वही स्वचालित और निर्वैयक्तिक रूप रहता है, जो पूँजीवादी व्यवस्था की सामान्य दाम तय करने की प्रक्रियाओं में देखा गया था।

समाजवाद समाज की बचत प्रक्रिया के प्रशासन को बदल देता है और अब उसके आयोजना और नियंत्रण अभिकरण किए जाने वाली सामाजिक बचत या पूँजी संचय की मात्रा की पूर्व घोषणा करते हैं। वे आर्थिक प्रक्रिया में उन स्थलों को चुन लेते हैं और वह रीति तय कर लेते हैं, जिसमें बचत की जाएगी। माँग और संभरण शक्तियों से बाजार में संचालित होने वाले कारणों से अब कोई स्पर्धी व्याज-दर अस्तित्व में नहीं आ सकती। तथापि व्यक्तियों को आजादी होती है कि अगर वे परवाह करें, तो उपभोग को भविष्य के लिए टाल सकते हैं। अगर वे न हो सकने वाले पदार्थों को आगे के उपयोग के लिए टालना चाहें तो वे वैसा कर सकते हैं। साथ ही वे क्रयशक्ति को भविष्य में उपयोग के लिए बचा कर रखना चाहें, तो संभवतः समाजीकृत अर्थतंत्र में वे ऐसा भी कर सकते हैं। पर, चूँकि अब अबाध निवेश बाजार अस्तित्व में नहीं और केवल समाजीकृत उद्योग ही उपयोग के लिए पूँजी निधि की तलाश करने वाले अभिकरण रह गए हैं, इसलिए पैसे की ये बचतें सरकारी बंध-पत्रों, बचत लेखों या समाजीकृत अर्थतंत्र के वित्तीय अभिकरणों द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत ऋण दूसरे साक्ष्यों के रूप में लगाई जाएँगी।

ये अभिकरण जो व्याज-दर देंगे, वह निश्चय ही ऊपर बताए गए कारणों से मनमाने रूप में तय की जाएगी। ऐसी प्रणाली के अधीन जो भी व्यक्ति अपनी वर्त्तमान आय के कुछ अंश को मनमानी व्याज-दर पर लगाने के लिए बचाना चाहते हैं, वे वैसा करेंगे और वे लोग जो इस दर को अनाकर्षक पाएँगे, वे अपनी वर्त्तमान आय के पूरे अंश का उपभोग कर डालेंगे। संभाव्य बचत करने वाले इस मनमानी

ब्याज-दर के अनुसार अपनी चालू बचत के कार्यकलापों का समंजन करके यह निर्धारित करने में मदद देंगे कि समाज के प्रयास का कितना अंश उपभोक्ता पदार्थ बनाने के लिए और कितना अंश उत्पादक पदार्थ बनाने के लिए लगाया जाए। लेकिन इस हालत में जिस व्याज-दर के लिए वे पैसा लगाने को तैयार हुए थे, उसका निर्धारण किसी भी अर्थ में न तो उन लोगों द्वारा किया जाएगा, जो पैसा लगाने को तैयार हुए थे और न उनलोगों द्वारा, जो तैयार नहीं हुए। समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में होने वाले पूँजी-संचय या बचत की रकम की मात्रा का फैसला निश्चय ही केंद्रीय अभिकरणों द्वारा किया जाएगा। ऐसा कोई संभव तरीका नहीं है, जिसके अनुसार व्यक्तियों और उद्योगों के अलग-अलग खंडों को ऐसा करने के लिए छोड़ दिया गया है, जैसाकि वे बड़ी मात्रा में पूँजीवादी अर्थतंत्र में करते हैं। व्याज दर को मनमाने रूप में बढ़ा या घटा देने से समाज की उत्पादी ऊर्जा का स्पष्ट ही उसी तरह मनमाने रूप में उसके दो संभव उपयोगों के बीच पुनर्बंटन किया जाएगा —वर्त्तमान इच्छाओं की तुष्टि और भविष्य की इच्छाओं की और ज्यादा तुष्टि।

समाजवादी कभी-कभी पूँजीवादी और समाजवादी बचत प्रक्रियाओं के बीच इस तुलना को यह कह कर अवैध ठहराना चाहते हैं कि विद्यमान समाजवादी तंत्र में निवेश निधियों के उपलब्ध संभरण के निर्धारण पर व्यक्तियों के निर्णय अब कोई प्रभाव नहीं डालते हैं। यह बताया जाता है कि सभी पूँजी निधियों को बड़ा अंश अब ज्यादा-ज्यादा मात्रा में निगमित उपार्जनों के पुर्नानिवेश और जीवन बीमा कंपनियों की संचित निधियों के निवेश से आता है। उनको 'स्वचालित' या 'अस्वैच्छिक' बचत कहा जाता है, जिसका लक्षितार्थ यह है कि व्यक्ति का अपनी रकम के ऊपर कोई प्रभाव नहीं रह गया है।

यह तर्क करने की बड़ी ही प्रश्नास्पद श्रृंखला है। निगम निधियों का नियंत्रण भी तो स्टॉकधारियों द्वारा ही किया जाता है। अगर निगम अपने उपार्जनों के हिस्से का पुर्नानिवेश करते हैं, तो यह माना जाएगा कि स्टॉकधारी कम-से-कम इस नीति के लिए अपनी मौन स्वीकृति देते हैं। वे जानते हैं कि जिन उपार्जनों का पुनर्निवेश किया जा रहा है वे लाभांशों में उनको नहीं ठुकराई जा सकती और वे अंततः इस प्रकार निगमों द्वारा काम में लाए जाने वाले पैसे में योगदान देते हैं। कुल मिला कर इस पैसे को देने में स्टॉकधारियों की इच्छा का मतलब इन पुर्नानिवेश निधियों पर उपार्जन की संभाव्य दर पर बचत करने का फैसला ही है। साथ ही जीवन बीमा की प्रीमियमों पर उन उपार्जनों का असर पड़ता है, जो बीमा कंपनियाँ अपने निवेश किए गए संचित पैसे पर कमा सकती हैं। जैसे-जैसे ये उपार्जन बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे विभिन्न प्रकार के जीवन बीमा के लिए लिए जाने वाले शुद्ध प्रीमियम कम होते जाते

हैं और जैसे-जैसे उपार्जन कम होते जाते हैं, शुद्ध प्रीमियमों की मात्रा बढ़ती जाती है। इस तरह संभावी पालिसीधारियों का चालू प्रीमियम दरों पर जीवन बीमा पालिसियां खरीदने या न खरीदने का निर्णय ही व्यक्तियों का अपनी चालू आय के छोटे-बड़े अंश को इस माध्यम से बचाने का व्यक्तिगत निर्णय होता है। हमारे पूँजीवादी समाज में बचत के कुछ स्वरूपों का स्वचालित लगना वास्तविक की अपेक्षा आभासी अधिक है। ऊपर बताए गए अर्थ में व्यक्तिगत बचत करने वालों के स्वतंत्र निर्णय दीर्घकालीन निवेश निधियों पर व्याज-दर के निर्धारण के संभरण पक्ष पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

समाजवादी दाम प्रक्रिया के प्रत्यक्ष फायदे

इस तरह आधुनिक समाजवाद के कार्यक्रम की एक बुनियादी आलोचना उस दाम प्रकिया के स्वरूप पर ही केंद्रित होती है, जो समाजवादी अर्थतंत्र में निरूढ़ है। समाजवादी दाम तय करना इस अर्थ में व्यावहारिक होता है, कि इसे कामचलाऊ बनाया जा सकता है। कुछ रूपों में इसके संचालन की ऋजुता और कार्यकुशलता का वह रूप दिया जा सकता है, जो पूँजीवादी दाम प्रक्रिया में देखने को नहीं मिलता। यह भी संभव है कि समाजवादी दाम प्रकिया में भी लचक का कुछ रूप देखने को मिलता है, जो विद्यमान दाम प्रक्रिया में नहीं मिलता; क्योंकि बाजार से चालू दाम पर उपयोग में न आ सकने योग्य अधिक पदार्थों को हटा लेने के लिए दामों को जल्दी ही समंजित किया जा सकता है। दूसरे मामलों में जो पूँजीवाद के अधीन माँग के साथ संभरण या संभरण के साथ माँग की भारी खाई को पाटने के लिए दाम में उग्र और सहसा परिवर्तन लाने के लिए विवश करता, उसी को समाजवाद के अधीन उन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दामों में थोड़े और क्रमिक परिवर्तन के रूप में ऋजु बनाया जा सकता है।

व्यक्ति की चुनाव आजादी पर समाजवादी दाम-व्यवस्था का प्रभाव

मूल कठिनाई यह है कि समाजवाद के अधीन दाम-व्यवस्था में जो आभासी ऋजुता, कार्यकुशलता और लचक दिखाई देती है, वह ऊपरी है। पूँजीवाद के अधीन खुले बाजार में संभरण और माँग की खाई पाटने के लिए जो दाम समंजन किए जाते हैं, उनकी जगह अब नियंत्रित बाजार भाव रखे जाते हैं और समंजन को जबर्दस्ती अन्यत्र रखा जाता है। यह 'अन्यत्र' प्रथमतः उपभोक्ता और व्यावसायिक चुनाव के क्षेत्र में होता है। स्वतंत्र रूप से काम करने वाले उपभोक्ता और कामगरों के जो निर्णय खुले बाजार में दाम के उतार-चढ़ाव पर विंबित होते हैं और उनको समन्वित

करते हैं, उनकी जगह पर समाजवादी कुछ सामाजिक दृष्टि से वांछनीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दाम-संबंधी निर्णयों को रख देते हैं। इन अंतिम लक्ष्यों से कुछ जरूरी निर्णय किए जाते हैं, जो मनमाने दाम-संबंधी निर्णयों के अस्तित्व के कारण ही उपभोक्ता या कामगरों या दोनों को अपने ऊपर लादे गए लगते हैं।

इस बात को कुछ दूसरे रूप में कहा जाए, तो पूँजीवादी अर्थतंत्र में जहाँ उपभोक्ताओं और कामगरों के चुनाव बहुत कुछ अंतिम निर्णायक तत्त्व होते हैं और खुले बाजार के उन दामों को रूप देते हैं, जो आर्थिक प्रक्रियाओं का नियंत्रण करते हैं, वहीं समाजवाद चुने हुए सामाजिक लक्ष्यों को अंतिम निर्णायक तत्त्व मान कर चलता है और उत्पादक या उपभोक्ता पदार्थों या दोनों के घटकों के दाम इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तय करता है। इसलिए समाजवाद के अधीन उपभोक्ता और कामगर को (या हर व्यक्ति को एक जगह पर उपभोक्ता के रूप में और दूसरी जगह पर कामगर के रूप में) अपने निर्णयों को चुने गए अंतिम निर्णायक तत्त्वों सामाजिक लक्ष्यों के अनुकूल चलना पड़ता है।

समाजवाद में बुनियादी असंगति

बिलकुल नैतिक दृष्टिकोण से यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि व्यक्तियों के निर्णयों से शुरू करके और पद्धति को स्पर्धी दाम-प्रक्रिया के जरिए तदनुकूल चलने देना इसकी अपेक्षा ज्यादा अच्छा या बुरा है कि पूरी पद्धति को क्या करना चाहिए और फिर नियंत्रित दाम-प्रक्रिया द्वारा यह घोषित किया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति को क्या भूमिका अदा करनी चाहिए। प्रमुख बात यह है कि समाजीकृत अर्थतंत्र विशद सामाजिक लक्ष्य के आवश्यक चुनाव और उस लक्ष्य के लिए मनमाने दाम तय करने के साथ-साथ तब तक विद्यमान नहीं रह सकता, जब तक वह या तो उपभोक्ता के चुनाव की आजादी के साथ या व्यावसायिक चुनाव की आजादी के साथ या दोनों के साथ काफी मात्रा में हस्तक्षेप न करे। अगर विशद लक्ष्य चुने जाते हैं, तो व्यक्तियों के कार्य भी तदनुकूल ही होने चाहिए। दूसरी ओर अगर व्यक्तियों के चुनाव को स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है, तो विशद प्रतिफलों का निर्णय उनके द्वारा किया जा सकेगा।

पूँजीवादी व्यवस्था में वास्तविक आर्थिक आयोजना के समर्थक व्यक्ति के कार्य-स्वातंत्र्य और चुने हुए आर्थिक लक्ष्यों के असंभव समुच्चय का समर्थन करने की गलती करते हैं। इसी तरह समाजवादी भी उतनी ही गलती करते हैं, जब वे सामाजिक स्वामित्व और हमारे अर्थतंत्र के आयोजित संचालन की बात व्यक्ति की चुनाव

की आजादी में बुनियादी तौर पर हस्तक्षेप किए बिना चलाने का समर्थन करते हैं। दोनों ही वर्गों के समर्थक एक असंभव प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं।

समाजवाद की द्विधा

स्पष्ट है कि समाजवादियों ने इस बुनियादी मसले को पूरी तरह समझा नहीं है या उन्होंने उसे टाल दिया है। प्रत्यक्ष है कि यह उत्तर देना अपर्याप्त है कि पूँजीवाद के अधीन न तो उपभोक्ताओं को और न कामगरों को एक अमूर्त्त रूप में अपने द्वारा चाहे गए फैसले करने की पूरी-पूरी आजादी होती है। यह बताया जाता है कि आज उपभोक्ताओं के निर्णयों पर आय की असमानताओं, उपभोक्ता के अज्ञान और चतुराई वाले विज्ञापनों का प्रभाव पड़ता है। व्यावसायिक चुनावों पर अवसर प्रशिक्षण पाने में असमर्थता का प्रभाव पड़ता है और व्यावसायिक संभाव्यताओं के बारे में गलत या अज्ञानपूर्ण विचार रखने का। यह तर्क इस बात को कह कर मूल मसले को और भी झमेले में डाल देता है कि पूँजीवाद आय जिस परिवेश में काम कर रहा है, वह व्यक्ति के चुनाव की आजादी पर कुछ बंधन लगा देता है। दूसरी ओर समाजवादी को अपने मामले की प्रकृति के कारण ही समाजवाद की निरूढ़ प्रकृति की तुलना में पूँजीवादी प्रणाली की निरूढ़ प्रकृति को लेना पड़ता है।

जब इस मसले को इस स्तर पर रखा जाता है, तो यह बात बड़ी साफ हो जाती है कि पूँजीवाद निरूढ़ रूप से व्यक्ति के चुनाव पर हमारे अर्थतंत्र के संचालन में एक निदेशक तत्त्व के रूप में, निरूढ़ रूप से आग्रह करता है जबकि समाजवाद विशद् लक्ष्यों पर निदेशक और नियंत्रक तत्त्वों के रूप में जोर देता है। यह बात नैतिक दृष्टि से अच्छी हो सकती है कि हमारे तंत्र का स्वामित्व और संचालन समाज के हाथ में हो, ताकि ये विशद् सामाजिक लक्ष्य हमारे आर्थिक कार्यकलाप पर हावी हो सकें। अगर हम इस बारे में समाजवाद की आयोजना के अनुसार चलते हैं, तो हमें पूँजीवाद के अधीन चलने वाली व्यक्ति के चुनाव की कुछ बुनियादी आजादी में फलस्वरूप और निरूढ़ रूप से जरूरी कुछ फेरबदल करने होंगे। वास्तविक जीवन में भले ही यह काफी शर्तों से बँधी हो, फिर भी चूँकि उन लोगों द्वारा स्पष्ट ही इस आजादी को काफी महत्त्व दिया जाता है जिनके लिए समाजवाद नई प्रणाली प्रस्तुत कर रहा है। इसलिए ठोस और संगत बनने के लिए समाजवाद के कार्यक्रम को यह वचन देना खत्म करना होगा कि समाजवाद के अधीन व्यक्ति की आर्थिक आजादी जारी रहेगी और बढ़ जाएगी अथवा उनको सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित करना होगा कि एक समाजीकृत अर्थतंत्र में उस आजादी को किस तरह सुरक्षित रखा जा सकेगा। आर्थिक समाजवाद इन दोनों में से एक भी बात नहीं कर पाया है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. अनेक ऊपरी आलोचनाएँ, जो निरंतर समाजवाद के विरुद्ध की जाती हैं, उनके बारे में आपका क्या ख्याल है ?

२. क्या जब तक पूँजीवादी अर्थतंत्र विद्यमान है, समाजवाद सैद्धांतिक की अपेक्षा कुछ और भी हो सकता है ?

३. किस परीक्षण द्वारा समाजवाद के प्रस्तावकों की सत्यनिष्ठा प्रमाणित या अप्रमाणित करना संभव हो सकेगा ? क्या यह परीक्षण तब तक संभव है, जब तक पूँजीवादी अर्थतंत्र चल रहा है ?

४. क्या यह बात ही समाजवाद को लाने के तर्कों का सारतः समाधान कर देती है कि पूँजीवाद के अधीन आर्थिक प्रगति की गई है ?

५. समाजवाद के आलोचक समाजवादी अर्थतंत्र के अधीन बेईमानी और रिश्वत की संभावनाओं की चर्चा करते समय आमतौर पर क्या गलती करते हैं ?

६. क्या इस बात की कोई पक्की गारंटी है कि समाजवाद के अधीन उच्च पद धारी व्यक्ति अपनी शक्तियों का उपयोग अपने निजी स्वार्थों के लिए नहीं करेंगे ? क्या समाजवाद इस बारे में घातक रूप से दुर्बल नहीं है ?

७. पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की दाम तय करने की प्रक्रिया और समाजवादी दाम-प्रक्रिया के बीच का बुनियादी अंतर स्पष्ट करें।

८. क्या प्रश्न ७ में जिस अंतर का उल्लेख किया गया है, वह इस तरह का है कि उसका उद्धेदन किया जा सके, अथवा यह पूँजीवाद के और समाजवाद के स्वरूप में ही निरूढ़ है ?

९. प्रश्न ७ में उल्लिखित अंतर का कामगरों और उपभोक्ताओं के लिए क्या महत्त्व है ?

१०. क्या अपने आयोजना अभिकरणों के जरिए एक समाजीकृत अर्थतंत्र जानबूझ कर संसाधनों के उसी आवंटन को उनके विभिन्न संभव उपयोगों में लगा सकता है जैसाकि निर्वैयक्तिक बाजार प्रक्रियाओं द्वारा समाजवाद में किया जाता है ?

११. क्या एक समाजीकृत अर्थतंत्र में स्पर्धी दाम-निर्धारण और संसाधनों का आबंटन स्वतंत्र और स्पर्धी कारबार की ऐसी इकाइयां पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है, जो सभी ही समाज के स्वामित्व में होंगी ?

१२. समाजवाद के अधीन व्याज-दरें मनमाने रूप से क्यों तय की जानी चाहिए ? इसका महत्त्व क्या है ?

भाग ४ के लिए छात्र प्रतिवेदन के विषय

१. अमेरिकी साम्यवादी और समाजवादी दलों के सबसे ताजे मंचों की तुलना ।

२. संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्यवादी दल का 'तृतीय अंतर्राष्ट्रीय' और मास्को के साथ संबंध ।

३. संयुक्त राज्य अमेरिका के समाजवादी दल की वर्त्तमान स्थिति ।

४. अमेरिकी समाज में यूनीज वी० डैब्स का स्थान ।

५. अमेरिकी साम्यवादी और समाजवादी दलों की श्रम-संगठन नीतियां ।

६. समाजवाद और साम्यवाद के प्रति देशभक्त संगठनों का रुख (जैसे अमेरिकी क्रांति-पुत्रियाँ और अमेरिका के देशभक्त पुत्रों की शृंखला)।

७. पहले और दूसरे द्वितीय विश्व-युद्धों में अमेरिका के भाग लेने के बारे में अमेरिकी समाजवादी दल का रुख ।

८. हाल के वर्षों में अमेरिकी समाजवादी और साम्यवादी दलों की राजनीतिक शक्ति में परिवर्तन ।

९. अमेरिकी समाजवादी और साम्यवादी दलों की आर्थिक शक्ति और उनको पैसा मिलने के स्रोत ।

१०. १९५१ ई० में समाजवादी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन को संगठित करने से संबंधित कठिनाइयाँ ।

११. कोमिन फौर्म का इतिहास ।

१२. समाजवादी अंतर्राष्ट्रीय की वर्त्तमान स्थिति और कार्यकलाप ।

१३. पश्चिमी यूरोप के सामाजिक प्रजातांत्रिक दलों के कार्यक्रमों में हाल में हुए परिवर्तन ।

१४. जापान में समाजवाद की स्थिति ।

१५ संयुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवादियों और साम्यवादी दल की वैध स्थिति के बारे में हाल के उच्चतम न्यायालय के निर्णय ।

१६. संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनीतिक पुनः शृंखला की संभावनाएँ, जो समाजवादी दल को पुनर्जीवित कर सकेगी ।

भाग चार के लिए आगे अध्ययन के सुझाव

कोल, जी० डी० एच०, दि सेकेण्ड इंटरनेशनल, लंदन, मैकमिलन १९५६।
कोल, जी० डी० एच०, सोशलिस्ट इकोनॉमिक्स, लंदन, गौलेंज, १९५०।
क्रौसलैंड, सी० ए० आर०, दि फ्यूचर ऑफ सोशलिज्म, लंदन, केप, १९५६।

डिकिंसन एच० डी०, इकोनॉमिक्स ऑफ सोशलिज्म, लंदन,रूटलेज और पौल, १९५५ ।

ड्रैपर, टी०, अमेरिकन कम्यूनिज्म ऐंड सोवियत रशा, न्यूयार्क, वाइकिंग, १९६० ।

ईस्टमेन एम०, रिफ्लेक्शन ऑन दि फेल्योर ऑफ सोशलिज्म, न्यूयार्क, दे विन एडेयर, १९५५ ।

एगवर्ट, डी० डी० और परसंस, एस०, संपादित, सोशलिज्म ऐंड अमेरिकन लाइफ, प्रिसटन, प्रिसटन यूनिवर्सिटी, प्रेस, १९५२ ।

हायेक, एफ० ए० वान्, इंडिविजुयलिज्म ऐंड इकोनॉमिक आॅर्डर, शिकागो, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८ ।

अध्याय चार, दि यूज आंफ नॉलेज इन सोसाइटी, अध्याय आठ, सोशलिज्म कैलकुलेशन : दि कम्पीटिटिव सोल्यूशन

हायेक, एफ० ए० वान्, संपादित, कलैक्टिविस्ट इकोनॉमिक प्लानिंग, लंदन, रूटलेज, १९३५ ।

हायेक एफ० ए० वान्, दि रोड टू सर्फडम, शिकागो, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४४ ।

होफ, टी० जे० बी०, इकोनॉमिक कैलकुलेशन इन दि सोशलिस्ट सोसाइटी, लंदन हौज, १९४९ ।

लॉग ओ० और टेलर एफ० एम०, लिपिन कौट, बी० ई० द्वारा संपादित, 'ऑन दि इकोनॉमिक थ्योरी ऑफ सोशलिज्म' में मिनिआपौलिस, मिनेसोटा यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३८ ।

लंडौर, सी० और अन्य, यूरोपियन सोशलिज्म, वर्कले, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९, २ जिल्दों में ।

लर्नर ए० पी०, दि इकोनॉमिक्स ऑफ कंट्रोल, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९४४ ।

माएसेस एल० वान्, सोशलिज्म-ऐन इकोनॉमिक ऐंड सोस्योलॉजिकल एनेलेसेस, न्यू हैवन, एल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१ ।

रिग्नानो ई०, दि सोशल सिग्निफिकेंस ऑफ दि इनहेरिटेंस टैक्स न्यूयार्क, नौफ १९२४ ।

सैपौस, डी० जे० कम्यूमिज्म इन अमेरिकन पालिटिक्स, वाशिंगटन, पब्लिक ऐफेयर्स प्रेस, १९६० ।

शैनन, डी० ए०, डिकलाइन ऑफ अमेरिकन कम्यूनिज्म, न्यूयार्क लौंगमेंस, ग्रीन, १९५९।

शैनन, डी० ए०, दि सोशलिस्ट ऑफ अमेरिका ए हिस्ट्री, न्यू यार्क मैकमिलन, १९५५।

स्वीजी पी० एम०, सोशलिज्म, न्यूयार्क, मैकग्राहिल, १९४९।

वूटन, बी०, फ्रीडम अंडर प्लानिंग, चैपेल हिल, यूनिवर्सिटी ऑफ नार्थ कैरोलिना प्रेस, १९४५।

भाग ५
ब्रिटिश समाजवाद

अध्याय १९

लेबर दल : वित्त का राष्ट्रीयकरण

ब्रिटिश लेबर दल

इतिहास

लंदन में सन् १९०० ई० में समाजवादी गुटों और मजदूर संघों के सम्मेलन ने 'श्रम प्रतिनिधि समिति' का निर्माण किया; जो लेबर दल का पूर्व रूप था। इसका उद्देश्य था : "संसद् में एक भिन्न लेबर गुट की स्थापना करना, जिसके अपने निज के सचेतक होंगे और जो अपनी नीति अलग बनाएगा। यह नीति ऐसे प्रत्येक दल के साथ तुरंत सहयोग करने की होगी, जो श्रमिकों के सीधे हित में उस समय कोई विधान बनाने में संलग्न होगा।[1]" इस तरह समिति के लक्ष्य शुरू में निश्चित रूप से समाजवादी न थे। फिर भी फैबियन समाजवादी उसके संस्थापकों में थे और क्रमशः इस संगठन ने इनके समाजवादी लक्ष्यों को आत्मसात् कर लिया।[2] १९०६ ई० तक समिति का नाम बदलकर ब्रिटिश लेबर दल हो गया था। उस साल के आम चुनाव में कुछ जगहों पर उसकी जीत भी हुई कि और यह निर्वाचकों के सामने विकासशील समाजवाद के समर्थक के रूप में आया था। उस समय से लेकर पहले महायुद्ध तक दल अपने संगठन को सुदृढ़ करने का प्रयास करता रहा। वह १९१८ ई० तक

---

[1] सममेलन द्वारा स्वीकार किए गए संकल्प में से, ब्रितानी विवश्कोष जिल्द १३, पृष्ठ ५५४।

[2] फैबियन क्रमिक विकासशील समाजवाद के समर्थक थे और निर्वाचकों को समाजवादी तरीके अपनाने की शिक्षा देने की जरूरत पर जोर देते थे; क्योंकि उनके तर्क बड़े ही ठोस थे। फैबियनवाद के संक्षिप्त इतिहास के लिए देखिए हैरी डब्ल्यू० लेडलर का सोशल इकोनॉमिक मूवमेंट्स, न्यूयार्क क्रोवेल, १९४४, पृष्ठ १८४-२२२।

समाजवादियों और मजदूर संगठनों का संघ बना रहा और तब उसकी सदस्यता व्यक्तियों के लिए खोल दी गई। इसके घोषणापत्र 'श्रम और नई समाजवादी व्यवस्था (सन् १९१८)' में इस दल को पूरी तरह से समाजवादी राजनीतिक दल कहा गया था और आज तक यह वैसा ही बना हुआ है; क्योंकि अनेक ऐसे व्यक्ति इसमें शामिल हैं, जो कट्टर सैद्धांतिक समाजवादी नहीं हैं; क्योकि वे इसके तत्कालीन कार्यक्रम को पसंद करते हैं।

१९१३ ई० तक लेबर दल को संसद् में थोड़ा ही (५२ सदस्य) प्रतिनिधित्व मिला हुआ था। चूँकि दल का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व धुरंधर शांतिवादी था, इसलिए पहला महायुद्ध शुरू होने पर मजबूरी से उसे इन दो बातों के बीच से चुनाव करना पड़ा कि ब्रिटेन के युद्ध-प्रयासों का विरोध किया जाए या उनमें हिस्सा लिया जाए। नीति में असहमति के फलस्वरूप उसके कुछ नेताओं ने इस्तीफा दे दिया, तथापि दल ने आगे चलकर युद्ध-प्रयासों में मदद दी और युद्ध के अंत तक वह मिली-जुली सरकार में शामिल रहा और तब फिर वह एक स्वतंत्र दल के रूप में अलग हो गया। संसद् में चुने गए उम्मीदवारों के रूप में अगर दल की शक्ति को नापा जाए तो वह सन् १९१८, १९२२ और १९२३ ई० के चुनावों में बढ़ती रही। अंतिम साल में उनके चुने हुए सदस्य (१९१) लिबरलों से ज्यादा हो गए और जब एक बड़े मसले को लेकर जनवरी, १९२४ में कंजरवेटिव सरकार की हार हो गई, तो पहली लेबरदलीय सरकार बनी। तथापि लेबर सरकार की स्थिति बड़ी ही कमजोर थी। हाउस ऑफ कामन्स के एक तिहाई से भी कम सदस्य लेबर दल के प्रतिनिधि थे, इसलिए उसे पदारूढ़ रहने के लिए लिबरलों के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। जब लिबरलों और कंजरवेटिवों दोनों ने सरकार द्वारा सोवियत संघ के साथ की गई दो संधियों को मंजूर करने से इन्कार कर दिया, तो आम चुनाव करना पड़ा। केवल १५१ सदस्य लेबर दल से चुनकर संसद् में आए और एक साल से कम समय तक अप्रभावी शासन चलाने के बाद लेबर दल ने नवंबर में इस्तीफा दे दिया।

लेबर दल की दूसरी सरकार कुछ ज्यादा समय तक रही, पर वह भी बहुत ज्यादा सफल नहीं हुई। १९२९ ई० के आम चुनाव में लेबर दल के २८७ सदस्य चुन कर हाउस ऑफ कामन्स में आए और इसे सबसे बड़ा दल बना दिया। लेकिन, निरपेक्ष बहुमत अब भी न मिला था। इसके कार्यक्रम में ये बातें थीं : गृह-व्यवस्था में सुधार, शिक्षा में सुधार, पूरा रोजगार, यूरोप में स्थायी शांति और जर्मन-युद्ध क्षतिपूर्ति समस्याओं का का समाधान।[1] इन समस्याओं का सामना करने में दल "हिचकिचाहट

---

[1] इसका सारांश मार्गरेट कौल द्वारा दि पॅटिओॅक रिव्यू, ग्रीष्म, १९४६, पृष्ठ १७२ में दिया गया है।

और अनिश्चय' वाला सिद्ध हुआ। उसमें उसकी "४० साल पुरानी हीनता ग्रंथि बनी रही, यह अंधविश्वास बना रहा कि श्रमिक अभी तक वस्तुतः शासन चलाने के योग्य नहीं हैं और वित्त तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दो महत्त्वपूर्ण और मुश्किल समस्याओं का हल नहीं कर सकते।"[1] १९३० ई० के बाद शुरू के वर्षों में आई हुई मंदी ने लेबर दल को पदच्युत कर दिया। वह निर्वाचकों को मंदी के दौरान बड़ी आर्थिक समस्याओं का समाधान करने की अपनी योग्यता के बारे में विश्वास न दिला सका था। १९३१ ई० के आम चुनाव में लेबर दल की हार के बाद उस दशक में उसकी हालत 'विभ्रम और विवाद' से ओतप्रोत रही।

फिर युद्ध शुरू होने पर वही प्रश्न उठा कि लेबर दल का रवैया क्या होना चाहिए। फिर वही निर्णय लिया गया कि मिली-जुली युद्ध सरकार में हिस्सा लिया जाए और चर्चिल की युद्धकालीन कैबिनेट में अनेक मुश्किल स्थान लेबर दल के मंत्रियों के हाथ में रहे। युद्धकाल में राजनीतिक शांति बनी रही, लेकिन १९४३ ई० के बाद से लेबर दल युद्धोत्तर नीति तैयार न करने के लिए सरकार की ज्यादा आलोचना करने लगा। युद्धकाल में स्वतंत्र लेबर दल के हाथ में, जो लेबर दल के संगठन का एक अंग था, लेबर दल के कार्यक्रम के समाजवादी अंश को दिशा देने और सुदृढ़ बनाने में काफी प्रभाव बना रहा। दल के १९४४ ई० के सम्मेलन में यह तय किया गया कि सन् १९४५ के आम चुनाव में उसके उम्मीदवार एक स्वतंत्र दल के प्रतिनिधियों के रूप में खड़े होंगे, इसलिए मई, १९४५ में युद्ध का यूरोपीय चरण पूरा होने पर चर्चिल कैबिनेट के लेबर सदस्य अलग हो गए और राजनीतिक शांति खत्म हो गई। जुलाई, १९४५ के आम चुनावों में लेबर दल की भारी जीत हुई और उसे कंजरवेटिव दल को प्राप्त एक करोड़ मतों तथा लिबरलों को प्राप्त २२ लाख मतों की तुलना में १२० लाख मत प्राप्त हुए। हाउस ऑफ कामन्स के ६४० सदस्यों में उनके ३९३ सदस्य चुने गए। ब्रिटिश निर्वाचकों ने राष्ट्र का तत्कालीन भविष्य लेबर दल को सौंप दिया। १९४५ ई० में लेबर दल ने पद भार सँभाला और यह देश में सघन आर्थिक परिवर्तनों की पचवर्षीय अवधि का आरंभ था। इसमें कोयला, बिजली, गैस, अंतर्देशीय परिवहन, नागर बिमानन और इस्पात-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सन् १९५० के आम चुनाव में लेबर दल की फिर जीत हुई, लेकिन अबकी बार हाउस ऑफ कामन्स की कुल ६२५ जगहों में से उसे कुल ३१५ जगहें मिली थीं।

सन् १९५१ ई० और १९५५ का आमचुनाव

अवटूबर, १९५१ के आम चुनावों में लेबर सरकार को हालांकि कुल मतों का

---

[1] वही।

ज्यादा हिस्सा (४८·७ प्रतिशत) कंजरवेटिव दल की तुलना (४८·१ प्रतिशत) में मिला था, तथापि उसे पद छोड़ना पड़ा। ये ज्यादा प्रतिशत इस कारण थे कि लेबर दल का बहुमत कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में केंद्रित था, जबकि कंजरवेटिव दल का बहुमत कम था, पर काफी बिखरा हुआ था। हाउस ऑफ कामन्स में कंजरवेटिवों को ३२१ जगहें मिलीं, लेबर दल वालों को २९५, लिबरलों को ६ तथा निर्दलीय सदस्यों को ३ और इस तरह कंजरवेटिव दल को बाकी सब दलों की मिली-जुली संख्या के ऊपर १७ का बहुमत प्राप्त हो गया। इस छोटे से बहुमत ने यह स्पष्ट कर दिया कि निर्वाचक कंजरवेटिव दल के हाथ में बागडोर सौंपने और लेबर दल को पदासीन बनाए रखने के प्रश्न को लेकर आपस में करीब-करीब बराबर ही बँटे हुए थे।

१९५१ ई० में विंस्टन चर्चिल के नेतृत्व में कंजरवेटिव दल की जीत हुई। लेकिन, सन् १९४५ से १९५१ की पदावधि में लेबर दल की सरकार ने ब्रिटिश उद्योगों के जिन महत्त्वपूर्ण खंडों का समाजीकरण किया था, उनमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जा सका। वास्तव में अपने चुनाव आंदोलन में कंजरवेटिवों ने कोई भारी पलट करने की प्रतिज्ञा भी नहीं की थी। अपने १९५१ ई० के चुनाव घोषणापत्र में उन्होंने कहा था कि "एक ऐसे द्वीप पर सैद्धांतिक समाजवाद लाद देने के प्रयास ने हमारी शक्ति और समृद्धि पर भारी चोट पहुँचायी, जो अपने अवाध उपक्रम के कारण महान् और प्रसिद्ध बना था" और यह कि "राष्ट्रीयकरण असफल सिद्ध हुआ है।" उसने अपने समाजवादी लक्ष्य को साधने के लिए लेबर दल पर 'वर्ग-घृणा फैलाने' का इल्जाम लगाया। हालांकि घोपणापत्र में कंजरवेटिवों ने प्रतिज्ञा की थी कि 'आगे सभी राष्ट्रीयकरण रोक दिया जाएगा,' 'इस्पात और लोहा-उद्योग का विराष्ट्रीयकरण किया जाएगा (जो ताजा राष्ट्रीयकृत उद्योग था),' निजी उपक्रम को थोड़ी दूरी तक ट्रकों से अवाध माल ले जाने दिया जाएगा' और 'राष्ट्रीयकृत रेलवे और कोयला-उद्योगों में प्रबंध का 'विकेंद्रीयकरण' किया जाएगा। लेकिन, ये प्रस्ताव लेबर सरकार द्वारा १९४५ से १९५१ ई० तक उठाए गए बड़े कदमों की तुलना में समाजीकरण की धारा को पलटने के बड़े ही मामूली कदम थे। मई, १९५५ के आम चुनाव में कंजरवेटिव दल ने एंथनी ईडन के नेतृत्व में हाउस ऑफ कामन्स में अपना बहुमत बढ़ा कर कुल सदस्य संख्या ३४५ कर ली, जबकि लेबर दल के २७७ सदस्य थे। कंजरवेटिव उम्मीदवारों को लोकमत का अधिकांश (४९·८ प्रतिशत) मिला, जबकि लेबर दल वालों को अल्प मत (४६·४ प्रतिशत)। १९५१ ई० में सरकार में वापस आने के बाद पहली बार कंजरवेटिव दल को हाउस ऑफ कामन्स ने 'कामचलाऊ' बहुमत मिला। कंजरवेटिवों की जीत चुनाव आंदोलन में दी गई इस प्रतिज्ञा के आधार पर हुई, जिसमें ब्रिटेन में आई हुई समृद्धि को जारी रखने की बात कही गई थी। निर्वाचक लेबर

दल की इस बात से प्रभावित नहीं हुए थे कि देश में भविष्य में मंदी और बेरोजगार आने वाला है, जिसको राष्ट्रीय आयोजन और नियंत्रण द्वारा ही रोका जा सकता है। लेबर दल ने अपने चुनाव घोषणापत्र 'लेबर दल के साथ आगे' में राष्ट्रहित में जरूरी दूसरे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की प्रतिज्ञा की थी और सुझाया था कि रसायन-उद्योगों के कुछ हिस्से, मशीन टूल उद्योग और जल-संभरण-उद्योग राष्ट्रीयकरण के लिए परिपक्व हो गए हैं। इसने यह भी प्रस्ताव किया कि स्थानीय सरकारों को क्रमशः कुछ निजी स्वामित्व वाली गृह-व्यवस्था सुविधाओं को खरीद लेना चाहिए, उनको आधुनिक बनाना चाहिए और उनको उनमें रहने वालों को किराए पर दे देना चाहिए। उसने इस्पात-उद्योग और दूर-दूर तक ट्रकों में माल लादने के उद्योग का पुनः राष्ट्रीयकरण भी प्रभावित किया था, जिन उद्योगों में उस समय पदासीन कंजरवेटिव सरकार विराष्ट्रीयकरण के उपाय चालू कर रही थी। कंजरवेटिव दल ने और किसी विराष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव नहीं दिया था। अपने चुनाव-आंदोलन को चलाने में लेबर दल की हालत इस कारण भी कमजोर पड़ी कि उसका बामपंथी हिस्सा तेजी से उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम चलाने की वकालत कर रहा था—जो एक ऐसा प्रस्ताव था, जिसे उस समय की समृद्ध आर्थिक स्थिति में जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था।

१९५९ ई० का आम चुनाव

१९५९ ई० का आम चुनाव लेबर दल के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। १९५० में उसे मामूली सी विजय हुई थी। १९५१ ई० में कंजरवेटिव दल के थोड़े से बहुमत ने हाउस ऑफ कामन्स का नियंत्रण सँभालते हुए इसे पदच्युत कर दिया था और १९५५ ई० में कंजरवेटिवों का वह बहुमत बढ़ गया था। इतिहास की दृष्टि से १९वीं सदी के बाद १९५५ ई० में ही पहली बार ब्रिटेन में ऐसा हुआ था कि वहाँ की वर्त्तमान दल प्रणाली सुस्थापित हो गई थी और पूरी पदावधि तक (५ साल तक) पदासीन रहने वाले दल ने आम चुनाव में ज्यादा जगहें हासिल की थीं। १९५९ ई० में लेबर दल की करारी हार हुई। कुल डाले गए मतों में उसका हिस्सा १९५५ ई० में ४६·४ था, जो अब कम होकर ४३·८ ही रह गया। कंजरवेटिव दल ने सन् १९५५ में कुल हिस्से में से अपना थोड़ा-सा ही प्रतिशत गँवाया था, और कम-से कम अस्थायी रूप से लिबरल दल को पुनर्जीवन मिला था, पर अब उसने हाउस ऑफ कामन्स में अपनी जगहें लेबर दल की संख्या से १०७ ज्यादा बढ़ा लीं या सभी विरोधी दलों की मिली-जुली शक्ति से यह संख्या १०० ज्यादा थी, जो बड़ा सुरक्षित बहुमत था और इस तरह उसने लेबर दल को तेजी से कम होते जाने वाली अल्पसंख्यक स्थिति में पहुँचा दिया। १९४५ में अपनी विजय के बाद चौथी बार लेबर दल का हाउस ऑफ कामन्स में

प्रतिनिधित्व काफी गिरता गया था और अब उसकी संख्या १९४५ की संख्या की तुलना में दो-तिहाई हिस्से तक गिर गई थी।

१९५९ ई० के चुनाव से काफी पहले निर्वाचकों के निकट अगले आम चुनाव के लिए अपने आकर्षण की इस गिरती हुई स्थिति से लेबर दल परिचित हो गया था। नेताओं को संदेह था कि उद्योग के क्रमिक राष्ट्रीयकरण की वकालत, जिसे उन्होंने आधे दिल से १९५५ ई० के चुनाव में बनाए रखा था, तेजी से मतदाताओं के लिए राजनीतिक दृष्टि से कम आकर्षक होती जा रही है। ब्रिटेन अपेक्षतया समृद्धि के युग में था, केवल कोयला-खनन और वस्त्र-उद्योग जैसे कुछ पुराने उद्योगों को छोड़कर। कुछ नए उद्योग क्षेत्र तेजी से विकसित हुए थे और अपेक्षतया संपन्न औद्योगिक कामगरों की आवादी बढ़ गई थी, जिसे समाजवाद की दिशा में स्थूल परिवर्तन में ज्यादा दिलचस्पी न थी। तथापि लेबर दल अब भी उस दिशा में आर्थिक परिवर्तन के लिए वचनवद्ध बना रहा। लेवर दल के संविधान का खंड ४ उस रूप में बना रहा, जैसाकि वह १९१८ ई० में लिखा गया था, जिसमें बताया गया था कि उस दल की नीति थी: "हाथ या दिमाग से उत्पादन करने वालों के लिए उनके अध्यवसाय का पूरा प्रतिफल दिलाना और उसका बड़ा ही समन्यायपूर्ण वितरण कराना, जो उत्पादन साधनों के सर्व समान स्वामित्व के आधार पर तथा लोकप्रिय प्रशासन एवं प्रत्येक उद्योग और सेवा के ऊपर नियंत्रण की सर्वोत्तम उपलब्ध प्रणाली से संभव हो सकता है।" 'उत्पादन साधनों का सर्व समान स्वामित्व' का हमेशा यही मतलब लगाया गया है कि सरकार द्वारा या उसके किसी अंग द्वारा स्वामित्व प्राप्त करना।

दल के भीतर इस बात को लेकर काफी चर्चा हुई कि अगले चुनाव में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कितनी मात्रा में आग्रह किया जाए। अंत में १९५९ ई० के चुनाव-आंदोलन में वह नीचे लिखे राष्ट्रीयकरण के अधिकृत कार्यक्रम के साथ मैदान में उतरा: (१) इस्पात-उद्योग का पुनः राष्ट्रीयकरण (जिसे लेबर सरकार ने १९५१ ई० में राष्ट्रीयकृत किया था और कंजरवेटिव सरकार ने १९५३ में पास किए गए एक अधिनियम के जरिए विराष्ट्रीयकृत कर दिया था), (२) दूर-दूर तक ट्रकों से माल लादनेवाली कंपनियों का पुनः राष्ट्रीयकरण (जिसका अंतर्देशीय परिवहन प्रणाली का बाकी चीजों के साथ १९४७ ई० में राष्ट्रीयकरण किया गया था और जिनका १९५३ में पास हुए एक अधिनियम के जरिए विराष्ट्रीयकरण कर दिया गया था, (३) पूरी जाँच के वाद ऐसे किसी भी उद्योग के राष्ट्रीयकरण करने का अधिकार सुरक्षित होना, जो राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को पूरा नहीं कर रहा था, और (४) राष्ट्रीय समाज सुरक्षा प्रणाली में सुधार, जिससे बुढ़ापे के लाभ के लिए रिजर्व बनाने की एक नई योजना की व्यवस्था की जा सके और इन रिजर्वों का सुस्थापित ब्रिटिश

उद्योगों के समान स्कंध शेयर खरीदने में इस्तेमाल किया जाए। पिछले को किसी भी उद्योग में समन्याय नियंत्रण प्राप्त करने का फुटकर तरीका कह कर दोषपूर्ण ठहराया गया और यह सरकार को बहुत से निगमों में स्टॉक का स्वामित्व रखने वाले रिश्ते को कायम कर देता। दल ने फिर भी इन राष्ट्रीयकरण प्रस्तावों को कोई बड़ा प्रमुख मसला नहीं बनाया। मत प्राप्त करने के लिए दिए गए भाषण और साहित्य में राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा के लाभों के विस्तार के लिए ज्यादा सरकारी खर्च करने, सामान्य उपभोग की कुछ वस्तुओं पर बिक्री-कर कम करने, मनोरंजन की कलाओं की सरकारी मदद बढ़ाने, स्टॉक बाजार पूंजी लाभ करों को ज्यादा सख्त करने, कर के प्रयोजन से घटाए जाने वाले कारबार खर्चा पर ज्यादा सावधानी से नियंत्रण रखने और रक्षा एवं निःशस्त्रीकरण नीतियों में कुछ परिवर्तन करने की दल की वकालत पर जोर दिया गया। कंजरवेटिव कार्यक्रम में और आगे विराष्ट्रीयकरण करने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई।

संगठन

ब्रिटिश लेबर दल की सदस्यता ६४ लाख से कुछ ज्यादा है, जो १९४६ ई० में उसकी सदस्यता से दूनी है। इनमें से ८५ प्रतिशत को इसलिए सदस्य माना जाता है; क्योंकि ये लोग लेबर दल से संबद्ध मजदूर संघों के सदस्य होते हैं। इस प्रकार तब तक कोई व्यक्ति लेबर दल का सदस्य नहीं बन सकता, जब तक कोई ऐसा उचित रूप से संबद्ध मजदूर संघ न हो, जिसमें शामिल होकर सदस्यता प्राप्त कर सके। ऐसे व्यक्ति कुल सदस्यता के १४ प्रतिशत के करीब होते हैं और दल के सभी संसदीय चुनाव जिलों में विद्यमान स्थानीय संगठनों में शामिल हो जाते हैं तथा इनको 'निर्वाचन क्षेत्र' सदस्य कहा जाता है। बाकी १ प्रतिशत दल के साथ संबद्ध विभिन्न समाजवादी और सहयोगी आधार पर चलने वाले संगठनों के सदस्य होते हैं। इस मिश्रण के कारण दल के सदस्य आर्थिक दर्शन के मामले में सजातीय नहीं रहते। संबद्ध फैबियन समाजवादी संगठन सैद्धांतिक प्रकार से विकासशील समाजवाद की बात करते हैं। दल के कुछ 'बामपक्षी तत्त्व' उद्योगों के तेजी से और व्यापक राष्ट्रीयकरण की ऐसी बात करते हैं, जिसे समूचे दल ने या फैबियनों ने अब तक मंजूर नहीं किया है। निर्वाचन क्षेत्र के सदस्यों में कुछ क्लर्क, छोटे कारबार वाले, दुकानदार और व्यवसायी लोग होते हैं, जिनका आर्थिक दर्शन समाजवादी की अपेक्षा ज्यादा सुधारवादी होता है। आमतौर पर मजदूर संघ के सदस्य ज्यादा रूढ़िवादी होते हैं, जबकि निर्वाचन क्षेत्र के सदस्य और संबद्ध मजदूर संघों के अल्पमत के सदस्य 'वामपक्षी' तत्त्वों को सशक्त बनाते रहते हैं।

दल के शीर्ष पर राष्ट्रीय कार्यपालिका होती है, जिसमें २५ चुने हुए सदस्य होते हैं, जो दल के वार्षिक सम्मेलन के साथ मिल कर दल की नीतियां बनाती है।

वार्षिक सम्मेलन में संबद्ध मजदूर संघों और दूसरे संगठनों तथा विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्र दल इकाइयों से आए हुए १२०० के लगभग प्रतिनिधि होते हैं। वार्षिक सम्मेलन में नीतियों पर और दल के अधिकारियों के चुनाव के लिए मतदान एक 'ब्लाक' प्रणाली पर होता है। सम्मेलन का हर प्रतिनिधि उतने मत देता है, जितने उसके संगठन के सदस्यों की सकल संख्या होती है। यह प्रणाली बड़े-बड़े मजदूर संघों के हाथ में काफी मतदान शक्ति प्रदान कर देती है। जब दल सरकार में पदासीन होता है, तो इस सम्मेलन में मंत्रिमंडल के मंत्री दल को रिपोर्ट देते हैं और प्रतिनिधि उनसे प्रश्न पूछ सकते हैं एवं उनकी आलोचना कर सकते हैं। जब दल पदारूढ़ नहीं होता, तो इस सम्मेलन में हाउस ऑफ कामन्स के दल के प्रतिनिधियों को रिपोर्ट पेश करने का यह अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे 'विरोधी दल' की नीतियों और उपायों को सोचा जा सके और उन संभाव्य समस्याओं का महल खड़ा किया जाए, जिनके आधार पर दल पुनः विजय की कामना कर सकता है।

क्या लेबर दल सचमुच समाजवादी है ?

ब्रिटिश लेबर दल को परंपरा से और व्यापक रूप से स्वरूप में 'समाजवादी' माना गया है। उसने पश्चिमी यूरोप के लोकतंत्रीय समाजवाद की संगठनात्मक कड़ी को बनाए रखा है, लेकिन इसके ज्यादा ताजे इतिहास से कुछ संदेह पैदा हो जाता है। इसकी समाजवादी दिशा कम से कम इसकी पदावधि में १९४५ से १९५१ ई० तक लेबर सरकार द्वारा पास किए गए विस्तृत राष्ट्रीयकरण कानूनों और उसी बीच पास किए गए कानूनों से स्पष्ट समाजवादी लगती है, जिनमें वित्त और निवेश पर सख्त नियंत्रण लगाए गए थे, धरती के उपयोग की सरकारी आयोजना को आगे बढ़ाया गया था और धरती की कीमत में होने वाली वृद्धि को कर के रूप में वसूल किया गया था, कृषि को राष्ट्रीय अभिदर्शन के अधीन लाया गया था, सार्वजनिक गृह-निर्माण को बढ़ाया गया था और राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा के रूप में विशाल सामाजिक चिकित्सा आयोजना को चालू किया गया था। सरकारी उद्योग-क्षेत्र में किए गए इन आर्थिक कार्यों की शृंखला की मात्रा का अंशतः पता इस बात से चलता है कि ब्रिटेन की कुल श्रमिक शक्ति का लगभग एक चौथाई हिस्सा सरकार और राष्ट्रीयकृत उद्योगों में रोजगार पा रहा है, जो १९४५ ई० के ऊपर ५० प्रतिशत की वृद्धि है। तथापि लेबर दल की पदावधि में भी कुछ दल-नेताओं ने दल का उद्देश्य अर्थतंत्र के लगभग २० प्रतिशत का ही समाजीकरण बताया था। हालांकि वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण २० प्रतिशत था, लेकिन इसने और समय-समय पर दिए गए वैसे दूसरे व्यक्तियों ने यह संदेह पैदा कर दिया कि क्या दल संसदीय अधिनियमों द्वारा एक-एक करके प्रत्येक

उद्योग या आर्थिक कृत्य का क्रमशः राष्ट्रीयकरण करते हुए अर्थतंत्र का पूरा-पूरा समाजीकरण करने के एक अंतिम लक्ष्य से गहरे रूप में वचनवद्ध है, या वह एक ऐसा 'मिश्रित' अर्थतंत्र चाहता है, जिसमें केवल कुछ बुनियादी उद्योगों का ही राष्ट्रीयकरण किया जाएगा और दूसरे उद्योग एवं कृत्य स्थायी रूप से निजी लाभ के लिए काम करने वाले निजी हितों के अधीन बने रहेंगे।

ऐसा कुछ भ्रांतिपूर्ण चित्र (पहले बताए जा चुके) उस कारण से उभरा कि लेबर दल की सदस्यता में अनेक प्रकार के दर्शन मिले हुए थे, जो विशुद्ध अर्थ में समाजवाद से लेकर केवल सामाजिक नियंत्रण और कल्याण राज्य के दृष्टिकोण तक विस्तृत थे। जिस समय १९५१ ई० के चुनाव में लेबर दल की हार हुई, उसी समय से उसके नीति-निर्माण में गुटबंदियों की झलक आने लगी। एक प्रमुख गुट के नेता स्वर्गीय एन्यूरिन बेवन थे, जो एक गतिशील और शक्तिशाली व्यक्ति थे और कभी कोयला-खान के मजदूर रह चुके थे। इस गुट का मत था कि पिछले तीन चुनावों में दल को जो बढ़-बढ़ कर हार मिलती जा रही है, उसका प्रमुख कारण यही है कि वह घोषित समाजवादी लक्ष्यों के आधार पर सीधे-सीधे जनता से अपील करने में असमर्थ रहा है। उसने सीधे-सीधे समाजवादी दर्शन और कार्यक्रम को उद्योगों का और तत्काल एवं व्यापक राष्ट्रीयकरण इस दृष्टि से करने को कि प्रत्यक्षतः एक राष्ट्रीयकृत उद्योग-क्षेत्र का लक्ष्य रखा जाए, जो अर्थतंत्र पर अभिभावी रहे, आय को और ज्यादा समान करने के लिए तेज कराधान उपायों को एवं हर दिशा में समाजवादी प्रकार से और अधिक नियंत्रणों को वरीयता दी। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के औचित्य पर अपना प्रस्ताविक कार्यक्रम आधारित करने की बजाय वह उल्टे निजी उद्योगों से यह माँग करेगा कि राष्ट्रीयकरण टालने के लिए उनको अपना औचित्य सिद्ध करना चाहिए। उसने कामगर वर्ग में चेतना जागृत करने के लिए क्रमिक किंतु दृढ़ रूप से इसे ही अपना साधन माना और इस तरह कामगर वर्ग के सारे मत प्राप्त करने का प्रस्ताव किया।

हाल के वर्षों में दूसरे प्रमुख गुट के नेता ह्यू गेटस्कल हैं, जो एक विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं। इस गुट का कहना यह है कि कुछ बुनियादी उद्योगों में व्यापक राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम पूरा कर चुकने के बाद अब जनहित में उनका कार्य कुशल संचालन विकसित करना और आगे राष्ट्रीयकरण की तुलना में ज्यादा पूर्वता दी जानी चाहिए। हाँ, जिन मामलों में निजी स्वामित्व के उद्योग स्पष्ट ही समाज के प्रति अपने कृत्यकारी दायित्वों के पालन में असफल रहे हैं, उनकी बात अलग है। अर्थात् पूर्व धारणा यह है कि तब तक निजी स्वामित्व और संचालन को

चलने दिया जाए, जब तक और आगे सरकारी स्वामित्व तथा संचालन की असली जरूरत स्पष्ट न हो जाए। यह गुट दल के राजनीतिक कार्यक्रम में राष्ट्रीयकरण को अपने-आप चलाने के आग्रह को हटा देना चाहता है। यह और आगे राष्ट्रीयकरण को कुछ लक्ष्यों की पूर्ति के लिए साधन रूप ही मानता है, अपने-आप में अवश्यमेव वाछंनीय चीज नहीं। ये लक्ष्य इस तरह के हो सकते हैं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, अच्छे मकान और आर्थिक प्रगति में अवसर की समानता को बढ़ाना। लेकिन प्रवीणता और उत्पादकता के आधार पर आय में अंतर बना रहेगा तथा व्यक्ति को उपभोग का एवं कामगर के रूप में अपना चुनाव करने की आजादी भी पूरी तरह बनी रहेगी। आगे राष्ट्रीयकरण तभी बढ़ाया जाएगा, जब किसी उद्योग को कठिनाइयों से निकालने के लिए, निजी एकाधिकार शक्ति को तोड़ने के लिए या किसी दूसरे रूप में एक अनिवार्य राष्ट्रीय हित के साधन के लिए यह जरूरी हो जाएगा।

दल के ये गुट १९५५ ई० के चुनाव के प्रयोजन से एक अशांत विराम-संधि के रूप में और १९५९ ई० के चुनाव में और भी ज्यादा अशांत विराम-संधि के रूप में निर्वाचकों के समक्ष प्रकट रूप से एक मिला-जुला मोर्चा पेश करते रहे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये केवल विराम-संधियाँ ही थीं, बुनियादी दर्शन और सिद्धांत को लेकर असली एकता की बात न थी। इससे निर्वाचक मंडल के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के ऊपर एक गहरे रूप में बँटे हुए दल की छाप पड़ी, जो चुने जाने पर प्रभावी सरकार न चला पाएगा और इस कारण ने बहुत से मतों पर प्रभाव डाला। १९५९ ई० में हुई करारी हार ने दल को एक ऐसी वेदनापूर्ण अवधि में ला पटका कि उसे ब्रिटिश निर्वाचक मंडल के सामने एक दीर्घकालीन नीति पेश करने का पुनर्निर्धारण करने के लिए विवश होना पड़ा।

१९५९ ई० के चुनाव के बाद जो विस्तृत और कटुतापूर्ण शव-परीक्षा हुई उसमें समस्या दल के संविधान के खंड ४ के आसपास आ कर अटकी, जिसमें बड़े पैमाने पर उत्पादन और विपणन के साधनों को पूरी तरह से राष्ट्रीयकृत करने की स्थायी बुनियादी प्रतिज्ञा की गई थी। प्रश्न यह उठा कि क्या इसको संशोधित-परिवर्तित करना या फिर से लिखना चाहिए, जिससे पूरे राष्ट्रीयकरण के प्रति दल की अधिकृत आसक्ति के कारण जो प्रत्यक्ष राजनीतिक अड़चन आ खड़ी हुई है, उसे मान्यता दी जा सके? यह समस्या प्रखर रूप से चुनाव के तुरंत बाद १९५९ ई० में हुए दल के सम्मेलन में सामने आई। १९५५ और १९५९ ई० की विराम-संधियों में हमेशा ही रहे दल के अधिकृत प्रमुख नेता श्री गेटस्कल ने प्रस्ताव किया कि खंड ४ को 'आधुनिकीकृत' करने के लिए संशोधित या परिवर्तित कर देना चाहिए, जिससे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण स्वयं एक लक्ष्य की जगह उक साधन माना जा सके और यह स्पष्ट कर दिया

जाना चाहिए कि दल दलित, पीड़ित और जरूरतमंदों का समर्थक है। उन्होंने दल के इस लक्ष्य पर आग्रह करने के लिए भी एक संशोधन पेश किया कि आय का 'समान' वितरण उत्पादकता के आधार पर हो, जन्म या विरासत के आधार पर नहीं। बड़प्पन, विशेषाधिकार या प्रतिबंधी अवरोधों से रहित वर्गहीन समाज की रचना की जाए, सामाजिक, जातिगत समानता और अंतर्राष्ट्रीय शांति के संवर्द्धन पर जोर दिया जाए; 'लोक आयोजना' जनता को निजी हितों की अपेक्षा ज्यादा ऊँचा स्थान दे, और सन् १९४५ से १९५१ तक लेबर सरकार द्वारा उद्योगों के समाजीकरण के जिन परंपरागत रूपों का उपयोग किया गया है, उनसे भिन्न दूसरे रूपों का संभव उपयोग किया जाए। सम्मेलन में तुरंत गेटस्कल की आलोचना इन बातों के लिए की गई : यह भूल जाने के लिए कि समुदाय के सभी संसाधनों के संघटन द्वारा ही अर्थात् राष्ट्रीयकरण द्वारा ही समाजवाद के लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है, दल को पश्चिम जर्मनी के सामाजिक लोकतंत्रवादियों के रास्ते पर ले जाने के लिए,[1] जो राष्ट्रीयकरण से विलग था और सड़े हुए पूँजीवादी समाज की बुराइयों से जनता को प्रबुद्ध करने से बचाना चाहता था। बेवन ने स्वयं मंच पर आकर एक उत्तेजक भाषण दिया और कहा कि दल को 'अस्थायी चुनाव पराजय' के कारण ही अपने 'सिद्धांत' नहीं छोड़ देने चाहिए। उन्होंने कहा कि दल का प्रयोजन राष्ट्रीयकरण की नीति को बदलना नहीं, बल्कि उसे और आकर्षक बनाना होना चाहिए। उन्होंने कहा : "निजी आर्थिक उपक्रम के हाथ में चीजों को छोड़ कर युक्तिसंगत व्यवस्था लाना असंभव है....तब तक हम इस राष्ट्र के आर्थिक संसाधनों का पूरी तरह से विदोहन करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकेंगे, जब तक हम एक ऐसे आयोजित अर्थतंत्र को न अपनाएँ, जिसमें अपनी पूर्वताएँ राष्ट्र स्वयं तय करे।" उन्होंने 'समाजवादी सिद्धांतों' के लिए काम करने की प्रतिज्ञा की और पूछा : "क्या हम अस्थायी रूप से समृद्ध समाज में अस्थायी रूप से अलोकप्रिय हो जाने के कारण ही अपने सिद्धांतों से पलट जाएँगे ?" सम्मेलन ने बेवन का तालियों की गड़गड़ाहट के साथ जो स्वागत किया, उससे यह स्पष्ट पता चल गया कि दल के भीतर विशुद्ध लोकतांत्रिक समाजवादी सिद्धांतों के प्रति दृढ़ भक्ति उससे ज्यादा प्रबल थी जितनी गेटस्कल के अनुयायियों ने समझी थी। सम्मेलन ने नीति के इस मसले को राष्ट्रीय कार्यकारिणी के ऊपर यह कह कर छोड़ दिया कि वह अगले वार्षिक सम्मेलन में और आगे चर्चा तथा कारवाई के लिए एक संकल्प तैयार करे।

बाद में कई महीनों तक दल के भीतर और सार्वजनिक चर्चाओं में लेबर दल के भविष्य पर विचार होता रहा और इस बीच बेवन की बीमारी एवं मृत्यु ने उनको

---

[1] देखिए पृष्ठ, १९४।

राजनीतिक जीवन से उठा दिया। बेवन की मृत्यु से दल ने बड़ी योग्यता और राजनीतिक प्रवीणता वाला एक नेता खो दिया। राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने मार्च, १९६० में और ज्यादा सक्रिय बहस के बाद विपक्ष में एक मत के साथ यह फैसला किया और यह सिफारिश की कि दल के संविधान का खंड ४ यथापूर्व रूप में बना रहे। तथापि उसने प्रस्ताव किया कि इसके बाद एक 'स्पष्टीकरण' देने वाला खंड इस रूप में जोड़ दिया जाए कि दल के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य समान स्वामित्व का सारतः इतना विस्तार करके ही प्राप्त किए जा सकते हैं कि समुदाय को अर्थतंत्र की बागडोर सँभालने वाली ऊँचाइयों के ऊपर शक्ति प्रदान की जाए, जिसमें राज्य स्वामित्व के उद्योग और फर्में, उत्पादक और उपभोक्ता सहकारिताएँ, नगरपालिका स्वामित्व और निजी उपक्रमों, में सरकार का भाग लेना शामिल है। यह मानते हुए कि अर्थतंत्र में सरकारी और निजी दोनों ही उद्यमों का स्थान है, (दल) यह विश्वास करता है कि समान स्वामित्व हो आगे बढ़ाने का फैसला परिस्थितियों के अनुसार संबंधित कामगरों और उपभोक्ताओं के विचारों पर उचित ध्यान देते हुए इन उद्देश्यों के प्रकाश में समय-समय पर किया जाए।

पूरे 'स्पष्टीकरण' वक्तव्य में सामाजिक न्याय, वर्गहीन समाज आदि उद्देश्यों के बारे में गेटस्कल के कुछ उल्लेखों को भी शामिल किया गया था। कंजरवेटिव दल के प्रमुख ने इस वक्तव्य को "दोहरी बातचीत का एक नमूना" बताया और दल पर यह इल्जाम लगाया कि उसने 'एक ऐसा शब्दजाल खोज निकाला है कि दल के जोशीले लोगों से यह कहा जा सके कि वे ज्यादा राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं और देश को यह बताया जा सके कि वे कम राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं।" लिबरल दल के (जो दो प्रमुख दलों में से एक के रूप में से एक लेबर दल का उत्तरवर्त्ती बनने की आकांक्षा रखता है) नेता ने इस 'स्पष्टीकरण' के बारे में कहा कि इसने लेबर दल के भीतर के आपसी विवाद को 'त्रासदी से प्रहसन' में बदल दिया है।

यह स्पष्ट है कि ऐसे स्पष्टीकरण द्वारा दल के भीतर के बुनियादी मतभेद को भाषाजाल में एक करके दिखाया गया है। इससे वे मतभेद ठोस रूप से तय या दूर नहीं हुए। राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा 'स्पष्टीकरण' मंजूर किए जाने के तुरंत बाद प्रत्येक पक्ष ने यह दावा किया कि इस संघर्ष में वह जो कुछ चाहता था, उसका, '८० प्रतिशत' उसने प्राप्त कर लिया है। वास्तव में जब कई बड़े मजदूर संघों ने यह बता दिया कि वे दल के अगले सम्मेलन में 'स्पष्टीकरण' के प्रस्ताव का समर्थन नहीं करेंगे, तो राष्ट्रीय कार्यकारिणी दल के संविधान के खंड ४ का 'स्पष्टीकरण' करने के प्रयासों को और आगे चलाना छोड़ देने के लिए सहमत हो गई।

अक्टूबर, १९६० में दल के सम्मेलन में खंड ५४ की बुनियादी प्रतिज्ञा में लगातार आसक्ति रखने की समस्या बड़ी ही सजीव थी और उस पर सक्रिय बहस हुई। अंत

में दो के आगे एक मत के द्वारा सम्मेलन ने दल के 'लक्ष्यों' की घोषणा को मंजूर किया। इसमें यह व्याख्या दी गई कि दल के लक्ष्य काफी 'समान स्वामित्व' द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं ... 'जिनसे समुदाय को अर्थतंत्र की बागडोर सँभालने वाली ऊँचाइयों के ऊपर शक्ति प्रदान की जा सकती है। इसमें यह भी बताया गया कि 'समान स्वामित्व' की संकल्पना में उत्पादन और विपणन के क्षेत्र में सहकारिताओं, लोक-उपयोगिता के उद्यमों में नगरपालिका के स्वामित्व और निजी उद्यमों में सरकार के सहयोग को शामिल किया गया है, जो संभवतः चुने हुए निजी निगमों में ईक्विटी शेयर प्राप्त करके किया जाएगा। घोषणा में आग्रह किया गया कि आगे राष्ट्रीयकरण चालू 'परिस्थितियों' के प्रकाश में ही हाथ में लिया जाएगा और यह मान्यता दी गई कि अर्थतंत्र में सरकारी एवं निजी दोनों ही प्रकार के उद्यमों का स्थान है। इस कार्य का भारी अल्पमत ने विरोध किया, जिससे पता चलता है कि दल के भीतर बुनियादी नीति को लेकर गहरी दरार चल रही है। इस समय प्रश्न यह लगता है कि क्या वह एक राजनीतिक इकाई और एक सजीव विरोधी दल के रूप में आगे चल सकेगा ? अगर नहीं चल पाता, तो राष्ट्र के लिए इसके लक्षितार्थ बड़े ही गंभीर हैं। ग्रेट ब्रिटेन का राजनीतिक जीवन दो सबल दलों की परिस्थिति के अनुसार ही गढ़ा-बुना गया है। ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच के एक सुप्रसिद्ध वस्तुनिष्ठ प्रेक्षक 'लंदन इकोनॉमिस्ट' ने 'स्पष्टीकरण' मंजूर किए जाने के बाद लिखा कि "समझौता करने और आंतरिक दोहरी बात करने की दल की आदत इतनी सहजात होती जा रही है.... कि जल्दी ही अब यह ऐसा मंच प्रस्तुत न कर पाएगा, जिस पर आकर योग्य और बुद्धिजीवी मनुष्य नए एवं संगत विचारों के अनुसार काम करने की किसी वास्तविक आशा की किरण को देख सकें" कि "लेबर दल की राजनीति 'असंभव' शाब्दिक भ्रमजाल की कला बनती जा रही है" और उसने यह प्रश्न उठाया : "क्या यह लड़ाई तब तक चलती रहेगी, जब तक यह दल टुकड़े-टुकड़े में नहीं बँट जाता ?"[१]

लेबर दल का भविष्य कुछ भी हो, वह लोकतांत्रिक विकासशील समाजवाद के ब्रिटिश सिद्धांतों का आश्रय रह चुका है और अपनी पिछली पदावधि में सरकार के रूप में उसने ब्रिटिश अर्थतंत्र में ऐसे समाजवाद के बड़े भारी तत्त्व को डालने का प्रयास किया है। समाजवाज के छात्रों के नाते हमारे लिए यह अनुभव खास तौर पर प्रबुद्ध करने वाला है; क्योंकि ब्रिटेनवासी वैयक्तिक स्वाधीनता पर परंपरागत जोर देने के मामले में हमारे बहुत ही निकट हैं। ब्रिटिश अर्थतंत्र में पूंजीवाद के साथ

---

[१] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १७ सितंबर, १९६०, पृष्ठ १०७०।

समाजवाद का यह परिमिश्रण—जिसे संभवत: २० या २५ प्रतिशत के आँकड़ों में नापा गया है—एक ऐसी 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था की सृष्टि करना है, जिसके स्वरूप, संचालन और समस्याओं को हमें समझना चाहिए। इस लक्ष्य के लिए हम उनके अनेक राष्ट्रीयकरण उपायों, उनकी पृष्ठभूमि और चालू संचालन तथा संबंधित कार्यकमों कार्यक्रमों और सरकारी नियंत्रणों की आगे चल कर परीक्षा करेंगे और सामने आई कुछ समस्याओं तथा प्राप्त हुए नतीजों को देखने की चेष्टा करेंगे।

वित्त का राष्ट्रीयकरण

बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण

१६९४ ई० के बैंक ऑफ इंगलैंड के अधिनियम के अनुसरण में सम्राट और सम्राज्ञी द्वारा दिए गए चार्टर के अधीन बैंक ऑफ इंगलैंड की स्थापना की गई थी। तब से लेकर १ मार्च, १९४६ तक, जब इसका राष्ट्रीयकरण किया गया, इसका स्वामित्व निजी स्टॉक रखने वालों के पास था और उसका प्रशासन उनके द्वारा चुने गए निदेशकों एवं एक गवर्नर द्वारा चलाया जाता था। कई शताब्दियों में बैंक ने सरकार के साथ जटिल और निकट के संबंध स्थापित कर लिए थे और इस तरह यह एक सरकारी अभिकरण से प्राय: बिल्कुल अभिन्न बन गया था। राष्ट्रीयकरण के समय यह एक 'केंद्रीय बैंक' या 'बैंक वालों का बैंक' था, बहुत कुछ वैसे ही जैसे हमारे संघीय रिजर्व होते हैं। यह दूसरे बैंकों से निक्षेप स्वीकार करता था और सलाह एवं मदद दे कर ब्रिटिश बैंक व्यवस्था के लिए आदर्श तय कर देता था। यह राष्ट्र के स्वर्ण रिजर्व के अभिरक्षक के रूप में काम करता था, बैंक नोट जारी करता था, राष्ट्रीय उधार को प्रशासित करता था और सरकार की मुद्रा-संबंधी तथा उधार नीतियों को चलाता था। यह दूसरे बैंकों को जिस 'बैंक दर' से पैसा उधार देता है, उससे राष्ट्र के बैंक उधार के विस्तार और संकोच पर बहुत कुछ वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसाकि हमारे संघीय रिजर्व बैंक की बट्टा दर से।

ब्रिटेन का वाणिज्यिक बैंक कारबार निजी स्वामित्व और संचालन में काम करने वाले बैंकों द्वारा चलाया जाता है, जो हमारी संघीय रिजर्व पद्धति के सदस्य बैंकों जैसे ही होते हैं। वहाँ पर करीब १३ बड़े-बड़े रिजर्व बैंक हैं, जिनमें से अवसर बड़ों-बड़ों को ५ बड़े, ६ बड़े या ७ बड़े कह कर पुकारा जाता है। ये राष्ट्र भर में बैंक कारबार दैनंदिन रूप से चलाने के लिए देश भर में फैली हजारों शाखाओं के जनक बैंक हैं। एक समय लेबर दल ने सभी बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव किया था, पर १९४५ ई० में जब वह सत्ता में आया, तो यह प्रस्ताव कम होकर केवल बैंक ऑफ इंगलैंड तक ही सीमित रहा।

लेबर सरकार को अपने राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम में दो बातों के कारण बैंक ऑफ इंगलैंड को पहली पूर्वता देनी पड़ी (१) निजी स्वामित्व के बावजूद ब्रिटिश राजकोष के साथ इसके निकट के संबंध ने इसे बहुत कुछ सरकार का अंग ही बना दिया था। इस तरह बैंक की नीति या संचालन में कोई भारी परिवर्तन लाए बिना ही राष्ट्रीयकरण पूरा हो सकता था। (२) उधार के क्षेत्र में यह कुंजी के रूप में था। चूँकि इसकी नीतियाँ और संचालन उद्योगों को अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के उधार दिलाने में भारी प्रभाव डालते थे—इसलिए, मूल उद्योगों के समाजीकरण वाले किसी भी कार्यक्रम में निजी स्वामित्व का रंचमात्र भी शेष रह जाना एक अव्याख्येय कालदोष होता। जैसाकि आधुनिक समाजवादी कार्यक्रमों की अपनी चर्चा में हमने स्पष्ट किया है, किसी भी विकासशील समाजवादी शासन द्वारा उधार का समाजीकरण तो उठाया जाने वाला पहला कदम होना ही चाहिए।

वास्तव में बैंक का राष्ट्रीयकरण बड़ी ही आसान बात थी। बुनियादी विधान संसद[१] का एक ऐसा अधिनियम बना, जिसका लक्ष्य "बैंक ऑफ इंगलैंड के पूँजी स्टॉक को सरकारी स्वामित्व में लाना था और बैंक को सरकारी नियंत्रण में लाना था "राजकोष बैंक ऑफ इंगलैंड और दूसरे बैंकों के बीच संबंधों के बारे में व्यवस्था करना थी।"[२] अधिनियम में व्यवस्था थी कि बैंक के सभी पूँजी स्टॉक राजकोष को स्थांतरित कर दिए जाएँगे[३] और ३ प्रतिशत ब्याज वाले 'सरकारी स्टॉक' (बंधपत्र) देकर पहले मालिकों को उसके लिए मुआवजा दे दिया जाएगा। बैंक स्टॉक के हर पुराने मालिक को उतने सरकारी स्टॉक दिए गए, जिससे उनकी वार्षिक ब्याज आय ३१ मार्च, १९४५ से तत्काल पहले के २० साल के दौरान घोषित औसत सकल लाभांश के बराबर[४] हो जाती। चूँकि बैंक के स्टॉकधारियों को १९२३ ई० से अपने स्टॉक पर १२ प्रतिशत वार्षिक प्राप्त हुआ था, इसलिए विनिमय ४ की जगह १ का लेन-देन था और १४५५३००० पौंड के सम मूल्य के शेयर के बदले ५८२१२००० सम मूल्य के शेयर ३ प्रतिशत सरकारी स्टॉक के रूप में दिए गए।[५] अधिनियम में व्यवस्था थी कि सरकारी

---

[१] संसद् में १९ अक्टूबर, १९४५ में पेश किया गया, १४ फरवरी, १९४६ में कानून बन गया और १ मार्च, १९४६ से लागू हो गया।

[२] बैंक ऑफ इंगलैंड ऐक्ट १९४६, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी, पृष्ठ १।

[३] तकनीकी रूप में राजकोष द्वारा नामित एक व्यक्ति को राजकोष की ओर से स्टॉक रखने के लिए।

[४] वही, पृष्ठ १।

[५] श्रेष्ठिचत्वर (स्टॉक एक्सचेंज) में बैंक ऑफ इंगलैंड का स्टॉक हर शेयर के लिए लगभग ४०० पौंड बताया गया था और उसके चालू मूल्य पर ३ प्रतिशत का ब्याज माना गया था। 'लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन' दिसंबर, १९४६, पृष्ठ २१४।

स्टॉक का राजकोष द्वारा ५ अप्रैल, १९६६ को या उसके बाद नगद सम मूल्य पर प्रतिदान किया जा सकेगा, जिसके लिए अपने अभिप्राय की सूचना ३ महीने पहले देनी होगी। अधिनियम में यह मंजूर नहीं किया कि आगे बैंक स्टॉक के लाभांश राजकोष के पास बने रहें, बल्कि बैंक द्वारा राजकोष को अर्द्ध-वार्षिक भुगतान में ८७३१८० पौंड के देने की (इसके पहले के अर्द्ध-वार्षिक लाभांशों की रकम) व्यवस्था कर दी, "या उस ज्यादा या कम रकम की, जो समय-समय पर राजकोष और बैंक के बीच सहमति से तय की जाए।"[1]

बैंक के प्रशासन के लिए अधिनियम में सरकार द्वारा नियुक्त किए जाने वाले एक गवर्नर, एक डिप्टी गवर्नर और १६ निदेशकों की व्यवस्था की गई, जो मिलकर 'निदेशकों का अधिकरण' बनाते थे। जब निदेशकों के नए अधिकरण ने १ मार्च, १९४६ को काम सँभाला, तो तीन को छोड़ कर बाकी सभी निदेशक ऐसे थे, जो राष्ट्रीयकरण के तत्काल पहले उसी पद पर रह चुके थे। राजकोष में यह शक्ति निहित की गई कि "वह 'बैंक को बैंक के गवर्नर से परामर्श करने के बाद ऐसे निदेश दे सकेगा, जिसे वह लोकहित में जरूरी समझें।"[2] बदले में बैंक भी अधिकृत किया गया कि जब राजकोष और गवर्नर 'लोकहित में' ठीक समझें "बैंक मालिकों से जानकारी माँग सकेंगे और उनसे सिफारिश कर सकेंगे", और यदि राजकोष द्वारा अधिकृत किया गया, तो जानकारी माँगने के किसी ऐसे अनुरोध या सिफारिश को प्रभाव में लाने के प्रयोजन से किसी भी बैंकर को निदेश दे सकेंगे।[3]

ये व्यवस्थाएँ राष्ट्र के उधार संसाधनों और उनके उपयोग के ऊपर सरकार को नियंत्रण दे देती हैं और राजकोष को बैंक के निजी स्वामित्व में होने पर दिए जाने वाले उधार की मात्रा तथा व्याज दर के ऊपर जितना नियंत्रण प्राप्त था, उसकी अपेक्षा ज्यादा नियंत्रण प्रदान कर देती हैं। सरकार जो पहले नियंत्रण सुझाव देकर और समझा कर करती थी, अब उसका आदेश दिया जा सकता है। साथ ही राजकोष को यह शक्ति दी गई है कि वह यह फैसला करे कि कौन-सी फर्में इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत आती हैं और वह किसी भी फर्म के बारे में घोषित कर सकता है कि वह "इस धारा के प्रयोजन से एक बैंकर फर्म हैं।"[4] यह व्यवस्था की गई है

---

[1] बैंक ऑफ इंगलैंड, १९४६, पृष्ठ २।

[2] वही पृष्ठ, २।

[3] तथापि "बैंकर के किसी खास ग्राहक के कार्यों के संबंध में ऐसा कोई अनुरोध या सिफारिश न की जाएगी" और किसी बैंकर को ऐसे निदेश देने से पहले उसे अवसर दिया जाएगा कि "उसके बारे में अभ्यावेदन दे सके।" वही, पृष्ठ ३।

[4] वही, पृष्ठ ३।

कि हाऊस ऑफ कामन्स का कोई सदस्य या मंत्रिमंडल का मंत्री या संसद् द्वारा विनियोजित धन में से पैसा लेने वाले किसी सरकारी विभाग में नौकरी करने वाला कोई व्यक्ति बैंक ऑफ इंगलैंड का गवर्नर, डिप्टी गवर्नर या निदेशक के पद पर नियुक्त होने का पात्र न होगा। इस अधिनियम के अधिकार के अधीन सम्राट् ने एक नया बैंक ऑफ इंगलैंड चार्टर निकाला,[1] जिसमें बैंक के अधिकारियों और निदेशकों की योग्यताएँ, शक्तियाँ एवं कर्त्तव्य ज्यादा स्पष्ट रूप में बताए गए थे और उपनियम मंजूर करने, बैठकों के कार्यवृत्त रखने तथा गणपूरक की परिभाषा-जैसे आंतरिक मामलों के भी ब्योरे दिए गए थे।

इस अधिनियम का कोई गंभीर विरोध नहीं हुआ, जो चांसलर ऑफ एक्सचेकर (वित्त मंत्री) के शब्दों में "सभी भावी वित्तीय आयोजना के एक अनिवार्य केंद्र-विंदु को राष्ट्र की देखभाल के अधीन ला रहा था।" जैसे ही १९४५ ई० के आम चुनाव में लेबर दल की जीत हुई, इस बैंक का राष्ट्रीयकरण तो एक मानी हुई बात थी। साथ ही पुराने स्टॉकधारियों के साथ भी ठीक न्याय किया गया और उनको पिछले दो दशकों से जो आय हो रही थी, अगले बीस साल के लिए भी उसी आय का आश्वासन दिया गया। वास्तव में जब राष्ट्रीयकरण विधेयक संसद् में था, उसी बीच बैंक के शेयरों का बाजार भाव बढ़ गया।

राष्ट्रीयकरण के बाद की अवधि में बैंक ऑफ इंगलैंड के संचालन में कोई भारी परिवर्तन नहीं आया है और प्रत्यक्ष ही कोई भी क्रांति बैंक ऑफ इंगलैंड अधिनियम, १९४६ ई० द्वारा बैंक और सरकार के बीच स्थापित किए गए बुनियादी सबंध में परिवर्तन की बात नहीं सोचता। तथापि उस संबंध के ब्योरों के बारे में कुछ प्रश्न उठे हैं। १९५७ ई० में चांसलर ऑफ एक्सचेकर ने 'रेडक्लिफ समिति' नाम की नौ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की थी, जिसे ब्रिटिश मुद्रा-पद्धति और नीतियों के ब्योरों की जाँच सौंपी गई थी। अन्य सिफारिशों के साथ सन् १९५९ के रेडक्लिफ प्रतिवेदन में बैंक ऑफ इंगलैंड और राष्ट्र के मुद्रा-कार्य के प्रबंध में सरकार की जिम्मेवारी के बीच के संबंधों को भी लिया गया था। यह याद रखना होगा कि बैंक ऑफ इंगलैंड जिस ब्याज दर से निजी वाणिज्य बैंकों को उधार देता है, वह बुनियादी रूप से इन बैंकों की कारबार फर्मों को उधार देने की योग्यता एवं उसकी ब्याज-दरों का नियंत्रण करता है और इस तरह कारबार के विस्तार तथा संकोच, स्टॉक बाजार भाव, मूल्य स्तर आदि पर गहरा प्रभाव डालता है। विद्यमान रीति के अधीन बैंक

---

[1] लंदन एच० एम० स्टेशनरी आफिस, १९४६।

ऑफ इंगलैंड के निदेशकों का अधिकरण चांसलर ऑफ एक्सचेकर से परामर्श करने के बाद यह फैसला करता है कि "बैंक दर में कब और किस तरह परिवर्तन किया जाए।" दर में तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, जब तक इससे चांसलर का समाधान न हो जाए। रेडक्लिफ समिति ने सिफारिश की कि यद्यपि इसमें कोई परिवर्तन न किया जाए कि किस तरह उचित दर के बारे में निर्णय हो, लेकिन प्रत्येक परिवर्तन की घोषणा चांसलर ऑफ एक्सचेकर द्वारा की जानी चाहिए और उसे उसके प्राधिकार द्वारा प्रभावी बनाया जाना चाहिए। प्रतिवेदन का कहना है कि ऐसा करने से यह बात पूरी तरह साफ हो जाएगी कि दर के ऊपर नियंत्रण का अधिकार कोषागार को है, बैंक को नहीं। हालांकि इस सिफारिश के फलस्वरूप बैंक दर तय करने संबंधी रीति में कुछ थोड़े से परिवर्तन किए गए, लेकिन सरकार ने रेडक्लिफ प्रतिवेदन की इस विषयक सिफारिश को सार रूप में नामंजूर कर दिया। इसने और प्रतिवेदनों की कुछ दूसरी सिफारिशों में यह बात साफ करने की कोशिश की है कि ब्रिटेन में मुद्रा-नीतियों के निर्धारण तथा प्रबंध के लिए सरकार उत्तरदायी है, बैंक नहीं।

निवेश का नियंत्रण

ब्रिटेन के कुल पूँजी निवेश का लगभग एक तिहाई राष्ट्रीय या स्थानीय सरकारों द्वारा सीधे-सीधे लगाया जाता है और दूसरा एक तिहाई ऐसे उद्योगों द्वारा लगाया जाता है जैसे गृह-निर्माण, जिनमें सरकार का प्रभाव काफी ज्यादा या अभिभावी होता है। इस तरह उद्योग के निजी क्षेत्र मे देखा जाए, तो कुल एक तिहाई पूँजी निवेश ही बच पाता है। चूँकि स्थानीय सरकारों के पूँजी निवेश कार्यक्रमों पर राष्ट्रीय सरकार द्वारा लगाए गए नियंत्रणों का भारी प्रभाव पड़ता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि समूचे राष्ट्र के पूँजी निवेश कार्यक्रम में राष्ट्रीय सरकार के पूँजी निवेश कार्यकलाप बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं।

लेबर सरकार की पदावधि से पहले स्थापित दो वित्तीय संस्थाएँ लेबर सरकार के अधीन ही काम करती रहीं, जिससे निवेश निधि का प्रवाह छोटी कारबार फर्मों और बड़े उद्योगों में होता रहे, जो अपनी तत्कालीन हालतों के कारण सामान्य निजी स्रोतों से पैसा प्राप्त नही कर पा रहे थे। चूँकि ये दोनों संस्थाएँ आज की कंजरवेटिव सरकार के अधीन अपने मूल उद्देश्य के साथ काम करती जा रही हैं, इसलिए उनके काम का वर्त्तमान काल में उल्लेख किया जा सकता है। औद्योगिक तथा वाणिज्यिक वित्त निगम को अधिकार है कि अच्छी कारबार संभावनाओं वाला फर्मों की पूँजी कोष की अपेक्षतया छोटी रकमें अस्थायी रूप से दे दें, जो वे सामान्य

स्रोतों से उधार नहीं ले पा रही हैं। इसकी मूल पूँजी निजी बैंकों से आती थी और बैंक ऑफ इंगलैंड से 'सांकेतिक अंशदान' मिलता था। उद्योग वित्त निगम अपेक्षतया बड़ी संस्था है और वह बड़े पैमाने के उद्योगों के आधुनिकीकरण एवं विस्तार के लिए रकम की व्यवस्था करने के लिए बनाया गया है। यह रकम ऐसे उद्यमों को दी जाती है, जिनके आगे चल कर सफल होने की संभावना होती है और यह ख्याल किया जाता है कि वे लोकहित में अपना काम चला रहे हैं। उधार लेने वाली फर्मों की निवेश-दशा में सुधार होने पर और निजी कोषों के सामान्य स्रोतों से पैसा मिलना संभव हो जाने पर, इन ऋणों को लौटाए जाने की उम्मीद की जाती है। इसकी मूल पूँजी बीमा कंपनियों, ट्रस्ट कंपनियों और बैंक ऑफ इंगलैंड से क्रमशः ४०: ३०: ३० प्रतिशत के अनुपातों में आई थी। प्रत्येक संस्था को अपनी पूँजी के अलावा उधार ली गई रकम का उपयोग करने की शक्ति मिली हुई है। ये संस्थाएँ सरकार के तत्वावधान में कोष के निवेश में प्रवाह के एक अंश का निदेशन केंद्रित करने का काम करती हैं। हालाँकि चालू ब्रिटिश निवेश बाजार में, जो निजी वित्त के बारे में अनुकूल स्थिति में है, ये दोनों संस्थाएँ आज कुछ साल पहले की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हो गई हैं, फिर भी समाज के लिए जरूरी और केवल निजी स्रोतों से उपलब्ध न होने वाले वित्त की व्यवस्था करने के लिए आज भी उपलब्ध बनी हुई हैं।

उधार (नियंत्रण और गारंटी) अधिनियम, १९४६ ई० निवेश के उधार के निजी उद्योगों में प्रवाह की आयोजना का एक ज्यादा महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। युद्धकालीन उपाय के रूप में १९३९ ई० में शुरू करके राजकोष के अधीन बनी पूँजी निर्गम समिति प्रस्तावित निगम प्रतिभूतियों के प्रत्येक नए निर्गम को चलाने की आज्ञा प्रदान करती थी या रोकती थी। १९४६ ई० के अधिनियम ने इस समिति को स्थायी रूप दिया, जिससे 'आर्थिक संसाधनों और उनकी माँग के बीच उचित संतुलन स्थापित किया और बनाए रखा जाए' और यह आश्वस्त किया जाए कि राष्ट्रहित में सबसे ज्यादा महत्त्व की उन प्रायोजनाओं के पूँजी विकास को पूर्वता दी जाएगी।[1] जब कंजरवेटिव सरकार सत्ता में आई, तो उसने भी पूँजी निर्गम समिति को चालू रखा। ५० हजार पौंड से ज्यादा प्रतिभूतियों के निवेश बाजार में जारी करने के कारबार फर्मों के अधिकार पर यह निर्णय देती थी। इसके अधिकार-क्षेत्र में सभी नई निगम प्रतिभूतियों और संचित निगम अतिरेकों या रिजर्वों के निगम शेयरों के रूप में पूँजीकरण का निर्गम शामिल था। पूँजी निर्गम समिति तकनीकी रूप से

---

[1] चांसलर ऑफ एक्सचेकर, विजनिस वीक, १९ मार्च, १९४६।

सरकार से स्वतंत्र रही है, फिर भी यह राजकोष के तत्वावधान में काम करती रही है और इस तरह उसने सरकार को यह चुनाव करने का नियंत्रण दिया है कि किन निजी उद्योगों को निवेश निधियाँ दी जानी चाहिए, जिससे वे अपना विस्तार कर सकें। समिति की शक्तियाँ हमारे प्रतिभूति और विनिमय आयोग की अपेक्षा कहीं ज्यादा रही हैं; क्योंकि यह किसी निगम को पूँजी-निर्गम के विशेषाधिकार से इस कारण बंचित कर सकती हैं "कि वह वित्त माँगने वाली कंपनी को लोकहित में काफी महत्त्वपूर्ण नहीं समझती।" समिति पर बंधन था कि वह राजकोष के लोक-निर्माण ऋण मंडल से निकट सहयोग करके काम करे, जो स्थानीय सरकार के सभी महत्त्वपूर्ण उधारों का नियंत्रण करता था। समय-समय पर चांसलर ऑफ एक्स-चेकर समिति को नई-नई हिदायतें देते रहते थे। इनमें पूर्वताओं के उस क्रम के संकेत भी शामिल होते थे, जो निवेश प्रतिभूतियाँ जारी करने के आवेदन पास करने पर सरकार लगाना चाहती थी।

पूँजी निर्गम समिति दो दशकों तक लेबर और कंजरवेटिव दोनों सरकारों के अधीन निवेश उधार के क्षेत्र में एक बड़े सशक्त नियंत्रण तरीके के रूप में बनी रही और जब कंजरवेटिव सरकार द्वारा १९५९ ई० में यह आँका गया कि इसको चालू रखने की जरूरत अब खत्म हो गई है, तब उसका क्षेत्राधिकार विदेशी प्रतिभूति निर्गम के लंदन वित्तीय बाजार पर चालू करने को पास करने तक ही सीमित कर दिया गया। सभी घरेलू निर्गम उसके नियंत्रण से मुक्त कर दिए गए, हालांकि दस लाख डालर से ज्यादा प्रतिभूति के निर्गम बाजार में चालू करने के समय के बारे में बैंक ऑफ इंगलैंड की मंजूरी लेना जरूरी बना रहा। साथ ही स्थानीय सरकार के भारी निर्गमों वाले बंधपत्रों के निवेश बाजार में बेचने के लिए अब भी बैंक ऑफ इंगलैंड की मंजूरी जरूरी है। यद्यपि पूँजी निर्गम समिति के मुख्य कृत्य इस तरह १९५९ ई० में निलंबित कर दिए गए। लेकिन, इसे अधिकार देने वाले अधिनियम को निरसित नहीं किया गया है और निवेश बाजार में निजी वित्त के ऊपर समिति की शक्ति को केवल एक राजकोष आदेश द्वारा पुनः स्थापित किया जा सकता है। ऐसा होने से कुछ ऐसी भावना पैदा हुई है कि इसे एक बगल में तैयार व्यवस्था के रूप में तैयार रखा जा रहा है और अगर सरकार जरूरी समझे, तो इसे फिर प्रभावी बनाया जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि पहले लेबर सरकार और फिर कंजरवेटिव सरकार द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंक ऑफ इंगलैंड, राष्ट्रीयकृत उद्योगों में सरकार के सीधे निवेश, उद्योग बित्त निगम, औद्योगिक तथा वित्त निगम और पूँजी निर्गम समिति (पिछले के ऊपर बताए गए अपवाद को छोड़ कर) का उपयोग राष्ट्रीयकृत और निजी दोनों ही प्रकार

के उद्योगों में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पूँजी की रकमों, उसके प्रयोजनों एवं व्याज लागतों के नियंत्रण के लिए किया गया है और राष्ट्रीय हित में ज्यादा पसंद किए गए विशिष्ट औद्योगिक स्रोतों में निधि के प्रवाह का मार्गदर्शन करने के लिए किया गया है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. लेबर दल की सन् १९४५ से १९५१ ई० तक की पदावधि इसकी पिछली पदावधियों से किस प्रकार भिन्न रही ?

२. सन् १९५९ के आम चुनाव के बाद लेबर दल ने अपनी स्थिति का क्या पुनः मूल्यांकन किया ? उसने ऐसा क्यों किया ?

३. लेबर दल के संविधान में खंड ४ इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है ?

४. ब्रिटिश मजदूर संघों के साथ लेबर दल का संबंध किस तरह का है ?

५. लेबर दल के भीतर गुटबंदियों का कारण क्या है ?

६. लेबर दल के भीतर समाजवादियों का एक दृढ़बद्ध मूल बताया जाता है। इसका क्या मतलब है ?

७. बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण किया जाता या न किया जाता, तो इससे क्या अंतर पड़ता ?

८. लेबर सरकार ने सभी ब्रिटिश बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों नहीं किया ?

९. बैंक ऑफ इंगलैंड के राष्ट्रीयकरण के अलावा उधार और निवेश का नियंत्रण करने के लिए लेबर सरकार ने और क्या व्यवस्थाएँ कीं ?

●

अध्याय १७

ईंधन और बिजली का राष्ट्रीयकरण

कोयला

कोयला-उद्योग

एक समय ब्रिटेन को 'मछलियों से घिरा हुआ कोयले का ढेर' कहा जाता था। आर्थिक दृष्टिकोण से यह एक मामूली अत्युक्ति ही है। १९वीं सदी में दुनिया के ऊपर ब्रिटेन का औद्योगिक नेतृत्व प्रत्यक्षतः कम लागत के कोयले के उसके पर्याप्त संभरण के कारण ही था। आज भी कोयला ही वह बुनियादी औद्योगिक कच्चा माल है, जो ब्रिटेन में घरेलू रूप से काफी मात्रा में मिलता है। कहा जाता है कि उपयोग की चालू दर से ब्रिटेन के कोयला निक्षेप कई सौ साल तक चल सकेंगे हालांकि कुछ किस्म के निक्षेपों के काफी जल्दी ही खत्म हो जाने का खतरा है। ब्रिटेन में हर साल देश के भीतर २० करोड़ टन के करीब कोयले की खपत होती है। इसमें से लगभग एक तिहाई कोयला बिजली, गैस या कोक के रूप में घरों तथा दूसरी इमारतों को गर्म रखने और प्रकाश देने में खर्च होता है। दो तिहाई का इस्तेमाल औद्योगिक शक्ति में किया जाता है, इसलिए ब्रिटेन के लिए यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है कि निर्मित माल की उत्पादन-लागत कम रखने के लिए कोयले का खनन बड़ी ही कुशलता के साथ किया जाए। यह आंतरिक आर्थिक मामलों के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि ब्रिटेन विदेशी बाजार में कड़ी स्पर्द्धा का सामना कर सके, जो खाद्य सामग्री और कच्चे माल का आयात करने में उसे समर्थ बनाने के लिए बहुत ही जरूरी विदेशी विनिमय का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। परिवहन और इस्पात-जैसी मदों की लागत पर प्रभाव डाल कर अगर कोयले की लागत बहुत ज्यादा कर दी जाए, तो इससे ब्रिटेन के निर्यात उद्योगों को काफी अड़चनों का सामना करना पड़ेगा। हालांकि

जैसा आगे चलकर काफी ब्योरे के साथ बताया गया है, औद्योगिक शक्ति के लिए ईंधन तेल का इस्तेमाल बढ़ रहा है। लेकिन, निकट भविष्य में कोयला ब्रिटेन का बुनियादी शक्ति-स्रोत बना रहेगा। औद्योगिक शक्ति संयंत्र का कोयले से ईंधन तेल में बदलना खर्चीला पड़ता है और ब्रिटेन में आने वाले समूचे पेट्रोल का आयात करना होगा। बिजली पैदा करने में कोयले के उपयोग की जगह परमाणु ऊर्जा की प्रगति बहुत धीमे हो रही है।

फिर कोयले के ब्रिटिश अर्थतंत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान के कारण सन् १९२० और १९३० ई० के बाद के दशकों में उद्योग में अवनति हुई। १९१३ ई० में कोयला-उद्योग ने २८·७० टन का उत्पादन किया। राष्ट्रीयकरण होने से थोड़ा पहले १९४६ ई० में वार्षिक उत्पादन १९ करोड़ टन था और १९५७ ई० में यह थोड़ा सा बढ़कर २२·४० करोड़ टन हो गया था।[१] अंशतः यह स्थिति उन बुनियादी भौतिक बाधाओं के कारण आई, जिनका ब्रिटेन के कोयला-उद्योग को सामना करना पड़ा। कोयला-खान का वर्णन इस तरह किया गया है "यह एक धरती के भीतर का ऐसा कारखाना है जिसकी दीवालें चलती रहती हैं और जो भावी उत्पादन की अपनी क्षमता का उपभोग करके काम करता है।"[२] यह अनुमान लगाया गया था कि १९५४ ई० में निकाले जाने वाले कोयले का एक तिहाई से कम १९०० के बाद खोदे गए गड्ढों से आता था, जबकि केवल दसवाँ हिस्सा १९१३ ई० के बाद खोदे गए गड्ढों से आता था।[३] खान जितनी पुरानी पड़ती जाती है, उतना ही ज्यादा यह संभव हो जाता है कि ज्यादा अच्छी परतें खत्म हो गई हैं और कोयले का खनन प्रति टन ज्यादा खर्च करके ही किया जा सकता है। खानों के पुरानी पड़ने से हर साल उद्योग की धारिता २० से ४० लाख टन कम होती जाती है। इस तरह हर साल उद्योग की उत्पादक धारिता की इस वार्षिक कमी को पूरा करने के लिए ही नई खानों से और पुरानी खानों में से किसी-न-किसी प्रकार के सुधार करके इतना कोयला और निकाला जाना चाहिए।

राष्ट्रीयकरण की पीठिका

राष्ट्रीयकरण से पहले कई सालों से ब्रिटिश कोयला-उद्योग एक बीमार उद्योग बनकर चला आ रहा था। महायुद्धों के बीच इसका भौतिक, आर्थिक और हौसले

---

[१] १९५७ से घटने वाले उत्पादन का एक विशेष कारण था, जिसकी बाद में चर्चा की जाएगी। देखिए, पृष्ठ ३०२, ३०३।

[२] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, २८ अप्रैल, १९५६, पृष्ठ ३९६।

[३] लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, दिसंबर, १९५४, पृष्ठ १८८ : ब्रिटिश रेकर्ड, २९ अक्टूबर, १९५४।

की दृष्टि से पतन हुआ। इसका कुल वार्षिक निकास गिर गया, निर्यात गिर गए, साज-सामान घिस गया, हर व्यक्ति-पाली में निकास गिर गया, कुल मजदूर-संख्या कम हो गई, खनकों का हौसला गिर गया और प्रति टन दाम बढ़ गया। कई बार सरकार ने उद्योग को मदद दी और उसको बढ़ाने के कई और दूसरे उपाय किए। १९३८ ई० में सरकार ने धरती का सारा कोयला खरीद लिया, लेकिन खनन कंपनियों और उनके साज-सामान को निजी स्वामित्व और संचालन में रहने दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सरकार ने उद्योग का 'संचालन-नियंत्रण' अपने हाथ में ले लिया।

१९४५ ई० में युद्ध का अंत होते-होते उत्पादन, जनशक्ति, प्रति व्यक्ति पाली उत्पादकता और खनकों के हौसले में और भी गिरावट आई। खानों को आधुनिक बनाने और यंत्रयुक्त करने के लिए बहुत ज्यादा पूँजी व्यय की, अनुमानत: १ अरब डालर से ऊपर की, जरूरत थी। प्रति टन कीमत जो युद्ध के दौरान बढ़ी थी, उसमें कोयले का और ऐसे माल का, जिसकी लागत में कोयला भी खर्च होता है, निर्यात करने की ब्रिटेन की योग्यता पर भारी चोट पहुँचाई। १९४५ ई० में सरकार द्वारा खनन इंजीनियरों के गैर-राजनीतिक वर्ग की जो 'रीड समिति' सरकार ने नियुक्त की थी, उसने उद्योग के संगठन और संचालन में बड़े भारी-भारी परिवर्तन सुझाए तथा यह स्पष्ट कर दिया कि मिल-मालिक इन सिफारिशों को अमल में नहीं ला सकगे। हालांकि खनन कंपनियों का प्रतिनिधित्व करने वाले खनन संघ ने निजी स्वामित्व के अधीन उद्योग का पुनर्गठन करने के लिए दूसरे प्रस्ताव रखे, लेकिन सरकार द्वारा पहले ही किए जा चुके हस्तक्षेप की गहराई, उद्योग के सामने खड़ी हुई समस्याओं और खानों को आधुनिक एवं यंत्रयुक्त बनाने के लिए सरकारी पैसे की जरूरत ने लेबर दल के सन् १९४५ के सफल चुनाव आंदोलन के एक मंच के रूप में कोयले को राष्ट्रीयकरण अवश्यंभावी बना दिया।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

जुलाई, १९४६ में छह महीनों की चर्चा के बाद संसद ने कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकरण अधिनियम पास कर दिया। राष्ट्रीय कोयला मंडल के, जो बिजली मंत्रालय के अधीन उद्योग का संचालन करता है (अधिनियम पास होते समय इस मंत्रालय का नाम ईंधन और बिजली मंत्रालय था), के सदस्य नियुक्त किए गए और नियत तारीख अर्थात् १ जनवरी, १९४७ को कोयला-उद्योग सरकारी स्वामित्व और संचालन के अधीन आ गया। इस तरह सरकार ने १५०० कोयले खानों को अपने हाथो में ले लिया, जिनका स्वामित्व और संचालन लगभग ८०० खनन कंपनियों के

हाथ में था और साथ ही बहुत-सी कोक भट्टियाँ एवं कोयले की प्रक्रियाकरण एवं परिवहन की सुविधाएं भी उसने अपने हाथ में ले ली। सरकार के अधिकार में करीब १० लाख एकड़ जमीन फार्म, पूरे गाँव-के-गाँव, मकान, कई लाख कोयला कारें और खानों में प्रयुक्त होने वाले हजारों घोड़े भी आ गए। सरकार कोयला-उद्योग के करीब ७ लाख खनकों में २५ हजार प्रबंधकीय, प्रशासनिक और क्लर्क कामगरों की नियोजक बन गई।

अधिनियम की व्यवस्थाओं की ध्यान से छानबीन करनी होगी; क्योंकि उसमें फैले हुए बीमार और एक ऐसे विषम रूप उद्योग की समस्याओं को हल करने की लोकतंत्रीय समाजवादी आयोजना दी गई है, जो पिछले तीन दशकों से निजी स्वामित्व के अधीन सुधार की तमाम कोशिशों के बाद भी काबू में न आया था।[1] इसने एक राष्ट्रीय कोयला मंडल स्थापित किया, जिसे ग्रेट ब्रिटेन की सभी कोयला-खानों का संचालन करने (बहुत छोटी-खानों को छोड़कर जिनको निजी संचालन में रहने का लाइसेंस दिया गया था), उद्योग का कार्य कुशल विकास करने और कोयले को ऐसी किस्मों, आकारों और मात्राओं तथा ऐसे दाम पर उपलब्ध करना था, जो लोकहित के सबसे ज्यादा अच्छे साधक होंगे और भेदभाव करने वाली तरजीह या फायदों से दूर रहेंगे। मंडल को इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जरूरी किसी भी कार्यकलाप या लेनदेन को करने का अधिकार दिया गया है। खास तौर पर इसे कोयले के निक्षेपों की खोज करने का एकमात्र अधिकार दिया गया है और कोयले का प्रक्रियाकरण करने तथा बेचने, कोयले से निकलने वाले उत्पादन पैदा करने और बेचने, किसी जरूरी या लाभकर सहायक सुविधा का संचालन करने तथा व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने की सुविधाओं का भी अधिकार दिया गया है। उसे कर्मचारियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण प्राप्त करने का भी निदेश दिया गया है। उसे उद्योग का प्रबंध इस तरह चलाने का काम सौंपा गया है कि बिक्री से आने वाला पैसा अच्छे और बुरे वर्षों के औसत के अनुसार सभी खर्चों को पूरा करने के लिए कम न पड़ेगा। मंडल कुछ कोयला थोक विक्रेता के रूप में और कुछ फुटकर स्तरों पर भी स्वयं बेच देता है, तथापि कोयले के वितरण का अधिकांश निजी स्वामित्व और संचालन वाली विपणन फर्मों के हाथ में है, जो कोयले को मंडल से खरीद लेती हैं। फिर भी कोयले का फुटकर दाम वह मंडल ही तय करता है।

अधिनियम ईंधन और बिजली मंत्री को राष्ट्रीय कोयला मंडल नियुक्त करने का अधिकार देता है, जिसमें इस समय एक अध्यक्ष और ६ पूर्णकालिक और ४ अंश-

---

[1] अधिनियम एच० एम० स्टेशनरी आफिस ने प्रकाशित किया था।

कालिक सदस्य हैं। पूर्णकालिक सदस्यों में से प्रत्येक अपना ध्यान नीचे लिखे विशिष्ट कृत्यों में से एक पर देता है : बित्त उत्पादन, विपणन, वैज्ञानिक अनुसंधान, कर्मचारी निदेशन, औद्योगिक संबंध। मंत्री सरकारी राजकोष की मंजूरी से मंडल के सदस्यों का वेतन तय करता है और संसद् का कोई सदस्य मंडल का सदस्य नहीं बन सकता। मंडल के अधीन ९ डिवीजन मंडल हैं, जो राष्ट्रीय कोयला मंडल के प्रतिरूप-जैसे ही हैं। प्रत्येक डिवीजन मंडल उद्योग के प्राकृतिक रूप से बाँटे गए भूगर्भीय और भौगोलिक क्षेत्रों के भीतर खनन कार्यों के अधीक्षण और समन्वय के लिए जिम्मेवार है। हर डिवीजन मंडल के अधीन इलाके हैं, जिनकी संख्या सभी डिवीजनों के लिए कुल ५० हैं। प्रत्येक में एक इलाका महाप्रबंधक है, जो विशेषज्ञ कर्मचारियों की मदद से अपने इलाके के संचालन का अधीक्षण करता है। जहाँ तक संचालनों का संबंध है, आमतौर पर इलाके को प्रबंध की मूल इकाई माना जाता है। इलाके के महाप्रबंधक ही मूल व्यक्ति होते हैं, जिनकी शक्ति निर्णय बुद्धि और नेतृत्व पर ही उद्योग का सफल संचालन निर्भर है। उनके नीचे कोयला-खान-प्रबंधक हैं, जिनकी संख्या करीब ९०० है और जिनमें से प्रत्येक एक कोयला-खान का दैनंदिन संचालन काम सँभालता है।[1]

अधिनियम में समूचे कोयला-उद्योग के लिए प्रबंधकीय निर्णय का अधिकार स्थापित करने के बारे में बहुत संक्षिप्त व्यवस्थाएँ हैं। बिजली मंत्री को अधिकार दिया गया है कि मंडल से सलाह करने के बाद राष्ट्रहित को प्रभावित करने वाले नीति के मामलों में मंडल के निर्णयों के बारे में उसको निदेश दें और मंडल से अपेक्षा की जाती है कि उन निदेशों को प्रभाव में लाए। उद्योगों के पुनर्गठन, पूँजी निवेश कार्यक्रम और प्रशिक्षण तथा अनुसंधान कार्यक्रमों-जैसे नीति के मामलों में मंडल केवल मंत्री की मंजूरी के बाद ही आगे काम कर सकता है। मंत्री को अधिकार है कि किसी भी समय मंडल से वांछनीय जानकारी प्राप्त करे और मंडल का यह दायित्व है कि उसके द्वारा दी गई जानकारी की जाँच के लिए उसे सुविधा प्रदान करे। अधिनियम को जिस रूप में व्यवहार में लाया गया है, उसके अनुसार सभी मोटे नीति निर्णयों की जिम्मेवारी मंत्री लेते हैं और इस प्रकार इन मामलों का नियंत्रण हाउस

---

[1] सरकार ने शुरू में जिन १५०० खानों को अपने हाथ में लिया था, उनमें करीब २०० बंद कर दी गई हैं। करीब ४०० में ३० से भी कम खनिक प्रत्येक में काम करते हैं और फलतः उनको मंडल द्वारा निजी रूप में संचालित करने का लाइसेंस दे दिया गया है। फिर भी इन पिछली खानों को अपना उत्पादन मंडल को ही बेचना होता है और मंडल द्वारा संचालित खानों-जैसी ही मजूरियों और काम की हालतों की व्यवस्था करनी होती है।

ऑफ कामन्स के अधीन रहता है, जिसके प्रति मंत्रिमंडल के एक सदस्य के नाते मंत्री उत्तरदायी हैं।। मंडल इन नीतियों को चलाने की जिम्मेवारी अपने हाथ में लेता है और प्रबंधकीय व्यक्तियों की शृंखला के ऊपर उच्च प्रशासनिक अधिकार उसके पास हैं। ये व्यक्ति उद्योग का दैनंदिन प्रशासन चलाते हैं। चूंकि हाउस ऑफ कामन्स एक चुनी हुई संस्था है, इसलिए संभवतः यह कृत्य-विभाजन इस लोकतंत्रीय समाजवादी सिद्धांत को प्रभावी रूप देता है कि समाजीकृत उद्योग का निदेशन समग्र जनसमूह की इच्छा द्वारा किया जाएगा, जिसका पता लोकतांत्रिक तरीके से चलाया जा सकेगा।

अधिनियम मंत्री द्वारा नियुक्त की गई दो उपभोक्ता परिषदों की व्यवस्था करके उपभोक्ताओं के हितों को भी मान्यता देता है। यह परिषद् नीति के बारे में समय-समय पर उसके पास सिफारिशें भेजती है और एक वार्षिक प्रतिवेदन भी देती है, जो मंत्री को हाउस ऑफ कामन्स में रखना पड़ता है। औद्योगिक कोयला उपभोक्ता परिषद् निर्माताओं और सार्वजनिक उपयोगिता के उद्यमों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि घरेलू कोयला उपभोक्ता परिषद् कोयले का घरों में उपयोग करने वालों का प्रतिनिधित्व करती है। तथापि अधिनियम मंत्री या मंडल को इस दायित्व से नहीं बाँधता कि वे परिषद् की सिफारिशों को उपयोग में लाएँ। व्यवहार में राष्ट्रीयकृत उद्योग की नीतियों और प्रशासन के ऊपर उपभोक्ता परिषदों में नगण्य प्रभाव डालता है।

भूतपूर्व मालिकों को प्रतिकर

कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकरण अधिनियम में स्पष्ट तौर पर अनेक पृष्ठों में इस बात की व्यवस्था की गई है कि कौन सी संपत्तियाँ सरकार को हस्तांतरित होंगी और इनका प्रतिकर किस प्रकार भुगताया जाएगा। ये विशिष्ट ब्योरे इतने स्पष्ट रूप में दिए गए हैं कि उनसे जिन-जिन चीजों का समाजीकरण किया जा रहा है, उनकी ठीक-ठीक परिभाषा की सारी गुत्थियाँ और भूतपूर्व मालिकों को अपनी संपत्तियों के लिए पूरा-पूरा प्रतिकर मिलने के बारे में लेवर सरकार द्वारा ध्यानपूर्वक की गई व्यवस्था दोनों ही बातें स्पष्ट हो जाती हैं। अधिनियम में व्यवस्था थी कि स्वयं कोयला-खानें, कोक भट्टियाँ, ईंधन, निर्माण करने वाले संयंत्र (जैसे ब्रिकेट) और कोयले के दूसरे उत्पादन और बिजली संयंत्र, परिवहन प्रणालियाँ एवं कोयला खानों से संबद्ध विपणन सुविधाएँ सभी सरकारी स्वामित्व में स्थानांतरित करने होंगे। जिन कोयला खानों के मालिक लोहा और इस्पात कंपनियाँ थीं और जो अपने कोयले का एकमात्र या मुख्यतः अपने लिए ही उपयोग करती थीं, उनको इस व्यवस्था से बाहर रखा गया। कुछ गौण संपत्तियाँ भी सरकार को स्थानांतरण की सूची में रखी गई थीं। अगर मंडल या मालिक वैसा चाहें, और दूसरी चीजें तभी सरकार को स्थानां-

तरित होनी थी अगर मंडल और मालिक दोनों ही इस बारे में सहमत हों या उनकी सहमति न होने पर उनका स्थानांतरण एक मध्यस्थ के आदेश से होना था।

अधिनियम में व्यवस्था थी कि समग्र या विश्वजनीन प्रतिकर जो इन खानों के लिए दिया जाना है, वह बिजली मंत्री और ग्रेट ब्रिटेन के खनन संघ (मालिकों के प्रतिनिधि) द्वारा पहले से सहमत प्रक्रियाओं के अनुसार तय किया जाना चाहिए।[1] इस करार में व्यवस्था थी कि (विश्वजनीन) राशि एक अधिकरण द्वारा तय की जाएगी, जिसमें करार की व्यवस्था वाले तरीके से चुने गए दो निर्णायक और एक लेखाकार होंगे। यह भी दोनों ने मान लिया था कि पुराने 'मालिकों' के लिए उचित प्रतिकर वह दाम होगा, जो उद्योग की आस्तियों से एक इच्छुक विक्रेता द्वारा, एक इच्छुक क्रेता को खुले बाजार में पूरे उद्योग की औसत वार्षिक निबल आय के आधार पर उस एक यूनिट के लिए उचित रूप से प्राप्त होने की उम्मीद की जा सकती है। यह आय इस आधार पर जुड़नी थी कि वह उद्योग निजी स्वामित्व-संचालन में बना रहता और आय का समुचित व्याज़ दर के अनुसार पूँजीकरण किया जाता। इसमें भी सहमति हो गई थी कि अधिकरण इस बात के लिए कोई छूट न देगा कि बिक्री अनिवार्य थी या नया मालिक स्वयं सरकार थी। करार में आपस में मंजूर की गई समूचे कोयला-उद्योग के युद्धपूर्व के वर्ष सन् १९२२ से १९३९ ई० तक के निबल राजस्व तथ्यात्मक अनुसूची में दिए गए थे।

अधिनियम में यह भी व्यवस्था थी कि बिजली मंत्री उद्योग को जिलों में बाँट देंगे। इन जिलों के बीच 'विश्वजनीन' राशि तय करने के लिए एक केंद्रीय मूल्यांकन मंडल नियुक्त करेंगे और हर जिले में एक जिला मूल्यांकन मंडल बनाया जाएगा, जो उस जिले की प्रत्येक खनन इकाई के लिए ठीक-ठीक प्रतिकर उस जिले की रकम में से बाँट देगा। यह भी व्यवस्था थी कि जिला मूल्यांकन मंडल द्वारा दिए गए विशिष्ट प्रतिकर को पुराने मालिक किसी भी खनन इकाई के संबंध में अदालतों में चुनौती दे सकेंगे और ऐसा होने पर उस रकम का अंतिम फैसला अदालतों द्वारा किया जाएगा। प्रतिकर सरकारी स्टॉकों (जिन्हें हम बंधपत्र कहते हैं; क्योंकि मूल रकम बताई गई भावी तारीख को चुकाई जानी थी और इस बीच एक निश्चित दर से व्याज दिया जाना था) के रूप में दिया जाना था। हाथ के माल और छोटी-मोटी सहायक सुविधाओं के लिए कुछ नगद भुगतान भी अधिकृत किए गए गए थे। प्रतिकार स्टॉक खनन कंपनियों को दिए जाने थे, व्यक्तियों को नहीं। इस तरह जहाँ तक अधिनियम का सवाल था, पुरानी कंपनियाँ निगमित इकाइयों

---

[1] एच० एम० स्टेशनरी आफिस, लंदन द्वारा प्रकाशित।

के रूप में बनी रहेंगी, ऐसा माना गया था, और वे प्रतिकर स्टॉक पर व्याज पाती रहेंगी और फिर उसे स्टॉकधारियों को चुकाएँगी। प्रतिकर स्टॉक अहस्तांतरणीय था और राजकोष से अनुमति से ही उसे नकद में बदला जा सकता था, अगर सरकार यह समझती कि ऐसा परिसमापन राष्ट्रीय हित में होगा। राष्ट्रीय कोयला मंडल को अधिनियम ने इस दायित्व में बाँधा कि वह राजकोष को समय-समय पर सरकार द्वारा निश्चित की गई वे रकमें चुकाएगा, जो प्रतिकर स्टॉक के व्याज प्रभार की पूर्ति के लिए जरूरी होंगी और आगे चल कर नगद स्टॉक के मोचन के लिए एक शोधन निधि की भी व्यवस्था करेगा।

अधिकरण ने छह हफ्तों तक साक्षी लेने के बाद १९४६ ई० की गर्मियों में 'विश्वजनीन' प्रतिकर १६४६६०००० पौंड तय किया (जो उस समय की चालू विनिमय दर के अनुसार ६५८६४०००० डालर था) और उसमें कुछ गौण संपत्तियों के लिए जिला मूल्यांकन मंडलों द्वारा तय किया जाने वाला प्रतिकर शामिल न था। सरकार और कंपनियाँ दोनों ही स्पष्टतः इस रकम से संतुष्ट थीं। वस्तुतः रकम की घोषणा के बाद कोयला कंपनियों के शेयर का दाम लंदन श्रेष्ठिचत्वर में बढ़ ही गया। इनमें से बहुत से शेयरों के दाम राष्ट्रीयकरण विधेयक की शर्तों-संबंधी संसदीय बहस के दौरान भी बढ़ गए थे।

कोयला संपत्तियों के जिला मूल्यांकन पूरा करने में और इन संपत्तियों के भूतपूर्व मालिकों को भुगतान देने में ९ साल लग गए। १९५७ ई० तक सरकार द्वारा हाथ में ली गई सभी कोयला संपत्तियों का भुगतान कोयला कंपनियों को साढ़े तीन प्रतिशत की दर पर १९७७ से १९८० तक नकद में मोचनीय सरकारी स्टॉक दे कर पूरा किया जा चुका था। चूँकि कई कंपनियों को वास्तविक भुगतान करने से पहले ब्रिटेन में आमतौर पर व्याज दरें बढ़ चुकी थीं, इसलिए अंतिम भुगतान करते समय सरकारी स्टॉकों का साढ़े तीन प्रतिशत का चालू बाजार मूल्य साढ़े तीन प्रतिशत से कम था। साथ ही कोषागार कोयला कंपनियों को प्रतिकर स्टॉक नगद में बदलने का विशेषाधिकार दिए हुए था, जिससे ये शोधन आस्तियाँ दूसरे कारबार उपक्रमों में निवेश की जा सकती थीं, या कंपनियों का पूरी तरह परिसमापन किया जा सकता था और वे बिल्कुल खत्म की जा सकती थीं। इसलिए प्रतिकर के अंतिम भुगतान में इन पिछली कंपनियों को साढ़े तीन प्रतिशत के काफी सरकारी स्टॉक देने पड़े, जिससे चालू बाजार मूल्य के लगभग ८३ से तुलना करने पर प्राप्त स्टॉक जिला मूल्यांकन मंडल द्वारा दिए गए पूरे मूल्य के बराबर बाजार-भाव वाले रहते। फिर प्राप्त करने वाली प्रत्येक कंपनी सरकारी स्टॉक नकद पैसा लेकर बाजार में बेच दिए।

जिस समय राष्ट्रीयकरण विधेयक हाउस ऑफ कामन्स में चल रहा था, तभी कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकरण अधिनियम की प्रतिकर-संबंधी व्यवस्थाओं को लेकर जोरदार बहस हुई थी। कंजरवेटिवों का आरोप था कि इन व्यवस्थाओं से निजी मालिकों को उचित मूल्य से कम मिलेगा। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि 'विश्वजनीन' क्रय मूल्य प्राप्त करने के लिए पूँजीकृत किए जाने वाले उद्योगों के वार्षिक निबल राजस्व तय करने में कुछ कंपनियो के घाटे समूचे उद्योग के वार्षिक निबल राजस्व जोड़ने के लिए दूसरी कंपनियों के साझों मे से घटा लिए गए थे। उनका तर्क था कि कुछ सालों में घाटा उठाने वाली कंपनियों के पास भी 'विश्वजनीन' राशि में से भुगताई जाने वाला बहुमूल्य संपत्तियाँ थीं, इसलिए 'विश्वजनीन' राशि स्वतः बहुत कम हो जाएगी और कुल मिला कर मालिकों को कम प्रतिकर मिलेगा। लेबर दल वालों का तर्क था कि सरकार इस उद्योग को बहुत ज्यादा भुगतान करने जा रहा है। उनका आरोप था कि मालिकों ने दशकों से जरूरी पूँजी निवेश लगाने में लापरवाही दिखाई है, उन्होंने खानों में से बढ़िया से बढ़िया कोयला राष्ट्र की भावी जरूरतों का ख्याल किए बिना मथकर निकाल लिया है। उन्होंने खान-मजदूरों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया है और वे उद्योग की अवनति तथा अकार्यकुशल स्थिति के लिए आमतौर पर जिम्मेबार हैं। उनका तर्क था कि उद्योग निजी मालिकों के लिए 'सफेद हाथी' बन चुके हैं और उनको 'सफेद हाथी' के दाम पर ही सरकार को खरीदना चाहिए। उस मोटी रकम पर नहीं, जो विधेयक की प्रतिकर व्यवस्थाओं से उनको मिलेगी।

अब चूँकि खानों का प्रतिकर पूरा चुकाया जा चुका है, इसलिए संभवतः यह निर्णय किया जा सकेगा कि मालिकों को उनकी संपत्तियों के लिए पूरी तरह भुगतान किया गया या नहीं। तथापि पूरा-पूरा नतीजा जानने के लिए कई अज्ञेय चीजों के कारण काफी जटिलता पैदा हो जाती है। इच्छुक बिक्रेता द्वारा इच्छुक क्रेता को खुले बाजार में बेचने पर दिए जाने वाले दाम की संकल्पना से यह बात साफ नहीं होती कि इस मामले में उचित दाम क्या होगा। वास्तव में बिक्री अनिवार्य बिक्री थी और यह बात सोची नहीं जा सकती थी कि कोयला-उद्योग जैसा कोई पूरा उद्योग कभी खुले बाजार में बेचा जाएगा। दाम की इस संकल्पना को अधिनियम में केवल इसलिए लिखा गया था कि सरकार उद्योग को पूरा मूल्य चुकाना चाहती थी, वह चाहे जो कुछ हो। वास्तव में दाम की पर्याप्तता की जाँच फलमूलक होनी चाहिए : क्या मालिक संतुष्ट हुए और क्या कारबार एवं वित्तीय समुदाय ने चालू परिस्थितयों में दाम को उद्योग के पूरे मूल्य के अनुकूल समझा ? वास्तव में मालिकों को संतोष रहा और लंदन श्रेष्ठिचत्वर पर विधेयक के कानून बनने के समय कोयला

कंपनी शेयरों पर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे यह पता चलता है कि यह वित्तीय समुदाय समझता था कि मुआवजे की व्यवस्था से कुछ ज्यादा ही मूल्य चुकाया जा रहा है, अगर इसमें गलती की गुंजाइश है, तो यही है। इस तरह कोयला-उद्योग के मालिकों को जो प्रतिकर मिला, वह इस प्रकार का था कि लोकतांत्रिक तरीकों से और आगे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के ऊपर कोई बंधन न लद सके और विकासशील समाजवाद के सिद्धांत में समाजीकृत संपत्तियों को मुआवजे की पर्याप्तता की अंतिम जाँच यही होना चाहिए।

राष्ट्रीयकरण के प्रत्याशित लाभ

जिस संदर्भ में कोयले का राष्ट्रीयकरण किया गया, उससे संकेत मिलता है कि राष्ट्रीयकरण से तीन प्रमुख ठोस फायदे पाने की प्रत्याशा की गई थी : (१) खानों का पुनर्वर्गीकरण किया जा सकेगा और न्यूनतम संभाव्य कार्यकुशलता वाली खानों को बंद कर दिया जाएगा तथा उत्पादन ज्यादा अच्छी खानों तक केंद्रित किया जा सकेगा। सभी खनन संचालनों का एक इकाई में सम्मिलित हो जाने से यह संभावना पैदा हुई थी। वास्तव में राष्ट्रीयकरण से पहले इस उद्योग में कार्यकुशलता की दृष्टि में सबसे अच्छी और सबसे खराब गिरी हुई खानों के बीच बहुत बड़ा अंतर था। कुछ खानें दूसरी खानों की तुलना में प्रति कामगर दूना कोयला निकालती थीं। (२) खानों का यंत्रीकरण और आधुनिकीकरण राष्ट्रीय आयोजित आधार पर सरकारी पैसे से किया जा सकेगा। लगभग तीन दशकों से निजी मालिक ग्रस्त वित्तीय खतरे को झेलने के लिए स्पष्ट ही तैयार न थे और कटाई, लादने एवं ले जाने के लिए बहुत जरूरी साज-सामान के स्थापित करने के निवेश कार्यक्रम को चलाने में असफल रहे थे। (३) खानों में सुधार मजदूरियों, काम के घंटों और काम की हालतों के ज्यादा बेहतर हो जाने से खनिकों का हौसला बढ़ेगा और अच्छे खान-श्रमिक भरती किए जा सकेंगे। राष्ट्रीयकरण से तुरंत पहले कोयला खानों में कामगरों की कुल संख्या तेजी से गिर रही थी, यह परंपरा कि बाप के बाद बेटा खान में काम करने जाएगा, खत्म हो चुकी थी, हौसला गिर गया था और गैरहाजिरियाँ बहुत ज्यादा होती थीं। लेबर सरकार को आशा थी कि मजदूरियों और काम की हालतों में सुधार होने से और खान-मजदूरों को यह पता चल जाने पर कि अब लाभ निजी स्वामियों की जेब में नहीं जाता, यह हालतें सुधर जाएँगी और हजारों जरूरी खान-श्रमिकों की भरती संभव हो सकेगी।

राष्ट्रीयकृत कोयले की सफलताएँ और अभाव

एक अर्थ में कोयला ब्रिटिश समाजवाद की एक जाँच का मामला ही बन गया है कि जब तक उचित रूप में पर्याप्त रीति से कोयला-उद्योग ब्रिटिश औद्योगिक

जीवन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाता, औद्योगिक राष्ट्रीयकरण के समर्थकों को समाजवाद के सिद्धांत के रूप में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण उचित ठहराना मुश्किल हो जाएगा। १९४६ ई० के बाद के वर्षों का यथासंभव सर्वेक्षण करने पर कोयले के राष्ट्रीयकरण की सफलता या असफलता की घोषणा करना अगर संभव हो जाए, तो इसका समाधान किया जा सकेगा। चूँकि ब्रिटेन में इसके भारी समर्थक या भारी आलोचक कोई भी इस प्रकार की चरम बात नहीं कहता, इसलिए इस बात का यहाँ पर कथन अनुमानात्मक ही होगा। सफलताएँ भी मिली हैं और अभाव भी रहे हैं, राष्ट्रीयकरण प्रायोजना को संतुलित दृष्टि से देखने में दोनों चीजों को मान्यता देनी होगी।

बिजली मंत्रालय, राष्ट्रीय कोयला मंत्रालय और उद्योग के साथ संबद्ध सभी व्यक्तियों के लिए यह भी एक सफलता की ही बात है कि कार्यकुशलता में बिना ज्यादा हानि पहुँचाए उद्योग को संचालित रखा जाए। उद्योग का जो माल निकालने वाला स्वरूप है, उसका स्वतः मतलब यह है कि हर साल उत्पादन-क्षमता अपने-आप थोड़ी-बहुत पीछे पड़ जाती है और अगले साल अगर उद्योग उत्पादकता में कोई निबल फायदा पाना चाहता है, तो इस घाटे को पूरा करना होगा। जिस समय राष्ट्रीय कोयला मंडल ने उद्योग का प्रबंध अपने हाथ में लिया, उस समय की बड़ी ही विपरीत हालतों का ऊपर जिक्र किया जा चुका है। उद्योग के सरकारी स्वामित्व में तबादले ने ही संगठन और प्रबंध की बड़ी भारी अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी थीं। उनका मुकाबला करना, उद्योग को दैनंदिन आधार पर चलाते रहना और उसके भविष्य की आयोजना बनाना एक ऐसी संक्रिया रही है कि जो 'ब्रिटिश कारबार प्रबंध ने कभी भी जिन बड़ी से बड़ी समस्या का सामना किया है, उनसे भी ज्यादा बड़ी समस्या थी।' उद्योग को चालू रखते हुए राष्ट्रीय कोयला मंडल ने कोयला बाजार के थोक और खुदरा भाव को पूरी तरह से संशोधित किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि विभिन्न बाजारों में कोयले के दाम का मानकीकरण हो गया, जिसमें कोयले की कुछ किस्म और परिवहन की दूरी के अनुसार युक्तिसंगत विशेषक भेद बने रहे। १९५६ई० में नौकरियों के नाम, नौकरियों के वर्णन और नौकरियों के विषय का मानकीकरण करके प्रवीण, मुश्किल वाले काम और उत्पादन की मात्रा के मानक विशेषक स्थापित करके मंडल ने उद्योग के वेतनमानों का पूरा-पूरा पुनरीक्षण समाप्त किया—खानों के यंत्रीकरण में पूँजीनिवेश का एक भारी कार्यक्रम उत्पादन को ज्यादा अच्छी खानों में केंद्रित करना एवं खनन के तरीकों के आधुनिकीकरण का काम अच्छी तरह शुरू किया जा चुका है। मंडल को जिन बाधाओं का सामना करना पड़ा, उनकी पृष्ठभूमि में देखने पर ये सफलताएँ भी कम नहीं हैं। कम-से-कम उत्पादकता और

कार्यकुशलता को इस उद्योग में बढ़ाने की भावी संभावनाओं के लिए उन्होंने एक आधार तो खड़ा कर ही लिया, जो ब्रिटेन के अर्थतंत्र के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

राष्ट्रीयकृत कोयला उद्योग का सर्वांगीण संचालन सारणी ३ को देख कर अच्छी तरह समझा जा सकता है, जिसमें वर्ष १९३८ से १९५९ ई० तक आँकड़ों की सूची दी गई है। अगर इस दत्त सामग्री का आलोचक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए, तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि भौतिक दृष्टि से राष्ट्रीयकृत संचालन के प्रतिफल बड़े ही निराशाजनक रहे हैं, लेकिन वित्तीय दृष्टि से उतने बुरे नहीं रहे। तथापि इन सामान्य बातों को कहने से पहले दो महत्त्वपूर्ण चीजों पर ध्यान देना चाहिए : (१) कोयले के भौतिक निकास के विस्तार में सफलता की मात्रा का मापन सारणी में दी गई विशिष्ट दत्त सामग्री के आधार पर करते समय उसका निर्णय १९५७ ई० तक के वर्षों के आधार पर ही करना चाहिए। कारण यह है कि उस साल तक मंडल निकास बढ़ाने के लिए पूरा-पूरा दबाव डाल रहा था, लेकिन बाद के वर्षों के लिए यह बात सच नहीं है। माँग की विशेष परिस्थितियों के कारण जिनके ब्योरे आगे दिए गए हैं[1] मंडल को यह दबाव पलटना पड़ा और १९५८ एवं १९५९ ई० में वार्षिक निकास कम कम करना पड़ा। यह बात सारणी की उन मदों पर भी उतनी ही लागू होती है, जिनमें बताया गया है कि खानों की मजदूरों संबंधी जरूरतें पूरी करने में मंडल को कितनी सफलता मिली। १९५८ ई० में शुरू करके मंडल कोयला खानों में मजदूरों की संख्या बढ़ाने की जगह कम करने की कोशिश कर रहा था। (२) वित्तीय सफलता का जो रूप वार्षिक लाभ-हानि आँकड़ों या संक्षिप्त घाटों में दिखाया गया है, वह मंडल द्वारा तय किए गए बिक्री भाव से निकट से प्रभावित होता है और जैसाकि पहले बताया जा चुका है, बढ़ते हुए दाम ब्रिटिश उद्योग के लिए बड़ी गंभीर अड़चन बन गए हैं। इसलिए सारणी की वित्तीय स्तर सामग्री को कोयला मूल्य के उतार-चढ़ाव के प्रकाश में परखना होगा, जिनको कि सारणी में शामिल नहीं किया जा सका है।

भौतिक दृष्टि से विशिष्ट बात यह है कि १९५७ ई० में कोयले के उत्पादन का स्तर युद्ध से पूर्व और राष्ट्रीयकरण के पूर्व के वर्ष १९३८ ई० की तुलना में कम रहा। जबकि वार्षिक उत्पादन राष्ट्रीयकरण के पूर्व के स्तर (१९४६ ई०) की तुलना में काफी बढ़ गया और राष्ट्रीयकरण के पहले साल (१९४७ ई०) में भी बढ़ गया, तथापि १९५२ ई० से १९५७ ई० तक के वर्षों में कुछ कमी देखने को मिलती है। ये ब्रिटिश अर्थतंत्र के सामान्य समृद्धि के वर्ष थे और जब मंडल वार्षिक उत्पादन बढ़ाने के लिए पूरा

---

[1] देखिए पृष्ठ ३०२, ३०३।

सारणी ३ ब्रिटिश कोयला-उद्योग के आँकड़े १९३८—१९५९

ख	1938	1946 क	1947	1948	1949	1950
निकास (दस लाख टनों में	227	181	197	209	215	216
कामकर (हजारों में)	782	697	741	924	720	697
निकास काम करने वाली प्रति जन-पाली के हिसाब से (टनों में)।	1.14	1.03	1.07	1.11	1.16	1.19
प्रति व्यक्ति प्रति हफ्ते काम करनेवाली पालियाँ।	—	—	4.69	4.71	4.67	4.72
विवादों के कारण खोया गया निकास (हजार टनों में)	943	770	1643	900	1266	853
कोयला खान संचालनों में (+) या घाटा (–) (दस लाख पौंडों में)	—	—	(—)9.2	(+)16.2	(+)29.4	(+)24.2
राष्ट्रीय कोयला मंडल के कुल संचालनों में अतिरेक (+) या घाटा(—)	—	—	(—)23.3	(+)1.7	(+)9.5	(+)8·3
संचित घाटा (दस लाख पौंडों (में)।			20.5	18.8	9.3	1.0
प्रति जन पाली कामकरों का उपार्जन	—	—	28 शि॰ 10 पैं॰	33 शि॰ 1 पैं॰	34 शि॰ 4 पैं॰	35 शि॰ 6 पैं॰

क—राष्ट्रीयकृत उद्योग के रूप में संचालन का पहला साल।

ख—सन् १९३८ और १९४६ पट्टी खनन (उद्योग के मामूली से भाग) को छोड़कर।

ग—ब्रिटेन १९५०-५१, पे रेफरेंस हैंडबुक।

घ—दि लंदन इकोनॉमिस्ट ६ जून १९५१, ईंधन और बिजली मंत्रालय, साप्ताहिक आंकड़ा विवरण।

सारणी ३, ब्रिटिश कोयला-उद्योग के आँकड़े (जारी)

	1951	52	53	54 क	55	56	57	58	59
निकास (दस लाख टनों में) ख	223	226	224	224	222	222	224	216	206
कामगर (हजारों में)	699	716	713	707	704	703	710	699	665
निकास काम करने वाली प्रति जन-पाली के हिसाब से (टनों में)	1.21	1.19	1.22	1.23	1.22	1.23	1.25	1.26	1.55
प्रति व्यक्ति प्रति हफ्ते काम करने वाली पालियाँ।	4.81	4.79	4.67	4.71	4.68	4.65	4.61	4.38	4.24
विवादों के कारण खोया गया निकास (हजार टनों में)	803	1363	939	1221	2688	2146	1829	1451	973
कोयला खान संचालन में अतिरेक(+) या घाटा(−) (दस लाख पौंडों में)	(+)21.2	(+)5.7	(+)20.3	(+)16.4	(+)7.7	(+)26.6	(+)6.1	(+)11.4	(+)10.00
राष्ट्रीय कोयला मंडल के कुल संचालनों में अतिरेक (+) या घाटा (—)	(1.8	(−) 8.2	(+) 0.5	(−)3.5	(—)19.6	(+)12.8	(—) 5.3	(—) 3.5	(—) 24.00
सचित घाटा (दस लाख पौंडों में)	2.8	11.00	10.4	13.9	33.5	20.7	24.6	28.1	52.00
प्रतिजन पाली कामगरों का उपार्जन	38 शि. 10 पें.	45 शि. 2 पें.	45 शि. 5 पें.	47 शि. 9 पें.	50 शि. 11 पें.	55 शि. 8पें.	60 शि. ०पें.	62 शि. 5 पें.	63 शि. 11 पें.

ड.—ईंधन और बिजली मंत्रालय, स्टेटिस्टिकल डाइजेस्ट, १९५४।

स्रोतः—बताए गए अपवादों को छोड़कर राष्ट्रीय कोयला बोर्ड की : रिपोर्ट एवं एकाउंट्स, १९५६ जिल्द १, रिपोर्ट और जिल्द दो, एकाउंट्स एंड स्टेटिस्टिकल टेबुल्स ए समरी ऑफ दि रिपोर्ट एंड एकाउंट्स, १९५९: ब्रिटिश सूचना सेवा, न्यूयार्क द्वारा दी गई दत्त सामग्री।

प्रयास कर रहा था; क्योंकि कोयले की राष्ट्रीय माँग ज्यादा थी। महत्त्वपूर्ण जनशक्ति की जरूरतों को पूरा करने के लिए कर्मचारियों की भरती-संबंधी उद्योग की योग्यता में उतार-चढ़ाव तो आए हैं, लेकिन १९५७ ई० में पिछले ५ वर्षों की तुलना में ६ हजार कर्मचारी कम थे। यह कमी उस अवधि में आई, जिसके बारे में मंडल का अनुमान था कि उसे भारी जरूरतें पूरी करने के लिए १०-१५ हजार कामगरों की जरूरत पड़ेगी। खनन-कार्यकुशलता को नापने का एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण प्रति जन-पाली निकास भी है। यह न केवल श्रम की कार्यकुशलता बताता है, बल्कि साथ ही यह मजदूर एवं साज-सामान की उत्पादकता की माप-जोख भी करता है। जैसे ही संचालन का यंत्रीकरण आगे बढ़ता जाता है, इसके बढ़ने की उम्मीद की जानी चाहिए। राष्ट्रीयकरणके पहले पाँच सालों में (१९४७ से १९५१ ई०) प्रति जन-पाली निकास में तेजी से और काफी वृद्धि हुई। १९५१ से १९५७ ई० तक के वर्षों में कुछ नगण्य वृद्धि हुई। ऐसे भी साल आए, जब मंडल ने पुरानी खानों के आधुनिकीकरण और यंत्रीकरण में बड़े और पुराने बेकार गड्ढों के स्थान पर नए संचालन खोलने में बड़ा भारी पूँजी निवेश लगाया। ये सब ऐसी हालतें थीं, जिनके फलस्वरूप श्रम उत्पादिता में बड़ी भारी वृद्धि होनी चाहिए थी। प्रति हफ्ते, प्रति व्यक्ति काम करने वाली पालियों की संख्या न केवल कुल निकास पर प्रभाव डालती है, बल्कि मशीनों के पूरे उपयोग की मात्रा पर ही प्रभाव डालती है और इस तरह वह खान की कार्य-कुशलता में एक महत्त्वपूर्ण बात है। दत्त सामग्री से पता चलता है कि १९५७ ई० में गैरहाजिरियाँ इतनी ज्यादा हो गईं, जितनी १९४७ ई० में खानों के पहले-पहल राष्ट्रीयकरण के समय थीं। हड़तालों के कारण भी उत्पादन में सबसे ज्यादा घाटा राष्ट्रीयकरण के १२ साल बाद सन् १९५५ में हुआ।

इस चित्र का वित्तीय पक्ष उतना बुरा नहीं है, हालांकि राष्ट्रीय कोयला मंडल के संचालन के वित्तीय प्रतिफलों का निर्धारण कुछ मुश्किल काम है। अगर कोयले की खानों के संचालन को—अर्थात् केवल खनन-कार्य को —अलग कर दिया जाए, तो कोयले का खनन लाभ उठाकर किया गया, तथापि अगर कोयला खनन-कार्यों में पट्टी खानों के संचालन और कुछ गौण सुविधाओं को जोड़ दिया जाए, तो स्थिति बदल जाती है। ये सुविधाएँ हैं : कोक भट्ठियाँ, कामगर प्रतिकर और खनिकों की पेंशन की व्यवस्था, कोयले की आयात पर कुछ घाटा और मंडल द्वारा बिजली मंत्री को व्याज एवं शोधन निधि के प्रभार पूरे करने के लिए भुगतान, जो भूतपूर्व मालिकों को दिए गए प्रतिकर स्टॉक पर देने पड़े। ये सर्वांगीण संचालन, जिन्हें ज्यादा सार्थक माना जाना चाहिए, लाभ-हानि के विकल्प का चित्र प्रस्तुत करते हैं, विशेष परिस्थितियों के कारण सन् १९५७, १९५८ और १९५९ ई० में लगातार घाटे उठाने पड़े।

इन परिस्थितियों का वर्णन आगे किया जाएगा। वित्तीय दत्त सामग्री पर विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि १९५३ ई० में कोयले के दाम लगभग १० प्रतिशत बढ़ाए गए, १९५४ ई० में लगभग ५ प्रतिशत, १९५५ ई० में १८ प्रतिशत, १९५६ ई० में ८ प्रतिशत और १९५७ ई० में साढ़े आठ प्रतिशत। प्रत्येक अगला प्रतिशत पिछले प्रतिशत की अपेक्षा ज्यादा बड़े आधार पर जोड़ा गया है। इस बात के लिए छूट दे दी जाए, तो सन् १९५३ से १९६० ई० तक के मूल्य में कुल वृद्धि ६० प्रतिशत हुई; क्योंकि मंडल को इन वर्षों में बढ़ी हुई कीमत की अनेक न टाली जाने योग्य मदों का सामना करना पड़ा। इसलिए मूल्य को इन वृद्धियों को संचालन की कार्यकुशलता की प्रवृत्तियों को नापने के लिए वार्षिक लाभ या हानि के आगे रखने का कोई तरीका नहीं है। १९५७ ई० के आखिर तक मंडल को राजकोष के लिए देय कुल संचित घाटा २ करोड़, ९१ लाख पौंड था। यह साल अन्यत्र बताई गई विशेष परिस्थितियों के आड़े आ जानें की सबसे ताजा साल थी, और फिर यह घाटा बढ़कर १९६० ई० के मध्य में ६·३ करोड़ पौंड हो गया। जब हम राष्ट्रीयकृत परिवहन-उद्योग के संचित घाटे के साथ तुलना करते हैं, तो १९५७ ई० के ये आँकड़े ज्यादा बड़े नहीं लगते। इनमें कुछ अंश तक कोयला-उद्योग को दी गई आर्थिक सहायता शामिल है, जो औद्योगिक उत्पादन लागत तय करने के लिए कोयले के मूल्य के महत्त्व की दृष्टि से बड़ी जरूरी है।

१९५५ ई० के बड़े घाटे का खास तौर पर विश्लेषण करना होगा; क्योंकि यह समाजीकृत उद्योग के संचालन के वित्तीय प्रतिफलों को उसकी सफलता या असफलता का मापदंड मानने में ग्रस्त विक्रेताओं का एक नमूना पेश करता है। ब्रिटेन कोयले के निर्यात को विदेशी मुद्रा के मूल्यवान् संभरण का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत मानता रहा है। उद्योग के राष्ट्रीयकरण के बाद, सरकार का प्रतिनिधि बिजली मंत्री के नीति निर्णयों द्वारा राष्ट्रीय कोयला मंडल ने कोयले की अपेक्षतया कम पर फिर भी काफी मात्राओं का निर्यात किया। सरकार तथाकथित 'कोयला निर्यात करने वाले राष्ट्र की बुरी परंपरा' से चिपटी रहते 'हुए भी कोयले' के अपने विदेशी बाजार के कुछ अंश को बनाए रखना चाहती थी, कम-से-कमउस समय तक के लिए, जब बढ़े हुए उत्पादन के फलस्वरूप ब्रिटेन फिर एक बड़ा कोयला-निर्यातक बन सकेगा। तथापि बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन के साथ जैसे ही कोयले की घरेलू जरूरतें बढ़ती गईं, वैसे-ही-वैसे ब्रिटेन के अपने उद्योगों के लिए जरूरी संभरण में से कोयले का निर्यात और कमी पैदा करता गया। अंत में सरकार ने फैसला किया कि वह कोयले के निर्यात को लगभग प्रतिसंतुलित करने के लिए कोयले का आयात करेगी। इसलिए १९५५ ई० में राष्ट्रीय कोयला मंडल ने लगभग १२० लाख टन कोयले का निर्यात और लगभग १२०

लाख टन कोयले का आयात किया। यूरोप महाद्वीप में कोयले का निर्यात करने के लिए वहाँ के स्पर्धी मूल्यों का मुकाबला करना जरूरी था। कोयले का अमेरिका से आयात करने में परिवहन और लदान आदि के लिए बड़ा भारी खर्च करना पड़ता था तथा फिर भी आयात किए गए कोयले के बाजार में घरेलू रूप से खोदे गए कोयले के लिए तय किए गए भाव पर ही बेचना होता था। इस तरह राष्ट्रीय कोयला मंडल कोयले के घरेलू दाम से ऊपर थोड़ा सा ही लाभ उठा कर कोयले को विदेश में बेच रहा था। ब्रिटेन में बिक्री के लिए प्रति टन भारी घाटा उठा कर बड़ा महँगा कोयला आयत कर रहा था। १९५५ ई०में कोयले के आयात पर मंडल को पूरे साल में २७६ लाख पौंड का घाटा उठाना पड़ा। स्पष्ट है कि अगर सरकार इस निर्यात-आयात नीति से न बँधी रहती, या इस संचालन में हुए घाटे को राष्ट्रीय कोयला मंडल नहीं, बल्कि सरकार बर्दाश्त करती, तो मंडल का १९५५ ई० का १९६ लाख पौंड का घाटा अतिरेक में बदल जाता। वस्तुतः अगर आयात १९५४ ई० में हुए ५० लाख पौंड के घाटे को १९५५ ई० के आयात के घाटे में जोड़ दिया जाए, तो इन दो सालों का घाटा १९५५ ई० के अंत में मंडल के संचित घाटे के लगभग बराबर हो जाता। १९५५ ई० के अंत की ओर निर्यात-आयात नीति में परिवर्तन करके १९५६ ई० में मंडल का सर्वांगीण संचालन कहीं ज्यादा अच्छी वित्तीय स्थिति में आ गया। मंडल के इस निर्यात-आयात अनुभव से पता चलता है कि एक राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रबंधकों को सरकार के लादे गए निर्णयों के फलस्वरूप ऐसी हालतों का मुकाबला करना पड़ सकता है, जो उसके लिए अनुकूल वित्तीय प्रत्याय दिखाना असंभव बना देती हैं।[1]

संतुलन करने पर राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग के संचालन के वित्तीय प्रतिफलों की अपेक्षा संभवतः भौतिक प्रतिफलों को ज्यादा महत्त्व का माना जाना चाहिए। विकासशील समाजवाद समाजीकृत उद्योग की कार्यकुशलता का निर्णय करने के लिए संभवतः भौतिक उत्पादन और कार्यकुशलता की जाँच पर ज्यादा जोर देगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भौतिक परीक्षणों से पता चलता है कि ब्रिटिश कोयला-उद्योग उन प्रतिफलों को प्राप्त करने में असफल रहा, जिनकी उम्मीद राष्ट्रीयकरण के प्रस्तावकों द्वारा की गई थी। फिर भी इस निष्कर्ष से पहले अनेक अज्ञेय प्रश्नों

---

[1] सन् १९५५ और १९५६ ई० में हाउस ऑफ कामन्स के लेबरदलीय सदस्यों ने सिफारिश की कि राष्ट्रीय कोयला मंडल की लेखाओं में १९५५ ई० के लिए उस समय कोयले के आयात पर कूते जाने वाले २५० लाख पौंड के घाटे को शामिल करने की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। उनका कहना था कि इस लेखे में इस मद को रखने से मंडल पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा और इस घाटे को करदाता को झेलना चाहिए; क्योंकि यह सरकार की निर्यात-आयात नीति के फलस्वरूप पैदा हुआ है।

का समाधान करना होगा। क्या बहुत समय से लापरवाही की हालत में पड़े हुए उद्योग और राष्ट्रीयकरण के अधीन पुनर्निर्माण यथार्थ जरूरत की दृष्टि में कोयले के राष्ट्रीयकरण के समर्थकों ने जरूरत से ज्यादा उम्मीद की थी? किस सीमा तक राष्ट्रीय कोयला मंडल के पूँजीनिवेश कार्यक्रम में (जिसकी आगे चर्चा की जाएगी) उत्पादन और कार्यकुशलता में दीर्घकालीन वृद्धि का लक्ष्य सामने रख कर अपने प्रयास को भावी लक्ष्यों की ओर उन्मुख कर दिया था, जिनको अगर ज्यादा तत्कालीन लक्ष्यों की ओर उन्मुख रखा जाता, तो १९४७ से १९५७ ई० की अवधि में कुल उत्पादन और प्रति जन-पाली उत्पादन काफी बढ़ा होता? और फिर अंत में राष्ट्रीयकरण के अनुभव की तुलना के लिए किन वैकल्पिक प्रतिफलों को सामने रखना चाहिए? अगर उद्योग का राष्ट्रीयकरण न होता, तो क्या वार्षिक उत्पादन जन-शक्ति और प्रति जन-पाली उत्पादन ज्यादा होता या कम होता? ब्रिटेन के युद्ध-पूर्व काल में कोयला-उद्योग के निजी स्वामित्व के अनुभव के आधार पर राष्ट्रीयकरण को इस अर्थ में सफल माना जाएगा कि इसने उद्योग को लगातार अवनति से बचा कर उसे स्थिर बना दिया है; क्योंकि यह अवनति ही निजी स्वामित्व के अधीन उसकी निश्चित रूप से स्थापित प्रवृत्ति बन चली थी। शायद इसी बात के कारण कंजरवेटिव दल ने कभी भी कोयले के विराष्ट्रीयकरण का विधान बनाने का समर्थन नहीं किया, इस कारण नहीं कि राष्ट्रीयकरण के अधीन उद्योग में कोई निश्चित प्रगति की है।

फिर भी राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग के संचालन की कुछ बुनियादी समस्याएं हैं, जिनका हल सरकार और राष्ट्रीय कोयला मंडल अब भी खोज रहे हैं; आर्थिक पद्धतियों के छात्रों के रूप में हमारे लिए यह ज्यादा लाभकर होगा कि अज्ञेय चीजों पर ज्यादा ध्यान न देकर इन बातों की ओर ही विशेष ध्यान दें।

राष्ट्रीयकृत कोयले की समस्याएँ

मजदूर समस्याएँ। इस अध्याय में पहले उद्धृत कुछ आँकड़ों से जैसा पता चलता है कि संचालन के एक दशक से भी ज्यादा समय बाद तक खनन-कर्मचारियों की हानि, गैरहाजिरी, प्रति जन-पाली कम उत्पादन, हड़तालें और गिरे हुए हौसले राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग को परेशान करते रहे। बिजली मंत्री, राष्ट्रीय कोयला मंडल और वस्तुतः राष्ट्रीय खान-कर्मचारी संघ के बड़े-बड़े अधिकारी समझा कर, चापलूसी करके, धमकी देकर और मजदूरी बढ़ाने के रूप में या काम की हालतें सुधारने के रूप में रिश्वत देकर खान-मजदूरों के इन रवैयों और कार्यों के दोषों को ठीक करने में लगे रहे। मजदूर संघ के ऊँचे स्तर के नेताओं ने तो इन समस्याओं के

समाधान के लिए सरकार और राष्ट्रीय कोयला मंडल की कोशिशों में सहयोग दिया, लेकिन खानों के मजदूर कुछ भी समझने से इनकार करते रहे।

मजदूर-संबंधों की समस्याओं के आपसी समाधान का तंत्र तो विद्यमान है। राष्ट्रीयकरण के शुरू से ही राष्ट्रीय कोयला मंडल ने मजदूर संघों के साथ सामूहिक बातचीत के उस संबंध को बनाए रखा, जो राष्ट्रीयकरण से पहले निजी स्वामित्व के अधीन विद्यमान था। पूरे दशक भर लगातार मजदूरियों, घंटों, काम के हफ्ते के आकार, समयोपरि भत्ते और बाकी सभी काम की हालतों के मामले में सामूहिक बातचीत चलती रही। शुरू से ही राष्ट्रीय कोयला मंडल मजदूरियों, घंटों और काम की हालतों में ऐसे भारी सुधार करने के लिए राजी होता रहा है और इनको करता रहा है कि आज बहुत से ब्रिटेनवासी यह मानते हैं कि खान-मजदूर ब्रिटिश मजदूर वर्गों के बीच एक 'दुलारा बेटा' है। राष्ट्रीय खान-मजदूर संघ के अध्यक्ष के अनुसार मंडल और मजदूर संघ के बीच जो पहला श्रम समझौता बातचीत करके तय किया गया, उसने ब्रिटिश खान-मजदूर को सारी दुनिया की तुलना में सर्वोत्तम तुलना में ला दिया।[1] इस समझौते में खान-मजदूरों को चले आते हुए छह दिन के हफ्ते की जगह चिरवांछित पाँच दिन का हफ्ता प्रदान कर दिया और मजदूरी की दरें इस तरह समंजित कर दी गईं कि खान-मजदूर को पाँच पालियों में ही अगर वह पूरे पाँच दिन के हफ्ते में वस्तुतः काम करता, तो उसको उतना मिल जाता, जितना उसे पहले ६ पालियों में मिलता था। दुर्घटनाओं और मजदूर संघ के अधिकृत काम के लिए अनुपस्थिति को क्षम्य बना दिया गया। करार में मजदूर संघ ने यह मान लिया कि मजदूर हर हफ्ते पूरी पाली काम करेंगे, दिए गए काम में 'प्रयास के रोके जाने' को सहन न करेंगे, एक खान से दूसरी खान में मजदूरों के तबादले में उत्पादिता बढ़ाने की दृष्टि से सहयोग देंगे और अतिरिक्त खान-मजदूरों की वृद्धि के प्रयास में मदद देंगे। इस लक्ष्य के लिए मजदूर संघ ने हर खान-मजदूर के पास पैंफ्लेट भेजे, उससे ज्यादा उत्पादन करने के लिए आग्रह किया और यह बताया कि उत्पादन में कमी आ जाना 'राष्ट्र के लिए बड़ा भारी दुर्विपाक होगा, जनता को भारी परेशानियों का सामना करना पड़ेगा और लेबर सरकार तथा राष्ट्रीय कोयला मंडल दोनों की बदनामी होगी।'[2] जब काम का हफ्ता घटाकर ५ दिन किया गया था, तो यह समझ लिया गया था कि खान-खान के आधार पर मंडल और मजदूर संघ दोनों दैनिक 'नियत अनुपात' में वृद्धि के लिए राजी होंगे, जिससे कुल कोयला-उत्पादन में कमी न आने

---

[1] लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, अप्रील १९४७, पृष्ठ ७५।

[2] वही, पृष्ठ, ७६।

पाए और दाम न बढ़ने पाएँ।[1] जब इस समझौते को लागू करने के लिए कार्यवाही शुरू की गई, तो स्थानीय मजदूर संघों द्वारा की जाने वाली हड़तालों की एक लहर आई। ये राष्ट्रीय खान मजदूर संघ द्वारा अधिकृत न थी। ये प्रत्यक्षतः प्रभावित सदस्यों वाले स्थानीय मजदूर संघों द्वारा तो की ही गईं, साथ ही जिन स्थानीय मजदूर संघों के सदस्य तत्काल प्रभावित न थे, उनके द्वारा भी सहानुभूति में की गईं। इस तरह अनुचित रूप से कम 'नियत अनुपात' में वृद्धि करने के अपने प्रयास रोकने के लिए मंडल को मजबूर होना पड़ा।

राष्ट्रीय कोयला मंडल ने राष्ट्रीयकरण के अधिनियम ज्यादा अच्छी मजदूरियों एवं काम की हालतों के बारे में अपने वचन का पूरी तरह पालन किया। आम तौर पर खान-मजदूरों ने उन वचनों का पालन नहीं किया, जो उनके संघों ने उनकी ओर से दिए थे। ज्यादा कोयले की भावी राष्ट्रीय जरूरत के कारण ५ दिन के हफ्ते के इतिहास के शुरू-शुरू के दिनों में मंडल और मजदूर-संघ ने आपसी बातचीत द्वारा साल के कुछ मौसमों में समयोपरि वेतन के आधार पर शनिवार की पाली की व्यवस्था बढ़ा दी। बहुत से खनिकों ने इसका जवाब यह दिया कि वे सोमवार से शुक्रवार तक ज्यादा समय छुट्टी पर रहने लगे जिससे हर हफ्ते वे जितने पाली काम करते थे, वह तो उतनी ही बनी रही। लेकिन, अब उनको उनमें से एक पाली के लिए समयोपरि भत्ता और दिया जाने लगा। इन मामलों में मंडल को खनिकों से प्रति हफ्ते कोई ज्यादा कोयला न मिला, उल्टे उसे खुदाई के लिए उनको ज्यादा वेतन देना पड़ा। तब मंडल ने यह अपेक्षा लगाई कि नियमित ५ दिन के हफ्ते में सभी पालियों में काम कर चुकने के बाद ही किसी व्यक्ति को शनिवार के काम के लिए समयोपरि वेतन दिया जाएगा। संघ ने बार-बार इस अपेक्षा को हटा देने का अनुरोध किया और यह प्रतिज्ञा की कि सोमवार से शुक्रवार तक गैरहाजिरी नहीं बढ़ेगी। अंत में मंडल ने यह बात मान ली और शनिवार के समयोपरि वेतन के लिए उपस्थिति की पूर्वापेक्षा हटा दी। तत्काल गैरहाजिरी बढ़ गई, जिसका अनुपात प्रतिवर्ष २० लाख टन कोयले के बराबर हो गया।[2] मंडल ने मजदूरों की कमी को दूर करने के लिए एक बार राष्ट्रीय मजदूर संघ के प्रतिनिधियों की मंजूरी से कई हजार इतालवी खनिकों का आयात किया और दूसरी बार कई टुकड़ियों में हंगरीवासी खनिको को ब्रिटेन की

---

[1] 'नियत अनुपात' (स्टिंट) काम की एक भौतिक इकाई है। जैसे—कितने फीट कोयला काटा गया, या कितने टन कोयला लादा गया, जिसको संबंधित खानों के खनिक एक दिन का काम मानने लगे हैं।

[2] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १४ दिसंबर, १९४७, पृष्ठ ९८९।

कोयला-खानों के काम में प्रशिक्षित करने के लिए बुलाया। जब मंडल इन लोगों के बुलाने और प्रशिक्षण में काफी खर्च कर चुका, तो ब्रिटिश खनिकों ने खानों में इन 'विदेशियों' के साथ काम करने से इनकार कर दिया और हड़ताल की धमकी दी। फलतः दोनों ही प्रायोजनाएँ छोड़नी पड़ीं।

राष्ट्रीय मजदूर संघों द्वारा अनधिकृत स्थानीय हड़तालों की समस्या का हल न खोजा जा सका। ये कार्यरोध विवाद का निबटारा करने के साधनों के अभाव के कारण नहीं हुए; क्योंकि पर्याप्त निबटारा-सुबिधाएँ राष्ट्रीय कोयला मंडल और राष्ट्रीय खान मजदूर संघ के बीच आपसी समझौते के द्वारा निश्चित कर दी गई थीं। हर कोयला-खान में एक प्रबंधक कामकर परामर्श समिति होती है, जिसके लिए कामकरों के प्रतिनिधि गुप्त मतदान द्वारा चुने जाते हैं। इसके बाद अपील करने के निकाय हैं जिनमें क्षेत्र, डिवीजन और राष्ट्रीय मंडल के स्तर पर कर्मचारियों एवं प्रबंधकों के प्रतिनिधि होते हैं और दोनों पक्षों के इन परामर्श निकायों द्वारा जिन विवादों का फैसला नहीं होता, उनको एक निष्पक्ष व्यक्ति के पास मध्यस्थ निर्णय के लिए भेजने की व्यवस्था है। सबसे ज्यादा परेशानी वाले झगड़े स्थानीय स्तर पर होते हैं, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं और उस स्तर पर तो संघ के अधिकारियों तथा राष्ट्रीय कोयला मंडल के बीच काफी पास का सहयोग रहता है। परामर्श तंत्र इन झगड़ों के जो भी कारण हों, उनको निबटाने में बिलकुल असफल रहा है।

राष्ट्रीय कोयला मंडल को जिन श्रम-समस्याओं का सामना करना पड़ा है, उनका कारण मजदूरों की आर्थिक हालत सुधारने में असफलता को नहीं बताया जा सकता। मजदूरी और घंटों में तो सुधार हुआ ही है, खनिकों को अनिवार्य सैन्य-सेवा से छूट मिली है और उनको अच्छे मकानों की सुविधा दी गई है (मंडल के मकान निर्माण-कार्यक्रम के अधीन हजारों नए मकान बनाए गए हैं) गड्ढों के ऊपर स्नान-घरों की फीसें खतम कर दी गई हैं और अच्छे स्नानघरों की सुविधाएँ दी गई हैं। मजदूरों को अपने काम की खानों में से अपने घरेलू खर्च के लिए मुफ्त कोयला देने की पुरानी व्यवस्था चालू रही है और बढ़ाई गई है। इतना ज्यादा कोयला उनको दिया जाता है कि वे कुछ कोयला आमतौर पर गैर-खनिकों को भी वेच देते हैं। उनको ज्यादा अच्छी शिक्षा-सुविधाएँ दी गई हैं। राष्ट्रीय बुढ़ापा बीमा योजना के अनुपूरक के रूप में पेंशन योजना भी चालू की गई है, जो किसी भी राष्ट्रीयकृत उद्योग में शुरू की जाती है। मजदूरियों में शायद इतना सुधार हुआ है, जितना ब्रिटेन के किसी दूसरे बड़े उद्योग में नहीं हुआ। इस अध्याय के शुरू में आँकड़ों की जो सारणी दी गई है, उससे पता चलता है कि उनकी दैनिक आय में कितनी रकम की वृद्धि हुई है।

इनमें सभी उद्योगों की औसत साप्ताहिक आय की तुलना में कम-से-कम १० प्रतिशत ज्यादा वृद्धि हुई है और औसत खुदरा दाम की वृद्धि से लगभग ५० प्रतिशत अधिक वृद्धि। अगर उद्योग के वेतनमानों में सुधार करके वेतन बढ़ा कर और अभिप्रेरण वेतनमान सुधार कर श्रम-समस्याओं को हल किया जा सकता है, तो राष्ट्रीय कोयला मंडल और राष्ट्रीय संघ ने यथासंभव सब कुछ किया है। लेकिन, जिनको ब्रिटिश कोयला-उद्योग के बारे में कुछ जानकारी है, उनका कहना है कि आर्थिक अभिप्रेरण की मूलभूत समस्या नहीं है। उद्योग के कुछ अनुभव यह बताते हैं कि बढ़ी हुई मजदूरी, घंटे और काम की हालतें यद्यपि ब्रिटिश खनिक के जीवन-स्तर को सुधार सकी है, पर वे इन सुधारों के बावजूद कम घंटे काम करना चाहते हैं और अपने काम में कम प्रयास करना चाहते हैं। यह ऐसा प्रतिफल है, जो मंडल और सरकार द्वारा सोचे गए लक्ष्यों के सर्वथा विपरीत है।

राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग की श्रम-समस्याओं के इस विवेचन से यह बड़ा रोचक प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप खान-श्रमिकों से क्या आशा की जानी चाहिए थी। जब खान का राष्ट्रीयकरण किया गया, तो राष्ट्रीय कोयला मंडल और राष्ट्रीय संघ को बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं, यह केवल आशा मात्र न थी कि उद्योग को सरकारी स्वामित्व और प्रबंध के अधीन ले आने से श्रमिकों एवं प्रबंधकों के बीच के तनाव कम हो जाएंगे, जो निजी स्वामित्व में इस बीमार उद्योग में पैदा हो गए थे। यह उम्मीद थी कि राष्ट्रीय जरूरतों की सेवा के लिए श्रमिक अपने दायित्व को और ज्यादा तेजी से समझने लगेंगे और इस तरह हाजिरी में, अनधिकृत काम रोकने तथा बंधन लगाने में एवं एक दिन की मजदूरी के लिए पूरे दिन का उत्पादन प्रस्तुत करने के लिए और ज्यादा जिम्मेवार हो जाएंगे। मंडल और संघ ने खनिकों से इसी बात पर बार-बार अनुरोध किया। ऐसी निष्ठा उनमें भरने के लिए मंडल ने हर कोयला-खान के ऊपर मंडल का झंडा फहरा दिया, जिस पर राष्ट्रीय कोयला मंडल का चिह्न था और जो नए शासन का स्पष्ट प्रतीक था। तब भी इसके फलस्वरूप खनिकों के हौसले, रवैये, अभिप्रेरण, जिम्मेवारी और विशिष्ट कामों के अगर कुछ प्रतिफल हुए भी, तो वे बड़े ही दयनीय रूप में थोड़े से रहे। ब्रिटिश खनिक बुनियादी रूप से मालिक के प्रति इन्कार करने वाला बना रहा, किसी भी अन्याय के मौके को पकड़ कर उससे सुभीता उठाने के लिए सतर्क रहा, चाहे वह अन्याय वास्तविक हो या कल्पित और भले ही मालिक लाभ कमाने वाले निजी स्वामी की बजाय जनता की सरकार हो।

यह किसी को वस्तुतः समुचित आशा नहीं हो सकती थी कि राष्ट्रीयकरण होते ही ब्रिटिश खनिकों के हौसले, रवैये और जिम्मेवारी में एकदम मोड़ आ जाएगा।

ब्रिटेन की कोयला-समस्याओं के गंभीर छात्रों को इससे परेशानी नहीं होती कि ऐसा न हो सका। उनकी चिंता यह है कि राष्ट्रीयकरण के अधीन प्रत्याशित परिवर्तन की दिशा में कोई भी दृश्य प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। इस समस्या का सार यही है कि इन मामलों में शुरूआत ही नहीं की गई, वड़े परिवर्तन की तो बात ही क्या! इन समस्याओं के प्रसंग में समाजवादी सिद्धांतों को लेकर अनेक रोचक परिकल्पनाएँ खड़ी हो जाती हैं। क्या विकासशील समाजवाद बिल्कुल गलत चीज है या वह इस बारे में बहुत ज्यादा प्रत्याशाएँ लेकर चलता है, कि एक बार लाभ कमाने वाले मालिकों के शोषण से मुक्त हो कर मजदूरों का हौसला और अभिप्रेरण उद्योग के समाजीकरण के बाद बहुत ज्यादा बढ़ जाएगा? वस्तुतः क्या कोई सचमुच कह सकता है कि ब्रिटिश कोयला खनिकों को 'शोषण' से मुक्त कर दिया गया और उनके हौसले तथा अभिप्रेरण पर इस बात की छाप पड़नी चाहिए? राष्ट्रीयकरण ने यह अपेक्षा की और मंडल ने यह नीति चलाई कि कोयले के दाम ऐसे स्तर पर रखे जाएँ कि पहले के निजी मालिकों को दिए गए प्रतिकर बंधपत्रों का व्याज चुकाने के लिए काफी पैसा आ सके। क्या पुराने मालिक आज भी खनिकों के प्रयास में 'कटौती' नहीं कर रहे हैं, जैसाकि वे खनिकों के आरोप के अनुसार निजी स्वामित्व के अधीन करते थे, उल्टे अब यह कटौती सीधे उसकी जेब में जाती है और अब उसे प्रबंध के कर्त्तव्यों का या पहले उठाए जाने वाले खतरों को वहन नहीं करना पड़ रहा है? क्या राष्ट्र को कई पीढ़ी तक इंतजार करना चाहिए, जब तक खानों के लिए दिया गया सारा प्रतिकर उत्तराधिकार के रूप में सरकारी राजकोष द्वारा वसूल कर लिया जाएगा और वह तभी सचाई के साथ खनिकों से यह कह पाएगी कि केवल वह उपभोक्ता या राष्ट्र की कुल मिला कर कोयला खोदने में किए गए मानवीय प्रयास से फायदा उठाता है? अगर ऐसा है, तो क्या इससे हौसले और अभिप्रेरण के लिए अपेक्षित समय इतना ज्यादा न बढ़ाना होगा कि यह परिवर्तन उद्योग के समाजीकरण से प्रत्याशित लाभ ही न रह जाएगा? ब्रिटेन के राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग को श्रमिकों के साथ जो अनुभव हुए हैं, वे समाजवाद के छात्र के लिए ऐसे ही प्रश्न उठाते हैं।

संगठन की समस्याएँ : यह स्पष्ट है कि कोयला-उद्योग के ऊपर, जिसमें ६५०००० कर्मचारी हैं और ९०० कोयला-खानें हैं तथा जो बड़े भारी भौगोलिक क्षेत्र में फैली हुई हैं एवं तरह-तरह की भूतत्वीय और प्रौद्योगिकीय हालतों में चल रही हैं, प्रबंधकीय नियंत्रण का समुचित संगठन उस कार्यकुशलता पर प्रभाव डालेगा, जिसके साथ कोयले की खुदाई की जाती है। प्रबंध संगठन के आज बने हुए ढाँचे की चर्चा इस अध्याय के शुरू में की गई थी। यह सन् १९४७ के बाद भी वैसा ही

बना रहा है और बिजली मंत्री एवं राष्ट्रीय कोयला मंडल लगातार संभाव्य संगठन सुधारों की समस्या में उलझे रहे हैं--जहाँ तक व्योरों के सुधार का संबंध है। राष्ट्रीयकरण के तुरंत बाद अधिकार और नीति-निर्णय का केंद्रीयकरण प्रबंधकों के लिए मुख्य बात थी। राष्ट्रीय कोयला मंडल का हर विशेषज्ञ कृत्यकारी विभाग डिवीजन मंडल के उस विशेषज्ञ कृत्यकारी विभाग की समस्याओं को निबटाता था और यही विभाग क्षेत्र के महाप्रबंधकों के कर्मचारियों के वैसे ही विभाग की समस्याओं को सीधे-सीधे निबटाता था। प्रतिफल यह हुआ कि क्षेत्र महाप्रबंधक और कोयला-खान प्रबंधक जो दैनंदिन संचालन के लिए सीधे जिम्मेवार थे 'आधे दर्जन मालिकों के नीचे काम करते थे।' "और तमाम सारे केंद्रीय अनुदेशों से दवे रहते थे और अपनी स्थानीय जिम्मेवारियों के मामलों में दूरवर्त्ती केंद्रीय निर्णयों पर आश्रित रहते थे।"[1] इसका क्षेत्र महाप्रबंधकों और कोयला-खान प्रबंधकों के हौसले एवं पहल की भावना के ऊपर जो उल्टा प्रभाव पड़ता था, उसका अंदाज लगाया जा सकता है; क्योंकि उन आदमियों को पुरानी निजी कंपनियों से लिया गया था और उनको स्थानीय संचालन समस्याओं का निकट का और व्यावहारिक ज्ञान था।[2]

सन् १९५१ ई० के अपने सफल चुनाव घोषणापत्र में कंजरवेटिव दल ने प्रस्ताव किया कि कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकृत तो बना रहे, लेकिन उसमें ज्यादा विकेंद्रीयकरण किया जाए तथा स्थानीय पहल और निष्ठाओं को उद्दीपित किया जाए। कंजरवेटिव सरकार के अधीन संगठन में विकेंद्रीयकरण पर जोर दिया गया। अक्टूबर, १९५३ ई० में राष्ट्रीय कोयला मंडल ने एक सामान्य निदेश निकाला, जिसमें प्रबंधकों की विभिन्न शृंखलाओं के विभिन्न स्तरों पर मंडल के प्रत्येक अभिकर्त्ता को दी गई जिम्मेवारी को परिभाषित किया गया था। इस निदेश की सबसे ज्यादा विशिष्ट बात थी कि क्षेत्र के महाप्रबंधकों को निर्णय करने का काफी अधिकार दिया गया था। उद्योग के संगठन को लेकर असंतोष बना रहा। दिसंबर, सन् १९५३ ई० में मंडल के अनुरोध पर उद्योग की जानकारी रखने वाले निष्पक्ष व्यक्तियों की एक समिति ने संगठन और उसके कार्य की ठीक-ठीक ही रीतियों का अध्ययन शुरू किया। इस तरह राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग लेबर सरकार की राष्ट्रीयकरण प्रायोजनाओं में पहला प्रायोजना थी, जिसकी एक प्रवीण और निष्पक्ष तथा सक्षम व्यक्तियों के निकाय द्वारा पूरी-पूरी जाँच की गई।

---

[1] लंदन टाइम्स, रिव्यू ऑफ इंडस्ट्री, ८ जून, १९४८, पृष्ठ ३।

[2] इस स्थल पर विद्यमान राष्ट्रीय कोयला मंडल के इतिहास की विकेंद्रीयकरण की समस्या के बहुत अच्छे अध्ययन के लिए देखिए ऐबटन सोसाइटी की पुस्तक 'दि ऐक्सटेंट ऑफ सेंट्रलाइजेशन: ए डिस्कशन बेस्ड ऑन ए केस स्टडी इन दि कोल इंडस्ट्री, १९५१।

तथाकथित 'फ्ले'समिति' ने एक साल तक सघन काम करने के बाद १९५५ई० के शुरू में अपने निष्कर्ष का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति यह मान कर चली कि कोयला एक राष्ट्रीयकृत उद्योग बना रहेगा और समिति का काम उसके संगठन तथा प्रबंध की शैली को सुधारने के तरीकों का पता लगाना ही है, जिससे उद्योग के पास जो संसाधन हैं, उनका ज्यादा सक्षम उपयोग किया जा सके। समिति को पता चला कि बुनियादी तौर पर उद्योग के संगठन का ढाँचा, जिसमें डिवीजन क्षेत्र और कोयला-खान स्तर पर प्रबंधक थे, बड़ा ठोस है और एक ऐसे उद्योग में जहाँ साढ़े सात लाख व्यक्ति काम करते हैं, राष्ट्रीय कोयला मंडल ने जो ४० हजार प्रबंधकीय कर्मचारी लगा रखे हैं, उनको ज्यादा नहीं बताया जा सकता। अपने प्रतिवेदन में उसने सबसे ज्यादा जोर ज्यादा अच्छी प्रबंधकीय प्रतिभा और प्रशिक्षण के हर स्तर पर तथा खास कर कोयला-खान प्रबंधक के स्तर पर करने की जरूरत पर दिया एवं सुझाया कि उसके प्रशासनिक और वैयक्तिक सहायकों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए और वे मजदूर संघों के कर्मचारियों में से जिस तरह पहले आते रहे हैं, उस तरह कम आने चाहिए। इसने सिफारिश की कि राष्ट्रीय कोयला मंडल में एक ऐसा विभाग होना चाहिए, जिसको व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने, अनुशासनात्मक कार्य करने और प्रबंधकीय पदों पर भरती के स्तर बढ़ाने की जिम्मेवारी सौंपी जानी चाहिए। उसने इस बात की जरूरत मानी कि हर प्रबंधकीय स्तर पर कृत्यकारी विशेषज्ञ अपने निचले स्तर के उसी तरह के विशेषज्ञ से ज्यादा क्षमता वाला व्यक्ति होना चाहिए—यह एक ऐसा सिद्धांत था, जिसे राष्ट्रीय कोयला मंडल ने नहीं अपनाया था। यह बात समिति ने लक्षित रूप में कही थी। उसनें सिफारिश की कि क्षेत्र महाप्रबंधक और कोयला-खान के बीच में प्रबंधक का एक और नया स्तर बनाया जाना चाहिए। आमतौर पर फ्ले समिति ने विकेंद्रीयकरण की आलोचना की, जिसको मंडल ने सन् १९५३ ई० में शुरू किया था और यह सिफारिश की कि मंडल का सन् १९५३ ई० का सामान्य निदेश वापस लेकर उसकी जगह एक नया निदेश निकाला जाए और प्रबंधकों को हर स्तर के कृत्यकारी कर्त्तव्यों एवं जिम्मेवारियों को स्पष्ट रूप में बताया जाए तथा राष्ट्रीय कोयला मंडल और उसके केंद्रीय कर्मचारियों के ऊपर नेतृत्व एवं बुनियादी प्रबंधकीय फैसले करने की पूरी जिम्मेवारी डाली जाए। मंडल ने एक ऐसा नया सामान्य निदेश जुलाई, सन् १९५५ ई० में निकाला, जो तब से प्रभावी रहा है। एक और राष्ट्रीयकृत उद्योग को लेकर समिति जिस नतीजे पर पहुँची और जिसकी चर्चा आगे की जाएगी, उस समिति के निष्कर्ष की तुलना में इसका एक निष्कर्ष यह भी है कि एक राष्ट्रीयकृत उद्योग के संचालनों के ऊपर कार्य-

कुशलता का 'वित्तीय परीक्षण' लगाना खतरनाक है। समिति का कहना था कि जिस समय लाभ मिल रहा है, उस समय वित्तीय परीक्षण लगाने से कार्यकुशलता को लेकर लापरवाही आएगी और जब घाटा चल रहा है, तो ज्यादा पैसा निवेश करने में अनिच्छा रहेगी और ये दोनों प्रवृतियाँ समाज के हितों के लिए खतरनाक हैं।[1]

मंडल के संगठन की समस्याओं का हल फ्ले समिति की सिफारिशों से लाभ उठाने के बावजूद अभी तक नहीं खोजा जा सका है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि उनका पूरी तरह समाधान तो कभी भी नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे उद्योग में संचालन की समस्याएँ स्वरूप और आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से समय-समय पर बदलती रहती हैं, इसलिए प्रबंधकों में अच्छे प्रबंध-संगठनों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। राष्ट्रीयकृत कोयले की संगठन-समस्याओं का यह संचित पुर्नविलोकन समाजवादी सिद्धांतकारों द्वारा कभी-कभी किए जाने वाले इन सरल अनुमानों को चुनौती देता है कि सरकारी स्वामित्व प्रभावी होने से आंतरिक संगठन की समस्याएँ या तो खत्म हो जाती हैं या निजी स्वामित्व के अधीन उनका जो जटिल रूप था, वह सीधा-सादा हो जाता है। कोयले को लेकर ब्रिटेन को जो अनुभव हुआ है, यह इस नतीजे की पुष्टि नहीं करता। केंद्रीयकृत और विकेंद्रीयकृत प्रबंधकीय नीति-निर्माण ने राष्ट्रीय कोयला मंडल के लिए उतनी ही मुश्किल समस्या खड़ी की है जैसी कि वह बड़े निजी उद्योग में होती है : प्रबंध के सभी स्तरों पर केंद्रीयकरण और विकेंद्रीयकरण का समुचित मिश्रण तैयार करने के लिए भारी सोच-विचार और बुद्धि-प्रयोग की जरूरत है। जैसा हम देख चुके हैं, राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग के प्रबंध के पहले केंद्रीथकरण पर जोर था और फिर विकेंद्रीयकरण पर जोर दिया गया और अब फिर दुबारा; ज्यादा केंद्रीयकरण पर प्रत्यक्षतः जोर दिया जा रहा है।, राष्ट्रीयकरण के बाद से प्रायः परिपूर्ण संगठन के पुर्जे आसानी से या अपने-आप अपनी-अपनी जगह पर नहीं जुट पाए हैं।

पूँजी-निवेश आयोजना : द्वितीय महायुद्ध के तुरंत पहले और दौरान कोयला-उद्योग की बीमार हालत का एक प्रमुख कारण यह था कि पिछले तीन या संभवतः चार दशकों से निजी स्वामियों ने जरूरी पूँजी-निवेश लगाने की परवाह न की थी।

---

[1] फ्ले समिति के निष्कर्षों और सिफारिशों तथा उनको अमल में लाने के लिए राष्ट्रीय कोयला मंडल द्वारा की गई प्रगति का ज्यादा ब्योरेवार विवरण जानने के लिए देखिए राष्ट्रीय कोयला मंडल, रिपोर्ट एँड एकाउण्ट्स फोर सन् १९५५ ई०, जिल्द १ अध्याय ४। समिति के प्रतिवेदन के अंशों को अमल में लाने के बारे में मंडल के सामान्य निदेशों के लिए देखिए वही, परिशिष्ट १।

सारणी-४ राष्ट्रीय कोयला मंडल के १९५०, १९५६ और १९५९ के पूँजीनिवेश कार्यक्रमों की तुलना

मद	'कोयले के लिए आयोजन।' १९५० ई० के अधीन	१९५० ई० तक पूरा किया गया ।	'कोयले में निवेश' १९५६ ई० के अधीन	'कोयले के लिए संशोधित आयोजना' १९५९ ई० के अधीन
खर्च की जाने वाली कुल रकम ।	१९५०—१९५५ : २२ करोड़ पौंड (१९४९ के मूल्य-स्तर पर)	२८.७० करोड़ पौंड (जिसमें से ८ करोड़ पौंड मूल्य-स्तर पर वृद्धि के लिए है)	१९५६—१९६० '१०० करोड़ पौंड' (१९५६ के मूल्य-स्तर पर)	
	१९५०—१९६५ : ६३.५० करोड़ पौंड (१९४९ के मूल्य-स्तर पर)	१९५० ई० में प्रस्तावित से कुछ कम ।	१९५०-१९६५ : १३५ करोड़ पौंड (१९५६ के मूल्य-स्तर पर)	१९५० १९६५ : ८२.५० करोड़ पौंड (१९५६ के मूल्य-स्तर पर)
	१९५०—१९६५ : ९० करोड़ पौंड (१९५६ के मूल्य-स्तर पर)	इन आयोजित राशियों में मूल्य की कोई महत्त्वपूर्ण स्फीति को नहीं जोड़ा गया ।		

मद	'कोयले के लिए आयोजना' १९५० ई० के अधीन	१९५० ई० तक पूरा किया गया ।	'कोयले में निवेश' १९५६ ई० के अधीन	'कोयले के लिए संशोधित आयोजना,' १९५९ ई० के अधीन
टन भार क्षमता (गहरी खुदाई का कोयला)	२४ करोड़ टन १९६१ और १९६५ के बीच कमी	२१ करोड़ टन	२१.६० करोड़ टन १९६० २३ करोड़ टन १९६५ तक २३.८० करोड़ टन १९७०तक जब सभी निवेश पूरी तरह उत्पादी रहें ।	२०-२१.५० करोड़ टन १९६५ तक माँग पर निर्भर रहते हुए ।
जन शक्ति उपलब्ध मानी गई	६,१८,००० कामगर १९६५ में	७, ०४, ००० कामगर लगे थे	६,८२,००० कामगर १९६० में ६,७२,००० कामगर १९६५ में	५,८७,०००-६,२६,००० कामगर १९६५, में कोयले की माँग पर निर्भर रहते हुए
प्रति जन वर्ष निकास	३८५ टन १९६५ तक	वास्तव में २९९ टन	३४२ टन १९६५ तक	३४१-३४७ टन १९६५ तक

कितने कोयले का उत्पादन किया जा सकता है और खानों के लिए कितने काम पर भरती किए जा सकते हैं, इनके अनुमानों के आधार पर कितना कोयला बेचा जा सकता है और कितने कामगार जरूरी होंगे, के साथ परिवर्तन पर ध्यान दीजिए ।

स्रोत : राष्ट्रीय कोयला मंडल, रिपोर्ट एंड एकाउंट्स, १९५५ ई०, जिल्द १, आकार ७, दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १७ अक्टूबर, १९५९ ई०, जिनकी अनुपूर्ति अन्य स्रोतों से की गई है ।

इस स्थिति को ठीक करना राष्ट्रीयकरण का एक प्रथम कारण था। कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकरण अधिनियम में व्यवस्था थी कि सरकार कोयला मंडल को यंत्रीकरण और आधुनिकन के लिए खानों में ५ बर्ष तक निवेश के लिए १५ करोड़ पौंड तक पैसा उधार दे सकेगी और उसके बाद जैसा संसद् तय करे। इसके अनुसार मंडल ने १९५० ई० में एक १५ वर्षीय 'कोयला आयोजना' घोषित की, जिसमें ६३·५० करोड़ पौंड की व्यवस्था थी, जिसे कि मंडल ने पूँजी उपकरण की दृष्टि से यथासंभव सब से ठीक समझा था। आयोजना में लगभग ३५० कोयला-खानों का अलग से संचालन बंद करने और पुनर्निर्माण करके लगभग ९० कोयला-खानों को ज्यादा बड़ी और ज्यादा कुशल खानों के साथ मिला देने एवं नई खाने खोदने तथा साथ ही दूसरी खानों में कुछ ज्यादा यंत्र उपकरण भेजने की व्यवस्था थी। इस तरह आयोजना के अनुसार १५ साल की अवधि में नए निवेश के जरिए श्रम-उत्पादिता को लगभग ४० प्रतिशत बढ़ा कर उत्पादन में २० प्रतिशत वृद्धि की आकांक्षा की गई थी। इस तरह खानों में जनशक्ति में प्रत्याशित लगातार आने वाली कमी को इस नए निवेश द्वारा प्रतिसंतुलित किया जाना था। मंडल की आयोजना थी कि ब्रिटिश कोयले की ऐतिहासिक अवनति की ओर चलने की दिशा को पलट दिया जाए, जो राष्ट्रीयकरण से पहले चली आ रही थी और मंडल जिसको १९४७ई०के बाद केवल रोक भर सका था। 'कोयला आयोजना' इस आशा को ठोस रूप देती थी कि राष्ट्रीयकरण के अधीन कोयला-उद्योग एक बार फिर १९ वीं सदी की भाँति ब्रिटेन के आर्थिक जीवन में प्रगति का कारण बनेगा। इस आयोजना के प्रमुख अंगों का सारांश सारणी-४ में दिया गया है। जब १९५० ई० में इसकी घोषणा की गई, तो इसे ब्रिटेन में राष्ट्रीय कोयला मंडल की उस समय की सबसे बड़ी सफलता के रूप में और मंडल की अग्रगामी दिशा के निरूपण के रूप में मंजूर किया गया, जो ब्रिटेन की कोयला-समस्याओं को निश्चय ही सुलझा सकेगा।

'कोयला आयोजना' को पाँच साल तक चलाने के बाद १९५५ ई० में मंडल ने देखा कि कोयला-उद्योग की स्थिति ऐसी है कि १९५०ई० की आयोजना जिन कुछ अनुमानों को ले कर चली है, उनका पुनःनिर्धारण जरूरी हो गया है और अब उसकी बुनियादी व्यवस्थाओं का एक बड़ा पुर्नविलोकन करना होगा। शुरू से ही वास्तव में यह समझ लिया गया था कि निवेश कार्यक्रम की बहुत सी मदें पूरी करने के लिए कई साल लगेंगे, जैसे बहुत से गड्ढों का पूरा खुला निर्माण और नए गड्ढों का खोला जाना और उनमें लगाया गया पैसा कुछ सालों के बाद ही फल प्राप्त कर सकेगा और ऐसी दीर्घकालीन प्रायोजना में जो पैसा लगाया गया है, वह ज्यादा तत्कालीन किंतु कम बुनियादी सुधारों में से हटा कर लगाया गया है, जिससे ज्यादा जल्दी

नतीजे निकले होते, भले ही वे ज्यादा स्थायी न होते। आयोजना को सब तरफ जैसी वह थी, उसी रूप में माना गया था—बुनियादी तौर से वह दीर्घकालीन आयोजना थी, जो खानों के उत्पादन और कार्यकुशलता को स्थायी रूप से बढ़ाने के लिए बनाई गई थी।

तथापि जैसाकि सारणी के दूसरे और तीसरे स्तंभों से पता चलता है कि आयोजना कुछ अनुमानों पर आधारित थी, तो गलत सिद्ध हुए। पहले तो मंडल मूल्य-स्फीति की मात्रा को पहले से आँकने में असफल रहा, जो ब्रिटेन में सन् १९५०से १९५५ ई० तक चली। फलत: आयोजनों से ज्यादा पैसे खर्च करने पड़े और नतीजे प्रत्याशित से कम निकले। अगर उनको खानों में भौतिक उपकरणों और भौतिक परिवर्तनों की दृष्टि से नापा जाए, तो यही पता चलता है। मंडल ने प्रत्याशा की थी कि जैसे ही अनेक पूँजी-निवेश आयोजनाओं से कोयला मिलना शुरू हुआ, वैसे ही जरूरी होने वाली पूँजी निधि ज्यादा-से-ज्यादा मात्रा में मूल्य ह्रास निधि से मिलती जाएगी, जो मंडल द्वारा कोयले की विक्री के लिए राजस्व से अलग रखी जाएगी। १९५४ ई० तक हुए अनुभव से यह प्रकट हो गया कि यह एक बहुत बड़ी आशा थी। इस कारण और मूल्य-स्तर पर अप्रत्याशित मूल्य-वृद्धि का मतलब यह हुआ कि १९५०ई० में मंडल की ३० करोड़ पौंड उधार लेने की क्षमता थी और जिसे १५ साल की अवधि तक पूँजी-निवेश कार्यक्रम चलाने के लिए काफी समझा जाता था। वास्तव में १९५६ ई० के शुरू में ही चुक गई। हालांकि आयोजना में अंदाज था कि वार्षिक टन भार क्षमता में सबसे ज्यादा वृद्धि आयोजना के पिछले सालों में ही होगी, फिर भी कुछ वृद्धि पहले होने की उम्मीद थी। तथापि १९५१ई की तुलना में गहरी खुदाई वाले कोयले के उत्पादन में १९५५ ई० तक कुछ कमी आ गई थी। १९५१ ई० इस आयोजना का पहला प्रभावी साल था। आयोजना में यह अनुमान लगाया गया था कि १५ साल की अवधि में काम पर मजदूरों की उपस्थिति में ढाई प्रतिशत सुधार हो जाएगा। १९५५ ई० तक उपस्थिति और भी कम हो गई। इसने जन वर्ष उत्पादकता की वृद्धि १९६५ तक ३८५ टन कूती थी, लेकिन आयोजना के संचालन के पहले ५ सालों में प्रति व्यक्ति उत्पादन कम हो गया। राष्ट्र को कोयले की जरूरत के बारे में, मंडल १९५० ई० में ब्रिटिश अर्थतंत्र के विस्तार को पूरी तरह से नहीं समझ सका। वास्तव में १९५५ई० तक अर्थ-व्यवस्था इस स्तर तक पहुँच गई थी कि कोयले की माँग का स्तर उतना हो गया था, जितने की कल्पना मंडल ने १९६१ ई० में पहुँचने की की थी। मंडल की आयोजना में कहा गया था कि निवेश कार्यक्रम का पहला प्रमुख प्रभाव १९५६ ई०तक देखने को मिल जाएगा। वास्तव में १९५६ ई०के आरंभ तक नतीजे कुछ-कुछ निकलना

ही शुरू हुए थे और बिजली मंत्री ने हाउस ऑफ कामन्स को बताया कि उस समय तक जिन प्रायोजनाओं को उत्पादक बन जाना चाहिए था, वे अभी तक आधी पूरी हो पाई थीं और जिन गड्ढों को पूरा हो कर काम शुरू कर देना चाहिए था, अभी तक आधे ही खोदे जा चुके थे।[1]

इस प्रकार १९५५ ई० तक मंडल अपनी आयोजना का पूरा पुनर्विलोकन न टाल सका। इसलिए उसने १९५६ ई०में ''कोयले में निवेश' नामक नई आयोजना निकाली, जिसने १९५५ ई० में पूँजी निवेश प्रायोजनाओं की ओर समूचे उद्योग की स्थिति से फिर यथार्थवादी ढंग से काम शुरू किया। पूरे १५ साल की कार्यक्रम की आयोजित लागत दूने से ज्यादा हो गई, हालाँकि मंडल ने फिर १९५६ ई०के बाद स्फीति प्रवृत्ति लगातार बने रहने की संभावना के लिए कोई छूट नहीं दी थी। कार्यक्रम की कुल लागत का जो हिस्सा सरकार से उधार लेने के लिए अंदाजा था, वह सारतः बढ़ गया और संसद् ने तुरंत मंडल की सन्निहित उधार लेने की क्षमता को दूना कर दिया। १९६५ई० में वार्षिक टन भार के अनुमानित प्रतिफल जितने हुए थे, उनसे एक करोड़ कम रखे गए, हालांकि मंडल ने अनुमान लगाया था कि १९७० ई० तक निवेश प्रायोजनाओं से लगातार सन् १९६५ और १९७० ई०के बीच फल पाते रहने के कारण यह कटौती करीब-करीब पूरी हो जाएगी। प्रत्यक्षतः इस अध्याय के शुरू में गहन प्रकार की जिन समस्याओं की चर्चा की गई है, उनको मान्यता देते हुए मंडल ने १९६५ ई० में उद्योग की जन-शक्ति संबंधी जरूरतों का अनुमान ६,१८,००० से बढाकर ६,७२,००० कामगर कर लिया और फिर ऐसा करने में यह अनुमान लगा लिया कि खानों में प्रति व्यक्ति दिया जाने वाला वास्तविक समय कम न होगा, जो फिर एक प्रत्यक्षतः संदिग्ध अनुमान था। उसने पूँजी और निवेश कार्यक्रम के अंतिम फलस्वरूप प्रति जन वर्ष निकास का अपना अनुमान ३८५ टन से कम करके ३४२ टन कर लिया। मंडल ने पहले प्रमुख प्रतिफलों को कार्यक्रम द्वारा प्रत्याशित तारीख कम-से-कम १९५७ ई० के शरद तक स्थगित कर दिया। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मूल आयोजना के लक्ष्यों के आगे बनी हुई संशोधित आयोजना में लगभग दूने पौंडों का निवेश लगा कर प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत कम कोयला पाने का लक्ष्य रखा गया और इसके लिए १० प्रतिशत ज्यादा मजदूर लगाए जाने थे, जो कार्यकुशलता के १० प्रतिशत कम स्तर पर काम करने वाले थे।

हालांकि आयोजना का वित्तीय पुनर्विलोकन अंशतः ब्रिटेन में स्फीति की लहर के कारण करना पड़ा, लेकिन हर स्तर पर प्रत्याशित लक्ष्यों को प्रभावी रूप से नीचे

---

[1] दि टाइम्स (लंदन). ११ मई, १९५६।

करने का बुनियादी कारण १९५० ई० की आयोजना में बहुत ज्यादा आशावादी अनुमानों का रखा जाना था। यह चर्चा करना ज्यादा उचित नहीं है कि क्या इस अत्यधिक आशावाद के मूल में लापरवाही, राजनीतिक अभिप्रेरण या अक्षमता की जो मंडल और उसके कर्मचारियों ने १९५० ई० में दिखाई थी या १९५० ई० की स्थिति में ज्यादा यथार्थवादी रूप से संभाव्यताओं का निर्धारण एक असंभव बात मात्र थी। इस बात पर भी चर्चा करना व्यर्थ है कि १९५६ ई० में कोयले की आयोजना का पुर्नविलोकन राष्ट्रीयकृत कोयले की असफलता को स्वीकार करना था। १९५६ ई० की आयोजना सामने रखते समय मंडल ने बड़े स्पष्ट रूप से यह बात मान ली थी कि १९५० ई० में मंडल बहुत ज्यादा आशावादी रहा था और उसने आयोजना के संगत कुछ घटकों की मापजोख कुछ गलत तरीके से की थी। १९५० से १९५६ ई० की आयोजना के संक्रमण की चर्चा करते समय राष्ट्रीय कोयला मंडल के अध्यक्ष ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि अगर निजी स्वामी उचित निवेश कार्यक्रम पर चलते रहते, तो ३-४ दशकों में जो काम निष्पन्न होता, उसे मंडल को एक दशक में पूरा करना है। उन्होंने यह भी कहा कि कुछ सालों में ही मंडल एक ऐसे उद्योग की व्यवस्था करने में लगा है, जो ८० प्रतिशत नया हो जाएगा। साथ ही सन् १९५६ ई० की आयोजना से जितने पैसे के निवेश की माँग की जा रही है, वह पूरे अर्थतंत्र में निवेश के हिसाब से एक पौंड में केवल १० पेंस या कुल राष्ट्रीय निवेश का ४ प्रतिशत ही होता है, जिसको एक ऐसे उद्योग के लिए अत्यधिक नहीं माना जाना चाहिए, जो देश की ईंधन और बिजली का मुख्य स्रोत है और अगर ये निवेश न किए गए, तो १९६५-७० ई० में उत्पादित कोयले का कुल टन भार १९५५ ई० की तुलना में संभवतः २० प्रतिशत कम होगा और १९७० ई० में आयोजना में जो व्यवस्था की जा रही है, उसकी तुलना में ३० प्रतिशत कम।[1] यह भी कहा जाएगा कि मंडल प्रभावी यंत्र उपकरणों को विकसित करने और खानों में अपने संस्थापनों के लिए पूंजीनिधि का उपयोग करने में बड़ा सक्रिय रहा है। इस बारे में मंडल के प्रबंध को देखें, तो हर साल भौतिक प्रगति देखी जा सकती है। राष्ट्रीयकरण के समय खानों में ७२ प्रतिशत खानों के मोहरों पर का कोयला मशीनों से काटा जाता था और केवल ६९ प्रतिशत को मशीनों से ले जाया जाता था। इसके बदले १९५५ ई० में मंडल ने प्रतिवेदित किया कि कुछ कोयले का मशीनों से काटा जाना और ले जाया जाना ब्रिटेन में अब एक आम रिवाज बन गई है।[2] कोयले की खानों के मोहरों

---

[1] लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, सितंबर, १९५५ पृष्ठ १३०, दि टाइम्स (लंदन), २४ अप्रील, १९५६।

[2] राष्ट्रीय कोयला बोर्ड, रिपोर्ट ऐंड एकाउंट्स १९५५, जिल्द १, पृष्ठ २२।

पर बिजली से लादे जाने में प्रगति को तकनीकी दिक्कतों के कारण रोक देना पड़ा। 'फिर भी मंडल ने प्रतिवेदित किया कि सन् १९५४ से १९५५ ई० तक बिजली से लादा जाने वाला कोयला कुल के ८·३ प्रतिशत से बढ़ कर ११·१ प्रतिशत हो गया और १९५६ ई० में मंडल के पास नए सुधरे हुए डिजाइन के बिजली से माललादक काफी संख्या में आने को थे और उनको काम में लाया जाएगा।[1]

ब्रिटेन में राष्ट्रीय कोयला मंडल के पूँजी-निवेश कार्यक्रम में पुर्नविलोकन को उन परिस्थितियों की विशुद्ध वास्तविकताओं के प्रति जरूरी समंजन के रूप में लिया गया, जिनमें मंडल पड़ गया था। हालांकि पूँजी-निवेशों के प्रत्याशित नतीजों में घटौती करने वाले संशोधनों के प्रति खेद प्रकट किया गया, फिर भी यह अनुभव किया गया कि 'कोयले में निवेश' की नई आयोजना में जैसे लक्ष्य हैं, जिनको प्राप्त किया जा सकता है, और मंडल जिसमें कि अब नए व्यक्ति थे, अब फिर नई कोशिश कर रहा है, जिसके सफल होने की काफी गुंजाइश है। न तो जनता में और न हाउस ऑफ कामन्स में में आयोजना के इस संशोधन को उद्योग के विराष्ट्रीयकरण पर विचार करने का कोई मौका समझा और न उन्होंने उसके प्रबंध के किसी ढाँचे में भारी हेरफेर या इसके संचालन के किन्हीं बुनियादी सिद्धांतों में परिवर्तन की ही माँग की।

१९५६ ई० के 'कोयले में निवेश' के पुर्नविलोकन तीन साल के भीतर ही मंडल के पूँजी-निवेश कार्यक्रम में, जिस आर्थिक संदर्भ में कोयला-उद्योग काम करता है, उसे ऐसे भारी परिवर्तन का अनुभव हुआ कि कोयले की वार्षिक जरूरतों का, शक्ति की जरूरतों का और उद्योग में 'पूँजी-निवेश की संबंधित आयोजनाओं' का अनुमान पूरी तरह फिर से पुनरीक्षित करना होगा। १९५०-१९५६ ई० में पूँजी-निवेश कार्यक्रम इस अनुमान पर बनाए गए थे कि बिक्री के लिए कोयला मंडल जितना भी कोयला प्रस्तुत करेगा, कोयला बाजार में पूरे की खपत हो जाएगी। लेकिन १९५७ ई० में बाजार में मंदी आई, जो १९५९ ई० तक इतनी मंदी हो गई कि उसने उद्योग संबंधी बुनियादी आयोजना में नया मोड़ देने के लिए मंडल को विवश कर दिया। इस स्थिति का आरंभ पहले से ही हो चला था (अंशतः मंडल के अपने अनुसंधान के कारण) जो १९५० ई० के बाद उस कार्यकुशलता के कारण पैदा हुई थी, जिसके साथ कोयले को बिजली में बदला जाने लगा था।

सन् १९५८-१९५९ ई० में कोयले के ज्यादा संभरण का मुख्य कारण था कोयले के दाम और ईंधन वाले तेल के दाम के बीच के संबंध में परिवर्तन। दोनों

---

[1] वही, पृष्ठ २३-२४।

के दाम बढ़ रहे थे, लेकिन जब कोयले का दाम एक अवधि में लगभग ६० प्रतिशत बढ़ा, तो इंधन तेल का दाम केवल २० प्रतिशत। दाम में यह आपेक्षिक परिवर्तन आ जाने से स्पष्ट ही औद्योगिक शक्ति संयंत्रों और बिजली-जनन-केंद्रों में कोयले की अपेक्षा ईंधन-तेल के इस्तेमाल के लाभ पर इसका प्रभाव पड़ा। साथ ही जहाँ कोयले का दाम सरकार द्वारा तय किया जाता था, वही ईंधन-तेल का साफ करना और वितरण निजी उद्योग है और व्यक्तिगत कंपनियों को तेल में अपना संयंत्र बदलने के लिए दाम में खास रियायतें दी जा सकती थीं। इसके साथ ही तेल के पक्ष में कुछ मूल्येतर फायदे भी थे—जैसे धुँआ कम होना और आसानी से काम में लाया जाना। इन कारणों के फलस्वरूप ज्यादा-ज्यादा औद्योगिक शक्ति संयंत्रों ने अपने संयंत्रों को ईंधन-तेल में बदलने के लिए काफी खर्च करने का फैसला किया। यहाँ तक कि सरकार के स्वामित्व को मिलों में भी भाप से बदल कर डीजल तेल से चलने वाले इंजनों को अपनाना शुरू किया और सरकारी स्वामित्व की बिजली प्रणाली में अपने जलन संयंत्रों के बदलने की दर बढ़ा दी; सन् १९५८ में ईंधन-तेल की बिक्री १९५६ ई० की तुलना में (मात्रा में) ६२ प्रतिशत ज्यादा हो गई और १९५८ ई० की तुलना में १९५९ ई० के शुरू में वह ४५ प्रतिशत ज्यादा थी।

इन कारणों के फलस्वरूप ब्रिटेन में कोयले की खपत लगभग २·८ करोड़ टन कम हो गई या सन् १९५६ से १९५९ ई० तक लगभग १३ प्रतिशत कम। साथ ही यूरोप महाद्वीप में कोयला बेशी होने से राष्ट्रीय कोयला मंडल अपना पहले से ही कम कोयले का निर्यात न बढ़ा सका। मंडल ने सन् १९५८-१९५९ ई० में यही नीति अपनाई कि कोयले के उत्पादन में वही कटौती की जाए, जिससे कम-से-कम गड़बड़ हो—जैसे उच्चतर खानों में शनिवार की पाली खत्म कर देना, जो खनिक सेवा निवृत्त हो जाएँ या किसी कारण उद्योग को छोड़कर चले जाएँ, उनकी जगह दूसरे लोग न रखना और प्रत्यक्ष ही अकार्यकुशल गड्ढों को बंद कर देना। उसने बिना सोचे-समझे गड्ढों को बंद करने में संकोच किया; क्योंकि इससे बेरोजगारी फैलती, खानों में काम करने वाले मजदूर बिखर जाते, जिनको उतने बड़ी मेहनत से इकट्ठा किया था और खानों के आधुनिकन एवं यंत्रीकरण की उसकी दीर्घकालीन पूँजी प्रायोजनाओं को काफी दुर्बल बना देगा। इसका नतीजा वास्तव में यही हुआ कि धरती के ऊपर कोयले के भंडार के तेजी से ढेर लग गए। १९५३ ई० के अंत तक कोयला मंडल के हाथ में जो भंडार था, वह संभवतः ५० लाख टन के 'सामान्य' संचय से बढ़कर लगभग ३·५० करोड़ टन हो गया। कोयला मंडल के संसाधनों का काफी बड़ा अंश कोयले को माल सूची में फँसने लगा। मंडल की वित्तीय स्थिति के लिए यह एक महँगा खतरा था। १९५९ ई० में ऐसे कोयले के भंडार को एक साथ रखने

के लिए मंडल को प्रति टन लगभग १ पौंड (डालर २·८०) खर्च करना पड़ता था और उसका संचित घाटा बढ़ कर ५·२ करोड़ पौंड हो गया।[1]

इन्हीं परिस्थितियों में मंडल ने अक्टूबर, १९५९ ई० में 'कोयले की संशोधित आयोजना' घोषित की और १९५६ ई० में कोयला-उत्पादन का जो लक्ष्य १९६५ ई० के लिए तय किया था, उसमें काफी कटौती की और साथ ही प्रायोजित रोजगार तथा पूँजी-निवेश के लक्ष्यों में भी, जैसाकि इसके पहले बताया जा चुका है। इसके बाद साथ ही या तो भविष्य-कथन में होनेवाली मुश्किलों ने या मंडल और उसके कर्मचारियों की प्रवीणता के अभाव में सुदृढ़ आयोजनाओं को भी विखर जाने दिया। इस कटौती का सबसे गंभीर पहलू यह था कि इसने संभवतः नई खानें खोलने और पुरानी खानों को सज्जित करने की बड़ी-बड़ी विशिष्ट पूँजी-निवेश प्रायोजनाओं के जरिए कार्यकुशलता बढ़ाने की मंडल की दीर्घकालीन आयोजनाओं में संभवतः और ज्यादा बाधा डाली। ये आयोजनाएँ उस समय के आधारों पर ठोस इंजीनियरीऔर आर्थिक गणनाओं के अनुसार १९५० ई० में बनाई गई लगती थीं। ब्रिटिश उद्योगों के लिए ज्यादा कुशल रूप से खोदे गए और कम खर्च पर दिए गए कोयले को एकीकृत दीर्घकालीन आयोजना करे, जो भविष्य के लिए कुछ अनुमानों पर आधारित होती है, एक बार उसके अंगों को एकीकृत कर लेने और ये प्रभावी बना देने के बाद उस समय सख्ती से नहीं काटा जा सकता, जब ये अनुमान गलत सिद्ध होने लगे और ऐसा करने पर मूल आयोजन के दीर्घकालीन संभावी फायदे भी खतरे में पड़ जाएँगे।

आयोजित निवेश और भावी उत्पादन लक्ष्यों में इन समंजनों को करते समय मंडल को अनेक जटिलताओं तथा दिक्कतों का सामना करना होगा। कटौती की सामालिक लागत-संबंधी समस्या का एक उदाहरण यह दिया जा सकता है : जो

---

[1] मंडल के संचालन पर इन विपरीत स्थितिओं का जो असर पड़ा उनका सारणी--४ में बताया गया है। इसके कुछ प्रतिफल उद्योग की मजदूर समस्याओं के ऊपर बड़ा ही रोचक प्रभाव डालते हैं। प्रति हफ्ता प्रति व्यक्ति चली हुई पालियाँ तो सन् १९५८ और १९५९ ई० में काफी कम हुईं। लेकिन इसका कारण बढ़ी हुई अनुपस्थिति न थी, बल्कि अनुसूचित काम के घंटों में कमी हो जाना था, जबकि मंडल कुल निकास कम करने की कोशिश कर रहा था। दत्त सामग्री से पता चलता है कि खनिक अपनी नौकरियों के प्रति उस समय बड़ा भिन्न रवैया अपना रहे थे, जब पहले की अपेक्षा। मंडल के लिए उनकी मजदूरी कम महत्वपूर्ण हो गई थी। १९५९ ई० तक प्रति जन-पाली निकास बढ़कर १.३३ टन हों गया था, जो एक ऐसा शिखर था, जिसे राष्ट्रीयकरण के अधीन पहले कभी पाप्त नहीं किया जा सका था और विवादों के कारण निकास में घाटा १९५५ ई० के २६,८८,००० टन से गिरकर ६,७३,००० टन रह गया।

खानें कम-से-कम कुशल हैं और इसलिए जिनको सबसे पहले अंशतः या पूरी तरह बंद किया जाना चाहिए, वे उसी इलाके में स्थित हैं जहाँ ब्रिटेन की बेरोजगारी सबसे ज्यादा केंद्रित है। दूसरी दिक्कत तेल के दाम की प्रवृत्तियों का भविष्य-कथन करने में होती है। इनसे ही यह बात बहुत कुछ नियंत्रित रहेगी कि उन संचालनों में ईंधन तेल को बदल कर चुनाव पूरा हो चुका है, जहाँ उससे संभाव्य फायदे हैं या अतीत की प्रवृत्ति आगे भी लगातार चलती रहेगी या उसकी गति बढ़ जाएगी। फिर औद्योगिक शक्ति के संभरण के लिए निजी तेल-उद्योग की मनचाही और दाम-नीतियों पर ही विश्वास करते रहने के एक सरकारी स्वामित्व के कोयला-उद्योग की नियंत्रित नीतियों की तुलना में कौन-कौन सापेक्ष लाभ या हानियाँ हैं ? दूसरा प्रश्न यह है--जो कोयला मंडल की अपेक्षा सरकार के लिए ज्यादा है—कि क्या सारी दुनिया की तुलना में ब्रिटेन का भुगतान शेष लगातार या संभवतः बढ़े हुए तेल आयात चलते रहने से जरूरी होने वाले विदेशी मुद्रा के प्रवाह को झेल पाएगा ? साथ ही सशक्त राष्ट्रीय खान मजदूर संघ के रवैये की ओर भी ध्यान देना होगा। इस समय इसका कहना यह है कि कोयला-उद्योग की बिगड़ी हुई ताजी और भावी स्थिति की जिम्मेवारी सरकार पर है, मंडल पर नहीं। इसका तर्क है कि जब पहली बार ईंधन तेल में बदलने की प्रवृत्ति स्पष्ट हुई, तो सरकार को एक दीर्घकालीन 'ईंधन नीति' अपनानी चाहिए थी और यह बता देना चाहिए था कि भविष्य में ब्रिटेन की शक्ति-संबंधी कितनी जरूरतें कोयला से, तेल से या परमाणु-स्रोतों से पूरी की जाएगी और फिर जो भी आयात कोटे, कराधान उपाय या अर्थ-सहायता जरूरी होती, तदनुसार उस नीति को अमल में लाना चाहिए था। संघ का कहना है कि अब भी ऐसी नीति बनाने के लिए ज्यादा देर नहीं हुई है और उसका अनुरोध है कि ऐसा करने में इस बात को याद रखा जाए कि कोयला स्थानीय कच्चे माल का एक बड़ा भारी संसाधन है जबकि पेट्रोल का आयात करना होगा। कुछ प्रवीण विषयनिष्ठ प्रेक्षकों का कहना है कि १९५९ ई० की 'कोयले की संशोधित आयोजना' केवल एक बीच का कदम है, जिसमें उन बड़े निर्णयों का छोड़ दिया या टाल दिया गया है, जो कोयला-उद्योग के भविष्य के वारे में किए जाने चाहिए थे। स्पष्ट ही जो कुछ भी किया जाए, कोयले के लिए एक मूलभूत नीति का निर्णय करना होगा और इसलिए बिजली मंत्री एवं उनके जरिए हाउस ऑफ कामन्स को यह बुनियादी फैसला करना होगा। अब तक उन्होंने इन समस्याओं को निबटाने में कोई रूचि नहीं दिखाई है।

कुछ भी सही, राष्ट्रीय कोयला मंडल के अनुभवों ने सामान्य समाजवादी धारणाओं के ऊपर यह शंका पैदा होने का अवसर दिया कि एक समाजीकृत उद्योग

के पुनर्वास या विस्तार की आयोजना बनाना बड़ा ही आसान काम है और इसके लिए अपेक्षित निवेश निधि का अंशदान दे देने की समाज की इच्छा की भी जरूरत है। कोयले के अनुभव का पुनर्विलोकन करने से पता चलता है कि ऐसी आयोजना भविष्य के मूल्य-स्तर, श्रम-संभरण, श्रम-कुशलतता, प्रौद्योगिकीय प्रगति, संभव स्पर्द्धी उत्पाद आदि के संबंध में अनुमानों से निकट रूप से संबद्ध है। कोयले के संबंध में ब्रिटेन का अनुभव खास तौर पर रोचक है; क्योंकि यह 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था में घटित हुआ, जहाँ ये घटक पूरी तरह सरकारी इच्छा से शासित नहीं होते, बल्कि सारतः निजी कारबार के कार्यों से प्रभावित होते हैं। यह भी हो सकता है कि १५ साल की अवधि के लिए कोयले में पूँजी निवेश की आयोजना बनाने में दिक्कत इसीलिए बढ़ी कि अर्थतंत्र में बड़े पैमाने पर गैर-आयोजित निजी उद्योग क्षेत्र साथ-ही-साथ अस्तित्व में चल रहा था।

कोयले का दाम तय करने की समस्याएँ : १९५१ ई० तक राष्ट्रीय कोयला बोर्ड ने कोयले के लिए एक रूप मूल्य अनुसूची तय कर दी थी। देश को लगभग ६० महाखंडों में बाँटा गया और प्रत्येक महाखंड में कोयले की ७ मानक किस्में उसी दाम पर बिकती हैं और इसमें इस बात का ख्याल नहीं रखा जाता कि वह किस खान से आया है और खुदरा बाजार से उस खान की दूरी कितनी है। हाँ, वास्तव में हर महाखंड के बीच की दूरी और महाखंडों में कोयले के संभरण को ध्यान में रखा जाता है, जिससे कोयले का संभरण करने वाली खानों से ज्यादा दूर स्थित महाखंड में सभी ७ किस्मों के कोयले का दाम उस महाखंड की तुलना में ज्यादा होंगे, जो संभरण-स्रोत के अपेक्षतया पास है। इसका मतलब यह है कि कोयला-खान में कोयला निकालने की लागतों के अंतर और बाजार तक कोयले के परिवहन के अंतर का औसत निकालकर किसी महाखंड में बेचे जाने वाले सभी प्रकार के कोयले के दाम तय किए जाते हैं। किसी निश्चित किस्म का कोयला एक निश्चित महाखंड में प्रति टन उसी दाम पर मिलता है और इसके लिए उसके उत्पादन एवं परिवहन लागत में होने वाले अंतर का ध्यान नहीं रखा जाता। कोयला-उद्योग राष्ट्रीयकरण अधिनियम में यह अपेक्षा की गई है कि सभी महाखंडों में सभी किस्मों के कोयलों का प्रति टन औसत दाम का स्तर इतना हो कि उस उद्योग को वर्षों की अवधि तक चलाने की राष्ट्रीय कोयला मंडल की लागत को पूरा किया जा सके।

स्पष्ट है कि इस प्रकार दाम तय करने की योजना में कुछ ऐसे मनचाहे तत्त्व आ जाते हैं, जो उस हालत में न आते अगर निजी कंपनियाँ खानों को चलातीं और स्पर्द्धी हालतों में अपना माल वहाँ बेचतीं, जहाँ उनको सबसे बढ़िया दाम मिलता।

राष्ट्रीय कोयला मंडल की अनुसूची में महाखंड में बाँटे गए कोयले के कुछ सौ दाम दिए गए हैं, जबकि राष्ट्रीयकरण से पहले पूरे देश में कोयले की अलग-अलग दामों की लगभग ८ हजार किस्में चल रही थीं। चालू मूल्य-योजना में मूल्य नीति की कुछ बुनियादी समस्याओं का समावेश किया गया है और जुलाई, १९५५ ई० में सभी महाखंडों में बाँटे गए कोयले में जब १८ प्रतिशत की वृद्धि की गई थी और बाद में १९५६ ई० के पूँजीनिवेश कार्यक्रम में बाद में सुधार करके ऐसा किया गया, तो ब्रिटेन में इनमें से कुछ समस्याओं को लेकर काफी चर्चा हुई थी। पहली और सबसे स्पष्ट समस्या इस बात से पैदा होती है कि कोयले के विभिन्न प्रकार के उपभोक्ता विभिन्न प्रकार की किस्मों का इस्तमोल करते हैं। इस तरह आमतौर पर घरों में बेहतर किस्म का कोयला इस्तेमाल किया जाता है और औद्योगिक लोग कम अच्छा कोयला इस्तेमाल करते हैं। इसलिए यह प्रश्न हमेशा उठता रहता है कि क्या राष्ट्रीय कोयला मंडल[1] ने विभिन्न किस्मों के मूल्य विशेषक उचित रूप में ही नियत किए हैं? चूँकि इन विशेषकों का नियंत्रण करने वाले कोई सार्थक लागत भेद नहीं होते, इसलिए वे माँग और ऐसी दूसरी चीजों पर आधारित होते हैं, जिनको मंडल और मंत्री उपयुक्त मानते हैं। न केवल बुनियादी विशेषकों के औचित्य को ले कर हमेशा बहस चलाई जा सकती है, बल्कि कोयले के दामों में हुई हर एक वृद्धि को लेकर (ब्रिटेन में सन् १९५३ से १९६० ई० तक पाँच बार यह वृद्धि हुई), या तो शिलिंग के रूप में पूर्ण विशेषकों पर प्रभाव पड़े या प्रतिशतक विशेषकों पर इस तरह कोयला उपभोक्ताओं के अनेक वर्गों के साथ समन्यायपूर्ण बर्ताव के नए प्रश्न पैदा होते रहते हैं। जब ऐसी ही एकबार की वृद्धि में मंडल ने सभी दाम १८ प्रति की एक मुश्त दर से बढ़ा दिए, तो वस्तुतः अच्छी किस्मों का दाम खराब किस्मों की तुलना में कुछ शिलिंग प्रति टन बढ़ गया। औसत वृद्धि प्रति टन ११ शिलिंग थी, लेकिन विभिन्न खराब किस्मों में प्रति टन ७ से ११ शिलिंग तक वृद्धि हुई, जबकि बेहतर किस्मों के दाम में १२ से १९ शिलिंग तक। इसके विरोध में काफी शोर मचा कि मंडल घरेलू उपभोक्ताओं के आगे औद्योगिक उपभोक्ताओं के साथ मनचाहे रूप से पक्षपात कर रहा है।

जब हम विभिन्न खानों से पैदा होने वाले उसी किस्म के कोयले की उत्पादन-लागत में अत्यधिक अंतर की पृष्ठभूमि के आगे महाखंड में वितरित दाम-योजना की धारणा को परखते हैं, तो मूल्य की बहुत सी गहन समस्याएँ उठ खड़ी

---

[1] राष्ट्रीय कोयला मंडल का बिजली मंत्री के साथ यह 'भलमनसाहती का समझौता है' कि उसकी मूल्य अनुसूचियाँ प्रभावी होने से पहले उनके अनुमोदन के लिए भेजी जाएँगी।

होती हैं। अगर टन के आधार पर खोदे गए कोयले के प्रत्येक टन की लागत की तुलना उसके दाम से की जाए, तो पता चलेगा कि कुल वार्षिक निकास में से लगभग आधा निकास घाटे पर निकाला और वेचा जाता है, जबकि बाकी आधार लाभ पर।[1] ये तथ्य न्याय और औचित्य तथा आर्थिक प्रतिफलों से संबंधित कई प्रश्न इस महाखंड वितरित मूल्य योजना को लेकर उठाते हैं। वाह्य लागत की अपेक्षा या कोयले के मूल्य-निर्धारण में उपांत लागत की धारणा की भी कुछ भूमिका होनी चाहिए ? क्या कोयले के सभी उपयोग करने वालों को कुछ कोयला अपेक्षतया कम दाम पर दिया जाना चाहिए और तब उनको बता देना चाहिए कि अगर वे इससे ज्यादा चाहते हैं, तो उनको अतिरिक्त कोयले के खोदने की अपेक्षतया अधिक उपांत लागत के लिए ज्यादा दाम चुकाना होगा ? क्या कोयले का उपयोग करने वालों को कुछ श्रेणियों में बाँटना चाहिए और उनको कोयला अपेक्षतया कम दाम पर दिया जाना चाहिए, जबकि दूसरों को अपनी जरूरतों के लिए कोयले का दाम अपेक्षतया ज्यादा देना होगा ? इन प्रश्नों के कथनमात्र से ही राष्ट्रीय कोयला मंडल द्वारा ही रखे जाने वाले कोयले के मूल्य की समस्याओं की विविधरूपता और गहराई का अंदाज मिल जाता है। उनकी जटिलताओं और उद्योगों के समाजीकरण के बुनियादी प्रयोजन के साथ उनके संबंधों की पर्याप्त चर्चा करने के लिए एक अलग ग्रंथ की जरूरत पड़ेगी। इस प्रश्न पर सोच-विचार के साथ ध्यान देने से ही काफी जानकारी मिल जाएगी।

बिजली

राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि

बिजली शक्ति के राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि में दोहरी जरूरतें थीं। समन्वय की जरूरत, एकीकरण की जरूरत और भारी पूँजीनिवेश की जरूरत।[2] १९१९ ई० में सरकार ने एक बिजली आयुक्तों का मंडल बिजली शक्ति सुविधाओं का एकीकरण और बिजली पथों का परस्पर संबंध जोड़ने के लिए स्थापित किया था। निजी और सरकारी स्वामित्व के जनित्र केंद्रों और वितरण-सुविधाओं के मंडल के साथ सहयोग न करने से ज्यादा सफलता न मिली थी। १९२६ ई० के बिजली अधिनियम द्वारा एक केंद्रीय बिजली मंडल को शक्ति को पैदा करने और वितरण-सुविधाओं का निर्माण करके या थोक में बिजली खरीद कर थोक में बेच कर

---

[1] दी लंदन इकोनॉमिस्ट, २६. सितंबर, १९५५, पृष्ठ ८७७–७८।

[2] इन जरूरतों की विशद् व्याख्या और हाउस ऑफ कॉमन्स में बिजली के राष्ट्रीयकरण के पक्ष-विपक्ष में दिए गए तर्कों के सारांश के लिए देखिए, आर० ए० ब्रेडी लिखित 'क्राइसेस इन ब्रिटेन' केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस. १९५०, पृष्ठ १३५–४७।

एकीकरण योजनाएँ चलाने की शक्ति दी गई थी। इस मंडल के प्रभाव के अधीन बिजली पैदा करना निजी हितों या स्थानीय सरकारों के स्वामित्व और संचालन वाले चुने हुए केंद्रों में केंद्रीकृत कर दिया गया। इसने उच्च तनाव के बिजली पथों के परस्पर संबंध की एक 'राष्ट्रीय ग्रिड' पद्धति भी संचालित की। तथापि १९३६ ई० में एक अधिकृत जाँच निकाय ने देखा कि बहुत सारे छोटे-छोटे बिजली पैदा करने वाले संयंत्रों में काफी बर्बादी हो रही है, दरों की अनुसूची में काफी अंतर है और देहातों में बिजलीकरण की सुविधाओं के अभाव से बिजली-सुविधाओं के पैदा करने और वितरण दोनों के बारे में ही अंततः सरकारी स्वामित्व की जरूरत का पता चलता है। साज-सामान का युद्धकाल में जो ह्रास हुआ है, इससे भी उद्योग में सरकारी पैसे का निवेश जरूरी हो गया है और इसे लेबर सरकार ने तब तक अव्यावहारिक समझा जब तक कम से कम आधा उद्योग सरकारी स्वामित्व में न आ जाए।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

बिजली अधिनियम १ अप्रैल, १९४८ ई० से प्रभावी हुआ और उसमें बिजली पैदा करने एवं वितरण करने दोनों की सुविधाओं को सरकारी स्वामित्व के अधीन ब्रिटेन के विजली शक्ति-उद्योग को पूरी तरह समन्वित कर दिया।[1] १५० निजी स्वामित्व के और २०० नगरपालिका स्वामित्व के बिजली पैदा करने वाले बिजली घर और सभी बिजली-वितरण सुविधाएँ एक केंद्रीय बिजली के अधिकार को और उसके अधीन क्षेत्रीय मंडलों को अधिनियम द्वारा हस्तांरित कर दी गईं। यह एकमात्र पूरी तरह एकीकृत राष्ट्रीयकृत बिजली पद्धति है, जैसी कि सोवियत संघ को छोड़ कर बाकी महत्त्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्र में नहीं है।[2]

भूतपूर्व निजी मालिकों को ब्रिटिश बिजली प्राधिकार (केंद्रीय प्राधिकार का मूल नाम) के स्टॉक (निश्चित ब्याज वाले बंधपत्र) जिनकी गारंटी राजकोष ने दी थी और जिनका मूल्य संबंधित कंपनियों की लंदन श्रेष्ठिचत्वर में कुछ चुनी हुई तारीखों को बकाया प्रतिभूतियों के मूल्यों के बराबर था, देकर मुआवजा दिया गया।[3] स्थानीय सरकारों को उनसे केंद्रीय प्राधिकार द्वारा खरीदी गई सुविधाओं के मुआवजे में केंद्रीय प्राधिकार ने इन स्थानीय सरकारों द्वारा पहले इन सुविधाओं के खरीदने या निर्माण में जो ब्याज या शोधन निधि पर खर्च किया गया था, उसके बारे में पूरी जिम्मेवारी लेकर मुआवजा दिया गया।

---

[1] लंदन, एच० एम० स्टेशनरी आफिस, १९४८।

[2] आर० ए० ब्रेडी, पूर्वोक्त, पृष्ठ १४७।

[3] यह प्रक्रिया वही थी, जो ब्रिटिश रेलों को खरीदने में इस्तेमाल की गई थी।

इस राष्ट्रीयकृत उद्योग के लिए जो संगठन ढाँचा सन् १९४८ ई० के अधिनियम में खड़ा किया गया था, उसे १ जनवरी, सन् १९५८ ई० में संशोधित किया गया। अब उद्योग का स्वामित्व और संचालन तीन सरकारी अभिकरणों के अधीन है :—

(१) केंद्रीय बिजली जनन मंडल : इसके स्वामित्व और संचालन में सभी बिजली जनन केंद्र तथा स्थानीय क्षेत्रों में बिजली ले जाने वाले पारेषण लाइनों की ग्रिड् आती है। इसके अधीन ११ जनन डिवीजन हैं, जिनको बिजली घरों के संचालन की प्रबंध जिम्मेवारी मिली हुई है। केंद्रीय मंडल ब्रिटिश बिजली घर प्रणाली द्वारा परमाणु शक्ति के विकास और उपयोग के लिए भी जिम्मेवार है॥

(२) क्षेत्र बिजली मंडल : ये संख्या में बारह हैं, जिनके स्वामित्व और संचालन में वे सभी स्थानीय वितरण लाइनें और गौण सुविधाएँ आती हैं, जिनके जरिए केंद्रीय बिजली जनन मंडल से खरीदी गई बिजली स्थानीय रूप से औद्योगिक संयंत्रों, घरों और दूसरे ग्राहकों को बेची जाती है।

(३) बिजली परिषद् : इस निकाय में सभापति केंद्रीय बिजली जनन मंडल के दो सदस्य और क्षेत्र बिजली मंडल के अध्यक्ष तथा परिषद् द्वारा नियुक्त किए गए पाँच अतिरिक्त सदस्य होते हैं। इसका कर्त्तव्य है कि बिजली मंत्री को बिजली शक्ति संबंधी मामलों में सलाह दे, उद्योग के लिए अनुसंधान का एक कार्यक्रम चलाए और जनन मंडल या क्षेत्र मंडल द्वारा आम रूप से चाही गई दूसरी सेवाओं का जैसे पूरे उद्योग के लिए श्रम-संबंधों का निपटारा-जैसी सेवाओं का निर्वहन करे। इसका कर्त्तव्य यह भी है कि राजकोष से ऋण दिलाने की व्यवस्था करे या निवेश बाजार में ब्रिटिश बिजली स्टॉक (बंधपत्रों) को जनन या वितरण-क्षमता के विस्तार के लिए नई पूँजी इकट्ठी करने के लिए बेच दे।

केंद्रीय बिजली जनन मडल और प्रत्येक क्षेत्र मंडल को यह दायित्व सौंपा गया है कि वे अपना कारबार इस तरह चलाएँ कि अच्छे और बुरे सालों में एक औसत के रूप में उनको जो प्राप्तियाँ हों, वे उनके सारे खर्च को पूरा कर सकें। प्रत्येक क्षेत्रीय मंडल में एक परामर्श परिषद् होती है, जिसमें उस क्षेत्र के बिजली उपभोक्ताओं को प्रतिनिधित्व मिलता है और उसका सभापति क्षेत्रीय मंडल का एक सदस्य होता है। केंद्रीय बिजली जनन मंडल और क्षेत्र बिजली मंडल बिजली मंत्री से नीति-संबंधी मार्गदर्शन लेते हैं, जो हर क्षेत्र मंडल की पूँजी विकास आयोजनाओं, उद्योग के अनुसंधान कार्यक्रम और कर्ज लेने के सभी प्रस्तावों को भी मंजूर करते हैं।

राष्ट्रीयकृत उद्योग की समस्याएँ

लेबर सरकार के अधीन राष्ट्रीयकृत सभी उद्योगों में बिजली शक्ति उद्योग को सबसे ज्यादा वित्तीय सफलता मिली है। इसने जनन और वितरण दोनों ही हिस्सों में हर साल अपने संचालन में अधिकांश अधिशेष दिखाया है। राजकोषीय वर्ष सन् १९५७--१९५८ ई० के अंत तक ये अधिशेष कुल मिलाकर ९८० लाख पौंड हो गए। सन् १९५८--५९ के राजकोषीय वर्ष में उद्योग ने २७३ लाख पौंड का अधिशेष दिखाया, जो ब्रिटेन के किसी भी राष्ट्रीयकृत उद्योग में सबसे ज्यादा अधिशेष था।

तथापि कोयले की खुदरा दाम सूची की तरह इस उद्योग के दर-ढाँचे की भी आलोचना हुई है,जिससे वैसी ही समस्याएँ उठती हैं,जिनकी चर्चा कोयले के सिलसिले में की जा सकती है। जैसा उसका वार्षिक अधिशेष बताता है, हालांकि उद्योग का 'दर-स्तर' संतोषजनक है लेकिन बिजली के उपभोक्ताओं के विभिन्न वर्गों से ली गई 'विशिष्ट दरों' को अक्सर चुनौती दी गई है। घरेलू उपभोक्ताओं और औद्योगिक उपभोक्ताओं, जिनके सबसे ज्यादा दबाव वाले समय पर बिजली का उपयोग करने वालों और कम दबाव पर उपयोग करने वालों, ऋतुविशेष में उपयोग करने वालों और पूरे साल उपयोग करने वालों के द्वारा दी गई दरों के बीच जो विशेषक रहते हैं, उनमें आर्थिक और नैतिक दोनों प्रकार के प्रश्न अंतर्ग्रस्त हैं।

बिजली-उद्योग दूसरा ऐसा (कोयला पहला है) राष्ट्रीयकृत उद्योग है, जिसकी पूरी-पूरी पड़ताल सरकार द्वारा नियुक्त एक सुयोग्य और स्वतंत्र समिति द्वारा की गई है। 'हरवर्ट समिति' ने डेढ़ साल तक उद्योग के सभी पहलुओं का गहन अध्ययन करने के बाद सन् १९५६ ई० में अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें १०० से ऊपर मुख्य सिफारिशें और निष्कर्ष दिए गए हैं।[1] यह इस नतीजे पर पहुँची कि उद्योग अकार्यकुशल नहीं है, पर इसमें सुधार हो सकता है। उद्योग ने आमतौर पर ग्राहकों की सेवा अच्छी तरह की है, उसने बिजली के लिए युक्तिसंगत रूप से कम दाम लिए हैं और राष्ट्रीयकरण करते समय बिजली-शक्ति क्षमता में जो भारी कमी थी, उसको काफी पूरा किया है। समिति ने फैसला किया कि एक राष्ट्रीयकृत उद्योग किस प्रकार अपना संचालन करे—इस बारे में अपनी पड़ताल के सिलसिले में उसे अपने द्वारा क्या कसौटी अपनानी चाहिए। इसलिए उसका निर्णय था कि एक राष्ट्रीयकृत उद्योग को इस अर्थ में एक 'वाणिज्यिक' उद्यम के रूप में चलाया जाना

---

[1] रिपोर्ट ऑफ दि समिति ऑफ दि इन्क्वायरी इन टू दि इलेक्ट्रिसिटी सप्लाई इंडस्ट्री, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस।

चाहिए कि वह आत्मनिर्भर हो जाए, सरकारी राजकोष की मदद के बिना निवेश बाजार में किसी भी समय अपने लिए पूँजी इकट्ठी कर सके, अपने ग्राहकों की सेवा कर सके और अपने कर्मचारियों के साथ वैसा सर्वाधिक अच्छा बर्ताव करे, जो तुलनीय निजी उद्योगों में किया जाता है तथा ग्राहकों के प्रत्येक वर्ग से या प्रत्येक प्रकार की सेवा के लिए वह दर वसूल करे जो खास प्रकार की अंतर्ग्रस्त सेवा की लागत की पूरी तरह पूर्ति कर सके। समिति ने बताया कि यदि इस प्रकार के सिद्धांतों का पालन न किया गया तो एक राष्ट्रीयकृत उद्योग वास्तविक आय वितरण में या अन्य ऐसे सामाजिक सुधार में परिवर्तन का साधन बन जाएगा, जिसे सर्वोच्च प्रशासनिक मंडल वांछनीय समझता है, जबकि उन नीतियों का अनुमोदन किसी ऐसे अभिकरण द्वारा नहीं किया गया होगा, जो प्रत्यक्षतः निर्वाचन मंडल के प्रति उत्तरदायी है। इसमें से कुछ कसौटियाँ निश्चय ही लेबर दल द्वारा स्वीकार्य नहीं हैं। कुछ खास तौर पर 'वाणिज्यिक सिद्धांत' वाली कसौटी फ्ले (कोयला) समिति की उस चेतावनी के विरोध में जाती है जो उसने किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग के संचालन के ठोस होने के परीक्षण की वित्तीय कसौटी के भ्रामक स्वरूप के बारे में दी थी। हरबर्ट समिति की मुख्य सिफारिशों में से एक यह थी कि बिजली-दरों में शामिल किया जाने वाला ह्रास-संबंधी खर्च ह्रास होने वाली संपत्तियों को बदलने की चालू लागत पर आधारित होना चाहिए, संपत्ति के कुछ साल पहले कम निर्माण लागत-स्तर पर निर्मित करते समय संभवतः जो वास्तविक लागत आई थी, उस पर आधारित नहीं होना चाहिए, जैसाकि किया जा रहा है। यह सिफारिश एक ऐसे गहन सर्वव्यापी प्रश्न को खड़ा कर देती है—क्या राष्ट्रीयकृत उद्योग की सेवाओं के वर्त्तमान ग्राहकों को इस बात का दाम चुकाना चाहिए कि उद्योग निकास के उसी स्तर पर भविष्य में उत्पादन करने के लिए शारीरिक रूप से सज्जित बना रहे या यह लागत भविष्य की सेवाओं के भावी उपभोक्ताओं पर पड़नी चाहिए ? यह प्रश्न उन नीति—निर्णयों के गहन आलेपनों का संकेत देता है, जो राष्ट्रीयकृत उद्योगों के लिए करने होते हैं।

हरबर्ट समिति ने बिजली–उद्योग के प्रशासन का कुछ विकेंद्रीयकरण करने की सिफारिश की, जो फिर फ्ले समिति की कोयला–संबंधी सिफारिशों के विरुद्ध था, जिसे १९५८ ई० में प्रभावी किया गया। उसने यह भी सिफारिश की कि उद्योग को वेतन बढ़ा देने चाहिए और अपने तकनीकी एवं प्रशासनिक कर्मचारियों में गुणात्मक सुधार करने के लिए दूसरे उपाय अपनाने चाहिए, 'उद्योग के भीतर कुछ स्पर्धा पैदा करने के लिए' क्षेत्र मंडलों को यह अनुमति होनी चाहिए कि वे जो बिजली वितरित करते हैं, उसका जनन कर सकें और केंद्रीय प्राधिकार से उसके खरीदे जाने की अपेक्षा न की जाए, उद्योग को आर्थिक समृद्धि के वर्ष में कुछ आर-

क्षित निधि अलग कर देनी चाहिए, जिससे बिजली की माँग अस्थायी रूप से कम हो जाने पर दर बढ़ाने की जरूरत के विरूद्ध संरक्षण दिया जा सके। दूर-दूर के देहाती इलाकों में बिजली लाइनें ले जाने के लिए जो भारी खर्च आता है, वह क्षेत्र मंडलों द्वारा न उठाया जाए और इस तरह बिजली-दरों की सर्वांगीण लागत में शामिल न कर दिया जाए बल्कि या तो इस प्रकार से जिन फार्मों तक बिजली पहुँची है, उनको यह खर्च उठाना चाहिए या इसके लिए राजकोष निधियों द्वारा अर्थ-सहायता दी जानी चाहिए; उद्योग को आमतौर पर दर तय करते समय पहले सिद्धांत के रूप में यह आश्वस्त करना चाहिए कि 'ली जाने वाली दरें लागत पर आधारित हैं' और अगर 'लागत के अनुसार दर' के सिद्धांत का उल्लंघन समाज या राष्ट्रीय हितों की ज्यादा अच्छी सेवा के हित में काफी मात्रा में किया जाए, तो ऐसा केवल हाउस ऑफ कामन्स में उत्तरदायी बिजली मंत्री के निदेश से ही किया जाए। समिति के निष्कर्षों और सिफारिशों के इस सारांश से पता चलता है कि इस राष्ट्रीयकृत उद्योग के सामने जो समस्याएँ आई हैं, ये इस उद्योग की स्वीकार की गई तकनीकी कार्य-कुशलता और उसकी राष्ट्रीयकरण के अधीन वित्तीय सफलता के बावजूद कितनी गहन हैं और उनका क्षेत्र कितना व्यापक है।

गैस

राष्ट्रीयकरण की पीठिका

ब्रिटिश गैस-उद्योग यूरोप का सबसे बड़ा गैस-उद्योग है और जहाँ तक घरेलू काम के लिए कोयले से तैयार की गई गैस का संबंध है, वह दुनिया का सबसे बड़ा गैस-उद्योग है। ब्रिटेन के करीब दो तिहाई परिवारों के मकानों में गैस कनेक्शन हैं और गैस की कुल खपत की आधी खपत घरों में होती है। बाकी आधे का व्यापक रूप से उपयोग ४००० से ऊपर उद्योगों और व्यापारों में व्यापक रूप से किया जाता है, खास तौर पर उन औद्योगिक प्रक्रियाओं के लिए गैस को विशेष अनुकूल पाया गया है, जिनमें नियंत्रण तरीकों से तापक्रम का ठीक-ठीक नियंत्रण जरूरी होता है, जैसे चीनी मिट्टी के वर्तन बनाने में इस्पात और इस्पात के उत्पादन बनाने में। गैस के उत्पादन का उप-उत्पादक कच्चा कोलतार होता है, जिससे रंगद्रव्य, उर्वरक, प्लास्टिक के सामान, कीटनाशक, कीटमारक, शीतक, गंधद्रव्य और संसलिष्ट धागा आदि बहुत से सामान बनते हैं।

१९४४ ई० में सरकार ने गैस-उद्योग और उसकी जरूरतों का सर्वेक्षण करने के लिए एक समिति (हेवर्थ समिति) नियुक्त की। समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि उत्पादक कार्यकुशलता बढ़ाने, लागत कम करने, श्रम का ज्यादा अच्छा उपयोग

करने और सबसे ज्यादा दबाव के समय की समस्याओं की ज्यादा प्रभावी देखभाल करने के लिए इस उद्योग की इकाइयों को ज्यादा बड़ी इकाइयों में संयुक्त कर दिया जाए। १९४८ ई० में राष्ट्रीयकरण विधेयक पास करने के लिए जोर देते हुए बिजली मंत्री ने इसको इसलिए जरूरी बताया था कि राष्ट्र के ईंधन और शक्ति के स्रोतों का पुनर्निर्माण तथा एकीकरण करने की सरकारी आयोजनाओं को पूरा करने के लिए यह जरूरी है। उन्होंने कहा था कि यह तर्कपूर्ण नहीं है कि अराष्ट्रीयकृत गैस-उद्योग राष्ट्रीयकृत कोयला और बिजली उद्योगों की स्पर्धा करे, और गैस उद्योग का संगठन अकार्यकुशल है, जिसके एकीकरण की जरूरत है और गैस के राष्ट्रीयकरण के बाद भी गैस एवं बिजली के बीच कुछ स्पर्धा जनता के लाभ के लिए बनाए रखी जाएगी। विरोधी पक्ष ने यही विचार प्रस्तुत किया था कि सरकार ईंधन और शक्ति के अपने 'एकाधिकार' को पूरा कर लेना चाहती है और उन्होंने यह दावा किया था कि गैस-उद्योग पहले ही यूरोप का सबसे ज्यादा कार्यकुशल गैस-उद्योग है, जिसमें कोई श्रम-विवाद नहीं है और बिजली के साथ स्पर्धी आधार पर गैस मिलने से जनता को लाभ होता है तथा राष्ट्रीयकरण बिना किए ही लोक नियंत्रण के विद्यमान रूपों के अधीन ही एकीकरण और कार्यकुशलता को पर्याप्त रूप से आगे बढ़ाया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

गैस-उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने वाला अधिनियम १९४८ ई० में पास हुआ और १ मई, १९४९ ई० से प्रभावी हुआ। पिछली तारीख को १०४६ पहले से अलग-अलग चले जाते हुए संयंत्र सरकारी स्वामित्व में आ गए। इनमें से ७७१ निजी स्वामित्व में थे और २७५ नगरपालिका स्वामित्व में और इनमें १ लाख ३० हजार कर्मचारी काम करते थे। पहले के निजी स्वामियों को ब्रिटिश गैस ३ प्रतिशत के राजकोष द्वारा गारंटी किए हुए स्टॉक के रूप में लगभग २६५० लाख पौंड का मुआवजा दिया गया। ये बंधपत्र सन् १९९०-१९९५ ई० में सम मूल्य पर नगद मोच्य थे। निजी संपत्तियों का मूल्यांकन चुनी हुई तारीखों को लंदन श्रेष्ठिचत्वर में इन कंपनियों की प्रतिभूतियों के लिए दिए जाने वाले उद्धरणों के अनुसार किया गया।[1] जिन कंपनियों की प्रतिभूतियों की सूची श्रेष्ठिचत्वर में उपलब्ध नहीं थी, उनका मूल्यांकन बिजली मंत्री और स्टॉकधारकों के प्रतिनिधियों द्वारा सहमत तरीके से होना था अथवा सहमति न होने पर एक मध्यस्थ अधिकरण द्वारा किया जाना था। नगरपालिकाओं को उनकी संपत्तियों के लिए मुआवजा इस रूप में दिया गया

---

[1] रेल-संपत्तियों के मूल्यांकन जैसे ही तरीके से, देखिए पृष्ठ ३१६।

कि अधिनियम के अधीन बनाए गए क्षेत्र गैस मंडलों ने वे सभी भावी ब्याज और शोधन-निधि संबंधी दायित्व सँभाल लिए, जो इन नगरपालिकाओं ने उन सुविधाओं के निर्माण या खरीद में अपने ऊपर लिए थे। और इसके अलावा २५ लाख पौंड का भुगतान "उनके गैस उपक्रमों के उनके दूसरे कार्यकलाप से अलग किए जाने के मुआवजे के रूप में किया गया। कुल मुआवजे की रकम का दावेदारों के बीच बंटन क्षेत्र मंडलों को सौंपा गया।"[1] पिछले मालिकों को इन शर्तों से संतोष रहा और वस्तुतः उन्होंने बिजली मंत्री को राष्ट्रीयकरण के अधीन स्थापित किए जाने वाले संगठन के सर्वोत्तम रूप के बारे में सलाह भी दी। राष्ट्रीयकरण के बाद बहुत से प्रबंधक कर्मचारी जो राष्ट्रीयकरण से पहले काम कर रहे थे, नए संगठन के अंग बन गए।

संगठन की दृष्टि से गैस पैदा करने और वितरण करने के संचालन को बारह क्षेत्र गैस मंडलों में बाँटा गया, जिनमें से प्रत्येक को "अपने-अपने क्षेत्र में गैस-संभरण की एक कार्यकुशल समन्वित और बचतपूर्ण प्रणाली के विकास एवं अनुरक्षण का काम सौंपा गया तथा यह आशा की गई कि वह उस क्षेत्र के भीतर गैस की समूची युक्तिसंगत माँग को जहाँ तक बचतपूर्वक साध्य है, पूरा करेगा 'और धातुकर्म को छोड़कर बाकी कोक के कार्यकुशल, समन्वित और बचतपूर्ण उत्पादन का विकास और अनुरक्षण करेगा' और गैस बनाने की प्रक्रिया में मिलने वाले उप-उत्पादों को निकालने के लिए कार्य तरीकों का विकास तथा अनुरक्षण करेगा।"[2] इस प्रकार ये स्वायत्त क्षेत्र मंडल गैस के उत्पादन और वितरण के लिए सीधे-सीधे जिम्मेवार बना दिए गए हैं। इसकी तुलना राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग के संगठन में उत्तरदायित्व के बहुत ही ज्यादा केंद्रीयकरण से और सभी बिजली शक्ति के जनन की जिम्मेवारी केंद्रीय बिजली जनन मंडल को सौंप कर बिजली-उद्योग में उत्तरदायित्व के कुछ ज्यादा केंद्रीयकरण के साथ की जा सकती है। गैस परिषद् में क्षेत्र गैस मंडलों के सभापति और स्वतंत्र अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष होते हैं। परिषद् को वित्तीय कृत्य सौंपे गए हैं, उससे उद्योग को प्रभावित करने वाले मामलों में बिजली मंत्री को सलाह देने की उम्मीद की जाती है और वह उद्योग के लिए दीर्घकालीन विकास-आयोजना तैयार करती है। हर क्षेत्र में २०, ३० सदस्यों की एक परामर्श परिषद् भी बनाई

---

[1] मुआवजे के ब्योरों के लिए देखिए दि गैस ऐक्ट, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी आफिस, १९४८, धाराएँ २५ से ३२।

[2] गैस ऐक्ट, धारा १।

जाती है, जिसमें उस क्षेत्र के घरेलू और औद्योगिक उपभोक्ताओं को प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. क्या यह कहना सही है कि कोयला-उद्योग के राष्ट्रीयकरण के अलावा लेबर सरकार के पास और कोई नीति-संबंधी चुनाव था ही नहीं ? क्यों ?

२. सरकार ने राष्ट्रीयकरण करते समय कोयला-खानों के मालिकों को किस तरह मुआवजा दिया ? क्या यह मुआवजा समाजवादी सिद्धांतों के अनुसार था ?

३. कोयला-उद्योग के संचालन के बारे में ईंधन और बिजली मंत्री को क्या शक्तियाँ दी गईं ? उनको इतनी शक्तियाँ क्यों दी गईं ?

४. कोयला-उद्योग के राष्ट्रीयकरण से किन लाभों की प्रत्याशा की गई थी ? क्या आज तक ऐसा कोई साक्ष्य मिला है कि वे लाभ प्राप्त किए जा रहे हैं ?

५. संगठन के ढाँचे के बारे में क्या राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग एक केंद्रीयकृत उद्योग है या विकेंद्रीयकृत उद्योग ? किस अर्थ में यह चालू रहने वाली समस्या है ?

६. कोयले के उपभोक्ताओं को राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग के नीति-निर्धारण में मदद देने की कोई शक्ति प्रदान करने के लिए क्या कोई प्रयास किया गया है ?

७. क्या राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग में प्रबंधकों और श्रमिक-संबंध संतोषजनक रहे हैं या असंतोषजनक ? साक्ष्य प्रस्तुत करिए।

८. क्या राष्ट्रीय कोयला मंडल कोयला-उद्योग के पूँजी निवेश आयोजना कार्यक्रम सफलतापूर्वक बना सका है ?

९. ग्रेट ब्रिटेन में खुदरा खरीददार को बिक्री के कोयले का दाम किस तरह तय किया जाता है ? क्या भेदजनक दाम रखे जाने का कोई आरोप लगाया है ?

१०. राष्ट्रीयकृत बिजली शक्ति उद्योग कितना सफल रहा है ? इस उद्योग-संबंधी 'हरवर्ट' समिति की सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण सिफारिशें क्या हैं ?

११. राष्ट्रीयकृत गैस-उद्योग का संगठन कोयला-उद्योग से किस तरह भिन्न है ?

●

अध्याय १८

परिवहन, संचार और इस्पात का राष्ट्रीयकरण

अंतर्देशीय परिवहन

राष्ट्रीयकरण की पीठिका

जिस प्रकार दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योगों में हुआ, उसी तरह जब लेबर दल ने ब्रिटेन की रेल, राजमार्ग और अंतर्देशीय जल परिवहन सुविधाओं के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव किया, तो उसके पहले काफी सख्त नियंत्रणों का एक जटिल दौर चला। ब्रिटेन में रेलमार्गों का जो निर्माण हुआ था, वह आयोजनाहीन था और उसमें रेल-सुविधाओं का राष्ट्र-कल्याण के साथ संबंध जोड़ने की बात बिल्कुल न सोची गई थी। इनका निर्माण अटकल लगाकर, बिना जुड़ी लाइनें बनाकर बढ़े हुए पूँजी मूल्य पर निकलने का अधिकार पाने के लिए बहुत ही ज्यादा भुगतान देकर किया गया था। शताब्दी के शुरू होने के कुछ पहले और कुछ बाद आर्थिक कारणों से कई रेल कंपनियाँ मिल कर एक हो गईं। आखिर में १९२१ ई० के रेलवे-अधिनियम के अधीन, १२१ उद्यमों को भौगोलिक आधार पर बनाई चार कंपनियों में गठित किया गया। कुछ सीमा तक एकीकरण हो गया, पर हर कंपनी अपनी-अपनी विशिष्टियों के अनुसार इंजन डिब्बों की अपनी-अपनी जरूरतों को अलग से पूरा करती रही और अलग-अलग निगमित कंपनियाँ स्वतंत्र रूप से वित्त व्यवस्था करती रहीं एवं स्पर्धात्मक बर्बादी बचाने के लिए यातायात का इकट्ठा किया जाना सीमित मात्रा में ही संपन्न हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राजमार्ग मोटर परिवहन ने रेलों के साथ बढ़ती हुई स्पर्धा शुरू कर दी। १९२८ ई० में रेल सड़क परिवहन अधिनियम में रेलों को यह अधिकार दिया गया कि वे राजमार्ग की यात्री और माल परिवहन सुविधाओं को संचालित करें। रेलों ने इन क्षेत्रों में हित प्राप्त कर लिए और इसका उद्देश्य सामान्यतः रेल-यातायात को संरक्षण देना था और रेल एवं राजमार्ग परिवहन-प्रणालियों का समन्वय संपन्न नहीं हुआ। मोटर राजमार्ग परिवहन-कंपनियाँ अपने यातायात को चुन सकती थीं और कम लाभकर कारबार रेलों के ऊपर छोड़ सकती थीं : उनको खर्चीले मार्ग अधिकार, संकेतन प्रणाली या मार्गांत सुविधाओं की जरूरत नहीं थी और रेलों को जो भारी विशेष प्रकार की निश्चित लागत चुकानी पड़ती है, वे उनसे मुक्त थीं। ये तत्त्व मोटर परिवहन को आनम्य दरों के साथ-साथ रेल कंपनियों को स्पर्धा की समस्या का हल खोजने का प्रयास करने के लिए विवश बनाने लगे। १९३८ ई० में उनके 'मिले-जुले समझौते के प्रस्तावों में' यह सिफारिश की गई कि रेलवे की दरें संविहित विनियमों से मुक्त रहनी चाहिए और उन्होंने दरों को स्थिर करने की दृष्टि से उसमें मोटर परिवहन कंपनियों के साथ एक प्रस्तावित करार भी शामिल किया। संन् १९३९ ई०में युद्ध छिड़ जाने से इन प्रस्तावों पर कोई कार्रवाई न की जा सकी। जब देश युद्ध में शामिल हुआ, तो विभिन्न प्रकार के परिवहन अपना कारबार प्राप्त करने के लिए बर्बादी वाली स्पर्धा में लगे हुए थे, जिसका खास नतीजा यह हुआ कि रेलों के पूँजी साज-सामान का ह्रास हुआ।

युद्धकाल में सरकार ने परिवहन—रेल, नहर, गोदी और मोटर-परिवहन के ऊपर पूरा-पूरा नियंत्रण प्राप्त किया। रेल साज-सामान में और भी ह्रास हुआ। उसकी सुविधाओं का पूरी सीमा तक इस्तेमाल तो किया गया, लेकिन रेल और मोटर परिवहन की मरम्मत तथा बदल को सशस्त्र सेनाओं के संभरण के समान पूर्वता नहीं दी गई। साथ ही बहुत सा साज-सामान दुश्मन की कार्रवाई के कारण क्षत-विक्षत हो गया। परिवहन मंत्री ने कहा था : "नतीजा यह है कि देश को पूँजी व्यय की भारी रकम लगानी पड़ेगी, अगर हम अपनी परिवहन सेवाओं को कार्यकुशलता के किसी मानक तक ले जाना चाहते हैं।"[१] जैसे-जैसे परिवहन की समस्या रूप लेती गई, वैसे-वैसे बढ़ता हुआ जनमत 'पूर्ण' समन्वय के युद्धोत्तर कार्यक्रम का समर्थन करने लगा, जो 'खुली स्पर्धा' के विरुद्ध स्वतः संरक्षण बन जाएगा। यह स्पर्धा "बड़ी ही मँहगी पड़ रही है और लोकसेवाओं के खत्म हो जाने की संभावना होने लगी

---

[१] संसदीय वाद-विवाद, जिल्द ९३१, संख्या २५, पृष्ठ १९२०।

है।"[1] ब्रिटिश उद्योग के तीव्र गति से पुनः बदलाव और युद्धोत्तर काल के तुरंत बाद के उत्पादन आंदोलन में परिवहन सुविधाओं पर पड़ने वाले दबाव का समय बढ़ा दिया। इन समस्याओं के साथ-साथ १९४५ ई० में लेबर दल की विजय ने, जिसकी एक मंच प्रतिज्ञा अंतर्देशीय परिवहन का राष्ट्रीयकरण करने की भी थी, संसद् में राष्ट्रीयकरण विधेयक का लाया जाना अनिवार्य बना दिया।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

सभी अंतर्देशीय परिवहन सुविधाओं को, वायु परिवहन को छोड़ कर, जिसका राष्ट्रीयकरण एक दूसरे अधिनियम द्वारा किया गया, राष्ट्रीयकरण करने वाला अधिनियम 'संसद् द्वारा १९४७ ई०' में पास किया गया और १ जनवरी, १९४८ से प्रभावी हो गया।[2] लगभग ६० निगमों की संपत्तियों और उनके संचालन राष्ट्रीय सरकार द्वारा अपने हाथ में ले लिए गए और इसी तरह स्थानीय सरकारों के स्वामित्व एवं संचालन की अनेक संपत्तियाँ भी हाथ में ले ली गई।

इनमें रेलें और अनेक होटल संचालन, राजमार्ग माल परिवहन, नहरें, गोदियाँ और लंदन यात्री परिवहन मंडल की संपत्तियाँ एवं संचालन शामिल थे। यह मंडल जनता के स्वामित्व का निगम था जो बसों, धरती के भीतर के मार्गों और सड़कों पर ट्रामें लंदन के भीतर और निकट बाहर तक चलाया करता था। कुल मिला कर यह सबसे बड़ा एक समाजीकरण विधान था, जिसका अधिनियम किसी भी प्रजातांत्रिक संसदीय निकाय द्वारा कभी भी किया गया। इसके अधीन लगभग ७ लाख ५० हजार परिवहन कर्मचारी सरकारी कर्मचारी बन गए और राष्ट्रीय सरकार लगभग ५२ हजार की रेल लाइनों, ६ लाख माल डिब्बों, ५० हजार मकानों; ७० होटलों, १०० भाप के जहाजों और १८ अंतर्देशीय नहरों तथा जल-मार्गों के साथ-साथ लंदन क्षेत्र की विशाल परिवहन प्रणाली की मालिक बन गई। इन संपत्तियों का अधिग्रहण करने की लागत कोयला-उद्योग को अधिग्रहण करने की कुल लागत की कई गुनी थी, जो अपने-आप में ही एक विशाल सौदा था। इस प्रकार एक सरकारी उपक्रम का आरंभ हुआ, जिसकी कार्यकुशलता और दरों का ढांचा घरेलू खपत या निर्यात के

---

१. फाईनेन्शियल टाइम्स, लंदन इकोनॉमिस्ट और लेवर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, फरवरी, १९४७, पृष्ठ ३८ से उद्धरणों के अंश।

२. लंदन, एच०एम० स्टेशनरी आफिस, राजमार्ग परिवहन पर लागू होने वाले अंश क्रमशः बाद की तारीखों से प्रभावी हुए।

लिए उत्पादन की जानी वाली प्रायः सभी वस्तुओं की लागत तय करने वाली मुख्य मद बनने जा रही थी।[१]

इस अधिनियम का बताया गया उद्देश्य यह था कि एक कार्यकुशल, सुपर्याप्त, बचतपूर्ण और एकीकृत लोकपरिवहन और बंदरगाह सुविधाओं की प्रणाली प्राप्त की जाए। पूरे उद्योग के संचालन के लिए अधिनियम में एक ब्रिटिश परिवहन आयोग स्थापित किया गया, जिसमें परिवहन मंत्री द्वारा नियुक्त किए जाने वाले ४ से ८ सदस्य (१९५३ ई० में बदलकर अधिकतम १४ तक कर दिए गए) और एक अध्यक्ष था। आयोग का कोई भी सदस्य हाउस ऑफ कामन्स का सदस्य नहीं हो सकता था और कोई भी व्यक्ति परिवहन में वित्तीय या दूसरा हित नहीं रख सकता था, जो इसके कृत्यों के निर्वाह में बाधक बनें। आयोग को व्यक्त रूप से रेल और राजमार्ग एवं अंतर्देशीय जल परिवहन उद्यमों के संचालन का, बंदरगाह की सुविधाओं की व्यवस्था करने का, होटल चलाने का और कोई जरूरी समझी जानेवाली सहायक सुविधा देने का अधिकार दिया गया है। यह साज-सामान का उत्पादन, उसकी खरीद और उसकी मरम्मत कर सकता है (यह जहाज या मोटरगाड़ियाँ नहीं बना सकता), कर्मचारियों को प्रशिक्षण दे सकता है, अनुसंधान-कार्य कर सकता है, जमीन खरीद सकता है या पट्टे पर ले सकता है और करारों के लिए बातचीत चला सकता है। परिवहन सेवाओं की दरें पर्याप्त होनी चाहिए, ताकि कई साल के औसत से आने वाली लागत को पूरा किया जा सके। मंत्री को अधिकार दिया गया है कि जनहित को प्रभावित करने वाले मामलों में आयोग के लिए स्थूल नीतियाँ तय कर दे और आयोग का यह दायित्व होता है कि वह उनका पालन करे। आयोग को वह सारी जानकारी मंत्री को देनी होगी, जो वह चाहता है और इसे एक वार्षिक प्रतिवेदन भी देना होगा, जिसे वह संसद् के समक्ष भेजेगा।

अधिनियम में ६ "कार्यपालिकाओं की व्यवस्था की गई है जो प्रत्येक ४ से ८ तक मंत्री द्वारा नियुक्त किए गए सुयोग्य पूर्णकालिक व्यक्तियों वाली होगी और आयोग

---

[१] इस राष्ट्रीयकरण विधेयक के संसद् में पास होने के सिलसिले में लेबर सरकार को हाउस ऑफ लार्ड्स में बाधाकारी देर करने की प्रवृत्तियों में परेशानी हुई और उसने हाउस ऑफ लार्ड्स की विधायनी शक्तियों को बदलने के लिए एक विधान पेश किया। यह संशोधन अंत में १९४९ ई० में पास हुआ तथा इसने कुल दो साल तक की उस देर को कुल एक साल में बदल दिया, जो हाउस ऑफ लार्ड्स किसी भी ऐसे विधेयक के अंतिम रूप में पास होने में लगा सकता था, जिसका वह समर्थन नहीं कर रहा और जिसका हाउस ऑफ कामन्स समर्थन कर रहा था।

के अधीन उसे प्रत्यायोजित शक्तियाँ इन चीजों के संचालन के लिए मिलेंगी : (१) रेलें, (२) गोदी और अंतर्देशीय जलमार्ग, (३) लंबे रास्तों वाले माल के ट्रकों का संचालन (४) यात्री बसें (जिनमें से सभी का राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया) : (आयोग को अधिकार दिया गया था कि लंदन क्षेत्र के बाहर भी उन राजमार्ग यात्री सुविधाओं का अधिग्रहण कर ले जो रेल और राजमार्ग यात्री परिवहन के लिए जरूरी हैं), (५) होटल (६) लंदन की स्थानीय परिवहन-प्रणाली। हर कार्यपालक को अपने प्रबंध के उपविभागों का संगठन यथेष्ट रूप से करने और उण्युक्त मजदूर संघों के साथ करार के लिए बातचीत चलाने के लिए आजाद छोड़ दिया गया। अधिनियम में पूरे राष्ट्र के लिए एक केंद्रीय परामर्श समिति की व्यवस्था की गई और मंत्री को अधिकार दिया गया कि पोतचालकों और यात्रियों से प्राप्त शिकायतों एवं सुझावों पर विचार करने के लिए प्रादेशिक समितियाँ स्थापित करे। अधिनियम में परिवहन दरें तय करने का क्षेत्राधिकार एक परिवहन अधिकरण को दिया, जिसके पास पुष्टि के लिए ब्रिटिश परिवहन आयोग को अपनी दर-सूचियाँ पुष्टि के लिए अवश्य भेजनी पड़ती थीं। अधिकरण को शक्ति है कि हित-बद्ध दलों के आवेदन पर दरों को बदल दे और मंत्री को अधिकार है कि वह दर-अनुसूचियों का पुर्नविलाकेन करने के लिए अधिकरण को आदेश दे। पूँजी व्यय के लिए पैसा उधार लेने के प्रयोजन से आयोग को अधिकार दिया गया कि राजकोष द्वारा गारंटी दिए गए स्टॉक जारी कर दे।

अधिनियम के एक रोचक पहलू से पता चलता है कि जब संबंधित उद्योग इतना विषमरूप होता है तो जिस चीज का राष्ट्रीयकरण करना है, उसकी ठीक-ठीक परिभाषा करना भी मुश्किल हो जाता है। जहाँ तक ट्रकों के संचालन का सवाल है, लेबर सरकार का उद्देश्य था कि सामान्य माल ढोने वाले प्रकार के दूरगामी ट्रक-संचालन का ही राष्ट्रीयकरण किया जाए। हाउस ऑफ कामन्स में इस समस्या पर काफी बहस के बाद अधिनियम में काफी ब्योरेवार व्यवस्था की गई और यह लिखा गया कि केवल उन्हीं ट्रक-उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा, जिनका आधे से ज्यादा कारबार दूरगामी यातायात में लगा हुआ है और दूरगामी का मतलब है कि जिस उद्योग का कारबार अपने केंद्र से २५ मील की परिधि के इलाके के बाहर जाता है या ऐसे मार्गों पर संचालन जो उस इलाके के भीतर भी ४० मील से ज्यादा हो। वस्तुतः 'आधे' वाली कसौटी ने ब्रिटिश परिवहन आयोग को कुछ स्थानीय ट्रक संचालन में फँसा दिया। अधिनियम के प्रभावी होने के कई साल बाद भी यह प्रयास किया जा रहा था कि इस बात की काफी स्पष्ट परिभाषा कर दी जाए कि किन सीमाओं

के बीच ब्रिटिश परिवहन आयोग का ट्रक चलाने का एकाधिकार रहेगा और स्थानीय ट्रक संचालन का क्या रूप होगा, जहाँ निजी उद्यमों को काम करने की अनुमति मिलेगी। अधिनियम में खासतौर से ऐसी फर्मों द्वारा ट्रक संचालन के राष्ट्रीयकरण को वहिर्गत रखा गया था जो अपने ट्रक अपने ही काम के लिए चलाती थीं और कुछ ऐसी फर्मों का ट्रक संचालन भी जो मांस, विस्फोटक, पशु, घरेलू माल, भारी मात्रा में द्रव्य और इमारती लकड़ी को लाने और ले जाने के विशेष प्रयोजन से ट्रकों का संचालन करती थीं।

भूतपूर्व स्वामियों को मुआवजा : आयोग के स्वामित्व में सौंपी गई भौतिक संपतियों या उपक्रमों के बदले में राजकोष द्वारा गारंटी किए गए और आयोग द्वारा जारी किए गए ब्रिटिश परिवहन स्टॉक दिए गए। ये स्टॉक इतनी रकमों में दिए गए थे, जो राजकोष की राय से आयोग द्वारा ली गई संपत्ति के मूल्य के बराबर मूल्य के थे। राष्ट्रीयकृत संपत्तियों के लिए देय मुआवजे की रकम इस तरह तय की गई थी।

(१) रेलवे और नहर उपक्रम : १, ४, ५, ६, ७, ८, नवंबर, १९४६ ई० को लंदन स्टॉक एक्सचेंज द्वारा बताई गई प्रतिभूतियों का औसत मूल्य या विकल्प रूप में अगर उससे ज्यादा मूल्य निकलता है तो नीचे लिखी तारीखों का औसत : १५ फरवरी, १५ मार्च, १६ अप्रैल, १५ मई, १५ जून, १६ जुलाई १९४७ ई०। नवंबर, १९४६ ई० के भाव आमतौर पर मालिकों के पक्ष में थे। फिर भी वैकल्पिक तारीखें रखने का प्रयोजन यह था कि यह आरोप टाला जा सके कि किन उपक्रमों की प्रतिभूतियाँ उस तारीख के बाद की ली जा रही हैं जब वे १९४५ ई० के चुनाव में लेबर दल के राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम की मतदाताओं द्वारा मंजूरी से प्रभावित हो चुकी थीं।

(२) राजमार्ग मोटर परिवहन उपक्रम : आयोग द्वारा ली गई मोटर-गाड़ियों के लिए, गाड़ी की जगह पर नई गाड़ी लाने की कीमत, लेकिन उसमें २० प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ह्रास के लिए समंजन करके, दूसरी संपत्ति के लिए वह अनुमानित रकम जो इस पर 'अगर खुले बाजार में बेचा जाए तो' मिलेगी और 'कारवार बंद होने' के कारण हुई हानियों के लिए एक 'उचित' रकम जो औसत निबल वार्षिक लाभ से दुगुनी से कम न होगी और पांचगुनी से ज्यादा नहीं।

(३) स्थानीय प्राधिकारों के उपक्रम : (जैसे नमूने के लिए नगरपालिकाओं के स्वामित्व की गोदियां) वार्षिक मुआवजा जो ऋण-पत्र पर भविष्य के शोधन निधि और ब्याज भुगतान को पूरा करने के लिए काफी होगा। ऋण-पत्र के लिए गए थे जो इन सुविधाओं को चुकाने के लिए जारी किए गए थे या फिर संबंधित

स्थानीय प्राधिकारियों के साथ समझौता करके उतनी रकम से ब्रिटिश परिवहन स्टॉक, जो स्थानीय अधिकारियों को इन उपक्रमों के लिए पहले जारी किए गए ऋण-पत्रों की भावी देयताओं को पूरा करने में समर्थ बनाने के लिए काफी होंगे।

(४) **निजी स्वामित्व के रेल डिब्बे** : डिब्बे की मूल लागत, जिसमें उसकी उम्र और तबादले की तारीख पर उसकी हालत के लिए समंजन कर दिया गया था।

अधिनियम ने एक परिवहन मध्यस्थ निर्णय अधिकरण भी बनाया, जिसमें कानून, कारबार और वित्त का अनुभव रखने वाले चार व्यक्ति थे और उसे "ऐसे किसी विवाद का निर्णय करने के लिए एक मात्र क्षेत्राधिकार दिया गया, जिसमें आयोग एक पक्ष है और—जो किसी व्यक्ति को कितनी रकम आयोग को, किए गए किसी एक उपक्रम, उस उपक्रम के एक अंग, किसी संपत्ति या किसी किराया खरीद करार के बारे में देय हैं।"

१ जनवरी, १९४८ ई० को जिस दिन अंतर्देशीय परिवहन सुविधाएँ सरकार द्वारा अपने हाथ में ली गईं, सर्वोत्तम ब्रिटिश औद्योगिक ऋणपत्रों पर दीर्घकालीन ब्याज की दर लगभग ३ प्रतिशत के स्तर पर थीं। सरकार ने ब्रिटिश रेलों, नहर, अंतर्देशीय, होटल, गोदी और लंदन यात्री परिवहन के स्टॉकों के निजी शेयरधारियो को ब्रिटिश परिवहन के ३ प्रतिशत की गारंटी वाले नए स्टॉक देकर इस बात को मान्यता दी। इस स्टॉक का पौंड सम मूल्य पुराने स्टॉक की जगह पर बदला गया, जिसका पौंडों में विनिमय मूल्य परिवहन अधिनियम की व्यवस्था के अनुसार तय किया गया। ब्रिटिश परिवहन स्टॉक सम मूल्य पर सन् १९७८ से १९८८ ई० तक की तारीखों में शोध्य होने को थी, केवल लंदन यात्री परिवहन के स्टॉकों को छोड़ कर जो सन् १९६७ से १९७२ ई० तक शोध्य होने वाले थे। लंदन स्टॉक बाजार में परिवहन स्टॉकों को लेकर जो सौदे हुए, उनमें एक जनवरी, १९४८ ई० को होने वाले विनिमय के ठीक-ठीक व्यौरों को ध्यान में रखा गया। प्रत्यक्ष ही तबादले की इन अंतिम शर्तों के बारे में मामूली सा ही असंतोष था। ब्रिटेन रेलवे स्टॉकधारी संघ के महासचिव ने कहा कि शर्तें वहीं थीं, जिनकी कि उम्मीद की गई थी और "विधेयक के आने पर हम ने जो उम्मीद की थी, उससे स्पष्ट ही ज्यादा अच्छी थीं।"[1] चूँकि निजी परिवहन स्टॉकों के बदले में दिए गए ब्रिटिश परिवहन के ३ प्रतिशत वाले नए स्टॉको का कुल सम मूल्य लगभग १ अरब पौंड था, मालिकों को वार्षिक लाभ लगभग ३ करोड़ पौंड मिलने वाला था। पहले के निजी स्वामित्व वाले परिवहन ऋणपत्रों का कुल वार्षिक लाभ लगभग ४.३ करोड़ पौंड का रहा था

---

[1] संसदीय वाद-विवाद, जिल्द ९३१, संख्या २५, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस।

और इस लाभ को चालू नहीं रखा जा सकता था; क्योंकि परिवहन उपकरणों की हालत में काफी ह्रास हो चुका था।

राष्ट्रीयकरण पर संसदीय बहस

परिवहन विधेयक वह पहला राष्ट्रीयकरण विधान था जिसे संसद् में वास्तव में काफी सख्त विरोध का सामना करना पड़ा। इसलिए यह उचित ही है कि हाउस ऑफ कामन्स में हुई बहस का सारांश यहाँ पर दे दिया जाए। लेबर सरकार के मुख्य तर्क विधेयक के समर्थन में ये थे कि इससे राष्ट्र की अंतर्देशीय परिवहन सुविधाओं के इकट्ठे होने और एकीकरण में सुविधा मिलेगी एवं इससे पूँजी सुधार के लिए बड़ी ही जरूरी निधियाँ उपलब्ध होने का आश्वासन भी मिल जाएगा। केवल एक पूर्ण प्रणाली में एकीकरण हो जाने के बाद ही ऐसा हो सकेगा कि हर वस्तु का परिवहन उस प्रकार की सुविधा द्वारा किया जाए, जिससे इस सेवा का निर्वहन सब से ज्यादा कार्यकुशलता के साथ और आर्थिक संसाधनों में कम लागत पर किया जा सके। यह भी तर्क दिया गया था कि उपलब्ध पूँजी निधियों की कमी की दृष्टि से राष्ट्र को यह अनुमति न देनी चाहिए कि उसे स्पर्धी बोली लगा कर अनेक प्रकार के परिवहनों में आवंटित किया जाए। यह भी बताया गया कि निजी स्वामित्व में जितना पैसा उधार लिया जा सकता था उससे कहीं ज्यादा पैसे की जरूरत है, जिससे युद्ध द्वारा नष्ट हुए या युद्ध के दौरान गंभीर रूप से ह्रास हुए साज-सामान को बदला जाए और रेलों के पुराने माल डिब्बों को बदल दिया जाए। निजी उद्यमों पर आरोप लगाया कि वे रेल और राजमार्ग परिवहन में समन्वय लाने में असफल रहे हैं, उन्होंने स्थानीय रेलगाड़ी सेवा के गुणों में ह्रास होने दिया है, वे 'लाभ के गुलाम' रहे हैं और 'जनता की जरूरतों' की ओर लापरवाह रहे हैं, और लाखों तरह की भाड़ा एवं यात्री दलों के 'झुंड' को चालू रखते रहे हैं, जिनको सरल और मानकीकृत करना चाहिए और निजी तत्त्वाधान के अधीन परिवहन में सुधार करने के लिए ठोस प्रस्ताव करने में असफल रहे हैं।

विरोधी पक्ष ने विधेयक का संभाव्य पास हो जाना 'एक बड़ी राष्ट्रीय दुर्घटना' बताया। इस 'बड़े ही गैर-जिम्मेदार रास्ते' पर चलने से कामगरों का ध्यान अपने कर्तव्यों से हट जाएगा और वे राष्ट्रीयकरण से लाभ उठाने की बात ही सोचने लगेंगे एवं इससे मनचाहा परिवहन साधन चुनने की उपभोक्ता की आजादी भी खत्म हो जाएगी। जो तर्क इस विधेयक के खिलाफ दिए गए थे, उनमें से अनेक इसी प्रकार के दूसरे राष्ट्रीयकरण विधानों के खिलाफ दिए गए तर्कों जैसे ही थे। यह विरोध कभी-कभी मात्र सांकेतिक भी था। यह भविष्यवाणी की गई कि पहल खत्म हो जाने से नौकरशाही पनपेगी और निजी संचालन को कार्यकुशल

बता कर उसका समर्थन किया गया। यह आरोप लगाया गया कि विधेयक उद्योग के ऊपर मंत्री के रूप में एक तानाशाह को लाभ देता है जिसके निर्णय राजनीतिक आधार पर किए जाएँगे और 'सारी दुनिया में रेल परिवहन के राष्ट्रीयकरण के असफल हो जाने के पूर्वोदाहरण मिलते हैं।' और ब्रिटेन के युद्धकालीन अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि सरकार उद्योग को कार्यकुशलता के साथ संचालित करने में असमर्थ है। विधेयक के प्रस्तावकों पर यह भी आरोप लगाया गया कि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि खास तौर पर किस तरह 'एकीकरण' करने से कम दाम पर परिवहन चालू हो सकेगा, दरें किस तरह से तय की जाएँगी। यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है, और रेलों द्वारा स्वयं बनाई गई उन आयोजनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है जो युद्धोत्तर पूँजी सुधार और निजी स्वामित्व के अधीन रेल एवं राजमार्ग परिवहन के एकीकरण के बारे में हैं।

विधेयक के मुआवजा-संबंधी उपबंधों पर भी विरोधी पक्ष द्वारा कुटिलता के साथ आक्षेप लगाए गए। सरकार पर यह आरोप लगाया गया कि विधेयक में ही रेलों के लिए मुआवजे की रकम स्पष्ट करके और कोयले की तरह यह मामला एक न्यायाधिकरण को न सौंप कर वह चुकाए जाने वाले दाम की घोषणा तानाशाह की तरह कर रही है। यह भी आरोप लगाया गया कि जो रकम चुकाई जा रही है वह संपत्ति को छीन लेने जैसी है और यह बात इसलिए और भी गंभीर है; क्योंकि रेलवे के ऋणपत्र खासतौर पर रेल-कर्मचारियों के पास काफी व्यापक रूप से हैं। यह भी तर्क दिया गया कि रेलवे ऋणपत्रों से अपनी पहली आय के तुलना में मुआवजे के स्टॉकधारियों की आय में काफ़ी कमी आएगी और इस तरह भूतपूर्व स्वामी घाटे में रहेंगे। ट्रकों, रेलवे डिब्बों और बंदरगाह सुविधाओं के लिए मुआवजे की जो व्यवस्था की गई थी, उन पर भी किसी तरह के आरोप लगाए गए। सरकार ने विधेयक की मुआवजा आयोज़ना को उचित और न्याय बताते हुए उसका बचाव किया। उसने भूतपूर्व स्वामियों की आय को इसी रूप में आगे चालू रखने के दायित्व का दावा ठुकरा दिया और बताया कि मुआवजा चुनाव से पहले संपत्तियों के स्टॉक बाजार मूल्य के बराबर ही रहेगा तथा चुनाव में सरकार राष्ट्रीयकरण के लिए वचनवद्ध हो चुकी है एवं भूतपूर्व स्वामी इस पूँजी मूल्य को तुरंत ही प्राप्त कर सकेंगे; क्योंकि मुआवजे के स्टॉक परास्य हैं। यह भी तर्क दिया कि अगर भूतपूर्व स्वामियों की आय को यथापूर्व बनाए रखा जाए, तो परिवहन प्रणाली 'ब्याज प्रभार के असह बोझ' से दब जाएगी और किसी भी तरह से युद्धोत्तर काल में रेलों की आय युद्धकालीन आय जितनी नहीं रह सकती और जिन लोगों की संपत्ति युद्ध में नष्ट हुई थी या अधिग्रहण की गई थी, उनको भी उस संपत्ति का युद्धपूर्व मूल्य

ही मुआवजे में दिया गया था। यह भी तर्क दिया गया कि चूँकि मालिकों को 'सरकारी स्टॉक की पूर्ण सुरक्षा' निजी निवेश के खतरे की जगह पर प्रदान की जा रही है, इसलिए ऐसे आदान-प्रदान में आय में उचित रूप से कुछ कमी की ही जानी चाहिए।

अंतर्देशीय परिवहन का पुनर्गठन

१९५० ई० के अंत तक ब्रिटिश परिवहन आयोग के संचालन से तीन साल का संचित घाटा ५·०६ करोड़ पौंड हुआ। आयोग को विरासत में द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले पैदा हुई अनेक समस्याएँ मिली थीं जो १९४८ ई० के राष्ट्रीयकरण के कुछ पहले बड़ी ही तीव्र हो गई थीं। इन तीन सालों में रेलवे दरों में कई बार वृद्धि की गई, पर कोयले के बढ़े दाम और रख-रखाव एवं मजदूरी की बढ़ी हुई लागतों को पूरा करने के लिए आयोग की ये प्राप्तियाँ काफी न थीं। उसने रेलवे संघों से बदले में इस बात का वचन लिए बिना मजदूरियाँ बढ़ा दीं कि श्रम और कार्यकुशलता में काफी बर्बादी करने वाली पुरानी चली आती हुई प्रतिरोधी रिवाजें खत्म कर दी जाएँगी। परिवहन उद्योग के संगठन की आलोचना आयोग और मंत्री ने प्रशासन का अतिकेंद्रीयकरण करने के लिए की गई। १९४७ ई० के अधिनियम में बनाए गए उद्योग के विभिन्न खंडों के प्रशासन चलाने वाले 'कार्यपालक' अपना-अपना कारबार बढ़ाने में ही निहित स्वार्थ रखते थे। इस कारण विभिन्न प्रकार के परिवहनों के एकीकरण का प्रभावी होना बहुत कुछ सफल न हुआ, जो कि राष्ट्रीयकरण का मुख्य मूल उद्देश्य था। यह पता चला कि एकीकरण के लिए न केवल सुविधाओं की भौतिक आयोजना ही जरूरी होगीं, बल्कि दर सूचियों का ज्यादा मुश्किल पुनर्गठन करना होगा, ताकि माल लादने वाले अपना माल भेजने के लिए सबसे ज्यादा कार्यकुशल साधन चुन सकें। कंजरवेटिव दल ने १९५१ ई० के अपने सफल चुनाव घोषणा-पत्र में राष्ट्रीयकृत परिवहन-संबंधी अपनी नीति के बारे में कुछ अस्पष्ट बातें ही कहीं। इसमें सिफारिश की गई कि रेल और राजमार्ग परिवहन को 'कामचलाऊ' आकार के प्रादेशिक समूह में पुनर्गठित कर दिया जाना चाहिए और ट्रक उद्योग का कुछ अंश विराष्ट्रीयकृत करके निजी संचालकों को लौटा देना चाहिए।

मई, १९५२ में कंजरवेटिव सरकार ने परिवहन नीति नाम का एक 'श्वेत पत्र' निकाला, जिसमें अंतर्देशीय परिवहन के पुनर्गठन के बारे में ठोस प्रस्ताव दिए गए थे।[1] इसमें सरकार ने अपनी बात को स्पष्ट किया कि राजमार्ग और रेल परिवहन के एकीकरण में बहुत कम प्रगति हुई, उसे आगे विकसित होने की वास्तव में संभावना भी

---

[1] ब्रिटिश सूचना सेवा, चेंजेज इन ट्रांसपोर्ट नेशनलाइजेशन, गवर्नमेंट प्रपोजल, मई, १९५२।

नहीं मालूम पड़ी है और एकीकरण को व्यावहारिक लक्ष्य मान ही लिया जाए, तो इसका नतीजा होगा 'एक भारी न चल सकने वाले तंत्र की स्थापना, जो उद्योग की बदलती हुई और तत्कालीन माँगों को जल्दी से पूरा करने के लिए उपयुक्त न होगा।' इसमें 'नए और रचनात्मक विधान की' अत्यंत आवश्यकता बताई गई, जिसमें 'एक निश्चित दृष्टिकोण' और उसके लिए 'न्यूनतम केंद्रीयकृत नियंत्रण' की व्यवस्था की गई हो। इसमें सरकार के इस इरादे की भी घोषणा की गई कि सरकार एक ऐसे विधान को बनाएगी, जिसमें यह व्यवस्था हो : (१) ट्रक उद्योग के जिस अंश का राष्ट्रीयकरण किया गया है (अर्थात् दूरगामी अंश) उनको निजी स्वामित्व और संचालन में लौटा दिया जाए और (२) राष्ट्रीयकृत रेल उद्योग के क्षेत्रीय प्रशासन को और ज्यादा सहायता दी जाए तथा सभी क्षेत्रों को मुख्यतः वित्तीय प्रयोजनों से और दरें तय करने के लिए ब्रिटिश परिवहन आयोग के अधीन एक इकाई बनायी जाए। पहली चीज को इस अध्याय में आगे चलकर ज्यादा ब्योरों के साथ दिया गया है। दूसरे की प्राप्ति आयोग द्वारा रेलवे के विकेंद्रीयकरण की आयोजना बनाकर की जानी थी, जो मंत्री और संसद् के अनुमोदन के बाद प्रभावी होगी। रेलों के लिए ज्यादा आनभ्यता रखने के अंगस्वरूप सरकार ने प्रस्ताव किया कि मंत्री की सहमति के बाद आयोग को दरों में परिवर्तन लाने के लिए पहल करने की ज्यादा आजादी दी जाने चाहिए और ये दरें बाद में परिवहन अधिकरण की मंजूरी के अधीन रहें (जो दर नियंत्रित करनेवाला निकाय है)। सरकार ने विराष्ट्रीयकरण और विकेंद्रीयकरण की इस नीति को इस कारण जरूरी ठहराया कि 'सड़क और रेल के बीच कुछ स्पर्धा को फिर से शुरू किया जा सके' और इससे 'दोनों में कार्यकुशलता बढ़ाई जा सके', ताकि परिवहन अधिनियम (१९४७) द्वारा प्रस्तावित एकीकरण की अपेक्षा कहीं ज्यादा सस्ती और अच्छी परिवहन व्यवस्था प्राप्त की जा सके। एकीकरण के जरिए कार्यकुशलता लाने की नीति को पलटने का यह विशिष्ट उदाहरण था; क्योंकि १९४७ में राष्ट्रीयकरण के लिए पूँजी निधियों की जरूरत के अलावा यही मुख्य कारण लेबर दल वालों ने दिया था।

१९५३ ई० के परिवहन अधिनियम में प्रशासनिक पुनर्गठन में यह परिवर्तन कर दिया। इसमें दूरगामी ट्रकों के विराष्ट्रीयकरण की व्यवस्था की गई, रेलवे कार्यपालिका को खत्म कर दिया गया और यह आदेश दिया गया कि ब्रिटिश परिवहन आयोग तथा मंत्री द्वारा रेलवे के विकेंद्रीयकरण की एक योजना बनाई जाए। १९५४ ई० में मंत्री ने ऐसी एक योजना संसद् के पास भेजी और अगले साल मंजूर कर दी गई। इस कारण अब ६ रेलवे प्रदेश हैं और प्रत्येक में एक क्षेत्रीय बोर्ड है, जो अपने क्षेत्र की रेल प्रणाली के लिए जिम्मेदार है। हर मंडल के अधीन एक मुख्य प्रादेशिक प्रबंधक है, जो दैनंदिन प्रबन्ध के लिए जिम्मेदार है और उसके अधीन उप प्रबंधक हैं जो क्षेत्र की

सुविधाओं के खंडों के संचालन जिम्मेदार हैं। आयोग सात सदस्यों तक के क्षेत्रीय मंडलों की नियुक्ति दो साल की अवधि के लिए करता है। मंडल में आयोग के एक या अधिक सदस्य रहते हैं। नीतियों का निर्णय आयोग द्वारा (मंत्रियों के विवेक अधीन रहते हुए) किया जाता है। क्षेत्रीय मंडल आयोग की नीतियों और निर्णयों का अनुपालन करते हैं, अपनी सिफारिशें आयोग को देते हैं, जो आँकड़े आयोग माँगता है उसके पास भेजते हैं, उन शक्तियों का प्रयोग करते हैं जो आयोग उनको प्रत्यायोजित करता है, स्थानीय आधार पर रेल के उपभोक्ताओं के साथ संपर्क बढ़ाते हैं और कर्मचारियों का अधीक्षण करते हैं। आयोग साज-सामान की डिजायन बनाने और उसका निर्माण करने की जिम्मेदारी अपने पास रखता है, इसी तरह श्रम-संबंधों के बड़े-बड़े पहलुओं वित्तीय नियंत्रण, रेलवे संचालन में अपनाई जाने वाली 'नीतियों और सिद्धांतों' विभिन्न प्रदेशों के बीच माल के ट्रकों के आवंटन बड़े माल भेजने वालों से वाणिज्यिक बातचीत चलाने और रेलवे दरों के सामान्य स्तर के बारे में जिम्मेदारी अपने पास रखता है। विकेंद्रीयकरण विधान का लेबर दल द्वारा विरोध किया गया था। अपने १९५५ ई० के चुनाव आंदोलन में उसने इन परिवर्तनों की आलोचना में कहा था कि इससे माल का यातायात 'बचतहीन' तरीकों से किया जाने लगा है और सेवाओं के मामले में 'अनावश्यक दोहरी फीस' चल रही है। १९४७ ई० की पिछली स्थिति की बात करते हुए दल ने यह सिफारिश की थी कि "सरकारी स्वामित्व के अधीन परिवहन सेवाओं का एकीकरण करके स्पर्धा को खत्म किया जाए।"

१९५५ ई० में विकेंद्रीयकरण योजना के प्रभावी होने के बाद इसके ब्यौरे धीरे-धीरे तैयार किए गए; क्योंकि कृत्यों के बँटवारे को व्यवस्थित करने की समस्याएँ जटिल थीं। वस्तुतः ये ब्यौरे अब भी तैयार किए जा रहे हैं, यह बात क्षेत्रीय मंडलों के फैसले पर छोड़ दी गई कि वह अपने अधीन प्रबंधकीय जिम्मेदारियों का और कितना विकेंद्रीयकरण करे। कुछ क्षेत्रों में यह उप-प्रदेश के आधार पर किया गया और दूसरे क्षेत्रों में रेलवे 'प्रणाली' के आधार पर किया गया। सरकार की चालू नीति प्रबंध के और अधिक विकेंद्रीयकरण पर जोर देने की है। १९६० ई० में प्रधान मंत्री ने इसकी सिफारिश की "ताकि व्यक्तिगत उपक्रम (संभवतः व्यक्तिगत रेल लाइनें) और ब्रिटिश रेलों के प्रदेश जहाँ तक संभव हो, अपने-अपने कार्यों के संचालन और प्रबंध के लिए स्वयं उत्तरदायी बना दिए जाएँ।"[1] यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश परिवहन आयोग अपनी कोई प्रमुख शक्ति या जिम्मेदारी क्षेत्रीय मंडलों को देने को तैयार

---

[1] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १९ मार्च, १९६०, पृष्ठ ११२९।

नहीं है। लगता है कि राष्ट्रीयकृत रेलों को प्रबंधकीय केंद्रीयकरण बनाम विकेंद्रीयकरण की सख्त समस्याओं का सामना करते रहना पड़ेगा, जो उसी तरह की हैं, जिनकी चर्चा राष्ट्रीयकृत कोयला उद्योग के सिलसिले में की गई है। जैसा 'लंदन इकोनॉमिस्ट' ने लिखा था कि एक दिक्कत "यह होगी कि अनुभव और व्यक्तित्व वाले ठीक-ठीक प्रकार के लोगों को चुन लिया जाए जो आयोग, मंडल और प्रबंधक के बहुत अस्पष्ट एवं प्रकटतः सूक्ष्म ढाँचे में मंडलों में संतुलन बनाए रख सकें।[१]"

आयोग के ढाँचे के दूसरे हिस्सों में भी प्रशासनिक पुनर्गठन किया गया है। १९४७ ई० के अधिनियम के अधीन बनाए गए सभी कार्यपालिकाओं को, लंदन परिवहन कार्यपालिकाओं को छोड़ कर खत्म कर दिया गया है और उनकी जगह पर नीचे लिखे डिवीजन बनाए गए हैं : ब्रिटिश रेलवे, ब्रिटिश सड़क सेवाएँ (दूरगामी ट्रक चालन), सड़क यात्री सेवाएँ (बसें), ब्रिटिश परिवहन गोदियाँ, ब्रिटिश जलमार्ग और ब्रिटिश परिवहन होटल एवं भोजनालय सेवाएँ।[२] आयोग के इन प्रत्येक डिवीजनों को आयोग के सामान्य नियंत्रण और अधीक्षण के अधीन प्रबंधकीय स्वायत्तता मिली हुई है।

१९६० ई० में काफी अध्ययन के बाद हाउस ऑफ कामन्स की राष्ट्रीयकृत उद्योगों[३] संबंधी प्रवर समिति ने यह एक प्रतिवेदन दिया, जिसमें ब्रिटिश रेलों के प्रशासन के और आगे विकेंद्रीयकरण का समर्थन नहीं किया गया था, जिसकी की प्रधान मंत्री पहले ही सिफारिश कर चुके थे। प्रतिवेदन में यह बुनियादी प्रश्न भी रखा गया कि प्रादेशिक आधार पर सार्थक लेखा व्यवस्था कैसे स्थापित की जा सकती है जो कार्यकुशलता को प्रकट कर सके या ऐसा लाभ के साथ हर प्रदेश के भीतर कैसे किया जा सकता है जबकि रेल यातायात का ५५ प्रतिशत उसी प्रदेश में खत्म नहीं हो जाता, जहाँ से वह शुरू होता है। उसमें ये भी प्रश्न उठाए गए कि पूँजी निवेश की लागत और उससे मिलने वाले प्रतिफलों की प्रादेशिक गणना किस तरह की जा सकती है जबकि पूँजी निवेश प्रायोजनाएँ एक से ज्यादा प्रशासनिक प्रदेशों के बारे में अमल में लायी जाती हैं। उसने ब्रिटिश परिवहन आयोग की आलोचना एक ओर तो इसलिए की कि उसने लागत और प्राप्तियों की समस्याओं को सेवा करने

---

[१] १७ जुलाई, १९५४, पृष्ठ १७६।

[२] और आगे व्यौरों के लिए देखिए ब्रिटिश सूचना सेवा नेशनलाइज्ड इंडस्ट्रीज इन ब्रिटेन, १९५५, पृष्ठ १२-१३, ब्रिटेन : ऐन ऑफिसियल हैंड बुक, १९५६. पृष्ठ, २१८-२१९, पृष्ठ ३६७-३७६।

[३] देखिए, पृष्ठ ४०३।

के सामाजिक दायित्व के साथ जोड़ दिया है और दूसरी ओर यह 'रवैया' अपनाने के लिए कि अगर रेल सेवाओं के किसी खास कृत्यकारी या भौगोलिक खंड को आर्थिक मदद देनी है, तो इसका फैसला सरकार को करना चाहिए और आयोग को नहीं और साथ ही यह सहायता सरकारी निधि में से आनी चाहिए, दूसरे रेलवे संचालकों के अधिभार में से नहीं। उसने कहा कि "आर्थिक दृष्टि से क्या सही है और सामाजिक दृष्टि से क्या वांछनीय है, इन दोनों बातों के बीच निर्णय करने में गड़बड़ी होने से ही यह स्थिति पैदा हो गई है जिसमें आयोग आज अपने-आपको पा रहा है।"[1]

राष्ट्रीयकृत परिवहन की सफलताएँ और असफलताएँ

यह बात स्पष्ट है कि जहाँ तक राष्ट्रीयकृत परिवहन का सवाल है, ब्रिटिश परिवहन आयोग, मंत्री, संसद् और ब्रिटिश जनता संगठनगत समस्याओं में उलझी रही है। १९५१ ई० के आम चुनाव की दिक्कतों में परिवहन की सभी समस्याओं का समाधान 'रेलवे का विकेंद्रीयकरण' के जादू वाले शब्दों में खोज लिया गया था। १९५१ ई० में पद सँभालने वाली कंजरवेटिव सरकार इसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करने को वचनवद्ध थी हालांकि यह भी साफ था कि मतदाताओं के संसदीय प्रतिनिधियों के हाथ में नियंत्रण बनाए रखने के लिए काफी केंद्रीयकृत निदेश भी हाथ में रखना होगा। संगठनगत सुधार और उसके साथ-साथ राजनीतिक दवाब आज परिवहन के राष्ट्रीयकरण के प्रतिफलों का मूल्यांकन करना असंभव बना देते हैं। किसी भी तय किए संगठनगत ढाँचे को कुछ साल तक लगातार चलते रहना चाहिए, तभी उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। तथापि कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि एक सुदृढ़ प्रबंध संगठन में डटकर काम करने में उद्योग की असमर्थता ही यह सिद्ध कर देती है कि यह राष्ट्रीयकरण की कमी है। यह भी साफ है कि मूल अभिप्रेत अर्थ में 'एकीकरण' प्राप्ति नहीं किया जा सका है या उधर कोई प्रगति नहीं हुई है। क्या यह सब इसी कारण हुआ है कि संगठन के ढांचे को बदलने में बुद्धिमानी से प्रयोग किए गए हैं या इस कारण है कि कंजरवेटिव दल आज यह मान कर चलता है कि सच्ची कार्यकुशलता का तरीका 'स्पर्धा' है, 'एकीकरण' नहीं या इस कारण है कि कोई भी संगठनगत ढांचा प्रजातांत्रिक संसद् को स्वीकार हो और काफी लगातार रूप से चल सके या आर्थिक कार्यकुशलता के लक्ष्य की ओर दृढ़ता के साथ बढ़ सके, इस प्रकार का अधिकार पूर्ण नहीं हो सकता।

इन बातों के कारण इस समय राष्ट्रीयकृत परिवहन प्रायोजनाओं का विशद मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, फिर भी मूल्यांकन से संबंधित कुछ-कुछ बातों पर

---

[1] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, २३ जुलाई, १९६०।

ध्यान दिया जाना चाहिए। पहली बात तो यह है कि ब्रिटिश परिवहन आयोग के अधीन रेलों पर बहुत कुछ आधुनिकन और तकनीकी प्रगति हुई है, जिसके फलस्वरूप साज-सामाज की प्रभाविता बढ़ गई है। १९५५ ई० के आयोग ने १५ साल की एक आधुनिकन और पुनः सज्जा-आयोजना कुल १६६ करोड़ पौंड की लागत से शुरू की थी। इस कार्यक्रम का खर्च ज्यादातर सन् १९५९ से १९६३ ई० तक किया गया, ताकि १९६४ ई० तक रेलों को पूरा-पूरा या जितना हो सके, वित्तीय आधार पर घाटा रहित हालत में लाने की कोशिश की जा सके। १९६० ई० तक लगभग एक तिहाई खर्च किया जा चुका था और उसके नतीजे बहुत बढ़िया रहे थे। सभी यात्री गाड़ियों का लगभग आधी या तो बिजली या डिजल से चलने लगी थीं। लगभग एक तिहाई मालगाड़ियों में हवाई ब्रेक लगा दिए गए थे, निश्चित समय पर माल पहुँचाने वाली एक्सप्रेस गाड़ियाँ शुरू की गई थी और लगभग १ हजार मालगाड़ियाँ इस तरह की सेवा के लिए रोज चलती थीं। मालगोदाम और माल प्रांगण के निर्माण और आधुनिकन का काम आगे बढ़ रहा था एवं रेल पथ तथा संकेत प्रणाली में बड़े-बड़े सुधार हाथ में लिए जा रहे थे।

वित्तीय दृष्टि से देखा जाए, तो राष्ट्रीयकरण के इन सभी कामों में राष्ट्रीयकृत अंतर्देशीय परिवहन उद्योग सबसे कम सफल रहा था। जबकि आयोग के बाकी सभी डिवीजनों में कुल मिलाकर लगभग ५० लाख पौंड प्रति साल की बेशी प्राप्तियाँ आई थीं, ब्रिटिश रेलवे डिवीजन ने काफी संचित घाटा इक्ट्ठा किया था जो राजकोष से ब्याज वाली पेशगियों के रूप में था। १९५४ ई० से पहले के फुटकर सालों में आयोग को थोड़ा ही वेशी लाभ हुआ था, लेकिन अगले सालों के घाटों ने लेखा-जोखा काफी बराबर कर दिया और नतीजा यह हुआ कि १९५४ के आखिर तक कुल संचित घाटा ३९१ लाख पौंड हो गया। उस समय से रेल संचालन के वार्षिक घाटे क्रमशः हर साल लाख पौंड के रूप में इस तरह बढ़ते गए : ३१० (१९५५), ५८० (१९५६), ७५० (१९५७), १०५० (१९५८, मंदी का साल) ११०० (१९५९), १००० (अनुमानित १९६०)। १९६० ई० में परिवहन आयोग राजकोष का काफी कर्जदार हो गया; क्योंकि उसके वार्षिक घाटे की पूर्ति के लिए राजकोष २७६० लाख पौंड दे चुका था और इसके बराबर उसे रेलवे आधुनिकन कार्यक्रम के अधीन पूँजी व्यय के लिए दी गई पेशगियों के लिए राजकोष को ३२६० पौंड देना था और यह कुल मिलाकर लगभग ६० करोड़ पौंड होता था। वार्षिक घाटे संचित घाटों को और बढ़ा रहे थे। जैसे-जैसे कर्ज बढ़ता गया, ब्याज का बोझ भी बढ़ता गया, और चूँकि ब्याज चुकाने के लिए उधार लेना पड़ा, इसलिए इसने कर्ज का मूलधन और भी बढ़ा दिया।

वार्षिक घाटों के मुख्य कारण ये थे : (१) आम दाम स्तर बढ़ने से लागत बढ़ गई; क्योंकि रेलों की मजदूरी दरें बढ़ाई गई थीं और युद्ध के बाद के सालों में रख-रखाव के संचित काम का बोझ काफी बढ़ गया तथा युद्ध के तुरंत बाद के समय में संसाधनों का दूसरे कामों में उपयोग करना पड़ता था और फिर भी (२) परिवहन मंत्री द्वारा आयोग के लिए जो सरकारी नीति तय की गई थी, उसके अधीन लागत बढ़ने के अनुपात में यात्री माल और भाड़े की दरों में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। इस नीति का अनुसरण इसलिए किया गया कि सरकार सामान्य दाम वृद्धि को नियंत्रित रखना चाहती थी और परिवहन की मुख्य औद्योगिक मद की लागत को काबू में रख कर निर्यात को उद्दीपित करना चाहती थी तथा साथ ही इसकी इच्छा थी कि रेल की भाड़ा दरें दूरगामी ट्रकों की दरों की स्पर्धा में रहे। जोर दे कर यह रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या यह सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारी थी कि ब्रिटिश परिवहन आयोग यह संविधित दायित्व पूरा करे कि वह अच्छे सालों और बुरे सालों के औसत के अनुसार प्राप्तियों को खर्च को संतुलित रखे। कुछ और कारण भी थे—१९५८ ई० की आर्थिक मंदी, सन् १९५८ से १९६० ई० तक कोयले के उत्पादन और फलस्वरूप कोयले के प्रेषण में कमी एवं ऐसी रेल लाइनों को छोड़ देने के बारे में राजनीतिक प्रतिरोध का सामना करने के लिए सामान्य अनिच्छा, जहाँ यातायात के अनुसार उन लाइनों का संचालन बिल्कुल जरूरी नहीं रहा था।[1] कुछ भी हो, ये बातें यह स्पष्ट कर देती हैं कि आयोग के संचालन और खासकर उनके मुख्य अंग रेलों के संचालन के वित्तीय प्रतिफलों को किसी भी रूप में एक लगभग सुपर्याप्त सूचक के रूप में यह बताने के लिए नहीं लिया जा सकता कि इसका संचालन-कार्य कितना 'कार्यकुशल' रहा था और उसने किस सीमा तक 'सामाजिक जरूरत' को पूरा किया था।

इस बात की ज्यादा उम्मीद नहीं है कि रेलवे के वार्षिक घाटे को जल्दी ही घटाया जा सकता है, हालांकि आधुनिकन कार्यक्रम के प्रतिफल जल्दी ही वित्त-व्यवस्था के ऊपर अनुकूल प्रभाव डालेंगे। वास्तव में स्वयं आधुनिकन कार्यक्रम के लिए कार्यक्रम के बाकी सालों में राजकोष से और बहुत सा उधार लेने की जरूरत पड़ेगी। फिर भी आयोग दृढ़ रूप से यह बात कहता है कि रेल के आधुनिकन कार्यक्रम और दूसरी बचतें तथा अच्छी सेवाओं से आकर्षित होकर बढ़ा हुआ यातायात १९६४ ई० तक संचालन के वार्षिक बेशी लाभ को बढ़ा देगा और उससे वह

---

[1] यह पिछली बात इसके बावजूद सच है कि आयोग ने १९४८ ई० के बाद लगभग ३८५० मील की अलाभकर सेवाओं को बंद कर दिया है। वही, ९ जुलाई, १९६०, पृष्ठ १९९।

उस समय तक संचित आयोग के कर्ज को व्याज प्रभार को चुकाने लग जाएगा। बड़े ही विषयनिष्ठ प्रेक्षकों का कहना है कि यह केवल मनचाही बात सोचना ही है। ऐसा लगता है कि सरकार संचालन के घाटों को चलने दे रही है और उनको पूरा करने के लिए दरें बढ़ाने की अनुमति नहीं दे रही है। इससे उसके इस निर्णय का ही प्रमाण मिलता है कि आज के ब्रिटिश प्रसंग में रेलवे संचालनों की अनिश्चित भविष्य काल तक आर्थिक मदद की जाती रहनी चाहिए। ब्रिटिश जनता भविष्य की अनिवार्य नीति के रूप में प्रत्यक्ष ही व्यापक रूप से उसे मानने को तैयार है।

फिर भी अगर कोई अर्थ-सहायता दी जानी है, तो इस बात में आम सहमति है कि सालाना घाटे को पूरा करने के लिए अंधाधुंध तरीके की अतीत की वित्त व्यवस्था को नहीं ही चलने देना चाहिए। पिछले व्यवहार से तो ज्यादातर यही अर्थ निकलता है कि रेलवे के घाटे कुछ भी हों, सरकार उन्हें सँभाल लेगी। जब तक वार्षिक अर्थ-सहायता की रकम पहले से तय न की जाए या जबतक एक निश्चित समय के लिए घाटे को निश्चित करने के कुछ सूत्र न निकाल लिया जाए, ज्यादा अच्छा हो कि पिछला तरीका ही लिया जाए, तबतक कोई ऐसा तरीका यह पता लगाने का नहीं है कि सहायता प्राप्त उद्योग कार्यकुशल संचालन के लिए भरसक सब कुछ कर रहा है। इसलिए इस बात को लेकर सक्रिय चर्चा चल रही है कि रेलवे को वार्षिक सहायता किस तरह दी जानी चाहिए और किस तरह तय की जानी चाहिए। इसके लिए कई तरह के प्रस्ताव दिए गए हैं, जिनमें नमूने के रूप में नीचे लिखे भी आते हैं।[1] (१) सरकार ब्रिटिश परिवहन आयोग के विरूद्ध दावे के रूप में समूची रकम को किसी भावी साल जैसे १९६३ ई० को मान ले (या रद्द कर दे), जबकि रेलवे के आधुनिकन कार्यक्रम का सबसे निकटवर्त्ती भाग पूरा हो जाएगा (२) उसके बाद सरकार रेल परिवहन सुविधाओं के उपयोग के लिए—जैसे मार्ग अधिकार रेल-पथ, स्टेशनों, यार्डों, इंजनों, डिब्बों और बाकी सभी स्थायी सामग्री के उपयोग के लिए आयोग से एक वार्षिक 'किराया' लेगी। (३) वार्षिक किराया आयोग को चुकाने की योग्यता के अनुमान पर आधारित होगा और वह १९६३ ई० के बाद आधुनिकन कार्यक्रम की प्रगति के साथ-साथ बदलता रहेगा अथवा आर्थिक हालतें रेल-दरों में ज्यादा सुधार-समंजन करने देंगी। (४) यह किराया तीन साल के लिए पेशगी तय किया जाएगा और ऐसे स्तर पर होगा, जो आयोग कार्यकुशल प्रबंध के जरिए व्यावहारिक रूप से अर्जित कर सके। (५) तीन साल की अवधि के बाद किराए में

---

[1] हैरोल्ड विल्सन द्वारा प्रस्तावित, न्यू स्टेट्समैन, ५ मार्च, १९६० ई०, पृष्ठ ५२१-५२३।

जो संशोधन किया जाएगा वह संभरण की लागत में परिवर्तन, कारबार के कार्यकलाप का स्तर और दूरगामी ट्रक उद्योग के साथ स्पर्धा के स्वरूप को ध्यान में रखेगा। (६) किराए की इस व्यवस्था में स्थानीय लाइनों या ऐसी दूसरी सुविधाओं के लिए विशेष छूट देने की व्यवस्था रहेगी, जिनका चलाना आयोग के लिए लाभकर नहीं है, पर जिनको राष्ट्र की दृष्टि से चलाते रहना चाहिए। दावा किया जाता है कि इस तरह की आर्थिक सहायता से निराशा की वर्त्तमान स्थिति से रेलों को छुटकारा दिलाया जा सकेगा और वर्त्तमान घाटे की दीवालों को तोड़ कर कुछ ऐसी कसौटी रखी जा सकेगी, जिससे रेलों के प्रवंध की कार्यकुशलता को आँका जा सके और राष्ट्रीयकरण अधिनियम की इस निषेधाज्ञा को सार्थक बनाया जा सके कि अच्छे सालों और बुरे सालों की औसत में रेलों को अपनी प्राप्तियाँ तथा खर्चे बराबर-बराबर रखने चाहिए।

१९६० ई० के आखीर की ओर सरकार ने उपयुक्त प्रकार का एक दूरव्यापी विधान प्रस्तावित किया। संगठन की दृष्टि से इसके द्वारा ब्रिटिश परिवहन आयोग को समाप्त कर दिया जाएगा और रेलों को एक ब्रिटिश रेल मंडल के अधीन रखा जाएगा, जो परिवहन मंत्री के प्रति सीधे-सीधे उत्तरदायी होगा और प्रादेशिक रेल मंडलों को संचालन की ज्यादा स्वायत्तता देगा। आयोग की गैर-रेल सुविधाओं को मंत्री के प्रति सीधे जिम्मेदार एक धारक कंपनी में गठित किया जाएगा और प्रत्येक सुविधा का, जैसे ब्रिटिश सड़क सेवा का, संचालन उसके अपने निजी मंडल द्वारा किया जाएगा। स्पष्ट है कि रेल की अंतर्निहित समस्या अर्थ-सहायता देनी है और इसका लक्षितार्थ यह है कि कोई सहायता प्राप्त उद्योग एक लोक सेवा का निष्पादन सहायता की मात्रा के अनुसार ही कार्यकुशलता के साथ कर रहा है या नहीं, इसका निर्णय किस तरह किया जाए।

दूरगामी ट्रक व्यवस्था का विराष्ट्रीयकरण

विकासशील समाजवाद के कार्यक्रम के सिलसिले में विचारणीय एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि : अगर मतदाता और उनका प्रतिनिधि संसदीय निकाय यह तय करे कि उद्योग के समाजीकरण की प्रक्रिया को पलट दिया जाए और किसी एक या ज्यादा समाजीकृत उद्योगों को पुनः निजी स्वामित्व और संचालन में वापस कर दिया जाए तो क्या होता है ? क्या ऐसा किया जा सकता है और अगर हाँ, तो इसकी क्या समस्याएँ हैं और उनको कैसे हल किया जाएगा ? ब्रिटिश समाजवाद से इसका अध्ययन करने के लिए दो उदाहरण मिलते हैं और उनसे इन बातों की आंशिक उत्तर मिलता है। सामान्यतः ब्रिटिश अनुभव से यह पता चलता है कि कुछ मामलों में विराष्ट्रीयकरण व्यावहारिक है और बिना भारी मुश्किल के किया जा सकता

है, हालांकि पहले से न सोची गई कुछ समस्याएं दिक्कत में डालती हैं और खास राष्ट्रीयकृत उद्योग की खास परिस्थितियाँ या उसके परिवेश पूरा विराष्ट्रीयकरण कठिन बना देते हैं। ब्रिटिश अनुभव दूरगामी ट्रक उद्योग और इस्पात उद्योग के सिलसिले में हुए हैं। दोनों का ही इस अध्याय में पुनर्विलोकन किया जा रहा है।

१९५३ ई० के शुरू में ब्रिटिश परिवहन आयोग के स्वामित्व-संचालन में ३७ हजार ट्रक थे और उसके अधीन लगभग ७३ हजार व्यक्ति काम करते थे। इस दूरगामी ट्रक संचालन का प्रशासन सड़क लदान कार्यपालिका करती थी, जिसका नाम बाद में 'ब्रिटिश सड़क सेवाएँ' कर दिया गया। कंजरवेटिव दल की १९५१ ई० की चुनाव-प्रतिज्ञा के अनुसरण में १९५३ ई० के परिवहन अधिनियम में दूरगामी ट्रक व्यवस्था के विराष्ट्रीय का उपबंध किया गया। इसके अधीन सड़क लदान निबटान मंडल की स्थापना की गई जिसे ब्रिटिश परिवहन आयोग के अधीन आयोग के सभी ट्रक निजी मालिकों को वापस बेचने थे (लगभग ३५०० को छोड़ कर जिनको राष्ट्रीयकृत ऋण प्रणाली के सिलसिले में काम में लाया जाना था) और इसके साथ-साथ मार्गीत की गैरेजों की और संबंधित दूसरी सुविधाएँ भी वापस बेची थीं। सड़क लदान निबटान मंडल को ट्रकों का निबटान करने के बारे में काफी शक्ति दी गई। केवल अधिनियम के अधीन यह व्यवस्था थी कि छोटे खरीददारों को पहले खरीदने का मौका दिया जाएगा और वास्तव में यह भी जानी-समझी बात थी कि मंडल अच्छे-से-अच्छे दाम लेगा ताकि आयोग को पूरे राष्ट्रीयकरण-विराष्ट्रीयकरण सौदे में यथासंभव कम-से-कम घाटा पड़े। चूँकि जब दूरगामी ट्रक उद्यमों को राष्ट्रीयकरण द्वारा हाथ में लिया गया था और उनकी खरीद के दाम में 'साख' का भुगतान भी उनके संचालन फर्म के रूप में शामिल था और निजी मालिकों को ट्रक समूहों में वापस बेचने में यह साख वापस नहीं जानी थी, इसलिए यह उम्मीद थी कि विराष्ट्रीयकरण से पूँजी-संबंधी घाटा होगा। इसलिए अधिनियम में ट्रक द्वारा माल ले जाने पर एक कर लगाया गया, जिसे उस समय खत्म कर दिया जाना था, जब सरकार को उससे लगभग उतना पैसा मिल जाए, जो प्रत्याशित पूँजी घाटे के बराबर हो।

सन् १९५३-५४ ई० में निबटान मंडल ने सामान्यतः औसत से दो से आठ तक के ट्रकों के समूह में लगभग १९००० ट्रक बेच दिए। आमतौर पर इनको कम दूरी वाले ट्रक उद्यमों द्वारा खरीदा गया, जो अपने स्थानीय संचालन को बढ़ाने की या दूरवर्त्ती संचालन को छोटे पैमाने पर चलाने की आयोजना बना रहे थे; क्योंकि ट्रक खरीदने से अपने-आप उसको दूरी के बंधनों के बिना ही चलाने का अधिकार मिल जाता था और क्योंकि सरकार ने यह घोषित कर दिया था कि दूरगामी संचालन के ऊपर आयोग के एकाधिकार का अंत कर दिया जाएगा।

समय-समय पर जब निबटान मंडल द्वारा ट्रकों और मार्गांत तथा गैरेज सुविधाओं के साथ संचालन पाली या ट्रक लाइनें बिक्री के लिए प्रस्तुत की गईं, तो उनके बेचने में बिना संपत्ति के ट्रकों के छोटे-छोटे समूह बेचने की तुलना में ज्यादा दिक्कत हुई। अंत में १९५५ ई० के शुरू में निबटान मंडल ब्रिटिश सड़क सेवा द्वारा एक जाल के रूप में चलाई जाने वाली दूरगामी ट्रक लाइनें भी बिक्री के लिए प्रस्तुत की गईं, जो राष्ट्र की दूरगामी मार्ग माल लदान प्रणाली का मेरुदंड थीं। इन अपेक्षतया बड़ी संचालन इकाइयों द्वारा निबटान मंडल द्वारा न्यूनतम माने जाने वाले दाम पर खरीदने में अभिरुचि लेने वाले संभाव्य खरीददार खोजने में बड़ी ही दिक्कत हुई। केवल कुछ छोटे-छोटे उपक्रम ही बेचे जा सके और मई, १९५५ तक अपेक्षतया बड़ी इकाइयों का बेचा जाना बिल्कुल असफल हो गया था।

इससे सरकार एक बड़ी दुविधा में पड़ गई। स्पष्ट था कि बाकी करीब १४००० ट्रक तभी निबटाए जा सकते थे, जब निबटान मंडल उनको मार्गांत या गैरेज सुविधाओं या दूसरी संलग्न संपत्तियों के बिना छोटे समूहों में बेचे। दूसरी ओर अगर उनको इस तरह बेचा जाता, तो ब्रिटिश सड़क सेवा ने अच्छे लाभ पर संचालित बड़ी ही कार्यकुशल माल लदान सेवा के रूप में उनका जो विकास किया था, उसे खत्म करना होगा और इस तरह राष्ट्र की मार्ग लदान प्रणाली की बड़ी हानि पहुँचेगी और इससे ब्रिटिश उद्योगों को भी नुकसान पहुँचेगा। सरकार ने १९५५ ई० में सरकारी और निजी दूरगामी ट्रक सेवा के 'स्पर्धी सह-अस्तित्व' की नीति का फैसला करके इस दुविधा का समाधान किया। १९५६ ई० में पास किए गए परिवहन (सड़क लदान संपत्ति का निबटान अधिनियम) में यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सड़क सेवा अपने ट्रक लाइन ट्रकों को अपने पास रखेगी और उनका संचालन चालू रखेगी। ये ट्रक और जिन ट्रकों को १९५३ ई० के अधिनियम में ब्रिटिश सड़क सेवा द्वारा रेलवे संचालन के अधिनियम के सिलसिले में रखे जाने की व्यवस्था की गई, इनको मिलाकर कुल संख्या लगभग ९००० ट्रक थी। वह राष्ट्रीयकृत दूरगामी ट्रक लाइनों के रूप में चलाई जानी थी। अधिनियम में निबटान बोर्ड को कुछ दूरगामी लाइनों के लिए भुगतान मंजूर करने से ज्यादा उदार साधन उपयोग में लाने की आज्ञा प्रदान की गई, जिससे यह उम्मीद थी कि बाकी ५०००० ट्रकों का निबटान किया जा सकेगा। अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई थी कि १९५६ ई० के आखिर में ट्रक द्वारा ले जाने वाले माल पर लगे कर को भी उठा दिया जाएगा। उस समय तक इस कर से लगभग १२० लाख पौंड की प्राप्ति हो चुकी थी, जो करीब-करीब उस घाटे के बराबर था जो सरकार को दूरगामी ट्रक व्यवस्था के राष्ट्रीयकरण-विराष्ट्रीयकरण में अनुभव करना पड़ा था।

लेबर दल ने वास्तव में विराष्ट्रीयकरण की व्यवस्था करने वाले विधेयक का विरोध किया। हाउस ऑफ कामन्स में इस दल के प्रवक्ताओं ने यह चेतावनी दी कि जब लेबर दल पुनः सत्तारूढ़ होगा, तो पुनः दूरगामी ट्रक व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण करेगा और उस समय ली जाने वाली संपत्ति का उतना ही मुआवजा देगा, जितना कि सरकार उचित समझेगी और इसमें इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा जाएगा कि निजी मालिकों ने निबटान मंडल से उन सुविधाओं को खरीदने के लिए कितना पैसा दिया है। उस समय लेबर दल वालों ने यह भी घोषणा की कि सत्तारूढ़ होने पर लेबर दल जब्त करके उनका पुनः राष्ट्रीयकरण करेगा, लेकिन हाउस ऑफ कामन्स के प्रवक्ताओं ने इतनी ज्यादा बात न कही।

पुनर्राष्ट्रीयकरण की धमकी निबटान मंडल के सन् १९५३ से १९५५ ई० तक के बेचने के सभी प्रयत्नों पर छायी रही और इसमें संदेह नहीं कि उद्योग में प्रवेश करने का विचार रखने वाली निजी पूँजी पर भी इसने काफी मात्रा में प्रभाव डाला। अनेक मामलों में एक लाइन को खरीदने के लिए जरूरी पैसे की मात्रा ज्यादा होती थी और निजी हित इस उद्योग में इतने पैमाने पर खतरा उठाने के लिए तैयार न लगते थे। साथ ही प्रायः शुरू से ही निबटान मंडल को जो दिक्कतें उठानी पड़ीं, उनसे यह भी पता चल गया कि भविष्य में आगे चल कर संचालन इकाइयों के रूप में बड़ी ट्रक लाइनों को बेचने में संभवतः और भी ज्यादा मुश्किल का सामना करना पड़ेगा। निःसंदेह इससे कुछ ऐसी भावना पैदा हुई कि सरकार को ट्रक लदानों के संचालन में कम-से-कम अंशतः बना रहना चाहिए—जैसा कि उसने आखिर में किया—और इस हालत में निजी उद्यम सरकारी संचालन के साथ स्पर्धा करेंगे, जो बड़ा ही कार्यकुशल रहा है और जिसने ग्राहक माल प्रेषकों के बीच बड़ी साख कमाने वाली है। इन कारणों के समुच्चय ने दूरगामी ट्रक प्रणाली के पूरे विराष्ट्रीयकरण में बाधा डाली। पूरा अनुभव यह बताता है कि जिस प्रकार लेबर दल वालों को यह देख कर बड़ा अचंभा हुआ था कि किस तरह की जटिल समस्याओं का उनकी सरकार को राष्ट्रीयकरण करने और इन उद्योगों का संचालन सन् १९४५ से १९५४ ई० तक करने में सामना करना पड़ रहा है, उसी तरह कंजरवेटिवों को पता चला कि विराष्ट्रीयकरण की समस्या संसद द्वारा केवल एक अधिनियम पास करके आदेश दे देने से कहीं ज्यादा गहन है।

नागर विमानन

राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि

शुरू-शुरू में ब्रिटिश नागर विमानन का विकास स्पर्धी निजी उद्यम की लाइनों के रूप में हुआ। १९२४ ई० में सेवा से असंतोष और सरकार की अर्थ-सहायता

की जरूरत के कारण कुछ हवाई लाइनों का एकीकरण किया गया और इंपीरियल एयरवेज की स्थापना की गई, जिसको सरकारी अर्थ-सहायता दी गई। हवाई सेवाएँ बढ़ाई गईं लेकिन महायुद्ध से ठीक पहले यह शिकायत बनी रही कि सेवाएँ अनिश्चित और अपर्याप्त हैं और ज्यादा अर्थ-सहायता की जरूरत है। सन् १९२१ से १९३८ ई० तक पाँच सरकारी जाँच समितियों ने उद्योग और उसकी जरूरतों का अध्ययन किया था। अंतिम समिति ने निजी स्वामित्व की कड़ी आलोचना की थी। इसलिए १९३९ ई० में सरकार ने ब्रिटिश समुद्रपार वायु सेवा निगम (बी० ओ० ए० सी०) को गठित किया। इसने इंपीरियल एयरवेज और ब्रिटिश एयरवेज के संचालनों को हाथ में ले लिया। पिछली कंपनी यूरोप के मार्गों का संचालन करती थी। युद्ध के शुरू में सरकार नियंत्रणों, अर्थ-सहायता और बी० ओ० ए० सी० के अपने स्वामित्व के जरिए, जो प्रमुख उपक्रम था, नागर विमानन में काफी गहराई तक फँस चुकी थी। १९४३ ई० में सरकार ने नागर विमानन मंत्रालय की स्थापना की (जिसे अब विमानन मंत्रालय कहते हैं)। उसने युद्धोत्तर काल में उद्योग के पुनर्गठन की आयोजनाएँ बनाईं और निजी संचालन के बहुत से तत्वों को सख्त सरकारी नियंत्रण के अधीन रखा। बहुत लोग यह समझते थे कि यह आयोजना युद्ध के बाद लेबर दल तक को स्वीकार होगी। तथापि लेबर दल में प्रमुख भावना यह थी कि भारी सरकारी सहायता अनिवार्य है और यह आश्वस्त करने के लिए कि जनता उसके लाभ प्राप्त करती रहे, इस दृष्टि से ऐसी अर्थ-सहायता एक निजी एकाधिकार वाले कारबार को नहीं दी जानी चाहिए। १९४५ ई० के चुनाव में अपनी विजय के बाद लेबर दल ने यह माना कि नागर विमानन उन मूल उद्योगों में से एक है, जिसके राष्ट्रीयकरण के लिए जनता ने उसको चुना है। फलतः नई सरकार अनुसूचित सेवा देने वाली ब्रिटिश घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय हवाई लाइनों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में आगे बढ़ी।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

१९४६ ई० के नागर विमानन अधिनियम[1] ने दो नए निगम बनाए, ब्रिटिश यूरोपीय वायु सेवा निगम और ब्रिटिश दक्षिण अमेरिकी विमान सेवा निगम और उसने बी० ओ० ए० सी० को चालू रखा। इन निगमों को ब्रिटिश अनुसूचित हवाई परिवहन संचालित करने का एकमात्र अधिकार दिया गया और चार्टर्ड विमान चलाने की विवेकाधीन शक्ति दी गई, हालांकि पिछला अधिकांशतः अन-अनुसूचित अपेक्षतया छोटे मार्गों को ब्रिटेन के भीतर ही और इंगलिश चैनल के पार चलाने

---

[1] एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, लंदन।

वाली निजी कंपनियों के ऊपर छोड़ दिया गया। १९४९ ई० में ब्रिटिश दक्षिण अमेरिकी वायु सेवा निगम को बी० ओ० ए० सी० में मिला दिया गया। ब्रिटिश यूरोपीय वायु सेवा निगम का नया नाम मात्र 'ब्रिटिश यूरोपीय विमानन सेवा' (बी० ई० ए०) रह गया। इस तरह इस समय सरकार के स्वामित्व वाले दो ही निगम हैं। बी० ओ० ए० सी०, जो सारी दुनिया में विमान चलाने के जिम्मेदार हैं और बी० ई० ए०, जो ब्रिटेन के भीतर तथा ब्रिटेन और यूरोपीय राष्ट्रों तथा उत्तरी अफ्रीका के बीच विमान सेवा चलाने के लिए जिम्मेदार है। प्रत्येक मामले में निगम ने विदेशी लाइनों के साथ सहयोगी व्यवस्था कर रखी है, जो स्वतंत्र निजी स्वामित्व की ब्रिटिश लाइनों के साथ भी है। नागर विमानन अधिनियम के अधीन प्रत्येक निगम को पूरे लाभ और उपयुक्त दरों पर विमान सेवाएँ देने एवं विकसित करने का भार सौंपा गया है। प्रत्येक में एक सभापति है, एक उप-सभापति और पाँच से ग्यारह सदस्यों का एक मंडल है, जिन सब की नियुक्ति विमानन मंत्री द्वारा की जाती है। सामान्य व्यवस्था यह भी चल रही है कि मंत्री मुख्यत: स्थूल नीतियों के लिए जिम्मेदार है और मंडल सामान्य अधीक्षण तथा सेवाओं के विस्तार और सुधार एवं अपने द्वारा चुने गए एक प्रबन्ध निदेशक के जरिए दैनंदिन संचालन के लिए जिम्मेदार है। प्रत्येक निगम को उधार लेने की विशेष शक्ति दी गई है जिससे वह राजकोष की मदद से पूँजी भी प्राप्त कर सके और प्रत्येक को हाल के सालों तक सरकार से अर्थ-सहायता मिलती रही है। १९४८ ई० से सरकार ने कुछ सहयोगियों के साथ व्यवस्था की, जो निजी स्वामित्व की छोटी और स्वतंत्र कंपनियाँ हैं। इस व्यवस्था के अधीन वे उन मार्गों पर अनुसूचित उड़ानें चलाती हैं, जिनको लेने के लिए निगम स्वयं तैयार नहीं है। एक वायु यातायात सलाहकार परिषद् सुविधाओं की पर्याप्तता या सेवा की दरों के बारे में किसी से भी प्राप्त अभिवेदनों पर विचार करती है, मंत्री द्वारा उसको सौंपे गए प्रश्नों पर विचार करती है, साक्ष्य लेती है और नई लाइनें चलाने में दोनों में से किसी निगम के साथ सहयोग करने के बारे में स्वतंत्र कंपनियों से आए आवेदनों के बारे में मंत्री के पास सिफारिश करती है।

राष्ट्रीयकरण ने पहले मालिकों को मुआवजा देने की कोई गंभीर समस्या खड़ी नहीं की। बी० ओ० ए० सी० पहले ही सरकारी स्वामित्व में था और बी० ई० ए० को अधिनियम द्वारा यह अधिकार दिया गया कि हाथ में ली गई वायु सेवाओं के उपक्रमों की संपति के लिए जारी किए गए नए स्टॉकों को बदले। यह विक्रेताओं के साथ सहमत दाम पर किया गया। हालांकि इन निजी विमान कंपनियों का बिक्रय एक जबर्दस्ती की बिक्री माना जा सकता है और अधिनियम में सरकारी निगमों को अनुसूचित उड़ान संचालन एकाधिकार प्रदान किया गया, तथापि

निजी उपक्रम सरकार को बिक्री के विकल्प में चाहते, तो अपनी सुविधाओं को चार्टर्ड विमान संचालन में बदल सकते थे। कुछ भी हो, पहले स्वामियों को काफी मुआवजा दिया गया और उनका इस सौदे से कोई शिकायत नहीं रही।

प्रतिफल और समस्या

सामान्य स्पर्धी दरों और मौसम की समस्याओं का सामना तो सभी हवाई लाइनों को करना पड़ता है, लेकिन बी० ओ० ए० सी० और बी० ई० ए० को अपने संचालनों के ऊपर लाभ दिखाने की समस्या का लगातार सामना करना पड़ा। सन् १९५३ और १९५७ ई० के बीच बी० ओ० ए० सी० ने बहुत थोड़ा सा लाभ दिखाया। लेकिन, सन् १९५८ और १९५९ ई० में २८ लाख पौंड और ४७.५ लाख पौंड का काफी घाटा हुआ। पर, १९३० ई० में दस लाख पौंड के घाटे की उम्मीद थी। इसकी सबसे बुनियादी समस्या यह है कि यह सारी दुनिया में वायु मार्ग चलाता है और उनके लिए विमान रखता है, भले ही इसके लिए भारी अधि-लागत को उचित मात्रा में यातायात न भी मिले। बी० ई० ए० को सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि इसका यातायात अपेक्षतया छोटे-छोटे मार्गों पर चलता है और इसके कुछ न्यूनतम लाभ वाले मार्ग घरेलू मार्ग हैं, जिनको एक सार्वजनिक सेवा के रूप में चलाना ही होता है। तथापि इसने सन् १९५४ से १९५९ ई० के सालों में थोड़ा-थोड़ा लाभ दिखाया और १९६० ई० तो इसका सर्वोतम साल था, जब उसने लगभग २० लाख पौंड का लाभ कमाया। दोनों कंपनियों पर अकार्यकुशलता और यथासंभव कम लागत न रखने का आरोप लगाया है। हाउस ऑफ कामन्स की राष्ट्रीयकृत उद्योगों संबंधी प्रवर समिति ने [1] हाल में मार्गांत पर बहुत ही ज्यादा संख्या में इंजीनियरों और रख-रखाव सुविधाओं के लिए इसकी आलोचना की है, जिसमें कभी-कभी ५० लाख पौंड के लगभग अनावश्यक वार्षिक लागत आती है। उसने बी० ई० ए० की आलोचना निरीक्षकों को अनावश्यक रूप से ज्यादा संख्या में रखने के लिए की है।

इस समय सरकार के सामने नीति का एक बड़ा प्रश्न यह है कि अपने-अपने क्षेत्रों में छोटे मोटे अपवादों को लेकर ब्रिटिश अनुसूचित संघ विमान सेवा पर एकाधिकार रखने वाले इन दोनों निगमों बी० ओ० ए० सी० और बी० ई० ए० के लिए सरकार स्वतंत्र ब्रिटिश हवाई कंपनियों को स्पर्धी मार्गों पर उड़ाने चलाने का लाइसेंस देकर इन दोनों निगमों के लिए स्पर्धा खड़ी कर दे। इस समय स्वतंत्र लाइनों का क्षेत्र केवल चार्टर्ड विमान सेवाओं, अन-अनुसूचित विशेष प्रकार की उड़ानों और कुछ

---

[1] देखिए, पृष्ठ ४०३।

अनुसूचित उड़ानों तक ही सीमित है, जो वे बी० ओ० ए० सी० या बी० ई० ए० के साथ व्यवस्था करके चलाती है। निर्दलीय लोग दोनों सरकारी निगमों के साथ स्पर्धा का अवसर पाने के लिए उत्सुक हैं। कंजरवेटिव सरकार दार्शनिक दृष्टि से निजी उद्योग के पक्ष में है और इस बारे में चिंता व्यक्त की जा रही है कि बी० ओ० ए० सी० तथा बी० ई० ए० में पहल के अभाव की संभावना ही इस बात के लिए जिम्मेदार है कि सन् १९५३ से १९५८ ई० तक ब्रिटेन दुनिया के राष्ट्रों के बीच हवाई सवारी और माल यातायात के प्रतिशतक विस्तार में ऊपर से ११वें स्थान पर रहा।[१] फरवरी, १९६० ई० में विमानन मंत्री ने एक नई नीति की घोषणा की, जो स्वतंत्र कंपनियों से कुछ स्पर्धा की गुंजाइश पैदा कर सकती है। इसके अधीन कोई भी ब्रिटिश विमान सेवा चाहे वह बी० ओ० ए० सी० हो या बी० ई० ए० या कोई स्वतंत्र कंपनी, जो भी कोई नई सेवा चलाना चाहती है, उसको नए स्थापित वायु यातायात लाइसेंस मंडल से अनुमति लेनी होगी। इस मंडल को प्रत्यक्षतः सरकारी निगमों की स्पर्धी स्वतंत्र सेवाओं को लाइसेंस देने का अधिकार होगा तथापि मंत्री ने मंडल द्वारा ऐसे प्रस्तावों पर विचार करने के लिए जो कसौटी तैयार की है और उसे जो व्यापक विवेक प्रदान किया गया है, उससे पता चलता है कि अनुसूचित उड़ानों में सरकार के वर्त्तमान एकाधिकार में अगर कोई अपवाद किया भी जाएगा, तो वह बहुत मामूली होगा और वह बहुत धीमे-धीमे आएगा।

केबुल और रेडियो संचार

राष्ट्रीयकरण की पीठिका

ग्रेट ब्रिटेन में घरेलू टेलीफोन और तार प्रणाली तथा अंतर्राष्ट्रीय टेलीफोन परिपथों का स्वामित्व और संचालन प्रायः उनके जन्म के समय से ही सरकार के डाकघर विभाग के अधीन रहा है, तथापि १ जनवरी, १९४७ ई० से पहले ब्रिटेन के बाहर के प्वाइंटों वाले केबुल और रेडियो संचार का स्वामित्व संचालन निजी हाथों में था। पिछले को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की 'वैदेशिक दूर संचार सेवाएँ' कहा जाता है; क्योंकि वे समूचे राष्ट्रमंडल में अंतर्राष्ट्रीय संचार का जाल-सा खड़ा करते हैं। १९२८ ई० में उस समय विद्यमान नौ वैदेशिक संचार सुविधाओं वाली कंपनियों को एक में संगठित किया गया जिसका नाम 'केबुल एंड वायरलेस लिमिटेड' रखा गया। यह एक अर्द्ध-सरकारी उपयोगिता के रूप में संचारित की जाती थी और उसके दो निदेशक सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे एवं इससे अपेक्षा की जाती थी कि नीति

---

[१] दि संडे टाइम्स (लंदन) १४ फरवरी, १९६०।

के मामलों में उसे एक सलाहकार समिति इंपीरियल संचार सलाहकार समिति से परामर्श करना होगा। निश्चित रकम से ज्यादा निबल उपार्जन की आधी रकम की दरें कम करने या सलाहकार समिति द्वारा सिफारिश किए गए किसी दूसरे प्रयोजन से खर्च करना होगा। केबुल्स एंड वायरलेस लिमिटेड का संचालन सन् १९३८ ई० में और भी विस्तृत कर दिया गया, जब निजी पिछले संचालकों द्वारा कुछ अंशुप्रेषण रेडियो संचार सुविधाएँ ब्रिटिश डाकघर को सौंप दी गईं। इन सुविधाओं के बदले में सरकार ने कंपनी के ३ करोड़ शेयरों में से २६ लाख शेयर अपने हाथ में ले लिए।

महत्त्वपूर्ण दूर संचार का नियंत्रण निजी स्वामियों के प्रति प्रमुखतः जिम्मेदार एक कंपनी के हाथ में होने के बारे में काफी असंतोष था और यह भावना बढ़ रही थी कि राष्ट्रमंडल संचार का समन्वय तथा विकास निजी स्वामित्व के अधीन जितना संभव है, उससे ज्यादा मात्रा में करना चाहिए। युद्धकालीन मिली-जुली सरकार ने दूर संचार समस्या के संबंध में डोमिनियन सरकारों से बातचीत की। अंत में १९४५ ई० में राष्ट्रमंडल दूर संचार सम्मेलन के सामने कुछ सिफारिशें रखी गईं। यह सम्मेलन चुनाव में लेबर दल की जीत के तुरंत बाद ही बुलाया गया था। सम्मेलन ने एक मत से निश्चय किया कि ब्रिटेन के डोमिनियनों की और भारत की समुद्रपार दूर संचार सेवाओं का स्वामित्व संबंधित सरकारों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए एवं एक राष्ट्रमंडल संचार मंडल बनाया जाना चाहिए, जिसे संबंधित राष्ट्रीयकृत प्रणालियों की दरें तय करने, पूरे राष्ट्रमंडल की केबुल और रेडियो दूर संचार सेवाओं का समन्वय और विकास अपेक्षित करने, दूर संचार को राष्ट्रमंडल की रक्षा के साथ समन्वित करने, अनुसंधान-कार्य को बढ़ाने तथा विदेशी दूर संचार हितों के साथ संबंधित राष्ट्रमंडल सरकारों द्वारा वैसा आवेदन किए जाने पर बातचीत चलाने के लिए एवं संबंधित प्रणालियों के निबल राजस्व का समूहन करने की एक व्यवस्था के ब्यौरे तैयार करने की शक्ति दी जानी चाहिए। राष्ट्रमंडल सरकारों ने समूचे राष्ट्रमंडल की दूर संचार सेवाओं को विकसित करने की दृष्टि से और केबुल तथा रेडियो सुविधाओं दोनों का ज्यादा-से-ज्यादा लाभकर उपयोग संभव बनाने के लिए की गईं इन सिफारिशों को मंजूर कर लिया। करार में अपने हिस्से को प्रभावी बनाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने १९४५ ई० में संसद् में यह घोषणा की कि वह केबुल्स एंड वायरलेस लिमिटेड द्वारा संचालित सेवाओं का पूरा राष्ट्रीयकरण प्रस्तावित करेगी।

कुछ दूसरी प्रवृत्तियों ने भी दूर संचार के सरकारी स्वामित्व और संचालन की इस रुझान को पुष्ट किया। युद्धकाल में पूरी दुनिया में खास कर संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्त्वावधान में अनेक अतिरिक्त रेडियो संचार परिपथ स्थापित किए गए

थे। युद्ध के अंत में इन सुविधाओं के अस्तित्व ने संचार सेवाओं के लिए दरों में घातक स्पर्धा का खतरा खड़ा कर दिया। बरमूदा में १९४५ ई० के आखीर में एक अतर्राष्ट्रीय दूर संचार सम्मेलन बुलाया गया। घटी हुई, किंतु स्थिर दरों का एक कार्यक्रम तय किया गया। चूँकि इन घटी दरों से केबुल एंड वायरलेस लिमिटेड के निबल राजस्व पर काफी प्रभाव पड़ता था, इसलिए बरमूदा करार स्वयं इस कम्पनी के राष्ट्रीयकरण का एक और जरूरी कारण बन गया।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

१ जनवरी, १९४७ ई० को केबुल ऐंड वायरलेस लिमिटेड के राष्ट्रीयकरण को प्रभावी बनाने वाला अधिनियम संक्षिप्त और आसान था; क्योंकि इसमें केवल यही व्यवस्था की गई थी कि सरकार कंपनी के साथ के बाकी २७४ लाख शेयरों को अपने हाथ में ले लेगी।[1] इसमें इन शेयरों को ब्रिटिश राजकोष के नाम हस्तांतरित करने और भूतपूर्व स्वामियों को[2] सरकार द्वारा हाथ में लिए गए शेयरों के सामान्य मूल्य के सरकारी स्टॉक (बंधपत्र) देने की व्यवस्था की गई "जिसमें उस तारीख को विद्यमान दूसरे सरकारी ऋणपत्रों के बाजार मूल्य का ध्यान रखा जाना था।"[3] सरकारी स्टॉकों के परास्य होने पर कोई रोक नहीं लगाई जानी थी। अधिनियम में व्यवस्था की गई थी कि शेयरों के अंतिम निपटारे तक भूतपूर्व स्वामियों को कुछ अंतःकालीन ब्याज दे देना चाहिए। भूतपूर्व मालिकों और राजकोष के बीच असहमति होने पर अधिनियम में एक अधिकरण की व्यवस्था की गई थी, जिसमें सुपीरियर अदालत का एक न्यायाधीश, एक लेखापाल और एक कारबारी नियुक्त किए जाने थे, जो उपक्रम का मूल्य निर्धारित करने के लिए नियुक्त किए गए थे, "अगर उसे खुले बाजार में " चालू उपक्रम के रूप में एक इच्छुक बेचने वाले द्वारा एक इच्छुक खरीदार को बेचा जाता।" अधिकरण को अपना निर्धारण "निबल संभाव्य

---

[1] राष्ट्रीयकरण विधेयक जब ससद् में रखा गया, तो कंपनी की भौतिक संपत्तियों में १५५००० समुद्री मील लंबे समुद्री केबुल, ५ केबुल पोत, ब्रिटेन के ५ रेडियो संचार केंद्र और लगभग ३०० दफ्तर; केबुल और रेडियो एवं संचार केंद्र शामिल थे, जो कई देशों में बिखरे हुए थे और उनमें ४० राष्ट्रमंडल के देशों में स्थित थे। कंपनी १४० रेडियो संचार परिपथ चलाती थी। ह्यूडाल्टन, पार्लियामेंटरी डिबेट्स, जिल्द ९२३, संख्या १४३, लंदन एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, पृष्ठ २०१।

[2] इस उद्योग के अंतर्निगमित संबंधों के ब्यौरे के लिए देखिए पार्लियामेंटरी डिबेट्स, जिल्द ९२३, संख्या १४३, पृष्ठ २०५-२०६।

[3] केबुल और बेतार अधिनियम, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी आफिस, १९४६, धारा १।

राजस्व, और उससे संबंधित वर्षों की संख्या की खरीद" पर आधारित करना था।[1] पहले का निर्धारण करने के लिए उसे यह निदेश दिया गया था कि कंपनी के कार्य पर राष्ट्रीयकरण के प्रभाव और बरमूदा करार के प्रभाव को (चूँकि वह ब्रिटिश सरकार द्वारा कंपनी का राष्ट्रीयकरण करने के निश्चय के बाद किया गया था) ध्यान में न रखे, बल्कि 'ऐसी परिस्थितियों को ध्यान में रखे, जिनके द्वारा इस अधिनियम और बरमूदा करार के अलावा उस राजस्व पर प्रभाव डालने की उपयुक्त रूप में उम्मीद हो।'[2] मध्यस्थ अधिकरण ने १९४९ ई० में काम करते हुए केबुल ऐंड वायरलेस लिमिटेड से प्रत्येक शेयर का मूल्य २३ शिलिंग, ६ पेंस तय किया और सरकार ने केबुल एवं बेतार अधिनियम के अधीन जो २७४ लाख शेयर अपने हाथ में लिए थे, उनके लिए यह रकम चुकाई। इन शेयरों का भुगतान राजकोष के स्टॉक के रूप में किया गया और प्राप्तकर्त्ताओं को उनको बाजार में बेचने की छूट थी। राजकोष ने जितने समय तक अंतिम निबटारा न हो सका, मुआवजे की राशि पर ब्याज़ भी चुकाया और साथ ही दावेदारों को अपना मामला अधिकरण के सामने रखने में जो खर्च करना पड़ा था, उसकी कुछ लागत भी चुकायी।[3] अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई कि भूतपूर्व निदेशक अपनी जगह खाली कर दें और भूतपूर्व शेयरधारियों की शक्ति का प्रयोग राजकोष द्वारा किया जाए तथा केबुल ऐंड वायरलेस लिमिटेड द्वारा चुकाए गए लाभांश खजाने में जमा किए जाएँ।[4] घाटे की पूर्ति ब्रिटिश राजकोष से करने की व्यवस्था की गई और राजकोष को मुआवजे के रूप में जारी किए गए सरकारी स्टॉक की ब्याज दर और उनके मोचन की शर्तें तय करने की शक्ति भी दी गई।

१९५० ई० में ब्रिटेन स्थित सुविधाओं के अंश के संचालन की शक्ति डाकघर विभाग में निहित कर दी गई, जबकि कुछ समुद्रपार संचालन नवनिर्मित राष्ट्रमंडल संचार मंडल को सौंप दिए गए, जिसके कार्य में राष्ट्रमंडल सरकारों द्वारा भाग लिए जाने की उम्मीद की गई थी।

इस्पात

राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि

ब्रिटिश लोहा और इस्पात-उद्योग पर विशेष रूप से विचार करना होगा;

---

[1] वही, धारा २।

[2] वही, धारा २। इन व्यवस्थाओं का अभिप्राय स्पष्टतः यह है कि जहाँ तक उद्योग से उनकी आय का सवाल है, इन भूतपूर्व शेयरधारियों को अपरिवर्तित हालत में छोड़ दिया जाए।

[3] इकोनॉमिक रेकर्ड, संख्या ८०, २५ मार्च, १९४९ ई०, पृष्ठ ७८।

[4] केबुल ऐंड वायरलेस ऐक्ट, धारा १।

क्योंकि इससे पता चलता है कि निजी स्वामियों द्वारा किया जाने वाला विरोध और अप्रत्याशित तकनीकी कठिनाइयाँ किस प्रकार विकासशील समाजवादी कार्य को बदल सकती हैं।

पद सँभालने पर लेबर सरकार का विश्वास था कि उसे मतदाताओं से लोहा और इस्पात-उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने का अधिकार मिला हुआ है। दल के १९४५ ई० के आंदोलन घोषणापत्र में निम्नलिखित वक्तव्य शामिल किया गया था: 'लेबर दल राष्ट्र के समक्ष नीचे लिखा औद्योगिक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है: (१) ईंधन और बिजली-उद्योगों का सरकारी स्वामित्व (२) अंतर्देशीय परिवहन का सरकारी स्वामित्व (३) लोहा और इस्पात का सरकारी स्वामित्व [1] जैसा कि संभरण मंत्री ने हाउस ऑफ कामन्स में बताया "यह प्रश्न सीधे-सीधे निर्वाचकों के सामने आम चुनाव में रखा गया था। इस पर चुनाव के दौरान बहस हुई .... मतदाताओंसे अधिकार पाने का यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यह हमारी प्रजातंत्रीय प्रणाली बहुत ही मूल बात है।[2]"

१९ नवंबर, १९४५ ई० को लेबर सरकार ने संसद् में घोषणा की कि मिली-जुली सरकार (जो लेबर सरकार की पूर्ववर्त्ती थी) लोहा और इस्पात-उद्योग को आमंत्रित किया है कि वह उद्योग को कार्यकुशल संचालन आधार पर रखने के लिए जरूरी सुधारों के बारे में एक प्रतिवेदन पेश करे। "और लेबर सरकार का विचार है कि लोहा और इस्पात उद्योग के भावी गठन के बारे में अंतिम निर्णय करने से पहले इस प्रतिवेदन की प्रतीक्षा करे।"[3] प्रतिवेदन ब्रिटिश लोहा और इस्पात संघ द्वारा तैयार किया गया और दिसंबर; १९४५ ई० में सरकार को पेश किया गया। १७ अप्रैल, १९४६ ई० को संभरण मंत्री ने हाउस ऑफ कामन्स में घोषणा की कि "पूरा-पूरा विचार करने के बाद सरकार इस नतीजे पर पहुँची है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में इस उद्योग के महत्त्व और इसकी स्थिति को देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि इसके ऊपर काफी मात्रा में सरकारी स्वामित्व हो और इस प्रयोजन से विधान तैयार किया जाना चाहिए"। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीयकरण होने तक सरकार एक नियंत्रण मंडल स्थापित करना चाहती है, 'जो उद्योग के सामान्य नियंत्रण और अधीक्षण' के लिए और राष्ट्रीयकरण की योजना तैयार करने से पैदा होने

---

[1] 'लेट अस फेस दि फ्यूचर' दल का चुनाव-संबंधी बुनियादी दस्तावेज जिसका संभरण मंत्री ने उद्धरण दिया। पार्लियामेंटरी डिबेट्स, जिल्द ९२३, संख्या १४७, पृष्ठ ८४३।

[2] वही।

[3] पार्लियामेंटरी डिबेट्स, जिल्द ९२१, संख्या १२६, पृष्ठ २६८७।

वाले प्रश्नों तथा सरकारी स्वामित्व में लिए जाने वाले उद्योग के खंडों की परिभाषा को शामिल करते हुए सभी बातों पर 'सरकार को सलाह देने के लिए प्रतिवेदन में प्रस्तावित कुछ आधुनिकन योजनाओं को आगे चलाने के लिए मंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा।'[1] कुछ सदस्यों ने कहा कि सरकार इस प्रतिवेदन को प्रकाशित कर दे, जिसके बाद लोहा और इस्पात के पूरे-पूरे राष्ट्रीयकरण पर बातचीत की जाए। सरकार इस प्रतिवेदन को प्रकाशित करने को राजी हो गई, अगर संघ वैसा करने के लिए अनुमति दे दे।

ब्रिटिश लोहा और इस्पात संघ द्वारा लोहा-इस्पात-उद्योग के बारे में संभरण मंत्री को दिया गया प्रतिवेदन तथा लोहा ढलाई-उद्योग संबंधी संयुक्त लोहा परिषद् का प्रतिवेदन[2] प्रकाशित किया गया और संसद में मई १९४६ ई० में पेश किया गया। इसमें उद्योग का विशद् सर्वेक्षण किया गया और उसके आधुनिकन एवं पुनर्गठन के प्रस्ताव किए गए, जो सभी वस्तुतः निजी स्वामित्व के अधीन चलाए जाने थे। प्रतिवेदन में अनुमान लगाया गया कि सन् १९५० से १९५५ ई० तक इस्पात की घरेलू माँग औसत से १३,०००,००० टन हर साल होगी और निर्यात की माँग इसके अलावा ३,०००,००० टन होगी। इसमें विस्तार और आधुनिकन का एक सातवर्षीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया, ताकि क्षमता १६० लाख टन हो सके और नए संयंत्र लगाकर उत्पादन लागत कम की जाए। नए संयंत्रों में बुनियादी इस्पात उत्पाद उस समय विद्यमान १।५ संयंत्रों की ही मूल लागत के अधीन १६ प्रतिशत की प्रतिटन कुल लागत कम पर पैदा किए जा सकेंगे। प्रतिवेदन में व्यौरेवार विशिष्टियाँ भी दी गईं और ४७.५० लाख टन क्षमता वाली नई भट्ठियों के स्थान तक सुझाए गए और इसी तरह ६० लाख टन वार्षिक क्षमता के नए उत्पाद धातुपिंडों के बारे में बताया गया। इसमें पुरानी पड़ गई ३० लाख टन क्षमता वाली भट्ठियों और ४० लाख टन की पुरानी धातुपिंड क्षमता को भी खत्म करने का प्रस्ताव किया गया। इसमें नया साज-सामान संयुक्त राज्य अमेरिका से खरीदने की सिफारिश की गई, ताकि रोलिंग मिल साज-सामान के लिए ब्रिटिश सुविधाएँ खड़ी करना टाला जा सके। प्रतिवेदन में बताया गया कि आयोजना को घलाने के लिए १६.८० करोड पौंड के पूंजी निवेश की जरूरत पड़ेगी और यह अनुमान लगाया गया कि इसका लगभग आधा ही उद्योग के विद्यमान संसाधनों से पूरा किया जा सकेगा। इस्पात-उद्योग के नेताओं ने महसूस किया कि प्रतिवेदन से, स्पष्ट था कि स्वामित्व या नियंत्रण में किसी आमूल

---

[1] वही, पृष्ठ २६९७-२६९८।

[2] कमांड ६८११, लंदन एच० एम० स्टेशनरी आफिस, १९४६।

परिवर्तन की जरूरत नहीं है और इसमें यह सिद्ध किया गया कि उद्योग ऐसी किसी प्रतिरोधी नीति का अब अनुसरण नहीं कर रहा है, जिसका कि उस पर आरोप लगाया ज़ाता है।[1]

२७ मई, १९४६ ई० को संभरण मंत्री ने हाउस ऑफ कामन्स में एक प्रस्ताव पेश किया, जो भारी बहुमत से पास किया गया कि "यह सभा सम्राट सरकार के इस निर्णय का अनुमोदन करती है कि लोहा और इस्पात-उद्योग के उपयुक्त खंड राष्ट्र के स्वामित्व में लाने के लिए प्रस्ताव पेश किए जाएँ, ताकि जनहित में उसे कार्यकुशल रूप में संगठित किया ज़ा सके।"[2] अपने प्रस्ताव के समर्थन में उन्होंने इस उद्योग के इतिहास की समीक्षा की और 'हमारे समूचे औद्योगिक ज़ीवन के रूप से उसके वर्त्तमान महत्त्व षर जोर दिया[3] उन्होंने बताया कि "इसमें इस समय ३ लाख लोग काम कर रहे हैं और चूँकि शांतिकालीन या युद्धकालीन महत्त्व की प्रायः प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः जरूरी कच्चा माल यह उद्योग प्रदान करता है इसलिए यह उद्योग भी 'कोयले की तरह ही राष्ट्र के रक्त-संचार के रूप में' है।"[4] उन्होंने यह सिद्ध करने के लिए कि यह उद्योग एक निजी एकाधिकार है, दाम और लाभ के आँकड़े पेश किए। उन्होंने तर्क दिया कि 'समस्या स्पर्धी निजी उद्यम और सरकारी उद्यम की नहीं है। इस्पात-उद्योग ने स्पर्धा के तरीकों को १२ साल पहले छोड़ दिया है। इसमें स्पर्धी उपक्रम के न तो विशेष गुण ही देखने को मिलते हैं, न दोष ही।'

मंत्री ने राष्ट्रीयकरण करने के सरकारी निर्णय के तीन मुख्य कारण बताए: (१) संघ की आधुनिकन आयोजना को चलाने के लिए सरकार को जरूरी पैसे का अधिकांश देना पड़ेगा और सरकार यह मानती है कि आयोजना जरूरी है, (२) संघ की आयोजना उद्योग के लिए केंद्रीय प्राधिकार का पूर्वानुमान करती है, जो नए संयंत्रों की क्षमता के स्वरूप और स्थल के बारे में निर्णय कर सके तथा यह भी फैसला कर सके कि कौन-कौन से विशिष्ट संयंत्र बंद कर दिए जाने चाहिए एवं ऐसे मामलों में व्यक्तिगत कंपनियों के हितों का सफलतापूर्वक संतुलन किसी भी निजी रूप से बनाए गए अभिकरण द्वारा नहीं किया जा सकता, (३) उद्योग का प्रतिवेदन यह मानकर चलता है कि किसी केंद्रीय प्राधिकार द्वारा दाम का तय किया जाना और

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, ८ मई, १९४६

[2] पार्लियामेंटरी डिबेट्स, जिल्द ९२३, संख्या १४७, पृष्ठ ८४२।

[3] वही, पृष्ठ ८४५।

[4] वही।

दरों का संरक्षण चालू रखा जाएगा और ये दोनों चीजें मिल कर एक बड़े ही शक्तिशाली एकाधिकारी नियंत्रण को पैदा करेंगी, जिसे निजी हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता। मंत्री ने बताया कि उद्योग के इन अंशों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा। लोहा धातुक का खनन, कोक भट्ठी संचालन (जिसको कोयले के राष्ट्रीयकरण के समय छोड़ दिया गया था; क्योंकि उसका इस्पात के कारखानों से निकट संबंध था), ढलवा लोहा और इस्पात का उत्पादन एवं उद्योग के मूल या भारी रोलिंग खंड क्योंकि वे पिघलाने के काम के चालू रूप में संचालित होते हैं—उन्होंने बताया कि इसके बाद फिर अंतिम तैयार करने के संचालन कार्य हैं, जिनका राष्ट्रीयकरण ऐसे मामलों में किया जा सकता है, जहाँ वे लोहा और इस्पात बनाने की क्रिया के साथ इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं कि वे वस्तुतः एक ही प्रक्रिया बन जाते हैं। जहाँ अंतिम तैयार करने की प्रक्रिया लोहा और इस्पात के उत्पादन से अलग होती है, वहाँ राष्ट्रीयकरण की सीमा निर्धारित करने के पहले हर एक फर्म के मामले की समीक्षा की जाएगी। मंत्री ने फिर एक नियंत्रण मंडल का प्रस्ताव किया, जिसमें प्रबंधकों और कामकरों के प्रतिनिधि शामिल किए जाएँगे, जो यह देखेंगे कि उद्योग का काम कुशलतापूर्वक चलाया जा रहा है और राष्ट्रीयकरण होने तक भी आधुनिकन की ओर भी प्रगति की जाएगी।

हाउस ऑफ कामन्स द्वारा सिद्धांत रूप में इस्पात के राष्ट्रीयकरण का अनुमोदन किए जाने के बाद मंत्री ने नियंत्रण मंडल की स्थापना का प्रयास किया, लेकिन उनको उद्योग से जबरदस्त विरोध का सामना करना पड़ा। राष्ट्रीयकरण के प्रति अपना प्रतिरोध प्रकट करते हुए उद्योग के प्रतिनिधियों ने ऐसे किसी मंडल में शामिल होने से इन्कार कर दिया, जिसे राष्ट्रीयकरण का मार्ग प्रशस्त करने का कोई भी काम सौंपा जाएगा। अंत में एक समझौता हुआ और ८ सितंबर, १९४७ ई० को एक लोहा और इस्पात मंडल की स्थापना की गई। इसमें एक स्वतंत्र सभापति, दो अन्य स्वतंत्र सदस्य, प्रबंधकों के दो प्रतिनिधि और लोहा-इस्पात-मजदूर संघों के दो प्रतिनिधि थे। यह घोषणा की गई कि मंडल राष्ट्रीयकरण[1] से संबंधित मामलों

---

[1] प्रेस में अनधिकृत रूप से यह समाचार छपा कि "मंडल में शामिल होने की शर्त के रूप में उद्योग ने एक वायदा करा लिया कि मंडल के प्रतिर्निधियों का ऐसा कोई दायित्व न होगा कि वे राष्ट्रीयकरण के बारे में सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से कोई परामर्श दें।" इस बात पर राजी होने से पहले सरकार ने बताया जाता है कि यह कहा कि हालांकि मंडल राष्ट्रीयकरण का रूप तय करने में भाग न लेगा, तथापि उद्योग के प्रतिनिधि सरकार 'सरकार को' अपनी व्यक्तिसत हैसियत से अपनी तकनीकी और औद्योगिक सलाह का लाभ प्रदान करेंगे। दि न्यूयार्क टाइम्स, १६ अगस्त, १९४६।

को नहीं निबटाएगा और उसके कर्त्तव्य ये होंगे : "(१) आधुनिकन और विकास-योजनाओं का पुनर्विलोकन तथा अधीक्षण, (२) कच्चे माल के उपबंध के ऊपर जरूरी अधीक्षण चालू रखना और मंत्री द्वारा दी गई शक्तियों के अधीन लोहा तथा इस्पात उत्पादों के उत्पादन वितरण एवं आयात के ऊपर जरूरी सीधे नियंत्रण को प्रशासित करना और (३) उद्योग की सामान्य दाम नीति के बारे में और नियंत्रित उत्पादों के दाम तय करने के बारे में सलाह लेना।"[1]

इस्पात का राष्ट्रीयकरण करने के बारे में लेबर दल की १९४५ ई०की चुनाव-प्रतिज्ञा के बावजूद लेबर दल और लेबर-सरकार के मंत्रिमंडल में सन् १९४७ और १९४८ ई० के दौरान इस राष्ट्रीयकरण के ठीक-ठीक स्वरूप और समय के बारे में मतभेद था। ज्यादा रूढ़िवादी तत्त्व तेजी से कार्रवाई करने के पक्ष में न थे और अगले आम चुनाव तक विधेयक को स्थगित करना पसंद करते थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीयकरण भी लोहे के धातुपिंड और इस्पात धातुक के उत्पादन की बुनियादी प्रक्रिया तक ही सीमित होना चाहिए, बाद में क्रमशः विस्तार करके उद्योग के दूसरे हिस्सों को लिया जाना चाहिए। ज्यादा अतिवादी वर्ग इस्पात के गढ़े जाने और साथ ही लोहे के धातुपिंड तथा इस्पात के धातुक के उत्पादन के राष्ट्रीयकरण के लिए तुरंत कार्रवाई करने पर जोर दे रहे थे। भले ही बाद में सरकारी संचालन के लिए अनुपयुक्त पाए गए उद्योग के हिस्सों को निजी हितों को बाद में वापस बेच देने की संभावना रख ली जाए।

राष्ट्रीयकरण अधिनियम

२४ नवंबर, १९४९ ई० को पास हुए लोहा और इस्पात अधिनियम में राष्ट्रीयकरण के समय के बारे में लचक वाली व्यवस्था थी और उसके क्षेत्र से बहुत छोटे फर्मों एवं उद्योग के गढ़ाई वाले हिस्सों को अलग कर दिया था।[2] अधिनियम द्वारा एक सरकारी प्राधिकार बनाया गया, जो वास्तव में एक धारक निगम था, जिसका नाम था 'ग्रेट ब्रिटेन का लोहा और इस्पात निगम'। 'विहित होने की तारीख' को निगम उन सभी कंपनियों के ऋणपत्रों पर अधिकार प्राप्त करने को था, जिनका औसत उत्पादन सन् १९४६ और १९४७ ई० में लोहे की कच्ची धातु के ५०००० टन और लोहे के धातुपिंड के २०००० टन, इस्पात के धातुक के २०००० टन या गरम वेल्लत इस्पात के २०००० टन से ज्यादा था।[3] इस प्रकार राष्ट्रीयकरण में शामिल की गई कंपनियाँ इन चार बुनियादी उत्पादों के तथा अनेक तरह के दूसरे

---

[1] इकोनॉमी रेकर्ड, २६ अगस्त, ९ सितंबर, १९४६, पृष्ठ ४।

[2] लोहा और इस्पात अधिनियम, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९४९।

[3] वही धारा १, ३, ११ और दूसरी अनुसूची एवं तीसरी अनुसूची।

इस्पात उत्पादों के तथा अनेक तरह के दूसरे इस्पात उत्पादों के और कुछ बिल्कुल प्रासंगिक उत्पादों के कुल उत्पादन के ९३ से ९९ प्रतिशत तक का उत्पादन समेटती थीं। 'विहित करने की तारीख' १ जनवरी, १९५१ ई० या उसके बाद एक साल के भीतर रखी गई।[1] बताया गया कि निगम में एक सभापति और ६ से १० तक दूसरे सदस्य होंगे, जिनकी नियुक्ति संभरण मंत्री द्वारा उन व्यक्तियों में से की जाएगी, जो उनको ऐसे व्यापक अनुभव वाले और लोहे की कच्ची धातु या लोहा या इस्पात के उत्पादन में और औद्योगिक वाणिज्य या वित्तीय मामलों में, प्रशासन या कामकरों के संगठन में अपनी क्षमता दिखा चुके होंगे। ये नियुक्तियाँ १ अक्टूबर, १९५० ई० से पहले नहीं होनी चाहिए थी।[2] निगम को अधिकार दिया गया कि राष्ट्रीयकृत की गई संपत्तियों का धारण करे, उनके बारे में स्वामित्व के अधिकारों का प्रयोग करे, कुछ दूसरी संपत्तियों का अधिग्रहण करे, नई कंपनियाँ बनाए, अनुसंधान चलाए, धारित कंपनियों के लिए सेवाओं की व्यवस्था करे और लोहे की कच्ची धातु, लोहे के धातुपिंड और इस्पात के पिंडकों एवं गरम वेल्लत इस्पात के कार्यकुशल तथा बचतपूर्ण संभरण को बढ़ाने के प्रयोजन से पैसा उधार ले और दे तथा यह आश्वस्त करे कि ये उत्पाद "ऐसी मात्रा में उपलब्ध बने रहें और ऐसे प्रकार, किस्म और आकार के हों" तथा ऐसे दामों पर मिलते रहें, जो निगम को निर्माण-कार्यों के लिए इन उत्पादों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की युक्तिसंगत माँगों को पूरा करने के लिए ठीक-ठीक से जोड़े गए मालूम पड़े। निगम को यह अतिरिक्त दायित्व भी दिया गया कि वह "किसी···· व्यक्ति या उनके किसी वर्ग के विरुद्ध इन उत्पादों के संभरण और दाम के बारे में भेदभाव को रोके एवं निगम द्वारा अपने कर्त्तव्यों के समुचित निर्वहन से संगत रहते हुए अधिकतम मात्रा में विकेंद्रीयकरण को प्राप्त करे।"[3] मंत्री को यह भी शक्ति दी गई कि "निगम को सामान्य प्रकार के निदेश···· राष्ट्रहित को प्रभावित करने वाले मामलों के संबंध में दे सकें और निगम उन निवेशों को प्रभावी करेगा।" जहाँ तक पुनर्गठन या पूँजी-विकास का संबंध है, निगम को यह दायित्व सौंपा गया कि "समय-समय पर मंत्री के अनुमोदन से तय किए गए आम कार्यक्रम के अनुसार" कार्य करे।[4] एक लोहा और इस्पात उपभोक्ता परिषद् भी "उपभोक्ताओं के हितों (दामों को शामिल करके) को प्रभावित करने

---

[1] जिस समय अधिनियम पास किया गया, उस समय १९५०ई०की गर्मियों में आम चुनाव करने की बात सोची जा रही थी।

[2] लोहा और इस्पात अधिनियम, धारा १।

[3] वही धारा २, ३।

[4] वही धारा ४।

वाले किसी मामले पर विचार करने और मंत्री को प्रतिवेदन देने के लिए बनाई गई।"[१]

ग्रेट ब्रिटेन के लोहा इस्पात निगम के मंडल की नियुक्ति २ अक्टूबर, १६५० से सरकार की एक पहले की इस घोषणा के अनुसार की गई कि १५ फरवरी, १६५१ ई० को विहित करने वाली तारीख माना जाएगा और उस तारीख को निगम लगभग ६० लोहा और इस्पात कंपनियों की प्रतिभूतियों का स्वामी बन जाएगा। इन कंपनियों में कुल मिला कर लगभग १५० सहायक कंपनियाँ भी काम करती हैं और उन सब में कुल मिलाकर लगभग ३ लाख व्यक्ति काम करते हैं। जो प्रतिभूतियाँ निगम को हस्तांरित की गई थीं, उनके २५०००० मालिकों को राजकोष से गारंटी प्राप्त और सन् १६७६—१६८१ ई० में मोच्य साढ़े तीन प्रतिशत के ब्रिटिश लोहा और इस्पात स्टॉक के रूप में मुआवजा दिया गया। हर मामले में प्राप्त हुए इस स्टॉक का मूल्य पौंड के हिसाब से दी गई प्रतिभूतियों के उस मूल्य के बराबर था, जिसका साक्ष्य इन दो तारीखों में से किसी तारीख को लंदन स्टॉक बाजार के उनके औसत भाव द्वारा दिया गया या कुछ मामलों में यह आपस में तय किया हुआ मूल्य था। मुआवजे को आमतौर पर पूरी तरह से उचित और दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योगों को दिए गए मुआवजे के अनुसार ही माना गया।

दूसरे राष्ट्रीयकरण विधानों की तुलना में इस्पात-संबंधी विधान की खास बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। व्यक्तिगत कंपनियों की प्रतिभूतियाँ ग्रेट ब्रिटेन के लोहा और इस्पात निगम को मार्ग हस्तांरित करके इस्पात कंपनियों को व्यक्तिगत निगमित इकाइयों के रूप में अप्रभावी छोड़ दिया गया। हरेक अपना पुराना निगमित नाम और आंतरिक संगठन बनाए रही। प्रत्येक का प्रबंध उन्हीं निदेशकों के मंडल और कार्यपालिकाओं द्वारा चलता रहा, जो राष्ट्रीयकरण से पहले काम करती थीं एवं प्रत्येक वही विशेषीकृत उत्पादन पैदा करती तथा उन्हीं ग्राहकों को बेचती रहीं, जैसाकि वे राष्ट्रीयकरण से पहले करती थीं। इसका मतलब यह था कि निगम ने इस्पात उद्योग के उत्पादक संगठन में कोई बाधा नहीं डाली और अपना कार्य-कलाप दीर्घकालीन पूँजी विस्तार की आयोजना, समय-समय पर विकास के चालू सोपानों को कार्यान्वित करने के लिए पैसे की व्यवस्था करने, दाम तय करने की नीति बनाने, कच्चा माल प्राप्त करने और कुछ सेवाओं की व्यवस्था तक ही सीमित रखा, जैसे पूरे उद्योग के आधार पर अनुसंधान की सेवा। चूँकि हाल के सालों में ये सब काम ब्रिटिश लोहा और इस्पात संघ के संचालन क्षेत्र में आ गए थे

---

[१] वही, धारा ६।

और चूँकि राष्ट्रीयकृत कंपनियाँ संघ की सदस्य थीं, यह स्पष्ट था कि निगम तथा संघ के कृत्यों का समन्वय नए राष्ट्रीयकृत उद्योग के सामने आई, एक प्रमुख समस्या थी। निगम ने यह सुझाव दिया कि संघ की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समिति में उसे प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और उसने सुझाव दिया कि व्यक्तिगत इस्पात कंपनियों के प्रवर कार्यपालकों की उपयुक्तता वह तय करेगा। इससे अधिनियम के अधीन निगम के कार्य-क्षेत्र और शक्तियों की संकल्पना का संकेत तो मिल गया, लेकिन इससे यह प्रकट नहीं हुआ कि वह उद्योग के दैनंदिन संचालन में कितनी गहराई तक अपने-आपको डालना चाहता है।

इस्पात के राष्ट्रीयकरण की आलोचना सभी राष्ट्रीयकरण उपायों की तुलना में सबसे ज्यादा उग्र रूप से की गई। इस बात ने विरोधी पक्ष को बड़ा समर्थन दिया कि वह ब्रिटेन में इस्पात उत्पादन के बड़े शानदार अभिलेख की बात कह सकता था। साथ ही उद्योग में कभी कोई गंभीर श्रम-विवाद खड़ा न हुआ था और दूसरे उद्योगों की तुलना में वह कहीं ज्यादा ऊँची तकनीकी कार्यकुशलता के साथ अपना कार्यसंचालन कर रहा था। अधिनियम के पास हो जाने के बाद भी चार भिन्न-भिन्न अवसरों पर विरोधी पक्ष ने हाउस ऑफ कामन्स में इस अधिनियम के अमल में लाए जाने को असफल चुनौतियाँ दीं।

इस्पात का विराष्ट्रीयकरण

१९५१ ई० में पद सँभालने से पहले होनेवाले चुनाव आंदोलन में कंजरवेटिव दल ने अपने चुनाव घोषणापत्र में इस प्रकार प्रतिज्ञा की थी : 'लोहा और इस्पात अधिनियम को निरसित कर दिया जाएगा और इस्पात-उद्योग को युद्धकालीन एवं युद्धोतर काल की अपनी सफलताओं को चालू रखने दिया जाएगा। पहले-पहल तो यही दीखता है कि सरकारी धारक कंपनी का जो रूप इस्पात के राष्ट्रीयकरण ने प्राप्त किया था, उसके फलस्वरूप विराष्ट्रीयकरण आसानी से और तेजी से संभव हो जाएगा। पुरानी निजी स्वामित्व की निगमित इकाइयाँ, उनके मंडल और उनके प्रबंधक कर्मचारियों को यथापूर्व छोड़ दिया गया था और यह तो सिर्फ कागजी कार्रवाई लगती थी कि उनको, उनके पुराने स्वामियों के पास वापस भेज दिया जाए। वास्तव में विराष्ट्रीयकरण अनेक परिस्थितियों के कारण जटिल हो गया। राष्ट्रीयकरण से थोड़ा ही पहले ईक्विटी शेयरों की काफी रकम (स्वामित्व का प्रतिनिधित्व करने वाली उत्तमर्ण की हैसियत की नहीं) संस्थागत निवेशकों द्वारा प्राप्त कर ली गई थी जैसे बीमा कंपनियों और न्याय निधियों द्वारा जिसका एकमात्र कारण यही था कि ये शेयर विहित होने की तारीख को राजकोष से गारंटी प्राप्त ब्रिटिश लोहा और इस्पात साढ़े तीन प्रतिशत के स्टॉक में बदल जाएँगे। संभवत: ये संस्थागत

निवेशक इस स्टॉक को पुनः निजी इस्पात कंपनियों के ईक्विटी शेयरों में बदलने को तैयार न होंगे; क्योंकि इन कंपनियों में प्रबंधकों की जिम्मेदारी और वित्तीय खतरा अंतर्ग्रस्त था।

सरकार से इस्पात कंपनियों को कौन खरीदेगा, यह प्रश्न भी विराष्ट्रीयकरण से पूर्व लेबर दल की इस घोषणा के कारण बहुत जटिल हो गया था कि जब वह पदारूढ़ होगी, इस उद्योग का फिर राष्ट्रीयकरण किया जाएगा और निजी स्वामियों को १९४९ ई० के राष्ट्रीयकरण में दिए गए मुआवजे से कुछ भी ज्यादा न दिया जाएगा। यह भी सुझाया गया कि इसको भी निजी स्वामित्व की मध्यावधि के दौरान साढ़े तीन प्रतिशत से ज्यादा चुकाए गए लाभांश की रकम जितना कम कर दिया जाएगा। विराष्ट्रीयकरण से संबंधित बड़े ही तकनीकी मामलों की संख्या भी काफी थी और उनके अलावा इन परिस्थितियों में यह बुनियादी प्रश्न खड़ा कर दिया कि सरकारी स्वामित्व की इन कंपनियों को कौन खरीदेगा, अगर और खरीददार मिल भी गए, तो लेबर दल द्वारा जो पुनःराष्ट्रीयकरण प्रतिकूल शर्तों पर करने की धमकी दी जा रही है, उसे देखते हुए उनको किस प्रकार के और कितनी रकम के प्रीमियम प्रलोभन दिए जाएँगे।

हालांकि कंजरवेटिव दल ने अक्टूबर, १९५१ ई० में सरकार की बागडोर सँभाल ली थी, सरकार ने एक साल से भी ज्यादा समय बाद लोहा और इस्पात उद्योग के विराष्ट्रीयकरण वाला विधेयक प्रस्तुत किया। यह विधेयक मई, १९५३ ई० में अधिनियमित किया गया और इसने आदेश दिया कि ग्रेट ब्रिटेन के लोहा तथा इस्पात निगम को अपनी सभी लोहा एवं इस्पात कंपनी प्रतिभूतियाँ एक नवनिर्मित निकाय, लोहा और इस्पात धारण तथा वसूली अधिकरण को सौंप दे। अधिनियम ने इस अधिकरण को यह अधिकार दिया कि वह ये प्रतिभूतियाँ वापस जनता को भेंट करे और इसे यह भी शक्ति दी गई कि इस काम को पूरा करने के लिए विशिष्ट साधन एवं प्रक्रियाएँ तैयार कर ले। इसमें एक सरकारी रूप से नियुक्त लोहा और इस्पात की भी व्यवस्था थी, जिसके द्वारा उद्योग के निजी स्वामियों को वापस लौटा दिए जाने के बाद निकट से उसका अधीक्षण किया जाना था। धारक और वसूली अधिकरण को ये प्रतिभूतियाँ सीधे या निवेशक बैंकरों के सिंडीकेटों के जरिए बेचने की आज्ञा थी। उसे इस्पात कंपनी के पूँजी घाटे का उसके विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों को बेचने से पहले से पुनर्गठित करने का भी अधिकार दिया गया और यह जरूरी नहीं था कि वह किसी खास कंपनी की अनेक प्रकार की प्रतिभूतियों को एक ही समय पर बेच दे। सभी इस्पात प्रतिभूतियों की बिक्री होने तक अभिकरण को अधिकार दिया गया कि वह राष्ट्रीय कंपनियों से लाभांश पर विचार करे और अभि-

करण द्वारा प्रतिभूतियों की बिक्री से प्राप्त पैसे से उनको पूँजी निधियों का संभरण करे। समय-समय पर इसका यह दायित्व होगा कि प्रतिभूतियों की बिक्री से अभिकरण जो प्राप्त करे, उसका सहमत हिस्सा राजकोष को भी प्रदान करे। चूँकि लगभग ६० लोहा और इस्पात कंपनियों का राष्ट्रीयकरण ७० करोड़ पौंड से ज्यादा लागत पर किया गया था, इसलिए दुनिया के इस तीसरे सबसे बड़े उद्योग को फिर से निजी मालिकों को बेचने का यह सौदा बड़ा ही विशाल था और इसको बड़ी सावधानी से पूरा करना था, ताकि वित्तीय बाजार और ब्रिटिश उद्योगों पर यथासंभव कम-से-कम प्रभाव पड़े।

अब चूँकि विराष्ट्रीयकरण का काम करीब पूरा होने जा रहा है, इसलिए इसे उचित रूप में ही इस प्रकार वर्णित किया गया है "यह विशाल निवेश संभाव्यताओं को संघटित करने के अपरीक्षित तरीकों का बाजार में उपयोग करने की और हार के मुख से भी जीत को छीन लेने की एक भव्य गाथा है।"[१] इस्पात-उद्योग के विराष्ट्रीयकरण के ब्यौरे विकासशील समाजवाद के छात्रों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। दुर्भाग्य से हम उनको व्यापक शब्दों में और स्थूल समानीकरण के शब्दों में ही बता सकेंगे। धारक और वसूली अभिकरण द्वारा कुछ सिद्धांतों का अनुसरण किया गया; (१) अपेक्षतया छोटी कंपनियों के मामले में जो राष्ट्रीयकरण से पहले परिवार के स्वामित्व में या थोड़े से निकट लोगों के स्वामित्व में थीं, अभिकरण और भूतपूर्व स्वामियों एवं अभिकरण के बीच उनको इन स्वामियों को फिर बेचने के लिए सीधे बातचीत चलाई गई (२) कुछ दूसरी अपेक्षतया छोटी कंपनियों के मामले में अभिकरण ने उनकी बिक्री के बारे में गढ़ाई कंपनियों से सीधे बात चलाई, जो उनको अपनी धातुपिंड संभरण के स्रोत के रूप में खरीदना चाहती थी (३) बड़ी कंपनियों का पूँजी घाटा पुनर्गठित किया गया और उसके स्टॉक के मतदाता सामान्य शेयरों को पहले बेच दिया गया; क्योंकि सक्रिय प्रबंध निजी हितों को लौटाने का यह तथ्य जल्दी का तरीका था (४) ज्यादा बड़ी कंपनियों को निवेशक बैंकरों के सिंडीकेटों के जरिए बेचा गया, प्रत्येक मामले में सिंडीकेट के सदस्य पहले बिक्री के लिए प्रस्तुत प्रतिभूतियों को लेने के लिए वचन लेते थे और फिर उनको निवेशक जनता को फिर भेज देते थे। इस तरह सिंडीकेट के साथ बातचीत के जरिए बिक्री के लिए प्रस्तुत प्रतिभूतियों का प्रत्येक निर्गम बिक्री के लिए घोषित किए जाने से पहले पूरी तरह खरीदा जा चुका था। (५) अभिकरण में सरकारी स्टॉक और नकद दोनों में ही इस्पात प्रतिभूतियों के लिए भुगतान मंजूर किया। (६) अभिकरण

---

[१] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, ५ मार्च, १९५५ ई०, पृष्ठ ८२१।

ने यह तथ्य भी माना कि उसके द्वारा प्रस्तुत चीजों का दाम किस तरह रखा जाना चाहिए कि निवेशकों को भविष्य में प्रतिकूल दाम पर पुनः राष्ट्रीयकरण के खतरे के लिए कुछ प्रीमियम छोड़ा जा सके। (७) अभिकरण ने बड़े ध्यान के साथ प्रतिभूतियों को ऐसे समय पर निवेश बाजार में जनता के लिए प्रस्तुत किया, जो बड़ा ही उपयुक्त समय था और जब परिस्थितियाँ अनुकूलतम थीं।

हालांकि छोटी कंपनियों की बातचीत द्वारा सीधी बिक्री एक-एक करके संतोषजनक रूप में और बिना किसी ऐसी समस्या खड़ा किए जिसकी ओर हम यहाँ पर ध्यान दें, आगे चलती रही: लेकिन, यह तो राष्ट्रीयकृत उद्योग का एक बहुत छोटा खंड ही था। अभिकरण के काम को बहुत बड़ा हिस्सा और उसकी बड़ी ही गंभीर समस्याएँ बड़ी कंपनियों की बिक्री के सिलसिले में आड़े आईं, जहाँ बिक्री के लिए अकेले खरीददार की जगह निवेश बाजार से अनुरोध किया जाना था।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है बड़ी-बड़ी बिक्रियाँ निवेशक बैंकरों की उन सिंडीकेटों से बातचीत करके की गईं, जो प्रतिभूतियों के प्रत्येक निर्गम के समूचे अंश को 'अवदत' करके पूरी ही हामी अभिकरण द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक शेयर के दाम पर भर लेते थे। इस तरह किसी भी निर्गम का प्रस्ताव इस अर्थ में असफल नहीं होता था कि अभिकरण घोषित दाम पर उसे निबटाने में असफल रहे। फिर भी इस अर्थ में एक निर्गम असफल हो सकता था कि बताए गए दाम पर उसकी हामी भरने के बाद सिंडीकेट के सदस्य निजी निदेशकों को उसके सिंडीकेट के अवदान के दाम और हामी भरने के थोड़े से कमीशन पर उसे निजी निवेशकों को पूरी तरह न बेच पाएँ। अगर ऐसा होता था, तो सिंडीकेट के सदस्य अगले निगम की हर शेयर पर अपेक्षतया कम दाम रखे बिना हामी भरने में संकोच करते या इन्कार करते थे। इस प्रकार निवेश बाजार की स्थिति और सिंडीकेट से प्रतिभूतियों को खरीदने की निवेशकों की इच्छा ही वास्तव में इन दामों के असली निर्णायक तत्त्व थे, जिन पर अभिकरण उनको बेचने के लिए प्रस्तुत करे।

पहले बड़े निर्गम में एक बहुत ही बड़ी इस्पात कंपनी के १४० लाख सामान्य शेयर अभिकरण द्वारा अक्टूबर, १९५३ में प्रस्तुत किए गए, उनको काफी सफलता के साथ बेच दिया गया। जनवरी १९५४ में घोषित दूसरी प्रस्तुति इस अर्थ में असफल रही कि निर्गम के काफी समय बाद हामी भरने वाले सिंडीकेट के सदस्यों के पास ४० प्रतिशत से ज्यादा अधिमान शेयर और ९० प्रतिशत से ज्यादा सामान्य शेयर उन शेयरों में से बच गए थे, जिनको लेने का उन्होंने वचन दिया था। १९५४ ई० की गर्मी तक अभिकरण को पता चल गया कि उसका बिक्री कार्यक्रम प्रायः बिल्कुल असफल हो गया है। वित्तीय समुदाय विराष्ट्रीयकरण कार्य को असफल मानने के

लिए तैयार था और यह चर्चा उठ खड़ी हुई थी कि क्या सरकार कभी भी अपने इस्पात धारणों को बेच पाएगी या नहीं।

इस अवसर पर दो बातें हुईं एक आयोजित रूप में और एक अचानक, जिसने अभिकरण के बिक्री कार्य को पुनर्जीवन भी प्रदान किया। अभिकरण में अपने द्वारा दिए जाने वाले शेयर उसके द्वारा निश्चित दाम पर निवेश बाजार द्वारा लिए जाने की अनिच्छा का पुनर्मूल्यांकन किया। जब कोई नया निर्गम प्रस्तुत किया जाता था, तो इसके साथ एक सूचीपत्र भी रहता था, जिसमें बताया जाता था कि संबंधित कंपनी की भावी संभाव्य आय और लाभांश क्या होंगे। संभाव्य निवेशकों द्वारा निवेश बाजार में उपलब्ध विकल्पों की तुलना में अभिकरण के प्रस्ताव के गुण-दोष का मूल्यांकन करने के लिए इनका बड़े ध्यान से अध्ययन किया जाता था। अभिकरण इस नतीजे पर पहुँचा कि जिस दाम पर वह निर्गम प्रस्तुत करता रहा है, वे इतना ज्यादा थे कि वे निवेशक खुले निवेश बाजार में प्राप्त दूसरी प्रतिभूतियों को ज्यादा पसंद करते थे, खास कर इसलिए कि इस्पात के भावी पुनर्राष्ट्रीयकरण की राजनीतिक स्थिति बड़ी अनिश्चित थी और उसमें कुछ खतरे थे। अभिकरण इस नतीजे पर पहुँचा कि इस्पात के शेयर खरीदने के लिए खरीददार को प्रलोभन देने के लिए वे उनको संभाव्य लाभांश के प्रकाश में ऐसे दाम पर दिए जाने चाहिए कि उनके अपने निवेश पर सात से साढ़े सात प्रतिशत तक का लाभ हो सके, जो उपलब्ध तुलनीय निवेशों से दो से ढाई प्रतिशत ज्यादा हो, जिनमें पुनर्राष्ट्रीयकरण का कोई खतरा न था।

जहाँ तक अधिकरण का सवाल है, अचानक हुई घटना यह थी कि लगभग इसी समय लंदन स्टॉक बाजार में एक नया मोड़ आया। शेयर के दाम जब आमतौर पर बढ़ने लगे, तो इस्पात से तुलनीय निवेशों में आय प्रतिशतक के रूप में गिर गईं और इस तरह अभिकरण के सात से साढ़े सात प्रतिशत की आय देने वाले शेयर अधिक आकर्षक हो गए; क्योंकि स्टॉक बाजार की स्थिति मजबूत बनी रही और मई, १९५५ ई० के आम चुनाव में कंजरवेटिव दल की भारी जीत ने पुनर्राष्ट्रीयकरण के खतरे को कुछ साल के लिए टाल दिया। इसलिए अभिकरण सन् १९५५ और १९५६ ई० में बिक्री का बड़ा ही अच्छा कार्यक्रम चलाने में सफल हुआ।

१९५७ ई० में लगभग २८ कंपनियाँ ही मूलतः राष्ट्रीयकृत कंपनियों में से बेचने के लिए बाकी बचीं। दो को छोड़कर ये सभी अपेक्षतया छोटी थीं जैसाकि पहले बताया गया, अभिकरण ने मतदेय सामान्य शेयर पहले बेच लिए थे और फलतः उसके पास पूर्वदावे की प्रतिभूतियाँ काफी मात्रा में बच गई थीं जैसे अ-मतदेय

अधिमान स्टॉक और उन कंपनियों के बंधपत्र जिनके सभी मतदाता शेयर वह पहले बेच चुका था। संभवतः इनको धीरे-धीरे बेचा जाना था जब निवेश बाजार को उन्हें समेट लेने योग्य पाया जाए; क्योंकि नियंत्रण मतदेय सामान्य शेयरों के साथ रहता है, इसलिए उद्योगों के प्रबंधक १९५७ ई० तक पूरे विराष्ट्रीयकरण के अंतिम लक्ष्य की ओर काफी आगे बढ़ चुके थे। तथापि सन् १९५८-१९५९ ई० में निवेश बाजार की हालत नीचे बताए जाने वाले कारणों से कुछ ऐसी हो गई कि अभिकरण के ईक्विटी शेयरों तक को पूरी तरह बेचना असंभव हो गया। अक्टूबर, १९५९ ई० तक वह सामान्य शेयरों को लगभग ८९ प्रतिशत बेच चुका था, लेकिन सामान्य और अधिमान स्टॉकों एवं बंधपत्रों का कुल लगभग ७८ प्रतिशत ही। एक बहुत बड़ी कंपनी रिचर्ड थोमस एंड वाल्ड विन्स के ईक्विटी शेयर अभी तक इसके पास बचे हुए थे।

१९५७ ई० के बाद के अभिलेखों के आधार पर विराष्ट्रीयकरण को 'सफल' माना जाए या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि कौन सी कसौटी इस्तेमाल की जाती है। दो बड़े परीक्षणों के आधार पर इसे सफल माना जा सकता है हालांकि सभी यह मानते हैं कि अभिकरण को भाग्य ने भी मदद दी : (१) अधिकांश उद्योग का स्वामित्व और संचालन इस्पात-उद्योग के विकास एवं कार्यकुशलता में कोई महत्त्वपूर्ण बाधा या हस्तक्षेप के बिना ही निजी हितों को वापस लौटा दिया गया है। (२) वित्तीय दृष्टि से लगता है कि पूरा काम खत्म हो जाने पर सरकार को कुल मिलाकर कोई खास पूँजी घाटा नहीं रहेगा या संभवतः थोड़ा सा लाभ ही पहुँचेगा।

इस्पात के अनुभव से यह पता चलता है कि किसी उद्योग के विराष्ट्रीयकरण पर खरीददार मिल सकते हैं और पूँजी घाटे को रोकने वाले दाम भी मिल सकते हैं। तथापि यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीयकरण के दौरान उससे पूर्व समय की संयंत्र प्रबंध इकाइयों को अछूता रखा गया था और चूँकि कोयला-उद्योग की तरह इसको 'रेला-मिली' नहीं दिया गया था, इसलिए विराष्ट्रीयकरण को व्यावहारिक बनाने में काफी मात्रा में मदद मिली।

इस्पात और १९५९ ई० के आम चुनाव

इस्पात-उद्योग के विराष्ट्रीयकरण की उपर्युक्त कथा का चरम उत्कर्ष १९५९ ई० के आम चुनाव के पहले के समय में प्रकट हुआ। जैसे-जैसे १९५५ई० में चुनी गई कंजरवेटिव सरकार का समय पूरा होता गया, वैसे ब्रिटेन में इस प्रश्न की आम चर्चा छिड़ती गई कि अगले आम चुनाव में इस्पात के बारे में लेबर दल का प्रस्ताव क्या होगा? कुछ समय तक दल के भीतर अनिश्चय के कारण दल के नेताओं ने, कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनाई। इस बीच इस्पात कंपनियों को पता चला कि निवेश

बाजार में सुविधाओं के विस्तार को पैसा देने का प्रश्न इस्पात-उद्योग के राजनीतिक स्तर के अनिश्चित होने के कारण इतना कम हो गया था कि कंपनियों को स्वीकार्य शर्तों के अलावा प्रतिभूतियों का जारी करना असंभव हो गया था। इस्पात कंपनी कार्यपालकों ने लेबर दल की स्थिति जानने के लिए उससे बातचीत की। अंत में चुनाव-तिथि तय होने के काफी पहले दल के प्रवक्ता ने बताया कि अगले चुनाव में दल इस्पात-उद्योग के पुनर्राष्ट्रीयकरण का समर्थन करेगा। लेकिन, उन्होंने इसके अलावा और कोई ब्यौरे नहीं बताए, खास कर इस बारे में कि कंपनियों को फिर किन शर्तों पर खरीदा जाएगा। इससे इस्पात-उद्योग को इस बात के लिए बहुत थोड़ा ही आधार मिला कि सन् १९५९ या १९६० ई० में नई लेबर सरकार बन जाने पर पुनर्राष्ट्रीयकरण का स्पष्ट रूप क्या होगा। इस्पात-उद्योग की निवेश स्थिति काफी कमजोर बनी रही।

जब यह संभावना हो गई कि चुनाव १९५९ ई० के शरद् में करने की घोषणा की जाएगी, तो लेबर दल के नेताओं ने कहा कि मालिकों को 'उचित' मुआवजा देकर दल उनके पुनर्राष्ट्रीयकरण का समर्थन करेगा और अंगभूत इकाइयों को पहले की तरह सुरक्षित रखा जाएगा। इससे निवेश करने वाले लोगों को कोई आश्वासन नहीं मिला और इस्पात के शेयरों के स्टॉक बाजार दाम तुलनीय ऐसी औद्योगिक फर्मों से काफी कम बन रहे, जिनको राष्ट्रीयकरण का खतरा नहीं था। वास्तव में इस समय इस्पात के शेयर दामों में काफी सट्टा चल रहा था और अगले चुनाव में लेबर दल की जय-पराजय के अवसरों के प्रत्येक नए निर्धारण के साथ उसके दाम गिरते-चढ़ते थे।

जैसे-जैसे चुनाव ज्यादा निकट आता गया, लेबर दल ने इस्पात के पुनर्राष्ट्रीयकरण के समर्थन के ब्यौरे भी स्पष्ट कर दिए। इसने माना कि उद्योग निजी लोगों के हाथ में कुशलतापूर्वक और आसानी से चल रहा है तथा लोहा एवं इस्पात मंडल जिसे विराष्ट्रीयकरण अधिनियम के अधीन इसके अधीक्षण के लिए बनाया गया है, कुछ मात्रा में इसके ऊपर लोक नियंत्रण रख रहा है। सारांशतः पुनर्राष्ट्रीयकरण की बात वह एक आधार पर ही कह रहा था : चूँकि किसी भी समय इस्पात-उद्योग की उत्पादिता क्षमता ब्रिटेन के संभाव्य औद्योगिक विस्तार की सीमा तय करती थी, इसलिए वह देश के आर्थिक विकास का निर्धारण करती थी और इसे सुरक्षित रूप से निजी लोगों के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता था। चूँकि इस्पात सभी औद्योगिक साज-सामान के निर्माण या गढ़ने के लिए अत्यावश्यक था, इसलिए हर महत्त्वपूर्ण उद्योग की विस्तार सीमा इसे प्राप्त करने की योग्यता से तय होती थी। यह तो नहीं कहा गया कि इस समय इस्पात की कमी है। दूसरी ओर दल का कहना

यह था कि निजी इस्पात कंपनियाँ अपनी क्षमता के भावी विस्तार की सुपर्याप्त आयोजनाएँ इसलिए नहीं बनाएँगी कि भविष्य में ज्यादा क्षमता बढ़ जाने की शंका से उन्हें अपने लाभ का खतरा रहेगा। उनका कहना यह था कि इस्पात-उद्योग को अपनी क्षमता हमेशा निश्चय रूप से दिखाई जाने वाली बिक्रय संभावना की तुलना में कहीं ज्यादा मात्रा में बढ़ाते रहना चाहिए, ताकि वह कभी भी राष्ट्र के औद्योगिक विकास के आड़े न आने पाए। आगे उन्होंने यह तर्क दिया कि निजी लाभ को लेकर चलने वाला कोई भी उद्योग उपर्युक्त क्षमता की संभावना की ऐसी गुंजाइश के लिए न तो आयोजना ही बना सकता है और न उसे अमल में ही ला सकता है। और चूँकि एक राष्ट्र के रूप में ब्रिटेन के लिए यह जरूरी था कि समूचा उद्योग ऐसा करे, इसलिए इसका स्वामित्व और संचालन सरकार के हाथ में होना चाहिए।

पुनर्राष्ट्रीयकरण विरोधी तत्त्वों ने इस तर्क के प्रतिकार में यह कहा कि लेबर दल द्वारा इसकी स्थिति का जो चित्रण किया गया है, उसके विरुद्ध राष्ट्र के पास पर्याप्त संरक्षण पहले से ही हैं। उदाहरण के रूप में निजी हाथों में ब्रिटिश इस्पात-उद्योग के प्रगतिशील स्वरूप की बात कही गई और ज्यादा स्पष्ट रूप से नीचे लिखी बातों पर जोर दिया गया : (१) सरकार को पहले ही इस्पात के भावी आयोजन पर प्रभाव डालने की शक्ति मिली हुई है कि और वह लोहा तथा इस्पात मंडल के काम के जरिए ऐसा कर सकती है; क्योंकि यह मंडल इस्पात क्षमता और बिक्री के बारे में आँकड़े इकट्ठे करके विस्तार आयोजनाओं एवं प्रायोजनाओं के लिए एक शोधन केंद्र बन सकता है। (२) विराष्ट्रीयकरण अधिनियम में सरकार ने इस्पात पैदा करने की अपनी सुविधाएँ खड़ी करने की शक्ति अपने पास रक्षित रखी है और अगर उसे इस समय यह पता चलता है कि निजी उद्योगों की क्षमता अपर्याप्त होती जा रही है, तो कभी भी ऐसा कर सकती है। कुछ व्यक्तियों ने, जो इस बारे में तटस्थ राय रखते थे, लेबर दल के तर्क में कुछ जोरदार बात पायी। लेकिन, उनको आशंका थी कि उद्योग के पुनर्राष्ट्रीयकरण से उस पर कुप्रभाव पड़ेगा। ऐसे लोगों के बीच एक ऐसे समझौते की आयोजना विकसित हुई, जिसका समर्थन कोई भी दल नहीं कर रहा था। वह यह था कि सरकार को हमेशा एक बड़ी और कुछ छोटी-छोटी इस्पात कंपनियाँ अपने स्वामित्व और संचालन में रहनी चाहिए, जिसकी ईक्विटी प्रतिभूतियाँ लोहा और इस्पात धारण और वसूली अधिकरण के पास (उद्योग का लगभग १०वाँ अंश) सरकारी इस्पात उत्पादन-क्षमता के विस्तार के केंद्र के रूप में बने रहें एवं अगर लेबर सरकार की आशंका सही सिद्ध हो, तो उसका विस्तार किया जा सके। यह बताया गया कि इससे सरकार के अधीन ज्यादा तेजी से और ज्यादा प्रभावी रूप से इस्पात सुविधाओं का विस्तार किया जाएगा एवं जरूरत पड़ने पर वस्तुतः

नए मिल खड़े करने की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा होगा।

१९५९ ई० के चुनाव का एक बड़ा ही रोचक पहलू यह था कि भले ही यह बुनियादी तौर से महत्त्वपूर्ण न हो कि इस्पात कंपनियाँ व्यापारिक फर्मों के रूप में सक्रिय रूप से लेबर दल की हार के लिए सक्रिय प्रयत्न करें, जो ब्रिटेन की पुरानी कारबारी और राजनीतिक परंपराओं के विरुद्ध था। स्टॉकधारियों और कार्यपालकों द्वारा प्रस्ताव किए जा रहे थे कि कंपनियों से चंदे लेकर लेबर दल और इस्पात के बारे में उसके वचनों का मुकाबला करने के लिए काफी विज्ञापनवाजी की जाए। इन प्रस्तावों का विरोध लेबर दल वालों ने यह धमकी देकर किया कि अगर उद्योग ने ऐसा रवैया अपनाया, तो हाउस ऑफ कामन्स में एक ऐसा विधेयक पेश किया जाएगा जिसमें अपने संसाधनों का ऐसा उपयोग कंपनियों के लिए अवैध ठहरा दिया जाएगा। वास्तव में उद्योग ने इतने से ही संतोष किया कि आंदोलन से पहले और आंदोलन के दिनों में उन्होंने कंपनी-कंपनी के आधार पर और गरिमापूर्ण संस्थागत तरीके से निजी इस्पात-उद्योग की कार्यकुशलता और प्रभाविता की घोषणा करने वाले काफी विज्ञापन निकाले और इस प्रकार लक्षित रूप में पुनर्राष्ट्रीयकरण के खिलाफ तर्क पेश किया। हाँ, उन्होंने पाठकों को ऐसा उपदेश नहीं दिया कि वे किसके खिलाफ वोट दें।

१९५९ ई० के चुनाव में लेबर दल की जो करारी हार हुई, उसका यह अर्थ लगाया जाता है कि इस्पात-उद्योग के पुनर्राष्ट्रीयकरण का मामला अनिश्चित समय तक के लिए दफना दिया गया है। कंजरवेटिव दल की जीत के बाद छह महीने में इस्पात कंपनियों के शेयरों के दाम ९० प्रतिशत तक बढ़ गए और व्यक्तिगत कंपनियाँ बदली हुई इस्पात की निवेश हैसियत से लाभ उठाने के लिए पूँजी विस्तार में पैसा लगाने की आयोजनाएँ बनाने लगीं। बताया गया कि १९६० ई० में लोहा और इस्पात धारण एवं वसूली अधिकरण बहुत बड़ी रिचार्ड थोमस और बाल्डविंस इस्पात कंपनी की ईक्विटी प्रतिभूतियों को बाजार में बेचने की तैयारी कर रहा था और साथ ही छोटी-छोटी कंपनियों की ईक्विटी प्रतिभूतियों को भी। साथ ही वह उम्मीद कर रहा था कि दूसरी कंपनियों के अपने अधिमान स्टॉक और बंधपत्रों के धारणों की बिक्री निकट भविष्य में कर सकेगा।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. परिवहन का राष्ट्रीयकरण किस रूप में उद्योग के एकीकरण के बारे में समाजवादियों की इच्छा से संबद्ध था?

२. क्या इस नतीजे पर पहुँचना सही होगा कि परिवहन का राष्ट्रीयकरण एक प्रवृत्ति का अंतिम चरण था?

३. उस संगठन की मुख्य-मुख्य बातें क्या हैं, जिसके जरिए परिवहन उद्योग का प्रबंध चलाया जाता है ? क्या इस प्रबंध व्यवस्था में कर्मचारियों को प्रतिनिधित्व दिया गया है ? क्या परिवहन सुविधाओं का उपयोग करने वाले को भी इसमें प्रतिनिधित्व दिया गया है ?

४. क्या रेलों के लिए मुआवजा बहुत कुछ समाजवादी सिद्धांतों के आधार पर दिया गया था और कोयला खानों के लिए दिए गए मुआवजे की तुलना में भी उसके ज्यादा अनुकूल था ?

५. परिवहन के मामले में किस चीज का राष्ट्रीयकरण किया जाए, इसका निरूपण करने में किस अर्थ में कुछ दिक्कत हुई थी ?

६. कंजरवेटिव सरकार के अधीन परिवहन उद्योग के विराष्ट्रीयकरण और विकेंद्रीयकरण ने उस पर किस तरह प्रभाव डाला है ?

७. राष्ट्रीयकृत रेलों के संचालन के बित्तीय प्रतिफल उनकी संचालन कार्यकुशलता की मात्रा प्रकट करने में किस कारण असफल रहे हैं ?

८. केबुल और रेडियो संचार के राष्ट्रीयकरण के बारे में कौन-कौन सी गैर-आर्थिक बातें महत्त्वपूर्ण तर्क के रूप में पेश की गईं ?

९. सरकारी अर्थ-सहायता और नागर विमानन के बीच क्या संबंध था ?

१०. लोहा और इस्पात के राष्ट्रीयकरण का इतना ज्यादा विरोध क्यों किया गया ?

११. राष्ट्रीयकृत इस्पात-उद्योग और दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बीच बुनियादी संगठनात्मक अंतर क्या था ? यह अंतर क्यों था ?

१२. क्या कंजरवेटिव सरकार इस्पात-उद्योग के विराष्ट्रीयकरण के अपने प्रयास में सफल रही है ? विराष्ट्रीयकरण की मुख्य बाधा क्या थी ?

१३. १९५९ ई० के आम चुनाव में इस्पात-उद्योग का क्या रूप रहा ?

●

अध्याय १९

सामाजिक सुरक्षा और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा

समाजवादी सिद्धांतों और कार्यक्रमों में एक समतावादी दर्शन व्याप्त रहता है, जो उसके नाम के सर्वथा उपयुक्त है। इस दर्शन का संबंध सूत्र ब्रिटिश लेबर दल के जीवन में ओतप्रोत है। संभवतः विचारों की किसी अन्य एक मात्र छाया की अपेक्षा यह बहुत से प्रस्तावों और कार्यक्रमों को जोड़ता है और उनकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। और, सन् १९४५ ई० के वाद उन सरकारी कार्यों की भी, जो लेबर दल का इतिहास बनाते हैं। पिछले अध्यायों में हमने राष्ट्रीयकरण और नियंत्रण के कुछ ऐसे ठोस उपायों का ब्यौरेवार सर्वेक्षण किया है, जो ऊपर से 'ब्रिटिश समाजवाद' का सारांश मालूम पड़ते हैं। इनका अपना समानीकरण का पहलू होता है; क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए, तो ये इस प्रस्तावना पर आधारित हैं कि मनुष्यों के उद्योगों का संचालन मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण के बिना मनुष्य के भले के लिए किया जाना चाहिए—सभी मनुष्यों के लिए, जिनमें प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के बराबर हैं।

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की दिशा में किए गए संगठनात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ अन्य उपाय भी किए गए हैं, जिनका उद्देश्य था कि प्रत्येक व्यक्ति या परिवार को एक सुंदर मानवीय अस्तित्व के अंगभूत आर्थिक लाभ लगातार मिलते हैं। सामान्य बीमा और सहायता तथा समाजीकृत स्वास्थ्य सेवाएँ आश्वासन के प्रमुख तत्त्व हैं। लेबर दल इन कामों के लिए एकमात्र श्रेय नहीं पा सकता; क्योंकि इनका उद्भव उस समतावादी परंपरा में खोजा जा सकता है, जिसमें रसल, टावनी, वेजवुड, हौबसन और अन्य अर्थशास्त्रियों (या संभवतः दार्शनिकों) का बौद्धिक नेतृत्व पा कर हर राजनीतिक प्रकार की ब्रिटिश सरकार के अधीन इन कल्याण-कार्यों का विस्तार किया गया है। १९४५ ई० में लेबर दल द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद ब्रिटिश जीवन की इन प्रवृत्तियों को ज्यादा प्रेरणा मिली।

समाज बीमा और सहायता

पीठिका

१९४८ ई० से पहले तरह-तरह के अधिनियमों ने सामाजिक बीमा और सहायता कार्यों तथा ब्रिटेन में उनके प्रशासन में स्थानीय और राष्ट्रीय अभिकरणों का एक गोरखधंधा खड़ा कर दिया था। कुछ बीमा और सहायता अभिकरण सरकार के अधीन थे। कुछ का पोषण और प्रशासन सरकार एवं निजी सोसाइटियों तथा संगठनों द्वारा मिल-जुल कर चलाया जाता था और निजी दुर्घटना, जीवन स्वास्थ्य आदि ही बीमा कंपनियाँ अलग से काम कर रही थीं। उदाहरण के लिए सामाजिक बीमा के एक रूप बेरोजगार बीमा का प्रशासन स्वयं सरकार बहुत सालों से चला रही थी। १९११ ई० के बाद सरकार से अधिकार प्राप्त करके तरह-तरह की बहुत सी 'अनुमोदित' सोसाइटियाँ पैदा हुईं, जिससे बीमारी, प्रसूति, बुढ़ापा और मृत्यु-जैसी आकस्मिक चीजों के वित्तीय पहलुओं की देखभाल लोग आपस में मिल-जुल कर सकें। इन सोसाइटियों को अपने सदस्यों द्वारा दिए गए पैसे या प्रीमियम की पूर्ति करने के लिए सरकार से भी पैसा मिलता था।

१९४२ ई० में 'बीवरिज प्रतिवेदन' ने सिफारिश की कि ब्रिटिश समाज सेवा योजनाओं को बढ़ाया जाए और उदार बनाया जाए, ताकि प्रत्येक व्यक्ति या परिवार को आकस्मिकता पर बिना ध्यान दिए जीवन से मृत्युकाल तक एक न्यूनतम रहन-सहन स्तर का आश्वासन दिया जा सके। १९४४ ई० की युद्धकालीन मिली-जुली सरकार ने भी बीवरिज प्रतिवेदन को प्रभावी बनाने के लिए जरूरी उपायों के बारे में एक विस्तृत प्रतिवेदन निकाला। इस प्रयोजन से बुनियादी अधिनियम राष्ट्रीय बीमा अधिनियम संसद् ने १९४६ ई० में पास किया और यह धीरे-धीरे लागू हुआ तथा १९४८ ई० तक पूरी तरह लागू हो गया। इस अधिनियम ने नीचे बताए जाने वाले तीन और अधिनियमों के साथ-साथ काफी बिखरे हुए अनेक समाज बीमा और सरकार के दूसरे सहायता कार्यकलापों के एकीकृत प्रशासन के अंतर्गत इकट्ठा किया और उनका इस रूप में एकीकरण किया कि वे जरूरत को पर्याप्त रूप से पूरा कर सकें और पर्याप्त मात्रा में केंद्रीय निदेश के अधीन कार्यकुशल रूप से प्रशासित किए जा सकें। सरकारी बीमा और सहायता अभिकरणों को पेंशन तथा राष्ट्रीय बीमा मंत्रालय के अधीन पुनर्गठित किया गया और इस मंत्रालय के अधीन एक राष्ट्रीय सहायता मंडल इस काम के लिए बनाया गया। 'अनुमोदित सोसाइटियाँ' अपनी अधिकांश आस्थियों के साथ केंद्रीयकृत सरकारी बीमा योजनाओं में विलीन कर दी गईं। हाँ, उनको यह आजादी दी गई कि सरकारी योजनाओं द्वारा

आश्वस्त किए न्यूनतम स्तर के अलावा वे और अधिक आपसी संरक्षण एवं आश्वासन प्रदान करने के लिए काम कर सकती हैं। निजी बीमा कंपनियाँ काम करती रहीं, हालांकि सिद्धांत रूप से लेबर दल इस बात से बचनवद्ध रहा कि आगे चल कर उनका राष्ट्रीयकरण या कम-से कम परस्परीकरण कर दिया जाएगा।

जो चार अधिनियम सरकार के सामाजिक बीमा और सहायता ढाँचे के मूल में हैं, उनका सारांश नीचे दिया जा रहा है : राष्ट्र जीवन में उनका महत्त्व बहुत काफी है, जब जुलाई १९४८ इं० सामाजिक बीमा और सहायता-कार्यों का यह निकाय पूरी तरह काम करने लगा, तो लेबर दल के प्रधान मंत्री ने उस घटना को ब्रिटिश इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय बताया था। उनका कहना था कि 'वे निर्धनता की जड़ को ही काटते हैं और हमारे इतिहास में पहली बार उस न्यूनतम जीवन-स्तर की व्यवस्था करते हैं, जिसके नीचे कोई नहीं गिर सकता।' उन्होंने कहा "हमारे यहाँ के सामाजिक न्याय के अग्रणी नेताओं के प्रेरणापूर्ण सपनों को बड़े ही प्रगतिपूर्ण और सामाजिक विधानों में कार्यान्वित कर दिया गया है, जैसा दुनिया के किसी भी दूसरे हिस्से में किया गया है ····, ।"[1]

अधिनियम

राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (१९४६) : यह १९४८ ई० में पूरी तरह से चालू हुआ और स्कूल की आयु से ऊपर के प्रायः सभी लोगों को इसके अधीन समेट लिया गया है हालांकि बाद के अधिनियमों द्वारा इसमें संशोधन किए गए हैं, फिर भी इसके बुनियादी सिद्धांत और व्याप्ति वही है, जो मूल रूप में थी।[2] एक अनिवार्य अंशदान (या प्रीमियम) या तो व्यक्ति द्वारा एक कर्मचारी के रूप में दिया जाता है और उसकी अनुपूर्ति में उसके मालिक द्वारा भी एक अंशदान दिया जाता है या (कुछ

---

[1] राबर्ट ए० ब्रेडी, क्राइसेस इन ब्रिटेन, केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, १९५० ई०, पृष्ठ ३३५, ३३७ पर उद्धृत।

[2] इस ओर दूसरे समाज के बीमा अधिनियमों का सारांश बनाते समय धन-संबंधी अंशदानों (प्रीमियमों) और लाभों को नहीं लिया गया है, ये समय-समय पर अधिनियम में होने वाले हेरफेर के कारण बदलते रहते हैं। १९५९ ई० के अंशदान और लाभ 'ब्रिटेन–ऐन आफिसियल हैंड बुक, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस १९५९ ई०, पृष्ठ १३५, १३८ पर देखे जा सकते हैं। कर्मचारियों के अंशदान ब्रिटिश उद्योगों के व्यक्तियों के औसत उपार्जन के लगभग ३–४ प्रतिशत तक आए हैं और कर्मचारियों एवं मालिकों के मिले-जुले अंशदान औसत उपार्जन के लगभग ७ प्रतिशत तक। १९६१ तक अपेक्षित अंशदान प्रति हफ्ते सीधी रकम में बता दिए जाते थे। और फलतः उनके लिए कम वेतन वाले कर्मचारियों को ज्यादा वेतन वाले कर्मचारियों के उपार्जनों की तुलना में ज्यादा प्रतिशत देना पड़ता था। १९६१ ई० से इसमें एक परिवर्तन किया गया, जिसे मूल में दिया गया है।

ज्यादा अंश दान) उस व्यक्ति द्वारा आत्मनियोजित व्यक्ति के रूप में दिया जाता है या (कुछ कम अंशदान) बेरोजगार व्यक्ति द्वारा दिया जाता है। कर्मचारियों को छोड़ कर बाकी सभी लोग वार्षिक आय से एक निश्चित रकम से कम होने पर इससे छूट पा सकते हैं। विवाहित स्त्रियाँ जो घर के कामों में ही लगी रहती हैं, कुछ अपवादों को छोड़ कर, अपने ही अधिकार से इस बीमा प्रणाली के अधीन नहीं आतीं। अंशदान डाकघर से टिकट खरीदकर उनको एक अंशदान पत्रक पर चिपका कर किया जाता है। यह जिम्मेदारी मालिक की है कि कर्मचारी के कार्ड पर टिकटों को खरीद कर चिपकवाए और कर्मचारी का हिस्सा उसके वेतन में से काट ले। आत्मनियोजित और बेरोजगार व्यक्ति अपने कार्डों पर टिकट स्वयं चिपकाते हैं। बीमाकृत व्यक्ति जब उसके लाभ उठा रहा होता है, उस समय उस पर कोई भी अंशदान देने का दायित्व नहीं आता। इन सूत्रों से प्राप्त राष्ट्रीय बीमा प्राप्तियों की पूर्ति राजकोष द्वारा काफी मात्रा में अंशदान दे कर की जाती है।

इन अंशदानों के भुगतान की एवज में बीमाकृत व्यक्ति को कर्मचारी होने पर नीचे लिखी हालतों में लाभ प्राप्त करने का अधिकार है "अगर बीमार हो, तो कर्मचारी को एक बुनियादी लाभ मिलता है और प्रत्येक वयस्क आश्रित के लिए तथा स्कूल जाने की आयु के पहले बच्चे के लिए अतिरिक्त लाभ दिए जाते हैं।"[1] अगर अंशदान १३ साल से कम समय के लिए दिए गए हैं, तो बीमारी लाभ की अवधि एक साल तक सीमित रहती है। लेकिन, अंशदान १३ साल या ज्यादा सालों तक चुकाए गए हैं, तो लाभ बीमारी के दौरान मिलते रहते हैं। कभी-कभी बीमारी लाभ पाने वालों की संख्या दस लाख के ऊपर तक पहुँच गई है। अगर कर्मचारी बेरोजगार हो जाता है, तो वही लाभ दिए जाते हैं, जो बीमारी में दिए जाते हैं। बेरोजगारी लाभ देने के लिए सप्ताहों की संख्या पर एक अवधि होती है लेकिन अगर बेरोजगार व्यक्ति काफी मात्रा में अंशदान दे चुका होता है, तो और अगर वह भूतकाल में बहुत ज्यादा लाभ भुगतान नहीं प्राप्त किए होते हैं, तो इस अवधि को और भी बढ़ा दिया जाता है। अगर स्थानीय प्रशासक अधिकरण समय-वृद्धि की सिफारिश करे, तो अधिकार खतम हो जाने पर भी अवधि को और आगे बढ़ाया जा सकता है। बीमाकृत स्त्री को प्रत्येक बच्चे के जन्म के समय एक आर्थिक लाभ

---

[1] पहले बच्चे के अलावा किसी और बच्चे के लिए अतिरिक्त लाभ नहीं दिया जाता; क्योंकि ऐसे अतिरिक्त बच्चों के लिए परिवार भत्ते का भुगतान किया जाता है। अगर बीमार कर्मचारी आश्रित पत्नी और स्कूल-आयु के पहले बच्चे वाला पति है, तो इन उपबंधों के अधीन कुल बीमारी लाभ ब्रिटिश उद्योग में पुरुष कर्मचारी के औसत उपार्जन के लगभग ३५ प्रतिशत तक भी दिए जा सकते हैं।

चुकाया जाता है और जो स्त्रियां रोजगार वाली होती हैं, उनको सीमित अवधि के लिए अतिरिक्त प्रसूति भत्ता दिया जाता है। एक बीमाकृत कर्मचारी व्यक्ति की विधवा को एक विधवा भत्ता दिया जाता है, जिसका पैमाना उसकी उम्र के हिसाब से बनाया जाता है और इसमें इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि इसके स्कूल-आयु के बच्चे हैं या नहीं, विधवा होने के समय तक उसके विवाह को कितने साल हो चुके थे और वह अपनी मदद आप करने लिए समर्थ है या असमर्थ। बीमाकृत जनक के अनाथ बच्चे के अभिभावक को भी तब तक लाभ मिलता रहता है, जब तक बच्चा स्कूल-आयु का नहीं हो जाता और अभिभावक के परिवार में रहता है।

बीमाकृत व्यक्ति को ६५ वर्ष (स्त्री के मामले में ६० वर्ष) आयु प्राप्त करने पर और नौकरी से सेवा-निवृत्त होने पर बाकी जीवन के लिए एक साप्ताहिक पेंशन प्राप्त करने का अधिकार है, जिसके साथ-साथ आश्रित पत्नी के लिए एक पूरक रकम भी मिलती है। ७० वर्ष की आयु में (स्त्रियों के मामले में ६५ वर्ष) वे लाभ और बढ़ जाते हैं। तथापि प्रत्येक बीमाकृत व्यक्ति को अपने सेवा-निवृत्ति-लाभ ६५ वर्ष की उम्र के बाद भी स्थगित करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता है तथा इसके लिए यह व्यवस्था है कि ७० वर्ष की आयु तक प्रत्येक साल के ऐसे स्थगन के लिए पेंशन की रकम में काफी वृद्धि कर दी जाती है और ७० वर्ष की आयु के बाद व्यक्ति सेवा-निवृत्त हो या न हो, पेंशन दी जाने लगती है। अप्रैल १९६१ ई० से शुरू करके प्रभावतः कुछ न्यूनतम पूरक पेंशन योजना न रखने वाले मालिकों कर्मचारियों के लिए भूतकाल के सीधे साप्ताहिक पेंशन लाभ एक क्रमिक पेंशन बन जाते हैं। ऐसे कर्मचारियों के लिए साप्ताहिक पेंशन पिछले उपार्जनों पर आधारित होती है और कर्मचारियों एवं मालिकों के सेवा की निवृत्ति से पूर्व के अंशदान तदनुसार क्रमिक रूप से दिए जाते हैं। एक बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर एक मृत्यु-अनुदान भी दिया जाता है।

ये लाभ कर्मचारियों को दिए जाते हैं। आत्मनियोजित व्यक्ति भी यही लाभ प्राप्त करते हैं, केवल बेरोजगारी लाभ उनको नहीं मिलते। बाकी सभी बीमाकृत व्यक्ति अर्थात बेरोजगार व्यक्ति भी यही लाभ प्राप्त करते हैं, केवल बीमारी और बेरोजगारी लाभ तथा प्रसूति भत्ते इनको नहीं मिलते।

राष्ट्रीय बीमा (औद्योगिक चोट) अधिनियम (१९४६) : राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (उपर्युक्त) में शामिल मालिक और कर्मचारी से जो अंशदान आता है, उसकी पूर्ति राजकोष से प्राप्त अंशदान से की जाती है और विशिष्ट उद्योगों में रोजगार से संबंधित कुछ बीमारियों और रोजगार के सिलसिले में आकस्मिक चोटों के लिए बीमाकृत व्यक्तियों को लाभ मिलते हैं। औद्योगिक दुर्घटना या बीमारी के

कारण अक्षम हुए व्यक्ति को पहले २६ हफ्तों के लिए बीमाकृत व्यक्ति को एक चोट-लाभ दिया जाता है तथा एक वयस्क आश्रित के लिए यदि कोई होता तथा सबसे बड़े बच्चे के लिए एक भत्ता दिया जाता है। जब चोट का लाभ खत्म हो जाता है और अगर बीमाकृत व्यक्ति अब भी पूरी तरह या आंशिक रूप से अक्षम बना रहता है, तो उसको मेडिकल बोर्ड द्वारा निश्चित की गई रकम नियोग्यता लाभ के रूप में मिलती है, जो अक्षम कर्मचारी के अस्पताल में रहने, उसकी देखभाल के लिए किसी परिचर के जरूरी होने, उसके स्थायी रूप से अक्षम हो जाने या एक तुलनीय व्यवसाय में उसके स्थायी रूप से अक्षम हो जाने के अनुसार भिन्न-भिन्न मात्रा में रहती है। औद्योगिक दुर्घटना या बीमारी के कारण मृत्यु होने पर मृत्यु-लाभ कर्मचारी के आश्रितों को दिए जाते हैं और इसकी रकम संबंधी की निकटता तथा बीमाकृत व्यक्ति के जीवनकाल में उसके ऊपर उसकी आश्रिता की पूर्णता की मात्रा पर निर्भर रहती है।

राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (१९४८) : जरूरतमंद लोगों को मदद देने की यह राष्ट्रीय योजना उन विभिन्न सहायता योजनाओं की जगह पर बनाई गई है, जो राष्ट्रीय और स्थानीय अधिकारियों द्वारा संचालित की जा रही थीं। इसके अधीन जो लाभ दिए जाते हैं, उनका वित्त पोषण पूरी तरह से सरकारी पैसे से किया जाता है और यह योजना उन जरूरतों की देखभाल के बनाई गई है, जो किसी दूसरी बीमा और सहायता सेवाओं के अधीन नहीं आती। राष्ट्रीय सहायता मंडल इस अधिनियम के संचालन को प्रशासित करता है, जबकि स्थानीय अधिकारियों को इस अधिनियम के अधीन बूढ़े, अपाहिज और दूसरे जरूरतमंद लोगों के लिए रहने की व्यवस्था करने तथा अंधों, गूंगों, बहरों, लूले-लंगड़ों और दूसरे बाधित व्यक्तियों को मदद देने की सेवाओं के लिए जिम्मेदार बनाया गया है। इस अधिनियम के अधीन अपने जनकों को मदद देने या आंशिक मदद देने में लड़कों की योग्यता की परवाह किए बिना सहायता दी जाती है। बहुत से सहायता-अनुदान जरूरत के आधार पर बीमा योजनाओं के अधीन प्राप्त होने वाले लाभों की अनुपूर्ति के रूप में प्रदान किए जाते हैं। १९५९ ई० में लगभग १७.५० लाख व्यक्तियों को अनुदान मिले।

परिवार भत्ता अधिनियम (१९४५) : यह अधिनियम १९४५ ई० लेबर सरकार द्वारा पद-भार सँभालने से थोड़े ही पहले सरकार द्वारा पास किया गया था। इसमें प्रत्येक बच्चे के लिए प्रत्येक परिवार को साप्ताहिक लाभ देने की व्यवस्था की गई है, केवल उस पहले बच्चे को नहीं जोड़ा जाता, जो १५ साल की उम्र से कम है या १९५६ ई० के संशोधन के अनुसार १८ साल से कम है, पर एक पूर्ण-

कालिक छात्र है। सन् १९५६ ई० के संशोधन ने तीसरे और बाद के बच्चों के लिए दूसरे बच्चे की अपेक्षा लाभों को बढ़ा दिया। राष्ट्रीय बीमा अधिनियम के अधीन चुकाए जाने वाले अंशदान का कोई हिस्सा इस लाभ की लागत की पूर्ति में नहीं लगाया जाता और इसकी लागत पूरी तरह से राजकोष द्वारा ही उठाई जाती है। परिवार भत्ते का अभिप्राय एक बच्चे से ज्यादा बच्चों वाले परिवारों के आम लाभ के लिए शुरू किया गया है। और यह बात खास तौर पर ध्यान में रखनी चाहिए कि यह एक बच्चे से ज्यादा वाले प्रत्येक आवेदक परिवार को उसकी आर्थिक हैसियत का ख्याल बिना रखे ही दिया जाता है। १९५९ ई० में लगभग ३५ लाख ब्रिटिश परिवार इस लाभ को प्राप्त कर रहे थे।

इस सामाजिक बीमा और सहायता योजना की कुछ मुख्य-मुख्य बातों पर चलते-चलते ध्यान दिया जा सकता है। इसका केवल राष्ट्रीय सहायता अंश जरूरत पर आधारित है। राष्ट्रीय बीमा अधिनियम के अधीन चुकाए जाने वाले लाभ और राष्ट्रीय बीमा (औद्योगिक चोट) अधिनियम के अधीन चुकाए जाने वाले लाभ बीमाकृत व्यक्ति के साथ उसके अंशदान देने पर हुए बीमा-संबंधी करार के कारण बीमाकृत व्यक्ति के प्रति बीमा निधियों के दायित्व माने जाते हैं। परिवार भत्ता अधिनियम पहले बच्चे के बाद हर बच्चे के लिए सरकारी निधि से एक मामूली-सा उपदान दिया जाता है और वह गरीब और परिवारों को एक रूप मिलता है। हालांकि इन विधानों के अधीन मिलने वाले लाभों का स्वरूप जटिल है, फिर भी प्रीमियम के भुगतान का तरीका बड़ा आसान है। बीमाकृत व्यक्ति हर हफ्ते एक प्रीमियम देता है, जो उसके कर्मचारी होने पर उसके मालिक द्वारा ली जाती है और मालिक भी हर कर्मचारी के लिए हर हफ्ते एक प्रीमियम देता है। परिवार भत्ते और राष्ट्रीय सहायता किसी बीमा सिद्धांत से पूर्णतः असंबद्ध है, ऐसा माना जाएगा। लेकिन, दोनों राष्ट्रीय बीमा योजनाओं के मामले में लाभ और प्रीमियम के बीच परस्पर कुछ जीवनांकिक संबंध होता है। तथापि यह उम्मीद और यह वास्तविकता कि ये 'बीमा' योजनाएँ राजकोष से काफी अंशदान दे कर शोधन क्षम रखी जाएंगी, इससे ही इस बात का संकेत मिलता है कि ऐसा कोई अभिप्राय नहीं है कि बीमाकृत लोगों का कोई वर्ग या वर्ग के रूप में सभी बीमाकृत व्यक्ति मिल कर कुल इतना अंशदान देंगे कि योजना की जीवनांकिक लागत पूरी हो जाए।[1] अगर कोई लेबर सरकार

---

[1] राष्ट्रीय बीमा योजना के अधीन दिए जाने वाले लाभों का लगभग एक तिहाई हिस्सा राष्ट्रीय-बीमा को राजकोष से दिए जाने वाले विनियोजन से पूरा किया जाता है। इसके द्वारा और काफी मात्रा में दिए नाने वाले राष्ट्रीय सहायता अनुदानों के द्वारा, जो राष्ट्रीय बीमा लाभों के पूरक होते हैं या उनके बदले में दिए जाते हैं और बहुत से परिवार भत्तों द्वारा, जो सीधे

फिर इन योजनाओं को चलाने के लिए जिम्मेदार बना दी जाती है, तो वह फिर सरकारी पैसे से चुकाई जाने वाली लागत को बढ़ाने की दिशा में निस्संदेह कदम बढ़ाएगी और इस तरह वह सभी व्यक्तियों के लिए न्यूनतम जीवन-स्तर बनाए रखने की लागत राष्ट्रीय आय का एक प्रत्यक्ष पहला प्रभार बना देगी।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा

पीठिका और उद्देश्य

सन् १९४५-१९५१ ई० की लेबर सरकार के कार्यक्रम के इस अंश पर संभवतः संयुक्त राज्य अमेरिका में उस कार्यक्रम के किन्हीं दूसरे अंशों की तुलना में कहीं ज्यादा व्यापक रूप से चर्चा की गई है। इसके बारे में बहुत सारी गलत सूचना का भी प्रचार किया गया है और इसके प्रस्तावक एवं विरोधी एकदम मंजूरी में सिर हिला कर या बिलकुल नकारात्मक रूप में घृणा के साथ सिर हिला कर इससे छुट्टी पा लेते हैं जो कि स्वास्थ्य योजना के बड़े ही जटिल स्वरूप के कारण बिलकुल अनपेक्षित लगता है। इस चर्चा में हमारा उद्देश्य यह पता लगाना होगा कि योजना का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, कि इस प्रकार इसके जटिल हिस्से संचालित किए जाते हैं और इसकी कुछ चालू समस्याएँ क्या हैं? हम उसके ऊपर कोई अंतिम निर्णय देने का प्रयास न करेंगे।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा केवल इस अर्थ में एक राष्ट्रीयकरण प्रायोजना है कि पहले स्वैच्छिक संगठनों और स्थानीय सरकार द्वारा संचालित लगभग सभी अस्पताल अब राष्ट्रीय सरकार के स्वामित्व और संचालन में आ गए हैं। वस्तुतः राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा राष्ट्र की स्वास्थ्य सुविधाओं का समुदायीकरण है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम का, जो सन् १९४६ ई० में पास हुआ और १९४८ ई० में चालू हो गया, बताया गया उद्देश्य एक विशद स्वास्थ्य सेबा की स्थापना करना है, जिससे लोगों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुधारा जा सके और निःशुल्क बीमारी को रोका जा सके, निदान किया जा सके तथा उसका इलाज किया जा सके।[१] व्यवहार में इसका मतलब यह रहा कि ब्रिटेन के प्रत्येक निवासी के लिए नीचे लिखी सेवाओं और सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। पर, सामान्य डाक्टरों की, दाँत के डाक्टरों की चिकित्सा के विशेषज्ञों की और दवाइयों की सेवाओं की व्यवस्था, अस्पताल में रहने, शल्य-चिकित्सा, एक्स-रे, शारीरिक चिकित्सा,

---

सरकारी पैसे से ही चुकाए जाते हैं, मोटे तौर पर उस मात्रा का पता चल जाता है, जहाँ तक बीमा का खंड ब्रिटेन की जनता को प्राप्त सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में असफल रहता है।

[१] राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम, लंदन एच० एम० स्टेशनरी दफ्तर, १९४०, धारा १।

मानसिक स्वास्थ्य सेवा, सुनने में सहायक उपकरणों, कृत्रिम अंगों, बालों की टोपियों (किसी दुर्घटना या शरीर विक्रिया के कारण जरूरी होने पर), घर में जाकर नर्सों की सेवा, एम्बुलेंस सेबा, रक्त प्रदान करना और अनेक छोटी मोटी सेवाओं की व्यवस्था की गई है। नीचे लिखी चीजें नाममात्र के या मामूली शुल्क पर दी जाती हैं : चश्मे, नकली दाँत और दवाओं के प्रेस्क्रिप्शन। इस सेवाओं और सुविधाओं की लागत का लगभग ८० प्रतिशत सीधे राष्ट्रीय राजकोष से चुकाया जाता है। लगभग २ या ३ प्रतिशत कुछ स्थानीय स्वास्थ्य सेवाओं के पोषण के लिए स्थानीय करों से और लगभग १० प्रतिशत राष्ट्रीय बीमा कोष से, जो नियमित रूप से राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में बिनियोजन देता जाता है।[1] बाकी ५ प्रतिशत या लगभग उपर्युक्त सेवा का उपयोग करने वालों से नाम मात्र या मामूली सा शुल्क लेकर पूरा किया जाता है। ब्रिटेन का प्रत्येक निवासीं जिसमें अल्प समय से ज्यादा दिनों तक रहने वाले विदेशी यात्री भी शामिल हैं; उन सभी सेवाओं को प्राप्त कर सकते हैं। सरकार के एक प्रतिनिधि द्वारा जैसा कि उपयुक्त रूप में एक बार कहा गया था, राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा 'उसी रूप में सरकारी खर्च है, जैसे सड़क का रख-रखाव और प्रत्येक निवासी बिना किसी जाँच के उसका उपयोग कर सकता हैं (अर्थात् चुकाने की अयोग्यता सिद्ध किए बिना)'[2]।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम के पास होने से पहले, राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारें बहुत समय से स्वास्थ्य सुधार उपायों को काफी मात्रा में बढ़ाती चली आ रही थीं। स्थानीय सरकारों ने अस्पताल सुविधाओं, घरेलू नर्स सेवा, स्कूल के बच्चों के लिए चिकित्सा और दाँतों की देखभाल एवं दूसरी सेवाएँ विकसित की थीं, जो शुल्क चुकाने की अपेक्षा जरूरत के आधार पर ही दी जाती थीं। १९११ ई० में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम द्वारा कर्मचारियों और उनके मालिकों से मिलने वाले अनिवार्य अंशदान के आधार पर कम आय के परिवारों के लिए निःशुल्कः चिकित्सा सेवाओं की व्यवस्था की गई और इसके लिए राजकोष से अनुदान लेकर पूर्ति की जाती थी। तथापि जनसाधारण के अधिकांश समूह के लिए सामान्य चिकित्सा और दाँतों-संबंधी सेवाओं की व्यवस्था निजी रूप से की जाती थी। कम आय वाले लोगों को यद्यपि परोपकारी अस्पतालों या क्लीनिकों या चिकित्सा स्कूलों के जरिए सीमित मात्रा में चिकित्सा-विशेषज्ञों और अस्पतालों की सेवाएँ मिल जाती थीं, ये भी जनसमूह के लिए तभी काफी मात्रा में और अच्छी किस्म

---

[1] सेवा द्वारा दिए जाने वाले लाभ राष्ट्रीय बीमा योजना के अधीन बीमाकृत व्यक्तियों तक सीमित नहीं है।

[2] रॉबर्ट ए० ब्रेडी; पूर्वोक्त, पृष्ठ ३५४ पर उद्धृत।

में उपलब्ध थी, जब किसी के पास उनके लिए देने को पैसा होता था।

लेबर सरकार ने १९४६ ई० में अपनी राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा प्रस्तुत करते समय ऐसी स्थिति पाई थी जिसमें उसने आमूल परिवर्तन किए और ब्रिटेन निवासियों को अपना स्वास्थ्य बनाए रखने और रोगों का इलाज करने के लिए जो भी चिकित्सा सेवाएँ या सुविधाएँ जरूरी थीं, वे (व्यवहारतः) निःशुल्क आधार पर प्रस्तुत कीं। इन सेवाओं को जन्म देने वाले विधेयक का संसद् में मात्र सांकेतिक विरोध किया गया। विरोधी पक्ष ने राष्ट्रीय, विशद् शत-प्रतिशत स्वास्थ्य सेवा के सिद्धांत को स्वीकार किया।[1] तथापि विघेयक का विरोध और उसके पास होने के बाद स्वास्थ्य मंत्री द्वारा उसके प्रभावी बनाए जाने पर उसके उपबंधों का विरोध ब्रिटिश चिकित्सा संघ द्वारा किया गया। विधेयक के पूरी तरह प्रभावी होने से थोड़ा ही पहले संघ ने इसको निरर्थक बनाने की धमकी सेवा में अपने सदस्यों के भाग न लेने की बात कह कर दी। जब मंत्री द्वारा संघ को कुछ आश्वासन दिए गए, तो चिकित्सा व्यवसाय सेवा के बनाए जाने में सहयोग देने को तैयार हो गया और इस समय थोड़े से लोगों को छोड़ कर चिकित्सा और दाँत-चिकित्सा के सभी डाक्टर इस सेवा के सदस्य हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का संगठन और संचालन

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा बड़ी विस्तृत और पेचीदी है और इसके सभी पहलुओं का पर्याप्त विवरण देना आसान नहीं है। आरेख- १ में सेवा का संगठनात्मक खाका दिया जा रहा है, जिसमें अनेक ब्यौरे नहीं आए हैं। राष्ट्रीयकृत उद्योगों की ही तरह, स्वास्थ्य मंत्री के रूप में एक मंत्री सेवा के समग्र संचालन के लिए जिम्मेदार है और वह फिर मंत्रिमंडल के सदस्य के नाते संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं। मंत्री की मदद के लिए उसके द्वारा नियुक्त की जाने वाली एक सलाहकार केंद्रीय स्वास्थ्य सेवा परिषद् है, जिसमें चिकित्सा और दंत चिकित्सा व्यवसायों, अस्पताल प्रबंध, स्थानीय सरकार ने अधिकारी नर्सों, दाइयों और भेषज बनाने वालों के लगभग ४० प्रतिनिधि होते हैं। इसका कार्य सेवा के सभी पहलुओं के बारे में मंत्री को सलाह देना होता है और समय-समय पर उसकी कार्यकुशलता पर प्रभाव डालने वाली समस्याओं के बारे में प्रतिवेदन प्रकाशित करना होता है। कृत्यकारी दृष्टि से देखें, तो राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा और उसके कार्य-संचालन का ठीक-ठीक विवरण उसके तीनों हिस्सों में से प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करके दिया जा सकता है। यह वर्णन वर्त्तमान काल में है; क्योंकि

---

[1] तदेव में उद्धृत, पृष्ठ ३६९। संसद् में इस विधेयक के प्रस्तुत होने से पूर्व की घटनाओं और उस पर हुई वहस का ब्यौरा इसी स्रोत में 'देखा जा सकता' है।

ब्यौरों में परिवर्तन के अलावा यह सेवा संगठन और संचालन में प्रायः उसी रूप में बनी हुई है, जिस रूप में उसे लेबर सरकार द्वारा स्थापित किया गया था।

अस्पताल और विशेषज्ञ : ब्रिटेन के लगभग सभी तीन हजार अस्पताल सरकार के स्वामित्व में हैं और उनका प्रबंध-संचालन स्वास्थ्य मंत्री द्वारा किया जाता है। राष्ट्र को १५ प्रदेशों में इस तरह विभाजित कर दिया गया है कि प्रत्येक प्रदेश में एक काफी समय से स्थापित चिकित्सा विद्यालय है, जो उस प्रदेश में चिकित्सा-संबंधी प्रगति की जानकारी के विस्तार और अनुसंधान केंद्र के रूप में काम करता है। हर प्रदेश में प्रबंध के प्रयोजन से अस्पतालों को दो वर्गों में बाँटा गया है : (१) सामान्य सेवाएँ प्रस्तुत करने वाले और चिकित्सा विद्यालयों से असंबद्ध (शिक्षण न देने वाले अस्पताल), (२) वे अस्पताल जो कि प्रदेश के चिकित्सा विद्यालय से निकट से जुड़े हुए हैं (शिक्षण देने वाले अस्पताल)।[1] शिक्षण न देने वाले अस्पतालों का प्रत्येक प्रदेश में संचालन एक प्रादेशिक अस्पताल मंडल द्वारा किया जाता है, जो मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता है और जिसकी नियुक्ति उसके द्वारा प्रदेश के सभी अभिरुचि लेने वाले संगठनों के साथ परामर्श करने के बाद की जाती है। प्रत्येक प्रादेशिक अस्पताल मंडल को मंत्री द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा निधि में से आवंटन दिया जाता है, जिससे वह अपने अधिकार क्षेत्र के अस्पतालों के संचालन का व्यय चुका सके। यह प्रत्येक अस्पताल के चोटी के चिकित्सकों को नियुक्त करता है, अस्पताल की इमारतों और साज-सामान के रख-रखाव के काम को देखता है और अपने परिवेक्षण में आने वाले अस्पतालों की प्रक्रिया तय करता है।

प्रत्येक प्रादेशिक अस्पताल मंडल कुछ केंद्रीयकृत अस्पताल सेवाओं जैसे रक्त बैंक और विशेष एक्स-रे उपकरण की व्यवस्था पूरे प्रदेश के उपयोग के लिए करता है। प्रत्येक प्रादेशिक अस्पताल मंडल के अधीन कई-कई अस्पताल समितियाँ होती हैं, जो या तो एक अस्पताल या कुछ मामलों में अस्पतालों के एक वर्ग के ब्यौरेवार दैनंदिन प्रशासन के लिए जिम्मेदार होती हैं। ऐसी प्रत्येक समिति की सदस्य-संख्या १५ से २० तक होती है और यह माना जाता है कि वह स्थानीय समुदाय की प्रतिनिधि होगी। यह समिति पूर्णकालीन प्रशासनिक कर्मचारियों को चुनती है, जो अस्पताल का कार्य-संचालन करते हैं। प्रत्येक प्रदेश के शिक्षण देने वाले अस्पताल (या अस्पतालों) का प्रबंध मंत्री द्वारा नियुक्त किए गए शासी मंडल द्वारा चलाया

---

[1] पूरे ब्रिटेन में लगभग १४० 'शिक्षण देने वाले' अस्पताल हैं, जिनका साज-सामान और कर्मचारी इस दृष्टि से जुटाए गए हैं कि वे चिकित्सा शिक्षा में उपयोगी रहें। चिकित्सा विद्यालय १९४६ से पहले के ही प्रशासकों के अधीन चले आ रहे हैं। प्रत्येक का अपना शासीनिकाय है, लेकिन वह सरकार से पैसे का अनुदान प्राप्त करता है।

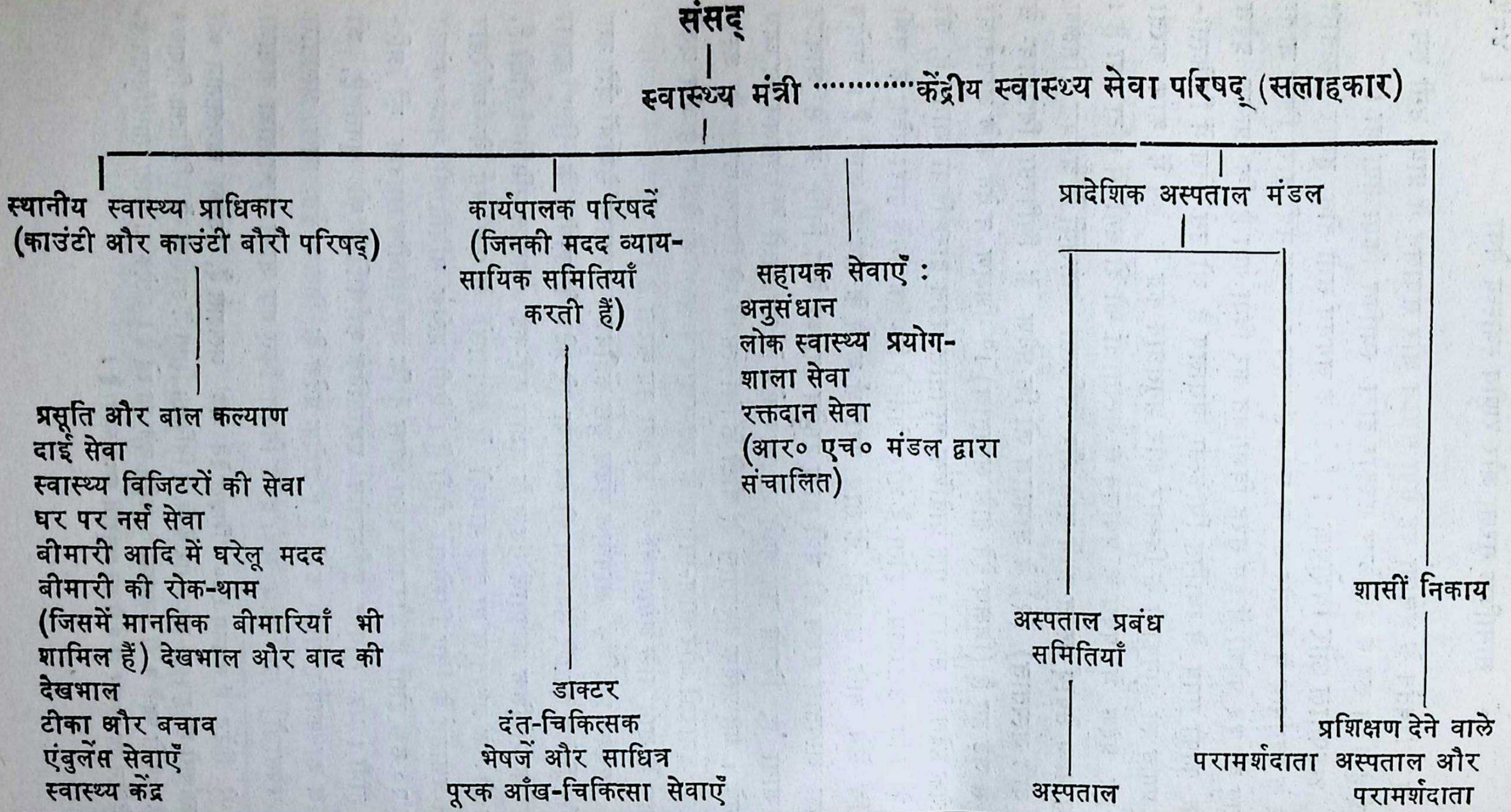
संसद्
स्वास्थ्य मंत्री ....केंद्रीय स्वास्थ्य सेवा परिषद् (सलाहकार)
स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार (काउंटी और काउंटी बौरो परिषद्)
कार्यपालक परिषदें (जिनकी मदद व्यायसायिक समितियाँ करती हैं)
सहायक सेवाएँ :
अनुसंधान
लोक स्वास्थ्य प्रयोगशाला सेवा
रक्तदान सेवा (आर० एच० मंडल द्वारा संचालित)
प्रादेशिक अस्पताल मंडल
प्रसूति और बाल कल्याण
दाई सेवा
स्वास्थ्य विजिटरों की सेवा
घर पर नर्स सेवा
बीमारी आदि में घरेलू मदद
बीमारी की रोक-थाम (जिसमें मानसिक बीमारियाँ भी शामिल हैं) देखभाल और बाद की देखभाल
टीका और बचाव
एंबुलेंस सेवाएँ
स्वास्थ्य केंद्र
डाक्टर
दंत-चिकित्सक
भेषजें और साधित्र
पूरक आँख-चिकित्सा सेवाएँ
अस्पताल प्रबंध समितियाँ
अस्पताल
शासी निकाय
प्रशिक्षण देने वाले परामर्शदाता अस्पताल और परामर्शदाता

आरेख—१ ब्रिटेन की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का संगठन (ब्रिटेन एन ऑफिसियल हैंड बुक, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९५९, पृष्ठ १४७।

जाता है, जो सीधे उसके प्रति उत्तरदायी होता है। हर शासी मंडल में चिकित्सा शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों, चिकित्सा विद्यालयों के अध्यापकों और उस प्रदेश के प्रादेशिक अस्पताल मंडल के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक शासी मंडल न केवल उस प्रदेश के शिक्षण देने वाले एक या अधिक अस्पतालों के प्रबंध के लिए ही जिम्मेदार होता है, बल्कि ऐसे अस्पतालों को चिकित्सा शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों और उस प्रदेश की शिक्षण न देने वाली अस्पताल सेवाओं के साथ समन्वय रखने के लिए भी जिम्मेदार होता है।

कोई व्यक्ति अपने सामान्य चिकित्सक द्वारा भेजे जाने पर ही अस्पताल में निदान और चिकित्सा के लिए बाह्य रोगी या भरती रोगी के रूप में पहुँचता है। दोनों बाह्य रोगी और भरती रोगी सेवाएँ निःशुल्क मिलती हैं। हर अस्पताल में एक चोटी का चिकित्सा-निदेशक और शल्य-चिकित्सकों समेत विशेषज्ञों (परामर्शदाताओं) का समूह होता है। एक बार किसी अस्पताल में या उसके द्वारा इलाज के अधीन आ जाने पर रोगी इन विशेषज्ञों में से एक या अधिक की देखभाल में रहता है। अस्पताल के कर्मचारी वर्ग में विशेषज्ञों और शल्य चिकित्सकों की नियुक्ति या तो पूर्णकालिक आधार पर की जाती है या अंशकालिक आधार पर। पिछले प्रकार के डाक्टरों को राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के बाहर निजी प्रैक्टिस करने की भी आज्ञा होती है और अस्पताल में फीस देने के आधार पर निजी रोगियों को लाने के कुछ अधिकार मिले होते हैं।[1] अस्पताल के कर्मचारी विशेषज्ञों और शल्य-चिकित्सकों को वार्षिक आधार पर वेतन दिए जाते हैं जो (१९६० ई० में नीचे बताए गए संशोधन के किए जाने के बाद) २५०० पौंड से ३९०० पौंड वार्षिक तक होते हैं और जो अनुभव की मात्रा पर निर्भर रहते हैं। इसके अलावा अनुपूरक रूप में व्यक्तिगत मामलों में विशिष्ट सेवा के लिए वार्षिक पुरस्कार भी दिए जाते हैं जो उनकी रकम में काफी वृद्धि कर देते हैं। १९६० ई० से विशेषज्ञों और शल्य-चिकित्सकों को दिए जाने वाला औसत वार्षिक प्रतिकर लगभग ४० हजार पौंड होगा।

स्थानीय सरकार : राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम के अधीन १४६ काउंटी परिषदों और काउंटी बौरो परिषदों को (जो स्थानीय सरकार की बुनियादी इकाइयाँ हैं) स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार बना दिया गया है और उनमें कुछ विशिष्ट स्वास्थ्य-संबंधी कृत्य विहित कर दिए गए हैं। यह स्थानीय स्वास्थ्य सेवा प्राधिकार की

---

१. इन मामलों में 'तथाकथित' सुविधा शय्याओं का उपयोग भी शामिल है जो कि हरेक अस्पताल में थोड़ी संख्या में होती हैं और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के बाहर के निजी चिकित्सकों द्वारा उपयोग के लिए रक्षित रहती हैं और जिनको इस कारण अस्पताल की फीस चुकानी होती है।

जिम्मेदारी है कि जन्म से पूर्व और जन्म के बाद माताओं एवं ५ वर्ष तक बच्चों की चिकित्सा एवं दाँतों की देखभाल उनके अपने नौकर चिकित्सकों द्वारा की जाती है। उनकी जिम्मेदारी प्रमाणित दाइयों और प्रसूति नर्स सेवाओं (अस्पताल में प्रसव करना उन महिलाओं के लिए ही रक्षित रहता है, जिनको विशेष चिकित्सकीय देखभाल की जरूरत होती है, जिनका बच्चा पहला होता है या जो ऐसी जगह रहती है, जहाँ घर की हालत घर में प्रसव के लिए उपयुक्त नहीं होती), घर में बच्चों या रुग्ण व्यक्तियों की देखभाल के लिए सलाह देने वाले स्वास्थ्य विजिटरों, अपने घरों में नर्स सेवा की अपेक्षा करने वाले व्यक्तियों के लिए नर्सों की, टीका लगाने और बचाव की सुविधाओं, एंबुलेंस सेवा, मानसिक रोगियों के लिए अस्पताल से पूर्व और बाद की सहायता, एक रोगी व्यक्ति, नई या प्रत्याशित जननी, मानसिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण व्यक्ति, वृद्ध व्यक्ति, या अनिवार्य स्कूल आयु से कम उम्र के बच्चे के होने के कारण जरूरी घरेलू मदद की व्यवस्था करना भी होता है। स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकारों को यह अधिकार है कि वे धर्मादा, धार्मिक और परोपकारी संगठनों के साथ व्यवस्था करके इन सेवाओं का इंतजाम करें या सीधे उनकी व्यवस्था करें। स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार को घर में दी जानेवाली सहायता के लिए तो थोड़ी-सी फीस लेने की आज्ञा है, लेकिन बाकी सेवाएँ निःशुल्क दी जाती हैं। स्थानीय स्वास्थ्य-अधिकारी इन सेवाओं की लगभग आधी लागत स्थानीय करों द्वारा पूरी करते हैं और मंत्री प्रत्येक प्राधिकार तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा निधि में से बाकी अर्द्धांश चुकाने के लिए एक आबंटन देते हैं।

स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकारों पर यह आरोप लगाया है कि वे एक काम करने में असफल रहे हैं। अधिनियम के अधीन हर प्राधिकार को अपने क्षेत्र में स्वास्थ्य केंद्रों की व्यवस्था करनी थी और उनकी सज्जा तथा रख-रखाव करना था, जहाँ सामान्य चिकित्सक, दंत-चिकित्सक और आँख के डाक्टर अपने दफ्तर खोलते और भेषज बनाने वाले रखे जाते तथा कुछ विशेषज्ञों की सेवाओं एवं छोटे-मोटे शल्य-कार्यों के लिए सुविधाएँ उपलब्ध रहतीं। आशा थी कि इन केंद्रों में चिकित्सक और दंत-चिकित्सक मिलजुल कर एक्स-रे और प्रयोगशाला उपकरण जैसे विशेषीकृत साज-सामान का उपयोग कर सकेंगे। यह भी आशा थी कि ये केंद्र सामान्य स्वास्थ्य संदर्शन के भी केंद्र बन जाएँगे, वास्तव में केवल ६ केंद्र (१९५१ ई० तक अद्यतन) स्थापित किए गए हैं। पहले उनका निर्माण सामग्री और श्रमिकों की कमी के कारण रुका रहा। बाद में बहुत कुछ यह शंका व्यक्त की गई कि सामान्य चिकित्सक या दंत-चिकित्सक अपने रोगियों के घरों से आमतौर पर निकट स्थित अपने दफ्तरों को हटा कर स्वास्थ्य केंद्रों में लें जाएँगे। सफल न हो सकने वाली स्वास्थ्य केंद्र आयोजना को संलग्न आरेख में स्वास्थ्य केंद्रों से निकल कर डाक्टरों, दंत-चिकित्सकों, भेषजों और

साधित्रों एवं पूरक आँख सेवाओं का संकेत के लिए रेखाएँ खींचकर व्यक्त किया गया है।

सामान्य चिकित्सक सेवा : प्रत्येक स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार द्वारा लिए गए क्षेत्र में एक कार्यपालिका परिषद् होती है जिसे सामान्य चिकित्सा, दंत-चिकित्सा और आँख-संबंधी सेवाएँ चिकित्सकों, दंत-चिकित्सकों और आँख-चिकित्सकों द्वारा प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया है। ये सभी राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के सदस्य होते हैं और उसी से वेतन प्राप्त करते हैं। स्वास्थ्य मंत्री परिषद् के सभापति और चार सदस्यों को नियुक्त करते हैं, बाकी सदस्य स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार और स्थानीय चिकित्सक एवं दंत-चिकित्सक, आँख-चिकित्सक तथा भेषज-निर्माताओं के संघों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं; क्योंकि दंत-चिकित्सकों की व्यवस्था चिकित्सा के डाक्टरों के समानांतर चलती है इसलिए बाकी डाक्टर आमतौर पर चिकित्सक के अंतर्गत आ जाते हैं। हर कार्यपालिका परिषद् राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में शामिल होनेवाले चिकित्सकों की एक सूची प्रकाशित करती है और प्रत्येक व्यक्ति को चिकित्सा की सहमति होने पर अपना चिकित्सक चुनने की सुविधा देती है। हाँ, हर एक चिकित्सक की 'सूची' में रोगियों की संख्या के लिए एक विहित सीमा होती है। वह किसी चिकित्सक को (संभवत: उसकी सहमति से) एक ऐसा व्यक्ति भी सौंप देती है, जिसके द्वारा चुना गया चिकित्सक उसको रोगी के रूप में मंजूर करने के लिए असमर्थ या अनिच्छुक है। अधिनियम के प्रभावी होते समय प्रेक्टिस करने वाले चिकित्सक को यह अधिकार था कि उसे अपने प्रैक्टिस के इलाके की सेवा की डाक्टर सूची में शामिल किया जाए। बाद में सेवा की सदस्यता के लिए आवेदन करने वाले सभी चिकित्सकों के (आज लगभग सभी नव शिक्षित चिकित्सकों के) आवेदन एक राष्ट्रीय चिकित्सा प्रैक्टिस समिति द्वारा मंजूर किए जाते हैं। यह अभि-करण किसी भी आवेदक को दिए गए क्षेत्र के लिए इस आधार पर नामंजूर कर सकता है कि उस इलाके में काफी मात्रा में डाक्टर पहले से ही हैं। हाँ, इसकी अपील आवेदक मंत्री तक कर सकता है। इस व्यवस्था के अधीन आवेदक को अपना दूसरा, तीसरा या बाद का विकल्प स्थान के बारे में देने के लिए मजबूर किया जा सकता है और तभी उसे सेवा में प्रवेश किया जाता है। इसके फलस्वरूप पिछली दशाब्दी में 'कम डाक्टरों वाले' क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति रोगियों की संख्या काफी कम हुई है और 'ज्यादा डाक्टरों वाले' क्षेत्रों में प्रति चिकित्सक रोगियों की संख्या बढ़ी है।

इस तरह प्रत्येक कार्यपालिका परिषद् का उद्देश्य होता है कि जो व्यक्ति राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का उपयोग करना चाहता है, उसे अपने द्वारा स्वयं चुने गए

चिकित्सक की रोगी-सूची में शामिल किया जाए और किसी भी चिकित्सक को एक ऐसा रोगी स्वीकार करने के लिए मजबूर न किया जाए, जो समुचित कारणों से उसे स्वीकार नहीं है और सेवा के प्रत्येक चिकित्सक के पास ३,५०० से ज्यादा रोगियों की सूची न रहे। प्रत्यक्ष है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति करीब-करीब पूरी तरह से हो गई है। प्रत्येक चिकित्सक की सूची में औसत से २२०० व्यक्ति हैं और ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि चिकित्सकों को अक्सर अस्वीकार्य रोगी लेने के लिए मजबूर किया जाता है या रोगियों को अक्सर ऐसे चिकित्सकों की सूची में रखा जाता है, जो उनको मंजूर नहीं होते। एक बार एक व्यक्ति जिस डाक्टर की सूची में आ जाता है, तो फिर वह डाक्टर निःशुल्क उसकी सभी सामान्य चिकित्सा-संबंधी देखभाल करता है और जरूरी होने पर उसे विशेषज्ञ या अस्पताल के पास निःशुल्क रूप में भेजता है। चिकित्सक द्वारा लिखी गई पर्ची के अनुसार एक फार्मेसी दवा देती है और व्यवहारतः ये सभी फार्मेसियाँ सेवा की सदस्य हैं। और रोगी से दवा की लागत का मामूली सा हिस्सा लिया जाता है तथा बाकी का भुगतान राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा द्वारा किया जाता है। किसी व्यक्ति चिकित्सक या फार्मेसी से, सेवा में शामिल होने की अपेक्षा नहीं की जाती। जहाँ तक व्यक्तियों का सवाल है, कुल जन-संख्या का ९७ प्रतिशत सेवा में शामिल हो गया है और कुल २६००० सामान्य चिकित्सकों में से ब्रिटेन के लगभग ६०० को छोड़ कर बाकी सब इसमें शामिल हो गए हैं, हालांकि सरकार द्वारा सेवा में शामिल होने के लिए मजबूर नहीं किया जाता लेकिन जब प्रायः प्रत्येक आदमी राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के जरिए अपना इलाज मुफ्त करा सकता है, तो फिर बहुत थोड़े ही चिकित्सक सेवा के बाहर रह सकते हैं। ये डाक्टर बड़ी ज्यादा आय वाले थोड़े से रोगियों की देखभाल करते हैं, जो राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के जरिए निदान और चिकित्सा की कुछ असुविधाओं के कारण एक निजी चिकित्सक के विलास को ज्यादा पसंद करते हैं। सेवा में शामिल डाक्टर को भी अपनी सूची में न आने वाले रोगी का इलाज फीस लेकर करने की आजादी तो होती है, लेकिन इस तरह की 'निजी प्रैक्टिस' बहुत थोड़ी मात्रा में चलती है; क्योंकि लोग आमतौर पर ऐसी चीज के लिए पैसा खर्च नहीं करना चाहते हैं, जो उनको मुफ्त मिल जाती है।

चिकित्सक को अपनी सूची के रोगियों की देखभाल के लिए एक वार्षिक प्रति व्यक्ति फीस दी जाती है। जब यह सेवा चालू हुई, तो यह फीस इतनी कम थी कि सामान्य चिकित्सकों की आय दंत-चिकित्सकों, शल्य-चिकित्सकों और विशेषज्ञों की आय की तुलना में बहुत ही कम थी। सन् १९५२ ई० में सामान्य चिकित्सकों की फीस बढ़ा दी गई। लेकिन, यह चिकित्सकों के लिए असंतोषजनक बनी रही; क्योंकि उनको केवल १९५० ई० की निर्वाह लागत के द्वारा नियंत्रित

स्तर तक ही लाया गया था। १९५२ ई० से समय-समय पर जीवन-निर्वाह लागत काफी बढ़ते जाने के कारण राष्ट्रीय स्वास्थ्य के चिकित्सक और उनके प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश चिकित्सक संघ उनको दिए जाने वाले प्रतिकर में काफी वृद्धि की माँग करते रहे हैं। १९५७ ई० में उनको ५ प्रतिशत की (अंतरिम) वृद्धि दी गई और इस बीच प्रतिष्ठित विशेषज्ञों के एक आयोग द्वारा (जिसका नाम 'पिलकिंगटन आयोग' था) चिकित्सकों की आय का पूरा-पूरा अध्ययन निजी उद्योगों के तुलनीय व्यवसायों के साथ किया गया। ३ साल के अध्ययन के बाद आयोग ने सिफारिश की कि सेवा से संबद्ध सभी चिकित्सकों के लिए सरकार एक नया प्रतिकर माप स्वीकार करती है। इसके अधीन १९६० ई० से प्रभावी होने वाली कुछ नई प्रति व्यक्ति फीसें सामान्य चिकित्सकों के लिए तय की गईं और उससे पहले के समय के लिए कुछ भूत सक्रिय प्रतिकर दिया गया। ये नई वार्षिक दरें इस प्रकार हैं: ५०० तक की सूची वाले चिकित्सकों के लिए प्रति रोगी के लिए १८ शिलिंग के हिसाब से, ५०० से ऊपर और १५०० तक वालों के लिए ३०० शिलिंग तथा १५०० से ऊपर वालों के लिए १८८ शिलिंग। पहले वृद्धि और फिर प्रति व्यक्ति फीस में चिकित्सक की सूची ज्यादा बड़ी होने पर कमी करने का मतलब यह है कि प्रत्येक चिकित्सक को अपने समय का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए जरूरी संख्या स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए तथा उस पर संख्या इतनी ज्यादा कर देने के ऊपर भी दबाव रहे कि जितना कि वह सुविधा के साथ नहीं निबटा सकता। नई अनुसूची में यह अनुमान रखा गया है कि सामान्य चिकित्सक को औसत वार्षिक प्रतिकर २४२५ पौंड दिया जाएगा, जिसमें उनकी सेवा-निवृत्ति-निधि में सरकार के अंशदान शामिल नहीं हैं। इसके अलावा सामान्य चिकित्सक को सेवा से एक वार्षिक खर्च भत्ता भी मिलता है, जो प्रत्येक सामान्य चिकित्सक के औसत खर्च के अनुमान पर आधारित रहता है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के सभी पहलुओं पर प्रतिकर के सभी मापों की ओर हमें इस बात को ध्यान में रख कर देखना चाहिए कि ब्रिटेन का सामान्य आय-स्तर अमेरिका की अपेक्षा काफी कम है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम के पास करते समय ब्रिटेन में यह रिवाज था कि कार्यनिवृत्त होने वाले चिकित्सक या मृत चिकित्सक के उत्तराधिकारियों को चाहिए कि अपनी प्रैक्टिस दूसरे चिकित्सक को, जो संभवत: नया-नया प्रैक्टिस करने के लिए आने वाला है, बेच देगा और यह नया व्यक्ति उसका भुगतान कुछ सालों तक चलने वाली किश्तों में करेगा। इस प्रकार एक सुस्थापित चिकित्सा प्रैक्टिस का कुछ पूँजी मूल्य बन जाता था, जो कार्य-निवृत्त होने वाला चिकित्सक या मृत चिकित्सक की विधवा द्वारा अपने पोषण के एक साधन के रूप में लिया जा सकता था। अधि-

नियम में यह व्यवस्था जरूरी थी कि सेवा में प्रवेश करने वाला चिकित्सक अपनी प्रैक्टिस को न बेच सकेगा। वस्तुतः यह व्यवस्था न भी रखी गई होती, तो भी चिकित्सा सेवा के निःशुल्क उपलब्ध हो जाने पर प्रैक्टिस का अब कोई मूल्य न रहा। इसलिए अपने पूँजी घाटों को पूरा करने के लिए चिकित्सकों के वास्ते प्रतिकर देने के लिए अधिनियम में एक ऐसी नीति की व्यवस्था की गई, जिसमें से ऐसा घाटा उठाने वाले प्रत्येक चिकित्सक को प्रतिकर दिया जाता था। एक बार रकम तय हो जाने पर चिकित्सक का प्रतिकर उसके कार्य-निवृत्त होने पर या उसकी मृत्यु होने पर भी दिया जाता था और अधिनियम की तारीख से उस रकम पर चालू दर से ब्याज भी दिया जाता था।

समस्याएँ

ब्रिटेन में ऐसा कोई भारी बहुमत नहीं है, जो राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा को समाप्त करने या उसमें भारी हेरफेर करने की बात करता हो। ब्रिटिश जनता यह तो मानती है कि सेवा में निरंतर प्रशासनिक सुधार की जरूरत है, लेकिन यह राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के सिद्धांत को छोड़ने का कोई इरादा नहीं रखती; क्योंकि उसका मतलब है स्वास्थ्य की खोज करना और बीमारी को दूर करना। जनता यह बात पूरी तरह से समझती है कि योजना में चाहे कोई हानियाँ निरूढ़ हों, उनके बदले लाभ इतने ज्यादा हैं कि अब कोई अपनी परेशानी के साथ और बिना देखभाल के या व्यक्ति के ऊपर बोझ डालने वाला खर्चा उठा कर बीमारी से परेशान नहीं हो सकता। यह प्रवृत्ति नीचे लिखे उत्तर में झलकती है, जो एक विदेशी द्वारा पूछे जाने पर एक ब्रिटेनवासी ने दिया था कि क्या स्वास्थ्य सेवा में उसे कोई परेशानी देखने को नहीं मिलती? उसने उत्तर दिया था जी हाँ, लेकिन पैसा चुकाने की परेशानी तो नहीं है।[1]

ब्रिटिश चिकित्सा संघ शुरू-शुरू में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा चालू होने के विरोध में था, लेकिन उसकी स्थापना के १० वर्ष बाद उसकी पत्रिका ने व्यवसाय के नेताओं द्वारा इस सेवा की सराहना ही प्रकाशित की। एक ने यह विचार व्यक्त किया कि उपभोक्ता के दृष्टिकोण से यह सेवा बड़ी ही लाभकर और सफल रही है। उसने यह भी कहा कि 'डाक्टर और मरीज के बीच वित्तीय दीवाल न रहने से डाक्टर और मरीज के आपसी संबंध ज्यादा आसान एवं संतोषजनक हो गए हैं। एक दूसरे व्यक्ति ने कहा "मैं पूरे दिल से राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में विश्वास रखता हूँ। वस्तुतः मुझे पूरा यकीन है कि एक-न-एक प्रकार की राष्ट्रीय स्वास्थ्य

---

[1] सी० एफ० ओ० क्लार्क, ब्रिटेन, टूडे, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।

सेवा दुनिया के हरेक देश में आएगी भले ही उसका नाम कुछ भी रखा जाए। हो सकता है कि वह हमारा आदर्श न हो, शायद इस आदर्श का निर्यात न हो सके···· लेकिन संयुक्त राज्य समेत बाकी सभी देश हमारे अनुभवों में हमारी सफलताओं और हमारी गलतियों से लाभ उठाएँगे।"[1]

सेवा की सार्वजनिक स्वीकृति और अनुमोदन का मतलब यह नहीं है कि उसकी कोई समस्या नहीं है। बहुत सी शिकायतें, प्रश्न और सुधार के लिए सुझाव ब्रिटिश जनता, अखबारों और राजनीतिक वर्गों से लगातार आते रहते हैं। इनमें से कुछ का रूप इस तरह होता है: आरंभिक उद्देश्य की दृष्टि में राष्ट्रीय स्वास्थ्य के अधीन दी जाने वाली सेवा के लिए कोई भी फीस क्यों ली जाए, भले ही वह मामूली ही क्यों न हो? क्या करदाता का बोझ कम करने के लिए कुछ ज्यादा फीसें ली जा सकती हैं और नई फीसें लगायी जा सकती हैं? अगर कोई रोगी सेवा से बाहर के किसी चिकित्सक को निजी सेवा के लिए पैसा देना ठीक समझता है या ऐसे चिकित्सक को जो सेवा में तो है, लेकिन अपने 'सूची' के अलावा एक निजी रोगी के रूप में इसको लेने पर पैसा देना ठीक समझता है, तो वह अपनी दवा की पर्ची पर नियमित नाम मात्र के पैसे दे कर सेवा की फार्मेसी से दवा क्यों नहीं ले सकता? जो व्यक्ति अस्पताल के परामर्शदाताओं, विशेषज्ञ या शल्य चिकित्सक के निजी रोगी होते हैं, उनको दुर्लभ अस्पताल की शय्याओं के मिलने में क्या कुछ पूर्वता दी जाती है और यदि हाँ, तो क्या यह उचित है? हरेक चिकित्सक के लिए सेवा से बाहर रह सकना असंभव क्यों नहीं बनाया जा सकता? और खास कर सेवा के भीतर वाले चिकित्सकों द्वारा निजी रोगी लेने पर रोक क्यों नहीं लगाई जा सकती? अगर सेवा के सदस्य भी निजी रोगी लेते हैं, तो क्या वे अपनी सूची के रोगियों के प्रति लापरवाही नहीं दिखाते? क्यों उनको उनसे भुगतान मिलने का भरोसा होता है? क्या चिकित्सक ज्यादा महँगी दवाएँ-खास कर नई प्रतिजैव औषधियाँ इसलिए नहीं लिखते कि वे निजी फार्मेसी कंपनियों के विज्ञापनों द्वारा प्रभावित हो जाते हैं और जबकि उनमें से अधिकांश मामलों में पुरानी सुस्थापित और सस्ती दवा कहीं ज्यादा प्रभावी रहेंगी। अगर ऐसा होता है, तो क्या इसका मतलब यह नहीं है कि नई फार्मेसी कंपनियों की स्पर्धी बिक्रय वर्द्धन लागतों का बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के पैसे में से आता है?

ये और इस प्रकार बहुत से दूसरे प्रश्न प्रशासनिक या छोटी-मोटी नीति के ब्यौरों के प्रश्न होते हैं, जिनकी ओर स्वास्थ्य मंत्री और उनकी केंद्रीय परिषद्

---

[1] हार्पर्स मैगजिन, मई, १९५९, पृष्ठ ३२-३३ में उद्धृत।

और हाउस ऑफ कामन्स को लगातार ध्यान देना होता है। तथापि उनकी ओर ध्यान देना यहाँ पर जरूरीं नहीं है। कुछ ऐसी दूसरी बुनियादी समस्याएँ हैं, जिनका सेवा और सरकार को सामना करना चाहिए, उनकी संक्षेप में यहाँ पर चर्चा की जा रही है। एक समस्या समूची लागत की है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा सरकार के बजट और करदाता की जेब के एक बड़े दावेदार में से है। इसके वैध दावे के आकार का निर्णय दूसरे दावों के स्वरूप और आकार के संबंध में किया जाना चाहिए। शुरू के सालों में सेवा की वार्षिक लागत में जो वृद्धि हुई, उससे १९५५ ई० में कंजरवेटिव सरकार चिंतित थी। स्वास्थ्य मंत्री ने उच्च प्रतिभा वाला एक स्वतंत्र वर्ग नियुक्त किया, जिसे 'गिलेबौड समिति' कहा जाता है। इसे सेवा की चालू और भावी लागत का अध्ययन करने तथा यह तय करने का काम सौंपा गया कि लागत को नियंत्रित करने एवं इसे सौंपे गए सरकारी पैसे का कार्यकुशल उपयोग आश्वस्त करने के लिए संगठन में या अन्यथा कोई फेरबदल जरूरी है। सेवा के अनेक अंगों का गहरा अध्ययन करने के बाद समिति ने १९५६ ई० में अपना प्रतिवेदन पेश किया।[1] उसने बताया कि राष्ट्रीय संसाधनों के उपयोग के अनुपात में सेवा की लागत नहीं बढ़ी है, लेकिन सेवा की कुछ महत्त्वपूर्ण जरूरतें हैं जैसे पुराने अस्पतालों की इमारतों का जीर्णोद्धार और नई इमारतों के निर्माण, जिसकी पूर्ति सरकार द्वारा ज्यादा पैसा देकर की जानी चाहिए। समिति ने कहा कि १९४९-५० ई० में सेवा पर राष्ट्रीय कुल उत्पादन का ३.७५ प्रतिशत खर्च आया है और १९५३-५४ ई० में घट कर यह ३.२४ प्रतिशत ही रह गया। यह प्रवृत्ति का एक परिशुद्ध पैमाना नहीं हो सकता; क्योंकि सेवा के शुरू के दिनों में वह बिल्कुल मुक्त रूप से नकली दाँतों, चश्मों, शल्य आदि की संचित जरूरतों को निःशुल्क रूप से पूरा कर रही थी। तथापि उसने उस समय की यह शंका भी दूर कर दी कि खर्चा बढ़ता जा रहा है।

वार्षिक खर्च देश के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का साढ़े तीन प्रतिशत रहा है और यह प्रश्न गंभीरता के साथ उठाया जा रहा है कि क्या इस प्रतिशतक में कम-से-कम कुछ वृद्धि जरूरी नहीं हो गई है? इस समय सेवा की कुछ स्पष्ट और बुनियादी जरूरतें हैं, जिनका पूरा किया जाना जनता अनिवार्य मानती है। उदाहरण के लिए सामान्य चिकित्सक की सूची पर २२०० रोगियों का होना काफी ज्यादा है और इसका नतीजा यह होता है कि कुछ रोगियों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, जिनकी ओर संभवतः चिकित्सक के साथ ज्यादा संपर्क होने पर ज्यादा

---

[1] राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के खर्च-संबंधी जाँच-समिति का प्रतिवेदन, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९५६ ई०।

ध्यान दिया जा सकता था। ३७०० रोगियों की अधिकतम सूची में इस बात का आश्वासन और भी कम रहता है कि रोगी और डॉक्टर के बीच व्यावसायिक दृष्टि से संतोषजनक संबंध बनाए रखा जा सकता है। यद्यपि १९५० ई० के बाद के दशक के आखीर में सरकार ने अस्पतालों के जीर्णोद्धार और निर्माण के विस्तार के काम के लिए पैसा उपलब्ध किया। फिर भी इस समय काम आने वाली कुछ पुरानी इमारतों से छुटकारा पाने के लिए खासतौर पर मानसिक रोगियों के काम आने वाली कुछ इमारतों के बारे में इस कार्यक्रम की गति बढ़ायी जानी चाहिए। अस्पतालों के निर्माण की जरूरत बड़ी सख्त है, जब कोयला और परिवहन-जैसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा, तो उत्पादन सुविधाओं का यंत्रीकरण और आधुनिकीकरण करने के लिए पूँजी निवेश के बड़े-बड़े कार्यक्रम चालू किए गए हैं। लेकिन, इस प्रकार के स्वरूप वाला कोई भी पूँजी निवेश कार्यक्रम राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा नहीं चलाया गया है। राष्ट्र के कुल उत्पादन का सही-सही कितना अनुपात राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में लगाना चाहिए—यह राष्ट्र के संबंधों के आवंटन की एक ऐसी समस्या है, जिसकी ओर सरकार को अपने कार्यालय में फिर से विचार करना होता है।

दूसरा मूल प्रश्न यह पूछा जा सकता है फिर राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन चिकित्सा सेवा की किस्म कैसी है? संख्या की दृष्टि से अपने व्यापक अर्थ में जनसाधारण को मिलने वाली चिकित्सा सेवाएँ काफी बड़ी हैं। क्या यह किस्म में कमी करके तो नहीं हुआ? क्या किस्मों को बनाए रखा गया है? या संभवतः साथ-साथ इसमें सुधार हुआ है? इस प्रश्न में ऐसी बातें अंतर्ग्रस्त हैं: रोगी-चिकित्सक के सूक्ष्म संबंध, चिकित्सा शिक्षा के लिए आवेदन देने वाले लोगों के गुण, प्रैक्टिस करने वाले चिकित्सक के लिए चिकित्सा के ज्ञान और उपक्रम के साथ-साथ चलने की उसकी योग्यता एवं उसके लिए अभिप्रेरण। इस दृष्टि से यह बात समझी जाती है कि वास्तव में ब्रिटेन में किस्म का मान जानने के लिए बहुत थोड़ा गंभीर कार्य किया गया था। ऊपर बताई गिलेबौड समिति ने बताया कि १९४८ई० से रोगियों को मिलने वाली चिकित्सकों की सेवा के मानक में उसने कोई कमी नहीं पायी। फिर भी उसने सिफारिश की कि सेवा को अपने तीन कृत्यकारी हिस्सों के बीच ताल-मेल लाने की गंभीर समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए: अस्पताल और उसका विशेषज्ञ कर्मचारी वर्ग, स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार और सामान्य चिकित्सक सेवा। और यही अपने-आप में यह सुझाता है कि गुणात्मक संभावनाएँ प्राप्त करने में कुछ कमी रही है। सेवा के ये तीन अंग अपने-अपने रास्ते अलग-अलग चलते रहे हैं और राष्ट्र के स्वास्थ्य के सुधार के समन्वित तरीके खोजने की ओर पूरा ध्यान नहीं देते रहे हैं। इस बात का यहाँ पर एक उदाहरण ही काफी होगा: सेवा की

स्थापना से पहले सामान्य चिकित्सक अस्पतालों .... के साथ काफी निकट का संबंध रखते थे और वहाँ के रोगी की भी देखभाल करते थे। इस प्रकार वह विशेषज्ञों और अनुसंधान के साथ—खास कर अगर वह शिक्षण देने वाला अस्पताल होता था, तो निकट का संपर्क रहता था और इस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान में हुई प्रगति का ताजा ज्ञान प्राप्त होता रहता था। अब चूँकि सामान्य चिकित्सक सेवा की एक शाखा बन गए हैं और अस्पताल अपने विशेषज्ञ कर्मचारियों के साथ एक दूसरी शाखा है, इसलिए अब विशेषज्ञों में यह प्रवृत्ति पनपी है कि अस्पताल में आने वाले रोगी को अपनी देखभाल में ले लें और सामान्य चिकित्सक नए उपकरण, भेषजों, तकनीकों की जानकारी के इस स्रोत से अलग-अलग हो गया है।

गिलेबौड समिति की स्थापना चिकित्सा सेवाओं के गुणों की पड़ताल करने के ही उद्देश्य से नहीं की गई थी और उसने किस्म-संबंधी तथ्यों या कसौटी के बारे में कोई गहरी जाँच नहीं की होगी, जिससे वह इस मामले में किसी अंतिम नतीजे तक पहुँच सकती। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रिटेन में किस्म और उसके विशद रूप के प्रश्न की ओर विषयनिष्ठ रूप से बहुत थोड़ा ही ध्यान दिया गया है। १९५५ ई० के आसपास ब्रिटिश चिकित्सा संघ द्वारा सामान्य चिकित्सक सेवाओं की किस्म के ऊपर राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का प्रभाव आँकने के लिए एक समिति नियुक्त की गई थी। समिति ने एक प्रतिष्ठान द्वारा किए गए अनुसंधान की मदद से अपने नतीजे इस प्रकार प्रतिवेदित किए : "लगभग चौथाई सामान्य प्रैक्टिस बड़ी ऊँची किस्म की है, लगभग आधी ठोस और भरोसे की है, चौथाई में 'सुधार की काफी गुंजाइश है', और इस चौथाई का २० वाँ हिस्सा इतना गया-बीता है कि उसके लिए 'कोई बहाना ढूँढ़ना भी मुश्किल है।" इस २०वें हिस्से में लगभग १ हजार चिकित्सकों का काम और लगभग २० लाख रोगी आते हैं।"[1] वास्तव में यह प्रवृत्ति के बारे में कुछ नहीं बताती, किस्म का यह स्तर राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के पहले के स्तर की अपेक्षा ज्यादा या कम हो सकता है। यह फैसला भी छात्र को स्वयं करना होगा कि क्या इस स्रोत से कोई निष्पक्ष निर्णय प्राप्त हो सकता है और अगर हो सकता है तो क्या इसके निष्कर्ष उस अध्ययन से बहुत भिन्न रहेंगे, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में चिकित्सकीय देखभाल की किस्म के बारे में किए जाने वाले वैसे ही अध्ययन से प्रकट होंगे?

इस समस्या पर प्रकाश डालने के लिए हमें ब्रिटिश चिकित्सा विद्यालयों की ओर देखना होगा, जो दुनिया के सर्वोत्तम विद्यालयों में हैं। यह साफ है कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में शामिल होने की जरूरत ने चिकित्सा विद्यालयों में प्रवेश

---

[1] जैसा कि लंदन इकोनॉमिस्ट, १७ मार्च, १९५४, पृष्ठ ९४१ में बताया गया है।

के लिए आवेदन देने वालों पर कोई प्रभाव नहीं डाला है। १९५५ ई० के आस-पास चिकित्सा प्रैक्टिस समिति ने, जो राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में सामान्य चिकित्सकों के लिए जाने को नियंत्रित करती है, इस बात का ध्यान दिया कि चिकित्सा विद्यालयों द्वारा हर साल २५०० छात्रों को प्रवेश देने के लिए चुनने में बहुत से आवेदकों को वापस कर दिया जाता है। ब्रिटिश चिकित्सा संघ के अनुरोध पर स्वास्थ्य मंत्री ने एक समिति नियुक्त की (जिसे 'विलिंक समिति' कहा जाता है)। इसे इस प्रश्न की जाँच करनी थी, जैसाकि संघ और दूसरे ब्रिटिश प्रेक्षकों को शंका थी कि १९६० ई० के बाद चिकित्सा विद्यालयों में बेशी संख्या में चिकित्सक निकलने लगेंगे। चिकित्सकों और चिकित्सा शिक्षा की जरूरत का तीन साल तक अध्ययन करने के बाद समिति ने यह पता लगाया कि इस समय ऐसी शंका करने का कोई आधार नहीं है तथापि इसने सिफारिश की कि इसी समय शुरू करके चिकित्सा विद्यालयों में प्रवेश की संख्या में १० प्रतिशत की कमी कर दी जाए, ताकि चार साल बाद निकलने वाले स्नातकों की संख्या में कमी रहे और यह कटौती १९७० ई० तक चलती रहे। उसने सिफारिश की कि उस समय इस स्थिति की फिर समीक्षा की जाए। इसका नतीजा संभवतः यह होगा कि नए छात्रों को प्रवेश देते समय चिकित्सा विद्यालयों को और भी सख्त रूप से चुनाव करना संभव हो जाएगा।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की कम बुनियादी किंतु परेशान करने वाली समस्याओं के समाधान के लिए जरूरी समताओं को अच्छी तरह संतुलित करने और प्रशासनिक मामलों पर ज्यादा ध्यान देने की चाहे कुछ समस्याएँ हों और सरकार के स्तर पर नीति के उच्च मामलों का समाधान करने में चाहे कितनी सूक्ष्म दिक्कतें हों, ब्रिटिश जनता ने निश्चय ही यह संकल्प कर लिया है कि वह स्वास्थ्य सुविधाओं और सेवाओं की जरूरत की पूर्ति सामुदादिक आधार पर करेगी। किसी भी राजनीतिक या दूसरे वर्ग की ओर से कभी-कभी यह सुझाव नहीं दिया गया है कि इस काम पर से सरकारी जिम्नेदारी हटा देनी चाहिए। १९५९ ई० के आम चुनाव में लेबर दल ने प्रतिज्ञा की कि नए अस्पतालों के लिए विद्यमान विनियोजन में काफी वृद्धि की जाएगी, सेवाओं में विस्तार करने के लिए स्वास्थ्य सेवा के वार्षिक बजट में १४ प्रतिशत की वृद्धि की जाएगी, सभी फीसें खत्म कर दी जाएँगी, सामान्य चिकित्सकों की सूची छोटी कर दी जाएगी (अधिकतम संख्या २५०० रखी जाएगी) और छोटी सूचियों को ठीक करने के लिए प्रति व्यक्ति फीस बढ़ा दी जाएगी।[१]

---

१. ब्रिटिश दृष्टिकोण से राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के संक्षिप्त और आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए देखिए, न्यू स्टेट्समैन, ३० अप्रैल, १९६०, पृष्ठ ६२८-६३२, न्यू लैफ्ट रिव्यु, मई, जून, १९६० पृष्ठ २१, २६।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. सन् १९४५ से १९५१ ई० की लेबर दल सरकार के कार्यक्रम पर किस अर्थ में समतावादी दर्शन का प्रभाव पड़ा ?

२. क्या संयुक्त राज्य अमेरिका में ब्रिटिश परिवार भत्ता अधिनियम, १९४५ ई०-जैसा कोई सामाजिक बीमा या सहायता कार्यक्रम चल रहा है ?

३. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के पीछे कौन-सा मूलभूत दर्शन काम कर रहा है ?

४. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन सामान्य चिकित्सक और शल्य चिकित्सक की हैसियत के बीच क्या अंतर है ?

५. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन अस्पतालों का प्रबंध किस तरह चलाया जाता है ? 'शिक्षण देने वाला अस्पताल' क्या होता है और यह क्यों महत्त्वपूर्ण है ?

६. यह कहने का क्या मतलब है कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन प्रत्येक काउंटी सरकार एक स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकार है ? इससे क्या करने की उम्मीद की जाती है ?

७. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन एक सामान्य चिकित्सक को रोगी किस तरह मिलते हैं ? क्या सभी चिकित्सकों से सेवा का सदस्य बनने की अपेक्षा की जाती है ?

८. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के प्रति (क) नागरिकों का (ख) चिकित्सकों का वर्तमान रवैया क्या है ?

९. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की कुछ समस्याएँ मामूली हैं और कुछ बुनियादी । हर प्रकार के उदाहरण दीजिए ।

१०. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अधीन चिकित्सा सेवा की किस्म पर क्या कोई प्रभाव पड़ा है ? और यदि हाँ, तो क्या प्रभाव पड़ा है ?

अध्याय २०

आर्थिक आयोजना

आर्थिक आयोजना ब्रिटेन के मामले में लागू नहीं होती, यह बात भी कही जा सकती है और न यह लेबर सरकार के समय में लागू थी और न आज है। इन दोनों में से किसी भी जमाने में उस तरह का विशद् आयोजना तंत्र या तकनीक यहाँ पर नहीं रही है, जैसीकि हम सोवियत अर्थतंत्र का अध्ययन करते समय देखेंगे। ब्रिटिश अर्थतंत्र पहले भी मिश्रित अर्थतंत्र था और आज भी है। एक बड़ा सा 'निजी उद्योग क्षेत्र' है और एक छोटा सा 'सरकारी उद्योग क्षेत्र' और जहाँ तक स्वामित्व और आर्थिक उद्योग का सवाल है, पहला पिछले के ऊपर हावी रहता है। तथापि लेबर सरकार के अधीन अर्थतंत्र के विशिष्ट अंशों के लिए काफी मात्रा में लक्ष्य तय किए जाते थे और निजी तथा सरकारी दोनों के ही आर्थिक कलापों को उन लक्ष्यों की ओर बढ़ने के लिए सरकारी मार्ग-दर्शन दिया जाता था एवं दबाव भी डाला जाता था। साथ ही सरकार द्वारा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कुछ विशिष्ट संस्थागत अभिकरण और तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था। केवल इसी बात से कि ब्रिटेन में कभी भी 'पंचवर्षीय' आयोजनाएँ नहीं बनाई गईं, यह मतलब नहीं निकाला जा सकता कि वहाँ पर कोई सार्थक या प्रभावी आयोजना साधन या तकनीकें कभी इस्तेमाल नहीं हुईं—हालांकि वस्तुतः उनके स्वरूप और संचालन को राजनीतिक लोकतंत्र और एक 'मिश्रित' आर्थिक व्यवस्था के प्रसंग में अनुकूलित कर लिया गया था, पूरी तरह समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था के नहीं।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक आयोजना के सिद्धांत के बारे में एक ग्रंथ ही लिखा जा सकता है और उसमें ऐसी स्थिति में आर्थिक आयोजना की सीमाओं और संभाव्य प्रभाविता का वर्णन पूरी तरह समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था की आयोजना के साथ किया जा सकता है। लेकिन, हमें यहाँ पर अपेक्षतया कुछ कम चीज से संतोष करना पड़ेगा। अगले पृष्ठों में लेबर सरकार द्वारा आर्थिक लक्ष्यों को तय करने

और उनकी ओर बढ़ने के लिए इस्तेमाल किए गए दृष्टिकोण एवं काम में लायी गई तकनीकों की रूपरेखा दी गई है। इसके बदले हम उनके द्वारा भूमि उपयोग की आयोजना, आर्थिक नियंत्रण के प्रयोजन से इनके द्वारा सरकारी बजट के उपयोग और सरकार द्वारा चुने गए लक्ष्यों की ओर निजी औद्योगिक संचालनों को मार्गदर्शन देने के लिए इस्तेमाल किए गए कुछ संगठनात्मक तरीकों की चर्चा करेंगे। चूँकि हमारी अभिरुचि इस बात पर केंद्रित है कि किस तरह (कम-से-कर्म तत्कालीन) लोकतंत्रीय समाजवादी लेबर सरकार ने आर्थिक आयोजना के उपाय प्राप्त किए। इसलिए हमारा ध्यान इस बात पर केंद्रित रहेगा कि उसमें इन तरीकों व तकनीकों का इस्तेमाल किस तरह किया गया और लेबर सरकार द्वारा पद छोड़ देने के बाद उनका क्या हुआ। इस ओर हम चलते-चलते ध्यान देंगे।

कृषि में भूमि-उपयोग की आयोजना

लेबर सरकार के कार्यक्रम की पृष्ठभूमि

ब्रिटेनवासी के लिए भूमि का दक्ष उपयोग बड़े ही महत्त्व का है, जिसको हमारे लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में समझना मुश्किल है। ब्रिटेन की जनसंख्या संयुक्त राज्य अमेरिका की एक तिहाई है। लेकिन, उसका भूमि-क्षेत्र, जिसका आकार ओरेगौन जितना है—हमारे इलाके से एक-बटा-बत्तीस है। उसका लगभग ८० प्रतिशत भूमि-क्षेत्र खेती के इस्तेमाल में आता है। इस धरती पर वह ब्रिटेन में उपभोग में आने वाले खाद्य का ४० प्रतिशत (कैलोरी के अनुसार) पैदा करता है। उसके खाद्य संभरण का शेष अंश आयात करके पूरा किया जाता है, जिसका कुछ हिस्सा ब्रिटिश निर्यात द्वारा अर्जित दुर्लभ विदेशी मुद्रा का इस्तेमाल करके किया जाता है। हर धरती के टुकड़े के लिए वैकल्पिक उपयोग भी काफी होड़ देती है और जनता के रहन-सहन का स्तर इस बात से काफी निकट से संबद्ध है कि धरती का उपयोग कितनी बुद्धिमानी के साथ विभिन्न कामों में किया जाता है और हर टुकड़े का कितनी अच्छी तरह इस्तेमाल किया जाता है। फलतः कई वर्षों से धरती के उपयोग में सरकारी नियंत्रण ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

ब्रिटेन की चार लाख खेती की इकाइयाँ बहुत समय से सरकारी मदद और विनिमय की अभ्यस्त हो गई हैं। दोनों महायुद्धों के बीच के समय में दुनिया की आर्थिक हालतों के कारण सरकार ने चीनी, गेहूँ, दूध, पशु, जई, जौ तथा सरकारी तत्त्वावधान में शहतूत, दूध, सुअर के मांस और आलू की सहकारी विपणन योजनाओं के लिए सरकारी अर्थ-सहायता दी है। १९३९ ई० में ब्रिटेन में खेती सबसे बड़ा उद्योग थी, किंतु इस अर्थ में वह असंतुलित थी कि पशु, भेड़ों, सुअरों

क्र.नं. १५३८२

और कुक्कुट ऐसी संख्या में पैदा किए जाते थे कि खाए जाने वाले पशुओं के मांस के एक तिहाई के आयात की जरूरत पड़ती थी।

दूसरे विश्वयुद्ध में मनुष्य के खाद्य और पशुओं के चारे के लिए विदेशी संभरण में कटौती करनी पड़ी और इससे खाद्य उपभोग में सख्त नियंत्रण करना पड़ा तथा घरेलू कृषि उत्पादन बढाने के लिए पूरा-पूरा प्रयास करना पड़ा। सरकार ने उच्च अग्रता वाली इस खाद्य मद के उत्पादन को बढ़ाने के लिए दूध के उत्पादन के लिए काफी सरकारी सहायता दी। उसने कृषि के दूसरे उत्पादनों के लिए गारंटी किए हुए दाम तय कर दिए, जिससे युद्धकालीन कृषि ढाँचे के वांछनीय रूप के अनुसार चलने को प्रोत्साहन मिल सके। सभी काउंटियों में युद्ध कृषि समितियाँ स्थापित की गईं और उनके जरिए जिला-समितियों ने राष्ट्रीय जरूरतों एवं आयोजनाओं के अनुकूल चलने के लिए व्यक्तिगत किसानों को मदद दी। बहुत से कृषि कॉलेज बंद कर दिए गए और उनके अध्यापकों तथा अनुसंधान-कर्मचारियों को उत्पादन को उद्दीपित करने के लिए काउंटी समितियों के साथ संलग्न कर दिया गया। खेतिहर मजदूरों के लिए एक राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई, ताकि जन-शक्ति खेतों की ओर आकर्षित हो सके और खेतिहर मजदूरों की नौकरियों में ठहराव ला दिया गया। किसानों की मदद के लिए औरतों और बच्चों के संगठित किया गया। काउंटी समितियों ने मशीनों के समूह और डिपो बनाए, जहाँ से किसान मशीनें पट्टे पर ले सकते थे; भूमि-सुधार-योजनाएँ हाथ में ली गईं, जिनका आधा खर्च सरकार उठाती थी, अर्थ-सहायता देकर उर्वरकों को प्रोत्साहित किया गया और घास के मैदानों को जोतने के लिए किसानों को एक बोनस दिया गया। खेती की जाने वाली जमीन का आकार ६० प्रतिशत से ऊपर बढ़ गया और गेहूँ, जौ तथा आलू-जैसी बुनियादी फसलों को उत्पादन तेजी से दूना हो गया एवं दूसरी फसलों में भी काफी वृद्धि हुई।

युद्धोत्तर काल में खाद्य में जो कमी आई, वह ब्रिटेन-जैसे राष्ट्र के लिए खास तौर पर बड़ी गंभीर थी, जो आयात किए हुए खाद्य पर काफी निर्भर रहता था। इसलिए उसने युद्धकालीन सख्त खाद्य राशनिंग को चालू रखा और अपने इतिहास में पहली बार डबल रोटी का भी राशन कर दिया। खेती पर युद्धकालीन नियंत्रण चालू रहे और युद्धकाल में सरकार तथा किसान के बीच जो संबंध बन गए थे, उनको बनाए रखने के लिए पूरा-पूरा प्रयास किया गया। एक राष्ट्रीय कृषि सलाहकार सेवा बनाई गई, जिसके ८ प्रादेशिक केंद्र थे और काउंटी समितियों को जिन्हें अब 'काउंटी कृषि पालिका समिति' कहा जाता है, उसके विशेषज्ञ कर्मचारियों के सहित रख लिया गया।

१९४७ ई० का कृषि अधिनियम :

लेबर सरकार का कृषि कार्यक्रम युद्धकालीन नियंत्रणों को शांतिकाल के लक्ष्यों के लिए दीर्घ आधार पर अनुकूलित करना था। कृषि अधिनियम[1] को अमेरिका के समाचारपत्रों द्वारा ब्रिटेन में कभी-कभी भी प्रस्तुत किए गए कृषि विधेयकों में 'सबसे विशद और 'दूरव्यापी प्रभाव वाला विधेयक'[2] कहकर उसकी सराहना की गई है। फिर भी इसमें ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे ब्रिटिश किसान पहले से परिचित नहीं थे। खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी का कानून, गारंटी किए हुए दाम और खेती की चीजों के निश्चित बाजार, को बनाए रखकर तथा खेती की जमीन का समुचित उपयोग आश्वस्त करने की अनिवार्य शक्ति सरकार में विहित करके अधिनियम ने खेती में स्थिरता लाने एवं उसकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए कोशिश की।इसका उद्देश्य किसान और खेतों के मजदूरों के जीवन-स्तर या खेती के पूंजी निवेश पर पर्याप्त लाभ को बिना नुकसान पहुँचाए घरेलू उपभोग में वृद्धि करना था।

अधिनियम के स्थिरीकरण वाले तत्त्व ये हैं : गारंटी किए हुए दामों की व्यवस्था और उनके पूरक के रूप में आश्वस्त बाजार तथा किसान अपने उत्पादनों के लिए जो दाम पाता है तथा खाद्य उत्पादनों के लिए उपभोक्ता जो कम दाम देता है, उसके बीच के अंतर को दूर करने के लिए अर्थ-सहायता की व्यवस्था (इनको यहाँ पर वर्त्तमान काल में इसलिए कहा जा रहा है कि यह अब भी चल रही हैं)। किसानों को नीचे लिखी १२ चीजों के लिए पर्याप्त दाम और आश्वस्त बाजार की गारंटी दी गई है : पशु, भेड़, सुअर, दूध, अंडे, गेहूँ, जौ, जई, राई, आलू, चीनी, बाला चुकन्दर और ऊन। दाम तय करने की सामान्य प्रक्रिया यह है : कृषि, मछली-पालन और खाद्य मंत्री एक वार्षिक पुनर्विलोकन बैठक बुलाते हैं, जिसमें राष्ट्रीय किसान संघ[3] के प्रतिनिधि भाग लेते हैं और यह आर्थिक हालतों एवं खेती की संभावनाओं पर विचार करती है। इसमें संगत सांख्यिकीय सामग्री तैयार कर ली जाती है और सरकार अगले दो से चार साल तक लागू होने वाले उत्पादन लक्ष्य मंजूर कर लेती है (जो उत्पादन के ऊपर निर्भर रहते हैं)। बैठक में इन उद्देश्यों पर किसानों के प्रतिनिधियों के साथ बातचीत की जाती है,खेती की लागत और लाभ की प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण

---

[1] १९४७ ई० में अधिनियमित।

[2] दि न्यूयार्क टाइम्स, १० जून, १९४७।

[3] कहा जाता है कि राष्ट्रीय किसान संघ में ब्रिटेन के ८० प्रतिशत किसानों को प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। रॉबर्ट ए० ब्रेडी, क्राइसेस इन ब्रिटेन, केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, १९५०, पृष्ठ ४८६।

किया जाता है और किसानों की कुल आय में कितनी वृद्धि या कमी खेती को राष्ट्रीय उत्पादन लक्ष्यों के अनुरूप रखने के लिए की जाए, इस बात पर आम रजामंदी पर पहुँचने के लिए कोशिश की जाती है। फिर भी इस बात पर चर्चा होती है कि विशिष्ट गारंटीकृत दामों में क्या फेरबदल की जाए, ताकि किसान अपने लिए तय की जा रही कुल आय प्राप्त कर सकें और विभिन्न चीजों के दाम एक दूसरे के साथ ऐसे संबंध-सूत्र में साक्षेप रूप से जोड़ दिए जाएँ (विभिन्न प्रकार की खेती लाभजनक होने की वात को ध्यान में रखते हुए), ताकि किसान राष्ट्रीय कृषि उत्पादन लक्ष्यों द्वारा अपेक्षित रूप में एक उपज से दूसरी उपज—पर आग्रह बदल सकें। मंत्री और उसके प्रतिनिधि इन चर्चाओं में कोई वचन नहीं देते, लेकिन मंत्री और किसानों के प्रतिनिधियों के बीच आपसी समझ-बूझ से निश्चित रूप से प्रयास किया जाता है। चर्चा के बाद और संभवतः कुछ और अध्ययन एवं परामर्श करने के बाद मंत्री भविष्य में निश्चित समय तक १२ में से प्रत्येक वस्तु के दाम की घोषणा करते हैं। फसलों के वास्तविक दाम खलिहान के समय से कम-से-कम १८ महीने पहले घोषित कर दिए जाते हैं और पशु-संबंधी उत्पादों के वास्तविक दाम अगले १२ महीनों के लिए, पशु-संबंधी उत्पादनों की भी न्यूनतम दाम अगले २ से ४ साल तक के लिए घोषित कर दिए जाते हैं। दाम की इस प्रणाली को कभी-कभी पूर्व-दाम-प्रणाली कहा जाता है; क्योंकि इससे व्यक्तिगत किसान को अपने दाम के वारे में पहले से आश्वासन मिल जाता है और इस तरह वह जमीन को सावधानी के साथ उसके विभिन्न संभव उपयोगों के बीच बाँट सकता है।

कृषि अधिनियम के शब्दों में गारंटी किए गए दाम का उद्देश्य यह प्राप्त करना है। एक स्थिर और कार्यकुशल खेती का स्वरूप तय करना जो राष्ट्र के खाद्य के ऐसे अंग का उत्पादन करने में समर्थ हो, जो राष्ट्रहित में ब्रिटेन में पैदा करना वांछनीय है और उसे न्यूनतम दाम पर किसानों तथा खेतिहर मजदूरों के लिए उचित पारिश्रमिक एवं रहन-सहन की स्थिति तथा निवेशित पूँजी के ऊपर पर्याप्त लाभ के अनुकूल रहते हुए पैदा किया जा सके। इस प्रकार मंत्री खेती को मार्गदर्शन देना और स्थिर करना चाहते हैं और इसके लिए वे किसान का यह अधिकार नहीं छीनना चाहते कि कई संभव अलग-अलग चीजों के दामों के समुच्चय में से चुन कर अपने उत्पादन के लिए स्वयं फैसला करे और ऐसा समुच्चय चुने जिससे (१) समग्र कृषि आय पर वांछित प्रभाव डाला जा सके और (२) व्यक्तिगत किसान को नए फैसले करने के लिए प्रेरित किया जा सके—जो सरकार द्वारा हर कृषि उत्पादन के लिए तय किए गए उत्पादन लक्ष्यों को कुल मिला कर वह पूरा कर सके।

अधिनियम जो सहायता और स्थिरता प्रदान करता है उसके लिए वह किसानों के ऊपर यह दायित्व भी लाद देता है कि वे धरती का दक्षतापूर्वक और सरकारी अभिकरणों द्वारा दी गई सलाह के अनुरूप उपयोग करें। अधिनियम के अधीन, जैंसाकि वह लेबर सरकार के अधीन प्रभावी था, सरकार में किसान को धरती से च्युत करने तक का दंड देने की शक्ति विहित की गई थी। इस प्रक्रिया के अधीन जो किसान कथित रूप से धरती का दुरुपयोग करता था, उससे पहले अपने काम का स्पष्टीकरण करने का मौका दिया जाता था। उसके बाद मंत्री उसके खेत को स्थानीय काउंटी कृषि पालिका समिति के पर्यवेक्षण के अधीन रख सकते थे, जो विशिष्ट हिदायतें दे सकती थीं कि किसान को क्या करना चाहिए।[1] फिर ये हिदायतें पाने वाला अपनी बात को दुबारा स्पष्ट कर सकता था और अगर जमींदार-मालिक को दी गई हिदायतों में खेत के वार्षिक लगान से ज्यादा पूँजी लगाने की बात कही जाती थी, तो वह अपने मुकदमें को कृषि-भूमि-अधिकरण के पास तक ले जा सकता था, जिसका फैसला अंतिम होता था। अगर इन कार्यवाहियों से संतोषजनक रूप से किसान द्वारा काम नहीं किया जाता था, तो सरकार १२ महीने की सूचना दे कर उसके खेत से उसे बेदखल कर सकती थी। पर, कानून की बातों में अदालत तक आखिरी अपील की जा सकती थी।[2] अगर बेदखल किसान काश्तकार होता था तो उसका पट्टा इस तरह खत्म हो जाता था और खेत के मालिक से उम्मीद की जाती थी कि वह उसका पट्टा किसी दूसरे अच्छे काश्तकार को दे देता। अगर मालिक स्वयं बेदखल होता था, तो सरकार खेत को स्वयं जबरदस्ती खरीद लेती थी। अधिनियम में एक खेती भूमि आयोग की व्यवस्था थी, जो इस प्रकार ली गई धरती का प्रबंध और उस धरती का प्रबंध चलाता था, जिसे सरकार इसलिए हाथ में ले लेती थी कि उसका विकास काफी पूँजी निवेश के बिना नहीं किया जा सकता था या इस

---

१. काउंटी कृषि समितियों का कार्य था कि यह देखें कि राष्ट्रीय कृषि नीतियों को व्यक्तिगत फार्म स्तर पर वास्तव में प्रभावी बनाया जा रहा है। प्रत्येक में भूस्वामियों किसानों और खेतिहर मजदूरों के प्रतिनिधि सदस्य होते थे। उनकी नियुक्ति मंत्री द्वारा की जाती थी, काउंटी के भीतर समिति में हर छोटे इलाके के प्रतिनिधि जिला समिति में रहते थे।

२. हर खेतिहर भूमि अधिकरण में लार्ड चांसलर द्वारा नियुक्त एक सभापति और उस सभापति द्वारा (१) भू स्वामियों के संगठन (२) काश्तकार किसानों के संगठन द्वारा भेजे गए नामों में से नियुक्त किए गए दो सदस्य होते थे। बेदखली के मामले में बेदखली की सूचना को अदालत में ले जाने से से पहले अधिकरण अपील निकाय के रूप में भी काम करता था।

कारण कि निजी रूप से उसका अवांछित गैर-खेतिहर उपयोग किया जा सकता था।[1] अधिनियम में काश्तकार किसान की रक्षा जमीदार की लापरवाही से मिलने वाले दंड और पट्टे पर दी गई धरती पर काश्तकार द्वारा किए गए सुधारों पर होने वाले घाटों के खिलाफ की जाती थी।

सरकार की जबर्दस्ती वाली शक्तियों का वर्णन ऊपर के पैराग्राफ में भूतकाल में किया गया। लेबर सरकार के अधीन उनका इस्तेमाल बहुत ही कम किया गया था। कंजरवेटिव सरकार के अधीन उनका इस्तेमाल और भी कम किया गया था। और अब इतना कम हो गया है कि इन शक्तियों का अब कोई महत्त्वपूर्ण रूप ही नहीं रहा है। तथापि पहले के दाम तय करने और गारंटी वाले बाजार के सिद्धांत तथा खास-खास चीजों के उत्पादन को बढ़ाने या घटाने के लिए मंत्री द्वारा दामों के समंजन को कायम रखा गया है। कंजरवेटिवों के अधीन एक बड़ा परिवर्तन इस कृषि-आयोजना प्रणाली में किया गया है—उस साधन को बदल दिया गया है, जिसके अधीन किसानों को गारंटी किया हुआ काम मिलने का आश्वासन दिया जाता है।

१९५४ ई० से पहले सरकार किसानों की फसल की गारंटी किए गए दाम पर सीधे खरीद लेती थी। फिर यह उन चीजों को निजी फर्मों को बेच देती थी, जो उनका अधिसंस्कार करके उनको खुदरा बाजार में खाद्य उत्पादों के रूप में वितरित कर देती थी। सरकार के बिक्री दाम किसानों को दिए जाने वाले दाम से काफी कम थे और इस तरह किसानों को मिलने वाले दाम की तुलना में खाद्य का दाम कहीं कम रहता था। इन दोनों दामों के बीच का अंतर राजकोष द्वारा दिया जाता था और इसे 'खाद्य सहायता' कहते थे। सन् १९५४ ई० से किसान अपनी फसल खुले स्पर्धी बाजार में जो भी दाम मिलता है, इस पर निजी खरीददारों को बेच देते हैं। हर किसान जो कुछ बेचता है, उसकी किस्म और परिमाण का दस्तावेजी प्रमाण अपने पास रखता है। समय-समय पर मंत्री हर प्रकार की दाम गारंटी वाली चीजों के खुले बाजार के औसत दाम का हिसाब लगाता है। तब किसान को हर चीज की उतनी इकाइयों के लिए जितनी उसने उस काल में बेची है, सरकार से उस अवधि के खुले औसत बाजार भाव और गारंटी किए गए दाम के बीच का अंतर प्राप्त कर लता है। सरकार के इस भुगतान को भी 'खाद्य सहायता' कहा

---

[1] यह उम्मीद की गई थी कि यह आयोग आगे चल कर सरकार की बिखरी हुई खेतिहर भू जोतों का संचालन करेगा। इस तरह यह सरकार को कुछ-कुछ ऐसे मानक स्थापित करने के साधन प्रदान करेगा जिससे निजी खेतों, स्थापित आदर्श फार्मों की कार्यकुशलता का निर्धारण किया जा सके और सरकार द्वारा तय की गई शर्तों के अधीन निजी काश्तकार किसानों को पट्टे पर भूमि दी जा सके। किसी भी मामले में लेबर सरकार खेतिहर धरती के स्वामित्व के व्यापक राष्ट्रीयकरण को प्राप्त करने के लिए इसे एक संक्रमणकालीन तरीका नहीं मानती थी।

जाता है, केवल किसानों को उसके भुगतान का तरीका बदल गया है। इस नए तरीके का मतलब अब यह है कि चूंकि किसान का निबल प्राप्ति अब खुले बाजार भाव और सरकारी सहायता से मिलकर बनती है, इसलिए इसे अब अपनी चीज पूरी कुशलता के साथ अपने पूरे-पूरे लाभ के लिए बेचने का अभिप्रेरण मिल गया है। कंजरवेटिव सरकार इस परिवर्तन को कृषि के खुले बाजार की ओर आंशिक ओर से लौटना माँगती है। यह अर्थ-सहायता ब्रिटिश किसानों की कुल निबल आय का लगभग दो-तिहाई होती है।

समस्याएँ

१९४७ ई० का मूल कृषि अधिनियम मुख्यतः इस बात के लिए महत्त्वपूर्ण है कि लोकतंत्रीय समाजवादी कार्यक्रम द्वारा खेती का नियंत्रण किस तरह किया जाए। इस बात का यह एक नमूना है, भले ही उसे निजी स्वामित्व और संचालन में छोड़ दिया जाए और व्यक्तिगत किसान विभिन्न उत्पादों में अपनी कितनी एकड़ जमीन लगाएं, यह फैसला उनके ऊपर ही छोड़ दिया गया हो। कंजरवेटिव सरकार ने लेबर सरकार के १९४७ ई० के अधिनियम से बुनियादी सिद्धांत या तरीकों को छोड़ने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखायी है। १९५९ ई० के चुनाव में कंजरवेटिवों ने अधिकृत रूप से इस अधिनियम की बुनियादी व्यवस्थाएँ अपनी नई पदावधि में चालू रखने का वचन दिया था। तथापि अधिनियम की प्रभाविता और न्यायपरता के बहुत से प्रश्नों पर ब्रिटेन में लगातार बहस चलती रही है। १९५६ ई० में पहली बार राष्ट्रीय किसान संघ ने वार्षिक दाम पुनर्विलोकन में मंत्री के निष्कर्षों को नामंजूर कर दिया, तब से मंत्री और किसानों में संबंध काफी बिगड़े रहे हैं और संघ जब-तब मंत्री के दाम संबंधी निर्णयों के खिलाफ 'गहरा असंतोष' व्यक्त करता रहा है। कुछ नागरिकों द्वारा गारंटी किए गए दामों के राजनीतिक आलेपनों पर जोर दिया गया है और वे यह समझते हैं कि मंत्री को दाम तय करने की जो बड़ी शक्ति मिली हुई है, उसका प्रयोग कभी-कभी आगामी चुनाव पर ध्यान रख कर किया जाता है, मात्र राष्ट्रीय जरूरतों को ध्यान में रख कर नहीं। दूसरे यह महसूस करते हैं कि गारंटी किए गए दाम ज्यादा कार्यकुशल और कम कार्यकुशल किसानों को अपने-आप दिए जाते हैं, यह बरबादी है और अगर सहायता उपांत उत्पादकों को अपनी लागत पूरी करने के लिए देने पर केंद्रित की जाए, तो इससे उत्पादन को ज्यादा प्रभावी रूप में उद्दीपित किया जा सकेगा। कभी-कभी यह आरोप भी लगाया जाता है कि गारंटी किए गए दाम इतने ज्यादा रख दिए जाते हैं कि वे बहुत से किसानों की अकुशलता को लगातार जारी रखते हैं और इस प्रकार उन स्पर्धी शक्तियों के खिलाफ उनकी रक्षा करते हैं, जिनको खुला छोड़ देने पर कार्यकुशलता को बढ़ावा मिलेगा।

इन बात पर भी शंका की जाती है कि क्या यह शक्ति मंत्री को दी जाए कि वह उन मात्राओं पर काफी प्रभाव डाले, जिनमें विभिन्न कृषि उत्पादों का उपभोग के लिए उपलब्ध होना उनके अपने विचार से राष्ट्र को और संभवत: उपभोक्ता की जरूरतों के अनुसार होगा ? ब्रिटिश खेती की आयोजना की इस संक्षिप्त चर्चा में इन प्रश्नों के ब्यौरों में जाना संभव नहीं है। तथापि उनके उद्धरण से इस बात का संकेत मिलता है कि लेबर सरकार के शांतिकालीन कृषि कार्यक्रम से पैदा होने वाली समस्याओं का रूप कितना व्यापक है।

शहरी भूमि उपयोग आयोजना

पीठिका

नगर और देहात आयोजन अधिनियम १९३२ ई० ने ब्रिटेन में शहरी आबादी की आयोजना को नियंत्रित किया। इसके अधीन स्थानीय सरकारों को आयोजन शक्तियाँ दी गईं और व्यापक क्षेत्रों के लिए संयुक्त आयोजना अधिकारियों की व्यवस्था की गई। तथापि पिछले कभी भी प्रभावी नहीं रहे; क्योंकि अधिनियम में उनका समन्वय करने के लिए कोई व्यवस्था न थी। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन में अनेक आयोजना प्राधिकार विद्यमान थे और प्रत्येक स्थानीय बातों से प्रभावित था तथा करों को कम रखना चाहता था और स्थानीय व्यापार एवं उद्योग को विकसित करना चाहता था। लेकिन, उस पर दूसरे समुदायों और राष्ट्र की जरूरतों का कुछ प्रभाव था, जो बहुत थोड़ा ही था। साथ ही जमीन के दाम ज्यादा होने से इन स्थानीय आयोजना-प्रयासों में भी बाधा पड़ती थी। यह बात खास तौर पर शहरी इलाकों के लिए सच थी, जहाँ सार्वजनिक प्राधिकार जमीन को अवाप्त करके उनका उपयोग समाज के लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण तरीके में बदलना चाहते थे। १९४३ ई० में सीमित शक्तियों वाले शहर और देहाती आयोजना के एक मंत्रालय के बनाए जाने पर भी इस 'अणु आयोजना' पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा, जिसे ब्रिटेन "की धरती के उपयोग के लिए एक राष्ट्रीय नीति बनाने और लागू करने के लिए जन्म दिया गया था।"[1] अंत में युद्धकाल में इमारतों और उपयोगी संस्थापनों के नष्ट हो जाने से युद्ध के अंत ने शहरी आयोजना की विशद् व्यवस्था तैयार करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

शहर और देहात आयोजना अधिनियम १९४७

संसद् द्वारा १९४७ ई० में पास किए गए शहर और देहात आयोजना अधिनियम[2] ने राजकीय आयोग और उन दो विशेषज्ञों की समितियों की सिफारिशों का काफी अनुसरण किया गया, जिन्होंने १९३७ ई० और १९४२ ई० में प्रतिवेदन दिए

---

[1] १. लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन; दिसंबर, १९४६, पृष्ठ १४६।

[2] २. लंदन एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९४७।

थे ।[1] अधिनियम ने सब प्रकार की धरती के उपयोग पर अंतिम नियंत्रण राष्ट्रीय सरकार को सौंप दिया और स्थानीय प्राधिकारों को यह शक्ति दी गई कि वे इन सीमाओं के भीतर स्थानीय आयोजना निश्चित करें । इसका धरती के निजी स्वामित्व और उपयोग पर तत्कालीन शहर और देहात आयोजना मंत्री के शब्दों में 'प्रायः क्रांतिकारी' प्रभाव पड़ा । उन्होंने बताया कि "मालिक के पास केवल यही अधिकार बचा है कि वह अपनी धरती का उपयोग विद्यमान प्रयोजन के लिए ही कर सकता है और यह भी अनिवार्य रूप से धरती को ले लेने की सरकारी व्यापक शक्तियों के अधीन हैं ।"[2] एक ब्रिटिश श्वेत पत्र ने दावा किया कि अधिनियम में एक नई आयोजना स्थापित की गई है, जो पहली बार पुराने शहर के पुनर्निर्माण और पुनर्विकास, हरी पेटियों के संरक्षण, ज्यादा घने बसे इलाकों में खुली जगहों की व्यवस्था, कारखानों के लिए धरती का आवंटन आदि की प्रयोजनाओं को व्यावहारिक रूप देती है ।[3]

अधिनियम जटिल उपबंधों का एक गौरखधंधा है । मुद्रित रूप में इसमें बड़े ही जटिल ब्यौरों वाले २०६ पृष्ठ हैं । प्रस्तावना में बताया गया है कि इसका उद्देश्य यह है : "जमीन के विकास और उपयोग की आयोजना के लिए नई व्यवस्था करने वाला, जमीन की विकास की आज्ञा देने के लिए···· जमीन को अवाप्त करने और विकसित करने के बारे में सार्वजनिक अधिकारियों को अतिरिक्त शक्तियाँ देने के लिए व्यवस्था करने वाला अधिनियम ।"[4] अधिनियम में उस समय विद्यमान लगभग १५०० भूमि उपयोग आयोजना अभिकरणों को कम करके उनकी संख्या लगभग १४५ काउंटी बौरों आयोजना अभिकरण कर दी और बौरों काउंसिल या काउंटी कौंसिल को 'स्थानीय आयोजना प्राधिकार' विहित कर दिया गया । इसमें यह भी व्यवस्था कर दी गई कि इन काउंटी या बौरों प्राधिकारों को संयुक्त आयोजना मंडलों में एकत्र भी करना चाहिए, जहाँ छोटे-छोटे भूमि आयोजना प्राधिकारों को इस तरह विलय इष्ट कर लगता हो ।[5] इसके द्वारा एक केंद्रीय भूमि मंडल की स्थापना की गई, जिसमें ९ तक सदस्य होते थे, जो शहरी और देहाती आयोजना मंत्री द्वारा (अब आवास तथा स्थानीय शासन मंत्री) नियुक्त किए

---

[1] औद्योगिक जनता के भौगोलिक वितरण-संबंधी राजकीय आयोग का प्रतिवेदन १९३७, मुआवजा और सुधार-संबंधी विशेषज्ञ समिति का प्रतिवेदन १९४२, और देहाती इलाकों में जमीन के उपयोग-संबंधी समिति का प्रतिवेदन, १९४२ ।

[2] दि न्यूयार्क टाइम्स, ८ फरवरी, १९४७ ।

[3] वही ।

[4] शहरी और देहाती आयोजना अधिनियम, पृष्ठ १ ।

[5] वही, धारा ४ ।

जाते थे। मंत्री को यह भी शक्ति दी गई थी कि मंडल को 'सामान्य प्रकार के निदेश' दे सके जिनका पालन मंडल को अवश्य करना चाहिए।[1] मंत्री के अधीन केंद्रीय भूमि मंडल को राष्ट्र के लिए सर्वोच्च भूमि आयोजना अभिकरण बना दिया गया है और स्थानीय प्राधिकारों की शक्तियाँ इनको अधीनस्थ कर दी गई हैं।

अधिनियम के अधीन मंत्री द्वारा निश्चित तारीख से पहले हर स्थानीय प्राधिकार से अपेक्षा की जाती है कि "वह अपने क्षेत्र का एक 'सर्वेक्षण' करे और उसके साथ उस क्षेत्र की एक 'विकास आयोजना' मंत्री के पास प्रस्तुत करे, जिसमें वह तरीका बताया गया हो, जिससे उस क्षेत्र की जमीन का उपयोग करने का प्रस्ताव है....और वे चरण जिनमें यह विकास किया जाना है' हर स्थानीय प्राधिकार द्वारा भेजे गए विकास-आयोजना में "ऐसे लक्ष्यों और ऐसी वर्णनात्मक सामग्री शामिल करने की अपेक्षा की जाती है जो प्रस्तावों का दिग्दर्शन करने के लिए जरूरी हो—और उस मात्रा तक खास-खास चीजें भी बताई जानी चाहिए, जो उस क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों के लिए उपयुक्त हों।" यह भी विशिष्ट रूप से बताया जाता है कि ऐसी आयोजना में 'प्रस्तावित सड़कों, सरकारी और दूसरी इमारतों और निर्माण-कार्यों, और हवाई अड्डों, पार्कों, मनोरंजन के मैदानों, प्राकृतिक संरक्षित जगहों तथा दूसरी खुली जगहों के स्थल किस तरह हों और "खेती, निवास, औद्योगिक या दूसरे प्रयोजन के लिए भूमि उपयोग के इलाके बांटे गए हों," और किसी सार्वजनिक प्राधिकार द्वारा "अनिवार्य रूप से अवाप्त की जानी वाली जमीन बताई गई हो, जिसमें वह जमीन भी शामिल है जिसे स्थायी प्राधिकार" समझता है कि पूरी तरह से विकसित या पुनर्विकसित किया जाना चाहिए— ताकि विस्तृत युद्धक्षतियों या गलत विन्यास या निरर्थक पड़ गए विकास की हालतों या आबादी या उद्योग के पुनर्बंटन की व्यवस्था करने के प्रयोजन से उसका संतोषजनक रूप से निपटान किया जा सके।[2]

इन उद्धृत अवतरणों से अधिनियम में सोची गई भूमि-आयोजना की व्याप्ति और गहराई का पता चल जाता है। अधिनियम के अधीन मंत्री को (केंद्रीय भूमि मंडल को ब्यौरे के कर्त्तव्य पूरे करने का काम सौंपते हुए) यह शक्ति दी गई कि हर स्थानीय प्राधिकार की विकास आयोजना को "या तो बिना फेरबदल के या जो फेरबदल वह इष्टकर समझता है, उसके अधीन' मंजूर करे।"[3] कोई भी स्थानीय आयोजना प्राधिकार किसी भी समय स्वतः अपनी आयोजना में मंत्री के विचारार्थ

---

[1] वही, धारा २ और ३

[2] वही, धारा ५।

[3] वही, धारा ५।

कोई संशोधन भेज सकता है और उससे अपेक्षा की जाती है कि ५ सालों में एक बार उस इलाके का नया सर्वेक्षण करे और मंत्री के पास सर्वेक्षण का एक प्रतिवेदन तथा आयोजना में अपेक्षित लगने वाले परिवर्तन या जोड़-तोड़ के प्रस्ताव के साथ सर्वेक्षण का प्रतिवेदन मंत्री के पास भेजे ।[1]" यह भी व्यवस्था की गई है कि अभिरूचि लेने वाले पक्ष स्थानीय आयोजना को देख सकें और मंत्री द्वारा उसके अंतिम रूप से अनुमोदित होने से पहले उनकी आपत्तियों को सुना जा सके ।[2] एक बार स्थानीय क्षेत्र की आयोजना मंत्री द्वारा अनुमोदित हो जाने पर 'विकास आदेश' के रूप में अनुमति कुछ मामलों में मंत्री से दूसरे मामलों में स्थानीय आयोजना प्राधिकार से 'जमीन के विकास' के लिए प्राप्त करे, जिसका मतलव है कि "जमीन के ऊपर या नीचे इमारत इंजीनियरी खनन या दूसरे कार्य चलाने के लिए या इमारतों या या दूसरी जमीन के उपयोग में कोई सारवान् परिवर्तन करने के लिए" और यह अनुमति तभी दी जाती है, जबकि प्रस्ताव आयोजना के अनुरूप होता है ।[3]

हालांकि जमीन के उपयोग की आयोजना की विस्तृत प्रक्रिया में समय-समय पर फेर-बदल किए गए हैं, तथापि कंजरवेटिव सरकार द्वारा शहरी और देहाती आयोजना अधिनियम १९४७ ई० के बुनियादी उपबंध वैसे ही रहने दिए गए हैं। इंगलैंड के सभी आयोजना प्राधिकार मंत्री के पास अपने-अपने क्षेत्रों में भूमि उपयोग की आयोजनाएँ अधिनियम द्वारा अपेक्षित रूप में संशोधनों के साथ या बिना नियमित रूप से भेजते रहते हैं और उनके द्वारा उनका अनुमोदन किया जाता है। चूँकि इन आयोजनों में धरती और वास्तविक संपदा के निजी स्वामियों के अपनी धरती को मनचाहे रूप में विकसित करने के अधिकारों में अनेक परिवर्तन अंतर्ग्रस्त होते हैं और चूँकि प्रत्येक हित वद्ध पक्ष को उसकी जमीन पर असर डालने वाली आयोजना के प्रभावी बनाए जाने से पहले सुनवाई का अधिकार मिला हुआ है, इसलिए स्थानीय आयोजनाओं के स्थानीय रूप से तैयार किए जाने और मंत्री द्वारा उस पर विचार किए जाने में काफी परेशानी अंतर्ग्रस्त होती है। कंजरवेटिव सरकार ने ऐसा कोई इरादा प्रकट नहीं किया है कि भूमि के उपयोग के ऊपर केंद्रीयकृत सरकारी नियंत्रण को बिखेर दे या लेबर सरकार द्वारा १९४७ ई० के शहर और देहाती आंयोजना द्वारा जमीन के उपयोग के स्वामी के अधिकार पर लगाए गए सख्त बुनियादी वंधनों को कम कर दिया जाए।

---

[1] वही, धारा ६ ।

[2] वही, धारा १० ।

[3] वही, धारा १२-१८ ।

नए शहर

लेबर सरकार ने ब्रिटिश जीवन में परिवर्तन करने के जिन मामलों में पहल की, उनमें से एक नए शहरों का बनाया जाना है, जिसने पश्चिमी जगत में काफी अभिरुचि जाग्रत की है। १९४६ ई० के एक नए शहर अधिनियम द्वारा, जिसकी पूर्ति कंजरवेटिव सरकार के अधीन बाद के अधिनियमों से की गई, नगर और देहात आयोजन मंत्री को (जिसे 'अब आवास और स्थानीय सरकार मंत्री' कहते हैं) अधिकार दिया गया कि स्थानीय अधिकारियों से परामर्श करने के बाद वह चुने हुए भूमि क्षेत्र को नए शहरों के स्थल के रूप में अलग कर सकते हैं। स्थल के चुन लेने के बाद मंत्री एक विकास निगम (एक सभापति और ८ तक सदस्य) नियुक्त करते हैं जो नए शहर के लिए विशाल आयोजना (मास्टर प्लान) तैयार करता है। इसका अनुमोदन मंत्री और राजकोष द्वारा हो जाने के बाद राजकोष निगम को रकम देता है जिससे वह या तो स्वैच्छिक या अनिवार्य बिक्री से जमीन को अवाप्त करे, सड़कें, सीवर लाइनें स्कूल और दूसरी सुविधाओं का निर्माण करे तथा कारखानों की इमारतें, दूकानें और घर बनाए जो या तो कारबार फर्मों और परिवारों को या तो बेच दिए जाएँ या किराए पर दिए जाएँ। राजकोष द्वारा दिए गए पैसे का भुगतान पहले तय की गई शर्तों पर किया जाता है। जब नए शहर की भौतिक सुविधाएँ काफी मात्रा में तैयार हो चुकती हैं और कारबार फर्म तथा आबादी आ कर बस जाती है, तो विकास निगम का दायित्व होता है कि अपने-आपको भंग कर दे और अपनी जायदाद एवं संचालन का काम नए शहरों के राष्ट्रीय आयोग को सौंपे। इस आयोग में आवास तथा स्थानीय मंत्री द्वारा नियुक्त १५ से अनधिक सदस्य होते हैं और वह मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता है। उस समय से ये सब आस्तियाँ और उनमें होने वाली बाद की वृद्धियों का स्वामित्व आयोग के पास रहता है। विकास निगम नए शहर को विकसित करने की जिम्मेदारी पूरी करके सब कुछ आयोग को सौंप देता है। यह प्रक्रिया इस सिद्धांत पर आधारित है कि नगर के विकास के लिए जरूरी मूल पूँजी राष्ट्रीय सरकार ने दी थी और इसलिए विकास पूरा हो जाने के बाद सभी विद्यमान निबल आस्थियों से ही प्राप्त होनी चाहिए। हर शहर की स्थानीय सरकार उसी तरह होती है, जैसे ब्रिटेन के बाकी शहरों की।

अब तक ऐसे १५ नए शहर बसाए गए हैं। उनके पूर्ण होने की स्थिति अलग-अलग है। इनमें से ८ लंदन से ३० मील के भीतर के इलाके में हैं, जो ऐसे कारबार उद्योगों और जनसमूह को आकर्षित करने के उद्देश्य से बनाए गए हैं, जो लंदन के पास तो रहना चाहते हैं, पर साथ ही उसकी भीड़-भाड़ से भी बचना चाहते हैं। उम्मीद की जाती है कि हर शहर आगे चल कर स्थानीय रोजगार की दृष्टि से

आत्मनिर्भर हो जाएगा और ८० हजार से अनधिक आबादी के मध्यम आकार के शहर के रूप में विकसित होगा। इन नए शहरों में लगभग ४०० कारबार फर्में और कारखाने हैं और लगभग ३ लाख आदमी काम करते हैं। सरकार ने उनके विकास में २० करोड़ पौंड का निवेश किया है और अगर सबसे पुराने शहर को नमूने के रूप में लिया जाए तो यह सारी लागत और आगे चल कर यह सारा पैसा ब्याज के साथ चुका दिया जाएगा। ये शहर शहरों की भीड़-भाड़ की समस्या का सामना करने के लिए आगे बढ़ाया गया एक कदम है। संभवतः नए शहरों की प्रायोजनाएँ शहरी प्रयोजन से धरती के भावी आयोजित उपयोग में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती रहेंगी।

विकास का खर्च

एक समय लेबर दल ने यह सैद्धांतिक स्थिति ली थी कि सारी धरती के स्वामित्व का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। १९४५ ई० में जब दल को सत्ता मिली, तो इस सख्त स्थिति का अब वह प्रस्ताव नहीं कर रही थी। शहर और देहात आयोजना अधिनियम १९४७ ई०में ऐसी व्यवस्थाएँ थीं, जो धरती की कीमत में होने वाली वृद्धि सरकारी राजकोष के लिए रखना चाहती थीं और जो आमतौर पर उन व्यक्तिगत भू-स्वामियों को मिलती थी जो सौभाग्य से उस समय धरती के मालिक होते थे, जब वह ज्यादा कीमत वाले उपयोग में बदले जाने के लिए तैयार होती थी। अधिनियम में व्यवस्था की गई कि धरती को विकसित करने की आज्ञा देने से पहले अर्थात् इमारत खड़ी करने या इमारत का विस्तार करने या किसी और दूसरे रूप में धरती के उस टुकड़े का उपयोग बदलने से पहले उस धरती के विकास करने वाले से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह केंद्रीय भूमि मंडल को (और उसके जरिए राजकोष को) एक विकास-व्यय की रकम दी जाए—जो उतनी होगी, जितना कि मंडल निर्धारित करे। विकास-व्यय की रकम का निर्धारण करने के लिए अधिनियम में मंडल से यह अपेक्षा की गई थी कि "वह उस रकम का ध्यान रखेगा, जितनी उस जमीन की कीमत उन संचालनों या उपयोगों के लिए आयोजना के लाभ के कारण—उस कीमत से ज्यादा बढ़ी है जो इस तरह के उपयोग की अनुमति न दिए जाने पर होतीं।[1]"

अधिनियम का विकास-व्यय वाला हिस्सा सन् १९४८ से १९५१ ई० तक जिस रूप में लागू किया गया, तदनुसार मंत्री और केंद्रीय भूमि मंडल को कम-से-कम सिद्धांत में विकास-व्यय शत-प्रतिशत उस अंतर के रूप में लेते हुए देखा गया, जो

---

[1] शहर और देहात आयोजना अधिनियम, धारा ६९, ७०।

मंडल के अनुमान से जमीन के पहले उपयोग की कीमत थी और विकासकर्त्ता के आवेदन में उसे विकसित करने के नए उपयोग की कीमत थी। विकासकर्त्ता और इस तरह से विकास-व्यय का भुगतान करने वाला वह व्यक्ति या कंपनी या जो आज्ञा के लिए आयोजना अधिकारी के पास अपना आवेदन देती थी—यह इन दोनों में से कोई हो सकता था; (१) वह व्यक्ति या कंपनी जो भूतकाल में कुछ ज्यादा लंबी अवधि तक जमीन की मालिक रही थी या (२) वह व्यक्ति या कंपनी जिसके नए काम के लिए जमीन को अभी-अभी खरीदा था। पहले के मामले में विकास से पहले स्वामित्व का कोई स्थानांतरण न होता था। दूसरे मामले में नए मालिक को खेती वाली जमीन पर मकान बनाने या घरों के स्थल पर कारबार या औद्योगिक इमारत खड़ी करने के लिए अनुमति मिलने पर विकास-व्यय का भुगतान करना होता था। जब किसी व्यक्ति या कंपनी को नए उपयोग के लिए जमीन खरीदने की बात सोचने पर उपयोग में होने वाले परिवर्तन के मूल्य की पूरी वृद्धि चुकानी पड़ती थी, तो वह जमीन के पुराने उपयोग से ज्यादा मूल्य चुकाने का इच्छुक न होता था। अगर वह इससे ज्यादा पैसा देता, तो उसके बाद भी उसे विकास-व्यय देना पड़ता और इस तरह उसका खर्चा संभवतः जमीन के नए उपयोग की कीमत से बढ़ जाता। इसलिए अधिनियम का उद्देश्य स्पष्टतः यह था कि नए उपयोग में बदले जाने वाले जमीन के हर टुकड़े का स्थानांतरण दाम उसके पुराने उपयोग के दाम-जैसा ही रहे, उसके नए उपयोग वाले दाम से प्रभावित न हो। अधिनियम का अभिप्राय तो यही था और सिद्धांततः इसका पालन भी किया गया, पर वास्तव में केंद्रीय भूमि मंडल ने विकास-व्यय को प्रशासित करने के इस तरीके ने विवेकानुसार काम किया, जिसके अनुसार जमीन के पुराने उपयोग और जमीन के नए उपयोग का मूल्य-निर्धारण उसके द्वारा किया गया। इस विवेक के उपयोग का नतीजा यह हुआ कि अधिकांश मामलों में विकास-व्यय द्वारा लिया गया मूल्य पूरी वृद्धि से कुछ कम था। इस प्रकार जमीन की मूल्य-वृद्धि का कुछ अंश विकासकर्त्ता को ही मिला, जो वृद्धि जमीन के नए उपयोग के साथ हुई थी और कुछ मामलों में वृद्धि के इस अंश का हिस्सा भूतपूर्व स्वामी के साथ भी बाँटा गया; क्योंकि वृद्धि में से कुछ हिस्सा अपने पास रख लेने की संभावना से लोगों ने सफलता के साथ उस जमीन की बोली उस दाम से ज्यादा लगाई, जो वे उस वक्त लगाते, यदि उन्हें पहले से पता होता कि विकास-व्यय पूरी वृद्धि के बराबर होगा।

ऊपर जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास-व्यय को अमल में लाने से समन्याय और प्रशासन की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इन ग्रस्त समस्याओं के नमूने के रूप में एक उदाहरण दिया जा सकता है। अधिनियम

के प्रभावी होने के तुरंत बाद केंद्रीय भूमि मंडल नीचे लिखे काल्पनिक उदाहरण में बताई गई परिस्थिति को लेकर चिंता में पड़ गया : किसी शहर या बड़े नगर के पास का जमीन का एक टुकड़ा खेती के काम में आ रहा है और उसकी कीमत ५० पौंड है। वह जगह मकान बनाने के लिए भी उपयुक्त हो सकती है और इस तरह उसकी कीमत २०० पौंड हो जाती है। अगर खरीददार उसे मकान बनाने की जगह के रूप में लेता है, तो उसे मकान बनाने की आज्ञा प्राप्त करने से पहले १५० पौंड का विकास-व्यय देना होगा। मंडल ने देखा कि ऐसी हालत में व्यवहार में नीचे लिखी दो चीजों में कोई एक चीज होगी : (१) किसान यह देखेगा कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा ५० पौंड मिल सकते हैं और वह यह भी देखेगा कि अगर वह उस जमीन का उपयोग स्वयं मकान बनाने के लिए करे, तो उसे भी १५० पौंड का विकास-व्यय देना होगा। इसलिए वह न तो जमीन को बेचेगा और न उस पर मकान बनाएगा; क्योंकि दोनों में से एक भी काम करने से उसे लाभ न होगा। इसलिए वह ज्यादा कीमती उपयोग के लिए जमीन का स्थानांतरण रोक देगा, जो स्थानीय आयोजना के पूरी तरह अनुरूप उपयोग न होगा। (२) विकासकर्त्ता जमीन को मकान बनाने के लिए विकसित करने का अवसर देखकर और किसान को ५० पौंड में किसान को जमीन बेचने का अनिच्छुक पाकर किसान को ५० पौंड से कुछ ज्यादा मान लो १५० पौंड लेने का प्रस्ताव करेगा। तब विकासकर्त्ता को १५० पौंड का विकास-व्यय भी देना होगा (क्योंकि केंद्रीय भूमि मंडल अब भी उस जमीन को केवल ५० पौंड कीमत वाली खेती की जमीन मानेगा) और इस तरह जमीन की कुल कीमत मकान बनाने के लिए उसकी २०० पौंड की कुल कीमत से बढ़कर ३०० पौंड हो जाएगी। इसका नतीजा यह होगा कि उस जमीन का मूल्य बढ़ जाएगा और लागत असली स्तर से ज्यादा हो जाएगी तथा इसलिए आगे चलकर नए बने मकान का दाम या किराया भी ज्यादा होगा।

ऐसा रोकने के लिए मंत्री और केंद्रीय भूमि मंडल ने घोषणा की कि मंडल अधिनियम के अधीन पुरानी कीमत पर जमीन को अनिवार्य रूप से ले लेने की अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा, जिसके बारे में वह समझता है कि उस जमीन को जानबूझ कर ज्यादा कीमती उपयोग से रोका जा रहा है या जिसकी स्थानांतरण कीमत उसके पुराने उपयोग के मूल्य से ज्यादा माँगी जा रही है या जिसे विकासकर्त्ता द्वारा इसके पुराने उपयोग के मूल्य से ज्यादा दाम लेकर खरीदा गया है। जिस मामले में केंद्रीय भूमि मंडल वस्तुतः जमीन को अनिवार्य रूप से खरीदने की अपनी शक्ति का उपयोग करेगा जिससे पुराना मालिक पुराने उपयोग में जमीन के मूल्य के बराबर दाम लेकर जमीन को छोड़ दे, ऐसे मामले में भू-स्वामी ने अदालतों में अपीलें भी कीं और यह दावा

किया कि अधिनियम ने मंडल को ऐसी कोई शक्ति नहीं दी कि जमीन को जवरदस्ती पुराने उपयोग के मूल्य पर बेचा जाए। अदालतों में मंडल की बात मानी गई और आखिर में १९५१ ई० में अपील न्यायालय ने मंडल के पक्ष में फैसला दिया।

अधिनियम में ही विकास-व्यय से संबंधित दूसरी समस्या की ओर भी ध्यान दिया गया था। १९४८ ई० में अधिनियम के प्रभावी होते समय जमीन के ऐसे अनेक टुकड़े थे, जो कुछ नए और ज्यादा मूल्यवान् उपयोग में बदलने के लिए बेचे जा रहे थे या कुछ ज्यादा मूल्यवान् काम में तत्कालीम मालिकों द्वारा बदले जा रहे थे। जब अधिनियम प्रभावी हुआ, तो विकास-व्यय का मतलब यह हुआ कि मूल्य में जो वृद्धि उस समय उन जमीन मालिकों द्वारा ली जा रही थी, उसको जब्त कर लिया गया। इसलिए अधिनियम में ३ करोड़ पौंड की एक निधि बनाई गई, जो ऐसे मालिकों को मुआवजा देने के लिए थी, जो यह सिद्ध कर सकते थे कि अधिनियम के कारण उनको कितनी वित्तीय हानि हुई है।

जैसाकि ऊपर काल्पनिक उदाहरण देकर बताया गया, विकास-व्यय के कारण आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व के उपयोग से ज्यादा महत्त्व के उपयोग में जमीन का बदलना धीमा हो गया। साथ ही पुराने उपयोग का मूल्य और नए उपयोग का मूल्य तथा विकास का व्यय तय करने के लिए उनका लगभग अंतर निकालना भी एक मुश्किल काम था। अनेक समस्याएँ प्रशासनिक दृष्टि से यह तय करने के लिए उठ खड़ी हुईं कि प्रस्तावित सुधार उपयोग में परिवर्तन है या नहीं, जिसपर विकास-कर्त्ता को विकास-व्यय देना पड़े। उदाहरण के लिए एक परिवार वाले मकान को दो परिवार वाले मकान में बदलना या किसी मकान में कई नए कमरे और बनाना या दूकान या कारखाने की इमारत में कुछ बढ़ोत्तरी करना क्या उपयोग में परिवर्तन माना जाए, जिस पर अधिनियम के अनुसार विकास-व्यय लगाया जाए? केंद्रीय भूमि मंडल की इच्छा तो यही थी कि अधिनियम के अधीन विकास-व्यय की व्यवस्था में इसे शामिल किया जाए। इससे गृह-संपदा में सुधार करने की आज्ञा के आवेदनों पर दफ्तरी जाँच का काम बढ़ा तथा उपयोग में परिवर्तन के साथ मूल्य-परिवर्तन की ब्यौरेवार जाँच करना जरूरी हो गया तथा अनेक छोटे-मोटे विकास व्यय लगाने जाने लगे, जिन्होंने भूमि के मूल्य की वृद्धि को सरकारी कोष में लाने के बुनियादी उद्देश्य को तो उतना पूरा नहीं किया, जितना लोगों की परेशानियाँ बढ़ाईं।

१९५१ ई० तक विकास-व्यय जनता के बीच बड़ा ही अ-लोकप्रिय हो चुका था और सरकार में आने पर कंजरवेटिव दल ने प्रतिज्ञा की कि वह इसमें पूरा-पूरा संशोधन करेगा। सरकार ने इन दोनों विकल्पों में से एक विकल्प जनता को दिया : (१) जमीन के उपयोग में मामूली परिवर्तन के लिए छोटे-मोटे विकास-शुल्क बिल्कुल

न लेने के लिए संशोधन किया जाए और मूल्य में निर्धारित वृद्धि के एक अंश पर ही (सुझाव ७५ प्रतिशत का था) अधिकृत रूप से शुल्क लगाया जाए (२) जमीन या गृह-संपदा में सुधार के लिए अनुमति लेने में विकास-शुल्क को बिलकुल ही न लिया जाए। पहली चीज की पूर्ति में अनेक अदृष्ट दिक्कतें थीं, इसलिए दूसरा मार्ग चुना गया और अधिनियम का विकास-शुल्क वाला अंश १९५३ ई० में निरसित कर दिया गया।

तथापि यह कोई आसान समाधान नहीं था जैसाकि यह शुरू-शुरू में लग रहा था। सन् १९४८ और १९५३ ई० के बीच तरह-तरह के विकास-शुल्क लगाए और चुकाए गए थे। विकास-शुल्क के निरसित करने से उन लोगों पर दंड पड़ा, जिन्होंने पहले पाँच साल में जमीन को विकसित किया था या बेचा था और तुलना में जिन लोगों ने उसको हाथ में रखा था, वे अब अधिनियम के निरसित होने के बाद उसे बिना विकास-शुल्क चुकाए ही बेच या विकसित कर सकते थे। सभी के साथ एक-सा बर्ताव करने का ध्यान रखते हुए निर्सन के प्रस्ताव के साथ ही उन लोगों को ब्याज सहित पैसा चुकाने की भी व्यवस्था की गई थी, जिन्होंने सन् १९४८ से १९५३ ई० के बीच विकास-शुल्क चुकाया था। ऐसे मुआवजे के दावों का पता लगाना और मूल्यांकन करना बड़ा जटिल काम था। अनेक मामलों में विकास-शुल्क चुकानेवाला विकासकर्त्ता था, जिस पर शुल्क का बोझ न पड़ा था; क्योंकि उसने जमीन पुराने उपयोग के दाम पर खरीदी थी और उसके नए उपयोग में उसे विकसित करने के विशेषाधिकार के रूप में विकास-शुल्क चुकाया था, जबकि जिस व्यक्ति पर विकास-शुल्क का बोझ पड़ा था वह पुराना मालिक था, जिसने विकास-शुल्क के कारण अपनी जमीन घटे हुए दाम पर बेची थी। मुआवजे के दावों की रकम पाँच वर्ष में विकास-शुल्क के रूप में जो निबल प्राप्तियाँ हुई थीं, उससे ज्यादा ही हो गई।

ब्रिटेन में विकास-शुल्क के इतिहास को यहाँ पर कुछ ब्योरों के साथ यह बताने के लिए दिया जा रहा है कि समाजवादियों को अपने इस सिद्धांत को अमल में लाने में कितनी मुश्किल का सामना करना पड़ता है कि जमीन के मूल्य में हुई वृद्धि व्यक्ति को नहीं मिलनी चाहिए, भले ही वह भूमि के स्वामित्व का पूरी तरह समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण करने को तैयार न हो। ब्रिटेन में हुए इस अनुभव से बार-बार दिए जाने वाले इस सुझाव के अमल में लाने के आड़े आने वाली समस्याओं पर भी प्रकाश पड़ता है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में हमें भूमि-मूल्य में होनेवाली वृद्धि से लोगों को निजी रूप से मिलने वाली 'अनर्जित आय' खत्म कर देनी चाहिए। यह मानते हुए भी कि विकास-शुल्क के प्रशासन में मुश्किलें पैदा हुईं, लेबर दल का यह कहना रहा है कि इसे खत्म कर देने से जमीन के दामों में

सट्टे के रूप में भाव बढ़ने की प्रवृत्ति पैदा हो गई और सार्वजनिक सुधार प्रायोजनाओं के लिए जरूरी जमीन स्थानीय सरकारों द्वारा अवाप्त करने में बाधा पड़ी। १९६० ई० में लेबर दल के प्रमुख ने इन शब्दों में कठोर आलोचना की : "कंजरवेटिव शासन के फलस्वरूप समुदाय को घाटा देकर और जिन लोगों को ज्यादा फायदा पहुँचा है, वे शहरों के आसपास की जमीन के मालिक हैं, जो विकास या पुनर्विकास के लिए उपयुक्त थीं।" उन्होंने इस बात के उदाहरण भी दिए कि दो से आठ साल के बीच जमीन के दाम पिछले मूल्यों से ५ से १० गुने तक बढ़ गए। उन्होंने आरोप लगाया था कि सट्टेबाजों और भू-स्वामियों ने इन स्रोतों से भारी फायदा उठाया है और उन्होंने पूछा कि "इन लोगों ने बदले में सार्वजनिक फायदे के लिए क्या किया है? बिलकुल कुछ भी नहीं। इन्होंने कोई चीज पैदा नहीं की है, किसी भी चीज का आविष्कार नहीं किया है और किसी भी चीज का संगठन नहीं किया।" उन्होंने तर्क दिया कि "अच्छी आयोजना का मतलब है कि शहरी जमीन के ऊपर चाहे वह विकसित हो या अविकसित....सरकारी स्वामित्व होना चाहिए।"[१] एक ब्रिटिश पत्रिका ने लेबर दल से अनुरोध किया कि 'वह पुराने विकास' शुल्क को फिर से लगानेका समर्थन करे और यह सुझाव दिया कि "यह विकास शुल्क जमीन के मूल्य में वृद्धि के हिसाब से शत प्रतिशत न होकर उसका ७५ प्रतिशत हो।"[२]

सरकारी आय-व्ययक

हाल के वर्षों में सामाजिक और आर्थिक नीति को प्रभावी बनाने में ब्रिटिश सरकार का आय-व्ययक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। अर्थतंत्र में इसकी स्थिति का पूरा-पूरा परीक्षण करने के लिए तो काफी लंबा-चौड़ा विश्लेषण जरूरी होगा, फिर भी ब्रिटिश आर्थिक आयोजना का अध्ययन करने के लिए आय-व्ययक के आर्थिक और सामाजिक महत्त्व पर कुछ विचार कर लेना संगत होगा। सरकार के सामान्य कार्यकलाप के लिए पैसा जुटाने के सामान्य काम के अलावा आय-व्यय का उपयोग नीचे लिखे तीन उद्देश्यों से भी किया जाता है। (१) बिना मुद्रा-स्फीति लाए ब्रिटेन के श्रमिकों और संसाधनों का पूरा-पूरा नियोजन बनाए रखना, (२) उपभोक्ताओं के चुनाव को प्रभावित करना और इस प्रकार संसाधनों को उत्पादन की वांछित दिशा में मोड़ना, (३) सरकार की सामान्य सेवाओं के लिए वित्त व्यवस्था करना। हालांकि ये उद्देश्य एक दूसरे को अतिछादित कर लेते हैं और जिन साधनों से इनको प्रभावी किया जाता है, उनमें परस्पर अनेक अंतःसंबंध होते हैं; फिर भी

---

[१] ह्यू गेट्स्कल, दि सन डे, टाइम्स, लंदन, १९ जून, १९६०।

[२] न्यू स्टेट्समैन, २ जुलाई, १९६०, पृष्ठ ३।

संक्षेप और स्पष्टता के लिए उनको अलग-अलग प्रस्तुत किया जाता है। सन् १९४५ से १९५१ ई० के अपने पदकाल में लेबर सरकार ने इन सभी उद्देश्यों को वांछित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आय-व्ययक के उपयोग को एक साधन बनाया।

पूरा नियोजन

द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के उद्योगों में पूरा रोजगार प्राप्त हो गया और पहले महायुद्ध के बाद पहली बार इससे श्रमिकों को पूरा-पूरा रोजगार मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के समय में पूरा रोजगार बनाए रखना १९४५ ई० में लेबर सरकार का मुख्य दायित्व माना गया और पूरा रोजगार बनाए रखना लेबर दल का मतदाताओं से समर्थन प्राप्त करने के लिए एक प्रमुख वादा रहा। ब्रिटेन में बजट-संबंधी नीति और प्रक्रिया दृढ़ रूप से कीनेस प्रकार की है। यह माना जाता है कि सरकार एक प्रमुख आय प्राप्त करने वाली और खर्च करने वाली संस्था है और उसकी प्राप्तियों तथा खर्चों को फिर से संचालित करने से माल खपाने में बाजार पर काफी सशक्त प्रभाव पड़ता है, पूँजी उपकरणों में निधियों का निवेश करने में निजी व्यावसायिकों को अभिप्रेरण मिलता है, ज्यादा उपभोग के लिए या बचत करने के लिए परिवारों का अभिप्रेरण मिलता है और इस तरह औद्योगिक कार्यकलाप का स्तर तथा अर्थ-व्यवस्था के कुल उत्पादन का आकार भी बढ़ता है।

इसलिए यह अचंभे की बात नहीं है कि हर साल सरकारी आय-व्ययक का बनाया जाना सरकार द्वारा राष्ट्रीय आय-संबंधी श्वेत पत्र के प्रकाशन के बाद किया जाता है। पिछले में पहले के वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आय की रकम और स्रोत का पूरा-पूरा सर्वेक्षण किया जाता है और साथ ही इस बारे में पूरी-पूरी दत्त सामग्री दी जाती है, निजी कारबार फर्मों और सरकार द्वारा किन प्रयोजनों से आय का इस्तेमाल किया गया एवं किसी की क्या प्रवृत्तियाँ रहीं, इस दत्त सामग्री के आधार पर तथा विभिन्न सरकारी विभागों की अनुमानित जरूरतों के बारे में सामान्य आय-व्ययक सूचना के आधार पर ही राजकोष संसद् में विचार के लिए प्रस्तावित व्यय और राजस्व कार्य-क्रम के व्यौरे तैयार करता है।

सन् १९४८-९१४९ ई० के आय-व्यय को इस रूप में व्यवस्थित किया गया है, जो उन मदों को प्रकट कर देता है, जिनसे नगद प्राप्तियों की बेशी आएगी और वे जिनसे नगद घाटा होगा। फिर इनको मद वार इस प्रकार ठीक किया जाता है, जिस प्रकार की गुंजाइश मंत्री और संसद् विद्यमान पाते हैं। जब तक पूरा आय-व्ययक इस रूप में नहीं हो जाता, जिससे पूरे अर्थतंत्र पर वांछित प्रभाव पड़ने की उम्मीद न हो जाए। १९४० ई० के कुछ पूर्व के आय-व्ययक वर्षों से १९४५ ई० तक युद्धकालीन राजकोषीय कार्यों का प्रभाव रहा। इसलिए सन् १९४५ से १९५१ ई०

की लेबर सरकार ब्रिटेन की पहली सरकार थी, जो सामान्य हालतों में कीनेस के नवविकसित सिद्धांतों का उपयोग कर सकी। इसलिए इस काल में सामान्य आर्थिक कार्याकलाप को प्रभावित करने के प्रयोजन से सरकारी आय-व्ययक को इस प्रकार से काम में लाया गया, जिस रूप में वह कंजरवेटिव सरकार के अधीन आर्थिक कार्यकलाप के ऊपर एक प्रमुख अंकुश बना रहा।

राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग को छोड़ कर जो पहले ही नए आधार पर चल रहा था, सन् १९५६-१९५७ ई० के आय-व्ययक में एक नई बात रखी गई, जिसके द्वारा राष्ट्रीयकृत उद्योगों द्वारा लिए गए पूँजी पैसे को सरकारी वित्त व्यवस्था में जोड़ दिया गया और इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण निवेश मद को सरकार की राजकोषीय नीतियों के साथ निकट से समन्वित कर दिया गया। उद्योग के सरकारी स्वामित्व के लिए कीनेस के बाद एक यह भी तर्क दिया जाता रहा है कि सरकारी स्वामित्व के उद्योगों का निवेश व्यय 'लोक वित्त' का अंग बन जाता है और फिर आर्थिक स्थिति की माँग के अनुकूल समूचे आर्थिक कार्यकलाप को उद्दीपित या शांत करने के लिए उसे विस्तृत या सीमित किया जा सकता है। ब्रिटेन में कोयले को छोड़ कर बाकी सभी राष्ट्रीयकृत उद्योगों को निवेश निधि उधार लेने की कुछ सीमित स्वायत्त शक्तियाँ मिली रही हैं और जारी की गई प्रतिभूतियों की गारंटी राजकोष को देता रहा है। सन् १९५६-१९५७ ई० के आय-व्ययक से शुरू करके यह सभी पूँजी निवेश सुधार राजकोष द्वारा सीधे-सीधे किया जाता है। इस प्रकार राजकोष को इस उधार के लिए विशिष्ट समय और रूप के ऊपर ज्यादा शक्ति दे दी गई है तथा वह सरकार को अपनी राजकोषीय नीतियों के साथ ज्यादा अच्छे रूप में उनकी तालमेल बैठा सकता है। इस नई तकनीक से मुद्रा-स्फीति लाए बिना पूरा नियोजन बनाए रखने के सरकारी राजकोषीय कार्यक्रमों की शक्ति बढ़ सकती है, लेकिन यह 'हर्बर्ट समिति' की एक सिफारिश (पहले बताई जा चुकी) के खिलाफ जाती है कि बिजली-उद्योग और उसके लक्षितार्थ के रूप में अन्य राष्ट्रीयकृत उद्योगों को नियमित निवेश बाजार-संबंधी पूँजीनिवेश के लिए नया पैसा इकट्ठा करना चाहिए।

उपभोग का नियंत्रण

एक अर्थ में वास्तव में आय-कर का बड़ा ही प्रगतिशील स्वरूप और व्यापक समाजसेवाओं का राजकोष के पैसे से चलाया जाना (जिसके नीचे चर्चा की जा रही है) कुछ उपभोग वस्तुओं के उत्पादन-संसाधनों का उपयोग दूसरे उत्पादनों में बदल देते हैं। ज्यादा प्रत्यक्ष रूप में ब्रिटिश उपभोक्ता ने खरीदी हुई चीजों पर उत्पादन करके भारी रूप का और विभिन्न प्रकार के उत्पादन-करों का सामना किया है (जिनको ब्रिटेन में 'खरीद कर' कहा जाता है)। कुछ सामान्य उपभोग की चीजों पर

अपेक्षतया कम भारी उत्पादन-कर लगता है, विलास की चीजों पर तो उनके थोक भाव के शत-प्रतिशत तक का कर लगाया गया है। कम आय वाले उपभोक्ताओं का कर-भार कम करने के लिए सामान्य उपभोग की कम-से-कम दाम वाली चीजों को अक्सर 'उपयोगिता' वस्तु कहा जाता है। इस प्रकार उन पर उत्पादन-कर बहुत कम मात्रा में लगता है। बोली लगाने पर काफी भारी कर लगाए गए हैं और फुटबाल की समूह प्राप्तियों पर ३० प्रतिशत तक कर लगाया गया है, ताकि श्रम को जुए की सुविधाओं से हटा कर दूसरी ओर लगाया जा सके। कुछ मामलों में जैसे नई मोटरकारों की घरेलू बिक्री पर एक भारी कर लगाया गया है, ताकि उत्पादों की घरेलू बाजार में बिक्री कम हो सके। और इस तरह ज्यादा मात्रा में कार उस विदेशी विनिमय पर बेचने के लिए मिल सकें, जहाँ कि उसे प्राप्ति करना जरूरी है। तंबाकू पर भारी कर लगाना इसलिए उचित था कि तंबाकू का आयात कम करना था, जिसके लिए ब्रिटेन को मुश्किल से अर्जित डालर विनिमय देना पड़ता था। आयात पर लगाए गए शुल्क, जो उपभोग-कर के रूप में प्रभाव डालते हैं और उत्पादन-करों को मिला कर कुल चालू सरकारी राजस्व का लगभग ४० प्रतिशत इकट्ठा किया जाता है। जिन बहुत-सी चीजों पर उत्पादन-कर लगाए जाते हैं और समय-समय पर जिस सावधानी के साथ विशेष उत्पादन-करों की दरों को बदला जाता है, उससे पता चलता है कि इन करों का उपयोग महत्त्वपूर्ण मात्रा तक उपभोग का नियंत्रण और उत्पादक संसाधनों का आवंटन करने के लिए किया जाता है। सन् १९४५ से १९५१ ई० तक के अपनी पदावधि में लेबर सरकार ने इन उत्पादन-करों के बारे में कोई खास नई बात नहीं की, जो पहले ही युद्धकाल में काफी ऊँचा स्तर प्राप्त कर चुकी थीं। वह उनका नियंत्रक साधन के रूप में उपयोग करती रही और जैसाकि उसकी परिवर्ती कंजरवेटिव सरकार ने किया, तत्काल परिस्थिति के लिए जरूरी कुछ नियंत्रण प्राप्त करने के लिए उनमें समय-समय पर कुछ समंजन करती रही।

सामान्य सेवाएँ

यह एक स्थूल शब्दावली है और इसमें ठीक-ठीक क्या-क्या शामिल किया जाना चाहिए, इस बात को लेकर बहस की जा सकती है। अगर समाजसेवाओं पर होने वाले व्यय में शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज-बीमा और सहायता, परिवार भत्ता और ,खाद्य तथा मकानों के दाम कम करने के लिए दी गई अर्थ-सहायता को शामिल कर लिया जाता है, तो राष्ट्रीय सरकार द्वारा समाजसेवाओं पर किया जाने वाला खर्च कुल खर्च का लगभग एक तिहाई आ जाता है। ये खर्च बचत की नीचे लिखी मदों पर किए जाते हैं : शिक्षा, स्वास्थ्य, राष्ट्रीय बीमा, राष्ट्रीय

सहायता, परिवार भत्ता, कृषि और खाद्य सहायता तथा आवास सहायता।

आय-व्यय का उपयोग राष्ट्र के नागरिकों के लिए एक चुना गया न्यूनतम जीवन-स्तर बनाए रखने के लिए रखा गया है। इसका मतलब यह नहीं है कि यह काम लेबर सरकार ने शुरू किया था। उसने इस दिशा में ब्रिटेन की काफी समय की प्रवृत्ति में तेजी ही पैदा की थी। नीचे लिखे तथ्यों से इस प्रवृत्ति और इसमें हाल में आई हुई तेजी का पता चल जाता है। १९०० ई० में ऊपर बताई गई प्रकार की समाजसेवाओं में प्रति व्यक्ति लगभग एक पौंड सरकारी खर्च होता था। १९३८ ई० तक यह बढ़ कर १० पौंड प्रति व्यक्ति हो गया और १९५० ई० तक यह ३७ पौंड प्रति व्यक्ति हो गया। अगर पौंड की क्रय शक्ति में आए परिवर्तन को ध्यान में रख लिया जाए, तो १९५० ई० में समाजसेवाओं पर होने वाला सरकारी खर्च १९०० ई० की तुलना में १२ गुना और १९३८ ई० की तुलना में दूना था।[1]

महायुद्ध के खर्च के बोझ पर अक्सर किए जाने वाले आग्रह के प्रकाश में इस प्रवृत्ति की तुलना लेबर दल की पदावधि के दौरान समाजसेवाओं पर होने वाले व्यय की प्रवृत्ति के साथ करना बड़ा रोचक है। अगर युद्ध-व्यय की परिभाषा में युद्ध पेंशनों और युद्धकालीन कर्जों का ब्याज भी जोड़ा जाए, तो अनुमान लगाया जाता है कि वे सन् १९०० से १९४९ ई० तक राष्ट्रीय आय के ८.३ प्रतिशत से बढ़ कर १२.८ प्रतिशत हो गए हैं। इस बीच राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों के व्ययों को जोड़ कर समाजसेवाओं पर कुल व्यय इसी अवधि में राष्ट्रीय आय के २.१ प्रतिशत से बढ़ कर १७.५ प्रतिशत हो गया है। राष्ट्रीय आय से सापेक्ष समाजसेवाओं का वार्षिक व्यय १९०० ई० के स्तर से ८ गुना बढ़ा है, जबकि युद्ध व्यय १९०० ई० के स्तर से केवल आधा ही बढ़ा है। इस तुलना में वास्तव में सक्रिय युद्ध के वर्ष शामिल नहीं हैं, जिनमें युद्ध व्यय राष्ट्रीय आय के काफी हिस्से को ले जाता था (औसत रूप में सन् १९४०-१९४४ ई० के वर्षों में ६५ प्रतिशत)। इस तुलना से पता चलता है कि सक्रिय युद्धों के वर्षों को छोड़ कर समाजसेवाओं के विस्तार पर काफी जोर दिया जाता रहा है। इस दत्त-सामग्री से यह भी पता चलता है कि १९४५ ई० में लेबर सरकार द्वारा सत्ता सँभालने के बाद से १९४९ ई० तक समाजसेवाओं-संबंधी सरकारी व्यय राष्ट्रीय आय के १०.६ प्रतिशत से बढ़ कर १७.५ प्रतिशत हो गया, जो ६५ प्रतिशत की वृद्धि थी।[2]

---

[1] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १ अप्रैल, १९५०, पृष्ठ ६६४।

[2] दि लंदन इकोनॉमिस्ट १ अप्रैल, १९५० ई० पृष्ठ ६६५ में दी गई सारणियों पर आधारित, जैसाकि इन सारणियों के साथ दिए गए मूल पाठ में बताया गया है कि ये प्रतिशतक आँकड़े करीब-करीब ही ठीक हैं।

समाजसेवाओं के सरकारी वित्त पोषण के इस वर्णण से छात्रों को यह गलत निष्कर्ष न निकाल लेना चाहिए कि इससे असली आय को धनी लोगों से लेकर जनता के कम धनी वर्गों में बड़े पैमाने पर बाँट दिया गया है। ऐसा निष्कर्ष दो बात में गलत होगा :

(१) अधिकांश समाजसेवाओं के लाभ कम आय वाले वर्ग के साथ ही उस वर्ग से ज्यादा आय वाले वर्ग को भी लाभ पहुँचाते हैं। यह शिक्षा पर होने वाले सार्वजनिक खर्च के बारे में बहुत कुछ सच है। पहले बच्चे को छोड़ कर दूसरे बच्चों को जो परिवार भत्ता दिया जाता है, वह भी सभी लोग लेते हैं। राष्ट्रीय बीमा योजना और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा भी प्रायः सभी लोगों को लाभ पहुँचाती हैं। हालांकि मकान बनाने के लिए दी जाने वाली सहायता खास तौर पर कम आय वालों को लाभ पहुँचाती है, लेकिन इस आय-स्तर से ज्यादा आय वाले परिवारों के पास जो मकान हैं, उन तक को मदद दी गई है। खाद्य के लिए जो सहायता दी जाती, वह अमीर और गरीब सभी के लिए खाद्य की बुनियादी चीजों का दाम कम रखती है। वस्तुतः ऊपर बताई गई चीजों में से केवल राष्ट्रीय सहायता (गरीबों की मदद) ही एक ऐसी योजना कही जा सकती है, जो जनता के न्यूनतम आय वर्ग को ही लाभ पहुँचाती है।

(२) इन सेवाओं के लिए सरकार जो खर्च करती है, वह कर राजस्व से दिया जाता है और इस तरह वह कर राजस्व का अधिकांश देने वाले वर्गों की जेब से ही आना चाहिए एवं वस्तुतः वही राष्ट्रीय आय का अधिकांश प्राप्त करते हैं। यह ठीक है कि ज्यादा आय पाने वालों की पारिवारिक आय ज्यादा भारी मात्रा में कम हो जाती है और कम आय वर्गों के लोगों की उतनी मात्रा में नहीं। लेकिन, समाजसेवाओं के खर्च का बड़ा हिस्सा उन्हीं परिवारों की जेब से आता है, जिनको इन सेवाओं के लाभ का एक बड़ा हिस्सा मिलता है। अगर तंबाकू और मद्य पेयों मनोरंजन और बोली लगाने, क्रय और आयात कर तथा पेट्रौल एवं मोटर कर के करों के कुल वार्षिक हिस्सों का अंदाज लगाया जाए, जो कामगर वर्ग के उपभोक्ताओं पर पड़ते हैं, तो यह संभवतः समाजसेवाओं के वार्षिक आय-व्यय की कुल रकम के बराबर ही आ जाएगा।

इस दृष्टि से देखें, तो समाजसेवाएँ असली आय के पुनर्वितरण की बड़ी योजना नहीं मालूम पड़तीं। इसके बदले उत्पादी संसाधनों के उपयोग का एक साधन ही लगती हैं, जो जनता के लिए चुने गए न्यूनतम रहन-सहन स्तर की व्यवस्था करती हैं, जिसका खर्च जनसमूह के प्रत्येक वर्ग पर प्रायः उतना ही पड़ता है, जितनी मात्रा में उसको लाभ मिलता है। संक्षेप में सरकार इस बात को समाजसेवाओं के

जरिए आश्वस्त करती है कि जनसमूह अपनी चालू आय में से काफी हिस्सा (जो हिस्सा वे उत्पादन करों में देते हैं) अपने लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमारी, सेवा-निवृत्ति आय, बेरोजगारी आय, गृह-व्यवस्था और खाद्य के बारे में न्यूनतम स्तर बनाए रखने के लिए अलग रख देंगे। यह स्पष्ट है कि जनसमूह और कुछ न्यूनतम आय के वर्ग भी समाजसेवाओं के जरिए बिना कुछ खर्च किए कोई चीज पा रहे हों, ऐसा बात नहीं हैं।

औद्योगिक आयोजना

समस्याएँ

इसमें कोई संदेह नहीं है कि लेबर सरकार के अधीन और आज भी ब्रिटिश सरकार के पास अर्थतंत्र का नियंत्रण करने के लिए अपार शक्तियाँ रही हैं। बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण और निवेश उधार पर कुछ नियंत्रण होने से सरकार को राष्ट्र के सुधार-संसाधनों के ऊपर काफी प्रभाव प्राप्त हो गया है। बैंक ऑफ इंगलैंड के बट्टे दर को सरकार लगातार समय-समय की बदलती हुई जरूरतों के अनुसार संचालित करती रहती है, जिससे उधार काफी मात्रा में और सस्ते रूप में मिल सके या कम मात्रा में मिले और महँगा हो जाए। कोयला, बिजली, गैस, परिवहन, दूरसंचार और नागर विमानन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण ने उद्योगों के मूल हिस्सों का संचालन सीधे ही सरकार के काबू में ला दिया है। कृषि-अभिदर्शन और शहरी भूमि-उपयोग ने इन बड़े ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्रों को सरकार के तत्त्वावधान में ला दिया है।

लेबर सरकार जिस अवधि में पदारूढ़ रही, उस समय में उपर्युक्त के पूरक के रूप में अतिरिक्त नियंत्रण सरकार के हाथ में बने रहे। ये युद्धकालीन नियंत्रण थे, जिनको संभरण और सेवाएँ (संक्रमणकालीन शक्तियाँ) अधिनियम १९४५ ई० द्वारा शांतिकालीन उपयोग के लिए पुनः अधिनियमित कर दिया गया और फिर इनका १९५० ई० में नवीकरण किया गया। इसमें विदेश मुद्रा-संबंधी नियंत्रण भी शामिल हैं, जिसके अधीन सरकार ने उपलब्ध विदेशी मुद्रा का निदेशन राष्ट्र के लिए सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले आयातों के भुगतान के लिए जारी रखा, समुद्री जहाजरानी सुविधाओं के ऊपर भी नियंत्रण रखा, आयात किए गए कच्चे माल के विभिन्न उपयोगों के लिए बंटन का काम भी सरकार के हाथ में रहा, औद्योगिक फर्मों को यह निदेश देने की शक्ति भी रही कि अपने उत्पादन का कुछ अंश वे विदेशी बाजार में बेचें, निर्माण-संबंधी सामग्री के उपयोग के लिए पूर्वताएँ स्थापित की गईं, कपड़े-निर्माताओं को निदेश दिए जाते रहे कि वे अपने निकास का

कुछ अंश 'उपयोगिता वस्त्र' के रूप में बताई गई जरूरतें पूरी करने के लिए और बताई गई कम दरों पर बेचने के लिए तैयार करें। खाद्य का राशन बना रहा, खुदरा दाम तय करने की शक्ति बनी रही और इसी तरह पर्याप्त संभरण एवं उपयुक्त उपयोग को आश्वस्त करने के लिए कच्चे माल तथा खाद्य पदार्थ थोक में खरीदने और बेचने के बारे में शक्ति भी उसके पास बनी रही। इनमें से कुछ नियंत्रणों का उपयोग कंजरवेटिव सरकार द्वारा आज भी किया जाता है। हालांकि बहुत से नियंत्रणों का जैसे खाद्य राशन और खुदरा दाम तय करने का अब प्रयोग नहीं किया जाता है। तथापि लेबर सरकार के शासनकाल में इन सभी का काफी उपयोग किया गया और उन्होंने आर्थिक व्यवस्था के ऊपर सरकारी नियंत्रण को काफी मात्रा में बढ़ाया।

ब्रिटिश समाजवाद का विद्यार्थी यह प्रश्न पूछ सकता है कि इतने सारे सरकारी विभागों और अभिकरणों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले कितने व्यापक नियंत्रणों का समन्वय किस प्रकार किया गया ? यह कैसे आश्वस्त किया गया कि एक नियंत्रण अभिकरण के उद्देश्य और तरीके दूसरे से संघर्ष में न आएं और परस्पर न टकराएं ? किस प्रकार नीति के निर्णय सभी नियंत्रण अभिकरणों को बताए गए और प्रवर्तित किए गए ? जब ये प्रश्न विकासशील समाजवादी से पूछे जाते हैं, तो वस्तुतः उसका उत्तर होता है 'आर्थिक आयोजना'। इसलिए यह उम्मीद की जा सकती है कि सन् १९४५-१९५१ ई० की लेबर सरकार के अधीन सुनिर्मित और विशद् आर्थिक आयोजना तंत्र स्थापित किया गया होगा और स्पष्ट रूप से बताई गई प्रक्रिया तथा क्षेत्राधिकार की परिभाषित दिशा में काम कर रहा होगा। तथापि यह बात बिलकुल नहीं थी। न तो विशद् आर्थिक आयोजना का कोई तंत्र ही विद्यमान था और न सहयोजित दीर्घकालीन आर्थिक आयोजना का कोई इस प्रकार का रूप ही विद्यमान था, जो आमतौर पर समाजवादी प्रस्तावों के साथ संलग्न होता है। वस्तुतः अपने पद काल के पहले दो साल के दौरान ऐसा कोई संकेत लेबर सरकार की ओर से नहीं मिला कि वह सही अर्थ में आर्थिक आयोजना की ओर कोई ध्यान देने जा रही है। स्पष्ट ही वह युद्धकालीन नियंत्रण अभिकरणों और प्रक्रियाओं के जारी रहने पर निर्भर बनी रही। आर्थिक आपात का कुछ कटु अनुभव करने के बाद जैसे सन् १९४६-१९४७ ई० के शीतकाल में कोयले की भयंकर कमी का अनुभव करने के बाद ही लेबर सरकार ने ऐसी किसी चीज में रूचि ली, जिसे 'व्यापक आर्थिक आयोजना' कहा जा सकता है। १९४७ ई०में कुछ आर्थिक आयोजना तंत्र स्थापित किया गया। हालांकि उसके संगठन का ढांचा और उसके कार्य अभी आरंभिक और केंद्रभूत ही थे। तथापि सन् १९४७ और १९५१ ई० में अपने

शासनकाल के अंत के बीच लेबर सरकार ने आर्थिक आयोजना की तरह के कुछ अभिकरणों और प्रक्रियाओं को औपचारिक रूप प्रदान किया।

तकनीकें

इन आर्थिक आयोजना अभिकरणों की बात करने से पहले यह अच्छा होगा कि पृष्ठभूमि के इन दो तथ्यों पर ध्यान दिया जाए : (१) ब्रिटेन में बुनियादी रूप से 'राजकोषीय नीति' के जरिए ही आयोजना पर आग्रह किया जाता रहा है, 'भौतिक आयोजना' पर नहीं। ब्रिटिश सरकार के बजटों पर कीनेस के प्रभाव की चर्चा दूसरे सिलसिले में की जा चुकी है। युद्धकाल के तुरंत बाद की अवधि में लेबर सरकार के मूल उद्देश्यों में यह भी शामिल था कि पूरा रोजगार बनाए रखा जाए और नागरिकों के लिए जरूरी माल का राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाया जाए। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयास में सरकार की राजकोषीय नीतियों ने एक बड़ा हिस्सा लिया। राजकोषीय नीति पर जो आग्रह किया गया, वह इस बात से भी प्रतिफलित हुआ कि आर्थिक आयोजना के लिए जो भी औपचारिक तंत्र स्थापित किया गया, उसका केंद्र राजकोष ही रहा (२) आर्थिक नीति बनाने और नीति को प्रभावित के उपाय लागू करने की जिम्मेदारी मंत्रिमंडल की बनी रही। यह बिभाजित उत्तरदायित्व नहीं था; क्योंकि आज की तरह उस समय भी यह जिम्मेदारी केवल मंत्रिमंडल की थी और मंत्रिमंडल केवल संसद् के प्रति उत्तरदायी था। इसलिए एक अर्थ में मंत्रिमंडल राष्ट्र का आर्थिक आयोजना मंडल था और व्यक्तिगत मंत्री कार्यकारी आयोजना अभीकरण थे। इस बात का ठोस रूप से उदाहरण अंतर्मंत्रालय समितियों में देखने को मिला, जिसकी स्थापना औपचारिक आयोजना तंत्र की, जिसका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है, पूर्ति करने के लिए और एक से ज्यादा मंत्रालयों को अंतर्ग्रस्त करने वाले मामलों में नीतियों और कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए की गई थी।

१९४७ ई० के आखीर की ओर से लेबर सरकार के अधीन कुछ आर्थिक आयोजना अभिकरण औपचारिक रूप से विकसित हुए और वे हमेशा नीति-निर्माण में मंत्रिमंडल के अधीन बने रहे। इस तंत्र का वर्णन इसे तीन हिस्सों में बाँट कर बड़ी अच्छी तरह किया जा सकता है और यह हमारी चर्चा को जरूरत से ज्यादा आसान बना देगा :

केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग : यह मंत्रिमंडल के अधीन चोटी का आयोजना निकाय था। इसमें थोड़ी संख्या में स्थायी सरकारी अधिकारी थे, विश्वविद्यालयों के कुछ अर्थवेत्ता थे और कुछ सांखियकीवेत्ता। इसका कार्य था

कि एक सलाहकार 'मस्तिष्क न्यास' के रूप में काम करे और राष्ट्रीय अथ-नीति के निर्माण में मदद दे। यह वार्षिक रूप से प्रकाशित 'आर्थिक सर्वेक्षण के' लिए जिम्मेदार था, जिसमें ब्रिटिश उद्योग और वित्त की हालतों, उनके सामने आने वाली समस्याओं एवं उनके लिए प्रस्तावित समाधानों की ताजी समीक्षा रहती थी। इस सर्वेक्षण के जरिए केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग अनेक बड़े-बड़े उद्योगों के लिए संभव और वांछनीय समझे गए उत्पादन 'लक्ष्य' तय करता था। ये 'लक्ष्य' किसी भी उद्योग पर लादे नहीं जाते थे, ये केवल वे उद्देश्य माने जाते थे जिनकी पूर्ति सरकार करना चाहती है। कर्मचारी-वर्ग व्यक्तिगत मंत्रालयों या अंत-र्मंत्रालय समितियों को भी आर्थिक कार्यक्रमों या ज्यादा सीमित क्षेत्र वाली प्रायोजनाओं की आयोजना बनाने में मदद देता था। यह भौतिक उत्पादन के लिए कोई विशद् राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना नहीं बनाता था। संगठन की दृष्टि से केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग राजकोष का ही एक हिस्सा था।

आर्थिक आयोजना मंडल : इस मंडल में निजी उद्योगों, श्रम-संगठनों और कुछ सरकारी विभागों के प्रतिनिधि होते थे एवं इसकी स्थापना इसलिए की गई थी कि सरकार औपचारिक रूप से तथा अक्सर राष्ट्र के संसाधनों के सर्वोत्तम उपयोग के बारे में और तत्कालीन कठिनाइयों का उपचार करने के लिए अपनाए जाने वाले उपायों के बारे में इन लोगों से परामर्श कर सके। यही वह अभिकरण था, जिसके जरिए सरकार निजी उद्योगों के साथ सहयोग करने और उनका सहयोग प्राप्त करने के अपने प्रयासों को संचालित करती थी। इसके सभापति केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग के प्रमुख होते थे। यह केंद्रीय आर्थिक आयोजना कर्मचारी वर्ग द्वारा तैयार किए गए विश्लेषणों की जाँच और उन पर चर्चा करता था एवं उसकी सिफारिशों को प्रभावी करने के लिए उद्योगों के सामर्थ्य का मूल्यन करता था। इसने स्थानीय क्षेत्रों की विशिष्ट आर्थिक समस्याओं के त्रिपक्षीय अध्ययन के लिए अपने अनेक प्रादेशिक प्रतिरूपों को भी जन्म दिया और इस प्रकार केंद्रीय सरकार एवं स्थानीय उद्योग के बीच एक संबंध-सूत्र की स्थापना कर दी।

उद्योगों-संबंधी राष्ट्रीय उत्पादन सलाहकार परिषद : इसमें निजी उद्योगों और मजदूर संघों के प्रतिनिधि होते थे और इसकी नियुक्ति राजकोष द्वारा प्रतिनिध्यात्मक औद्योगिक तथा श्रम-संगठनों की सिफारिश पर की जाती थी। मंत्रि-परिषद की द्विमासिक बैठकों के सभापति होते थे और उसमें परिषद के सदस्य तथा विचारार्थ सामने आए आर्थिक मामलों से खासतौर पर संबंधित मंत्री एवं सरकारी कर्मचारी भाग लेते थे। परिषद का उद्देश्य था कि उद्योग और श्रम के बीच सहयोग

बढ़ाया जाए और मंत्रियों को औद्योगिक स्थितियों तथा उत्पादन समस्याओं के बारे में सलाह दी जाए, खास तौर पर ऐसी समस्याओं के बारे में जो समूचे ब्रिटिश उद्योगों के उद्योग-श्रम-परामर्श संगठनों की व्यापक शृंखला के जरिए प्रकट हुए हों और जिनकी ओर ध्यान देना जरूरी हो।[1]

दर्शन

आर्थिक आयोजना के संबंध में लेबर सरकार का दर्शन आयोजना अभिकरणों के उपर्युक्त वर्णन से प्रकट हो जाता है। सोवियत संघ की आर्थिक आयोजना के पीछे जो संकल्पना रहती है, और जिसे ब्रिटिश लेबर दल वाले 'समग्रवादी शासन' कह कर पुकारते हैं, यह बिल्कुल भिन्न प्रकार का दर्शन था। ब्रिटिश सरकार यह धारणा लेकर आगे बढ़ी कि जैसे ही अर्थ-व्यवस्था का सर्वेक्षण कर लिया जाएगा, उसकी समस्याओं को देख और परख लिया जाएगा और सिफारिशें तैयार कर ली जाएँगी, वैसे ही सरकार का आर्थिक आयोजना संबंधी मुख्य कार्य संपन्न हो जाएगा। इसके बाद तो फिर सभी हितवद्ध वर्गों के प्रतिनिधियों से परामर्श करने, उद्देश्यों और सुझावों को उनके निकट स्पष्ट करने, परामर्श करने के लिए हुई चर्चा के अनुसार उसमें फेर-बदल करने और आखीर में एक कार्यक्रम बनाने की ही बात रह जाएगी। इसे ब्रिटिश पंचवर्षीय आयोजना या ऐसी किसी चीज में तो नहीं उतारा गया, लेकिन फिर भी यही ब्रिटेन की आयोजना बन गई; क्योंकि सभी हितबद्ध वर्ग इस प्रकार औपचारिक रूप से या मौन सम्मति देकर उसका अनुपालन करने के लिए अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार वचनबद्ध हो गए। इस तरह के बार-बार के परामर्श, समझौते, फेर-बदल, समझाना और फिर वचनबद्ध होने के जरिए ही लेबर दल ने यह संभव पाया कि आर्थिक आयोजना की तालमेल लोकतांत्रिक आजादी के साथ बिठायी जा सकती है। इस प्रकार यह आशा की गई थी कि ब्रिटिश आर्थिक आयोजना कुछ नई चीज और रचनात्मक रूप से विकासशील होगी', "उसके बारे में माना गया कि आगे चलकर संसदीय लोकतंत्र और और कानून के शासन की तरह यह सभ्यता के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट रूप से ब्रिटिश योगदान बन जाएगी।"[2]

प्रभावी आर्थिक आयोजना को किस प्रकार जनता के स्वैच्छिक सहयोग पर निर्भर बना देगा 'आर्थिक सर्वेक्षण' (१९४८ ई०) के नीचे लिखे अंश में देखने को

---

[1] परिषद् के संबंध में यह सारांश रॉबर्ट ए० ब्रेडी की पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ ५२०-५२२ पर आधारित है।

[2] लेबर सरकार के प्रधान मंत्री एटली और लेबर दल के प्रमुख अधिकारी हर्बर्ट मौरिसन, लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, अगस्त, १९४६, पृष्ठ १२६, वही दिसंबर, १९४६, पृष्ठ १८९।

मिलता है।[१] इस देश में लोकतंत्रीय आयोजना की दिशा में अब तक किए गए अनुभव का विशिष्ट पाठ यह है कि केंद्रीय प्राधिकारियों द्वारा तय की गई आयोजना के साथ व्यक्तियों के स्वैच्छिक सहयोग का बड़ा महत्त्व है····इस कारण सरकार अपनी आर्थिक आयोजना की पूरी संकल्पना और सफलता के लिए तथा उसके लोकतांत्रिक रूप से चलाए जाने के लिए यह अत्यावश्यक समझती है कि रखे गए लक्ष्यों और परिस्थिति के तथ्यों के बारे में लोगों में यथासंभव ज्यादा-से-ज्यादा व्यापक समझ-बूझ पैदा हो। लेबर सरकार एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर (वित्त मंत्री) ने इस बात पर आग्रह किया कि जो भी आयोजना बनाई जाए, वह 'लोकतांत्रिक आयोजना' होनी चाहिए और उसमें ब्रिटेन का 'युक्त लोकतंत्र बिंबित होना चाहिए और लोकतंत्रीय आयोजना के अधीन' न तो यह संभव ही है और न वांछनीय ही कि हिंसात्मक जबर्दस्ती का प्रयोग किया जाए, जो समग्रवादी आयोजना के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, साथ ही यह भी संभव न होगा 'कि उत्पादन और वितरण के सभी ब्यौरों को फैसला केंद्र से ही करने का प्रयास किया जाए।' उन्होंने बताया कि सरकार ने उद्योग के लिए कोई दृढ़ लक्ष्य तय नहीं किए हैं; क्योंकि 'बहुत से मामलों में उस सफलता को निश्चित करने का कोई लोकतंत्रीय तरीका नहीं हो सकता।' इसकी बजाय 'नीतियों के एक समुच्चय को निश्चित करने की बात के लिए सरकार ने कोशिश की कि उनका अनुपालन समझौते, परामर्श, समझाना और दूसरे अबाध लोकतांत्रिक तरीकों से किया जाए।' मंत्री ने यथार्थवादी रूप से यह मंजूर किया कि ऐसी प्रक्रियाओं से हमेशा लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकेगी लेकिन उन्होंने तर्क दिया कि यह "आयोजना की असफलता नहीं है, बल्कि इस तथ्य को मान लेना है कि लोकतंत्र जो भी आर्थिक आयोजना बनाता है, उसके अनुपालन को जबर्दस्ती लागू करने की उसकी क्षमता की कुछ सीमाएँ हैं।"[२]

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. यह तर्क किस अर्थ में दिया जाता है कि 'आर्थिक आयोजना' शब्द लेबर सरकार के शासनकाल पर लागू नहीं किया जाना चाहिए ?

---

[१] लंदन, एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९४८, पृष्ठ ६८।

[२] सर स्टैफर्ड क्रिप्स जब वह चांसलर थे, लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, जून, १९५०। पृष्ठ ५८-५९। लेबर सरकार की आर्थिक आयोजना में निहित दर्शन अनिवार्यतः वही था, जिसका निरूपण बारबारा वूटन ने अपनी पुस्तक फ्रीडम अंडर प्लानिंग, चैपेल हिल: नॉर्थ कैरोलीना यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४५, ई० में किया था। ब्रिटिश आर्थिक आयोजना की प्रक्रियाओं में लेबर सरकार के अधीन इस दर्शन के लागू किए जाने के और ज्यादा ब्योरे फ्रांसिस विलियम्स की पुस्तक सोशलिस्ट ब्रिटेन, न्यूयार्क वाइकिंग, १९४९ में और खास कर अध्याय ७, आर्थिक आयोजना में देखने को मिलेंगे।

२. लेबर सरकार के लिए यह बात इतनी ज्यादा महत्त्वपूर्ण क्यों थी कि खेतिहर जमीन के हर टुकड़े का समुचित उपयोग किया जाए ?

३. लेबर सरकार द्वारा खेती के नियंत्रण के लिए इस्तेमाल की गई पहले से दाम तय करने की पद्धति का कार्य क्या था ?

४. खेती के ऊपर नियंत्रण की कौन-कौन-सी जबर्दस्ती की शक्तियाँ लेबर सरकार के पास थीं ? उनका उपयोग कितने व्यापक रूप में किया गया था ?

५. लेबर सरकार के अधीन शहरी जमीन के उपयोग की आयोजना बनाने में कौन-कौन अधिकरणों ने भाग लिया ?

६. नए शहरों के प्रयोजन क्या थे ? किस रूप में वे नई चीज थे ?

७. लेबर सरकार के अधीन शहरी जमीन पर लिए जाने वाले 'विकास-शुल्क' का प्रयोजन क्या था ?

८. विकास-शुल्क का लगाया जाना क्यों छोड़ दिया गया ?

९. किस अर्थ में ब्रिटिश आय-व्ययक (बजट) का उपयोग आर्थिक आयोजना के उद्देश्य के लिए किया जाता है ?

१०. लेबर सरकार ने आर्थिक आयोजना के किस तंत्र का उपयोग किया ? क्या आयोजना-संबंधी इसके दर्शन के लिए ज्यादा तंत्र के उपयोग की जरूरत थी ?

●

अध्याय २१

राष्ट्रीयकृत उद्योगों की समस्याएँ : ब्रिटिश समाजवाद का एक मूल्यांकन

समस्याएँ

ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था में लेबर दल की सरकार के अधीन सन् १९४५ से १९५१ ई० तक जो भारी परिवर्तन किए गए, उनसे वहुत सी समस्याएँ पैदा हुईं और खड़ी हुईं। उस समय बहुत से मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा-जैसे दूसरे महत्त्वपूर्ण सुधार शुरू किए गए। इनमें से कुछ समस्याओं को, जैसे किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग में केंद्रीयकृत और विकेंद्रीयकृत प्रबंध शक्तियों के बीच समुचित संगठनात्मक संतुलन वनाने की समस्या, चर्चा व्यक्तिगत उद्योगों के सिलसिले में पर्याप्त रूप से की गई है। दूसरी ऐसी समस्याएँ जो प्रायः उसी रूप में सभी या अधिकांश राष्ट्रीयकृत उद्योगों के विषय में उठती हैं, उनकी चर्चा यहाँ पर की जा रही है। छात्रों को यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि इन समस्याओं का विद्यमान होना या बना रहना ग्रेट ब्रिटेन में लोकतांत्रिक समाजवाद का मिथ्या होना सिद्ध नहीं करता और न यह बताता है कि ब्रिटिश राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम असफल रहा है। ये समस्याएँ केवल यह बताती हैं कि किस बात की प्रत्याशा करनी चाहिए—कोई भी लोकतांत्रिक विकासात्मक समाजवादी कार्यक्रम जो कुछ प्रगति करेगा, उसके सामने एक-एक करके समाजीकृत होने वाले उद्योगों को संगठित करने और चलाने की मुश्किल समस्याएँ आएँगी। साथ ही उनके समाजीकृत ढाँचों और संक्रियाओं की तालमेल मुक्त उपक्रम, निजी संपत्ति और लाभ प्रेरित अर्थ-व्यवस्था के बाकी हिस्सों के साथ बैठाने की समस्या भी खड़ी होगी। यहाँ पर हमारा अभिप्राय इन समस्याओं का स्वरूप बताना है, वह कितनी मूलभूत हैं और ग्रेट ब्रिटेन में किस प्रकार उनका सामना किया गया है।

राजनीतिक समस्या

संभवतः सबसे बुनियादी समस्या यह है कि विकासात्मक समाजवादी कार्यक्रम को लोकतांत्रिक निर्वाचकों की इच्छाओं के अनुकूल किस तरह रखा जाए और किस तरह उसे इसके साथ ही पूरी तरह समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था के अंतिम लक्ष्य की ओर चालू रखा जाए। ज्यादा ठोस शब्दों में कहा जाए, तो यह कहना चाहिए कि यदि निर्वाचक किसी उद्योग के बारे में अपना मत बदल दे और उसका समाजीकृत एकसम उद्योग के रूप में गठित हो जाने के बाद वह अगर यह फैसला करे कि उसे निजी स्वामित्व और संचालन के अधीन वापस लौट आना चाहिए, तो फिर क्या होगा ? ब्रिटेन में विराष्ट्रीयकरण के दो मामले हुए हैं, इस्पात और दूर-दूर तक ट्रकों से माल का ढोया जाना। एक पिछले अध्याय में इसके ब्यौरे दिए जा चुके हैं, जो बताते हैं कि विराष्ट्रीयकरण आसान काम नहीं था, भले ही सचाई यह है कि इन दोनों में से एक को भी कुछ दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योगों के अंगभूत हिस्सों की तरह गठित नहीं किया जा सका था।

सैद्धांतिक दृष्टि से लोकतांत्रिक विकासात्मक समाजवाद यह मानकर चलता है कि वह लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के साथ हस्तक्षेप न करेगा जो एक समाजवाद विरोधी दल सत्ता प्रदान कर सकती हैं और फलतः निर्वाचक अब जिसका समाजीकरण नहीं चाहता, उसे उलटना पड़ सकता है। फिर भी प्रश्न या समस्या यह रहती है : कितनी बार तक इस्पात या दूर-दूर तक ट्रक से माल ढोने के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, विराष्ट्रीयकरण, पुनः राष्ट्रीयकरण, पुनः विराष्ट्रीयकरण आदि तब तक किया जा सकता है, जब तक उसका संगठनात्मक सातत्य, कर्मचारियों का हौसला और उसकी सक्षमता पूरी तरह से ध्वस्त न हो जाए ? ब्रिटेन में कुछ विचारशील व्यक्तियों ने इस समस्या पर विचार किया है। आमतौर पर उनका निष्कर्ष यह रहा है कि राष्ट्रीयकरण, विराष्ट्रीयकरण और फिर पुर्नविराष्ट्रीयकरण का चक्कर व्यावहारिक है, लेकिन उसके बाद फिर अगर संबंधित उद्योग को विनाशक प्रतिफलों में नहीं फेंक देना है, तो यह चक्कर वहीं पर रुक जाना चाहिए।

यह एक ठोस निष्कर्ष हो सकता है लेकिन इससे समस्या का पूरा-पूरा समाधान नहीं हो पाता। मान लीजिए भविष्य में ब्रिटेन में एक लोकतांत्रिक समाजवादी दल सत्ता प्राप्त करता है और इस्पात का पुनः राष्ट्रीयकरण कर देता है, तो फिर निर्वाचक यह कैसे जानेगा कि उद्योग की कार्यक्षमता को भारी आघात न पहुँचाने के लिए इसे राष्ट्रीयकृत रूप में ही रखा जाना चाहिए ? क्या विरोधी दल इस बात को समझेंगे और क्या अगले चुनाव में यह प्रतिज्ञा करेंगे कि यदि वे चुने गए, तो इसका फिर विराष्ट्रीयकरण नहीं करेंगे ? यदि नहीं, तो क्या निर्वाचक इस मामले में

सचेत रहेंगे और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं से अपनी यह आकांक्षा व्यक्त कर देंगे कि कोई भी भावी सरकार, वह किसी भी राजनीतिक दल की हो या किसी भी राजनीतिक मतवाद में विश्वास करती हो, इस उद्योग को निजी स्वामित्व और संचालन के अधीन वापस नहीं करेगी ? अगर इस राष्ट्रीयकरण, विराष्ट्रीयकरण के चक्कर का कोई अंत नहीं है, तो फिर इसे कैसे परिवर्तित किया जाएगा ? क्या अंतर्ग्रस्त तथ्य यह रहेगा कि कुछ समय के बाद एक समाजवाद विरोधी दल निर्वाचकों के सामने एक यथार्थवादी कार्यक्रम प्रस्तुत न कर सकेगा और इसलिए पीछे लौट आने का जो अवसर निर्वाचकों को मिला हुआ है, समाप्त हो जाएगा ? अथवा यह वस्तुतः विरोधी दल के एक दूसरे समाजवादी दल बन जाने से ही संभव हो जाएगा और निर्वाचकों को समय-समय पर यही अवसर दिया जाएगा कि वे केवल यही चुनाव करें कि कौन सा सत्ताकांक्षी वर्ग सरकार और समाजीकृत उद्योगों को ज्यादा अच्छी तरह से चला सकेगा ? कुछ सुझाव यह भी दिए जाते हैं कि ग्रेट-ब्रिटेन में अब कंजरवेटिव दल ने लेबर दल का इतना सारा राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम अखंडनीय मान लिया है कि वह भी वस्तुतः एक समाजवाद की ओर उन्मुख दल बन गया है। यदि सचाई ऐसी ही सिद्ध हो, तो इस प्रमुख मसले को लेकर निर्वाचक मंडल के हाथ में क्या विकल्प रहेगा और राजनीतिक लोकतंत्र का क्या बनेगा ?

ये सारे प्रश्न हमें एक रोचक और कष्टकर झमेले में डाल देते हैं। वह यह है कि क्रमिक समाजीकरण का कार्यक्रम जब निजी स्वामित्व और उद्योग-संचालन में कुछ गहराई तक प्रवेश पा लेता है तो लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को काम करते रहने देना आगे इष्टकर न होगा; क्योंकि वे धारा को मोड़ने का खतरा खड़ा कर सकती हैं, जो कुछ ऐसी चीज है जो औद्योगिक कार्यक्षमता की बर्बादी का कारण बन सकती है। दूसरे शब्दों में झमेला यह भी हो सकता है कि फिर न लौट सकने की कुछ सीमा से पहले लोकतांत्रिक विकासात्मक समाजवादी आंदोलन को राजनीतिक क्षेत्र में वास्तविक लोकतांत्रिक सिद्धांतों के साथ अपनी अनुसक्ति को या तो छोड़ देना होगा या दृढ़तापूर्वक उसका आग्रह कम करना होगा। अपने दो विराष्ट्रीयकरण प्रयासों में ब्रिटेन ने इस समस्या के क्षेत्र में प्रवेश लिया है, जो लोकतांत्रिक विकासात्मक समाजवाद की बहुत गहराई तक जाती है।

आर्थिक आयोजना

बुनियादी लक्ष्यार्थों में ऊपर लिखे प्रकार जैसी ही एक समस्या आर्थिक आयोजना के सिलसिले में भी खड़ी होती है। ब्रिटिश लेबर सरकार ने वस्तुतः कभी भी प्रभावित विशद् आर्थिक आयोजना को चलाने की समस्या का सामना नहीं किया था। इसके सर्वेक्षण, सुझाव, सलाह, समझौते और वचन देने के कार्यक्रम की चर्चा

एक पिछले अध्याय में की जा चुकी है। आर्थिक आयोजना की यह संकल्पना लोकतांत्रिक सिद्धांतों और व्यक्तियों के अधिकारों का यथोचित सामना करती रही है। लेकिन, प्रश्न यह है कि सरकारी स्वामित्व और उद्योगों के नियंत्रण के बढ़ते हुए क्षेत्रों को प्रभावित रूप से समन्वित रखने के लिए क्या यह तकनीक पर्याप्त सिद्ध हुई होती और क्या इससे राष्ट्रीय हित में विशुद्ध लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते थे ?

अगर यह प्रश्न ब्रिटिश लेबर दल वालों से पूछा जाए, तो वह संभवत: ऐसा एक उदाहरण देंगे जिसमें यह तकनीक आभासी रूप से बड़ी ही सफल सिद्ध हुई थी। अपनी पदावधि के दौरान लेबर सरकार के सामने अर्थ-व्यवस्था में काम कर रहे प्रबल स्फीतिकारक तत्त्वों को रोकने की जरूरत का सामना करना पड़ा था। सरकारी अधिकारियों ने उद्योगों और श्रमिक संघों के प्रतिनिधियों को कई सम्मेलनों में इकट्ठा किया और इनमें स्फीति की समस्याओं पर विचार किया गया। इन सम्मेलनों के फलस्वरूप उद्योगपतियों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे जितने लाभांश दे सकते हैं उससे कम देंगे और अपने पूँजी निवेश को नियंत्रण में रखेंगे। और दूसरी ओर श्रमिक संघ वालों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे ज्यादा मजूरी के लिए अपनी माँग पर रोक लगाएँगे। इस तरह बिना कोई कानून पास किए और सरकार की ओर से बिना कोई आदेश निकाले ही स्फीतिकारक तत्त्वों का मुख्यत: नियंत्रण करने वाले दलों ने स्वेच्छा से और सफलतापूर्वक तथा साथ ही संभवत: अपने तात्कालिक हितों का त्याग करके उन स्फीतिकारक तत्त्वों को रोका एवं इस प्रकार स्फीति-संकट का मुकाबला किया गया। लेकिन, लेबर सरकार के शासनकाल के अंत की ओर ऐसे चिह्न प्रकट हुए कि यह तकनीक अब निष्फल हो रही है और अगर लेबर दल उसके बाद भी सत्तारूढ़ रहता, तो उसने आर्थिक आयोजना के जिस रूप को बड़ी आशाओं के साथ प्रभावी माना था, उसके महत्त्व का उसे पुन: मूल्यांकन करना पड़ता। उनकी वह आयोजना लोकतंत्र की व्यक्तिगत स्वाधीनता की किसी भी आयोजना में अंतर्ग्रस्त विवशताओं का सामंजस्य करके ही चल रही थी।

मूल्य नीति

यह याद रखना होगा कि प्रत्येक राष्ट्रीयकरण अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि राष्ट्रीयकृत उद्योग का उत्पादन इतना होना चाहिए कि अच्छे वर्ष और बुरे वर्ष दोनों को मिलाकर उसकी उत्पादन लागत पूरी की जा सके। न तो अपने शासनकाल में लेबर सरकार ने और न वर्त्तमान कंजरवेटिव सरकार ने ही इस समस्या का ठीक-ठीक समाधान किया कि व्यवहार में इसका मतलव क्या है। चूंकि अधिनियमों में होने वाली हानियों के लाभों द्वारा अपेक्षित प्रतिसंतुलन की कोई समय-सीमा निश्चित नहीं की गई थी, इसलिए एक राष्ट्रीयकृत उद्योग के मंत्री और

बोर्ड कई वर्षों तक राजकोष द्वारा उठायी जाने वाली लगातार हानियाँ झेलते रहें या (जो कम संभव है) लाभ उठाते रहे और उनको भावी हानियों की प्रत्याशा में संचित करके रख दिया जाए। इन दोनों में से प्रत्येक नीति को अस्पष्ट मानक दाम धारणा के अनुरूप कहा जा सकता है जैसाकि अनेक राष्ट्रीयकरण विधानों में रखा गया है।

वस्तुतः अनेक राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मंत्रियों और मंडलों ने दाम तय करने के मामले में बड़ी ही भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपनाई हैं और स्पष्टतः इन भिन्न नीतियों को संसद् का समर्थन मिला हुआ है। उदाहरण के लिए कोयला-उद्योग में हाल के वर्षों तक नीति यह थी कि हर वर्ष ययासंभव लागत पूरी करने वाले दाम रखे जाएँ। इस उद्योग में मंडल ने मंत्री के अनुमोदन से लगातार कोयले के दाम बढ़ाए, जैसे-जैसे मजदूरी की दरें और दूसरी लागतें बढ़ती गईं। दूसरी सीमा पर राष्ट्रीयकृत रेलवे प्रणाली है जिनमें दरों की बढ़ती हुई लागतों के काफी पीछे रहने पर भी स्पष्टतः बने रहे। ऐसी अलग-अलग नीतियों से जो आर्थिक और सामाजिक गुत्थियाँ पैदा होती हैं, उनसे इस समस्या का महत्त्व पता चलता है। कोयले के क्षेत्र में कम से कम मोटे तौर पर उद्योग की सेवाओं का प्रत्यक्ष उपयोग करने वाले इन सेवाओं का दाम चुकाते हैं (हालांकि घरेलू कोयला खरीददारों का यह कहना है कि उनसे लिए जाने वाले दाम कोयले के औद्योगिक उपयोग करने वालों द्वारा दिए जाने वाले मूल्यों की तुलना में कहीं ज्यादा बढ़े हैं)। रेलवे सेवा के मामले में, सीधे उपयोग करने वाले रेलवे सेवा चलाने में लगने वाली लागत से कहीं कम चुकाते रहे हैं और पिछले कई वर्षों में जो भारी घाटा पड़ा है, वह रकम राजकोष द्वारा चुकायी गई है। इस तरह कोयले के खरीददार उत्पादन लागत के दाम पर जितना खरीदना चाहते हैं, अपनी खरीद को उतना ही सीमित रखते हैं, जब कि रेलवे सेवाओं के उपयोग करने वालों को प्रभावी रूप में खजाने की निधियों द्वारा मदद दी जाती है और वे उत्पादन लागत से कहीं कम दाम के अनुसार इन सेवाओं के लिए अपनी माँग करते हैं।

एक उद्योग के ग्राहकों की तुलना में दूसरे उद्योग के ग्राहकों को मदद देने के ठोस और अच्छे कारण हो सकते हैं। अगर सभी हित इन कारणों से सहमत हो जाएँ और इसे एक युक्तिसंगत व्यवस्था मान लें, तो सभवतः सामाजिक दृष्टिकोण से इसमें कोई बुराई नहीं है। फिर भी इससे दाम तय करने की नीति के निर्णय राजनीतिक क्षेत्र में आ जाते हैं; क्योंकि यह देखना होता है कि संसद् कौन-कौन से राष्ट्रीयकृत उद्योगों को कितनी मात्रा तक मदद देना लोकनिधियों के वांछनीय उपयोग के रूप में मानती है। यह प्रत्येक राष्ट्रीकरण अधिनियम मे रखी गई लागत—दाम सूत्र से बिल्कुल अलग बात है। यह तथ्य ब्रिटेन वालों ने दाम तय करने के लिए अधिकृत

रूप से एक कसौटी मंजूर की है, पर सिद्धांत या वास्वकिता के कारणों से वे दूसरी कसौटी का उपयोग करते हैं। पता चलता है कि एक न तय की हुई दाम-समस्या विद्यमान चली आ रही है, जिसका गहरा आर्थिक और सामाजिक आलेपन है।

कार्यकुशलता की कसौटी

दाम-समस्या के तुरंत बाद और एक अर्थ में उससे पैदा होने वाला यह प्रश्न हैं कि राष्ट्रीयकृत उद्योग में कार्यकुशलता की क्या कसौटी या कसौटियाँ अमल में लाई जानी चाहिए। यह अपने-आप में स्पष्ट है कि मंडल, मंत्री, संसद् और संभवतः जनता के पास भी हरेक राष्ट्रीयकृत उद्योग के मामले में कार्यकुशलता की जाँच करने के कुछ ऐसे साधन होने चाहिए, जिस कुशलता के साथ वह उद्योग अपने उत्पादीय दुर्लभ तत्त्वों को काम में लाता है। संभवतः हरेक राष्ट्रीयकृत विधान में दाम लागत सूत्र रखने के लिए बुनियादी कारण यही है। अगर दाम लागत से कम हो जाता है और घाटा आता है तो अपने-आप इसका सीधा मतलब यह है कि या तो कार्यकुशलता में कुछ कमी है या कम से कम इस बात को तय करने के लिए पड़ताल की जानी चाहिए कि परेशानी कम दाम रखने की है या अकार्यकुशल संचालन की। फिर भी जहाँ घाटे या लोकनिधियों से मदद को सामान्य माना जा सकता है, वहाँ कार्यकुशलता के संबंध में यह जाँच या चेतावनी का संकट पुष्ट नहीं रहता।

राष्ट्रीयकृत उद्योगों के प्रशासन में ब्रिटेन वालों ने कभी भी इस समस्या का सीधे-सीधे सामना नहीं किया और इसके महत्त्व को समझने में असमर्थ या अनिच्छुक रहे हैं। इसका समाधान कम से कम एक तरीके से हो सकता है। अगर राष्ट्रीयकृत उद्योग एक विशद् आर्थिक योजना के अंग रूप चलाया जाए, जैसाकि सोवियत संघ में होता है। अगर ऐसा होगा, तो उत्पादन के भौतिक तत्त्वों के अंतर्वेशनों की योजना बनाई जाएगी। उससे जो उत्पादन प्रतिफल निकलने हैं, उनको निर्देशित किया जाएगा और पिछले प्रतिफल देने में पहले की असमर्थता को अकार्यकुशलता माना जाएगा। समस्या के बल यह रह जाएगी कि उस अकार्यकुशलता के कारण का पता चलाया जाए। लेकिन, ब्रिटेन में इस तरह की आर्थिक आयोजना नहीं चल रही है; न भौतिक अंतर्वेशनों की तुलना भौतिक बहिर्वेशनों के साथ उद्योग-उद्योग के आधार पर करने की ही कोई कोशिश की गई है। नतीजा यह है कि अगर किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग में अकार्यकुशलता के बारे में संसद् काफी अभिरुचि लेने लगती है या चिंतित हो जाती है, तो ऐसी चिंता का समाधान करने के लिए एक विशेष जाँच समिति बनानी होगी। ऐसी समिति को कार्यकुशलता की अपनी कसौटी तय करनी होगी, जैसा कि 'हर्बर्ट समिति' ने कहा है कि राष्ट्रीयकृत बिजली-उद्योग की जाँच

करते समय उसे करना पड़ता था।[१] ऐसी कसौटी निश्चय ही समिति-समिति की अलग-अलग होगी और उसका मत या धारणा समिति के प्रभावी सदस्य के खास विचारों के अनुसार रहेगी। अपनी निष्कर्षों या सिफारिशों को बताते समय एक समिति कार्यकुशलता के उन्हीं प्रेक्षणों को मान सकती है, जो निजी उद्योग के संबंध में माने जाते हैं (वाणिज्यिक कसौटी) जैसा कि हर्बर्ट समिति ने कहा था, जब कि दूसरी समिति भौतिक अंतर्बेशनों और बहिर्वेशनों (इंजीनियरी कसौटी) को मान सकती है और एक अन्य समिति कार्यकुशलता की यह परिभाषा दे सकती है कि कोई राष्ट्रीयकृत उद्योग अपने उत्पादनों के बारे में जनता की जरूरतों को किस तरह पूरा करते हैं। (वाणिज्यिक या इंजीनियरी प्रतिफलों की परवाह किए बिना) और जनता की जरूरत की धारणा भी वही होगी, जैसी कि समिति के सदस्य समझेंगे। ऐसे परिवेश में, जिसमें बहुत महत्त्वपूर्ण मूल उद्योग राष्ट्रीयकृत हो चुके हैं, विशद आर्थिक आयोजना नहीं चल रही है और जहाँ दाम नीति एक राष्ट्रीयकृत उद्योग की अपेक्षा दूसरे में भिन्न रहती है, ब्रिटेन वालों ने अब तक यह नहीं सोचा है कि अपने राष्ट्रीयकृत उद्योगों की कार्यकुशलता का निर्णय करने के लिए वे किस एकरूप कसौटी को अपनाएँ और उससे इस समस्या का समाधान करें।

मजदूर संघों की स्वाधीनता

लेबर सरकार के अधीन ब्रिटिश मजदूर संघों की बुनियादी समस्या यह थी कि वे अपने सदस्य का प्रतिनिधित्व करते समय लेबर दल के साथ अपने अंगभूत संबंध के बावजूद अपनी आजादी बनाए रख सकेंगे और इस प्रकार वे लेबर सरकार के साथ संबद्ध रहेंगे। साथ ही राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मंडलों में मजदूर संघों के अधिकारियों की नियोजकता ने मजदूर संघों को कोयला, बिजली, परिवहन और संचार-जैसे बुनियादी उद्योगों के प्रबंध के साथ जोड़ दिया। क्या यह मजदूर संघों के लिए बाध्यकर थे कि वे बिना आपत्ति किए लेबर सरकार या राष्ट्रीयकृत उद्योगों के प्रबंध मंडलों के फैसले मंजूर कर लें? अगर ऐसा है, तो मजदूर संघ काम करने की अपनी बहुत कुछ आजादी खो बैठेंगे और वे कामगरों के ही हितों की तुलना में कहीं ज्यादा व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यापक निकायों में आत्मसात् न हो जाएँगे। दूसरी ओर अगर मजदूर संघों के पास अपने हितों के संवर्द्धन के लिए काम करने की यथेच्छ आजादी का अधिकार बना रहना चाहिए, भले ही सरकार

---

[१] 'अपनी जाँच के आरंभ में ही हमने समझ लिया कि हम अपने विचारार्थ विषयों के बारे में तब तक पूरी-पूरी जाँच नहीं कर सकते जब तक हम अपना यह दृष्टिकोण निश्चित न कर लें कि राष्ट्रीयकृत उद्योग के संबंध में 'कार्यकुशलता का क्या मतलब है'—बिजली-संभरण-उद्योग की जाँच समिति का प्रतिवेदन, १९५६, पृष्ठ ५।

की नीति और राष्ट्रीयकृत उद्योगों के प्रबंध मंडलों द्वारा तय की गई कार्य की दिशा कुछ भी हो ? अगर ऐसा है, तो एक मजदूर संघ किसी नीति या निर्णय को नामंजूर करके किसी बुनियादी उद्योग में बाधा डाल सकता है, भले ही उस नीति या निर्णय को तय करने में संगठित श्रम ने भाग लिया था। ऐसे मामले में मजदूर संघ सरकार या राष्ट्रीयकृत उद्योग के काम में बाधा डालेगा, भले ही वे संभवतः कामगरों के समूह के हितों की रक्षा ही कर रहे हों।

लेबर सरकार के समय में ब्रिटिश मजदूर संघों ने इन चरम सीमाओं के बीच मध्य का रास्ता अपनाया। उन्होंने घोषित किया कि वे सरकार और मालिक से स्वतंत्र हैं—भले ही वह निजी मालिक हो या सरकारी बोर्ड। उन्होंने श्रमसेवा के विक्रेताओं का प्रतिनिधित्व किया और उनके लिए परंपरागत सामूहिक लेन-देन की प्रक्रियाओं के जरिए अच्छी-से अच्छी मजूरियों और शर्तों को लेने की कोशिश की। मजदूर संघों के अधिकारी राष्ट्रीयकृत उद्योगों के शासक बोर्डों पर काम करते रहे, पर मजदूर संघों ने यह अपेक्षा की कि ऐसा करते समय वे मजदूर संघों के अपने पद छोड़ देंगे। मजदूर संघों ने काम की आजादी अपने पास रखी, फिर भी मजदूर संघों के अधिकारियों ने यह समझ लिया कि लेबर सरकार जब राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम चला रही है, तो आगे चलकर मजदूर संघों को अपनी दृष्टि ऊँची उठानी होगी और कर्मचारियों के तत्काल आर्थिक लाभ की तुलना में ज्यादा दूर के लक्ष्यों की ओर अपने कार्यों को प्रेरित करना होगा। मजदूर नेताओं ने श्रम उत्पादकता बढ़ाने और राष्ट्र के निर्यात का विस्तार करने में सरकार के प्रयास का पूरा-पूरा समर्थन किया। उदाहरण के लिए कोयले के मामले में मजदूर संघों ने अपने-आप टेकों के द्वारा यह बंधन स्वीकार किया कि श्रम उत्पादिता पर कोई रोक नहीं रहेंगी। मजदूर नेताओं ने नुकसानदेह मुद्रास्फीति को दूर करने में सरकार की मदद देने के लिए मंजूरी की माँग के बारे में मजदूर संघों को संयत रखा। सरकार ने उपभोग के बारे में जो नियंत्रण लगाए थे, उन्होंने सार्वजनीन रूप से उन्हें मंजूर किए जाने में मदद दी। यह सब इस बात का प्रमाण है कि कुल मिलाकर सब मजदूर संघों ने अपनी नीतियों और कार्यों को एक विकासशील समाजवाद की समस्याओं एवं वास्तविकताओं के अनुकूल रखने के लिए कुछ कोशिश की।

मजदूर संघों ने समझ लिया कि मजदूर सरकार उनकी समस्याओं को यह आश्वस्त करके सरल कर देती है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों के कई लाख कामकर सामाजिक उत्पाद में अपना उच्चतम हिस्सा प्राप्त करेंगे। किसी उद्योग के राष्ट्रीयकरण से यह निश्चयात्मकता पैदा हो जाती है कि करार करने और शिकायतें तथा

इन कारणों के अधीन भी गलतफहमियाँ दूर करने के लिए बातचीत चलाने के वास्ते व्यापक सुविधाएँ उपलब्ध हो जाएँगी। ऐसे मामलों में पर्याप्त सामूहिक लेन-देन के लिए संघर्ष करने को मजदूर संघों को लाचार नहीं किया गया, जैसाकि उनको कभी-कभी निजी उद्योगों के क्षेत्र में करना पड़ा था। सामूहिक लेन-देन के प्रति निजी स्वामित्व के प्रतिरोध द्वारा प्रबंधकों के 'विशेषाधिकारों' और कृत्यों में उसके हस्तक्षेप से राष्ट्रीयकृत उद्योगों में कम या लुप्त होने लगा। निजी स्वामी द्वारा लाभों या स्पर्धी स्थिति में गोपनीय समझी जाने वाली दूसरी चीजों पर चर्चा करने पर जो हिचक थी, वह राष्ट्रीयकरण के अधीन गायब हो गई। हालांकि हड़ताल करने का अधिकार परिरक्षित है, तथापि मजदूर संघ यह अनुभव करते हैं कि यह प्रायः 'सैद्धांतिक' बन जाना चाहिए। यह स्वीकार किया जाता है कि समाजीकृत उद्योग में अक्सर हड़ताल का आयोजित होना असंगत बात है।

समाजीकृत उद्योगों में मजदूर संघों की परिस्थिति और कृत्यों में परिवर्तन की जरूरत का लेबर सरकार के आरंभिक काल में अक्टूबर, १९४६ ई० में मजदूर संघ कांग्रेस के अध्यक्ष श्री चार्ल्स व्यूक्स ने सारांश के रूप में इस तरह वर्णन किया था :

"मैं यह नहीं कहता कि मजदूर संघ के दृष्टिकोण का यह पुनः समंजन आसान हो जाएगा। मजदूर संघों में सुदृढ़ रूढ़िवादी भावनाएँ विद्यमान हैं। यह भावना बड़े दिनों में खत्म होगी कि स्वामी प्राधिकारी और कामकर के बीच एक अनिवार्य संघर्ष हमेशा रहता है। राष्ट्रीयकृत उद्योगों के कामकरो द्वारा यह समझ लिया जाना आसान न होगा कि सुधरी हुई हालतें ज्यादा अच्छे वेतन और काम के कम घंटों के दावों का संतुलन सामान्य हितों का विचार करके किया जाना चाहिए।

हमारे आज के आर्थिक जीवन में इस परिवर्तन का जो संक्रमण-स्तर चल रहा है, उसमें हम मजदूर संघ वादियों से माँग की जाएगी कि हम बातचीत चलाने में ज्यादा धैर्य से काम लें और जहाँ वैध दावों का भी प्रश्न है, वहाँ पर भी कुछ त्याग करने को तैयार रहें····हमें उद्योग के नियंत्रण और प्रबंध के सिलसिले में कुछ जिम्मेदारियाँ सँभालने के लिए तैयार रहना पड़ेगा, जिनको हम अब तक अपने क्षेत्र से बाहर मानते रहे हैं और हमें अपने मजदूर संघों के तंत्र को, अपने पदाधिकारियों के प्रशिक्षण को और अपने सदस्यों की शिक्षा को न केवल औद्योगिक उद्यमों के प्रबंध के लिए, बल्कि अपने संगठित आंदोलन से दूसरे कार्यों के लिए भी अनुकूलित करना पड़ेगा।"[1]

---

[1] लेबर ऐंड इंडस्ट्री इन ब्रिटेन, दिसंबर, १९४६, पृष्ठ २१०-२११, ब्रिटेन की मजदूर संघ काँग्रेस हमारे ए० एफ० एल० सी० आई० ओ० के समकक्ष है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू में मालिक और मजदूर संघ सरकार द्वारा एक 'रोजगार की शर्तें और राष्ट्रीयकृत मध्यस्थ निर्णय आदेश' के निकाले जाने से, सहमत हो गए थे, जिसके अनुसार सभी न सुलझे हुए श्रम-विवाद अनिवार्य मध्यस्थ निर्णय के अधीन आ जाते थे और यह निर्णय दोनों पक्षों पर अंतिम और वाध्यकर माना जाता था तथा हड़तालों और तालाबंदियों को अवैध करार दे दिया गया था। यह आदेश अगस्त, १९५१ ई० तक प्रभावी रहा जब सरकार ने इसे निरसित कर दिया। लेबर सरकार के पदाधीन रहने पर हड़तालों के अवैध होने के बावजूद लगभग १० हजार मामलों में काम को रोका गया। ये सभी 'जंगलीपन' की हड़तालें थीं; क्योंकि उस राष्ट्रीय मजदूर संघ द्वारा उनका समर्थन नहीं किया गया था, जिनके स्थानीय संघ उसमें अंतर्ग्रस्त थे। अधिकांश मामलों में स्थानीय और जिला मजदूर नेताओं ने हड़ताल करने को नामंजूर किया था और अनेक मामलों में तुरंत खत्म कर देने के लिए प्रत्येक प्रयास किया था। हालांकि लेबर सरकार को ऐसा करने की पूरी शक्ति थी, फिर भी उसने हड़तालियों या उनके मजदूर संघो पर दो मामलों में छोड़ कर किसी भी मामले में कोई कानूनी दंड नहीं लगाया। प्रत्यक्ष है कि ऐसी आशंका थी कि ये लगाने से हड़ताली शहीद बन जाएंगे और संभवतः बहुत सी सहानुभूति हड़तालें होने लगेंगी। काम रुक जाने के इन मामलों में बहुत थोड़े कर्मचारी अंतर्ग्रस्त थे और वे मजदूर संघ नेताओं की यह बात मानने को तुरंत तैयार हो गए कि कर्मचारी काम करते रहें और अपने मतभेदों का समाधान मालिकों के साथ मध्यस्थता एवं पंच फैसले के सुस्थापित सूत्रों से करते रहें। इनमें से कुछ फिर भी गंभीर प्रकार के थे; क्योंकि वे कोयला और परिवहन-जैसे राष्ट्रीयकृत उद्योगों से संबंधित थे और काफी वेतन-वृद्धि की माँग कर रहे थे तथा स्थानीय सरकार को परेशानी में डालने वाला यह प्रश्न पैदा कर रहे थे कि क्या हड़ताल मालिक के, सरकार के, राष्ट्रीय मजदूर संघ के, जनसाधारण के या चारों के ही विरुद्ध थी ?

लेबर सरकार के अधीन काम रोके जाने के दो मामलों पर खास तौर पर ध्यान देना होगा, इसलिए नहीं कि संख्या की दृष्टि से वे ज्यादा गंभीर थे, बल्कि इसलिए कि उनमें ग्रस्त प्रश्न ज्यादा गंभीर थे। १९४७ ई० में ग्लासगो के गोदी कर्मचारियों ने हड़ताल की और लंदन के कुछ गोदी कर्मचारियों ने उनकी सहानुभूति में हड़ताल कर दी। गोदी कर्मचारियों के राष्ट्रीय मजदूर संघ में इसके शुरू किए जाने के थोड़ा पहले ही डाक मजदूरों के नियोजन को विनियमित करने वाले एक सरकारी आयोजना को मंजूर किया था। प्रत्येक बंदरगाह पर जरूरी गोदी कर्मचारियों की संख्या का पता लगाया गया, वहाँ पर काम करने वाले गोदी कर्मचारियों को प्रवृत्ति के आधार पर उस संख्या तक अपने को पंजीवद्ध कराने की अनुमति दी गई

और पंजीवद्ध कामगरों को नियमित काम अनुपलब्ध होने पर भी पूरी मजदूरी देने की गारंटी दी गई। मजदूर संघ ने यह स्वीकार कर लिया कि ग्लासगो में ८०० से ज्यादा कामगरों को पंजीबद्ध नहीं किया जाएगा और इस संख्या से ऊपर ५०० कर्मचारियों को बाहर निकाल दिया गया। उनके साथी मजदूर संघ के सदस्यों ने हड़ताल कर दी। यार्कशायर में कोयला-खनिकों की भी उस समय हड़ताल हो गई, जब राष्ट्रीय कोयला मंडल ने मंडल और मजदूर संघ के बीच हुए इस करार के अधीन खनिकों के दैनिक काम की 'सीमा' बढ़ाना शुरू कर दिया कि ऐसा साप्ताहिक उत्पादन में कमी को दूर करने के लिए उन जगहों पर किया जाएगा, जहाँ पाँच दिन का हफ्ता शुरू किया गया है। स्थानीय हड़ताल दूसरी जगहों पर सहानुभूति हड़तालों के रूप में फैल गई और इसके समाप्त होने तक ब्रिटेन बुरी तरह से जरूरी ६ लाख टन कोयले से हाथ धो बैठा तथा कोयला मंडल अनिश्चित काल तक बढ़ी हुई 'सीमा' को टालने के लिए सहमत हो गया। राष्ट्रीय कोयला मंडल ने कुछ बड़े ही गैर-आर्थिक गड्ढों का संचालन बंद करने का आदेश दिया था, जिसके कारण सीधे प्रभावित खनिकों ने हड़ताल कर दी और दूसरे खनिकों ने सहानुभूति हड़तालें कर दीं। ये हड़तालें इस बात के बावजूद हुईं कि कोयला मंडल को मजदूर संघ के पदाधिकारियों का समर्थन प्राप्त था और उसके पास इस बात के निश्चायक साक्ष्य थे कि इन गड्ढों से निकाले जाने वाला कोयला बड़ा ही मँहगा पड़ता था।

गोदी और कोयला हड़तालों के ये दोनों मामले दो कारणों से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं: (१) वे बताते हैं कि यद्यपि मजदूर संघ के नेताओं ने लेबर सरकार के कार्यक्रम को पूरा-पूरा समर्थन प्रदान किया, तथापि मजदूर संघों के विद्रोही तत्त्व युद्धोत्तर ब्रिटेन-जैसे जरूरतमंद राष्ट्र के लिए भी भारी संकट खड़ा कर सकते थे। मजदूर संघ के नेताओं ने यह बात समझ ली कि उनको अनधिकृत और (व्यापक दृष्टिकोण से) अप्रत्याशित काम के रोके जाने में दिलचस्पी लेने वाले मजदूर संघ के तत्त्वों का विश्वास प्राप्त करना होगा और उनका नियंत्रण करना होगा। (२) इन हड़तालों से राष्ट्रीय पैमाने पर हालत अच्छे करने के प्रयत्नों से पैदा होने वाली समस्या की झाँकी भी देखने को मिलती है। गोदी के श्रमिकों के काम की आकस्मिकता दूर करने और कोयला खानों में ५ दिन का हफ्ता शुरू करने के उपाय मजदूरों की हालतों में सुधार करने के लिए ही मूलभूत रूप से हाथों में लिए गए थे और फिर भी वे विशिष्ट स्थानीय मजदूर वर्गों के संकीर्ण हितों के विरुद्ध गए। इन समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर मजदूरों को अभिप्रेरण देकर और चिंतन का समाजीकरण करके या राष्ट्रीय मजदूर संघों के पदाधिकारियों के हाथ में ज्यादा सख्त केंद्रीयकृत नियंत्रण सौंप कर या दोनों के जरिए किया जा सकता है। किसी भी हालत

में यह समस्या उन मजदूर संघों के सामने आने वाली एक है, जो उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के एक बड़े कार्यक्रम के अधीन अपनी कार्य-स्वाधीनता बनाए रखने की उम्मीद करती हैं।

१९५१ ई० के चुनाव से पहले यह अटकल लगाई जा रही थी कि अगर कंजरवेटिव सरकार चुनी गई, तो लेबर दल के प्रभावी तत्त्व के रूप में चलने वाले मजदूर संघ उसके साथ सहयोग करने से इन्कार कर देंगे। तथापि कंजरवेटिव सरकार के पदासीन होने के तुरंत बाद मजदूर संघ कांग्रेस ने यह घोषणा कर दी कि वह जो भी सरकार पदासीन हो, उसके साथ 'शांति के साथ' काम करने की बहुत समय से चली आती हुई परंपरा को मानना चाहती है। उसने प्रतिज्ञा की कि ब्रिटेन की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के व्यावहारिक समाधान की खोज में वह पूरा सहयोग देगी।

जैसी कि उम्मीद थी, मजदूर संघों ने कंजरवेटिव सरकार के साथ कुछ कम 'शांति के साथ' काम किया, उसकी अपेक्षा, जैसाकि उसने लेबर सरकार के साथ किया था। पहले के साथ उनका आंगिक संबंध नहीं था जैसा कि पिछली के साथ था, इसलिए १९५१ ई० के बाद अपनी नीतियों और कार्यों में संगठित कामकरों के हितों को स्वतंत्र रूप से ज्यादा प्रतिनिधित्व देने और जनहित को कम मान्यता देने का ध्यान रखा गया (राष्ट्रीयकृत उद्योगों में वे मजदूरी-संबंधी रियायतें पाने के लिए हड़तालों को हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की धमकी देते रहे और इस्तेमाल करते रहे। रेलवे मजदूर संघों और ब्रिटिश परिवहन आयोग के बीच दीर्घकालीन विवाद का समाधान १९५४ ई० में उस समय हुआ, जब हड़ताल की धमकी के बाद आयोग से और ज्यादा रियायतें प्राप्त कर ली गईं। १९५५ ई० में राष्ट्रीयकृत रेलों पर इंजीनियरों और फायरमैनों के संघ ने १७ दिन की गंभीर हड़ताल की। फरवरी से जून, १९६० ई० तक ब्रिटिश रेलों को मजदूरी की माँग को लेकर लगातार हड़ताल की धमकी में से गुजरना पड़ा (एक स्थल पर हड़ताल की एक तारीख तक तय कर दी गई थी।) एक वास्तविक हड़ताल को मजदूर संघ की माँगों के बारे में भारी रियायतें देकर ही टाला जा सका। सारणी ३ (पृष्ठ २८८) में बताया गया है कि राष्ट्रीयकृत कोयला उद्योग में हड़तालों के कारण कितने टन भार कोयले का नुकसान हुआ और यह नुकसान कंजरवेटिव सरकार के अधीन चोटी तक पहुँच गया। सन् १९५६ और १९५७ ई० में कंजरवेटिव सरकार ने मुद्रा-स्फीति को जो चुनौती दी, उस समय मजदूर संघों ने प्रतिज्ञा नहीं की कि वे अपनी मजदूरी-संबंधी माँगें पेश नहीं करेंगे जैसाकि उन्होंने ऐसी ही परिस्थितियों में उस समय किया था, जब लेबर सरकार पदासीन थी। इन तथ्यों से पता चलता है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों में ब्रिटिश

मजदूर संघों के स्थान और कृत्यों की बुनियादी समस्या का समाधान आज भी संभवतः उससे ज्यादा ही दूर है, जितना कि वह पहले राष्ट्रीयकरण कानून के पास होने के बाद से किसी भी समय पर था।

राष्ट्रीयकृत उद्योगों का प्रबंध संचालन

लेबर सरकार के अधीन राष्ट्रीयकृत उद्योगों के अनुभव से प्रबंध की कुछ ऐसी समस्याएँ पैदा हुईं, जो उन सभी उद्योगों में व्याप्त हैं और प्रत्येक उद्योग में अगर उनमें कोई अंतर है, तो केवल व्यौरों को लेकर। ये समस्याएँ विकासशील समाजवाद के उस उद्देश्य को जड़ तक जाती हैं कि प्रत्येक समाजीकृत उद्योग का प्रबंध व्यवस्थापन इस तरह किया जाए कि वह कार्यकुशल तो रहे ही और साथ ही प्रजातांत्रिक एवं सुपठित नागरिकों के समूह की इच्छाओं के भी अनुकूल रहे। यह बात वास्तव में ब्रिटिश राष्ट्रीयकृत उद्योगों में वस्तुतः निष्पन्न होती है या नहीं, इसका महत्त्व उनके व्यक्तिशः बड़े आकार के कारण पैदा होता है। सब मिला कर उनमें कई लाख कामकर लगे हुए हैं और उनमें से सबसे बड़ी में कर्मचारियों की दृष्टि में उतने से ज्यादा लोग काम करते हैं जितने कि जनरल मोटर्स, जनरल इलेक्ट्रिक और फोर्ड मोटर कंपनी में कुल मिलाकर काम करते हैं।

कार्यकुशल संचालन और लोकेच्छा के अनुकूल रहने का दोहरा उद्देश्य ही कहा जाए, तो प्रबंध की बहुत ही बुनियादी समस्या को पैदा करता है। क्या एक राष्ट्रीयकृत उद्योग का संचालन इस रूप में करना चाहिए कि वह 'वाणिज्यिक' अर्थ में कार्यकुशल बना रहे अर्थात् उसकी आय इतनी रहे कि व्यय को पूरा कर सके (या एक-दूसरे अर्थ में स्वतः उद्योग से शक्ति के साथ संबद्ध रहे) या क्या उसके संचालन को व्यापक आर्थिक और सामाजिक जरूरतें पूरा करने के लिए निदेशित करना चाहिए? नीति-निर्माण और प्रशासन में इनमें से किस लक्ष्य पर ज्यादा आग्रह करना चाहिए? दूसरे अनेक सिलसिलों में हमने एक बात देखी है कि राष्ट्रीयकरण अधिनियमों ने इस बात का निर्णय मंत्रियों और मंडलों के ऊपर छोड़ दिया है कि क्या और कितने समय तक किसी खास उद्योग को 'पूरी सुविधाएँ देकर' संचालित किया जाए, ताकि वह जनहित के लिए उपयोगी समझे गए किसी मार्ग का या जनता द्वारा वांछित मार्ग का अनुसरण कर सकें। आमतौर पर लेबर सरकार के मंत्रियों और मंडलों ने संचालन के वाणिज्यिक सिद्धांत को माना था और वार्षिक घाटों के बारे में उन्हें चिंता रहती थी एवं वे बार-बार न हों, इसके लिए वे उपाय ढूँढते रहते थे। प्रश्न यह है कि क्या उनमें से किसी ने भी राष्ट्रीयकरण अधिनियम द्वारा अभिप्रेरित मात्रा से अधिक इस दिशा में झुकाव दिखाया और क्या यह आग्रह

समाजीकृत उद्योगों को 'जनहित में' संचालित करने के विशुद्ध समाजवादी लक्ष्य के साथ संगत है ?

यह प्रश्न राष्ट्रीयकृत उद्योगों से संबंधित उच्च प्रबंध मंडलों के व्यक्तियों के साथ निकट से जुड़ा हुआ है। क्या उनमें निजी उद्योगों में अनुभव रखने वाले ऐसे व्यक्ति रखे जाने चाहिए, जो अपनी प्रबंध समस्याओं का समाधान बिलकुल निजी कारबार के दृष्टिकोण से हल करना चाहेंगे या वे इस तरह के व्यक्ति होने चाहिए जिनकी व्यापक पृष्ठभूमि और दर्शन उनको इस बात का आग्रह करने की ओर प्रेरित करें कि वह उद्योग सामाजिक जरूरत में क्या योगदान दे सकता है, भले ही इसके लिए उसको घाटे पर चलाना पड़े ? अथवा ये लोग मुख्यत: विशिष्ट राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बीच लिए जाने चाहिए जिनको कुछ निचले स्तर पर कार्य—कुशल प्रबंध सेवा के पुरस्कार स्वरूप मंडल की सदस्यता दी जाए ? खासतौर पर मंडल के पूरे समय के सदस्यों के बारे में भी प्रश्न उठता है; क्योंकि किसी भी मंडल के बुनियादी निर्णयों में अंशकालिक सदस्य काफी कम मात्रा में प्रभावशाली होते हैं। मंत्री मंडलों की नियुक्ति करने के लिए उत्तरदायी हैं और राष्ट्रीयकरण अधिनियम उनके लिए चुनाव करने में काफी गुंजाइश छोड़ते हैं। जब राष्ट्रीयकरण अधिनियम पास किए गए, तो लेबर सरकार को यह आशा थी कि कोयला परिवहन-जैसे उद्योगों में चोटी के प्रबंध के लिए कुछ नए प्रकार के लोग सामने आएँगे। वास्तव में प्रजातांत्रिक समाजवाद के दर्शन और कार्यक्रमों में तथा लेबर दल के फैबियन समाजवादी तत्त्वों ने भी हमेशा यह बात सोची थी कि समाजीकृत उद्योगों के चोटी के प्रबंध कार्य में श्रमिकों को काफी प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा–संभवतः उनको यह आशा थी कि अनुभव से प्रबंध समस्याओं को अच्छी तरह समझ लेने के बाद उद्योग में कामगरों के हाथ में स्वप्रबंध का पूरा भार आ जाएगा। प्रकट है कि ऐसी आशा के फलवती होने जैसी कोई भी बात संपन्न नहीं हुई है।

ब्रिटेन में सार्वजनिक प्रेस में हर नए मंडल में नियुक्ति को लेकर काफी चर्चा हुई है और उसकी प्रशंसा या निंदा की गई है। यह समझा जाता है कि यद्यपि मंडल का प्राथमिक कार्य संबंधित उद्योग के दैनंदिन प्रबंध के बारे में चोटी का निदेश देना है, प्रत्येक मंडल मंत्री के साथ निकट से परामर्श लेता है और उसके निर्णय एवं उसकी प्रबंध समस्याओं की संकल्पनाएँ एक मंत्री को नीति-संबंधी मामलों में महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित कर सकती हैं। राष्ट्रीयकृत उद्योग के मंडल की सदस्यता के लिए विशिष्ट चुनाव के वास्ते इस या उस दर्शन को मानने वाले व्यक्तियों, आमतौर पर उद्योग के कृत्य के बारे में संकीर्ण या व्यापक संकल्पना को मानने वाले व्यक्तियों के सरकार तथा उद्योग के बीच समुचित संबंध के बारे में यह या वह दृष्टिकोण मानने

वाले व्यक्तियों के, मजदूर संघ के समुचित कार्य संचालन के और उपभोक्ता के स्थान तथा योगदान के बारे में यह या वह दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों का चुनाव किया जाना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राष्ट्रीयकृत उद्योग 'एक वाणिज्यिक कारबार नहीं है न एक लोक सेवा है—बल्कि—कुछ न कुछ रूप में उसमें दोनों बातें आती हैं।[1] बड़े अचंभे की बात यह है कि ब्रिटेन में इस मामले में न तो ध्यान से विशद् अध्ययन ही किया गया है और न इस ओर ध्यान ही दिया गया है।[2] उम्मीद यह थी कि मंडल की सदस्यता की कसौटी क्या हो, इसकी काफी चर्चा की जाएगी और नियुक्ति करने से पहले मंत्री को किसके साथ सलाह करनी चाहिए, मंडल के सदस्यों की निश्चित पदावधि कितनी होनी चाहिए, किस तरह सर्वोत्तम व्यक्ति इन पदों पर आने के लिए आकर्षित किए जा सकते हैं आदि-आदि समस्याओं की भी चर्चा नहीं की गई है और साथ ही इन समस्याओं एवं ऐसी ही दूसरी समस्याओं को लेकर समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में भी प्रायः कोई भी चर्चा देखने को नहीं मिलती, उन पत्रिकाओं तक में जो राष्ट्रीयकृत उद्योगों में गहरी दिलचस्पी लेती हैं।

मंत्री इन पदों पर जिन लोगों को नियुक्त करना चाहते हैं, उसके बारे में उनकी सामर्थ्य पर भी कुछ बंधन हैं। लिए जाने वाले उत्तरदायित्व के भार को देखते हुए वेतन कम हैं। १९५७ ई० तक एक प्रमुख मंडल जैसे कि कोयला या परिवहन मंडल के सभापति का वेतन ८५०० पौंड (२३८०० डालर) था, जिसे बाद में बढ़ा कर १०००० पौंड (२८००० डालर) कर दिया गया। पूरे समय के सदस्यों के लिए वृद्धि ५००० पौंड (२४००० डालर) से ७००० पौंड (१९६०० डालर) की गई। ये वेतन उन निजी उद्योगों से संचालन निदेशकों के वेतनमानों के लगभग समान हैं, जो राष्ट्रीयकृत उद्योगों की विशालता की तुलना में अंशमात्र ही हैं। संभवतः ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नियुक्ति पाँच साल की अवधि तक ही सीमित है और (कम-से-कम कुछ उद्योगों में) उसके आगे बढ़ाए जाने की कोई ज्यादा संभावना नहीं होती। साथ ही मंडल की सदस्यता से कोई सेवा-निवृत्ति वेतन या सेवा-निवृत्ति अधिकार प्राप्त नहीं होते, जो बात निजी उद्योगों की तुलना में इन पदों को गंभीर लाभहीनता की स्थिति में डाल देती है। कम-से-कम कुछ राष्ट्रीयकृत उद्योगों-जैसे संभवतः कोयला और परिवहन के

---

[1] राष्ट्रीय कोयला मंडल के भूतपूर्व सभापति सर जेम्स बाउमैन, दि लंदन इकोनॉमिस्ट, २१ दिसंबर, १९५७, पृष्ठ ७१-७२।

[2] इस वक्तव्य का एक अपवाद ऐक्टन सोसाइटी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक है: दि मैन ऑन दि क्रोस, बलाइगेट, सरे, इंगलैंड, १९५१ ई०। हालांकि यह अध्ययन कुछ साल पुराना है, तथापि जो छात्र इस विषय को ज्यादा ध्यान से देखना चाहते हैं, उनके लिए यह अब भी संगत है।

लिए संभावनाएँ और भी कम हो सकती हैं, कम-से-कम इस अर्थ में कि कारबार जगत इनको 'विकासशील' उद्योग की अपेक्षा अवनत होने वाला उद्योग मानता है। अक्सर जो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं, उनको मंत्री सुयोग्य नहीं मानते, जबकि उन लोगों को केवल सार्वजनिक कर्त्तव्य की दुहाई देकर भी प्रेरित किया जाता है, जिनको वे लोग नियुक्त करना चाहते हैं।

नतीजा यह है कि मंडल की सदस्यता की जिम्मेदारियों के प्रकाश में देखने पर बहुत सी नियुक्तियाँ अधकचरे लोगों की हुई हैं। खासतौर पर कुछ मंडलों में जहाँ प्रत्येक सदस्य को मंडल के कार्य के कृत्यगत किसी खास पहलू की पूरी जिम्मेदारी सँभालनी होती है। प्रवृत्ति यह रही है कि मंत्री राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मंडल से नीचे के चोटी के स्तर के प्रबंध कर्मचारियों में से नियुक्तियाँ करते रहे हैं।[1] मंडल के किसी पद को भरने के लिए अक्सर मंत्री इस रास्ते को सबसे ज्यादा सुरक्षित और आसान समझते रहे हैं। बोर्ड के सदस्य के रूप में नियुक्त होने पर ऐसे व्यक्ति के वेतन और उपलब्धियों में वृद्धि होती है। उद्योग में उसे जो अनुभव हो चुका है, उससे वह उसकी समस्याओं से सुपरिचित हो गया है। वस्तुतः जनता भी यह समझ लेती है कि नियुक्ति किए जाने वाला व्यक्ति एक विशेषज्ञ है और इसलिए उसकी नियुक्ति आलोचना से परे होती है। इसी कारण हाउस ऑफ कामन्स भी इस ओर सहानुभूति रखता है और संबंधित उद्योग भी संभवतः भीतर से हुई तरक्की के कारण खुश ही होता है; क्योंकि इससे यह संकेत मिलता है कि दूसरे कर्मचारियों को भी ऐसा अवसर मिल सकेगा। भीतर के व्यक्ति की नियुक्ति से उद्योग अपना अंतर्विवेचन ज्यादा अच्छी तरह से कर सकेगा और वह अपनी प्रबंध समस्याओं का निर्णय इस बात पर ज्यादा दृष्टि रख कर करेगा कि उद्योग के प्रबंधकीय सहकारी और मजदूर संघ के प्रतिनिधियों की प्रतिक्रिया क्या होगी। इसकी अपेक्षा अर्थतंत्र में या समूचे राष्ट्र में उस उद्योग को अपनी भूमिका समुचित रूप से निबाहने के लिए उपयुक्त बनाने के व्यापक मसलों पर कम ध्यान दिया जाएगा।

स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों के लिए मंडलों की रचना का बड़ा ही गंभीर महत्त्व है। इस समस्या का इस कारण अंत नहीं हो जाता कि भविष्य में कुछ समय के लिए लेबर दल की सत्ता और उद्योगों का ज्यादा राष्ट्रीयकरण देखने को नहीं मिलेगा। विद्यमान राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मंडलों का गठन, सेवा-निवृत्ति, मृत्यु, पदावधि का अंत होना और त्यागपत्रों के कारण निरंतर बदल रहा है। यहाँ पर

---

[1] देखिए आर० केल्फ—कौहैन नेशनलाइजेशन इन ब्रिटेन. लंदन मैकमिलन, १९५८, अध्याय ११।

बात यह नहीं है कि मंडल की सदस्यता की पात्रता की कसौटी को यह मूलभूत समस्या और जो व्यक्ति इन शर्तों को पूरा करते हैं, उनके लिए यह नियुक्ति आकर्षक बनाने के साधनों का समाधान नहीं किया जा सका है। इसके बदले समस्या यह है कि इस समस्या के भारी महत्त्व के प्रति जागरूकता बहुत कम लगती है और जाने-माने एवं प्रवीण व्यक्ति इसके अनेक सूक्ष्म पहलुओं का निकट से अध्ययन करने तथा उसकी चर्चा करने के लिए तैयार नहीं हैं।

व्यक्तियों के चुनाव की यह समस्या वास्तव में राष्ट्रीयकृत उद्योगों के संगठन के सभी स्तरों तक जाती है और इसमें पदोन्नति एवं प्रशिक्षण कार्यक्रमों की विशद समस्याएँ भी अंतर्ग्रस्त हैं। यहाँ पर यह भी देखा गया है कि प्रबंधकों के हित खाली पद पर काम करने या काम करना सीखने के लिए सोपान की निचली सीढ़ी पर अधिकतम योग्यता के आधार पर पदोन्नति करने में केंद्रित रहते हैं, जबकि बहुत से कर्मचारी और मजदूर संघों की नीतियाँ आग्रहपूर्वक इस बात पर जोर देती हैं कि पदोन्नति प्रवरता के आधार पर अर्थात् सेवा के ज्यादा समय के आधार पर की जाए। हालांकि कुछ व्यक्तिगत मामलों में इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच कोई संघर्ष नहीं होता, फिर भी आमतौर पर ये पदोन्नति और रिक्त स्थान भरने के दो बिलकुल भिन्न सिद्धांत हैं। हर राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रबंध को इस समस्या का सामना करना पड़ता है कि वह संबंधित उद्योगविशेष की परिस्थितियों के अधीन इन दोनों सिद्धांतों के बीच सर्वोत्तम समाधान खोज निकाले।

संसदीय उत्तरदायित्व

नीति-निर्माण की चोटी के स्तर पर एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका व्यावहारिक कारणों से ही महत्त्व नहीं है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि वह समाजवाद के बुनियादी सिद्धांत से भी संबंध रखती है। प्रश्न यह है कि समाजीकृत उद्योग की नीतियों को नागरिकों की लोकतंत्री तरीकों से व्यक्त की गई इच्छाओं के अधीन कैसे बनाया जाए? ब्रिटेन के राष्ट्रीयकृत उद्योगों में यह ध्यान रखना होगा कि मंत्री को प्रजातांत्रिक रूप से व्यक्त की गई नागरिकों की इच्छा उद्योग के दैनंदिन संचालन में चलाने के लिए नीतियों के निर्माण के बीच कड़ी के रूप में माना गया है। राष्ट्रीयकरण अधिनियमों के अधीन मंत्री को यह शक्ति दी गई है कि सामान्य निवेश जारी करे, जो व्यावहारिक रूप में उसके अधीन रहने वाले प्रबंध मंडल के लिए नीति के निर्णय होते हैं और फिर वह राष्ट्रीयकृत उद्योग द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीतियों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है। सिद्धांत यह है कि मंत्री राष्ट्रीयकृत उद्योग की नीतियों को निदेश देने के लिए योग्यता सूत्रपात, निर्णय, पूर्वदृष्टि और वस्तुतः

कारता का प्रयोग करेगा और फिर उन नीतियों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होगा तथा हाउस ऑफ कामन्स के सामने उनका बचाव करने के लिए और उनको बदलने के लिए तैयार रहेगा और अगर हाउस के बहुमत द्वारा उनका समर्थन न किया गया, तो पद छोड़ने के लिए तैयार रहेगा। वास्तव में यह उत्तरदायित्व इतने तीव्र रूप से व्यक्तिगत मंत्री के ऊपर केंद्रित नहीं रहता है; क्योंकि वह किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग के लिए जो बड़ी नीति तैयार करता है वह उन नीतियों में से होगी, जिसकी चर्चा मंत्रिमंडल के भीतर की जा चुकी होगी और उसके द्वारा उसे अनुमोदन मिल गया होगा। इस अर्थ में राष्ट्रीयकृत उद्योगों के नीति-निर्धारण की जिम्मेदारी मंत्रिमंडल पर आती है और अगर किसी उद्योगविशेष-संबंधी किसी प्रमुख नीति का समर्थन हाउस ऑफ कामन्स नहीं करता, तो पूरे मंत्रिमंडल को ही पदत्याग करना होगा। इन जिम्मेदारियों और संबंधों से दो बड़ी सुस्पष्ट समस्याओं के वर्ग पैदा होते हैं: (१) क्या राष्ट्रीयकरण अधिनियमों में व्यक्तिगत मंत्रियों की शक्तियों को उनकी जिम्मेदारियों के सममात्रिक बना दिया है और उनकी जिम्मेदारियों के संबंध में बहुत ज्यादा नहीं, और क्या मंत्रियों ने उनको दी गई शक्तियों का समुचित उपयोग किया है (२) क्या संसद् ने मंत्री की नीतियों का इतने प्रभावी रूप से नियंत्रण किया है कि यह मान लिया जाए कि यह नीतियाँ नागरिकों की प्रजातांत्रिक इच्छा को बिंबित करती हैं ?

पहले तो यह स्पष्ट है कि अधिनियमों ने मंत्रियों को बहुत ज्यादा शक्तियाँ प्रदान की हैं। किसी मंडल को सामान्य निदेश देने की मंत्री की शक्ति व्यापक है और मूलभूत है एवं जब इस मंडल के सदस्यों को नियुक्त करने की उसकी शक्ति के साथ जोड़ा जाता है तो इससे प्रत्यक्षतः उसको यह निर्धारित करने के लिए काफी मात्रा में प्राधिकार मिल जाता है कि किसी निश्चित राष्ट्रीयकृत उद्योग के भीतर क्या चल रहा है। स्पष्ट है कि मंत्रियों ने अपनी शक्तियों का प्रयोग एक व्यक्ति के निर्णय की त्रुटिपूर्णता को उचित अर्थ में समझ कर किया है और उन्होंने माना है कि वे मंडल के काम में बहुत ज्यादा हस्तक्षेप करेंगे, तो उनके अधीन प्रशासन पर उलटा असर पड़ेगा। स्पष्ट ही इस बात को लेकर कुछ विभ्रम है कि मंत्री को राष्ट्रीयकृत उद्योगों में संसद् की इच्छाओं के अनुकूल नीति-निर्माण को नियंत्रित करने के लिए संसद् के अभिकर्ता के रूप में काम करना चाहिए अथवा संसदीय वादविवाद और प्रश्नों के घंटे में मंडल के कार्यों की रक्षा करने एवं उनको प्रस्तुत करने के लिए मंडल के प्रवक्ता और प्रतिनिधि के रूप में काम करना चाहिए। व्यवहार में मंत्रियों का झुकाव पिछले प्रकार की ओर रहा है और यह एक उचित प्रश्न है कि ऐसा करने के राष्ट्रीयकृत उद्योगों के ऊपर संसद् द्वारा लोकतांत्रिक नियंत्रण के प्रयोग में बाधा पड़ती है।

राष्ट्रीयकृत उद्योग के मंत्री द्वारा निदेश के संसदीय पर्यवेक्षण की समस्या का स्पष्ट ही संतोषजनक रूप से समाधान नहीं हो सका है और इस कमी को इस समाजवादी सिद्धांत से गंभीर रूप से दूर जाने वाला समझा जाना चाहिए कि लोकतांत्रिक संसदीय निकाय इस बात पर लगातार निगाह रखेंगे कि राष्ट्रीयकृत उद्योग उसकी इच्छाओं के अनुसार चल रहे हैं या नहीं। इस बात के तीन साधन हैं, जिनसे हाउस ऑफ कामन्स राष्ट्रीयकृत उद्योग के आचरण की जाँच कर सकता है और इस प्रकार उसके संबंध में अपनी भावनाओं से मंत्री को परिचित बना सकता है। (१) सदस्य नियमित 'प्रश्नों के घंटे' में मंत्री से प्रश्न कर सकते हैं जब मंत्री या उनके प्रतिनिधि को सभा में उपस्थित होना पड़ता है। मंत्री लोग एक रूप हो कर कुछ प्रश्नों के उत्तर देने से इन्कार कर देते हैं। इनमें वे प्रश्न शामिल होते हैं, जो पहले पूछे जा चुके हैं और जिनके उत्तर दिए जा चुके हैं और वे प्रश्न, जो ग्रस्त उद्योग के दैनंदिन संचालन के ब्यौरों को लेते हैं। इस प्रकार जिन मंत्रियों से राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बारे में प्रश्न किए गए हैं उन्होंने उठाए गए प्रश्नों के असली विंदुओं को टालने में बड़ी प्रवीणता और झुकाव दिखाया है। इस बात के साथ जब हम यह तथ्य भी जोड़ देते हैं कि प्रश्नों के उत्तर देते समय मंत्री आमतौर पर रक्षात्मक रवैया अपनाते हैं और जितनी जानकारी देना नितांत आवश्यक होता है, उससे ज्यादा जानकारी नहीं देते, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातांत्रिक नियंत्रण का जो एक बड़ा प्रभावी साधन है, उसकी उपयोगिता बहुत कुछ सीमित हो जाती है। मंत्री को प्रश्नों के लिए जो समय मिलता है, वह बहुत कम होता है और प्रश्न बहुत ज्यादा ब्यौरों को लेने की कोशिश करते हैं। आमतौर पर प्रश्नों का संबंध राष्ट्रीयकृत उद्योगों के सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण पहलुओं के साथ नहीं होता जैसे पूँजी निवेश के लिए उनकी आयोजना या उनकी व्यक्तियों संबंधी नीतियाँ। (२)ज्यादा सभव यह है कि वाद-विवाद में महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचारपूर्वक चर्चा की जाए। फिर भी हाउस ऑफ कामन्स राष्ट्रीयकृत उद्योगों पर चर्चा करने के लिए उनके महत्त्व की दृष्टि से जरूरी समय की अपेक्षा कहीं कम समय देता है। वाद-विवाद में भी मंत्री और सभा के सदस्य दोनों ही बुनियादी समस्याओं को लेने से हिचकते रहे हैं। पिछली बात संभवतः इसलिए कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों से संबंधित जटिल समस्याओं के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने मे काफी कठिनाई होती है (३) राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रतिवेदनों और लेखाओं की छानबीन लोक लेखा समिति द्वारा की जाती है। सभा की यह एकमात्र समिति है, जिसका उद्योगों पर कुछ मात्रा में सीधा नियंत्रण होता है, तथापि यह समिति राष्ट्रीयकृत उद्योगों के अलावा और भी बहुत सी लेखाओं का पुनर्विलोकन करती है और उसके पास न तो समय होता है, न सुविधाएँ और न उद्देश्य ही कि वह नीति और संचा-

लन की उन बुनियादी समस्याओं की जाँच करे जिनके ऊपर सभा का ध्यान केंद्रित होना चाहिए। इस प्रकार न तो अलग-अलग होकर, न संयुक्त रूप में ही ये तीनों तरीके व्यक्तिगत राष्ट्रीय उद्योगों को संसद् के प्रति उत्तरदायी होने की स्थिति में रख पाते हैं, जिनकी कि अर्थ-व्यवस्था में प्रतिष्ठित स्थिति के कारण जरूरत होती है।

कंजरवेटिव सरकार संसद् के प्रति उत्तरदायित्व की इस समस्या को लेकर बड़ी चिंतित रही है। विचारशील जनता भी इसमें रुचि लेती रही है और इस परिस्थिति को इस रूप में समझती रही है : "ब्रिटेन का औद्योगिक ढाँचा अब इस तरह बना हुआ है कि जिसमें बहुत से निजी उद्योग हैं, जिनके ऊपर राज्य को नियंत्रण की काफी शक्ति है और थोड़े से सरकारी उद्योग हैं, जिनके ऊपर उसका कोई भी नियंत्रण नहीं है।"[1] कंजरवेटिव सरकार के लिए व्यावहारिक विकल्प यह रहे हैं : (१) समय-समय पर हाउस ऑफ कामन्स से बाहर के सदस्यों की बनी हुई विशेष समितियाँ बनाई जाएँ (जैसे बिजली-उद्योग के लिए हर्बर्ट समिति) जो प्रत्येक राष्ट्रीयकृत उद्योग की समय-समय पर व्यापक पड़ताल करती रहे या (२) हाउस ऑफ कामन्स की स्थायी समिति बना दी जाए, जिसका एकमात्र काम यह हो कि प्रत्येक राष्ट्रीयकृत उद्योग की नीतियों और प्रशासन से लगातार परिचित बना रहे और उसके विशेषक के रूप में समय-समय पर सभा से उस कार्रवाई के लिए सिफारिश करती रहे, जो उसके विचार से जरूरी हो। कंजरवेटिव सरकार ने दूसरे विकल्प को चुना, लेकिन इसको बढ़े धीरे-धीरे प्रभाव में लाया गया। इस प्रायोजना का इतिहास कुछ ब्यौरों में दिया जा रहा है चूँकि इसे कम-से-कम ब्रिटेन में राष्ट्रीयकृत उद्योगों की नीतियों पर सचमुच प्रभावी प्रजातांत्रिक नियंत्रण पैदा करने की कुछ कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ता है।

दिसंबर, १९५१ ई० में हाउस ऑफ कामन्स ने कंजरवेटिव सरकार का यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया कि एक विशेषज्ञ समिति उन तरीकों का अध्ययन करने के लिए बनाई जाए, जिनसे सभा को राष्ट्रीयकृत उद्योगों के कार्यों से परिचित रखा जा सके और यह सिफारिश करे कि इन तरीकों में कौन-कौन परिवर्तन वांछनीय लगते हैं। इस समिति ने यही प्रतिवेदन दिया कि नियमित 'प्रश्नों के घंटे' में सभा के सदस्यों द्वारा मंत्रियों से किए गए प्रश्नों के समुचित उत्तर दिए जाएँ। इसी प्रयोजन से नवंबर १९५२ ई० में एक दूसरी समिति बनाई गई जिसमें यह सिफारिश की गई कि संबंधित राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बारे में नीतियों और व्यवहारों-संबंधी सभी संभव जानकारी लगातार प्राप्त करते रहने के लिए एक स्थायी समिति नियुक्त की जाए

---

[1] जैसाकि लंदन इकोनॉमिस्ट १९ मई, १९५६ ई०, पृष्ठ ६६८ में बताया गया है।

जिसका उद्देश्य संसद् को उनके लक्ष्यों, कार्यकलापों एवं समस्याओं से सूचित करते रहना होगा। इस तकनीक की व्यावहारिकता पर काफी वाद-विवाद के बाद इस सिफारिश को मंजूर किया गया और मार्च, १९५५ ई० में इस प्रयोजन से इस स्थायी समिति की स्थापना की गई। तथापि शुरू में ही इसे विचारार्थ विषयों को लेकर ही दिक्कत हुई कि वह क्या काम करे और १९५५ ई० के चुनाव के बाद उसकी जगह पर एक नई समिति बनी। इस समिति को कहा गया कि १९५३ ई० की सिफारिशों में जो प्रयोजन बताए गए हैं, उनके अनुसार काम करे। लेकिन बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसको विशेष रूप से इस बात से रोक दिया गया कि वह उन मामलों की जाँच करे, जो संबंधित मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं—ये मामले संभवतः स्थूल नीति के थे, मजदूरी या नियोजन की शर्तों-संबंधी ऐसे मामले थे जिनको लेकर प्रबंधक और मजदूर संघ सामूहिक रूप से सौदेबाजी करते हैं। ऐसे मामले थे जिनको राष्ट्रीयकृत उद्योगों से संलग्न उपभोक्ता परिषदों द्वारा निपटाया जाना चाहिए और राष्ट्रीयकृत उद्योगों के दैनंदिन प्रशासन-संबंधी मामले थे। इन प्रतिबंधों से जैसी आशा की जाती थी, समिति ने जल्दी ही (नवंबर, १९५५ ई० में) हाउस ऑफ कामन्स को प्रतिवेदित किया कि उसके विचारार्थ में जो प्रतिबंध लिख दिए गए हैं, वे पहले से उपलब्ध जानकारी के अलावा और कोई जानकारी प्राप्त करने में उसको असमर्थ बना देते हैं जो सभा के किसी वास्तविक उपयोग के लायक हो सकती थी। मई १९५६ ई० में प्रधान मंत्री ने हाउस ऑफ कामन्स में घोषित किया कि सरकार जल्दी ही इस समिति के लिए नए विचारार्थ विषय सभा में वाद-विवाद के लिए प्रस्तुत करेगी और निहितार्थ द्वारा उन्होंने यह भी संकेत दे दिया कि वे उन प्रतिबंधों की अपेक्षा कम सख्त होंगे, जिन्होंने समिति को अपने अभिप्रेत कृत्यों का निर्वाह करने में असमर्थ बना दिया था। इसी समय 'लंदन टाइम्स' ने एक संपादकीय लेख में यह टिप्पणी की कि "संसद द्वारा स्थापित बड़े-बड़े व्यापार संगठनों का संसद् के प्रति संतोषजनक रूप में उत्तरदायित्व का कोई तरीका खोज लेने की बात अब तक एक असुखद और असंतोषजनक काम रहा है, कुछ, लेकिन इतने महत्त्व की बहुत थोड़ी चीजें ही हो सकती हैं।"[1] इन समितियों की श्रृंखला से जो अशुभ प्रतिफल निकले, उन्होंने समस्या को स्पष्ट करने का ही काम किया : कोई स्थायी संसदीय समिति किस प्रकार काम करे कि वह संसद् को अपने इस दायित्व के सफल निर्वाह में मदद दे सके कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों को ब्रिटिश मतदाताओं की इच्छाओं से अनुकूल चला सके और साथ ही समिति के कार्यों द्वारा मंत्रियों के नीति-निर्माण एवं

---

[1] ११, मई १९५६ ई०।

मंडल के प्रशासन की आनम्यता को चोट न पहुँचाए, जो इन बड़े-बड़े उद्योगों के प्रभावी संचालन के लिए बहुत जरूरी है।

१९५७ ई०के शुरू में कंजरवेटिव सरकार की सिफारिश पर हाउस ऑफ कामन्स पर अपनी राष्ट्रीयकृत उद्योगों संबंधी प्रबर समिति (प्रतिवेदन और लेखे) नियुक्त करने के लिए मत दिया। यह समिति 'राष्ट्रीयकृत उद्योगों के प्रतिवेदनों और लेखाओं की जाँच' करने के लिए बनाई गई थी, जिससे हाउस ऑफ कामन्स को इन उद्योगों की नीतियों से परिचित रखा जा सके और समिति जो संसदीय कार्रवाई उपयुक्त समझे, सिफारिश कर सके। समिति को स्थापित करने वाले संकल्प में समिति के कोई विचारार्थ विषय नहीं दिए गए थे। इसलिए पूर्ववर्त्ती समितियों के विपरीत इस समिति के कार्य-क्षेत्र पर कोई बंधन न था। तथापि संकल्प संबंधी वाद-विवाद में प्रधान मंत्री ने यह स्पष्ट कर दिया था कि कंजरवेटिव सरकार (जिसका समिति में बहुमत रहेगा) का इरादा था कि यह समिति पूर्ववर्त्ती समितियों के लिए पहले से बंद किए गए क्षेत्रों में प्रवेश न करेगी। लेबर दल ने इस संकल्प का प्रत्यक्षतः इस आधार पर विरोध किया कि वह राष्ट्रीयकृत उद्योगों में कंजरवेटिवों के हस्तक्षेप से आशंकित थी और इस आधार पर ही कि अगर वह चाहे और अगर वह अगले आम चुनाव में जीत जाए, तो इस समिति को खत्म कर सके। समिति के बन जाने के बाद लेबर दल के सदस्यों ने उसके काम को प्रभावी बनाने के प्रयत्न में उसके साथ सहयोग किया, लेकिन वे हमेशा यह स्पष्ट करते रहे कि उनका दल यह बर्दाश्त न करेगा कि समिति का इस्तेमाल राष्ट्रीयकरण को बदनाम करने के लिए किया जाए।

समिति के विचारार्थ विषय न होने का चरितार्थ यह था कि, हालांकि प्रधान मंत्री द्वारा इसके कार्यक्षेत्र की कुछ सीमाओं के बारे में दिए गए वक्तव्य से यह बनी थी, इसने समिति को फलमूलक आधार पर काम करने के लिए छोड़ दिया कि अनुभव द्वारा वह यह तय कर ले कि वह किन विषयों की जाँच और किन तकनीकों का इस्तेमाल करेगी। समिति के पहले अध्यक्ष सर पैट्रिक स्पेंस[1] ने बता दिया कि समिति सतर्कता के साथ 'अपना रास्ता खोज कर चलेगी' और उसका काम अनेक राष्ट्रीयकृत उद्योगों को वित्तीय मामलों और लेखाओं के परे भी जाएगा और आमतौर पर वह किसी उद्योग-संबंधी अपनी पड़ताल को उद्योग के वार्षिक प्रतिवेदन पर आधारित करेगी (यह आमतौर पर इतनी मोटी होती है कि हाउस ऑफ कामन्स व्यक्तिगत सदस्य द्वारा इसका पढ़ा जाना या हाउस द्वारा इस पर प्रभावी बहस करना कठिन होगा।) उनकी आयोजना यह थी कि मंत्रियों और समिति के बीच 'विश्वास

---

[1] लेखक के साथ इस मामले की एक चर्चा करते समय।

और परस्परता' को विकसित किया जाए एवं मंडल और समिति के बीच भी ऐसा किया जाए, ताकि मंत्री या मंडलों को यह महसूस न हो कि समिति किसी मामले में उनको 'पकड़ने' के लिए तुली हुई है, मंत्रियों और मंडलों के निकट यह भावना पैदा की जाए कि हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों द्वारा उनकी कठिन समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण समझबूझ विकसित करने के लिए एक साधन के रूप में समिति के सामने आना उनके अपने दृष्टिकोण से ही 'लाभकर' होगा। उन्होंने समिति का जो मूलभूत लक्ष्य देखा था, वह यही था कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों और उनकी समस्याओं को हाउस ऑफ कामन्स के सामने रखा जाए; क्योंकि उसके व्यक्तिगत सदस्यों के पास इतनी सुविधाएँ नहीं हैं कि वे राष्ट्रीयकृत उद्योगों को उतनी अच्छी तरह से समझ सके, जितनी कि उनके बारे में उनकी जिम्मेदारी है।

इस दृष्टिकोण को लेकर समिति एक के बाद दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योग की जाँच करने के लिए आगे बढ़ी। इसकी पहली पड़ताल और रिपोर्ट में, जो संभवतः एक प्रयोगात्मक शुरूआत-जैसी थी, स्काटलैंड के बिजली-उद्योग को लिया गया— जो बहुत कुछ निर्लेप और निरीह मामला था। फिर बाद में उसने राष्ट्रीयकृत कोयला-उद्योग, दो सरकारी हवाई कंपनियों बी० ओ० ए० सी० और बी० ई० ए०, तथा सरकारी परमाणु ऊर्जा प्रायोजनाओं की जाँच की और अपने प्रतिवेदन दिए। हर मामले में इसके प्रतिवेदन पर हाउस ऑफ कामन्स में बहस हुई। १९६० ई० में उसने रेलों-संबंधी पड़ताल की। ये पड़तालें इसी कारण सफल मानी जा सकती थीं कि वे हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों का ज्ञान उनके इस कार्य-क्षेत्र के बारे में बढ़ा दें। तथापि समिति के जीवनकाल में यह निर्धारण करना अभी समय से बहुत पहले है कि वह संसदीय उत्तरदायित्व की बुनियादी समस्या को किसी अर्थ में कितनी गहराई तक सुलझा सकेगी।

प्रवर समिति के लिए काम करना बिलकुल आसान नहीं रहा। उदाहरण के लिए कोयला-उद्योग की पड़ताल करते समय उसने यह देखा कि बिजली मंत्री और राष्ट्रीय कोयला मंडल के बीच कोयले के दाम तय करने के बारे में जो संबंध चल रहा था, वह उसके विचार से बुद्धिमत्तापूर्ण न था। प्रक्रिया यह थी कि मंत्री और मंडल के बीच एक 'भद्रजन करार' चलेगा और मंडल मंत्री से पहले मंजूरी लिए बिना कोयले के दाम में कभी भी कोई परिवर्तन घोषित न करेगा। यह रिवाज हाउस ऑफ कामन्स और जनता के निकट यह बात अस्पष्ट रखती थी कि इन दोनों में से कौन कोयले के दाम तय करने के लिए जिम्मेदार है। हो सकता है कि मंत्री कोई भी परिवर्तन न चाहता हो और भले ही मंडल ऐसा परिवर्तन चाहता हो या

मंत्री उससे भिन्न परिवर्तन चाहता हो, जिसे मंडल उपयुक्त समझ रहा है और फिर भी यह बात कभी भी हाउस ऑफ कामन्स और जनता को पता न चलेगी। इसलिए समिति ने हाउस ऑफ कामन्स में एक विधेयक का प्रस्ताव किया, जिसमें यह व्यवस्था की जाए कि मंडल के लिए मंत्री से एक प्रयोगात्मक निर्णय जैसे कोयले के दाम में दी गई रकम बढ़ाने के लिए मंत्री से परामर्श करना सांविधिक दायित्व हो जाए। ऐसा परामर्श करने के बाद मंडल को अगर वह ठीक समझे, तो दाम बढ़ने की आजादी है और मंत्री को यह सांविधिक शक्ति हो कि वह यह निदेश दे सके कि वृद्धि अवैध घोषित कर दी जाए या कम मात्रा में प्रभावी हो। मंत्री का ऐसा हर कृत्य हाउस ऑफ कामन्स में अधिकृत रूप से प्रतिवेदित और प्रकाशित किया जाएगा। कंजरवेटिव सरकार ने तुरंत ही यह बता दिया कि वह ऐसे विधेयक का विरोध करती है और 'भद्रजन करार' प्रभावी बना रहना चाहिए। इस सिफारिश को छोड़ देना पड़ा और पहले के कई सालों में समिति ने जो एक सबसे महत्त्वपूर्ण काम किया था, उसका कोई नतीजा न निकला।[1]

१९५९ ई० में प्रवर समिति ने यह देखा कि एक मात्र क्लर्क और राजकोष के कर्मचारी के, जो संपर्क-अधिकारी का काम करता था, अलावा उसे कहीं ज्यादा कर्मचारियों की जरूरत है। हाउस ऑफ कामन्स को दिए गए एक विशेष प्रतिवेदन में उसने सुझाया कि उसे एक लेखापाल और या एक अर्थशास्त्र में प्रशिक्षित अनुसंधान कर्मचारी की जरूरत है, जो "उसे बता सके कि इस विषय में क्या कुछ किया जा सकता है और विशेष मामलों में अनुसंधान को आगे बढ़ा सके।"[2] हाउस ऑफ कामन्स की सेवा करने के लिए समिति का भावी मार्ग इस समय स्पष्ट नहीं है। ऐसा कोई

---

[1] सरकार ने प्रवर समिति की सिफारिश का समर्थन किस कारण से नहीं किया था, यह हाउस ऑफ कामन्स में इस तरह बताया गया : 'सरकार यह नहीं विश्वास करती कि कोयला-उद्योग जैसे बड़े-बड़े उद्योगों को मंत्री और मंडल के बीच लगातार एवं गोपनीय परामर्श के बिना चलाना संभव है। खास तौर पर दामों के बारे में जिम्मेवारी संयुक्त है। यह मानना यथार्थवादी नहीं है कि कोई भी सरकार कोयले के दामों के सामान्य स्तर से अपने को पूर्णतः विलग रख सकती है। साथ ही मंडल के ऊपर उतना ही एक सांविधानिक दायित्व है कि वह अपने कार्यों को इस तरह व्यवस्थित करे कि एक साल को दूसरे के साथ लेकर वह लाभ-हानि के दोनों सिरों को मिला सके। इसलिए सरकार यह समझती है कि इस मामले में इस बात से नहीं बचा जा सकता कि जिम्मेदारी को आपस में बाँटा जाए और वह समझती है कि एक औपचारिक निवेश की बात को बीच में लाना एक बड़ी गंभीर कार्रवाई होगी। दोनों के बीच समुचित संबंध में बाधा पड़ेगी।' दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १९ जुलाई, १९५८ ई०, पृष्ठ २३२।

[2] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १२ सितंबर, १९५९।

संकेत नहीं मिलता कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों के हाउस ऑफ कामन्स के जरिए मतदाताओं के प्रति उत्तरदायित्व को पूरा करने की गंभीर समस्या के लिए यह समिति कोई सहज समाधान-सूत्र बन सकेगी।

वास्तव में कोयले के दाम तय करने की समस्या को लेकर प्रवर समिति को जो अनुभव हुआ है, उससे पता चल जाता है कि संसदीय उत्तरदायित्व के मामलों के कुछ पहलू कितने मुश्किल हैं। राष्ट्रीयकरण अधिनियम विहित करता है कि प्रत्येक व्यक्तिगत मंत्री राष्ट्रीयकृत उद्योग के बारे में उसकी नीति को रूप देने के लिए जिम्मेदार है और मंडल को नीति-संबंधी निदेश देने का विशेष अधिकार उसे मिला हुआ है। यह अपेक्षा की जाती है कि प्रभावी उद्योग वार्षिक प्रतिवेदन में इन निदेशों को अभिलिखित किया जाएगा। इसका लक्षितार्थ यह भी है कि मंत्री द्वारा निश्चित उद्योग के लिए निश्चित नीति का निर्धारण इस रूप में किया जाएगा कि उसके बारे में उसका उत्तरदायित्व हाउस ऑफ कामन्स और जनता के निकट बिल्कुल स्पष्ट हो जाए। वास्तव में व्यवहार में यह कभी नहीं होता। मंत्री द्वारा जो भी नीति-निर्धारण संबंधित उद्योगों के लिए किया जाता है, वह मंत्री और मंडल के बीच सम्मेलनों के जरिए सम्पन्न होता है और इस बात की रंचमात्र भी संभावना नहीं होती है कि नई नीति या किसी नीति-परिवर्तन को उस रूप में घोषित किया जाएगा। स्पष्ट है कि बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीयकृत होने के पूरे साल में केवल एक बार ही एक मंत्री ने एक राष्ट्रीयकृत उद्योग के मंडल को नीति-संबंधी निदेश जारी किया था। सम्मेलनों और संभवतः नीति के मामलों में मतभेदों एवं संघर्षों के लिए समझौते की जो रिवाज है, उसके कारण हाउस ऑफ कामन्स और जनता इस बारे में बिल्कुल अस्पष्ट रहती है कि वास्तव में कितना नीति-निर्माण मंत्री द्वारा किया जाता है और कितना मंडल द्वारा—जो एक ऐसी बात है, जिससे मतदाताओं के अभिकर्त्ता के रूप में हाउस ऑफ कामन्स द्वारा नीतियों का नियंत्रण और भी जटिल हो जाता है।[1]

मूल्यांकन

पीठिका

वे कसौटियाँ तय करना ही, जिनसे ब्रिटेन में लेबर सरकार के छह साल के शासन का और उनके प्रतिफलों का निर्धारण किया जाए, अपने-आप में एक विकट समस्या है। इन कसौटियों में हमको इस बात को मान्यता देनी होगी कि जब १९४५ ई० में लेबर दल ने सरकार की बागडोर सँभाली, तो उस समय देश की आर्थिक हालत संभवतः सबसे बुरी थी। भौतिक संपत्ति के रूप में और वित्तीय

---

[1] देखिए आर० रेल्फ कौहेन, पूर्वोक्त, पृष्ठ १६०–६२।

हालत में ब्रिटेन के युद्ध-संबंधी नुकसान बहुत ही भारी थे। उसके बड़े-बड़े उद्योगों की हालत साज-सामान के मामले में चिथड़ा-चिथड़ा हो रही थी; क्योंकि युद्ध ने नुकसान तो पहुँचाया ही था, साथ ही ह्रास की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जा सका था। जनता अधनंगी थी, अधभूखी और मकानों की हालत बड़ी खराब थी। लोग युद्ध के निजी और वित्तीय बोझ से कुचले हुए थे। ब्रिटेन युद्ध में अपने विदेशी निवेशों को भुना कर और फिर अमेरिका से महत्त्वपूर्ण माल 'उधार पट्टे' पर लेकर ही युद्ध के दौरान सँभल सका था। ब्रिटेन का विदेशी व्यापार फिर से चालू करके यह माल प्राप्त करने के नए तरीके खोजने थे और उसके सभी उद्योगों को युद्धकालीन आधार से शांतिकालीन आधार पर लाना था। साथ ही लगभग ४० लाख व्यक्ति सशस्त्र सेनाओं से वापस लौट रहे थे और उनको नागरिक जीवन तथा उद्योगों में बसाना था एवं जहाँ तक हो सके बेरोजगारी पैदा नहीं होने देनी थी। हल्के शब्दों में कहा जाए, तो भी स्थिति बड़ी ही निराशापूर्ण थी।

साथ ही दुनिया की हालत को देखते हुए अभूत रूप से एक असंतुलित अर्थ-व्यवस्था के साथ ब्रिटेन युद्ध में कूदा था। उसने प्रथम महायुद्ध के पूर्व की दुनिया के साथ तो अपने को समंजित कर लिया था और इस साल में एक प्रमुख विश्व औद्योगिक शक्ति के रूप में आगे बढ़ा था। उसने ऐसा दुनिया के हर हिस्से से कच्चा माल लाकर और फिर प्रक्रियाकरण करके निर्मित माल का निर्यात करने में विशेषज्ञता प्राप्त करके किया था। इस तरह हमेशा उसके पास विदेशी अर्जनों की काफी रकम बच जाती थी, जो ब्रिटिश द्वीप के बाहर निवेशित की गई थी और विदेशी खाद्य एवं कच्चा माल खरीदने की उसकी शक्ति को बढ़ाती रहती थी। प्रथम विश्व-युद्ध के फलस्वरूप दुनिया के व्यापार और वित्त-व्यवस्था में उथल-पुथल आई। उसके दोनों महायुद्धों के वर्ष में ब्रिटेन को काफी परेशान किया। इन सालों में वहाँ जो भारी बेरोजगारी आई, उससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्रिटेन में सार्वजनीन राष्ट्रीय व्यापार प्रतिबंधों और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में राष्ट्रवादी आर्थिक नीतियों को अपनाने वाली नई दुनिया की आर्थिक व्यवस्था के साथ अपने को कभी भी पूरी तरह समंजित नहीं कर पाया। दूसरे विश्वयुद्ध में उस अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को पूरी तरह से खात्मा कर दिया, जिसके साथ ब्रिटेन अपनी औद्योगिक महानता के युग में समंजित हो गया था। इसलिए १९४५ ई० की लेबर सरकार को विरासत में यह समस्या मिली कि ब्रिटेन को युद्धोत्तर काल की उस दुनिया के साथ समंजित करे, जिसके स्वरूप को कोई भी पहले से न देख सकता था और जिसकी मुख्य बात प्रायः वह होनेवाली लगती थी, जो बुनियादी तौर पर निर्माता और व्यापारी राष्ट्र के रूप में पनपने वाले ब्रिटेन की जरूरतों के बिल्कुल विपरीत थी।

अभाव

लेबर सरकार के पुनर्निर्माण कार्य-संबंधी विश्वास का मुख्य स्रोत विकासशील समाजवाद था, लेकिन वह लेबर सरकार के कार्यक्रम में दुर्बलता का भी एक स्रोत था। बुनियादी उद्योगों के स्वामित्व का रूप निजी से सरकारी में बदलने पर जिस मात्रा में आग्रह किया गया, उसने महत्त्वपूर्ण प्रबंध समस्याओं की ओर से ध्यान पलट दिया, जो स्वामित्व के रूप की परवाह किए बिना बहुत कुछ वैसी ही बनी रही थी। राष्ट्रीयकरण से संबंधित मुआवजा आयोजनाओं के चलाए जाने और संसद् से मंत्रियों के जरिए राष्ट्रीय मंडलों, प्रादेशिक या कृत्यकारी मंडलों, जिला मंडलों, स्थानीय प्रबंध आदि में सरकार के समय और शक्ति की काफी मात्रा खर्च हो गई। इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनेक मामलों में यह समझ लिया गया कि संगठनों का 'रूप' बदल देने से ही अपने-आप उन कुछ गहरी समस्याओं का समाधान हो जाएगा, जो संगठन के रूप से वस्तुतः परे जाती हैं। यह कहने का मतलब यह नहीं है कि उद्योगों के संगठन का कोई खास रूप दूसरे रूप की तुलना में समस्या को हल करने के लिए ज्यादा साधक हो सकता है। तात्पर्य यही है कि उद्योग का मात्र राष्ट्रीय कर देना ही अपने-आप समाजवाद के पूरे अर्थ में उद्योगों का 'समाजीकरण' नहीं हो जाता।

इस तरह लेबर दल के कार्यक्रम की एक दुर्बलता यह थी कि उसमें परिवर्तन के रूप पर बहुत ज्यादा जोर दिया और मूल विषय पर कम। उदाहरण के लिए यह नहीं माना जा सकता कि लेबर सरकार ने यह मान लिया था कि कोयला या परिवहन-उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से ही इन उद्योगों के कामगरों के नीचे के स्तरों पर अभिप्रेरणों और रवैयों में कोई खास परिवर्तन अपने-आप आ जाएगा, भले ही वे एक ऐसे मजदूर संघ के सदस्य हों जो सत्तारूढ़ दल द्वारा प्रभावित मजदूर संघों के फेडरेशन से जुड़ा हो। फलतः कोयला और परिवहन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से कामगरों की ऊँची और निचली सीढ़ियों को अपने-आप यह भरोसा नहीं हो गया कि वे अपने लिए काम कर रहे हैं, लाभ कमाने वाले मालिक के लिए नहीं। और न इस कारण वे मजदूरों की जगह मशीनों के लगाए जाने की बात मानने या अर्थ-व्यवस्था को स्थिर रखने के हित में अपनी मजदूरी की वृद्धि को टाल देने या छोड़ देने के लिए ही राजी हो गए। इस तरह लेबर सरकार की एक असफलता यह थी कि उसने कामगरों के संघों में रवैयों या अभिप्रेरणों के प्रसंग में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पैदा नहीं किया। यह परिवर्तन प्रजातांत्रिक समाजवाद के बुनियादी सिद्धांत का अंग है। वे लोग अपने पैरों को पीछे घसीटते रहे और इस तरह स्वामित्व में परिवर्तन द्वारा

कार्यकुशलता के विकास के उग्र रूप में आड़े आते रहे एवं कुछ मामलों में रोकते भी रहे।

'रूप' के परिवर्तन पर जो आग्रह किया गया, उसके गंभीर प्रतिफल हुए। राष्ट्रीयकरण को उद्योगों के वांछित एकीकरण का पर्यायमात्र समझा गया, फिर भी व्यवहार में यह देखा गया है कि वास्तविक एकीकरण अपने-आप नहीं होता, बल्कि उसके लिए सावधानी से आयोजना बनानी पड़ती है और इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण स्वेच्छा से एकीकरण की कुछ अल्पकालीन लागतों को मंजूर कर लेना होता है। उदाहरण के लिए परिवहन के राष्ट्रीयकरण का सबसे ज्यादा सारवान् तर्क यह था कि इससे रेल, जल और मोटर परिवहन सुविधाओं का एकीकरण किया जा सकेगा तथा परिवहन का प्रत्येक कार्य अंततः उन सुविधाओं द्वारा किया जाएगा, जो उस काम को बड़े ही प्रभावी रूप में कर सकती हैं। यह समझने में भूल हुई कि इन सभी सुविधाओं का स्वामित्व सरकार को सौंप देने से ही अपने-आप एकीकरण की प्रक्रिया पैदा न हो जाएगी। हर प्रकार का परिवहन रेल, जल और मोटर अपने-अपने प्रबंध मंडलों द्वारा चलाया जाता था और ब्रिटिश-परिवहन-आयोग के अधीन था तथा प्रत्येक परिहवन-उद्योग की अपनी शाखा के ही लिए सर्वोत्तम प्रतिफल दिखाने के लिए आतुर था। यहाँ पर यह बात समझने में भूल हुई कि एकीकरण का 'सार' तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब पूरे अर्थतंत्र की कार्यकुशलता के हित में एकीकरण की इच्छा को पैदा कर दिया जाए। भले ही इसके कारण परिवहन-उद्योग की शाखा-विशेष का का महत्त्व कम करना पड़े। इसी प्रकार की आलोचना वैध रूप से बहुत कुछ दूसरे राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बारे में भी की जा सकती है जैसे उदाहरण के लिए कोयला-उद्योग को लें, जहाँ आंतरिक प्रबंध को एकीकृत नहीं किया जा सका और जहाँ संकीर्ण स्थानीय हितों ने कोयला-खनन की भौतिक सुविधाओं के जरूरी एकीकरण में हस्तक्षेप किया।

लेबर सरकार के कार्यक्रम के कुछ दूसरे अंग भी उसी तरह त्रुटिपूर्ण थे। जैसाकि समाजवाद कार्यक्रमों की एक पूर्ववर्त्ती चर्चा के सिलसिले में बताया जा चुका है, समाजवाद में यह निरूढ़ होता है कि सामाजिक स्वामित्व और संचालन के अधीन निजी की अपेक्षा उद्योग के उद्देश्य ज्यादा व्यापक सामाजिक कार्यक्षेत्र वाले होंगे। इसका एक पहलू यह है कि एक उद्योग के उत्पादों के उपभोक्ताओं के हितों का उस उद्योग के समाज के अधीन संचालन में ज्यादा ध्यान दिया जाएगा। लेबर सरकार के राष्ट्रीयकरण विधानों में इस सिद्धांत को मान्यता दी गई थी; क्योंकि इन विधानों में संबंधित राष्ट्रीयकृत उद्योगों के लिए उपभोक्ता परिषदों की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीयकरण विधानो में ब्यौरों के साथ यह बता दिया गया था कि ये परिषदें किस

तरह नियुक्त की जाएँगी और काम करेंगी। तथापि फिर 'रूप' को ही पर्याप्त मान लिया गया और 'सार' की ओर ध्यान न दिया गया। परिषदों की स्थापना तो की गई, लेकिन इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग की नीति-निर्माण प्रक्रियाओं के साथ उनका एकीकरण करने की दिशा में कोई शुरूआत भी की गई हो।

इसी प्रकार के दूसरे उदाहरण नगर और देहात आयोजना कृषि, वित्त और स्वयं आर्थिक आयोजना के क्षेत्र से—जो समाजवाद का अंतर्भूत अंग हैं—खोले जा सकते हैं। ये सभी यही बात दिखाएंगे कि लेबर सरकार रूप को छोड़ कर सार तक उस मात्रा में पहुँचने में असफल रही, जो विकासशील समाजवाद के सिद्धांत द्वारा प्रस्तुत की गई। ऐसे मूलभूत परिवर्तन की झाँकी प्राप्त करने के लिए जरूरी है या वस्तुतः जो चालू आर्थिक और राजनीतिक दुनिया के भीतर ब्रिटेन को सारपूर्ण रूप से समंजित करने के लिए जरूरी था। यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि यह आलोचना बहुत जल्दी बहुत ज्यादा प्राप्त करने की उम्मीद में की गई है। यह माना जाएगा कि मानवीय अभिप्रेरणों और प्रवृत्तियों में मूलभूत परिवर्तन तथा उद्योगों के प्रबंध में व्यापक सामाजिक विचारों और उद्देश्यों का एकीकरण प्राप्त करने में जो समय लगना चाहिए, वह छह साल से बहुत ज्यादा होगा। असफलता यह नहीं है कि ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जा सके। असफलता यह है कि उनको प्राप्त करने की दिशा में व्यावहारिक पूर्वापेक्षाओं को शुरू करने का भी कार्यक्रम नहीं बनाया गया था और प्रत्यक्षतः लेबर सरकार ने उनकी झाँकी नहीं देखी थी। कुछ लोग तर्क करेंगे कि यह माना जा सकता है कि यह ब्रिटिश लेबर सरकार की असफलता उतनी नहीं है जितनी कि विकासशील समाजवाद की निरूढ़ दुर्बलता। प्रजातांत्रिक समाजवादी शक्ति प्राप्त करने के बाद फिर इस दुविधा का सामना करता है कि उसके सिद्धांत के अनुसार बुनियादी परिवर्तनों की वस्तुतः शुरूआत की जानी चाहिए। और फिर भी शुरूआत करने से ही उनके राजनीतिक समर्थन की हानि हो सकती है और इस तरह उस शक्ति की भी हानि हो सकती है, जिसे वह बनाए रखना चाहता है। यह नतीजा आसानी से निकाला जा सकता है कि अगर इस दुविधा का कोई समाधान है, तो ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि ब्रिटिश लेबर सरकार ने उसे प्राप्त कर लिया।

सफलताएँ

लेबर दल और लेबर सरकार की संभवतः जो सबसे बड़ी प्रशंसा की जा सकती है, वह यही है कि उसने युद्धोत्तर दुनिया की अनिश्चितताओं के बीच ब्रिटेन का पुनर्निर्माण करने का निराशापूर्ण काम पूरा करने का प्रयास किया। उसने इस

काम को यथार्थवाद, साहस, निश्चय की भावना और लेबर दल के भीतर से प्रजातांत्रिक विकासशील समाजवाद की भावना से उत्पन्न होने वाले आशापूर्णता के साथ हाथ में लिया। लेबर सरकार ने इस काम को यह बात अच्छी तरह से समझते हुए पूरा करने का बीड़ा उठाया कि उत्पादन का पुनर्निर्माण करना, निर्यात का विस्तार करना होगा, आयात को कम करना होगा और इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ब्रिटेन के परिवारों को अपनी कमर और भी कसनी होगी। लेबर दल वालों को अपने ऊपर यह बुनियादी भरोसा था कि ब्रिटेन में इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए कुछ नई चीज करनी होगी। उन्होंने जो चीज प्रस्तावित की, वह सीढ़ी-दर-सीढ़ी उद्योगों और वित्त का समाजीकरण था।

लेबर सरकार की सफलताएँ उल्लेखनीय हैं। उसने सन् १९४५ से १९५१ ई० के संक्रमण काल में ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को पूरे नियोजन के आधार पर चालू रखा, जो ब्रिटेन में उस समय प्रचलित परिस्थितियों में गंभीर बेरोजगार लाने की दुराशाओं से परिपूर्ण था। इन छह सालों में आयात को नियंत्रित किया गया और निर्यात में काफी विस्तार हुआ तथा इस तरह व्यापार शेष की महत्त्वपूर्ण समस्या का कम-से-कम कुछ समय के लिए समाधान हो गया। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं के क्षेत्र में ब्रिटेन ने उन छह सालों में बड़ी ही सम्मानपूर्ण भूमिका निभाई। उसने अपने महत्त्वपूर्ण हितों की रक्षा करने के लिए जरूरी कुछ बचाव रखते हुए बहुपक्षीय अबाध अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की ओर बढ़ने वाले अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष बैंक और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन तथा उसका घोषणापत्र पुनर्निर्माण तथा विकास के अंतर्राष्ट्रीय जैसे कार्यों का समर्थन किया। बड़ी निपुणता के साथ उसने उन राष्ट्रों के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंकर की भूमिका निबाही, जो पौंड स्टर्लिंग के आधार पर व्यापार करना चाहते थे और युद्धोत्तर काल में डालर विनिमय के अंतर्राष्ट्रीय अभाव से पैदा होने वाली सुकोमल समस्याओं का सामना करने एवं यूरोप के लिए आर्थिक सहयोग प्रशासन, सहायता जैसे कामों के प्रशासन में मदद दी। जब १९५० ई० में पुनः सैन्यीकरण की जरूरत पैदा हुई, तो ब्रिटेन ने सैन्य उत्पादन कार्यक्रम में किसी दूसरे यूरोपीय राष्ट्र की अपेक्षा ज्यादा तेजी से और सारवान् रूप में शुरूआत की, भले ही इसका मतलब यह हुआ कि इस कार्यक्रम का तात्पर्य यह था कि ब्रिटेन में घरेलू खपत के मामले में 'संयम' के नए युग का पदार्पण हुआ।

ब्रिटेन की सन् १९४५ से १९५१ ई० तक की ब्यौरेवार आर्थिक सफलताओं में से अनेक का जिक्र पहले लेबर सरकार के कार्यक्रम के विभिन्न खंडों के वर्णन के सिलसिले में किया जा चुका है। ज्यादा सामान्य शब्दों में कहा जाए, तो ब्रिटेन में सन् १९४६ ई० के वर्ष को आधारवर्ष मानते हुए वहां पर औद्योगिक उत्पादन का

देशनांक १९३८ ई० के १०४ से बढ़ कर १९५० ई० में १४० और १९५१ ई० में १४५ के आसपास पहुँच गया। यह वृद्धि लेबर सरकार के शासन-वर्षों में बराबर एकरूप और सारवान् बनी रही। यह ठीक है कि अमेरिकी मदद ने उत्पादन बढ़ाने में काफी सहायता की, फिर भी यह लेखा-जोखा लेबर सरकार की कीर्ति में चार चाँद ही लगाता है और यह स्पष्ट बताता है कि उसने जो नीतियाँ अपनाईं, वे ब्रिटेन में अक्सर देखे जाने वाले 'विभ्रम' स्तर से ऊपर थीं। तथापि इस बढ़े हुए उत्पादन के बड़े हिस्से को निर्यात और पूँजी निवेश की धाराओं में डालना पड़ा। इसलिए वास्तविक जीवन-स्तर नीचे रहा और गृहपत्नी को राशन तथा उपभोक्ता माल के अभाव की समस्याओं का सामना करना पड़ा। खाद्य की वास्तविक खपत लगभग युद्धपूर्व स्तर की थी, अगर प्रति व्यक्ति खपत की केलौरी मात्रा में उसे जोड़ा जाए। लेकिन, इस खपत का गठन निजी चुनाव पर कम आधारित रहा और वस्तुतः युद्ध-पूर्व के समय से निश्चय ही काफी बदल गया। यह अनुमान लगाया गया है कि १९४९ ई०में कुल प्रति व्यक्ति उपभोग १९३८ ई० के स्तर से लगभग ६ प्रतिशत ऊपर था। तथापि १९३८ ई० के बाद से आबादी में ५ प्रतिशत की वृद्धि ने अड़चन डाली और प्रति व्यक्ति निजी उपभोग उसके युद्धपूर्व स्तर से बहुत थोड़ा ही ऊपर था। वास्तव में इस बात को भी इस दृष्टि से देखना होगा कि औसत ब्रिटेनवासी की सामर्थ्य अपने उपभोग को पहले की भाँति अबाध रूप से सोची गई धाराओं में ढालने के लिए बिल्कुल सीमित ही थी। जबकि युद्धपूर्व के दिनों की तुलना में सर्वांगीण निजी उपभोग में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई, फिर भी बढ़े हुए सामाजिक बीमा कार्यक्रम और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा ने प्रत्येक ब्रिटेनवासी को एक न्यूनतम निजी जीवन-स्तर की गारंटी प्रदान कर दी। कुछ लेबर समर्थक इसको ब्रिटिश जीवन में लेबर सरकार का सबसे बड़ा योगदान मानते हैं।

निष्कर्ष

प्रजातांत्रिक विकासशील समाजवाद का ब्रिटेन में जो परीक्षण हुआ, उसका समय इतना कम था कि ऐसे विशद् और दीर्घकालीन आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, जिसे संगत कहा जा सके। किसी भी विकासशील समाजवादी प्रयास का मूल्यांकन समाजवादी आर्थिक आयोजना की सरकारी स्वामित्व और संचालन के उद्योग खंड की वृद्धि के भीतर समाजवादी आर्थिक आयोजना के विकसित होने की योग्यता से और अर्थ-व्यवस्था के बचे हुए निजी खंड के ऊपर इसके बढ़ते हुए नियंत्रण या प्रभाव के साथ इसकी एकीकरण की योग्यता से आँका जाना चाहिए। ऐसी आयोजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि राष्ट्र के आर्थिक संसाधनों का पूरा-पूरा कार्यकुशल उपयोग करने की व्यवस्था की जाए, जिससे जीवन-स्तर में काफी

व्यापक रूप में और तेजी से वृद्धि की व्यवस्था की जा सके और इसके लिए उन आजादियों एवं विशेषाधिकारों पर ज्यादा गंभीर बंधन न लगाने पड़े, जिनको व्यक्ति अपनी प्रसन्नता के लिए अनुल्लंघनीय या अत्यावश्यक मानते हैं।

ब्रिटेन में अपने प्रभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचने पर लेबर दल ने यह बात अच्छी तरह समझ ली कि आयोजना और आजादी का यह संश्लेषण ही उनकी जिम्मेदारी होगा। लेबर दल के शासनकाल के शुरू-शुरू में ही उसके प्रवक्ताओं ने घोषणा की कि उनका दल यह दिखाकर ही दुनिया में एक विशेष योगदान देगा कि उद्योगों का समाजीकरण किस तरह किया जा सकता है और किस तरह बड़े ही मूल्यवान् माने जाने वाले व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वाधीनताओं को भारी क्षति पहुँचाए बिना आर्थिक आयोजना को प्रभावी बनाया जा सकता है। संभवतः इस कारण कि उनकी पदावधि केवल छह साल रही या इस कारण कि वे भूतपूर्व मालिकों को मुआवजा देने के ब्यौरों के झमेले में और नए राष्ट्रीयकृत उद्योगों के संगठनात्मक तथा संचालनात्मक ब्यौरों को तय करने के झमेले में फँस गए। इसलिए लेबर दल वाले इन मूलभूत समस्याओं के विभिन्न पहलुओं तक कभी भी नहीं पहुँच सके, भले ही उनका इरादा हमेशा ऐसा ही रहा हो। जहाँ तक लेबर दल की पदावधि और उसके राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम का संबंध है,उसका योगदान प्रजातांत्रिक विकासशील समाजवाद की बुनियादी समस्याओं के समाधान में कुछ भी नहीं रहा या लगभग नगण्य रहा। केवल इसके द्वारा इस कार्यक्रम के कुछ पहलुओं की सूक्ष्मता और कठिनाई का विशद् निरूपण मात्र किया जा सका। ब्रिटेन में इन समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए उन्हें कोई प्रयास किया जाएगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर होगा कि क्या लेबर दल या सन् १९४५ से१९५१ ई० में लेबर दल द्वारा अपनाए गए लक्ष्यों-जैसे लक्ष्य स्वीकार करने वाला कोई दूसरा उत्तरवर्त्ती दल उस देश में फिर राजनीतिक सफलता प्राप्त करता है या नहीं ? इस बीच राष्ट्रीयकृत उद्योगों की विरासत विद्यमान है और उनमें से प्रत्येक की समस्याओं को समझना लगातार रोचक एवं मूल्यवान् बना रहेगा तथा यह भी कि ब्रिटेन की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के प्रसंग में उन समस्याओं का किस तरह जुटकर सामना किया जाता है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. किसी उद्योग के विराष्ट्रीयकरण की समस्या के राजनीतिक आलेपन होते हैं, जो आर्थिक आलेपनों की तुलना में भी ज्यादा गहरे हो सकते हैं। ये राजनीतिक आलेपन क्या हैं और प्रजातांत्रिक समाजवाद के सिद्धांत के साथ उनका क्या संबंध है ?

२. विभिन्न राष्ट्रीयकरण अधिनियमों में उत्पादों के दाम तय करने के बारे

में क्या सामान्य नियम रखा गया था ? क्या इसका लगातार एकरूप अनुसरण किया गया है ?

३. निजी स्वामित्व और संचालन वाले उद्योग की अपेक्षा एक राष्ट्रीयकृत उद्योग के लिए कार्यकुशलता की कसौटी तय करने की समस्या किस कारण ज्यादा कठिन है ?

४. लेबर सरकार द्वारा किए गए उद्योगों के राष्ट्रीयकरण ने ब्रिटिश मजदूर संघों के लिए क्या अजीब समस्या खड़ी कर दी ?

५. क्या किसी को राष्ट्रीयकृत उद्योगों के काम रोके जाने की उम्मीद करनी चाहिए ? यदि हाँ, तो इसका समाधान इस बात के साथ कैसे किया जा सकता है कि लेबर सरकार के अधीन मजदूर संघ अर्थ-व्यवस्था के राष्ट्रीयकृत खंड के उच्च प्रबंध संचालन का एक अंग ही थे ?

६. क्या राष्ट्रीयकृत उद्योगों में कार्यकुशलता और सामाजिक जरूरतों के प्रति सजगता नीति-निर्माण के लिए एक समरस कसौटी है या इससे एक द्विधा की सृष्टि होती है ? इनमें से नीति के किस मार्गदर्शन पर ब्रिटिश राष्ट्रीयकृत उद्योगों में जोर दिया गया ?

७. राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मंडल में किस व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है? यह बात जब तक वह सामान्य रूप में कार्यक्षम बना रहता है, तब तक इतने ज्यादा महत्त्व की समस्या क्यों मानी जाती है ?

८. क्या ब्रिटेन में इस समस्या का समाधान खोज लिया गया है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों को संसद् के प्रति किस तरह जिम्मेदार बनाया जाए? इस समस्या का प्रजातांत्रिक समाजवाद के सिद्धांत के साथ क्या संबंध है ?

९. अपनी पदावधि में लेबर सरकार ने किस अर्थ में 'रूप' पर ज्यादा आग्रह किया और 'सार' पर कम ? ऐसा क्यों लगता है, यह उदाहरण देकर समझाइए ।

१०. क्या इस बात से कि १९५१ ई० में लेब्रर दल की हार हुई और बाद के दो चुनावों में भी वह जीत न सका, यह पता चलता है कि ब्रिटेन में उद्योगों का समाजीकरण असफल रहा ?

भाग पाँच के लिए छात्र प्रतिवेदनों के विषय

१. ब्रिटिश लेबर दल का इतिहास ।

२. ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर संघों का इतिहास ।

३. लेबर सरकार के अधीन सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन के आपसी संबंध ।

४. ब्रिटिश फैंवियन समाज का इतिहास।

५. ब्रिटिश लेबर सरकार की औपनिवेशिक नीति।

६. वे कारण जिन्होंने भारत के प्रति बिटिश लेबर सरकार की नीति को रूप दिया।

७. लेबर सरकार के अधीन ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के संबंधों का स्तर।

८. पूँजी निर्गम समिति के संचालनों की प्रतिभूति विनिमय आयोग के संचालनों से तुलना।

९. वैंक ऑफ इंग्लैंड का इतिहास और ब्रिटिश कोषागार के साथ उसका संवंध।

१०. ब्रिटिश राष्ट्रीयकृत उद्योगों द्वारा उत्पादित माल और सेवाओं के दाम तय करने में मनमानेपन के तत्त्वों का विश्लेषण।

११. लेबर दल और कंजरवेटिव दल के आंदोलन-मंचों की सन् १९४५ से १९५९ ई० तक की प्रवृत्तियाँ।

१२. ब्रिटेन के सार्वजनिक आवास विधान का इतिहास।

१३. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का मूल्यांकन।

१४. ग्रेट ब्रिटेन में आर्थिक आयोजना का तंत्र और प्रक्रिया।

१५. राष्ट्रीयकृत उद्योगों में संसदीय उत्तरदायित्व की व्यवस्था करने के लिए किए गए प्रयासों का इतिहास।

१६. लेबर दल द्वारा १९५९ ई० से अपनी नीतियों का पुर्नानिर्धारण।

१७. संबंधित राष्ट्रीयकृत उद्योगों के सबसे ताजे वार्षिक प्रतिवेदनों का सर्वेक्षण (ये प्रतिवेदन ब्रिटिश सूचना सेवा, ४५ रॉक फेलर प्लाजा, न्यूयार्क २० से मिल सकते हैं)।

१८. लेबर दल के भविष्य के बारे में भविष्यवाणी।

१९. राष्ट्रीयकृत उद्योगों में कार्यकुशलता मापने की समस्या।

२०. लेबर दल के भविष्य में मजदूर संघों का स्थान।

भाग 'ख' में और आगे अध्ययन के लिए सुझाव

बाल्डविन जी० बी०, बीयंड नेशनलाइजेशन, दि लेबर प्राब्लेम्स ऑफ ब्रिटिश कोल, कैंब्रिज हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५।

बीवरिज डब्लू० एच०, फुल एम्प्लायमेंट इन ए फ्री सोसायटी, न्यूयार्क, नौर्टन १९४५।

ब्रेडी, आर० ए०, क्राइसेस इन ब्रिटेन, बर्कली, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५०।

बटलर डी० ई० और रोज आर०, दि ब्रिटिश जनरल इलेक्शन ऑफ १९५९, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९०७ ।

केंद्रीय सूचना कार्यालय (ग्रेट ब्रिटेन),ब्रिटेन : ऐन औफिसियल हैंडबुक, लंदन, एच० एम० स्टेशनरी आफिस, वार्षिक रूप से प्रकाशित ।

डे जुवेनाल, बी०, प्रॉब्लेम्स ऑफ सोशलिस्ट इंग्लैंड, लंदन, बैचवर्थ प्रेस, १९४९ ।

एकस्टीन एच०, दि इंगलिश हेल्थ सर्विस, कैंब्रिज हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९ ।

फागन, एच०, नेशनलाइजेशन, लंदन लारेंस ऐंड विशार्ट, १९६० ।

ब्रिटिश उद्योग संघ, रिपोर्ट ऑन नेशनलाइजेशन, लंदन, १९५९ ।

गैमिल, पी० एफ०, ब्रिटेन्स सर्च फौर हेल्थ, फिलाडेल्फिया, पेंसिलवानियाँ यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६१ ।

जैन्किंस सी०, पावर ऐट दि टॉप—ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ दि नेशनलाइज्ड इंडस्ट्रीज, लंदन, मैक गिब्बन ऐंड की, १९५९ ।

ज्यूक्स, जे०, और डील बाई प्लैनिंग, लंदन, मैकमिलन, १९४८ ।

कैल्फ कोहैन आर०, नेशनलाइजेशन इन ब्रिटेन—दि एंड ऑफ ए डौगमा, लंदन, मैकमिलन, १९५९ ।

लीविस बी०, ब्रिटिश प्लैनिंग ऐंड नेशनलाइजेशन, न्यूयार्क, ट्वेंटिएथ सेंचुरी फंड, १९५२ ।

मीड जे० ई०, प्लैनिंग ऐंड दि प्राइस मैकेनिज्म, लंदन, एलेन ऐंड अनविन, १९४८ ।

मूसोलफ एल० डी०, पब्लिक औनरशिप ऐंड एकाउंटेबिलिटी—दि कैनेडियन एक्सपेरियेंस, कैंब्रिज हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९ ।

रीड जे० एच० एस०, औरिजिस ऑफ दि लेबर पार्टी, मिनियापौलिस मिनेसौटा यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५ ।

रौब्सन डब्ल्यू० ए०, नेशनलाइज्ड इंडस्ट्रीज ऐंड पब्लिक औनरशिप, लंदन, एलेन ऐंड अनविन, १९६० ।

सारजेंट जे० आर०, ब्रिटिश ट्रांसपोर्ट पॉलिसी, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५८ ।

वाकर जी० इकोनॉमिक प्लानिंग बाई प्रोग्राम ऐंड कंट्रोल इन ग्रेट ब्रिटेन, लंदन मैकमिलन, १९५७ ।

वीनर एच० ई०, ब्रिटिश लेबर ऐंड पब्लिक औनरशिप, वाशिंगटन पब्लिक

ऐफेयर्स प्रेस, १९६०।

टिप्पणी : ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक और राजनीतिक जीवन के बारे में सूचना का एक बढ़िया स्रोत ब्रिटिश सूचना सेवा ४५ रॉक फेलर प्लाजा, न्यूयार्क २०, न्यूयार्क है। विभिन्न राष्ट्रीयकृत उद्योगों और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा आदि के प्रतिवेदन इस अभिकरण के जरिए उपलब्ध हैं।

●

अध्याय २२

सरकार और साम्यवादी दल

सरकार

क्रांति से पूर्व का रूस

रूस में निरंकुश राजतंत्र का अंत १९०५ ई० में प्रसंगत: औद्योगिक केंद्रों में दंगों और हड़तालों के साथ हो गया। इन उपद्रवों के समय क्रांतिकारी मजदूरों द्वारा बनाई गई हड़ताल समितियाँ सरकारी शक्तियाँ प्राप्त करने में अंशतः सफल रहीं, खास कर आम हड़तालें चलाने में अपने कार्य का निदेश करने में। ज़ार सरकार स्थिति का मुकावला करने में सफल रही और एक-एक करके इन अस्थायी सरकारों को या तो पद छोड़ना पड़ा या शक्ति-प्रयोग से इनको दबा दिया गया। तथापि इस अव्यवस्था के बाद ३० अक्टूबर, १९०५ ई० को जार ने यह घोषणापत्र निकाला, जिसमें 'जनता को' नागरिक आजादी की अखंड बुनियाद प्रदान की गई, जो व्यक्ति की वास्तविक अनुल्लंघनीयता और विवेक, वाणी, सभा और संघ की स्वतंत्रता पर आधारित थी। नागरिकों को राज्य ड्यूमा (संसद) के सदस्य चुनने के लिए ज्यादा उदार मताधिकार प्रदान किया गया, जिनको कई महीने पहले स्थापित किया गया था। सार्वजनिक अशांति के कारण दी गई इन रियायतों से सांविधानिक राजतंत्र तो नाम मात्र के लिए ही बना, वस्तुत: जार सर्वशक्तिमान बना रहा। वह मंत्रियों को नियुक्त और पदच्युत कर सकता था। ड्यूमा के ऊपर उसे पूर्ण विशेषाधिकार मिला हुआ था और जहाँ तक कुछ बुनियादी कानूनों का सवाल था, अकेले वही विधान में सुधारों को पेश करा सकता था। साथ ही उसे आज्ञप्तियाँ निकालने की शक्ति थी, जो कानून की शक्ति रखती थी और उसे ड्यूमा का आह्वान एवं स्थगन करने की शक्ति मिली हुई थी और उससे इन दोनों सभाओं को वर्ष में एक बार बुलाने की ही अपेक्षा की गई थी। वस्तुतः भ्रष्ट नौकरशाही और व्यवहारतः निरंकुश राजतंत्र अब भी चलता रहा।

पहले विश्वयुद्ध में रूस मित्र देशों की ओर से लड़ रहा था। जैसे-जैसे युद्ध के साल बीतते गए, रूसी जनता युद्ध से ज्यादा ऊबती गई। इस बीच शासक वर्ग में रिश्वतों और भ्रष्टाचारों ने राजतंत्र को घातक रूप से दुर्बल बना दिया। सन् १९१६–१९१७ ई० की स्थिति के जानकार लोगों ने जो चित्रण किया है, वह बड़ा भयावह है। गोला-बारूद-निर्माताओं के प्रतिनिधियों को रूसी सरकार से ठेका लेने के लिए लगातार पदों के आधे दर्जन अधिकारियों को रिश्वत देने में स्पर्धा के लिए मजबूर होना पड़ता था। नतीजा यह हुआ कि सेना का साज-सामान बड़े निम्न स्तर का हो गया और उनको काफी परेशानियाँ उठानी पड़ीं। बताया जाता है कि एक समय बंदूकें इतनी दुर्लभ हो गईं कि जब फौजों को लड़ाई के लिए भेजा गया, तो केवल आधों को ही बंदूकों से लैस किया गया, जिसका कि सिद्धांत यह था कि जब पहली पंक्ति के सैनिक मर या घायल हो जाएँगे, तो आगे बढ़ रही, रक्षित सेनाएँ गिरे हुए सैनिकों की बंदूकों से अपने को लैस कर लेंगी। हालत असहनीय थी। जार के शासन के पतन की घड़ियाँ ही गिनी जा रही थीं।

साम्यवादी क्रांति

मार्च, १९१७ ई० में महत्त्वपूर्ण शहरी केंद्रों में जनसमूह स्वयंमेव क्रांति के लिए उठ खड़े हुए। सेना सम्राट निकोलस द्वितीय को सहारा न दे सकी और उसे १५ मार्च को गद्दी छोड़नी पड़ी। फिर कामगरों के वर्ग सामान्यतः 'सोवियतों' (परिषदों) के नाम से उल्लिखित संगठनों में आगे बढ़े और औद्योगिक क्षेत्रों पर छा गए। उन्होंने व्यवस्था कायम की और खाद्य-संभरण का नियंत्रण अपने हाथ में सँभाला। इन वर्गों ने अस्थायी सरकार स्थापित नहीं की; क्योंकि यह ड्यूमा के निम्न सदन के अधिकार से नेताओं के एक वर्ग द्वारा किया गया था, जिसमें मुख्य नियंत्रण केरेंस्की के हाथ में था। इस तरह १९१७ ई० के बसंत और ग्रीष्म में रूस का नियंत्रण करने के लिए दो वर्ग इच्छुक थे—एक अस्थायी केरेंस्की सरकार थी, जो नई लोकतंत्री संविधान सभा बनाने की कोशिश कर रही थी और दूसरी मजदूरों की सोवियतों की सरकार थी, जिनमें सेना के कुछ प्रतिनिधि थे और कुछ समाजवादी वर्गों के। केरेंस्की सरकार जब स्थिर सरकार कायम करने में सफल न हो सकी, तो जनसमूह ने इसके लिए दूसरी ओर देखना शुरू किया। अप्रैल, १९१७ ई० में लेनिन पहले ही मालिक वर्ग के अनुकूल होने के लिए केरेंस्की सरकार की निंदा कर चुके थे और उन्होंने यह माँग की थी कि मजदूर सोवियतों को सरकार के ऊपर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लेना चाहिए। लेकिन, बोलशेविक दल ने भी इसी बात का समर्थन किया,[1] जो रूस का बहुत सालों से एक सक्रिय क्रांतिकारी वर्ग था और जिसने

---

[1] बाद में यही सोवियत संघ का साम्यवादी दल बन गया।

१९०५ ई० के आंदोलनों में हिस्सा लिया था।

१९१७ ई० की शरद् ऋतु तक लगता था कि बोलशेविक नेताओं के निकट यह स्पष्ट हो गया कि जनसमूह का समर्थन उनको मिला हुआ है। इसके कई लाख सदस्य भी थे। पित्रोग्राड और मास्को की सोवियतें उनके नियंत्रण में थीं और ६ नवंबर, १९१७ ई० को पित्रोग्राड सोवियत की सैन्य क्रांति समिति ने राजधानी की सरकारी इमारतों पर कब्जा कर लिया। केरेंस्की ने अपनी अस्थायी सरकार को बचाने के लिए सेना को जुटाने की जो कोशिश की, वह असफल रही और बोलशेविक वर्ग के हाथ सरकार की बागडोर बनी रही। इसी बीच स्थानीय सोवियतों ने परस्पर संबंध स्थापित कर लिए थे और अखिल रूस सोवियत काँग्रेस का एक अधिवेशन कर चुकी थी। ७ नवंबर को बोलशेविकों द्वारा सत्ता हथियाने के बाद दूसरी अखिल रूस सोवियत काँग्रेस बुलाई गई, जिसमें बोलशेविक दल ने प्रमुख भूमिका निभाई। इस काँग्रेस ने अपने को सरकार घोषित किया और उसने व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का अधिकार जनता के अमिआरों की एक परिषद् को दिया, जिसके अध्यक्ष लेनिन थे। इस परिषद् के अधीन मजदूरों की सोवियतें नई सरकार के हाथ बन गईं। मजदूर वर्ग की स्थिर सरकार या मार्क्सवादी शब्दों में 'प्रोलेतारिएत की तानाशाही' कायम की गई।

१९२८ ई० से पहले विकासों के दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अध्यायों के ब्यौरे यहाँ देना संभव न होगा। सन् १९१७ से १९२० तक जो स्थिति रही, उसे आमतौर पर 'युद्ध साम्यवाद' कहा जाता है। नई सरकार श्वेत रूसी फौजों के और मित्र देशों द्वारा भेजी गई हस्तक्षेप सेनाओं के प्रति क्रांतिवादी प्रयासों के खिलाफ युद्ध-कार्य चला रही थी। इस अवधि में बोलशेविक ने मुद्रा के उपयोग को खत्म करके हर नागरिक की रहन-सहन की जरूरतें मुफ्त पूरी करने की कोशिश की। एक ही चपेट में पूरा साम्यवाद लाने की इस असफल कोशिश के फलस्वरूप सन् १९२१ से १९२७ ई० तक के वर्षों की 'नई आर्थिक नीति' ने जन्म लिया। मुद्रा का चलन फिर से किया गया, निजी व्यापार की आज्ञा दी गई और विदेशी पूँजी हितों को कुछ औद्योगिक रियायतें दी गईं।

१९२३ ई० में संघीय संविधान के अंगीकार कर लिए जाने के वाद सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का निर्माण पूरा हुआ। १९२४ ई० में लेनिन का निधन हो गया और ट्राट्स्की एवं स्तालिन के बीच नेतृत्व का संघर्ष छिड़ गया। अंत में पिछला लेनिन का अनुवर्त्ती बना। इस संघर्ष में नीति की बुनियादी बातें अंतर्ग्रस्त थीं और इसकी अनुगूँज १९३७ ई० तक 'ट्राट्स्कीवादियों' पर चलाए गए मुकदमों में सुनाई पड़ती रही। स्तालिन का विचार था कि पहले सोवियत संघ में समाजीकृत

अर्थतंत्र स्थापित करने की नीति अपनाई जाए, ताकि दूसरे देश के मजदूर अपनी पूँजीवादी 'सरकारें' उखाड़ फेंकने के लिए जीता-जागता उदाहरण मिल सके। ट्राट्स्की को संदेह था कि चारों ओर पूँजीवादी राष्ट्रों से घिरे हुए किसी देश में स्थायी समाजवाद स्थापित भी किया जा सकेगा। इस कारण ट्राट्स्की का कहना था कि सोवियत संघ के मजदूर ज्यादा प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से तत्काल पूरी दुनिया में क्रांतिकारी कार्यकलाप में शामिल हों। साथ ही यह कृषि में ज्यादा तेजी से समाजीकरण लाने के समर्थक थे। स्तालिन ने उस समय तो इस नीति को मंजूर न किया, पर बाद में उसने इसे माना और पूरी तेजी से उसका पालन किया। १९२८ ई० में पहली पंचवर्षीय आयोजना शुरू हुई और इस प्रणाली की बुनियादी चीजें दृढ़ता के साथ स्थापित की गईं, जिनकी कुछ ब्यौरे के साथ हम आगे चल कर परीक्षा करेंगे।

सरकार का सामान्य स्वरूप

सोवियत सरकार का आर्थिक महत्त्व दो बातों से बढ़ जाता है: एक तो मार्क्स के सिद्धांतों के समर्थक राज्य के उस योगदान पर ज्यादा जोर देते हैं, जो क्रांतिकारी हालत पैदा करने और क्रांति के बाद सामाजिक एवं आर्थिक तत्त्वों में कुछ भारी परिवर्तन लाने में उसे देना पड़ता है। दूसरे सोवियत संघ में अर्थ-व्यवस्था सरकारी संगठन का एक विस्तार मात्र है और अनेक स्थलों पर मिलावट के जरिए अदृश्य मात्रा में पिछली पहले में मिल जाती है। रूस और सोवियत संघ की सरकार के क्रांतिकारी तथा विकासशील परिवर्तनों का ब्यौरेवार परीक्षण बड़ा ही रोचक होगा और इससे मार्क्सवाद के कुछ बुनियादी तत्त्वों का परीक्षण किया जा सकेगा कि राज्य के कृत्य क्या हैं और किस प्रकार वह अंत में 'घुल कर अदृश्य' हो जाएगा। इस विचार-सरणि का पूरा-पूरा निरूपण तो संभव न होगा, पर केवल इस बात पर ही जोर दिया जा सकेगा कि सोवियत संघ वास्तव में मजदूर वर्ग की 'तानाशाही' इन शब्दों में मार्क्स द्वारा निरूपित चरण से स्पष्ट ही गुजर रहा है। इसका मतलब यही है कि सरकार की शक्ति ऐसे वर्ग के हाथ में रहती है, जो सिद्धांततः मजदूर वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ एक संघीय राष्ट्र है, जिसमें १५ संघ गणराज्य हैं, जिनमें से प्रत्येक स्थानीय महत्त्व की दृष्टि से स्वायत्त है।[1] प्रत्येक का

---

[1] १९५६ ई० से पहले १६ गणराज्य थे। उस साल उसकी अपनी सुप्रीम सोवियत के अनुरोध पर कारेलो—फिनिश सोवियत समाजवादी गणराज्य को रूसी सोवियत संघबद्ध समाजवादी गणराज्य में मिला दिया गया।

अपना संविधान है, अपना बजट है और अपने ही कानून हैं, जो संघीय कानून से विरूद्ध नहीं होने चाहिए। हर संघ गणराज्य का सरकारी ढाँचा सोवियत संघ (यू० एस० एस० आर०) के ढांचे से बहुत मिलता-जुलता है। गणराज्य की अपनी सुप्रीम सोवियत, मंत्रि-परिषद् और उच्चतम न्यायालय हैं। इन संघ गणराज्यों में से कुछ राजनीतिक दृष्टि से 'स्वायत्त गणराज्यों', 'स्वायत्त प्रदेशों' और 'स्वायत्त इलाकों' में बँटे हुए हैं।[1] १९३६ ई० के संघीय संविधान ने (जो संशोधनों के साथ आज भी प्रभावी है) सोवियत (यू० एस० एस० आर०) सरकार को सोवियत संघ के दूसरे राष्ट्रों के साथ सभी राजनीतिक और वाणिज्यिक संबंधों के बारे में, राष्ट्र की सशस्त्र सेनाओं के बारे में, परिवहन और संचार सुविधाओं के बारे में, बुनियादी श्रम कानूनों के बारे में और दीवानी एवं फौजदारी दोनों ही प्रकार की बुनियादी कानूनी प्रक्रिया के बारे में पूरा क्षेत्राधिकार दिया है। सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत के दोनों में से प्रत्येक सदनों के दो तिहाई मतों से संघीय संविधान को संशोधित किया जा सकता है। दूसरे महायुद्ध के दौरान सुप्रीम सोवियत ने संविधान में संशोधन करते हुए प्रत्येक संघीय गणराज्य को उसके विदेशी संबंधों और सैन्य बलों के बारे में ज्यादा शक्तियाँ प्रदान कीं। संघीय गणराज्यों ने इन शक्तियों का महत्त्वपूर्ण उपयोग कभी नहीं करना चाहा है।

संघीय सरकार के पास दूसरी शक्तियों में ये शामिल हैं: राष्ट्र के लिए आर्थिक आयोजना तैयार करना, पूरे राज्य के समेकित आय-व्ययक का प्रशासन जिसमें संबंधित गणराज्यों के आय-व्ययक भी शामिल है, करों को तय करना और उनसे मिले राजस्व को गणराज्यों एवं उनके उपविभाजनों में वितरित करना, बैंक प्रणाली और पूरे संघ के महत्त्व के सभी औद्योगिक, कृषि-संबंधी एवं व्यापार उपक्रमों का प्रशासन, सभी बैंक सुविधाओं का संचालन, भूधृति के बुनियादी सिद्धांतों का निर्धारण और खनिज संपदा, वन तथा जल का उपयोग और राष्ट्रीय आँकड़ा प्रणाली का एक रूप संगठन। ये शक्तियाँ, इस राज्य क्षेत्र के, जो पूर्व से पश्चिम ७००० मील तक फैला हुआ है और जिसका इलाका संयुक्त राज्य अमेरिका के तीन गुना है तथा जो एक सरकार द्वारा प्रशासित धरती का सबसे विशाल अविभक्त महाखंड है,

---

[1] ये एक संघ के भीतर की सरकारी इकाइयाँ हैं, जिनको अल्पसंख्यक जाति वर्गों को उन वर्गों के बिलकुल आंतरिक मामलों में कुछ मात्रा तक नियंत्रण सौंपा गया हैं। प्रत्येक स्वायत्त गणराज्य का एक संविधान होता है, उसे स्वशासन की कुछ शक्ति मिलती हैं और यह आश्वासन मिला हुआ है कि उसके राज्य क्षेत्र को उसकी सम्मति के बिना न बदला जाएगा। स्वायत्त प्रदेश भी ऐसे ही हैं, पर राष्ट्र के कम बसे हिस्सो में हैं और राष्ट्रीय क्षेत्र भी इसी तरह मुख्यतः सुदूर उत्तर में लगभग दस-दस हजार के और भी छोटे सजातीय वर्गों के अपने जातीय भेदों को बनाए रखने के लिए निश्चित किए गए हैं।

बुनियादी महत्त्व की सभी आर्थिक संस्थाओं और कार्यकलाप के ऊपर एकीकृत राष्ट्रीय नियंत्रण को जन्म देती हैं।

आर्थिक अधिकार का यह संकेंद्रण इस बात से और भी बढ़ जाता है कि १५ गणराज्यों में एक संघ के भीतर बाकी किसी और गणराज्य की तुलना में ज्यादा महत्त्व का स्थान रखता है। रूसी सोवियत समाजवादी संघबद्ध गणराज्य में सोवियत संघ का लगभग तीन चौथाई इलाका आ जाता है, जिसमें उसकी २०.९० करोड़ आबादी में से करीब आधी रहती है और इसकी सीमा में सबसे ज्यादा विकसित औद्योगिक क्षेत्र एवं मास्को तथा लेनिनग्राद के महत्त्वपूर्ण शहर भी आते हैं, जिनकी आबादी क्रमशः लगभग ५० लाख और ३० लाख है। इस गणराज्य के संसाधनों में संघ के कोयला निक्षेपों का ९० प्रतिशत, उसके लोहा धातुक का ८५ प्रतिशत, इमारती लकड़ी का ९५ प्रतिशत और तेल का ५० प्रतिशत पाया जाता है। सोवियत संघ और इस गणराज्य की सरकारों के बीच काफी निकट का संबंध होने से पूरे संघ में मोटे तौर पर महत्त्व की हर चीज को नियंत्रित करने के मामले में पहले की शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ जाती है।

कोई भी गणराज्य ऐसा कोई कानून नहीं बना सकता, जो सोवियत संघ के संविधान के या पूरे संघ के लिए बनाए गए किसी कानून के विरूद्ध हो। संघ और गणराज्यों द्वारा बनाए गए सभी कानून तीन बुनियादी महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के अनुकूल होने चाहिए, जो ये हैं : पहली बात यह कि सभी जमीन, वन, खनिज संपदा, जल, परिवहन और बड़े पैमाने के उद्योगों के संपत्ति अधिकार राष्ट्रीयकृत रहने चाहिए; दूसरे सोवियत संघ की प्रत्येक नेशनलिटी को (जिनकी संख्या लगभग १८० है और उनकी भाषाओं की संख्या १५०है।) स्थानीय आधार पर अपना आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन संगठित करने, अपनी निजी स्थायी सरकार बनाने और स्कूलों एवं अदालतों में अपनी निजी भाषा को इस्तेमाल करने का अधिकार मिला हुआ है और तीसरे, प्रत्येक अंगभूत गणराज्य को संघ से अलग होने का अधिकार मिला हुआ है। तीसरे सिद्धांत की गारंटी यद्यपि संविधान ने दी है, पर यह किसी भी व्यावहारिक महत्त्व का सिद्ध नहीं हुआ है।

स्थानीय सरकार

स्थानीय सरकार की सबसे छोटी इकाइयाँ हैं: शहर, गाँव और देहाती-जिला सोवियतें, जो हमारे शहरों और गाँवों की परिषदों एवं हमारे कस्बों एवं देहाती आयुक्त बोर्डों-जैसी होती हैं। इन सोवियतों के डिपुटियों को दो साल के लिए नियुक्त किया जाता है। ये अपने-अपने स्थानीय क्षेत्र में विधायी निकाय होती हैं और स्थानीय कार्यपालिका एवं प्रशासनिक अंग उनके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं।

वे हमारी परिषदों और आयुक्त बोर्डों की तुलना में काफी बड़ी होती हैं। गाँव और देहाती-जिलों में उनमें लगभग २० डिपुटी होते हैं एवं मास्को की सोवियत में १४००। आकार में इतना अंतर रहता है। चूँकि बड़ी सोवियतें बहुत भारी-भरकम हो जाती हैं, इसलिए रिवाज के रूप में वे सोवियत के सत्रों के बीच की अवधि में कानून बनाने की शक्ति कार्यपालिका समितियों को प्रत्यायुक्त कर देती हैं। साथ ही स्थानीय प्रशासन की विशिष्ट समस्याओं और ब्यौरों के मामलों के लिए अनेक सहायक समितियाँ भी स्थापित की जाती हैं। स्थानीय सोवियतों के लिए प्रतिनिधि (डिपुटी) जिलों द्वारा चुने जाते हैं।

स्थानीय और सभी दूसरे चुनावों में मत देने का अधिकार १९३६ ई० में मंजूर किए गए संविधान द्वारा काफी मात्रा में बढ़ा दिया गया है। इससे पहले मताधिकार १८ वर्ष के ऐसे प्रत्येक नागरिक को मिला हुआ था, जो उत्पादक और समाज की दृष्टि से उपयोगी श्रम करता है, "सेना और नौ सेना के प्रत्येक सदस्य को और कामगरों की श्रेणी में आनेवाले ऐसे नागरिकों को भी मिला हुआ था, जो श्रम करने के लिए अशक्त हो गए हों।" खासतौर से इन लोगों को वंचित किया गया था; राजपरिवार के सदस्य, पुराने शासन के पुलिस और गुप्तचर सेवाओं के कर्मचारी, पादरी, निजी व्यापारी, अनर्जित आय पर निर्वाह करने वाले व्यक्ति या दूसरों के श्रम का शोषण करने वाले और पागल।" १९३६ ई० के संविधान ने १८ वर्ष की आयु के सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया। उनकी राष्ट्रीयता, लिंग, धर्म, शिक्षा, निवास, सामाजिक उद्भव, संपत्तिगत प्रतिष्ठा और अतीत के कार्यों की ओर ध्यान दिए बिना।" मताधिकार में किए गए इस विस्तार से पता चलता है कि साम्यवादी दल के नेताओं ने समझ लिया कि पहले मताधिकारों से वंचित वर्ग को पूरी तरह साफ कर दिया गया है और वर्त्तमान शासकों ने दृढ़ता के साथ यह बता दिया कि इस परिवर्तन से कोई भारी दिक्कतें पैदा न होंगी।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत

संविधान के अधीन सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत सोवियत संघ की सर्वोच्च विधायिका है—हमारी संघीय काँग्रेस के कुछ-कुछ मिलते-जुलते रूप में। इनमें दो सदन होते हैं—१. संघीय सोवियत और २. नेशनलिटियों की सोवियत। पहली में ७३८ डिपुटी होते हैं, जो निर्वाचकों द्वारा तीन लाख की आबादी के लिए एक डिपुटी के हिसाब से सीधे ही चुने जाते हैं। दूसरी में सोवियत संघ के विभिन्न राजनीतिक विभाजनों के नागरिकों द्वारा चुने गए डिपुटी होते हैं—प्रत्येक 'संघीय गणराज्य' में से २५, प्रत्येक 'स्वायत्त गणराज्य' में से ११, प्रत्येक 'स्वायत्त प्रदेश' में से ५ और प्रत्येक 'राष्ट्रीय क्षेत्र' से १। इसके कुल सदस्यों की संख्या ६४० है।

आरेख—२ में इस संस्था की रचना को दर्शाया गया है।

यू० एस० एस० आर० के निर्वाचन क्षेत्र

हर एक से चुने गए २५ डिपुटी — संघीय गणराज्य

हर तीन लाख जनता के लिए चुना गया एक डिपुटी

जन अदालतें (चुनी हुई)

हर एक से चुने गए ११ डिपुटी — स्वायत्त गणराज्य

हर एक से चुने गए ५ डिपुटी — स्वायत्त प्रदेश

हर एक से चुना गया एक डिपुटी — राष्ट्रीय क्षेत्र

संघीय सोवियत (७३८ सदस्य)

नेशनलिटी सोवियत (६४० सदस्य)

यू० एस० एस० आर० की सुप्रीम सोवियत (दोनों सोवियतों से बनी)

यू० एस० एस० आर० का उच्चतम न्यायालय

यू० एस० एस० आर० की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम (सुप्रीम सोवियत से चुने गए ३२ सदस्य)

यू० एस० एस० आर० का प्रोक्यूरेटर जनरल

राज्य आयोजना समिति

यू० एस० एस० आर० की मंत्रि-परिषद् (सुप्रीम सोवियत द्वारा चुनी गई)

राज्य बैंक

अखिल संघ मंत्रालय

बीच की मशीनों का निर्माण

रक्षा उद्योग +

संघीय गणराज्य मंत्रालय

विदेशी कार्य + + रक्षा + – +

+ इनको कभी-कभी 'मंत्रालय' न कहकर 'राज्य समितियाँ' कहा जाता है।

+ + ये संघ गणराज्य मंत्रालय हैं, जिनका स्पष्ट प्रयोजन नाममात्र की संविधान की उस व्यवस्था की रक्षा करना है, जिसके अधीन प्रत्येक गणराज्य को अपने विदेश कार्य और अपनी रक्षा सेनाएं रखने की अनुमति दी गई है।

विमान-उद्योग +
बिजली शक्ति केंद्र
रसायन-उद्योग
व्यापारी बेड़ा

नौ निर्माण उद्योग +
रेडियो इंजीनियरी उद्योग
रेलवे
परिवहन निर्माण
विदेशी व्यापार

संस्कृति
वित्त
संचार
भू-विज्ञान और खनिज संसाधन संरक्षण
कृषि
उच्च शिक्षा

राज नियंत्रण + + +
व्यापार
स्वास्थ्य
अनाज उत्पाद
सरकारी फार्म

आरेख—२ यू० एस० एस० आर० की सरकार

सुप्रीम सोवियत के डिपुटी कम-से-कम २३ वर्ष की आयु के होते हैं और चार साल के लिए चुने जाते हैं। दोनों सोवियतों के सत्र एक साथ ही शुरू और खत्म होते हैं। सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम (जिसका वर्णन आगे किया जाएगा) हर साल दो वार सुप्रीम सोवियत का सत्र बुलाती है। आयोजना यह है कि सुप्रीम सोवियत अपने गठन में सदैव पूरी तरह प्रतिनिध्यात्मक रहेगी। इसकी प्रायः चलती रहने वाली बैठकें निर्वाचकों के सामने चालू सरकारी कार्यों को रखने के लिए और जनसमूह को उनके चुने हुए डिपुटियों के जरिए सरकारी कार्य के चालू प्रवाह से परिचित रखने के लिए बुलाई जाती है।

गठन के स्वरूप के कारण ही सुप्रीम सोवियत में यह व्यवस्था है कि किसी भी प्रस्तावित विधान पर समूचे देश के दृष्टिकोण (संघीय सोवियत में) और गणराज्यों एवं उनके राजनीतिक उपविभाजनों के दृष्टिकोण (नेशनलिटीज की सोवियत में) दोनों ही से विचार किया जाएगा।[1] यह बहुत कुछ इस सिद्धांत-जैसा ही है, जैसे कि हमारी द्वि-सदनी काँग्रेस में राष्ट्रीय और राज्य दोनों हिस्सों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। सुप्रीम सोवियत में मतदान डिपुटियों द्वारा अपना प्रत्यय बताते हुए हाथ उठा कर किया जाता है। निर्णय बहुमत से किए जाते हैं, केवल यू० एस०

+ + + इसे कभी-कभी 'मंत्रिपरिषद् का सोवियत नियंत्रण आयोग' भी कहा जाता है।

[1] यह बात इस बात से निकलती है कि नेशनलिटिज की सोवियत में सोवियत संघ के कम घने बसे हिस्सों को ज्यादा समानुपात में प्रतिनिधित्व मिलता है, जबकि संघीय सोवियत में प्रतिनिधित्व सीधा जनसंख्या के अनुपात में होता है। इस तरह १० करोड़ की आबादी वाले रूसी सोवियत संघबद्ध समाजवादी गणराज्य के डिपुटी नेशनलिटीज सोवियत में उसी संख्या में हैं, जितने कि १० लाख की आबादी वाले एस्टोनियन सोवियत समाजवादी गणराज्य के।

एस० आर० के संविधान में संशोधन पास करने के लिए दोनों सदनों में से प्रत्येक में दो तिहाई मत प्राप्त करना जरूरी है।

हर सोवियत को कानून का सूत्रपात करने की शक्ति मिली हुई है। साथ ही हमारी काँग्रेस की तरह इन दोनों सोवियतों को समान शक्तियाँ मिली हुई हैं; क्योंकि कानून बनने में पहले प्रत्येक विधान दोनों सोवियतों द्वारा मंजूर किया जाना चाहिए। सोवियतों के बीच असहमति होने पर एक सामंजस्य बोर्ड, जो हमारी काँग्रेसीय सम्मेलन समिति से भिन्न है, दोनों सोवियतों के लिए मान्य समाधान खोजने का प्रयास करता है। बोर्ड में प्रत्येक सोवियतों की शक्ति बराबर होती है। अगर ऐसा सामंजस्य बोर्ड किसी सहमति पर न पहुँच पाए, तो प्रश्न पर फिर प्रत्येक सोवियत द्वारा विचार किया जाता है। अगर दोनों सोवियतें अब भी सहमत नहीं होतीं, तो सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम उसका विघटन कर देती है और नए डिपुटी चुने जाने के लिए चुनाव की व्यवस्था कर देती है। इस तरह जिस प्रश्न पर असहमति पैदा हो गई है, उसे निर्वाचकों के पास भेज दिया जाता है।

नई सुप्रीम सोवियत के लिए चुनाव की तैयारी सुप्रीम सोवियत के प्रेसीडियम द्वारा चुनाव की तारीख की घोषणा करने वाली आज्ञप्ति निकाले जाने के बाद शुरू होती है। चुनाव के लिए तैयारियाँ और उसका संचालन संघ के लिए केंद्रीय चुनाव आयोग के अधीन होता है और अंगभूत गणराज्यों एवं अन्य राजनीतिक उप-विभाजनों में चुनाव उप-क्षेत्रों तक, जो हमारे चुनाव उप-क्षेत्रों जैसे ही होते हैं। उप-अंगी चुनाव आयोगों की अधीन। इन चुनाव आयोगों के व्यक्तियों का चयन एक जटिल प्रक्रिया से किया जाता है, जिसके अधीन साम्यवादी दल, मजदूर संघ और अन्य संगठनों द्वारा लोग नामित किए जाते हैं तथा अंतिम चयन राष्ट्रीय या स्थानीय सरकारें करती हैं। यह देखना उप-अंगी चुनाव आयोगों का दायित्व होता है कि चुनाव केंद्रीय चुनाव आयोग द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार ही चलाया जाए। इनको सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम द्वारा मंजूर किया जाता है और प्रेस में व्यापक रूप से प्रकाशित किया जाता है। ये नियम यह स्पष्ट कर देते हैं कि चुनाव सर्वजनीन, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार पर आधारित होते हैं कि प्रत्येक नागरिक को एक मत मिलता है, कि स्त्रियों को पुरुषों की तरह ही मत देने और पदों पर चुने जाने का समान अधिकार मिला हुआ है और यह कि मतदान गुप्त होना चाहिए। नियम स्थानीय चुनाव आयोगों को मतदाता सूचियाँ तैयार करने के बारे में हिदायतें देते हैं और उसमें छूट गए किसी भी नागरिक को जन-अदालत में अपील करने का अधिकार प्रदान करते हैं। ये सूचियाँ हर चुनाव-उपक्षेत्र के लिए चुनाव की तारीख से कम-से-कम ३० दिन पहले चिपका दी जानी चाहिए। निर्वाचन-क्षेत्र अर्थात्

सुप्रीम सोवियत में डिपुटियों को चुनाव की इकाइयाँ और चुनाव उप-क्षेत्रों में उनके उप-विभाजन स्पष्ट कर दिए जाते हैं, पर्ची डालने और गिनने के व्यौरे तय कर दिए जाते हैं। नियम यह निर्दिष्ट कर देते हैं कि कामगर जनता के विभिन्न संगठनों और सभाओं एवं प्रेस के प्रतिनिधि मतपत्र गिने जाते समय उपस्थित रह सकते हैं। वहुत से चुनाव-नियम हमारे देश में चुनावों को नियंत्रण करने वाले नियमों के समान ही लगते हैं। फिर भी हमारी रिवाज के विरुद्ध प्रत्येक नागरिक को वह चुनाव के दिन जिस किसी निर्वाचन-क्षेत्र में हो, वहीं पर उस क्षेत्र में खड़े उम्मीदवारों के पक्ष में मत देने का अधिकार मिला हुआ है। इसलिए चुनाव-नियमों में रेल स्टेशनों, अस्पतालों और आरामगाहों, सेना गैरिजन स्थलों और दूरगामी रेलगाड़ियों एवं चुनाव के दिन समुद्र में चल रहे जहाजों पर तक मतदान उपक्षेत्र स्थापित करने की व्यवस्था की गई है।[1] संभाव्य मतदाता का 'नागरिक पारपत्र', जो हमेशा उसके पास रहता है, इसे मत देने का अधिकार दे देता है, वह चाहे कहीं पर क्यों न हो। चूँकि हर पद के लिए एक ही उम्मीदवार (देखिए नीचे) होता है, किसी भी मतदाता के लिए अनेक मतदान उप-क्षेत्रों में से प्रत्येक में मत डालने का कोई लालच नहीं होता।

चुनाव-नियम प्रकाशित होने के तुरंत बाद हर निर्वाचन-क्षेत्र के लिए उम्मीदवारों के नाम देना शुरू हो जाता है। सुप्रीम सोवियत के लिए किसी उम्मीदवार का नामन कामगर जनता के किसी भी सार्वजनिक संगठन या सभा द्वारा किया जा सकता है, जिसमें ये शामिल हैं : मजदूर संघ, सहकारी सभा, युवक संगठन, सांस्कृतिक सभा, किसी उपक्रम के कामकर, किसी सैन्य इकाई के सैनिक और सामूहिक फार्म पर किसानों की आम बैठकें। इस तरह पहली बार में संघीय सोवियत में डिपुटी के एक पद के लिए और नेशनलिटी की सोवियत में डिपुटी के एक पद के लिए अनेक नाम आ सकते हैं। इन नामों को उस क्षेत्र के नामन करने वाले विभिन्न निकायों के चुने हुए प्रतिनिधियों की उपस्थिति वाली नामन बैठकों के जरिए प्रत्येक पद के लिए एक उम्मीदवार तक कम कर दिया जाता है। हर नामन निकाय को अधिकार है कि वह अपने द्वारा नामित प्रतिनिधि के चुनाव के लिए काम करे, पर आगे चलकर उस क्षेत्र के निर्वाचन आयोग को उस इलाके में नामन-निकायों द्वारा अभीष्ट रूप में डिपुटी के प्रत्येक पद के लिए एक ही उम्मीदवार को प्रमाणित करना होगा और उस

---

[1] उदाहरण के लिए दूरगामी रेलगाड़ियों के यात्री "उन चुनाव जिलों के उम्मीदवारों को मत देते हैं, जिनके जिले में गाड़ी उस दिन सबसे ज्यादा देर तक चलती है। समुद्र पार के यामत दाता अपनी पर्ची जहाज के पंजीया बंदरगाह के उम्मीदवारों के लिए डालते हैं।" ड्रयू मिडिलटन, दि न्यूयार्क टाइम्स, १० फरवरी, १९४७।

उम्मीदवार की चुनाव के लिए खड़े होने की इच्छा को भी साक्ष्यांकित करना होगा। उम्मीदवारों की अधिकाधिक सूची चुनाव की तारीख से कम-से-कम २५ दिन पहले प्रकाशित हो जानी चाहिए। डिपुटी के पद के लिए अधिकारिक उम्मीदवार के वास्ते दल का सदस्य होना पूर्व पेक्षा नहीं है। जब प्रत्येक डिपुटी के पद के लिए एक-एक उम्मीदवार का चयन हो जाता है, तो पूरी ही सूची को साम्यवादियों और दल-हीन लोगों का गुट कहा जाता है।"

चुनाव के दिन मतदाता सबेरे छह वजे से आधी रात तक चुनाव-केंद्र पर आता है और उसे एक छपा हुआ मतपत्र मिलता है, जिस पर डिपुटी के पद के लिए 'गुट' उम्मीदवारों के नाम लिखे होते हैं। सुप्रीम सोवियत के चुनाव में संघीय सोवियत के डिपुटी-पद के लिए एक 'गुट' उम्मीदवार होता है और एक नेशनलिटीज सोवियत के लिए। मतदाता को मतपत्र पर निशान लगाते समय अपना मत गुप्त रखने का अधिकार होता है और अगर वह उसका चुना जाना नहीं चाहता है, तो वह उम्मीदवार का नाम काट सकता है। यदि वह उम्मीदवार के पक्ष में मत देता है, तो वह मतपत्र को बिना काटे मतपेटी में डाल देता है। इस तरह मतदाता के सामने दो विकल्प होते हैं कि वह संघीय सोवियत के एक 'गुट' उम्मीदवार के बारे में और नेशनलिटीज सोवियत के एक गुट उम्मीदवार के बारे में 'हाँ' या 'न' कह सकता है।

उम्मीदवारों का अधिकारिक रूप से चयन हो जाने के समय और चुनाव के दिन के बीच कहा जाता है कि चुनाव-आंदोलन व्यापक रूप से और तेजी के साथ चलता है। इसमें होता यह है कि उम्मीदवार जिस निर्वाचन-क्षेत्र से चुनाव के लिए खड़ा हो रहा है, वहाँ जाता है और मतदाताओं के समूह के साथ बातचीत करता है। इस बातचीत के दौरान उम्मीदवार से यह आशा की जाती है कि वह सभी मतदाताओं को इसके लिए प्रेरित करेगा कि वे चुनाव-केंद्र में आएँ और 'गुट' उम्मीदवार के रूप में उसे अपना मत दें। यह भी अनुमान किया जाता है कि वह इस तरह जिस क्षेत्र के लोगों का प्रतिनिधित्व सुप्रीम सोवियत में करेगा, उनकी समस्याओं से भी परिचित हो गया है। साथ ही चुनाव-आंदोलन की अवधि के दौरान कामकरों और किसानों के विभिन्न संगठनों से यह उम्मीद की जाती है कि सभी पात्र मत डालने के लिए उद्दीपित करें। 'गुट' उम्मीदवार के लिए पूर्ण सर्वसम्मति प्रदर्शित करने के इस प्रयास में निर्वाचन-क्षेत्रों के बीच प्रतिद्वंद्विता चलती है। ये गुट उम्मीदवार संभवतः वर्त्तमान शासन को पदासीन बनाए रखने के पक्ष में होते हैं।

एक उम्मीदवार को जिस चुनाव-क्षेत्र में वह उम्मीदवार है, वहाँ से चुने जाने के लिए आधे से ज्यादा मत मिलने चाहिए अर्थात् उसका नाम मतपेटी में डाली गई आधी से ज्यादा पर्चियों पर नहीं काटा जाना चाहिए। अगर उम्मीदवार को इतना

बहुमत नहीं मिलता या अगर चुनाव-क्षेत्र के पात्र मतदाताओं में आधे से कम मत देते हैं, तो स्थानीय चुनाव आयोग को नया चुनाव कराना होगा। चुनाव के इस वर्णन से वास्तव में यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतिम पर्ची डालने का उद्देश्य यह जानना नहीं होता कि किसको डिपुटी चुना जाना है; क्योंकि यह तो तभी स्पष्ट हो जाता है, जब चुनाव आयोग 'गुट' उम्मीदवार को प्रमाणित कर देता है। इसलिए इसका उद्देश्य तो होता है कि हर 'गुट' उम्मीदवार के लिए १०० प्रतिशत से यथासंभव निकट मत प्राप्त किए जाएँ। इस एक उम्मीदवार के लिए ही पूरे-के-पूरे और समर्थक मत प्राप्त करना ही चुनाव के पहले के दिन के आंदोलन का उद्देश्य होता है और चुनाव के दिन प्रत्येक पात्र मतदाता को मतदान केंद्र तक लाने के लिए प्रत्येक प्रयास किया जाता है और अगर मतदाता अशक्त होकर घर पर है, तो मतपेटी को उसके घर तक ले जाया जाता है।

सर्वसम्मति प्राप्त करने का प्रमाण एक के बाद एक चुनाव के प्रतिफल से मिल जाता है। १९५८ ई० में सुप्रीम सोवियत में डिपुटियों के लिए हुए नियमित चारवर्षीय चुनावों में पात्र लोगों में से ९९.९७ प्रतिशत ने मत दिए। मत देने वालों में से ९९.५७ ने सुप्रीम सोवियत के डिपुटी-पद के लिए 'गुट' उम्मीदवारों को समर्थक मत दिए और ९९.७३ ने नेशनलिटीज की सोवियत के बारे में। इस तरह जनसमूह के 'सर्वश्रेष्ठ पुत्रों और पुत्रियों के पक्ष में अपने मत डालने के लिए' सोवियत प्रेस ने मतदाताओं की यह कह कर प्रशंसा की कि उन्होंने 'सोवियत संघ की जनता की नैतिक और राजनीतिक एकता का शानदार उदाहरण दिया था, जो एक ही पैतृक परिवार के सदस्य हैं।'[1] विभिन्न गणराज्यों की सुप्रीम सोवियतों के डिपुटियों और बाकी सभी सोवियतों के चुनाव भी ऊपर वर्णित चुनावों के ही लघु रूप होते हैं। कुछ विरल मामलों में किसी स्थानीय सोवियत के उम्मीदवार का नाम डाली पर्चियों की आधी से ज्यादा में काटा जा सकता है और इस तरह वह चुनने से रह सकता है। संघ की सुप्रीम सोवियत के या किसी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत के डिपुटी-पद के किसी उम्मीदवार के साथ ऐसी घटना कभी घटी हो, यह किसी को पता नहीं है।

सुप्रीम सोवियत के लिए चुने गए डिपुटियों से आशा की जाती है कि वे सुप्रीम सोवियत के संक्षिप्त से सत्रों को छोड़ कर बाकी समय अपनी नियमित जगहों पर काम करते रहेंगे। उनसे उम्मीद की जाती है कि अपने प्रतिनिधित्व के क्षेत्रों की विशेष समस्याओं से परिचित हो जाएँ और उनमें गहरी रूचि लें, जिसके लिए

---

[1] मास्को न्यूज, १९ मार्च, १९५८।

वे इन क्षेत्रों के स्थलों पर जाते रहें, पत्र लिखते रहें और अपने क्षेत्र से आने वाले मतदाताओं से मिलते रहें। डिपुटियों से स्थानीय सरकार के अभिकरणों और साम्यवादी दल के अंगों की भी मदद करने की भी आशा की जाती है। प्रत्यक्ष ही उनमें से कुछ अपने निर्वाचन-क्षेत्र वालों को ऐसे मामलों में सलाह देते हैं। जैसे—आवास, शिक्षा, चिकित्सा सेवाएँ और पेंशन की समस्याएँ। डिपुटी एक औद्योगिक मजदूर से लगभग दूना वेतन लेते हैं और उनको मुफ्त रेल-यात्रा की सुविधा मिलती है।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम

प्रेसीडियम का चुनाव सुप्रीम सोवियत द्वारा अपने दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में किया जाता है और उसे सुप्रीम सोवियत से प्राप्त शक्तियाँ मिलती हैं। इसमें एक सभापति होता है, अंगभूत गणराज्यों में से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रत्येक एक-एक करके १५ उप-सभापति होते हैं, एक सचिव और १५ अतिरिक्त सदस्य होते हैं। जब सुप्रीम सोवियत का सत्र नहीं चल रहा होता है, तो प्रेसीडियम को कानून की शक्ति वाली आज्ञप्तियाँ जारी करने की, मंत्रिपरिषद् के निर्णयों और आदेशों को खत्म करने की सैन्य बलों के उपयोग की, संधियों की पुष्टि करने की, आदि शक्तियाँ मिली होती हैं। इस बीच में वह जनमत भी ले सकती है और मंत्रिपरिषद् के सभापति के कहने पर मंत्रियों को नियुक्त एवं पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार प्रेसीडियम खास तौर पर विधान-संबंधी और अंशतः प्रशासनिक तथा ऐसे मामलों के बारे में चालू निर्णय करने वाला अभिकरण है, जिनकी ओर सुप्रीम सोवियत का सत्र न चलते समय तत्काल ध्यान देने की जरूरत होती है। तथापि इसके सभी कार्यों की सुप्रीम सोवियत द्वारा पुष्टि करानी पड़ती है। चूंकि प्रेसीडियम में ३२ सदस्य होते हैं, इसलिए वह व्यवहारतः लगातार सत्र में चल सकती है और फलतः यह सोवियत संघ का दिन-प्रतिदिन का लगातार चलने वाला सरकार का प्रमुख अधिकरण बन जाता है, जो उसका चालू काम चलाता रहता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, प्रेसीडियम सुप्रीम सोवियत के सत्रों को बुलाती है और अगर इसके दोनों अंगभूत सदनों में सहमति न हो, तो उसका विघटन भी कर सकती है।

मंत्रिपरिषद्

सोवियत सरकार के संगठन-संबंधी बुनियादी नीति के अनुसार कोई स्वतंत्र कार्यपालिका या प्रशासनिक तंत्र वहाँ नहीं है। मंत्रिपरिषद् वैध दृष्टि से राज्य की उच्चतम पालिका विधि और प्रशासन का उच्चतम अंग है, तथापि वह सुप्रीम सोवियत के प्रति (और उसके सत्र में न होने पर प्रेसीडियम के प्रति) सोवियत संघ के कानूनों का पालन कराने के लिए उत्तरदायी है। वास्तविक अर्थ में यह विधायिका भी है और कार्यपालिका भी; क्योंकि यह ऐसे आदेश और आज्ञप्तियाँ निकालती है, जिनका

सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम और आगे चल कर स्वयं सुप्रीम सोवियत द्वारा अनुसमर्थन होने पर पालन किया जाना चाहिए। अगर ये आज्ञप्तियाँ बड़े सारवान् महत्त्व की होती हैं, तो उन पर साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति (जिसका वर्णन आगे किया जाएगा) द्वारा भी मंत्रिपरिषद् के साथ-साथ दल की भी सहमति बताने के लिए प्रतिहस्ताक्षर किए जाने चाहिए। मंत्रियों को साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति द्वारा नामजद किया जाता है और सुप्रीम सोवियत द्वारा उनकी औपचारिक नियुक्ति की जाती है। मंत्री और गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के १५ अध्यक्ष और सभापति से मिलकर मंत्रिपरिषद् बनती है। मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष को आमतौर पर प्रधान मंत्री माना जाता है और हालांकि सोवियत संघ में इस शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जाता।

जैसा आरेख-२ में बताया गया है, सरकार के कार्यपालक विभाग दो तरह के होते हैं। 'अखिल संघ मंत्री' समूचे राष्ट्र के लिए प्रमुख महत्त्व के मसलों को निपटाते हैं, जिनके ऊपर नियंत्रण मास्को में अत्यधिक केंद्रित रहता है। इनके शाखा-कार्यालय समूचे सोवियत संघ में होते हैं और गणराज्यों में तत्संवादी मंत्रालय नहीं होते। 'संघ—गणराज्य मंत्रालय' ऐसे कार्यों का प्रशासन करते हैं, जिनका पूरे सोवियत संघ के लिए महत्त्व होता है, लेकिन जिनमें काफी अंतर होता है और जिनके लिए स्थानीय रूप से प्रशासनिक ध्यान देने की जरूरत मालूम पड़ती है। इसलिए ऐसे मंत्रालयों के लिए प्रत्येक गणराज्य में तत्संवादी मंत्रालय होता है, जो मास्को के मंत्रालय के साथ काफी निकट से सहयोग करता है और कम-से-कम आर्थिक महत्त्व के मामलों में वह उसके अधीन होता है। स्थानीय हितों वाले मामलों के लिए किसी गणराज्य में अपना मंत्रालय हो सकता है और जरूरी नहीं कि राष्ट्र सरकार के ढाँचे में भी कोई मंत्रालय हो।

पिछले सालों में मंत्रालयों को संगठन की दृष्टि से आनम्य माना गया है। व्यक्तिगत मंत्रालय खड़े किए गए हैं, खत्म किए गए हैं और अनेक कारणों से एक दूसरे में मिला भी दिए गए हैं। लेकिन, मुख्यतः ऐसा इस कारण हुआ है कि राष्ट्रीय और गणराज्य सरकारों के बीच विभिन्न कार्यों के लिए जिम्मेदारी के ठीक-ठीक विभाजन में फेरबदल होती रही है। १९५७ ई० के निर्माता उद्योगों[१] के प्रकाशन के विकेंद्रीयकरण के सिलसिले में ऐसा मास्को के लगभग २५ मंत्रालयों के लिए किया गया जो ऐसे उद्योगों के संचालक थे, जिनका प्रशासन मास्को में सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद् के स्तर पर केंद्रित था। १९६० ई० में गृहकार्य के राष्ट्रीय मंत्रालय को

---

[१] देखिए पृष्ठ ४८४-४६०।

खत्म कर दिया गया और उसका जो काम बचा—वर्दी वाली पुलिस, आंतरिक नागरिक पार-पत्र और दंड संस्थाओं के ऊपर नियंत्रण—उसे गणराज्यों के गृहकार्य मंत्रालयों को सौंप दिया गया। जब स्तालिन के अधीन यह बड़ा शक्तिशाली था, तो सोवियत संघ का गृहकार्य मंत्रालय सारी दुनिया में गुप्त पुलिस के प्रशासन का केंद्र (एम० वी० डी०) माना जाता था, उच्च और निम्न स्तर के सभी आर्थिक अभिकरणों में उसका प्रवेश था, उसका अपना सैन्यबल था और लोगों को गिरफतार करने, मुकदमा चलाने तथा दंड देने की इसे असीम शक्ति मिली हुई थी एवं राजनीतिक बंदी-शिविरों के संचालक के रूप में उसे बड़ी शक्ति प्राप्त थी। इन शिविरों में विद्यमान शासन के राजनीतिक विरोधी (या जिन पर ऐसा संदेह होता था) रखे जाते थे और उनसे खानों या बड़ी निर्माण प्रायोजनाओं की बंदी कार्य बटालियनों में काम लिया जाता था। १९५० ई० के बाद ये कार्य क्रमशः खत्म कर दिए गए। बाहर के प्रेक्षकों का विश्वास है कि यह सोवियत दावा सच्चा है कि राजनीतिक बंदी-शिविर अब व्यवहारतः समाप्त हो गए हैं। मंत्रालय के पास पहले बंदी बनाने, मुकदमा चलाने और दंड देने की शक्ति थी उसे क्रमशः सोवियत संघ की नई विधि संहिता के अधीन खत्म कर दिया गया और जो बाकी बची, उसे विभिन्न गणराज्यों द्वारा प्रशासित असैनिक पुलिस को हस्तांतरित कर दिया गया। केंद्रीयकृत राज्य सुरक्षा पुलिस दल और उसके कार्यकलाप का अब जो कुछ बचा हुआ भाग है, वह अब सोवियत मंत्रिपरिषद् के साथ संलग्न छोटी सी और दल के अधीन रहने वाली राज्य सुरक्षा समिति के प्रशासन के अधीन आ गया है।

राज्य नियंत्रण मंत्रालय (जिसे कभी-कभी 'सोवियत मंत्रिपरिषद् नियंत्रण आयोग' भी कहा जाता है) बड़े ही महत्त्व का है। यह पूरे अर्थतंत्र के संबंध में सरकारी निर्णयों के किए जाने वाले कार्य की जाँच के लिए जिम्मेदार है। किसी भी सरकार संगठन के लेखाओं, जिसमें उत्पादक उद्यमों और उनके पर्यवेक्षक अभिकरणों के लेखा तथा माल सूचियाँ भी शामिल हैं, जाँच करने के लिए संगठित है और वह उनको मँगा सकता है। महत्त्वपूर्ण उपक्रमों और मालगोदामों में इसके अपने व्यक्ति रहते हैं। इससे यह भी आशा की जाती है कि सरकारी संगठन की दक्षता का भी अध्ययन करता रहे और जहाँ भी संभव हो, नौकरशाही एवं लालफीताशाही को दूर करता रहे। इसे जहाँ कहीं भी ढील दिखाई देती है, वहाँ पर दंड लगाने की शक्ति भी मिली हुई है और यह प्रशासनिक व्यक्तियों के खिलाफ अदालत में भी आरोप लगा सकता है। यह दूर-दूर तक फैले दल के जाल के साथ-साथ काम करता है।

राज्य बैंक और राज्य आयोजना समिति-जैसे बहुत से चोटी के स्थायी आर्थिक अभिकरण भी मंत्रिपरिषद् के साथ सीधे संलग्न हैं। विशेष प्रयोजनों के लिए

अन्य: अस्थायी समितियाँ या आयोग बनाए गए हैं, वे भी इसके क्षेत्राधिकार में आते हैं।

राज्य अभियोजक और अदालतें

सोवियत संघ में संस्थाओं, नागरिकों और सरकारी अधिकारियों के ऊपर कानून का परिवर्तन करना सोवियत संघ के राज्य महाअभियोजक और उसके अधीनस्थ लोगों का कर्त्तव्य है। राज्य महाअभियोजक की नियुक्ति सात साल की पदावधि के लिए सुप्रीम सोवियत द्वारा की जाती है और फिर हर गणराज्य में राज्य अभियोजकों की नियुक्ति करता है। हर जिले और हर शहर के गणराज्यों के राज्य अभियोजकों की नियुक्ति गणराज्य के राज्य अभियोजक द्वारा सोवियत संघ के महाअभियोजक की मंजूरी से की जाती है। ये अभियोजक या तो अपने-आप या सरकारी अभिकरणों और नागरिकों के द्वारा की गई शिकायतों के फलस्वरूप मुकदमें चलाते हैं। यह तय करने के लिए प्रत्येक शिकायत की जाँच की जाती है कि दोषी व्यक्ति या अभिकरण के विरुद्ध कार्रवाई की जाए या न की जाए। अभियोजक संबंधित गणराज्य के न्याय मंत्रालयों के तंत्र के जरिए काम करते हैं।

जिस तरह सोवियत संघ के महाअभियोजक सभी गणराज्यों में कानून के प्रवर्त्तन का नियंत्रण करते हैं, उसी तरह सोवियत संघ का उच्चतम न्यायालय समूचे सोवियत संघ के सभी न्यायक अभिकरणों और कार्यकलापों का पर्यवेक्षण करता है। सोवियत संघ के उच्चतम न्यायालय का चुनाव पाँच साल की अवधि के लिए सुप्रीम सोवियत द्वारा किया जाता है और हर गणराज्य प्रांत एवं प्रदेश के उच्चतम न्यायालय का चुनाव पाँच साल के लिए उस गणराज्य, प्रांत या प्रदेश की सुप्रीम सोवियत द्वारा किया जाता है। सोवियत संघ के उच्चतम न्यायालय में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और तीस या ज्यादा न्यायाधीश होते हैं। पूरे सत्र साल में कई बार बैठते हैं। यह गणराज्यों के उच्चतम न्यायालयों का अंतिम अपील न्यायालय है। यह गणराज्य सरकारों के आपसी विवादों का फैसला करता है और यह ऐसे मामलों को सुनता है, जिनमें सरकार या सेना के उच्च अधिकारियों के खिलाफ़ आरोप लगाए जाते हैं। सोवियत संघ के उच्चतम न्यायालय से यह कल्पना की जाती है कि वह निचली अदालतों की गलतियों को सुधार देगा और इस दृष्टि से इसके पास अपील के रूप में आए हुए मुकदमों पर इसके निर्णयों को निचली अदालतों के बीच घुमाया जाता है। इसने अपराधों की ठीक-ठीक परिभाषा करने की समस्या की और बचाव पक्ष के अधिकारों की परिभाषा करने और उसे संरक्षण देने की समस्या की ओर बहुत ध्यान दिया है। संविधान के अनुसार बचाव पक्ष के अधिकारों का संरक्षण न्यायालयों का एक कर्त्तव्य भी बना दिया गया है। हर गणराज्य का उच्चतम न्यायालय सोवियत संघ के उच्चतम

न्यायालय के नियंत्रण में रहता है और फिर वह गणराज्य के न्यायिक कार्य का नियंत्रण करता है। यह गणराज्य के कानून का निर्वचन करता है और महत्त्वपूर्ण मुकदमों या अपील में उसके पास आए मुकदमों की देखभाल करता है। वह अपने नीचे की सभी अदालतों के निर्णयों की भी जाँच करता है।

नागरिक का कानून के साथ दैनंदिन संपर्क जन न्यायालयों में होता है जिनकी स्थापना सभी नगर, जिलों और देहाती क्षेत्रों में की गई है। नागरिकों के बीच उठने वाले सभी दीवानी मुकदमों के ऊपर, किसी उपक्रम के प्रबंधक की कथित असफलता संबंधी विवादों पर या उसके कामगरों के श्रम ठेकों की शर्तों न मानने वाले या श्रम कानूनों के नियंत्रण पर, मतदाताओं की सरकारी सूची से किसी नागरिक के नाम का कथित अनुचित लोप कर देने पर और नागरिकों द्वारा कथित रूप से किए गए अपराधों एवं सदाचारों के ऊपर उनको मूल क्षेत्राधिकार मिला हुआ है। हर जन न्यायालय में एक 'न्यायाधीश' होता है, जो अदालत के कार्य का सभापतित्व और प्रशासन करता है तथा दो 'जनता के न्यायाधीश' होते हैं, जो न्यायाधीश के साथ अदालत के न्यायिक काम को बँटाते हैं। न्यायाधीश और जन न्यायाधीश तीन साल की अवधि तक अपने पद पर रहते हैं। उनका सीधे-सीधे चुनाव किया जाता और जिस जिले में वे काम करते हैं, उससे नागरिकों द्वारा उनको वापस भी किया जा सकता है। न्यायाधीश विधिक अनुभव वाला व्यक्ति होता है और अपना पूरा समय न्यायालय के काम में लगाता है। लेकिन, जनता के दोनों न्यायाधीश कारखानों और दफ्तरों, सामूहिक फार्मों के सदस्यों, सेना के व्यक्तियों, अध्यापकों आदि में से चुने जाते हैं और वे अपना सामान्य कार्य उन दिनों को छोड़ कर करते रहते हैं, जब उनको जन न्यायाधीश के रूप में काम करना पड़ता है।[1] न्यायाधीश के रूप में काम करते समय उनको अपने नियमित वेतन अपने रोजगार के सामान्य स्थानों से मिलते रहते हैं। अनुभव प्राप्त करने के बाद कभी-कभी जनता के न्यायाधीशों को भी न्यायाधीश के रूप में चुन लिया जाता है और अनेक मामलों में वे न्यायाधीशों के सहायक बन जाते हैं। कानून में बताए गए कुछ मामलों को छोड़ जन न्यायाधीश को भी बाकी सभी मामलों में दोषी या निर्दोषी को तय करने, कानून को लगाने और उसका निर्वचन करने, दंड तय करने, साक्षियों से प्रश्न करने, अतिरिक्त साक्षी या सक्ष्य माँगने और किसी दीवानी के वादी की रकम तय करने की उतनी ही शक्तियाँ मिली हुई हैं जितनी कि न्याया-

---

[1] वास्तव में जन न्यायाधीश एक चुनी हुई तालिका में से लिए जाते हैं, इसलिए तालिका का हर व्यक्ति साल में १० दिन से ज्यादा समय आमतौर पर न्यायालयों की सेवा में नहीं दे पाता। बताया जाता है कि पूरे संघ में कई हजार स्त्री-पुरुष इन तालिकाओं में से नियमित रूप से चुने जाते हैं।

धीश को। न्यायालय के तीन सदस्यों के बहुमत से किया जाने वाला निर्णय न्यायालय का निर्णय माना जाता है।

इस तरह जन न्यायालयों में जनता के दोनों न्यायाधीश अपने संयुक्त मत से एक न्यायाधीश के मत को हरा सकते हैं और इस तरह इसके निर्णय के ऊपर अपने निर्णय को अभिभावी बना सकते हैं। तथापि जब ऐसा होता है, तो न्यायाधीश को यह अधिकार होता है कि वह न्यायालय के आदेश के साथ अपना अल्पमत निर्णय और राय संलग्न कर दे, ताकि मुकदमे की अपील होने पर उच्चतम न्यायालय का ध्यान उस ओर जा सके। अगर कोई जन न्यायाधीश भी अल्प मत में होता है, तो उसे भी विमति-टिप्पण देने का समान अधिकार मिला हुआ है। जन न्यायाधीशों का ऐसा ही उपयोग उच्चतर न्यायालयों में भी किया जाता है, जिनमें संघ का उच्चतम न्यायालय और अंगभूत राज्यों के उच्चतम न्यायालय भी शामिल हैं। चूँकि हम लोग ऐसी अदालतों से अपरिचित हैं, जिनके न्यायाधीश स्वतंत्र और कानून में प्रशिक्षित होते हैं, इसलिए हमें यह रीति निःसंदेह अजीब और प्रश्नास्पद लगती है, इसलिए हमें इनका उद्देश्य समझ लेना चाहिए। उद्देश्य यह है कि न्यायालयों को जनता के निकट रखा जाए और विधिक औपचारिकताओं को 'विषयनिष्ठ' न्याय से निचला दर्जा दिया जाए। चूँकि राज्य को कामगर वर्ग का राज्य माना जाता है, इसलिए न्यायालय भी इस तरह के बनाए जाते हैं कि नागरिकों के समूह के इस दायित्व की झाँकी मिल सके कि अपने सामूहिक फार्मों या समाजवादी संपत्ति के संरक्षण में नागरिक हिस्सा ले सकें और समाजवादी अर्थतंत्र के कार्य-संचालन के लिए जरूरी व्यक्तिगत अनुशासन तथा ईमानदारी को कायम रख सकें।

सोवियत संघ में अदालत में मुकदमा उस ढंग से नहीं चलता, जिससे हम परिचित हैं। यह एक बुनियादी सिद्धांत है कि अभियोजक अपने दृष्टिकोण में तटस्थ होता है, जिसका मतलब है कि अपराधी नागरिक के अधिकारों की उतनी ही रक्षा की जाए, जितना उसे कथित अपराध के लिए दोषी ठहराने का प्रयत्न किया जाए। जब कोई आरोप अभियोजक के ध्यान में लाया जाता है, तो यह उसकी पहले आरंभिक 'पड़ताल' करता है, ताकि दोष और निर्दोषिता दोनों के बारे में सारे तथ्य जाने जा सकें। जब इस पड़ताल से यह पूरी तरह उचित ठहरता है, तभी अभियोजक मुकदमा दायर करता है। जब मुकदमा अदालत में जाँच के लिए आता है, तो अभियोजक का यह दायित्व होता है कि दोनों ओर के तथ्यों को प्रगट करने में तटस्थ रहे। उससे यह उम्मीद नहीं की जाती कि अपना अभियोजन बचाव पक्ष के वकील के खिलाफ चलाए, जैसाकि आमतौर पर हमारी अदालतों में होता है। तथापि अपराधी को एक विधिक

वकील लगाने का अधिकार अवश्य मिलता है और अगर वह खर्च नहीं दे सकता, तो उसका खर्च सरकार देती है। अदालत की जाँच जनता के लिए खुली रहती है और मुकदमे से संबंधित कोई भी व्यक्ति किसी भी साक्षी से प्रश्न कर सकता है। अगर बचाव पक्ष के खिलाफ मुकदमा कमजोर पड़ने लगता है, तो यह उम्मीद की जाती है कि अभियोजक कमजोरी की मात्रा तय करेगा और वह मुकदमे को खारिज भी करा सकता है। जब अदालत किसी अपराधी को दोषी भी पा लेती है, तब भी अभियोजक से उम्मीद की जाती है कि वह साक्ष्यों और अदालत के नतीजों का निष्पक्ष रूप से पुनर्विलोकन करेगा और अगर वह जरूरी समझेगा, तो एक उच्चत्तर अदालत में 'दोषी' का फैसला पलटने के लिए अपील कर सकेगा।

विधि प्रणाली

विधि प्रणाली में, जिसका निर्वचन और कार्यान्वयन अभियोजक तथा अदालतें करती हैं, कई ऐसे पहलू हैं जो हमारी विधि प्रणाली से परिचित लोगों को अजीब लग सकते हैं। अदालतें सभी मामलों में या तो मतदाताओं द्वारा या विधायी निकायों द्वारा बनाई जाती हैं और उनके नियंत्रण में होती हैं। साथ ही, संविधान व्यक्तियों को सुपरिचित नागरिक स्वाधीनता प्रदान करता है, तथापि वे सोवियत संघ के लक्ष्यों के दायरे में ही रहते हैं। इन अधिकारों या स्वाधीनताओं का प्रयोग किसी ऐसे तरीके से नहीं किया जा सकता, जो साम्यवादियों के लक्ष्यों के विपरीत जाता हो। अर्थतंत्र और राजनीतिक सरकार के परस्पर सामंजस्य ने विधि प्रणाली के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए सरकारी उपक्रमों और स्टोरों के प्रबंधकों पर भी घटिया क़िस्म का माल पैदा करने तथा बेचने के साथ आपराधिक मुकदमा किया जा सकता है।

सोवियत संघ के संविधान के अधीन राष्ट्रीय सरकार आपराधिक कानून और आपराधिक अभियोजन की प्रक्रियाओं के अधीन उत्तरदायी है, जब कि अनेक गण-राज्यों के उसके अनुकूल कानून और प्रक्रिया के ब्यौरे तय करने की शक्ति दी गई है। हालांकि १९२४ ई० में पहला संविधान अंगीकार किए जाने के समय से ही ऐसी बात चली आई है, पिछले कुछ सालों में ही राष्ट्रीय सरकार ने इन सिद्धांतों को ठोस रूप में रखने के लिए कदम उठाए हैं। हाल में सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा बनाए गए कानूनों में जो 'सिद्धांत' तय किए गए हैं, उनमें पश्चिमी दुनिया में अपराध और अपराधी प्रक्रियाओं की संकल्पनाओं के प्रति मोड़ लेने की प्रवृत्ति एवं गणराज्य की अपराध संहिता के कुछ हिस्से अतीत में जितने मार्क्सवादी 'वर्ग न्याय' के द्योतक रहे थे, उससे कम वैसा रखने की प्रवृत्ति देखी गई है। उदाहरण के लिए हाल के कानूनों में यह व्यवस्था की गई है कि बिना अदालत के किसी को दोषी

सिद्ध नहीं किया जा सकता या आपराधिक दंड नहीं लगाया जा सकता। अगर इसका पालन किया जाए, तो इससे वे पुरानी रिवाजें खत्म हो सकती हैं, जिनमें सोवियत संघ के पुराने गृहकार्य मंत्रालय-जैसे अभिकरण गिरफ्तार करने, जाँच करने, दोष सिद्ध करने और जेल भेजने का दंड अधिकार एक सुस्थापित अदालत का लाभ दिए बिना ही देने का अधिकार रखते थे। तथापि इस प्रत्यक्ष परिवर्तन का ठीक-ठीक महत्त्व उस तरीके पर निर्भर करेगा, जिससे अनेक गणराज्य इस सिद्धांत को अमल में लाएँगे और इसका अर्थ लगाया जाएगा कि नहीं कि खास तौर पर आर्थिक क्षेत्र में नियंत्रण मंत्रालय या कामरेड अदालत-जैसे अभिकरणों द्वारा व्यक्तियों के खिलाफ जो कार्रवाई की जा सकती है या धमकी दी जा सकती है, उस पर भी कुछ रोक लग सकेगी कि नहीं, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।[1]

नए सिद्धांतों के अधीन 'सादृश्य द्वारा' अपराध के लिए अभियोजन करने और दंड लगाने पर रोक लगा दी गई है। दंडनीय अपराध होने के लिए अंतर्ग्रस्त कार्य इस तरह का होना चाहिए, जिसे कि कानून में अपराध के रूप में बताया गया है। पहले ऐसे कार्यों के लिए अभियोजन चलाए जा सकते थे, जो अभियोजक और अदालत की दृष्टि में विशिष्ट कानून द्वारा निषिद्ध कार्य-जैसे माने जा सकते थे और सादृश्य द्वारा वह भी दंडनीय अपराध बन जाता था। जहाँ तक सिद्धांतों का सवाल है, विधि प्रणाला में किए गए दूसरे सुधारों के अधीन गिरफ्तारी का निदेश अदालत या अभियोजक के दफ्तर द्वारा ही दिया जा सकता है। वह उम्र जब युवकों पर विभिन्न प्रकार के अवैध कार्यों के लिए वैध प्रौढ़ता की जिम्मेवारी लादी जा सकती है, १२-१४ साल से बढ़ा कर १४-१६ साल कर दी गई है। विशिष्ट समय-सीमाएँ तय कर दी गई हैं, जितने समय तक किसी व्यक्ति को संदिग्ध अपराध की पड़ताल-संबंधी अभियोजन के दौरान हवालात मे रखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति को जिसके बारे मे ऐसी पड़ताल चल रही हो, पड़ताल के दौरान वकील से मुलाकात करने का अधिकार दिया गया है। हालांकि यह बात नए सिद्धांतों में स्पष्ट रूप से कही नहीं गई है, फिर भी इनमें दोष सिद्ध करने का दायित्व दोषी से हटा कर अभियोजक पर डाल दिया गया है। आजकल एक नई विधि प्रणाली तैयार करने के लिए भी बात चल रही है, जिसके अधीन व्यक्ति को अतीत की तुलना में कहीं ज्यादा सुरक्षित हैसियत प्राप्त हो सकती है। तथापि इन प्रत्यक्ष परिवर्तनों का सच्चा सारवान् प्रतिफल अभी कुछ सालों तक निर्धारित नहीं किया जा सकेगा।[2]

---

[1] देखिए पृष्ठ ४२६, ५८४।

[2] सोवियत विधि प्रणाली के वर्त्तमान स्वरूप का एक अच्छे और संक्षिप्त मूल्यांकन के लिए कृपया देखिए—व्लादीमीर गसोवस्की, 'दि सोवियत यूनियन रिवाइज्ड क्रिमिनल कोर्ट्‌स',

दल

सरकारी तंत्र का वर्णन करते समय साम्यवादी दल का कई बार उल्लेख किया गया है। चूंकि देश में यही एक मात्र वैध राजनीतिक दल है और इसलिए चूंकि सरकार का नियंत्रण इस दल में ही सीमित रहता है, इसलिए इस दल की सदस्यता, संगठन और कृत्यों का कुछ वर्णन जरूरी है। हालांकि जैसा बताया जा चुका है, सुप्रीम सोवियत या किसी निचले 'विधायी' निकाय में चुनाव के लिए दल की सदस्यता जरूरी नहीं है, तथापि प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण अधिकारी दल के सदस्य होते हैं। सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम में दल के सदस्य होते हैं और प्रत्येक मंत्री भी दल का सदस्य होता है।

दल की सदस्यता

सोवियत संघ के साम्यवादी दल में लगभग ८० लाख पूरे-पूरे सदस्य हैं और सात लाख 'उम्मीदवार सदस्य' हैं। और यह जोड़ कुल संख्या का ४ प्रतिशत है। पूरी सदस्यता के उम्मीदवार परिवीक्षाधीन सदस्य होते हैं, जिनको अपने साम्यवाद की सचाई सिद्ध करने के लिए और दल की सेवा करने की अपनी इच्छा एवं योग्यता सिद्ध करने के लिए सौंपे गए काम करने होते हैं। सहायक निकायों की सदस्यता साम्यवादी दल के अधिकृत परिवार के भीतर लोगों की संख्या काफी बढ़ा देती है। युवा साम्यवादी लीग के, जो १४ से २० साल तक के लोगों के लिए है; लगभग २ करोड़ या इस आयु वर्ग की जनसंख्या के लगभग एक तिहाई लोग हैं। इसका उद्देश्य है कि शिक्षित, सिद्धांत-प्रभावित और अर्पित दल सदस्यों के स्रोत के रूप में काम करे, जो भविष्य में दल और सरकार के नेता बनेंगे, आर्थिक कार्यपालक बनेंगे और अध्यापक एवं वैज्ञानिक आदि बनेंगे। 'यंग पायोनियर्स' में १० से १६ वर्ष के बच्चे लिए जाते हैं और इसके भी कई लाख सदस्य हैं। यह साम्यवाद में और एक अर्थ में सामाजिक कर्त्तव्य का पहले-पहल प्रशिक्षण देता है। दल की पूरी सदस्यता प्राप्त करने का रास्ता इन सिद्धांत-प्रभावित बनाने वाले और परीक्षण करने वाले बाल एवं युवा संगठनों में से होकर ही जाता है। दल की पूरी सदस्यता १८ वर्ष की उम्र में मिल सकती है अगर प्रार्थी युवा-साम्यवादी लीग का सदस्य रह चुका हो और बीस वर्ष की उम्र में अगर वह इसका सदस्य न रहा हो। सदस्यता की योग्यताओं की छानबीन स्थानीय और जिला दल अधिकारियों द्वारा बड़े ध्यान से की जाती है और नए सदस्यों के लिए दो या तीन ऐसे समर्थक होना जरूरी है, जो दल में अच्छी स्थिति के अभिलेख प्राप्त कर चुके हों तथा जो प्रार्थी के गुणों का समर्थन करें एवं दल के प्रति उसकी वफादारी

दि न्यू लीडर, २७ अप्रील, १९५९ ई०, पृष्ठ १०-१३। लेखक काँग्रेस के पुस्तकालय के यूरोपीय डिवीजन के प्रमुख हैं।

और सेवा की जिम्मेदारी लें। इस तरह दल की सदस्यता केवल उन लोगों को ही दी जा सकती है, जो पूरी तरह से दल में ही लीन हो जाना चाहते हों और बाकी सभी चीजों को, परिवार के बंधनों तक को छोड़कर उसे ही अपना पहला दायित्व मानने को तैयार हों। इसका मतलब यह भी होता है कि शुल्क देने और सेवा करने के संबंध में बड़े भारी-भारी कर्त्तव्यों को स्वीकार किया जाए, जिसके लिए दल जहाँ कहीं भी और कितनी भी मात्रा में इसे जरूरी समझे। साथ ही आचरण ऐसा होना चाहिए, जो हर बारे में साम्यवादी आदर्शों के अनुकूल हो। व्यक्तिगत उपभोग के मामले तक में प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि वह वैसा ही करेगा, जिसे दल अच्छे नागरिक का अपेक्षित आदर्श मानता है। हर सदस्य दल के सभी निर्णयों का पूरी सावधानी के साथ पालन करने का दायित्व अपने ऊपर लेता है। वह सभी बड़े-छोटे वर्गों में जिनका वह अंग है, दल की नीति का संचालन करने और उसे प्रभावी बनाने के लिए सहमत होता है। अगर तीन या ज्यादा दल के सदस्य किसी बैठक में शामिल हों, तो उनका यह दायित्व है कि उस बैठक में एक 'दल वर्ग' गठित करें, जो उन लोगों के ऊपर दल का प्रभाव डाले, जो दल के सदस्य नहीं हैं।

हालांकि दल ने सदस्यता के लिए इतने ऊँचे मानक रखे हैं, लेकिन उनकी पूर्ति उतनी अच्छी तरह से नहीं हो पाती, जितनी नेता चाहते हैं। समय-समय पर 'शोधन' चलते रहते हैं, जिनका उद्देश्य अपात्र सदस्यों को हटाकर दल को स्वच्छ करना और उसे 'विशुद्ध' रखना होता है। दल के इतिहास में सबसे उग्र शोधन सन् १९३४ से १९३९ ई० तक हुआ, जब कुल सदस्यता के २५ प्रतिशत को दल से अलग कर दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी शोधन किए गए, जिनका उद्देश्य दल की सदस्यता को युद्धकाल में आ जाने वाली मिलावट से शुद्ध करना था जब सैन्य बलों के लोगों को या उद्योगों में निष्ठावान कामगरों की सदस्यता देने से इन्कार नहीं किया जा सकता था जो सिद्धांतप्रवणता, प्रशिक्षण और दल द्वारा वांछित गुणों का अभाव होने पर भी सदस्यता चाहते थे। फिर १९५० ई० के बाद के दशक के आखीर की ओर कुछ वर्गों के लिए सदस्यता को आसान कर दिया गया, जिससे औद्योगिक और खेतिहर, शारीरिक श्रमिकों (सदस्यता का ३० प्रतिशत) को ज्यादा अनुपात में सदस्यता दी जा सके और शिल्पियों, प्रशासनिक व्यक्तियों तथा बुद्धिजीवियों के अनुपात में दल में उनकी सदस्यता बढ़ सके। कई सालों में सदस्यता के उम्मीदवारों में शारीरिक श्रमिकों का प्रतिशतक ५९ से बढ़ कर ६५ हो गया। तथापि यह पता चला कि अनेक नए सदस्य विचारधारा की दृष्टि से पुष्ट न थे और सदस्यता की कड़ी माँगों को पूरा करने के लिए तैयार न थे। १९६० ई० में दल के नेताओं का यह फैसला था कि दल की वैचारिक और प्रचार-संबंधी प्रभाविता

घट गई है और नागरिकों के समूह में दल की स्थिति को पुनः स्थापित करने के लिए सख्त उपाय करना जरूरी हो गया है।

दल संगठन

दल का संगठन-ढाँचा इस सिद्धांत पर आधारित है कि प्रत्येक भौगोलिक या कृत्यकारी सरकारी अभिकरण के लिए दल का एक तत्संवादी निकाय होगा। इस तरह एक औद्योगिक उपक्रम की दुकान या विभाग के लिए, पूरे उपक्रम के लिए, सामूहिक फार्म के लिए, स्टोर आदि के लिए दल की हजारों इकाइयाँ होती हैं, जिनको 'सेल' कहते हैं। स्थानीय सरकारी सोवियतों के सामने गाँव और शहर के दल संगठन होते हैं तथा संघबद्ध होकर ये जिला और गणराज्य संगठन बनाते हैं, जो सरकारी निकायों के तत्संवादी होते हैं। 'प्राथमिक दल संगठन' की इन सेलों या इकाइयों की संख्या लगभग ५ लाख है और वे ही वह आधार हैं, जिन पर दल का सारा ढाँचा खड़ा है। ऐसी इकाई में दल के विनियमों के अनुसार ३ से लेकर कई सौ तक दल के सदस्य हो सकते हैं। पिछली संख्या स्पष्ट ही बहुत बड़े औद्योगिक संयंत्रों की इकाई या सेलों के संबंध में होती है। हर सेल का स्थानीय रूप से प्रशासन एक समिति चलाती है। 'सचिव' इस अर्थ में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है कि उस क्षेत्र, जिले और गणराज्य के दल संगठनों के सचिवों की परंपरा के जरिए वही साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सचिवालय के संपर्क में अंततः रहता है और उनसे हिदायतें एवं अधिकार प्राप्त करता है। केंद्रीय समिति में प्रमुख स्थान 'प्रथम सचिव' का होता है। इन स्थानीय दल इकाइयों के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी नेताओं को अभी तक संतोष नहीं है कि वे उन सभी जगहों पर विद्यमान हैं, जहाँ उनको होना चाहिए। खास तौर पर कृषि के क्षेत्र में ऐसा समझा जाता है कि उनकी संख्या बहुत कम है और उनकी सदस्यता बहुत थोड़ी।

कम-से-कम सैद्धांतिक दृष्टि से दल का उच्चतम शासकनिकाय, जैसा कि आरेख—३ में बताया गया है, अखिल संघ दल कांग्रेस है, जिसके कम-से-कम ३ साल में एक बार सम्मिलित होने की आशा की जाती है। इसमें सहायक दल निकायों के प्रतिनिधि प्रति ६ हजार सदस्यों के लिए एक वोट देने वाला प्रतिनिधि और एक वोट न देने वाले प्रतिनिधि के आधार पर आते हैं। जब स्तालिन की शक्ति अपने शिखर पर थी, तब सन् १९३८ से १९५२ ई० तक इस कांग्रेस की एक भी बैठक नहीं हुई थी। कांग्रेस की १९वीं बैठक १९५२ ई० में हुई और फरवरी में २०वीं कांग्रेस बुलाई गई। २०वीं कांग्रेस इसलिए प्रसिद्ध है कि इसमें श्री ख्रुश्चेव ने स्तालिन की उनकी 'गलतियों' के लिए और 'व्यक्तित्व के मतवाद' के लिए जो उनके चारों ओर खड़ा हो गया था, उनकी निंदा की। २१वीं कांग्रेस की बैठक जनवरी, १९५९ ई० में

हुई और उसका उद्देश्य सन् १९५९ से १९६५ ई० तक की नई सातवर्षीय आयोजना को मंजूर करना और उसकी प्रशंसा करना था ।

केंद्रीय समिति और प्रेसीडियम

चूंकि साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति और केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम में दल का संगठन और नीति-निर्माण केंद्रीभूत होता है, इसलिए दल के इन दो अभिकरणों की ओर विशेष ध्यान देना होगा । चूंकि अखिल संघ कांग्रेस तीन साल में एक बार ही बुलाई जाती है, इसलिए स्पष्ट है कि वह न तो साम्यवादी दल के चालू प्रशासन या नीति-निर्माण से परिचित ही रह सकती है और न उनको निपटा ही सकती है । इस तरह वह साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सदस्यों को चुनती है । यह समिति ही 'दल का उच्चतम निदेश देने वाला निकाय' होती है, जिसकी बैठकें हर तीसरे-चौथे महीने होती हैं । केंद्रीय समिति में १३३ पूरे सदस्य और १२२ उम्मीदवार सदस्य (जिनको वोट देने की शक्ति नहीं होती) होते हैं । केंद्रीय समिति में अक्सर उसकी प्रेसीडियम (नीचे वर्णित) से सिफारिशें प्राप्त होती हैं और वह उनका अनुसमर्थन कर देती है । तथापि हाल में केंद्रीय समिति में विभिन्न नीतियों और उपायों के बारे में ज्यादा बहस एवं चर्चा होने लगी है एवं कुछ मामलों में प्रेसीडियम की सिफारिशों को भी बदला जाने लगा है । इसके सदस्यों में दल के प्रमुख अधिकारी होते हैं जिनमें से बहुत से वस्तुतः उच्च सरकारी अधिकारी भी होते हैं । पता चला है कि अब केंद्रीय समिति की बैठकों का पूरा अभिलेख आशुलिपिकों की मदद से रखा जाता है और उनको दल संगठन की नीचे की सीढ़ियों को उपलब्ध कर दिया जाता है ।[1] अगर यह खबर सही है, तो इसका मतलब यह है कि अब केंद्रीय समिति में साम्यवादी दल की नीतियों का पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा वास्तविक निर्धारण होने लगा है ।

साम्यवादी दल की अखिल संघ कांग्रेस
(सहायक निकायों से प्रत्येक ६००० दल सदस्यों
के लिए एक वोट देने वाला प्रतिनिधि आता है,
तीन साल में कम-से-कम एक बार समवेत
होती है ।)

साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति
(अखिल संघ कांग्रेस द्वारा चुने गए वोट देने
वाले १३३ सदस्य, हर तीन-चार महीने में एक
बार बैठती है ।)

---

[1] हैरो श्वार्टज, दि न्यूयार्क टाइम्स, १३ जून, १९५६ ।

साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति का सचिवालय	**साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम**
(केंद्रीय समिति द्वारा चुने गए यह 'प्रथम सचिव' और दो सचिव जो दल संगठन के प्रभारी होते हैं।)	(केंद्रीय समिति द्वारा चुने १५ पूरे सदस्य और ७ उम्मीदवार सदस्य)

आरेख -३ : सोवियत संघ का साम्यवादी दल

केंद्रीय समिति दो निकायों का चुनाव करती है जो साम्यवादी दल के कार्यों का उच्चतम दैनंदिन प्रबंध चलाते हैं। पहले तो केंद्रीय समिति का सचिवालय दल-संगठन का प्रभारी होता है। इसके जरिए केंद्रीय समिति गणराज्य, जिला और स्थानीय इकाई या सेल के अधीनस्थ निकायों की श्रृंखला के साथ संपर्क रखती है। जैसा कि पहले एक दूसरे प्रसंग में बताया जा चुका है, पूरे संगठन के सचिवों की श्रृंखला के ऊपर सभापतित्व प्रथम सचिव का होता है और उनके ऊपर क्षेत्राधिकार एवं उनसे संपर्क के जरिए वह केंद्र से लेकर सुदूरवर्त्ती छोटी-से-छोटी दल इकाई के साथ संचार-संबंध रखता है और इस तरह ऊपर से नीचे की ओर हिदायतें दी जाती रहती हैं एवं नीचे से ऊपर की ओर रिपोर्ट और सूचानाएँ आती रहती हैं।

इन दोनों निकायों में जो केंद्रीय समिति के अधीन होते हैं, दूसरा निकाय इस दृष्टि से सबसे ज्यादा महत्त्व का है कि वह दल की नीतियों के निर्माण में प्रमुख हिस्सा लेता है और उसके द्वारा बनाई गई नीतियाँ कुछ प्रत्यक्ष तथा कुछ टेढ़े-मेढ़े तरीकों से सरकार की नीतियाँ बन जाती हैं। यह साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम के बारे में कहा जा रहा है। इसमें केंद्रीय समिति द्वारा चुने गए १५ पूरे सदस्य होते हैं और वह इसकी नीतिनिर्मात्री कार्यपालक समिति होती है। इसमें ७ 'उम्मीदवार सदस्य' भी होते हैं, जिनको अनुमानतः अधिकृत नीति-निर्माण की तो कोई शक्ति नहीं मिली होती, लेकिन जो प्रेसीडियम की बहसों में भाग लेते हैं और अपनी निजी योग्यता या सोवियत संघ के जिन हितों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उनके जरिए वे नीति-निर्माण पर भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रभाव डाल सकते हैं। वास्तव में ये सभी २२ सदस्य दल के बहुत चोटी के नेता होते हैं। ये वे व्यक्ति होते हैं जो योग्यता, भाग्य, राजनीतिक प्रवीणता, चतुराई, संकोचशीलता या संबंध की भिन्न-भिन्न मात्रा में मेल के कारण चोटी तक पहुँचते हैं। सामूहिक रूप से अपने निर्णयों द्वारा उनके पास विशाल शक्ति होती है।

प्रेसीडियम के विभिन्न व्यक्तिगत लोगों का सोवियत जीवन के विशिष्ट खंडों के साथ घना संपर्क होता है और उनकी व्यापक जानकारी होती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को सरकारी तंत्र एवं उसके व्यक्तियों का विशुद्ध ज्ञान हो सकता

है और दूसरे को शृंखला में ऊपर तथा नीचे के व्यक्तियों का गहरा ज्ञान हो सकता है। तीसरे के सेना के बारे में संपर्क हो सकते हैं और अन्य लोगों को खेती, राज्य-व्यापार प्रणाली, विदेश कार्य या अर्थतंत्र के उद्योग खंड का ज्ञान हो सकता है। यह निकाय ही सदस्यों से विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण, तथ्यात्मक जानकारी और हितों के बारे में ज्ञान ग्रहण करता है तथा एक बार सहमत हो कर जो नीतियाँ बनाई जाती हैं, उनको दल की प्रेसीडियम सामूहिक रूप से एकमत नीति के रूप में स्वीकार करती है, जिसकी रक्षा और समर्थन प्रत्येक सदस्य बिना किसी संकोच के करेगा (हाँ, यह केंद्रीय समिति की मंजूरी के अधीन होती है)। इन विभिन्न और संभवतः संघर्षशील पृष्ठभूमियों एवं हितों को एक मेल करने के इस तरीके से यह अनुमान लगाया जाता है कि सोवियत संघ के सामने आने वाली किन्हीं भी समस्याओं के लिए दल को सही नीति बनाने का मौका मिलेगा। इस एक मेल करने वाली प्रक्रिया का ठीक-ठीक रूप पता नहीं है। अपनी मृत्यु से पहले अनेक वर्षों तक स्तालिन निःसंदेह इस निकाय में प्रमुख व्यक्ति थे (इसे तब पोलितब्यूरो कहते थे)। लेकिन उनके समय में भी समय-समय पर दूसरे सदस्यों का प्रभाव नीति के खास-खास मसलों को लेकर उसकी अपेक्षा कहीं ज्यादा होगा, जितना बाहर से दिखाई पड़ता था। जिस समय यह लिखा जा रहा है, निकिता ख्रुश्चेव इस प्रेसीडियम में प्रमुख व्यक्ति हैं, हालांकि उस सीमा तक नहीं, जिस सीमा तक एक बार स्तालिन थे।

केंद्रीय समिति के सचिवालय के प्रथम सचिव इस समय श्री ख्रुश्चेव हैं और शक्ति की दृष्टि से वह प्रमुख व्यक्ति लगते हैं। तथापि उस पद के धारी ने काफी खुले रूप में उन मतभेदों की बातें कहीं हैं, जो प्रेसीडियम के सदस्यों में पैदा हो जाते हैं और उन्होंने यह भी कहा है कि जब ऐसे मतभेद पैदा होते हैं, तो उनका समाधान वोट लेकर किया जाता है, जिसका अर्थ यह भी हुआ कि बहुमत की राय इस निकाय की एकमत नीति बन जाती है।[1] चूंकि प्रेसीडियम में १२ पूरे सदस्य हैं, इसलिए वहाँ पर मतसाम्य नहीं हो सकता।

प्रेसीडियम सोवियत संघ की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण संभव समस्या के बारे में नीतियों को तय करती है। जहाँ तक आर्थिक नीतियों का सवाल है, वे संभवतः केंद्रीय समिति के जरिए और कभी-कभी सीधे-सीधे मंत्रिपरिषद् (एक सरकारी निकाय) के पास अमल में लाने के लिए भेज दी जाती है। परिषद् कुल मिला कर एक आज्ञप्ति निकालती है, जिसमें बताया जाता है कि नीति के अनुसरण में क्या कार्रवाई की जानी चाहिए या नीति को प्रभाव में लाने के लिए कोई खास मंत्रालय अपेक्षित प्रशासनिक कार्रवाई कर देता है और मंत्रिपरिषद् के कार्यों का अनुसमर्थन प्रेसीडियम

---

[1] जैसा कि ५ जुलाई १९५६ ई० में 'दि न्यूयार्क टाइम्स' में छपा।

(सरकार की) और सोवियत संघ की सुप्रीम द्वारा कर दिया जाता है। इन विभिन्न दलीय और सरकारी निकायों के बीच उन्हीं व्यक्तियों के इधर-उधर रहने से नीति से कार्य तक संक्रमण का रास्ता सरल रहता है। केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम का प्रत्येक पूरा और उम्मीदवार सदस्य वास्तव में केंद्रीय समिति का भी सदस्य होता है और सुप्रीम सोवियत का भी।

इस समय दल की प्रेसीडियम के सभापति केंद्रीय समिति के सचिवालय के प्रथम सचिव और सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद् के सभापति भी हैं। प्रेसीडियम का एक अन्य सदस्य सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम का सभापति है। दूसरा मंत्रिपरिषद् का पहला उप-सभापति है और राज्य आयोजना समिति का सभापति है। चार अन्य सदस्य केंद्रीय समिति के सचिवालय के सचिव हैं। एक महत्त्वपूर्ण यूक्रेनी दल संगठन का प्रमुख है। दूसरा रूसी सोवियत संघ समाजवादी गणराज्य की मंत्रिपरिषद् का सभापति है। यह गणराज्य अतुलनीय रूप से सबसे महत्त्वपूर्ण गणराज्य है। हालांकि व्यक्ति समय-समय पर बदलते रहते हैं। इन उदाहरणों से दल और सरकार के अंतःपाशन के परिमाण और किस्म का पता चल जाता है, जो सोवियत प्रणाली में लगातार रहने वाली चीज है।

सोवियत संघ में प्रभुसत्ता

यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ में प्रभुसत्ता साम्यवादी दल में रहती है। दल के भीतर नीति-निर्माण की शक्ति केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम में बड़े की सकेंद्रित रूप में रहती है। लेकिन, अगर वास्तविक नीति-निर्माण और कार्यकलाप निर्देशन साम्यवादी दल के इन गिने-चुने सीमित नेताओं के पास रहता है, तो फिर इस जटिल सरकारी तंत्र के जाल की क्या जरूरत है? क्या यह मूर्खता नहीं है कि एक विशद् सरकारी तंत्र के संचालन में इतनी शक्ति क्यों लगाई जाए जबकि वास्तविक शासन-संचालन में उसका कोई योगदान नहीं होता? लेकिन, यह सरकारी तंत्र बेकार नहीं हैं; क्योंकि वे दल के नेताओं के साथ में नियंत्रक शक्ति केंद्रित होने के बावजूद बहुत से महत्त्वपूर्ण पहले तो जटिल प्रतिनिध्यात्मक निकाय मतदाताओं को उनके पास शक्ति रहने का कुछ आभास दे देते हैं और यह आभासी रूप घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रत्यक्ष कारणों से नेता लोग निःसंदेह बनाए रखना चाहते हैं। दूसरे इन विभिन्न प्रतिनिध्यात्मक सभाओं से नेताओं को जनसमूह की भावनाओं का पर्यवेक्षण करने के लिए कुछ अन्यथा अप्राप्त अवसर मिलते हैं। तीसरे नेता लोग जनसमूह तक मुद्रित शब्दों की तुलना में कहीं ज्यादा सप्राण रूप से जो बात पहुँचाना चाहते हैं, उसके लिए ये सभाएँ प्रतिध्वनन केंद्र का काम करती हैं। चौथे विधायी निकायों के ये सत्र भावात्मक केंद्र-विंदु के रूप में काम करते हैं, जहाँ पर सामूहिक रूप से पैदा किया गया उत्साह बड़े-

छोटे नागरिक तक पहुँचाया जा सकता है। पाँचवीं प्रशासन के कुछ ब्यौरेवार कार्य हैं, जो इन बहुत से सरकारी अभिकरणों द्वारा संपन्न किए जाते हैं। अगर इन स्थूल प्रयोजनों की पूर्ति हो जाए, तो विद्यमान शासन के दृष्टिकोण से उस बात का पूरा-पूरा औचित्य सिद्ध हो जाता है जो अन्यथा केवल पहिए के भीतर चलने वाला पहिया मात्र लगता है।

क्या सोवियत सरकार की दल प्रणाली 'प्रजातंत्रीय' है?

यह कहना कि 'प्रभुसत्ता साम्यवादी दल में रहती है' यह कहने जैसा ही संभवतः नहीं है कि यह प्रणाली 'बुनियादी रूप से अप्रजातांत्रिक' है—कम-से-कम पिछली शब्दावली के कुछ अर्थों में। जो व्यक्ति सोवियत प्रणाली को पिछली चुनौती देता है उसे 'प्रजातंत्रिक' शब्द की ठीक-ठीक परिभाषा का बचाव करने के लिए तैयार रहना चाहिए, जिस पर वह अपने तर्क को आधारित करता है। राजनीतिक सिद्धांतों-संबंधी साहित्य में इस बात का काफी प्रमाण मिलता है कि 'प्रजातंत्र' की परिभाषा करना एक दुष्कर कार्य है। जब पश्चिम में लोग इस शब्द की परिभाषा उन विशिष्ट संस्थाओं और प्रक्रियाओं के रूप में करने को प्रस्तुत हो जाते हैं जो परंपरा और निकट संपर्क के कारण उसकी संकलपना का पर्याय-जैसा ही मानी जाने लगी हैं, लेकिन थोड़ा सा आलोचनात्मक निरूपण करने पर यह पता चल जाएगा कि प्रजातंत्र की संकल्पना एकमात्र मतदाताओं की पात्रता और विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व के नियमों द्वारा ही नहीं की जा सकती। प्रजातंत्र को सार्थक शब्द के रूप में केवल बाहरी आवरण का ही नहीं, बल्कि आंतरिक तत्त्व का भी संकेत देना चाहिए। संक्षेप में उसे यह बताना चाहिए कि सरकारी संस्थाएँ और प्रक्रियाएँ लोकेच्छा का किस मात्रा तक समादर करती हैं।

इस प्रकार के शब्दों में प्रजातंत्र की परिभाषा करने से इसमें कुछ भूलभूत और फिर भी सूक्ष्म तत्त्व आ जाते हैं, जिनसे प्रगट होता है कि आमतौर पर कितने अविचारित और ढीले रूप में हम उसका प्रयोग करते रहे हैं। इस अर्थ में प्रजातंत्र के अस्तित्व या अनस्तित्व का परीक्षण सरकार के तंत्रीय ढाँचे और प्रक्रियाओं का पुनर्विलोकन करके नहीं किया जा सकता। लोकेच्छा का समादर इन चीजों से कहीं ज्यादा गहरा होता है। इसके स्थितिविशेष में अभाव या सद्भाव की परख करने के अकाट्य और प्रभावी साधन अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं। इसलिए यह कहना प्रायः निरर्थक है कि सोवियत प्रणाली 'अप्रजातांत्रिक' है या सरकारी नेता 'अप्रजातांत्रिक तरीकों से' सत्तारूढ़ बने रहते हैं। सोवियत संघ की सरकार की इस समय चालू नीतियाँ और तौर-तरीके सोवियत नागरिकों की लोकेच्छा के अनुकूल नहीं हैं, यह बात कहने में अपने को समर्थ बनाने के लिए अगर कोई पर्याप्त रूप से विषय-

निष्ठ और काफी संख्या में साक्ष्य दे सका है, तो ऐसा व्यक्ति कौन है ?

इस सिलसिले में हमारा यह तो निहितार्थ नहीं है कि ये तथ्य सोवियत संघ की नीतियों में लोकेच्छा के अभिभावी रहने के निश्चायक या पर्याप्त प्रमाण हैं, फिर भी कई ऐसे तथ्य हैं, जिनको ध्यान में रखना होगा। पहले सोवियत संघ में जोड़ने वाले धागों का ऐसा जटिल तानाबाना विद्यमान है, जिसके जरिए अगर साम्यवादी दल के नेता चाहें तो जनसमूह की राय का नमूना तुरंत प्राप्त कर सकते हैं। इन संबंधों की शृंखला में ये नीचे लिखी चीजें आती हैं : स्वयं दल का संगठन भी नेताओं के संभव रूप से हावी रहने के बावजूद कुछ ऐसी संभाव्य धाराओं की सृष्टि करता है जिनकी राय ऊपर से नीचे की तरह ही नीचे से ऊपर की ओर भी चल सकती है। विशद् चुने हुए सरकारी निकाय जो स्थानीय सोवियतों से लेकर सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत तक फैले हुए हैं; मजदूर संघ के संगठनों का जाल जिनके सदस्य बड़े उद्योगों से प्रायः सभी मजदूर होते हैं। और, बहुत सांस्कृतिक एवं दूसरे प्रकार के संगठन जो अनेक तरीकों से एवं अनेक जगहों पर दल के नेतृत्व के साथ जुड़े हुए हैं।

दूसरे यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि न तो महायुद्ध से तुरंत पहले के युग में और न महायुद्ध के बाद के युग में विद्यमान शासन के विरूद्ध कोई व्यापक असंतोष प्रकट रूप से देखा गया है। बाहर जाने वाली सूचना पर सेंसर होने के बावजूद अनेक तरीके हैं, जिनसे हो कर असंतोष के विद्यमान होने पर उसकी खबरों के बाहर आ जाने की उम्मीद की जा सकती थी। बहुत से समाचारपत्रों और सामयिक पत्रों के संवाददाता यह तय करके देश छोड़ चुके हैं कि अब वे वापस न आएँगे। इसलिए उन्होंने बड़े स्वतंत्र रूप से लिखा है और हालांकि उन्होंने सोवियत पद्धति के अनेक तत्त्वों की आलोचना की है; तथापि उन्होंने लोकव्यापी असंतोष के विद्यमान रहने से इन्कार किया है। इससे असंतोष की अभिव्यक्ति को दबा देने वाली 'पुलिस राज्य' की शक्ति का ही पता चलता है या रूसी लोकेच्छा द्वारा सोवियत शासन की नीतियों की बुनियादी मंजूरी का द्योतक है। इसका निर्धारण उस व्यक्ति द्वारा किया जा सकेगा, जो 'लोकेच्छा' की परिभाषा करने के लिए सक्षम है और इस अभिव्यक्ति के अप्रकट स्वरूप की जाँच कर सकने के साधन अपने पास रखता है।

तथापि यह सही है कि प्रजातंत्र के बाह्य साक्ष्य के रूप में जो कुछ बाहरी रूप आमतौर पर मान लिए गए हैं, उनको यहाँ पर विकसित नहीं किया गया है। आमतौर पर इसमें ये चीजें शामिल मानी जाती हैं। सरकार की चालू रूप से व्याप्त नीतियों का हर तरह से विरोध करने के लिए वैध रूप से मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल खड़े करने की आजादी, स्वतंत्र रूप से नामजद किए गए उम्मीदवारों में से उन अधिकारियों को चुन सकने का अधिकार और विशेषाधिकार जो देश का कानून बनाएँगे,

उसकी व्याख्या करेंगे और उनका कार्यान्वयन करेंगे तथा जो न्याय को प्रशासित करेंगे, और या तो स्वतंत्र रूप से या संगठित समूह के रूप से खुले हुए आलोचना करने का अधिकार और उसके लिए सुविधाएँ। असली प्रजातंत्र के लिए आमतौर पर मानी गई ये पूर्वअपेक्षाएँ पूरी तरह दुनिया में किसी भी जगह जनता को पूरी तरह नहीं मिली हैं। लेकिन, यह अवांतर विषय है। प्रश्न यह है कि : क्या सोवियत संघ में किसी वास्तविक अर्थ में या सारवान् तरीके से इन रूपों को पैदा किया गया है और क्या उनमें उनके यथार्थ, भले ही अपूर्ण, कार्य-संचालन के लिए प्राणवत्ता और भावना को कूट-कूट कर भरा गया है? अगर ऐसा नहीं हुआ, तो किस दूसरे विषय-निष्ठ साक्ष्य द्वारा वास्तविक प्रजातंत्र के काफी मात्रा में विद्यमान होने की बात सिद्ध की जा सकती है?

छात्रों को संविधान में किए गए वादों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। इस प्रलेख में सोवियत संघ के नागरिकों को ये चीजें प्रदान की गई हैं: 'वादस्वातंत्र्य, प्रेस की स्वाधीनता, सभा करने की स्वाधीनता जिसमें सामूहिक बैठकें करना शामिल है, सड़कों पर जुलूस और प्रदर्शन निकालने की स्वाधीनता। ये नागरिक अधिकार कामगरों को और उनके संगठनों के हाथ में मुद्रणालय, कागज का भंडार, सार्वजनिक इमारतें, सड़कें, संचार सुविधाएँ और इन अधिकारों के प्रयोग के लिए अपेक्षित दूसरी सामग्री देकर आश्वस्त किए गए हैं।[1] नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों की परिभाषा करते हुए संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि "चुनाव में डिपुटियों के लिए मतदान गुप्त होता है.... उम्मीदवारों को नामजद करने का अधिकार जनता के संगठनों और कामगर लोगों की सभाओं को; साम्यवादी दल के संगठनों, मजदूर संघों, सहकारिताओं, युवक संगठनों और सांस्कृतिक सभाओं को दे दिया है।"[2] ये सांविधानिक व्यवस्थाएँ प्रत्येक नागरिक को उदार नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्रत्यक्ष रूप से प्रदान करती हैं। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है कि उसको राजनीतिक दृष्टि से साम्यवादी दल के बाहर और उसके विरोध में संगठित होने का अधिकार नहीं दिया गया है। इस अधिकार के बिना वह राजनीतिक दृष्टि से असहाय है। उसे जो भी नागरिक आजादी मिली हुई है, वह वास्तव में उतनी ही है जितने एकमात्र वैध दल द्वारा संविधान के शब्दों से उत्पन्न हुए माने जाते हैं और इन शब्दों में भी यह शर्त लगी है कि नागरिक आजादी का दिया जाना 'समाजवादी पद्धति को सुदृढ़ करने के लिए' है।[3] इस शब्दावली

---

[1] अनुच्छेद १२५।

[2] अनुच्छेद १४०-१४१।

[3] अनुच्छेद १२५।

का क्या अर्थ है, यह शास्त्रीय चर्चा का विषय हो सकता है। लेकिन, व्यवहार में साम्यवादी दल के नेताओं द्वारा किए गए निर्वचन के अलावा किसी और निर्वचन का सोवियत संघ में कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।

इन उदात्त और उच्च आदर्शों वाले सांविधानिक शब्दों की तुलना में वास्तविकता बिल्कुल ही भिन्न है। साम्यवादी दल द्वारा मंजूर किए गए या उसके उम्मीदवार के अलावा और कोई उम्मीदवार कभी-कभी चुनाव में खड़ा नहीं होता। विधान सभाएँ संभवतः ऐसी विधायी बैठकें होती हैं, जो कुछ ज्यादा सीमित निकायों द्वारा किए गए फैसलों को मंजूर करती हैं और ये भी फिर और भी छोटे निकायों द्वारा किए गए फैसलों को मंजूर करते हैं तो फिर इन नीतियों को केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम से प्राप्त करते हैं, जो साम्यवादीं दल का सबसे भीतरी संगठन है। दल के भीतर प्रमुख निर्णय ऊपर से, थोड़े लोगों से बहुत लोगों की ओर प्रवाहमान लगते हैं। नीति-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सरकारी निकायों में जैसे राज्य आयोजना समिति राज्य बैंक और मंत्रिपरिषद् में निःसंदेह रूप से दल का ही पूरा-पूरा ही प्रभुत्व रहता है। यही बात न्यायालय-पद्धति और सोवियत संघ के शक्तिशाली महाअभियोजक तथा उसके विस्तृत अधीनस्थ कर्मचारियों के बारे में कही जा सकती है। अमेरिकी समाचारपत्रों के संवाददाता अपनी इस राय में एक मत हैं कि सोवियत प्रेस का नियंत्रण और उपयोग विद्यमान शासन द्वारा अपने प्रचार-कार्य के लिए किया जाता है। इस नियंत्रण को उतनी ही मात्रा में ढीला किया जाता है कि 'आत्म-आलोचन' के सिद्धांत को छूट दी जा सके, जिससे ब्योरेवार असफलताओं पर प्रकाश डाला जा सके, ताकि आर्थिक नीतियों को ठीक से चलाया जा सके और औद्योगिक लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। यह कभी नीतियों पर अबाध बहस की गुंजाइश नहीं देता।

स्पष्ट ही पश्चिमी दुनिया में इस शब्द का जो सारवान् अर्थ है और असली प्रजातंत्र की जो संकल्पना है, उसके गुण रूस में देखने को नहीं मिलते। तत्त्व की बात यह है कि जब तक क्रांति न हो, तब तक कोई ऐसा साधन नहीं है कि विद्यमान सरकार को पलट दिया जाए और न कोई ऐसा साधन है कि साम्यवादी दल के स्थान पर एक दूसरे दल की स्थापना की जा सके। वास्तविक प्रजातंत्र में बुनियादी और सूक्ष्म अर्थ में सोवियत पद्धति के तानेबाने को लिया जा सकता है। इस बात को हम अपनी कल्पनाओं के जरिए तो वहाँ पर नहीं पा सके हैं, लेकिन फिर भी यह एक ऐसी बात है जिसको लेकर सोवियत संघ के छात्र असहमत हो सकते हैं। तथापि हम यह नहीं मानते कि वास्तविक प्रजातंत्र सार रूप में विद्यमान व्याख्याओं और प्रक्रियाओं के जरिए वहाँ पर आ सकता है। वस्तुतः इस तथ्य से यह आशंका

खड़ी हो जाती है कि क्या इस पद्धति को 'समाजवादी' कहना उपयुक्त है ।[1]

इस बात को यहाँ पर यह कहे बिना छोड़ देना अनुचित होगा कि सोवियत नेता अपनी पद्धति को हमारी पद्धति से ज्यादा प्रजातांत्रिक बताते हुए उसका बचाव करते हैं। जहाँ हम उनके प्रेस को 'नियंत्रित' मानते हैं वहाँ वे उसे 'स्वतंत्र' और 'विषयनिष्ठ' बताते हैं; क्योंकि कथित रूप में वह कामगर वर्गों के हित में काम कर रहा है। कुछ साल पहले सोवियत संघ के एक 'प्रेस दिवस' पर 'प्रावदा' ने सोवियत प्रेस को 'कामगर वर्ग और जनता' द्वारा नियंत्रित बताते हुए तुलना में पूँजीवादी प्रेस को 'गुप्त रूप से अस्वच्छ स्रोतों से' नियंत्रित बताया था। 'प्रावदा' ने कहा था कि 'बड़े कारबारियों' के पत्र जनता की इस राय को अभिव्यक्त नहीं कर सकता ।[2]

इसी तरह एक पूँजीवादी देश की दो दलीय राजनीतिक पद्धति को उस देश की एक दलीय पद्धति से कम प्रजातांत्रिक बताया जाता है, जहाँ प्राकृतिक संसाधनों और उद्योगों का स्वामित्व 'पूर्णतः कामगर वर्ग' के हाथ में है। रूसी साम्यवादी के लिए हमारे रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक दल पूँजीवादी दल हैं, जो एक ऐसी आर्थिक पद्धति के परीक्षण में दिलचस्पी रखते हैं, जो श्रम करने वाले जनसमूह का शोषण करती है। इसलिए उनका तर्क है कि कामगर वर्गों द्वारा नियंत्रित एक दलीय पद्धति की स्वतः प्रजातंत्र का उच्चतम स्वरूप है। वह इस तथ्य का भी उदाहरण देते हैं कि सोवियत चुनाव में प्रायः सभी पात्र मतदाता अपना मत डालते हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव के साल में भी कई लाख पात्र मतदाता अपना मत नहीं डालते। उनका आरोप है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में उम्मीदवारों का चुनाव दलों द्वारा किया जाता है, जबकि सोवियत संघ में इनका चुनाव जनता द्वारा ही किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में चुनाव-आंदोलन में भारी खर्च आता है और जो दल ज्यादा पैसा खर्च कर सकता है वही जीतता है, जबकि सोवियत संघ में चुनाव-आंदोलन में कुछ भी खर्च जरूरी नहीं होता। अमेरिका में कुछ अल्पमत वर्गों को व्यावहारिक रूप में मत देने से वहिर्गत कर दिया जाता है और चुनाव तंत्र का संचालन अधिकारियों के छोटे से वर्ग द्वारा किया जाता है जबकि सोवियत संघ में लाखों नागरिक चुनाव आयोग में सेवा करते हैं। सोवियत लेखक इन और कुछ दूसरी कथित तुलनाओं का उल्लेख करके यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि 'सोवियत प्रजातंत्र' ज्यादा स्वतंत्र है और दुनिया की किसी दूसरी 'प्रजातांत्रिक' पद्धति की तुलना में उसका आधार कहीं ज्यादा बड़ा है। ये तर्क मार्क्सवादी सिद्धांत से सीधे-सीधे प्रसारित होते हैं।

---

१. देखिए, समाजवाद की परिभाषा, पृष्ठ १८० ।

२. दि न्यूयार्क टाइम्स, ५ मई. १६४७ ।

इस मामले में सोवियत संघ के नेताओं की स्थिति का उदाहरण देने के लिए सोवियत समाचारपत्रों में सन् १९५६ निकलने वाले दो संपादकीय लेखों को देखा जा सकता है। एक संपादकीय लेख में 'प्रावदा' ने इस प्रश्न का उत्तर इस तरह दिया था कि सोवियत संघ में एक ही राजनीतिक दल क्यों है : "क्योंकि बहुत ज्यादा दलों का होना एक ऐसे समाज का उपलक्षण है, जिसमें विभिन्न ऐसे वर्ग हैं, जिनके हित भिन्न-भिन्न हैं, सोवियत संघ में एक नया एकीभूत समाज बनाया गया है, जिसमें परस्परद्रोही वर्ग नहीं हैं।" इसने आगे चल कर कहा "सोवियत समाज में ऐसा कोई सामाजिक आधार नहीं है, जिसके कारण साम्यवादी दल के अलावा दूसरे दलों का पैदा किया जाना और अस्तित्व में आना जरूरी हो।" तथा उसने बाद में यह भी कहा कि "विदेश के कुछ लोग इस बात में दिलचस्पी रखते हैं कि सोवियत संघ में कृत्रिम रूप से गैर-साम्यवादी दल स्थापित किए जाएँ जिनमें विदेशी पूँजी लगाई जाए और जो उनके हित-साधन कर। लेकिन, सोवियत जनता को ऐसे दलों की कोई जरूरत नही है।"[1] अमेरिका के दो प्रमुख दलों द्वारा उम्मीवारों को ऊपर से नामजद करने की प्रथा पर 'इजवेस्तिया' ने यह टिप्पणी की थी : "पद के पीछे राज्यों के गवर्नर, बड़े शहरों के मेयर, दल के बड़े-बड़े नेता, निर्माता, साहुकार, राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के उम्मीदवारों के लिए सौदेबाजी करते रहते हैं।" इसने यह भी लिखा कि "सौदेबाजी के नतीजे राष्ट्रीय सम्मेलनों में निर्धारित होते हैं।" और उसने यह दिखाने के लिए एक अमेरिकी प्रकाशन का उद्धरण भी दिया कि ऐसे सम्मेलनों में आने वाले प्रतिनिधियों में से "अधिकांश अनुभवी दल के कार्यकर्त्ता होते हैं और थोड़ी-सी संख्या उन लोगों की भी होती है, जो दल को वित्तीय मदद देते हैं।"[2]

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. १९१७ ई० की रूसी क्रांति की प्रमुख घटनाएँ क्या-क्या हैं ?

२. यह कहने का क्या अभिप्राय है कि सोवियत संघ की सरकार स्वरूप में 'संघीय' है ?

३. क्या सुप्रीम सोवियत के वास्तविक कृत्य उसके अधिकृत कृत्यों से भिन्न हैं ?

४. किस रूप में सोवियत चुनाव हमारे चुनाव-जैसे हैं ? किस रूप में वे हमारे चुनावों से भिन्न हैं ?

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, ७ जुलाई, १९५६ ई० में उद्धृत।

[2] दि न्यूयार्क टाइम्स, २५ जुलाई, १९५६ ई० में उद्धृत।

५. यह कहने का क्या मतलब है कि सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद् एक विधायी और कार्यपालक निकाय दोनों है ?

६. सोवियत संघ की अदालतें हमारी अदालतों से किस बात में भिन्न हैं ?

७. सोवियत संघ की विधि प्रणाली में क्या परिवर्तन आ रहे हैं ?

८. साम्यवादी दल का सदस्य बन जाने पर किसी व्यक्ति के क्या दायित्त्व हो जाते हैं ?

९. किस अर्थ में वहाँ पर सरकार और दल के व्यक्तियों के बीच अंतः-पाशन रहता है ?

१०. क्या यह कहना सही है कि सोवियत राजनीतिक पद्धति में प्रजातंत्र के कोई तत्त्व विद्यमान नहीं हैं ?

●

अध्याय २३

सोवियत अर्थतंत्र की भूमिका

संगठन

सोवियत संघ की राष्ट्रीय सरकार और साम्यवादी दल के अधीन अर्थतंत्र के विभिन्न तत्त्व पल्लवित होते हैं। सभी आर्थिक संगठन सरकार और दल के निदेशों के पूर्णतः अधीन हैं। बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले तीन उद्योगों का प्रबंध राष्ट्रीय सरकार के मंत्रालयों द्वारा सीधे-सीधे ही चलाया जाता हैं। पहले तो रसायन-उद्योग अपने अपार भेद विस्तार के साथ जादू की चीज ही माने जाते हैं; क्योंकि ऊर्जा का थोड़ा सा ही उपयोग करके रसायन-प्रक्रिया से ही एक चीज दूसरी में बदली जा सकती है। केंद्रीय निदेश के अधीन इसे औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि करने के एक स्रोत के रूप में इसे काफी महत्त्व का माना जाता है। खास तौर पर यह समझा जाता है कि प्लास्टिक का क्षेत्र व्यापक अवसर प्राप्त करता है और कीमती धातुओं तथा दूसरी चीजों का स्थान ले सकता है एवं ये स्थानापन्न चीजें कहीं ज्यादा सस्ते में बन जाएँगी। फिर दूसरा बिजली शक्ति का उद्योग है; क्योंकि बिजली को उद्योग की प्राणशक्ति माना जाता है और उसे राष्ट्रीय आधार पर एक राष्ट्रीय ग्रिड के साथ विकसित करने के फायदे बड़े ही नाटकीय हैं। फिर आखीर में परमाणु अस्त्र उद्योग है, जिसके कारण स्पष्ट हैं।

निर्माता उद्योगों (रसायन को छोड़ कर) और सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों (बिजली शक्ति को छोड़ कर), कृषि और व्यापार का संचालन गणराज्यों की सरकारों तथा उनके अधीनस्थ अभिकरणों के प्रशासन के अधीन होता है। हर मामले में विभिन्न स्तरों पर विशद् प्रबंध तंत्र को विभिन्न गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों द्वारा दी गई शक्तियाँ मिलती हुई हैं। ये मंत्रिपरिषदें भी सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद् के अधीन हैं और बड़े ही केंद्रीयकृत साम्यवादी दल के प्रभाव में रहती हैं। राष्ट्रीय आधार पर महत्त्वपूर्ण आर्थिक शक्तियों के नियंत्रण की केंद्रीयकृत शक्ति की

विकेंद्रीयकृत प्रशासनिक और छोटी-मोटी नीतियाँ तय करने के काम के साथ तालमेल को साम्यवादी शब्दावली में 'लोकतंत्री केंद्रवाद' कहा जाता है।

संपत्ति की संस्थाएँ

अर्थ-व्यवस्था के अनेक क्षेत्र, वे कैसे काम करते हैं और उन्होंने किन समस्याओं का सामना किया है, इनकी ओर ब्यौरेवार ध्यान देने से पहले कुछ ऐसी मूलभूत संस्थाओं और प्रक्रियाओं की ओर दृष्टिपात कर लेना अच्छा रहेगा, जो अर्थ-व्यवस्था के सभी हिस्सों में परिव्याप्त हैं। इनमें सबसे पहली निजी संपत्ति की संस्था है। सोवियत संघ के कानून एक व्यक्ति को निजी संपत्ति के स्वामित्व के प्रायः उतने ही सुदृढ़ अधिकार की मान्यता देते हैं, जितने कि संयुक्त राज्य अमेरिका के कानून। लेकिन, किसी मालिक के पास निजी काम के प्रयोजन से उसके स्वामित्व में आने वाली निजी संपत्ति और ऐसी संपत्ति के बीच स्पष्ट अंतर माना जाता है, जिससे उपयोग में भाड़े पर लिए गए मजदूरों से काम करना होगा। पहली वैध है, राज्य की शक्ति में संरक्षित है और वस्तुतः प्रोत्साहित भी की जाती है। दूसरे प्रकार की संपत्ति विद्यमान शासन के अधीन जघन्य मानी जाती है। यह भेदभाव एक स्पष्ट मार्क्सवादी सिद्धांत है। 'साम्यवाद' या 'समाजवाद' के पहले चरण में जहाँ कि आज सोवियत पद्धति कथित रूप से विद्यमान बताई जाती है, मार्क्सवादी केवल भारी पैमाने पर उत्पादन के साधनों के समाजीकरण की ही अपेक्षा करते हैं। बड़े पैमाने का मतलब यह है कि इतना बड़ा होना कि संपत्ति के उस टुकड़े का उपयोग भाड़े पर मजदूर लगाए बिना हो सके। इसलिए सोवियत संघ में निजी व्यक्तित्व में काफी उपयोग द्रव्य होते हैं जिनमें से कुछ काफी स्थायी होते हैं, जैसे—मोटरगाड़ियाँ, मकान या जिनका इस्तेमाल मालिक या मालिक के निकट परिवार के लोग अपने निजी फायदे के लिए करते हैं। वास्तव में कभी-कभी ऐसे औजारों या साज-सामान का उपयोग व्यक्ति या परिवार द्वारा दोस्तों और पड़ोसियों को बेचे जाने वाले पदार्थों के उत्पादन के लिए भी किया जाता है। यह अपने-आप में अवैध तो नहीं माना जाता है, पर इस पर प्रतिरोधी स्तर तक भारी कर देना पड़ता है। किंतु, सभी प्राकृतिक संसाधनों और आदमियों द्वारा बनाए गए सभी ऐसे साज-सामानों का, जो बड़े पैमाने पर उत्पादन में श्रम के साथ जुड़ा हुआ है, स्वामित्व या तो राज्य का होता है या सामूहिक संस्थाओं का, जिन पर काफी बारीक राज्य-नियंत्रण रहता है। सोवियत संघ की संपत्ति संस्थाओं में से निजी संपत्ति को नहीं, बल्कि 'श्रम के शोषण' के लिए उत्पादक द्रव्यों के काम आने वाली निजी स्वामित्व के राज्य बंधपत्र या राज्य द्वारा संचालित बचत बैंकों के निक्षेपों की भी अनुमति है और उनको बहुत प्रोत्साहित किया जाता है।

आर्थिक प्रेरणाएँ

सोवियत अर्थतंत्र की दूसरी मूलभूत बात यह है कि व्यक्तियों को प्रयास करने, प्रवीणता प्राप्त करने और उसका पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए प्रभावी तरीका आर्थिक प्रेरणा देना है। व्यक्ति के द्वारा बढ़े हुए उत्पादन के साथ व्यक्ति की आय को जोड़ देने को औद्योगिक कामगर, या राज्य या सामूहिक संस्थाओं के किसान के लिए अपनी उच्च संभाव्य प्रवीणता के साथ काम करने के लिए विश्वस्त तरीका माना जाता है और इसी तरह कारखाने, भंडार या कार्य के प्रबंध को भी अपने प्रबंध की यूनिट में ज्यादा उत्पादिता बढ़ाने के लिए प्रेरित किया जाता है। कामगर जनसंख्या के सभी क्षेत्रों में अनुपूरक गैर-आर्थिक उद्दीपन रखे जाते हैं, पर वे स्पष्टतः प्राथमिक नहीं हैं।

फिर यही सही मार्क्सवाद है। एक समाजवादी समाज में मार्क्सवादी सिद्धांत के अधीन यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति अपने अभिप्रेरणों में अभी बिलकुल समाजीकृत है और काम करने की प्रेरणाओं को इस वास्तविकता के अनुकूल ही चलना चाहिए। इस तरह सोवियत कामगर तथा प्रबंधकों के मजदूरी और वेतन-संबंधी अभिप्रेरण हमारे अर्थतंत्र के कामगरों और प्रबंधकों के जैसे ही हैं। फिर भी हमारे अर्थतंत्र के 'लाभ अभिप्रेरण' वाली बात इसमें नहीं है। 'लाभ का अभिप्रेरण' प्रबंधकों के निर्णय लेने के आधार के रूप में सोवियत संघ में विद्यमान नहीं है। इसके स्थान पर आर्थिक आयोजना है।

उत्पादिता के संचय

कार्यकुशलता के ऊपर तीव्र आग्रह सोवियत अर्थतंत्र के समग्र उत्पादन-प्रयासों का मूल मंत्र है। यह जो एक मूर्त्त स्वरूप ग्रहण करता है, वह तथाकथित 'उत्पादकता के संचयों' के लिए सोवियत संघ द्वारा की जाने वाली खोज है। उनके प्रशासकों, प्रबंधकों और आयोजकों के लिए 'उत्पादकता का एक संचय' विद्यमान रहता है, या तो (१) उस समय अनुपयुक्त सामग्री, मशीन या जन घंटों को उत्पादन-प्रक्रिया में अतिरिक्त अंतर्वेशन के रूप में इस्तेमाल करने की संभावना रहती है या (२) किसी मशीन या प्रतिकर का निकाय उसमें लगने वाली किसी अंतर्वेशन मद को बिना बढ़ाए हुए ही बढ़ाया जा सकता है। दोनों में से प्रत्येक मामले में नए संसाधनों की नई उत्पादन तकनीकों से नहीं, बल्कि विद्यमान उत्पादी संसाधनों से नया उत्पादन या बढा हुआ उत्पादन पैदा किया जाता है। जहाँ ऐसी संभावनाएँ खोज निकाली जाती हैं और उनको इस्तेमाल में लाया जाता है, अतिरिक्त लागत के बिना अतिरिक्त उत्पादन होने लगता है। 'उत्पादिता के संचय' की यह संकल्पना और उसका उत्पादन प्रक्रियाओं

पर लागू किया जाना सोवियत अर्थतंत्र के लिए उतना ही ज्यादा-ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता जाएगा, जैसे सोवियत सामग्री और मानव-संसाधन ज्यादा पूरी तरह से काम में लगते जाएँगे। एक अर्थ में 'उत्पादिता के संचय' का पता लगाना और काम में लाना, न कुछ में से कुछ निकाल लेना है और इस तरह उत्पादन बढ़ाने का यह एक बहुत ही श्रेष्ठतम साधन माना जाता है। इसके जिस एक चरण पर बार-बार जोर दिया जाता है, वह है हर उद्योग पर यह दबाव कि कम कार्यकुशल उपक्रमों को सर्वाधिक कार्यकुशल उपक्रमों-जैसा सक्षम बना दिया जाएगा।

आर्थिक आयोजना

सोवियत अर्थतंत्र एक आयोजित अर्थतंत्र है। इसका मतलब यही है कि अर्थतंत्र के सभी खंडों में, औद्योगिक संयंत्र और उसकी अंगभूत शाला तक विभिन्न निर्दिष्ट प्रयासों पर प्राप्त करने के लिए लक्ष्य तय कर दिए जाते हैं और आर्थिक प्रबंध हर स्तर पर उन तारीखों तक उन लक्ष्यों को पूरा कर देना चाहते हैं। लक्ष्य दीर्घकालीन, अल्पकालीन और तत्कालीन होते हैं। उनका संबंध दिए हुए संयंत्र या उद्योग से उत्पादनों के सकल निकास से ही नहीं होता, पर उत्पादन प्रक्रियाओं में सामग्री शक्ति आदि में विभिन्न प्रकार की बचतों से और उत्पादन के किस्म-सुधार से भी होता है।

यह आयोजना और आयोजना की पूर्ति की जाँच करने वाले इस संगठन का उद्योग, कृषि और वित्त के प्रशासनिक एवं प्रबंधक संगठन के साथ सह-अस्तित्व होता है। सर्वोच्च आयोजन निकाय राज्य आयोग समिति, राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् के साथ संलग्न है। इसके नीचे विशाल आयोजना-तंत्र है, जो अपनी विभिन्न परतों के बीच ऊर्ध्वाधर परस्पर-संबंध रखता है, विशुद्ध प्रशासनिक और प्रबंधक संगठन के साथ सभी स्तरों पर क्षैतिज परस्पर संबंध रखता है और उन स्थानीय आयोजना निकायों के साथ प्रादेशिक परस्पर संबंध रखता है, जो भूमि-उपयोग और नगर-विकास आदि की आयोजना बनाते हैं।

आयोजना एक व्यापक और विशद् सांख्यिकीय आधार पर खड़ी होती है। दीर्घ आयोजनाओं के मामले में आयोजना साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति की प्रेसीडियम (और स्वतः केंद्रीय समिति) के साथ शुरू होती है, जो बताए गए किसी भावी साल तक प्राप्त किए जाने वाले स्थूल उद्देश्यों को तय करती है। राज्य आयोजना समिति और उसके अधीनस्थ निकायों : इन उद्देश्यों के उद्योग, उपक्रम, संयंत्र आदि के लक्ष्यों के रूप में खंड किए जाते हैं और फिर उनको निचले आर्थिक एककों के पास विचार एवं सुझाव के लिए भेजा जाता है। निचले अभिकरण से आलोचना तथा प्रति-प्रस्ताव आ जाने पर एवं राज्य आयोजना समिति तक उनके

पूरी तरह जोड़े जाने के बाद अंतिम आयोजना को समिति द्वारा बनाया जाता है और दल तथा सरकार द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है। वार्षिक और तिमाही आयोजनाओं की शृंखला का निरंतर पुनरीक्षण होता रहता है और वे ही यह बताती हैं कि किन चरणों से अर्थ-व्यवस्था दीर्घकालीन आयोजना को पूरा करना चाहती है।

प्रसामान्यक

खोजे गए 'उत्पादिकता के संचयों' की संभाव्यताओं को पाने की लगातार चेष्टा करने के लिए और आयोजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उद्योग, कृषि, व्यापार आदि में लाखों प्रसामान्यक काम में आते रहते हैं। एक प्रसामान्यक सामग्री, श्रम, शक्ति आदि की मद या मदों के कुछ अंतर्वेशन और दूसरी ओर उनके फलस्वरूप प्रत्याशित निकास के बीच एक परिकल्पित रिश्ता ही होता है। उदाहरण के लिए एक जूता कारखाने के तले काटने वाले विभाग के लिए यह प्रसामान्यक तय किया जा सकता है कि तले वाले चमड़े के प्रत्येक १० वर्ग फीट में से निर्दिष्ट आकार के जूते के ५० तले निकलने चाहिए। जबतक कटाई विभाग इस प्रसामान्यक को पूरा करता है या इससे ज्यादा निकाल लेता है, तब तक यह माना जाएगा कि काम संतोषजनक रूप में चल रहा है। जैसे ही यह कम हो जाता है, पड़ताल और सुधार करना उचित हो जाएगा। यह स्पष्ट है कि श्रम, मशीनों और संयंत्र के प्रबंध से कार्यकुशलता की ज्यादा-ज्यादा प्रत्याशाओं तक इन प्रसामान्यकों का लगातार समंजन करते हुए कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए लगातार दबाव डाला जाता रहता है। अतीत की औसत सफलता से ज्यादा प्रसामान्यक रखकर 'उत्पादिता के संचय' को निकालने के लिए दबाव पैदा कर दिया जाता है।

भौतिक और वित्तीय संकल्पनाएँ

इस बात पर ध्यान देना खास तौर पर महत्त्वपूर्ण है कि 'उत्पादिता संचय' की संकल्पना के उपयोग में, आयोजना के लक्ष्य तय करने में और प्रसामान्यक तय करने और संशोधित करने में सोवियत प्रबंधक इंजीनियर तथा आयोजक प्रथमतः भौतिक सामग्रियों, श्रम समय की इकाइयाँ, मशीन के समय की इकाइयों एवं ऐसी ही दूसरी चीजों को लेते हैं। उत्पादिता का एक संचय विद्यमान होता है, जिसके अनुसार इतने श्रम घंटों, अमुक-अमुक भौतिक सामग्रियों के इतने टन, बिजली के इतने किलोवाट घंटों और अमुक साज-सामान या मशीनों के अंतर्वेशन या सम्मिलन से इतना ज्यादा भौतिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। बुनियादी तौर पर आयोजना के लक्ष्य माल के निकाय की भौतिक इकाइयों के रूप में होते हैं और प्रसामान्यक भौतिक चीजों की मात्राओं के बीच संबंध के रूप में होते हैं। प्रबंध और नियंत्रण के प्रयोजन से अंतर्वेशनों तथा फलस्वरूप हुए निकास की कुछ मात्राएँ सामग्री, श्रम,

उत्पादन आदि के रुपयों के मूल्य रूप में व्यक्त की जाती है। पर बुनियादी हिसाब, आयोजनाएँ और प्रसामान्यक भौतिक चीजों की मात्राओं के रूप में होते हैं।

भौतिक चीजों पर ये आग्रह उस सोवियत सिद्धांत को अमल में लाना है कि किसी भी उपयोगी चीज के उत्पादन में रोक लग जाना या उसका हो जाना कभी मुद्रा-संबंधी या वित्तीय आधार पर नहीं होने देना चाहिए और जब तक उसके उत्पादन के लिए जरूरी भौतिक संसाधन उपलब्ध हों। सोवियत आयोजक और प्रशासन की चिंतन-पद्धति के अनुसार उत्पादन के ऊपर असली बंधन वित्तीय नहीं होते, बल्कि सीमित भौतिक उत्पादक संसाधन होते हैं। इसलिए उत्पादन की वित्त-व्यवस्था हो सकती है, इस प्रश्न को वे घोड़े के आगे गाड़ी रखने जैसा मानते हैं। वे इस आधार पर फैसला करते हैं कि उत्पादन के लिए कौन-कौन से भौतिक संसाधन उपलब्ध हैं, उनका प्रयोग किन लक्ष्य-उत्पादनों के लिए करना चाहिए और फिर अपनी मुद्रा-संबंधी तथा वित्तीय साधनों एवं प्रक्रियाओं को वे उस लक्ष्य के लिए साधनों के रूप में इस्तेमाल करते हुए वे उत्पादन के अत्यावश्यक अंगों को समवेत करने के लिए जो भी वित्त-व्यवस्था जरूरी होती है, पैदा कर देते हैं और फिर वांछित लक्ष्य-उत्पादन को प्राप्त करने के लिए उनका प्रति-संस्कार करते हैं। इस तरह उनका कहना है कि जिन उत्पादनों की जरूरतें हैं और जिनके लिए भौतिक संसाधन उपलब्ध हैं, उनको पैदा करने में उत्पादन लागत के लिए जरूरी पैसे की कमी के कारण ही कभी बाधा नहीं पड़नी चाहिए।

लेखाओं और लक्ष्यों का विलय

सोवियत अर्थतंत्र के लिए यह संभव है कि उत्पादन की भौतिक संभावनाओं को यह पूर्वता प्रदान की जाए और उसकी वित्तीय व्यवस्था को इस समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में खाता रखने की प्रक्रिया के स्वरूप के अनुसार अनुकूलित किया जाए। व्यक्तिगत उपक्रमों, अभिकरणों, उद्योगों, भंडारों, फर्मों आदि के सभी लेखे अंततः एक बड़े लेखे में विलीन हो जाते हैं। इसमें 'लाभ-हानि' के एक शेष का ही अंतिम महत्त्व होता है। इस तरह अर्थतंत्र के किसी खंड में हुए वित्तीय घाटे को अर्थतंत्र के किसी दूसरे हिस्से में होने वाले वित्तीय अतिरेक से ठीक किया जा सकता है और इस तरह समूचे अर्थतंत्र के लिए शुद्ध शेष निकाला जा सकता है, जो अंतिम महत्त्व की मद होता है। यह उसी बात को राष्ट्रीय स्तर पर करना है, जैसाकि अनेक विभागों वाला एक अमेरिकी निगम करता है। अनेक विभागों के काम का आखिरी 'लेखा पूरे निगम के हिसाब से बनवा कर वह लाभ-हानि किसी भी जगह हुई हो, इसका ध्यान दिए बिना वह हानियों को लाभों के साथ संतुलित कर लेता है। इस तरह सोवियत

लेखाओं का एक विशाल लेखा में विलय कर देने से अर्थतंत्र के अलग-अलग खंडों में उत्पादन के विशुद्ध वित्तीय बंधन दूर कर दिए जाते हैं। फिर भी इससे इस बात पर असर नहीं पड़ता कि जब अर्थतंत्र की किसी खास जगह पर वित्तीय घाटा आता है, तो हानि को स्वतः खतरे का संकेत और इस पड़ताल का अवसर मान लिया जाता है कि किसी भौतिक कार्यकुशलता के आड़े आने वाला कोई ऐसा कारण तो नहीं है, जिसमें सुधार करना आवश्यक है।

इन सिद्धांतों को एक कदम आगे ले जाएँ, तो इनमें यह अर्थ निकलता है कि सोवियत अर्थतंत्र का कोई भी कृतकारी अंग समूचे अर्थतंत्र के आयोजित लक्ष्यों के अधीनस्थ रह जाता है और उनके साथ उसकी तालमेल रखी जाती है। इस तरह अर्थतंत्र के वित्तीय खंड वित्तीय प्रणाली में ही प्रथमतः महत्त्व वाले लक्ष्यों और उद्देश्यों के रूप में आचरण नहीं कर सकते। इस तरह रेलवे प्रणाली, या इस्पात-उद्योग, कृषि या वस्त्र-उद्योग अपने-अपने द्वारा अपने-अपने लिए-दिए गए निदेशों के अनुसार ही नहीं चल सकते और न उनको उनके अपने ही वित्तीय घाटों या अभिलेखों से आँका जा सकता है। अर्थतंत्र के हर एक खंड के उद्देश्य और कार्यसंचालन, चाहे वह खंड कितना ही विशाल और कितना भी छोटा क्यों न हो, उन सामान्य सामाजिक उद्देश्यों से अलग नहीं सोचे जा सकते, जिनकी ओर समूची प्रणाली के कार्यकलाप चलाए जाते हैं। चुने हुए सामाजिक लक्ष्यों की ओर एक रूप कार्य के इस बुनियादी तत्त्व को समझने के लिए उन लोगों को काफी प्रयास करना पड़ता है, जिनकी शिक्षा-दीक्षा ऐसे अलग-अलग, स्पर्धी उपक्रमों, उद्योगों, उद्योग श्रेणियों वाले पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में हुई है, जिसमें प्रत्येक स्वतः स्थापित वित्तीय लाभ के लक्ष्यों को लेकर चलता है और परस्पर-संबद्ध वैयक्तिक कार्य के योग से ही विशद नतीजे का निर्धारण किया जाता है।

आर्थिक सुधार

अगर छात्र सोवियत अर्थतंत्र की ऊपर बताई गई मोटी-मोटी बातों को समझ ले, तो फिर वह यह भी जान सकेगा कि उन्होंने सोवियत संघ में भारी सुधारों के नाम पर होने वाले आर्थिक परिवर्तनों के लिए एक प्रवृत्ति ही पैदा कर दी है। आगे चल कर औद्योगिक, कृषि और वित्तीय संगठनों तथा संचालन में बहुत से भारी-भारी और आकस्मिक परिवर्तनों की चर्चा की जाएगी। यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ये परिवर्तन सोवियत अर्थतंत्र की कुछ विशिष्ट प्रकार की गतिशीलता का निरूपण करते हैं। इस अर्थतंत्र का हमें आज जो ज्ञान है, वह अब हमें बताता है कि यह स्थिर, नौकरशाही, लालफीते की प्रक्रिया-संबंधी गुत्थियों वाला अर्थतंत्र नहीं है, जिसमें हम बड़े अर्थतंत्र की ओर प्रगति का रास्ता ही भूल जाएँ।

हालांकि बाहर के प्रेक्षक ठीक-ठीक प्रक्रिया को अभी पूरी तरह नहीं समझ पाए हैं, पर उच्च सरकारी और दलीय अभिकरणों ने सोवियत अर्थतंत्र के विशिष्ट गतिरोधों और परेशानी पैदा करने वाले स्थलों का पता लगाने के और उनको दूर करने की दिशा में बढ़ने के साधनोपाय विकसित कर लिए हैं। अर्थतंत्र का कृषिखंड हमेशा से पिछड़ा रहा है, इसलिए हाल में अधिकांश सुधार उसी खंड में केंद्रित रहे हैं। तथापि उद्योगों और वित्तीय संस्थाओं में भी बड़े भारी-भारी सुधार किए गए हैं।

ये सुधार काफी एकरूप प्रक्रिया के ढाँचे पर किए गए हैं। संभवतः समाचारपत्रों में आलोचना करने वाले पाठकों के पत्रों के छपने से और साम्यवादी दल की दूरवर्त्ती शाखाओं से स्पष्ट प्रतिवेदन पाने के बाद दल के चोटी के नेता अर्थतंत्र के कुछ विशिष्ट संगठनात्मक या संचालनात्मक स्वरूप में सुधार की जरूरत समझने लगते हैं। दल के या सरकार के चोटी के अधिकारी के किसी भाषण में समस्या को थोड़ी-बहुत मान्यता देना और उनके समाधान के बारे में अस्थायी विचार सुझाना शामिल हो सकता है। साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के प्रेसीडियम में समस्या की ओर ध्यान दिया जाता है। फिर प्रेसीडियम समस्याविशेष के बारे में कुछ 'थीसिस' सार्वजनिक रूप से ऐसी गैर-तकनीकी भाषा में प्रचारित करती है, जिसे उसमें सबसे ज्यादा संबद्ध लोग ठीक-ठीक तरह से समझ लें। इन थीसिसों में सीधे-सीधे बताया जाता है कि समस्या क्या है, उसमें सुधार की जरूरत क्यों है, उसके समाधान का एक तरीका सुझाया जाता है और स्थानीय दल एवं दूसरे वर्गों को सुझाए गए तरीके के बारे में तथा उसमें प्रस्तावित परिवर्तनों के बारे में चर्चा करने और अपनी राय प्रकट करने के लिए कहा जाता है। इन सार्वजनिक चर्चाओं के बाद उस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रेसीडियम आखिर में ब्यौरेबार सुधार के उपाय तैयार करती है। इसे दल की केंद्रीय समिति के पास भेज दिया जाता है, जहाँ दल के नेताओं के कहीं बड़े वर्ग द्वारा उनकी चर्चा की जाती है और ब्यौरों में कुछ हेर-फेर किए जा सकते हैं, प्रस्ताविव सुधार के उपाय फिर सुप्रीम सोवियत के पास कानून बनाने के लिए भेज दिए जाते हैं। वस्तुतः इन सुधारों को करने का ढाँचा इतना सरल नहीं होता, जैसी कि इस वर्णन से ध्वनि निकल सकती है। समस्या के पहले सार्वजनिक सरकारी निरूपण के पहले या दौरान नए संगठनात्मक या संचालनात्मक साधनों से संबंधित प्रशासनिक अभिकरणों द्वारा सीमित मात्रा में कुछ ही प्रयोग में लाए जाते रहते हैं। फिर चूँकि 'थीसिस' की घोषणा से अंतिम सुधार के उपायों के बुनियादी स्वरूप का काफी स्पष्ट रूप से पता चल जाता है, इसलिए उस दिशा में परिवर्तन प्रशासनिक आर्थिक अभिकरण द्वारा सुधार के उपायों के बारे में सुप्रीम सोवियत द्वारा कानून बनाने से पहले ही शुरू कर दिए जाते हैं।

आर्थिक विकास

व्यक्ति के आर्थिक अभिप्रेरणों, उत्पादिता के संचय, उत्पादन प्रसामान्यकों, आर्थिक आयोजना, भौतिक उत्पादन के आगे वित्तीय बातों को छोटा मानने, लेखाओं के विलय, अर्थतंत्र के सभी खंडों को राष्ट्रीय सामाजिक उद्देश्यों के अधीनस्थ मानने और भारी आर्थिक सुधार करने की उनकी प्रणाली की अभिवृत्तियों पर सोवियत संघ में जो आग्रह किया जाता है, वह तेजी से आर्थिक विकास करने के सबसे प्रमुख आंदोलन में आकर समेटा जाता है। इस अंतर्लीन संकल्पना में सोवियत अर्थतंत्र के बुनियादी लक्ष्य शामिल रहते हैं। सैन्यशक्ति के बाद संभवतः सोवियत संघ के चरम लक्ष्यों के शिखर में दूसरा स्थान तेजी से आर्थिक विकास को ही दिया जाता है। अगर उसके वर्त्तमान नेताओं के वक्तव्य सत्यनिष्ठ हैं, तो सैन्यशक्ति भी एक चालू उद्देश्य है, आखिरी चरम उद्देश्य नहीं। तब तो तेजी से आर्थिक विकास का ही भविष्य में अनिश्चित काल तक के लिए आर्थिक लक्ष्यों की एकमात्र अभिव्यक्ति समझा जाएगा।

इस तरह पूर्वता देने के अनेक कारण हैं। सोवियत संघ में साम्यवादी शासन गरीबी में शुरू हुआ और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तक उस हालत में चलता रहा। इसलिए इस बात को बिल्कुल समझा जा सकता है कि जनता के मौलिक जीवन-स्तर बढ़ाने की अपनी योग्यता के अनुरूप चालू शासन सफल या असफल हो सकेगा। सोवियत संघ के वर्त्तमान नेता इस बात को पूरी तरह से जानते हैं कि अब राष्ट्रीयता के रूप में आगे आने वाले विश्व के अल्पविकसित राष्ट्रों की जनता में साम्यवादी विचार-धारा के प्रति आकर्षण बहुत कुछ सोवियत संघ में आर्थिक विकास में तेजी की मात्रा पर निर्भर करेगा। इस प्रसंग में यह अनिवार्य है कि उनके दृष्टिकोण से लगातार आर्थिक विकास की ऐसी दर दिखाई जाए, जो सबसे महत्त्वपूर्ण पूँजीवादी राष्ट्रों की औसत विकास-दर से ज्यादा हो। साथ ही, सोवियत संघ में आर्थिक विकास को जितनी तेजी से प्राप्त किया जाएगा, सभी जनता के जीवन-स्तर पर ज्यादा लागत आए बिना अल्पविकसित और तटस्थ राष्ट्रों को आर्थिक मदद देने की संभावनाएँ भी उतनी ही बढती जाएँगी। फिर आज के सोवियत नेता अपनी समाजवादी प्रणाली को पूरे साम्यवाद के रूप में विकसित करने का जो सपना देखते हैं, वे समझते हैं कि उस दिशा में भारी विकास के लिए पूर्वापेक्षा यह है कि तेज आर्थिक विकास के जरिए उपभोक्ता माल के उत्पादन में भारी विस्तार हो जाए।

आर्थिक विकास को दी जाने वाली पूर्वता सोवियत अर्थतंत्र के उन बहुत से पहलुओं को सुबोध बना देती है, जो अन्यथा पहेली बने रहते। उदाहरण के लिए औद्योगिक विस्तार की आयोजना बनाते समय लोहा और इस्पात, हल्की धातुओं,

बिजली शक्ति, रसायन, मशीनें, औजार और औद्योगिक साज-सामान जैसी बुनियादी औद्योगिक चीजों के ऊपर ज्यादा आग्रह किया गया है तथा कपड़ा, जूते, वस्त्र, फर्नीचर, निजी इस्तेमाल के लिए मोटरगाड़ियाँ आदि उपभोक्ता माल पैदा करने वाले उद्योगों पर कम आग्रह किया गया है। इस तरह उनके कुल उत्पादक संसाधनों का संयुक्त राज्य अमेरिका में हम जिसे वांछनीय समझने लगे हैं, उसकी तुलना में कहीं ज्यादा हिस्सा पहले वर्ग को दिया जाता है और कहीं कम दूसरे वर्ग को। वे उत्पादक संसाधनों को लगातार कहीं ज्यादा उदार रूप में उत्पादक द्रव्यों के ऊपर खर्च करते हैं और कहीं ज्यादा कंजूसी के साथ उपभोक्ता द्रव्यों के ऊपर। उनका सिद्धांत यह है कि जब तक जनता बढ़ते जीवन-स्तर के रूप में अर्थतंत्र की बढ़ती उत्पादकता का कहीं छोटा हिस्सा पाकर ही निष्क्रिय रूप से संतुष्ट बनी रहती है, तब तक ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा ज्यादा कारखानों, रेलों, बिजली संयंत्रों और उसी तरह के दूसरे भारी, बुनियादी उत्पादक द्रव्य सुविधाओं के ऊपर निवेश करने में लगाया जाना चाहिए। उनका यह विचार है कि भविष्य में दूरव्यापी तेज आर्थिक विकास को लाने का एक निश्चयात्मक तरीका यह है कि इस समय उत्पादक संसाधनों के ऊपर खर्च करने पर जोर दिया जाए, जिससे 'भविष्य में उत्पादन' बढ़ेगा न कि 'वर्त्तमान में उपभोग'।

तेजी से आर्थिक विकास और उसको अमल में लाने की आकांक्षा सोवियत अर्थतंत्र के दूसरे अन्य पहलुओं को भी स्पष्ट कर देती है। जैसा कि आगे चल कर चर्चा की जाएगी, उपभोक्ता द्रव्यों के दाम मशीनों, औजारों, साज-सामान और औद्योगिक साज-सामान आदि के दाम से उन-उन चीजों के उत्पादन में लगे संसाधनों की दृष्टि से तुलना में कहीं ज्यादा रखे जा सकते हैं। उपभोक्ता माल की खरीद पर इस कारण भारी कर लगाया जाता है और वह उपभोक्ता माल की माँग पर रोक लगाकर पूंजी सुविधाओं के विस्तार की वित्त-व्यवस्था करने का एक प्रमुख साधन है। उत्पादक माल की उत्पादन आयोजनाओं की पूर्ति की तुलना में ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसलिए अगर अदृश्य कठिनाइयाँ, गतिरोध या अनचाहे विकास किसी आर्थिक आयोजना के सभी खंडों की पूर्ति की संभावनाएँ कम कर देते हैं, तो अल्पकालीन समंजन कर लिए जाते हैं जो कुल मिला कर उपभोक्ता द्रव्यों की वजाय उत्पादक द्रव्यों के उद्योगों की कमी पूरी कर देते हैं। उपभोक्ता माल का विज्ञापन मामूली पैमाने पर किया जाता है। यह बढ़ती हुई उपभोक्ता माल की माँग को टालता रहता है, जो उपभोक्ता द्रव्यों के उत्पादन की दिशा में संसाधनों के ज्यादा लगाए जाने के लिए लाचार कर सकती है। अनार्थिक पुरस्कार या सम्मान देकर पैसे से मिलने वाली मजदूरी के अलावा अनुपूरक अभिप्रेरण लगातार दिए जाते हैं

और कौन ज्यादा उत्पादन कर सकता है, इसके लिए 'समाजवादी स्पर्धा' भी चलती रहती है और वह भी केवल यह जानने के लिए कि कौन ज्यादा उत्पादन कर सकता है।इस तरह के तरीकों से उपभोक्ता द्रव्यों के उत्पादनों के लिए संसाधन नियत करने के दबाव को कम कर दिया जाता है।

संभवतः आर्थिक विकास का स्वतः कोई आखिरी या अंतिम महत्त्व नहीं होता। किसी भी विचारधारा में इसका अंतिम मूल्य तभी होता है, जब एक समय इसका प्रतिफल जनता के भौतिक जीवन-स्तर के विस्तार के रूप में निकलता है। आर्थिक विकास के इस पहलू के बारे में सोवियत नेताओं के मन में क्या बात है, इसके बारे में कल्पना करना बड़ा दिलचस्प है। वे कितने समय तक जनसमूह के जीवन-स्तर की संभाव्य वृद्धि की कीमत चुकाकर बिजली संयंत्रों आदि को औद्योगिक आधार पर बढ़ाते रहना चाहते हैं—एक दशक, दो दशक या तीन? यह सोवियत प्रणाली का एक वर्त्तमान अपारगम्य रहस्य है। फिर भी इस मामले में वर्त्तमान नीतियाँ जितनी भी देर तक चलायी जाती रहेंगी, तो फिर जब कभी उपभोक्ता माल के उत्पादन की दिशा में नीति बदली जाएगी, उस समय उपभोक्ता द्रव्यों के उत्पादन का उतनी ही ज्यादा तेजी से विस्तार किया जा सकेगा। तो क्या सोवियत संघ चालू आग्रह के जरिए सन् १९७० या १९८० ई० के बाद सहसा उपभोक्ता माल का अपार भंडार पैदा करने के एक नाटकीय प्रतिफल की प्राप्ति के लिए तैयारी कर रहा है? अगर ऐसी बात है, तो ऐसी घटना के विश्वव्यापी प्रभाव का अंदाज लगाने के लिए किसी भी कल्पना की जरूरत नहीं है।

आर्थिक आँकड़े

सोवियत अर्थतंत्र का कुछ ब्यौरों के साथ विश्लेषण करने में यह वस्तुतः जरूरी है कि आर्थिक उपलक्षण के सांख्यिकीय उपायों की ओर ध्यान दिया जाए। इन आँकड़ों की शुद्धता के बारे में तत्काल एक वैध प्रश्न उठ खड़ा होता है। यह स्पष्ट है कि इस बारे में बड़ी सतर्कता से काम लेने की जरूरत है; क्योंकि बुनियादी बात यह है कि सोवियत अर्थतंत्र के बारे में भी सभी आँकड़ों-संबंधी रिपोर्ट एक ही जगह से उद्भूत होती रहती है—सोवियत सरकार या साम्यवादी दल। सोवियत संघ में स्वतंत्र रूप से सामग्री इकट्ठे करने वाले अभिकरण नहीं हैं, जैसे कि हमारे देश में भारी मात्रा में हैं, जिससे एक स्रोत की जाँच दूसरे के साथ की जा सके। साथ ही प्रचार करने के बारे में सोवियत सरकार या साम्यवादी दल की अभिवृत्तिको सभी जानते हैं। इसके अलावा जब किन्हीं विषम मदों का सामासिक मात्रात्मक आँकड़ों में इकट्ठा किया जाता है और इसके अंगस्वरूप रूबल के दाम के आधार पर अलग-अलग चीजों को इकट्ठा किया जाता है, तो रूबल में दाम लगाने का मनमाना

तरीका हमें ठहर कर सोचने के लिए मजबूर कर देता है। दूसरी ओर सोवियत सरकार द्वारा निकाले गए आँकड़ों की बहुत सी मालाओं की गहरी छानबीन और प्रति-जाँच सोवियत अर्थतंत्र में रूचि लेने वाले अनेक ब्रिटिश तथा अमेरिकी विद्वानों द्वारा की गई है कि अनेक मामलों में उनकी परिशुद्धता एवं उसमें समंजन की जरूरत के बारे में एक निश्चायक फैसला करना बहुत कुछ संभव हो जाता है। जैसे-जैसे साल बीतते जाते हैं और सोवियत आर्थिक प्रगति लगातार चलती रहती है, सरकार और दल किए गए आर्थिक कार्य की जगह पर अत्युक्तिपूर्ण आँकड़े पेश करने की कम जरूरत अनुभव करने लगते हैं।

संभवतः सोवियत आँकड़ों का यथासंभव ठोस मूल्यांकन सोवियत आर्थिक मामलों के एक प्रवीण ब्रिटिश विश्लेषक श्री अलेक नोवे द्वारा किया गया है। उसके निष्कर्षों का सारांश है कि (क) औद्योगिक निकास (बहिर्वेशन) की दत्त-सामग्री अगर भौतिक रूप में है (रूबल में नहीं) तो वह काफी विश्वसनीय होती है और उनको 'सावधानी' के साथ मंजूर कर लेना चाहिए 'अविश्वसनीय' नहीं ठहराना चाहिए; (ख) कृषि आँकड़े तुलना में कुछ कम विश्वसनीय होते हैं, जिसके कई कारण हैं और उसमें वर्त्तमान शासकों द्वारा कृषि निकास बढ़ाने की कमजोरी को प्रकट करने की हिचकिचाहट भी शामिल है; और (ग) औद्योगिक निकास तथा राष्ट्रीय आय को मानने वाले देशनांक, चूँकि वे रूबल में मूल्यों पर आधारित अंगभूत चीजों के मिले-जुले रूप में होते हैं, वे कम विश्वसनीय होते हैं। लेकिन, वर्त्तमान समय में वे केवल गढ़े हुए ही नहीं होते हैं।[1] यह कहने की जरूरत नहीं है कि आगे आने वाले अध्याय में सर्वाधिक विश्वसनीय आंकड़ों का पता चलाने के लिए सतर्कता बरती गई है। जिनको उद्धृत किया गया है, वे जिस प्रयोजन से आए हैं, उसके लिए उनको काफी परिशुद्ध मान लेना चाहिए।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. कुछ उद्योग राष्ट्रीय सरकार द्वारा सीधे-सीधे प्रबंध में क्यों चले आ रहे हैं?

२. सोवियत संघ में 'निजी संपत्ति' की क्या प्रतिष्ठा है?

३. क्या सोवियत संघ में अभिप्रेरण 'आर्थिक व्यक्ति' की संकल्पना पर आधारित है?

---

[1] देखिए गरहार्ड कौम, कम्पेरिजंस ऑफ दि युनाइटेड स्टेट्स एँड सोवियत इकोनॉमीज, भाग २, संयुक्त आर्थिक समिति की रिपोर्ट, संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस, वाशिंगटन, सरकारी मुद्रण कार्यालय, १९५९ ई०, पृष्ठ ५३२।

४. 'उत्पादिता का संचक (रिजर्व)' की संकल्पना को स्पष्ट करिए और बताइए कि इसका उपयोग कैसे किया जाता है ?

५. 'प्रसामान्यक' क्या होता है ? क्या इसे भौतिक रूप में व्यक्त किया जाता है या मुद्रा के रूप में ?

६. सोवियत अर्थतंत्र में वित्तीय की तुलना में भौतिक संकल्पनाओं को क्या प्रतिष्ठा दी जाती है ?

७. सोवियत लेखा-प्रणाली और हमारे अर्थतंत्र की लेखा-प्रणाली के बीच विशिष्ट अंतर क्या है ?

८. सोवियत अर्थतंत्र में परेशानी पैदा करने वाले स्थलों का पता कैसे चलाया जाता है और उनको कैसे ठीक किया जाता है ?

९. क्या तेजी से आर्थिक विकास ही सोवियत प्रणाली का चरम लक्ष्य है ?

१०. सोवियत आँकड़े कितने विश्वसनीय हैं ?

●

अध्याय २४

कृषि

सोवियत रूस के लगभग आधे श्रमिक कृषि उत्पादन में लगे हैं। यह तथ्य तथा कृषि उत्पादनों का औद्योगिक कच्चे माल और खाद्य-पदार्थों के रूप में बुनियादी महत्त्व—ये दोनों मिलकर इस उद्योग को सोवियत संघ के अर्थतंत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बना देते हैं। साम्यवादी क्रांति के समय रूस के कृषि क्षेत्र में बहुत पुराने तरीकों और उपकरणों का प्रयोग होता था। काश्त की अकुशल पट्टी पद्धति चालू थी। अत्यधिक रूढ़िवादी तथा भूमि जोतने वाले अनभिज्ञ किसान खेती के उन्हीं तरीकों का प्रयोग करते रहे, जो कि उनके पूर्वज पीढ़ियों से करते आए थे। काश्त की गई ६० प्रतिशत से अधिक भूमि पर राजा, गिरजाघर और अमीर भू-स्वामियों का अधिकार था, जिन्हें 'कुलक' कहा जाता था। ग्रामीण जीवन प्रायः वैसा ही चल रहा था, जैसा कि शताब्दियों से चला आ रहा था।

किसानों के लिए क्रांति का मतलब था 'भूमि-सुधार'। उन्होंने लगभग ४० करोड़ एकड़ ऐसी भूमि जब्त कर ली जिसे वे पहले जार, गिरजाघर और निजी जमींदारों के लिए जोतते थे। उन्होंने इस भूमि को छोटे-छोटे भूखंडों के रूप में अलग-अलग जोतना शुरू कर दिया। अनुमानतः ७० करोड़ गोल्ड रूबल (उस समय के लगभग ३२ करोड़ डालर के बराबर) वार्षिक लगान और जमींदार को श्रमिक संभरण करने एवं उसके देय वस्तुओं के रूप में चुकाने के दायित्व तथा कृषि बैंक के सारे बकाया ऋण रद्द कर दिए गए। यद्यपि सारी कृषि भूमि के स्वामित्व अधिकारों का फरवरी, १९१८ में राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, तो भी कृषक परिवारों द्वारा कृषि-भूमि के निजी इस्तेमाल में तत्काल कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया। परंतु, इस परिवर्तन से न तो किसानों को अधिक लाभ हुआ और न ही राष्ट्र को। १९२७ ई० में लगभग २.५ करोड़ छोटी-छोटी जोतों पर अनभिज्ञ किसानों द्वारा पुराने तरीकों से खेती-बाड़ी की जाती थी। वे उद्योगीकृत समाजवादी अर्थतंत्र के सफल निर्माण के लिए

अपेक्षित खाद्य-पदार्थ या औद्योगिक कच्चे माल का कभी भी संभरण नहीं कर सके। नई सरकार के नेताओं ने जल्दी ही फार्म के आकार को बढ़ाने और खेती तथा फसल की कटाई के लिए यंत्रों के प्रयोग की आवश्यकता महसूस की।

बीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी के अंत की ओर सरकार ने गंभीरता से कृषि के सामूहिकीकरण का कार्य शुरू किया। चूँकि अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में कुशाग्र बुद्धि और व्यवस्था करने की योग्यता भूतपूर्व कुलक वर्ग में थी, अतः सरकार को उनकी सहायता पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। परंतु, इसका प्रायः विरोध किया गया और किसानों पर कर लगाने के कुलकों के क्रांति के पूर्व के अधिकार पुनः स्थापित करने की चेष्टा की गई। इन वर्षों में सरकार की नीति राजाज्ञा द्वारा अनिवार्य सामूहिकीकरण और ऐसे सौमनस्य वाले उपायों के बीच बदलती रही, जिससे किसान सामूहिकीकरण कार्यक्रमों में स्वैच्छिक रूप से भाग लेने के लिए आकर्षित हो सके। पिछले प्रकार के उपाय प्रायः कारगर नहीं हुए और अनिवार्य रूप से लादे गए उपाय महँगे सिद्ध हुए—यहाँ तक कि सारे शासन को ही खतरा खड़ा हो गया।

वैयक्तिक फार्म इकाइयों को सामूहिक इकाइयों में संगठित करने के पहले कदम और ग्रामीण जनता के विरोध के परिणामस्वरूप सोवियत रूस के लगभग आधे सुअरों, एक तिहाई भेड़ों और बकरियों, लगभग एक तिहाई पशुओं और लगभग दो तिहाई मुर्गियों का चालू उपभोग द्वारा (उनके सामूहिकीकरण के विकल्प के रूप में) विनाश हो गया। किसानों ने अपने-अपने स्वामित्व के मवेशियों को सामूहिक फार्मों को, जिन्हें सरकार कृषि उत्पादन के लिए मूल इकाई के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थी, सौंपने की अपेक्षा स्वयं ही खाना पसंद किया। शुरू के इन अनुभवों के परिणामस्वरूप सामूहिक फार्म के व्यक्तिगत सदस्य किसान को सीमित पशु, सुअर, मुर्गियाँ तथा काश्त वाले छोटे खेत रखने और उससे लाभ प्राप्त करने के विशेष अधिकार दिए गए, जो कि आज उसे प्राप्त हैं।

व्यावहारिक रूप से कृषि का कारगर सामूहिकीकरण १९२८ ई० से संपन्न हुआ। उस वर्ष सोवियत रूस के कुल बोए गए क्षेत्र में से ९५ प्रतिशत से अधिक क्षेत्र में वैयक्तिक रूप से काम करने वाली इकाइयों द्वारा खेती-बाड़ी की गई। १९३२ ई० तक ६० प्रतिशत से अधिक किसानों की पारिवारिक जमीनों का सामूहिकीकरण किया जा चुका था। आज मामूली १ प्रतिशत को छोड़कर बाकी सारी काश्त राज्य फार्मों या सामूहिक फार्मों द्वारा की जाती है।

सोवियत शासन का मूल कृषि उद्देश्य सदा यही रहा है कि प्रति श्रम-घंटा और प्रति एकड़-उत्पादिता में पर्याप्त तथा तेज वृद्धि करना एवं वर्ग भेद तथा

ग्रामीण किसान, जिसने व्यष्टिवादी रहने की तीव्र इच्छा प्रकट की है, और नगरों तथा कसबों के औद्योगिक श्रमिकों के बीच के भेदभाव का उन्मूलन करना रहा है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया गया :—

१. कृषि उत्पादक इकाई के औसत आकार को बढ़ाना, ताकि बड़े पैमाने के कार्यों की वर्धित कार्यकुशलता का लाभ हो सके।
२. मानव या पशु शक्ति के स्थान पर यंत्रों और पुराने औजारों के स्थान पर काश्त तथा कटाई करने की आधुनिक मशीनों का प्रयोग करके कृषि उत्पादन का यंत्रीकरण करना।
३. वैयक्तिक अनुप्रयोग और वैयक्तिक प्राप्ति के स्थान पर श्रमिकों के सामूहिक अनुप्रयोग तथा उत्पादन की सामूहिक प्राप्ति का रखा जाना।
४. कृषि उत्पादन में विज्ञान के अनुप्रयोग को बढ़ावा देना, विशेषकर बेहतर उर्वरकों के विकास में बेहतर बीजों के चुनाव में और विशेष फसलों के लिए विशिष्ट भूमि की उपयुक्तता के वैज्ञानिक निर्धारण में।

सरकारी फार्म

प्रथम सरकारी फार्म क्रांति के शीघ्र ही बाद स्थापित किए गए। आज इनकी संख्या लगभग ६,५०० है और इनका औसत आकार लगभग २५,००० एकड़ है। यह भूमि राष्ट्र की कुल काश्त वाली जमीन की लगभग एक तिहाई है। वे अलग-अलग रूप से अनाज, सब्जियाँ, कपास, चीनी, चुकंदर, मांस या ऊन के उत्पादन में विशिष्ट काम करते हैं। फिर भी प्रत्येक फार्म से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने क्षेत्र में व्यक्तियों और पशुओं के वास्ते खुराक की व्यवस्था करने के लिए अन्य वस्तुओं का भी कुछ उत्पादन करे। कुछ सरकारी फार्म आदर्श फार्म हैं, जहाँ प्रयोगात्मक और प्रदर्शन का कार्य होता है, कृषिविशेषज्ञों के लिए प्रशिक्षण संस्थानों की व्यवस्था की जाती है तथा प्रजनक पशुओं एवं बीज की विशेष किस्मों का विकास किया जाता है। इनका लाभ सामूहिक फार्मों के साथ बाँट लिया जाता है। हाल ही में 'मास्को आलू और सब्जी न्यास' के अंतर्गत मास्को से १०० मील के घेरे के भीतर ३५ नए फार्म बनाए गए, जिनका प्रयोजन मास्को और उसके आसपास के नगरों में ताजा सब्जी की पर्याप्तता को बढ़ाना और उनकी कीमतों में कमी करना था। इसी प्रकार की एक प्रायोजना लेनिनग्राद के इर्द-गिर्द के क्षेत्र में चालू की गई है।

सरकारी फार्म वास्तव में एक 'कृषि कारखाना' है, जो कि एक प्रबंध-निदेशक की देखरेख में सरकारी उद्यम के रूप में चलाया जाता है। यह प्रबंध-निदेशक सामान्यतः तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त विशेषज्ञ होता है, जो कि उच्च सरकारी

एजेंसी के प्रति उत्तरदायी होता है। अक्सर एक ही क़िस्म के उत्पादन में विशिष्ट काम करने वाले कुछ फार्मों के वर्ग वनाकर उन्हें उच्चतर स्तर के प्रशासन के लिए 'न्यास' के रूप में कर दिया जाता है, जो कि संवंधित गणराज्य की लोक मंत्रिपरिषद् के एक मंत्रालय के अधीन होता है। प्रत्येक मामले में भूमि की स्वामी सरकार है और मशीनें, उपकरण, पशु तथा मजदूर साधारणतः निर्धारित मजदूरी पर फार्म में काम करने के लिए भाड़े पर लिए जाते हैं। सरकारी फार्म के कर्मचारियों को कारखानों के कर्मचारियों की तरह काम या विकास के बुनियादी प्रसामान्यक को पूरा करने अथवा उससे अधिक काम या उत्पादन करने पर अभिप्रेरण वोनस दिया जाता है। उन्हें मोटे तौर पर सवेतन लंबी छुट्टी, बुढ़ापा-पेंशन, वीमारी-लाभ और मजदूर संघ की सदस्यता प्राप्त करने के संवंध में वही अधिकार है, जो कि कारखाने के श्रमिकों को प्राप्त हैं। निदेशक की आय का कुछ भाग भी फार्म द्वारा उत्पादन प्रसामान्यक से अधिक होने पर निर्भर करता है। सरकारी फार्म अपने कर्मचारी को उसके निजी इस्तेमाल के लिए एक तिहाई एकड़ निजी भू-खंड देता है। वह कर्मचारी उसमें अपने लाभ के लिए खेती कर सकता है और उसमें अपना निजी मकान वना सकता है। चूँकि प्रत्येक सरकारी फार्म की स्वामी सरकार है और वही उसे चलाती है, अतः, उसकी जो कुछ भी उपज होती है, वह स्वतः सरकार की संपत्ति वन जाती है। सरकारी फार्म के इस्तेमाल के लिए रखे गए कुछ अंश को छोड़कर फार्म की सारी उपज कच्चे माल के रूप में निर्माण उद्योगों और खाद्य पदार्थ वनाने या वेचने वाली एजेंसियों को भेजी जाती हैं।

सामूहिक फार्म

सोवियत रूस में लगभग ५५,००० सामूहिक फार्म हैं और उनकी प्रति फार्म औसत जमीन लगभग ६००० एकड़ है। परंतु, ये फार्म ५,००० एकड़ या इससे कम भूमि से लेकर २५,००० एकड़ से अधिक भूमि में हैं। इन फार्मों पर लगभग ८ करोड किसान रहते हैं। प्रति फार्म पर लगभग १५०० किसानों की औसत आवादी रहती है। राष्ट्र के काश्त किए गए कुल क्षेत्र की लगभग तीन चौथाई जमीन इन फार्मों के पास है। सामूहिक फार्मों पर मूल स्वामित्व राष्ट्रीय सरकार का है, परंतु वैयक्तिक फार्म को इसके इस्तेमाल की मंजूरी स्थायी रूप से दी जाती है। प्रथम सामूहिक फार्म किसान-परिवारों के समूहों द्वारा स्थापित किए गए थे। जिस भूमि पर वे खेती करते थे, उन्होंने उस भूमि को तथा अपने उपकरणों और पशुओं को मिलाकर संयुक्त लाभ के लिए फार्मों की स्थापना की। इन परिवारों ने अपने निजी इस्तेमाल के लिए वहुत थोड़े उपकरण और पशु रखे। कृषि कार्यों में सामूहिक फार्म को वर्त्तमान प्रमुख स्थान दिलाने के लिए सरकार ने सन् १९२७ से १९३७ ई० तक

'सामूहिकीकरण आंदोलन' के दौरान अनेक प्रकार के दबाव डालने वाले तरीकों का प्रयोग किया। अधिकांश सामूहिक फार्म अपनी जमीन की उपयुक्तता के अनुसार विभिन्न कृषि उत्पादनों के लिए विशिष्ट काम करते हैं। परंतु, प्रत्येक फार्म से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सूखी घास, भूसा, पशुओं की खुराक, डेरी की वस्तुएँ, सब्जियाँ और मांस भी पैदा करने के लिए अपने काम का विशाखन करें।

संगठन और नियंत्रण

प्रत्येक सामूहिक फार्म उत्पादन इकाई होता है, जो कि कुछ सरकारी नियंत्रण के अधीन अपनी व्यवस्था अपने सदस्यों के लाभ के लिए स्वयं करता है, जो उसकी निवल आय को बाँट लेते हैं। इस संबंध में राष्ट्रीय सरकार ने एक 'आदर्श नियमावली' बनाई है, जिसका प्रत्येक 'सामूहिक फार्म के आंतरिक संगठन और प्रशासन को अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता है। जो मामले पूर्ण एकरूपता के लिए उपयुक्त नहीं हैं, उनमें उन्हें स्वयं निर्णय करने के कुछ अधिकार प्राप्त हैं। सामूहिक फार्म में सर्वोच्च आंतरिक सत्ता 'साधारण सदस्यों की सभा' के पास होती हैं, जो कि प्रबंध बोर्ड, फार्म अध्यक्ष और लेखा-परीक्षा समिति का चुनाव करती हैं, सदस्यता स्वीकार और रद्द करती है, कार्य या निर्माण आयोजनाओं का अनुमोदन करती है और (अनुमत सीमा के भीतर) सामूहिक फार्म के नियमों में संशोधन करती है। बहुत बड़े सामूहिक फार्मों में सामान्य सदस्य सभा का कार्य चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा करती है। सदस्य सभा की बैठकों के बीच की समयावधि में प्रबंध-बोर्ड सदस्यों की ओर से काम चलाता है और यह बोर्ड सदस्य सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। फार्म का अध्यक्ष फार्म के कार्य के दैनिक पर्यवेक्षण के लिए जिम्मेवार है और इस प्रकार फार्म के कार्यों को दक्षतापूर्वक चलाने की दृष्टि से उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हर दो वर्ष बाद चुनाव होते हैं, परंतु सामान्य सदस्य सभा किसी भी समय किसी भी निर्वाचन अधिकारी को निकाल या बदल सकती है।

यद्यपि इस प्रकार सामूहिक फार्म के परिचालन का प्रबंध अपने स्वरूप में लोकतंत्रात्मक और स्थानीय दिखाई देता है, परंतु व्यवहार में इसका महत्त्वपूर्ण नियंत्रण तीन तरह से होता है। पहले तो प्रत्येक फार्म अध्यक्ष सीधे या सामूहिक फार्मों के वर्ग के मध्यस्थ 'न्यास' की मार्फत कृषि मंत्रालय के अधीन होता है जो कि उस गण-राज्य की लोक मंत्रिपरिषद् का एक अंग है। विश्वास किया जाता है कि नियंत्रण की यह श्रृंखला औपचारिक नियंत्रण की सीमा को पार कर जाती है और फार्म के अध्यक्ष की नियुक्ति-जैसे महत्त्वपूर्ण मामलों में भी निदेश देती है कि किसे चुना जाए। दूसरे सोवियत रूस का आर्थिक आयोजना तंत्र उद्योग की तरह कृषि को भी आच्छादित

कर लेता है। अतः, प्रत्येक सामूहिक फार्म के कार्य और विकास के लिए लंबी अवधि और छोटी अवधि दोनों प्रकार की आयोजना होती है, जिसकी शर्तों पर इसका केवल सीमित नियंत्रण होता है। तीसरे साम्यवादी दल ने सफलता की न्यूनाधिक मात्रा के साथ हमेशा अपने संगठन को मजबूत बनाने और कृषि को प्रभावित करने की कोशिश की है। चूँकि विलय और विकास द्वारा सामूहिक फार्मों की संख्या कम हो गई है और उनका आकार बड़ा हो गया है, इसलिए अधिकांश फार्मों में सक्रिय पार्टी संगठन होता है। अनेक फार्मों के अध्यक्ष पार्टी के ही सदस्य होते हैं और इस प्रकार पार्टी का नियंत्रण कड़ा कर दिया गया है। इस प्रभाव को अमल में लाने का एक स्पष्ट उदाहरण पार्टी द्वारा १९५९ ई० में की गई विशेष नियंत्रण आयोगों की स्थापना है; जो कि व्यक्तिगत फार्मों के पार्टी सदस्यों के साथ यह सुनिश्चित करने के लिए गठित किए गए कि सर्वोच्च दल की इच्छा ही प्रभावशाली रहे।[1]

श्रमिक और उनका मुआवजा

सामूहिक फार्म के लिए श्रमिकों का संभरण उन किसान परिवारों द्वारा किया जाता है, जो कि उसके सदस्य होते हैं। फार्म का सदस्य अच्छी स्थिति के साथ बना रहने के लिए व्यक्तिविशेष के लिए मौसम के हिसाब से निर्दिष्ट समयावधि में सामूहिक फार्म की जमीन पर प्रति वर्ष कम-से-कम निर्धारित दिनों तक काम करना आवश्यक है। श्रमिकों को 'ब्रिगेडों' में संगठित किया जाता है और प्रत्येक ब्रिगेड का पर्यवेक्षण ब्रिगेड के नेता द्वारा किया जाता है। प्रत्येक ब्रिगेड फार्म के कार्यों के किसी-न-किसी पहलू में विशेषज्ञता प्राप्त करता है और प्रत्येक श्रमिक से विस्तृत समयावधि तक अपने ब्रिगेड में रहने की अपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार और विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए ब्रिगेड को 'कड़ियों' (लिंकों) में उपविभाजित किया जा सकता है। यह अनुमान किया जाता है कि सदस्य परिवारों में पुरुषों और महिलाओं के रूप में उपलब्ध मजदूर शक्ति का प्रयोग मुख्य रूप से सामूहिक फार्म के लिए किया जाएगा।

तथापि सदस्यों के लिए सदस्य परिवार के 'निजी भूखंड' के रूप में एक आकर्षक बहलाव भी रहता है। इस भूखंड का आकार उपजाऊ क्षेत्रों में आधा एकड़ और ऊसर क्षेत्रों में ढाई एकड़ तक होता है। यह एक विशेषाधिकार है, जो कि सरकार ने सामूहिक फार्म के सदस्यों को उनकी प्रबल व्यष्टिवादी प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए रियायत के रूप में दिया है। निजी भूखंड पर सदस्य परिवार का अपना मकान होता है, जो कि उसकी अपनी संपत्ति समझा जाता है और वह उसमें अपने इस्तेमाल के लिए निर्दिष्ट किस्म के और संख्या में पशुओं को पाल सकता है तथा अपने ही

---

[1] हेरी स्ववार्टज, दि न्यूयार्क टाइम्स, १२ जनवरी, १९६०।

उपयोग के लिए अनाज पैदा कर सकता है। वह अपनी उपज को अपने ही फायदे के लिए सामूहिक फार्म द्वारा चलाए गए गाँव या नगर के बाजार में बेच भी सकता है। इस परिवार के पास जमीन की काश्त के लिए अपेक्षित साधारण औजार भी होते हैं। निजी भूखंड सदस्य परिवार को काम करने की विशेष निजी प्रेरणा देता है; क्योंकि उसे यह आश्वासन मिलता है कि उसकी अपनी भूमि में अधिक पैदावार होने से केवल उसे ही लाभ होगा। निजी भूखंड के विशेषाधिकार का दुरुपयोग भी इस रूप में किया गया कि सामूहिक फार्म की जमीन पर अनधिकृत कब्जा करके उसका क्षेत्र बढ़ा लिया गया और सामूहिक फार्म की श्रम-संबंधी आवश्यकताओं की अवहेलना करके निजी भूखंड की काश्त पर सारी शक्ति लगाई जाने लगी। इससे उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए निजी भूखंड के आकार की सीमा सख्ती के साथ निर्धारित कर दी गई है और सामूहिक फार्म में निर्दिष्ट न्यूनतम श्रम का दायित्व सदस्यों पर लगा दिया गया है।

सामूहिक फार्म पर काम करने के लिए सामूहिक फार्म के सदस्य को मुआवजा देने का तरीका इस समय संक्रमण की स्थिति में है। जो तरीका सामूहिक फार्म शुरू होने के समय से चल रहा है वह 'श्रम दिन इकाई' कहलाता है और नया तरीका जो कि चालू किया जा रहा है 'गारंटीकृत नकद मजदूरी पद्धति' है। आसान-से-आसान शब्दों में 'श्रम दिन इकाई' पद्धति इस प्रकार काम करती है : प्रत्येक सामूहिक फार्म द्वारा फार्म की उपज में से कुछ अनिवार्य अंशदान सरकारी उपार्जन एजेंसियों को प्रायः बहुत कम कीमत पर देना पड़ता है। निर्माण और खाद्य संस्करण उद्योगों की कच्चे माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामूहिक फार्म की उपज में से इन अंशदानों या संग्रहों पर सरकार का निश्चय ही पहला दावा रहा है। प्रत्येक उपज का कुछ हिस्सा मशीन ट्रैक्टर केंद्र (इसका वर्णन बाद में किया जाएगा) को देना पड़ता है। यह सामूहिक फार्म के रोपण, जुताई और कटाई-संबंधी कार्यों के वास्ते बिजली के उपकरणों की व्यवस्था करने के लिए दिया जाता है। फसल का कुछ दूसरा अंश बीज के लिए अलग रखना पड़ता है। फार्म की वार्षिक उपज या उसकी बिक्री में हुई आय में से कुछ अंश बीमा किश्तों, स्टेट बैंक के ऋणों पर ब्याज या मूल धन चुकाने, सांस्कृतिक और परस्पर सहायता के प्रयोजन के लिए फार्म की निधि में अपेक्षित अंशदान देने, फार्म की अविभाज्य निधि (इसका वर्णन बाद में किया जाएगा) में भुगतान करने और प्रशासन-व्यय के लिए भी देना पड़ता है। फार्म के लेखे में फार्म की कुल उपज या उससे हुई आय में से इन सबके लिए नकद या वस्तुओं के रूप में कटौती की जाती है। लेखा-वर्ष के अंत में जो शेष बचता है—आंशिक रूप से नकद और आंशिक रूप से वस्तुओं के रूप में—फार्म की इस वर्ष की 'निबल आय'

होती है। यह आय निम्नलिखित फार्मूले के अनुसार सदस्यों में बाँट दी जाती है — प्रत्येक फार्म पर प्रसामान्यक तय किए जाते हैं, जिनमें फार्म के प्रत्येक काम का मूल्य 'श्रम दिन इकाई' के रूप में दर्शाया जाता है। सदस्य द्वारा किसी कैलेंडर दिन में पर्याप्त काम करने पर अनेक श्रम दिन इकाइयाँ भी अर्जित की जा सकती हैं जो कि उसके लेखे में जमा की जाती हैं। लेखा-वर्ष के अंत में प्रत्येक सदस्य की श्रम दिन इकाइयों का अलग-अलग और कुल सदस्यों की श्रम दिन इकाइयों का इकट्ठा जोड़ कर लिया जाता है। फार्म की निबल आय को चाहे वह खाद्यान वस्तुओं के अतिरेक के रूप में हो या फार्म की किसी उपज को बेचने से प्राप्त नकद धनराशि के रूप में हो—सभी सदस्यों की श्रम दिन इकाइयों के योग द्वारा विभक्त करके एक इकाई का मूल्य निकाल लिया जाता है। फिर उस कार्य पर उस अवधि की प्रत्येक श्रम-दिन इकाई का एक मूल्य हो जाता है, जिसमें इतनी यह उपज, इतनी वह उपज और इतने रूबल तय कर दिए जाते हैं। फिर प्रत्येक सदस्य-श्रमिक फार्म की वर्ष की निवल आय में से अपनी वर्ष भर की श्रम दिन इकाइयों में इकाई के मिले-जुले मूल्य के गुणनों के अनुसार अपना हिस्सा प्राप्त करता है। वह अपना हिस्सा कुछ तो वस्तुओं के रूप में और कुछ नकद प्राप्त करता है। चूँकि सदस्य के हिस्से की अंतिम गणना लेखा-वर्ष के अंत तक नहीं होती, इसलिए फार्म वर्ष के दौरान सदस्य के परिवार को लेखा-वर्ष के अंत तक उसके प्रत्याशित अंतिम हिस्से में से फार्म की उपज की वस्तुएँ सीमित मात्रा में और कुछ नकद धनराशि दे देता है। वर्ष के दौरान सदस्य परिवार की आय इन पेशगियों और उसके निजी भूखंड से प्राप्त होने वाली उपज के रूप में होती है।

'गारंटीकृत नकद मजदूरी पद्धति', जो कि स्पष्टतः आगामी कुछ वर्षों में सभी सामूहिक फार्मों में चालू हो जाएगी, तभी संभव हो सकती है जबकि फार्म के कार्यों को अनुक्रमिक रूप से पूर्णतः नकद भुगतान का आधार दिया जाए। सामूहिक फार्म के पशुओं के चारे और बीज के लिए अपेक्षित अंश को छोड़कर, अधिकाधिक फार्म अपनी सारी उपज को बेचकर धन प्राप्त कर रहे हैं। यदि सामूहिक फार्म के किसी सदस्य को अपने निजी भूखंड पर अपने पशुओं को पालने के लिए सामूहिक फार्म की फसल को कुछ अनाज की जरूरत पड़ती है, तो यह प्रथा बन रही है कि फार्म उस सदस्य को वह वस्तु रूबल के बदले में दे, न कि उसकी श्रम दिन इकाइयों में फार्म की जमीन पर काम के एवज में जमा होने वाली वस्तुओं की पेशगियों के रूप में। इस नई व्यवस्था के अंतर्गत सामूहिक फार्म के प्रत्येक कार्य का मूल्य रूबल में निर्धारित किया जाता है, जिसे 'उजरती दर' कहते हैं। सदस्य द्वारा कार्य पूरा करने पर उसके मजदूरी लेखे में उजरती दर के आधार पर निर्धारित

रूबल जमा कर दिए जाते हैं। इस प्रकार जमा किए गए रूबल का वास्तविक भुगतान मास में एक बार किया जाता है। लेखा-वर्ष के अंत में फार्म की निबल आय—उपयुक्त कटौतियों और पहले दी गई मजदूरी को काट कर—रूबल के रूप में होती है। फिर यह सदस्यों में, उनकी वर्ष के दौरान कुल अर्जित और भुगताई गई मजूरी के आधार पर, वार्षिक बोनस के रूप में बाँट दी जाती है। इस प्रकार वार्षिक बोनस के भुगतान को छोड़कर सामूहिक फार्म के किसान को सामूहिक फार्म पर काम करने का मुआवजा सरकारी फार्म के श्रमिक के मुआवजे की भाँति ही दिया जाता है।

मशीन ट्रैक्टर केंद्र सुधार

सोवियत रूस के अर्थतंत्र-संबंधी आरंभिक अध्याय में यह बताया गया था कि हाल के वर्षों में रूस की अर्थ-व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए हैं—विशेषकर कृषि क्षेत्र में जो कि वहाँ के अर्थतंत्र का एक पिछड़ा हुआ क्षेत्र था। १९५८ ई० से पहले के उनके समूचे इतिहास में सामूहिक फार्म के पास फार्म के बहुत ही छोटे-छोटे कृषि उपकरणों के अलावा कुछ भी नहीं था। बाकी सारी मशीनरी मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के पास थी और वे केंद्र उस मशीनरी तथा अपने कर्मचारियों की सेवाएँ सामूहिक फार्मों को पौधे रोपने, भूमि जोतने और फसल काटने के लिए उपलब्ध कराते थे। सामूहिक फार्म में भारी ट्रैक्टर, कंबाइन मशीनें, गाहने की मशीनें (थ्रेशर) भारी ट्रक, फ्लेक्स कटाई मशीनें, चुकंदर उठाने की मशीनें तथा आलू खोदने के उपकरण केवल मशीन ट्रैक्टर केंद्र से ठेके पर प्राप्त कर सकते थे। मशीन ट्रैक्टर केंद्र को सामूहिक फार्म की उपज का कुछ भाग इसके मुआवजे के रूप में प्राप्त होता था। चूँकि इन केंद्रों की स्वामी सरकार थी और वह ही इनका संचालन करती थी, इसलिए वस्तुओं के रूप में ये भुगतान सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कारखानों और खाद्य संस्करण संयंत्रों के लिए कच्ची सामग्री बन जाते थे।

१९५८ ई० में जब यह भूमि सुधार हुआ, इस प्रकार के लगभग ८,००० मशीन ट्रैक्टर केंद्र काम कर रहे थे और प्रत्येक केंद्र औसतन लगभग १० सामूहिक फार्मों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। उस समय लगभग ८०,००० सामूहिक फार्म विद्यमान थे। इन केंद्रों में लगभग ३० लाख कुशल मिस्त्री (मेकेनिक), ड्राइवर कृषिविशेषज्ञ, इंजीनियर और शिल्पी काम करते थे। ये कर्मचारी दी गई यांत्रिक सेवाओं के अतिरिक्त फार्मों को उनके कार्य-संचालन के संबंध में तरह-तरह के तकनीकी परामर्श भी देते थे। सीधे ही सरकार के प्रशासन के अंतर्गत होने के कारण मशीन ट्रैक्टरकेंद्र दूरस्थ केंद्रों के रूप में काम करते थे, जिनके द्वारा सरकारी कर्मचारी यह जाँच कर सकते थे कि सामूहिक फार्म की रिपोर्ट सही हैं और संबंधित फार्म अपनी 'आयोजना' के अनुसार काम कर रहे हैं या नहीं। इनसे वे सामूहिक

फार्म के प्रबंधकों की दक्षता के बारे में भी जाँच कर सकते थे। मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के कर्मचारियों का स्तर सरकारी कारखाने या सरकारी फार्म के श्रमिकों के स्तर के बिलकुल समान था; क्योंकि उन्हें नियमित मजदूरी, सवेतन लंबी छुट्टी और समाज-बीमा सुविधा तथा मजदूर-संघ के सदस्य बनने के अधिकार प्राप्त थे। कृषि किसानों की अपेक्षा औद्योगिक श्रमिकों के अधिक समान होने के कारण वे सामूहिक फार्म के सदस्यों की बजाय साम्यवादी दल के अधिक समर्थक थे। कुछेक सामूहिक फार्म ही दल की इकाइयाँ थे। उनकी अपेक्षा प्रत्येक मशीन ट्रैक्टर केंद्र में स्थानीय दल का संगठन केंद्रीकृत दल के अपेक्षतया अधिक नियंत्रण के अनुसार होता था। इसी वजह से कृषि क्षेत्रों में मशीन ट्रैक्टर केंद्र दल की आँख और कान थे और उन्होंने सामूहिक फार्मों पर दल के प्रभाव को प्रबल रूप से महसूस कराया।

मशीनों-संबंधी सेवाओं के लिए मशीन ट्रैक्टर केंद्र पर सामूहिक फार्म की निर्भरता से द्वैत प्रणाली की स्थापना हुई, जिसे सामूहिक फार्म के निदेशकों और साम्यवादी दल के उच्चतर कर्मचारियों ने बहुत पहले कृषि-दक्षता में हानिकारक माना था। सामूहिक फार्म के कार्य जैसे जुताई, काश्त और कटाई काफी ठीक समय पर और मौसम के अनुसार होने चाहिए। परंतु, सामूहिक फार्म के निदेशक द्वारा इन कार्यों की व्यवस्था करना मशीन ट्रैक्टर केंद्र के निदेशक द्वारा समुचित समय पर यथोचित मशीनरी और कर्मचारी उपलब्ध कराने की योग्यता एवं इच्छा पर निर्भर था। खेती के यांत्रिक कार्यों के पहलुओं के इस द्वैत प्रबंध के कारण फार्म के अनेक कार्य असमय पर होते थे और उनमें कई कमियाँ रह जाती थीं, जिसके परिणामस्वरूप फसल के उत्पादन में हानि होती थी, ऐसा सभी जानते थे। इसके अतिरिक्त द्वैत प्रबंध से फार्म की फसल में कमी के लिए एक संभाव्य बहाना मिल जाता था, भले ही इसके लिए फार्म के प्रबंधक स्वयं जिम्मेवार हों, न कि मशीन ट्रैक्टर केंद्र। इस स्थिति के संबंध में सबको ही भारी शिकायत थी। जैसे-जैसे सामूहिक फार्मों की संख्या में कमी और आकार में वृद्धि होती गई—कुछ मामलों में एक मशीन ट्रैक्टर केंद्र केवल एक ही फार्म के लिए मशीनों आदि की व्यवस्था करता था—वैसे-वैसे इस व्यवस्था को बदलना अधिकाधिक संभव हो गया। इसके अलावा औसत सामूहिक फार्म की अपनी आरक्षित निधि में वृद्धि हो गई, जिससे वे फार्म यंत्रों आदि की व्यवस्था करने के लिए धन लगा सकते थे तथा फार्म के औसत आकार की वृद्धि से और अधिक फार्मों के अपने ही सक्रिय साम्यवादी दल संगठन बन गए। इन सब तथ्यों के परिणामस्वरूप १९५८ ई० में मशीन ट्रैक्टर केंद्रों का बड़ा भारी सुधार किया गया।

जैसा कि पहले एक प्रसंग में बताया गया है, सोवियत रूस में हाल के प्रमुख आर्थिक सुधारों में एक मानक प्रक्रिया-संबंधी पद्धति को अपनाया गया। सोवियत

अर्थतंत्र के छात्रों को इनमें से किसी एक को विस्तृत रूप से समझना चाहिए। चूँकि यहाँ हमें सर्वप्रथम मशीन ट्रैक्टर केंद्र-संबंधी सुधारों पर विचार-विमर्श करना है, इसलिए इसका बारीकी से अध्ययन करना होगा, यद्यपि प्रक्रियात्मक पद्धति के मोटे स्वरूप को जानने की अपेक्षा तिथियों और सूक्ष्म ब्यौरे का महत्त्व कम है।

इस समस्या के समाधान के संबंध में किए जाने वाले कार्यों का जनता में सर्वप्रथम उल्लेख २२ जनवरी, १९५८ को मिंस्क में प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव द्वारा दिए गए भाषण में किया गया। उन्होंने सुझाव दिया कि संभवतः सामूहिक फार्मों के लिए मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के स्वामित्व वाले उपकरण खरीदना वांछनीय होगा, जिससे प्रत्येक फार्म का अपने कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण हो सके। इस प्रस्ताव पर साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सारे सदस्यों की बैठक में २५ और २६ फरवरी को विचार-विमर्श किया गया। १ मार्च को ख्रुश्चेव ने इस संबंध में 'थीसिस' वक्तव्य जारी किया। थीसिस में उन आर्थिक और राजनीतिक सेवाओं का निरूपण किया गया, जो कि मशीन ट्रैक्टर केंद्र प्रारंभ से ही प्रदान करते थे। उसमें यह बताया गया कि कुछ परिवर्तन क्यों आवश्यक हो गया है। उसमें यह बताया गया कि यदि सामूहिक फार्मों ने मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के उपकरण खरीद लिए, तो ये केंद्र मशीनों की भारी मरम्मत के लिए सरकार द्वारा चलाए जाने वाले डिपुओं के रूप में, और सामूहिक फार्मों को नए उपकरण, उर्वरक, बीज, गैसोलीन और तेल तथा अन्य वस्तुएँ बेचने के लिए वितरण अभिकरणों के रूप में रखे जाएँगे। इस थीसिस में सामूहिक फार्मों द्वारा उपर्युक्त उपकरण खरीदने के लिए भावी प्रक्रिया और वित्त पर भी विचार-विमर्श किया गया। इसमें उक्त प्रस्ताव पर सक्रिय और व्यापक रूप से विचार-विमर्श करने की प्रार्थना भी की गई, ताकि इससे पार्टी और सरकार को लाभ हो सके।

यह विचार-विमर्श २ मार्च से २७ मार्च तक किया गया। इससे यह पता चला कि कुछ सामूहिक फार्मों के अध्यक्षों ने मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के प्रबंधकों के सहयोग और उच्चतर प्राधिकारियों की सहायता से १९५७ में इस समस्या के यथासंभव समाधान के लिए कुछ प्रयोग किए थे, जिनमें फार्मों द्वारा मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के उपकरणों का वास्तविक क्रय शामिल नहीं था। इनमें से कुछ प्रयोगों में फार्म के अध्यक्ष को उसके फार्म पर आए मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के उपकरणों और कर्मचारियों पर पूर्ण नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया था। कुछ मामलों में, जहाँ केंद्र केवल एक ही फार्म की सेवा करता था, फार्म के अध्यक्ष को ही मशीन ट्रैक्टर केंद्र का भी प्रबंधक बना दिया गया था। कुछ मामलों में मशीन ट्रैक्टर केंद्र द्वारा कर्मचारियों और उपकरणों का सारा ब्रिगेड फार्म को फसल उगाने से फसल काटने के पूरे मौसम के

लिए दे दिया गया था। इसी प्रकार के और भी प्रयोग किए गए। इस विचार-विमर्श के दौरान इन प्रयोगों का मूल्यांकन किया गया, थीसिस पर सुझाव दिए गए, गुण-दोष-विवेचन किया गया और विभिन्न जर्नलों (पत्रिकाओं) तथा समाचारपत्रों में प्रकाशन के लिए भेजे गए पत्रों में अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रश्न उठाए गए। जिन व्यक्तियों ने इस विचार-विमर्श में सक्रिय भाग लिया, उनमें से अधिकांश सामूहिक फार्मों के अध्यक्ष थे, जिनमें से अनेकों ने इस संबंध में अधिक जल्दबाजी न करने के लिए अनुरोध किया, विशेषकर इसलिए कि सामूहिक फार्म सामान्यतः भारी यांत्रिक उपकरणों की सरविस (देखभाल), मरम्मत आदि करने के लिए लैस नहीं थे। कुछ व्यक्तियों ने ये प्रश्न उठाए कि क्या सामूहिक फार्म का बही-खाता इतना अच्छा है, जिससे कि हाल ही में खरीदे गए यंत्रों की लागत, मूल्य-ह्रास तथा अन्य मदों के संबंध में सही अभिलेख सुनिश्चित हो सके; एक केंद्र के विभिन्न विशिष्ट यंत्रों को, जिनमें आकार, आयु, मॉडल, किस्म और मरम्मत की हालत की दृष्टि से अंतर है. उन फार्मों को बेचने के लिए कैसे विभक्त किया जाएगा, जिनकी वह केंद्र पहले सेवा करता था और इस संबंध में क्या आश्वासन है कि मरम्मत-केंद्रों को बदलने वाले पुर्जे पर्याप्त मात्रा में दिए जाते रहेंगे? कुछ वैकल्पिक समाधान प्रस्तावित किए गए। इनमें से एक प्रस्ताव यह था कि प्रत्येक मशीन ट्रैक्टर केंद्र और उससे सेवा प्राप्त करने वाले सभी फार्मों को एक नई कृषि इकाई में बदल दिया जाए। सबसे अधिक सफल सामूहिक फार्मों के अध्यक्ष विशेष रूप से क्रय-योजना के बारे में उत्सुक थे। उन्होंने कहा कि उनके फार्म एक वर्ष के अंदर यंत्रों की कीमत का पूर्ण भुगतान कर सकेंगे।

२७ मार्च को प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने सुप्रीम सोवियत के अधिवेशन में मशीन ट्रैक्टर केंद्र के उपकरणों को फार्म को बेचने के अधिकार के संबंध में कानून बनाने की आवश्यकता बताई। ३१ मार्च को अधिनियम पास हो गया। इसने अनेक गण-राज्य सरकारों को विक्रय के ब्यौरों के प्रशासन का दायित्व सौंपा, जैसे कि इस कार्य को पूरा करने की गति क्या होगी और फार्म को यह आश्वासन कि उनके मरम्मत-केंद्रों में बदल जाने के बाद उन्हें केंद्रों से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती रहेगी।

२० अप्रैल को साम्यवादी पार्टी की केंद्रीय समिति और सरकार ने संयुक्त रूप से पार्टी तथा सरकार के कर्मचारियों को अनुदेश जारी किए, जिनमें सुप्रीम सोवियत द्वारा पारित अधिनियम को लागू करने के बारे में उनकी जिम्मेवारी बताई गई और संबंधित अभिकरणों द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रियाओं की रूपरेखा दी गई। इन अनुदेशों में निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—यंत्रों का मूल्य कम लगाने की आवश्यकता नहीं है; यंत्र खरीदने के लिए कतिपय जरूरतमंद फार्मों को राज्य बैंक

द्वारा दिए गए ऋण पर कोई ब्याज नहीं लिया जाएगा। ये ऋण साधारण प्रक्रिया द्वारा तीन वर्ष की समयावधि तक के लिए दिए जा सकते हैं और विशेष अनुमति से ही तीन से पाँच वर्ष की समयावधि तक, और किसी भी सूरत में पाँच वर्ष से अधिक की समयावधि के लिए नहीं दिए जा सकते, मशीन ट्रैक्टर केंद्र के स्थान पर काम करने वाले केंद्रों के मरम्मत-संबंधी कार्य, मरम्मत-केंद्रों को फालतू पुर्जों का पर्याप्त स्टॉक देने की जिम्मेवारी आदि।

वास्तव में कुछ फार्मों ने सुप्रीम सोवियत द्वारा विधान बनाने से पहले ही मशीन ट्रैक्टर केंद्र से उपकरण खरीदने शुरू कर दिए थे। अधिनियम पास होने के बाद सामूहिक फार्मों द्वारा उपकरण खरीदने का काम इतनी तेजी से किया गया कि जुलाई, १९५९ ई० तक यह काम व्यावहारिक रूप से पूर्ण हो चुका था, यद्यपि फार्मों ने अधिकांश उपकरण ऋण लेकर ही खरीदे थे। संपत्ति के इस भारी स्थानातंरण का पता इस तथ्य से चलता है कि उक्त तारीख तक फार्मों ने पुराने मशीन ट्रैक्टर केंद्रों से ५,१२,००० ट्रैक्टर और २,२१,००० फसल काटने व पीटने की मशीनें खरीद ली थीं। फार्मों को इन तथा अन्य यंत्रों को प्राप्त करने के लिए १७,००,००० करोड़ रूबल (विनिमय की सरकारी दर के अनुसार ४ हजार अरब डालर से अधिक)।[1]

समझौते के अनुसार मशीन ट्रैक्टर केंद्र मरम्मत और उपकरण केंद्र बन गए हैं, जो कि सामूहिक फार्मों के उपकरणों की भारी मरम्मत का कार्य करते हैं और फार्मों द्वारा नए उपरकण तथा सामग्री खरीदने के लिए संभरण डिपुओं के रूप में काम करते हैं। इस व्यवस्था की व्यवहार्यता के बारे में अब कुछ सवाल सामने आए हैं। यह दृढ़ भावना है कि सामूहिक फार्मों की अपनी-अपनी कर्मशालाएँ होनी चाहिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर बड़ी-बड़ी मरम्मतें शीघ्र की जा सकें। जब मशीनें चलाई न जा रही हों, तब सामूहिक फार्म के मिस्त्री उनका अनुरक्षण-कार्य के लिए उपयोग कर सकें। अतः, मरम्मत और उपकरण केंद्रों का भविष्य संदेहजनक लगता है। वास्तव में १९६० ई० में अनेक सामूहिक फार्म सरकार की सहमति से मरम्मत उपकरण केंद्र की सुविधाएँ खरीद रहे थे या अपने मरम्मत कारखाने बना रहे थे या तो एक-एक फार्म के लिए या फार्मों के सहकारी समूहों के लिए। मरम्मत उपकरण केंद्र के संभरण-कार्य भी सामूहिक फार्मों को सौंपे[2] जाने शुरू हो गए थे।

---

[1] एल० बोलिन, इन कम्पेरिजन ऑफ दि युनाइटेड स्टेट्स एवं सोवियत इकोनॉमिक्स पार्ट १, रिपोर्ट ऑफ दि ज्वायंट इकोनॉमिक कमेटी, काँग्रेस ऑफ दि युनाइटेड स्टेट्स, वाशिंगटन, गवर्नमेंट प्रिंटिंग ऑफिस, १९५९, पृष्ठ २९८।

[2] इन तथा मरम्मत और उपकरण केंद्रों की अन्य समस्याओं के विचार-विमर्श के लिए देखिए ए० खांकोंवस्की, प्राब्लेम ऑफ इकोनॉमिक्स (ट्रांसलेशन फ्रॉम रशियन), अगस्त, १९५९, पृष्ठ ४०, ४६, एफ० ऐंड डगिन, सोवियत स्टडीज, जुलाई, १९६०, पृष्ठ ८३-८५।

जिन समस्याओं के समाधान के लिए मशीन ट्रैक्टर केंद्रों में सुधार किया गया, उनका व्यापक होना और विद्यमान रहना भी बिल्कुल स्पष्ट है। सामूहिक फार्मों की उत्पादिता के संबंध में सुधार के प्रभाव का मूल्यांकन आज तक बीते समय की अपेक्षा और अधिक लंबे समय के अनुभव के आधार पर किया जा सकेगा। इस सुधार कार्यक्रम के शुरू किए जाने और इसके तैयार एवं लागू करने के सर्वग्रासी तरीके से हमें साम्यवादी दल के नेताओं द्वारा आर्थिक समस्या के समाधान और दक्षता में अत्यधिक रूचि लेने में तथा ऐसे मामलों में उनके सामान्य रवैये का पता चलता है।

मशीन ट्रैक्टर केंद्र के सुधार में व्यावहारिक समस्याएँ

सोवियत रूस के अर्थतंत्र के सुधार के दो मनोरंजक पहलू हैं—एक समस्या का व्यावहारिक हल और दूसरा सिद्धांतात्मक विचार-विमर्श। हम सामूहिक फार्म के कार्यों के लिए द्वैत जिम्मेवारी की व्यावहारिक समस्या पर पहले ही ध्यान दे चुके हैं, जिसके कारण मशीन ट्रैक्टर केंद्र में सुधार किया गया। परंतु, इस सुधार-कार्य में असंख्य छोटी-छोटी व्यावहारिक समस्याएँ और कम-से-कम एक मुख्य सिद्धांतात्मक प्रश्न अंतर्निहित था। हम नमूने के लिए एक व्यावहारिक समस्या और सिद्धांतात्मक प्रश्न के सार पर विचार-विमर्श करेंगे।

जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है, पुराने मशीन ट्रैक्टर केंद्रों पर काम करने वाले कर्मचारियों में लगभग ३० लाख ड्राइवर, मिस्त्री और विभिन्न प्रकार के शिल्पी थे। इसी सुधार-कार्य के संपादन के बाद वह कार्य, जिसे इनमें से लगभग आधे व्यक्ति संबंधित मशीन ट्रैक्टर केंद्र प्रशासनों के अंतर्गत कर रहे थे, अब सामूहिक फार्म के प्रबंधकों के पर्यवेक्षण के अंतर्गत किया जाएगा। परंतु, सुधार-कार्य निर्धारित करते समय उपर्युक्त पुनरीक्षित विचार-विमर्श के दौरान इस पर ध्यान दिया गया था और विचार-विमर्श में भाग लेने वाले अनेक व्यक्तियों ने यह पूछा कि इन कर्मचारियों का क्या होगा? यह स्पष्ट हो गया कि किसी-न-किसी रूप में उन्हें सामूहिक फार्मों से संबद्ध होना पड़ेगा, संभवतः फार्म के स्थानिक सदस्य बनकर या किसी और रूप में। इससे यह कठिन समस्या उत्पन्न हो गई कि सामूहिक फार्मों के सदस्य बनने या उनसे संबद्ध होने से उनका आर्थिक स्तर क्या होगा। जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है, उन्हें सरकारी तौर पर औद्योगिक कर्मचारी समझा गया था और इसलिए उन्हें छुट्टी के अधिकार एवं सामाजिक बीमा सुरक्षा की सभी सुविधाएँ दी गई थीं—सामूहिक फार्म के सदस्य को इनमें से कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं थी। इसके अतिरिक्त मशीन ट्रैक्टर केंद्र के कर्मचारी मजदूर संघों में संगठित थे, जबकि सामूहिक फार्मों के किसान इस प्रकार संगठित नहीं थे और उनकी मजूरी की दरें, सामूहिक फार्मों के किसानों द्वारा पुरानी श्रम दिन इकाई फार्म मुआवजा योजना या

नई मजूरी पद्धति के संक्रमण के अंतर्गत प्राप्त की जाने वाली मजूरी की अपेक्षा बहुत अच्छी थीं।

कठिनाई यह थी कि यदि तथाकथित 'ट्रैक्टर-मैन' पूर्ण रूप से सामूहिक फार्म के सदस्य बन गए, तो संभवतः उन्हें इन लाभों को, जो कि अधिक अच्छे हैं, छोड़ना पड़ेगा, परंतु वे वही श्रम काम करते रहेगें जो कि वे पहले करते थे; अथवा यदि उन्हें उनके मजूरी, यूनियन आदि लाभ देने के लिए उन्हें सामूहिक फार्मों से संबद्ध करने की कोई और विधि निकाली गई, तो उससे सामूहिक फार्मों के सदस्यों को दुःख होगा; क्योंकि एक ही फार्म के प्रशासन के अंतर्गत एक साथ काम करने वाले कर्मचारियों को मजूरी और अनुषंगी लाभ अलग-अलग ढंग से प्राप्त होंगे।

इस समस्या पर सक्रिय रूप से विचार तो किया गया, परंतु इस द्विधा का समाधान अधिनियम पास होने तक अर्थात् ३१ मार्च तक नहीं किया गया। इसमें की गई व्यवस्था का अभिप्राय यह था कि मशीन ट्रैक्टर केंद्रों से फार्मों में काम करने के लिए स्थानांतरित ट्रैक्टर-मैनों और मिस्त्रियों तथा कृषिविशेषज्ञों का सही इस्तेमाल सुनिश्चित किया जाए और इस तरह उनकी भौतिक आवश्यकताओं[1] की पूर्ति के प्रति अपेक्षित ध्यान दिया जाए और चिंता व्यक्त की जाए। अधिनियम के उपबंधों को लागू करने के लिए पार्टी और सरकार द्वारा जारी किए गए अनुदेशों में यह सिफारिश की गई कि ट्रैक्टर-मैन अपनी पिछली 'गारंटीकृत न्यूनतम' आय प्राप्त करते रहेंगे तथा उन्हें कुछ समय के लिए इस प्रयोजनार्थ बनाई गई विशिष्ट निधि में से राज्य बीमा लाभ और छुट्टी-वेतन लाभ दिया जाए तथा एक योजना बनाई जाए, जिसके अंतर्गत ये लाभ सामूहिक फार्म के सभी सदस्यों को दिए जाएँ। चूँकि इन अनुदेशों में ट्रैक्टर-मैनों की यूनियन की सदस्यता के भविष्य के बारे में कोई निर्देश नहीं था, इसलिए इस संबंध में उनकी इच्छा को संभवतः अस्वीकार[2] कर दिया गया।

स्पष्टतः इस समस्या का समाधान थोड़ा-थोड़ा करके किया जा रहा है। ट्रैक्टर-मैन सामूहिक फार्मों के सदस्य बन गए हैं। सरकार ने समय-समय पर राजाज्ञा जारी की कि (१) वे अपनी यूनियन के सदस्य रह सकते हैं, परंतु मशीन ट्रैक्टर केंद्र के भूतपूर्व कर्मचारियों को छोड़कर सामूहिक फार्म का कोई भी सदस्य यूनियन का सदस्य नहीं बन सकता, (२) सामूहिक फार्म की इस प्रकार की यूनियन के कार्य सुरक्षा और स्वास्थ्य दशाओं के पर्यवेक्षण तक ही सीमित हैं; और (३) वे विशिष्ट निधि में से, जिसकी बजट में व्यवस्था करने के लिए प्रत्येक गणतंत्र को आदेश

---

[1] जे० मिल्लर, सोवियत स्टडीज, जुलाई, १९५८, पृष्ठ ९३।

[2] जे० मिल्लर, सोवियत स्टडीज, जुलाई, १९५८, पृष्ठ ९४।

दिए जाते हैं, बीमारी लाभ प्राप्त करते रहेंगे। स्पष्टतः यह आशा की जाती है कि मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के भूतपूर्व कर्मचारियों को, जो अब सामूहिक फार्म के सदस्य हैं, दी गई रियायतों से उनका असंतोष दूर हो जाएगा और बाद में सामूहिक फार्मों की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर सामूहिक फार्मों के कृषकों के दोनों प्रकार के वर्गों का समान गारंटीकृत नकद मजूरी पद्धति तथा अन्य लाभ दिए जाएँगे।

मशीन ट्रैक्टर केंद्र के सुधार की सिद्धांतात्मक समस्याएँ

मशीन ट्रैक्टर केंद्र के सुधार के संयोग में उत्पन्न ध्यानाकर्षक मुख्य सिद्धांतात्मक समस्या का संबंध सामाजिक संपत्ति के स्वरूप से है। यह साम्यवादी सिद्धांत है कि समाजवाद या साम्यवाद की पहली अवस्था में अन्य प्रकार की संपत्ति की अपेक्षा सरकारी संपत्ति का अर्थात् उस संपत्ति का, जिसकी सरकार समाज के प्रतिनिधि के रूप में मालिक है, विस्तार होगा। इसे समाजवाद के पूर्ण साम्यवाद में बदलने का निरूढ़ अंग माना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार सामूहिक फार्मों की संपत्ति समाज की संपत्ति नहीं है; क्योंकि इसके स्वामी स्वतः सामूहिक फार्म हैं और कम-से-कम सिद्धांत में तो वैयक्तिक सदस्यों के समूह, भूमि को छोड़कर सामूहिक फार्म के मालिक हैं। इसके विपरीत मशीन ट्रैक्टर केंद्रों की सीधी मालिक सरकार थी और इसलिए सही अर्थ में इन केंद्रों की सारी संपत्ति समाज की संपत्ति थी। अतः, यह सिद्धांतात्मक प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या मशीन ट्रैक्टर केंद्रों से सामूहिक फार्मों को लाखों कृषि उपकरणों के स्वामित्व का प्रस्तावित भारी स्थानांतरण समाज की वास्तविक संपत्ति का सामूहिक संपत्ति में स्थानांतरण करना था? क्या स्वामित्व का यह स्थानांतरण समाजवादी समाज में ऊँचे दर्जे से नीचे दर्जे का था? संभवतः इसी प्रकार के संदेह के आधार पर स्तालिन ने १९५१ ई० में दो अर्थशास्त्रियों के इस प्रस्ताव को तुरंत अस्वीकार कर दिया कि सामूहिक फार्मों को मशीन ट्रैक्टर केंद्रों की मशीनरी खरीद लेनी चाहिए।

यद्यपि यह सिद्धांतात्मक प्रश्न सुधार के कुछेक विरोधियों द्वारा उठाया गया, परंतु ख्रुश्चेव तथा पार्टी के अन्य नेताओं ने इस पर आम जनता की बैठकों में विचार-विमर्श किया। उन्होंने इस बात पर विश्वास किया कि जब स्तालिन ने इसी प्रकार का प्रस्ताव अस्वीकार किया था, तब उनका यह कदम ठीक था; क्योंकि इस प्रकार के काम के लिए अभी तक वातावरण समुचित रूप से तैयार नहीं था। उस समय सामूहिक फार्मों के पास इस स्थानांतरण के लिए साधन नहीं थे। चूँकि अधिकांश फार्मों की आर्थिक दशा अब काफी सुदृढ़ हो गई, इसलिए उन्होंने महसूस किया कि फार्म के द्वैत प्रबंध की समस्याओं का समाधान करने के लिए आर्थिक विकास की प्रक्रिया से यह सुधार केवल संभव ही नहीं, अपितु अत्यावश्यक हो गया है।

मशीन ट्रैक्टर केंद्र की स्थायी संपत्ति का स्थानांतरण संपन्न होने के साथ वह सिद्धांतात्मक प्रश्न घटने की अपेक्षा बढ़ता हुआ प्रतीत हुआ। रूस की सैद्धांतिक पत्रिकाओं में इस प्रश्न पर १९५८ ई० से गहन तथा विस्तृत विचार-विमर्श हुआ है। इस विचार-विमर्श से सिद्धांतवादियों में यह एक मतैक्य प्रकट हुआ : सिद्धांत रूप से संपत्ति के इस स्थानांतरण के संबंध में संदेह सामूहिक फार्म के स्वामित्व के स्थायी पदार्थों के वास्तविक संपत्ति-स्तर के बारे में भ्रांति के कारण खड़ा हुआ है। संपत्ति के वास्तविक स्वरूप का पता चलने पर सिद्धांतवादिता समाप्त हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिकों द्वारा उत्पादित स्थायी उत्पादक पदार्थ जिन पर सामूहिक फार्म इकाई का अधिकार है, उसी तरह समाज की संपत्ति हैं, जिस तरह कि सीधे सरकारी स्वामित्व वाले कारखाने या विद्युत संयंत्र या सरकारी फार्म के उपकरणों की संपत्ति हैं। कृषि यंत्रों एवं उपकरणों के स्थानांतरण से संपत्ति का स्वरूप वास्तविक समाजवाद तथा संपूर्ण साम्यवाद के सिद्धांत के विपरीत संपत्तिवार अवनति की अपेक्षा, पहले की भाँति समाज-संपत्ति ही बना रहा है। इसे समझने की कुंजी 'अविभाज्य निधि' है, जो कि प्रत्येक सामूहिक फार्म की एक विशिष्टता है।

सामूहिक फार्म की अविभाज्य निधि

वर्त्तमान सिद्धांतवादियों ने कृषि-संगठन के 'सामूहिक फार्म टाईप' तथा 'मार्क्सवादी या साम्यवादी सिद्धांत' का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए कहा है कि किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा सामूहिक फार्म की 'अविभाज्य निधि' ही इस कृषि संस्था को कहीं अधिक सच्चे रूप में समाजवादी बनाती है। सामूहिक फार्म की 'अविभाज्य निधि' एक अर्थ में केवल वही खाता लेखा ही है, परंतु दूसरे वर्ष में वह सामूहिक फार्म के अस्तित्व और संचालन की प्राणभूत है। उपर्युक्त पहले विचार के अनुसार इस लेखे में परि-संपत्ति के रूप में यह हिसाब रखा जाता है (१) किसी भी स्रोत से सामूहिक फार्मों द्वारा प्राप्त कोई धन—जैसे कि राज्य बैंक में जमा धन—जिसका उपयोग सामूहिक फार्म के किसी व्यक्तिगत सदस्य के लिए न होकर सामूहिक फार्म के कार्यों के लिए होता है (२) सामूहिक फार्म के स्वतः स्वामित्व के किसी भी पदार्थ का नकद मूल्य (वैयक्तिक परिवारों के स्वामित्व के पदार्थ को छोड़कर)। ऐसे किसी नकद धन को, जिसका इस्तेमाल उर्वरक, बीज, पशुओं का चारा, गैसोलीन, तेल या ऐसी अन्य वस्तुएँ खरीदने के लिए किया जाएगा, जो कि फार्म के कार्यों में प्रयुक्त होंगी, इस लेखे में नहीं रखा जाता; इस प्रकार के सामान के स्टॉक के नकद मूल्य का हिसाब भी इस लेखे में नहीं रखा जाता। इस प्रकार की धनराशि और सामान को कार्यकर पूँजी समझा जाता है और इनका हिसाब कार्यकर—पूँजी खाते में रखा जाता है। अतः, अविभाज्य निधि के लेखे में केवल स्थायी पूँजी पदार्थों—जैसे कि

अन्न-भंडार, बुखारियाँ (साइलो), पशु शेड, संस्कृति और मनोरंजन-संबंधी भवन, जंगलें, फार्म की सड़कें, जल पद्धति, विद्युतशक्ति जनन और वितरण सुविधाएँ, सिंचाई व जल-निकास सुविधाएँ, फार्म में स्कूल व अस्पताल के भवन तथा सभी स्थायी उपकरणों—जैसे कि ट्रैक्टर, ट्रक, हल, काश्त-मशीनों, फसल पीटने की मशीनों, आदि में निवेश के लिए अभिप्रेत धनराशि ही और पहले से विद्यमान उक्त सामानों और उपकरणों का नकद मूल्य ही लिया जाएगा। पशुओं को भी स्थायी सामान की इस श्रेणी में शामिल माना जाता है। मशीन ट्रैक्टर केंद्र में सुधार के समय फार्म ने अपनी अविभाज्य निधि में जमा रकम से पूर्ण या आंशिक भुगतान करके उपकरण खरीदे। जिस फार्म को आंशिक या संपूर्ण क्रय मूल्य के बराबर ऋण लेना पड़ा था, वह फार्म ऋण से प्राप्त लाभ को अविभाज्य निधि में जमा कर देता था और फिर उस निधि में से धन निकाल कर उपकरण विक्रेता को निर्धारित समय पर दे देता था। नई खरीद की गई मशीनों के मूल्य को लेखे में संपत्ति के रूप में रखा जाता था। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इसे सामूहिक फार्म की 'अविभाज्य' निधि क्यों कहा जाता है। यह उस निधि के समान है, जिसे कभी भी संपूर्ण या आंशिक रूप से सामूहिक फार्म के सदस्यों में नहीं बाँटा जा सकता। कोई भी सदस्य व्यक्तिगत रूप से इस निधि पर किसी प्रकार का भी अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। यदि संयोगवश कोई सामूहिक फार्म पूर्णतः वंद हो जाए, तो उसकी अविभाज्य निधि या तो कुछ अन्य सामूहिक फार्मों में बाँट दी जाएगी या सरकारी संपत्ति बन जाएगी।

दूसरे अर्थ में यह निधि सामूहिक फार्म के अस्तित्व और कार्यों की प्राणभूत है। चूँकि अविभाज्य निधि के बैंक में जमा नकद धन पर बैंक के ऋण अदा करने का दायित्व नहीं होता, इसलिए इसका उपयोग फार्म के निर्धारित स्थायी सुधारों के लिए भावी महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्यों या उपकरणों की खरीद के लिए किया जाता है—जैसे कि नए अन्न-भंडार या नई सिंचाई-नालियाँ बनाना या ट्रक अथवा फसल-पिटाई मशीन आदि नए उपकरणों की भावी महत्त्वपूर्ण खरीद। चूँकि अविभाज्य निधि में वर्त्तमान भवनों, औजारों, उपकरणों आदि के नकद मूल्य के रूप में जमा धन ही होता है, इसलिए इसके आकार का संबंध फार्म के उत्पादी संचालन में प्रयुक्त पूँजी पदार्थों के भौतिक समुच्चय तथा सदस्यों द्वारा सामान्य रूप से प्रयुक्त सुविधाओं से ही होता है। अतः, अविभाज्य निधि में रूबल के रूप में जमा धनराशि का संबंध फार्म के वर्त्तमान मूल उपकरणों तथा उनके तत्काल उपलब्ध विस्तार से माना जाता है। सोवियत संघ के सारे सामूहिक फार्मों की कुल अविभाज्य निधि की वृद्धि को आमतौर पर उत्पादन इकाइयों के विकास के सर्वोत्तम सूचक के रूप में उद्धृत किया

जाता है। उदाहरण के लिए, सोवियत सांख्यिकीविद् सन् १९५३ से १९५८ ई०[1] में कुल फार्मों की अविभाज्य निधियों में एक तिहाई वृद्धि को कृषि-प्रगति का महत्त्वपूर्ण सूचक बताते हैं।

परंतु, सामूहिक फार्मों द्वारा अपने-आप इस्तेमाल की जाने वाली भूमि का मूल्य अविभाज्य निधि में शामिल नहीं किया जाता; क्योंकि भूमि पर राष्ट्रीय सरकार का अधिकार है। मूल संपत्ति के बदले में प्राप्त धनराशि जैसे ट्रैक्टर किसी अन्य फार्म को बेचकर या पशु तथा कटी इमारती लकड़ी बेचकर या अन्न-भंडार जलने पर बीमे की वसूली द्वारा प्राप्त धनराशि—अविभाज्य निधि में जमा की जाती है। मूल संपत्ति के मूल्य में ह्रास की धनराशि इस निधि में से घटायी जाती है और जब जीर्ण-क्षीण मूल संपत्ति के स्थान पर नई संपत्ति खरीद की जाती है, तब उसकी लागत की अदायगी इस निधि में से की जाती है। फार्म की अविभाज्य निधि में वृद्धि के मुख्य स्रोत ये हैं: (१) सामूहिक फार्म की वार्षिक निवल नकद आय में से १५ या २० प्रतिशत् (अधिक सफल फार्मों के लिए इससे ज्यादा और कम सफल फार्मों के लिए इससे कम), जो कि इसे इस निधि में अनिवार्य रूप से खमा करना पड़ता है; (२) कृषि में लगाने के लिए सरकारी बजट विनियोग से प्राप्त वापस न किए जाने वाले अनुदान; और (३) विशिष्ट फार्म द्वारा पूंजी निवेश के लिए वापस किए जाने वाले लंबी अवधि के बैंक-ऋण।

अंतःसामूहिक फार्म प्रायोजनाएँ

सिद्धांतवादी सामूहिक फार्म की संपत्ति और सीधी सरकार की संपत्ति को सिद्धांत रूप से समान रखने के लिए इस समय अविभाज्य निधियों के अस्तित्व और विकास को कारण मान कर चल रहे हैं। वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि अधिकांश विशिष्ट बड़ी निर्माण प्रायोजनाएँ, जिनके लिए धन की व्यवस्था अविभाज्य निधि में से की जाती है, जैसे कि भवन या जलनिकास प्रायोजनाएँ--घनिष्ठ रूप से उस भूमि से संबंधित हैं, जो कि सरकारी या शुद्ध रूप से समाज की संपत्ति हैं। तथापि वे प्रत्येक सामूहिक फार्म की अविभाज्य निधि के स्वरूप और इस्तेमाल पर बल नहीं देते, बल्कि इन अविभाज्य निधियों को इकट्ठा करके अंतःसामूहिक फार्म के स्वरूप की वर्तमान सारवान् शुरूआत पर बल देते हैं। इसका ठोस स्वरूप अंतःसामूहिक फार्म प्रायोजना है। इससे अभिप्राय किसी ऐसी विस्तृत निर्माण प्रायोजना से होता

---

[1] सोवियत न्यूज बुलेटिन (कनाडा), दिसंबर, १९५८, पी० परशिन, प्राब्लेम्स ऑफ इकोनॉमिक्स (रूसी भाषा से अनूदित) सितंबर, १९५८, पृष्ठ १२।

है, जिसकी सेवाओं का लाभ सामूहिक फार्मों द्वारा उठाया जाएगा और जिसका खर्च इसमें सम्मिलित फार्मों की अविभाज्य निधियों में से साझे धन द्वारा किया जाएगा। यह सिंचाई या जलनिकास प्रायोजना हो सकती है, विद्युत शक्ति संयंत्र, स्कूल या अस्पताल का भवन हो सकता है, कच्चे माल से वस्तुएँ बनाने का संयंत्र हो सकता है अथवा आरोग्य आश्रम या छुट्टी विश्राम-स्थान आदि हो सकता है। इस प्रकार की प्रायोजना की औपचारिक व्यवस्था में ब्यौरे बनाने के लिए एक अंतःसामूहिक फार्म समिति[1] की स्थापना, निर्माण खर्च को बाँटने के लिए तर्कपूर्ण और व्यावहारिक फार्मूले के संबंध में समझौता तथा सुविधा के संयुक्त इस्तेमाल के लिए आवश्यक नियम बनाना शामिल है। पड़ोसी सामूहिक फार्मों को ये प्रायोजनाएँ शुरू करने के लिए प्रोत्साहन देने हेतु सरकार और पार्टी अपने प्रभाव का इस्तेमाल करती हैं। जब संभव हो, तब इसके परिणाम-स्वरूप प्रत्येक फार्म द्वारा किसी ऐसी सेवा का लाभ उठाया जा सकता है, जो कि वह अकेले प्राप्त नहीं कर सकता या कम-से-कम वह फार्म उस सेवा की अपने आप व्यवस्थित की गई सेवा की अपेक्षा कम खर्च पर प्राप्त कर सकता है।

सिद्धांतात्मक दृष्टि से देखा जाए, तो सिद्धांतवादियों का कहना यह है कि इन अंतःसामूहिक फार्म प्रायोजनाओं की संख्या जितनी अधिक होगी और इनमें सम्मिलित फार्मों के समूहों के रूप में इनका जितना अधिक विस्तार होगा, इन प्रायोजनाओं में, अंतर्फार्म अविभाज्य निधि का उतना ही ज्यादा धन लगेगा, जिस पर स्वामित्व का अधिकार सीधी सरकारी संपत्ति के समान होगा। उनका मत है कि इसका स्वाभाविक विकास भी व्यवस्था का एक और प्रकार है जिसमें सरकार भाग लेती है और अंतःसामूहिक फार्म प्रायोजना के लिए पूँजी निधि का कुछ भाग देती है। इनमें से कुछ वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में क्रियान्वित की गई हैं। उदाहरण के लिए, सरकार ने अंतःसामूहिक फार्म विद्युत शक्ति संयंत्रों (जिनके प्रादेशिक बिजली ग्रिड में जुड़ जाने की उम्मीद है), कुछ अंतःसामूहिक फार्म की सार्वजनिक सड़कों के निर्माण और कुछ अंतःसामूहिक फार्म सिंचाई तथा जलनिकास प्रायोजनाओं एवं स्कूल व अस्पताल प्रायोजनाओं की पूँजीगत लागत का हिस्सा दिया है। इन प्रायोजनाओं में अनेक सामूहिक फार्मों की अविभाज्य निधियाँ और सरकार की निधियाँ अनुमोचनीय ढंग

---

[1] इन्हें कभी-कभी 'सोसायटीज' कहा जाता है—अतः, सदस्य फार्मों के निर्माण-कार्य के लिए 'निर्माण सोसायटी' होती है, कहीं 'सामूहिक फार्म का उत्पादन विद्युतीकरण-संबंधी सोसायटी' और कहीं 'बीज-उत्पादन सोसायटी'। बताया गया है कि २/३ सामूहिक फार्म अंतःसामूहिक फार्म 'निर्माण सोसायटियाँ हैं। पी० परशिन, प्राब्लेम ऑफ इकोनॉमिक्स, सितंबर, १९५९ ई०, पृष्ठ १६।

से अंतर्मिश्रित हो जाती हैं और उनसे प्राप्त सुविधाओं का स्वामित्व सरकार तथा सामूहिक फार्मों दोनों का संयुक्त रूप से होता है। इसीलिए सिद्धांतवादी कहते हैं कि सामूहिक फार्म की संपत्ति में विशुद्ध सरकारी या सामाजिक संपत्ति के गुण आ जाते हैं और इन दोनों में कोई अंतर नहीं रहता।

छात्र स्वयं निर्णय करें कि क्या इस प्रकार के सिद्धांत बनाना केवल छलवाद है या समाजवादी अर्थतंत्र की संपत्ति संस्थाएँ खड़ी करने के लिए एक संगत सिद्धांतात्मक मार्ग ढूँढ़ने का सचाई के साथ किया जाने वाला प्रयास है। सामूहिक फार्म अविभाज्य निधि और अंत:सामूहिक फार्म प्रायोजना के व्यावहारिक उत्पादन सामर्थ्य की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। ये कम-से-कम कृषि की एक मूल समस्या अर्थतंत्र के इस क्षेत्र में जननिर्मित उत्पादन-सुविधाओं में पूंजी-निवेश का विस्तार पर पहुँचने के प्रयास हैं।

नई अधिप्राप्ति पद्धति

मशीन ट्रैक्टर केंद्र में सुधार के शीघ्र ही बाद सर्वथा नई सरकारी कृषि अधिप्राप्ति पद्धति का जन्म हुआ, जो १ जुलाई, १९५८ ई० लागू हुई। 'अधिप्राप्ति पद्धति' पद का अभिप्राय उस व्यवस्था और प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा, सरकारी या सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कारखानों और खाद्य-निर्माण-संबंधी उद्योगों के इस्तेमाल के लिए, कृषि फसलों, डेरी और पशु-उत्पादन के अंश अभिग्रहित करती है। परंतु, सरकारी फार्मों के उत्पादनों के लिए अधिप्राप्ति की कोई समस्या नहीं है; क्योंकि सरकारी फार्म के सारे उत्पादन की सरकार ही स्वत: मालिक है। तथापि सामूहिक फार्म उस फसल का मालिक है, जिसे वह काटता है और यदि सरकार इस फसल का कुछ अंश अभिग्रहण करना चाहती है, तो उसे वे प्रक्रियाएँ स्थापित करनी चाहिए, जिनके द्वारा उसके दावे को व्यावहारिक रूप दिया जा सके और प्रशासित किया जा सके।

१९५३ ई० से पहले सरकारी अभिकरण सामूहिक फार्मों का मूल्यांकन अलग-अलग फार्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की निर्दिष्ट मात्रा के आधार पर करते थे। प्रत्येक वस्तु की मूल्यांकित मात्रा का संबंध उस भूखंड से था, जो कि फार्म द्वारा उस फसल के लिए निर्दिष्ट किया गया था, परंतु उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि तथा अच्छी तरह सिंचाई की गई व शुष्क भूमि प्रति एकड़ उत्पादन के अंतर को ध्यान में रखा जाता था। ये मूल्यांकन तकनीकी रूप से 'अनिवार्य प्रदान' के नाम से जाने जाते थे और सरकार उनका मूल्य अदा करती थी, जो कि बहुत कम होता था अर्थात् नाममात्र ही होता था। फार्म द्वारा इन अनिवार्य प्रदानों से ऊपर की वस्तुओं के स्वैच्छिक बिक्रय के लिए सरकार फार्म को उच्चतर मूल्य देना स्वीकार

करती थी। इस अधिप्राप्ति पद्धति से सरकार को अत्यधिक लाभ थे। फार्म के उत्पादन पर 'अनिवार्य प्रदान' का पहला हक था। यदि फसल को भयंकर क्षति न हो, तो सरकार को अनाज, पटसन, ऊन, कपास, दूध, मांस आदि वस्तुओं की पूर्व-निर्धारित मात्रा प्राप्त करने का यथोचित भरोसा हो जाता था और सरकार इस विश्वास के आधार पर इस सामग्री को कारखानों और खाद्य संस्करण संयंत्रों में इस्तेमाल करने की योजनाएँ बना सकती थी। मौसम या अन्य कारणों से उपज में जो कमी-बेशी होती थी, वह सामान्यतः 'अनिवार्य प्रदान' की सीमा से ऊपर ही होती थी। अतः, इस प्रकार की कमी-बेशी का प्रभाव सामूहिक फार्मों पर ही अर्थात् उसके सदस्यों पर पड़ता था।

इस अभिप्राप्ति पद्धति में एक बड़ी भारी कमी भी थी। जबकि साम्यवादी दल और सरकार शीघ्र उद्योगीकरण के लिए अधिक कच्ची सामग्री और आधारभूत खाद्यान्न अधिक मात्रा में उपलब्ध करने के लिए राष्ट्र के कुल कृषि-उत्पादन को बढ़ाने की इच्छुक थी, इस पद्धति का सामूहिक फार्मों के उत्साह पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। 'अनिवार्य प्रदान' के लिए, जिनमें फार्मों के उत्पादन का अधिकांश था, सरकार द्वारा दी गई कम कीमतों से सामूहिक फार्मों पर श्रम दिन इकाई का नकद मूल्य कम हो गया। इससे सामूहिक फार्म के सदस्य को सामूहिक फार्म पर कम-से-कम और अपने निजी भूखंड पर अधिक-से-अधिक शक्ति लगाने की प्रेरणा मिली। अतः सामूहिक फार्मों का उत्पादन, जिस पर सरकार उद्योगों और शहरी आबादी के लिए क्रमशः कच्चे माल और खाद्यान्न की मूल सप्लाई के लिए निर्भर थी, ठहर गया। १९५३ ई० से सरकार ने इस अभिप्रेरणा समस्या का अनेक उपायों द्वारा सामना करने का प्रयत्न किया—(१) अनिवार्य प्रदान का कोटा कम करके और इस कोटे से अधिक राशि फार्मों के साथ अभिप्राप्ति अभिकरणों द्वारा किए गए ठेके के अंतर्गत खरीद कर; और (२) अनिवार्य प्रदान की कीमत बढ़ाकर और ठेका क्रय मूल्य अनिवार्य प्रदान के मूल्यों से काफी अधिक निर्धारित करके। यद्यपि इन परिवर्तनों से कुछ हद तक सामूहिक फार्मों पर काम करने के लिए अधिक प्रोत्साहन मिला, तो भी इनसे नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। १९५७ ई० तक, प्रोत्साहन के लिए, उपार्जन एजेंसियाँ अनिवार्य प्रदान-स्तर के ऊपर सामूहिक फार्म के प्रदान में निरंतर वृद्धि के लिए अधिकाधिक उच्चतर प्रीमियम दाम पेश कर रहे थे। फलतः जिन फार्मों ने उपार्जन एजेंसियों को बेचे गए कुल माल का अधिकांश प्रीमियम दामों पर बेचा, उन्हें प्रति यूनिट उच्चतम औसत दाम प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप, अधिकांश उपजाऊ फार्मों द्वारा बेहतर भूमि या अधिक दक्षता के कारण सरकार को बेचे गए माल पर उच्चतम औसत दाम प्राप्त हुआ। चूँकि ये कम लागत वाले फार्म थे,

इसलिए फार्म की उपज में प्रति यूनिट दाम और उस उपज[1] के लिए सरकार से प्राप्त औसत दाम में विपरीत संवंध था। इससे बहुत अच्छे फार्म बहुत अधिक अमीर बन गए और गरीब फार्म अधिक गरीब बन गए तथा सारे सामाजिक फार्म संगठन के लिए स्पष्ट गंभीर व्यवहारिक समस्याओं का पूर्वाभास मिला। अच्छे सामूहिक फार्म और गरीब सामूहिक फार्म के सदस्यों के बीच बढ़ते हुए व्यापक अंतर के सिद्धांतात्मक संशय का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

इन अभिप्राप्ति समस्याओं का अर्थशास्त्रियों द्वारा अध्ययन किया गया और इन पर कुछ समय के लिए विचार-विमर्श किया गया। तत्पश्चात् १ जुलाई, १९५८ ई० से पुरानी अधिप्राप्ति पद्धति त्याग दी गई और एक नई पद्धति शुरू की गई। सामूहिक फार्म पद्धति के मर्मांगों को प्रभावित करने वाले प्रबल परिवर्तन का प्रवाह बहुत तीव्र था। अनिवार्य प्रदान समाप्त कर दिए गए और सामूहिक फार्मों को बता दिया गया कि भविष्य में सारी सरकारी अधिप्राप्ति बातचीत करके किए गए करार के अंतर्गत की जाएगी। परंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार के करार में सामूहिक फार्म एक स्वतंत्र अभिकर्त्ता होगा। पहले तो सारी कृषि अभी तक भी आर्थिक आयोजना के अंतर्गत है और वर्त्तमान योजनाओं से पता चलता है कि प्रत्येक फार्म द्वारा सरकार को एक योजनावद्ध वार्षिक प्रदान करना होता है।[2] दूसरे, दाम मूल्य के संवंध में कोई बातचीत नहीं होगी। यह इसलिए है; क्योंकि नई अभिप्राप्ति

---

[1] निर्दिष्ट क्षेत्र के २१ सामूहिक फार्मों के एक समूह द्वारा सरकार को बेची गई वस्तुओं से प्राप्त दामों और उत्पादन-लागत के संवंध में निम्नलिखित आँकड़ों से यह स्पष्ट किया गया है। ये आँकड़े १९५६ ई० के बारे में अर्थात् पुरानी अभिप्राप्ति पद्धति के अंतर्गत हैं।

	अनाज की प्रति इकाई प्राप्त औसत दाम (रूवल में)	अनाज की प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत (रूवल में)
श्रेणी क	६३·३	४२·२
श्रेणी ख	४७·५	४५·१
श्रेणी ग	३०·३	४६·६
कुल की औसत	५१·७	४४·०

"हम कल्पना कर सकते हैं कि तालिका में दिए गए आँकड़े सारे देश के अनेक फार्मों के सामान्य उत्पादन परिणामों से प्राप्त हैं। आर० श्लेसिंगर, सोवियत स्टडीज, जनवरी, १९५९, पृष्ठ २३२।

[2] मंत्रिपरिषद् के निर्णय में, जिसके द्वारा अधिप्राप्ति की नई पद्धति की स्थापना हुई, इस बात का विशेष उल्लेख था कि "अधिप्राप्ति की योजनाएँ (अनेक प्रकार के उत्पादनों की सूची के लिए) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् द्वारा निर्धारित की जाएँगी और

पद्धति के अंतर्गत (१) प्रवंधक अभिकरणों ने राष्ट्र को लगभग ४० अधिप्राप्ति जिलों में विभक्त किया है—भूमि-उर्वरता, नमी और जलवायु की दृष्टि से प्रत्येक जिले में कहे गए अनुसार सारतः समानता है और (२) प्रवंधक अभिकरण समय-समय पर प्रत्येक जिले में प्रत्येक कृषि-उत्पादन के लिए केवल एकल दाम की व्यवस्था करेंगे। यह दाम उस जिले में उस वस्तुविशेष के उत्पादन का लगभग औसत दाम होगा। यह एकल क्रय दाम फसल रोपने का मौसम शुरू होने के पहले निर्धारित किया जाता है और इस दाम में फसल उगाने की समयावधि के दौरान मौसम की कम या ज्यादा अनुकूलता के अनुसार वृद्धि या कमी की जाएगी।

नई अधिप्राप्ति पद्धति के इस्तेमाल के संबंध में प्राप्त पहली रिपोर्टों से पता चलता है कि ये मूल्य इस तरह निर्धारित किए जाते हैं कि अभिप्राप्ति अभिकरणों द्वारा कृषि उत्पादनों पर किया जाने वाला कुल खर्च लगभग उतना ही होगा, जितना कि सुधार से पहले था (सरकार द्वारा मशीन ट्रैक्टर केंद्रों को पहले दिए जाने वाले उपदानों के अनुसार छूट देकर) निःसंदेह सामूहिक फार्मों में इस कुल खर्च का विभाजन पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। कुल मिलाकर अधिक अच्छे फार्म पुरानी पद्धति के अंतर्गत अदा किए गए वर्द्धमान प्रीमियम दामों के आय-लाभ से वंचित रह जाएँगे और अधिक गरीब फार्मों को उस उत्पादन की लागत लगभग प्राप्त हो जाएगी, जो कि वे सरकार को देते हैं। सामान्यतः नई पद्धति सामूहिक फार्मों को यह आश्वासन देती है कि यदि वे इतने दक्ष हैं कि वे समान उर्वर भूमि और समान जलवायु में अपनी लागत को अन्य फार्मों की लागत की अपेक्षा काफी कम रखें, तो उन्हें नई सरकार द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं पर निबल आय हो सकती है, जिसे वे सामूहिक फार्मों के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं या नई मजूरी पद्धति के अंतर्गत सदस्यों को श्रम-दिन इकाई के लिए अधिक मूल्य या अधिक बोनस के रूप में बाँट सकते हैं। औसत दक्षता वाले फार्मों को यह आश्वासन प्राप्त है कि वे सरकार को अपनी उपज का संभरण बंद कर सकते हैं। जिन फार्मों की लागत औसत लागत से अधिक है, उन्हें संभवतः सरकार को दिए जाने वाले माल पर नुकसान उठाना पड़ेगा और उनकी या तो सरकारी निधि द्वारा सहायता की जाएगी या पुनर्व्यवस्था की जाएगी या दक्षता बढ़ाने के लिए उन्हें अन्य फार्मों के साथ मिला दिया जाएगा। नई पद्धति, फसल तैयार होने की समयावधि के दौरान दामों में कमी-बेशी के कारण,

---

उन्हें व्यक्तिगत संघटक गणराज्यों तक पहुँचाया जाएगा" और उक्त निर्णय ने गणराज्य मंत्रिपरिषदों को यह अधिकार दिया कि वे सामूहिक फार्मों द्वारा अधिप्राप्ति योजनाओं की पूर्ति के लिए अंतिम तिथि निश्चित कर सकें। देखिए दि लंदन इकोनॉमिस्ट, २६ जुलाई, १९५८, पृष्ठ २८४।

सामूहिक फार्मों को आश्वासन दिलाती है कि अच्छी फसल पैदा करने के लिए सावधानी, प्रवीणता और सख्त परिश्रम के वित्तीय लाभ मौसम की आकस्मिक खराबी के कारण समाप्त नहीं होंगे; न सामूहिक फार्मों को फार्म के कार्यों में हुई कमी को अच्छी फसल देने वाले मौसम द्वारा पूरी करने की ही अनुमति दी जाएगी।

अभिप्रेरणा की दृष्टि से ये नई अभिप्राप्ति प्रक्रियाएँ महत्त्वपूर्ण प्रतीत होंगी। एक अन्य सहगामी नई वात यह है कि सामूहिक फार्म के अध्यक्ष को पहली बार यह पता चलेगा कि उसके फार्म द्वारा उत्पादित प्रत्येक उत्पादन के संबंध में लागत प्रसामान्यक औसत लागत के रूप में क्या है। नई अधिप्राप्ति और मूल्य-व्यवस्था अभिभावी ढंग से ऐसी शर्तें रखेगी, जिनका सामूहिक फार्म को अनुपालन करना पड़ेगा, ताकि वह आर्थिक दृष्टि से शोधन-क्षम और खुशहाल रह सके। परंतु, यह फिर भी सरकारी अधिप्राप्ति ठेके की राशि से ऊपर के माल को फार्म के प्रबंध बोर्ड द्वारा निर्धारित कीमतों पर अपने सदस्यों को बेच सकते हैं और फालतू खाद्यान्न को कस्बों तथा नगरों में स्थापित सामूहिक फार्म मंडियों में अनियंत्रित मूल्यों पर बेच सकते हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि नई अधिप्राप्ति पद्धति मुख्य रूप से वित्तीय अभिप्रेरणों पर आश्रित है, जिससे सामूहिक फार्मों की दक्षता बढ़ाने और उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन दिया जा सके। स्तालिन के बाद सन् १९५३ से १९५७ ई० की समयावधि में अधिप्राप्ति पद्धति में सुधार की यह चरम सीमा है। यह राजाज्ञा और सीधे दबाव की पद्धति से, जो कि १९५३ ई० से पूर्व चलती थी, बिल्कुल भिन्न है।

सामूहिक फार्मों पर लागत नियंत्रण

१९५८ ई० से पूर्व न तो सरकार और न ही सामूहिक फार्म अपने उत्पादनों की प्रति यूनिट लागत (रूबल में) मापने की प्रक्रियाएँ स्थापित करने के लिए इच्छुक मालूम पड़ते थे। इसके मूल कारण ये थे : (१) अनिवार्य प्रदान के लिए नाममात्र भुगतान किया जाता था और इसका उत्पादन लागत से कोई संबंध न था; (२) अधिप्राप्ति अभिकरणों द्वारा अनुपूरक प्रीमियम-दाम-विक्रय अभिप्रेरण-दामों पर आधारित था, जिसका साभिप्राय रूप से लागत से कोई संबंध नहीं था; (३) फार्म द्वारा मशीन ट्रैक्टर केंद्रों की सेवाओं का भुगतान वस्तुओं के रूप में किया गया; (४) सामूहिक फार्म के किसान द्वारा फार्म की भूमि पर काम करने का मुआवजा अधिकांशतः वस्तुओं के रूप में प्राप्त होता था; (५) सामूहिक फार्म के सदस्य द्वारा सामूहिक फार्म से खरीदी गई वस्तुएँ (मुख्यतः पशुओं का चारा या संभरण) केवल पेशगियों के रूप में होती थी, जिनका समंजन सदस्य के खाते में जमा श्रम-दिन इकाइयों में किया जाता था। श्रम-दिन इकाइयों का भुगतान सिद्धांततः वस्तुओं के रूप में होता था।

सारांश यह है कि सरकार, मशीन ट्रैक्टर केंद्र तथा सदस्यों के साथ सामूहिक फार्म का लेन-देन अधिकतर वस्तुओं के रूप में होता था या अधिक-से-अधिक इतने नाममात्र या कृत्रिम दाम पर होता था कि फार्म द्वारा प्रभावशाली लेखा-पद्धति के इस्तेमाल के लिए, जिसमें लेखे की इकाई रूब्रल थी, कोई आधार नहीं था।

अब स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है और अब फार्म का लेन-देन पूर्णतः रूब्रल के रूप में किए जाने की पद्धति अधिकाधिक अपनायी जा रही है। सामूहिक फार्म द्वारा मशीन ट्रैक्टर केंद्र वस्तुओं के रूप में भुगतान की पद्धति समाप्त हो गई है और उसके स्थान पर नई मशीनरी और उनकी मरम्मत, गैसोलीन एवं तेल तथा ऑपरेटरों और मिस्त्रियों की मजूरी का भुगतान रूब्रल के रूप में किया जाता है (यद्यपि ऑपरेटरों और मिस्त्रियों की श्रम-दिन इकाइयों की वस्तुओं के रूप में संगणना चली आ रही है)। सदस्यों को सामूहिक फार्म पर काम करने के मुआवजे के भुगतान की पुरानी श्रम-दिन इकाई पद्धति, जो कि सिद्धांततः वस्तुओं के रूप में थी, धीरे-धीरे मासिक रूब्रल मजदूरी में बदली जा रही है। मासिक रूबल मजूरी के अलावा सदस्यों को वार्षिक रूब्रल बोनस भी दिया जाता है। सामूहिक फार्म का किसान भी सामूहिक फार्म से सामान रूब्रल के बदले में खरीदता है। नई अधिप्राप्ति पद्धति ने अनिवार्य प्रदान, जिनके लिए नाममात्र रूबल मूल्य अदा किया जाता था और रूब्रल प्रीमियम दामों, जिनका संबंध फार्म की लागत से नहीं होता था, तथा अधिप्राप्ति ठेकों, जिनमें क्षेत्रीय औसत लागत के आधार पर दाम निर्धारित किए एवं चुकाए जाते थे, की पद्धति को बदल दिया है। हाँ, नगरों और कस्बों में स्थित सामूहिक फार्म की मंडियों में विक्रय हमेशा केवल रूबल के बदले होता था।

इस प्रकार सामूहिक फार्म का लेन-देन रूबल व्यय और रूबल आय के रूप में बदल रहा है। सामूहिक फार्म के बही-खाते में अधिक-से-अधिक प्रविष्टियाँ रूबल में होती हैं। सामूहिक रूप से इन परिवर्तनों का उद्देश्य सामूहिक फार्मों के कार्यों पर क्रांतिकारी प्रभाव डालना है। चूँकि ये धीरे-धीरे संपन्न हो रहे हैं, इसलिए सामूहिक फार्म के लिए यह अधिकाधिक संभव और आवश्यक हो जाता है कि वे सोवियत औद्योगिक उपक्रमों की तरह की लेखा पद्धति इस्तेमाल करें अर्थात्—ऐसे लागत लेखा तकनीकों का इस्तेमाल करें, जो कि फार्म के प्रत्येक उत्पादन[1] की इकाई-लागत का हिसाब रूबल में करने की अनुमति दें।

---

[1] इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि फार्म के पास अपने उत्पादन की इकाई-लागत का हिसाब सावधानी से करने के लिए पर्याप्त अभिप्रेरण है। फार्म के प्रबंधकों को यह जानने की आवश्यकता है कि क्षेत्रीय अधिप्राप्ति लागत की तुलना में किन उत्पादनों की लागत इतनी अधिक है कि जब तक उस उत्पादन में फार्म की दक्षता को बढ़ाया नहीं जाता, तब तक उस

नई पद्धति के अंतर्गत विशिष्ट उत्पादनों के लिए यूनिट लागत की अधिप्राप्ति लागत से यथार्थ तुलना संभव होगी और इससे पता चलेगा कि किन उत्पादनों में वर्त्तमान लागत से जहाँ तक विवेकानुसार चुनाव का संबंध है—फार्म को अपनी निवल आय को बढ़ाने के लिए विशेषज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार अलग-अलग फार्म तथा प्रत्येक विशिष्ट महाखंड के लागत-आँकड़ों से योजना बनाने वाले सरकारी अधिकारी सोवियत कृषि के इतिहास में पहली बार योजनाबद्ध अधिप्राप्तियों तथा किसानों के साथ परिणामजन्य अधिप्राप्ति ठेकों की महाखंड की यथोचित कल्पित विशेषज्ञता पर आधारित कर सकते हैं। व्यक्तिगत फार्म पर फार्म के कुल[1] कार्यों में, विशेष रूप से अदक्ष श्रमिकों या कार्यों के वर्गों को अलग करने में सहायता देने के लिए इस प्रकार की लागत-लेखा पद्धति (विशेषकर ऐसे फार्म सदस्यों के साथ जिन्हें नियमित मासिक मजदूरी दी जाती है) ब्रिगेड या कार्यात्मक आधार पर छोड़ी जा सकती है। इस लागत-लेखा पद्धति के अच्छी तरह स्थापित हो जाने पर, सरकार के कृषि-पर्यवेक्षी अभिकरणों के पास अपने मार्गदर्शन के लिए और कसौटी के रूप में विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट उत्पादनों और कार्यों के संबंध में लागत प्रसामान्यक स्थापित करने के लिए सांख्यिकीय आधार होंगे, जिनसे व्यक्तिगत फार्म अपना परीक्षण कर सकते हैं।[2]

उत्पादन से फार्म की निवल आय में विशेष वृद्धि नहीं हो सकती। उन्हें यह जानने की आवश्यकता है कि कौन सी वस्तुएँ उपार्जन लागत से अधिक लागत पर उत्पादित की जाती हैं और कौन सी वस्तुएँ उत्पादन लागत से काफी कम लागत पर। जब तक उनके पास यह जानकारी प्राप्त नहीं होती, तब तक उनके पास फार्म की दक्षता को बढ़ाने के लिए प्रयास केंद्रित करने का आधार नहीं हो सकता।

[1] असंख्य अन्य लाभ दृष्टिगोचर हो सकते हैं। उदाहरण के लिए इन प्रक्रियाओं से मशीनरी और उपकरणों के मूल्य-ह्रास का अधिक सही अनुमान लगाया जा सकता है और इस प्रकार फार्म की अविभाज्य निधि में मूल्य-ह्रास का अधिक सही भुगतान किया जा सकता है।

[2] इनमें अनेक सूक्ष्म पेचीदगियाँ हैं। उदाहरण के लिए औसत महाखंडीय लागत पर आधारित अधिप्राप्ति दामों के कारण सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक महाखंड के लिए सही लागत-आँकड़े प्राप्त करे। यदि गलत आँकड़ों के कारण अधिप्राप्ति दाम वास्तविक औसत लागत से अधिक निश्चित किए जाएँ, तो फार्मों पर दक्षता बढ़ाने के लिए अपेक्षित दबाव से कम दबाव रहेगा। यदि अधिप्राप्ति दाम वास्तविक औसत लागत से कम हों, तो फार्म कतिपय पदार्थों के उत्पादन पर अत्यधिक हानि के कारण हतोत्साह हो सकते हैं। इसके अलावा, जब तक लागत-आँकड़े बिल्कुल सही नहीं होते, तब तक सरकार अधिप्राप्ति दामों (जिसका फार्म की बढ़ती हुई दक्षता से संबंध है) में वह क्रमिक अधोमुख समंजन करने में असमर्थ रहेगी जो कि वह उत्पादिता में वृद्धि करने में निमित फार्म पर निरंतर दबाव रखने के लिए एक उपाय के रूप में करना चाहती है।

सोवियत कृषि के लिए इस प्रकार की लागत लेखा-पद्धति और लागत नियंत्रण की सामर्थ्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन[1] नहीं किया जा सकता। इस समय तक कृषि उत्पादन के विस्तार के लिए प्रयत्न अधिकाधिक भूमि पर काश्त करके और श्रम का अधिक प्रयोग करके किए गए हैं। दक्षता का अनुमान लगाने या उसमें वृद्धि करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सोवियत संघ में अब अक्षत-भूमि जिसमें काश्त करना संभव है, बहुत कम है या अविद्यमान[2] है और श्रमिक बहुत थोड़े हैं। यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि प्रति एकड़ और प्रति श्रम-घंटा उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के रूप में उत्पादिता के भारी भंडार उपलब्ध हैं। मशीन ट्रॅक्टर केंद्र सुधार, फार्म के सदस्यों को मुआवजा देने की योजना के सक्रमण और नई अधिप्राप्ति पद्धति में लागत नियंत्रण तथा लेखांकन द्वारा इन संभाव्य साधनों को महसूस करने के लिए आक्रामक प्रयत्न का आधार बनाया गया है। चूँकि यह आंदोलन अभी शुरू ही हुआ है और इसे शुरू-शुरू में सामूहिक फार्मों पर निष्क्रियता, पुराने तरीकों को अपनाने, पर्याप्त कुशल लेखापालों और लेखा मशीनों के अभाव आदि की कठिनाइयों का अवश्य सामना करना पड़ेगा, अतः इसके वास्तविक गुणों का इतनी जल्दी मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। चूँकि इन लागत लेखांकन और लेखा-नियंत्रण लक्ष्यों की प्राप्ति से सामूहिक फ़ार्म के काम करने का आधार लगभग सरकारी फार्मों, सरकारी कारखानों या सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कारखानों-जैसा होगा, इसलिए कुछ रूसी सिद्धांतवादी यह कह रहे हैं कि इससे सामूहिक फार्म की संपत्ति विशुद्ध सरकारी संपत्ति के समकक्ष लायी जा सकेगी—एक सिद्धांतात्मक समस्या जिस पर मशीन ट्रॅक्टर केंद्रों के सुधार के सिलसिले में विचार-विमर्श कियागया था। अंत में इन सभी विचार-विमर्शों को सही रूप में लेने के लिए यह अवश्य याद रखना होगा कि इन लागत लेखांकन प्रक्रियाओं के कच्ची दत्त सामग्री में सामान, मशीनरी आदि के रूबल मूल्य भी शामिल हैं, जो कि बड़े ही मनमाने हैं। ये अनिवार्य प्रतियोगी निजी उद्योगों के लेखों के नकद मूल्यों से विपरीत हैं। परंतु, इस अंतर का लेखा तकनीकों पर, जो कि सोवियत संघ की सामूहिक फार्म कृषि में नियंत्रण साधन हैं, कुप्रभाव नहीं पड़ता।

---

[1] खुश्चेव ने इस महत्त्व का सार इस प्रकार निकाला है : "पैदा की जानेवाली वस्तुओं की लागत का सम्यक् विश्लेषण किए विना और रूबल के नियंत्रण बिना खेती-वाड़ी को चलाना संभव नहीं है।" एल० वॉलिन द्वारा उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ ३०३ पर उद्धृत।

[2] अनुमान है कि इस समय लगभग १·५ करोड़ एकड़ अक्षत-भूमि में काश्त की जा सकती हैं। दि लंदन इकोनॉमिस्ट, १६ जनवरी, १९६०, पृष्ठ १८६।

कृषि की वर्त्तमान स्थिति

पिछले वर्षों के व्यापक कृषि-सुधार, दल के नेताओं के कृषि के प्रति उग्र असंतोष को प्रतिबिंबित करते हैं। प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने इस पर बार-बार जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि १९५२ ई० में कृषि उत्पादन सन् १९४० ई० के कृषि उत्पादन से केवल १० प्रतिशत अधिक था, जबकि औद्योगिक उत्पादन दुगने से भी अधिक[1] था। सन् १९५३ से १९५८ ई० तक कृषि उत्पादन में बहुत तेजी से वृद्धि हुई। परंतु, ये वृद्धि सर्वथा ९ करोड़ अक्षत-भूमि[2] पर काश्त करने, फार्म पर अधिक श्रमिक नियुक्त करने और सामूहिक फार्मों के किसानों को अधिप्राप्ति प्रीमियम दाम देकर, जिनका नितांत प्रयोग असंभव हो गया, अधिक अभिप्रेरणा देने के कारण हुई। स्पष्टतः सोवियत कृषि में महत्त्वपूर्ण कमी प्रति श्रम-घंटा और प्रति एकड़ उत्पादन में संतोषजनक वृद्धि करने की असमर्थता रही है। रूस के अर्थशास्त्रियों द्वारा सामूहिक फार्मों पर प्रत्येक मुख्य फसल की अपेक्षित प्रति श्रम-घंटा उपज की अमेरिका की फार्मों पर उसी फसल की अपेक्षित प्रति श्रम-घंटा उपज से की जाने वाली तुलना से इसका साफ पता चलता है। इस प्रकार रूस के सामूहिक फार्मों पर एक कुशल अनाज पैदा करने के लिए अमेरिका की फार्मों की अपेक्षा औसतन ७·३ गुना श्रम-घंटे लगते हैं। अन्य उत्पादनों के लिए यह समयावधि इस प्रकार है—आलू ५.१ गुना, मीठी चुकंदर ६.२ गुना, कपास २.३[3] गुना ये तीन फसलें सोवियत संघ की काश्त की गई भूमि के संभवतः ४/५ भाग पर बोयी जाती हैं और ये सामान्यतः कृषि की विशिष्ट फसलें मानी जा सकती हैं। यद्यपि सोवियत संघ की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका की जलवायु कुछ अच्छी है, जो कि कृषि की उपज के लिए उपयुक्त है, तो भी रूस में इन मुख्य फसलों की औसत उपज हमारी आधी उपज से भी कम है—यह लगभग १/२ और १/३ के[4] बीच है।

इन तुलनाओं से रूस की ४३ प्रतिशत और हमारी १२ प्रतिशत कृषक जन-संख्या (हमारी १२ प्रतिशत में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो फार्म पर या फार्म के क्षेत्र में रहते हैं, परंतु काम कारखानों में करते हैं–रूस में ऐसी स्थिति नहीं है)[5] की

---

[1] एल० वॉलिन, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३०३।

[2] इस कार्य का विशाल स्वरूप यह स्मरण करके आँका जा सकता है कि काश्त की गई उक्त भूमि फ्रांस, पश्चिम जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन की कुल कृषि योग्य भूमि के लगभग बराबर है। एल० वॉलिन, प्रॉब्लेम्स ऑफ कम्युनिज्म, जनवरी-फरवरी, १९५९, पृष्ठ ४३।

[3] प्रॉब्लेम्स ऑफ इकोनॉमिक्स (रूसी भाषा से अनूदित), नवंबर, १९५९ ई०, पृष्ठ ७९।

[4] आर० डब्ल्यू० कैम्पवेल, सोवियत इकोनॉमिक पावर, बोस्टन, हफ्टन मिफ्लिन, १९६० ई०, पृष्ठ ७१।

[5] सी० बी० शुमन, इन कम्पेरिजन्स ऑफ दि युनाइटेड स्टेट्स ऐंड सोवियत इकोनॉमिक्स,

असमानता स्पष्ट होती है। इन तुलनाओं से रूस के कृषि-क्षेत्र में उत्पादिता के अपरिमित रक्षित भंडारों के बारे में कुछ पता चलता है, बशर्ते कि उसके लिए अपेक्षित स्थिति और अभिप्रेरणा पैदा की जा सके। सुधार के उन तरीकों, जिनका हमने निरूपण किया है, और उत्पादन उपायों के बर्द्धित एवं उत्कृष्ट यंत्रीकरण तथा सामूहिक फार्मों के विस्तृत विद्युतीकरण से इन उद्देश्यों की पूर्ति होने की आशा है। उनके कृषि लक्ष्य सन् १९५९-१९६५ ई० की आयोजना में स्पष्ट हैं। १९६५ ई० में कुल कृषि उत्पादन १९५८ ई० के उत्पादन का १७० प्रतिशत करने की आयोजना है। सामूहिक फार्मों पर श्रम-घंटा उत्पादन में १०० प्रतिशत और सरकारी फार्मों पर लगभग ६० प्रतिशत[1] की वृद्धि होने की आयोजना है।

सामूहिक फार्म का भविष्य

यद्यपि इस समय सामूहिक फार्म, कृषि के संगठन का एक अभिभावी स्वरूप है, पिछले कुछ समय में इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और इसके दीर्घकालीन भविष्य के बारे में पर्याप्त संदेह है। विलय द्वारा सामूहिक फार्मों की संख्या में कमी हो रही है और औसत फार्म की भूमि तथा जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। इसके लेन-देन के तौर-तरीके बदल रहे हैं। लेन-देन वस्तुओं के माध्यम की वजाय पूर्ण रूप से मुद्रा में किया जा रहा है। निबल उत्पादन को श्रम-दिन इकाई के आधार पर बाँटने की पद्धति का स्थान धीरे-धीरे गारंटीकृत नकद मजदूरी पद्धति ले रही है, जिसमें निबल आय में से वार्षिक बोनस के भुगतान की भी व्यवस्था है। इसके लेखे वस्तुओं की अपेक्षा अधिकाधिक नकद इकाइयों में रखे जा रहे हैं, जो कि अधिक सुधरे हुए हैं और लागत विश्लेषण तथा नियंत्रण के तकनीकों पर केंद्रित होंगे। सामूहिक फार्मों पर दल के संगठनों की संख्या बढ़ गई है और वे अधिक प्रभावशाली बन गए हैं। सामूहिक फार्म का निदेशक अब उसके सदस्यों में से चुना हुआ व्यक्ति न होकर कृषि में तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त कोई व्यक्ति होता है। वह इस पद के लिए मुख्यतः किसी प्रवर कर्मचारी या अभिकरण द्वारा चुना जाता है।

ये सब प्रवृत्तियाँ सामूहिक फार्म को सरकारी फार्म के समान तथा सामूहिक फार्म के सदस्यों को सरकारी फार्म के श्रमिकों और सरकार के एवं सरकार द्वारा चलाए जाने वाले औद्योगिक उद्यमों के श्रमिकों के समान बनाने की दिशा में काम करती हैं। यदि व्यक्तिवादी किसानों का संभाव्य निष्क्रिय विरोध न होता, तो ये प्रवृत्तियाँ काफी तेज हो जातीं और वास्तव में सारी सामूहिक फार्में शीघ्र ही सरकारी

पार्ट १, रिपोर्ट ऑफ दि ज्वायंट इकोनॉमिक कमेटी, काँग्रेस ऑफ दि युनाइटेड स्टेट्स, वाशिंगटन, गवर्नमेंट प्रिंटिंग ऑफिस, १९५९ ई०, पृष्ठ ४९९।

[1] नी० आई० साम्वोंसंको, दि सोवियत इकोनॉमी, सन् १९५९-६५ ई०, न्यूयार्क, इंटरनेशनल आर्ट्स एंड साइंसेज प्रेस, १९५९ ई०, पृष्ठ ४१, ७४।

फार्मों में बदल जातीं। निस्संदेह पार्टी के कुछ या संभवतः सभी नेता इस प्रकार के आंदोलन का समर्थन करेंगे। यदि किसानों द्वारा किया जाने वाला प्रत्यक्ष विरोध न होता, तो संविधान के उस उपबंध की अवहेलना की जा सकती थी, जिसमें सामूहिक फार्मों को सामूहिक फार्म की भूमि 'स्वतंत्र और निरवधि' इस्तेमाल करने की गारंटी दी गई है। वैयक्तिक सामूहिक फार्म की मशीन ट्रैक्टर केंद्र उपकरणों का विक्रय सिद्धांततः उचित दिखाने के सिद्धांतवादियों के प्रयासों के बावजूद यह चिरकालीन संदेह है कि क्या सामूहिक फार्म उतनी ही विशुद्ध सामाजिक संपत्ति है जितनी कि सरकारी फार्म ? इस संदेह की पुष्टि इस उपयुक्त तथ्य से होती है कि जहाँ सामूहिक फार्म और सरकारी फार्म पर उत्पादित एक ही पदार्थ की यूनिट लागतों की तुलना सही ढंग से की जाती है, वहाँ सरकारी फार्मों को महत्त्वपूर्ण लागत-लाभ प्राप्त प्रतीत होता है।

दल के बड़े-बड़े नेताओं ने लागतों की इस असमानता में, जो कि संभवतः दक्षता में महत्त्वपूर्ण असमानता की सूचक है, बहुत रुचि दिखाई है। लागत में पर्याप्त बचत द्वारा, जो कि सामूहिक फार्मों के लिए नौकरशाही अधिप्राप्ति पद्धति को अनावश्यक बना कर प्राप्त की जा सकती है, दक्षता में यह असमानता बढ़ जाती है। सामूहिक फार्म के सदस्यों के निजी भूखंड की रियायत पर दल के नेता काफी समय से रोष प्रकट करते रहे हैं और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार की रियायतें केवल अनिच्छा के साथ ही दी जाती हैं; क्योंकि इनसे सामूहिक फार्म के सदस्यों की शक्ति को सामूहिक फार्म के कार्य[1] से विकेंद्रित करने की प्रवृत्ति पैदा होती है।

निजी भूखंड और मार्क्सवादी मत में सिद्धांतात्मक समझौता कराने के लिए कभी भी कोई प्रयास नहीं किया गया। वास्तव में, मूल सिद्धांतात्मक दृष्टिकोण से, दल सामूहिक फार्म के संगठन और कार्यों में उन प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के लिए बचनबद्ध प्रतीत होगा, जो कि उन्हें अधिकाधिक सरकारी फार्मों

---

[1] उदाहरण के लिए, पता चला है कि प्रधान मंत्री खुश्चेव ने यह निर्णय किया है कि सामूहिक फार्मों पर निजी भूखंड धीरे-धीरे समाप्त कर दिए जाने चाहिए, यद्यपि उन्होंने इस कार्य की पूर्ति के लिए कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की है। संभवतः उनका इरादा यह है कि इनकी क्रमिक समाप्ति का समन्वय सामूहिक फार्म की भूमि पर सामूहिक फार्म के श्रमिकों को अधिक मजूरी और बोनस के भुगतान के साथ किया जाएगा। यह बताया गया है कि सरकारी फार्मों पर निजी भूखंडों के अधिकार (जो कि सामूहिक फार्मों की अपेक्षा अधिक सीमित है) कुछ वर्षों में समाप्त कर दिए जाएँगे। देखिए एल० बॉलिन, प्राब्लेम्स ऑफ कम्युनिज्म, जनवरी-फरवरी, १९५९ ई०, पृष्ठ ३६, मैक्स फ्रैंकल, दि न्यूयार्क टाइम्स, दिसंबर १८, १९५८ ई०।

के समान बना देंगी और अंत में दोनों प्रकार के फार्म विचारधारात्मक और 'संगठनात्मक' रूप से आपस में मिल जाएँगे। केवल इस प्रकार का ही लक्ष्य किसानों और औद्योगिक श्रमिक वर्ग के बीच की असमानता को दूर करेगा—यह संपूर्ण साम्यवाद की ओर, जो कि दल के नेताओं का सोवियत संघ के लिए एक स्वीकृत लक्ष्य है, अग्रसर होने के लिए अत्यावश्यक है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. क्या सोवियत शासन के कृषि उद्देश्यों में समय के साथ परिवर्तन हुआ है?

२. सरकारी फार्मों और सामूहिक संगठन तथा प्रबंध की तुलना कीजिए।

३. क्या सामूहिक फार्मों का प्रबंध प्रजातंत्रात्मक ढंग से किया जाता है?

४. सामूहिक फार्मों के सदस्यों को उनके काम का मुआवजा देने की पद्धति में क्या-क्या परिवर्तन हो रहे हैं?

५. मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के स्तर और कार्यों में भारी परिवर्तन करना क्यों आवश्यक समझा गया?

६. मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के सुधार से उत्पन्न मुख्य व्यावहारिक समस्याएँ क्या हैं? उनका समाधान कैसे किया गया है?

७. मशीन ट्रैक्टर केंद्रों के सुधार से उत्पन्न मुख्य सिद्धांतात्मक समस्याएँ क्या हैं? इनका सामूहिक फार्मों की 'अविभाज्य निधि' से क्या संबंध है?

८. कृषि अधिप्राप्ति पद्धति द्वारा क्या कार्य किया जाता है? अधिप्राप्ति विधि में हाल में किए गए परिवर्तनों का क्या महत्त्व है?

९. सामूहिक फार्मों पर लागत नियंत्रण का महत्त्व क्यों बढ़ता जा रहा है? पिछले कुछ समय तक इसका विकास क्यों नहीं हुआ?

१०. सामूहिक फार्मों के भविष्य के संबंध में क्या संदेह है? इस संदेह के विद्यमान होने के क्या कारण हैं?

●

अध्याय २५

निर्माण उद्योग और श्रमिक उद्योग

औद्योगिक संपत्ति पर सरकारी स्वामित्व

सोवियत संघ की सरकार द्वारा प्राकृतिक संसाधनों और बड़े पैमाने के औद्योगिक उपकरणों के स्वामित्व के सबंध में विभिन्न संकेत किए गए हैं। निर्माता उद्योगों के संगठन का विश्लेषण करने से पहले इस प्रकार कीं संपत्ति के स्वामित्व अधिकारों के राष्ट्रीयकरण का उल्लेख किया जाना चाहिए।

नवंबर, १९१७ ई० में जब बोलशेविक सत्तारूढ़ हुए, तब वर्त्तमान संपत्ति पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और संगठनों का स्वामित्व अधिकार था। संपत्ति के इन स्वामियों में शासक जार वर्ग के सदस्य और स्थापित गिरजा संस्थाएँ तथा शृंखलाएँ प्रमुख थीं। निःसंदेह स्वामित्व के ये अधिकार मिटाए नहीं गए थे, परंतु उनका महत्त्व इससे अधिक नहीं था जितना कि वर्त्तमान शासन द्वारा दिया गया है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार यह आशा की जाती है कि नए श्रमिकों की संपत्ति के स्वामित्व अधिकार सीधे जब्त करके सरकार को स्थानांतरित किए जाएँगे। यथार्थतः यही हुआ भी।

लगभग सात मास तक अनेक आदेश जारी करके नई सरकार ने सारी भूमि और बड़े पैमाने की औद्योगिक पूँजी का स्वामित्व अधिकार सँभाल लिया। ये आज्ञप्तियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं :

२६ नवंबर, १९१७ ई० को उद्योग पर श्रमिकों के नियंत्रण के संबंध में एक आदेश की घोषणा की गई। इसमें यह व्यवस्था थी कि संबंधित उद्योगों में उत्पादन कार्यक्रम तथा क्रय-विक्रय एवं विक्रय-दाम के बारे में कारखाना समितियों का परामर्श लिया जाए। २७ दिसंबर को बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। २१ जनवरी, १९१८ ई० की आज्ञप्ति द्वारा जार तथा केरेंस्की सरकारों के सभी बिदेशी और आंतरिक ऋण अस्वीकार कर दिए गए। ७ फरवरी को व्यापारी जहाजी बेड़े

के स्वामित्व का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसके दो सप्ताह बाद भूमि का राष्ट्रीयकरण किया गया। २ अप्रैल को सभी प्रकार के बीमे पर सरकार का नियंत्रण स्थापित किया गया। २२ अप्रैल को विदेशी व्यापार पर सरकार का सर्वाधिकार स्वीकार किया गया। बड़े-बड़े उद्योगों और वाणिज्य का ३० जून, १९१८ ई० को राष्ट्रीयकरण किया गया।

इन आज्ञप्तियों की शृंखला के साथ-साथ १ दिसंवर, १९१७ ई० को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था-संबंधी सर्वोच्च परिषद् स्थापित की गई, जिसे उन संपत्तियों के प्रशासन के बारे में व्यापक अधिकार दिए गए, जिनके स्वामित्व अधिकार हाल ही में सरकार ने सँभाल लिए थे।[1]

यद्यपि प्राकृतिक संसाधनों और औद्योगिक संपत्तियों पर कलम द्वारा कुछ शब्द लिखकर अधिकार प्राप्त कर लिया गया, परंतु उनके समन्वित समाजीकृत अर्थ-पद्धति में आत्मसात् बहुत धीमी गति से हुआ। हमने इस तथ्य का उल्लेख पहले कर दिया है कि कृषि का सामूहिकीकरण अनियमित ढंग से हुआ; कभी आदेश जारी किए, तो कभी समर्थन किया गया। निर्माता उद्योग और वाणिज्य के समाजीकरण में भी काफी हद तक यही हुआ। बोलशेविक शासन के पहले वर्षों में सशक्त केंद्रीय सरकार के आदेशों तथा योजनाओं के अनुरूप पुनर्गठन का तेज कार्यक्रम चला। 'नई अर्थनीति' ने, जिसने इसका स्थान लिया, आर्थिक कार्यों में नियुक्त व्यक्तियों को निजी लाभ के लिए निजी व्यापार और निजी स्वामित्व के कुछ विशिष्ट लाभ तथा विशेषाधिकार प्रदान किए। केंद्रीय विभागों द्वारा स्थापित सामान्य निदेशों और लक्ष्यों के साथ समाजीकरण तथा सामूहिकीकरण के वर्त्तमान कार्यक्रम में 'दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे जाना' की यह योजना शामिल कर ली गई है और विस्तृत प्रशासन-काय अधिकतर सरकारी एजेंसियों, मजदूर संघों, सहकारी समितियों तथा साम्यवादी दल के लिए छोड़ दिया गया है। सोवियत संघ के निर्माता उद्योगों के संगठन का वर्णन करते समय गति और तरीकों के बदलने में हुए उन परिवर्तनों का पता लगाना असभव होगा, जिनके द्वारा समाजीकरण हुआ है। उन असंख्य स्थानीय अधिकरणों का विस्तृत वर्णन करना भी असंभव होगा, जिनका कुल अर्थतंत्र के संचालन में कृत्यकारी योगदान रहता है। केवल निर्माता उद्योग के ढांचे की मुख्य रूपरेखा और संचालन प्रक्रिया के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्वरूप का ही पता चलेगा।

---

[1] हैरी टी० डिवाइन, दि आरगैनाइजेशन ऐंड टेक्नीक ऑफ इकोनॉमिक प्लानिंग विद स्पेशल रेफरेंस टू दि सोविएत यूनियन, सीनियर रिसर्च थीसिस, ह्वार्टन स्कूल ऑफ फाइनेंस ऐंड कॉमर्स, १९३३ ई०, अप्रकाशित।

इस समय व्यावहारिक रूप से सभी प्राकृतिक और जनता द्वारा बनाए गए उत्पादन-उपकरणों पर सरकार या सामूहिक फार्मों का स्वामित्व है। यह खबर मिली है कि सोवियत संघ की ९८.७ प्रतिशत उत्पादन क्षमता 'सरकारी संपत्ति' के रूप में है। इनमें सरकार के स्वामित्व या संचालन के उत्पादक संसाधन तथा कृषि एवं औद्योगिक सहकारी समितियों के उत्पादक संसाधन शामिल हैं। कुल क्षमता में से १.१ प्रतिशत सामूहिक फार्मों के सदस्यों के निजी भूखंडों और उपकरणों के रूप में है तथा शेष ०.२ प्रतिशत पर उन कृषकों और हस्तशिल्पियों का निजी स्वामित्व है, जो कि सामूहिक फार्मों या औद्योगिक सहकारी समितियों के सदस्य नहीं हैं।[1]

१९५७ ई० से पूर्व के उद्योग संगठन

निर्माता सहकारी समितियों (वर्णन बाद में किया जाएगा) को छोड़कर, जिनका अपेक्षतया छोटे पैमाने के उपभोक्ता-माल उद्योगों तथा बहुत कम महत्त्व के निजी दस्तकारी उत्पादन में महत्त्व है, सोवियत संघ में सारे निर्माता उद्योगों की स्वामी सरकार है और उसका प्रबंध सरकार द्वारा किया जाता है। १९५७ ई० में उस समस्त प्रशासकीय तंत्र का आमूल पुनर्गठन हुआ, जिसके द्वारा निर्माता उद्योगों का प्रबंध चलाया जाता है। इससे पूर्व प्रबंध संगठन को 'अनुसचिवीय' कहा जा सकता था। इसके अंतर्गत, राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक उद्योग में सर्वोच्च प्रबंध अभिकरण मास्को का एक मंत्रालय था, जिसका मुखिया राष्ट्रीय लोक मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य था। इनमें से प्रत्येक मंत्रालय के अंतर्गत दूर-दूर तक उद्योग फैल गए, जिनमें सभी मुख्य निर्णय शिखर पर मंत्रालय से आते थे। प्रत्येक मंत्रालय में मंत्री को सभी उद्योगों को आदेश जारी करने तथा मुख्य कर्मचारी नियुक्त एवं बर्खास्त करने का अधिकार था। वह मंत्री इस विशिष्ट उद्योग की सफलता या असफलता के लिए जिम्मेवार होता था। प्रत्येक मंत्रालय में सामान का संभरण प्राप्त करने, उत्पादित वस्तुएं बेचने, पूँजी का प्रबंध करने, श्रमिक प्राप्त करने आदि के लिए विशेष कृत्यकारी प्रभाग थे।

किसी बहुत बड़े निर्माता उद्योग की व्यवस्था सीधे मंत्री द्वारा की जाती थी। मंत्रालयों तथा उद्योगों के बीच अन्य मामलों में 'मुख्य प्रशासन' थे, जो कि उद्योग के कृत्यकारी विभाजनों और उद्यमों वगैरह को न्यासों में वर्गीकृत करने के लिए जिम्मेवार थे। न्यास के उद्यमों में भौगोलिक निकटता या एक दूसरे को सामान या पुर्जे संभरण करने के नाते से परस्पर संबंध था। मंत्रालय, मुख्य प्रशासन, न्यास और

---

[1] पी० ओगनेव, इनफॉरमेशन बुलेटिन ऑफ दि एम्बेसी ऑफ दि यू० एस० एस० आर०, अक्तूबर १८, १९४५, पृष्ठ ६।

उद्यम का सोपानिक ढाँचा प्रत्येक मंत्रालय में अलग-अलग था और एक ही मंत्रालय में भी भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न था। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा मास्को के मंत्रिमंडल के पास प्रत्येक महत्त्वपूर्ण निर्माता उद्योग के लिए विस्तार की रूपरेखा तैयार करने (योजना अभिकरणों द्वारा जिनका वर्णन बाद में किया जाएगा), अधीनस्थ इकाइयों के प्रबंधक नियुक्त और बर्खास्त करने, अधीनस्थ इकाइयों के लेखाओं का अनुमोदन करने, अधीनस्थ उद्यमों द्वारा प्राप्त 'लाभों' के कुछ इस्तेमाल की मंजूरी देने, नई संयंत्र सुविधाओं का निर्माण करने, कच्चा माल खरीदने और उपज बेचने, असफलताओं के लिए दंड देने, पर्याप्त कर्मचारी प्राप्त करने और उन्हें प्रशिक्षण देने, अनुसंधान करने, लंबी अवधि या छोटी अवधि के बैंक ऋण प्राप्त करने, कार्यकुशलता बढ़ाने और सभी अधीनस्थ इकाइयों में प्रशासन के लिए आवश्यक आँकड़े देने योग्य अभिलेख रखने के संबंध में निर्णय लेने का अधिकार है।

इस प्रशासनिक व्यवस्था की जड़ में निर्माता उद्यम या संयंत्र थे। इनमें से प्रत्येक के अपने प्रथागत कारखाने होते थे और कारखानों के प्रबंधक का चुनाव उद्यम के निदेशक द्वारा किया जाता था तथा वे रोजमर्रे के काम के लिए उक्त निदेशक के प्रति जिम्मेवार होते थे। सामान्यतः कारखाने फोरमैन के अधीन अनुभागों में विभाजित किए जाते थे और अनुभाग ब्रिगेडों में विभक्त किए जाते थे, जिनमें ब्रिगेड-नेता नियुक्त किए जाते थे। प्रत्येक उद्यम के निदेशक (१९५७ से पूर्व और बाद) अपने उद्यम के बिल्कुल उसी तरह प्रभारी रहे हैं, जिस प्रकार अमेरिका की बहुसंयंत्र निगम में संयंत्र महाप्रबंधक होता है। वह वर्त्तमान उत्पादन का कार्यक्रम बनाने और उनको बनाए रखने, उत्पाद की किस्म बनाए रखने, संयंत्र की दक्षता को उच्चतम और उत्पादन लागत को न्यूनतम रखने, अनुशासन कायम करने, संयंत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा उच्चतम सरकारी निकायों द्वारा निर्धारित श्रम कानूनों और नियमों के अनुसार श्रमिकों को स्थानांतरित एवं बर्खास्त करने तथा अपने सहायकों—जैसे कि मुख्य इंजीनियर व मुख्य लेखापाल को नियुक्त और बर्खास्त करने के लिए जिम्मेवार है।

हालांकि उद्यम निदेशक उत्पादन के लिए जिम्मेवार है, परंतु वह ऊपर के आदेशों और नियमों से सीमाबद्ध है। उत्पादन की पद्धतियाँ और नमूने उसके प्रवर अधिकारियों द्वारा निर्धारित किए गए हैं। उत्पादित वस्तुओं और सामग्री के दाम उच्चतर प्रशासकीय स्तर पर निर्धारित किए जाते हैं। चूँकि उद्यम की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कच्ची सामग्री ऊपर से निर्धारित की जाती है, इसलिए निदेशक को उत्पाद में आयोजित मात्रा से अधिक वृद्धि करने का सीमित ही अवसर मिलता है। निदेशक ऊपर से लादी गई आयोजनाओं और आदेशों का उल्लंघन करके पूँजी उपकरणों का

विस्तार करने में स्वतंत्र नहीं होते। एक ओर निदेशक की वैयक्तिक स्वतंत्रता को कम करने वाले उच्चत्तर निदेशों, सीमाओं और आयोजनाओं तथा दूसरी ओर संयंत्र द्वारा दक्षता प्राप्त करने और कम खर्च करने तथा हर संभव 'उत्पादिता संचय' की खोज करने एवं उसका उपयोग करने की माँगों का दबाव ही लंबे समय से उद्यम के निदेशक की कटु शिकायतों का कारण रहा है। उदाहरण के लिए, १९५७ ई० से पूर्व की समयावधि में निदेशकों ने सरकार से फालतू या अनाबश्यक मशीनों अथवा सामग्री बेचने और अन्य उद्यमों की इस प्रकार की फालतू सामग्री खरीदने में अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी।

कुछ महत्त्व के प्रत्येक उद्यम में साम्यवादी दल की एक इकाई होती है, जिसके कृत्य तथा प्रभाव निदेशक को अवश्यमेव स्वीकार करने चाहिए। दल तथा सरकार इस इकाई से कर्मचारियों में सांस्कृतिक, मनोरंजन एवं शिक्षा-सुविधाओं की व्यवस्था करने, संयंत्र के कर्मचारियों के लिए पर्याप्त आवास की व्यवस्था की जाँच करने, श्रमिकों में हौसले, दक्षता तथा प्रबल प्रेरणा का विकास करने एवं उद्यम के निदेशक को समालोचनात्मक और रचनात्मक सुझाव देने की अपेक्षा करती है। यह इकाई उत्पादन तथा दक्षता के संबंध में उद्यम के निदेशक की पर्याप्तता और दबाव की लगातार जाँच करने के लिए मुख्यतः पार्टी के उच्चतर अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी होती है। स्थानीय दल के ये कार्य अनेक विशिष्ट अवसरों पर निदेशक की वैयक्तिक स्वतंत्रता कम करते हैं। इनमें दल की निगरानी भी शामिल है, जिसमें पार्टी के उच्चतर सोपानों के पास कर्त्तव्य के प्रति अवहेलना के प्रतिवेदन का सवाल उठ सकता है। इसी प्रकार उद्यम के मजदूर संगठन कुछ मामलों के जैसे कि मजूरी, काम के घंटों तथा काम की दशाओं, विशेषकर संयंत्र की सुरक्षा-संबंधी श्रम-कानूनों का पालन करना, किसी कर्मचारी या कर्मचारियों के साथ तथाकथित अनुचित व्यवहार होने पर औपचारिक शिकायत दर्ज करना तथा उद्यम में बुढ़ापा लाभ और अशक्तता लाभ देने के बारे में जिम्मेवार है। यदि इन या अन्य मामलों में संयंत्र की दल इकाई और निदेशक के कार्यों में या संयंत्र का मजदूर संघ एवं निदेशक के कार्यों या हितों में टक्कर हो, तब न तो स्थानीय दल और न ही स्थानीय मजदूर संघ निदेशक के आदेश को रद्द कर सकता है। उसके आदेश का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। परंतु, यदि संयंत्र-स्तर पर मतभेद दूर नहीं किया जाता, तो या तो संयंत्र की दल इकाई या संयंत्र का मजदूर संघ—जो कि विशिष्ट विवाद में शामिल हो—वह मामले को अपने संगठन के जिला या उच्चतर सोपान के पास इस आशय से ले जा सकता है कि निदेशक को झाड़ पड़ेगी या अनुशासन में बाँधा जाएगा या बदला जाएगा।

अर्थतंत्र की रचनात्मक समयावधि में अनुसचिवीय प्रबंधक के प्रकार के संगठन के बहुत लाभ थे। मास्को का प्रत्येक मंत्रालय अपने उद्योग में शक्ति-केंद्र था और साथ ही सरकार का एक अंग था तथा सीधे केंद्रीय साम्यवादी दल के नियंत्रण में था। इस प्रकार नियंत्रित शक्ति केंद्र भारी उद्योग के विस्तार के लिए अत्यधिक केंद्रीय प्रबल प्रेरणा को लागू करने वाले निर्णयों, आदेशों, नियुक्तियों, बर्खास्तगियों, कठोर दंडों और पुरस्कारों के स्रोत थे। इसके अंतर्गत एक के बाद दूसरे उद्योग का वर्त्तमान स्वरूप तक विकास किया गया। सोवियत अर्थतंत्र का वर्त्तमान औद्योगिक आधार उद्योग के इस प्रकार के विशुद्ध केंद्रीकृत प्रशासन के अलावा और किसी भी अभिकरण द्वारा इतनी जल्दी तैयार नहीं किया जा सकता था।

परंतु, जैसे-जैसे निर्माण उद्योगों का बाहुल्य होता गया और प्रत्येक उद्योग में अधिकाधिक धंधे शामिल हुए, जिनमें संभरण, वित्त, श्रम, विक्रय आदि की अनेक समस्याएँ थीं, वैसे-वैसे संगठन के अनुसचिवीय ढाँचे में स्पष्ट अपर्याप्तता विकसित हुई। निर्णयों के ब्यौरों और सूक्ष्मता में वृद्धि के साथ, जो कि मास्को मंत्रालय को विशिष्ट उद्योग से संबध में देने पड़ेंगे, मंत्रालय का आकार और उसके नौकरशाही तंत्र का भार बढ़ेगा। उद्योग के विकास के साथ यह अत्यावश्यक था कि उद्यम के संचालन को प्रभावित करने वाले निर्णय शीघ्र और उद्यम की वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर किए जाएँ। परंतु, मास्को के मंत्रालयों से निर्णय बहुत धीरे-धीरे आते थे और वे उस उद्योग की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप कम होते थे, जिनके संचालन को वे प्रभावित करते थे। जब नए उद्यम चलाने, दुर्लभ प्रबंधक योग्यता का उत्तम प्रयोग करने, उद्यमो में उत्पादन की मूल वस्तुओं की व्यवस्था करने और उनसे कुछ उत्पादन शुरू करने की समस्या होती थी तब मंत्रालय का निर्णय, संभवतः एक सौ उद्यमों पर एकरूप से लागू होता था, बिल्कुल पर्याप्त—वास्तव में संभवतः अत्यावश्यक थी। जब उद्यम चल पड़ते थे, तब उनकी कार्यकुशलता विभिन्न उद्यमों की अलग-अलग उत्पादन समस्याओं की वास्तविकता के साथ परस्पर संबद्ध निर्णयों पर निर्भर करती थी। इसके लिए प्रशासन की मास्को मंत्रालय पद्धति अपर्याप्त थी।

युद्ध के बाद सोवियत निर्माण के शीघ्र विकास के साथ अनेक यथार्थ कठिनाइयाँ पैदा हुईं और उन्हें दूर करने के लिए विधि-बाह्य और गैर-कानूनी रीतियाँ चल पड़ीं। उदाहरण के लिए मास्को और संयंत्र के बीच की भौगोलिक दूरी और आनुषंगिक संचार समस्या दुःखदायी बन गई। मास्को और संयंत्र के बीच यात्रा महँगी पड़ती थी और उस पर समय लगता था—विशेषकर इसलिए कि यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए सक्षम होना पड़ता था, जिससे वह उद्यम की समस्याओं को मंत्रालय के संबंधित कर्मचारियों के सामने प्रभावपूर्ण ढंग से रख

सके। अतः, अनेक उद्यमों ने मास्को में अपने स्थायी प्रतिनिधि स्थापित किए, ताकि मंत्रालय का निर्णय अधिक शीघ्रता से प्राप्त हो सके। मंत्रालय का संबंधित अधिकारी संयंत्र के प्रतिनिधि के साथ, जिसे निदेशक के अभिप्राय का निश्चित ज्ञान होता था, आमने-सामने बात कर सकता था। इस प्रकार के संबंधों के खर्च के हिसाब, निजी प्रभाव तथा अंतर्लिप्त समस्याओं का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक उद्यमों ने यह पाया कि नौकरशाही मास्को-मंत्रालयों की मारफत फालतू पुर्जे, सामग्री, नई मशीनरी आदि प्राप्त करने के लिए उनकी संभरण धाराएँ अपर्याप्त और अविश्वसनीय थीं। बहुत से उद्यम अपने उत्पादन-लक्ष्य के समीप तभी पहुँच सकते थे, यदि वे आवश्यक वस्तुओं का संभरण करने की सरकारी व्यवस्था के अलावा स्वयं भी उन्हें निजी प्रयत्नों से कहीं से भी, संभवतः निजी प्रभाव द्वारा या सरकारी कीमत से अधिक दाम देकर, प्राप्त कर लेते थे। परिणामस्वरूप वस्तुओं को संभरण करने वाले साहसिक व्यक्तियों का गुप्त जाल फैल गया, जिन्हें अपने नियोजकों को अपेक्षित सामान और मशीनरी प्राप्त करने के कुशल और विशुद्ध निजी उपायों के लिए अच्छा पुरस्कार दिया जाता था। निःसंदेह उद्यम की किताबों में इस प्रकार के प्रतिनिधियों के वेतन या कमीशन अनेक प्रिय नाम देकर जाली मदों के अंतर्गत छिपा दिए जाते थे। हालांकि उद्यमों के ये कार्य अवैध थे और उन पर सरकारी पाबंदी थी। परंतु उन्हें दल, सरकार तथा मंत्रालयों का अव्यक्त आशीर्वाद प्राप्त था। इसका कारण यह था कि इन अत्यावश्यक कार्यों को करने के लिए मंत्रालय के साधारण मार्ग इतने अपर्याप्त थे कि गैर-सरकारी अभिकर्त्ता और प्रक्रियाएँ उद्योग के संचालन के लिए अत्यावश्यक थीं।

औद्योगिक व्यवस्था का १९५७ ई० का विकेंद्रीकरण

प्रशासन की मंत्रालय पद्धति की असफलताओं की यह कामचलाऊ, गैर-सरकारी, महँगी और अपर्याप्त खानापुरी सरकार के स्वामित्व या संचालन के उद्योगों के प्रशासन के लिए स्थायी रूप से बनाए रखना स्पष्टतः असह्य था। इसके अलावा, यदि मंत्रालय पद्धति वैसे ही काम करती जैसी कि आशा थी, तब भी उद्योग के अच्छी तरह विकसित होने पर इसमें आर्थिक दृष्टि से हानिकर दोहरी सुविधाएँ और प्रयास निरूढ़तः स्वाभाविक थे। उदाहरण के लिए, यदि ऐसे उद्यमों को, जो कि विभिन्न उद्योगों में थे (और इस प्रकार विभिन्न मंत्रालयों के अंतर्गत थे) परंतु भौगोलिक दृष्टि से पास-पास थे, सहायक सुविधा या सेवा की सामान्य आवश्यकता होती थी तो मंत्रालय पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक उद्यम उस सुविधा या सेवा को स्वयं प्राप्त करने की कोशिश करता था। अतः, तीन विभिन्न उद्योगों के तीन समीपवर्ती औद्योगिक उद्यमों के यांत्रिक उपकरणों के अनुरक्षण के लिए अपने अलग-

अलग मशीन-कारखाने होते थे, जबकि एक ही मशीन कारखाना इन तीनों उद्यमों की बेहतर ढंग से और कम खर्च पर सेवा कर सकता था। एक मामले में विभिन्न उद्योगों के सात उद्यम एक ही खान से निकाले गए कच्चे माल को इस्तेमाल कर रहे थे, परंतु उस खान में सात अलग-अलग यूनिट माल निकालने का काम करते थे। इनमें से प्रत्येक यूनिट भिन्न-भिन्न मंत्रालय के अधीन था। इस प्रकार के दोहरे और हानिकर कार्य की सभी ओर से आलोचना की गई। सभी जगह यह महसूस किया गया कि औद्योगिक प्रशासन की मंत्रालय पद्धति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करके उत्पादिता के बहुत बड़े संचय प्राप्त किए जा सकते थे।

इस स्थिति के राजनीतिक पहलू का वर्णन करना भी अत्यावश्यक है। मास्को के औद्योगिक मंत्रालय, जिनमें विशेषज्ञ तथा अन्य कर्मचारी भारी संख्या में नियुक्त थे, सशक्त राजनीतिक स्वरूप की पर्याप्त शक्ति के केंद्र बन गए थे। इन मंत्रालयों में नए प्रबंधक गुट की ऊपरी परत विद्यमान थी, जो कि उद्योगीकरण द्वारा पैदा हुई थी। हालांकि संभवतः इनमें से अधिकांश कर्मचारी, कम-से-कम उच्च अधिकारी दल के सदस्य थे। परंतु, इनमें से अनेक व्यक्ति दल के सदस्य होने के नाते से वहाँ नहीं थे, अपितु वे कुछ विशेष प्रबंध-योग्यता के कारण वहाँ पर थे। इसीलिए मास्को में मंत्रालयों की दफ्तरशाही में एक ऐसी भारी शक्ति थी, जो कि दल या सरकारी शक्ति से भिन्न थी। यह कल्पना की ही बात है कि क्या दल की मशीनरी के बाहर अधिकार सौंपने की नई व्यवस्था को ख्रुश्चेव या साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति और उसके प्रेसीडियम ने दल के अधिकारों को एक भारी चुनौती समझा था। स्थिति जैसी भी रही हो, इस पद्धति को बदलने के दृढ़ फलमूलक आर्थिक कारण पैदा होने पर यह दल की इच्छा को उनकी काट-छाँट करने से रोक न सकी।

यह परिवर्तन केवल दो ही दिशाओं में संभव था। पहला उद्यम निदेशकों की वैयक्तिक स्वायत्तता का विस्तार करके उनके अधिकारों को बढ़ाया जा सकता था। स्पष्टतः दल के नेताओं का मत था कि उन्हें पहले ही इतने ज्यादा अधिकार दिए गए हैं कि उन्हें और अधिक अधिकार देने से केंद्रीकृत आर्थिक आयोजना पर कुप्रभाव पड़ेगा। दूसरी ओर चुना गया मार्ग नई विकेंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण था। 'प्रबंधों' की सामान्य घोषणा और कुछ सार्वजनिक विचार-विमर्श के बाद एक सुधार किया गया, जिसमें तीन महत्त्वपूर्ण निर्माता उद्योगों को छोड़कर शेष सभी उद्योग मास्को के मंत्रालयों के नियंत्रण से बाहर निकाल लिए गए और वे सामान्य रूप से अनेक गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों और विशिष्ट रूप से प्रादेशिक

अर्थपरिषदों को सौंप दिए गए, जो कि ऐसे १०५ आर्थिक प्रशासन-क्षेत्रों में स्थापित की गई थीं, जिनमें देश विभक्त किया गया था। १० मई, १९५७ ई० को सुप्रीम सोवियत द्वारा 'सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के उद्योग तथा निर्माण-कार्य के प्रबंध में और सुधार-संबंधी कानून' बनाया गया। इसमें एक विचित्र उपबंध यह था कि "इस कानून में उल्लिखित प्रबंध का पुनर्गठन १ जुलाई, १९५७ ई० को पूरा होगा।" इस अधिनियम के प्रयोजन ये थे—"नेतृत्व को उत्पादन के (लगभग २,००,०००) उद्यमों और (लगभग १,००,००० निर्माण) कार्यस्थलों—के पास लाना—ताकि यह अधिक ठोस और प्रभावशाली बन जाएँ"; "उद्यमों तथा कार्यस्थलों के संचालन नेतृत्व के आकर्षण केंद्र को आर्थिक प्रशासन-क्षेत्रों में उत्पादन-स्थान पर ले जाना"; "प्रबंध का बेहतर संगठनात्मक स्वरूप और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के प्रबंध के लचीले तरीके प्राप्त करना"; "असंख्य विभागीय बाधाओं को समाप्त करना जो कि विशेष ज्ञाता, समन्वय और संचयों के पूर्णतर इस्तेमाल को रोकती हैं।" इस अधिनियम के अंतर्गत मास्को में तीन औद्योगिक मंत्रालयों को छोड़ कर शेष सारे मंत्रालय तथा अनेक गणराज्यों में १०० से ऊपर तदनुरूप मंत्रालय समाप्त कर दिए गए हैं। वे उद्योग जो कि पहले उनके अंतर्गत थे, अब नई प्रादेशिक अर्थ-परिषदों को स्थानांतरित कर दिए गए हैं। (कुछ विशुद्ध स्थानीय औद्योगिक उद्यम, जो कि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, स्थानीय सोवियतों को स्थानांतरित कर दिए गए।) इस अधिनियम ने राज्य आयोजना समिति को 'राष्ट्रीय अर्थतंत्र के लिए सर्वोच्च वैज्ञानिक आयोजना तथा अर्थ निकाय' बना दिया और उसे 'समान केंद्रीकृत' अर्थ आयोजना बनाने तथा माल वितरण करने के अधिकार दे दिए। 'सर्वोत्तम उत्पादन अनुभव' देश-विदेश से मालूम करने, 'इन उपलब्धियों का व्यापक प्रचार करने' और 'नए उपकरणों के विकास एवं इस्तेमाल का पर्यवेक्षण' करने के लिए राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् के अधीन एक 'विज्ञान तथा शिल्पविज्ञान समिति' स्थापित की गई।

इस प्रकार तीन निर्माण उद्योगों को छोड़कर[1] बाकी सारे निर्माण उद्योगों का प्रशासन मास्को के मंत्रालयों से १०५ प्रादेशिक अर्थपरिषदों को बदल दिया गया, जो कि उन विभिन्न गणराज्यों के प्रति उत्तरदायी हैं, जहाँ वे स्थित हैं। यद्यपि प्रशासन के स्थानांतरण का यह कार्य निर्धारित समय तक संपन्न नहीं हो सका, तो भी तकनीकी संगठन के मामलों में यह काम तेजी से हुआ और अब अर्थतंत्र में भी हो रहा है। यद्यपि नए प्रशासन का विकेंद्रीकृत स्वरूप वास्तविक है, तो भी इसकी महत्ता पर अधिक जोर नहीं देना चाहिए। जैसाकि अधिनियम पूर्णतः स्पष्ट करता

---

[1] रासायनिक उत्पादन, विद्युत शक्ति, परमाणु अस्त्र, देखिए, पृष्ठ ४४४।

है, विस्तृत आर्थिक आयोजना राष्ट्रीय आधार पर बनायी जाती है, जिसमें आयोजना-संबंधी अंतिम निर्णय सरकारी आयोजना समिति और राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् द्वारा लिए जाते हैं। इस प्रकार आयोजना-संबंधी सर्वोच्च निर्णय तथा शिल्पविज्ञान-संबंधी प्रगति के मामले (विज्ञान एवं शिल्पविज्ञान समिति के अंतर्गत) अब भी बहुत केंद्रीकृत हैं।[1] इसके अलावा, यद्यपि अधिनियम यह स्पष्टतः व्यक्त नहीं करता, तथापि यह आशा की जाती है कि नई प्रादेशिक अर्थपरिषदों में दल का बहुत ज्यादा प्रभाव होगा। वास्तव में १०५ आर्थिक प्रशासन-क्षेत्र गणराज्यों के क्षेत्रीय प्रभागों के अनुरूप हैं। इस प्रकार वे प्रादेशिक दल संगठन इकाइयों के भी अनुरूप हैं। प्रत्येक प्रादेशिक प्रभाग में दल के मुख्य अधिकारी, सचिव, की नियुक्ति साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सचिवालय के 'प्रथम सचिव', जो कि इस समय एन० एस० ख्रुश्चेव हैं, द्वारा की जाती है।

प्रादेशिक अर्थपरिषदें

प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् उस गणतंत्र की मंत्रिपरिषद् से अधिकार प्राप्त करती है, जिसमें वह स्थित और वह उसके ही प्रति उत्तरदायी होती है। परंतु, गणराज्य की मंत्रिपरिषद् से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रादेशिक अर्थपरिषदों का सामान्य पर्यवेक्षण करे और आवश्यकता होने पर, केवल महत्त्वपूर्ण मामलों में ही उन्हें आदेश दे। अब ये १०५ प्रादेशिक अर्थपरिषदें सरकारी आयोजना समिति, विज्ञान व शिल्पविज्ञान-संबंधी समिति और मंत्रिपरिषद् (सभी राष्ट्रीय स्तर पर) के कुछ नियंत्रणों तथा संबंधित गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के सामान्य पर्यवेक्षण के साथ, सोवियत संघ के सभी निर्माण उद्योगों को (ऊपर निर्दिष्ट तीन उद्योगों को छोड़कर) चलाने और उनके विकास के लिए जिम्मेवार होंगी। प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् का प्रधान अधिकारी निदेशक होता है, जो कि गणराज्य की मंत्रिपरिषद् द्वारा नियुक्त किया जाता है। वह लगभग हमेशा औद्योगिक प्रबंध में बहुत सक्षम होता है और उसे सामान्यतः अपने आर्थिक प्रशासन क्षेत्र के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उद्योगों का विस्तृत अनुभव होता है। वह ऐसा व्यक्ति होता है जो कि उस क्षेत्र में दल के नेताओं को स्वीकार्य हो। उसकी सहायता के लिए एक उपनिदेशक और मजदूर संघों, वैज्ञानिक संगठनों तथा उपक्रम-निदेशकों के प्रतिनिधियों की एक सलाहकार परिषद् होती है। निदेशक के अधीन ये होते हैं: (१) अनेक कृत्यकारी विभाग, जैसे कि सचिवालय, आयोजना, इंजीनियरी, मजदूरी, वित्त, कर्मचारी और प्रशिक्षण, लेखा, निर्माण तथा प्रशासन विभाग; और (२) औद्योगिक या प्रशासनिक

---

[1] ये केंद्रीकृत नियंत्रण युगोस्लाविया के उद्योग के विकेंद्रीकरण के स्पष्ट विरोध हैं।

विभाग—जैसे प्रत्येक उद्योग के लिए एक विभाग जिसके कुछ उपक्रम उस क्षेत्र में हों। प्रत्येक विभाग के अधीन विशिष्ट उद्योग के उद्यम होते हैं।

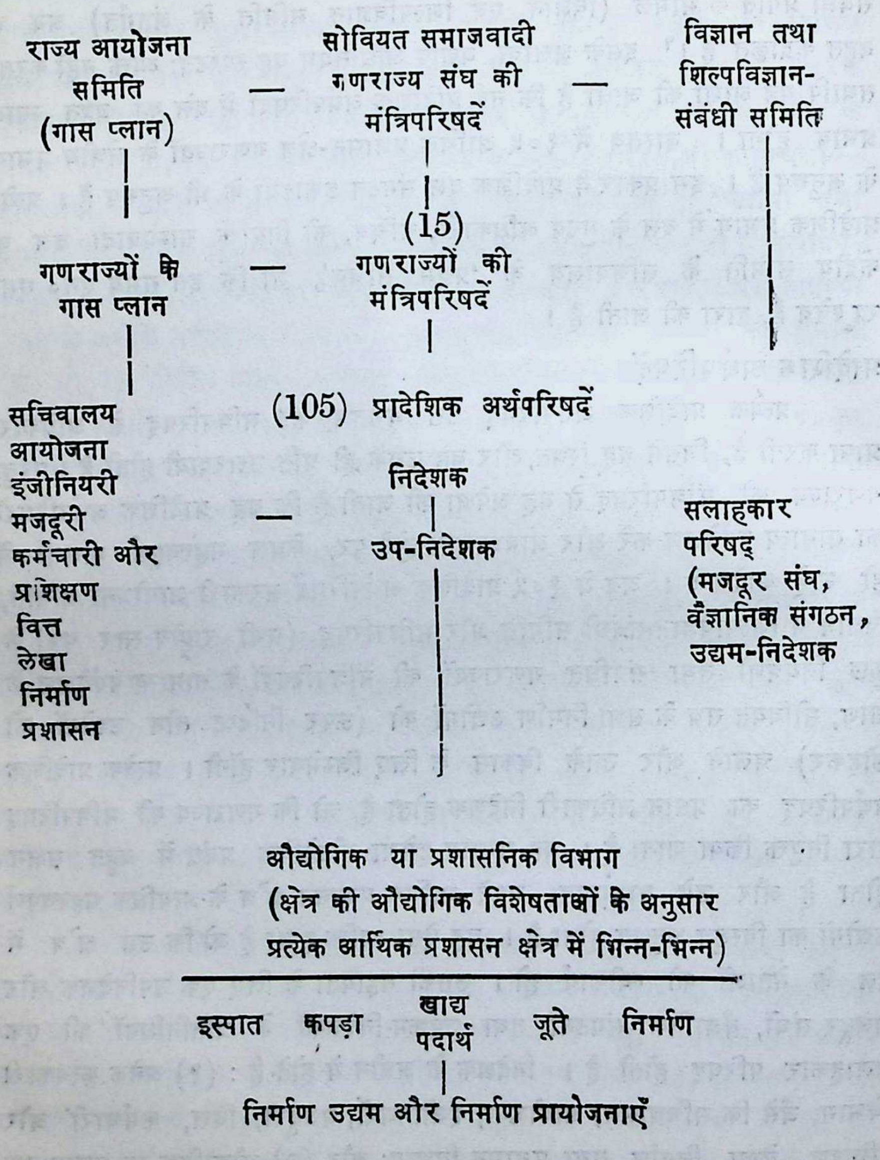
राज्य आयोजना समिति (गास प्लान)
सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषदें
विज्ञान तथा शिल्पविज्ञान-संबंधी समिति
(15)
गणराज्यों की गास प्लान
गणराज्यों की मंत्रिपरिषदें
(105) प्रादेशिक अर्थपरिषदें
सचिवालय
आयोजना
इंजीनियरी
मजदूरी
कर्मचारी और प्रशिक्षण
वित्त
लेखा
निर्माण
प्रशासन
निदेशक
उप-निदेशक
सलाहकार परिषद् (मजदूर संघ, वैज्ञानिक संगठन, उद्यम-निदेशक
औद्योगिक या प्रशासनिक विभाग (क्षेत्र की औद्योगिक विशेषताओं के अनुसार प्रत्येक आर्थिक प्रशासन क्षेत्र में भिन्न-भिन्न)
इस्पात
कपड़ा
खाद्य पदार्थ
जूते
निर्माण
निर्माण उद्यम और निर्माण प्रायोजनाएँ

आरेख 4—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में आर्थिक संगठन।

चूँकि प्रादेशिक अर्थपरिषदें हाल ही में स्थापित हुई हैं, अतः अभी तक उनकी सर्वोपरि प्रभाविता का मूल्यांकन करना या यह पता लगाना संभव नहीं है कि वे औद्योगिक प्रशासन की पुरानी मंत्रालय पद्धति की अपेक्षा कहाँ तक श्रेष्ठ हैं। सामान्य रूप में जिन ठोस परिणामों की आशा की जाती है, वे इस प्रकार के हैं कि उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति काफी समयावधि के बाद ही निर्धारित की जा सकती है। इस समय जो कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है, वह यह है कि उन्होंने सोवियत संघ में औद्योगिक विकास की दर में विशेष परिवर्तन या औद्योगिक कार्यों में किसी स्पष्ट बाधा के बिना ही काम करना शुरू कर दिया। इस समय उनके सैद्धांतिक लाभ, जिनकी प्राप्ति की सोवियत नेताओं को आशा है और सैद्धांतिक हानि, जो कि उनकी प्रभाविता को कम कर सकती है, पर ध्यान देना ही संभव है। यह आशा करना उचित ही है कि निकटतम भविष्य में निर्धारित प्रबंधात्मक स्वरूप और प्रक्रियाओं में, जिनमें प्रादेशिक अर्थपरिषदों के प्रशासन भी शामिल हैं, काफी अनुभव और परिवर्तन होगा।

नई प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त उत्पादिता के सैद्धांतिक संचयों का कुछ अंदाज इन पूर्वानुमानों से लगाया जा सकता है कि प्रादेशिक अर्थपरिषदें क्या कर सकती हैं। इन पूर्वानुमानों में से निम्नलिखित बहुत महत्त्वपूर्ण हैं :

१-व्यर्थता और दोहरी सेवा तथा अनुषंगी सुविधाओं की समाप्ति, जिनकी प्रत्येक संयंत्र अपने मंत्रालय के अधीन अपने लिए व्यवस्था करने को प्रवृत्त रहा है। उदाहरण के लिए पहले धातुशिल्प संयंत्रों का जो कि एक प्रकार की धातु ढलाई से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पादित करते थे और पास-पास स्थित होने पर भी विभिन्न मंत्रालयों के अधीन थे, ढली वस्तुएँ तैयार करने के लिए अपना अलग ढलाई घर होता था। ये अपेक्षतया छोटे-छोटे ढलाई घर अक्षम थे और ढलाई महँगी पड़ती थी। यह आशा की जाती है कि प्रादेशिक अर्थपरिषद् के अधीन एक बड़ा ढलाई घर इस प्रकार के अनेक धातुशिल्प संयंत्रों के लिए दक्षता से बहुत बचत के साथ ढली वस्तुओं की व्यवस्था करेगा।

२-इसी प्रकार प्रादेशिक अर्थपरिषद् को अनेक उद्यमों की छीजन-सामग्री से अनुषंगी उत्पाद प्राप्त करने के लिए संयंत्र लगाना लाभदायक सिद्ध हो सकता है, जबकि अलग रूप से प्रत्येक उद्यम जिसकी छीजन-सामग्री अपेक्षतया कम होती है और जो कि मंत्रालय के अधीन होता है, इस प्रकार की छीजन-सामग्री को फेंक देगा।

३-लंबी लदान के भाड़े की बचत, जो कि संबंधित मंत्रालय को अपने एक उद्यम से दूसरे उद्यम को, दूरी का ध्यान न रखते हुए, ऐसे पुर्जों पर वहन करने पड़ते

थे, जो कि दूसरे मंत्रालय के नजदीक के उद्यम से भी प्राप्त किए जा सकते थे। प्रादेशिक अर्थपरिषदों के अधीन यह आशा की जाती है कि इस प्रकार के लंबे-लंबे तथा दोहरे परिवहनों को समीपतम उपलब्ध स्रोतों से पुर्जे, माल और मशीनरी खरीद कर छोड़ दिया जाएगा।

४-विशिष्ट स्थानीय साधनों के इस्तेमाल की सम्यक् आयोजना और निष्पादन। यह आशा की जाती है कि चूँकि प्रादेशिक अर्थपरिषद् अपने क्षेत्र के प्राकृतिक साधनों और कार्यक्षम श्रमिक संभरण से अधिक अच्छी तरह से परिचित होती है और ये साधन उसके समीप होते हैं, इसलिए यह परिषद् इनमें उत्पादन-क्षमता को देखेगी, जिसे दूर स्थित मास्को के मंत्रालयों ने कभी भी नहीं देखा होगा और प्रत्येक क्षेत्र अपने विशिष्ट साधनों को पूर्णतः काम में लाने को प्रवृत्त होगा।

५-चूँकि प्रादेशिक अर्थपरिषद् उद्यमों की जरूरत के कच्चे माल और पुर्जे के समीप होती है, इसलिए यह आशा की जाती है कि वह इन उद्यमों के लिए संभरण के अधिक विश्वस्त स्रोत खड़े कर सकती है और एक ही या विभिन्न उद्योगों के अनेक उद्यमों को, जो कि एक ही कच्चा माल इस्तेमाल करते हों, साझी वस्तु-सूची में से कच्चा माल और पुर्जे संभरण कर सकती है। इससे संभवतः व्यक्तिगत उद्यमों के लिए पुर्जों या कच्चे माल की अत्यधिक सामग्री यह सुनिश्चित करने के लिए रखनी अनावश्यक हो जाएगी कि आवश्यकता पड़ने पर वे उपलब्ध हो सकेंगी।

६-कुल मिलाकर यह आशा की जाती है कि सब प्रकार के उद्योगों में अनेक परिचालन-समस्याओं पर समीप की प्रादेशिक अर्थपरिषद् से, जिसे कि संबंधित संयंत्र के बारे में अधिक जानकारी होती है, अधिक शीघ्र और अच्छी सलाह या निर्णय प्राप्त होंगे। यदि यह सलाह या निर्णय दूर स्थित मास्को मंत्रालय द्वारा दिए जाते, जिनके कर्मचारियों को संबंधित संयंत्र के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं थी, तो यह संभव नहीं था।

इन प्रत्याशित लाभों का घनिष्ठ संबंध विशेषज्ञता को जहाँ बचत की दृष्टि से श्रेयस्कर हो और प्रादेशिक निजी संभरण को, जहाँ वह श्रेयस्कर हो, प्रोत्साहन देने से है। स्पष्टतः इन संबंधों के गुणन-भेद असंख्य हैं। इस प्रशासकीय सुधार का यह सिद्धांत है कि इन क्षमताओं के पूँजीकरण के लिए क्षेत्रीय आधार पर संचालन प्रबंध आवश्यक है।

नए प्रादेशिक उपकरण की सैद्धांतिक हानियाँ भी स्पष्ट दिखाई देती हैं :

(१) क्षेत्रों को स्वतंत्र होने की स्वाभाविक प्रेरणा मिलेगी। जहाँ तक प्रादेशिक अर्थपरिषद् का संबंध है, वह अपने क्षेत्र में उपलब्ध कमी वाले कच्चे माल का

संभरण, अन्य क्षेत्रों के समान उद्यमों की आवश्यकताओं की चिंता न करके, पहले अपने उद्यमों को करने की कोशिश कर सकती है। वह अन्य क्षेत्र के उद्यमों के राष्ट्रीय आवश्यकताओं से संबंध की ओर ध्यान न देकर ऐसा कर सकती है। इसी प्रकार यह अपने क्षेत्र के उद्यमों को क्षेत्र के विशेषीकरण वाले पुर्जे और मशीनरी देने में प्राथमिकता दे सकती है। संभवत: नई प्रबंध-पद्धति की निर्दोषिता के बारे में मुख्य संदेह इस प्रश्न पर आधारित हैं कि प्रादेशिक अर्थपरिषद् के निदेशक और अन्य कर्मचारी राष्ट्रीय बचत की आवश्यकताओं की भावना से कैसे अनुप्राणित होंगे, जिससे कि वे अपने क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आने वाले उद्यमों के संबंध में निर्णय लेते समय उनको ध्यान में रखेंगे। मंत्रालय पद्धति की सभी कमियों के बावजूद संभवत: मास्को मंत्रालय राष्ट्रीय आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं के अधिक समीप थे, उन्हें पूर्णत: महसूस करते थे और सीधे उनकी पूर्ति करते थे, जो कि प्रादेशिक अर्थपरिषदों के लिए संभव नहीं है। यह प्रश्न उठता है कि क्या आर्थिक आयोजना का सतत् केंद्रीयकरण या केंद्रीकृत दल अभिकरणों का प्रभाव प्रादेशिक अर्थपरिषदों की सर्वतंत्र स्वतंत्र बनने की प्रवृत्ति को काफी कम कर देगा। ऐसे विस्तृत मामलों में परिषदों के असंख्य निर्णय, जिनमें ऊपर से थोपी गई आर्थिक योजनाओं के अंतर्गत, उन्हें मिले विवेकाधिकार भी आते हैं, स्थानीय उद्यमों के हित में किए जा सकते हैं। इस मामले के व्यावहारिक महत्त्व की दो तथ्यों द्वारा पुष्टि होती है। पहला, १९५८ ई० में राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् ने यह आदेश जारी करने की आवश्यकता समझी कि किसी भी औद्योगिक उद्यम द्वारा तब तक अपनी उत्पादन-योजना के लक्ष्य की पूर्ति की गई नहीं मानी जाएगी और वह उससे प्राप्त होने वाले लाभों का हकदार नहीं होगा, जब तक कि वह विशिष्ट आर्थिक प्रशासन-क्षेत्र के बाहर स्थित सरकारी अभिकरणों और अन्य उद्योगों के प्रति अपने दायित्व को नहीं निभाता। दूसरा, जो संभवत: अधिक महत्त्वपूर्ण है, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् का जून, १९६० ई० का आदेश है, जिसके द्वारा अखिल रूसी अर्थपरिषद् बनाई गई, जो कि अभिभावी रूसी सोवियत संघीय समाजवादी गणराज्य की मंत्रिपरिषद् से संबद्ध है और जिसके प्रधान संबंधित गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के उपाध्यक्ष हैं। इस गणराज्य में १९५७ ई० में स्थापित १०५ प्रादेशिक अर्थपरिषदों में से ७० परिषदें हैं। यह नया अभिकरण इस गणराज्य में ७० प्रादेशिक अर्थपरिषदों पर स्थापित किया गया है और उन पर इसका अधिकार है, परंतु यह केवल गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के अधीन है। इस अभिकरण का मुख्य कार्य प्रत्येक अधीनस्थ प्रादेशिक अर्थपरिषद् द्वारा अन्य प्रादेशिक अर्थपरिषदों तथा राष्ट्रीय सरकार को वायदे के अनुसार माल और सामग्री दिलाना था। इसके अतिरिक्त, इस अभिकरण को इस गणराज्य में आर्थिक विशेष-

नता के विकास आयोजन तथा माल के वितरण के संबंध में कुछ व्यापक अधिकार दिए गए हैं।[1] कुछ मास बाद तीन अन्य गणराज्यों ने भी, जिनमें एक से अधिक प्रादेशिक अर्थपरिषदें थीं, गणराज्य अर्थपरिषदें स्थापित कर दीं।[2]

(२) प्रादेशिक अर्थपरिषद् अपने साधनों को लोकप्रिय, परंतु संशयास्पद प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल करने के मोह में फँस सकती है— विशेषकर जब इसके पास आयोजित उत्पादन कोटों की आवश्यकता से अधिक साधन उपलब्ध हों। उपभोक्ता माल की कमी ने काफी समय से स्थानीय उद्यमों पर स्थानीय दबाव डाले हैं कि वे उत्पादक माल के उत्पादन में कमी करके भी उपभोक्ता-माल के उत्पादन को बढ़ाएं। प्रादेशिक अर्थपरिषदें इस प्रकार के दबावों में रहेंगी। सोवियत समाचार-पत्रों ने यह प्रमाण दिया है कि प्रादेशिक अर्थपरिषदों ने लोकप्रिय स्थानीय निर्माण प्रायोजनाओं के माल की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया है, जिनके बुनियादी औद्योगिक विस्तार के लिए इस्तेमाल किए जाने की अपेक्षा की गई थी। १९५८ ई० में राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् ने एक आदेश जारी किया कि प्रादेशिक अर्थपरिषदें ऐसी प्रत्येक प्रायोजना के लिए गणराज्य मंत्रिपरिषद् की विशिष्ट अनुमति के बिना, कार्यालय भवनों, थिएटरों, सर्कसों, क्लबों, खेल-कूद के मैदानों और तैरने के तालाबों आदि का निर्माण नहीं करेंगी।

सोवियत संघ में आर्थिक सुधार व्यापक स्वरूप से लाभों की क्रमिक प्राप्ति और अलाभों की क्रमिक छँटनी का पता चलना असंभव हो जाता है। सामान्यतः यह परिवर्तन पूर्ण और प्रबल रूप से थोड़े ही समय में हो जाता है। इसके बाद यह पता लगाने का समय आता है कि व्यवहार रूप में वास्तविक लाभ क्या-क्या हैं और इस सुधार द्वारा क्या-क्या प्रतिसंतुलित बाधाएँ पैदा हुई हैं। औद्योगिक प्रबंध के विकेंद्रीकरण में भी ऐसा ही है। कुछ वर्षों के बाद ही सोवियत उद्योग के विकास और निपुणता में योगदान की दृष्टि से इस व्यापक सुधार के निबल परिणामों का सही मूल्यांकन किया जा सकेगा।

वाणिज्यक करार और उद्यमों के लेखे

उद्योग के वर्त्तमान कार्यों में दो नियंत्रण उपाय इस्तेमाल किए जाते हैं, जो कि पूँजीवादी पद्धति को भली-भाँति मालूम हैं। ये उपाय हैं—वाणिज्यिक करार और लेखे या बही-खाता प्रविष्टियां। हालांकि सोवियत औद्योगिक संगठनों में कुछ हद तक ये उपाय सत्ताधिकार के पेचीदा जंजाल के अनुकूल बनाए गए हैं, परंतु

---

[1] १. मार्क्स फ्रैंकल, दि न्यूयार्क टाइम्स, २१ जून, १९६०।

[2] २. दि लंदन इकोनॉमिस्ट, २३ जुलाई, १९६०।

वास्तव में ये वही उपाय हैं, जो कि हमारी व्यापारी फर्में रोजमर्रा के कार्यप्रबंध में इस्तेमाल करती हैं। एक उद्यम उद्यम द्वारा दूसरे से कच्चा माल, पुर्जे और मशीनरी खरीदने तथा उद्यम के उत्पादनों को वेचने के संबंध में, उस उद्यम की ओर से उसे प्रादेशिक अर्थपरिषद् द्वारा करार तय किए जाते हैं, जो उसका प्रशासन करती है। अतः, उद्यम पर कतिपय वस्तुओं को नियत स्थानों पर निश्चित तारीखों को निर्धारित दर से मँगवाने के करार के अनुसार दायित्व होगा। ये ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा औद्योगिक पद्धति के नितांत संस्करण अंश क्रमबद्ध ढंग से कृषि और खनिज उद्योगों से कच्चा माल प्राप्त करते हैं, जिन्हें वे उत्पादन की बाद की विशिष्ट अवस्थाओं में अपनाते हैं और उपभोक्ता माल तैयार करने की अंतिम अवस्था में सरकार तथा सरकारी वितरण संस्थाओं के साथ करारों द्वारा उनके खुदरा वितरण की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार इस दृष्टि से अर्थतंत्र के सभी संस्करण और वितरण अंश बाध्यकर वाणिज्यिक करार करने के जाल हैं। प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् की यह देखने की जिम्मेवारी है कि उसके सभी उद्यम माल खरीदने और बेचने के इन करारों के दायित्व को निभा रहे हैं। एक विशेष प्रकार का न्यायालय इस प्रकार के करारों का पालन न करने संबंधी शिकायतों के बारे में फैसला देता है और करार-संबंधी दायित्व पूरे न करने वाले उद्यम पर हरजाने या जुर्माने लगाता है।

यद्यपि इन करारों का तकनीकी स्वरूप हमारे व्यापार संबंधों में इस्तेमाल होने वाले स्वरूप-जैसा ही है, तो भी इसमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंतर भी है। हमारी पद्धति में प्रत्येक व्यक्तिगत संस्था कोई भी वाणिज्यिक करार करने में स्वतंत्र है। अर्थतंत्र के वास्तविक कार्य निर्धारित करने के संबंध में करार-संबंधी पूर्ण दायित्व संस्था स्वीकार करती है। सोवियत अर्थतंत्र में व्यक्तिगत करारों को जमा होकर समष्टि का रूप धारण करना होगा, जो कि उस विशद् आयोजना के अनुरूप है, जो बाद में बताए जाने वाले आयोजना अभिकरणों द्वारा बनाई गई है। इसके अलावा इन करारों में अपर्याप्त और महत्त्वपूर्ण सामग्री के संभरण के लिए विशिष्ट उद्यमों के प्राथमिकता के दावे अवश्य स्वीकार किए जाने चाहिए और ये तदनुरूप होने चाहिए; क्योंकि इनकी स्थापना केंद्रीकृत आर्थिक आयोजना तंत्र द्वारा की जाती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् की करार करने की स्वतंत्रता उच्चत्तर अभिकरणों के राष्ट्र की आर्थिक योजना और माल-वितरण में प्राथमिकता के अनुसार करार कराने के अधिकार द्वारा सीमित हो गई है।

चूंकि इन करारों के उपबंध मात्रा और मूल्यों के रूप में लिखे गए हैं, इसलिए प्रत्येक उपक्रम के लिए अपने चालू कार्यों को आय और व्यय के लेखे में लिखना आसान है। आय के खाते में अन्य आर्थिक इकाइयों को बेचे गए माल से प्राप्त आय

और स्टेट बैंक (इसका उल्लेख बाद में किया जाएगा) से प्राप्त ऋण दर्ज किए जाते हैं। माल, ईंधन, शक्ति की खरीद, बैंक ऋणों और उनके ब्याज की अदायगी तथा मजदूरी व्यय खाते की मदे हैं। उपक्रमों के चालू कार्यों के लेखे उन उद्योगों और प्रादेशिक अर्थपरिषदों के लेखों में समेकित किए जाते हैं, जिनके वे अंग हैं। इस प्रकार लेखों के ऊपर की ओर समेकन से अंततः सारे अर्थतंत्र के कार्यों के लिए एक समेकित लेखा तैयार हो जाएगा। यह लेखा तैयार करने में स्टेट बैंक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, जिस पर बाद में अधिक विस्तार से विचार किया जाएगा। जिस प्रकार हमारी बड़ी-बड़ी निगमों की कार्यपालिकाएँ लेखों द्वारा अपनी औद्योगिक सोपान-परंपरा के अधीन की इकाइयों के विस्तृत कार्यों का निरूपण और मूल्यांकन करती हैं, उसी तरह रूस के उद्योग अपने सहायक अंगों के संचालन का जल्दी और सही सर्वेक्षण कर सकते हैं। जैसा कि हमारे अर्थतंत्र में होता है, सोवियत उद्योग में प्रबंधकों की अदक्षता और कुव्यवस्था का पता इन चालू लेखों से चलता है। कोई भी इकाई किसी लेखाविधि के लिए लाभ या हानि दिखा सकती है (इसके स्वरूप पर विचार बाद में किया जाएगा)।

हमारे देश तथा सोवियत अर्थतंत्र की लेखाविधियों में एक अंतर विशिष्ट महत्त्वपूर्ण है। हमारे लेखों में दर्ज की जाने वाली आय और व्यय की मदें, माँग और संभरण के अनुसार बाजार की स्थिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं, जब कि सोवियत पद्धति के अंतर्गत उन मदों को दर्ज किया जाता है, जिनके लिए प्राधिकरण द्वारा दाम स्थापित किए गए हों।[1] 'हमारी लेखा पद्धति उद्योग के चालू कार्यों को दामों के रूप में दर्ज करती है जो कि संभरण और माँग की स्थिति के बुनियादी तौर पर अनियंत्रित सूचक हैं। इसके विपरीत सोवियत लेखे उस अवस्था को सूचित करते हैं जहाँ तक कि आर्थिक इकाइयों द्वारा मात्रा और दाम के वे प्रसामान्यक पूरे किए गए हैं या नहीं किए गए हैं जो कि विशद् औद्योगिक आयोजना के अंग हैं। इस प्रकार के प्रसामान्यकों की पूर्ति न होने का पता चलने पर प्रबंधक उसी तरह कार्यवाही करते हैं, जैसे कि हमारे अर्थतंत्र में वस्तुओं को बेचने से प्राप्त आय और लागत दामों में संतोषजनक अंतर न होने पर की जाती है।

सोवियत अर्थतंत्र की लेखा-प्रक्रियाओं के महत्त्व पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता। उच्चतर प्रशासकीय कर्मचारी लगातार बेहतर लेखा तरीकों—विशेषकर लागत लेखे में—और प्रबंधकों के द्वारा अपनी इकाइयों के लेखों पर अधिक

---

१. ऐसा न करने वाले प्राधिकरणों के संबंध में जो निर्माण उद्योगों के अपवाद हैं, पृष्ठ ५२४-५२६ देखिए।

ध्यान देने की आवश्यकता बताते रहे हैं। इस संबंध में सरकार के रवैये में बहुत वर्षों से परिवर्तन नहीं हुआ है। दल काँग्रेस के १८वें अधिवेशन में सरकार और दल के एक उच्च अधिकारी ने कहा "व्यवहार में अर्थतंत्र और उत्पादित वस्तुओं की लागत की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह अच्छी तरह जानना आवश्यक है कि प्रत्येक उद्यम और प्रत्येक संगठन के काम पर सरकार का क्या खर्च आता है। इस समय हमारे बीच ऐसी कार्यपालिकाएँ मौजूद हैं, जोकि तुलन-पत्र की जाँच करना, लेखों फा अध्ययन करना और लागत-लेखे पर ध्यान देना अपनी शान के खिलाफ समझती हैं। इस उदासीनता और आर्थिक अप्रबुद्धता को उसी प्रकार दृढ़-संकल्प से समाप्त करना आवश्यक है जैसे कि सरकार तथा बोलशेविक विरोधी गतिविधियों को। इससे कुप्रबंध के अनेक मामले समाप्त हो जाएंगे।"[1] काँग्रेस ने बाद में "लागत-लेखे को और मजबूत बनाने की आवश्यकता की पुष्टि की।"[2]

उत्पादक सहकारिताएँ

जिस प्रकार सोवियत संघ में कृषि उत्पादन सरकारी फार्मों और सामूहिक फार्मों द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार निर्माता उत्पादन की ऊपर निर्दिष्ट सरकारी उद्योगों और उत्पादक सहकारी समितियों द्वारा किया जाता है। उत्पादक सहकारी समितियों को 'औद्योगिक सहकारी समितियाँ' या 'शिल्पी सहकारी समितियाँ' भी कहा जाता है। यद्यपि अधिकांश माल का उत्पादन सरकारी या सरकार द्वारा चलाए जाने वाले औद्योगिक उद्यमों द्वारा किया जाता है, तो भी उत्पादक सहकारी समितियों की संख्या १,००,००० से अधिक है और वे राष्ट्र के कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग ८ प्रतिशत उत्पादन करती हैं। स्थानीय उपलब्ध कच्चे माल या सरकारी उद्यमों के उपजात माल से उपभोक्ता माल का उत्पादन करने में उनका बहुत महत्त्व है और ये सामान्यतः ऐसे सिद्धांतों पर काम करती हैं, जहाँ अपेक्षतया थोड़ी मशीनरी की आवश्यकता होती है। इनका अधिकांश उत्पादित माल सरकारी दुकानों, उपभोक्ता सहकारी समितियों या उत्पादक सहकारी समितियों द्वारा स्थापित खुदरा अभिकरणों की मारफत उत्पादन-स्थान के पास ही बिक जाता है। उत्पादक सहकारी समितियाँ इन क्षेत्रों में ज्यादा महत्त्व की हैं : बुनाई का सामान, कपड़े, जूते, लोहे से निर्मित वस्तुएँ, फर्नीचर, भवन-निर्माण-सामग्री, रसोई के बर्तन, दफ्तर की वस्तुएँ खिलौने, साधित खाद्य-पदार्थ और संगीत उपकरण। बुना हुआ सामान जैसे कुछ क्षेत्रों में उत्पादक सहकारी समितियों का उत्पादन सरकारी उद्यमों के उत्पादन से अधिक है।

---

[1] सोवियत समाजबादी गणराज्य संघ के दूतावास की सूचना बुलेटिन, २२ मार्च, १९३९।

[2] सोवियत समबाजादी गणराज्य संघ के दूतावास की सूचना बुलेटिन, ३ अप्रैल, १९३९।

प्रत्येक उत्पादक सहकारी समिति के बीस से लेकर कई सौ तक सदस्य होते हैं और वह सरकार द्वारा निर्धारित 'आदर्श शासपत्र (चार्टर)' के अनुसार काम करती है। प्रत्येक उत्पादक सहकारी समिति का प्रशासन सदस्यों द्वारा चुने गए प्रबंधक बोर्ड द्वारा किया जाता है, परंतु नए सदस्य स्वीकार करने व पुराने सदस्य निकालने, बोर्ड द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाएँ और प्रतिवेदन स्वीकार करने तथा सहकारी समिति की वित्तीय व्यवस्था निर्धारित करने संबंधी मामलों पर कार्यवाही सदस्यों की बैठक में की जाती है। सहकारी समिति में शामिल होने पर नया सदस्य प्रवेश-शुल्क और शेयर के लिए अंशदान देता है, जो कि नए सदस्य की लगभग दो मास की कमाई के बराबर होता है। यह नए सदस्य के पहले कुछ महीनों की कमाई में से काटा जा सकता है; अतः यह बोझ मालूम नहीं होता। नया सदस्य इस भुगतान के बदले अपने औजार या उपकरण दे सकता है। सदस्य प्रबंधक मंडल को एक मास की सूचना देकर प्रवेश-भुगतान का वह भाग वापस ले सकता है, जो कि सदस्यता छोड़ने पर उसे देय हो।

इस समय प्रत्येक सदस्य सहकारी समिति से मंजूरी प्राप्त करता है और उनकी मजूरी की अमानी व उजरती दरें सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों की दरों के अनुमार हैं। चूँकि सामान्यतः विक्रय मूल्यों से लागत पर १० से २० प्रतिशत 'लाभ' होता है, इसलिए लेखा-वर्ष के अंत में सफल सहकारी समितियों के पास माल, मंजूरी तथा अन्य खर्च पूरे करने के बाद फालतू धन होगा। यह निबल आय आंशिक रूप से पूँजी उपकरणों का विस्तार करने, 'परस्पर सहायता निधि' बढ़ाने, सदस्यों की रहन-सहन की दशाओं में सुधार करने और सदस्यों के लिए सांस्कृतिक, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाओं जैसे कि भोजनालयों की व्यबस्था करने में इस्तेमाल की जा सकती है। कमाई का कुछ अंश सदस्यों में पहले दी गई मजदूरी के अलावा, प्रत्येक सदस्य के वर्ष भर के उत्पादन की मात्रा व स्वरूप के अनुपात में, बाँट दिया जाता है।

चूँकि उत्पादक सहकारी समितियाँ मुख्यतः स्थानीय उद्योग हैं, इसलिए उन्हें विभिन्न गणराज्यों के संबंधित मंत्रालयों द्वारा सहायता तथा मार्गदर्शन दिया जाता है। उनके लिए कच्चा माल, औद्योगिक उप-उत्पादन, औजार, भवन और ऋण सुनिश्चित किए जाते हैं, सरकार द्वारा निर्धारित दाम अनुसूचियों में दी गई कीमतों के अनुसार उनके उत्पादन को वेचने की व्यवस्था की जाती है और उनका गणराज्यों तथा सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की आर्थिक आयोजना प्रक्रियाओं द्वारा राष्ट्रीय अर्थतंत्र में समाकलन किया जाता है। उत्पादन सहकारी समितियों की हैसियत और विशेषाधिकार सरकार के स्वामित्व या संचालन वाले उद्यमों के

श्रमिकों की हैसियत और विशेषाधिकारों के समान होते हैं। नई सहकारी समितियों की सरकार द्वारा अनुदान देकर सहायता की जाती है और उन्हें पहले दो वर्षों के दौरान कर से छूट दी जाती है। स्थानीय और गणराज्य अभिकरणों के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत उत्पादित उपभोक्ता माल के औद्योगिक उत्पादन का अत्यधिक अंश बिक्री के लिए स्थानीय क्षेत्रों में रहता है। उसकी मास्को से नियंत्रित सरकारी व्यापार सुविधाओं में खपत नहीं की जाती। जो राज्य उद्यम उत्पादक सहकारी समितियों को उपकरण और औजार देते हैं और कच्चा माल प्राप्त करने में उनकी सहायता करते हैं, उन्हें उनके बदले में सहकारी समिति के उत्पादन का काफी अंश दिया जाता है, जो कि उक्त सरकारी उद्यमों के कर्मचारियों को बाँट दिया जाता है। कुछ मामलों में सरकारी उद्यम सहकारी समितियों को अर्द्ध-तैयार उपभोक्ता माल देंगे, जो कि सहकारी समितियों द्वारा पूरा तैयार किया जाएगा और वितरण के लिए सरकारी उद्यमों को वापस भेज दिया जाएगा।

निर्माता उद्योगों के श्रमिक

पीठिका

वह मूलभूत तथ्य, जिसके आगे श्रमिकों के इस्तेमाल, श्रमिकों के प्रशिक्षण, श्रमिक अनुशासन और श्रमिक अभिप्रेरणों की समस्याओं को देखना चाहिए, निर्माता उद्योगों के लिए श्रमिकों की भूतकाल तथा वर्त्तमान की सामान्य कमी है। विस्तारशील उद्योगों के कारण श्रमिकों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति, जनता में वृद्धि एवं प्रशिक्षण स्कूलों से प्राप्त होने वाले श्रमिकों तथा नगरों के औद्योगिक क्षेत्रों में आने वाले श्रमिकों के प्रवाह से नहीं होती। नगरों के ये औद्योगिक क्षेत्र ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या में होने वाली सारी वृद्धि को खपा रहे हैं। इस समय औद्योगिक श्रमिकों की कुल संख्या साढ़े पाँच करोड़ है, जिनमें से ४५ प्रतिशत महिलाएँ हैं जो भारी तथा हल्के दोनों प्रकार के कामों में लगी हैं। सरकार और दल के नेता लंबे समय से यह दावा करते आए हैं कि सोवियत संघ में कोई अनैच्छिक रोजगारी नहीं है और इसलिए वहाँ बेरोजगारी-बीमा की कोई आवश्यकता नहीं है। इस दावे की सचाई कुछ अंश तक संबंधित व्यक्ति द्वारा की गई बेरोजगारी की परिभाषा पर निर्भर करती है। एक पद छोड़ कर दूसरे पद पर जाने से जो बेरोजगारी पैदा होती है, उसकी न तो कोई सूचना प्राप्त होती है और न ही उसका कोई अनुमान लगाया जाता है। समय-समय पर ये समाचार प्राप्त हुए हैं कि तकनीकी स्कूलों के युवक स्नातकों की उन क्षेत्रों में आवश्यकता नहीं है, जिनमें उन्होंने मुख्य रूप से विशेषज्ञता प्राप्त की है। वे समझते हैं कि जिन पदों पर उन्होंने विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त किया है, उनसे भिन्न पदों पर उन्हें काम करना चाहिए, परंतु सामान्यतः अर्द्धकुशल, कुशल

और तकनीकी शिक्षा प्राप्त श्रमिकों की अभी भी कमी है और औद्योगिक श्रमिकों के संभरण का विस्तार अब भी एक समस्या है। इसे सोवियत सघ में हाल ही में हुए दो मुख्य परिवर्तनों का कारण माना जा सकता है। सोवियत संघ इस समय अपनी सशस्त्र सेना में लगभग एक-तिहाई कमी करने ही वाला है। सोवियत संघ की सशस्त्र सेना में से असैनिक रोजगारों के लिए लगभग २० लाख सैनिक पहले ही मुक्त कर दिए गए हैं और अंततः ३० लाख़ से अधिक सैनिक मुक्त कर दिए जाएँगे, जिनमें लगभग ढाई लाख अफ़सर होंगे। सोवियत संघ ने अपनी शिक्षा पद्धति में हाल ही में जो संशोधन किया है, उसके अनुसार शिक्षा प्राप्त करने की सामान्य समयावधि के अंतिम अनेक वर्षों में शिक्षा के साथ-साथ औद्योगिक नौकरी भी करनी पड़ती है। इससे पूर्व केवल शिक्षा ही प्राप्त की जाती थी। इन परिवर्तनों के अलावा हाल के वर्षों के दौरान राजनीतिक जेल से मुक्त हुए व्यक्तियों से भी, जिनकी संख्या मालूम नहीं है, पर संभवतः काफी ज्यादा है, श्रमिकों के संभरण में वृद्धि हो गई है।

श्रम कानून

सोवियत संघ का संविधान 'श्रम कानूनों' के सिद्धांत निर्धारित करने' का अधिकार राष्ट्रीय सरकार के लिए आरक्षित करता है। इसके अंतर्गत १९२२ ई० में सारे राष्ट्र के लिए एक 'श्रम संहिता' बनाई गई और उसके बाद अनेक सरकारी आज्ञप्तियाँ जारी की गईं। जनवरी, १९६० ई० में सुप्रीम सोवियत द्वारा 'श्रम संहिता के मूल सिद्धांत' नामक एक नया कानून बनाया गया, जिसने औद्योगिक श्रमिकों के इस्तेमाल के विनियमन संबंधी पिछले सभी राष्ट्रीय कानूनों और आज्ञप्तियों को रद्द कर दिया। इसमें 'श्रम कानून के 'सिद्धांत' दिए गए हैं। सारे सोवियत संघ में औद्योगिक श्रमिकों का इस्तेमाल इन्हीं सिद्धांतों के अनुरूप होना चाहिए। इन सिद्धांतों का विशिष्ट ब्यौरा और कार्यान्वयन अनेक गणराज्यों द्वारा बनाई गई श्रम संहिताओं में दिया गया है, और वे इन 'सिद्धांतों' के अनुरूप होने चाहिए; क्योंकि ये सारे राष्ट्र के लिए कानून हैं। ये सिद्धांत श्रमिकों के लिए प्रतिदिन और प्रति सप्ताह के अधिकतम काम के घंटे (विशिष्ट व्यवसाय, आयु और लिंगभेद के वर्गों के लिए संशोधित स्वरूप) निर्धारित करते हैं, अपेक्षित सुरक्षा और स्वास्थ्य उपाय निर्दिष्ट करते हैं, उन युवकों के लिए काम के घंटे और छुट्टियाँ निश्चित करते हैं, जो औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने के अंतिम अनेक वर्षों में शिक्षा के साथ-साथ नौकरी भी करते हैं, मजदूर संघों द्वारा किए जाने वाले अनिवार्य कार्य निर्दिष्ट करते हैं, उद्यम के प्रबंधकों के कर्मचारियों को नियमित पदों से बदलने के अधिकार वर्णित करते हैं, वे शर्तें निर्धारित करते हैं जिनके अनुसार किसी कर्मचारी को बर्खास्त किया जा सकता है, दैनिक और मासिक समयोपरित भत्ते की सीमा निर्धारित करते

हैं, मध्याह्न भोजन की छुट्टी तथा सप्ताह के अंत में क्रमबद्ध छुट्टी की समय-सीमा नियमित करते हैं। उजरती दर की मजूरी पद्धतियों के अंतर्गत न्यूनतम मजूरी निर्धारित करते हैं।

मजदूर संघ

५ करोड़ ५० लाख औद्योगिक श्रमिकों में से लगभग ५ करोड़ ३० लाख श्रमिक २३ मजदूर संघों के सदस्य हैं। प्रत्येक मुख्य उद्योग या छोटे-छोटे उद्योगों के समूह के लिए एक मजदूर संघ काम करता है। उद्योग के श्रमिक मजदूर संघ के सदस्य होते हैं—जिसमें उनकी निपुणता के स्वरूप और मात्रा का ख्याल नहीं किया जाता है। इनकी सदस्यता अनिवार्य नहीं है, परंतु इनके कुछ सामाजिक बीमा-लाभ, आवास प्राथमिकता और छुट्टी तथा विश्राम-गृह आदि लाभ आकर्षक हैं। उद्यम के पर्यवेक्षक और प्रबंधक-कर्मचारी सदस्य बनने के हकदार हैं, यद्यपि वे सामान्यतः संघ के कार्यों में भाग नहीं लेते। औसत चंदा मजूरी का एक प्रतिशत है, यद्यपि आरोही पैमाना भी है। मज़दूर संघों की उच्चतम संस्था 'मजदूर संघों की राष्ट्रीय अखिल संघ काँग्रेस' है, जिसकी लगभग चार वर्ष के बाद बैठक होती है। अधिवेशनों के दौरान सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मजदूर संघों की केंद्रीय परिषद् शासन निकाय के रूप में रहती है। इसके अंतर्गत प्रत्येक गणराज्य, प्रांत, जिले और उद्यम में प्रत्येक औद्योगिक संघ के उपप्रभागों की एक शृंखला है। यद्यपि इनके अधिकारी सिद्धांततः प्रजातंत्रात्मक आधार पर निर्वाचित किए जाते हैं, किंतु प्रत्येक स्तर पर साम्यवादी दल के सदस्यों का संघ की कार्यवाहियों में प्रभुत्व रहता है। उद्योग-स्तर पर लगभग ४,४०,००० स्थानीय मजदूर संघ हैं। नगरपालिका या उससे बड़े क्षेत्र के आधार पर आम समस्याओं का निपटारा करने के लिए मजदूर संघ संगठन के निम्न और उच्च स्तर पर अंतसंघ परिषदें विद्यमान हैं। बड़े-बड़े स्थानीय संघों और उच्चतर संघ एजेंसियों में संघ के पूर्णकालिक वेतन-प्राप्त प्रतिनिधि होते हैं, पर स्थानीय स्तर पर अधिकांश कार्य अवैतनिक स्थानीय अधिकारियों और समिति के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इन्हें संघ का काम करने के समय संयंत्र के पदों का वेतन मिलता रहता है। चूंकि स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर यूनियन के नेता साम्यवादी दल के सदस्य होते हैं, इसलिए संघ की नीतियाँ पूर्णतः दल की नीतियों के अनुरूप होती हैं।

समाजीकृत अर्थतंत्र में इस प्रकार के मजदूर संघों के कार्य पूंजीवादी अर्थतंत्र के मजदूर संघों के कार्यों से बहुत भिन्न हैं। मजदूरी और काम के घंटों के संबंध में रियायतें प्राप्त करने के लिए हमारे मजदूर संघ व्यक्तिगत नियोजक या नियोजकों के वर्ग के खिलाफ जैसा आक्रामक संघर्ष करते हैं, वैसा सोवियत अर्थतंत्र में नहीं

होता। चूँकि, कम से कम सिद्धांत में तो, सरकार नियोजक है और श्रमिक ही सरकार हैं, इसलिए मजदूरी में वृद्धि और काम के घंटों में कमी के लिए हड़ताल करना मानो अपने ही खिलाफ हड़ताल करनी है। अतः, वहाँ मजदूर संघ और किस्म के काम करते, जिनमें से मुख्य कार्य इस प्रकार हैं :

१. सदस्यों के लाभ के लिए तरह-तरह के सांस्कृतिक, शिक्षा और मनोरंजन कार्यों का व्यापक क्रम चलाना। इस तरह स्थानीय मजदूर संघ शिशुपालक-गृहों और नर्सरी स्कूलों, श्रमिक शिक्षा कक्षाओं और सदस्यों के लिए संगीत गोष्ठियाँ आदि का आयोजन करते हैं तथा राष्ट्रीय संघ, स्थानीय मजदूर संघों के इस्तेमाल के लिए आराम-गृह बनाते हैं एवं छुट्टी की सुविधाओं का विकास करते हैं। इन कार्यों के लिए धन मुख्यतः संयंत्र की आय में से आता है। सामूहिक समझौते के अनुसार संयंत्र की आय का कुछ हिस्सा मजदूर संघ के इस्तेमाल के लिए रख लिया जाता है। स्वास्थ्य केंद्रों के सभी आरामगृहों, अस्पतालों और होटलों का स्वामित्व, जो कि स्वास्थ्य मंत्रालय के पास था, मार्च, १९६० ई० में विना किसी भुगतान के सोवियत मजदूर संघों को स्थानांतरित कर दिया गया।

२. संयंत्र के प्रबंधकों को उद्यम को औद्योगिक योजना के अपने हिस्से की पूर्ति करने के लिए समर्थ बनाने के लिए, अपेक्षित श्रम प्राप्त करने में सहायता करना। इसमें विशेषकर श्रमिकों की दक्षता का सामान्य स्तर बढ़ाना और श्रमिकों के इस्तेमाल-संबंधी विशिष्ट समस्याओं जैसे कि अधिक अनुपस्थिति का समाधान करना शामिल है।

३. प्रबंधकों के खिलाफ व्यक्तिगत श्रमिकों या श्रमिकों के समूहों की जाने वाली शिकायतों का दुकान समितियों और उच्चतर निकायों के माध्यम से निपटारा करना। ये शिकायतें उद्यम के श्रम-विवाद-आयोग के पास भेजी जाती हैं, जिसमें मजदूर-संघ और प्रबंधकों का समान प्रतिनिधित्व होता है। यदि शिकायत का निपटारा इस स्तर पर न हो सके, तो उसे न्यायालय को भेज दिया जाता है, जिसे अपना अंतिम निर्णय लागू कराने का अधिकार होता है। ऐसे मामलों में संघ द्वारा शिकायत किए जाने और उस पर अंतिम निर्णय के लिए दबाव डाले जाने की आशा की जाती है।

४. संयंत्र के निदेशक या उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों की आलोचना करना और स्थानीय स्तर पर निर्धारित प्रबंध नीतियों में परिवर्तन करना। हालांकि मजदूर संघ संयंत्रों के प्रबंध में कोई सीधा हिस्सा नहीं लेते, परंतु वे संयंत्र की स्थिति और कार्यों में सुधार करने के लिए सुझाव दे सकते हैं। यदि ये विचार

और सुझाव महत्त्वपूर्ण समझे जाएँ, तो वे उच्चतर मजदूर संगठनों और प्रादेशिक अर्थपरिषदों को भेजे जा सकते हैं। कई बार तो मजदूर संघ निदेशक को हटाने की भी माँग कर सकता है।

५. सामाजिक बीमा पद्धति का पर्यवेक्षण करना। यद्यपि सारा धन उपक्रम और सरकार द्वारा दिया जाता है, तो भी धन का प्रशासन केवल मजदूर संघों द्वारा किया जाता है।

६. सुरक्षा, समयोपरि भत्ते, काम के घंटों आदि के सवंध में श्रम संहिता के उपवंधों को लागू करने के लिए नियमित कारखाना-निरीक्षकों की संख्या को बढ़ाना।

सामूहिक श्रम करार

न्यूनतम कार्य-दशाओं, काम के घंटों और मजूरी का सामान्य स्तर, सोवियत संघ के उच्च आयोजना और प्रशासनिक अभिकरणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। अर्थतंत्र में श्रमिकों की स्थिति निर्धारित करते समय इन एजेंसियों के पास मजदूर संघों के केंद्रीय संगठनों की सलाह और सुझाव होते हैं। इसके अतिरिक्त, चूँकि सभी संगठन साम्यवादी दल के उच्चतम सोपानकों के अधीन होते हैं, इसलिए सभी महत्त्वपूर्ण मतभेदों का समाधान साम्यवादी दल द्वारा किया जाता है।

गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों और प्रादेशिक अर्थपरिषदों की देख-रेख के अंतर्गत उपक्रमों के प्रबंधकों और मजदूर संघों में समय-समय पर करारों के संबंध में 'बातचीत' की जाती है। उन करारों में विशिष्ट उद्योगों में श्रमिकों की नियुक्ति तथा संबंधित पदों के संबंध में मजूरी, काम के घंटों तथा अन्य व्यापक सिद्धांतों का विस्तृत ब्यौरा होता है। उनके मूल उपवंध एक समान होते हैं, परंतु उनका सूक्ष्म विवरण भिन्न-भिन्न उद्यमों में भिन्न-भिन्न होता है।

ये करार श्रमिकों के कुछ वर्गों के लिए विशिष्ट रूप से मजूरी की अमानी दरें निर्धारित करते हैं और यह वताते हैं कि किन वर्गों को उजरती दर के आधार पर मजूरी दी जानी चाहिए तथा उजरती दर और अमानी दर के उपार्जनों के बीच क्या संबंध होना चाहिए। वे समयोपरि काम करने के नियम और समयोपरि भत्ते की दरें निर्धारित करते हैं। वे ऐसे नियम निश्चित करते हैं, जिनके अंतर्गत श्रमिक विभिन्न मजूरी वाले पदों पर बदले जा सकते हैं और इनमें श्रमिकों को नियुक्त तथा बर्खास्त करने संबंधी विनियम होते हैं। उनमें सामान्यतः श्रमिक शिक्षा, सुरक्षा उपायों, विशिष्ट कार्यों के लिए कपड़े देने, कैंटीन और हाथ-मुँह धोने के स्थान की व्यवस्था और संभवतः खेल-कूद या मनोरंजन-सुविधाओं तथा श्रमिकों के आवास की व्यवस्था-संबंधी उपबंध हैं। सामान्यतः वे उपक्रम के प्रबंधकों को श्रमिक उत्पादन सम्मेलनों या व्यक्तिगत श्रमिकों की ओर से

दक्षता बढ़ाने के संबंध में आने वाले प्रस्तावों पर सम्यक् विचार करने के लिए वाध्य करते हैं और कर्मचारियों के सफल सुझावों के लिए पुरस्कार देते हैं। करार में मजदूर संघ सामान्यतः श्रमिक अनुशासन लागू करके, अनुपस्थिति कम करके, चोरी रोक कर तथा दुर्घटनाएँ रोकने के उपाय लागू करके प्रबंधकों की सहायता करने के लिए सहमत हो जाता है। मजदूर संघों के कार्यों का वर्णन करते समय शिकायत निवारणतंत्र का उल्लेख किया गया है, जिसके द्वारा करार लागू किए जाते हैं। निस्संदेह इस प्रकार के किसी भी करार के उपबंध उस गणराज्य की श्रम संहिता के अनुरूप होने चाहिए, जिसमें संबंधित उपक्रम स्थित है।

कार्य-सप्ताह और छुट्टियाँ

युद्ध के तत्काल बाद की समयावधि के दौरान नियमित औद्योगिक कार्य-सप्ताह में आठ-आठ घंटे के ६ दिन होते थे। १९५६ ई० में प्रत्येक शनिवार और छुट्टी से पिछले दिन के कार्य-घंटे छह करके कार्य-सप्ताह के घंटों में कमी कर दी गई और ४६ घंटों का मानक कार्य सप्ताह बना दिया गया। १९५८ ई० से सोवियत उद्योग में काम के घंटों के बारे में संक्रमण काल शुरू हो गया। एक के बाद दूसरे उद्योग ने कार्य-दिवस और कार्य-सप्ताह में कमी करनी शुरू कर दी। अप्रैल, १९६० ई० तक यह दावा किया गया कि लगभग १ करोड़ ६० लाख कारखानों और दफ्तरों के कामगरों का कार्य-सप्ताह सात-सात घंटे के ६ दिन का या ४२ घंटों का हो गया; खानों या इसी प्रकार के अन्य व्यवसायों का कार्य-सप्ताह छह-छह घंटे के ६ दिन का या ३६ घंटों का हो गया। यह एक माना हुआ इरादा था कि १९६० ई० के अंत तक दफ्तरों और कारखानों के सभी श्रमिकों के लिए ४२ घंटों का कार्य-सप्ताह कर दिया जाएगा और कुछ उद्योगों में आठ-आठ घंटों के ५ दिन का कार्य-सप्ताह शुरू कर दिया जाएगा, ताकि १९६२ ई० तक यह एक नियम बन जाए।

सोवियत संविधान के अंतर्गत कारखाने या दफ्तर के प्रत्येक श्रमिक को सवेतन वार्षिक छुट्टी प्राप्त करने का वैध अधिकार है। किसी उद्यम में लगातार ११ मास तक काम करने के बाद वह दो सप्ताह की छुट्टी का हकदार हो जाता है। स्वास्थ्य के लिए हानिकर व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्तियों को सामान्य छुट्टी के अलावा दो सप्ताह की अतिरिक्त छुट्टी मिलती है। यह दावा किया जाता है कि वास्तविक वार्षिक छुट्टी की औसत १८ कार्य-दिवस अर्थात् ३ कैलेंडर सप्ताह है।[1] छुट्टी का वेतन छुट्टी से पहले प्राप्त हो जाता है और यह औसत कमाई पर आधारित होता है, जिसमें उत्पादन प्रसामान्यकों से अधिक उत्पादन का बोनस भी शामिल है।

---

[1] पी० मस्टि सलावस्की, सोवियत न्यूज बुलेटिन (कनाडा), १३ जनवरी, १९६०, पृष्ठ ४।

मजूरी

सोवियत मजूरी पद्धति में अधिक बल उत्पादिता के अनुसार मजूरी देने पर है। व्यक्तिगत श्रमिकों को उच्चत्तम संभव दक्षता प्राप्त करने और अपने कार्यों में अधिकतम शक्ति लगाने तथा सावधानी बरतने का प्रोत्साह देने के लिए विभिन्न पेचीदा मजूरी-दरें स्थापित की गई हैं। इस सिद्धांत में, सोवियत मजूरी पद्धति हमारी मजूरी पद्धति से मिलती है। दो दृष्टिकोणों से यह पद्धति हमारी पद्धति से भिन्न है। पहला अंतर यह है कि सोवियत अर्थतंत्र में श्रमिक का उपार्जन ऐसी परिस्थितियों में खर्च किया जाता है, जिनमें अमेरिका की अपेक्षा उपभोक्ता माल का बहुत ज्यादा अभाव होता है। अतः, सरकारी और सहकारी दुकानों में सरकार द्वारा निर्धारित अपेक्षतया कम दाम पर वास्तव में खरीदने योग्य माल पर इच्छानुसार खर्च करने के बाद सोवियत श्रमिक यह महसूस करता है कि उसके शेष उपार्जन का और कोई लाभ नहीं है। यदि वह शेष उपार्जन का सामूहिक फार्म, किसान बाजार में या किसी अन्य बाजार में खर्च करना चाहता है, तो उसे वहाँ अधिक अनियंत्रित और अवैध दाम व्याप्त मिलती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक कोई व्यक्ति बचत को अधिक महत्त्व न दे, तब तक जैसे-जैसे श्रमिक के उपार्जन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे उसमें दक्षता प्राप्त करने और सख्त काम करने का प्रोत्साहन कम हो जाता है।

एक अंतर यह है कि सोवियत संघ ने आवश्यकता के अनुसार आय देने के साम्यवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय किए हैं। अतः, संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यक्ति की कुल खपत का अधिकांश उसकी अपनी मजूरी से खरीदा जाता है, परंतु सोवियत संघ में ऐसी बात नहीं है। इससे भी संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में सोवियत संघ में मजूरी का प्रोत्साहन कम होता है। उदाहरण के लिए, सामाजिक बीमा निधि के लिए किसी व्यक्ति द्वारा अंशदान नहीं दिया जाता। सोवियत संघ में श्रमिक के मकान का किराया उसकी मजूरी का लगभग ५ प्रतिशत हो सकता है, जब कि अमेरिका में यह श्रमिक की आय का २० से २५ प्रतिशत है। सोवियत संघ में आवास-खर्च का बाकी हिस्सा सरकार और उद्योग द्वारा सामुदायिक आधार पर दिया जाता है। चिकित्सा और अस्पताल की अधिकांश सुविधाएँ तथा मनोरंजन, सांस्कृतिक एवं शिक्षा सुविधाओं के महत्त्वपूर्ण भाग की व्यवस्था सरकारी निधियों में से की जाती है। सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दिए जाने के कारण, संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा यात्री परिवहन सामान्यतः अधिक सस्ता है। यद्यपि व्यक्ति को मिलने वाली सामुदायिक खपत की इन वस्तुओं के, जिनका संबंध मजूरी से है, महत्त्व का प्रतिशत अनुमान लगाना असंभव है, तो भी उनका महत्त्व असंदिग्ध

है। इस तथ्य तथा उपभोक्ता माल की कमी से हमारी मजूरी पद्धति की अपेक्षा मजूरी में अंतर का प्रोत्साहन ढीला पड़ जाता है। इसके बावजूद सोवियत अर्थतंत्र में मजूरियों में अंतर श्रमिकों के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभिप्रेरण है।

राष्ट्रीय अर्थतंत्र के प्रत्येक भाग का मजूरी बजट और उत्पादन कोटा तथा आर्थिक योजना के अन्य पहलू सरकारी आयोजना समिति एवं राष्ट्रीय मंत्रिपरिषद् द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। मजदूर संघों के केंद्रीय अभिकरण इन मजूरी बजटों को प्रत्येक उद्योग तथा उसके विभिन्न उद्यमों के लिए निधियों में विभक्त करने के लिए सलाह देते हैं। विभिन्न उद्योगों के वेतन-मानों में काफी अंतर है; क्योंकि श्रमिकों को ऐसे उद्योगों में लाने के लिए, जहाँ उनकी विशेष आवश्यकता होती है, अभिप्रेरणस्वरूप मजूरी की ऊँची दरें दी जाती हैं। प्रत्येक संयंत्र के लिए मजूरी की दरें, उस संयंत्र के सामूहिक श्रम करार के एक अंश के रूप में, प्रादेशिक अर्थपरिषद् द्वारा स्थानीय संघों की मजूरी समितियों के परामर्श से निर्धारित की जाती हैं। यह समिति संयंत्र के मजूरी विन्यास के ब्यौरे को प्रभावित कर सकती है, परंतु इसके सामान्य स्वरूप के बुनियादी सिद्धांत उच्चतर प्रशासन अभिकरणों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। सोवियत अर्थतंत्र में प्रचलित विभिन्न प्रकार की मजूरी और वेतन-दरों का निरूपण नीचे किया गया है।

१-अमानी दरें : ये दरें अमेरिका के उद्योग में घंटों की दरों के समान हैं। इन दरों का संबंध काम के लिए अपेक्षित श्रमिक के कौशल, प्रशिक्षण, सूक्ष्म ध्यान और प्रयास से है। जहाँ उत्पादन की मात्रा या गुणावस्था की दृष्टि से काम करने के मानक निर्धारित नहीं किए जा सकते, वहाँ अमानी दरें इस्तेमाल की जाती हैं। इस समय औद्योगिक संयंत्रों में एक-चौथाई से अधिक उत्पादन-श्रमिकों को साधारण अमानी दरें नहीं दी जातीं। कम-से-कम तीन-चौथाई श्रमिकों को उजरती दर या बोनस मान के आधार पर भुगतान किया जाता है।

२-अमानी दरें और उनकी अनुपूर्ति में बोनस : इस प्रकार की दरें वहाँ इस्तेमाल की जाती हैं, जहाँ उत्पादन की मात्रा के संबंध में कोई निश्चित प्रसामान्यक निर्धारित नहीं किए जा सकते, परंतु श्रमिक अपने उत्पादन की गुणिता या मशीन की गति को कुछ प्रभावित कर सकता है। ऐसे मामलों में, निर्दिष्ट समयावधि में निर्धारित उत्पादन से अधिक उत्पादन करने, अधिक सामग्री खराब न करने या कुछ अन्य गुणिता मानक प्राप्त करने के लिए बोनस दिया जाता है। कुछ मामलों में निर्दिष्ट कार्य के लिए बोनस मूल अमानी दर के ३० प्रतिशत तक निर्धारित किया जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के बोनस विद्युत-शक्ति, ईंधन या कच्ची सामग्री की बचत करने के लिए दिए जाते हैं।

३. सीधी उजरती दरें : ये दरें अमेरिका के उद्योगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सीधी उजरती दरों के समान हैं। प्रत्येक कार्य के लिए प्रति इकाई उत्पादन की दर निर्धारित कर दी जाती है। उदाहरण के लिए छेद करने के कार्य के लिए प्रति सैंकड़ा छेदों के लिए रूबल की अमुक दर निर्धारित की जा सकती है। ये दरें स्थिर रहती हैं और इनका श्रमिक के उत्पादन की मात्रा से कोई संबंध नहीं है तथा इससे एक ही प्रकार का काम करने वाले श्रमिकों की कमाई में काफी भिन्नता हो सकती है। उद्योगों के प्रबंधकों को अपने संयंत्रों में, जहाँ वे चाहें, सीधी उजरती दरें लागू करने का असीमित अधिकार है। परंतु, ये दरें इस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए, जिससे श्रमिक की औसत आय उतनी हो जाए जो कि उसके कार्य के लिए उचित समझी जाए।

४. आरोही श्रमानी दरें : ये मोटे तौर पर अमेरिका के उद्योगों में इस्तेमाल की जाने वाली अभिप्रेरण मजूरी पद्धतियों के अनुरूप हैं। प्रत्येक कार्य के संबंध में निर्दिष्ट समयावधि के लिए उत्पादन के प्रसामान्यक या मानक मात्रा निर्धारित की जाती है और समय के अंदर इस प्रसामान्यक की पूर्ति के लिए प्रति कार्य एक दर निश्चित की जाती है। जो श्रमिक इस प्रसामान्यक से नीचे रहते हैं, उन्हें प्रति कार्य के लिए इस दर पर भुगतान किया जाता है, परंतु यदि श्रमिक अपने वश से बाहर की परिस्थितियों के कारण इस प्रसामान्यक से नीचे रहता है, तो उसे उस दर का दो-तिहाई दिया जाता है, जो कि उसे प्रसामान्यक पूरा करने पर प्राप्त होती। यदि कोई श्रमिक निर्धारित प्रसामान्यक से १० प्रतिशत अधिक उत्पादन करता है, तो निर्धारित प्रसामान्यक से ऊपर के १० प्रतिशत उत्पादन के लिए उजरती दर बढ़ जाती है। उत्पादन में निर्धारित प्रसामान्यक से ऊपर १० प्रतिशत से अधिक वृद्धि होने पर कार्य के प्रत्येक हिस्से की दर में और वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए, एक उद्योग में जैसे ही श्रमिक निर्धारित प्रसामान्यक से १० प्रतिशत अधिक उत्पादन करता है, वैसे ही निर्धारित प्रसामान्यक से ऊपर के उत्पादन के लिए उसकी उजरती दर में ३० प्रतिशत की वृद्धि की जाती है। उत्पादन में निर्धारित प्रसामान्यक से ऊपर १० प्रतिशत से अधिक वृद्धि होने पर उजरती दर में ५० प्रतिशत की वृद्धि की जाती है। कुछ उद्योगों में निर्धारित प्रसामान्यक से ऊपर निर्दिष्ट उत्पादन-लक्ष्य प्राप्त करने पर उजरती दर में ३०० प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाती है। सारे उद्योगों के लिए आरोही दरों में वृद्धि के मानक-प्रसामान्यक तय हैं, परंतु प्रत्येक स्थानीय संयंत्र के लिए सामान्यतः अलग प्रसामान्यक निर्धारित किए जाते हैं। स्पष्टतः आरोही उजरती दरें श्रमिक पर प्रति समय-इकाई के उत्पादन को बढ़ाने के लिए दबाव डालती हैं। कुछ उद्योगों में युद्ध से पूर्व आरोही उजरती दरें इस्तेमाल की जाती थीं और युद्ध

के दौरान इनके इस्तेमाल में बहुत वृद्धि हो गई। इस समय ये आरोही उजरती दरें और सीधी उजरती दरें सोवियत उद्योग में मजूरी-दरों की मूल प्रणाली हैं।

चूँकि आरोही उजरती दरें उत्पादिता को प्रभावित करने का महत्त्वपूर्ण कारण हो सकती हैं, चूँकि उन्हें निर्दिष्ट कार्यों में लागू करने में ऊँचा तकनीकी समय अध्ययन तथा अन्य प्रशासकीय मामले शामिल हैं, और चूँकि उनका मजदूरी-बजट पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए उनके इस्तेमाल पर केंद्र का नियंत्रण है। जैसे-जेसे प्रति श्रमिक उत्पादन में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे यह आशा की जाती है कि वे प्रसामान्यक, जिनके बाद उजरती दरों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, इकाई लागतों में कमी करने और व्यक्तिगत श्रमिक पर उत्पादन बढ़ाने हेतु दवाव डालने के लिए बढ़ा दिए जाएँगे। समय-समय पर सोवियत समाचारपत्र उद्योग के विभिन्न भागों के प्रसामान्यकों में इस प्रकार की वृद्धियों के लेखे प्रकाशित करते हैं। मजूरी दर की इस प्रणाली की परिधि में अन्य कार्यों को लाने तथा उद्योग में इसके इस्तेमाल पर और अधिक केंद्रीय नियंत्रण रखने की प्रवृत्ति हो रही है।

सोवियत उद्योग की आरोही उजरती दरों और अमेरिकी प्रोत्साहन मजूरी दरों में एक अंतर यह है कि अमेरिका की मजूरी दरों की प्रणाली के अंतर्गत आय की गणना अल्प समयावधि—सामान्यतः एक दिन के आधार पर की जाती है, जब कि सोवियत उद्योग की आरोही उजरती दरों की प्रणाली के अंतर्गत अधिक लंबी समयावधियों सामान्यतः दो सप्ताह या एक मास के आधार पर। अतः, अमेरिका की अभिप्रेरण योजनाओं के अंतर्गत कोई श्रमिक किसी एक दिन ज्यादा अभिप्रेरणा आय प्राप्त कर सकता है और उसे सप्ताह के अंत में प्राप्त होने वाले वेतन में उस दिन की वह आय सुनिश्चित हो जाती है। इसका उसमें किसी अन्य दिन के उत्पादन से कोई संबंध नहीं है। सोवियत उद्योग में गणना समयावधि के दौरान के किसी एक दिन की उजरती दर की अधिक आय उससे पिछले या अगले दिन के कम उत्पादन के कारण काटी जा सकती है। अतः, जो सोवियत श्रमिक एक या अनेक दिन निर्धारित प्रसामान्यक से अधिक उत्पादन करता है, उस पर गणना की समयावधि के शेष दिनों में भी अधिक उत्पादन करते रहने का दबाव रहता है। निःसंदेह इसका परिणाम यह भी होता है कि यदि किसी सोवियत श्रमिक का उत्पादन गणना की समयावधि के शुरू के दिनों में निर्धारित प्रसामान्यक से कम रहता है, तो उसमें समयावधि के शेष दिनों के दौरान अपने उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास करने के लिए अपेक्षतया कम अभिप्रेरण हो सकता है; क्योंकि उस समयावधि का बोनस अर्जित करने के लिए उसके शेष दिन का उत्पादन इतना ज्यादा होना चाहिए कि उससे उसके निर्धारित प्रसामान्यक से कम उत्पादन के दिनों की क्षतिपूर्ति हो सके।

यह समझा जा सकता है कि मजूरी-निर्धारण के व्यापक स्वरूपों से इस अर्थतंत्र में, जिसमें इतने तेज परिवर्तन हो रहे हैं, नई समस्याएँ लगातार उत्पन्न होती रहती हैं। मजूरी-नीति बनाने तथा उसे लागू करने के लिए जिम्मेवार अभिकरण मजूरी की असमानताओं तथा प्रोत्साहन की असंख्य समस्याओं का लगातार सामना कर रही हैं। इनमें से केवल दो का यहाँ उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है। एक तथ्य यह है कि वे प्रसामान्यक, जिनके ऊपर उजरती दरें उत्तरोत्तर ऊँची होती जाती हैं, संगतिपूर्वक संशोधित नहीं किए गए हैं; क्योंकि समुन्नत शिल्प-विज्ञान और उद्योग की बेहतर व्यवस्था के श्रमिकों के लिए अपने प्रसामान्यकों की पूर्ति करना अधिक आसान हो गया है। इससे श्रमिक अपेक्षतया कम प्रयास से अपने प्रसामान्यकों से ऊपर पर्याप्त आय प्राप्त करने में समर्थ हो गए, जिससे आरोही उजरती दरों का अभिप्रेरण अभिप्राय संकट में पड़ गया। इस समस्या को हल करने के लिए पिछले कुछ वर्षों से उजरती दर प्रसामान्यकों में व्यापक संशोधन करके उन्हें बढ़ा दिया गया है और आरोही उजरती दरों में बढ़े हुए प्रसामान्यकों के लिए निर्दिष्ट धनराशि की वृद्धि की गई है। इसमें अपेक्षित उद्देश्य ऐसे श्रमिक को बोनस से वंचित रखना है, जो वास्तव में 'अभिप्रेरण प्रयास' नहीं करता और श्रमिकों पर निर्धारित प्रसामान्यकों से ऊपर काफी ज्यादा उत्पादन करने के लिए और अधिक दबाव डालता है। हाल ही में हुए अन्य परिवर्तनों से कम वेतन पाने वाले और वेतन की ऊँची दरें प्राप्त करने वाले श्रमिकों की आय का अंतर बढ़ गया है। जब मजूरीमानों में संशोधन किया जाता है, तब यह वर्त्तमान प्रवृत्ति रहती है कि उच्चतम स्तरों की अपेक्षा निम्नतम स्तरों पर आय में वृद्धि की जाए। इनमें से कुछ संशोधन ४२ घंटे के कार्य-सप्ताह के विस्तार के साथ, वेतन में कमी किए बिना, किए जा रहे हैं। यह सूचना प्राप्त हुई है कि १९५६ ई० से उद्योग के कुछ महत्त्वपूर्ण भागों में मजूरी में १३ से २६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, परंतु उन्हीं उद्योगों में कम मजूरी प्राप्त करने वाले श्रमिकों की मजूरी में ४६ से ४८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।[1]

५. उद्यमों के प्रबंधकों के वेतन : ये मासिक आधार पर दिए जाते हैं और ये पदधारी की योग्यताओं तथा पद की जिम्मेवारियों के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं। परंतु दक्षता के लिए अभिप्रेरण देने के लिए संयंत्र प्रबंधक को, संयंत्र द्वारा उत्पादन लक्ष्यों से अधिक उत्पादन करने पर, बोनस प्राप्त होता है। इन बोनसों की रकम काफी ज्यादा होती है। कुछ मामलों में तो मासिक उत्पादन के लक्ष्य से ५ प्रतिशत अधिक उत्पादन करने पर बोनस की रकम वेतन के १०० प्रतिशत तक और उत्पादन कोटे से निर्दिष्ट कुछ और अधिक उत्पादन करने पर वेतन के २००

---

[1] मास्को न्यूज, ११ मई, १९६०, पृष्ठ ३।

प्रतिशत तक होती है। प्रबंधकों को कुछ विशेष प्राथमिकताएँ भी दी जाती हैं, जैसे, उदाहरण के लिए, आवास-सुविधाओं के वितरण में। फोरमैन अमानी दर पर काम करते हैं, परंतु जब उनके संबंधित विभागों में निर्धारित कोटे से अधिक उत्पादन होता है, तब उन्हें बोनस प्राप्त होता है। उत्तरोत्तर यद्यपि उपर्युक्त कारणों से आय में वृद्धि के साथ-साथ आय में अंतरों का वास्तविक महत्त्व कम हो जाता है, तो भी रूबल की दृष्टि से वास्तविक अंतर बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मोटे तौर पर, साधारण उत्पादन श्रमिक को संयंत्र की न्यूनतम मजूरी से दुगनी मजूरी प्राप्त होती है। संयंत्र की मजूरी बहुत साधारण या घटिया दरजे में काम के लिए दी जाने वाली मजूरी है। (दी जाने वाली न्यूनतम मजूरी स्थापित वैध न्यूनतम मजूरी है) कुशल श्रमिक की आय साधारण उत्पादन श्रमिक की मजूरी से तीन गुनी हो सकती है, परंतु अत्यधिक कुशल श्रमिकों और शिल्पियों की आय कुशल श्रमिकों की आय के दुगुने के बराबर पहुँच सकती है। अतः, अधिक मजूरी पाने वाले औद्योगिक श्रमिकों की आय और न्यूनतम मजूरी पाने वाले श्रमिकों की आय में लगभग ६ और १ का अनुपात है। यह अनुपात संयुक्त राज्य अमेरिका के औद्योगिक मजूरों की मजूरी के तुलनात्मक अनुपात से कम नहीं है, परंतु इससे अधिक ही हो सकता है।

अनुपूरक श्रम प्रोत्साहन

अधिकतम मानव-प्रयास चेतन करने के लिए उजरती दर और प्रोत्साहन मजूरीमान मुख्य आधार माने जाते हैं। परंतु, इनके अनुपूरक के रूप में कुछ मजूरी से इतर अभिप्रेरण भी होते हैं, जो दो प्रकार के हैं—आर्थिक और गैर-आर्थिक। मजूरी विन्यास से बाहर के व्यापक आर्थिक अभिप्रेरणाओं में मुख्य रूप से विभिन्न किस्म की उत्पादन प्रतियोगिताओं में पुरस्कार के रूप में अत्यावश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का दिया जाना है। उदाहरण के लिए किसी दुकान में उत्पादन-कार्यक्रमों की पूर्ति में श्रेष्ठता के लिए या उत्पादन में वृद्धि-संबंधी सुझाव देने के लिए नकद इनाम दिए जा सकते हैं। असाधारण उत्पादन-सफलताओं के लिए मोटरगाड़ियाँ, कारें, बाइसिकिल तथा अन्य छोटे-छोटे उपहार दिए जाते हैं। अन्य मामलों में विशेष प्रयासों को प्रोत्साहन देने के लिए बढ़िया मकान, विशेष छुट्टी, मास्को की सैर और थिएटरों के टिकट इनाम के रूप में दिए जाते हैं। रूस के समाचारपत्र इन इनामों की सूचियों को प्रकाशित करते हैं। इससे प्रौद्योगिकी के आविष्कार किए जाते हैं और उत्पादन के लिए नए तथा अधिक तेज तरीके निकाले जाते हैं। कुछ मामलों में इनाम की राशि दो लाख रूबल तक होती है, जो कि कुशल औद्योगिक श्रमिक की संभवतः १० से १२ साल की आय के बराबर होती है।

उत्पादन में असाधारण सफलता के लिए गैर-आर्थिक इनाम सामान्यतः 'आर्डर' में सदस्यता या किसी सम्मानित उपाधि को इस्तेमाल करने की अनुमति के रूप में होता है। इनमें ज्यादा सुप्रसिद्ध उपाधियों को महत्त्व में क्रम में इस प्रकार रखा गया है : आर्डर ऑफ लेनिन; आर्डर ऑफ दि रेड बैनर ऑफ लेबर; बैज ऑफ ऑनर। कुछ मामलों में कुछ पुरस्कारों के, जो कि गैर-आर्थिक दिखाई देते हैं, आर्थिक महत्त्व के कुछ विशेषाधिकार होते हैं। ऊपर निर्दिष्ट इनामों से उनके पाने वालों को अनुपूरक मजूरी जो कि रूबल में दी जाती है, कुछ करों से छूट, मकान के किराए में १० से ५० प्रतिशत की कमी, सड़कों पर चलने वाली कारों का मुफ्त इस्तेमाल, या विशिष्ट रूप से सामाजिक बीमा पद्धति के अंतर्गत पर्याप्त विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये आर्थिक और गैर-आर्थिक अनुपूरक अभिप्रेरण सोवियत अर्थतंत्र में अमेरिका की अर्थतंत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से अपनाए जाते हैं, तो भी वहाँ ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि वे अनेक मजूरी अभिप्रेरणों के, जो कि मूल अभिप्रेरण हैं और काफी समय तक मूल अभिप्रेरण बने रहेंगे, स्थानापन्न माने जाते हैं।

श्रमिक अनुशासन

सन् १९३० से १९४० ई० के दौरान सोवियत उद्योग में श्रमिक आवर्त, अनुपस्थिति, मंदता और आवारागर्दी की गंभीर समस्याएँ थीं और ये अब भी औद्योगिक दक्षता के लिए भारी अड़चनें हैं। कारखाना-श्रमिकों की सामान्य कमी और उपभोक्ता माल के अभाव तथा विभिन्न बस्तियों को संभरण किए गए माल में विषमता ने नए किस्म के रोजगार और नए उद्यम ढूँढने के लिए, प्रेरित किया। 'पूर्ण रोजगार' व्याप्त होने से नौकरियाँ काफी मात्रा में मिल जाती थीं और श्रमिक आवागमन की अनेक पाबंदियों के बावजूद बेहतर मजूरी या काम की दशाओं, बेहतर आवास या अधिक यथेष्ठ ढंग से संचित दुकानों की तलाश करता है। श्रमिक आवर्त अधिक रहा है, अनुपस्थिति और मंदता आम रही हैं तथा श्रमिक छुट्टी एवं सवेतन प्रसूतिका छुट्टी-जैसे विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के अपने दावों पर बल देने के लिए प्रश्नास्पद कार्यवाहियाँ करते रहे हैं। अनेक मामलों में प्रबंधक ऐसी परिस्थितियों को बरदाश्त करते रहे हैं और कभी-कभी वे कर्मचारियों के साथ इन कार्यवाहियों में मिल जाते हैं जिससे कि वे श्रमिकों को विशिष्ट संयंत्र में, जहाँ श्रमिकों की कमी है, ठहरने या आने के लिए प्रोत्साहित कर सकें।

१९३० ई० से शुरू होने वाली दशाब्दी के अंतिम चरण से लेकर १९५१ ई० तक सरकार ने सख्त उपायों द्वारा इन दोषों को दूर करने की कोशिश की। एक मास में तीन बार की मंदता या दो क्रमागत महीनों में चार बार की मंदता पर बर्खास्तगी की सजा दी जाती थी और बर्खास्तगी के साथ उसका आवास मकान, जो

कि वहुत ही दुष्प्राप्य है, भी छीना जाता था। अनुपस्थिति के मामलों में 'श्रम-सुधार' अनुशासन द्वारा दंड दिया जाता था, जिसमें ६ मास की समयावधि की अर्जित मजूरी का दंड होता है। दुकान के नियमों के उल्लंघन के पहले अपराध में डाँट-फटकार की सजा दी जाती थी और दूसरे अपराध में ऐसे साथी श्रमिकों के न्यायालय के सामने अभियोग चलाया जाता था, जो कि नियमों का पालन करते हों। प्रत्येक कर्मचारी के लिए एक 'कार्य-पुस्तिका' रखना अपेक्षित था, जिसमें उसके बर्खास्त होने पर बर्खास्तगी के कारण लिख दिए जाते थे। यह कार्य-पुस्तिका प्रत्येक नए भावी नियोजक को दिखानी पड़ती थी। १९४० ई० में सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों और सहकारी उद्यमों के सभी कर्मचारियों पर प्रबंधकों की अनुमति के बिना, जो कि कार्य-पुस्तिका में दर्ज की जाती थी, नौकरी छोड़ने की रोक लगा दी गई और उद्यमों पर ऐसे श्रमिकों को भर्ती करने की रोक लगा दी गई, जिनकी कार्य-पुस्तिका से यह पता नहीं चलता था कि उनका पिछले रोजगार से अलग होना उचित था। प्रबंधक को वीमारी, स्कूल में भर्ती या बुढ़ापे के मामलों में रोजगार छोड़ने की प्रार्थना मंजूर करनी पड़ती थी, परंतु अन्य मामलों में यदि कर्मचारी के जाने से उसके उद्यम के कार्य को नुकसान हो, तो वह उसकी प्रार्थना को नामंजूर कर सकता था।

जुलाई, १९५६ ई० में सुप्रीम सोवियत ने मंदता, अनुपस्थिति या उद्यम के प्रबंधक की अनुमति के बिना नौकरी छोड़ने पर सख्त दंड समाप्त करने सबंधी आदेश का अनुमोदन किया। फिर भी बहुत ज्यादा मंदता और अनुपस्थिति के कारण कर्मचारियों को कुछ बोनसों से वंचित रखने के, जो कि अन्यथा उन्हें प्राप्त होते हैं, प्रबंधकों के अधिकार कायम रहे। इसके अलावा कर्मचारियों की अनुपस्थिति और मंदता को उनकी कार्य-पुस्तिका में दर्ज करने की प्रथा भी जारी रही। नए नियोजक को नौकरी चाहने वाले प्रार्थी को नियुक्त करने से पहले उसकी कार्य-पुस्तिका को देखने का अधिकार था। कर्मचारी दायित्वों के उल्लंघन के कारण जेल की सजा भुगतने वाले व्यक्तियों को रिहा कर दिया गया और उनके खिलाफ चल रहे अनिर्णीत अभियोजन समाप्त कर दिए गए। अव कर्मचारी उद्यम को दो सप्ताह की नोटिस देकर अपनी नौकरी छोड़ सकता है और दूसरा कोई उद्यम उसे नियुक्त कर सकता है। परंतु, नौकरी छोड़ने पर कर्मचारी के सामाजिक वीमा के अधिकार समाप्त हो जाते हैं और उसे नए सिरे से किसी दूसरे उद्यम में कम-से-कम छह मास लगातार काम करने के बाद उन्हें पाने के नए अधिकार स्थापित करने पड़ते हैं। सुप्रीम सोवियत ने सरकार के इस अधिकार को नहीं बदला कि विश्वविद्यालय या उच्चतर तकनीकी स्कूल के जवान स्नातक को तीन से पाँच वर्ष तक नौकरी दी जा सकती है। सोवियत उद्योग में कारखानों और कार्यालय

श्रमिकों पर अनुशासन में इस ढील का दल के नेताओं द्वारा यह कारण बताया गया कि सोवियत श्रमिक में 'समाजवादी चेतना' और जिम्मेवारी की भावना जाग्रत हो चुकी थी, जिसके कारण अनुशासन के पुराने कठोर तरीकों की अब आवश्यकता नहीं रही थी।

सामाजिक बीमा

मजदूर संघों का एक मुख्य कार्य सामाजिक बीमा निधियों का प्रशासन करना है। यद्यपि वहाँ बेरोजगारी बीमा की पद्धति नहीं है, तो भी सभी सरकारी उद्योगों के कर्मचारियों के, जिनमें सरकारी फार्मों के कर्मचारी भी शामिल हैं, हितों की बुढ़ापा, विकलांगता और मृत्यु बीमा-द्वारा रक्षा की जाती है। चूँकि सामूहिक फार्मों और उत्पादक सहकारी समितियों के सदस्यों को सरकारी सामाजिक बीमा पद्धति के लाभ प्राप्त नहीं हैं, इसलिए उनकी अपनी स्थानीय योजनाएँ हैं, जो कि 'परस्पर सहायता निधि' के नाम से जानी जाती हैं। हालांकि सरकारी सामाजिक बीमा पद्धति बहुत वर्षों से चल रही है, परंतु इसके अंतर्गत दिए जाने वाले लाभ कारखाना-श्रमिकों के लिए बहुत कम हैं। जुलाई, १९५६ ई० में सुप्रीम सोवियत ने एक नया पेंशन कानून बनाया, जिसने कम मजूरी पाने वाले श्रमिकों के लाभों में पर्याप्त वृद्धि कर दी और कुछ ऐसी खामियों को दूर कर दिया, जिनके द्वारा अत्यधिक वेतन पाने वाले प्रबंधकों और सरकारी कर्मचारियों के वर्ग बहुत ही ज्यादा पेंशन प्राप्त कर सकते थे। यह संशोधन रूस की जनता में बहुत लोकप्रिय साबित हुआ। यह सूचना मिली है कि रूस की जनता ने इसका बड़ा जोरदार स्वागत किया। उन्होंने इतना जोरदार स्वागत कार्य-सप्ताह को कम करने और नौकरी छोड़ने की पाबंदी समाप्त करने का भी नहीं किया था। वर्त्तमान सामाजिक बीमा-व्यवस्था का विवरण नीचे दिया गया है।

इन लाभों का खर्च पूरा करने के लिए कारखाने के वेतन-चिट्ठों पर बीमा-कर लगाया जाता है, जो कि कर्मचारियों की मजदूरी में से नहीं काटा जाता। कारखाने और दफ्तर के पुरुष श्रमिक २५ वर्ष की नौकरी के बाद ६० वर्ष की आयु होने और महिला श्रमिक २० वर्ष की नौकरी के बाद ५५ वर्ष की आयु होने पर बुढ़ापा पेंशन के हकदार हैं। न्यूनतम पेंशन ३०० रूबल प्रति मास है (औद्योगिक श्रमिकों की औसत आय के आधे से कुछ कम और पहले प्राप्त होने वाली पेंशन की अपेक्षा काफी ज्यादा)। इस न्यूनतम पेंशन के अलावा, पेंशन पाने वाले व्यक्ति को अन्य लाभ उसकी उद्योग में प्राप्त पिछली आय के अनुसार दिए जाते हैं, जिनकी अधिकतम सीमा १२०० रूबल प्रति मास है। जिन पेंशनभोगियों की आय बहुत कम थी, उनकी पेंशन उनकी आय के १०० प्रतिशत के बराबर है। मध्यम श्रेणी

की आय पाने वाले श्रमिकों की पेंशन उनकी आय के ८५ प्रतिशत के बराबर और अधिकतम आय पाने वाले श्रमिकों की पेंशन उनकी आय के ५० प्रतिशत के बराबर है, परंतु पेंशन की अधिकतम सीमा १२०० रूबल प्रति मास है। नौकरी पर दुर्घटना के कारण या व्यावसायिक बीमारी के कारण हुई विकलांगता के लिए विकलांगता-लाभ पिछली आय के अनुसार दिया जाता है। जो विकलांगता व्यवसायगत कारण से न हो, उसके लाभ कुछ कम होते हैं और उनके मान निर्धारित किए जाते हैं। आजीविका उपार्जक की मृत्यु पर, यदि वह कारखाने या दफ्तर का कर्मचारी रहा हो, उसके आश्रितों को भी लाभ दिए जाते हैं। सामाजिक बीमा-लाभ की व्यवस्था पर्याप्त प्रतीत होती है। परंतु, इन लाभों की पर्याप्तता का अनुमान उनके प्रशासन से प्राप्त अनुभव के बाद ही लगाया जा सकता है। १९५६ ई० के संशोधन से पूर्व, सरकार और दल हमेशा उस समय प्रचलित सामाजिक बीमा योजना की उदारता की जोरदार घोषणा करते थे, परंतु यह मालूम था कि बहुत से कर्मचारी किसी-न-किसी कारण से इन लाभों के हकदार नहीं बन सके और यदि वे हकदार बन भी गए, तो उन्हें पता चला कि प्रशासन के नियमों के अनुसार मिलने वाले लाभ बहुत कम और पूर्णतः अपर्याप्त थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, मजदूर संघों द्वारा बीमे के प्रशासन के लिए अपनाए गए तरीकों पर ही इसके लाभों की वास्तविक व्यावहारिक प्राप्ति निर्भर करती है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. क्या यह कहना सही है कि नई सोवियत सरकार ने जब्त करके औद्योगिक संपत्ति प्राप्त की ?

२. जहाँ तक नित्यप्रति के संचालनों का संबंध है, औद्योगिक उद्यम या संयंत्र की व्यवस्था कैसे की जाती है ?

३. किस अर्थ में औद्योगिक व्यवस्था की अनुसचिवीय पद्धति अपर्याप्त सिद्ध हुई है ?

४. उद्योग का 'विकेंद्रीकरण' होने पर क्या हुआ ? क्या इससे सारी समस्याएँ हल हो गईं ? क्या इससे नई समस्याएँ पैदा हो गईं ?

५. सोवियत उद्योग के वाणिज्यिक करार और लेखे हमारे अर्थतंत्र के करारों और लेखों से किस प्रकार भिन्न हैं ?

६. 'उत्पादक सहकारी समितियों' को क्यों प्रोत्साहन दिया गया ?

७. क्या सोवियत संघ में श्रम कानून राष्ट्रीय सरकार द्वारा बनाए जाते हैं या गणराज्य सरकारों द्वारा ?

८. सोवियत पद्धति में मजदूर संघों के क्या कार्य हैं ?

९. 'सामूहिक श्रम करार' क्या हैं ? ये करार हमारे अर्थतंत्र में व्याप्त मजदूर संघों और प्रबंधकों के करारों से किस प्रकार भिन्न हैं ?

१०. 'आरोही उजरती दरें क्या हैं ?' वे सोवियत उद्योग में अधिक प्रचलित क्यों हैं ?

११. सोवियत उद्योग में श्रमिक को क्या 'सामाजिक सुरक्षा' मिली हुई है ? इसका प्रशासन किस प्रकार किया जाता है ?

●

अध्याय २६

वित्तीय और विपणन पद्धतियाँ

बैंक-व्यवस्था

राज्य-बैंक

पूँजीवादी अर्थतंत्र हो या समाजवादी, उधार एक ऐसा साधन है, जिससे मांग से पहले संभव उत्पादन हो सकता है। लागत की उन मदों का भुगतान, जिनकी पूर्ति माल के खरीददार द्वारा भुगतान करने से अपेक्षतया पहले की जानी चाहिए, निवेश उधार या दीर्घकालीन उधार द्वारा किया जाता है। लागत की उन मदों का भुगतान, जिनकी पूर्ति माल के खरीददार द्वारा भुगतान करने से अपेक्षतया थोड़े ही समय पहले की जानी चाहिए और जिनकी पूर्ति उद्यम की अपनी निधियों में से नहीं की जा सकती, व्यापारिक या अल्पकालिक उधार के ऋणों द्वारा किया जाता है। सोवियत संघ में सारे अल्पकालिक उधार सरकार के स्वामित्व और संचालन के एकमात्र राज्य-बैंक द्वारा दिए जाते हैं। बैंक का प्रशासन सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। इसका मुख्यालय मास्कों में है। इसके विस्तृत स्थानीय व्यापार को चलाने के लिए इसकी कुछ शाखाएं और दफ्तर सारे सोवियत संघ में फैले हुए हैं। इसमें हजारों कर्मचारी हैं और यह अपने कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए संस्थाएँ एवं तकनीकी स्कूल चलाता है।

अल्पकालिक उधार मंजूर करने के बारे में राज्य-बैंक का पूर्ण रूप से एकाधिकार है। किसी भी प्रकार का माल बेचते समय, बेचने वाले किसी भी अभिकरण को खरीदने वाले अभिकरण के लिए भुगतान करने की कोई समयावधि मंजूर करने का अधिकार नहीं है। खरीदने वाले अभिकरण को माल प्राप्त करते ही भुगतान करना पड़ता है और यह भुगतान राज्य-बैंक में खरीदने वाले अभिकरण के खाते में से चेक द्वारा किया जाना चाहिए। अन्य इकाइयों से व्यापार करने वाली प्रत्येक इकाई को उसकी सारी निधि राज्य बैंक में रखनी पड़ती है। यह चेक एक फार्म है,

जिसे यथोचित ढंग से भर कर बैंक को सूचना के रूप में भेजा जाता है कि कतिपय लेन-देन के कारण किसी खाते में उसमें निर्दिष्ट धन जमा कर दिया जाए या निकाल लिया जाए। अतः, यदि इस्पात उद्यम करार के अनुसार एक ट्रैक्टर उद्यम को हर माह इस्पात के फालतू पुर्जे देता हो, तो ट्रैक्टर उद्यम द्वारा माल प्राप्त होने के तत्काल बाद राज्य-बैंक में अपने खाते में चेक द्वारा इस्पात उद्यम को उस माल की कीमत अदा कर देनी चाहिए। वास्तव में जब माल भेजा जा रहा हो, तब लदान बीजक या बिल राज्य-बैंक के द्वारा भेजा जाएगा, जो अपने संबंधित स्थानीय शाखा द्वारा माल पाने वाले अभिकरण से माल प्राप्त करने से पहले ही उसके मूल्य का भुगतान करने की माँग करेगा। इस प्रकार माल की प्रत्येक सुपुर्दी की प्रविष्टि राज्य-बैंक में खरीददार के उधार खाते में और विक्रेता के जमा खाते में कर दी जाएगी। यदि विक्रेता के खाते में तत्काल भुगतान के लिए पर्याप्त धन न हो, तो उसे राज्य-बैंक द्वारा ऋण दिया जा सकता है, परंतु विक्रेता को किसी भी सूरत में क्रेता को भुगतान स्थगित करने की अनुमति देने का अधिकार नहीं है।

पहली और स्पष्ट समस्या तब पैदा होती है, जब कि कोई भी उद्योग राज्य-बैंक से प्रारंभिक ऋण प्राप्त करता है, जिसमें से वह उत्पादन के लिए अपेक्षित माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए भुगतान करना शुरू कर सकता है। उदाहरण के लिए, यदि सोवियत संघ की औद्योगिक आयोजना के अनुसार कोई ट्रैक्टर उद्यम स्थापित करना हो, तो सरकार उसे चलाने के लिए अन्य सभी प्रकार के प्रबंधों के अलावा राज्य-बैंक में उसके जमा-खाते में बजट विनियोजन करेगी। यह कार्यकर पूँजी की प्रारंभिक पूर्ति के रूप में होगा और वर्त्तमान कार्यों के लिए धन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त होगा। यदि उद्यम की योजना में संशोधन से सामान्य कार्यकर पूँजी की आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं, तो राज्य-बैंक में इसकी निधि को बढ़ा दिया जाता है। जब उद्यम माल, बिजली आदि की खरीद करता है, तब वह जो चेक देता है, वे राज्य-बैंक में उसके उधार खाते में जमा कर दिए जाते हैं और जब वह अपने उत्पादन को बेच देता है, तब क्रेता से प्राप्त चेक राज्य-बैंक में उसके जमा खाते मे जमा कर दिए जाते हैं।

राज्य-बैंक : ऋण व्यापार

यह खाता, जिसमें से धन निकाला जाता है और साथ-साथ जमा भी किया जाता है, सामान्य व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होना चाहिए। जब कभी कुछ असाधारण हालत पैदा हो जाएँ, तब उद्यम आवश्यक वर्त्तमान खर्च के लिए धन की कमी महसूस कर सकता है और उसे राज्य-बैंक से ऋण माँगना पड़ेगा।

यह ऋण, यदि मंजूर हो जाए, तीन मास से एक साल की समयावधि तक के लिए होगा और उसे २ से ४ प्रतिशत व्याज सहित वापस करने का पूर्ण दायित्व उधार लेने वाले उद्यम पर होगा। इस अतिरिक्त ऋण की आवश्यकता का कारण उद्यम के उत्पादन को क्रेता के पास भेजने में देर, उत्पादन में सामयिक अड़चनें, तैयार माल सामग्री या ईंधन के असाधारण बड़े भंडारों का सामयिक संग्रह या अन्य अस्थायी विलंब या उद्यमों के क्रय और विक्रय संचालनों में पेशगियाँ या बाधाएँ हो सकती हैं। अतः, उदाहरण के लिए, यदि कोई उद्यम, जिसका उत्पादन सामान्यतः समीपवर्त्ती स्थानों में स्थित क्रय एजेंसियों को भेजा जाता है, अधिक दूर के स्थानों पर स्थित क्रेताओं को अत्यधिक माल भेजना है, तो उसे रकम वसूल करने में पहले की अपेक्षा अधिक समय लगेगा। स्पष्टतः इसका राज्य-बैंक में उस उद्यम के खाते में धन जमा करने की उसकी योग्यता में बाधा पड़ेगी और इसे राज्य-बैंक से अल्पकालिक अवधि का ऋण मंजूर करने के लिए एक वैध कारण माना जाएगा। एक दूसरे मामले में, जहाँ उद्यम की मशीनें ठप्प होने के कारण माल भेजने में तो देर हो जाए, परंतु उसे उत्पादन के लिए सामग्री सामान्य रूप से प्राप्त होती रहे, उस उद्यम के बैंक में जमा रकम इसी प्रकार समाप्त हो सकती है। वह अपने खाते में धन जमा कराने के लिए राज्य-बैंक के ऋण के लिए प्रार्थना करेगा, जिसकी वापसी बाद में संभवतः समयोपरि संचालनों द्वारा निश्चित माल भेजने पर की जाएगी।

इससे यह स्पष्ट है कि जब कोई उद्यम, जिसने सोवियत संघ की औद्योगिक योजना के अनुसार राज्य-बैंक के खाते से ऋण के प्रारंभिक अनुदान प्राप्त किए हों, प्रारंभिक अनुदान-प्राप्ति के समय की अपेक्षित दक्षता से कम दक्षता के साथ काम करता है, तो राज्य-बैंक के साथ उसका हिसाब समाप्त होना शुरू हो जाएगा। इसका यह अर्थ होगा कि वह उद्यम अपने उन उत्पादक एजेंटों द्वारा, जिन्हें वह प्रयोग में ला रहा है, आयोजित उत्पादन प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। उसके बैंक के खाते में धन की समाप्ति और परिणामस्वरूप अतिरिक्त बैंक-ऋण के लिए प्रार्थना 'लाल स्याही' सूचक होगी कि उसकी व्यवस्था पूर्णतः ठीक नहीं है।

यदि कोई उद्यम प्रारंभिक अनुदान-प्राप्ति के समय की अपेक्षित दक्षता से अधिक दक्षता के साथ काम करता है, तो निःसंदेह उसका विपरीत प्रभाव होता है। परंतु, यदि कोई विशिष्ट आर्थिक इकाई निश्चित समयावधि में निर्धारित आयोजना से अधिक माल उत्पादित करती है, तो उसे उस उत्पादन पर ऋण प्राप्त करने में कठिनाई हो सकती है; क्योंकि यदि वे उद्यम, जिन्हें वह अपना माल बेचता है, अपनी आयोजनाओं की पूर्ति कर रहे हों और यदि विभिन्न योजनाएँ समन्वित की गई हों,

तो पहले उद्यम के माल को खरीदने वाले उद्यम संभवत: उसके माल को इतनी तेजी से न खपा सकें जितनी तेजी से वह माल का उत्पादन करता है। सारांश यह है कि किसी उद्यम के लिए यह संभव हो सकता है कि वह निर्धारित आयोजना से अधिक माल तैयार करके अपनी कार्यकारी पूँजी को फँसा दे।

राज्य-बैंक : लेखा-परीक्षण कार्य

सभी करार-संबंधों, सारी लेखा प्रक्रियाओं और इस एक ही केंद्रीय साख अभिकरण की मार्फत उद्यमों द्वारा एक दूसरे को रकम का भुगतान करने की पद्धति से राज्य-बैंक प्रत्येक उद्योग या अन्य आर्थिक इकाई की 'दक्षता' की लगातार जाँच करता रहता है। इस दक्षता की जाँच स्वत: किए गए ऐसे परीक्षणों द्वारा नहीं की जाती, जिनसे कम-से-कम व्यय के बराबर आय प्राप्त करने की उद्यम की योग्यता का पता चले (जैसा कि सामान्यत: हमारी पद्धति में होता है)। बल्कि इसकी जाँच औद्योगिक योजना और कार्यकारी पूँजी के संबंधित अनुदानों द्वारा उद्यम पर लगाए गए निर्दिष्ट दायित्व की पूर्ण पूर्ति, अर्द्ध-पूर्ति या अधिक पूर्ति के आधार पर की जाती है।

यदि यह अदक्षता अर्थात् प्रारंभिक ऋण के साथ आयोजित उत्पादन कार्यक्रमों की पूर्ति न होना—सोवियत संघ की सारी औद्योगिक पद्धति में बड़े और विस्तृत पैमाने पर होती है, तो इन असफलताओं की पूर्ति के लिए बैंक के ऋण का लगातार विस्तार होगा। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापार में क्रय शक्ति उत्पादन और व्यापार की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ेगी। चूँकि करार की कीमतें प्राधिकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं; इसलिए अर्थतंत्र के नियंत्रित भाग में दामों पर इसका असर नहीं पड़ेगा, परंतु इसे खपाने के लिए बहुत ऊँचे करों के अभाव में इसका प्रभाव ऐसी प्रत्येक वस्तु पर पड़ेगा, जिसे कोई व्यक्ति नियंत्रित व्यापार पद्धति से बाहर खरीदता या बेचता है। इस प्रकार से, सोवियत संघ के समाजीकृत अर्थतंत्र में ऋण-स्फीति का होना संभव कहा जा सकता है।

औद्योगिक उद्यमों को अल्पकालिक ऋण देने संबंधी राज्य-बैंक के कार्यों का वर्णन किया जा चुका है। दूसरी आर्थिक इकाइयों के लिए बैंक यथार्थत: उसी हैसियत से काम करता है। सभी सरकारी और सामूहिक फार्मों के हिसाब राज्य-बैंक में रखे जाते हैं, जो कि समय-समय पर उनकी अल्पकालिक ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह बैंक-उत्पादक सहकारी समितियों, उपभोक्ता माल-वितरण उद्यमों, सरकार के स्वामित्व या संचालन वाली लोक-सेवा संस्थाओं और वास्तव में सरकार द्वारा नियंत्रित ऐसी सभी आर्थिक इकाइयों की भी सेवा करता है, जो कि क्रय-विक्रय और लेन-देन का काम करती हैं। यह करों से प्राप्त सरकार की

सारी आय और राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकार बजटों की कार्यान्विति के खर्च तथा निवेश बैंक के वर्त्तमान लेन-देन का हिसाब रखता है। निवेश बैंक का वर्णन आगे किया गया है। सरकार या आर्थिक इकाइयों और विदेशी पार्टियों के साथ सारा वित्तीय लेन-देन राज्य बैंक द्वारा किया जाता है।

राज्य-बैंक : नियंत्रण-कार्य

सारे अर्थतंत्र के वाणिज्यिक बैंक के रूप में राज्य-बैंक के नियंत्रण-कार्यों के महत्त्व को बताने की आवश्यकता नहीं है। यह बैंक यह सुनिश्चित करता है कि कोई भी आर्थिक इकाई अनधिकृत खर्च नहीं करती और यह लेन-देन के ऐसे किसी भी दावे का भुगतान मना कर सकता है, जो कि कुल अर्थतंत्र की आर्थिक योजना के अनुसार न हो। इसकी किताबों में ऐसे आँकड़े होते हैं, जो हर समय यह सूचित करते हैं कि समूची आर्थिक योजना या उसके किसी भाग की कहाँ तक पूर्ति हुई है। राज्य-बैंक द्वारा सरकारी दामों जैसे नियंत्रण को लागू किया जा सकता है; क्योंकि बैंक किसी भी उद्यम या अभिकरण द्वारा, या किसी भी उद्यम या अभिकरण को, बेची गई किसी भी ऐसी वस्तु के संबंध में भुगतान मना कर सकता है जो कि सरकारी दाम के अनुसार न बेची गई हो। बैंक ऐसे उद्यम को और ऋण देना मना कर सकता है, जो अपना आयोजित उत्पादन करने में असफल रहता है और यह बैंक यह निर्दिष्ट कर सकता है कि उस उद्यम को आगे ऋण प्राप्त करने के हकदार बनने से पहले क्या करना चाहिए।

इन नियंत्रणों के महत्त्व का पता दूसरे विश्वयुद्ध से कुछ पहले शुरू हुए परिवर्तन से चलता है। कुछ औद्योगिक उद्यमों ने सफल कार्यों द्वारा बैंक में धन जमा कर लिया था और उनका जमा धन उनकी सामान्य कार्यकर-पूँजी संबंधी आवश्यकताओं से अधिक हो गया था। इन उद्यमों को आदेश दिया गया कि वे इस प्रकार की फालतू धनराशि का तबादला बैंक को कर दें। इस प्रकार वे पुनः अपनी न्यूनतम सामान्य आवश्यकताओं से फालतू धन के लिए निर्भर रहने लगे। इसके अलावा, कुछ ऐसे उद्यम बैंक के नियंत्रण से अधिकांशतः उन्मुक्त थे, जिनकी कार्यकर पूँजी के लिए कोई अतिरिक्त आवश्यकता नहीं होती थी या बहुत कम मौसमी या अनियमित अतिरिक्त आवश्यकता होती थी। उन्हें आदेश दिया गया कि वे अपनी सामान्य कार्यकर पूँजी का कुछ भाग राज्य-बैंक को वापस कर दें। इस प्रकार उन्हें उधार लेने के लिए और राज्य-बैंक के नियंत्रण में आने के लिए बाध्य किया गया।

राज्य-बैंक : निधियों का स्रोत

ऊपर निर्दिष्ट प्रायोजनाओं के लिए राज्य-बैंक द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली

निधियों के स्रोत के संबंध में संक्षेप में कुछ कहा जाना चाहिए। चूँकि चेकों के शोधन की विधि हमारे वाणिज्य बैंकों की विधि के समान है, इसलिए विकलन (नामे) और आकलन (जमा) के अंतर को लगातार एक दूसरे को ठीक करते रहते हैं। इस प्रकार बैंक के अपने साधनों की धनराशि बैंक द्वारा कुल लेन-देन में लगाए गए धन के एक आंशिक भाग से अधिक होने की आवश्यकता नहीं रहती। बैंक की बुनियादी पूँजी सरकार द्वारा इसके लिए किए गए निधि-नियतन से प्राप्त हुई। इसकी अनुपूर्ति बैंक की आय तथा सरकारी बजट से विनियोजित की गई निधियों द्वारा होती है। चूँकि सोवियत संघ के सभी उद्यमों और आर्थिक संस्थानों को राज्य-बैंक में नकद निधि रखनी पड़ती है, इसलिए अनेक उद्यमों या अभिकरणों के खातों में निवल-बकाया 'अबंध निधि' के रूप में रहता है, जिसे बैंक कार्यकर पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कहीं भी लगा सकता है। इस प्रकार बैंक ऐसी निधियाँ इस्तेमाल करता है, जो कि मुख्यतः अर्थतंत्र के अबंध साधनों से प्राप्त होती हैं और जो सारी-की-सारी इस बैंक में, जो कि देशमें व्यापार का एकमात्र बैंक है, जमा हो जाती हैं। एक नियम, जिसका उल्लेख पहले किया गया है, बैंक की निधि को और बढ़ाने में सहायता करता है। चूँकि कार्यकर पूँजी से अधिक पूँजी के लिए उद्यमों की सारी मौसमी और छिटफुट आवश्यकताएँ बैंक के ऋणों द्वारा पूरी हो जाती हैं, इसलिए मौसमी या अनियमित आवश्यकताओं के लिए उद्यम द्वारा अपनी स्थायी कार्यकर पूँजी में धन नष्ट नहीं किया जाता। धन के इन साधनों के अलावा राज्य-बैंक को नोट जारी करने का भी अधिकार है।

बैंक के संचालन-कार्य उधार आयोजना और नकद आयोजना द्वारा राष्ट्र की आर्थिक आयोजना मशीनरी में लगाए जाते हैं। उधार आयोजना और नकद आयोजना बैंक के कार्यों के दो स्वरूपों का नियंत्रण करती हैं। ये आयोजनाएँ इस तथ्य पर जोर देने में सहायता करती हैं कि यह बैंक एक स्वतंत्र अभिकरण नहीं है, यह उच्चतर आर्थिक प्रशासन का केवल वित्तीय सेवक है। इसके कार्य सोद्देश्य होते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य उत्पादन और माल के आदान-प्रदान की, आवश्यक वित्तीय मशीनरी की व्यवस्था करके, सहायता करना होता है।

द्रव्य

यद्यपि कानून के अनुसार आर्थिक इकाइयों में व्यापार चेकों द्वारा किया जाता है, जिनका भुगतान राज्य-बैंक द्वारा होता है, तो भी मजूरी नकद दी जाती है, सामूहिक फार्म अपनी आय का कुछ हिस्सा नकद प्राप्त करते हैं और खुदरा व्यापार नकद होता है। ये नकद लेन-देन, जो कि समस्त अर्थतंत्र में कुल भुगतान के १० प्रतिशत से कम हैं, अपरिवर्तनीय रूबल नोट के रूप में होते हैं, जिसे जारी करने का

राज्य-बैंक का एकमात्र अधिकार है। नोटों की संख्या में आवश्यकता के अनुसार वृद्धि या कमी की जा सकती है। जिस प्रकार बैंक अपने उधार कार्य 'उधार आयोजना' के अनुसार चलाता है, उसी प्रकार नोट भी 'नकद आयोजना' के अनुसार जारी किए जाते हैं। यह नकद आयोजना ऐसे सभी तथ्यों के आधार पर बनायी जाती है, जो कि मुद्रा-परिचलन की आवश्यकता को प्रभावित करते हैं।

ये रूबल नोट विशुद्ध रूप से आंतरिक मुद्रा हैं। किसी भी व्यक्ति को इस देश से बाहर ले जाने या देश में लाने की इजाजत नहीं है। जब सोवियत उद्यमों या अभिकरणों के विदेशी कंपनियों के साथ लेन-देन करने से विदेश में विदेशी मुद्रा में भुगतान करना हो या उगाही करनी हो, तो वह राज्य-बैंक द्वारा की जाती है, जो कि सारे संसार के बैंकों के साथ तदनुरूप संबंध बनाए रखता है और विदेशी मुद्रा को आंतरिक रूबल में एवं आंतरिक रूबल को विदेशी मुद्रा में सरकार द्वारा नियत दर पर बदलता है। सारे सोवियत संघ में तथाकथित मुद्रा धातुओं, सोने और चाँदी के संबंध में भी राज्य-बैंक का एकमात्र अधिकार है। यद्यपि सोवियत सरकार अपनी सोने की आरक्षित निधियों और उत्पादन के आँकड़े नहीं बताती, तो भी यह विश्वास किया जाता है कि इसकी भारी आरक्षित निधि है और यह अनुमान लगाया जाता है कि यह प्रति वर्ष संसार के सोने के कुल उत्पादन का कम-से-कम एक तिमाही उत्पादन करती है। सोना उसकी आंतरिक क्रय शक्ति को सुदृढ़ करता है। परंतु, इसका देश की नोटों की आंतरिक क्रय शक्ति से कोई संबंध नहीं है। हालांकि सरकारी तौर पर रूबल में वैध रूप से निर्दिष्ट सोने की मात्रा है, किंतु नोटों को सोने में बिल्कुल नहीं बदला जा सकता।

जनवरी, १९६१ ई० में एक मुद्रा-सुधार हुआ। एक आदेश द्वारा पुराने दस रूबल नोटों को एक नए रूबल नोट में बदल दिया गया। सरकारी अभिकरणों, औद्योगिक उद्यमों, सामूहिक फार्मों, भंडारों आदि की बैंकों में जमा धनराशि और बचत बैंकों में जमा निजी धनराशि तथा सरकारी बंधपत्रों को घटाकर १/१० कर दिया गया। सभी दामों, मजदूरी-दरों, पेंशनों, करों और इसी प्रकार के नकद मूल्यों या दायित्वों को घटा कर १/१० कर दिया गया। इसका कोई आर्थिक या वित्तीय महत्त्व प्रतीत नहीं होगा। वास्तव में आंतरिक रूप से एकमात्र लाभ यह हुआ कि अभिलिखित रूबल मूल्य का एक शून्य कम करने की सुविधा हो गई। इसका एक लाभ यह हुआ कि ऐसे सटोरियों के चोरबाजारी द्वारा संग्रहीत अवैध रूबल स्वतः जब्त हो गए। जिन्होंने उन्हें बदलने के बजाय अपनी आय की जाँच-पड़ताल कराना उचित समझा। परंतु, सरकारी तौर पर सोने की मात्रा में भी ४·४४ गुणा वृद्धि कर दी गई और डालर तथा रूबल की विनिमय दर १ रूबल = २५ सेंट से १

रूबल = १·११ डालर कर दी गई। चूँकि रूबल को सोने में नहीं वदला जा सकता, चूँकि रूस से बाहर किसी अन्य देश में रखे गए रूबल को आसानी से अन्य मुद्रा में नहीं बदला जा सकता और चूँकि सरकारी तौर पर रूस से निर्यात वस्तुओं का दाम खरीददार देश की मुद्रा इकाई में लगाई जाती है, इसलिए इन परिवर्तनों का कोई यथार्थ महत्त्व नहीं है। इसका एकमात्र अपवाद यह है कि सोवियत संघ में पर्यटन यात्रा की लागत में ११ प्रतिशत की वृद्धि की गई है; क्योकि १ डालर के लिए पुराने १० रूबल की पहले की 'पर्यटन विनिमय दर' समाप्त कर दी गई है। परंतु, इस सुधार के महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और प्रचारात्मक प्रभाव हो सकते हैं। इस सुधार से गैर-साम्यवादी संसार को वित्तीय दृढ़ता का आभास मिलता है; क्योंकि इसने डालर के मुकावले में रूबल में सोने की मात्रा को वढ़ा दिया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि डालर की अपेक्षा रूबल मुद्रा की अधिक मूल्यांकन इकाई है; क्योंकि नई विनिमय दर १ रूबल = १·११ डालर है।

'लाभ'

उधार पद्धति का वर्णन करते समय यह कहा गया था कि उद्योग राज्य-वैंक की किताबों में अपने जमा-खाते की निवल बकाया राशि को बढ़ा सकता है। इस वृद्धि को 'लाभ' कहा जा सकता है। इसमें कुछ 'आयोजित लाभ' होता है जो कि सरकार द्वारा नियंत्रित क्रय और विक्रय मूल्यों को जानबूझ कर इस दृष्टि से स्थापित करने से प्राप्त होता है कि उद्यम की बकाया राशि में वृद्धि सुनिश्चित हो। अन्यथा, यह लाभ 'अनायोजित' होता है, जो कि केवल उद्यम की अनुमान से अधिक संचालन-दक्षता के कारण होता है; क्योंकि उसके उत्पादन, संभरणों आदि की कीमतें निर्धारित कीमतें होती हैं। समाजवादी अर्थतंत्र के इन लाभों और हमारे अर्थतंत्र के लाभों में दो महत्त्वपूर्ण अंतर हैं।

पहला : राज्य-बैंक में लाभ की विद्यमानता या अविद्यमानता को किसी उद्यम का विस्तार करने या उसे बंद करने की आवश्यकता या वांछनीयता का सूचक नहीं समझा जाता। हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में, हानियों की सतत् समयावधि के कारण निजी स्वामी आर्थिक इकाई को छोड़ने या उसके कार्यों के स्तर को कम करने की योजनाएँ बनाते हैं। सोवियत अर्थतंत्र में औद्योगिक योजनाओं के सामाजिक उद्देश्य ऐसी आर्थिक इकाई को जो लगातार हानि दिखाती आ रही हो, काम जारी रखने या विस्तार करने का आदेश दे सकते हैं। इस प्रकार की इकाई द्वारा उठाए गए घाटों की पूर्ति अर्थतंत्र में किसी और स्थान पर प्राप्त लाभ या करों से की जाती है। इसके अलावा, सोवियत संघ में 'लाभदायक' उद्योग या उद्यम अनिवार्यतः वह उद्योग या उद्यम नहीं होता, जिसका विस्तार हो सकता है और जिसके उत्पादन में

अवश्य वृद्धि होगी। वास्तव में सामाजिक उद्देश्य ऐसी इकाई के परिसमापन के लिए आदेश दे सकते हैं, जो कि लाभ दिखाते आ रहे हों। हमारे अर्थतंत्र में इस प्रकार की स्थिति नहीं है।

दूसरा : जबकि हमारे अर्थतंत्र में निजी व्यापार इकाइयों के लाभ उनके स्वामियों में आय के रूप में वितरित किए जाते हैं, सोवियत अर्थतंत्र में 'लाभ' मूल रूप से सरकार की संपत्ति बन जाता है। यह अंततः कुछ पेचीदा नियमों के अनुसार निम्नलिखित तरीकों में से एक या अधिक के अनुसार वितरीत किया जाता है : (१) उद्यम के 'लाभ' का एक अंश सरकारी बजट में जाता है, जो कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र में किसी अभीष्ट स्थान पर पूँजी उपकरण के विस्तार के लिए या घाटों की पूर्ति के लिए उपलब्ध होता है; (२) एक अंश सामान्यतः पूँजी-विस्तार-निधि में जाता है, जिसका प्रयोग 'लाभदायक' उद्यम द्वारा किया जाता है; (३) एक भाग उद्यम के अपने इस्तेमाल के लिए छोड़ा जाता है, जिसमें से श्रमिकों और कार्य-संचालकों को बोनस दिया जाता है, श्रमिकों के लाभ के लिए सांस्कृतिक, मनोरंजन, स्वास्थ्य और शिक्षा-सुविधाओं के निर्माण तथा संचालन अथवा उद्यम में प्रबंधकों एवं श्रमिकों के लिए आवास-सुविधाओं के निर्माण पर खर्च किया जाता है। इस तीसरे अंश को 'निदेशक निधि' कहा जाता है। चूँकि 'आयोजित लाभों' का बहुत थोड़ा अंश (१ से ६ प्रतिशत) परंतु 'अनायोजित' लाभों का बड़ा अंश (२० से ५० प्रतिशत) इस निधि में भेजा जाता है, इसलिए यह उद्योग की दक्षता को बढ़ाने में अभिप्रेरण का काम करती है। चूँकि निदेशक निधि का प्रयोग उद्यम के श्रमिकों और कार्यकारी कर्मचारियों के सीधे लाभ के लिए किया जाना चाहिए, इसलिए यह आशा की जाती है कि इससे उद्यम से संबंध रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम प्रयास करने की प्रेरणा मिलेगी। उपर्युक्त सीमाओं के अंदर उच्चतर प्रतिशतक उत्पादक माल उद्योगों के उद्यमों के लिए है, जबकि निम्नतर प्रतिशतक उपभोक्ता माल उद्यमों के लिए है। इससे पता चलता है कि संबंधित पक्ष और सरकार दूसरे प्रकार के उद्यमों की अपेक्षा पहले प्रकार के उद्यमों की दक्षता बढ़ाने और लागत कम करने में बहुत ज्यादा रुचि लेते हैं। जिन विशिष्ट प्रयोगों के लिए निदेशक की निधि रखी जाती है, वे उद्यम के निदेशक और स्थानीय व्यापार संघ द्वारा चुने जाते हैं। परंतु, ये प्रयोग सरकार द्वारा निर्धारित प्रयोग के सामान्य स्वरूप के अनुरूप होने चाहिए।

दीर्घकालीन ऋण निवेश बैंक

कारखानों के निर्माण और उपकरणों, शक्ति, संयंत्रों, रेल-पथों, संचार-सुविधाओं, स्थायी फार्म सुधारों तथा जल, मल-निर्यात, सड़कों, परिवहन पद्धतियों-जैसी नगरपालिका सुविधाओं एवं सोवियत संघ के अन्य पूँजी उपकरणों के आर्थिक

साधनों को मोटे तौर पर पाँच श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इसमें से कुछ धन सरकारी या सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों द्वारा सरकार को दिए गए लाभांश से प्राप्त होता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, यह धन राज्य-बैंक में जमा खातों में एकत्र हो जाता है और इसका कुछ भाग सीधे या सरकारी बजट द्वारा पूँजी-खर्च के लिए इस्तेमाल किया जाता है। सरकार द्वारा करों से प्राप्त राजस्व (विशेषकर पण्यावर्त कर, जिस पर बाद में विचार किया जाएगा) भी लंबी अवधि की निवेश-निधियों का साधन है। तीसरे साधन के रूप में, सरकार ने बांड जारी किए हैं जो कि ऐसे व्यक्तियों और अभिकरणों द्वारा खरीदे गए हैं जिनकी अबाध निधियाँ हैं। इनसे प्राप्त आय पूँजी विस्तार में लंबी अवधि के लिए उपलब्ध होती है। बचत बैंकों में जमा धन और सामाजिक बीमा निधियाँ भी, जो कि सरकार के संरक्षण में हैं, अन्य स्रोत हैं। इनके अतिरिक्त उद्यमों को अपने वर्त्तमान उपकरणों की टूट-फूट की पूर्ति के लिए मूल्य-ह्रास लेखे रखने पड़ते हैं। ये प्रतिस्थापन सुविधाओं में निवेश, या कुछ मामलों में, नए पूँजी निवेश के लिए उपलब्ध होते हैं।

उद्यमों, प्रादेशिक अर्थपरिषदों, सरकारी और सामूहिक फार्मों, व्यापार-सुविधाओं, नगरपालिकाओं तथा अन्य आर्थिक अभिकरणों को ये पूँजी निवेश निधियाँ या तो वापस न किए जाने वाले व्याजरहित अनुदानों के रूप में या व्याज वाले दीर्घकालीन ऋणों के रूप में उपलब्ध कराई जाती हैं। ऊपर निर्दिष्ट पहली किस्म के अनुदान सरकारी या सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्योगों, शक्ति और परिवहन-उद्यमों के लिए सामान्य आधार हैं, जबकि दूसरी किस्म के ऋण सामूहिक फार्मों, उत्पादक सहकारी समितियों और विपणन उद्योगों के मामलों में प्रायः इस्तेमाल किए जाते हैं। इस प्रकार सरकार को विशिष्ट स्थानों, साधनों, जिनके द्वारा यह राष्ट्रीय आय से निवेश-निधियाँ प्राप्त करती है तथा विभिन्न उद्योगों, उद्यमों और अभिकरणों को ये साधन उपलब्ध कराने की शर्तों के संबंध में व्यापक विवेकाधीन अधिकार प्राप्त हैं। जैसे-जैसे उद्योग का विस्तार होता जाता है और उसकी दक्षता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे सरकारी और सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों के मूल्य-ह्रास लेखों तथा 'लाभों' को निवेश-निधियों के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत समझा जाने लगता है।

विभिन्न संभव प्रयोगों के लिए निवेश निधियों का विनिधान निःसंदेह आर्थिक आयोजना का एक अंग है और इसका विवेचन बाद में एक अध्याय में किया गया है। विनिधान हो जाने के बाद निवेश निधियों के प्रयोग का प्रशासन पूँजी निवेश के धन-संबंधी अखिल यूनियन बैंक (स्ट्रोई बैंक) द्वारा किया जाता है। ऊपर-लिखित स्रोतों से पूँजी प्रायोजना में निवेश के लिए उपलब्ध निधियाँ स्ट्रोई बैंक में

जाती हैं और यह बैंक निर्माण उद्यमों, मशीनरी बनाने वाले उद्यमों आदि को, जो कि पूँजी माल का निर्माण और संभरण करते हैं, किए जाने वाले वास्तविक भुगतानों का प्रशासन करता है। स्ट्रोइ बैंक की निधियाँ स्टेट बैंक में जमा धन के रूप में रखी जाती हैं और उनमें से भुगतान चेकों द्वारा होता है। स्ट्रोइ बैंक की शाखाएँ और प्रतिनिधि सारे देश में व्याप्त हैं, जिससे यह ऐसी किसी भी निर्दिष्ट प्रायोजना की पूर्ति की अवस्था का लगातार निरीक्षण कर सकता है जिसके लिए यह लागत खर्च का भुगतान करता है। बड़ी निर्माण प्रायोजना के मामले में, यह प्रायोजना-स्थान पर एक कार्यालय स्थापित करता है, जिसमें जाँच-कार्य के लिए इसके अपने कर्मचारी होते हैं। इसके पास प्रायोजना की पूरी रूपरेखा और विशिष्ट विवरण होते हैं, जिससे यह निर्माण की किसी भी अवस्था में यह निर्धारित कर सकता है कि निर्माण उद्यम अपने दायित्वों को पूरा कर रहा है या नहीं। जैसे-जैसे निर्माण-कार्य होता जाता है, वैसे-वैसे स्ट्रोइ बैंक ठेका उद्यमों को पूरी ठेका लागत के समानुपात भाग का भुगतान करता जाता है। प्रायोजना समय के अंदर पूरी होने पर सामान्यतः बोनस दिया जाता है। इस बैंक का एक विभाग सरकारी बजट में विनिधान की गई निधियों में से ऋण मंजूर करता है ताकि औद्योगिक श्रमिक अपना निजी मकान बना सकें या बनवा सकें। इस प्रकार के ऋण उचित अधिकतम सीमा से अधिक नहीं होने चाहिए; इन्हें सात वर्ष के अंदर वापस किया जाना चाहिए और इन पर ऋण लेने वाले व्यक्ति को दो प्रतिशत ब्याज देना पड़ता है। यह सूचना मिली है कि १९५९ ई० में इस व्यवस्था[1] के अंतर्गत नगरों और कस्बों में २,५६,००० निजी मकान बनाए गए। इन मकानों के लिए मालिक को स्थान सरकार द्वारा शाश्वत रूप से पट्टे पर दिया जाता है और उसके लिए नाममात्र किराया वसूल किया जाता है।

बचत बैंक और सरकारी बंधपत्र

जहाँ तक सरकार ने, अपने स्वामित्व और संचालन के उद्यमों के 'लाभों' से और पण्यावर्त कर से, जिसका बोझ जनता के सभी वर्गों पर पड़ा है, निवेश निधियाँ प्राप्त की हैं, यह कहा जा सकता है कि सरकार राष्ट्र के अधिकांश उत्पादनशील साधनों को उत्पादक माल के उत्पादन में लगाने के लिए जनता को उपभोक्ता माल छोड़ने के लिए बाध्य कर रही है। इन उपायों के अलावा राष्ट्रीय आय को पूँजी निवेश में लगाने के दो अन्य साधन भी थे। दिखावटी तौर पर दोनों में संबंधित विभिन्न व्यक्तियों के स्वैच्छिक कार्य शामिल थे, यद्यपि वास्तव में केवल एक के ही संबंधों में यह बात सही थी। सारे सोवियत संघ में सरकारी बचत बैंक की हजारों

---

[1] मास्को न्यूज, २७ फरवरी, १९६०।

शाखाएँ हैं। यह दावा किया जाता है कि ५ करोड़ जमाकर्त्ताओं के बैंकों में[1] १,००,००० अरब रूबल उस समय की विनिमय दर के अनुसार २५,००० अरब डालर जमा थे। ये विभिन्न व्यक्तियों की विशुद्ध स्वैच्छिक बचते हैं, जो कि बैंक द्वारा ब्याज की बजाय समय-समय पर लाटरी द्वारा इनाम, जो कि विजेता की जमा राशि के ५० प्रतिशत से २०० प्रतिशत तक हो सकते हैं, निकालने से मिली प्रेरणा और जमाकर्त्ता को दिए गए इस अधिकार के कारण हुईं कि वह मृत्यु के समय किसी भी व्यक्ति को उक्त बचत का उत्तराधिकारी बना सकता है—यह ही एक ऐसी निजी संपत्ति है, जिसे मृत व्यक्ति की संपत्ति के निपटारे-संबंधी कड़े उत्तराधिकार कानूनों से छूट प्राप्त है। सरकार के पास ये जमा धन सशक्त रूप से पूंजी-विस्तार में लगाए जा सकते हैं।

पूंजी निधियों का बचत बैंकों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत औद्योगिक प्रतिष्ठानों, दफ्तरों और फार्मों के श्रमिकों को बेचने के लिए नियमित रूप से जारी किए गए सरकारी बंधपत्र रहे हैं। ये बंधपत्र १९५७ ई० से पहले कई दशाब्दियों तक समय-समय पर जारी होते रहे। वर्ष १९५७ ई० तक कुल असंगृहीत बंधपत्र लगभग २,६०,००० अरब रूबल (उस समय की सरकारी विनिमय-दर के अनुसार ६५,००० अरब डालर) थे, जो कि राष्ट्रीय सरकार के वार्षिक बजट के लगभग आधे के बराबर थे। बंधपत्रधारी व्यक्ति समय-समय पर निकाली जाने वाली इसी प्रकार की लाटरियों में भाग लेने के अधिकारी थे, जैसी कि बचत बैंक में धन जमा करने वाले व्यक्तियों को पुरस्कृत करने में इस्तेमाल की जाती थीं। यह लाटरी बचत बैंक में धन जमा करने वाले व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले लाभ के बदले में डाली जाती थी। इन लाटरियों की कुल वार्षिक राशि बकाया बंधपत्रों के ३ या ४ प्रतिशत के बराबर होती थी। भाग्यहीन बंधपत्रधारी व्यक्ति अपने बंधपत्रों की अवधि पूर्ण होने की तारीख की प्रतीक्षा करते थे और उस तारीख को उन्हें बिना ब्याज के उनका मूलधन वापस कर दिया जाता था। यद्यपि दिखावे के लिए इन बंधपत्रों का क्रम स्वैच्छिक था, किंतु साधारण औद्योगिक या कार्यालय कर्मचारी या सामूहिक फार्म के सदस्य के मामले में यह बात नहीं थी। जैसे ही नए बंधपत्र जारी करने की घोषणा की जाती थी, वैसे ही औद्योगिक संयंत्रों और दफ्तरों तथा फार्मों पर साम्यवादी दल या मजदूर संघ बंधपत्र विक्रेता समितियाँ स्थापित की जाती थीं, जो कि वेतन-चिट्ठे में से कटौती करके बंधपत्रों को बेचती थीं। यह समझा जाना चाहिए कि प्रत्येक श्रमिक से बंधपत्र

---

[1] निकिता ख़ुश्चेव द्वारा सुप्रीम सोवियत में दिया गया भाषण। मास्को सोवियत, ७ मई, १९६०।

खरीदने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार वर्ष भर में खरीदे गए बंधपत्रों की रकम दो सप्ताह से एक मास के वेतन के बराबर होती थी। इस प्रकार की समितियों द्वारा किया गया नैतिक अभिप्रेरण कर्मचारियों को बंधपत्र खरीदने के लिए बाध्य करने के समान था।

यदि सोवियत वित्तीय पद्धति का छात्र उसके अत्यधिक लचीलेपन के गुण से पहले प्रभावित न हो, तो १९५७ ई० में २,६०,००० अरब रूबल के असंग्रहीत बंधपत्र के बारे में जो कुछ हुआ, उसके संबंध में थोड़ा प्रकाश डालने से उसका लचीलापन पर्याप्त रूप से प्रकट हो जाएगा। १९५७ ई० तक लाटरी के इनामों और देय मूलधन की वापसी का वार्षिक बोझ १८,००० अरब रूबल या सामान्य रूप से जारी किए जाने वाले वार्षिक नए बंधपत्र की कीमत के आधे से अधिक हो जाता। बंधपत्र की अवधि पूरी होने पर उनके भुगतान से जनता की उपभोक्ता क्रय शक्ति बढ़ जाती थी और लाटरी के वार्षिक इनामों से उपभोक्ताओं को काफी धन प्राप्त हो जाता था। सोवियत नागरिकों की नियमित मजूरी और वेतन-आय के अलावा उपभोक्ता क्रय शक्ति की ये वार्षिक वृद्धियाँ सरकारी भंडारों के विभिन्न प्रकार के उपभोक्ता माल के सीमित स्टॉक के मुकाबले में अधिक थीं। अनेक ओर से समस्याएँ खड़ी हो रही थीं। इनका एकदम अप्रैल, १९५७ ई० में सरकारी आदेश द्वारा कम-से-कम आगामी दो दशाब्दियों तक समाधान कर दिया गया। इस आदेश द्वारा २० से २५ वर्ष तक के लिए इन बंधपत्रों के मूलधन की वापसी स्थगित कर दी गई और लाटरी के रूप में ब्याज का भुगतान निलंबित कर दिया गया। इस आदेश के अनुसार मूलधन का भुगतान उक्त अवधि के अंत में लगभग १३,००० अरब रूबल प्रति वर्ष की दर से किया जाएगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बंधपत्रधारी अपने मूलधन को २० या २५ से ४० या ५० वर्ष की समयावधि के बाद प्राप्त करेंगे और उन्हें इस समय के मूलधन के भुगतान के समय कोई ब्याज या लाटरी का इनाम नहीं दिया जाएगा। सामान्य बंधपत्रधारक की दृष्टि से यह इनकार कर देने जैसा ही था। इस कुर्बानी के बदले यह आश्वासन दिया गया कि सरकार द्वारा आगे और कोई बंधपत्र जारी नहीं किए जाएँगे। यह एक लोकप्रिय कदम था, जिसके कारण श्रमिकों द्वारा वर्ष भर में घर ले जाने वाले वेतन में दो सप्ताह से एक मास तक की मजूरी या वेतन के बराबर वृद्धि हो गई। ऐसे बूढ़े व्यक्तियों का डर, जिन्होंने सेवा-निवृत्ति की तैयारी में प्रायः बंधपत्र खरीदे थे, बुढ़ापे में दिए जाने वाले सामाजिक सुरक्षा लोगों के मान में पर्याप्त वृद्धि करके दूर कर दिया गया। इस वृद्धि की घोषणा लगभग उसी समय की गई थी।

वास्तव में यह पहला संशोधन न था; इससे पहले भी सोवियत वित्तीय पद्धति कठोर संशोधनों से गुजर चुकी थी। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत संघ के

उत्पादनशील साधनों को व्यापक ढंग से युद्ध-सामग्री के उत्पादन में लगाया गया था, जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता माल के उत्पादन में बहुत ज्यादा कमी हो गई। परंतु, अभिप्रेरण देने के कारण औद्योगिक श्रमिकों को दी गई मजूरी और सामूहिक किसानों को उनके उत्पादन के लिए अदा किए गए दामों का स्तर ऊँचा था। इसके परिणामस्वरूप युद्ध के बाद सोवियत अर्थतंत्र में जनता की अलग-अलग व्यक्ति के रूप में या सामूहिक फार्मों-जैसे संस्थानों के सदस्यों के रूप में नकद क्रय शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ गई। इस नकद क्रयशक्ति के ये स्वरूप थे—(१) रूबल नोट (ये मुख्यत: सट्टेबाजों, जिन्होंने युद्ध के दौरान चोरबाजारी द्वारा लाभ प्राप्त किए थे और सामूहिक फार्म बाजारों में युद्ध के समय के अनियंत्रित ऊँचे दामों पर फार्म का माल बेचने वाले व्यक्तियों के पास थे, जिन्होंने किसानों के रिवाज के मुताविक अपने लाभों को नोटों के रूप में जमा करके रखा था); (२) सरकारी बंधपत्र (ये मुख्यत: विभिन्न व्यक्तियों, संस्थानों और संगठनों—जैसे कि सामूहिक फार्मों, मजदूर संघों, सामूहिक समितियों के पास थे, जो कि युद्ध के दौरान सरकारी आग्रह या दबाव में खरीदे गए थे); और (३) सरकारी वचत वैंक की स्थानीय शाखाओं में जमा वचत धन (ये मुख्यत: विभिन्न व्यक्तियों, संस्थानों और संगठनों के पास थे, जिन्होंने इन्हें युद्ध के समय की वचत से प्राप्त किया था)। यह अनुमान लगाया गया है कि 'युद्ध से पूर्व के धन-भंडारों और सरकार से पिछले वेतन, छुट्टी भत्तों आदि के वसूल न किए गए दावों को मिलाकर, १९४७ ई० के अंत में जनता के पास कुल क्रय शक्ति ४,००,००० अरब रूबल[1] से अधिक थी।' यह रकम सोवियत समाजवादी गण-राज्य संघ के १९४७ ई० के कुल बजट से कुछ अधिक थी और कुल वार्षिक राष्ट्रीय आय के लगभग आधे के वरावर थी।

यदि सोवियत संघ ने राशन समाप्त कर दिया होता, जैसे कि उसकी उसे यथाशीघ्र समाप्त करने की तीव्र इच्छा थी, तो अत्यधिक क्रय शक्ति से उपभोक्ता माल बाजारों में बाढ़ आ जाती और सरकारी दुकानों में बिक्री के माल के भंडार शीघ्र ही समाप्त हो जाते। इसके अलावा ऐसी परिस्थितियों में राशन समाप्त होने से सबसे अधिक वे लोग लाभांवित होते, जिन्होंने युद्धकाल में बहुत ज्यादा लाभ कमाया था (किसान और चोरबाजार सटोरिए)। इस प्रकार १४ दिसंबर, १९४७ ई० को सोवियत समाजवादी गणराज्य मंत्रिपरिषद् और साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति ने एक आदेश जारी किया, जिसने वस्तुत: रूवल नोटों और रूबल द्रव्य के

---

[1] मंथली रिव्यू ऑफ दि फेडरल रिजर्व ऑफ न्यूयार्क, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ८।

मूल्य में अत्यधिक कमी कर दी। इस आदेश में यह व्यवस्था थी की एक निर्दिष्ट सप्ताह के दौरान जनता, उद्यमों, संगठनों, संस्थानों और सामूहिक फार्मों के पास जमा सभी रूबल नोट नए रूवल नोटों से, पुराने दस नोटों के बदले में एक नोट की दर से, बदले जाएँगे। यह भी आदेश दिया गया कि जो नोट इस समयावधि के दौरान बदली के लिए पेश नहीं किए जाएँगे, वे 'रद्द' कर दिए जाएँगे और उनमें 'भुगतान का अधिकार' नहीं रहेगा। इसी प्रकार राज्य-बैंक या बचत बैंक के प्रत्येक लेखे को, यदि वह किसी व्यक्ति के नाम है, नए रूबल में बदल दिया जाएगा। इस प्रकार के लेखों में पहले ३,००० रूवलों के लिए रूपांतरण-दर १ पुराने रूबल के लिए १ नया रूबल होगी और १०,००० से ऊपर २ पुराने रूबलों के लिए १ नया रूवल तक होगी। उत्पादक सहकारी समितियों और सामूहिक फार्मों के लेखों का पुराने ५ रूबल= नए ४ रूबल की दर से पुनः मूल्यांकन किया गया। सरकारी वकाया बंधपत्रों को 'प्रत्येक पुराने तीन रूबलों के लिए एक नया रूबल' की दर से नए बंधपत्रों में बदलने का आदेश दिया गया। इन नए वंधपत्रों पर व्याज की दर २ प्रतिशत होगी, जब कि पुराने बंधपत्रों पर व्याज की दर ४ प्रतिशत थी। एक ही आदेश से समाप्त किए गए रूबलों की संख्या कभी अभिव्यक्त नहीं की गई, पर यह अवश्य ही जनता द्वारा युद्ध के समय संचित किए गए रूबलों की संख्या के आधे से अधिक रही होगी। इस आदेश में यह व्यवस्था थी कि सदस्यों की मजूरी-दरों और सामूहिक फार्म द्वारा भुगतान का स्तर पुराना ही होगा, परंतु इनका भुगतान नए रूबल में किया जाएगा; सामाजिक सुरक्षा लाभों का भुगतान पुरानी दर के अनुसार नए रूबल में किया जाएगा; कर की दरों और उद्यमों तथा अन्य संगठनों एवं संस्थानों के करार-संबंधी दायित्व में कोई परिवर्तन नहीं होगा और उनका भुगतान नए रूबल में होगा। यह वादा किया गया कि उपभोक्ता माल के मूल्यों का रूख नीचे की ओर रहेगा और अनेक मूल्यों में तत्काल कमी की गई।

जनता की मानसिक अवस्था और अभिप्रेरण पर इस प्रकार की कार्यवाही के प्रभाव का विवेचन चित्ताकर्षक है। जब रूबल पूँजी का अवमूल्यन हुआ, तब अमेरिका के समाचारपत्रों ने इसका सोवियत वित्तीय पद्धति के 'धराशायी' होने के रूप में स्वागत किया। यह सरकार के कार्य का एक बिल्कुल मिथ्यार्थ था। इस कार्यवाहीं का प्रभाव जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न था। कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गों पर इसका हितकर प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक हानि युद्धकालीन चोरबाजारी करने वाले सटोरियों को हुई; क्योंकि उन्होंने अपने लाभों को बैंक में न रखकर रूबल नोटों में रखा था। उन्हें बैंक में रखने से सरकार द्वारा जाँच-पड़ताल की जा सकती थी। निःसंदेह युद्धकालीन गतिविधियों के दंड के डर के कारण इनमें से अनेक व्यक्तियों ने

अपनी नकद रूबल पूँजी को बदली के लिए पेश भी नही किया। इसके बाद अत्यधिक हानि उठाने वालों में किसानों का स्थान आता है; क्योंकि उन्होंने युद्ध के समय के दौरान अनाज को बहुत ऊँची दरों (परंतु वैध रूप से स्वीकृत) पर बेच कर जो लाभ प्राप्त किए थे, वे भी अधिकांशतः रूबल नोटों में ही उनके पास जमा थे। इसके बाद नुकसान उठाने वालों में उन व्यक्तियों का स्थान आता है, जिन्होंने अपनी बचत को सरकारी बंधपत्रों और बचत बैंक जमाधन में लगा रखा था। सबसे कम नुकसान वयोवृद्ध तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों को हुआ, जो युद्ध के दौरान बचत नहीं कर सकते थे या जिन्होंने बचत नहीं की थी। उनकी मजूरी की दरें तो स्थिर रहीं, परंतु उपभोक्ता माल की कीमतों में कमी हो गई, जिससे उन्हें लाभ हुआ। सरकार के बकाया ऋण में लगभग दो-तिहाई की कटौती करके युद्ध के बाद के पूँजी–निवेश के विस्तार के लिए वित्तीय पद्धति को सुदृढ़ बना दिया गया। यह अवमूल्यन गंभीर अशांति या असंतोष की अफवाह के बिना ही हो गया। वास्तव में यह प्रमाण मिलता है कि नगर की जनता ने इसका कुछ हर्ष से स्वागत किया; क्योंकि इससे युद्ध की लागत का अधिकांश भार ग्रामीण जनता पर पड़ गया और औद्योगिक मजूरी में कोई तबदीली नहीं हुई तथा अधिक उपभोक्ता माल कम दाम पर प्राप्त होने की आशा हो गई।

बकाया सरकारी बंधपत्रों को मानने से १९५७ ई० में (वस्तुतः) इनकार कर देने के संबंध में बाहर के लोग पुनः सरकार की और बंधपत्र जारी न करने तथा सामाजिक सुरक्षा के बुढ़ापा-लाभों में वृद्धि की प्रसंगागत कार्यवाही का यथोचित मूल्यांकन नहीं कर सके। अमेरिका के एक पत्रकार ने इसका मूल्यांकन करते हुए कहा कि यह 'अत्यधिक निराशावादी विदेशी पर्यवेक्षक की कल्पना से भी कहीं ज्यादा बड़ा सोवियत वित्तीय संकट है' और 'निराशा की निशानी' है। उन्होंने इसके 'सोवियत जनता[1] में लोकप्रिय होने की संभावना व्यक्त की। 'दि न्यूयार्क टाइम्स' ने संपादकीय लेख में टिप्पणी करते हुए इसे 'नैतिक रूप से अक्षम्य कार्यवाही' और 'निराश छल-जाल'[2] कहा। परंतु, बाद की घटनाओं और सोवियत जनता के स्पष्ट रवैये तथा अभिप्रेरणों से उक्त टिप्पटियाँ प्रमाणित सिद्ध नहीं हुई। सोवियत अर्थतंत्र में सन् १९४७ और १९५७ ई० जैसे हुए वित्तीय सुधारों का अनुमान उसी कसौटी द्वारा नहीं किया जा सकता, जो कि हमारे अर्थतंत्र में समरूप कार्यों के लिए लागू होती है। प्रत्येक मामले में, सरकार की इस किस्म की कार्यवाही उस पद्धति

---

१. दि न्यूयार्क टाइम्स; ४ अप्रैल, १९५७।

२. दि न्यूयार्क टाइम्स, १३ अप्रैल, १९५७।

के प्रसंग में होती है जिसमें उसका असर केवल एक ही कार्य द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता, अपितु उससे स्पष्ट या परोक्ष रूप से संबंधित सहवर्त्ती और अनुवर्त्ती कार्यों द्वारा भी निर्धारित किया जाता है। यह याद रखना आवश्यक है कि सोवियत अर्थतंत्र के किसी एक भाग या अंश का अपना अलग उद्देश्य या लक्ष्य नहीं है, जिसके द्वारा इसके कार्य करने के ढंग का पूरा अनुमान लगाया जा सकता है, न ही इससे सारे अर्थतंत्र का अनुमान लगाया जा सकता है। ये एक ही पत्थर के बने उस स्तंभ के भागों के समान हैं, जिसका प्रयोजन और महत्त्व उसके समर्थकों को केवल तभी मालूम होता है, जब कि वह समस्त रूप से अपने दीर्घकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होवा है।

विपणन

उत्पादन इकाइयों द्वारा उत्पादित माल के बाहर आने की तीन संभव प्रणालियाँ हैं: पहली, वह माल विदेशी क्रेताओं के लिए निर्यात किया जा सकता है। दूसरी, कच्ची सामग्री या उपकरणों के रूप में उसे करार के आधार पर ऐसे उद्यमों को बेचा जा सकता है, जो कि उसे उत्पादन के लिए इस्तेमाल करते हैं। तीसरी, तैयार उपभोक्ता माल निर्माता उद्यमों से घरेलू बाजार पद्धति द्वारा उपभोक्ताओं को प्राप्त हो सकता है।

विदेशी व्यापार

सारा निर्यात और आयात राष्ट्रीय सरकार के हाथ में है। यह कार्य विदेश व्यापार मंत्रालय द्वारा सक्रिय रूप से किया जाता है। इसके अंतर्गत लगभग २० सरकारी व्यापार एकाधिकार एजेंसियां हैं और विदेशों में आयोगों की व्यवस्था की गई है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में अमरीकी व्यापार संस्थानों से माल खरीदने और उन्हें माल बेचने के लिए एक व्यापार एजेंसी की व्यवस्था की गई है, जिसका नाम 'एमटार्ग व्यापार निगम' (एमटार्ग ट्रेडिंग कारपोरेशन) है। राज्य-बैंक, जिसके द्वारा विदेशी स्रोतों को भुगतान दिए-लिए जाते हैं, तथा इन अभिकरणों का एक सुदृढ़ जाल वाला संगठन हैं जिसके द्वारा सारा सोवियत विदेशी व्यापार चलाया जाता है।

सरकारी व्यापार एकाधिकार द्वारा सरकार सारे राष्ट्र के आर्थिक और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विदेशी व्यापार-नीतियाँ बनाती है, परंतु विस्तृत विदेशी व्यापार का लेन-देन निर्यात व आयात तथा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति और इस्तेमाल संबंधित ठोस आर्थिक योजना के अनुसार किया जाता है। चूँकि माल का निर्यात और आयात इस एकाधिकार द्वारा होता है और चूँकि कुल विदेशी व्यापार राष्ट्रीय अर्थतंत्र का केवल एक भाग है, इसलिए जहाँ कहीं वांछनीय हो, वहाँ विक्रय

सुनिश्चित करने के लिए कीमतें कम की जा सकती हैं और किसी स्रोत से कोई अपेक्षित वस्तु खरीदने के लिए, दूसरे राष्ट्रों के आयात और निर्यात विनियमों को ध्यान में रखकर, काफी ऊँची दरें पेश की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, बताया जाता है कि विभिन्न देशों को सोवियत सीमेंट ४३ से ११७ रूबल प्रति टन; सेल्युलोस ४४० से १२७५ रूबल प्रति टन; पेट्रोल ६०.५ से १४९.५ रूबल प्रति टन की दर से बेचा जाता है। जुलाई, १९६० ई० में सोवियत संघ पेट्रोल को विश्व-बाजार के भाव से १० से २५ प्रतिशत कम कीमत पर दे रहा था और उसकी कीमत वस्तु-विनिमय या स्थानीय मुद्रा[1] में स्वीकार कर रहा था। किसी विशिष्ट विदेशी लेन-देन के कारण बही-खाते में हुए घाटों की पूर्ति अन्य विदेशी लेन-देन से हुए बही-खाते के लाभों द्वारा या स्वदेश में खपत हुए माल से प्राप्त लाभों द्वारा की जा सकती है। विदेशी व्यापार के समाजीकरण ने सोवियत संघ को अपने आंतरिक अर्थतंत्र पर विदेशी आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव को पूरी तरह से नियंत्रित करने में समर्थ बना दिया है।

सोवियत विदेश व्यापार के संक्षिप्त विवरण से ये सामान्य सिद्धांत स्पष्ट हो जाएँगे। क्रांति के तत्काल बाद के वर्षों के दौरान विदेशी व्यापार वस्तुतः बिल्कुल नहीं था। नई आर्थिक नीति की समयावधि के दौरान अधिकांश भागों में विदेशी व्यापार निजी व्यापारियों द्वारा वैयक्तिक लाभों के लिए किया जाता था। बीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी के अंतिम चरण और चौथी दशाब्दी के शुरू के चरण में समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में पूँजी पदार्थों की व्यवस्था की जा रही थी, जिसमें से अनेक वस्तुओं का संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट बिटेन—जैसे उद्योगीकृत देशों से निर्यात करना पड़ा। इन वर्षों के दौरान विदेशी व्यापार एकाधिकार की नीति ने विदेश से आवश्यक औद्योगिक उपकरण खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के उद्देश्य से कृषि उपज और कच्ची सामग्री के निर्यात पर जोर दिया। मशीनरी के अपेक्षित निर्यात का भुगतान करने के लिए विदेशी बाजार में पर्याप्त माल भेजने की नीति पर न तो देश में अनाज और अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के अभाव और न ही विदेशों से प्राप्त होने वाली कीमतों का प्रभाव पड़ने दिया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के मध्य तक सोवियत संघ में मूल पूँजी पदार्थों की अधिक अच्छी व्यवस्था हो गई। इसके बाद युद्ध से तत्काल पूर्व के वर्षों के दौरान निर्यात आंदोलन को उस समय तक रोक दिया गया, जब तक कि सोवियत नीति आत्मनिर्भर

---

[1] यूनाइटेड स्टेट्स न्यूज एँड वर्ल्ड रिपोर्ट, २६ सितंबर, १९५८ ई०, पृष्ठ ११९, दि न्यूयार्क टाइम्स, ३१ जुलाई, १९६० ई०।

अर्थतंत्र का विकास न कर ले, जिसमें विदेशी व्यापार की न्यूनतम आवश्यकता होगी।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के समय से सोवियत संघ की व्यापार-नीतियाँ डाँवाडोल और अनिश्चित रहीं। वर्त्तमान समय में ये असंगति, राजनीतिक उद्देश्य और कुटिलता के एक मिश्रण के रूप में हैं, जिससे गैर-साम्यवादी संसार संदेहशील और चिंताजनक अवस्था में पड़ जाता है। साम्यवादी गुट से बाहर के राष्ट्रों के साथ बहुपक्षीय व्यापार करने की स्वीकृत इच्छाओं के बीच में और स्पष्टत: जानबूझ कर व्यापार-अवरोधों को कम करने या हटाने के बहाने से सोवियत संघ समय-समय पर विश्व-बाजार के दामों से कम दामों पर कुछ निर्दिष्ट वस्तुओं के अधिक निर्यात से विश्व-बाजार में अव्यवस्था पैदा कर देता है या किसी अर्द्धविकसित देश से अपना कच्चा माल उसे किसी दूसरे संभाव्य क्रेता से प्राप्त होने वाले दाम से अधिक दाम पर खरीदने के लिए जा टूटता है। हालाकि रूस व्यापार पर नियंत्रणों की निंदा करता है, परंतु उसके आयात, निर्यात और विदेशी मुद्रा के सरकारी एकाधिकार में संसार के सबसे अधिक कड़े नियंत्रण अंतर्निहित हैं। पिछले वर्षो से सोवियत संघ, दक्षिण-पूर्वी एशिया, मध्य-पूर्व, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के अर्द्धविकसित राष्ट्रों के साथ द्विपक्षीय व्यापार-संबंध विकसित कर रहा है। यदि माँग हो, तो वह उन्हें मशीनरी उधार दे सकता है, जिसका अनुवर्त्ती भुगतान ऐसे स्वदेशी कच्चे माल में किया जा सकता है, जिसे सोवियत संघ इस्तेमाल कर सके। हालाकि इस व्यापार का विस्तार अभी भी थोड़ा है, परंतु इसका विकास हो रहा है और इसे संसार के ऐसे भागों की ओर मोड़ा जा रहा है, जहाँ साम्यवादी दल के नेताओं को साम्यवादी सिद्धांतों के लिए आकर्षक सुअवसर दिखाई देते हैं।

सोवियत संघ का कुल वर्त्तमान विदेशी व्यापार लगभग दस हजार अरब डालर प्रति वर्ष है। इसमें से उसका तीन-चौथाई व्यापार अपने सहवर्त्ती देशों के साथ है। परंतु सहवर्त्ती देशों के व्यापार में वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकांश विशिष्ट लक्षण समाप्त हो गए हैं। साम्यवादी राष्ट्रों का यह गुट अब एक विस्तृत आर्थिक क्षेत्र बन गया है, जिसमें राष्ट्रीय अर्थतंत्रों के आयोजित एकीकरण की पर्याप्त मात्रा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परंपरागत ढाँचे को बदल रही है। इस एकीकरण का पर्यवेक्षण 'परस्पर अर्थ-सहायता परिषद्' (सोवियत संघ और उसके सहवर्त्ती देशों की संस्था) द्वारा किया जाता है। इसके अंतर्गत गुट के राष्ट्रों में यह पक्का बचन दिया जाता है कि वे कतिपय पदार्थों पर व्यक्तिगत विशेषज्ञता प्राप्त करें और उन पदार्थों का गुट के अन्य राष्ट्रों को निर्यात करें। जुलाई, १९६० ई० में हुई

परिषद् की बैठक में सदस्यों के अर्थतंत्रों के समन्वय का वीस साल का कार्यक्रम स्वीकार किया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका का सोवियत संघ के साथ २ करोड़ ६० लाख डालर का व्यापार संसार के साथ हमारे निर्यात और आयात के २६,००० अरब डालर का एक अत्यल्प भाग है। यद्यपि सोवियत सरकार के प्रतिनिधि संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ विस्तृत व्यापार-संबंधों के विकास के वारे में प्रायः आशापूर्ण वात करते हैं; तो भी यह हमारे द्वारा उन्हें निर्यात उधार की सुविधाएँ देने पर निर्भर करता है—जो कि एक असंभव वात है। हमारे कानून इस समय सोवियत संघ को सामरिक महत्त्व की सामग्री निर्यात करने पर प्रतिवंध लगाते हैं और किसी भी ऐसे राष्ट्र को लंबी अवधि के निजी उधार देने को मना करते हैं जो संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति अपनी देयता निभाने में दोषी रहा है-जैसा कि सोवियत सरकार है; क्योंकि इसने दूसरे विश्वयुद्ध के उधार-पट्टे के लेखों की बकाया रकम का भुगतान नहीं किया है। परंतु, व्यापारविशेषज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि ये व्यापार पर मुख्य प्रतिवंध नहीं हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के वाद सोवियत संघ के साथ बड़े पैमाने का एकमात्र निर्यात संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्माताओं के एक समूह द्वारा सन् १६६०-६१ में सोवियत सरकार को २१० लाख डालर के मूल्य की कपड़ा-मशीनरी बेचकर किया गया। आयात की दिशा में, रूस की १०,००० मोटरगाड़ियों को अमेरिका के वाजार में बेचने हेतु १६६० ई० के शुरू में उनके आयात का पूरा प्रबंध किया गया, परंतु बाद में जब सोवियत संघ के प्रति व्याप्त विरोधी लोकभावना ने रूस की कारों को अमेरिका के मोटर चलाने वाले व्यक्तियों को बेचना असंभव कर दिया, तव यह प्रबंध रद्द कर दिया गया। ये व्यापार-क्रियाएँ निकट भविष्य में सोवियत संघ के साथ हमारे व्यापार में किसी मुख्य विस्तार की सूचक नहीं हैं।

खुदरा विपणन के बदलते हुए स्वरूप

सोवियत अर्थतंत्र के अन्य विभागों की भाँति विपणन पद्धति में भी वहुत ज्यादा प्रयोग, अनुकलन और परिवर्तन होते रहे हैं। १६३३ ई० तक, संगठित निजीं खुदरा व्यापार, जो कि नई आर्थिक नीति की समयावधि के दौरान सारे खुदरा व्यापार का लगभग तीन-चौथाई था, करीब-करीब पूर्णतः समाप्त हो गया था। उस समय और तब से सोवियत शासन का यह स्वीकृत उद्देश्य रहा है कि 'यथाशीघ्र सभी क्रेताओं के लिए ऐसी व्यापार-इकाइयों की एक एकल पद्धति अपनायी जाए जिनमें[1] दाम एक समान हों।' इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्वक

---

[1] हैंड बुक ऑफ दि सोवियत यूनियन, अमेरिकन रसियन चेंबर ऑफ कामर्स, न्यूयार्क, १६३६, पृष्ठ ३८६।

प्रयत्न किए गए हैं, परंतु इस संबंध में जो नीति अपनाई गई, उसमें कुटिल तोड़-मरोड़ किए गए, जिनका यहाँ विस्तृत निरूपण नहीं किया जा सकता।

सन् १९३३ से १९३६ ई० तक प्रचलित खुदरा व्यापार की पद्धति में इस आदर्श के कोई लक्षण नहीं थे। इसमें अनेक प्रकार के भंडार थे, जिनमें से कुछ तो सभी क्रेताओं के लिए थे, जबकि अन्य भंडार ग्राहकों के केवल सीमित वर्गों के लिए ही थे। एक ही बाजार में खुदरा भाव पर बिकने वाले विभिन्न पदार्थों के दामों की विभिन्नताओं की अत्यधिक जटिल पद्धति विद्यमान थी। इस प्रकार एक पदार्थ सबके लिए खुली दुकानों में एक दाम पर बिकता था, परंतु वही पदार्थ अनेक प्रकार की ऐसी दुकानों में, जो कि नागरिकों के केवल विशिष्ट वर्गों के ही लिए थीं, विभिन्न निम्नतर दामों पर बिकता था। सामूहिक फार्म के बाजार में, जहाँ सामूहिक फार्म अपने उत्पादन के कुछ अंश को किसी भी दाम पर बेच सकते थे, उस पदार्थ का दाम और भी भिन्न होता था। कारखाने द्वारा अपने श्रमिकों के लाभ के लिए दी गई सुविधाओं में वह पदार्थ और भी सस्ते दाम पर प्राप्त होता था। समस्त खुदरा दामों को दबाने वाली कड़ी राशनिंग पद्धति विद्यमान थी, जो कि बुनियादी अनाजों तथा अन्य पदार्थों पर लागू थी। स्पष्टतः किसी परिवार का निर्वाह-स्तर, उनके राशन-स्तर या कुछ प्रकार की दुकानों से माल खरीदने के उनके विशेषाधिकार से यदि अधिक नहीं तो, उसी तरह निर्धारित किया जाता था, जिस तरह उसकी रूबल की आय से किया जाता था। खुदरा विपणन की इस प्रकार की विषमताएँ हमारे लिए अत्यधिक निराशाजनक हैं; क्योंकि हम प्रतियोगी खुदरा दामों की पद्धति को ही अपनाए हुए हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध में पूर्व एक-एक करके उपभोक्ता माल के अनेक पदार्थ राशनिंग से मुक्त हो गए, परंतु जब युद्ध सन्निकट आ गया, तो पुनः सामान्य राशन कर दिया गया। युद्ध के दौरान और १९४७ ई० तक विभिन्न खुदरा दाम तथा राशन जारी रहे। उसके बाद सारे उपभोक्ता माल का राशन समाप्त कर दिया गया और दामों का अधिकांश अंतरवित्तीय सुधार के साथ समाप्त हो गया। वित्तीय सुधार पर एक अन्य प्रसंग में ऊपर विचार किया जा चुका है। १९४७ ई० से खुदरा भंडारों की एक ही पद्धति के संबंध में पर्याप्त प्रगति हुई है। इन दुकानों पर एक ही बाजार में एक समान दाम पर माल मिलता है। परंतु जैसा कि आगे पता चलेगा, यह अभी तक पूर्णतः समझा नहीं गया है।

इस समय खुदरा पद्धति में माल बेचने के तीन साधन हैं। (१) सरकारी दुकानें, जिनमें कुल खुदरा व्यापार का लगभग ६५ प्रतिशत व्यापार होता है; (२) उपभोक्ता सहकारी दुकानें, जिनमें लगभग २९ प्रतिशत व्यापार होता है; और (३)

सामूहिक फार्म बाजार, जिनमें लगभग ६ प्रतिशत व्यापार होता है। कुल खुदरा व्यापार में उपभोक्ता सहकारी भंडारों के व्यापार में तो काफी स्थिरता रही, परंतु सरकारी दुकानों के व्यापार में वृद्धि और सामूहिक फार्म बाजार के व्यापार में कमी हो रही है। प्रत्येक प्रकार[1] की दुकानों का आगे जो निरूपण किया जाएगा, उसमें इसका कारण स्पष्ट हो जाएगा। सोवियत संघ में लगभग ४,००,००० खुदरा दुकानें हैं, पर जनता और उनका अनुपात अमेरिका की जनता तथा भंडार के अनुपात का केवल लगभग एक-चौथाई ही है। नगर, कस्बे और गाँव के सोवियत, स्थानीय सरकारें, खुदरा दुकानों के काम पर कड़ा नियंत्रण रख रही हैं।

सरकारी दुकानें

नगरों तथा शहरी क्षेत्रों में सरकारी दुकानें और सामूहिक फार्म बाजार खुदरा व्यापार करते हैं। इनमें सरकारी दुकानें प्रचुर मात्रा में व्यापार करती हैं। सरकारी दुकानें सरकारी उद्यमों के रूप में चलाई जाती हैं। इनमें से अधिकांश का प्रशासन गणराज्यों के व्यापार मंत्रालयों द्वारा किया जाता है, यद्यपि इनमें से कुछ न्यूनतर सरकारी निकायों, जैसे कि स्थानीय सोवियत, द्वारा चलाए जाते हैं और कुछ बड़े-बड़े औद्योगिक उद्यमों द्वारा अपने उपभोक्ता उत्पादन को बेचने के साधन के रूप में चलाए जाते हैं। सरकारी दुकानें अपना व्यापारिक माल उत्पादन उद्यमों के साथ किए गए करारों द्वारा या गणराज्यों के व्यापार मंत्रालयों द्वारा बनाए गए थोक संगठनों से प्राप्त करती हैं। कुछ मामलों में ये थोक संगठन गोदामों की व्यवस्था करते हैं, थोक स्टॉक जमा करके उन सरकारी दुकानों की आवश्यकताएँ महसूस करते हैं, जिन्हें वे माल देते हैं और संबंधित क्षेत्रों में स्थानीय उपभोक्ता आवश्यकताओं और माँगों की विशिष्टताओं का अध्ययन भी करते हैं। बड़े-बड़े नगरों में, सरकारी भंडारों में व्यापक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें मरम्मत की दुकानें, समाचारपत्र स्टैंड, किताबों की दुकानें, विभिन्न प्रकार की विशिष्ट दुकानें, जो कपड़े, खाद्य पदार्थ, चीनी मिट्टी के बर्तन बनाती हैं, और विभागीय भंडार शामिल हैं, जिनमें सबसे बड़ा भंडार गम (GUM) है, जो कि मास्को में स्थित है। सरकारी दुकानों में बेचे जाने वाले माल के दाम सरकारी प्राधिकारी द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। हालांकि कुछ दुकानें अपने स्टॉक जमा करने और कार्य के संबंध में पर्याप्त स्वायत्तता रखती हैं, परंतु आर्थिक आयोजना तंत्र प्रत्येक के लिए 'पण्यावर्त योजना' बनाते हैं और इसका पालन करना अपेक्षित है। सरकारी दुकानों में 'आढ़त दुकानें' भी शामिल हैं, जहाँ पर कोई

---

[1] देखिए मार्शल आई० गोल्डस्मिथ की 'मार्किटिंगः ए लेसन फार मार्क्स,' हरवर्ड बिजनेस रिव्यू, जनवरी-फरवरी १९६०, पृष्ठ ८०, जिसमें १९४०-१९५८ के दौरान व्यापार के तीन मुख्य साधनों का व्यापार दर्शाया गया है।

भी व्यक्ति अनावश्यक टिकाऊ उपभोक्ता माल ले जाकर उसका मूल्य नियत करा सकता है और उसे उस दाम पर बेचने के लिए वहाँ छोड़ सकता है। उस माल के बिक जाने पर उसे दुकान की ७ प्रतिशत आढ़त काट कर नियत दाम प्राप्त हो जाएँगे।

उपभोक्ता सहकारिताएँ

उपभोक्ता सहकारी भंडार ग्रामीण क्षेत्रों, सामूहिक फार्म, गाँवों और दूरस्थ कारखाना-केंद्रों में खुदरा व्यापार करती हैं। रूस में २,७०,००० उपभोक्ता सहकारी दुकानें और उनके ३ करोड़ ७० लाख सदस्य बताए जाते हैं। कम-से-कम सिद्धांत रूप से, इन सहकारी दुकानों की व्यवस्था ऐसे सिद्धांतों पर की जाती है, जो कि 'रोचडेल' सिद्धांतों के समान हैं, जिनके अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों में उपभोक्ता सहकारी भंडारों की व्यवस्था की जाती है। कोई भी व्यक्ति थोड़ी सी फीस देकर सदस्य बन सकता है। सदस्यों की बैठकों में प्रत्येक सदस्य अधिकारी चुनने और नीति-संबंधी प्रश्नों का फैसला करने के लिए मत देता है। गैर-सदस्य सहकारी भंडारों से सामान खरीद सकते हैं, परंतु 'लाभांश' या 'छूट' केवल सदस्यों को ही प्राप्त होती है। सरकारी भंडारों द्वारा प्रदान की जाने वाली सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का लाभ केवल सदस्यों को ही प्राप्त होता है और कुछ मामलों में सदस्य गैर-सदस्यों की अपेक्षा माल की बेहतर किस्में प्राप्त करते हैं। निर्वाचित प्रबंधमंडल और उसके अधीन प्रबंधक सहकारी भंडार की प्रतिदिन की गतिविधियों के लिए जिम्मेवार होता है। वास्तव में सरकार और साम्यवादी दल इन भंडारों पर कड़ा नियंत्रण रखते हैं। सरकार द्वारा उपभोक्ता भंडारों के लिए क्रय और विक्रय मूल्य निर्धारित किए जाते हैं, उनकी गतिविधियाँ आर्थिक आयोजना के एक अंश के रूप में अग्रिम रूप से आयोजित की जाती हैं और उनके कार्य-संचालन का पर्यवेक्षण सरकार द्वारा स्थापित 'आदर्श अधिनियमों' के अंतर्गत संबंधित गणराज्यों के व्यापार मंत्रालयों द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीय तौर पर वे उपभोक्ता सहकारी भंडारों के केंद्रीय संघ में संगठित हो जाते हैं। उनके माल के स्टॉक केंद्रीय क्रय संगठन से प्राप्त किए जाते हैं, जो कि विभिन्न निर्माण उद्यमों के साथ क्रय-करार करते हैं और 'जिला गोदाम' चलाते हैं, जहाँ से सहकारी भंडारों को माल दिया जाता है। माल के अतिरिक्त स्टॉक स्थानीय स्रोतों, विशेषकर स्थानीय उत्पादक सहकारी भंडारों तथा समीप के सामूहिक फार्मों से खरीदे जाते हैं। वास्तव में उपभोक्ता सहकारी भंडार अपने स्वयं छोटे-छोटे औद्योगिक उद्यम स्थापित करते हैं, जिनमें स्थानीय कच्ची सामग्री से सहकारी भंडारों पर बेचने के लिए सिका हुआ माल, हल्के पेय, आइसक्रीम, मांस से बने पदार्थ, कपड़े, जूते, कांठी, नाल, साबुन, भवन-निर्माण-सामग्री और रस्सी उत्पादित की जाती है। कुछ सहकारी भंडारों ने कृषि उत्पादन प्राप्त करने के

लिए सहायक फार्म स्थापित किए हैं और कुछ भंडार औषधीय जड़ी-बूटियाँ, खुंभियाँ, जंगली फल और बेर तथा शिकार की चीजें पैदा या एकत्र करते हैं। वे राज्य-बैंक से ऋण प्राप्त करने के हकदार हैं और सरकार स्ट्रोइ बैंक के प्रशासन के अंतर्गत पूँजी-निर्माण के लिए उन्हें ऋण देती है।

१९५३ ई० से उपभोक्ता सहकारी भंडारों को सामूहिक फार्मों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तृत संपर्क स्थापित करने का नया कार्य करने की इजाजत दी गई है। वे सामूहिक फार्मों के उस माल को बेचने के लिए, जो सरकारी अधिप्राप्ति अभिकरणों को देने के बाद बच जाए, उनके अभिकर्त्ताओं के रूप में काम कर रहे हैं। इस फालतू माल के अंश उपभोक्ता सहकारी भंडारों द्वारा अभिगृहीत किए जाते हैं और वे उन द्वारा स्थापित शहरी भंडारों एवं सामूहिक फार्म बाजारों में किराए पर लिए स्टालों पर बेचे जाते हैं। ये विक्रय पूर्ति और माँग की स्थिति के अनुसार होते हैं। उपभोक्ता सहकारी भंडार इस सेवा के लिए आढ़त के रूप में विक्रय मूल्य का कुछ प्रतिशत रख लेते हैं और शेष आय सामूहिक फार्म को प्राप्त होती है। यह पद्धति सामूहिक फार्म के फालतू उत्पादन को शहरी जनता तक पहुँचाने में एक ऐसा साधन प्रस्तुत करती है, जो कि सामूहिक फार्म द्वारा उसे स्वयं सामूहिक फार्म बाजारों में ले जाने की अपेक्षा ज्यादा तत्पर रहा है। यह विपणन ढाँचे में सामूहिक फार्म के स्थान को कुछ हद तक कम करती है और इस व्यापार को कड़े नियंत्रित विपणन संगठन में रखती है।

सामूहिक फार्म बाजार

सरकारी भंडार और उपभोक्ता सहकारी भंडार सरकार द्वारा निर्धारित दामों पर खुदरा माल बेचते हैं (सहकारी भंडारों के 'आढ़त व्यापार'[1] को छोड़कर) और उनपर अन्यथा पूर्ण नियंत्रण रहता है, परंतु सामूहिक फार्मा बाजारों और उनमें प्रचलित दामों पर नियंत्रण नहीं रहता है। भौतिक रूप से लगभग ९००० सामूहिक फार्म बाजार ऐसे भवनों में स्थित हैं जो कि नगरों, कस्बों और गाँवों के सोवियतों के हैं और जिनका अनुरक्षण इन सोवियतों द्वारा किया जाता है। सामूहिक फार्म इन बाजार-भवनों में नाममात्र धनराशि पर पट्टे पर स्थान लेते हैं। थोड़ा अतिरिक्त भुगतान करके उनको सफेद पल्लों, तराजू, प्रशीतकों (रैफ्रिजेरेटरों) आदि की सुविधाएं भी मिल जाती हैं। इन स्थानों पर सामूहिक फार्म मांस, डेरी के उत्पादन,

---

[1] 'आढ़त व्यापार' का यह विवरण मार्शल आई० गोल्डमैन की 'कमीशन ट्रेड ऐंड दि कोलखोज मार्केट', सोवियत स्टडीज, अक्तूबर, १९५८, पृष्ठ १३६-१४५ के आधार पर किया गया है।

सब्जियाँ तथा अन्य ऐसे खाद्य-पदार्थ बेचते हैं, जो कि वे सरकारी अधिप्राप्ति अभिकरणों के साथ किए गए करार-संबंधी दायित्वों से अधिक पैदा करते हैं। फार्म अपने सदस्यों की निजी भूखंडों पर पैदा की गई उपज को भी उनकी ओर से बेचते हैं। बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत माल और वहाँ की सफाई तथा सुव्यवस्था की जिम्मेवारी नगरपालिका के उन कर्मचारियों की है, जो बाजार-भवन का प्रबंध करते हैं। सभी लेन-देन क्रेता और विक्रेता द्वारा परस्पर तय किए गए दामों पर होता है और उस पर कोई सरकारी नियंत्रण नहीं है। यद्यपि सामूहिक फार्म बाजारों में बिकने वाला सारा या लगभग सारा माल सरकारी भंडारों और उपभोक्ता सहकारी भंडारों में रखा जाता है, तो भी सरकारी या सहकारी भंडार में विशिष्ट माल समाप्त होने पर या अनुपम पदार्थ या सरकारी अथवा सहकारी भंडारों के माल की अपेक्षा बेहतर या ताजा किस्म का माल प्राप्त करने के लिए ग्राहक सामूहिक फार्म बाजारों में जाते हैं। अतः, यह स्पष्ट है कि सरकारी और सहकारी भंडारों का जितना अधिक विस्तार होगा और उनमें सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर बिक्री के लिए जितनी अधिक पर्याप्त मात्रा में खाद्य-पदार्थों का स्टॉक होगा, सामूहिक फार्म बाजारों में माल की उतनी ही कम माँग होगी और इन बाजारों एवं सरकारी तथा सहकारी भंडारों में समान पदार्थों के दाम लगभग बराबर होंगे।

हालांकि हाल ही के वर्षों में सामूहिक फार्म बाजारों में पर्याप्त मात्रा में दाम गिरने की रिपोर्ट मिली है, परंतु इन बाजारों और सरकारी तथा सहकारी भंडारों की कीमतों में वर्त्तमान महत्त्वपूर्ण अंतर की विद्यमानता शहरी जनता के उपभोग के लिए निर्दिष्ट सामूहिक फार्म के खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की अधिप्राप्ति अभिकरणों द्वारा प्राप्त करके सरकारी और सहकारी भंडारों द्वारा बेचने की सरकार की अयोग्यता या अनिच्छा प्रकट करती है। यद्यपि सामूहिक फार्म बाजार की बिक्री कुल खुदरा व्यापार की केवल लगभग ६ प्रतिशत है, तो भी कुछ क्षेत्रों में इसकी बिक्री खाद्य-पदार्थों की कुल बिक्री की ३० से ४० प्रतिशत है। निःसंदेह यह एक प्रकार से 'निजी' व्यापार है और इसीलिए साम्यवादी दल सिद्धांततः इसे पसंद नहीं करता। निःसंदेह दल का यह लंबा लक्ष्य है कि नई अधिप्राप्ति व्यवस्था द्वारा सामूहिक फार्मों के बढ़ते हुए उत्पादन के अधिकाधिक अंश को कब्जे में किया जाए, इस माल से सरकारी और सहकारी भंडारों में खाद्यान्न पदार्थों का अधिक स्टॉक जमा किया जाए और अंततः ग्राहकों की कमी के कारण सामूहिक फार्म बाजारों को समाप्त कर दिया जाए। जिस दर से सामूहिक फार्म बाजारों और सरकारी तथा सहकारी भंडारों के दामों के अंतरों में कमी होती है, वह इस लक्ष्य की प्राप्ति की

गति की सही सूचक है। इस संबंध में दल और सरकार के उद्देश्यों की गंभीरता इस तथ्य से सिद्ध होती है कि १९५८ ई० में मास्को में ३५ सरकारी फार्मों को मास्को के सरकारी भंडारों को आलू और सब्जी संभरण करने के 'विशेष संभरक' नियुक्त किया गया। इन फार्मों को यह आदेश दिया गया कि प्रति किलोग्राम आलू पैदा करने की लागत को घटा कर २६ कापैक किया जाए। उस समय मास्को के सामूहिक फार्म बाजारों में आलू के दाम १२५ कापैक थे। उन्हें यह भी आदेश दिया गया कि वे इसी प्रकार अन्य सब्जियों के उत्पादन की लागत में भी सामूहिक फार्म बाजार के दामों[1] के मुकाबले में कमी करें।

खुदरा बिक्री सेवाएँ

परचून विपणन के अनेक आनुषंगिक लक्षणों का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जा सकता है। बेचे जाने वाले माल के संबंध में सरकारी दाम की सूची प्रत्येक सरकारी या सहकारी भंडार पर लगाई जानी चाहिए। 'दुकान-निरीक्षक' न केवल बाटों और पैमानों की जाँच करते हैं, अपितु वे किसी घटिया माल के लिए सरकार द्वारा उस माल की निर्धारित कीमत वसूल करने से रोकते हैं। वास्तव में ऐसे किसी भी कर्मचारी के खिलाफ, जो अपने भंडार पर घटिया किस्म का माल बिकने की जानबूझ कर इजाजत देता है, फौजदारी मुकदमा चलाया जाता है। खुदरा भंडार व्यय-लेखे नहीं रखते। परंतु कुछ सीमित पदार्थ—जैसे रेडियो (ज्यादा कीमती) मोटर स्कूटर, बाह्यकल्प मोटरें, हाथघड़ियाँ, दीवालघड़ियाँ, आरगन बाजे, साइकिलें और कैमरे आदि किश्तों पर बेचे जाते हैं। ये पदार्थ २० से २५ प्रतिशत कमीशन पर बेचे जाते हैं, परंतु यदि दाम का भुगतान ६ से १२ मास के अंदर करना हो, तो दाम में एक प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाती है और यदि दाम का भुगतान १२ मास के बाद करना हो, तो उसमें २ प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाती है। विक्रेता का एक वर्ष में किश्तों द्वारा भुगतान करने का दायित्व उसके चार मास के वेतन से अधिक नहीं होना चाहिए। किश्तों की वसूली उसके रोजगार के स्थान पर की जाती है। भंडार किश्तों पर दिए जाने वाले माल की पूर्ति करने के लिए स्टेट बैंक से एक या दो प्रतिशत ब्याज पर पूँजी उधार ले सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किश्तों पर खरीदने के लिए कम-से-कम कुछ पदार्थ उपयुक्त समझे गए; क्योंकि उनके स्टॉक सामान्य सूचियों से अधिक होने शुरू हो जाते हैं और अन्य पदार्थों—जैसे कि प्रशीतकों, कपड़े धोने की मशीनों, फर्नीचर को किश्तों पर देना उपयुक्त नहीं समझा गया; क्योंकि इनकी कमी थी। वहाँ डाक-क्रय व्यापार की सुविधाएँ हैं। नगरों में

---

[1] दि न्यूयर्क टाइम्स, ५ नवंबर; १९५८ ई०।

स्वचालित विक्रय मशीनों का व्यापक रूप से प्रयोग किया जा रहा है। कहीं-कहीं भंडार स्व-सेवा इस्तेमाल कर रहे हैं। निजी घरों में रोटी, दूध आदि का कोई नियमित वितरण नहीं होता। विज्ञापन की इजाजत तो है, परंतु यह ऐसे नियमों के अंतर्गत किया जाता है, जो कि इसके प्रतियोगी स्वरूप पर प्रतिबंध लगाते प्रतीत होते हैं। विज्ञापन-अपील सामान्यतः स्वास्थ्य, सुविधा या निम्नतर लागत के आधार पर की जाती है।

सोवियत खुदरा व्यापार-पद्धति में बहुत सी कमियाँ हैं। अनेक उपभोक्ता पदार्थों के अभाव से खुदरा स्तर पर बिक्री के लिए माल की विविधता सीमित हो जाती है और भंडार के कर्मचारियों के लिए विक्रेता के प्रति नम्र तथा सहायक होना अनावश्यक हो जाता है। विक्रेता किसी भी किस्म का माल प्राप्त करके प्रसन्न हो जाता है। अनेक मामलों में भंडारों के प्रबंधकों के कम प्रशिक्षित और अक्षम होने के समाचार मिले हैं। उत्पादन केंद्रों और गोदामों से खुदरा भंडारों को माल भेजने का प्रवाह इतना अव्यवस्थित है कि कपड़े-जैसी वस्तुओं के मौसमी संभरण ग्राहकों की आवश्यकता से बहुत पहले या बहुत बाद में पहुँचते हैं। भंडारों के प्रबंधक प्रायः स्थानीय उपभोक्ता के दृष्टिकोणों से अपरिचित हैं और इसलिए उनके भंडार समुदाय की यथोचित ढग से सेवा नहीं कर सकते। कम-से-कम आंशिक रूप से ये कमियाँ इस तथ्य के कारण पैदा होती हैं कि एक ही व्यापार पद्धति को अपनाने वाले सभी भंडारों में कोई प्रतियोगिता नहीं है या न होने के बराबर है। इसलिए उन्हें ग्राहकों की सेवा में सुधार करने की प्रेरणा नहीं मिलती। सरकार और दल के नेता लगातार अपने अधीनस्थ अधिकारियों से आग्रह करते हैं कि खुदरा व्यापार में कार्यकुशलता और सेवा के महत्त्व को महसूस करें एवं इन्हें व्यावहारिक रूप में प्राप्त करने की अधिकाधिक कोशिश करें।

परंतु, यह प्रतीत होता है कि इस 'विक्रेता बाजार' की स्थिति में, जो कि कुछ हद तक भंडार के प्रबंधकों और कर्मचारियों के सुस्त रवैये के लिए जिम्मेवार है, परिवर्तन हो रहा है। सरकारी आयोजना समिति द्वारा प्रकाशित एक पत्रिका ने चेतावनी दी है कि उपभोक्ता अधिक चुनाव करने वाले हो रहे हैं और भंडार से 'माल लेने' में ज्यादा-ज्यादा अनिच्छुक होते जा रहे हैं; "उपभोक्ता माल के उत्पादन में वृद्धि से बिक्री में कभी भी स्वतः वृद्धि नहीं हुई।" यह सुझाव दिया गया है कि उपभोक्ताओं के हाथ में धनराशि द्वारा माँग का परंपरागत अनुमान लगाने के स्थान पर उनको खरीदने की आदतों का विस्तृत और सतत् अध्ययन किया जाना चाहिए। यह सिफारिश की गई है कि खुदरा संभरणों के लिए जिम्मेवार व्यक्तियों द्वारा उपभोक्ताओं की आदतों में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखा जाना चाहिए—

उदाहरणार्थ, जैसे-जैसे आय में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे परिवार उसका कम भाग अनाज पर लगाते हैं।[1]

संभवतः इन सुझावों और उपभोक्ताओं के असंतोष के ठोस परिणामस्वरूप कुछ खुदरा भंडारों के प्रबंधकों को, स्पष्टतः प्रयोगात्मक आधार पर, अब थोक संगठनों से ऐसा माल खरीदने से इनकार करने का विशेषाधिकार मिल गया लगता है, जिसे वे अपनी बस्तियों में तत्काल बिक्री योग्य नहीं समझते। जैसा कि समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है, ये विशेषाधिकार भंडार के प्रबंधकों को अपने खरीदे हुए माल को उन संभरकों को न देकर, जिन्हें उनके भंडार सौंपे गए हैं, किन्हीं अन्य संभरकों को देने की इजाजत दे सकते हैं। स्पष्टतः ऐसे विकल्प आयोजित व्यापार और उत्पादन से टकरा सकते हैं और निश्चित रूप से दुष्प्राप्य माल[2] के आयोजित विनिधान की पद्धति में हस्तक्षेप समाप्त करना होगा।

दाम-निर्धारण

सोवियत संघ में माल का दाम-निर्धारण निःसंदेह पूँजीवादी अर्थतंत्र में होने वाले दाम-निर्धारण से बिल्कुल भिन्न है। सोवियत दाम-निर्धारण-प्रक्रियाएँ पेचीदा हैं और उनमें मनमानी के महत्त्वपूर्ण तत्त्व शामिल हैं, जो कि वास्तविक राष्ट्रीय आय के वितरण और पूँजी निर्माण में व्यापक आयोजित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए काम में लाए जाते हैं। सामूहिक फार्म बाजारों में बिकने वाले खाद्य पदार्थों (और सहकारी भंडारों द्वारा सामूहिक फार्म के उत्पादनों के 'आढ़त विक्रय') को छोड़कर सब पदार्थों के लिए सरकार द्वारा निर्धारित दाम लागू हैं। १६५७ ई० में किए गए उद्योग के विकेंद्रीकरण से पूर्व लगभग ६० प्रतिशत दाम सोवियत समाजवादी गण-राज्य संघ से संबद्ध अभिकरणों द्वारा निर्धारित किए जाते थे। कुछ जन-उपयोगी वस्तुओं—जैसे कि कपड़ा, जूते, रोटी और चीनी—के बारे में अब भी ऐसा ही होता है। इनके दाम कुल दामों का लगभग ४० प्रतिशत हैं। जब से विकेंद्रीकरण चालू हुआ है, कुल दामों के लगभग ६० प्रतिशत दाम गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के संबद्ध और अधीनस्थ अभिकरणों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। सरकारी दाम-निर्धारण का हवाला देते समय केंद्रीकृत और गणराज्य दाम-निर्धारण अभिकरणों में कोई अंतर नहीं समझा जाता।

निर्मित पदार्थों पर लागू सोवियत दाम-निर्धारण सूत्र के सामान्य सिद्धांतों की खोज करके दाम-निर्धारण को अच्छी तरह समझा जा सकता है। निम्नलिखित

---

[1] ये निर्देश सरकारी आयोजना समिति की सरकारी पत्रिका, 'प्लोनावोय खोजैस्तवो' में प्रकाशित एक लेख से लिए गए हैं। मैक्स फ्रैंकल, दि न्यू टाइम्स, ४ मार्च, १९६० ई०।

[2] मैक्स फ्रैंकल, दि न्यूयार्क टाइम्स, २ जून, १६६० ई०।

प्रथम तीन श्रेणियों में दी गई मदों को संकलित करके 'स्थानांतरण' दाम निर्धारित किया जाता है और मदों की सभी छह श्रेणियों को संकलित करके 'खुदरा' दाम निर्धारित किया जाता है।

१. माल तैयार करने की लागत : दाम-निर्धारण में यह आरंभिक बात है और इसमें कच्चे माल, बिजली, श्रमिकों और प्रशासन के ऊपरी खर्च तथा राज्य-बैंक की पूँजी का, यदि कोई इस्तेमाल की गई हो, ब्याज और मूल्य-ह्रास शामिल है। इन मदों के दाम, निःसंदेह, सरकारी प्राधिकरणों द्वारा निर्धारित किए गए हैं। ये प्राधिकरण कच्चे माल के दाम, मजूरी-दरें, वेतन और ब्याज की दरें नियत करते हैं। इन सबको मिलाकर उत्पादन आधार की इकाई पर, प्रारंभिक लागत बनती है, जो कि दाम का सबसे अधिक मूलभूत अंश है।

२. 'आयोजित लाभ' : माल तैयार करने की लागत में कुछ कम प्रतिशतता आयोजित लाभ के लिए जोड़ी जाती है। चूँकि इसका एक भाग उद्यम या संबंधित उद्योग की पूँजी-सुविधाओं के विस्तार में जाता है, इसलिए माल तैयार करने की लागत में जोड़े जाने वाले आयोजित लाभ की धनराशि इस प्रकार के पूँजी-विस्तार की आवश्यकता या वांछनीयता और इसमें बाहर की निधियों से धन लगाने की बजाए विकासशील उद्यम की अपनी आय में से धन लगाने की वांछनीयता पर निर्भर करती है।

३. विपणन खर्च : इसमें क्रेता तक माल पहुँचाने की लागत शामिल हैं। जब इसे पहली दो मदों में जोड़ दिया जाता है, तब तीनों का जोड़ पदार्थ का 'स्थानांतरण दाम' हो जाता है। जब एक उद्यम दूसरे उद्यम या क्रेता अभिकरण को माल देता है, तब उसे राज्य-बैंक की किताबों में पावती दाम के रूप में दर्ज किया जाता है। यदि पदार्थ ऐसा कच्चा माल है या मशीनरी का भाग है, जिसके लिए कोई खुदरा दाम निर्धारित नहीं किया जा सकता, तो दाम-निर्धारण-प्रक्रिया यहीं पूरी हो जाती है और 'स्थानांतरण दाम' अंतिम दाम बन जाता है, जिस पर क्रेता अभिकरण उसे प्राप्त कर लेते हैं। यदि पदार्थ खुदरा बिक्री के लिए निर्दिष्ट हो, तो उसके दाम-निर्धारण के लिए निम्नलिखित अतिरिक्त कार्यवाही की जाती है।

४. पण्यावर्त कर : दाम-निर्धारण में इस तत्त्व द्वारा ही सरकार खुदरा खरीददारों से बड़ी मात्रा में धन प्राप्त करती है, जो कि सरकारी बजट में जाता है और वहाँ से राष्ट्रीय अर्थतंत्र के पूँजी-विस्तार में। यह पदार्थों पर लगाया जाता है और यह एक दाम-निर्धारण-साधन है—या तो पदार्थ तैयार करने की अंतिम अवस्था में या उनके विपणन में थोक बिक्री की अवस्था में। यह प्रत्येक पदार्थ पर उसके तैयार होने से विपणन तक केवल एक ही बार लगाया जाता है और यथार्थतः

सामूहिक फार्म किसान बाजारों में बिकने वाले पदार्थों (और इस प्रकार के पदार्थों की सहकारी भंडार बिक्री) को छोड़कर किसी भी पदार्थ को इससे छूट नहीं मिलती।

पण्यावर्त कर का अंतिम दाम के किसी अन्य भाग से कोई संबंध नहीं है। यह 'आयोजित लाभ' के अलावा लगाया जाता है और यह इस तथ्य को ध्यान में रखे बिना वसूल किया जाता है कि उद्यम आयोजित लाभ अर्जित करने के लिए दक्षतापूर्वक चलने की क्षमता रखता है या नहीं। विभिन्न पदार्थों पर इस कर की सैकड़ों भिन्न-भिन्न दरें लगाई जाती हैं। सब पदार्थों के लिए इन दरों की औसत पदार्थों के अंतिम खुदरा दामों के ५० प्रतिशत से कुछ अधिक है। पण्यावर्त कर को अंतिम खुदरा दाम का प्रतिशत बताते हुए (भले ही यह पदार्थ की खुदरा अवस्था पर पहुँचने से पहले लगाया जाता है) इसकी कुछ दर इस प्रकार सूचित की गई है: आलू ४९ प्रतिशत, गोमांस ६७ से ७१ प्रतिशत, मुर्गी-पालन २० से ४३ प्रतिशत, मछली ३९ से ५३ प्रतिशत, मक्खन ६० से ६६ प्रतिशत, चीनी ७३ प्रतिशत, बोदका ७४ प्रतिशत, सिगरेट ७५ से ८८ प्रतिशत, जूते १० से ४० प्रतिशत, रेडियो २५ प्रतिशत, रसोई का सामान ५० से ६० प्रतिशत। एक ही पदार्थ[1] के लिए दरों में अंतर या तो विभिन्न बस्तियों में विभिन्न दरों की विद्यमानता या एक ही पदार्थ की विभिन्न किस्मों के लिए विभिन्न दरों के कारण है। वास्तविक आय के वितरण और पूंजी-विस्तार की लागत की स्थिति के निर्णायक के रूप में पण्यार्वत कर के महत्त्व पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। यह स्पष्ट है कि दरों का विन्यास और उसमें परिवर्तन उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में कमी करने और पूंजी उपकरण बनाने की लागत पूरी करने के लिए बुनियादी निर्णायक के रूप में काम करता है।

५. थोक व खुदरा वितरण-सुविधाओं की लागत : इनमें श्रम, गोदाम, माल रखने का स्थान और उपकरण तथा राज्य-बैंक से प्राप्त ऋणों का व्याज शामिल है।

६. वितरण अभिकरणों के आयोजित लाभ : थोक और खुदरा संगठनों को उनके माल की बिक्री पर उचित आयोजित लाभ प्राप्त करने की इजाजत है। जैसा कि औद्योगिक उद्यमों के मामले में होता है, इस लाभ में से कुछ राशि सुविधाओं के विस्तार में लगा दी जाती है। इन छह मदों को एक साथ जोड़ने से खुदरा दाम बन जाता है। जहाँ विभिन्न उद्यम एक ही माल विभिन्न इकाई लागतों पर पैदा करते हैं, वहाँ औसत इकाई लागत इस्तेमाल की जाती है। सामूहिक फार्मों

---

[1] कुल्सकी, डब्ल्यू० डब्ल्यू०, दि सोवियत रिजीम-कम्युनिजम इन प्रैक्टिस, सिराक्यूस यूनिवर्सिटी प्रेस, सिराक्यूस, १९५४।

पर उत्पादित कृषि पदार्थों के मामले में, वे दाम जिन पर सरकार इन पदार्थों को फार्मों से प्राप्त करती है पहली दो मदों को बदल देते हैं, बशर्ते कि यदि खुदरा वितरण से पूर्व कोई और संस्करण होता है, तो उसमें अभिसंस्करण लागत और अभिसंस्करण अभिकरणों के आयोजित लाभ जोड़ दिए जाते हैं।

सोवियत दाम-निर्धारण की युक्तिसंगतता

बाहर के अर्थशास्त्रियों में, जो कि सोवियत आर्थिक कार्यों के स्वभाव और परिणामों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करते हैं, इस विषय पर भारी तर्क-वितर्क होते हैं कि उपर्युक्त प्रक्रियाओं द्वारा 'स्थानांतरण' या 'थोक' स्तर पर और 'खुदरा' स्तर पर माल का युक्तिसंगत दाम निर्धारण होता है या नहीं। सोवियत संघ में उनके आर्थिक सिद्धांतवादियों द्वारा उनकी दाम-निर्धारण पद्धति और उसमें प्रस्ताविक सुधारों के सामर्थ्य के संबंध में लगातार, सक्रिय और कभी-कभी गर्मागर्म बहस की जाती है। कुछ बाहरी सिद्धांतवादी यह महसूस करते हैं कि सोवियत दाम-निर्धारण में शीघ्र ही संशोधन होने वाला है, परंतु आंतरिक सैद्धांतिक चर्चाएँ दाम-निर्धारण में व्यापक सुधार की बजाय अधिकतर उसके ब्यौरों के संबंध में ही होती हैं, यद्यपि इनमें से कुछ 'ब्यौरे' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सरकार और दल द्वारा स्पष्टतः आंतरिक चर्चा को प्रोत्साहन दिया जाता है; क्योंकि आर्थिक सिद्धांतवादी अपनी आलोचनाओं और प्रस्तावों को सरकार द्वारा प्रकाशित एवं सरकारी किताबों की दुकानों पर बिकने वाली पत्रिकाओं तथा किताबों में छापते हैं। चूँकि सोवियत दाम-निर्धारण-संबंधी चर्चा आर्थिक पद्धति के आंतरिक मर्मांगों तक पहुँच जाती है, इसलिए सोवियत अर्थतंत्र के छात्र को कम से कम विवादास्पद मुख्य बातों से परिचित हो जाना चाहिए।

यह प्रश्न कि क्या सोवियत दाम-निर्धारण 'युक्तिसंगत' दाम-निर्धारण है या नहीं, कम-से-कम आंशिक रूप से, शब्दार्थशास्त्र की चर्चा है। जो लोग यह कहते हैं कि दाम-निर्धारण युक्तिसंगत नहीं है, वे सामान्यतः उन लोगों की अपेक्षा जो यह कहते हैं कि यह युक्तिसंगत है, युक्तिसंगतता की भिन्न धारणा को इस्तेमाल करते हैं। इसे युक्तिपूर्ण न कहने वाले यह तर्क देते हैं कि चूँकि दामों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए ऐसे अर्थतंत्र में भी जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित या नियंत्रित दाम प्रधान हैं, दाम द्वारा वस्तु के उत्पादन में लगी वास्तविक सामाजिक लागत या कुर्बानी सही-सही प्रकट होनी चाहिए। यह लागत या त्याग ऐसे बुनियादी उत्पादन साधनों की निर्दिष्ट मात्रा या किस्म के अन्य इस्तेमाल का परित्याग है, जो संबंधित पदार्थ या सेवा का उत्पादन करते हैं। इसका यह अर्थ है कि किसी वस्तु-जैसे पुरुष के सूट का रूबल दाम इतना ही होना चाहिए कि उसमें लगे उत्पादन-साधनों की मात्रा का किस्म से बनाए जा सकने वाले अन्य संभव पदार्थों का मूल्य उसके बराबर होना

चाहिए। जब तक दाम-निर्धारण करने वाले इस प्रकार का दाम नहीं ढूँढते, तब तक कोई भी व्यक्ति सूट के दाम को उसे बनाने में वास्तविक सामाजिक त्याग का सूचक नहीं समझ सकता। अतः ऐसा कोई भी उपभोक्ता, आयोजक, उद्यम-निदेशक या अर्थशास्त्री, जो उस दाम को निर्णय लेने या हिसाब रखने के लिए इस्तेमाल करता है, 'अविवेकात्मक ढंग से' काम करेगा। 'युक्तिसंगतता' के इस विचार के समर्थक आम-तौर पर आगे बढ़ते हैं। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रतियोगी पूँजीवादी अर्थतंत्र के स्वतंत्र बाजारों में, जिनमें माल और उत्पादन-साधनों की असंख्य माँगें और संभरण स्वतंत्र प्रतियोगी उपभोक्ताओं, श्रमिकों, उद्यमों, भू-स्वामियों, विनियोक्ताओं, बैंकरों आदि से आते हैं, इस प्रकार के दाम व्यावहारिक रूप से निर्धारित किए जा सकते हैं। इस प्रकार, परिभाषा द्वारा, सोवियत अर्थतंत्र की दाम-निर्धारण-पद्धति 'अ-युक्ति-संगत' बन जाती है।

जो लोग सोवियत दाम-निर्धारण-पद्धति को 'युक्तिसंगत' घोषित करते हैं, वे भी उसी प्रकार की शब्दार्थशास्त्रीय चर्चा छेड़ते हैं। वे कहते हैं कि ऐसे किसी निष्कर्ष या निर्णय को, जो कि तथ्यात्मक सूचना पर तर्कपूर्ण प्रक्षेपक विचार करने से प्राप्त होता है, वैध रूप से 'युक्तिसंगत' कहा जा सकता है। युक्तिसंगत का अर्थ अस्थिर या तर्कहीन के विपरीत है। इस दृष्टिकोण से माल के दाम-निर्धारण के ऐसे किसी तरीके को, जिसके संबंध में यह विश्वास करना तर्कसंगत है कि वह सोवियत पद्धति के मूल प्रयोजनों में योगदान देता है, दाम-निर्धारण की 'युक्तिसंगत' पद्धति कहा जाता है। सोवियत संघ में आर्थिक पहलू का मुख्य लक्ष्य शीघ्र आर्थिक विकास दिखाई देता है। दाम-निर्धारण में इस्तेमाल की गई प्रक्रियाओं के अंतर्गत शीघ्र आर्थिक विकास हुआ है और यह विश्वास करने के लिए ऐसी कोई तर्कसंगत युक्ति नहीं दी जा सकती कि दाम-निर्धारण का कोई और आधार अपनाने से और भी शीघ्र आर्थिक विकास संभव हो जाता। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि सोवियत दाम-निर्धारण 'युक्तिसंगत' रहा है, इस समय 'युक्तिसंगत है' और उस समय तक ऐसा रहेगा, जब तक कि आर्थिक विकास की दर को बनाए रखने या उसमें वृद्धि करने के लिए आवश्यक दाम-निर्धारण का कोई और सूत्र तर्कपूर्ण ढंग से स्वीकार नहीं किया जाता।

इस विवेचन से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यह पूछना कि शब्दार्थशास्त्र की दृष्टि में सोवियत दाम-निर्धारण-पद्धति युक्तिसंगत है या नहीं, एक बेकार का प्रश्न है और इसके उत्तर की तलाश करना व्यर्थ है। परंतु, वास्तविक महत्त्वपूर्ण प्रश्न शब्दार्थशास्त्र में इस अध्ययन-यात्रा से पैदा होता है। यह इस प्रकार है: क्या दाम-निर्धारण की वह पद्धति, जिसके अंतर्गत दाम विभिन्न पदार्थों के

उत्पादन में होने वाले सामाजिक त्याग को प्रकट नहीं करते, उनके लिए उतनी ही प्रभावशाली है जितनी कि वह पद्धति जिसके अंतर्गत दाम सामाजिक त्याग को प्रकट करते हैं ? यहाँ हम कल्पना करते हैं कि सोवियत संघ का आर्थिक लक्ष्य, जहाँ तक कि हम आर्थिक लक्ष्य को राजनीतिक लक्ष्य, से अलग कर सकते हैं, इस प्रकार है : पूर्ण साम्यवाद प्राप्त करने के अंतिम लक्ष्य के लिए आर्थिक अभाव अधिकाधिक कम करने हेतु प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में शीघ्र वृद्धि करने के लिए अर्थतंत्र के विभिन्न विभागों का संतुलित (उनकी भाषा में) 'समानुपातिक' विकास। वास्तव में, जब दाम-निर्धारण-संबंधी सोवियत सिद्धांतवादियों के वर्त्तमान लेखों में से सभी सैद्धांतिक व सिद्धांतात्मक बंधन दूर हो जाते हैं, तो उनके लिए यह समस्या उनके सामने आ जाती है। उन्हें डर है कि उपभोक्ताओं, आयोजकों, उद्यम प्रबंधकों, केंद्रीय समिति के प्रेसीडियम, सरकारी अभिकरण आदि द्वारा हिसाब करने और निर्णय लेने के लिए वे दाम इस्तेमाल किए जाएँगे जो कि सही ढंग से उत्पादन-संबंधी सामाजिक त्याग को प्रकट नहीं करते और इसके परिणामस्वरूप एक के बाद दूसरा उद्योग अपने अर्थ-तंत्र के कुछ भाग को साधनवार वर्त्तमान पथ से सक्षम शीघ्रतम विकास की ओर लगाएगा। यदि इस प्रकार की चिंता सोवियत सिद्धांतवादियों में वर्त्तमान दाम-निर्धारण संबंधी चर्चा का अंतर्निहित विषय नहीं है, तो यह केवल बौद्धिक कलाबाजी ही दिखाई देगी।

माल के सोवियत दाम-निर्धारण के बारे में एक स्पष्ट तथ्य यह है कि यह उत्पादन-संबंधी दो सामाजिक त्यागों को बिल्कुल महत्त्व नहीं देता : (१) उपभोक्ता माल के सीधे उत्पादन की अपेक्षा पूँजी-निर्माण में सामग्री और मानव-साधनों का विलंबित उपभोग; (२) उत्पादन उद्यम को विशिष्ट रूप से लाभदायक स्थान और प्राकृतिक साधनों की किस्म इस्तेमाल करने का निर्देशन तथा अन्य उद्योगों को उनके इस्तेमाल से वंचित रखना। अधिक ठोस रूप से, पदार्थ की औसत उत्पादन लागत की गणना में, जिसके आधार पर, अन्य तथ्यों के साथ-साथ, दाम निर्धारित किया जाता है, निवेश के व्याज का रूबल खर्च और भेदात्मक प्राकृतिक साधन लाभ का रूबल खर्च (भू-लगान) शामिल नहीं किया जाता। सोवियत दाम-निर्धारण-पद्धति में, सामाजिक त्याग के अर्थ में, लागत की ये दो मदें रूबल लागत-लेखे की मदों में नहीं आतीं।

यह स्पष्ट दिखाई देता है कि ये सामाजिक त्याग हैं। यदि किसी परिष्करण-शाला के निर्माण की अपेक्षा, जो कि प्रति वर्ष 'क्ष' टन पेट्रोल पैदा करेगी, इस्पात-कारखाने के निर्माण में, जो कि प्रति वर्ष 'त्र' टन इस्पात पैदा करेगा, अधिक इस्पात सीमेंट, ताँबा, इमारती लकड़ी, काँच आदि लगाया जाए, तो पेट्रोल के प्रति वर्ष 'क्ष'

टन उत्पादन की अपेक्षा इस्पात का प्रतिवर्ष 'त्र' टन उत्पादन प्राप्त करने के लिए इनमें से अधिक उपादानों का अन्य प्रयोजनों के लिए संभावी इस्तेमाल छोड़ दिया गया है। यदि यह मान लिया जाए कि इस्पात-कारखाने और परिष्करणशाला में भौतिक क्षति एक समान होती है, तो समाज की इस्पात-कारखाने में लगाए गए उपादानों का लाभ प्राप्त करने के लिए परिष्करणशाला में लगाए गए उपादानों का लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि उदाहरण के लिए यह मान लिया जाए कि इस्पात-कारखाने के निर्माण के लिए परिष्करणशाला के निर्माण की अपेक्षा प्रत्येक निर्दिष्ट उपादान की यथार्थतः दुगुनी मात्रा की आवश्यकता है, तो परिष्करणशाला के मुकाबले में इस्पात-कारखाना बनाने पर दुगुनी लागत आती है, उसमें दुगुना 'निवेश' करना पड़ता है और इस प्रकार परिष्करणशाला की अपेक्षा इस्पात-कारखाने में सामाजिक त्याग द्वारा दुगुने मूल्य की वस्तुएँ उत्पादित होती हैं। एकमात्र तरीका, जिसके द्वारा इस्पात-कारखाना चलने पर इस्पात के 'त्र' टन के उत्पादन की प्रति टन लागत की गणना द्वारा इस तथ्य को प्रतिबिंबित कराया जा सकता है, इस्पात-कारखाने में रूबल निवेश पर व्याज-दर वसूल करना है। शोधित पेट्रोल के उत्पादनों की इकाई-लागत की गणना में परिष्करणशाला के निर्माणार्थ हुए अल्पतर सामाजिक त्याग को प्रतिबिंबित करने का एकमात्र तरीका यह है कि लागत की गणना करते समय उसमें परिष्करणशाला के निर्माण में लगाए गए अल्पतर रूबल का व्याज जोड़ा जाए। यदि, जैसा कि सोवियत दाम-निर्धारण प्रक्रियाओं में होता है, लागत में पूँजी निवेश का व्याज शामिल न किया जाए, तो उस सीमा तक इस्पात और गैसोलीन के दाम का संबंध जैसे कि प्रति टन १०० रूबल का प्रति गैलन १० रूबल से—इन उत्पादकों को प्राप्त करने में सापेक्ष सामाजिक त्याग को प्रकट नहीं करता। निःसंदेह यह संभव है कि पूँजी निवेश के व्याज के बराबर की राशि लागत लेखे में किसी अन्य मद के अंतर्गत शामिल की जाती हो। परंतु, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि सोवियत लागत प्रक्रियाओं में ऐसा है। सिद्धांत रूप से इस प्रकार का खर्च मूल्य-ह्रास में मिलाया जा सकता है, जो कि सोवियत लेखा विधि में खर्च की एक मद है। यदि ऐसा होता, तो यह दिखाई देगा कि दोनों इस्पात-कारखाने और परिष्करणशाला के संबध में लगाए गए मूल्य-ह्रास की समान वार्षिक पूँजी निवेश के व्याज की कमी की अच्छी तरह पूर्ति कर देगी (यद्यपि इस्पात-कारखाने के मामले में यह मूल्य-ह्रास परिष्करणशाला में लगाई गई पूँजी की अपेक्षा दुगुने पूँजी निवेश पर लागू होगा)। यदि सोवियत लागत लेखा विधि में वार्षिक मूल्य-ह्रास का प्रतिशतक संयंत्रों की क्षति की दर से काफी अधिक होता, तो यह वास्तविकता होती। यदि ऐसा होता, तो लागत की गणना करते समय उसमें पूँजी निवेश का व्याज शामिल किया जाता, यद्यपि वह 'मूल्य-ह्रास' के नाम

से पुकारा जाता। परंतु, तथ्य यह है कि सोवियत लागत लेखा विधि में मूल्य-ह्रास की दर सामान्यतः संयंत्र की भौतिक क्षति की वास्तविक दर से कुछ कम ही है। अतः, मूल्य-ह्रास लगाने की पद्धति, पूँजी निवेश के व्याज की कमी की पूर्ति करने की बजाए, रूबल लागत और सामाजिक त्याग के अंतर को बढ़ाती है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि हमारे दृष्टांत में सीमेंट, ताँबे आदि के दामों में लागत के ऐसे मनमाने नियत तत्त्व हैं, जो कि दामों को प्रभावित करते हैं, इसलिए यह कहना संभवतः व्यर्थ है कि इस्पात-कारखाने के निर्माण की लागत परिष्करणशाला के निर्माण से दुगुनी होती है। इसका यहाँ विचाराधीन विषय से कुछ संबंध है। परंतु, इस तथ्य को मानने का यह अर्थ नहीं है कि जहाँ कहीं लागत गणना में सामाजिक त्याग के तत्त्व मिलाने का अवसर हो, वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा इसलिए किया जाता है कि ऐसा करने से नई लागत निर्दिष्ट पदार्थ में कुल सामाजिक त्याग को पूर्णतः प्रकट नहीं करेगी। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि लागत में पूँजी निवेश का व्याज शामिल किया जाना हो, तो यह तथ्य कि इसकी दर वस्तुतः मनमानी होगी, इस प्रकार की मद को शामिल करने के कतई विरुद्ध जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के प्रभार की थोड़ी सी मात्रा भी, भले ही यह इस्तेमाल होने वाली अनेक दरों में से मनमाने ढंग से चुनी गई हो, सामाजिक त्याग के संबंध में न होने वाले प्रभार से तो अच्छी है।

उद्यमों द्वारा प्राकृतिक साधनों के इस्तेमाल के संबंध में विशेष लाभों के विभिन्न प्रभारों को लागत गणना से अलग रखने से संबंधित दामों के उसी प्रकार के परिणामी तोड़-मरोड़ होते हैं जैसे कि उत्पादन में संबंधित सामाजिक त्यागों द्वारा। उदाहरण के लिए, यदि उद्योग 'क' के संयंत्रों के पास बाजार और सामग्री के संभरण की दृष्टि से अधिक लाभदायक स्थान हों, तो समाज उद्योग 'क' के मामले में उद्योग 'ख' की अपेक्षा स्थानों के अधिक महत्त्वपूर्ण वैकल्पिक इस्तेमाल करना छोड़ देता है। जब तक इसे उद्योग 'क' के संयंत्रों में लागत भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक उद्योग 'क' और उद्योग 'ख' में औसत इकाई पर आधारित दाम उद्योग 'ख' के उत्पादन में सामाजिक लागत की अपेक्षा उद्योगो 'क' के उत्पादन में सामाजिक लागत कम प्रकट करेंगे।

लागत में, जिस पर दाम आधारित हैं, इन दो सामाजिक त्यागों को शामिल न करने का सोवियत अर्थतंत्र के लिए महत्त्व स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए। जैसा कि ऊपर बताया गया है, सोवियत संघ का उद्देश्य आर्थिक विकास करना है, जो कि अधिकतम संभव मात्रा तक आबादी में वृद्धि से ज्यादा तीव्र होता है। दूसरे शब्दों में यह आर्थिक अभावों से मुक्ति दिलाता है या उन्हें कम करता है। अभाव एक सापेक्ष

पद है और इससे उपलब्ध उपभोक्ता माल की मात्रा और इस माल के लिए जनता की माँग में संबंध ध्वनित होना चाहिए। यदि किसी विशिष्ट वस्तु की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सोवियत नागरिकों द्वारा प्रायः अल्पाधिक माँग हो, परंतु उसके उत्पादन में अन्य वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षा सामाजिक त्याग कम शामिल होता हो, तो आर्थिक आयोजकों द्वारा अभावों को कम करने के प्रयत्न करते समय इस मद के उत्पादन के लिए साधनों के विनिधान में अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यदि किसी वस्तु की अपेक्षतया कम माँग हो, परंतु उसके उत्पादन में अधिक सामाजिक त्याग की आवश्यकता हो, तो उत्पादन-साधनों के विनिधान में उसे कम प्राथमिकता दी जानी चाहिए। परंतु, ये प्राथमिकताएँ किस प्रकार स्थापित की जाएँ ? सोवियत संघ में, उत्पादक माल के उत्पादन और उपभोक्ता माल के उत्पादन में उत्पादन साधनों के कुल वितरण (विशुद्ध राजनीतिक निर्णय) के अलावा, साधनों का विनिधान इस ढंग से किया जाता है, जिससे प्रत्येक उपभोक्ता माल उतना ही उत्पादित हो जितना कि उसके निर्धारण विक्रय दाम पर जनसाधारण द्वारा खरीदा जाएगा। इस प्रकार, यदि लागत गणना में ऊपर निर्दिष्ट कुछ सामाजिक त्यागों को शामिल न करने से किसी उपभोक्ता पदार्थ के दाम में अन्य पदार्थ की अपेक्षा सामाजिक त्याग कम प्रकट हो, तो उसकी उतनी मात्रा पैदा करने से, जितनी कि जनता उस दाम पर खरीद लेगी, इन दोनों पदार्थों में साधनों का विनिधान गलत प्रकट होगा, जो कि अभाव को कम करने की सैद्धांतिक व्याख्या के विपरीत होगा। अतः, यह मालूम होगा कि उपभोक्ता पदार्थों का दाम-निर्धारण, उनके अपने लक्ष्यों के दृष्टिकोण से, लागतों के आधार पर, जो कि वास्तविक सामाजिक त्याग को प्रकट करती हैं, यथासंभव ज्यादा समीप होना अत्यावश्यक है।

सोवियत अर्थतंत्र के संबंध में हमारी चर्चा के शुरू में औद्योगिक दक्षता में सोवियत रुचि का उल्लेख किया गया था। यदि विभिन्न संयंत्रों, प्रबंधकों और कार्य-शक्तियों की सापेक्ष दक्षताओं का मूल्यांकन करना हो, तो अदक्षताएँ मालूम करने एवं उनमें सुधार करने के लिए जिम्मेवार प्रशासकों के इस्तेमाल के लिए उपलब्ध दक्षता की व्यावहारिक कसौटी का होना भी आवश्यक है। एक निर्दिष्ट उद्योग में संयंत्र-संख्या १ प्रायः हर प्रकार से संयंत्र-संख्या २ के समान है, परंतु संयंत्र-संख्या १ ने संयंत्र-संख्या २ के मुकाबले में अपने पूँजी उपकरण में दुगुने धन का निवेश कर रखा है। संयंत्र-संख्या १ यह दिखाता है कि वह संयंत्र-संख्या २ की अपेक्षा माल प्रति इकाई एक-चौथाई कम लागत पर उत्पादित कर रहा है। यदि लागत की गणना करते समय, जो कि उस समय सापेक्ष दक्षता को प्रकट करती हो, पूँजी निवेश पर ब्याज वसूल न किया जाए, तो उक्त दो संयंत्रों की कुल सापेक्ष दक्षताओं के रूप में एक चौथाई लागत अंतर बुनियादी तौर पर भ्रामक है। कोई भी व्यक्ति निर्णय और नियंत्रण के अन्य

तरीकों की जाँच कर सकता है, जिनके अनुसार सोवियत अर्थतंत्र में दाम निर्धारित किए जाते हैं। प्रत्येक तरीके में दामों को, जो कि उत्पादन में सामाजिक त्याग को यथासंगत और यथातथ्य ढंग से प्रकट करते हैं, सोवियत पद्धति के स्वीकृत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उस तरीके को यथासंभव लाभकारी बनाने की आवश्यकता है। यद्यपि लागत और दाम-निर्धारण के लिए कुछ सामाजिक त्याग का मूल्यांकन अधिकतर मनमाने ढंग से होगा, तो भी उत्पादन में हुए महत्त्वपूर्ण सामाजिक त्याग को बिल्कुल छोड़ देने की अपेक्षा इसकी गणना सोवियत पद्धति के लिए अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में अधिक सहायक होगी। दाम-निर्धारण में संभाव्य लागत तत्त्वों के रूप में विभिन्न प्राकृतिक लाभों और पूँजी निवेश पर व्याज के संबंध में अब बाद वाली नीति अपनाई जा रही है।

यदि उक्त तर्क हृदयग्राही हो, तो निष्कर्ष स्पष्ट दिखाई दे सकते हैं। स्वाभाविक प्रश्न यह है कि सोवियत दाम-निर्धारक सामाजिक त्याग की कुछ श्रेणियों की सारी लागत शामिल करने के प्रति इतने सावधान क्यों हैं और फिर सामाजिक लागत की दो महत्त्वपूर्ण श्रेणियों को बिल्कुल क्यों छोड़ देते हैं? इसका एकमात्र कारण सिद्धांतात्मक कारण ही है। यह स्मरणीय है कि मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार पूँजी निवेश का व्याज और भू-लगान 'अतिरिक्त पूँजी' के अंश हैं और इस प्रकार ये मानव द्वारा मानव के शोषण से प्राप्त आय को प्रकट करते हैं—सोवियत नेता बलपूर्वक घोषणा करते हैं सोवियत संघ में ऐसा नहीं होता। हम सोच सकते हैं कि धर्मनिष्ठ मार्क्सवादी के लिए भी निम्नलिखित में अंतर महसूस करना कठिन नहीं होगा—(१) परिणाम और समस्याएँ (एक ओर), जिनका संबंध, मार्क्सवादी सिद्धांत समाजवादी समाज में निजी स्वामी की पूँजी के व्याज से जोड़ते हैं, जो व्याज को निजी आय के रूप में प्राप्त करता है तथा (२) पूँजी निवेश का व्याज (दूसरी ओर) जो कि उत्पादक में सामाजिक त्याग को प्रकट करने के लिए लागत का हिसाब लगाने और दाम-निर्धारण में इस्तेमाल किया जाता है एवं नकद वसूल होने पर सरकारी खजाने में जाता है; और (१) पूँजीवादी अर्थतंत्र का प्राकृतिक साधन कर (एक ओर), जो कि निजी स्वामी को प्राप्त होता है, तथा (२) कर लागत लेखा और दाम-निर्माण प्रभार (दूसरी ओर), जो कि वसूल किए जाने पर सरकारी खजाने में जाना है। प्रत्येक मामले में मार्क्सवादी सिद्धांत को पहले न कि दूसरे विकल्प की ओर निर्देशित किया गया।

यह समझ में न आने वाली बात है कि निपुण सोवियत आर्थिक सिद्धांतवादी, जो सोवियत अर्थतंत्र की दाम-निर्धारण-संबंधी समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं, इस मामले में अस्पष्ट रहते हैं। 'व्याज' तो सोवियत संघ में राज्य-बैंक के कार्यों,

सरकारी बंधपत्रों और बचत लेखों के संबंध में व्यापक रूप से इस्तेमाल किए जाने वाला पद है, परंतु 'कर' किसी भी वर्त्तमान आर्थिक व्यापार के लिए प्रयुक्त नहीं होता। यह सच है कि 'सुधारवाद', जो कि सोवियत संघ में मार्क्सवाद के वर्त्तमान स्वीकृत सिद्धांतों के विपरीत है, एक ऐसा शब्द है जिसका परिहार किया जाना चाहिए। यह पद किसी विरोधी पक्ष द्वारा न्यायालय की अनुकूलता के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। अंततः आर्थिक विज्ञता पर लगे प्रतिबंध कम हो सकते हैं या सिद्धांतवादी 'व्याज' या 'कर'-जैसे बहिष्कृत शब्दों का प्रयोग किए बिना कुछ सामाजिक लागतों को लागत लेखों और मूल्यों में शामिल करने का रास्ता ढूँढ सकते हैं। एक तरीके से या दूसरे तरीके से यह संभव है कि जैसे ही सोवियत अर्थतंत्र अधिक जटिल बन जाएगा और उसके अंगों में अधिक सामयिकीकरण की आवश्यकता होगी, वैसे ही दामों का सामाजिक लागतों से समाधान अधिक आवश्यक हो जाएगा और कुछ सामाजिक त्याग, जो कि इस समय लागत गणना में शामिल नहीं किए जाते, वस्तुतः दामों के अभिन्न निर्णायक तत्त्व बन जाएँगे।

पण्यावर्त कर और दाम

यद्यपि लागत लेखों में, जिन पर दाम आधारित हैं, उत्पादन में हुए कुछ सामाजिक त्यागों को शामिल न करने का प्रभाव भ्रांत और दुर्बोध है, तो भी दामों पर पण्यावर्त कर का प्रभाव सीधा और स्पष्ट है। यह कर ऐसे सभी पदार्थों के 'स्थानांतरण' दामों में, जो कि सरकारी और सहकारी भंडारों में बिक्री की अपनी अंतिम मंजिल के समीप होते हैं ('आढ़त विक्रय' को छोड़कर जो सहकारी भंडार सामूहिक फार्मों के लिए करते हैं) रूबल की विभिन्न राशियाँ जमा कर देता है, जो कि अंतिम खुदरा दामों की परिवर्त्ती प्रतिशतताएँ बन जाती हैं। यदि सामान्य रूप से विचार किया जाए, तो यह कर इस सिद्धांत पर लगाया जाता है कि सरकार ने अपने स्वामित्व और संचालन वाले उद्योगों (जैसे कि आर्थिक आयोजना अभिकरणों, राज्य-बैंक आदि के कार्य) को कुछ सामान्य सहायता दी है, जिसका उत्पादन उद्यम द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कोई प्रतिकर नहीं दिया गया है। पण्यावर्त कर, कम-से-कम आंशिक रूप से, सरकार की इन सेवाओं के लिए मुआवजा समझा जाता है। ये कार्य इतने व्यापक हैं कि किन्हीं विशिष्ट उद्योगों या उद्यमों के संबंध में इनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसलिए यह कर उत्पादित माल पर सामान्य प्रभार के रूप में उस समय लगाया जाता है, जब वह उपभोक्ता के अंतिम भुगतान के समीप होता है। यह तथ्य और पूँजी निवेश के हेतु सामाजिक बचत के लिए बाध्य करने वाला पण्यावर्त कर का स्पष्ट कार्य मिलकर इस कर के कुल औसत स्तर को न्यायसंगत सिद्ध करते हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की दरों में अत्यधिक भिन्नता के लिए सार्वजनिक रूप से कोई

औचित्य पेश नहीं किया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अंतर निर्वाह के लिए कम आवश्यक वस्तुओं की अपेक्षा अत्यावश्यक वस्तुओं पर कम कर (जूतों पर कम दर परंतु मक्खन पर ऊँची दर), जिन वस्तुओं (वोदका) का उपभोग लोकहित में नहीं समझा जाता, उन पर अधिक कर, जो वस्तुएँ (रेडियो) सरकार जनता को व्यापक रूप से देना चाहती है उन पर कम कर, कमी के खाद्य-पदार्थों (गोमांस) पर अधिक कर और अधिक मात्रा में प्राप्त होने वाले खाद्य-पदार्थों (मछली) पर कम कर लगाने के सामान्य सिद्धांतों के कारण हैं।

यह महत्त्वपूर्ण है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों पर लगाई गई विशिष्ट दरों का न तो उत्पादन की सापेक्ष इकाई लागत से और न ही विभिन्न पदार्थों में इस्तेमाल किए जाने वाले उत्पादन कारकों के सापेक्ष सामाजिक त्याग के साथ कोई संबंध है। इस प्रकार दरों का मान केवल उपर्युक्त विवेचन और लंबे या अस्थायी स्वरूप के ऐसे अन्य कारकों से निर्धारित किया जाता है, जो कि सरकार द्वारा समय-समय पर महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि उपभोक्ता पदार्थों की तरह दरों के निर्धारण में अत्यधिक मनमानी रहती है। ये दरें उपभोक्ता माल के दामों को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं; क्योंकि इनकी औसत खुदरा दामों के ५० प्रतिशत से कुछ अधिक है। इस प्रकार की विभिन्न दरों का प्रभाव इकाई उत्पादन लागतों की गणना के लिए कुछ सामाजिक त्यागों को शामिल न करने के प्रभाव के समान है। उदाहरण के लिए, यदि साधनों का विनिधान उपभोक्ता पदार्थों की उतनी मात्रा उत्पादित करने के लिए किया जाता है, जितनी कि साधारण जनता पण्यावर्त कर द्वारा विभिन्न रूप से प्रभावित दामों से खरीदती है, तो हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या यह ऐसा विनिधान है, जो कि आर्थिक त्यागों की सैद्धांतिक व्याख्या के लक्ष्य की अत्यधिक पूर्ति करता है।

इस सामान्यीकरण के अलावा पण्यावर्त कर पद्धति का एक और बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम है। यह कर उस समय तक नहीं लगाया जाता, जब तक कि माल विपणन के खुदरा क्षेत्र में जाने के लिए पूर्णतः तैयार नहीं हो जाता। अतः, यह ऐसे किसी व्यापार का अंश नहीं है, जिसमें एक निर्माण उद्यम या सरकारी अभिकरण द्वारा दूसरे उद्यम या अभिकरण द्वारा दूसरे उद्यम या अभिकरण से माल खरीदा जाता है। इस प्रकार, इस्पात-कारखाने द्वारा निर्माण उद्यम को बेचे जाने वाले इस्पात पर पण्यावर्त कर नहीं लगाया जाता और न ही खान या परिष्करणशाला द्वारा निर्माण उद्यम को बेचे गए कोयले या ईंधन तेल और मशीन-निर्माण-उद्यम द्वारा नए संयंत्र को बेची गई मशीनरी पर यह कर लगाया जाता है। पण्यावर्त कर लगाने से उत्पादक माल के दामों में वृद्धि नहीं की जाती, परंतु उपभोक्ता माल के

दामों में वृद्धि की जाती है। यदि पण्यावर्त कर सामान्य रूप में औद्योगिक क्षेत्र में किए गए प्रशासनिक कार्य एवं सरकारी आयोजना की लागत और नए पूँजी निवेश के लिए धन उपलब्ध कराने के समाज के दायित्व को प्रकट करने के लिए लगाया जाता है, तो इस प्रभार का बोझ केवल उपभोक्ता माल के दामों पर पड़ता है। एक प्रकार से इसका अर्थ दाम-निर्धारण की दो पद्धतियों की विद्यमानता है—एक मशीनों, औजारों, उपकरणों, कच्ची सामग्री, संघटक अंग आदि के लिए और दूसरा कपड़ों, जूतों, तैयार अनाज, फर्नीचर एवं घरेलू वस्तुओं आदि के लिए।

दाम-निर्धारण की इस द्वैत पद्धति के विद्यमान होने के कारण सोवियत अर्थतंत्र में होने वाले कुल दाम व्यापार में उत्पादक माल के दाम के कम और उपभोक्ता माल के दाम अधिक लगाए जाते हैं। उत्पादन की अभिलिखित लागतों या इन लागतों और उत्पादन में होने वाले, रिकार्ड न किए गए, सामाजिक त्यागों (जिनका ऊपर वर्णन किया गया है) के आधार पर उपभोक्ता माल की अपेक्षा उत्पादक माल के बहुत कम दाम लगाए जाते हैं या उत्पादक माल की अपेक्षा उपभोक्ता माल के बहुत अधिक दाम लगाए जाते हैं। यदि दामों की ये दो श्रेणियाँ एक दूसरे से अलग रखी जाती हैं और उत्पादक माल के क्षेत्र के किसी दाम का उपभोक्ता माल के क्षेत्र के किसी दाम से कोई संबंध न होता, तो इसका कोई महत्त्व न होता। चूँकि ऐसा नहीं हो सकता, इसलिए दाम-निर्धारण की इस द्वैत पद्धति के महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं। एक परिणाम यह है कि यह पूँजी-निवेशों की वास्तविक उत्पादिता में प्रायः उपभोक्ता माल के उत्पादन में उनके परिणामों के रूप में वृद्धि करता है—चूँकि प्रत्येक का केवल रूबल मूल्य के रूप में ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इससे अर्थतंत्र के अनेक विभागों द्वारा निवल राष्ट्रीय उत्पादन या राष्ट्रीय आय में दिए जाने वाले योगदान का सही-सही अनुमान लगाना बिल्कुल असंभव हो जाता है। यदि कोई विभाग मुख्यतः उत्पादक माल का उत्पादन करता है, तो उसके योगदान का मूल्यांकन उस विभाग के योगदान से कम किया जाता है, जो कि मुख्यतः उपभोक्ता माल पैदा करता है। इस प्रकार की कठिनाइयाँ कुल योगात्मक दत्त सामग्री, जो अनिवार्यतः रूबल में व्यक्त की जाती है, यथार्थता को प्रभावित करती है, यदि इस दत्त सामग्री में कुछ चीजें अर्थतंत्र के एक क्षेत्र की ओर कुछ चीजें दूसरे क्षेत्र की हों। जैसे ही इस प्रकार की कुल दत्त सामग्री का संकलन उत्पादक माल और उपभोक्ता माल में बदलता है, यह आवर्तन स्वतः कुल रूबल के आकार को प्रभावित करता है। इस प्रकार के विवेचन पण्यावर्त कर का, जो कि अभिलिखित लागतों या सामाजिक त्यागों पर निर्भर न हो कर दाम-निर्धारण में एक मनमाना तत्त्व होता है। संबंध सापेक्ष संभावी उत्पादिताओं के आधार पर निवेश निधियों के

विनिधान की आयोजना में संभावी कठिनाइयों के साथ जोड़ा जाता है। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या पण्यावर्त कर, जो कि दाम-निर्धारण को प्रभावित करता है, आर्थिक अभावों को दूर या कम करने की गति को बढ़ाने के सोवियत संघ के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वास्तव में सहायक है या बाधक।

जिस छात्र ने विश्लेषण की इस पद्धति को अपनाया है, वह निःसंदेह यह समझता है कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कुछ संघटक मूल्यों में पण्यावर्त कर शामिल हैं और कुछ में नहीं, कुल रूबल मूल्य में कुछ सुधार करना संभव होगा। यह निर्धारित करने के लिए और अधिक गहरे विश्लेषण की आवश्यकता है। सभी सकल रूबल मूल्यों और उप-सकल मूल्यों के लिए, जो कि सोवियत अर्थतंत्र में निर्णय लेने के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, इस प्रकार के सुधार संभव होंगे। प्रत्येक अवस्था में, इस प्रमाण से यह पता चलता है कि कम-से-कम अधिक महत्त्वपूर्ण रूबल मूल्यों में, विभिन्न निर्णय लेने के प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल करने से पहले, सुधार नहीं किया जा सकता या सुधार नही किया जाता। अतः, यह प्रतीत होता है कि रूबल मूल्यों के विभिन्न सकल योगों को सममाप्य मात्राएँ समझा जाता है और इस्तेमाल किया जाता है, जब कि वास्तव में वे सममाप्य नहीं है। इसे सिद्ध करने वाला एक प्रमाण एक प्रमुख अर्थशास्त्री का यह प्रस्ताव है कि पण्यावर्त कर में निम्नलिखित ढंग से पूर्ण संशोधन किया जाना चाहिए। यह फैसला करने के बाद कि सरकारी उद्योग को दी गई सरकार की ऊपरी सेवाओं के लिए समुचित प्रभार और नए पूँजी निवेश के संबंध में समुचित कर की रूबल में एक मुश्त राशि होनी चाहिए, प्रत्येक पदार्थ की बिक्री पर इन दोनों मदों के योग के बराबर कर लगाया जाता है— चाहे वह उत्पादक माल हो या उपभोक्ता माल। यह कर इस्पात कंपनी द्वारा नए बिजली-संयंत्र निर्माण के लिए बेचे जाने वाले इस्पात के 'स्थानांतरण' दाम पर और सरकारी भंडार द्वारा खुदरा रूप से बेचने के लिए प्राप्त किए जाने वाले जूतों के 'स्थानांतरण' दाम पर एक-जैसा ही होगा। इस अर्थशास्त्री का यह तर्क है कि ऐसा किए जाने के बाद ही आयोजना बनाने और निर्णय लेने के लिए प्रयुक्त रूबल मूल्यों में पण्यावर्त कर द्वारा पैदा की गई असममाप्यता दूर की जाएगी। तब सममाप्यता व्याप्त होगी और आयोजना तथा अन्य निर्णयों की तर्कपूर्णता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले वर्त्तमान निरूपण समाप्त हो जाएँगे।[1]

---

[1] डी० डी० कोंद्राशेव, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ, मास्को, के उद्योगों में दाम-निर्धारण, गोसफिनिजदत, १९५६ ई०।

सोवियत अर्थतंत्र के दाम-निर्धारण के विवेचन को समाप्त करने से पहले यह उल्लेखनीय है कि दाम-निर्धारण-प्रक्रियाओं में भविष्य में कुछ पर्याप्त सुधार की आशा करना उचित प्रतीत होगा—(१) रूबल इकाई लागत को, जो कि निश्चित रूप से दामों का प्रमुख आधार रहेगी, प्रत्येक पदार्थ या सेवा के उत्पादन द्वारा होने वाले उत्पादन-साधनों के वास्तविक सामाजिक त्यागों के अधिक अनुरूप बनाना; और (२) पण्यावर्त कर (जो कि उत्पादक माल के दामों को प्रभावित नहीं करता है, परंतु उपभोक्ता माल के दामों को प्रभावित नहीं करता) के रूप में उत्पादक माल और उपभोक्ता माल के दामों के वर्त्तमान मूलभूत अंतर को मिटाना या, कम-से-कम, घटाना। सोवियत आर्थिक सिद्धांतवादी सोवियत दाम-निर्धारण के इन दोनों पहलुओं पर सक्रिय रूप से विचार कर रहे हैं, यद्यपि सिद्धांतात्मक प्रतिबंध स्पष्टता और संभवतः, इन विवेचनों के सारांश पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। दाम-निर्धारण में किसी प्रकार का भी संशोधन करने के लिए अर्थतंत्र के सभी स्वरूपों की सुग्राहकता के कारण दाम-निर्धारण-प्रक्रिया में सार-परिवर्तन एक साथ न होकर संभवतः धीरे-धीरे होगा। ये परिवर्तन संभवतः दाम-निर्धारण में 'युक्तिसंगतता' के किसी अमूर्त्त विचार की बजाय सोवियत आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में अर्थतंत्र के साधनों में सुधार करने के लिए अधिक उपयुक्त होंगे।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. राज्य-बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिए।

२. उद्यमों के 'लाभों' से राज्य-बैंक का क्या संबंध है? वास्तव में ये लाभ क्या हैं?

३. निवेश बैंक के कार्य राज्य बैंक के कार्यों से किस प्रकार भिन्न हैं?

४. क्या सोवियत नागरिक के लिए हमारी तरह 'धन बचाना' संभव है?

५. सोवियत सरकार ने नागरिकों और संगठनों द्वारा बचाए गए रूबल के मूल्य में समय-समय पर कमी या किसी और प्रकार का परिवर्तन क्यों किया? यह कमी या परिवर्तन कैसे किया गया?

६. क्या सोवियत संघ ने स्थिर विदेशी व्यापार-नीतियाँ अपनाई हैं?

७. खुदरा विपणन-पद्धति के संबंध में सरकार के अंतिम उद्देश्य क्या रहे हैं?

८. स्पष्ट कीजिए कि रूस में तीन प्रकार के खुदरा भंडार या बाजार क्यों हैं?

९. 'स्थानांतरण' दाम और खुदरा दाम स्थापित करने में जो अंतर है, उसे स्पष्ट कीजिए।

१०. यह कहना कठिन क्यों है कि सोवियत दाम-निर्धारण-प्रक्रिया यथोचित है या नहीं ?

११. 'पण्यावर्त कर' का सोवियत दाम-निर्धारण से क्या संबंध है ?

१२. क्या सोवियत दामों द्वारा उत्पादन की सामाजिक लागत को पूर्णतः प्रकट करने या न करने का कोई महत्त्व है ?

●

अध्याय २७

आर्थिक आयोजना तथा सरकारी बजट

आर्थिक आयोजना

जब रूस की सरकार की बागडोर बोलशेविक दल के हाथ में आई, तो उसके सामने यह समस्या थी कि आर्थिक अव्यवस्था को रहने दिया जाए या योजना बनाकर स्थिति में सुधार किया जाए। भूतपूर्व सरकारी नियंत्रण समाप्त कर दिए गए और जिन व्यक्तियों ने उत्पादन का निर्देशन अबाध-बाजारों की लागतों और कीमतों के आधार पर किया था, उन्हें देशनिकाला दे दिया गया अथवा समाप्त कर दिया गया। संक्षेप में नई सरकार के पास राजनीतिक और आर्थिक निर्णय लेने के अधिकार थे। आर्थिक क्षेत्र में इस अधिकार को इस्तेमाल करने की आवश्यकता राजनीतिक क्षेत्र से कम न थी।

यद्यपि रूस की नई सरकार ने अव्यवस्था की अपेक्षा योजना को प्राथमिकता दी, तथापि आर्थिक आयोजना की शुरूआत अक्षम, अनियमित और अव्यवस्थित थी। नेताओं के संमुख राष्ट्र के आर्थिक जीवन के पूर्ण पुनर्निर्माण की समस्या थी, जो कि प्रथम विश्वयुद्ध, क्रांति और 'युद्ध-साम्यवाद' की उत्तरवर्ती समयावधि में अस्त-व्यस्त हो चुका था। १९२० ई० में जब कि आयोजना अभिकरण अभी अंतिम रूप से स्थापित नहीं हो पाए थे, एक 'सरकारी विद्युत्करण योजना' (गोयलरो) तैयार की गई। इस योजना के अंतर्गत आगामी १०-१५ वर्ष के लिए एक सामान्य औद्योगिक पुनर्गठन कार्यक्रम बनाया गया, जो कि विद्युत शक्ति के लगभग ३० बड़े पैमाने के साधनों के विकास पर आधारित था।

१९२१ ई० में सरकार ने प्रथम सरकारी आयोजना आयोग (तब से कई बार इसका नाम बदला गया और पुनर्गठन किया गया) की स्थापना की। इसके प्रारंभिक प्रयत्न केवल नई सरकार के अन्य आर्थिक अभिकरणों द्वारा बनाए गए, उत्पादन अनुसूचियों तथा आयोजनाओं पर आलोचनात्मक विचार करने और परामर्श की दिशा

में किए गए। आयोग के प्रयत्नों ने धीरे-धीरे अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप सन् १९२५--२६ ई० के वित्तीय वर्ष के लिए एक 'अखिल संघीय योजना' बनाई गई। इस योजना में सोवियत संघ के प्रत्येक बड़े उद्योग के लिए 'नियंत्रण आँकड़े' या उत्पादन-कार्यक्रम शामिल थे। अनेक विभिन्न आर्थिक इकाइयों की विशिष्ट योजनाओं का व्यापक समन्वय करने का प्रथम प्रयास आयोजकों के अनुभव व दक्षता की कमी के कारण ही नहीं, बल्कि १९२१ ई० में सरकार द्वारा अपनाई गई 'नई आर्थिक नीति' के कारण भी काफी सीमित हो गया। यह नीति अस्थायी रूप से निजी व्यापार के पक्ष में थी और इसलिए इसने ऐसे विकासों को प्रोत्साहन दिया, जो कि व्यापक आयोजना के बिल्कुल विपरीत थे। परंतु, प्रथम बार प्रत्येक बुनियादी उद्योग के पास सरकार के केंद्रीय अभिकरण द्वारा अनुमोदित कार्यक्रम था, जो कि अन्य उद्योगों के कार्यक्रमों से लगभग यथार्थतः समन्वित था।

इन प्रयत्नों ने इसी प्रकार की व्यापक, प्रामाणिक और अधिक लंबी समयावधि की विस्तृत योजनाओं की परमावश्यकता प्रकट की। अनेक आयोजित विशिष्ट प्रायोजनाएँ एक या दो वर्ष में भी कार्यान्वित नहीं की जा सकीं। तदनुसार सरकारी आयोजना आयोग ने अपनी अधीनस्थ तथा सहकारी सुविधाओं के सहयोग से एक आयोजना बनाई, जो कि 'प्रथम पंचवर्षीय आयोजना' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैसा कि आयोग ने निर्धारित किया था—इस आयोजना का उद्देश्य १ अक्तूबर, सन् १९२८ से ३० सितंबर, १९३३ ई० तक राष्ट्र की आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखना था। परंतु, चार ही वर्ष में पंचवर्षीय आयोजना' के नारे के साथ यह योजना ३१ दिसंबर, १९३२ ई० को संपन्न कर दी गई। इसी बीच दूसरी पंचवर्षीय योजना बनायी गई जो कि १ जनवरी, सन् १९३३ से ३१ दिसंबर, १९३७ ई० तक लागू रही। तीसरी पंचवर्षीय योजना की समयावधि १ जनवरी, सन् १९३८ से ३१ दिसंबर, १९४२ ई० तक थी। इसके समाप्त होने से पहले ही युद्ध प्रारंभ हो गया और अर्थतंत्र को युद्ध आधार के अनुरूप बदलना पड़ा। युद्ध के दौरान आर्थिक आयोजना की सामान्य प्रक्रियाएँ स्पष्टतः निलंबित कर दी गईं, यद्यपि निसंदेह अधिकांश आयोजना तकनीकों तथा अभिकरणों को काम में लाया जाता रहा। १८ मार्च, १९४६ ई० को सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत ने सन् १९४६-१९५० ई० के सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के राष्ट्रीय अर्थतंत्र के पुनः स्थापन और विकास के लिए पंचवर्षीय आयोजना संबंधी 'कानून' बनाया। यह चतुर्थ पंचवर्यीय आयोजना के नाम से जाना गया और यह योजना सरकारी तौर पर दिसंबर, १९५० ई० में पूरी हो गई। पंचम् पंचवर्षीय योजना की समयावधि सन् १९५१-१९५५ थी।

छठी पंचवर्षीय योजना (सन् १९५६ से १९६० ई०) बनाने में कठिनाई रही; क्योंकि परस्पर अर्थ-सहायता परिषद् को सोवियत संघ के उद्योग और आयोजना के साथ पूर्व जर्मनो, पौलैंड, हंगरी और चेकोस्लावाकिया के उद्योग तथा अर्थतंत्र संबंधी आयोजना का समाकलन करने के अपने सन् १९५४-५६ ई० के प्रयत्नों मेंगंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसके बाद एक वर्ष से भी कम की समयावधि में इसको दल काँग्रेस की स्वीकृति मिल गई। इसमें पर्याप्त संशोधन करना पड़ा और सितंबर १९५७ ई० में यह घोषणा की गई कि उसका परित्याग किया जा रहा है और इसके स्थान पर एक नई सातवर्षीय योजना बनाई जा रही है। स्पष्टतः छठी योजना में मुख्य कमी यह थी कि आयोजित पूँजी निवेश अधिक विस्तृत तथा असाध्य पाया गया, यद्यपि इसकी असफलता का कारण यह बताया गया कि औद्योगिक विकास के लिए नई-नई खोजों द्वारा प्राप्त विस्तृत क्षमताओं ने इसे अप्रचलित बना दिया था। सातवीं योजना, जिसे साधारणतः 'सातवर्षीय आयोजना' की संज्ञा दी गई, जनवरी १९५९ ई० में दल काँग्रेस द्वारा स्वीकार की गई। अब यह योजना सन् १९५९ से १९६५ ई०तक की समयावधि के लिए लागू है। इसके मूल तत्त्वों पर विचार बाद के अध्यायों में किया जाएगा। इस आयोजना की समयावधि सात वर्ष होने के बावजूद, यहाँ अर्थतंत्र आयोजना की चर्चा के संबंध में इसके लिए भी 'पंचवर्षीय योजना' पद का ही प्रयोग किया जाएगा। सोवियत आर्थिक विकास के लिए १५ से २० वर्ष की एक योजना का मसविदा तैयार किए जाने की सूचना मिली है। इसमें विशेष रूप से विद्युत शक्ति, स्वाचालित यंत्रीकरण, रासायनिक उद्योगों तथा साधन विनिधान की मूल समस्याओं के बारे में विचार किया गया है।[1]

आयोजना के सामान्य लक्षण

सोवियत संघ की संपूर्ण आर्थिक आयोजना सभी प्राकृतिक संसाधनों और बड़े पैमाने के औद्योगिक उपकरणों के सामाजिक या सरकारी स्वामित्व पर आधारित है। ऐसे मामलों में जहाँ भूमि का स्वामित्व 'स्थायी रूप से' सहकारी फार्मों को स्थानांतरित कर दिया गया है या जहाँ सहकारी श्रमिक संगठन उत्पादक सहकारी फार्म के 'मालिक' हैं, वहाँ भी उत्पादक माल का स्वामित्व मूल रूप से सर्वव्यापी सरकार में निहित है। संक्षेप में, इसका यह अर्थ है कि आयोजना और मालिक अभिकरण एक ही हैं, या आर्थिक यथार्थ रूप में ये एक ही संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न निकाय की विस्तृत शाखाएँ हैं। यह व्यवस्था, जो कि प्रभावशाली आर्थिक आयोजना की सर्व-

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, १७ फरवरी, १९६० ई०।

प्रथम आवश्यकता है, सोवियत संघ में निश्चित रूप से व्याप्त है।[1]

सोवियत अर्थतंत्र में आर्थिक आयोजना का अभिप्राय न तो विभिन्न आर्थिक इकाइयों के निर्णयों के संपूर्ण परिणामों को स्वीकार करके उन्हें 'योजना' का रूप देना है और न ही वर्त्तमान प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्य के लिए योजना का ब्यौरा तैयार करना है। पूँजीवादी अर्थतंत्र में आर्थिक योजनाओं के निर्माताओं द्वारा आयोजना का पहला विचार प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है। पूँजीवादी आयोजक कभी-कभी यह तर्क देते हैं कि एक आर्थिक ब्यूरो को यह अनुमान लगाना चाहिए कि अर्थतंत्र में वैयक्तिक और प्रतियोगी उद्यमों के निर्णयों का कुल परिणाम क्या होगा, या इन परिणामों के स्वरूप कैसे होने चाहिए, यदि प्रत्येक उद्यम अपने-अपने लाभ की दृष्टि से काम करे। यह एक ऐसी योजना बन जाती है, जिससे भावी परिणामों का अनुमान लगाया जा सकता है या व्यक्तिगत उद्यमों को व्यापक निष्कर्षों से अवगत करा कर अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। स्पष्टतः यह केवल आर्थिक पूर्वानुमान है, न कि वास्तविक आर्थिक योजना।

सोवियत आयोजना में भी वर्त्तमान प्रभावी प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्य के लिए आर्थिक योजनाएँ तैयार नहीं की जातीं, बल्कि इसका अभिप्राय व्यापक लक्ष्य (जो कि केवल प्रक्षेपित प्रवृत्तियाँ नहीं हैं) चुनना है और इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न आर्थिक इकाइयों को विशिष्ट कार्य सौंपना है। यद्यपि निःसंदेह यह सच है कि व्यापक लक्ष्य साधनों की मात्रा और गुणवत्ता, उपलब्ध मशीनरी की किस्म और मात्रा, उत्पादन के तकनीक के स्तर और श्रमिकों की संख्या तथा क्षमता के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिए, तो भी, सोवियत आयोजना ने समय-समय पर ऐसे लक्ष्यों को अपनाया है, जो कि किसी भी प्रकार से उत्पादन की पिछली प्रवृत्तियों के यथेच्छ प्रक्षेपों पर आधारित नहीं हैं। इस प्रकार अबाध बाजार का स्थान आयोजना ले लेती है, जहाँ दामों के चढ़ाव-उतार में अपेक्षतया स्वतंत्रता रहती है, जैसा कि पूँजीवादी अर्थतंत्र में होता है।

---

[1] उद्योग के सामाजिक स्वामित्व और आर्थिक आयोजना में इस संबंध के स्वरूप का सोवियत संघ के नेताओं को पूर्ण ज्ञान है। दल काँग्रेस की १६३६ ई० में हुई बैठक में मोलोतोव ने इस संबंध में निम्नलिखित टिप्पणी की "पूँजीवादी, जिसमें फासिस्ट पूँजीवाद शामिल है, हमारे आयोजित अर्थतंत्र के स्थान पर और कोई समान महत्त्व का तंत्र प्रस्तुत करने में असमर्थ है। पूँजीवाद निजी स्वामित्व के रूप में, जिसमे पूँजीबाद का फासिस्ट रूप भी सम्मिलित है, मूल रूप से आर्थिक आयोजना के अनुरूप नहीं हैं। इस प्रकार ऐसे समय में जबकि राष्ट्रीय अर्थतंत्र की योजना पहले ही अपनी अद्भुत शक्ति दिखा चुकी है, पूँजीवाद निःसंदेह एक ऐतिहासिक यादगार बन गया है जिसकी गतिविधि रुक गई है और जो हमारे समय में प्रतिक्रियात्मक विषय बन गया हैं।" मास्को न्यूज, २१ मार्च, १६३६ ई०।

हालांकि 'आर्थिक आयोजना' पद आयोजनाओं के सीमित क्षेत्र को प्रकट करता है, परंतु सोवियत अर्थतंत्र के संबंध में यह सही नहीं हो सकता। उत्पादन कार्यक्रमों, पूंजी निवेश आयोजनाओं, देशी और विदेशी व्यापार, वित्तीय आयोजनाओं, कर आयोजनाओं तथा अन्य विशुद्ध आर्थिक आयोजनाओं के अतिरिक्त पंचवर्षीय आयोजनाओं में जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन कार्यक्रम और राष्ट्रीय जीवन के मुख्यतः गैर-आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं के विभिन्न कार्यक्रम सम्मिलित होते हैं। इसलिए सोवियत संघ में केवल 'आर्थिक आयोजना' पद की अपेक्षा 'सामाजिक आर्थिक आयोजना' पद का प्रयोग किया जाता है। चूंकि सभी सांस्कृतिक शिक्षा, स्वास्थ्य तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम चलाने के लिए आर्थिक सामग्री की आवश्यकता होती है और चूंकि ये कार्यक्रम आंशिक रूप से श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता निर्धारित करते हैं, इसलिए इनका आर्थिक आयोजना के दोहरा संबंध है। इनकी अपेक्षा करने से राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की अवहेलना होगी और इन क्षेत्रों के अनायोजित विकास से अर्थतंत्र के आयोजित भागों में असंतुलन पैदा हो सकता है। निःसंदेह यह स्पष्ट है कि रक्षा-सुविधाएँ, अंतरिक्ष-अनुसंधान प्रायोजनाएँ और वैज्ञानिक कार्य सब उत्पादनशील साधनों पर निर्भर रहते हैं और इसलिए ये आर्थिक आयोजना के क्षेत्र में आते हैं।

सोवियत संघ की आर्थिक आयोजना के स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार संक्षिप्त रूप से निरूपित किया गया है : "संक्षेप में, सोवियत अर्थतंत्र की आयोजना एक विशाल और व्यापक रूपरेखा है, जो कि सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ में सभी व्यक्तियों और संस्थानों की आर्थिक गतिविधियों एवं सोवियत संघ के अन्य देशों के साथ आर्थिक संबंधों की व्यवस्था करने का प्रयास करती है। जहाँ तक योजना वास्तव में घटनाओं के विकास का नियंत्रण करती है, सोवियत अर्थतंत्र के नाना प्रकार के सभी कार्यक्रम इस प्रकार समन्वित हैं, मानो वे एक अविश्वसनीय विशाल उद्यम के अंग हैं, जिनका निर्देशन मास्को में स्थित केंद्रीय मुख्यालय से किया जाता है।"[1]

सरकारी आयोजना समिति

सन् १९२१ से १९५५ ई० तक सरकारी आयोजना आयोग का कई बार पुनर्गठन हुआ तथा उसका पुनर्नामिकरण किया गया, परंतु वह हमेशा राष्ट्र के लिए एकमात्र केंद्रीकृत आर्थिक आयोजना निकाय रहा। सन् १९५५ ई० में इसे दो अभि-

---

[1] हैरी स्वबार्टज, रशियाज सोवियत इकोनॉमी, प्रेंटिस-हाल, इंगलेवुड क्लिफ्स, एन० जे०, १९५८ ई०, पृष्ठ १३९।

करणों में विभक्त किया गया--एक अभिकरण 'लंबी अवधि की आर्थिक आयोजना' के लिए था और दूसरा 'वर्त्तमान आर्थिक आयोजना' के लिए। १९५७ ई० में उद्योग के प्रशासन के विकेंद्रीकरण के समय इन अभिकरणों को पुनः मिलाकर 'सरकारी आयोजना समिति' या गासप्लान बना दी गई, जिसे सोवियत संघ की आर्थिक आयोजना के सभी पहलुओं के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। कार्य की दृष्टि से गासप्लान को विभागों में बाँटा गया। इसमें कर्मचारियों की बहुत अधिक संख्या है। गासप्लान ने मास्को के पुराने मंत्रालयों के कुछ आयोजना कर्मचारियों और कार्यों को अपने अधीन ले लिया है। यह केंद्रीय सांख्यिकीय प्रशासन के साथ घनिष्ठ संबंध बनाए रखता है तथा आयोजना के सिद्धांतों और कार्य-प्रणाली में वर्त्तमान एवं भावी कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए 'अखिल संघीय आयोजना अकादमी' चलाता है। 'आयोजित अर्थतंत्र' मासिक पत्रिका में, जिसे यह प्रकाशित करता है, आयोजना-समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता है। गासप्लान विज्ञान-अकादमी तथा उसमें सम्मिलित अनेक वैज्ञानिक संस्थानों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित करती है और उनकी सुविधाएँ प्राप्त करती है। विज्ञान-अकादमी में सम्मिलित वैज्ञानिक संस्थानों में 'अर्थतंत्र संस्थान' भी शामिल है, जिसके सभी विख्यात अर्थशास्त्री सदस्य हैं। गासप्लान के अध्यक्ष का पद देश में सर्वोच्च आर्थिक प्रशासन-पद माना जाता है।

सरकार तथा उद्योग के साथ गासप्लान का एकीकरण आरेख ४ (पृष्ठ ४८७) में दर्शाया गया है। यह सोवियत समाजवाद गणराज्य संघ मंत्रिपरिषद् से संबद्ध है और उसके अधीन है। इसके अंतर्गत एक विशाल संगठन है, जिसने प्रमुख अभिकरण गणराज्यों की १५ गासप्लानें, प्रादेशिक आर्थिक परिषदों के आयोजना विभाग और औद्योगिक उद्यमों, सरकारी तथा सामूहिक फार्मों, उत्पादक सहकारी समितियों, भडारों इत्यादि के आयोजना विभाग हैं। यह विज्ञान तथा तकनीकी समिति के साथ-साथ काम करती है। यह विज्ञान तथा तकनीकी समिति की मत्रिपरिषद् से संबद्ध है और यह नई मशीनें, नए तकनीक तथा स्वचालित यंत्र लगाने के संबंध में सिफारिशें करने के लिए जिम्मेवार है। यह प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के अंतिम विस्तृत विषयों, वार्षिक व्यवहृत योजनाओं, जिनके आधार पर पंचवर्षीय योजनाएँ चलाई जाती हैं तथा इससे अधिक लंबी अवधि की किसी भी योजना के लिए जिम्मेवार है। उद्योग के विकेंद्रीकृत प्रशासन के अंतर्गत गासप्लान और उसके अधीनस्थ अभिकरणों की निर्धारित लक्ष्यों से अधिक या कम पूर्ति की जाँच करने की, जिम्मेवारी बढ़ गई है। संक्षेप में, सोवियत संघ के उत्पादनशील साधनों का प्रयोग निर्धारित करने की मूल जिम्मेवारी इसी की है, जिससे कि 'हमारे सारे समाज की आवश्यक-

ताओं की अधिकतम पूर्ति के लिए न्यूनतम खर्च के साथ उच्चतम संभव दर पर उत्पादन का उच्चतम संकट-मुक्त विस्तार सुनिश्चित हो सके।'' इस संवंध में सिद्धांतों का ध्यान रखा जाना चाहिए कि 'जहाँ तक श्रमिकों और उत्पादन के साधनों का संवंध है, उत्पादन का सामान्य स्तर वर्त्तमान संभावित उत्पादन-स्तर से अधिक नहीं होना चाहिए' और 'विभिन्न शाखाओं में विभक्त योजना को वस्तुनिष्ठ आर्थिक सिद्धांतों के अनुसार स्थापित आवश्यकताओं की निश्चित मात्रा में पूर्ति करनी चाहिए।'

आयोजना प्रक्रिया

सभी आयोजन प्रक्रियाएँ एक विस्तृत और व्यापक सांख्यिकीय आधार पर चलती हैं। चूँकि दूर फैले आयोजना निकाय या तो सरकार के या संचालन की आर्थिक इकाइयों के अंश हैं, इसलिए वे सांख्यिकीय दत्त सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, जो कि सभी स्तरों पर कार्यों को प्रतिबिंवित करती है। जहाँ तक आयोजना अभिकरणों का संवंध है, प्रत्येक आर्थिक इकाई सीमित संरक्षित क्षेत्र में काम करती है। केंद्रीय सांख्यिकीय प्रशासन द्वारा एकत्र की गई भारी सांख्यिकीय दत्त-सामग्री उपलब्ध है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, राज्य-वैंक की पंजियों में सोवियत संघ की प्रत्येक आर्थिक इकाई के कार्यों की, सामग्री तथा रूवल के रूप में, सतत् लेखा-परीक्षा-संबंधी प्रतिवेदन उपलब्ध होता है और ये पंजियाँ आयोजना अभिकरणों के लिए उपलब्ध बनी रहती हैं।

जहाँ तक पंचवर्षीय योजनाओं का संबंध है, अभी तक औद्योगिक प्रवंध के विकेंद्रीकृत स्वरूप के अंतर्गत कोई भी योजना नहीं बनाई गई है। सातवर्षीय योजना, जो कि अब लागू है, उस समय स्थापित की गई थी, जबकि अर्थतंत्र में विकेंद्रीकरण को समाविष्ट किया जा रहा था। परंतु, आयोजना तंत्र के वर्त्तमान कार्यों से यह अनुमान लगाया जाता है कि अगली पंचवर्षीय योजना इस प्रकार बनाई जाएगी।

१. प्रेसीडियम और साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति, अर्थतंत्र के प्रत्येक भाग की तात्कालीक स्थिति के आधार पर, आगामी पाँच वर्षों के लिए सामान्य लक्ष्य स्थापित करेगी—उत्पादक एवं उपभोक्ता माल के उत्पादन के वीच उत्पादनशील साधनों का अनुमानित वितरण, पूँजी निवेश का अनुमानित स्तर, कुल राष्ट्रीय उत्पादन का विकास, मूल मजूरी-दरों और रहन-सहन के स्तरों में सुधार के लक्ष्य, इत्यादि। यदि दोवारा ऐसा होने तक १५ या २० वर्ष की कोई योजना स्थापित हो जाती है, तो उसमें तथा पंचवर्षीय योजना वनाने की निम्नलिखित कार्यवाही में तदनुसार संशोधन किया जाएगा।

२. न्यूनतम स्तर से शुरू करके प्रत्येक उद्यम, सरकारी या सामूहिक फार्म, उत्पादक सहकारी समिति, भंडार इत्यादि को आदेश दिया जाएगा कि वह अपने आयोजना विभाग की मार्फत अपने कार्य और विकास के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाए और उसे चलाने के लिए अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकताओं के प्राक्कलन तैयार करे।

३. प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् द्वारा आयोजना विभाग की मार्फत अपने क्षेत्र के सभी उद्यमों के लिए इन योजनाओं का समंजन किया जाएगा और उन्हें अनुकूलित किया जाएगा तथा उनका अंतिस रूप से पूर्णयोग किया जाएगा।

४. प्रत्येक गणराज्य में गणराज्य की गासप्लान द्वारा अनेक प्रादेशिक अर्थपरिषदों की योजनाओं को मिलाकर उस गणराज्य के लिए एक पूर्णयोग की अर्थ-आयोजना बनाई जाएगी।

५. गणराज्य की योजनाएँ सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के गासप्लान द्वारा पूर्णयोग किया जाएगा। इसकी दल द्वारा निर्धारित अस्थायी लक्ष्यों के साथ तुलना करके और एक या दोनों में समंजन द्वारा समाधान किया जाएगा।

६. परिणामी समस्त पंचवर्षीय योजना के मुख्य सिद्धांत और लक्ष्य तथा उसके मुख्य उप-विभाग दल कांग्रेस और सुप्रीम सोवियत द्वारा स्वीकार किए जाएंगे।

७. गासप्लान संपूर्ण योजना में से प्रत्येक गणराज्य के लिए आयोजना बनाएगा। प्रत्येक गणराज्य का गासप्लान उसमें से गणराज्य की प्रत्येक प्रादेशिक अर्थपरिषद् के लिए योजना बनाएगा, जिसका आयोजना विभाग उसमें से आगे उद्यमों के लिए योजनाएँ बनाएगा इत्यादि।

इन सब 'आयोजनाओं' में फिर अर्थतंत्र की पंचवर्षीय योजना सम्मिलित हो जाएगी। वर्त्तमान आयोजना की तरह सातवर्षीय योजना बनाने, या पंचवर्षीय योजना बनाने जिसकी भविष्य में सभवतः अपेक्षा की जाती है, और फिर उस योजना का अनुवर्त्तन करने में संतुलन एवं लचीलेपन की दो प्रमुख समस्याएँ शामिल हैं। जब शुरू में योजना बनाई जाती है, तो इस सारी योजना के संबंधित भागों में संतुलन होना चाहिए और योजना इस तरह बनाई जानी चाहिए कि उसकी समयावधि के दौरान यदि प्रत्येक भाग योजना के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करता है, तो सभी भागों में संतुलन बना रहना चाहिए। उदाहरण के लिए पंचवर्षीय योजना की प्रारंभिक अवस्था में लौह धातुक के खनन के संबंध में योजना लोहे और इस्पात की उस राशि के अनुसार होनी चाहिए, जिसकी इन्हें इस्तेमाल करने वाली इकाइयों को योजना की प्रारंभिक अवस्था में अपने कार्यक्रम की पूर्ति के लिए आवश्यकता हो। परंतु, यह आयोजित गतिमान संतुलन होना चाहिए अर्थात् योजना की शेष समयावधि में विस्तृत

लोक धातुक खनन-संबंधी आयोजना उस समयावधि में उन पदार्थों के विस्तृत उत्पादन के अनुरूप होनी चाहिए, जिनके लिए लोहे और इस्पात की आवश्यकता होती है।

आयोजित गतिमान संतुलनों की जटिलताओं को सोवियत अर्थतंत्र में व्याप्त अंतःउद्योग अंतर्क्षेत्र और अतःउद्यम संभरण संबंधों के स्वरूप और आकार को देखकर समझा जा सकता है। पाँच वर्ष की समयावधि के दौरान इस प्रकार के आयोजित गतिमान संतुलन बनाते समय कुछ ऐसे उद्यमों, उद्योगों या क्षेत्रों के लिए, जो निश्चित रूप से और शीघ्रता से आयोजित उत्पादन-लक्ष्यों को प्राप्त न कर सकें, अग्रिम छूट देना उचित होगा। (निःसंदेह आंशिक रूप से इस समस्या का समाधान उन क्षेत्रों द्वारा हो जाता है जो कि लक्ष्यों से अधिक उत्पादन करते हैं; क्योंकि वे उन क्षेत्रों की कमी को पूरा कर देते हैं जो कि निर्धारित लक्ष्यों से कम उत्पादन करते हैं) एक उपाय के रूप में इस समस्या का ख्याल न्यूनतम और अधिकतम लक्ष्य निर्धारित करके किया जाता है। भिन्न-भिन्न मामलों में न्यूनतम तथा अधिकतम लक्ष्यों में पर्याप्त अंतर होता है जिससे किसी लक्ष्य की प्राप्ति से उसकी पुनरावृत्ति द्वारा ऐसी गंभीर अड़चनें पैदा नहीं होंगी, जिनसे औद्योगिक संबंधों में अत्यधिक अव्यवस्था हो सके। न्यूनतम और अधिकतम लक्ष्यों के अंतर के आकार को योजना का 'सुप्रबंध' या योजना का एक भाग कह सकते हैं—जितना अधिक प्रसार होगा, उतना ही कम सुप्रबंध होगा। परंतु, किसी योजना या उसके भाग का जितना कम सुप्रबंध होगा, आर्थिक आयोजना के लाभ उतने ही कम प्राप्त होंगे। यह सही है कि जैसे-जैसे सोवियत अर्थतंत्र का विकास होता जाता है और उसके आंतरिक परस्पर संबंध अधिक व्यापक रूप धारण करते जाते हैं, वैसे-वैसे आयोजना में सुप्रबंध का ढंग सरल होता जाता है। सोवियत नेताओं ने यह सूचित किया है कि पिछली योजनाओं की अपेक्षा वर्त्तमान सातवर्षीय योजना में ऐसा हुआ।[१]

लचीलेपन की समस्या की माँग है कि आयोजना के किसी भाग या किन्हीं भागों में लक्ष्यों की प्राप्ति न हो, तो आयोजना की किसी भी अवस्था में आयोजना के एक या अनेक भागों में पुनः समंजन करने की योग्यता होनी चाहिए। निर्दिष्ट उद्योग के लिए आयोजना निर्धारित करते समय दक्षता की अपर्याप्त मात्रा ग्रहण करने, उपकरणों के अप्रत्याशित टूट-फूट हो जाने, आग या किसी अन्य कारण से उत्पादन रुकने, बाढ़ या सूखा-जैसी किसी प्राकृतिक विपत्ति या मौसम में असामयिक

---

[१] इस संबध में एन० एस० ख़ुश्चेव का वक्तव्य देखिए, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के १९५९–१९६५ ई० के नियंत्रण आँकड़े, बीसवीं दल काँग्रेस, ओटावा, में दिया गया प्रतिवेदन, प्रेस आफिस, कनाडा में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ दूतावास, १९५९ ई०।

परिवर्तन से ऐसा हो सकता है। एक प्रकार से यह संतुलन की समस्या का एक भाग है, जिस पर ऊपर विचार किया गया है। लचीलापन सुनिश्चित करने के लिए मुख्य उपाय वार्षिक आयोजना है। यह तथ्य कि यह 'व्यवहृत' योजना कहलाती है, पंचवर्षीय योजना के मुकाबले में इसके लचीले गुण को सूचित करता है। चालू पाँच या सातवर्षीय योजना अविरत एकवर्षीय योजनाओं से बनती है। प्रत्येक एकवर्षीय योजना वहाँ से शुरू की जाती है, जहाँ पिछले वर्ष अर्थतंत्र या उसका प्रत्येक भाग पहुँच गया हो।

यदि हम वार्षिक आयोजना के एक पहलू अर्थात् उत्पादन[1] के लिए सामग्री की आयोजना और वितरण पर विचार करें, तो वार्षिक आयोजनाओं द्वारा संतुलन और लचीलेपन का सारा मामला अच्छी तरह समझा जा सकता है। गासप्लान के अंतर्गत प्रत्येक कैलेंडर वर्ष के लिए उद्योग में इस्तेमाल होने वाले ऐसे हजारों पदार्थों की वार्षिक संभरण आयोजना बनाई जाती है, जो कि अत्यंत दुष्प्राप्य पदार्थ माने जाते हैं और जो कि एक से अधिक गणराज्य में उत्पादित और इस्तेमाल किए जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से इस प्रकार के उत्पादनों को 'निधिबद्ध' उत्पादन कहा जाता है। प्रत्येक वर्ष, प्रारंभिक रूप से, गासप्लान पिछले तथा चालू वर्ष का सांख्यिकीय विश्लेषण करता है, जिसके बाद यह 'निधिबद्ध' उत्पादन की आयोजित उपलब्धता के बारे में गणराज्य गासप्लानों द्वारा प्रादेशिक अर्थपरिषदों और उद्यमों के आयोजना विभागों को कुछ अस्थायी सुझाव भेजता है। फिर प्रत्येक उद्यम सातवर्षीय योजना में अपनी वर्त्तमान स्थिति के आधार पर आगामी वर्ष के लिए अपने उत्पादित लक्ष्यों का हिसाब लगाता है। 'निवेश प्रसामान्यकों' अर्थात् गुणांक को इस्तेमाल करके, जो यह बताएँ कि लक्ष्यों के प्रत्येक पदार्थ की एक इकाई का उत्पादन करने के लिए प्रत्येक संघटक सामग्री की कितनी मात्रा चाहिए, उद्यम आगामी वर्ष के लिए संबंधित सामग्री की आवश्यकता का हिसाब लगा लेता है। दत्त सामग्री के ये दो जुट उद्यम की प्रादेशिक अर्थपरिषद् को भेजे जाते हैं, जहाँ उनका अध्ययन किया जाता है और उनमें संशोधन किया जाता है। परिषद् अपने सभी उद्यमों की दत्त सामग्री को मिला देती है और सारी सामग्री को अपने गणराज्य के गासप्लान को भेज देती है। यहाँ गणराज्य की अनेक परिषदों की रिपोर्टों का संतुलन होता है। गणराज्य का

---

[1] यह पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय के प्रो० हरबर्ट एस० लेविन द्वारा 'सोवियत उद्योग में संभरण को केंद्रीयकृत आयोजना' के अत्युत्तम संक्षिप्त विश्लेषण पर आधारित है, जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस की संयुक्त अर्थ समिति के प्रतिवेदन 'कम्पेरिजन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स एंड सोवियत इकोनॉमीज' के भाग १ में प्रकाशित हुआ है, वाशिंगटन, सरकारी मुद्रणालय, १९५९ ई०।

गासप्लान यह निर्धारित करता है कि उस गणराज्य में निर्दिष्ट पदार्थ का उपलब्ध संभरण इस गणराज्य की प्रादेशिक अर्थपरिषदों के उद्यमों की आवश्यकता से अधिक होगा या कम।

प्रादेशिक अर्थपरिषदों से प्राप्त दत्त सामग्री और गासप्लान का प्रारंभिक प्राक्कलनों के आधार पर, गणराज्य गासप्लान सामग्री-संबंधी अपनी आवश्यकताओं और तैयार किए जाने वाले माल का विवरण गासप्लान को भेजता है। इस कार्य को प्रत्येक वर्ष १ अगस्त तक पूरा किए जाने की अपेक्षा की जाती है। १ अगस्त से १५ सितंबर के दौरान गासप्लान राष्ट्रीय आधार पर प्रत्येक 'निधिबद्ध' सामग्री के स्रोतों और आवश्यकताओं में संतुलन तैयार करता है। साधनों में वर्त्तमान उत्पादन, आयोजित आयात और आरक्षित सामग्री, जो कि स्पष्टतः पिछले वर्ष का बकाया होगी, शामिल हैं। आवश्यकताओं में उत्पादन और निर्माण की अंतर्गामी आवश्यकताएँ, आयोजित निर्यात और आगामी वर्ष के लिए आयोजित आरक्षणों में डाली जाने वाली अतिरिक्त सामग्री शामिल है। मान लिया कि प्रत्येक 'निधिबद्ध' सामग्री के संबंध में संभावी उत्पादन, आयात और बकाया आरक्षण गासप्लान स्तर की आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं, परंतु गासप्लान विभिन्न गणराज्यों को प्रत्येक सामग्री खरीदने के सरकारी अधिकार (आगामी वर्ष के लिए) प्रदान करता है। गणराज्य का गासप्लान इन्हें गणराज्य की प्रादेशिक परिषदों में वितरित करता है और प्रादेशिक अर्थपरिषदें इन्हें आगे उद्यमों में वितरित करती हैं। इनके १ जनवरी से एक या दो मास पूर्व पूरा किए जाने की अपेक्षा की जाती है। इन अधिकारों के आधार पर संभरण और क्रय-उद्यमों द्वारा या प्रादेशिक अर्थपरिषदों द्वारा निर्दिष्ट सामग्री की निर्दिष्ट मात्रा के प्रदान के विशिष्ट करारों की व्यवस्था की जाती है और उन पर हस्ताक्षर किए जाते हैं।

प्रत्येम 'निधिबद्ध' सामग्री के संभरण और आवश्यकताओं के बीच गासप्लान द्वारा किए गए संतुलन के प्रसंग में अधिकांशतः यह होता है कि संतुलन के पहले प्रयास के वाद सामग्री के आयोजित संभरण और माँग में राष्ट्रीय असंतुलन रहता है—सामान्यतः संभरण की अपेक्षा माँग अधिक होती है। अंतिम कुल राष्ट्रीय संतुलन तैयार करने की समस्या अत्यधिक कठिन है और श्रम साध्य है; क्योंकि आधुनिक औद्योगिक अर्थतंत्र के परस्पर संबंध के परिणामस्वरूप एक पदार्थ के उत्पादन में परिवर्तन होने से उसकी सारी निवेश सामग्री के उत्पादन में भी परिवर्तन की आवश्यकता होती है और फिर इस सारी निवेश सामग्री में परिवर्तन होता है, इत्यादि। यह प्रतीत होता है कि सामान्यतः गासप्लान इस किस्म के परिवर्तन करने की कोशिश करता है, जिनके द्वारा व्युत्पादित परिवर्तन नहीं होते। यह संभरणकर्त्ताओं पर

अत्यधिक उपकरण और सामग्री इस्तेमाल करने के लिए दबाव डालकर कमी के माल के उत्पादन में वृद्धि करने, नई मशीनरी शीघ्र स्थापित करने, इत्यादि के प्रयास करता है। यह इसे इस्तेमाल करने वाले उद्यमों को प्रेरित करके उनकी इस माल की आवश्यकता में कमी कराता है। यह कमी उनके अपने माल के उत्पादन में कमी किए बिना, कम प्राप्त होने वाले माल के इस्तेमाल में बचत करके या उसके स्थान पर किसी उपलब्ध (फालतू) सामग्री को इस्तेमाल करके की जाती है। यदि कुल सूचित आवश्यकता से नीचे किसी सामग्री के कुल विनिधान में कटौती करने की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार की कटौती सामान्यतः गौण महत्त्व का माल—अर्थात् उपभोक्ता माल पैदा करने वाले उद्यमों के भाग में से की जानी चाहिए, न कि उत्पादन माल पैदा करने वाले उद्यमों के भाग में से।[1]

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के गासप्लान का महत्त्व

उद्योग के प्रशासन के हाल के विकेंद्रीकरण के बावजूद, कमी वाली सामग्री के विनिधान और आयोजना का विवरण आर्थिक आयोजना के अत्यधिक सतत् केंद्रीकृत स्वभाव को प्रतिबिंबित करता है। मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष ने सुप्रीम सोवियत को विकेंद्रीकरण का सुझाव देते समय इस मामले को इस प्रकार रखा: 'आयोजना उपक्रमों में शुरू होनी चाहिए, फिर संबंधित आर्थिक संस्थाओं, आर्थिक परिषदों और गणराज्य आयोजना समितियों में लागू होनी चाहिए तथा सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ[2] की सरकारी आयोजना समिति में संपन्न की जानी चाहिए।' 'संपन्न' शब्द पर दिया गया बल आयोजना के अंतिम उत्तरदायित्व के संबंध में स्थान-निर्धारण को सूचित करता है। परंतु, प्रेसीडियम और दल की केंद्रीय समिति के अधिकार इनसे अधिक हैं—तकनीकी आयोजना के मामले में ये गासप्लान की शक्ति को भी स्वीकार करेंगी। 'सामग्री संतुलन' के अलावा, जिसके लिए गासप्लान राष्ट्रीय स्तर पर जिम्मेवार है, यह अन्य व्यापक संतुलन रखने के लिए भी उत्तरदायी है, जैसे कि प्रशिक्षण और श्रमिक संभरण के वितरण में, श्रमिकों-संबंधी आवश्यकताओं के परिवर्तन और विस्तार में, उपभोक्ता माल के उत्पादन और जनता की क्रय-शक्ति के कुल प्रवाह में, पूँजी निवेश कार्यक्रम और उसे चलाने के साधनों की उपलब्धता में तथा शक्ति के कुल संभरण और उसकी बढ़ती हुई माँग में। संक्षेप में वह विकासशील

---

[1] संभरण आयोजना और विनिधान की इस पद्धति की कुछ कमियों तथा इसमें गणितीय तरीकों एवं बिजली की संगणक मशीनों के संभाव्य प्रयोग का और विश्लेषण करने के लिए पाद-टिप्पणी १, पृष्ठ ७३४ में निर्दिष्ट प्रो० लेविन के प्रकाशन को देखिए।

[2] एस० जी० स्टमिलिन द्वारा उद्धृत, प्लानिंग इन दि सोवियत यूनियन, सोवियत न्यूज, बुकलेट नं० १७, लंदन: सोवियत न्यूज, १९५७ ई०, पृष्ठ २४।

अर्थतंत्र के सभी बुनियादी संघटकों में संतुलन और समानुपातिकता बनाए रखने के लिए जिम्मेवार है। गणराज्य के गासप्लानों और प्रादेशिक अर्थपरिषदों के आयोजना विभागों को काफी काम स्थानांतरण हो जाने से यह अनुमान लगाया जाता है कि सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के गासप्लान आर्थिक आयोजना के सिद्धांत एवं तकनीकों तथा सहवर्त्ती राष्ट्रों की आर्थिक आयोजना का सोवियत संघ की आर्थिक आयोजना से एकीकरण करने की समस्याओं पर पहले से अधिक ध्यान देगा। स्पष्टतः रेखीय कार्यक्रम, पूँजीनिवेश व उत्पादन, विश्लेषण और गणितीय आदर्श निर्माण एवं विद्युत् संगणक मशीनों के प्रयोग आदि तकनीकों पर गासप्लान से संबद्ध सिद्धांतवादी (आयोजक) अधिकाधिक ध्यान दे रहे हैं। इस प्रकार की प्रगतियों की तैयारी में केंद्रीय सांख्यिकीय प्रशासन के अंतर्गत १९६० ई० में सोवियत संघ के सभी औद्योगिक साधनों की एक व्यापक सूची तैयार की गई, जिसमें प्रत्येक औजार, उपकरण, संयंत्र-उद्योग-स्थान, वर्त्तमान आरक्षित कच्ची सामग्री, परिवहन-साधन, इत्यादि[1] शामिल हैं।

वित्तीय आयोजना

उत्पादन के वस्तुगत पहलुओं के अलावा आर्थिक आयोजना में 'वित्तीय आयोजना' शामिल है। वस्तुतः यह क्रयशक्ति का एक आयोजित परिपथ प्रवाह है, जिसका अर्थतंत्र की प्रक्रिया और विपणन सुविधाओं द्वारा माल के प्रवाह से संबंध जोड़ा जाता है। निधियों के परिपथ प्रवाह के मुख्य मार्ग संलग्न आरेख में देखे जा सकते हैं।[2]

यह हमारे अर्थतंत्र की निधियों के परिपथ प्रवाह से भिन्न नहीं है। महत्त्वपूर्ण अंतर केवल दो हैं : प्रथम, सोवियत अर्थतंत्र में बैंक संस्थान केवल एक ही है (अनेक नहीं हैं), जिसके द्वारा वस्तुतः प्रत्येक परिपथ पूरा होने के दौरान सारी निधियाँ प्रवाहित होती हैं। यद्यपि कुछ निधियाँ विशुद्ध निजी व्यापार की मदों के भुगतान के रूप में केवल एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती हैं और इस प्रकार राज्य-बैंक द्वारा भुगतान नहीं होता, तथापि निजी व्यापार इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक परिपथ पूरा होने से पहले सभी निधियाँ राज्य-बैंक द्वारा प्रवाहित हुई समझी जाती हैं। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि सारे देश में राज्य-बैंक ही ऋण मंजूर

---

[1] और ब्यौरों के लिए देखिए हैरिसन ई० सैलिसबरी, दि न्यूयार्क टाइम्स, २४ मई, १९५९ ई०; हैरी स्वार्ट्स, दि न्यूयार्क टाइम्स, ७ अगस्त, १९६० ई०।

[2] एलेक्जेंडर बेकाव, दि डेवलेपमेंट ऑफ दि सोवियत इकोनॉमिक सिस्टम, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९४६ ई०, पृष्ठ ४१५।

करने का एकमात्र संस्थान है और धन जारी करने का अधिकार रखने वाला एकमात्र अभिकरण है।

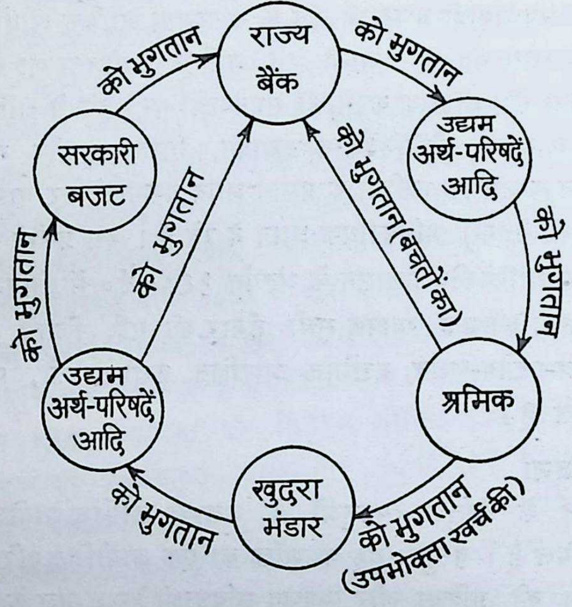
राज्य बैंक
को भुगतान
उद्यम अर्थ-परिषदें आदि
को भुगतान
श्रमिक
को भुगतान (उपभोक्ता खर्च की)
खुदरा भंडार
को भुगतान
उद्यम अर्थ-परिषदें आदि
को भुगतान
सरकारी बजट
को भुगतान
को भुगतान
को भुगतान (बचतों का)

आरेख ५ : सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में निधियों का प्रवाह।

दूसरा अंतर यह है कि हमारे अर्थतंत्र में भले ही कुछ स्थितियों में निधियों के परिपथ प्रवाह पर कुछ सरकारी नियंत्रण लगाए जा सकते हैं, जैसे कि उधार नीतियों पर संघीय आरक्षण पद्धति द्वारा लगाया जाने वाला नियंत्रण या खर्च और कर की संघीय नीतियाँ द्वारा लगाया जाने वाला नियंत्रण, परंतु प्रवाह पर सीधा नियंत्रण नहीं है। सोवियत अर्थतंत्र में वित्तीय प्रवाह पर प्रत्येक अवस्था में केंद्रीय नियंत्रण है। लेकिन, हमारे अर्थतंत्र में परिपथ में किसी भी अवस्था पर निधियों का अपचय और प्रवाह मूल्यांकन, उधार मंजूर करने, उपभोक्ता खर्च, इत्यादि की अपेक्षतया स्वतंत्र शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है, जो कि कुछ स्वतंत्र उपभोक्ताओं, लाभ चाहने वालों, भूस्वामियों, श्रमिकों, विनियोजन करने वालों के असंख्य व्यक्तिगत निर्णयों द्वारा पैदा होती है।

आर्थिक आयोजना के वस्तुगत उत्पादन-स्वरूप पहले निर्धारित किए जाते हैं। आर्थिक योजनाएँ इस प्रकार गौण हैं कि वे सारी क्रय शक्ति के परिपथ प्रवाह या किसी विशिष्ट अवस्था का इस प्रकार समंजन करने के उद्देश्य से बनाई जाती हैं,

जिससे कि वस्तुगत उत्पादन योजनाओं की प्राप्ति में बढ़ावा मिले। यदि माल बाजार से बाहर भेजना हो, तो दामों और मजूरियों में परस्पर संबंध होना चाहिए और निधियों के भुगतानों तथा निधियों के खर्चों में संतुलन होना चाहिए; इन सबके साथ-साथ; पूँजी-विस्तार में निवेश जनता की स्थगित खपत के अनुसार होना चाहिए। ये सब उस वित्तीय योजना के पहलू हैं, जो कि राज्य-बैंक के आर्थिक आयोजना प्रशासन द्वारा सरकारी आयोजना समिति के लिए बनाई जाती है। निःसंदेह इस योजना में राज्य-बैंक द्वारा उधार या मुद्रा जारी करके या उस पर सीमा-बंधन लगाकर समस्त रूप से, और परिपथ प्रवाह की प्रत्येक विशिष्ट अवस्था पर, आय और व्यय में पारस्परिक संबंध स्थापित करने के विशिष्ट उपाय शामिल हैं। पहली बैंक की 'उधार योजना' और दूसरी बैंक की 'नकद योजना' कही जाती है।

सरकारी बजट

बजट का महत्त्व

सोवियत पद्धति के आर्थिक संस्थानों और प्रक्रियाओं पर विचार-विमर्श करते समय सभी आर्थिक लेखों का अर्थतंत्र के कार्यों के एक लेखे में विलयन, सभी प्रकार के स्रोतों से प्राप्त होने वाले लाभों' को इकट्ठा करने, राज्य-बैंक के आर्थिक कार्यों की सतत् जाँच और सभी आर्थिक तत्त्वों की आयोजित अंतर्निर्भरता के विभिन्न हवाले दिए गए। सरकारी बजट परस्पर-संबद्ध लेखों के पुंज का शिरोबिंदु है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसमें संपूर्ण आर्थिक कार्यों के महत्त्वपूर्ण और सार्थक परिणामों का संक्षिप्त विवरण होता है। यद्यपि वाह्यरूप से इसका अर्थ पूँजीवादी राष्ट्रों के सरकारी बजटों के प्रतिरूप से अधिक कुछ नहीं है, अर्थात् सरकारी आय और व्यय का लेखा है, तथापि अर्थतंत्र का समाजवादी स्वरूप इसे एक भिन्न प्रकार का महत्त्व देता है। सरकार से सभी निर्माण, कृषि, विपणन और वित्तीय उद्यमों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध का अर्थ यह है कि सरकारी बजट राष्ट्रीय स्तर पर इन उद्यमों के कार्यों को अच्छी तरह प्रतिबिंबित करता है। इसके अलावा बजट सतत् रूप से उस सीमा को बताता है, जहाँ तक कि देश की राष्ट्रीय आय व्यष्टिवादी आधार की बजाय सांप्रदायिक आधार पर इस्तेमाल की जा रही है। इस प्रकार बजट में न केवल सारी पद्धति के कार्यों का संक्षिप्त विवरण ही रहता है, अपितु वह संपूर्ण साम्यवाद के कल्पित अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति का सूचक भी होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि यह 'राष्ट्रीय आय[1] का संचायक और वितरक है' और ऐसा 'मार्ग' है, जिसके

---

[1] ए० युगो, रशियाज इकोनॉमिक फ्रंट फार वार एंड पीस, न्यूयार्क हारपर, १९४२, पृष्ठ १२५।

द्वारा सरकार की शक्ति 'वित्तीय साधनों का देश की औद्योगिक, कृषि, शिक्षा, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक आयोजना की पूर्ति हेतु लगाने के लिए, इस्तेमाल की जाती है।'[1]

लगभग आधी राष्ट्रीय आय सोवियत सरकारी बजट में से प्रवाहित होती है। इस समय सरकारी बजट का केवल ७ से ८ प्रतिशत सामान्य कर द्वारा प्राप्त होता है। वस्तुत: शेष सारा धन पण्यावर्त कर, सरकारी उद्योगों, सरकारी फार्मों, सरकारी व्यापार उद्यमों के लाभों से तथा अल्प मात्रा में सहकारी समितियों के लाभ से आता है। सरकारी और सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों के लाभों का अत्यधिक भाग सीधा सरकारी बजट में चला जाता है। सहकारी भंडारों, सामूहिक फार्मों और उत्पादक सहकारी समितियों का आय का केवल थोड़ा भाग ही सरकारी बजट में शामिल किया जाता है। उनको आय का अधिकांश उन्हीं के पास रहता है, जिसे वे पुनर्निवेश और सदस्यों में बाँटने के लिए इस्तेमाल करते हैं। सरकार अपनी दाम-नीतियों में हेर-फेर करके और इस प्रकार विभिन्न उद्यमों एवं उद्योगों के भागों को प्रभावित करके, विभिन्न पदार्थों पर लगाए गए पण्यावर्त कर की दरों में समंजन करके, और कुछ हद तक जनता पर लगाए गए सीधे करों की दरों में समंजन करके, सरकारी बजट की आय के संचयन के वास्तविक त्याग के सारी जनता में वितरण को निर्धारित करती है।

दो अधिकतम महत्त्वपूर्ण राजस्वों–(१) पण्यावर्त कर और (२) सरकारी बजट में मिलाए जाने वाले लाभ (लाभ-कर) में समरूपता पर तो ध्यान दिया ही गया होगा। ये दोनों उत्पादन लागत और विक्रय दाम के अंतर से प्राप्त होते हैं तथा यह हैरानगी हो सकती है कि एक की बजाय इस प्रकार के दो साधनों का प्रयोग क्यों किया जाता है। तथ्य यह है कि प्रत्येक साधन के अपने-अपने विशेष लाभ हैं; परंतु इन दोनों में से कोई भी एक साधन उद्योग से वह सारा राजस्व प्राप्त करने के लिए उपयुक्त न होगा, जो कि सरकार उस साधन से प्राप्त करना चाहती है। लाभ-करों की अपेक्षा पण्यावर्त कर की प्राप्ति अधिक निश्चित है; क्योंकि यह कर देने वाले उद्यमों के लाभों को ध्यान में न रखकर स्वतंत्र रूप से लगाए जाते हैं। इसका हिसाब लगाना और इसकी उगाही करना आसान है तथा इस पर कम खर्च आता है। इच्छानुसार थोड़ी समयावधि के लिए हिसाब लगाया जा सकता है। परंतु, इन लाभों के बावजूद उद्योग की सारी प्रत्याशित आय पण्यावर्त कर के रूप में प्राप्त करना संभव नहीं होगा। यदि ऐसा किया जाए, तो उद्योग के पास उसकी लागत और आय में प्रतिदिन के

---

[1] थियोडोर बेयर, सोवियत रशिया टुडे, अक्तूबर, १९३८, पृष्ठ २१।

उतार-चढ़ाव के प्रभाव को सहन करने का ऐसा कोई भी उपाय नहीं रहेगा, जो कि वह 'लाभ' निकालकर और उसे कुछ समय के लिए अपने पास रखकर प्राप्त कर सकता है। यदि केवल पण्यावर्त कर ही लगाया जाए और लाभ-कर न लगाया जाए, तो वह प्रत्येक विशिष्ट उद्योग के वित्तीय कार्यों के स्वरूप के अनुसार लगाना पड़ेगा—यह एक ऐसा कार्य है, जो कि प्रशासनिक रूप से असंभव होगा। अतः, सरकार अलग-अलग पदार्थों या पदार्थों के समूहों के लिए मानक पण्यावर्त कर-दरें स्थापित करती है, जो कि प्रत्येक उद्यम को अपने लाभ की स्थिति को ध्यान में रखे बिना अदा करनी होती है। सरकार उद्योग से प्राप्त होने वाले अधिकांश राजस्व के लिए इस पर ही निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त चूँकि विभिन्न उद्यमों के पास उपलब्ध लाभों की ऐसी धनराशि होती है, जिसे वे कार्यकर पूँजी या अपने पूँजी-निवेश में इस्तेमाल नहीं करते, इसलिए सरकार इनके कुछ भाग को लाभ-कर के रूप में ले लेती है। उद्योग पर लगाए जाने वाले ये दो प्रकार के कर इस प्रकार एक दूसरे की अनुपूर्ति करते हैं और सभी स्रोतों से प्राप्त होने वाले कुल सरकारी राजस्व में से अधिकांश राजस्व इन्हीं साधनों से प्राप्त होता है।[1]

सरकारी बजट में से सबसे अधिक खर्च राष्ट्रीय अर्थतंत्र में सरकारी स्वामित्व और संचालन के उद्यमों में नए औद्योगिक उपकरणों के निर्माण और पुराने उपकरणों की मरम्मत पर तथा उन्हें कार्यकर पूँजी की बढ़ती हुई राशि देने पर होता है। इस मद पर इस समय कुल खर्च का लगभग ४४ प्रतिशत लग जाता है। खर्च की शेष राशि सरकारी प्रशासन (लगभग १० प्रतिशत), रक्षा (लगभग १३ प्रतिशत) और स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, बुढापा एवं अशक्तता सुविधाओं तथा अन्य सामाजिक व राजनीतिक प्रयोजनों (लगभग ३३ प्रतिशत)[2] के लिए होती है। कुल खर्च की प्रतिशतता के रूप में बाद वाली मद में सतत् वृद्धि (सन् १९५६ से १९६० ई० तक लगभग २८ से लगभग ३३ तक) का रूस के नेताओं ने बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया है। उनके लिए यह दाम की अपेक्षा आवश्यकता या इच्छा पर आधारित निजी खपत की तुलना में सांप्रदायिक खपत की बढ़ती हुई प्रवृत्ति है, जो कि पूर्ण साम्यवाद के अंतिम मार्क्सवादी लक्ष्य के अनुरूप है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से खर्च की गई इन निधियों के निर्देश और अंतिम प्रयोजन सरकार के मार्ग-दर्शन के अनुसार होते हैं।

---

[1] यह पैरा एफ० डो० होल्जमैन, सोवियत टैक्सेशन, कैंब्रिज हरवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५, पृष्ठ ९३ ९५ पर आधारित है।

[2] 'रक्षा' व्ययों में केवल वे व्यय शामिल हैं, जो कि इस प्रकार अभिस्वीकृत हैं। अन्य 'राष्ट्रीय अर्थतंत्र' के लिए विनियोगों में शामिल किए जा सकते हैं।

कुल बजट आय, जो कि 'सामान्य कर' के रूप में प्राप्त होती है, के ७ से ८ प्रतिशत पर टिप्पणी देना उचित होगा। यह आय-कर है, जो कि शहरी जनता पर क्रमिक दरों के रूप में ३७० रूबल प्रतिमास से ऊपर की आय पर १.५ प्रतिशत से लेकर १००० प्रतिमास से ऊपर की आय पर १३ प्रतिशत तक तथा ग्रामीण जनता पर सामूहिक फार्म के सदस्य की निजी भूखंड से प्राप्त होने वाली आय के लगभग ४ प्रतिशत की दर से लगाया जाता है। मई, १९६० ई० में यह घोषणा की गई थी कि शहरी जनता पर लगाया जाने वाला कर सन् १९५९ से १९६५ ई० की योजना के शेष वर्षों के दौरान धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाएगा। इस उन्मूलन का ब्यौरा पेचीदा है, परंतु इसका परिणाम यह होगा : न्यूनतम आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की मजूरी और वेतन में परिवर्तन नहीं होगा, अतः इस उन्मूलन का उन पर वास्तविक प्रभाव यह होगा कि उनका निवल वेतन बढ़ जाएगा; उच्चतम वेतन पाने वाले व्यक्तियों के वेतनों में अनुपातिक दर से कटौती की जाएगी, जिससे उन्हें उन्मूलन द्वारा कोई निवल लाभ नहीं होगा ; बीच के वर्गों के वेतन में विभिन्न रूप से कमी की जाएगी, जिससे वास्तविक मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के निवल वेतन में कर-मुक्ति के केवल आधे के बराबर निवल वृद्धि होगी। इस कर-सुधार के ये प्रभाव उच्चतम और न्यूनतम आय के वर्गों की वास्तविक आयों में अंतर कम करने की वर्तमान कार्यवाही के अनुसार हैं। संसार को इस कार्यवाही की घोषणा 'कारखाने और दफ्तर के श्रमिकों की मजूरियों पर कर की समाप्ति' के रूप में की गई। परंतु, वास्तव में इस पर विचार इस तथ्य को ध्यान में रख कर करना चाहिए कि उपभोक्ताओं पर पण्यावर्त कर सामान्य कर के रूप में जारी रहेगा, जो कि औसत रूप में सरकारी तथा सहकारी भंडारों के लगभग आधे खुदरा दामों के संबंध में होगा।

बजट प्रक्रिया

'सोवियत संविधान राष्ट्रीय सरकार को सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के समेकित सरकारी बजट एवं उसकी पूर्ति-संबंधी प्रतिवेदन के अनुमोदन का तथा संघ, गणराज्य और स्थानीय बजटों को जाने वाले करों एवं राजस्वों के निर्धारण का अधिकार देता है।'[१] सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के वित्त मंत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह गणराज्य के वित्त मंत्री के सहयोग से सोवियत संघ के लिए प्रति वर्ष प्रस्तावित समेकित सरकारी बजट बनाएँ। इसमें १५ गणराज्यों के बजट शामिल होंगे और उनमें उनके प्रदेशों, जिलों और स्वायत्त क्षेत्रों के बजट सम्मिलित होंगे। इस प्रकार सरकारी बजट में सामान्यतः ७०,००० से ऊपर विभिन्न उपसंगी बजटों

---

[१] अनुच्छेद १४, खंड 'के'।

का समेकन होता है। यह समेकन केवल नाम के लिए नहीं है; क्योंकि उपसंगी निकाय की निवल कमी या बेशी अगली उच्चतर सरकारी इकाई में मिलायी जा सकती है। अंततः सरकारी बजट सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा पास किया जाता है, यद्यपि यह एक औपचारिकता है, जो कि दिखावे के लिए की जाती है। बजट की सारी आय और व्यय की व्यवस्था राज्य-बैंक द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त, इस संबंध में यह स्मरणीय है कि सोवियत संघ में राज्य-बैंक उधार मंजूर करने और मुद्रा जारी करने का एकमात्र संस्थान है। निःसंदेह यह अपने अधिकारों का प्रयोग सरकारी बजट की आवश्यकता के अनुसार करता है।

सरकारी बजट बनाते और अपनाते समय इसका राष्ट्र की व्यापक आर्थिक योजना के साथ दो प्रकार का संबंध होता है। एक ओर बजट आयोजित उत्पादन और माल के विपणन से प्रमुख राजस्व प्राप्त करता है, जबकि दूसरी अर्थात् व्यय की ओर यह विभिन्न आयोजित आर्थिक और सांस्कृतिक प्रायोजनाओं के संचालन के लिए धन का विनिधान करता है। कुछ प्रायोजनाएँ व कार्य गणराज्यों और स्थानीय सरकारों को सौंपे गए हैं तथा इन प्रयोजनों के लिए उन्हें पर्याप्त राजस्व का विनिधान किया जाता है। राजस्वों को एकत्र कर लिया जाता है; विशिष्ट प्रयोजनों के लिए विशिष्ट राजस्व आरक्षित नहीं किया जाता।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. क्या सोवियत शासन के पास आर्थिक आयोजना को इस्तेमाल करने या न करने के बारे में कोई विकल्प है?

२. सोवियत आर्थिक आयोजना की जब 'आर्थिक आयोजना' के अन्य विचारों से तुलना की जाए, तो उसकी सबसे अधिक बुनियादी विशिष्टता क्या है?

३. सोवियत आर्थिक आयोजना किस रूप में व्यापक है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

४. इस उक्ति का क्या अर्थ है कि आयोजनाओं का दो प्रकार का प्रवाह होता है?

५. सोवियत आयोजक 'संतुलन पद्धति' के प्रयोग का हवाला देते हैं? यह पद्धति क्या है और यह किस प्रकार चलती है?

६. सोवियत आयोजना के लिए लचीलापन अपनाना महत्त्वपूर्ण क्यों हैं? पंचवर्षीय योजनाओं में यह गुण किस प्रकार लाया जाता है?

७. भौतिक आयोजना की वित्तीय आयोजना से तुलना कीजिए । सोवियत संघ की आयोजना में ऊँचा स्थान किसे प्राप्त है ?

८. किस प्रकार सरकारी बजट सोवियत लेखों का शिरोविंदु है ?

९. सरकारी बजट का औद्योगिक निवेश से क्या संबंध है ?

१०. सरकारी बजट किस प्रकार जनसमूह की खपत के स्वरूप के परिवर्तन को प्रकट करता है ?

अध्याय २८

सोवियत पद्धति का मूल्यांकन

मूल्यांकन की कसौटी

यह बहुत ही सुविधाजनक होगा कि हम सोवियत अर्थतंत्र के विषय में अपना विचार-विमर्श उन्हीं मामलों तक सीमित रखें, जिनको हम पिछले अध्यायों में पढ़ चुके हैं—क्योंकि उनसे हमें, कम-से-कम आवश्यक तत्त्वों के रूप में, यह ज्ञान हो गया है कि इसके कृषि, निर्माण, विपणन तथा वित्तीय क्षेत्रों का प्रशासन किस प्रकार होता है और वे किस ढंग से कार्य करते हैं तथा कुल मिलाकर आर्थिक योजना किस प्रकार सारी व्यवस्था का समन्वय करती है। किंतु, आज की परिस्थितियों को देखते हुए ऐसी आत्मसंतुष्टि उचित नहीं होगी। हमें आगे बढ़ना होगा। यदि शिक्षा का उद्देश्य कलानुरागियों की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है तो हमें उस संसार, जिसमें कि हम रहते हैं और जिसमें हमारी आने वाली पीढ़ियां, और संभवतः हम भी रहेंगे, पर ध्यान देना होगा और देखना होगा कि वर्त्तमान प्रगतियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए, हम इसे कैसे ढालना चाहेंगे। ऐसे विचार-क्षेत्र में जिन मुख्य तत्त्वों को सम्मिलित करना आवश्यक होगा, सोवियत साम्यवाद उनमें से एक है।

दूसरे विश्वयुद्ध के फलस्वरूप संसार के रंगमंच पर दो भीमकाय आर्थिक शक्तियाँ आईं। एक शक्ति है अमेरिका और उसके पाश्चात्य यूरोपीय मित्र तथा दूसरी अपने केंद्रीय और पूर्वी यूरोपीय सहवर्त्तियों सहित सोवियत संघ और उसका मित्र चीन। पहला गुट कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों (जैसे कि लोक-उपयोगी सेवाओं का संचालन) को छोड़कर अर्थशास्त्र की 'अबाध उद्यम' की सिद्धांतात्मक और दार्शनिक नीति का अनुसरण करता है; और दूसरा गुट सामान्यतः मार्क्सवादी शासन-प्रणाली का अनुयायी है, अर्थात् कुछ अपेक्षतया महत्त्वहीन निजी उद्यमों (जैसे कि सामूहिक किसानों के निजी भूखंड) के सिवाय समस्त अर्थतंत्र का संचालन दल द्वारा किया

जाता है। ग्रेट ब्रिटेन मुख्य रूप से निजी उद्यम की मिश्रित नीति का हामी है, जिसमें केवल अत्यधिक बुनियादी उद्योगों का स्वामित्व और संचालन सरकार के हाथ में है। किंतु, ब्रिटेन संसार के औद्योगिक क्षेत्र में अपेक्षतया 'बड़ी शक्ति' नहीं है। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवहार में सैद्धांतिक मार्ग-प्रदर्शन की दृष्टि से ब्रिटेन के 'प्रजातंत्रात्मक समाजीकरण' का प्रभाव सारे संसार में घटता प्रतीत हो रहा है। यूगोस्लाविया मिश्रित साम्यवाद का प्रयोग कर रहा है (जैसे कि ब्रिटेन मिश्रित पूँजीवाद का प्रयोग कर रहा है), जब कि संसार के अन्य कई देश किसी विशेष नीति के पक्षपोषक नहीं हैं।

ऐसी परिस्थिति में सक्रिय मस्तिष्क वाले व्यक्तियों की संतुष्टि 'कैसे' और 'क्यों' प्रश्नों का स्पष्टीकरण देने वाले व्याख्यान से ही नहीं हो जाएगी। वे इन भीमकाय शक्तियों का बल कम या नष्ट होने की संभावनाओं पर चर्चा करेंगे और अब से १०,२० या ३० वर्ष बाद संसार में इनको क्या स्थान प्राप्त होगा, इन संभावनाओं के विषय में धारणा बनाएँगे और संभव हुआ, तो निष्कर्ष निकालेंगे। यदि हम स्वीकार करते हैं कि भावी आर्थिक और राजनीतिक संसार का स्वरूप वैसा ही होगा, जैसा कि हम बनाएँगे, तो प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र के नागरिक होने के नाते ऐसी धारणएँ बनाना या निष्कर्ष निकालना हमारे लिए सराहनीय ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। परंतु, सरलता से निष्कर्ष निकालने और उसका प्रचार करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। इन तथ्यों के समुचयन, दार्शनिक आधारों और व्यक्तिनिष्ठा मूल्यों के आधार पर वे यही परिणाम निकालेंगे कि विश्लेषण का कोई भी समयानुकूल फार्मूला इनका स्रोत नहीं हो सकता। अतः, औपचारिक रूप से सोवियत तंत्र का जायजा लेने के लिए कुछ तथ्यों, जिनके अस्तित्व के विषय में हमें पूर्ण विश्वास है, कुछ ऐसे तथ्यों जिनके अस्तित्व के बारे में हमें पूरा भरोसा नहीं है, कुछ अनुमानों, कुछ सुझावों और कुछ एक अस्थायी निर्णयों को व्यक्त करने से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। आशा है कि छात्र इन सब तथ्यों के संबंध में स्वतंत्र रूप से जाँच करेंगे, उनको चुनौती देंगे और उन्हें नए सिरे से निर्धारित करेंगे ताकि वे उस तंत्र का मूल्यांकन अधिक सुदृढ़, अधिक वास्तविक और अधिक व्यापक रूप में करने के निरंतर प्रयास में सफल रहें।

छात्रगण यह ध्यान रखेंगे कि जबकि पिछले अध्यायों में 'सरकार' या 'अर्थतंत्र' हमारे अध्ययन का विषय रहे हैं, 'मूल्यांकन' पद का संबंध 'सोवियत अर्थतंत्र' से रहा है। इससे प्रतीत होता है कि न तो 'अर्थतंत्र' और न ही 'सरकार' का अलग से मूल्यांकन हो सकता है। दोनों को सम्मिलित रूप में भी दार्शनिक,

सिद्धांतात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा परंपरा के उस ढाँचे से, जिसमें कि वे सोवियत संघ में मौजूद हैं, अलग कर दिया जाए, तो भी उनका जायजा नहीं लिया जा सकता। यहाँ सोवियत संघ के आर्थिक पहलुओं पर बल दिया जाएगा। किंतु, ध्यान रखना होगा कि इससे व्यापक प्रसंग, जिसके संबंध में प्रत्येक विवेचन तथा निष्कर्ष का मूल्यांकन करना आवश्यक है, आच्छादित न हो जाए।

जैसे-जैसे हम सोवियत तंत्र के मूल्यांकन की ओर कदम उठाते हैं, हमारे सामने एक बुनियादी समस्या यह आती है कि हम उनके अर्थतंत्र के वर्त्तमान स्तर को, या अर्थतंत्र की प्रवृत्तियों को उस रूप में जिसमें कि वे हमारे विचार से चल रही होंगी या उनके विचार से चल रही होंगी, भली प्रकार समझते हैं। हमारी धारणा के अनुसार वे किस प्रकार चल रही होंगी, इसे कम-से-कम अभी छोड़ दें, यद्यपि हम इस विषय पर बाद में विचार करेंगे। दूसरी, अर्थात् रूसी धारणा के अनुसार वे प्रवृत्तियाँ कैसे चल रही होंगी, इसके संबंध में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि ऐसी परिस्थिति में जहाँ कि एकमात्र राजनीतिक दल, नियंत्रित प्रेस और रेडियो हों, यह जानना कैसे सभव होगा कि वे प्रवृत्तियाँ, आम रूसी लोगों के विचार में, किस तरह चल रही हैं। यद्यपि इस प्रश्न पर बाद में विचार करना होगा, अभी हम मान लेंगे कि सोवियत संघ द्वारा बताए गए उद्देश्य राष्ट्रीय उद्देश्य या लक्ष्य हैं और नागरिकों ने या तो उन्हें सक्रिय रूप से अपना लिया है या, संभवतः, केवल अव्यक्त रूप से स्वीकार कर लिया है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के तीन प्रकार के संभवसूचक हैं, जिनसे पता चलता है कि सोवियत संघ के अपने मत से सोवियत अर्थतंत्र की प्रगति किस दिशा में होनी चाहिए और कितनी शीघ्रता से वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। इसमें सर्वप्रथम मार्क्सवादी सिद्धांत ही है। मार्क्सवादी सिद्धांत (जिसमें लेनिन के लेख भी शामिल हैं) ने कम-से-कम, क्रांति के पश्चात्, संक्रमण का सामान्य ढाँचा निर्धारित किया, जिसमें से पूंजीवादी समाज को, साधारण जनता के प्रतिनिधि साम्यवादी दल के नेतृत्व में गुजरना था। सोवियत संघ के साम्यवादी दल के नेता यह संकल्प करते हैं कि इस मार्क्सवादी ढाँचे का कम-से-कम जिस रूप में आधुनिक संसार में वह उपयुक्त समझा जाता है, अनुसरण करना ही उनका अभिप्रेत है। वास्तव में यह सत्य है कि यदि दल के अनेक कार्यों तथा समस्याओं के हल करने के तरीकों को मार्क्सवादी सिद्धांतात्मक पीठिका के अनुसार देखा जाए, तो वे कम जटिल हैं। यह भी सत्य है कि साम्यवादी दल के नेता इस ढाँचे में निरंतर अपनी निष्ठा घोषित करते हैं। फिर भी मार्क्सवादी सिद्धांत की आवश्यकता तथा इसकी निर्धारित नीति या कार्य के अनुसार व्याख्या या पुनर्व्याख्या की परिणामी ग्रहणशीलता सफलता के पदचिह्नों के रूप में इसे वस्तुतः

व्यर्थ बनाती है, जिसके विपरीत सोवियत संघ में आर्थिक परिवर्तन रोका जाना चाहिए। मूल्यांकन की अधिक ठोस कसौटियाँ साम्यवादी दल तथा सरकार के अनुसार सोवियत अर्थतंत्र के लक्ष्य हैं। यह लक्ष्य अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक दो लक्ष्यों में विभक्त है। आगे बढ़ने से पहले ये हमारे मन में दृढ़ता से जम जाने चाहिए। अल्पकालिक लक्ष्यों को स्पष्ट रूप से देखना बहुत ही सरल है; क्योंकि इनको समय-समय पर लक्ष्यों के रूप में क्रमागत पंचवर्षीय और अब सप्तवर्षीय योजनाओं में निर्धारित किया जाता है। अमुक योजनाएँ लक्ष्य का मात्रात्मक स्तर, जो कि तुरंत पूर्ववर्त्ती योजना के अंत में संपन्न स्तर से मापा जाता है, उस आर्थिक खंड के विकास की गति को व्यक्त करता है, जिसके संबंध में वह लक्ष्य निर्धारित किया गया है। ये लक्ष्य एक के बाद दूसरी योजना में निःसंकोच रखे गए हैं। बहुत से अमेरिकी लोग इनको केवल कल्पित अंक समझते हैं, जो कभी-कभी देखने में बहुत ऊँचे नजर आते हैं। ये आँकड़े प्रचार के लिए चुने गए हैं, परंतु इनके वास्तव में पूरा होने की आशा नहीं है। वर्त्तमान समय की अपेक्षा सोवियत शासन के आरंभ के वर्षों के दौरान इस शंका के लिए अधिक आधार था। चूँकि सोवियत अर्थतंत्र अब विस्तृत आर्थिक आयोजना संगठन से सज्जित हो गया है, जिसमें कम-से-कम उच्च स्तर पर निपुण सिद्धांतवादी तथा अनुभवी इंजीनियर एवं सांख्यिकीविद् नियुक्त किए गए हैं, जो उत्पादन संभाव्यताओं को 'बकाया विधि' के अनुसार मापते हैं, इसलिए वहाँ घोषित आयोजना लक्ष्यों को वास्तविक रूप से निर्धारित लक्ष्य समझने के सिवाय कोई और वास्तविक विकल्प न था, जिनकी भावी निर्धारित तारीखों को पूरा होने की आशा की जाती है।

१९६५ ई० तक कार्य-सिद्धि के लक्ष्य या ध्येय वर्त्तमान सातवर्षीय योजना में दृढ़तापूर्वक निर्धारित किए गए हैं। नमूने के तौर पर कुछ उदाहरणस्वरूप (तथा मूल) विशिष्ट आँकड़े दिए जाते हैं। १९५८ ई० की उपलब्धि की तुलना में इस्पात का १९६५ ई० का लक्ष्य ८६०-९१० लाख मीट्रिक टन वार्षिक उत्पादन (५६-६५ प्रतिशत की वृद्धि) है; पेट्रोलियम २३-२४ करोड़ टन (१०० प्रतिशत से अधिक वृद्धि); विद्युत् शक्ति ५,००,०००-५,२०,००० अरब किलोवाट घंटे (१००-१२० प्रतिशत वृद्धि); धातु काटने वाले मशीनी-औजार १,९०,०००-२,००,००० (४०-५० प्रतिशत वृद्धि); मोटरगाड़ियाँ ७,५०,०००-८,५६,००० (५०-७० प्रतिशत वृद्धि); सूती कपड़े ७·७-८·० अरब मीटर (३३-३८ प्रतिशत वृद्धि); चमड़े के जूते ५१·५ करोड़ जोड़े (४५ प्रतिशत वृद्धि); मांस ६१ लाख टन (११७ प्रतिशत वृद्धि) दूध १३५ लाख टन (१२५ प्रतिशत वृद्धि); चीनी ९२-१०० लाख टन (८०-९४ प्रतिशत वृद्धि); अनाज १६·४-१८·० करोड़ टन (१८ प्रतिशत वृद्धि)। व्यापक रूप से कहा जाए, तो अर्थतंत्र के लिए १९६५ ई० के निम्नलिखित मूल लक्ष्य हैं। १९५८ ई० की तुलना में राष्ट्रीय

आय में ६२-६५ प्रतिशत की वृद्धि : उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में ६०-६३ प्रतिशत वृद्धि; कारखानों और दफ्तर के कर्मचारियों की वास्तविक आय में प्रति कर्मचारी ४० प्रतिशत की वृद्धि; सामूहिक किसानों की वास्तविक आय में 'कम-से-कम ४० प्रतिशत' वृद्धि; ३५ घंटे का एक मानक कार्य-सप्ताह (१९६६-६८ ई० तक); १९५९-१९६५ ई० के दौरान १·५ करोड़ मकानों का निर्माण (पिछली सात साल की समयावधि में बनाए गए मकानों की अपेक्षा १३० प्रतिशत अधिक); अस्पताल की शय्याओं की संख्या १९५८ ई० की अपेक्षा दुगुनी करना, शिशु-गृहों की कुल क्षमता में ढाई गुनी वृद्धि करना और चिकित्सा-पदार्थों के उत्पादन में तिगुनी वृद्धि करना। आयोजित वृद्धियों के प्रतिशतों पर विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के १९५८ ई० के अंकों की अपेक्षा सोवियत रूस के १९५८ ई० के पर्याप्त रूप से कम अंकों पर लागू होती हैं और यह कि सोवियत संघ की जनसंख्या संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या से लगभग १२ प्रतिशत अधिक है। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि १९५८ ई० में औद्योगिक दृष्टि से रूस का विश्व के अधिकतम शक्तिशाली देशों में द्वितीय स्थान था। इन्हें चाहे किसी भी संदर्भ में आँका जाए, १९६५ ई० के ये लक्ष्य (अनाज को छोड़कर) आर्थिक विस्तार की प्रत्याशित असाधारण प्रगति का प्रतिनिधित्व करते हैं। सोवियत नेताओं का यह दावा है कि १९६५ ई० के लक्ष्य प्राप्त हो जाने से उत्पादन में और अधिक प्रगति के लिए एक चरण की स्थापना हो जाएगी, जो आगामी दस वर्षों में उनकी जनता की एक के बाद दूसरी वस्तु के प्रति व्यक्ति उपभोग की दर को संयुक्त राज्य की दर से बहुत आगे पहुँचा देगा। ये उनके 'अल्पकालिक लक्ष्य' हैं। मंत्रिमंडल के अध्यक्ष ने १९५९ ई० में २१वीं दल काँग्रेस के सामने १९५९-६५ ई० की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इन लक्ष्यों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया था "सप्तवर्षीय योजना को पूरा करके हम सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मूल आर्थिक कार्य की सिद्धि प्राप्त करने की दिशा में एक निर्णायक कदम उठाएँगे जिससे कि हम कम-से-कम संभव ऐतिहासिक समय में जनसंख्या के प्रति व्यक्ति उत्पादन में सबसे अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों को पीछे छोड़कर उनसे आगे निकल जाएँ।"[1]

सोवियत रूस के दीर्घकालीन लक्ष्य क्या हैं? जो उत्पादन सिद्धांत रूप में या जनता के रहन-सहन के स्तरों को उन सीमाओं तक उठाने के लिए किया जाए, जो

---

[1] एन० एस० खुश्चेव, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के १९५९-६५ ई० के आर्थिक विकास के लिए नियंत्रण आँकड़े ओटावा में शुरू हुई २१वीं दल काँग्रेस को दिए गए प्रतिवेदन कनाडा में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का दूतावास का प्रेस कार्यालय, १९५९, पृष्ठ ६१।

संयुक्त राज्य अमेरिका के भविष्य के स्तरों से ऊँचे हों, वही समय के अनुसार सीमित लक्ष्य हैं। मान लो कि ये लक्ष्य प्राप्त हो गए, तो फिर क्या होगा ? मंत्रि-मंडल के अध्यक्ष ने २१वीं दल कांग्रेस में दिए गए अपने भाषण में अधिक लंबी समयावधि के उद्देश्यों के बारे में अनेक हवाले दिए। उनका अभिप्राय यह था कि ये लक्ष्य २०वीं शताब्दी के आठवें दशक के अंत तक या २०वीं शताब्दी के नवें दशक के आरंभ तक ऐसे लक्ष्य का स्थान ग्रहण करेंगे, जिनसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका पीछे रह जाएगा। उन्होंने बार-बार इस बात पर बल दिया कि प्रतिव्यक्ति उच्च उत्पादिता का विकास 'साम्यवादी समाज के लिए भौतिक तथा तकनीकी आधार बनाना ही था।' उन्होंने यह स्पष्ट करते हुए कहा कि साम्यवादी समाज से उनका तात्पर्य ऐसे समाज से है, जिसमें उन्नत औद्योगिक तकनीकों द्वारा अर्थतंत्र के लिए न केवल व्यक्ति की 'वास्तविक आवश्यकताओं' की पूर्ति अपितु जनता को 'अपनी योग्यताओं[1] के अनुसार काम करने की गंभीर लगन' से प्रेरित आवश्यक मानव-श्रम के साथ सुसंस्कृत व्यक्ति की संभाव्य आवश्यकताओं के अनुसार सामान्य खपत के सभी पहलुओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त माल उत्पादित करना संभव हो सके। अधिक सामान्य रूप से उन्होंने इसकी इस प्रकार व्याख्या की 'एक परम न्यायोचित तथा संपन्न मानव समाज, जिसमें मनुष्य के सभी उत्कृष्ट नैतिक लक्षण पूर्णरूप से विकसित होंगे', और 'नैतिक आचार जो साम्यवाद के प्रति निष्ठा तथा शत्रुओं के साथ असहनशीलता' सामाजिक दायित्व की भावना समाज की भलाई के कार्यों में सक्रिय योगदान, मानवीय संबंधों के मूल नियमों का स्वैच्छिक पालन, सहधर्मियों की पारस्परिक सहायता, ईमानदारी और सचाई, लोकशांति भंग करने वालों की असहनशीलता पर आधारित हो।'[2] अभी हाल ही में श्री ख्रुश्चेव ने अपनी १९६० ई० की आस्ट्रिया-यात्रा के दौरान इसी संबंध में और अधिक विशेष रूप से प्रकाश डाला :

"सोवियत संघ अपने विकास की अत्यधिक उत्तरदायी तथा आनंददायक अवस्था में प्रवेश कर रहा है। हम एक साम्यवादी समाज का निर्माण कर रहे हैं। अलंकृत भाषा में कहा जाए तो इस समाज की तुलना एक ऐसे पात्र से की जा सकती है जिसमें अन्न, कपड़े, जूते, आवास-स्थान और पुस्तकों का बाहुल्य हो, जो सबको प्राप्त हो। इसी को हम साम्यवाद का नाम देते हैं। उस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा, सभी के लिए और अपने लिए एवं लोगों की अपनी आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होंगी। हमने पहले से ही इस

---

[1] वही, पृष्ठ ९६।

[2] वही, पृष्ठ ५२।

साम्यवादी प्राचुर्य के बहुत बड़े पात्र को अपने श्रम के फलों से भरना आरंभ कर दिया है। हमें आगे बहुत कुछ करना शेष है। किंतु, इसका प्रारंभ तो हो ही चुका है। हम बड़े विश्वास के साथ मानव समाज के विकास की इस महत्त्वपूर्ण अवस्था साम्यवाद की ओर बढ़ रहे हैं।"[१] (अब ख्रुश्चेव किसी सरकारी पद पर नहीं हैं) संक्षेप में स्वीकृत दीर्घकालीन लक्ष्य; पूर्ण साम्यवाद 'या' साम्यवाद की दूसरी अवस्था' जब कोई व्यक्ति दल के नेता भी सोवियत संघ के शासन के मुखिया की ऐसी बात पर विचार करता है, वह या तो सैद्धांतिक उक्तियों के आडंबरपूर्ण भाषणों पर विश्वास करने के लिए प्रेरित हो जाता है या यह अनुभव करता है कि सोवियत सप्तवर्षीय योजना की सफलतापूर्वक समाप्ति एक ऐसी वास्तविक चुनौती बन सकती है, जिसका स्वतंत्र उद्यम के सिद्धांत के मानने वालों को शीघ्र ही मुकाबला करना होगा : कुछ भी हो, किसी नेता के अपने दल के सदस्यों के सम्मुख दिए गए भाषण की अपेक्षा ऐसी धारणाएँ और संकल्प सोवियत संघ के जीवन में बड़े गहरे जाते हैं। 'समाजवाद' साम्यवाद की 'प्रथम अवस्था' या 'पूर्ण साम्यवाद' तक पहुँचने के लिए विभिन्न उपायों के बारे में सोवियत सिद्धांतवादियों के बीच सक्रिय वाद-विवाद चलता है—यद्यपि यह परिवर्तन साधारण जनता को उसकी आवश्यकता या प्रयोग की इच्छा, न कि मूल्य, के आधार पर एक-एक करके अधिक-से-अधिक मात्रा में उपभोक्ता सामग्री उपलब्ध कराने से आएगा या प्रतीक्षा करके संपूर्ण उपभोक्ता सामग्री को मूल्य से एक ही बार मुक्त कराने से आएगा; क्या कोई राष्ट्र 'पूर्ण साम्यवाद' प्राप्त कर सकता है, जबकि दूसरे राष्ट्र अपने विकास की 'समाजवादी' अवस्था पर हों, या सभी राष्ट्रों को एक साथ मिलकर पूर्ण साम्यवाद में ढलना होगा इत्यादि। "हमारे देश में समाजवाद को साम्यवाद में बदलने से सीधे रूप से संबंधित 'सैद्धांतिक समस्याओं के निरूपण' के लिए रूस की विज्ञान-अकादमी के सामाजिक विज्ञान विभागों की मास्कों में जून १९५८ ई० में एक बैठक बुलाई गई। इस सभा में नौ निबंध पढ़े गए तथा २६ व्यक्तियों ने विचार-विमर्श में भाग लिया।"[२] इसके अतिरिक्त यह सत्यनिष्ठा का प्रश्न ध्यान देने योग्य है। यह बैठक प्रचार या अन्य प्रयोजनों के लिए केवल एक उत्तम संयोग मात्र हो सकती थी। इन संभावनाओं और शंकाओं के होते हुए भी सोवियत पद्धति का कोई भी

---

[१] मास्को न्यूज १ जुलाई, १९६०। कोष्ठक के शब्द हमारे हैं।

[२] 'इकोनॉमिक प्रॉब्लेम्स ऑफ बिल्डिंग कम्युनिज्म' प्रॉब्लेम्स ऑफ इकोनॉमिक्स (रूसी भाषा से अनूदित), जनवरी, १९५९, पृष्ठ ४६-४७। यह अनेक पत्रों में प्रकाशित दृष्टिकोणों और तत्संबंधी चर्चाओं का विवरण है।

मूल्यांकन बहुत अर्थपूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि, कम-से-कम आंशिक रूप से उसमें उनके द्वारा व्यक्त और सरकारी उद्देश्यों या लक्ष्यों का मापदंड के रूप में प्रयोग न हो। थोड़ी अवधि के लिए ये वर्त्तमान सप्तवर्षीय योजना के लक्ष्य हैं; लंबी अवधि के लिए पूर्ण साम्यवाद के लक्ष्य हैं।

सोवियत आर्थिक विकास की दर

अपरिष्कृत अर्थ में रूस के आर्थिक विकास की दर को उसकी पिछली पंच-वर्षीय योजनाओं के, जिनमें से हर एक में १९५९-६५ ई० की योजना के आधारों के मुकाबले में काफी विस्तृत लक्ष्य शामिल थे, लक्ष्यों को प्राप्त करने में उनकी सफलता या असफलता द्वारा समझा जा सकता है। चालू सातवीं योजना से पूर्व की छह योजनाओं के बारे में रूस का यह दावा है कि तीसरी और पाँचवीं योजनाओं को छोड़कर शेष सभी योजनाएँ पूरी की गई। तीसरी योजना दूसरा विश्वयुद्ध शुरू होने के कारण समाप्त हो गई और छठी योजना को दूसरे वर्ष में छोड़ना पड़ा। यह स्पष्ट है कि लक्ष्यों की पूर्ति बताते समय उनका तात्पर्य लक्ष्यों की पूर्ति से है, चाहे उसमें बड़े लक्ष्य भी शामिल हों। सामान्य पूर्ति एक प्रवंचक उक्ति है; क्योंकि इसके द्वारा हमें कुल परिणाम ज्ञात होता है, जिसमें अर्थतंत्र को उन भागों का अधिक अंश, जिनके लक्ष्यों की प्राप्ति हो गई, उन भागों के कम अंश, जिनके लक्ष्यों की प्राप्ति न हुई हो, शामिल होते हैं। कुल मिलाकर असफलता उद्योग के उपभोक्ता माल के क्षेत्रों में ही मिली है, जबकि उत्पादन माल के लक्ष्य योजना के अनुसार प्राप्त किए गए हैं। बहुत महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने में गंभीर असफलता मिली है। संभवतः सबसे प्रमुख असफलता युद्धोपरांत अनाज-उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त न करने में देखने को मिली और एक दशक तक भी लक्ष्य में कोई वृद्धि नहीं की गई। १९५५ ई० का लक्ष्य १८ करोड़ मीट्रिक टन था, जबकि उस वर्ष का वास्तविक उत्पादन १०.३ करोड़ मीट्रिक टन था। पुनः दुर्भाग्यपूर्ण छठी योजना में १९६० ई० का लक्ष्य १८ करोड़ टन था और १९६५ ई० का लक्ष्य १६.४ से लेकर १८ करोड़ टन है। यदि क्रमागत योजनाओं की समयावधि का व्यापक सामान्यीकरण किया जाए, तो ऐसा प्रतीत होगा कि तीव्र विकास के लक्ष्य प्राप्त हो गए हैं, विशेष रूप से उत्पादक या औद्योगिक उपकरण के क्षेत्रों में, जबकि कृषि का क्षेत्र बहुत लंबे समव से पीछे पड़ता चला जा रहा है।

सोबियत संघ (तथा अन्य देशों) में आर्थिक प्रगति को मापने का अधिक व्यवहारपूर्ण उपाय अर्थशास्त्र के सीमित पहलू के रूप में 'आर्थिक विकास' पर अधिक बल देने से प्राप्त हुआ है। सोवियत संघ में आर्थिक विकास की दर के बारे में विशेषकर संयुक्त राज्य के अर्थतंत्र में विकास की दर की तुलना में—हाल के वर्षों

में रूसी, अमेरिकी और आंग्ल अर्थशास्त्रियों में बड़ा सक्रिय वाद-विवाद हुआ है। सोवियत अर्थतंत्र में 'दाम-निर्धारण' की 'युक्तिसंगतता' के संबंध में हुए विचार-विमर्श की भाँति यह वास्तव में आंशिक रूप में शब्दार्थविषयक वाद-विवाद रहा है। कुछ तर्कवेत्ताओं की दृष्टि में 'आर्थिक विकास' का अर्थ सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि अर्थात् अर्थतंत्र में प्राप्त हुई सभी पदार्थों और सेवाओं का कुल मिलाकर वार्षिक मूल्य (धन के मूल्यों में हुए किन्हीं परिवर्तनों द्वारा स्वभावतः समंजित); दूसरों के लिए उसका अर्थ केवल अर्थतंत्र के 'औद्योगिक' क्षेत्र में वार्षिक उत्पादन में वृद्धि है—अर्थात् कृषि-उत्पादन, विपणन तथा अन्य सेवाओं को छोड़कर कुल राष्ट्रीय उत्पादन। कुछ अन्य तर्कवेत्ताओं ने इस विचार को प्राथमिक रूप से कुल राष्ट्रीय उत्पादन के साथ जोड़ा है, जो कि पूँजीकृत उपकरण के विकास और अनुरक्षण में निवेश का रूप धारण करता है। इस वाद-विवाद को और अधिक जटिल बनाने के लिए कुछ लोगों ने आर्थिक विकास के परिमाण का विशुद्ध सांख्यिकीय विश्लेषण किया है (उपर्यक्त तीन धारणाओं में से किसी एक का प्रयोग करके), जब कि कुछ अन्य लोगों ने, हमारे आर्थिक विकास में ऐतिहासिक समयावधि निर्धारित करने के लिए, जिसके साथ सोवियत आर्थिक विकास की वर्त्तमान समयावधि मेल खाती है, और फिर सोवियत संघ की वर्त्तमान प्रगति की हमारी पिछली प्रगति से तुलना करने के लिए वर्त्तमान रूस के आर्थिक इतिहास से तुलना की है। सोवियत आर्थिक विकास के इस मामले में पहले को 'सांख्यिकीय' धारा तथा दूसरे को 'ऐतिहासिक' धारा कहा जा सकता है।

सोवियत आर्थिक विकास के प्रश्न को हल करने के इन अनेक विभिन्न धारणात्मक एवं समयावधि उपायों के क्रमानुगत पहलुओं की जाँच करने के लिए इस पूरी पुस्तक के आकार के एक बड़े ग्रंथ की आवश्यकता भी थी। वर्त्तमान प्रयोजनों के लिए 'ऐतिहासिक धारा'[1] का मार्ग सर्वथा अनुपयुक्त समझा जाएगा। इसकी समयावधि के चयन-संबंधी क्रमानुगत समस्याएँ, हमारे और सोवियत आर्थिक

---

[1] जो विद्यार्थी ऐतिहासिक धारा के दृष्टिकोण के स्वरूप तथा परिणामों का संक्षेप में परीक्षण करना चाहते हैं, उन्हें इन पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिए: कंपेरिजन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स एंड सोवियत इकोनॉमीज, रिपोर्ट ऑफ दि ज्वायंट इकोनॉमिक कमेटी, काँग्रेस ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स, गवर्नमेंट प्रिंटिंग ऑफिस, वाशिंगटन, १९५९ ई०, पार्ट १, पृष्ठ ११४–११७. जी० वारन नटटर, दि स्ट्रक्चर एंड ग्रोथ ऑफ सोवियत इंडस्ट्री: कंपेरिजन विद दि यूनाइटेड स्टेट्स, 'कंपेरेबल ग्रोथ', पार्ट III, पृष्ठ २९२–५९६, डब्ल्यू० डब्ल्यू० रोस्टो, समरी ऐंड पालिसी इंप्लिकेशंस, 'दि स्टेजेज ऑफ अमेरिकन ऐंड रशियन ग्रोथ'।

इतिहास में, विकास की दरों की तुलना की दृष्टि से, बड़ी पेचीदा हैं। वस्तुतः चूंकि दूसरे महायुद्ध का प्रभाव सोवियत अर्थतंत्र पर धीरे-धीरे करके विनाशकारी था और इसके मुकाबले में हमारा अर्थतंत्र औद्योगिक उपकरणों से युक्त श्रेष्ठतर निकला, बल्कि युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व के समय की अपेक्षा अधिक उत्पादनशील था, तुलना करने के लिए किसी समयावधि के चयन की न्यायसंगति के बारे में अनेक कठिन प्रश्न खड़े हो जाते हैं और इससे 'ऐतिहासिक धारा' के रीतिविधान के बारे में गंभीर शंकाएं पैदा हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त हमारे मुकाबले में सोवियत आर्थिक विकास की चाहे किसी भी अवधि को चुना जाए, दोनों हमारे और उनके अर्थतंत्र पिछले दस साल या अधिक समय से बड़े ही व्यवहारकुशल, यद्यपि बिल्कुल भिन्न संस्थापित आर्थिक अवस्था के अंतर्गत चल रहे हैं। एक मूल प्रश्न, जिसे ऐतिहासिक धारा संभवतः भूल जाती है, यह है कि उनके अर्थतंत्र में अब क्या हो रहा है या आर्थिक विकास की इन विषम संस्थानिक आर्थिक योजनाओं में हमारे अर्थतंत्र की अपेक्षा इनके अर्थतंत्र की क्या अवस्था है।

जिन व्यक्तियों ने सांख्यिकीय दृष्टिकोण को चुना है, उनमें इस बात पर कोई मतभेद नहीं है। चाहे किसी भी सांख्यिकीय मानक से नापा जाए, सोवियत रूस की आर्थिक प्रगति युद्ध द्वारा उठाई गई औद्योगिक और कृषि-संबंधी हानियों की पूर्ति होने पर (मान लो १९५० ई० तक) हमारी आर्थिक प्रगति से आगे है। औद्योगिक क्षेत्र के वार्षिक उत्पादन की भाँति, जिस पर अलग रूप से विचार किया गया है, उनका कुल राष्ट्रीय उत्पादन हमारे उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रहा है। पूंजी निर्माण में प्रयुक्त होने वाला राष्ट्रीय निर्माण का अंश हमारे मुकाबले में अधिक है। यद्यपि इन तुलनाओं से उत्पन्न यथार्थ मात्रिक गुणों के बारे में कुछ मतभेद हैं, परंतु ये मतभेद इतने सीमित हैं कि इनसे वैधता के पर्याप्त आश्वासन का सामान्यीकरण नहीं हो सकता। १९५० ई० से सोवियत रूस का कुल राष्ट्रीय उत्पादन ६ से ७ प्रतिशत वार्षिक औसत दर से बढ़ रहा है, जबकि हमारे देश के राष्ट्रीय उत्पादन में औसत ढाई से ३ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हो रही है। यदि इसको आर्थिक विकास का मापक मान लें, तो कुल मिलाकर इनके अर्थतंत्र का विकास हमारे अर्थतंत्र के विकास की अपेक्षा संभवतः दुगुनी से भी कुछ अधिक दर से हो रहा है। यदि दोनों अर्थतंत्रों के केवल औद्योगिक क्षेत्र पर विचार किया जाए, तो रूस में ८ या ९ प्रतिशत वार्षिक दर से और हमारे देश में ४ से साढ़े चार प्रतिशत वार्षिक दर से विकास हो रहा है। १९५९ ई० में, सोवियत अर्थतंत्र में पूंजी निवेश लगभग उतना ही था, जितना कि हमारे उद्योग में था, हालांकि उनका कुल राष्ट्रीय उत्पादन, जिसमें से ये निवेश किए जाते हैं, अपेक्षतया बहुत कम था। निःसंदेह वे

आधार, जिन पर ये प्रतिशत वृद्धियाँ लागू होती हैं, सोवियत अर्थतंत्र की तुलना में हमारे अर्थतंत्र के संबंध में यथार्थ रूप से बहुत बड़े हैं। सोवियत संघ का कुल राष्ट्रीय उत्पादन और उनकी वार्षिक औद्योगिक उपज हमारे राष्ट्रीय उत्पादन तथा औद्योगिक उपज के १/३ से लेकर ४५ प्रतिशत तक विभिन्न रूप से अनुमानित किए गए हैं (जिसमें बाद के आँकड़े लगभग अधिक सही प्रतीत होते)। इसका यह अर्थ हुआ कि कई वर्षों तक सोवियत तथा हमारे अर्थतंत्रों में उत्पादन का विशुद्ध अंतर अधिक रहेगा, यद्यपि अब यह कम हो रहा है।

वास्तव में एक रोचक प्रश्न यह है कि ये आँकड़े १९६५ ई० के 'अल्पकालिक' लक्ष्यों और अधिक सामान्य स्वरूप के दीर्घकालिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सोवियत संघ की योग्यता के संबंध में पूर्वाभास देते हैं। सोवियत संघ के औद्योगिक उत्पादन के १९६५ ई० के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए औद्योगिक उत्पादन में ८ और ९ प्रतिशत के बीच की औसत वार्षिक वृद्धि की आवश्यकता होगी। यह अपेक्षित वृद्धि लगभग १९५० ई० से होने वाली वार्षिक औसत वृद्धि से बहुत अधिक नहीं है। सोवियत सूत्रों से यह ज्ञात हुआ है कि सप्तवर्षीय योजना के पहले कुछ वर्षों में औद्योगिक उत्पादन निर्धारित वार्षिक लक्ष्यों से भी अधिक हुआ है अर्थात् औद्योगिक उत्पादन में लगभग ११ प्रतिशत दर से वार्षिक वृद्धि हुई। इस बात को पूरे तौर से नहीं माना जा सकता; क्योंकि उपर्युक्त पिछले कार्यों-संबंधी आँकड़ों की तुलना में, जिनके बारे में अमेरिका तथा ब्रिटेन के सांख्यिकीविदों का मतैक्य है, सोवियत सूत्रों ने अपनी प्रगति के आँकड़ों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताने की प्रवृत्ति दिखाई है। इसके अलावा जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, कुल मिलाकर 'पूर्ति' या 'अति-पूर्ति' दोनों ही भ्रामक हो सकते हैं; क्योंकि यह एक औसत के रूप में है। इस प्रकार, यह महत्त्वपूर्ण उद्योगों की गंभीर कम-पूर्तियों को छिपा सकता है, जिससे अर्थतंत्र में गत्यवरोध और अनुपातहीन विकास हो सकते हैं। ये ऐसे मामले हैं, जिनके बारे में अभी कोई निर्णय लेना असंभव है।

इसके अतिरिक्त, एक व्यापक सामान्यीकरण के रूप में, इस समय ऐसे कोई चिह्न नहीं हैं, जिनसे १९६५ ई० के लिए निर्दिष्ट लक्ष्यों की सामान्य पूर्ति की संभावना में संदेह किया जा सके। इस संबंध में दो संभावी अपवादों का ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रथम, अभी तक कृषि-उत्पादन में मंद गति समाप्त नहीं हुई है। इन वर्षों की कृषि-संबंधी समस्याओं का मनन एक अन्य अध्याय में किया जा चुका है। निःसंदेह ये गंभीर समस्याएँ हैं। परंतु, जैसा कि पहले बताया गया था, कुछ मुख्य सुधार किए गए हैं, जो कि मुख्य समस्याओं का सीधे रूप से समाधान करते हैं। १९६५ ई० में कृषि-स्तर क्या होगा, वह १९६० ई० से १९६५ ई० तक की समया-

वधि में इन सुधारों की सफलता या असफलता पर निर्भर रहेगा। कृषि के १९६५ ई० में होने वाले स्वरूप का स्तर अर्थतंत्र के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा आदर्श अनुपात में है या नहीं, यह भी उसी सफलता या असफलता पर निर्भर करेगा। दूसरे, सोवियत संघ के आर्थिक प्रशासन के सामने इस समय संगठन-प्रशासन और नियंत्रण के बुनियादी तरीकों से संबंधित कुछ समस्याएँ हैं, जिनका समाधान यथोचित सफलतापूर्वक करना आवश्यक है, अगर हम अतीत की आर्थिक प्रगति को हाल की दर पर जारी रखना चाहते हैं। ये समस्याएँ अंतःसंबंधों की उन अधिक बड़ी पेचीदगियों से पैदा होती हैं, जिनका नियंत्रण उस समय अपेक्षित होता है, जबकि आयोजित अर्थतंत्र का विकास हो रहा हो और अधिक उच्च विशेषताप्राप्त संगठनात्मक तथा कार्यात्मक भागों की स्थापना हो रही हो। अधिक ठोस रूप से उनका संबंध ऐसे तत्त्वों से है, जैसे कि वे शर्तें जिन पर विकेंद्रीकृत तथा विस्तृत उत्पादक संगठन इकाइयों को नेतृत्व और अभिप्रेरण देने के लिए लक्ष्य एवं कुशलता के स्तर निर्धारित किए जाते हैं, उत्पादक और उपभोक्ता माल के दाम कैसे निर्धारित होने चाहिए और निवेश-निधि तथा उससे संबंधित साधनों के विनिधान के लिए पूँजी-क्षमता कैसे मापी या जाँची जानी चाहिए। इनमें से कुछ मामलों की चर्चा इसी अध्याय में बाद में की जाएगी। निःसंदेह, अभी सोवियत संघ की दीर्घकालीन लक्ष्यों को पूरा करने की क्षमता का कोई व्यापक मूल्यांकन करना असंभव है। उपभोग की कुछ प्रवृत्तियों का, जो कि सोवियत नेताओं के कथनानुसार दीर्घकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मुख्य हैं, अध्ययन हम रहन-सहन के स्तरों-संबंधी चर्चा में करेंगे।

आर्थिक उन्नति के इस विषय को समाप्त करने से पहले, हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि १९५० ई० से सोवियत संघ की अपेक्षतया तीव्र गति वाली प्रगति के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कारण क्या हैं? संक्षिप्त रूप में इनका वर्णन नीचे किया गया है, यद्यपि यह अनिवार्यतः उन कारणों के महत्त्व के अनुसार नहीं है:

१. **उत्पादन-साधनों को कुछेक चुने हुए सीमित लक्ष्यों के लिए केंद्रित करने की क्षमता :** यह बुनियादी साधनों के विनिधान के केंद्रीकृत आयोजित स्वरूप से उपलब्ध होती है और इससे निर्दिष्ट समय पर साधनों का जमाव अर्थतंत्र के ऐसे क्षेत्रों में होता है, जिनमें कि कोई रुकावट प्रतीत हो या जो अनुपाततः अधिक पिछड़े हुए हों।

२. **कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बहुत बड़े भाग को उत्पादक माल के, जहाँ तक कि यह उपभोक्ता के आनंद की वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षा नई उत्पादनशीलता बढ़ाए, उत्पादन में लगाने की दल के नेताओं की इच्छा की जनता द्वारा अव्यक्त स्वीकृति :** समस्त सोवियत शासन के बड़े भाग में भारी

उद्योग के उत्पादन में ८३ गुनी से अधिक वृद्धि होने का अनुमान है, जबकि उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन में १४ गुनी से भी कम वृद्धि हुई है।[1] अमेरिकी इस्पात कंपनी के कार्यकारी अधिकारियों और इंजीनियरों के एक समूह ने १९५८ ई० में सोवियत इस्पात-उद्योग का कार्य-स्थल पर गहन सर्वेक्षण के बाद बताया कि सोवियत संघ में 'निर्माण के लिए इस्पात तथा पूँजीगत माल के उत्पादन—जो कि अमेरिका के २३ प्रतिशत के मुकाबले में ६० प्रतिशत है'—पर जोर दिया गया। अमेरिका में 'उपभोक्ता उत्पादन के लिए सपाट बेल्लित इस्पात—जो कि सोवियत संघ की १९ प्रतिशत के मुकाबले में ५१ प्रतिशत है'[2]—पर अधिक बल दिया गया। १९५८ ई० में कुल सोवियत औद्योगिक उत्पादन का ७१·६ प्रतिशत भाग उत्पादक पदार्थ बनाने वाले भारी उद्योगों में था।[3] यह हमारे अर्थतंत्र के विपरीत है, जिसमें कि उपभोक्ता माल कुल उत्पादन का लगभग दो-तिहाई होता है। १९५९-६५ ई० की सोवियत योजना का लक्ष्य इसी समयावधि में भारी उद्योग के उत्पादन में कुल मिलाकर ८८ प्रतिशत और उपभोक्ता माल में ६८ प्रतिशत वृद्धि करना है।

३. सोवियत संघ के समस्त उत्पादन की वृद्धि में तेजी : इसने सोवियत संघ और अमेरिका की आर्थिक उन्नति की दरों में औसत अंतर पैदा करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हमारा अर्थतंत्र अभी भी आर्थिक मंदता की समयावधियों का अनुभव करता है (जैसे कि १९५७-१९५८ ई० की समयावधि)—यद्यपि युद्धोपरांत समयावधि में यह अपेक्षतया निःसंदेह मामूली रही थी—जिनके कारण हम पिछड़ जाते हैं और हमें अपनी आर्थिक उन्नति को बार-बार मंदता की समयावधि से पूर्व के स्तर से भी नीचे के स्तर से आरंभ करना पड़ता है। इतिहास इस तथ्य का सूचक प्रतीत होता है कि सोवियत संघ के आर्थिक आयोजन ने सामान्य आर्थिक मंदता को निरस्त कर दिया है।

४. सोवियत संघ में तकनीकी प्रगति एक ऐसे परिपार्श्व में हो रही है, जिसमें श्रमिक संघों के हाथ में ऐसी सौदा कराने की शक्ति नहीं है कि वे श्रमिकों को कार्य नियमों या अन्य निग्रहों के लागू कराने के लिए बल देने के लिए अनुमति दें, जिससे कि संभावी तकनीकी प्रगति रुक सके : स्पष्टतः, निरंतर श्रम शक्ति की कमी के कारण श्रमिकों को सामान्यतः ऐसा भय नहीं है कि उन्हें तकनीकी कारणों से बेरोजगारी का सामना करना पड़ेगा।

---

[1] मैक्स फ्रैंकल, दि न्यूयार्क टाइम्स, ३० नवंबर, १९५९ ई०।

[2] स्टील इन दि सोवियत यूनियन. अमेरिकन आयरन एंड स्टील इंस्टीच्यूट, न्यूयार्क, १९५८ ई०, पृष्ठ ३४।

[3] मैक्स फ्रैंकल, दि न्यूयार्क टाइम्स, ३० नवंबर, १९५९ ई०।

सोवियत आर्थिक उन्नति पर इन प्रभावों का वर्णन करते समय हमें यह सावधानी अवश्य बरतनी होगी कि हम उनकी वांछनीयता या रूसी जनता पर संभवतः गैर-प्रजातंत्रात्मक ढंग से उनके थोपे जाने के विषय में कोई संदेह प्रकट न करें, जिससे उन प्रभावों की वास्तविकता और महत्त्व छिप जाएँ।

रहन-सहन के स्तर

'अर्थतंत्र मानव के लिए है, न कि मानव अर्थतंत्र के लिए' इसी नीति-वचन के समर्थन के लिए रहन-सहन के प्राप्त स्तर आर्थिक उन्नति के अनुमान ही एक महत्त्वपूर्ण कसौटी होने चाहिए। सोवियत संघ के रहन-सहन के स्तरों के बारे में अधिकतम सामान्यीकरण सरल रूप से इस प्रकार है। यद्यपि १९५० ई० से उनमें पर्याप्त वृद्धि होती रही है, तो भी वे संयुक्त राज्य अमेरिका के स्तरों से बहुत ही कम हैं। स्पष्टतः उनमें अभी कई वर्षों तक हमारे स्तरों के बराबर होने की क्षमता भी नहीं है। इस सामान्यीकरण का दूसरा भाग गलत सिद्ध हो सकता है यदि, या तो (१) सोवियत अर्थतंत्र की दिशा में एक बड़ा मोड़ आए उपभोक्ता माल उत्पादन की ओर, या (२) अमेरिका के अर्थतंत्र में फिर से मंदी आ जाए, चाहे वह मंदी बीसवीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी के शुरू की मंदी की अपेक्षा आंशिक ही हो। अमेरिका के स्तरों के मुकावले में सोवियत संघ में रह-सहन के सामान्य स्तरों का सबसे ज्यादा व्यापक संकेत दोनों देशों की कुल राष्ट्रीय उत्पादन की रचना से मिलता है। सोवियत संघ का कुल राष्ट्रीय उत्पादन अमेरिका के उत्पादन का ४५ प्रतिशत है। सोवियत संघ में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत उपभोग में जाता है—जिसमें दोनों, निजी और सरकारी (जैसे शिक्षा और अन्य सरकारी एवं सामाजिक सेवाएँ) क्षेत्र सम्मिलित हैं, जबकि हमारे उत्पादन का ६७ प्रतिशत उपभोग में खपत होता है। यदि हमारे कुल राष्ट्रीय उत्पादन को १०० के सूचकांक के बराबर माना जाए, तो हमारे उपभोग का सूचकांक ६७ और सोवियत संघ का २७ होगा (अर्थात् ४५ प्रतिशत का ६० प्रतिशत)। प्रति व्यक्ति के आधार पर यह सूचकांक २७ से घट कर २४ हो जाएगा—जो कि हमारे सूचकांक का ३५ प्रतिशत है। इसी प्रकार के अन्य अनुमान २५ प्रतिशत ही होंगे। अमेरिका के केंद्रीय खुफिया अभिकरण के प्रमुख अधिकारी एलेन डगलस ने, जो कि सरकारी तौर पर यह जानकारी रखने के लिए जिम्मेदार हैं कि सोवियत अर्थतंत्र में क्या हो रहा है, काँग्रेस समिति के सामने प्रमाणित किया है कि १९५८ ई० में 'सोवियत नागरिकों को अमेरिका के कुल पदार्थों एवं सेवाओं का केवल एक-तिहाई भाग उपलब्ध था' और 'वास्तव में आज के सोवियत संघ में प्रति व्यक्ति रहन-सहन का स्तर हमारी जनता को उपलब्ध स्तर का एक चौथाई

है।'[1] अतः, सोवियत के रहन-सहन के औसत स्तर हमारे स्तरों के एक-चौथाई से लेकर एक-तिहाई कहे जा सकते हैं। अधिक संभावना यही है कि ये स्तर पिछले अंक के अधिक निकट हों।

यदि सोवियत के औसत रहन-सहन स्तर को विशिष्ट वर्गों में विभक्त किया जाए, तो अनेक वर्गों की अमेरिका के वर्गों से तुलना करने पर महान् अंतर पाया जाता है। १९५९ ई० में एक कॉंग्रेस समिति ने सोवियत संघ के रहन-सहन के संबंध में एक वहुत ही विस्तृत और विश्वसनीय व्यौरा एकत्र किया। इन परिणामों के सारांश से प्रतीत होता है कि आवास के क्षेत्र में सोवियत के स्तर हमारे स्तरों से लगभग एक-चौथाई हैं; प्रति व्यक्ति अनाज की खपत में आधे से थोड़ा अधिक; कपड़े में आधे से थोड़ा कम; चिकित्सा सेवाओं, शिक्षा तथा ऐसी अन्य सरकारी सेवाओं में लगभग अमेरिका के स्तर के बराबर और स्थायी उपभोक्ता पदार्थों एवं मात्रा में, 'अभी अमेरिका की बराबरी करने योग्य' हो रहे हैं। पूर्वानुमान यह है कि १९७० ई० तक अनाज और आवास और कपड़े की स्थिति में पर्याप्त सुधार होने की संभावना है; आटोमोबाइल को छोड़कर कुछ किस्म के स्थायी उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में तीव्र वृद्धि होगी; नए आवास का स्वरूप मुख्यतः नगर के भवनों-जैसा होगा; केवल कुछ ही क्षेत्रों में, जैसे कि मत्स्य, ऊनी कपड़ा और मक्खन में विशेष संभावना है कि १९६५ ई० तक सोवियत का प्रति व्यक्ति उत्पादन हमारे प्रति व्यक्ति उत्पादन से अधिक हो जाएगा। कुल मिलाकर, भविष्य-कथन यह है कि १९७० तक, सोवियत के रहन-सहन का स्तर अमेरिका के स्तर के लगभग एक-तिहाई से बढ़कर करीब ४० प्रतिशत होने की प्रत्याशा है।[2]

इस समय सोवियत संघ में बहुत थोड़ी निजी मोटरगाड़ियाँ हैं और उनके मुख्य विस्तार की योजना का अभाव, किसी एक उपभोग-पदार्थ की प्रति व्यक्ति मात्रा, जो कि वे उपभोग करते हैं और जो हम उपभोग करते हैं, की तुलना और उसके आधार पर दोनों देशों के रहन-सहन के स्तरों का संतुलन करने की सार्थक संदिग्धता को स्पष्ट करते हैं। जबकि निजी मोटरगाड़ी को अमेरिका के अनेक परिवार एक परम आवश्यकता समझते हैं और लगभग अन्य सब लोग भी उसे प्रतिष्ठा का अत्यंत अपेक्षित चिह्न समझते हैं, सोवियत उत्पादन-साधनों के विनिधान में इसके प्रचलित महत्त्व का स्थान बिल्कुल भिन्न है। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक के अंत में

---

[1] यूनाइटेड स्टेट्स न्यूज ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट, २३ नवंबर, १९५८, पृष्ठ ९९।

[2] यह पैराग्राफ कंपेरिजंस ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स ऐंड सोवियत इकोनॉमीज, पार्ट ३ डब्ल्यू० डब्ल्यू० रोस्टो, समरी ऐंड पालिसी इंप्लिकेशंस, स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग, पृष्ठ ५९२ पर सीधे आधारित है।

सोवियत संघ में प्रत्येक ४२० व्यक्तियों के पीछे प्रति वर्ष एक मोटरगाड़ी का उत्पादन हो रहा था, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में इस उत्पादन का अनुपात प्रत्येक २८ व्यक्तियों के पीछे एक गाड़ी थी। यदि १९६५ ई० के लिए निर्धारित सोवियत लक्ष्य की प्राप्ति हो जाए, तो उसका वार्षिक उत्पादन लगभग प्रत्येक २०० व्यक्तियों के पीछे एक गाड़ी होगा। जनसमूह व्यक्तिगत रूप से चाहे इसे स्वीकार करें या न करे. परंतु दल के नेताओं तथा आयोजकों ने पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है कि जनता को बड़े पैमाने पर निजी मोटरगाड़ी संभरण के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाएगा। उन्होंने सूचित किया है कि उनके मतानुसार इनके उत्पादन के लिए अपेक्षित उत्पादन-साधनों के बराबर साधनों को सरकारी परिवहन सुविधाओं के विस्तार और सुधार के लिए विनियुक्त करना चाहिए, इस प्रकार यातातात की संकुलता और दुर्घटनाओं के उन 'संकटों' को रोका जाए, जिनसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी यूरोप की शहरी जनता पीड़ित है। यद्यपि मोटरगाड़ियों के किराए पर मिलने की सुविधाओं, टैक्सियों तथा निजी मोटर साइकिलों और स्कूटरों का विस्तार होगा, परंतु दीर्घकालीन योजना के अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका के बराबर यात्रियों के यातायात के कुल परिमाण की व्यवस्था इस प्रकार की जाएगी। लगभग दो बटा पाँच भाग सुरंग-मार्गों, ट्रौली बसों, बाजारों में चलने वाली कारों और मोटर बसों द्वारा; एक बटा पाँच भाग रेल द्वारा, एक-तिहाई हवाई जहाजों द्वारा तथा एक बटा छह भाग सरकारी मोटरगाड़ियों द्वारा। उनका विश्वास है कि यद्यपि अमेरिका में सरकारी परिवहन की अपेक्षा निजी मोटरगाड़ी परिवहन में अधिक वृद्धि हो रही है, तो भी उनकी निजी परिवहन की बजाय सरकारी परिवहन में धीरे-धीरे वृद्धि करने की योजना सोवियत संघ में बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं के लिए ठोस कदम है।[1]

रहन-सहन के स्तरों के संबंध में चर्चा समाप्त करने से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ और अमेरिका में प्राय: की जाने वाली एक अन्य प्रकार की तुलना उनके रहन-सहन के स्तरों के वास्तविक अंतर की उतनी सूचक नहीं है, जितनी कि वह प्रथम दृष्टि में प्रतीत होती है। यह उनके कार्य-घटों की संख्या की तुलना है, जो कि सोवियत संघ में और अमेरिका में एक नियत स्तर के श्रमिक को किसी निर्दिष्ट उपभोक्ता माल का मूल्य अर्जित करने के लिए करना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, यह बताया गया है कि यदि मास्को के एक साधारण श्रमिक की तुलना न्यूयार्क के एक साधारण श्रमिक से की जाए, तो सोवियत श्रमिक को अमेरिकी श्रमिक की अपेक्षा एक पौंड गोमांस के लिए चारगुना; एक पौंड रोटी के लिए डेढ़गुना; मर्दाना गर्म सूट के लिए ग्यारहगुना; जनाना जूतों की जोड़ी के लिए

---

[1] न्यू टाइम्स (मास्को) २१ नवंबर, १९६०, पृष्ठ ११।

ग्यारहगुना; एक क्वार्टर दूध के लिए चारगुना; एक दर्जन अंडों के लिए आठगुना, बीस सिगरेट की डिबियों के लिए चारगुना श्रम करना पड़ता है। ऐसी तुलनाओं की आलोचना दो प्रकार से की जा सकती है। पहली यह कि ये इस कल्पना पर आधारित हैं कि तुलना की जाने वाली प्रत्येक निर्दिष्ट वस्तु या सेवा को अपने उपभोक्ता ढाँचे में सोवियत श्रमिक कम-से-कम उतना ही उच्च सापेक्ष महत्त्व देता है, जितना कि अमेरिकी श्रमिक। स्पष्टत: यह कुछ मामलों में सही हो सकता है, जबकि दूसरों में नहीं। इस संबंध में अधिक महत्त्वपूर्ण आलोचना इस कल्पना के बारे में है कि सोवियत श्रमिक अपने कुल वार्षिक उपभोग के उतने ही भाग के लिए अपनी व्यक्तिगत मजदूरी में से खर्च करता है, जितनी के लिए अमेरिकी श्रमिक करता है। वास्तव में यह सही नहीं है। सोवियत श्रमिक को अमेरिकी श्रमिक की अपेक्षा अपने कुल उपभोक्ता माल का अधिक बड़ा भाग अपनी मजदूरी के अतिरिक्त प्राप्त होता है। यह कहना जरा कठिन होगा कि यह अंतर कितना है। आवास के संबंध में, जहाँ मकानों के स्तरों में बड़ा भारी अंतर है, अमेरिकी श्रमिक अपनी मजदूरी का २५ प्रतिशत भाग आवास-स्थान पर खर्च करता है, जबकि उसे सरकारी अंशदान किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही थोड़े से उपदान के रूप में प्राप्त होता है। सोवियत श्रमिक की मजदूरी का केवल ४ से ५ प्रतिशत भाग के लगभग आवास पर खर्च होता है। यह मकान की व्यवस्था पर आने वाली वास्तविक लागत से बहुत कम है। इस लागत के शेष भाग की पूर्ति सरकारी उपदान से होती है। चिकित्सा सेवाएँ, जिनमें चिकित्सालयीयन और शल्य-चिकित्सा सम्मिलित है, निःशुल्क प्रदान की जाती हैं—ये सेवाएँ लगभग अमेरिकी सेवाओं की कोटि की ही हैं। चिकित्सा-व्यवस्था का सारा खर्च सरकार करती है। सभी स्तरों की शिक्षा का खर्च भी सरकार वहन करती है। सरकारी परिवहन सुविधाओं द्वारा प्राप्त किराए से इन सेवाओं की लागत भी पूरी तरह वसूल नहीं होती। श्रमिकों के लिए बुढ़ापा-पेंशन योजनाओं तथा बीमारी या अशक्तता बीमे के खर्च के लिए कोई अंशदान नहीं करना पड़ता। कार्यकारी अभिभावकों को अपने बच्चों के लिए शिशुपाल-गृह सेवाओं की प्राप्ति के लिए खर्च करना पड़ता है, परंतु इस खर्च की दर भी उन सेवाओं की व्यवस्था पर होने वाले वास्तविक खर्च से बहुत कम है। अनेक प्रकार की सांस्कृतिक और मनोरंजन सेवाएँ, जिनमें से कुछ एक हमारे समाज में भी मुफ्त प्रदान की जातो हैं, निःशुल्क या बहुत ही कम और साहाय्य प्राप्त दाम पर उपलब्ध हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सोवियत संघ के पास कोई जादू की छड़ी है, जिससे जनता के लिए इन निःशुल्क या साहाय्य प्राप्त सेवाओं की उत्पत्ति प्राप्त सेवाओं की उत्पत्ति होती है, और न ही यह कि संयुक्त राज्य अमेरिका में

मजदूरी के पूरक के रूप सामुदायिक उप में सामुदायिक उपभोग का अस्तित्व ही नहीं है। यह खर्च सरकारी बजट से ही होता है और इस खर्च का भार किसी-न-किसी रूप में जनता पर ही पड़ता है। इतना अवश्य है कि सोवियत श्रमिक के उपभोग के ढाँचे में सामुदायिक उपभोग का औसत क्षेत्र अमेरिकी श्रमिक की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह तथ्य उन तुलनाओं की सार्थकता को पर्याप्त मात्रा में महत्त्वहीन कर देता है जो कि निजी उपभोग के क्षेत्र में किसी-न-किसी निर्दिष्ट वस्तु या सेवा की प्राप्ति के लिए खर्च किए गए कार्य-समय के आधार पर की जाती है। एक सोवियत स्रोत के अनुसार १९५७ ई० में सोवियत संघ में मजदूरी और वेतन के इन सामुदायिक उपभोग अनुपूरकों के कुल परिमाणवाचक महत्त्व का अनुमान औसत मजदूरी का एक-तिहाई भाग रहा है।[1] सोवियत द्वारा एक रासायनिक संयंत्र के 'कुछ श्रमिक परिवारों के बजट के अध्ययन से' सिद्ध हुआ कि सरकारी लाभ और सुविधाओं का मूल्य उनकी आय के ३१.७ से ५१ प्रतिशत भाग के बीच था।[2] सन् १९५९-६५ ई० की योजना को इन निःशुल्क और साहाय्य प्राप्त सेवाओं में वृद्धि करके प्रतिवर्ष प्रति श्रमिक ३८०० रूबल की सेवाएँ प्रदान करने वाली योजना कहा जाता है। इस योजना का लक्ष्य कारखाने और दफ्तर के कर्मचारियों की १९६५ ई० की वार्षिक नकद आय का, जिसका न्यूनतम स्तर ६,००० से ७,२०० रूबल के बीच है, आधार मान कर सामुदायिक उपभोग में उस विशिष्ट वर्ग के कर्मचारियों की वास्तविक आय के ५० प्रतिशत भाग से अधिक वृद्धि करना है।[3]

मंत्रिपरिषद् ने १९५९ ई० में कई आज्ञप्तियाँ जारी कीं, जिनमें सुझाव दिया गया कि १९५९-६५ ई० की योजना का कुछ आंशिक परिशोधन उपभोक्ता माल की दिशा में थोड़ा बल देने के लिए होना चाहिए। अप्रैल में जूतों की मरम्मत, दर्जी के कार्य, बाल कटाई, रेडियो-जैसी घरेलू चीजों की मरम्मत करने और कपड़े धोने तथा सीने की मशीनें किराए पर देने की सेवाओं की सुविधाओं – ऐसी सेवाएँ जिनका नितांत अभाव था या जो घटिया स्तर की उपलब्ध थीं—के विस्तार और सुधार के लिए पर्याप्त धन का नया विनियोजन किया गया। अक्तूबर में, श्री ख्रुश्चेव के अमेरिका के दौरे के तत्काल पश्चात् एक और आज्ञप्ति जारी की गई, जिसमें रेफ्रिजेरेटरों, टेलीविजन सेटों और गर्द झाड़ने की निर्वात-मशीनों के उत्पादन को दुगुना और धुलाई की मशीनों, बिजली के प्रेसों तथा ऐसी अन्य वस्तुओं के

---

[1] मास्को न्यूज, ७ दिसंबर, १९५७।

[2] ए० जी० ज़्वेरेव की, दि सोवियत स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग : सोशल बेनिफिट्स, न्यूयार्क इंटरनेशनल आर्ट्स ऐंड साइंसिज़ प्रेस, १९५९, पृष्ठ ७।

[3] एन० गोवुनोव, यू० एस० एस० आर० (कैनेडा में प्रकाशित) जुलाई, १९५९, पृष्ठ ६।

उत्पादन को तीन गुना करने का आदेश दिया गया। साथ ही बहुत-सी अन्य घरेलू और निजी वस्तुओं के उत्पादन के संबंध में आदेश दिया गया कि उनकी किस्मों को बढ़ाया जाए और वे आगे से अधिक उत्तम कोटि की बनाई जानी चाहिए। जुलाई, १९६० ई० में दल की केंद्रीय समिति ने प्रस्ताव रखा कि अधिक उपभोक्ता माल की व्यवस्था करने के लिए उद्यम अपनी तिमाही योजनाओं में परिशोधन करे।[1] इन परिवर्तनों परिमाण का इतना अधिक नहीं था, जिससे कि सातवर्षीय योजना में उत्पादक-माल को दिए गए मूल महत्त्व पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

स्वास्थ्य, शिक्षा एवं वैज्ञानिक प्रगति

सोवियत संघ में प्रत्येक १,००,००० व्यक्तियों के लिए १६४ काय चिकित्सक हैं, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक १,००,००० व्यक्तियों के लिए १३० काय चिकित्सक हैं। काय चिकित्सकों की कुल संख्या ४,००,००० है जिसे १९६५ ई० तक बढ़ाकर ५,००,००० करने की योजना है। इसमें लगभग ७० प्रतिशत महिलाएँ हैं। प्रत्येक काय चिकित्सक ने देश के ८० चिकित्सा-स्कूलों में से किसी-न-किसी में छह वर्ष की चिकित्सा-शिक्षा ग्रहण कर रखी है। इन स्कूलों में इस समय लगभग १,७१,००० विद्यार्थी पढ़ते हैं। तीन विषयों में से किसी एक में विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है—बालरोग-विद्या, सामान्य वयस्क चिकित्सा और शल्य चिकित्सा, या उद्योग-स्वास्थ्य प्रबंध और जन-स्वास्थ्य-रक्षा। शहरी क्षेत्र का सामान्य काय चिकित्सक या विशेषज्ञ शहर में स्थित किसी-न-किसी बहुरोग चिकित्सालय में अभ्यास करता है, जहाँ कि बहिरंग रोगी रोग के निदान तथा इलाज के लिए आते हैं। आवश्यकता पड़ने पर चिकित्सक या नर्स रोगी के घर भी जाते हैं। शल्य-चिकित्सक सामान्य रूप से चिकित्सालयों के साथ संबद्ध होते हैं, किंतु, बालरोग-विशेषज्ञ या तो बहु-रोग चिकित्सालयों में अभ्यास करता है या शिशुपाल-गृहों और बाल-बिहारों से संबद्ध होता है। चिकित्सक का वार्षिक वेतन उसके प्रशिक्षण, पद की जिम्मेदारी एवं सेवा-अवधि के आधार पर दिया जाता है। सरकारी तौर पर कोई भी चिकित्सक निर्धारित ड्यूटी के बाद अपने निवास-स्थान पर निजी अभ्यास कर सकता है, जिसका शुल्क चिकित्सक और रोगी की सहमति के अनुसार होता है। वास्तव में निजी अभ्यास बहुत थोड़ा होता है जो कि केवल ऊँचे दर्जे की आय वाले लोगों को उपलब्ध है। चिकित्सकों की निजी अभ्यास की आय पर भारी कर लगाया जाता है। वर्त्तमान काल में ऐसे अभ्यास की समाप्ति के लिए स्वयं चिकित्सकों में ही अभियान चल रहा है। सोवियत प्रेस का कहना है कि सरकार सशस्त्र सेना में

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, १७ जुलाई; १९६०।

कटौती द्वारा प्राप्त वर्त्तमान बचत का पर्याप्त भाग चिकित्सा सेवाओं की उन्नति के लिए व्यय करने का आयोजन कर रही है। सोवियत के प्रत्येक नागरिक को सभी प्रकार की चिकित्सा सेवाएँ, दाँत शल्य, नैदानिक, अस्पताल और तत्संबंधी सेवाएँ जैसे कि नर्स-सेवा निःशुल्क उपलब्ध होती हैं। रोगी को केवल घर पर प्रयोग की जाने वाली औषधियों के लिए खर्च करना पड़ता है। चिकित्सकों के पूरक के रूप में लगभग १३,००,००० सहायक चिकित्सक, दाइयाँ तथा नर्सें हैं। अस्पताल-व्यवस्था में १६,००,००० पलंगों का प्रबंध बताया जाता है। १९६५ ई० तक इनमें ५,००,००० की वृद्धि करने का आयोजन है।

सोवियत चिकित्सा-प्रशिक्षण-कार्यक्रम संसार के सब देशों से बड़ा है। विद्यार्थियों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता है और उनमें से ८५ प्रतिशत को निर्वाह के लिए वृत्तिका प्राप्त होती है। अभ्यास करने वाले चिकित्सकों के लिए स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए चिकित्सा संस्थानों में पुनः दाखिल होने की कुछ सुविधाएँ हैं। स्पष्टतः चिकित्सा सेवा उच्च कोटि की है। परंतु, दिमाग और दिल-जैसे कुछेक शल्य कामों का अभ्यास इतने बड़े पैमाने पर नहीं होता, जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका में होता है। चिकित्सा-प्रशिक्षण का स्तर इतना उच्च नहीं हो सकता, जितना कि हमारे देश में है। सहायक नर्सें, दाइयाँ इत्यादि हमारे देश के समान सुप्रशिक्षित नहीं हैं। बालरोग-विद्या और बाल-स्वास्थ्य के सभी पहलुओं को बहुत निश्चित रूप से महत्त्व दिया गया। सोवियत प्रकाशनों में कुछ शिकायतें प्रकाशित हुई हैं कि वहाँ के चिकित्सकों के पास रोगी के लिए सीमित समय है और बहुरोगी चिकित्सालय में अवैयक्तिक वातावरण रहता है। नए या दूरस्थ कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में भी ये सेवाएँ ऐसी ही असंतोषजनक हैं। बहुत से बहुरोग चिकित्सालयों में अपर्याप्त उपकरण है। स्पष्टतः स्वास्थ्य-सेवा-संबंधी समस्याओं में अनेक बातें हैं जिनको सुलझाने में समय लगेगा।[1] सोवियत संघ में बुनियादी एवं अनिवार्य शिक्षा आठवर्षीय स्कूलों में दी जाती है। इनमें ७ वर्ष की आयु में दाखिला मिलता है। ये स्कूल इस समय भूतपूर्व सर्वव्यापक सातवर्षीय स्कूलों का स्थान ले रहे हैं। पहले उच्च शिक्षा के इच्छुक नवयुवकों के लिए सातवर्षीय स्कूल के बाद या तो तीन वर्षीय हाई स्कूल की साधारण शिक्षा या तकनीकी संस्थाओं में प्रशिक्षण की व्यवस्था होती थी। तीनवर्षीय साधारण हाई स्कूल शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की तुलना में अधिक छात्र आए। दसवर्षीय स्कूल शिक्षा प्राप्त बहुत से स्नातक, जो कि

---

[1] सोवियत चिकित्सा के इस विवरण के अंश न्यूयार्क शहर के स्वास्थ्य-आयुक्त डॉ० लियोना बोगार्टना. द्वारा उत्कृष्ट मूल्यांकन पर निर्धारित है, जो उन्होंने सोवियत संघ में कुछ समय बिताने, अस्पतालों और चिकित्सा-स्कूलों आदि के निरीक्षण करने के बाद किया।

अग्रिम शिक्षा कार्य करने के लिए तैयार होने पर भी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने में असमर्थ थे, उत्पादन तथा तकनीकी धंधों से घृणा करते थे। अतः, १९५९ ई० बुनियादी प्राथमिक स्कूल-अवधि आठ वर्ष कर दी गई और इसके पाठ्यक्रम में विज्ञान के मूलतत्त्व, रूसी भाषा, गणित, इतिहास, भौतिकशास्त्र, विदेशी भाषा और भूगोल के साथ-साथ कारखाना-प्रशिक्षण, ड्राइंग, संगीत, भौतिक संस्कृति आदि रखे गए। तब से सभी छात्रों से यह आशा की जाती है कि वे किसी प्रकार के उत्पादन-धंधे में नौकरी करें और उनमें से जो अपना काम पूरा करके अपने निर्धारित श्रम-घंटे कम करवा सकें, उन्हें तीनवर्षीय रात्रि माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा जारी रखने की सुविधाएँ दी जाती हैं। इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में सामान्य शिक्षा और तकनीकी विषय रखे गए हैं जिनमें गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान, रूसी साहित्य, सोवियत संघ का इतिहास, आर्थिक भूगोल और एक विदेशी भाषा सम्मिलित हैं। इनमें गणित और भौतिकशास्त्र के लिए सबसे अधिक घंटों का विनिधान किया जाता है। यद्यपि अल्पसंख्यक विशेष योग्यता वाले छात्र आठवर्षीय स्कूल से सीधे ही पूरे समय वाले हाई स्कूल शैक्षिक पाठ्यक्रम और उसके बाद विश्वविद्यालयों में चले जाते हैं, परंतु आठवर्षीय स्कूल शिक्षा के पश्चात् छात्रों के लिए मुख्य रास्ते हैं (१) जो छात्र दाखिले की कड़ी शर्तें पूरी करते हैं, व्यवसाय-संबंधी हाई स्कूल शिक्षा प्राप्ति के किसी पश्चात् किसी नौकरी या विश्वविद्यालय में प्रवेश कर सकते हैं, अथवा (२) किसी तकनीकी हाई स्कूल में प्रशिक्षण प्राप्त करके नौकरी पर लग सकते हैं। रिहायशी स्कूलों की संख्या में वृद्धि होती रही है। इन स्कूलों में पढ़ाई और रहन-सहन का प्रबंध निःशुल्क होता है, यद्यपि परिवार सामर्थ्य होने पर, बच्चे के रहन-सहन के खर्च के लिए अंशदान करता है। ये स्कूल या तो आठवर्षीय बुनियादी शिक्षा या हाई स्कूल सहित पूरे ग्यारह वर्ष की शिक्षा देते हैं। कहा जाता है कि ये सोवियत संघ में उपलब्ध श्रेष्ठतम बुनियादी और हाई स्कूल शिक्षा देते हैं।

योग्य अमेरिकी व्यक्ति, जिन्होंने सोवियत शिक्षातंत्र का स्वयं अध्ययन किया है, इस तुलना से प्रभावित हुए हैं कि रूसी अपने अर्थतंत्र की विशिष्ट श्रम-शक्ति और व्यावसायिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर शिक्षा एवं प्रशिक्षण देते हैं, जबकि हम शिक्षा के सामान्य पहलुओं पर बहुत अधिक बल देते हैं, जिसमें छात्रों को व्यक्तिगत रुचि के अनुसार पाठ्यक्रम और मुख्यांश चुनने की स्वतंत्रता होती है। सोवियत जनता की शिक्षा के लिए उत्सुकता (जिसे 'महान भावावेग' कहा है) और शिक्षा-सुविधाओं में तीव्र वृद्धि की अत्यंत सराहना की जाती है। अन्य उल्लेखनीय बातें हैं--उपकरणों की बहुत बढ़िया किस्म, अनुकूल शिक्षक-छात्र अनुपात, उत्पादन-कार्य पर बल, अनुशासनशीलता और पाठ्यविषयेतर कार्यों के अधीक्षणक में सहयोग देने

का 'पायोनियर' (स्कूल जाने वाली आयु के बच्चों का एक संगठन) का कार्य और शारीरिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर जोर। कुछ शंकाएँ और आलोचनाएँ भाषा-प्रशिक्षण की अनावश्यकता, सब छात्रों द्वारा वर्दी पहनने, शास्त्रीय विद्या के महत्त्व का अभाव और अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के अर्थतंत्र तथा समाज-सबंधी शिक्षा के अभाव के बारे में दी जाती हैं।

उच्चतर शिक्षा के लिए एक रोचक नवीन क्रिया 'पीपुलस फ्रेंडशिप यूनिवर्सिटी' का संगठन है, जिसकी स्थापना नवंबर, १९६० ई० में हुई। यहाँ केवल विदेशी छात्र पढ़ते हैं और इसमें अध्ययन के मुख्य क्षेत्र इंजीनियरी, कृषि, चिकित्सा, भौतिक विज्ञान और गणित, इतिहास और भाषाविज्ञान, अर्थशास्त्र और विधिशास्त्र हैं। चिकित्सा का पाठ्यक्रम ५ वर्ष और अन्य विषयों की विशेषज्ञता का ४ वर्ष का है। यदि आवश्यक हो, तो एक से तीन वर्ष का समय 'प्रारंभिक पढ़ाई' के लिए निश्चित किया जाता है। प्रार्थी दाखिले के लिए आवेदनपत्र अपने देश में स्थित सोवियत राजदूतावास और कौन्सलावास में दे सकते हैं तथा उनके चयन के लिए परीक्षा भी वहीं ली जाती है। वहाँ शिक्षा निःशुल्क है, सारे छात्रों को वृत्तिकाएँ मिलती हैं और उन्हें मास्को तक आने-जाने का खर्च दिया जाता है। पहले वर्ष पाँच सौ छात्र दाखिल किए गए थे। चार वर्षों में छात्र-संख्या तीन या चार हजार तक बढ़ाई जाएगी। मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका से छात्रों के आने की आशा है। १९६० ई० की ग्रीष्म ऋतु में बताया गया था कि वेनेजुएला के साम्यवादी दल ने रूस में उपलब्ध फ्रेंडशिप यूनिवर्सिटी का सारा खर्च वहन करने वाली सैकड़ों छात्रवृत्तियों के लिए आवेदन करने के लिए हाई स्कूल स्नातक ढूँढने का अभियान चलाया।[1] वास्तव में, १९६० ई० के दाखिले के लिए एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका से लगभग २५,००० आवेदनपत्रों के आने की सूचना दी गई थी।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में सोवियत संघ की प्रगति के बारे में लोकप्रिय प्रकाशनों में इतना लिखा जा चुका है कि यहाँ और कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। संभवतः हमारी जनता को यह विश्वास दिलाना आवश्यक होगा कि वे जादूगर नहीं हैं तथा उनकी वैज्ञानिक प्रगति के स्रोत वास्तव में वही हैं, जैसे कि हमारे हैं : उच्चतर शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए साधनों का उदारतापूर्वक विनिधान और छात्रों, अध्यापकों एवं अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा दत्तचित्तता और निष्ठापूर्वक कार्य सोवियत संघ में, अन्य सभी अनुसंधानों की भाँति, वैज्ञानिक

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, १० जुलाई, १९६०।

अनुसंधान बहुत ही सुव्यवस्थित है। रूस के उच्च वैज्ञानिक संगठनों में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ विज्ञान-अकादमी—जो कि मंत्रिपरिषद् के प्रति उत्तरदायी है और उसे प्रति वर्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है—और १५ अन्य विज्ञान-अकादमियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के प्रति उत्तरदायी हैं। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की विज्ञान-अकादमी में, संबंधित वैज्ञानिक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए बहुत से संस्थान सम्मिलित हैं, जैसे कि अर्थशास्त्र संस्थान। अनुसंधान का वास्तविक कार्य अनुसंधान-संस्थानों की एक सुव्यवस्थित शृंखला में होता है। अकादमी वार्षिक और इससे अधिक समयावधि वाली, दोनों ही प्रकार की अनुसंधान-योजनाओं को तैयार करती है। इसका सारा खर्च सरकारी बजट से होता है। अकादमी का सदस्य चुना जाना वैज्ञानिकों के लिए उच्चतम व्यवसायक सम्मान माना जाता है। इसकी सदस्यता ५०० है, जिसमें सभी ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक सम्मिलित हैं। इसकी समस्त सदस्यता से इसकी महासभा बनती है। इसके शासन निकाय की वर्ष में दो बैठकें होती हैं। 'प्रेसीडियम' या महासभा की कार्यकारी समिति अकादमी के प्रयोग के लिए विनियोजित धन का विनिधान करती है और महासभा की बैठकों के बीच की समयावधि में अकादमी के कार्यों का प्रशासन करती है। हाल ही में प्रेसीडियम के अकादमी अंगभूत-संगठनों में किए गए अनुसंधान-कार्य का नियंत्रण करने के अधिकार को किसी सीमा तक विकेंद्रीकृत कर दिया गया है और संस्थानों को अपने अनुसंधान-कार्य में अधिक स्वतंत्रता दे दी गई है।

उद्योग में विज्ञान का एक सीधा प्रयोग स्वचालित यंत्रीकरण है। इसमें स्वचालित मशीनें क्रमिक रूप से कार्य करने के लिए एक दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। एक मशीन से दूसरी मशीन को सामग्री का बहाव स्वचालित युक्तियों द्वारा होता है। इस प्रकार अनेक मशीनों का व्यक्तिगत नियंत्रण बिजली द्वारा फीता-रिकार्डर पर निर्दिष्ट अनुदेश या कार्यक्रम के अनुसार होता है। स्वचालित मशीनों द्वारा कार्य की गुणवत्ता की जाँच तथा कार्य को विनियमित भी किया जाता है। यद्यपि अमेरिका में स्वचालित यंत्रीकरण तीव्रगति से बढ़ रहा है, परंतु वहाँ प्रायः या तो एक मशीन को या संबद्ध मशीनों के समूह को बदल कर स्वचालित यंत्रीकरण किया गया है। सोवियत इंजीनियरों तथा आयोजकों का रुझान स्वचालित यंत्रीकरण का प्रयोग एक संपूर्ण नए संयंत्र को पूर्णतः स्वचालित करने की ओर अधिक रहा है। उदाहरणार्थ सातवर्षीय योजना में १९६५ ई० तक पचास स्वचालित प्रयोगात्मक संयंत्रों के निर्माण का आयोजन किया गया है, जो कि मुख्यतः धातु-कार्य-संबंधी उद्योगों में लगेंगे। इस योजना में प्रत्याशित श्रमिक उत्पादनशीलता में वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण भाग स्वचालित यंत्रीकरण द्वारा प्राप्त होने की आशा है। प्रयोगात्मक संयंत्रों में

श्रमिक उत्पादनशीलता में ५० से ४०० प्रतिशत तक वृद्धि होने का अनुमान है। सरकारी आयोजना समिति के अधीन एक स्वचालित यंत्रीकरण संस्थान है। सोवियत आयोजक अपने अर्थतंत्र में चल रहे स्वचालित यंत्रीकरण के कुछ लाभों का दावा करते हैं, जो कि उनके अनुसार, हमारे अर्थतंत्र में प्राप्त नहीं हो सकते। श्रमिकों की निरंतर कमी के कारण वहाँ तकनीकी विस्थापित श्रमिकों को अन्य नए या पुराने उद्योग में लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह तर्क दिया जाता है कि इसके कारण श्रमिक स्वचालित यंत्रीकरण को स्वीकार करने के लिए अधिक तैयार हो जाते हैं और इसके संस्थापन एवं प्रभावपूर्ण इस्तेमाल में सहयोग देते हैं। यह कहा जाता है कि आयोजित प्रशिक्षण सुविधाओं के कारण सोवियत उद्योग बहुत से श्रमिकों को मशीन कार्यों से तकनीकी तथा निम्नतर इंजीनियरी पदों पर, न्यूनतम कठिनाई और मजूरी में सुधार करके, सुविधापूर्वक स्थानांतरित करने योग्य हैं। जैसी कि आशा की जाती है कि स्वचालित यंत्रीकरण का सैद्धांतिक पहलू भी है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार समाजवादी शासनकाल में शारीरिक और बौद्धिक कार्य का अंतर धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। सोवियत नेताओं का कहना है कि स्वचालित यंत्रीकरण शारीरिक दृष्टि से कुशल और अर्द्धकुशल मशीन चलाने वाले पदों के स्थान पर तकनीकी और इंजीनियरी पद बना कर इस अंतर को सतत् रूप से बढ़ा रहा है।

सोवियत अर्थतंत्र की समस्याएँ : लक्ष्य-निर्धारण

हमारे मूल्यांकन में इस स्थिति तक तो ऐसा प्रतीत होगा, मानो हम कह रहे हों कि सोवियत अर्थतंत्र में "सब कुछ भली-भाँति होता रहता है।" जिस कसौटी द्वारा हमने परीक्षण किया है, उसके आधार पर तो हमारे विश्लेषण का निष्कर्ष यही होगा। किंतु, अर्थतंत्र में भावी आर्थिक सफलताएँ या 'दीर्घकालीन' लक्ष्यों में अपेक्षित महान् सफलताएँ तभी प्राप्त हो सकेंगी, जब गंभीर और कहीं-कहीं भ्रांतिजनक मौजूदा अनिर्णीत समस्याओं के यथोचित प्रभावी समाधान निकाल लिए जाएँ और उन्हें लागू किया जाए। कृषि-उद्योग-प्रशासन के विकेंद्रीकरण और मूल्य-निर्धारण के विषयों का विवेचन करते समय इनमें से कुछ समस्याओं का उल्लेख किया जा चुका है। जिन समस्याओं का विवेचन हम कर चुके हैं, उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका सोवियत अर्थतंत्र से घनिष्ठ संबंध है। यद्यपि स्थानाभाव के कारण इन सभी समस्याओं या इनमें से किसी एक का भी पूर्ण विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता, तथापि इनमें से अत्यंत महत्त्वपूर्ण दो समस्याओं का उदाहरणस्वरूप संक्षिप्त निरूपण यहाँ पर किया जाएगा।

इनमें से प्रथम समस्या का संबंध उद्देश्य या लक्ष्य-निर्धारण है—अर्थात् निर्दिष्ट प्रकार की वस्तु राशि की भावी उपलब्धि हेतु लक्ष्य नियत करना। इस समस्या का संबंध 'दीर्घकालीन' या 'अल्पकालीन' लक्ष्यों से भी नहीं है, जैसा कि इनके विवेचन से प्रतीत होगा। 'दीर्घकालीन' लक्ष्य तो अमूर्त्त रूप के होते हैं, जिनकी उपलब्धियों को परिमाण-रूप में स्वतः कभी भी आँकना आवश्यक नहीं है। पंचवर्षीय या सप्त-वर्षीय योजनाओं के अल्पकालीन लक्ष्यों की उपलब्धियों को परिमाण-रूप में आँकना आवश्यक है। किंतु, ऐसा करने में पूर्व विवेचित समस्याओं के अतिरिक्त कोई अन्य गंभीर समस्या नहीं हैं। इन्हें पदार्थों के परिमाण के रूप में व्यक्त किया जाता है—यथा इतने टन इस्पात, इतने आलू आदि-आदि। वार्षिक योजनाओं के लक्ष्य भी पदार्थ-मात्रा में निर्धारित किए जाते हैं। इन योजनाओं में खपने वाली उचित सामग्री का आयोजन और विनिधान करने में भी कोई गंभीर कठिनाई नहीं होती। किंतु, जब इन लक्ष्यों को उद्यमवार या उद्यम के ही अंतर्गत कारखानेवार निर्दिष्ट नियतांशों में विभाजित करना पड़ता है तब यह प्रश्न, कि इन लक्ष्यों का परिमाण-निर्धारण किस प्रकार किया जाए, एक विकट समस्या बन जाती है। फिर भी, परिमाण-निर्धारण निःसंदेह वस्तुगत राशियों के रूप में ही होना चाहिए—किंतु, किस प्रकार की वस्तुगत राशियों में? सूती कपड़े के कारखानों का लक्ष्य किस प्रकार व्यक्त किया जाएगा—मीटरों में, वर्ग-मीटरों में या टनों में? क्या ट्रैक्टर-संयंत्र के लक्ष्य, ट्रैक्टरों की संख्या, ट्रैक्टरों की कुल अश्वशक्ति या परिमाणसूचक किसी अन्य पद द्वारा व्यक्त किए जाएँ? क्या ढलाई के संयंत्र के लक्ष्य ढली वस्तुओं के तौल के रूप में अथवा उनकी संख्या के रूप में व्यक्त किए जाएँ? यदि प्रत्येक कपड़ा-मिल, प्रत्येक ट्रैक्टर संयंत्र या प्रत्येक ढलाई संयंत्र से अपेक्षित उत्पादन पूर्णतः समरूप हो तो कोई समस्या ही न होगी। परंतु, वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। एक ही मिल से एक ही अवधि में विभिन्न चौड़ाइयों, मोटाइयों, रंगों, डिजाइनों की विभिन्न प्रकार के ताने-बानों आदि के कपड़े तैयार किए जाने की आशा की जाती है और इस दृष्टि से मासिक उत्पादन समरूप न होकर विषमरूप कपड़ों में होगा। इसी प्रकार एक ट्रैक्टर सयंत्र विभिन्न प्रकार के इंजनों और गियरों से युक्त विभिन्न माडलों के ट्रैक्टर तैयार करेगा जिनका वजन, अश्वशक्ति तथा अन्य बातें भिन्न रहेंगी। कोई ढलाई संयंत्र पूर्णतः विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से निर्मित अथवा एक ही प्रकार की सामग्रियों के विभिन्न अनुपाती मिश्रणों से निर्मित विभिन्न आकार-प्रकार तथा माप वाली ढली वस्तुएँ एक साथ ही तैयार करेगा। सभी प्रकार के निर्माण उद्योग उप-भोक्ता-माल-उद्योग तथा उत्पादक-माल-उद्योग दोनों पर ही उपयुक्त उदाहरण यथार्थतः घटित होते हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि किसी निर्दिष्ट संयंत्र से प्रत्याशित उत्पादन की प्रत्येक किस्म पूर्णतः भिन्न प्रकार की सामग्रियों से बने, या किसी विशेष सामग्री की पूर्णतः विभिन्न किस्मों से बने, तो यह समस्या इतनी जटिल नहीं रहेगी। यदि ऐसा होने लगे, तो किसी संयंत्रविशेष को नियत न की जाने वाली निर्माण-सामग्रियों को उन विभिन्न प्रकार की सामग्रियों की मात्रा तक या एक प्रकार की सामग्री की विभिन्न किस्मों तक ही सीमित किया जा सकता है, जिससे उत्पादन-योजना में अपेक्षित उत्पादन वस्तु की प्रत्येक किस्म का पूरी-पूरी मात्रा में उत्पादन हो सके। किंतु, वास्तविक परिस्थितियों में ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न चौड़ाइयों, मोटाइयों, भिन्न-भिन्न प्रकार के तानों-बानों और फिनिश वाले सूती कपड़े सब एक ही प्रकार के मूल सूतों से बनते हैं। एक ही प्रकार के मूल इस्पात से विभिन्न आकार-प्रकार आदि के ट्रैक्टर तैयार किए जाते हैं। यद्यपि ढलाई का सब माल एक ही प्रकार के लोहे, इस्पात या अन्य धातुओं से बनता है किंतु वह आकार-प्रकार, वजन आदि में अलग-अलग होगा। उत्पादन-सूची के अनुसार किए जाने वाले किसी अवधिविशेष के उत्पादन में आकार-प्रकार की किस्मों, शैली, वजन आदि बातों में मेल बिठाने के मामलों में यदि कपड़ा-मिल ट्रैक्टर-संयंत्र या ढलाई-संयंत्र के निदेशक को अपनी इच्छा या परिस्थिति के अनुसार काम करने का कोई अधिकार न रहे, तो भी समस्या गंभीर नहीं होगी। किंतु इस प्रकार की गई सख्ती और विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में उनके विस्तार, से निदेशक के प्रबंध-कार्य के अधिकार पर इतनी रोक लग जाएगी कि संयंत्र के कुशल संचालन के लिए उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा। उत्पादन के लिए संयंत्र की मशीनरी और श्रम के पूरे-पूरे उपयोग की दृष्टि से यह आवश्यक है कि निदेशक को, जो कि संयंत्र के कुशल संचालन के लिए उत्तरदायी है, अपनी परिसीमाओं के अंतर्गत, प्रत्येक दिन ही नहीं, अपितु प्रत्येक घंटे की उत्पादन-सूची में हेर-फेर करने का अधिकार हो।

सोवियत निर्माण-उद्योग में 'परिसीमाओं के अंतर्गत' का अर्थ है कि प्रत्येक उद्यम अपने मासिक उत्पादन नियतांश के अनुसार कार्य करता है। चूंकि निर्धारित मासिक नियतांश का इतना सूक्ष्म उप-विभाजन व्यावहारिक नहीं होगा, जिससे कि उदाहरणार्थ, किसी संयंत्रविशेष में ट्रैक्टरों की हर प्रकार की संख्या की हर शैल, अश्वशक्ति, आकार-प्रकार, रंग तथा हर प्रकार के अन्य भेदों-उपभेदों आदि की राशि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट की जा सके, इसलिए संयंत्र के मासिक और तदनुसार वार्षिक उत्पादन-लक्ष्य को उत्पादन की ऐसी 'परिमाण इकाई' के माध्यम से व्यक्त किया जाए, जिसके द्वारा सभी किस्म के ट्रैक्टर उत्पादन को यह निर्धारित करने के लिए मापा जा सके कि संयंत्र अपनी मासिक अथवा वार्षिक 'योजना' पूरी कर सका है या नहीं। 'योजनाओं' के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निदेशक और फल-

स्वरूप सारे संयंत्र पर, डाला गया दबाव, असफलताओं के कारण उच्च अभिकरणों की भर्त्सना का रूप धारण करता है। इससे योजना के लक्ष्यों की पूर्ति या अतिपूर्ति होने पर आश्वस्त बोनस की अदायगी भी समाप्त हो जाती है। अतः, समस्या यह है—संयंत्र 'परिमाण इकाई' के रूप में व्यक्त मासिक या वार्षिक उत्पादन नियतांश की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, भले ही वह 'परिमाण इकाई' उत्पादित पदार्थों के आकार-प्रकार, वजनों, रंगों आदि को, जिनसे मास या वर्ष के कुल उत्पादन की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है, ठीक-ठीक या पर्याप्त रूप से व्यक्त नहीं करता।

आवश्यकता से ही वास्तव में संबंधित संयंत्र को अपने माल की किस्यों के कुछ ऐसे 'परिमाण इकाई' के रूप में उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करने की मिश्रित रूप तैयार करने का अभिप्रेरण मिलता है, जो आयोजित मिश्रित रूप से भिन्न हों। हमने अभी तक जिन उद्योगों की चर्चा की है, उनमें से एक के द्वारा इस कथन का निरूपण संभवतः भली-भाँति किया जा सकता है: ढली हुई वस्तु-लोहा, इस्पात, एल्यूमिनियम आदि धातुओं का या कई धातुओं के मिश्रण से बनी मिश्रधातु—का टुकड़ा मात्र है, जिसे आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त आकार और परिमाप में ढाला जाता है। इसके परिमाप प्रायः इतने यथार्थ होते हैं कि ढलाई के बाद इसे मशीन पर चढ़ाकर इसके परिमाप परिशुद्ध किए जाते हैं। अतः 'ढलाई घर' में ढलाई की जाती है और धातु का काम करने वाले संयंत्रों में सभी प्रकार का मशीन का काम किया जाता है। यदि किसी ढलाई संयंत्र का मासिक और तदनुसार वार्षिक उत्पादन लक्ष्य ढली वस्तुओं के कुल भार के रूप में निर्धारित किया जाए, तो छोटी और हल्की ढली वस्तुओं की बजाए बड़ी और भारी ढली वस्तुओं के उत्पादन द्वारा बड़ी आसानी से लक्ष्य तक या उससे आगे पहुँचा जा सकता है। चूंकि एल्यूमिनियम की अपेक्षा लोहे या इस्पात की निश्चित आकार की ढली वस्तुओं का वजन अधिक होता है, इसलिए उत्पादन के लिए एल्यूमिनियम की अपेक्षा लोहे या इस्पात को अधिक अनुकूल समझा जाएगा। मास के अंत में यद्यपि ढली वस्तुओं के कुल वजन के लक्ष्य तक तो पहुँच जाएँगे, किंतु उत्पादित ढली वस्तुओं के विभिन्न आकारों और बनावट की वास्तविक मात्रा उत्पादन की योजनाबद्ध वस्तुओं के स्वरूप से बिल्कुल ही भिन्न होगी। यदि मासिक नियतांश को ढली वस्तुओं की निरपेक्ष संख्या के रूप में व्यक्त किया जाए तो उत्पादन में इस प्रकार की अभिप्रेरणा होगी कि वृहत् आकार की ढली वस्तुओं की उपेक्षा की जाए और छोटे आकार की वस्तुओं पर अधिक बल दिया जाए। इस प्रकार न केवल अधिक आसानी से उत्पादन के मासिक नियतांश से भी अधिक उत्पादन होगा, बल्कि ऐसा भी प्रतीत होगा कि इससे विनिहित कच्ची सामग्री के उपयोग में भी उल्लेखनीय बचत हुई है। यदि संभवतः वजन और संख्या को

मिलाकर एक संयुक्त सूचक बना दिया जाए, तो भी समस्या हल नहीं होगी। कुछ सामग्रियों की ढलाई अन्य सामग्रियों की अपेक्षा आसान होती है और इसका परिणाम यह हो सकता है कि किसी समय वजन संख्या का नियतांश तो पूरा हो सकता है या नियतांश से अधिक प्राप्ति हो सकती है। परंतु, उसी समय उत्पादन संयंत्र से प्राप्त इस्पात और लोहे को ढली वस्तुओं के सापेक्ष अनुपात तक पहुँचने की दृष्टि से बहुत कम रह सकता है।

इस उदाहरण के निहितार्थ को समझ लेने वाला विद्यार्थी यहाँ निःसंदेह महसूस करता है कि ढली वस्तुओं के मूल्य को धनराशि में समरूप ढंग से अभिव्यक्त करके अर्थात् एक मास में उत्पादित ढली वस्तुओं की कुल कीमत रुबल के रूप में बताकर इस समस्त समस्या का हल निकाला जा सकता है। परंतु यह हल कारगर तभी होगा, जब कुछ यथार्थ धारणा सत्य हो, जैसे ढली वस्तु का आकार, आकृति, धातु-रचना इत्यादि के संयोजन का ऐसा रुबल मूल्य नियत कर दिया जाए, जिससे उस संयंत्र में ढली उसी किस्म की वस्तुओं के उत्पादन की रुबल लागत को सही-सही आँका जा सके। किंतु सभी ढलाई संयंत्रों में, यहाँ तक कि किसी एक ढलाई संयंत्र में, ढली वस्तुओं की विभिन्न किस्मों की उत्पादन लागतों में सभी प्रकार के परस्पर अंतरों को ढूँढ निकालना बिल्कुल असंभव कार्य होगा। जब तक ढली वस्तुओं की विभन्न किस्मों की लागतों के अंतरों को उन किस्मों के मूल्यों के अंतरों द्वारा द्वारा यथार्थ रूप से दर्शाया नहीं जाता, तब तक लक्ष्यप्राप्ति के निश्चय हेतु अपने-अपने मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से, कुछ वस्तुएँ अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कम इकाई-लागत पर उत्पाद्य होंगी। संयंत्र को लाभ इस बात में होगा कि वह ऐसी ढली वस्तुओं का अधिक उत्पादन करे, जिनका मूल्य उनकी उत्पादन-लागत से अधिक हो और ऐसी वस्तुओं का कम उत्पादन करे, जिनका मूल्य उत्पादन-लागत से कम हो—इस प्रकार उत्पाद मेल आयोजित मेल से अलग हट जाएगा।

यह समस्या ऊपर बताए गए उदाहरण की अपेक्षा अधिक पेचीदा और नाजुक है। यदि संयंत्र को उन सब कार्यों को करने के लिए प्रेरित किया जाना है, जिन्हें आयोजक और उच्च प्रशासक चाहते हैं, तो उसके लिए ऐसे लक्ष्य निर्धारित किए जाने चाहिए, जो निरपेक्ष उत्पादन के लक्ष्य के तौर पर सामग्री या मूल्य में निर्धारित न किए जा सकते हों। ये लक्ष्य निम्न रूप में निर्धारित होने चाहिए (सोवियत संघ में इसी रूप में निर्धारित हैं)—यथा अनुरक्षण लागत में कमी, अति दुर्लभ पुर्जों या सामग्रियों का संरक्षण, श्रमिकों की प्रति श्रम-घंटा उत्पादिता में वृद्धि, प्रति इकाई उत्पादन में बिजली के खर्च में कमी, निर्माण-प्रक्रिया में सामग्रियों के छीजन की मात्रा में कमी, आदि। इस लक्ष्य-बाहुल्य से समस्याओं में जटिलताओं की प्रचु-

रता बढ़ती है। यदि विद्यार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँच गया है कि इन समस्याओं का कोई यथार्थ हल नहीं है, तो वह सोवियत आयोजकों और प्रशासकों के वास्तविक अनुभव से सहमत हो जाता है। जहाँ किसी संयंत्र के लिए अनेक आधारभूत विषमरूप ध्येय या लक्ष्य एक ही साथ लागू हों, वहाँ इस बात की संभावना नहीं रहती कि उनको एक समरूप लक्ष्य के रूप में ढाल दिया जाए; क्योंकि इस सम्मिश्रण में विषमांग भागों का संतुलन इस प्रकार रहेगा कि उनके प्रति संयंत्र की अनुक्रिया आयोजकों और उच्च प्रशासकों द्वारा वांछित अनेक बहुरूपी उत्पाद के विशिष्ट मेल के रूप में होगी।

इन निर्णायक शब्दों में समस्या के कथन मात्र से ही इसका यथार्थ हल खोज निकालने की असंभावनाएँ अपने-आप प्रदर्शित हो जाती हैं। फिर भी यदि अलग-अलग उद्यम के स्तर पर आर्थिक योजना और उत्पादन को प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत वांछित श्रेणियों, आदर्शों, आकारों आदि के समग्र भौतिक उत्पादन की अधिकतम सीमा की ओर ले जाना है, तो यह परमावश्यक है कि समस्या का यथासंभव प्रभावी ढंग से सामना किया जाए। सोवियत संघ में आयोजना और आर्थिक प्रशासन का उद्देश्य यही है। हालांकि उपयुक्त समस्या न तो एकाकी है और न ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, किंतु यह एक मूल समस्या है। साधारणतम रूप में आज तक का प्रयत्न यही रहा है कि संयंत्र के लक्ष्य को मुख्यतः आयोजकों और प्रशासकों द्वारा सुनिश्चित की जाने वाली मात्रा के अत्यधिक सार्थक एकक के रूप में निर्धारित कर दिया जाए और बाद में इसकी अनुपूर्ति ऐसे सहवर्त्ती ध्येय या लक्ष्यों से की जाए, जो उपयुक्त लगें। यंत्र का कुल उत्पादन भौतिक इकाइयों—यथा टनों, मीटरों या वर्ग-मीटरों, इकाई संख्या के रूप में, या उत्पादन के रूबल मूल्य के रूप में आँका जाता है। इस प्रकार किसी उद्योग में अलग-अलग संयंत्रों कि उत्पादन के अलग-अलग लक्ष्य हो सकते हैं। इन लक्ष्यों के अतिरिक्त प्रति श्रम-घंटा के बढ़े हुए उत्पादन के लक्ष्य भी हैं। यह स्पष्ट है कि एक साथ प्रभावी होने वाले लक्ष्यों के विभिन्न प्रकारों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण संयंत्र का निदेशक शेष लक्ष्यों के मुकाबले में किसी एक लक्ष्य पर विशेष बल देने लिए प्रेरित हो जाता है। वह ऐसा इस कल्पना के आधार पर करता है कि उसके उच्चाधिकारी निदेशक के रूप में उसकी सक्षमता का मूल्यांकन करते समय अन्य लक्ष्यों के मुकाबले में किसी एक लक्ष्य पर लक्ष्यों को अधिक महत्त्व देंगे। जैसा कि सोवियत संघ में, कम-से-कम, सिद्धांत रूप से समझा जाता है, आर्थिक आयोजना की मूल पद्धतियों और उद्देश्यों के साथ इस प्रकार की कल्पना मुश्किल से ही मेल खाती है।

इस सारी समस्या के एक अद्भुत उदाहरण का उल्लेख किसी अन्य प्रसंग में किया गया है। उद्योग-प्रशासन के विकेंद्रीकरण से यह पता चला कि योजना पूरी

करने के बारे में क्षेत्रीय आर्थिक परिषदों के मापदंड आत्मनिर्भरता की अभिवृत्ति से भरपूर थे। इसके कारण सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की राजाज्ञा जारी हुई, जिसके अनुसार सभी उद्यमों के लिए पूर्व-नियत मापदंडों में एक नया मापदंड जोड़ दिया गया कि अन्य सभी लक्ष्यों तक पहुँचने के साथ-साथ जब तक उद्यम अन्य क्षेत्रीय परिषदों के क्षेत्र में स्थित उद्योगों को सामग्री, पुर्जे या मशीनरी देने के अपने संविदागत दायित्वों का भली-भाँति पालन नहीं करता, तब तक किसी भी उद्यम की योजना न तो संपन्न हुई मानी जाएगी और न ही इसके संपन्न होने का बोनस दिया जाएगा।

अंत में इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि यह एक ऐसी समस्या नहीं है, जिसका सही समाधान पर्याप्त दूरदर्शी आयोजना तथा प्रशासकीय सावधानी द्वारा ढूँढा जा सकेगा। सोवियत अर्थतंत्र की यह एक लगातार रहने वाली समस्या बनी रहेगी। असंभव परिपूर्णता के स्थान पर फलवत्ता की वह मात्रा, जिसके साथ इसे संचालित किया जाता है 'अल्पकालीन' तथा इसी कारण 'दीर्घकालीन' लक्ष्यों की दिशा में प्राप्त सफलता की मात्रा का महत्त्वपूर्ण निर्णायक तत्त्व होगी।[1]

सोवियत अर्थतंत्र की समस्याएँ : पूँजी-प्रभावशालिता का अनुमान

१९६० ई० में लगभग २५,६०,००० करोड़ रूबल (जो कि सरकारी विनिमय-दर के अनुसार ६,४०,००० करोड़ डालर के बराबर है) नए औद्योगिक संयंत्रों के निर्माण में निवेश किए गए, जिनमें (कुल के एक-तिहाई के लगभग) मशीनों और औद्योगिक संस्थानों के लिए उपकरणों की लागत सम्मिलित है। कुल निवेश का ७० प्रतिशत भाग सरकारी बजट से विनियोजित किया गया, जबकि शेष उन निधियों से लगाया गया, जो कि उद्यमों के पास अपनी सुविधाओं की प्राप्ति के लिए निवेश करने हेतु उपलब्ध थीं। ये सब वास्तविक उत्पादनशील साधनों का श्रम, प्राकृतिक साधनों औजारों और उपकरणों का जिनकों कि तत्काल उपभोग-संबंधी उत्पादन की अपेक्षा औद्योगिक क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाया गया है, मुद्रा में निरूपण करते हैं। कम-से-कम सरकारी वजट से निवेश की जाने वाली ७० प्रतिशत पूँजी का अनेक

---

[1] इस समस्या और इससे संबंधित गौण मामलों के संक्षिप्त तथा अत्युत्तम विश्लेषण के लिए ए० नोव की 'दि प्रॉब्लेम ऑफ सक्सेस इंडीकेटर्स इन सोवियत इंडस्ट्री' इकोनॉमिका, फरवरी, १९५८ ई०, पृष्ठ १-१३ देखिए. अधिक विस्तृत व्याख्या, जो कि इस समस्या के असंख्य विवरणों की जाँच करती है, के लिए हंस हिर्षकी 'क्वांटिटी प्राइस प्लानिंग इन दि सोवियत यूनियन' जिसका अनुवाद कार्ल डब्ल्यू० एच० स्कोल्ज और संपादन विलियम एन० लाक्स फिलाडेल्फिया, यूनिवर्सिटी ऑफ पेनसिलवेनिया प्रेस, १९६१ ई०, द्वारा किया गया है।

प्रकार के उद्योगों, उद्यमों और उपकरणों तथा मशीनों आदि में विनिधान आर्थिक आयोजना का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम है, जिसमें कि मुख्य विनिधानों का नियंत्रण केंद्रीकृत आर्थिक व्यवस्था द्वारा होता है। स्पष्टत:, यह तथ्य कि उद्योग के विस्तार के लिए यह पूँजी का संभाव्य विनिधान ठीक ढंग से हुआ है या नहीं, काफी सीमा तक अर्थतंत्र की भावी उत्पादन क्षमता के आकार और स्वरूप को निर्धारित करती है। जब निवेश की बराबर आकार की आवर्त्ती वार्षिक रकमों पर विचार किया जाता है, तो निवेश विनिधान-संबंधी निर्णय लेने की क्रिया का महत्त्व समस्त अर्थतंत्र की क्रिया की अपेक्षा अपना वास्तविक रूप धारण कर लेता है। अमुक विनिधान 'आयोजित' होंगे, इतना कहने मात्र से इस मूल समस्या का समाधान नहीं होता कि उनका आयोजन या विनिधान कैसे होगा, न इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे अर्थतंत्र का अनुपातिक विकास प्राप्त करने के लिए आयोजित किए गए हैं, क्यों इससे इस प्रशन का समाधान नहीं होता कि यह कैसे निर्धारित किया जाएगा कि किसी रकम का निर्दिष्ट उद्योग, उद्यम या पूँजी-निर्माण-योजना में निर्दिष्ट विनिधान 'अनुपात के रूप में' कुल मिलाकर विकास के अनुकूल है।

सोवियत आर्थिक विकास के प्रारंभिक वर्षों के दौरान निवेश-निर्णय कार्य करने के इस साधारण मूलभूत आधार को लेकर किए जाते थे कि स्पष्टत: क्या करना अपेक्षित होगा और अपने उस क्रमानुसार कौन सा कार्य तर्कसंगत प्रतीत होता हो। इस प्रकार आयोजना के शुरू के वर्षों में, यह स्पष्ट था कि राष्ट्र के उद्योगीकरण के लिए औद्योगिक विद्युत् शक्ति का विस्तृत स्रोत एक पूर्व आवश्यकता थी। इसलिए विद्युत् शक्ति उत्पादन सुविधाओं के निर्माण को प्रमुख प्राथमिकता दी गई। किन्तु अर्थतंत्र के, और विशेषकर उद्योग के, विभिन्न भाग जितने बड़े पेचीदा और अंतःसंलग्न होंगे, पूँजी-निवेश-संबंधी निर्णयों के लिए ऐसा आधार उतना ही अपर्याप्त होगा। जैसे-जैसे औद्योगिक विस्तार होगा, वैसे-वैसे निवेश निधियों की निर्दिष्ट मात्रा किसी विशेष प्रयोग में विनिधान करने पर विस्तृत पूँजीगत उपकरणों से वंचित रहने वाली संभावी वैकल्पिक प्रयोगों की संख्या बढ़ेगी और साथ ही समस्त अर्थतंत्र के पूँजी-विस्तार में किसी एक महत्त्वपूर्ण निवेश की पुनरावृत्ति बहुत अधिक और बहुत प्रभावशाली होगी : एक विस्तारशील अर्थतंत्र में अनुपात-नियम बनाए रखने की दृष्टि से विभिन्न संभव प्रयोगों में निवेश विनिधान के अशोधित तरीके अब हमारी समस्याओं की प्रकृति के अनुकूल नहीं रह गए हैं। सोपेक्षिक पूँजी उत्पादिताओं या प्रभाविताओं का अनुमान अधिक बारीकी से लगाने और पूँजी निवेश का सारा मामला सोवियत अर्थतंत्र के विकास की स्थिति के अनुसार व्यवहार-कुशलता से करने की आवश्यकता है।

पूँजी उत्पादिता या प्रभाविता का अनुमान लगाने का विश्वस्त तरीका इस समस्या के समाधान की पूर्व-आवश्यकता है। इस क्षेत्र में तब तक कोई प्रगति नहीं की जा सकती, जब तक एक उद्योग की अपेक्षा दूसरे उद्योग या एक प्रकार की मशीनरी की अपेक्षा दूसरी प्रकार की मशीनरी—जैसे कि स्वचालित उत्पादन-पद्धति के मुकाबले में पुरानी किस्म की मशीनों का समूह—में १० लाख रूबल निवेश के परिणामस्वरूप उत्पादन में निवल वृद्धि, को किसी प्रकार की एक समान इकाइयों में, जो कि समस्त अर्थतंत्र के लिए सार्थक हो, मापन संभव नहीं होता। सोवियत सिद्धांतवादी और आयोजक इस समस्या पर पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं। आर्थिक पत्रिकाओं में बहुत से लेख लिखे जा चुके हैं और अर्थशास्त्रियों तथा अन्य लोगों के एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय सम्मेलन ने भी इस पर विचार किया है।[1] अन्य कुछ मामलों की तरह जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं, इस समस्या का भी सैद्धांतिक पहलू है। हम अपने अर्थतंत्र में पूँजी निवेश के प्रतिफल को 'व्याज' या 'व्याज-दर' कहने के अभ्यस्त हैं, परंतु इस पद के स्वगुण निर्देशक मार्क्सवादी पद बेशी मूल्य से यह संदेह होता है कि मार्क्स ने राज्य-बैंक द्वारा ऋणों के अतिरिक्त किसी और अर्थ में इसका प्रयोग नहीं किया है। इस सीमित प्रयोग के कारण सोवियत संघ में इस संबंध में गुमराह करने वाली जटिल चर्चाएँ हुईं जो कि रोकी जा सकती थीं, यदि इस समस्या का समाधान व्याज के अस्तित्व को उदारतापूर्वक मान कर निवेश की गई निधियों पर व्याज-दर की संकल्पना का प्रयोग किया जाता।

जहाँ तक सोवियत सैद्धांतिक चर्चाओं का संबंध है; पूँजी क्षमता नापने का विषय अभी बहुत ही प्रारंभिक अवस्था में है। अब तक जो कुछ भी निश्चित रूप से प्रकट हुआ है, जैसा कि इस लेख से प्रतीत होगा, वह है 'आपूर्ति समयावधि' या 'भुगतान समयावधि' की एक ठोस संकल्पना—संभवतः प्रयोग करने के लिए उपरोक्त पद अधिक सार्थक होगा। यह दो वैकल्पिक पूँजी निवेश प्रायोजनाओं या योजनाओं की सापेक्ष क्षमता मापने का एक साधन है। संकल्पना स्वतः तो बहुत सरल है, यद्यपि इसके विस्तृत प्रयोग में असंख्य जटिलताएँ हैं। एक ही वस्तु का उत्पादन करने वाली दो वैकल्पिक निवेश प्रायोजनाओं के लिए प्रयोग किया जाने वाला इस संकल्पना का अंतर्निहित सिद्धांत निम्नलिखित हैं : अधिक पूँजी-प्रधान प्रायोजना के अंतर्गत उत्पादन

---

[1] देखिए, 'समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ के राष्ट्रीय अर्थतंत्र में पूँजी निवेश और नई तकनीकों की आर्थिक क्षमता के निर्धारण की समस्याओं पर अखिल-संघ वैज्ञानिक—तकनीकी सम्मेलन की सिफारिशें—अर्थशास्त्र की समस्याएँ" (रूसी भाषा से अनूदित), जनवरी, १९५९, पृष्ठ ८६-९० । इन सिफारिशों से पहले इस सम्मेलन में प्रस्तुत लेखों का विस्तृत विवरण दिया गया है (पृष्ठ ६८ ८६)।

इकाई लागत से प्राप्त बचत से पूँजी निवेश के अंतर के भुगतान करने के लिए लगने वाले सालों की संख्या अधिक पूँजी-प्रधान प्रायोजना में किए गए अतिरिक्त निवेश की पूँजी क्षमता दर्शाती है। एक अवास्तविक परंतु सुगमता से समझे जाने वाले आँकड़ों वाले अत्यंत सरल उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण हो जाएगा। मान लो, यह निर्णय लिया जाता है कि किसी औद्योगिक क्षेत्र की अतिरिक्त विद्युत्-शक्ति की वार्षिक आवश्यकता लगभत १० लाख किलोवाट प्रति घंटा है और इसकी पूर्ति केवल एक नए संयंत्र के निर्माण द्वारा ही की जा सकती है। आगे, यह भी मान लिया जाए कि विचारणीय विद्युत् संयंत्र केवल दो प्रकार के हैं—भाप-विद्युत् और जल-विद्युत् संयंत्र। यह स्पष्ट है कि बराबर की क्षमता वाले भाप-विद्युत् उत्पादक संयंत्र की अपेक्षा जल-विद्युत् संयंत्र निर्माण हो जाने के पश्चात्, अधिक सस्ते दामों पर बिजली पैदा करेगा। परंतु, भाप-विद्युत् संयंत्र की तुलना में जल-विद्युत् संयंत्र के निर्माण और उपकरणों की लागत अपेक्षतया बहुत अधिक होगी। अब प्रश्न यह उठता है कि जल-यिद्युत् संयंत्र के निर्माण और सज्जित करने के लिए अपेक्षित अतिरिक्त निवेश की पूँजी क्षमता इतनी अधिक है या नहीं कि अधिक निवेश करना उपयुक्त होगा। जल-विद्युत् संयंत्र के अतिरिक्त पूँजी निवेश की तुलना उससे उत्पादन की जाने वाली विद्युत्-शक्ति की लागत इकाई की बचत से कैसे की जा सकती है?

सिद्धांतवादी सामान्य रूप से सहमत हैं कि एक सरल सूत्र बनाकर इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त किया जा सकता है। प्रति घंटा १० लाख किलोवाट बिजली पैदा करने वाले संयंत्र के हमारे उदाहरण के संबंध में यह सूत्र निम्न प्रकार का होगा—

$$\frac{\text{जल-विद्युत् संयंत्र के निर्माण और सज्जित करने के लिए अपेक्षित रूबल निवेश} \quad \text{ऋण } (—) \quad \text{भाप-विद्युत् संयंत्र के निर्माण और सज्जित करने के लिए अपेक्षित रूबल निवेश}}{\text{भाप-विद्युत् के किलोवाट-घंटे की रूबल इकाई लागत ऋण } (—) \text{ जल-विद्युत् के किलोवाट-घंटे की रूबल इकाई लागत गुना वार्षिक उत्पादन क्षमता।}}$$

$$= \text{भुगतान समयावधि}$$

अब मानो जल-विद्युत् संयंत्र के लिए २०० लाख रूबल का निवेश अपेक्षित है, जबकि भाप-विद्युत् संयंत्र के लिए केवल ५० लाख रूबल ही पर्याप्त है। आगे मान लीजिए कि, निर्माण के पश्चात्, भाप-विद्युत् संयंत्र विद्युत्-शक्ति का जनन ५ रूबल प्रति किलोवाट घंटा की दर से करेगा, जबकि जल-विद्युत् संयंत्र इसका जनन केवल ४ रूबल प्रति किलोवाट घंटे की दर से करेगा। ये संख्याएँ सूत्र में निम्नप्रकार घटित की गई हैं—

=२०,०००,००० रूबल—५,०००,००० रूबल = १५,०००,००० रूबल

=५ रूबल—४ रूबल × १,०००,००० किलोवाट घटे १,०००,००० रूबल

= १५ वर्ष

भाप-विद्युत् संयंत्र की बजाय जल-विद्युत् संयंत्र के निर्माण और सज्जित करने के लिए अपेक्षित अतिरिक्त पूँजी निधियों की पूँजी क्षमता इस तथ्य द्वारा नापी गई है कि विद्युत्-शक्ति के जनन की वर्त्तमान लागत में होने वाली बचत १५ वर्ष की अवधि में भाप-विद्युत्-शक्ति के संयंत्र के स्थान पर जल-विद्युत् शक्ति संयंत्र के निर्माण के लिए अपेक्षित अतिरिक्त पूँजी निवेश के बराबर हो जाएगी।

यह उत्तर निकल आने पर हमें जल-विद्युत् और भाप-विद्युत् संयंत्र की पूँजीगत लागत के अंतर की पूर्ति करने के लिए निवेश की गई निधि की पूँजी क्षमता का पता लग जाता है। किंतु, क्या जल-विद्युत् प्रायोजना की अतिरिक्त पूँजी लागत की वसूली के लिए १५ वर्ष तक प्रतीक्षा करना उचित होगा ? यह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उस अतिरिक्त निवेश से, जो कि जल-विद्युत् संयंत्र में किया गया है, और क्या किया जा सकता है; यदि उसका प्रयोग इस उद्देश्य के लिए न किया जाता। किंतु, इसका अर्थ यह हुआ कि भुगतान समयावधि के लिए एक विशेष सामान्य लंबाई है, जो कि दूसरे अन्य प्रयोजनों में पूँजी का निवेश करने के लिए संयुक्त उत्पादन-क्षमता की सूचक है। यदि भुगतान समयावधि की सामान्य लंबाई हो, तो यह कहा जा सकता है कि जल-विद्युत् संयंत्र पात्र करने के लिए अतिरिक्त निवेश आर्थिक दृष्टि से उचित निवेश है या नहीं। यदि 'सामान्य' भुगतान-समयावधि १२ वर्ष हो, तो जल-विद्युत् संयंत्र की अतिरिक्त लागत पर इन निधियों का निवेश करना उचित न होगा; यदि सामान्य समयावधि १८ वर्ष हो, तो यह निवेश उचित होगा। भुगतान-समयावधि-विश्लेषण की उपयोगिता इतनी ही है। सोवियत संघ-जैसे अर्थतंत्र में जहाँ कि नए निवेश पर स्वतंत्र रूप से स्थापित और प्रतियोगिता पूर्ण ढंग से निर्धारित प्रतिफल की कोई सामान्य दर नहीं है, सामान्य भुगतान-समयावधि की कसौटी कैसे प्राप्त होगी ? यदि इस कसौटी का प्रयोग अपेक्षित हो, तो ऐसा प्रतीत होगा कि सोवियत सिद्धांतवादियों द्वारा सामान्य कसौटी प्रनिर्धारण करने के लिए रास्ता ढूँढने के सच्चे प्रयत्न करने पर भी इसकी स्थापना बिल्कुल स्वैच्छिक ढंग से ही करनी पड़ेगी।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि भुगतान-समयावधि वास्तव में निवेश पर व्याज-दर से मिलती-जुलती वस्तु है। जब यह कहा जाता है कि जल-विद्युत् संयंत्र की अतिरिक्त लागत की वर्त्तमान उत्पादन लागत में बचत द्वारा १५ वर्ष के समय में पूर्ति होती है, तो उसका अर्थ यह है कि जल-विद्युत् संयंत्र पर लगाई गई अतिरिक्त

पूँजों से ६$\frac{२}{३}$ प्रतिशत प्रतिवर्ष आय प्राप्त होती है। पूँजीवादी अर्थतंत्र में, जहाँ कि अपेक्षतया निर्बाध और प्रतियोगी बाजार का अस्तित्व है, सदा ही नई निवेश की गई पूँजी के लिए सामान्य प्रतिफल की दर होतीं है, यद्यपि इस दर में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। किसी एक निवेश क्रिया से प्राप्त होने वाले प्रत्याशित व्याज की तुलना सामान्य प्रतिफल दर से की जा सकती है और यदि यह उससे कम है, तो यह स्वतः इस तथ्य का सूचक है कि निर्दिष्ट निधिथों का प्रयोग अपेक्षित निवेश के स्थान पर किसी अन्य निवेश में करना चाहिए। यदि यह व्याज सामान्य प्रतिफल दर से अधिक है, तो निर्दिष्ट निधियों का अपेक्षित निवेश में प्रयोग करना उचित होगा। भुगतान-समयावधि निकालने के लिए किसी तुलनात्मक सामान्य कसौटी के अभाव में, कोई भी परिकलित भुगतान-समयावधि केवल किसी एक प्रकार के निवेश के, किसी दूसरे प्रकार के निवेश के मुकावले में, लाभ सूचित करेगी। यह पूँजी निधियों के विनिधान की समस्या के समाधान के लिए भुगतान-समायवधि की विधि की उपयोगिता को इतना सीमित कर देती है कि यह सोवियत सिद्धांतवादियों द्वारा दिए गए विचार की पात्र भी प्रतीत नहीं होती। परंतु, सोवियत आयोजकों ने इससे भी एक कदम आगे बढ़ने का प्रयास किया है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के बहुत से उद्योगों में से प्रत्येक उद्योग के लिए अधिकतम भुगतान-समयावधि निश्चित कर दी है। तब यह नियम लागू किया जाता है कि उस उद्योग के लिए किसी भी प्रस्तावित पूँजी निवेश प्रायोजना को, जिसकी भुगतान-समयावधि उस उद्योग के लिए निश्चित भुगतान-समयावधि से कम है, स्वीकृति दी जाएगी और किसीं भी पूँजी निवेश प्रायोजना को, जिसकी भुगतान-समयावधि निश्चित भुगतान-समयावधि से अधिक है, स्वीकृति नहीं दी जाएगी।

जबकि यह किसी निर्दिष्ट उद्योग के लिए स्वीकृत किए जाने और स्वीकृत न किए जाने योग्य निवेश प्रस्तावों को छाँटने के लिए एक सरल प्रशासनिक तकनीक है, परंतु प्रत्येक उद्योग के लिए अपनाई गई कसौटी निःसंदेह बहुत ही कृत्रिम है। अतः, यह स्वीकृति देने के स्वैच्छिक नियम होने के अतिरिक्त, अपेक्षतया बेकार है। यह कहना उचित है कि पूँजी निवेश के लिए भुगतान-समयावधि की कसौटी के विषय में विस्तृत चर्चा केवल पूँजी निवेश निधियों के विनिधान के लिए कसौटी ढूँढने की मूल समस्या के संबंध में चिंता प्रकट करती है, परंतु ये चर्चाएँ समस्या के समाधान की दिशा में बहुत छोटा कदम हैं।

विद्यार्थी देखेंगे कि लक्ष्य-निर्धारण, और पूँजी निवेश के लिए कसौटियाँ ढूँढने की समस्या, कई दूसरी समस्याओं की तरह, जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं, वस्तुओं के दाम कैसे निर्धारित होते हैं, के मामले से अच्छी तरह गुँथी हुई हैं। वास्तव

में कुछ अमेरिकी अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार भविष्य में सोवियत अर्थतंत्र के सामने आने वाली मूल समस्या दाम निश्चित करने की है। वे तर्क देते हैं कि यदि इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया जाए जिससे कि प्रत्येक पदार्थ या सेवा के उत्पादन की सामाजिक लागत भली-भाँति प्रकट हो, तो लक्ष्य-निर्धारण और निवेश-विनिधान-जैसी समस्याओं के समाधान के लिए एक ठोस आधार प्राप्त होगा।

व्यक्ति और सरकार में संबंध

सोवियत पद्धति पर पाश्चात्य संसार की पारस्परिक महत्ताओं के दृष्टिकोण से विचार करने से ही उसके मौलिक गुण के बारे में अत्यधिक संदेह पैदा होते हैं। पाश्चात्य परंपराएँ व्यक्ति को लक्ष्य मानती हैं और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य किए जाते हैं। उसकी भलाई, जिसे वह किन्हीं भी साधनों से प्राप्त करता है, हमारा चरम उद्देश्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए हम राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ लगाते हैं। निजी क्षमताओं को पूर्णतः विकसित करने के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता और योग्यता अंतिम कसौटी है, जिसके द्वारा पाश्चात्य संस्थानों, प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के संबंध में अनुमान लगाया जाता है। हालांकि प्रत्येक की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ कानून द्वारा सीमित हैं, परंतु ये पाबंदियाँ इसलिए लगाई हैं कि एक व्यक्ति के कार्यों पर प्रतिबंध लगाने से अन्य व्यक्तियों के स्वाभाविक अधिकार सुनिश्चित हो सकें। हम सबकी भलाई, सामाजिक राष्ट्रीय उद्देश्य, एक व्यक्ति से अधिक व्यक्तियों के समूह के अधिकार का विचार रख सकते हैं, परंतु ये मुख्यतः कुछ सीमित क्षेत्रों से सामूहिक या सामूहिक कार्यों की आवश्यकता के लिए सुविधाएँ हैं, ताकि व्यक्ति पूर्ण जीवन का आनंद ले सके। व्यक्ति के हितों की रक्षा करने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति हमारा बहुत्ववाद है—दो दलीय या बहुदलीय राजनीतिक पद्धति में, अपेक्षतया स्वतंत्र आर्थिक उद्यम और प्रतियोगिता में स्वतंत्र समाचारपत्रों, पुस्तकों और पत्रिकाओं में, धार्मिक स्वतंत्रता एवं उदारता में विभिन्न सरकारी व निजी शैक्षिक पद्धतियों तथा संस्थानों में और विज्ञान एवं कला के अनियंत्रित कार्यों में।

सोवियत पद्धति बहुत्ववाद के अभाव के कारण ही पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांतों और आदर्शों से विपरीत है। जैसे कि राजनीतिक संस्थानों के हमारे संक्षिप्त अध्ययन में उल्लेख किया गया है, सोवियत संघ में प्रभुसत्ता साम्यवादी दल—एकमात्र वैध दल—में है, न कि सरकार में, जिसमें दिखावटी रूप से चुनी हुई सोवियतें हैं। दल के अंदर, प्रभुसत्ता उसकी केंद्रीय समिति या सचिवालय या प्रेसीडियम या इन सब में केंद्रित है। इसका निधान दल के कर्मचारियों का एक छोटा-सा दायरा है, जो कि विशिष्ट व्यक्तियों के बदल जाने पर भी स्वतः—चुना हुआ, स्वतः स्थायी,

अधिकारप्राप्त सर्वोच्च गुट रहता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वतः अधिकारप्राप्त यह प्रमुख अंग जो चाहे वह करता है या कर सकता है। जैसे कि 'पूर्ण एकाधिपत्य' में होता है, सोवियत पद्धति में भी जनता की सहनशीलता के रूप में बाह्य सीमाएँ हैं। सोवियत संघ में ये 'बाह्य सीमाएँ' इस समय अधिकार केंद्र से बहुत अधिक हैं। ये सरकार की सर्वव्यापकता द्वारा दल के अभिकर्त्ता के रूप में वहाँ रखे जाते हैं। सीधे रूप में, सरकार लगभग सभी औद्योगिक उद्यमों और कृषि इकाइयों के लगातार वर्धमान विभाग, सारी बैंक-व्यापार-पद्धति तथा विपणन-पद्धति के प्रमुख विभाग की मालिक है और उन्हें चलाती हैं; सरकार या दल द्वारा नियुक्त व्यक्ति सारे समाचारपत्रों और पत्रिकाओं का संपादन करते हैं तथा सरकारी प्रेस उनका और सभी पुस्तकों का प्रकाशन करता है; धर्म, रूढ़िगत अर्थ में आयोजित महत्त्वहीनता अनुभव कर रहा है और शिक्षा एकमात्र सरकार का ही कार्य है। कला और विज्ञान में ही बहुत्ववाद की कुछ यथार्थता है—कला में यह दल के प्रभाव द्वारा काफी सीमित है। विज्ञान—दोनों सामाजिक और शारीरिक—में एक विचित्र विरोधाभास विद्यमान है, जो सोवियत संघ में एकमात्र महत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाले बहुत्ववाद के लिए उत्तरदायी है। इस क्षेत्र में—विशेषकर शारीरिक विज्ञान के क्षेत्र में और आंशिक रूप से सामाजिक विजान के क्षेत्र में अंतिम लाभदायिक वैज्ञानिक यथार्थताओं के लिए अनुसंधान-कार्य जारी रहता है। इनकी दल को अपने तथा सरकार के उद्देश्यों और तकनीकों को समुचित ढंग से स्थापित करने के लिए आवश्यक है और इसलिए विज्ञान के क्षेत्र में सरकार या दल का विस्तृत प्रभुत्व नहीं है। जहाँ कहीं सरकार के नियंत्रण या प्रभाव की कमी होती है, जैसे कि सांस्कृतिक या मनोरंजन कार्यों, पाठचर्यातिरिक्त स्कूल कार्यक्रमों, सहकारी संगठनों आदि के कुछ क्षेत्रों में है, तो सर्वव्यापी दल का सदस्य, सेल, बड़ा दल-समूह या दल से संबद्ध संगठन सफलतापूर्वक उसकी जगह पर काम करता है।

हमारी अभिरुचि इस अखंड समाज के आर्थिक पहलुओं में केंद्रित है। इसके विस्तृत संगठनात्मक और व्यवहृत स्वरूपों पर विचार-विमर्श किया जा चुका है। हमें अपने पाश्चात्य मूल्यों के मानदंड की दृष्टि से इनकी पेचीदगियों पर एक व्यापक दृष्टिपात करना बाकी है। प्रथम, वैयक्तिक उपभोक्ता के पास बहुत ही कम, यदि कुछ हो भी, 'प्रभुसत्ता' है। हमारा विश्वास है कि यह प्रभुसत्ता पाश्चात्य राष्ट्रों में बहुत पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उत्पादन-साधनों को पूंजी-सुविधाओं के निर्माण और उपभोग के माल उत्पादित करने के लिए उत्पादन साधनों के विभाजन-संबंधी निर्णय दल के उच्च स्तरीय निकायों द्वारा लिए जाते हैं। इन व्यापक श्रेणियों में साधनों के इस्तेमाल का अंतर्विभाजन केंद्रीकृत आर्थिक आयोजना संगठन द्वारा किया जाता है।

वास्तव में, अनेक विस्तृत योजना-लक्ष्यों का संबंध खुदरा भंडारों में साधारण जनता द्वारा खरीदे जाने वाले माल की मात्राओं से है। परंतु, जिस दाम पर उपभोक्ता माल खरीदते हैं, वह दाम अनेक एवं महत्त्वपूर्ण मनमाने लागत-तत्त्वों का योग होता है। इन अनेक तत्त्वों में से, जो कि जनता को दिखाई नहीं देते, पण्यावर्त कर को उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है। चाहे हमारे देश में भ्रामक प्रचार और विक्रय-वृद्धि के अधिकार, उपभोक्ता माल की किस्म, स्थायित्व और उपयुक्तता की जांच करने की उपभोक्ता की अयोग्यता और इनके बारे में विरोधी शक्तियाँ चालू करने की उपभोक्ता की असफलता के अत्यंत उग्र अनुमानों को सही मान लिया जाए, तो भी प्रभुसत्ता हमारे अर्थतंत्र का एक वास्तविक और महत्त्वपूर्ण अनेकवादी पहलू है। सोवियत संघ में सभी औद्योगिक कर्मचारी सरकार के लिए काम करते हैं—या तो सीधे सरकारी और सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों में या पूर्णतः नियंत्रित और उत्पादक छोटी सहकारी समितियों में। यों तो कृषक सहकारी फार्म पर सीधे सरकार के लिए, या निजी भूखंड पर काम करने के अलावा, पूर्णतः नियंत्रित सामूहिक फार्म पर काम करते हैं। औद्योगिक श्रमिक की कार्यकुशलता और योग्यता तथा व्यावसायिक श्रमिक की प्राप्तियों का संबंध सीधे शिक्षा या प्रशिक्षण के उस तरीके व स्तर से है, जो सरकार अमुक व्यक्ति को शिक्षा की संबंधित उच्चतम पद्धति द्वारा उपलब्ध कराती है। इसके अतिरिक्त असंख्य व्यक्ति सरकारी प्रशासन, आयोजना और प्रबंध अभिकरणों में विभिन्न पदों तथा दल के अनेक विभागों में नियुक्त हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में, कला और विज्ञान में कार्य की कुछ स्वतंत्रता के संभावित अपवाद के साथ, व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का निदेशन, मार्ग-दर्शन का नियंत्रण सरकार या दल द्वारा किया जाता है। परंतु, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि इससे जनता को प्रति व्यक्ति का उत्पादन में एक सतत् और तीव्र वृद्धि प्राप्त हो, तो उसमें क्या बुराई है? प्रथम तो जब हम व्यक्ति की सहज योग्यता तथा प्रतिष्ठा और बहुत से अनेकवादी मार्गों द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के उनके जन्मजात अधिकार पर बल देते हुए—इस पर अपनी मूल्यांकन-कसौटी के अनुसार विचार करते हैं, तो यह बात स्वतः ही गलत सिद्ध होगी। दूसरे इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या जिन दिशाओं में अर्थतंत्र कार्य करता है—पूंजी निर्माण तथा उपभोग के बीच साधनों का मूल विनिधान, उद्देश्य, योजनाएँ और लक्ष्य, घोषित मूल आर्थिक नीतियाँ और वस्तुतः स्वीकृत दीर्घकालीन उद्देश्य—वे वास्तव में वही हैं, जिन्हें रूस की जनता स्वयं चाहती है या वे केवल उनके लिए निर्धारित किए गए लक्ष्य हैं, जिन्हें उनके मस्तिष्क में सर्वव्यापक सरकार और दल के प्रभावों द्वारा भर दिया गया है? अंत में इससे किसी भी स्वतः निर्वाचित, स्वतः चलती रहने वाली शासी निकाय के आधुनिक

संसार में आधारभूत नैतिकता के बारे में प्रश्न उठते हैं। वर्त्तमान दल का शासन जनता की (जिसका लोकतंत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है) इस मामले में राय प्राप्त नहीं करता कि क्या वह उसके जारी रहने में संतुष्ट है : यदि कोई यह माने कि मानव की प्रगति का मापदंड व्यक्ति की समाज में अपने भाग्य को स्वयं नियंत्रित करने की बढ़ती हुई योग्यता है, तो सोवियत पद्धति उस दिशा में अग्रसर होती दिखाई नहीं देती।

अंततः सोवियत पद्धति का यह मूल्यांकन सोवियत मार्क्सवादी द्वारा दिए गए उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर को जाने बिना नहीं छोड़ा जाना चाहिए। वे घोषित करते हैं कि सरकार तथा दल का समकालीन आधिपत्य 'पूर्ण साम्यवाद' के मार्ग में केवल एक विश्रामस्थल है; मानव-जीवन में केवल इस बाद के चरण में ही उपभोक्ताओं को पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त हो सकती है—अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार वास्तव में उपभोग कर सकता है; केवल तभी व्यक्ति वस्तुतः 'स्वतंत्र' हो सकेगा; क्योंकि किसी को काम करने के लिए तनिक भी विवश नहीं किया जाता। कठिन तथा अरुचिकर काम यंत्रों द्वारा होगा और समाज के लिए उपयोगी प्रयासों की कुछ मात्रा व्यक्ति की समृद्धि का एक जन्मजात अंग बन जाएगी; केवल तभी कोई व्यक्ति समस्त शैक्षिक, सांस्कृतिक, मनोरंजन और यात्रा आदि लाभों के इच्छानुसार मुफ्त उपलब्ध होने पर अपने भाग्य का स्वयं मार्ग-दर्शन कर सकेगा; केवल तभी वर्ग-विभाजन तथा विभेद समाप्त होंगे और वर्ग-व्यवस्था का कोई चिह्न नहीं रहेगा; क्योंकि कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार कोई भी भौतिक पदार्थ प्राप्त कर सकेगा; और केवल तभी यथार्थ अनेकवाद अपने पूर्ण अर्थ में व्याप्त हो सकेगा, जिससे लाभ सभी को सुगमता से उपलब्ध हो सकेंगे। इसमें निश्चित रूप से सभी उच्च आदर्शवादों के सर्वोच्च आदर्शवाद की झंकार है। वर्त्तमान सोवियत साम्यवादी दल के नेता इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानव-समाज के ऐसे चरण में प्रवेश करने के लिए समाज की आर्थिक उत्पादन-शक्ति की अनेकरूपता से आत्मसंवृद्धि होनी चाहिए—यह अब उनकी शक्तिशाली सरकार द्वारा अपने दल द्वारा नियोजित वैज्ञानिक विकास तथा औद्योगिक स्वचालित यंत्रीकरण से प्राप्त की जा रही है। नेताओं का यह भी विचार है कि अंतिम पूर्ण साम्यवाद का प्रारंभ तथा इससे संलग्न नियंत्रण शासन की अनुपस्थिति सोवियत संघ में अब दिखाई देने लगी है। विशेष रूप से वे निम्नलिखित का उल्लेख करते हैं—सरकारी बजट का बढ़ता हुआ अंश जो सामुदायिक उपभोग में प्रयुक्त होता है; औद्योगिक प्रशासन (तथा कुछ अन्य भूतपूर्व केंद्रीय सरकारी कार्य) का विकेंद्रीकरण; 'कामरेड न्यायालयों' का विकास, जिसमें किसी व्यक्ति के साथी श्रमिक या पड़ोसी, उसे समाजविरोधी कार्यों का बहिष्कार करने और समाज

द्वारा वांछनीय चरित्र[1] अपनाने के लिए, प्रेरक वार्तालाप के प्रभाव और नैतिक अभिप्रेरणों का प्रयोग करते हैं; मजदूर संघों द्वारा सामाजिक बीमा का प्रशासन और विशेषतया यह तथ्य कि सभी प्रकार की शिक्षा, सभी चिकित्सा-सुविधाएँ एवं सेवाएँ—व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताओं के विकास के दो प्राथमिक स्रोत—व्यक्ति को पूर्णतया निःशुल्क प्रदान की जाती हैं।

इससे स्वभावतः, उन लोगों के अभिप्रेरण का प्रश्न उठता है, जो अब या भविष्य में सोवियत संघ के साम्यवादी दल के नेता होंगे। क्या वे सचमुच इन ऊँचे आदर्शवादी लक्ष्यों को प्राप्त कर पाते हैं—आदर्शवादी से तात्पर्य पाश्चात्य मतानुसार व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा अंततः उसके महत्त्व पर बल दिए जाने से है। क्या वे सचमुच समसामयिक सोवियत प्रणाली का प्रयोग उस उद्देश्य को पाने के लिए केवल साधन के रूप में करते हैं? अथवा क्या केवल सत्ता-प्राप्ति के लिए ही या साम्यवादी विश्व-तानाशाही के सदस्य होने के सदस्य होने के नाते व्यक्तिगत अधिकार की प्रतिष्ठा मात्र के लिए ही सत्ता प्राप्त करने की कोशिश करते हैं और उसे बनाए रखते हैं? हमारे योग्यतम राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक इन प्रश्नों पर विचार करें और अपने विभिन्न प्रकार के उत्तरों को सामने लाएँ। यह क्षोभजनक बात होगी, यदि हमारा मूल्यांकन निश्चित तथ्यों के संबंध में आशंकाएँ दूर करने की बजाए, प्रश्नों के साथ, जिन पर विचार की आवश्यकता हो, समाप्त हो जाए।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. सोवियत पद्धति का मूल्यांकन कठिन होते हुए भी क्यों अनिवार्य है?

२. क्या साम्यवादी दल के नेताओं तथा सरकार ने अपनी पद्धति के मूल्यांकन के लिए कोई कसौटी प्रस्तुत की है?

३. सोवियत आर्थिक विकास को मापना इतना कठिन क्यों है? इसके लिए कौन से सामान्यीकरण अपेक्षित हैं?

४. वर्त्तमान स्थिति के अनुसार इस बात की कितनी संभावना है कि सोवियत संघ अपने १९६५ ई० के आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त कर लेगा?

५. यदि सोवियत संघ के आर्थिक विकास को तीव्र माना जाए, तो वे कौन

---

[1] इस समय 'कामरेड न्यायालयों' द्वारा निपटाए जाने वाले मामलों में स्पष्टतया कार्य अनुशासन का उल्लंघन, जन संपत्ति की छोटी-छोटी चोरी, बिना काम किए जीवन-निर्वाह की कुचेष्टाएँ, बच्चों का अपने माता-पिता के प्रति तथा माता-पिता का बच्चों के प्रति दुर्व्यवहार, गालियाँ, चोरबाजारी, गुंडागर्दी और अभद्र भाषा का प्रयोग आदि के मामले शामिल हैं। न्यू स्टेट्समैन, २४ नवंबर, १९५९ ई०, पृष्ठ ७३२।

से कारण हैं, जो इस तीव्रता के लिए जिम्मेदार हैं ?

६. रहन-सहन के स्तर के दृष्टिकोण से सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका के स्तर के मुकाबले में उसके कितना निकट है ? ऐसे प्रश्न का उत्तर देने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनकी व्याख्या करें ।

७. सोवियत संघ में शिक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ क्या हैं ?

८. सोवियत संघ में लक्ष्य-निर्धारण की समस्याएँ किस रूप में आर्थिक उन्नति में बाधक हैं ?

९. सोवियत आयोजकों के लिए पूँजी के सामर्थ्य को मापना क्यों अनिवार्य है ? इस कार्य को करना कठिन क्यों रहा है ?

१०. बहुत से लोग सोवियत पद्धति के अपने अंतिम मूल्यांकन में अलाभकारी कसौटियों का प्रयोग क्यों करते है ?

छठे भाग के लिए छात्र-प्रतिवेदनों के विषय

१. रूस में साम्यवादी क्रांति की ओर ले जाने वाली तथा उसमें समाविष्ट मुख्य घटनाएँ ।

२. स्तालिन तथा ट्राट्स्की के बीच संघर्ष में शामिल सैद्धांतिक मामले ।

३. कोमिन्टर्न और कोमिनफार्म के साथ सोवियत संघ की सरकार तथा साम्यवादी दल का संबंध ।

४. सोवियत संघ में आवास-समस्या ।

५. सोवियत संघ की वर्त्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्मापार-नीतियाँ ।

६. सोवियत संघ तथा उसके सहवर्त्ती देशों के अर्थतंत्रों का समाकलन ।

७. सोवियत संघ और संयुक्त राज्य के बीच व्यापारिक संबंधों का वर्त्तमान स्तर ।

८. सोवियत संघ में अर्थशास्त्र के अध्ययन तथा अनुसंधान का स्तर ।

९. सोवियत आयोजना में अर्थनीति तथा अनदैर्घ्य कार्यक्रमों का प्रयोग ।

१०. सोवियत संघ में दाम-निर्धारण-संबंधी विचारों में संभावित फेर-बदल ।

११. साम्यवादी युगोस्लाविया के प्रति सोवियत संघ का रवैया ।

१२. सोवियत संघ और लाल चीन के बीच संभाव्य विवाद ।

१३. अफ्रीकी तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों को सोवियत रूस की आर्थिक सहायता ।

१४. निकिता ख्रुश्चेव : सिद्धांतवादी के रूप में ।

१५. सोवियत नेताओं की, रूस के लिए पूर्ण साम्यवाद के उनके लक्ष्य के प्रति, सत्यनिष्ठा की मात्रा का प्रमाण।

१६. सोवियत संघ तथा लातीनी अमेरिकी राष्ट्रों के बीच आर्थिक संबंध।

छठे भाग के अंतर्गत और अध्ययन के लिए सुझाव

आर० एल० एलन; सोवियत इकोनॉमिक वारफेयर, वाशिंगटन, पब्लिक ऐफेयर्स प्रेस १९६० ई०।

आर० ए० बौअर; ए० इंकल्स और सी० क्लकहान, हाऊ दि सोवियत सिस्टम वर्क्स, कैम्ब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५६ ई०।

ए० बेकाव; दि डेवलपमेंट ऑफ दि सोवियत इकोनॉमिक सिस्टम, लंदन, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४६ ई०।

आर० डब्ल्यू० कैंपबैल; सोवियत इकोनॉमिक पावर, इट्स आरगेनाइजेशन, ग्रोथ और चैलेंज, वास्टन, हफ्टन मिफलिन, १९६० ई०।

आर० डी० चारक्स; ए शार्ट हिस्टरी ऑफ रशिया, न्यूयार्क, डटन, १९५६ ई०।

आर० कंक्वैस्ट; कामनसेंस एबाउट रशिया, लंदन, गौलैक्ज, १९६० ई०।

सोवियत यूनियन के साम्यवादी दल की २१ वीं काँग्रेस, ओटावा, दि प्रेस ऑफिस, कनाडा में रूस का दूतावास, १९५९ ई०।

एम० फेंसोल्ड; हाऊ रशिया इज रूल्ड, कैंब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५३ ई०।

डी० ग्रानिक; दि रेड एक्जीक्यूटिव : ए स्टडी ऑफ दि आरगेनाइजेशन मैन इन रशियन इंडस्ट्री, न्यूयार्क, डब्लेडे, १९६० ई०।

ए० डब्ल्यू० हैस्लेट; सोवियत सेवनईयर प्लान, सन् १९५९–१९६५, ई० लंडन, टाड रेफरेंस बुक्स, १९५९ ई०।

एच० हिरस्च; क्वांटिटी प्लानिंग ऐंड प्राइस प्लानिंग इन दि सोवियत यूनियन, ट्रांसलेटेड बाई के० डब्ल्यू० एच० स्कोलज, एडिटेड बाई डब्ल्यू० एन० लाक्स, फिलाडेल्फिया, यूनिबर्सिटी ऑफ पेनसिलवेनिया प्रेस, १९६१ ई० ओरिजनली पब्लिश्ड इन जर्मनी)।

एफ० डी० होल्जमैन; सोवियत टैक्सेशन–दि फिस्कल ऐंड मॉनिटरी प्रॉब्लेम्स ऑफ ए प्लांड इकॉनामी, कैंब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५ ई०।

एस० हुक और अन्य; आइडियौलॉजी ऐंड रिएलिटी इन दि सोवियत सिस्टम, फिलाडेल्फिया, अमेरिकन फिलासोफिकल सोसायटी, १९५५ ई०।

ज्वाएंट इकोनॉमिक कमिटी; कांग्रेस ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स, कंपेरिजनस ऑफ दि यूनाईटिड स्टेट्स ऐंड सोवियत इकोनॉमीज, पार्ट १, २, ३, वाशिंगटन, गवर्नमेंट प्रिंटिंग ऑफिस, १९५९ ई०।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० कुल्सकी; दि सोवियत रिजीम, सिराक्यूस यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९ ई०।

एच० मैक-क्लोसकी ऐंड जे० ई० टरनल; दि सोवियत डिक्टेटरशिप, न्यूयार्क, मैक-ग्राहिल, १९६० ई०।

ए० मोरहैड; दि रशियन रिवोल्यूशन, न्यूयार्क, हारपर, १९५८ ई०।

एन० नोव; कम्युनिस्ट इकोनॉमिस्ट स्ट्रेटेजी-सोवियत ग्रोथ ऐंड कैपेबिलिटीज, वाशिंगटन, नेशनल प्लानिंग एसोसिएशन, १९५९ ई०।

एन० नोव ऐंड डी० टुनली; ट्रेड विद कम्युनिस्ट कंट्रीज, लंदन, हटचिनसन, १९६० ई०।

एल० बी० स्चैपिरो; कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दि सोवियत यूनियन, न्यूयार्क, रेंडम हाउस, १९६० ई०।

एच० स्चवार्ज; रशियाज सोवियत इकोनॉमी, एन० जे० एंगलवुड क्लिपस प्रेंटिस हाल, १९५८ ई०।

डी० डब्ल्यू० ट्रेडगोल्ड, ट्वेंटिएथ सौंचुरी रशिया, शिकागो रेंड मैक-नाली, १९५९ ई०।

●

भाग ७

यूगोस्लाविया और लाल चीन का साम्यवाद

अध्याय २६

यूगोस्लाविया में साम्यवाद

प्रस्तावना

यूगोस्लाविया एक करोड़ पचासी लाख लोगों का राष्ट्र है, जो कि व्रयोमिंग के आकार के लगभग क्षेत्र में बसा हुआ है। यह यूगोस्लाविया संघीय गणतंत्र नामक राज्यों का संघ है, जिसमें सर्बिया, क्रोशिया, स्लोवेनिया, बोस्निया, हेरजेगोवीना, मैसेडोनिया और मोंटेनेग्रो सम्मिलित हैं। यूनान, इटली और आस्ट्रिया से लगी कुछ थोड़ी सी सीमाओं को छोड़कर इसकी सारी असमुद्री सीमाएँ इसे सोवियत संघ के सहवर्त्ती राज्यों, एलबानिया, बलगेरिया, हंगरी एवं रूमानियाँ से अलग करती हैं। अपने निकटतम स्थान पर सोवियत संघ भी इससे सैकड़ों मील दूर है। यूगोस्लाविया एक गरीब देश है, जिसकी आबादी मुख्यतः कृषिप्रधान है।

साम्यवादी देश के रूप में यूगोस्लाविया का अध्ययन बड़ा रोचक है। प्रथम, यह यूरोप का एक मात्र साम्यवादी राष्ट्र है जो कि पूर्णतः मास्को के प्रभाव से स्वतंत्र रहा है। रूस के सहवर्त्ती राष्ट्रों का सारा समूह आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सोवियत संघ के साम्यवादी दल का अनुसेवी है। यूगोस्लाविया ने जानबूझ कर रूस और उससे संबंधित राष्ट्रों में प्रचलित राजनीतिक एवं आर्थिक संगठन-रूपों को नहीं अपनाया। यहाँ एक प्रकार के प्रजातंत्रात्मक और विकेंद्रीकृत साम्यवादी तंत्र का विकास हुआ, जिसके अंतर्गत श्रमिक समाजीकृत उद्योग के प्रबंध में भाग लेते हैं और किसानों को भूमि का स्वामित्व तथा उसे जोतने का अधिकार प्राप्त है। कृषि सहकारी समितियाँ उनकी सेवा करती हैं।[1]

---

[1] रूस के सहवर्त्ती राष्ट्रों के समूह में मध्य तथा पूर्वीय यूरुप के वे सब देश आते हैं, जिनके साम्यवादी दलों को सोवियत संघ के राजनीतिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सत्ता प्राप्त हुई। ये राष्ट्र हैं—एलबानिया, बलगेरिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पौलैंड और रूमानियाँ।

राष्ट्रीयता के मतभेदों के कारण यूगोस्लाविया में सदा ही आंतरिक झगड़े रहे हैं। सन् १९१९ ई० से पूर्व यह क्षेत्र कभी भी एक राजनीतिक इकाई के रूप में एकत्र नहीं हुआ। मध्यकाल से ही, आज के यूगोस्लाविया का क्षेत्र, अलग-अलग जिलों में बँटा हुआ था और प्रत्येक जिले पर एक ऐसे व्यक्ति का अधिकार था, जिसने या तो उसे विजित किया था या उस पर कब्जा कर रखा था। विदेशी शासकों की सूची में, देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न समयों में राज्य करने वाले बहुत ही प्रसिद्ध शासकों में, ओटोमान साम्राज्य, हैप्सवर्ग राजतंत्र, हंगरी के मागयार, आस्ट्रेलिया-हंगरी साम्राज्य, इटली तथा फ्रांसीसियों के नाम लिए जा सकते हैं।

जैसी कि १९१४ ई० में स्थिति थी, स्वतंत्र यूनानी रूढ़िवाद सर्बियन-क्रोशिया तथा बोस्निया-हेर्जेगोविना की भाषा-जैसी भाषा बोलते थे। परंतु, क्रोशिया और बोस्निया-हेर्जेगोविना अपने मुख्यतः रोमन कैथोलिक धर्म एवं आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के प्रति अपनी परस्पर वंशवदता द्वारा भाषा की दृष्टि से विशिष्ट स्लोवेनिया से जुड़े हुए थे। सर्बिया का प्रांत मोंटेनेग्रो यूनानी रूढ़िवादी संस्कृति का अनुयायी था, परंतु इसकी आबादी में कैथोलिक और मुसलमानों की भारी संख्या भी शामिल थी। मैसेडोनिया राष्ट्रीयता तथा भाषा की दृष्टि से सर्बियन एवं बलगेरी लोगों दोनों के समान था। स्पष्ट है कि ऐसे विभिन्न तत्त्वों वाला देश एक 'राष्ट्र' के रूप में थोड़ी सी अवधि के लिए हीं टिक सकता था।

जर्मनी द्वारा अप्रैल, १९४१ ई० के आक्रमण के समय यूगोस्लाविया के दो भिन्न आंतरिक गुरिल्ला वर्गों ने उसका आतंकवादी चालों के साथ सामना किया। जर्नल मिखायिलोविच की सर्वियन रेजिमेंटों ने गुप्त रूप से आक्रमणकारियों तथा उनके द्वारा स्थापित स्थानीय प्रशासन का विरोध किया और साथ ही मार्शल टीटो के साम्यवादी दल से भी लड़ाई की। साधारण लोगों की धारणाओं के अनुसार मिखायिलोविच का संबंध विदेशस्थ यूगोस्लावियन राजशाही से था और इस प्रकार महायुद्धों के बीच में शासन की त्रुटियों, सर्वियानिवासियों का दूसरी राष्ट्रिकताओं पर अभिभावी प्रभाव छोटे किसानों के प्रति सहानुभूति के अभाव और आक्रमण से पूर्व इटली एवं जर्मनी के साथ बात चलाते रहने सभी के लिए उसे जिम्मेदार समझा जाता था। फलस्वरूप जनसाधारण पर उसके चेतनिकों का प्रभाव मात्रा और विस्तार की दृष्टि से सीमित था।

इसके विपरीत, टीटों के पक्षपातियों का समस्त यूगोस्लाविया पर अधिक प्रभाव पड़ा और उसने शीघ्र ही किसान वर्ग में से बहुत से अनुयायियों को आकर्षित किया। यह प्रसिद्ध था कि युद्ध से पूर्व टीटों के पक्षपातियों का नियंत्रण मास्को द्वारा होता था। परंतु, इसमें युद्ध से पूर्वकालीन वैध राजनीतिक दलों के बहुत से राज-

नीतिज्ञों को टीटों के सहयोगियों के प्रयास में सम्मिलित होने से नहीं रोका, यद्यपि वे साम्यवादी दल की सदस्यता से भी पृथक् रहे। परिणामतः, टीटो के सहयोगियों को अपने प्रतिद्वंदियों की अपेक्षा अधिक सर्वप्रियता और फौजी सफलता मिली। वास्तव में, उनकी शक्ति इतनी अधिक थी कि फरवरी, १९४४ ई० में विंस्टन चर्चिल ने उन्हें जर्मन-अधिकृत यूगोस्लाविया में नाजी-विरोधी एक मात्र सफल शक्ति स्वीकार किया। इसके पश्चात्, मित्रों की सारी सहायता, जो कि पहले मिखायिलोविच को मिलती थी, टीटों को प्राप्त हुई।

१९४२ ई० में एक 'मोर्चे पर संगठन' बनाया गया था, जो कि टीटो के पक्षपातियों में गैर-साम्यवादी तत्त्वों को मान्य था। यूगोस्लाविया की राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए यह फासिज्मविरोधी परिषद् थी। नवंबर, १९४३ में यह यूगोस्लाविया के उस भाग की कार्यवाहक सरकार बन गई, जिसे जर्मनों से स्वतंत्र करा कर पक्षपातियों ने अपने अधिकार में ले रखा था। यूगोस्लाविया के भविष्य के लिए संघीय स्तर पर योजनाएँ बनाई गईं, जो कि सोवियत रूस के स्वरूप की लगभग पूरी नकल थीं। इस संघ में सम्मिलित होने वाले छह गणराज्य, जिन्हें समान रूप से स्वायत्तता प्राप्त थी, सर्बिया, क्रोशिया, स्लोवेनिया बौस्निया-हर्जेगोविना, मौंटेनेग्रो तथा मेसीडोनिया थें। मार्च, १९४५ ई० में मित्र राष्ट्रों ने युद्ध से पूर्वकालीन राजशाही का यूगोस्लाविया गणराज्य में स्थायी परिवर्तन करने और टीटो तथा उसके अनुयायियों द्वारा सत्ता को सँभाले रखने की अनुमति दी। इस तरह टीटो का दल सोवियत संघ की सहायता और मार्ग-दर्शन के बिना महायुद्ध की समाप्ति से पहले अपने देश की सत्ता सफलतापूर्वक प्राप्त करने वाला एकमात्र पूर्व-यूरोपीय साम्यवादी दल बना। १९४५ ई० के पतन के दौरान नए साम्यवादी लोक मोर्चा दल ने एक निर्वाचन में सफलता प्राप्त की, जिसमें मतदाताओं ने संघीय गणराज्य और युद्धकालीन आर्थिक राष्ट्रीयकरण तथा सामूहिकीकरण दोनों को स्वीकार किया।

युद्ध के पश्चात् शीघ्र यूगोस्लाविया और सोवियत संघ की सुस्थापित सरकारों के संबंध बिगड़ गए। इसी समय मास्को ने अपने सहवर्त्ती राष्ट्रों पर अपना प्रभाव बढ़ाया और उनके अर्थतंत्रों का अपने अर्थतंत्र में समावेश करने का प्रयत्न किया। यूगोस्लाविया के सिवाय इन देशों में साम्यवादी दलों की सरकारें सोवियत संघ के प्रभाव और शक्ति के कारण थीं। इस प्रकार उनका सोवियत संघ का प्रभुत्व स्वीकार करना अपेक्षित ही था। परंतु, यूगोस्लाविया ने रूस द्वारा आर्थिक समाकलन के प्रस्तावों का विरोध किया; क्योंकि ऐसे समाकलन का अर्थ यूगोस्लाविया के आर्थिक विकास के दृढ़ राष्ट्रवादी उद्देश्यों और उत्कृष्ट आकांक्षाओं (जिनके लिए साम्यवादी

अभिभावित टीटो के पक्षपाती लड़े थे और देश को जर्मन आक्रमणकारियों से स्वतंत्र कराया था) के स्थान पर रूसी आदर्शों और निदेशों का प्रतिस्थापन होता। किसी देश में घुसने के लिए रूस के प्रयासों का महत्त्वपूर्ण ढंग उसके आर्थिक समाकलन के प्रस्ताव थे। परंतु, यूगोस्लाविया ने अपना प्रतिरोध का रवैया जारी रखा और स्वतंत्र नीतियों का अनुसरण करते हुए उसने सोवियत की चुनौतियों का उत्तर विश्व-साम्यवादियों के संगठन की आवश्यकता में विश्वास प्रकट करके और इस बात पर बल देते हुए दिया कि राष्ट्रीय तथा आर्थिक आकांक्षाओं का कार्य उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। स्वतंत्रता की इस घोषणा के फलस्वरूप कई दोषारोपण, माँगें और जवाबी दावे किए गए, जिनके अंतिम परिणाम के रूप में कामिनफार्म (साम्यवादी दलों का अंतर्राष्ट्रीय संगठन) के १९४८ ई० के प्रस्ताव, के अनुसार यूगोस्लाविया को कामिनफार्म की सदस्ता और तदनुसार सोवियतन कक्ष से निकाल दिया गया। इस प्रकार टीटो-स्तालिन मतभेद आरंभ हुआ।

१९४८ ई० से यूगोस्लाविया एकाकी साम्यवादी राष्ट्र के रूप में रहा है। सोवियत पूंजी-सहायता के अभाव में उसे अपनी तीव्र औद्योगीकरण की योजनाओं में एकाएक कटौती करनी पड़ी। अब टीटो-सरकार के लिए लोगों से तीव्र आर्थिक विकास की योजना के नाम पर वीरतापूर्ण बलिदान और प्रयत्न करने की अपील नहीं की सकती थी। इसके स्थान पर सरकार के लिए आवश्यक हो गया कि वह औद्योगीकरण धीमी गति से करे और यह प्रत्याशा करे कि लोग शासन को कम-से-कम अव्यक्त रूप में स्वीकार करें। अर्थतंत्र के उत्पादन के बढ़ते हुए भाग को उपभोक्ता-माल का रूप लेने की स्वीकृति, औद्योगिक प्रबंध और स्थानीय शासन में श्रमिकों द्वारा भाग लेने की इजाजत तथा मनमाने ढंग से कृषि के सामूहिकीकरण के स्थान पर भू-स्वामी किसानों की स्वैच्छिक सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा सरकार ने अपनी सत्ता की स्वीकृति प्राप्त की है। ये नीतियाँ यूगोस्लाविया और रूसी तंत्रों की विभिन्नता का सार हैं और एक स्वतंत्र साम्यवाद राष्ट्र के रूप में यूगोस्लाविया की अपनी परिस्थिति के वास्तविक विचार का प्रदर्शन करती हैं।

सरकार

१९४८ ई०से पूर्व यूगोस्लाविया के सरकारी ढाँचें और दल संगठन, दोनों का स्वरूप वस्तुतः सोवियत संघ की सरकार और दल के स्वरूप के बिल्कुल अनुरूप था। नए सरकारी ढाँचे के समक्रमण के परिणामस्वरूप १९५३ ई० में एक नया संविधान अपनाया गया, जिसने अनेक केंद्रीय और स्थानीय विधान सभाओं को अधिक सक्रिय, अधिक प्रतिनिधिक और अधिक अनुक्रियाशील बना दिया।

यूगोस्लाविया गणतंत्र छह सदस्य गणराज्यों का एक संघीय तंत्र है। संघीय कार्यकारिणी परिषद् का निर्वाचित राष्ट्रपति, राष्ट्र का मुखिया या प्रधान मंत्री एवं सेना का प्रधान सेनापति बनता है। ४३ सदस्यों का संघीय कार्यकारिणी परिषद्, जिसके ६ सदस्य गणराज्यों के राज्यपति और ३७ संसद् द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं, सीधे ही राष्ट्रपति के साथ कार्य करती है और संसद् के प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यकारिणी शाखा का सामान्य कार्य चलाने के लिए, परिषद् एक स्थायी सिविल सेवा रखती है, जिसमें १२ मंत्रालय होते हैं। संसद् के दो सदन होते हैं: (१) २७६ सदस्यों की क्षेत्रीय आधार पर निर्वाचित संघीय सभा, जिसमें ७० सदस्यों की राष्ट्रजाति सलाहकार परिषद् सम्मिलित है, जो कि केवल विभिन्न राष्ट्रजाति समूहों के अस्तित्व से उत्पन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श करती हैं, (२) २११ सदस्यों की उत्पादक परिषद्। प्रत्येक सदन का निर्वाचन अलग और सीधे मताधिकार प्राप्त निर्वाचक समूह द्वारा किया जाता है।

यूगोस्लाविया के सरकारी तंत्र में उत्पादक परिषद् एक अद्वितीय लक्षण है, जो कि सोवियत संघ या किसी अन्य प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र की किसी भी सरकारी निकाय से भिन्न है। इसके सदस्य राष्ट्रीयकृत उद्योगों तथा (बहुत ही थोड़े) सामूहिक फार्मों पर काम करने वाले प्रत्येक ७०,००० श्रमिकों के पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से चुने जाते हैं। व्यवसायक व्यक्ति, किसान जोकि अपनी भूमि स्वयं काश्त करते हैं, व्यक्तिगत शिल्पी एवं अन्य सभी निजी नागरिक उत्पादक परिषद् के निर्वाचन से वंचित रखे जाते हैं। राष्ट्रीयकृत औद्योगिक उद्यमों के प्रत्येक खंड तथा अर्थतंत्र के सामूहिक फार्म क्षेत्र को उत्पादक परिषद् में उनके कुल राष्ट्रीय उत्पादन में किए गए अंशदान के अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व दिया जाता है। यह परिषद् सरकारी आयोजना अभिकरणों द्वारा निर्धारित आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति प्राप्त करने में सहायता देने वाली एक विधि है। उत्पादक परिषद् सरकारी कानून बनाने वाले तंत्र का एक अंग होने साथ-साथ सरकारी उद्योगों और कुछ एक सरकार द्वारा निर्दिष्ट सामूहिक फार्मों पर काम करने वाले श्रमिकों की लाभों की प्रतिनिधि है।

संसद् का कार्य कानून पारित करना, संघ की आर्थिक योजना को अंतिम रूप देना, बजट पास करना, घरेलू तथा विदेशी नीति की गतिविधियों का नियंत्रण करना, समस्त संघ के महत्त्व वाले मामलों पर प्रस्ताव और घोषणाएँ जारी करना और यह निर्णय लेना है कि अधिक महत्त्वपूर्ण मामलों पर जनमत-संग्रह प्राप्त किया जाना चाहिए। कानून बनने से पूर्व नए विधान का दोनों सदनों द्वारा सहमति से पारित किया जाना आवश्यक है। यदि दोनों सदनों में असाध्य मतभेद हो जाए,

तो संसद् को भंग कर दिया जाता है और दोनों सदनों के लिए नए सिरे से चुनाव किए जाते हैं।

विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक गणराज्य को केवल स्थानीय मामलों में कार्य करने की स्वायत्तता प्राप्त है। प्रत्येक की अपनी सरकार है, जिसका स्वरूप ठीक संघीय सरकार-जैसा है। हर गणराज्य का अपना राज्यपति, अपनी कार्यवाहक परिषद् तथा द्विसदनीय संसद् है। अंततः, प्रत्येक ग्रामीण जिले (जो कि हमारे देश के अनुरूप है) और हर नगरपालिका या कस्बे की अपनी द्विसदनीय विधान सभा है, जो 'लोक समिति' कहलाती है और संघीय आदि रूप के नमूने पर बनी हुई है।

दल

यूगोस्लाविया में साम्यवादी दल को यूगोस्लाव साम्यवादी संघ कहते हैं, जिसके सदस्यों की संख्या लगभग ६,२५,००० है। संघ की सदस्यता एक करोड़ ७५ लाख की आबादी में लगभग उसी अनुपात से व्याप्त है, जैसे सोवियत संघ में साम्यवादी दल की कार्यकारी-समिति के—जो कि सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के अनुरूप हैं—अनुशासन और निदेशन में संघ लगभग सारे आर्थिक और सामाजिक विधान का पूर्णतः नियंत्रण करता है। जैसे, कि हम अभी देखेंगे, इसका मुख्य अपवाद आर्थिक योजना है; क्योंकि अर्थ ने समस्त केंद्रीय आयोजन को आंशिक रूप से बंद कर दिया है। संसदीय निर्णय पूर्णतः संघ-सोपान के शिखर से निःसृत नीति-धारा के अनुसार होते हैं। संघ का संगठनात्मक स्वरूप सोवियत संघ के दल के स्वरूप से कुछ भिन्न है। शहरी समुदायों में निम्नतम स्तर की इकाइयों का संगठन या तो मुहल्ले और गलियों या औद्योगिक उद्यमों द्वारा किया जाता है। दल के सदस्यों के लिए देय का भुगतान और सभाओं में उपस्थिति अनिवार्य है, यद्यपि सभाओं में गैर-सदस्य भी आ सकते हैं।

युगोस्लाव साम्यवादी संघ वैध रूप से एक राजनीतिक दल नहीं है। यूगोस्लाविया के कार्यकारी लोगों का सामाजिक संश्रय, जिससे युद्ध के तत्काल पश्चात् की अवधि में लोक मोर्चे का प्रतिस्थापन किया, देश का एक राजनीतिक दल है। किसी भी सहकारी श्रमिक को, चाहे वह संश्रय का सदस्य है या नहीं, उत्पादक परिषद् के निर्वाचन में मतदान का अधिकार प्राप्त है। परंतु, मतदान-अधिकारप्राप्त बहुत थोड़े श्रमिक होंगे, जो कि संश्रय के सदस्य न बनें। संश्रय संघ की सत्ता और नियंत्रण में भाग नहीं लेता, किंतु मुख्यतः आबादी के 'समाजीकृत' भाग के राजनीति में लोकप्रिय हितों के एकत्रित होने का स्थान है।

दल युवक आंदोलन आकार और दक्षता की दृष्टि से सोवियत संघ के आंदोलनों की बराबरी नहीं कर सकते। हाल ही में संघ ने युवक आंदोलन को तेज करने के लिए विश्वास के कदम उठाए हैं कि ऐसा करने से अंततः वयस्कों में राजनीतिक उदासीनता दूर होगी। इसके अतिरिक्त कहा जाता है कि पश्चिमी मध्यवर्गी शक्तियों से संबंधों के गहरे प्रभाव के फलस्वरूप, बहुत से लोग अब 'प्रजातंत्र' और 'निजी स्वतंत्रता' का 'सही' अर्थ नहीं समझते। सरकार महसूस करती है कि स्कूलों में शिक्षा का ढाँचा बदलने से इसमें सुधार लाया जा सकता है। सामाजिक और आर्थिक जीवन में दल के नियंत्रण की मात्रा को अंततः समाजवादी प्रजातंत्र की प्राप्ति के प्रतिकूल बिल्कुल नहीं समझा जाता। जब तक कि लोग प्रजातंत्र के पूर्ण दायित्व को सँभालने के योग्य नहीं होते अर्थात् जब तक वे अपने लिए वैसे ही कार्य करने के योग्य नहीं होते, जैसे कि सरकार उनके लिए अब कर रही है, तब तक साम्यवादी संघ को एक भारी कार्य करना होगा। समाजवाद के समर्थकों को कम्यून तथा जिला-राजनीतिक इकाइयों से मिलकर कार्य करना होगा; जनता को स्वशासन प्रयत्नों के विषय में शिक्षा तथा सलाह देनी होगी। इस प्रकार उन्हें राजनीतिक संस्थानों का स्थान स्वयं लेने की बजाय उनका निदेशन करना होगा। सरकारी प्रशासन तंत्र के हस्तांतरित किए बिना ही संघ को सामान्य नेतृत्व और अभिप्रेरण अवश्य देना होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संघ बहुत अधिक स्वतंत्र किसानों तथा निजी नागरिकों को विश्वास दिलाए कि सामूहिक उत्पादन उद्यमों में सम्मिलित होने में उनका सर्वोत्तम हित है। पूर्ण प्रजातंत्र प्राप्त होने पर या तो देश में कोई दल नहीं होगा या कई दल हो सकते हैं। परंतु, वे सब सच्चे साम्यवादी दल होंगे। दल का यही सिद्धांत है।

केवल प्रजातंत्र की प्राप्ति तक ही दल द्वारा समाज के अस्थायी रूप से नियंत्रण करने का यह सिद्धांत सोवियत साम्यवादी दल का प्रसिद्ध उसूल है। किंतु, यूगोस्लावियों का मत है कि वास्तव में वे विशुद्ध प्रजातंत्र की प्राप्ति की दिशा में पहली भूल कर रहे हैं, जबकि सोवियत संघ के साम्यवादी दल ने संक्रमण कार्य भी प्रारंभ नही किया है। फिर भी वे मानते हैं कि व्यवहारतः संक्रमण काल की अग्रिम अवस्था में प्रजातंत्रीयकरण का अर्थ श्रमिकों की सामाजिक उन्नति में वृद्धि लाने के लिए मुख्यतः स्थानीय स्वशासन की गतिविधियों में से गुजरना है।

यूगोस्लाविया की सरकार

संघीय संसद्

संघोय सभा	उत्पादक-परिषद्
२७६ सदस्य, जो कि सीधे मतदाताओं द्वारा चुने जाते हैं।	२११ सदस्य, जो कि सीधे सामूहिक श्रमिकों द्वारा चुने जाते हैं।

राष्ट्रजाति-परिषद्	**संघीय कार्यकारी परिषद्**
संघीय सभा के ७० सदस्य, जो कि सभा को सलाह देते हैं।	४३ सदस्य (६ गणतंत्रों के राज्यपति और ३७ संसद् द्वारा निर्वाचित)
	राष्ट्रपति एवं प्रधान सेनापति
	संघीय कार्यकारी परिषद् द्वारा निर्वाचित
स्थायी सिविल सेवा के १२ सचिव	६ गणतंत्रों की संसदें, कार्यकारी परिषदें, और राज्यपति
विधि	सर्बिया
अर्थतंत्र	क्रोशिया
उद्योग	स्लोवेनिया
कृषि तथा जंगलात	बोस्निया
संचार	मैसिडोनिया
श्रम	मोटेनेग्रों
संस्कृति	
स्वास्थ्य	
न्याय	
सूचना	
सामाजिक बीमा	
सामान्य प्रशासन	

चित्र ६; यूगोस्लाविया की सरकार

उद्योग

आर्थिक आयोजना

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व यूगोस्लाविया आर्थिक दृष्टि से एक अविकसित देश था। कृषि-उत्पादन इसके कुल उत्पादन का ५३ प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन २६ प्रतिशत था। कुल जनसंख्या में से ७५ प्रतिशत किसान थे। १९३८ ई० में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय केबल ११५ डालर प्रति वर्ष थी। अर्थतंत्र की पिछड़ी हुई हालत के कारण पूँजी निर्माण कम होता था। राष्ट्रीय आय का केवल ४ प्रतिशत धन ही विनियोग के काम आता था। इस प्रकार देश की आर्थिक उन्नति में बाधा होती थी।

सामान्यतः देश के पिछड़ेपन तथा आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति अधिक खराब होने का स्वाभाविक कारण युद्ध द्वारा हुई तबाही थी। अतः, यूगोस्लाविया के लोगों को अपने अर्थतंत्र के पुनर्निर्माण और समुत्थान के लिए विशेष प्रयास करने पड़े। १९४५ ई० तथा १९४६ ई० के दौरान कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग के पुनरुत्थान-कार्य के पूरा होने के बाद १९४७ ई० में यूगोस्लाविया आर्थिक विकास की प्रथम पंचवर्षीय योजना को अपनाने समर्थ हो सका।

यूगोस्लाविया की प्रथम योजना के दो निर्दिष्ट चरण थे: (१) सन् १९४७ से १९५२ ई० तथा (२) सन् १९५३ से १९५६ ई०। सन् १९५७ से १९६१ ई० तक यूगोस्लाविया सामान्य आर्थिक विकास की अपनी दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत काम करता रहा। प्रथम योजना (सन् १९४७-१९५२ ई०) के प्रथम चरण के मुख्य स्वरूप ये थे : उद्योग में बड़े पैमाने पर निवेश, अर्थतंत्र का केंद्रीय प्रबंध तथा केंद्र द्वारा आयोजित निवेश, जो कि साम्यवाद के अंतर्गत सर्वाधिकारावादी योजना के विशिष्ट गुण हैं, उस समय आर्थिक उद्यम सरकारी अंग थे। उनका विकास केंद्रीकृत सरकारी आर्थिक योजना द्वारा पूर्णतः नियंत्रित था। इस योजना में कार्य-संचालन के सभी अत्यावश्यक तत्त्व, जैसे कि उत्पादन की मात्रा तथा विविधता, श्रमिक और मजूरी, क्रय-विक्रय कीमत, निवेश इत्यादि निर्दिष्ट थे। उद्यम के द्वारा अर्जित सभी लाभ सरकारी बजट में जाते थे, जिनमें से सभी प्रकार की हानियों की पूर्ति भी की जाती थी। सन् १९४७ से १९४९ ई० तक आर्थिक विकास की गति बहुत तेज थी; क्योंकि निवेश अधिक मात्रा में था—अर्थात् राष्ट्रीय आय का २६.८ प्रतिशत था। आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिए और संचित पूँजी की राशि बढ़ाने के लिए उद्योग तथा शक्ति-उत्पादन प्रायोजनाओं में भारी निवेश किया गया। अन्य क्षेत्रों में निवेश इतना अधिक नहीं था। निवेश का पर्याप्त भाग परिवहन में लगाया गया, परंतु उसमें से अधिकांश धन यूगोस्लाविया की युद्ध द्वारा ध्वस्त संचार-व्यवस्था के पुनर्गठन के लिए था। जब सुबिधाओं तथा अन्य विभिन्न सेवाओं में जिन्हें यूगोस्लाविया की योजना में गैर-आर्थिक निवेश की संज्ञा दी गई थी, पर्याप्त धन लगाया गया। परंतु, सन् १९५० और १९५२ ई० के दौरान आर्थिक विकास लगभग रुक गया। इसके कारण थे—(क) यूगोस्लाविया के अंतर्राष्ट्रीय कोमिन्फार्म से निकाले जाने पर रूस तथा इसके अनुयायी देशों द्वारा लगाई गई आर्थिक नाकाबंदी (ख) भयंकर प्राकृतिक संकट—दो बार सूखा पड़ना—जिसके कारण कृषि-उत्पादन बहुत हो गया।

यूगोस्लाविया द्वारा अपने साथी साम्यवादी देशों से राजनीतिक संबंध तोड़ने तथा इन प्राकृतिक बाधाओं के कारण प्रथम योजना के स्वरूप पर पुनर्विचार किया गया। भारी उद्योग की अपेक्षा कृषि तथा लघु-उद्योग पर अधिक जोर दिया गया।

श्रमिकों द्वारा स्वयं व्यवस्था करने की प्रणाली के सूत्रपात और सरकारी तथा आर्थिक कार्यों के विकेंद्रीकरण से आर्थिक पुनरुत्थान को सबल अभिप्रेरण मिला। भूतपूर्व केंद्र-आयोजित निवेश कार्यक्रम की बजाए सामान्य आर्थिक प्रगति की योजना बनाई गई, जिसने निवेश की कुल राशि तथा अर्थतंत्र के विभिन्न क्षेत्रों में उसका मूल वितरण निर्धारित किया। दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा वार्षिक योजनाओं और व्यापक योजना की अपेक्षा क्षेत्र तथा कार्य की दृष्टि से विकेंद्रकृत योजनाओं पर बल दिया गया। सामान्य संघीय योजना आर्थिक विकास के सामान्य 'मूल अनुपातों' तक सीमित थी। निर्धारित पाँच 'मूल अनुपात' इस प्रकार थे :—

१. अर्थतंत्र के विभिन्न क्षेत्रों—उद्योग, कृषि तथा अन्य सेवाओं (जिन्हें यूगोस्लाविया की योजना में गैर-आर्थिक कहा जाता था) में अनुपात।

२. बचत और उपभोग में अनुपात, जिससे पूँजी-संचयन अधिक तेजी से हो।

३. विभिन्न क्षेत्रों के साथ अनुरूप मूल-मजदूरी की दरों का अनुपात।

४. व्यक्तिगत कर, उत्पादन-उद्यमों के लाभ इत्यादि के साथ सामाजिक निधि में दिए जाने वाले अंशदानों का अनुपात।

५. रक्षा-कानून तथा व्यवस्था इत्यादि-जैसी परंपरागत मदों के साथ प्रशासन व्यय का अनुपात।

हालांकि संघीय स्तर पर योजना बिल्कुल सामान्य है, किंतु निम्न स्तरों—गणतंत्र, स्थानीय समुदाय तथा उद्यम पर योजनाएँ अधिक सुनिश्चित हैं। नई योजना के अंतर्गत प्रारूप बनाने की प्रक्रिया सामान्यतः वैयक्तिक उद्यमों से प्रारंभ होकर स्थानीय, जिला तथा गणराज्य स्तरों से होकर संघीय स्तर तक जाती है और संघीय सामाजिक योजना सरकारी तौर पर अपनाए जाने के बाद यह प्रक्रिया पुनः उसी क्रम से वैयक्तिक उद्यमों तक वापस आ जाती है। आर्थिक योजना का संघीय संस्थान सर्वोच्च है और उच्चतम योजना निदेशालय में तीन संघीय कर्मचारी तथा ६ गणराज्य योजना आयोगों के अध्यक्ष सम्मिलित हैं।

नई आर्थिक योजना प्रणाली से, जो कि १९५३ ई० में शुरू हुई, वित्तीय निवेश प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। पहले इनके संबंध में अर्थ-व्यवस्था प्रायः पूर्णतः सरकारी बजट से की जाती थी, परंतु अब सरकारी बजट में से निवेशों का केवल अल्प भाग ही दिया जाता है। सन् १९५७ तथा १९५८ ई० में संघ, गणराज्य तथा स्थानीय सरकारों द्वारा सीधे रूप से जुटाए गए निवेशों की राशि कुल निवेशों का केवल १/३ भाग थी। इन निवेशों का अधिकांश सामान्य निवेश निधि के रूप में जुटाया गया है, जो कि संघ, गणराज्य तथा स्थानीय सरकारों द्वारा या विशिष्ट रूप से निर्धारित प्रयोजनों जैसे कि सड़क-निर्माण, वन-उद्योग, औद्योगिक

विकास तथा भूमि-सुधार-योजनाओं के लिए प्रयुक्त होगा। सामान्य महत्त्व की कुछ प्रायोजनाओं जैसे कि रेलवे, सड़कों, नदी, पत्तनों तथा समुद्री बंदरगाहों को छोड़ कर, इन निधियों में से जो औद्योगिक निवेश जुटाए जाते हैं, वे उद्यमों को ऋण के रूप में दिए जाते हैं, जिनका लौटाना अनिवार्य है। (इससे पूर्व विशिष्ट उद्योगों के विकास के लिए बजट के विनिधान की वापसी नहीं होती थी)। अन्य सभी निवेश संघीय बैंक के वापस लिए जाने वाले ऋणों द्वारा या औद्योगिक उद्यमों द्वारा उनकी अपनी आय के पुनर्निवेश से प्राप्त होते थे।

संघीय बैंक के ऋण सिद्धांततः प्रतियोगिता के आधार पर दिए जाते हैं। यदि कोई लोक समिति (स्थानीय सरकार की प्राथमिक इकाई) एक नया कारखाना स्थापित करना चाहती है या किसी वर्त्तमान कारखाने का विस्तार करना चाहती है, तो उसे संघीय बैंक को आवेदनपत्र देना चाहिए, जिसमें निर्माण या विस्तार की लागत के अनुमान तथा नई सुविधाओं के परिणामस्वरूप होने वाले उत्पादन एवं उत्पादन-लागत के संबंध में ब्यौरे होने चाहिए। बैंक संबंधित क्षेत्र के लिए उपलब्ध ऋण-साधनों में से उन प्रायोजनाओं के लिए ऋण देता है, जिनका भविष्य सर्वाधिक अच्छा समझा जाता है।

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में कुल निवेश का वितरण, जैसा कि सारणी ५ और ६ में दिखाया गया है, निवेश नीति की मूल प्रवृत्तियों को सूचित करता है।

सन् १९४७-१९५९ ई० की समयावधि में निवेश का अधिकतम भाग उद्योग में लगा, जो कि सन् १९५० से १९५२ ई० में उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। इसके पश्चात् अन्य क्षेत्रों में धन लगाना संभव हो गया; क्योंकि बहुत से महत्त्वपूर्ण उद्योग अनुपातत: भली-भाँति विकसित हो चुके थे और उन्होंने उत्पादन करना प्रारंभ कर दिया था। अतः, कृषि तथा परिवहन में निवेश पर बल दिया गया।

सारणी ५. उत्पादनशील क्षमता बढ़ाने के लिए कुल निवेश
('आर्थिक निवेश') सन् १९४७-१९५९ ई०
(निर्दिष्ट समयावधियों* के योग की प्रतिशतताओं के रूप में व्यक्त)

	1947-49	1950-52	1953-56	1957-58	1958-59
उद्योग	51.5	67.8	61.9	43.8	41.8
कृषि	8.8	6·1	7.6	15.9	20.8

---

* यद्यपि कुछ समयावधियाँ एक वर्ष कुछ दो वर्ष और कुछ तीन वर्ष की हैं, परंतु प्रति-

वन-ऊद्योग	3.4	1.2	1.8	1.8	1.8
भवन	3.8	3.6	3.0	3.7	2.9
परिवहन	76.9	18.4	19.7	27.2	24.3
वाणिज्य	5.1	2.5	5.1	6.3	6.8
शिला	0.5	0.4	0.9	1.3	1.6
	100.00	100.00	100.00	100.00	100.00

सारणी ६. सन् 1947-1959 की समयावधि में 'गैर-आर्थिक* निवेश की वार्षिक औसत

अरब दीनारों में (1956 के मूल्यों के आधार पर)

1947-1948	93.6
1950-1952	38.8
1953-1956	24.2
1957-1958	126.8
1958-1959	144.0

सन् १९५७ से १९६१ ई० तक योजना का मूल कार्य सामान्य उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में तीव्र वृद्धि प्राप्त करना था और उन आर्थिक क्षेत्रों पर जोर डालना था, जो बहुत कम उन्नति कर रहे थे। अन्य देशों के साथ व्यापार और आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए तथा यूगोस्लाविया के अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों के प्रतिकूल बकाया रकम को क्रमिक तथा सतत् रूप से कम करने के लिए उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता थी। देश के आर्थिक रूप से अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों के विकास

शतताओं के प्रयोग से सारणी प्रवृत्तियों को सही ढंग से दर्शाती है। स्रोत : यूगोस्लाव सर्वे, अप्रैल १९६० ई०, पृष्ठ ४०, ४४।

* 'गैर-आर्थिक निवेश' में कार्यालय भवन, होटल, आवास, स्थायी शिक्षा-सुविधाएं, अस्पताल इत्यादि प्रायोजनाएं शामिल हैं। इस प्रकार के निवेश में अत्यधिक उतार-चढ़ाव इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि सामान्यतः इसे 'आर्थिक निवेश' की अपेक्षा कम प्राथमिकता दी जाती है। अतः, इसके कारण परिमाण में व्यापक परिवर्तन संभव हो सकते हैं; क्योंकि विदेशी आर्थिक सहायता या घरेलू मामलों, जैसे कि कृषि को प्रभावित करने वाले मौसम में परिवर्तन के कारण कुछ निवेश के लिए उपलब्ध साधन परिवर्तित हो जाते हैं।

स्रोत : यूगोस्लाव सर्वे, अप्रैल १९६० ई०, पृष्ठ ४०, ४४।

के लिए विशेष पूँजी-साधन निर्धारित किए गए। और अधिक आर्थिक विकास के दौरान पूँजी संचय तथा उपभोग में समूचित संबंध स्थापित करना और निजी उपभोग में सतत् वृद्धि एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था।

श्रमिक परिषदें

यूगोस्लाविया की स्थिति का अध्ययन अर्थतंत्र का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना है, जहाँ उत्पादन के साधनों का समाजीकरण किया गया है और जहाँ समस्त औद्योगिक उपकरणों तथा प्राकृतिक साधनों का मूल स्वामित्व सरकार का है एवं उत्पादन उद्यमों का प्रबंध श्रमिकों द्वारा किया जाता है। किसी उद्यम के उपलब्ध साधनों को इस्तेमाल करने, उनकी आय में से निवेश के लिए तथा मजदूरी-दरों में वृद्धि करने के लिए धन के वितरण के संबंध में निर्णय करने में श्रमिकों का योगदान यूगोस्लाविया के साम्यवाद में आर्थिक लोकतंत्र का आधार है। निस्संदेह मास्को से संबंध-विच्छेद करने के कारण यूगोस्लाविया के पास योजना के स्वरूप में संशोधन करने के सिवा और कोई चारा न था। स्तालिन द्वारा टीटो के विरुद्ध अपनाई गई आर्थिक प्रतिशोध की नीति के कारण टीटो को आर्थिक लोकतंत्र का सिद्धांत अपनाना पड़ा। इसके दो विशेष कारण थे :

(१) रूस द्वारा यूगोस्लाविया को ऋण तथा सहायता बंद करने से यूगोस्लाविया की औद्योगिक विस्तार प्रायोजनाएँ, जो कि सन् १९४७ से १९५० ई० में आरंभ की गई थीं, एकदम ठप्प हो गईं, जिससे यूगोस्लाविया को सतत् विकास कार्यक्रमों के लिए अपने आंतरिक साधनों पर निर्भर रहना पड़ा। कारखानों तथा खेतों में क्रमशः श्रमिकों और किसानों के अधिकतम सहयोग से ही प्रगति हो सकती थी। ऐसा असीम लोकप्रिय सहयोग केवल ऐसी योजना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था, जो कि लोकप्रिय सहयोग पर आधारित हो, न कि केंद्रीकृत योजना के दबाव पर।

(२) यूगोस्लाविया तथा पश्चिमी लोकतंत्रों में कुछ संबंध स्थापित करने के लिए संभव साधनों के रूप में आर्थिक लोकतंत्र की नीति एक आकर्षक नीति थी। वास्तव में अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने यूगोस्लाविया की आर्थिक विकास में सहायता की प्रार्थना पर शीघ्रता से प्रतिक्रिया दिखाई। यह कहना कि अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा यह सहायता सोवियत और यूगोस्लाविया के मतभेद बढ़ाने की भावना से दी गई, केवल अर्द्ध सत्य है। इसका एक कारण यह भी था कि विकसित राष्ट्र आर्थिक रूप से अविकसित राष्ट्रों की, लोकतंत्रीय तरीकों तथा साधनों द्वारा तीव्र आर्थिक उन्नति प्राप्त करने में, सहायता करना अपना दायित्व समझते थे।

वस्तुतः सोवियत संघ की तरह यहाँ भी औद्योगिक उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण किया गया है। राष्ट्रीयकरण का अधिकांश कार्य द्वितीय विश्वयुद्ध

के दौरान शत्रु राष्ट्रों, युद्ध-नफाखोरों तथा विदेशी विनियोक्ताओं की संपत्ति का अपहरण करके पूरा किया गया। युद्ध के तत्काल बाद की समयावधि के दौरान सरकार ने अर्थतंत्र का प्रबंध सीधे मंत्रालयों तथा निदेशालयों द्वारा किया। परंतु, १९४८ ई० से केंद्रीकृत नियंत्रण और औद्योगिक परिचालन के आयोजन पर्याप्त मात्रा में कम हो गए हैं। औद्योगिक उद्यमों की नीतियों के निर्धारित करने और उनका स्वयं प्रबंध करने का कार्य अधिकाधिक संबंधित उद्योगों के श्रमिकों के हाथ में सौंप दिया गया। परिणामस्वरूप उद्यम बाजार में संभरण और माँग की परिस्थितियों द्वारा निर्धारित मूल्य-निर्धारण और उत्पादन की नीतियों का अनुसरण करते हुए लाभ के उद्देश्य की बढ़ती हुई भावना से कार्य करते रहे। यहाँ तक कि मजदूरी-निर्धारण करने के ढंग, पूँजी विस्तार तथा लाभ-वितरण की व्यवस्था भी प्रायः व्यक्तिगत उद्यमों तथा उनके श्रमिकों के हाथ में है और उन पर स्थानीय सरकार—'लोक समितियों'—का कुछ नियंत्रण है। दूसरे शब्दों में, उन शक्तियों को, जो कि गतिशील स्वतंत्र उद्यम पूँजीवादी तंत्र को चलाती है, पूर्ण रूप से तो नहीं परंतु पर्याप्त मात्रा में कार्य करने की अनुमति दी गई है। यूगोस्लाविया की तथाकथित आर्थिक लोकतंत्र के मार्ग पर उन्नति क्रमिक तथा विषम रही है।

केंद्रीय सरकार के प्रभुत्व की अपेक्षा स्थानीय नियंत्रणों तथा श्रमिक स्व-शासन को महत्ता देने के मूल कारण सर्वथा ठोस हैं। दोनों साम्यवादी देशों के राजनीतिक संबंध अत्यंत कमजोर हो जाने के कारण, यूगोस्लाविया की आयोजना का सामान्य पुनर्स्थापन रूसी मॉडल से भिन्न था। इस कारण के साथ-साथ उस समय के प्रतिकूल मौसम ने यूगोस्लाविया को अपनी मूल स्थिति पर फिर से विचार करने और अंततः आर्थिक लोकतंत्र को अपनाने पर वाध्य कर दिया। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्त्ती सरकारी निदेश तथा उद्योग-प्रशासन को कुछ नकारात्मक शक्तियों का सामना करना पड़ा। उद्यमों को अपने कार्य आर्थिक दक्षता से चलाने के लिए पर्याप्त अभिप्रेरण नहीं मिले। उदाहरण के तौर पर, उत्पादन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रायः माल की गुणावस्था की अवहेलना करके उसकी अपेक्षित मात्रा को प्राप्त किया गया। विस्तृत केंद्रकृत आयोजना से राष्ट्रीय आय के वितरण में गंभीर त्रुटियाँ आईं, श्रमिकों तथा पर्यवेक्षकों की मजदूरी-दरें सरकार द्वारा निर्धारित की गईं और ये दरें प्रायः इतनी ऊँची निर्धारण की गईं कि उद्यम उन्हें अपनी आय से पूरा नहीं कर सकते थे। अधिकारी तंत्र समाजवादी विकास को रोकने में प्रवृत्त था, जबकि ऐसे विकास के आयोजन के लिए सामान्य सहयोग और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए सहायता की आवश्यकता थी।

१९४८ ई० के पश्चात् सरकार ने उत्तरोत्तर यह निर्णय किया कि अर्थतंत्र को दक्षतापूर्वक चलाने तथा व्यक्तिगत श्रमिक का सक्रिय सहयोग एवं सृजनात्मक स्वत: प्रेरणा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यह है कि उद्यम को चलाने में तथा लाभ के निपटारे में उसका भी हाथ होना चाहिए। कुछ प्रारंभिक कदमों के पश्चात् २६ जून, १९५० ई० को राष्ट्रीय सभा ने कार्यकारी सामूहिक समितियों द्वारा उद्यमों के प्रबंध के संबंध में मूल कानून बनाया। इसकी प्रस्तावना में यह कहा गया है कि यह कानून 'समाजवाद के इस सिद्धांत को लागू करने के लिए कि सामाजिक उत्पादन का प्रबंध उत्पादकों द्वारा स्वयं किया जाना चाहिए, और लोक स्वशासन के लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों को बढ़ावा देने के लिए' बनाया गया। 'कार्यकारी सामूहिक समिति' पद का अभिप्राय उत्पादन-श्रमिकों के समस्त निकाय तथा उद्यम के अन्य कर्मचारियों से है।

उद्यम के प्रबंध के आंतरिक संगठन के दो कार्य हैं, जिनका पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है : (१) संगठन के महत्त्वपूर्ण मामलों तथा श्रमिकों के प्रयोग के संबंध में निर्णय लेना, उद्यम की व्यावसायिक नीति निर्धारित करना, उद्यम द्वारा प्राप्त निबल आय का वितरण करना और उद्यम के सभी अंगभूत भागों के कार्यों का सामान्य पर्यवेक्षण करना, तथा (२) उत्पादन की उन विस्तृत प्रक्रियाओं का प्रबंध जो मूल निर्णयों को कार्यान्वित करती है। प्रत्येक उद्यम का पहला कार्य उसकी 'कार्यकारी सामूहिक समिति' द्वारा (क) श्रमिक परिषद् (ख) प्रबंध बोर्ड तथा (ग) निदेशक की मार्फत किया जाता है। दूसरा कार्य कार्यात्मक अधीनस्थ कर्मचारियों जैसे कि लेखापालकों, इंजीनियरों, कार्मिक निदेशक, इत्यादि द्वारा किया जाता है।

'कार्यकारी सामूहिक समिति' उद्यम का प्रबंध स्वतंत्र रूप से करती है, परंतु उसे अपने कार्य कानून के अनुसार करने पड़ते हैं और समुदाय के प्रति अपने वैध दायित्वों को निभाना पड़ता है। यह प्रबंध के अपने अधिकार का प्रयोग स्वयं नहीं करती, बल्कि अपनी प्रतिनिधि श्रमिक परिषद् द्वारा करती है। जिन उद्यमों में ३० से कम व्यक्ति काम करते हैं, वहाँ श्रमिक परिषद् ही कार्यकारी सामूहिक समिति होती है।

इस आंदोलन में आर्थिक लोकतंत्र की प्राप्ति के लिए श्रमिक परिषद् ही मूल संस्था है। ये परिषदें सर्वप्रथम सन् १९४९-५० ई० में स्थापित की गईं। पहले-पहल ये केवल अंदाज लेने वाले मंडल का ही कार्य करती थीं। केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त उद्यम प्रबंधक श्रमिकों की शिकायतों तथा सुझावों पर इनकी मार्फत ही विचार करते थे। परंतु १९५१ ई० से, विशेषकर १९५३ ई० से, इन परिषदों ने, जो कि श्रमिकों द्वारा निर्वाचित की जाती हैं और उन्हीं का प्रतिनिधित्व करती हैं, औद्योगिक

उद्यक के प्रबंध की सभी अवस्थाओं में पर्याप्त स्वाधीनता बरती है।

श्रमिक परिषद् उद्यम के प्रबंध की सर्वोच्च निकाय है। यह उद्यम के मूल नीति-संबंधी मामलों का निर्णय करती है। परिषद् के सदस्य संबंधित उद्यम के श्रमिकों द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं। सदस्यता के लिए उम्मीदवार स्थानीय व्यापार संघ द्वारा या श्रमिकों के ऐसे किसी वर्ग द्वारा जिसमें कर्मचारियों की कुल संख्या का कम-से- कम दसवाँ भाग समाविष्ट हो, मनोनीत किए जाते हैं। उद्यम के आकार तथा संगठन के अनुसार श्रमिक परिषद् में १५ से १२० तक सदस्य होते हैं। ये सदस्य सर्वव्यापी, समान तथा सीधे गुप्त मतदान द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं।

नव निर्वाचित श्रमिक परिषद् अपनी पहली बैठक में अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष चुनती है। यह परिषद् सामूहिक रूप में काम करती है और अपनी बैठकों में सभी निर्णय स्वीकार करती है। इसकी बैठक ६ सप्ताह में कम-से-कम एक बार अवश्य होनी चाहिए। यदि बैठक में आधे से अधिक सदस्य उपस्थित हों, तो परिषद् का निर्णय बंध होता है। निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। बैठकों में उद्यम के निदेशक तथा प्रबंध बोर्ड के सदस्य भी भाग लेते हैं।

प्रबंध बोर्ड उद्यम का प्रबंध अपने-आप श्रमिक परिषद् के आदेशों और नीति निर्णयों तथा राष्ट्रीय सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों एवं नियमों के अनुसार करता है। बोर्ड में पदेन निदेशक सहित तीन से ग्यारह तक सदस्य होते हैं। बोर्ड को श्रमिक परिषद् की पहली बैठक में गुप्त मतदान के द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। बोर्ड के समुचित गठन और उसमें नौकरशाही प्रवृत्तियों को रोकने के लिए उसके कम-से-कम तीन चौथाई सदस्य ऐसे होने चाहिए, जो कि सीधे उत्पादन-कार्य में नियुक्त हों। किसी एक चुनाव में बोर्ड के एक-तिहाई सदस्यों से अधिक सदस्य पुनः निर्वाचित नहीं हो सकते और कोई भी व्यक्ति लगातार दो वर्ष से अधिक समय तक सदस्य नहीं रह सकता। श्रमिक परिषद् तथा प्रबंध बोर्ड के सदस्य इन निकायों के सदस्य होने के नाते, अपनी नियमित मजदूरी के अतिरिक्त जो कि उन्हें कार्यालय के काम के लिए दी जाती हैं, और कोई पारिश्रमिक प्राप्त नहीं करते। परिषद् का बोर्ड की सदस्यता की समयावधि के दौरान वे उद्यम में अपने नियमित पदों पर कार्य करते रहते हैं। निदेशक, जो कि उद्यम के नित्य कार्य-संचालन के प्रबंध के लिए उत्तरदायी है, मुक्त प्रतिद्वंदी उम्मीदवारों में से चुना जाता है। इस संबंध में अंतिम निर्णय संयुक्त आयोग द्वारा किया जाता है। इस आयोग में श्रमिक परिषद, और उस क्षेत्र की लोक समिति (स्थानीय सरकार), जिसमें वह उद्यम स्थित है, द्वारा मनोनीत संबद्ध व्यावसायिक संघों के प्रतिनिधि शामिल हैं। निदेशक उद्यम

में उत्पादन-प्रक्रिया की व्यवस्था करता है तथा श्रमिक परिषद् और प्रबंध बोर्ड की नीतियों एवं निर्णयों के अनुसार कार्य-संचालन का निदेशन करता है। वह अन्य उद्यमों के साथ बातचीत और करार-संबंधी मामलों में अपने उद्योग का प्रतिनिधित्व करता है। साधारणतया परिषद् और निदेशक एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते, यद्यपि उनके आपस में घनिष्ठ सलाहकार तथा परामर्श संबंध होते हैं। यदि कोई सौमनस्य द्वारा असाध्य विवाद खड़ा हो जाए जिससे कि परिषद् को नया निदेशक नियुक्त करना पड़े, तो उस मामले में अंतिम निर्णय स्थानीय क्षेत्र की लोक समिति द्वारा किया जाता है। यदि विवाद का संबंध किसी बहुत बड़े उद्यम से हो, तो अंतिम फैसला उच्चतर सरकारी निकाय द्वारा किया जाता है।

श्रमिक परिषद् आंदोलन ने प्रत्यक्ष रूप से यूगोस्लाविया के श्रमिक वर्गों को आकर्षित किया है। सारणी ७ में उद्यमों (३० से अधिक श्रमिक वाले) में श्रमिक परिषदों के सदस्यों की सन् १९५२ से १९५८ ई० तक के प्रत्येक वर्ष की संख्या दर्शाई गई है। परिषदों के श्रमिकों की योग्यता का स्तर बढ़ गया है। इन परिषदों में स्त्रियों की संख्या १९५२ ई० में १२·७ प्रतिशत थी जो कि १९५८ ई० में बढ़कर १५·८ प्रतिशत हो गई।

सारणी ७. उद्यमों में श्रमिक परिषदों के सदस्य

वर्ष	श्रमिक परिषदों के सदस्यों की कुल संख्या	इनमें से वे, जो कि सीधे श्रमिक, हैं उत्पादन में नियुक्त हैं	
		कुल जोड़	प्रतिशत
1952	105,018	80,538	76.7
1953	105,540	81,418	77.1
1954	115,479	90,102	78.0
1956	124,204	96,287	77.5
1957	128,607	98,228	76.4
1958	135,625	102,417	75.5

स्रोत : दि स्टैटिस्टीकल बुलेटिन, फैड्रल स्टैटिस्टीकल इंस्टीच्यूट नं० ३३/१९५५, ३८/१९५५, ७७/१९५७ और १३७/१९५८।

श्रमिक परिषद् तथा कार्यकारी सामूहिक समिति में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए महत्त्वपूर्ण मामलों में सीधे योगदान के विभिन्न स्वरूप विकसित हुए हैं। इस योगदान के महत्त्वपूर्ण स्वरूप हैं—(एक) श्रमिकों की बैठकें, जो कि श्रमिक परिषद् द्वारा सामान्य: तीन मास में एक बार बुलाई जाती हैं तथा (दो) जनमत-संग्रह, जिसके द्वारा सामूहिक समिति के सदस्य विशेष महत्त्व के मामलों पर अपना मत प्रकट करते हैं। जनमत-संग्रह का आयोजन भी श्रमिक परिषद् द्वारा गुप्त मतदान से किया जाता है।

यह दावा किया जाता है कि इन निकायों की बैठकें लोकतंत्रात्मक और दक्षतापूर्ण ढंग से होती हैं और इन बैठकों के निर्णय सर्वदा पहले से एकत्रित ब्यौरों तथा उनके विश्लेषण पर आधारित होते हैं। प्राय: विशिष्ट समस्याओं का पर्यवेक्षण करने और उनके संबंध में रिपोर्ट देने के लिए विशेष आयोगों की नियुक्ति परिषदों में से ही की जाती है। विधित: यह अपेक्षा नहीं की जाती कि परिषद् या बोर्ड के सदस्य या उद्यमों के निदेशक साम्यवादी संघ के सदस्य बनें। ऐसे कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिनसे पता चले कि इन वर्गों में कितने प्रतिशत दल के सदस्य हैं। यह संभव है कि परिषद् के सदस्यों में से अधिकांश दल के सदस्य न हों, परंतु अधिकांश या संभवत: लगभग सारी परिषदों और प्रबंध बोर्डों के अध्यक्ष तथा उद्यमों के निदेशक दल के सदस्य हों। नि:संदेह, नीति के निर्धारण तथा औद्योगिक उद्यमों के प्रबंध पर दल का महत्त्वपूर्ण प्रभाव है।

कच्ची सामग्री तथा उपकरण खरीदने के संबंध में उद्यम आपस में करारनामें करने में स्वतंत्र हैं। अधिकतम तैयार माल के लिए निर्बाध तथा खुले बाजार मौजूद हैं और प्रत्येक उद्यम संभरण एवं माँग की परिस्थितियों के अनुसार निर्णय करता है कि उसे अमुक पदार्थ का उत्पादन कितनी मात्रा में करना चाहिए और उसके लिए क्या मूल्य निश्चित करना चाहिए। उत्पादन तथा मूल्य-निर्धारण की केंद्रीय योजना केवल लोक-सेवाओं—जैसे कि परिवहन, संचार तथा अन्य उपयोगी सेवाएँ—तथा कुछ मूल उद्योगों के नए उद्यमों के लिए होती हैं। प्राय: विभिन्न उद्योगों के लिए समस्त लक्ष्य सामान्य योजना में निर्धारित किए जाते हैं, परंतु ये लक्ष्य केवल सलाहकारी ही हैं तथा ये मुख्यतया व्यक्तिगत उद्यम को यह अवगत कराने के लिए हैं कि वर्ष के दौरान समूचे अर्थतंत्र में क्या परिवर्तन संभव हो सकते हैं जैसे कि अमेरिकी उद्योग में कोई फर्म नीति-निर्धारण के लिए राष्ट्रपति की अर्थतंत्र-संबंधी रिपोर्ट से कुछ मार्गदर्शन प्राप्त कर सकती है। सामान्य आर्थिक योजना प्रशासनिक आदेश द्वारा उद्यमों के दायित्व निर्धारित नहीं करती। यह उद्यम अपने आर्थिक हितों के अनुसार व्यापार चलाते हैं, जबकि सामान्य आर्थिक नियम (उधार,

उद्यम की निबल आय का वितरण, इत्यादि संबंधी) उद्यम को यह अभिप्रेरण देने के लिए बनाए जाते हैं कि वह निर्धारित मार्ग तथा सामान्य आर्थिक योजना के उपबंधों के अनुसार व्यापार चलाए।

सामान्य रूप से यह देखा जा सकता है कि १९५३ ई० से कुल मिलाकर अर्थतंत्र की केंद्रीकृत योजना में कटौती कर दी गई है। कच्ची सामग्री के अधिकांश मूल्य, जो कि पहले सरकार द्वारा नियंत्रित थे, अब विनियंत्रित कर दिए गए हैं। पूँजी-संचयन भी कुछ सीमा तक केंद्रीय नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया है। उद्यम द्वारा सामग्री, मजदूरी तथा प्रबंध, वेतन, करों और मूल्य-ह्रास एवं अन्य खर्च पूरे किए जाने के बाद श्रमिक परिषद् यह निर्णय करती है कि लाभ, यदि कुछ हो, तो इसे किस प्रकार बाँटा जाए। सरकारी नियमों द्वारा लगाई गई वाह्य सीमाओं के अंतर्गत वे निर्णय करती हैं कि उद्यम की निबल आय का कितना अनुपात श्रमिकों को बोनस के रूप में वितरित किया जाएगा और कितना पूँजी-विस्तार के लिए इस्तेमाल किया जाएगा। देश में स्थापित उद्यम संभवतः अपनी-अपनी कमाई के पुनः निवेश द्वारा अपनी आधी नई पूँजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

मजदूरी-निर्धारण के मामले में भी श्रमिक परिषद् महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। विशिष्ट-पदों के प्रारंभिक वेतनमान उद्यम के प्रबंध बोर्ड द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। यदि श्रमिक परिषद्, संबंधित लोक समिति तथा स्थानीय व्यापार संघ सभी इन प्रस्तावित वेतनमानों से सहमत हों, तो उन्हें लागू कर दिया जाता है। परंतु, यदि ये निकाय इस संबंध में सहमत न हों, तो यह सारा मामला विवाचन आयोग को सौंप दिया जाता है और इस प्रकार यह मामला श्रमिक परिषद् के कार्य-क्षेत्र से बाहर हो जाता है। विवाचन-आयोग में लोक समिति तथा व्यापार संघ के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। गणराज्य की कार्यकारी परिषद् का प्रतिनिधि आयोग के अध्यक्ष के रूप में काम करता है और यदि अन्य दो दल सहमत न हों, तो उसका मत निर्णायक होता है। परंतु, व्यवहार में सभी संबंधित पक्ष सामान्यतः प्रबंध बोर्ड के प्रस्ताव से सहमत हो जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि यूगोस्लाविया की सरकार ने औद्योगिक उत्पादन की व्यवस्था इस प्रकार करने की चेष्टा की है जिससे कि श्रमिकों को अपना कार्य दक्षतापूर्वक करने की अभिप्रेरणा मिले और वे अनुपस्थिति तथा उपेक्षा द्वारा अपने उद्यम को हानि पहुँचाने की बजाय अपनी सृजनात्मक शक्ति उत्पादन-कार्य में लगाएँ। यह उसके अपने ही सर्वश्रेष्ठ लाभ के लिए प्रतीत होता है कि उसका उद्यम अपनी कार्य-कुशलता को बढ़ाए, ताकि उसे यथासंभव निबल आय प्राप्त हो सके; क्योंकि इस ढंग से ही उसकी अपनी मजदूरी तथा निबल आय में से अधिकतम बोनस मिल सकता

है। फिर भी यह अनुमान लगाना बहुत कठिन है कि तथा कथित आर्थिक लोकतंत्र की प्राप्ति कहाँ तक हुई है। निम्नलिखित त्रिविध नियंत्रण वास्तविक और निःसंदेह बहुत कारगर है····(क) दल-प्रमुख स्थानों पर साम्यवादी संघ के सदस्य, (ख) सरकार—जिसे अर्थतंत्र के संबंध में कानून बनाने और उसमें संशोधन करने के अधिकार प्राप्त हैं और (ग) सामान्य योजना—सारी रूपरेखा, जिसमें लक्ष्यों के स्पष्ट संकेत तथा परोक्ष नियंत्रण संबंधी व्यवस्था है (जैसे कि उधार के संबंध में) हर प्रकार की लोकतंत्रात्मक योजना को इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि विकेंद्रीकरण और आयोजना एक साथ कैसे कारगर सिद्ध हो सकते हैं? योजना के अंतर्गत अधिकारों का केंद्रीकरण तथा कुछ हद तक एक मार्गीकरण आवश्यक है। सोवियत संघ का उदाहरण इस मामले के महत्त्व को स्पष्ट करता है। यूगोस्लाविया के साम्यवादियों के सम्मुख यह दिखाने का कठिन कार्य है कि कम-से-कम औद्योगिक क्षेत्र में, जहाँ उत्पादन के साधन पूर्णतया राष्ट्रीयकृत हैं, 'आर्थिक लोकतंत्र' आयोजित विकास सुनिश्चित कर सकता है।

नई पद्धति के अंतर्गत ही उद्यमों तथा श्रमिकों के अपने प्रबंध ने स्वायत्तता प्राप्त की, वैसे ही उन्होंने ऐसे मामलों की देखभाल करने के लिए, जो कि अपनी प्रकृति के कारण लगभग केंद्रीकृत होने चाहिए, धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के संघ बना दिए। इनमें से विशेष संघ इस प्रकार हैं (१) सदन—इनका अभिप्राय 'श्रमिक प्रबंध के उस उर्ध्वाधिर एकीकरण' से है, जो सभी श्रमिक परिषदों की अनेक साझी समस्याओं के संयुक्त समाधान की चेष्टा करता है। उद्यम व्यापक आर्थिक वर्गीकरणों के अनुसार सदनों से सब हैं। ये सदन सामान्य आर्थिक योजनाएँ बनाने में सरकारी अधिकारियों को सहयोग प्रदान करते हैं (२) व्यापार संस्थाएँ ये उद्योगवार आधार पर उद्यमों के ऐसे संगठन हैं, जो कि अनुसंधान या विक्रय उन्नति-जैसी विशिष्ट समस्याओं के संयुक्त समाधान करती हैं। (३) उत्पादक परिषदें इनमें संघीय सभा के दो सदनों में से एक सदन तथा प्रत्येक गणराज्य की प्रत्येक विधान सभा समाविष्ट है। उद्यमों की कार्यकारी सामूहिक समितियों तथा अन्य उत्पादकों का उत्पादक परिषदों में अपने प्रतिनिधियों द्वारा कानून बनाने में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है।

श्रमिकों के अपने प्रबंध की असाधारण उन्नति के बावजूद इसमें सर्वविदित कमियाँ हैं। दक्षता के उस स्तर में, जिस पर इसके संगठनात्मक भाग कार्य करते हैं, बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। अर्थतंत्र के विभिन्न भागों में इसकी सफलता की मात्रा में पर्याप्त अंतर है। उदाहरणार्थ इस संबंध में निर्माण उद्योग सबसे पीछे हैं। हाल ही के वर्षों में सरकार ने श्रमिक परिषदों की कुछ उत्पादनों में सर्वाधिकार

मूल्य-निर्धारण में साथ देने की प्रवृत्तियों की शिकायत की है। चूँकि व्यक्तिगत उद्यम अपने उद्यम अपने उत्पादन के मूल्य स्वयं निर्धारण करता है, इसलिए ऐसा उद्यम जिसे किसी विशिष्ट बाजार क्षेत्र में माल संभरण में कोई प्रतियोगी न मिले, उच्चतर दाम लगा सकता है। उद्यम सामूहिक तौर पर मूल्य-स्थिरीकरण की व्यवस्था अथवा समझौता करने हेतु आपस में सम्मिलित होने के लिए प्रसिद्ध है। एक बार ऐसे अनेक उद्यमों को वास्तव में दंड दिया गया, जिन्हें इस प्रकार के अपराधों के लिए दोषी समझा गया.[1] इस प्रकार यूगोस्लाविया उद्देश्यों के विपरीत काम करने वाला पहला साम्यवादी देश था।

उद्योगों में श्रमिकों के स्व-प्रबंध की चर्चा समाप्त करते हुए इस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि किसी औद्योगिक उद्यम के वित्तीय मामलों की व्यवस्था किस प्रकार की जानी चाहिए। इसके उत्पादन को बेचने से प्राप्त कुल आय में से सर्वप्रथम वर्त्तमान परिचालन-लागत की पूर्ति होनी चाहिए। वर्त्तमान परिचालन-लागत में सामग्री बिजली आदि का परिव्यय, भौतिक उपकरणों और संयंत्र भवनों का मूल्य ह्रास प्रभार, उद्यम द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली उत्पादन-सुविधाओं के लिए सरकार को अदा किए जाने वाले ब्याज प्रभार; और उत्पादन, पर्यवेक्षी तथा प्रबंध कर्मचारियों की नियमित मजदूरी एवं वेतन का खर्च शामिल हैं। प्रबंध कर्मचारियों में निदेशक और उनका स्टॉफ शामिल है। इन कटौतियों के बाद जो धनराशि बचती है, उसे निम्नलिखित ढंग से वितरित कर दिया जाता है : संघीय सरकार 'लाभ-कर' लगाती है, जो कि इस निबल आय के लगभग ५० प्रतिशत के बराबर होता है; उस लोक समिति का, जहाँ उद्यम स्थित है, आय के कुछ अंश पर वैध रूप से स्वीकृत कुछ दावा है। शेष धन श्रमिक परिषद् के पास रहता है, जिसे परिषद् वैध प्रतिबंधों के अनुसार निम्न प्रयोगों के लिए बांट देती है; सरकार से प्राप्त होने वाले अनुदानों या ऋणों की अनुपूर्ति के लिए उद्यम की भौतिक सुविधाओं में पुनर्निवेश; कर्मचारियों के लाभ की विभिन्न प्रायोजनाओं—जैसे आवास-सुविधाओं का निर्माण का खर्च; और उत्पादन श्रमिकों, पर्यवेक्षकों एवं निदेशक तथा उनके कर्मचारियों का बोनस। यद्यपि उजरती दर और प्रोत्साहन मजदूरी योजनाएँ निर्माण उद्यमों की खास बातें हैं, तो भी वितरित आय के इस अंतिम भाग से विशेष रूप से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उद्यम के श्रमिकों को न केवल अपना ही कार्य दक्षतापूर्वक करने के लिए प्रोत्साहन देगा, अपितु उन्हें उद्यम के प्रत्येक स्थान पर दक्षता बढ़ाने में अत्यधिक रुचि लेने के लिए भी प्रोत्साहित करेगा।

---

१. दि न्यूयार्क टाइम्स, १६ अक्तूबर, १९५४।

श्रमिक परिषद् की बैठक

छात्र को श्रमिक परिषद् की वास्तविक बैठक की कुछ जानकारी प्राप्त करने का अवसर प्रदान करने के लिए बेलग्रेड के एक उद्यम की श्रमिक परिषद् की एक नियमित बैठक का लेखा नीचे दिया जाता है। यह उद्यम कोलतार कागज, विसंवाहन सामग्री और कार्क की वस्तुओं का[1] निर्माण करता है और इसमें लगभग ७०० कर्मचारी हैं।

श्रमिक परिषद् के सभी उन्नीस सदस्यों ने, जिनमें दो महिलाएँ थीं, इस बैठक में भाग लिया। प्रबंध बोर्ड के छह सदस्य, उद्योग के निदेशक और मुख्य अभियंता भी उपस्थित थे। मुख्य अभियंता ने विचार-विमर्श में तो सक्रिय भाग लिया, पर वास्तविक निर्णय लेने में नहीं। अधिवेशन की कार्यवाही अच्छी तरह चलाई गई। विनम्र अध्यक्ष ने बैठक को सुचारू ढंग से चलाने के लिए संसदीय प्रक्रिया का न्यूनतम प्रयोग किया और कार्य सूची के अनुसार कार्यवाही चलाई। लगभग आधे सदस्यों ने व्यापार की विभिन्न मदों पर विचार-विमर्श में अक्सर भाग लिया, जबकि अधिकांश अन्य सदस्य केवल कभी-कभी बोले। मंत्री ने बैठक में लिए गए निर्णयों तथा अन्य कार्यवाही को नोट कर लिया। हालांकि प्रत्येक सदस्य अपने विभाग के, जहाँ से वह चुना गया था, मामलों के बारे में अत्यधिक स्पष्ट दिखाई देता था, परंतु यह बिल्कुल स्पष्ट था कि उनमें से अनेक को पूर्णतः पता था कि विभागों का अंतःसंबंध अधिकतर सारे उद्यम की सफलता पर निर्भर था और इसलिए उन्होंने इस प्रकार की पृष्ठभूमि के साथ विस्तृत मामलों पर विचार-विमर्श किया। अध्यक्ष ने इस वर्ग पर अपने विचार लादने की कोशिश करने का कोई संकेत नहीं दिया, यद्यपि उन्होंने (अध्यक्ष) उन्हें अपने विचारों से अवगत करा दिया। इस मामले पर कोई औपचारिक मतदान नहीं हुआ। इच्छुक सदस्यों द्वारा किसी विषय पर अपने विचार व्यक्त कर चुकने के बाद, अध्यक्ष महोदय बहुमत को सामने रखते थे और यह पूछते थे कि कोई सदस्य उनके निर्णय से असहमत तो नहीं है ? किसी भी मामले में कोई भी असहमति व्यक्त नहीं की गई और इस प्रकार प्रत्येक मामला तय किया गया, यद्यपि कुछ मामले, अध्यक्ष द्वारा निष्कर्ष निकालते समय निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार, संयंत्र के संबंधित श्रमिकों के साथ परामर्श या आगे अध्ययन के लिए स्थगित कर दिए गए। कार्य-सूची के

---

[1] कई वर्ष पहले इस बैठक में भाग लेने का लेखक का विशेषाधिकार था। देखिए डब्ल्यू० एन० लौक्स की पत्रिका 'वर्कर्स सेल्फ-गवर्नमेंट इन यूगोस्लाव इंडस्ट्री', वर्ल्ड पॉलिटिक्स, अक्तूबर, १९५८। इस पत्रिका ने इस लेख के एक अंश को दुबारा छापने की अनुमति दी है।

प्रत्येक मामले पर कभी-कभी उद्यम के निदेशक ने विस्तृत भाषण किए। वह योग्य और प्रभावशाली दिखाई दिए और उनमें नेतृत्व करते के गुण थे। सदस्यों ने अनेक मामलों पर अपनाए गए उनके दृष्टिकोण तथा सिफारिशों को चुपचाप स्वीकार नहीं किया। उनके वक्तव्यों पर अनेक प्रश्न उठाए गए और उन्हें अपने दृष्टिकोणों की पुष्टि के लिए अधिक व्यौरे देने को मजबूर किया गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि सदस्य निदेशक का मान करते थे, परंतु उन्हें उनसे मतभेद करने पर कोई खेद नहीं होता था। अनेक मामलों में इंजीनियरी पहलुओं पर मुख्य अभियंता विस्तारपूर्वक भाषण करते थे। सदस्यों को निदेशक की अपेक्षा उनमें कम विश्वास दिखाई देता था और कम-से-कम एक मामले पर बैठक का बहुमत उनके दृष्टिकोण के विपरीत था। इस मामले पर, विचार-विमर्श के बाद, निदेशक ने परिषद् के सदस्यों का पक्ष लिया और उजरती-कार्य के उत्पादन प्रसामान्यकों के संशोधन के संबंध में कुछ कर्त्तव्यों का पालन संतोषजनक ढंग से न करने के लिए अभियंता की कड़ी आलोचना की।

यदि बैठक की सारी कार्यवाही यहाँ उद्धृत की जाए, तो उससे पता चलेगा कि श्रमिक परिषद् वही कार्य कर रही थी, जोकि पहले निर्दिष्ट किए गए थे—जिन मदों पर विचार-विमर्श और निर्णय किया गया, उनके सारांश से यह पता चलेगा कि यह परिषद् मूलभूत प्रबंध समस्याओं का समाधान कर रही थी। पिछली बैठक की कार्यवाही से भी, जो कि इस बैठक में पढ़ी गई, इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

सर्वप्रथम १९५७ ई० के पहले नौ महीनों में योजना की पूर्ति के संबंध में निदेशक की रिपोर्ट पर विचार किया गया। प्रत्येक सदस्य के सामने रिपोर्ट की टंकलिखित प्रति मौजूद थी। निदेशक ने अलग-अलग मद पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया और अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए। विभागों द्वारा निदेशक की रिपोर्ट अस्वीकार कर दी गई और सदस्यों के प्रश्नों तथा टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो गया कि व्याप्त भावात्मक विचार यह था कि एक विभाग दक्षतापूर्वक काम नहीं कर रहा था। निदेशक ने अपने दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए विस्तारपूर्वक कहा कि उक्त विभाग को अपरिहार्य कठिनाइयों में काम करना पड़ा। इनमें से एक कठिनाई अत्यधिक प्रतियोगिता की अवस्था थी, जिसमें इस विभाग द्वारा उत्पादित वस्तु को बेचने वाले तीन प्रतियोगियों के आ जाने के कारण इस वस्तु का मूल्य उत्पादन-लागत से भी कम हो गया। निदेशक ने सूचित किया कि यह स्थिति अंततः तीन उद्यमों में मूल्य-संबंधी एक समझौता हो जाने से स्थिर हो गई। बाद में एक सरकारी अधिकारी ने लेखक को बताया कि यह कार्य सर्वथा गैर-कानूनी था। निदेशक ने यह भी बताया कि किसी संयंत्र के ऊपरी खर्च को अनेक विभागों में बाँटना एक बिल्कुल मनमानी प्रक्रिया थी और यदि वितरण का कोई अन्य न्यायसंगत तरीका इस्तेमाल

किया जाता, तो विचाराधीन विभाग में वित्तीय परिणाम बिल्कुल भिन्न होते। मुख्य अभियंता ने विचार-विमर्श में भाग लिया और आलोच्य विभाग का समर्थन किया, यद्यपि उसे यह मानना पड़ा कि इस विभाग में अभिप्रेरण के उत्पादन प्रसामान्यक प्राचीन थे और इससे उत्पादन पर प्रभाव पड़ा। उनसे तीखे प्रश्न किए गए कि प्रसामान्यकों के संबंध में स्थिति में सुधार क्यों नहीं हुआ? यह पूर्णतः स्पष्ट था कि सदस्य सामान्यतः निदेशक या मुख्य अभियंता के स्पष्टीकरणों से संतुष्ट नहीं थे और जैसाकि एक सदस्य ने कहा, उन्हें विश्वास था 'इस विभाग में कार्य की समुचित व्यवस्था नहीं थी।' विचार-विमर्श के अंत में निदेशक ने मुख्य अभियंता के यह आदेश जारी किए कि वह स्वयं से अपेक्षित आँकड़े एकत्र करे और प्रसामान्यकों में संशोधन करे। यह मामला आगामी बैठक की कार्य-सूची में शामिल कर लिया गया और सदस्य-विभाग की स्थिति की व्यक्तिगत जाँच करने के लिए सहमत हो गए।

मुख्य अभियंता ने संयंत्र के उपकरणों के अनेक भागों के पुनर्निर्माण और पुनर्स्थापन के लि विस्तृत सिफारिशें प्रस्तुत कीं। सदस्यों ने उसके सुझावों के बारे में अनेक प्रश्न किए। उन्होंने एक प्रश्न पर यह किया कि ये प्रस्ताव मुख्य अभियंता के विचार ही हैं या प्रबंध बोर्ड और निदेशक द्वारा सरकारी तौर पर श्रमिक परिषद् के सामने रखे जा रहे हैं? मुख्य अभियंता ने उत्तर दिया कि ये प्रस्ताव केवल विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किए गए हैं और ये परिषद् को सरकारी तौर पर प्रस्तुत करने के लिए अंतिम रूप में नहीं हैं। ये प्रस्ताव 'सिद्धांत रूप में' स्वीकार कर लिए गए और परिषद् ने पूँजीगत सुधार के लिए उपलब्ध स्व-निपटान निधियों के संबंध में अधिक निश्चित आधार-सामग्री और विचार-विमर्श के दौरान सदस्यों द्वारा दिए गए असंख्य वैकल्पिक सुझावों में से कुछ सुझावों पर विचार करने के लिए और अधिक समय की माँग की। अध्यक्ष का यह सुझाव था कि प्रत्येक सदस्य आगामी बैठक में 'पुनर्निर्माण की संपूर्ण योजना' के संबंध में निर्णय लेने के लिए तैयार रहें।

संक्षिप्त विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय लिया गया कि कुछ श्रमिकों को उद्यम के खर्च पर विशिष्ट कार्य-वर्दियाँ दी गईं। परिषद् ने उनसे नए कर्मचारियों की मजूरी की उचित दरों के बारे में विचार-विमर्श किया, जो कि कर्मचारियों के रसोईघर के स्टॉफ में भर्ती किए गए थे। एक महिला सदस्य के उत्कट तर्क विचार-विमर्श के अंत में परिषद् ने निदेशक द्वारा सिफारिश की गई मजूरी-दरों से अधिक मजूरी-दरें निर्धारित कीं। परिषद् को एक श्रमिक से एक लिखित शिकायत प्राप्त हुई कि औद्योगिक चोट के कारण काम पर अनुपस्थित रहने के बाद जब वह काम पर वापस आया, तब उसकी पदावनति करके उसे साधारण श्रमिक बना दिया गया। इस मामले पर सक्रिय रूप से विचार-विमर्श किया गया और बहुमत यह था कि शिकायत-

कर्त्ता अपेक्षतया नया कर्मचारी था, वह परिश्रमी नहीं था और वह उस चोट लगने के बाद संयंत्र में आया था, जिसे वह अनुपस्थिति का कारण बताता है तथा वह प्राय: बिना नोटिस के अनुपस्थित रहता था, जिसके लिए वह बाद में पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं दे सकता था। अतः उसे बरखास्त करने के लिए पर्याप्त आधार था, परंतु यह नोट किया गया कि ऐसा करना गैर-कानूनी है; क्योंकि वह बीमारी की छुट्टी पर था। अंततः इस मामले का निपटारा यह निर्णय देकर किया गया कि शिकायतकर्त्ता उस पद पर रह सकता है, जिसके बारे में वह आपत्ति उठा रहा है, परंतु उसका पहले पद के लिए कोई वैध दावा नहीं था।

इस बैठक में जिन मामलों पर विचार किया गया, वे सब-के-सब ऐसे थे, जिन पर पूँजीवादी अर्थतंत्र में निजी मालिकों के प्रतिनिधियों द्वारा एकपक्षीय निर्णय लिया जाएगा; या वे श्रमिक संघ के प्रतिनिधियों से तय किए जाएँगे। सोवियत अर्थतंत्र में इन मामलों में संयंत्र के प्रबंधक या नियंत्रण के प्रवर अभिकरण द्वारा निर्णय लिया जाता है।

कृषि

सामूहिक फार्म

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले यूगोस्लाविया का कृषि-उत्पादन राष्ट्रीय उत्पादन का ५३ प्रतिशत था, जबकि औद्योगिक उत्पादन राष्ट्रीय उत्पादन का केवल २६ प्रतिशत ही था। कुल आबादी का ७५ प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर था। १९५८ ई० तक राष्ट्रीय उत्पादन में उद्योग का योगदान बढ़कर ४२ प्रतिशत हो गया, जबकि कृषि का योगदान घटकर २८ प्रतिशत रह गया। १९५९ ई० में कुल आबादी का ५१ प्रतिशत भाग कृषि में लगा हुआ था।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यूगोस्लाविया के अर्थतंत्र के स्वरूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सन् १९४७ से १९५८ ई० के दौरान अर्थतंत्र में कुल निवेश का ९.२ प्रतिशत कृषि के लिए नियत किया गया, जबकि उद्योग के लिए ५७.४ प्रतिशत।[2] यूगोस्लाविया ने तीव्र उद्योगीकरण द्वारा अपने अर्थतंत्र का स्वरूप बदला ताकि वह अपनी कृषि की, जोकि अभी भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी, पूर्ति कर सके। इससे भी उसकी कृषि-उत्पादिता में सुधार हुआ।

यूगोस्लाविया की कृषि-आयोजना का स्वरूप ध्यान देने योग्य है। उद्योग-क्षेत्र की तरह कृषि-क्षेत्र में भी यूगोस्लाविया ने पर्याप्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धात का स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त किसान-परिवारों के भूमि पर स्वामित्व के

---

[1] यूगोस्लाव सर्वे, अप्रील, १९६०, पृष्ठ ३५।

[2] वहीं, पृष्ठ ४०।

अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया है। यूगोस्लाविया की कुल कृष्य भूमि का लगभग १७ प्रतिशत भाग सरकार द्वारा नियंत्रित सामूहिक फार्में जोतती हैं। मुख्यतः काश्त स्वतंत्र किसानों द्वारा की जाती है, जो अपनी इच्छानुसार जो चाहे पैदा करने और उपज में से जितना चाहें, खुले बाजार में बेचने के लिए स्वतंत्र हैं। यद्यपि १९५७ ई० तक किसानों को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी, परंतु वर्त्तमान और भविष्य के कृषि-क्षेत्र में आर्थिक लोकतंत्र, कम-से-कम, उतना सार्थक होगा जितना कि वह उद्योग में है। साम्यवादी सरकार के तत्वावधान में, यूगोस्लाविया की कृषि-आयोजना को चार चरणों में बाँटा जा सकता है, जिनके परिणामस्वरूप यह वर्त्तमान स्तर तक पहुँची है।

१. पहला चरण सन् १९४५ से १९४८ ई० तक चला। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौराना भूमि का, औद्योगिक संपत्तियों की तरह, राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया। उस समय केवल एक भूमि-सुधार हुआ, जिसके अनुसार किसान-परिवार के व्यक्तिगत भूखंडों को ६० एकड़ तक सीमित किया गया। सरकार ने इससे अधिक भूमि किसान-परिवारों से छीन ली और उसे, सोवियत संघ-जैसे स्वैच्छिक सामूहिक फार्म बनाने के लिए अभिप्रेरणा देने के लिए प्रयुक्त किया। जहाँ-जहाँ किसान-वर्ग अपनी भूमि और पशु एक सामूहिक फार्म में जुटाने के लिए सहमत हुए, वहाँ-वहाँ सरकार ने नई सामूहिक फार्म के विस्तार के लिए अधिक जमीन दे दी। इन भूमि-अनुदानों का इस्तेमाल भावी सामूहिक फार्म संस्थापकों को यह मनाने के लिए किया गया कि वे भूमिहीन किसानों को अपने फार्मों का सदस्य बना लें।

२. १९४९ ई०में इस प्रकार के सामूहिक फार्मों की संख्या बढ़ाने के लिए एक प्रबल अभियान शुरू हुआ। उद्योगीकरण के कार्यक्रम के लिए आवश्यक कच्चे माल और अनाज की पूर्ति के लिए कृषि उत्पादिता में अपेक्षित तीव्र सुधार ने सरकार के इस प्रयास को बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त, कृषि-क्षेत्र में दक्षता का स्तर ऊँचा उठने पर फालतू कृषि श्रमिकों को उद्योग में लगाया जा सकता था। किसानों को सामूहिक फार्मों में सम्मिलित होने के लिए अभिप्रेरणा देने हेतु सरकार ने फार्मों को उपकरण, खाद और भवन दिए। वास्तव में लक्ष्य यह था कि किसानों के अपने-अपने छोटे भूखंडों पर प्रचलित पुराने तरीकों के स्थान पर बड़े पैमाने की आधुनिक कृषि कार्य-विधियों की स्थापना की जाए। परंतु ऐसे किसान, जिनके पास अपने निर्वाह के लिए पर्याप्त उपजाऊ भूमि थी, इन अभिप्रेरणों द्वारा आकर्षित नहीं हुए। उन्हें अपनी भूमि और पशुओं से बहुत लगाव था। इसलिए वे ऐसे मामलों में अपने-आप को सरकार के इस निदेश के अधीन नहीं रखना चाहते थे कि उन्हें अमुक फसलों का अमुक उत्पादन करना चाहिए या उत्पादित फसलों का अमुक भाग

सरकार को सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों पर बेचना चाहिए। बहुत से किसानों को यह संशय था कि सामूहिक फार्मों द्वारा सरकार को अनिवार्य प्रदानों के पश्चात् खुले बाजार में बिक्री के लिए क्या बचेगा। सामूहिक फार्मों में सम्मिलित होने के लिए किसानों की आनाकानी के कारण सरकार को कड़े कदम उठाने पड़े। निजी किसानों के आम करों में तेजी से वृद्धि की गई और उनसे बहुत ही सस्ती दरों पर सरकार के लिए अनिवार्य प्रदानों की माँग की गई। सतत् विरोध के कारण १९५१ ई० तक कुल उपलब्ध कृष्य भूमि के केवल २३ प्रतिशत का सामूहिकीकरण किया जा सका। इसके अतिरिक्त, भारी आय-करों के कारण किसानों ने खुले बाजार में अपने विक्रय की मात्रा घटा दी और अपने उत्पादन को अपने परिवार की आवश्यकताओं तक ही सीमित रखा। १९५० ई० के सूखे से स्थिति और बिगड़ गई। अनाज के आयात को बढ़ाना आवश्यक हो गया, जिससे दुष्प्राप्य विदेशी मुद्रा भारी मात्रा में खर्च हो गई, जिसकी सरकार को उद्योगीकरण के लिए मशीनरी तथा अन्य सामग्री आयात करने के लिए परम आवश्यकता थी।

३. इन परिस्थितियों के कारण सन् १९५०-५१ ई० में कृषि-संबंधी नीति में संशोधन करना पड़ा—इस नीति के उदारीकरण के लिए कदम उठाए गए। निजी किसानों के प्रति भेदभाव को वस्तुतः कम कर दिया गया और उन्हें अपने कार्यों में स्वतंत्रता देने की प्रवृत्ति शुरू की गई। इस कार्यक्रम के अंतर्गत सामूहिक फार्मों पर से नौकरशाही नियंत्रणों में ढील देकर आगे से अधिक 'स्व-प्रबंध' की अनुमति दी गई। अनाज को छोड़कर सरकार को अनेक फार्म उत्पादनों के अनिवार्य प्रदान बंद कर दिए गए। निजी किसान द्वारा ऋण प्राप्त करने की सीमा को बढ़ा दिया गया। कृषि-उत्पादन बाजारों में मूल्य-नियंत्रण समाप्त कर दिए गए, यद्यपि सरकार ने कुछ वस्तुओं पर किसी भी समय उन्हें फिर से लागू करने के अपने अधिकार को सुरक्षित रखा। सामूहिकीकरण आंदोलन रुक गया। परंतु, सामूहिक फार्मों में सरकारी निवेश को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाने और उन्हें दिए गए सरकारी ऋण के अधिकांश को रद्द करने के आश्वासन द्वारा वर्त्तमान सामूहिक फार्मों के टूटने और किसानों द्वारा अपनी भूमि का बँटवारा करने को रोकने का प्रयास किया गया। इन औपचारिक प्रस्तावों के प्रति किसानों की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। जब अनेक बार सूखा पड़ने से सामूहिक फार्मों के आश्वस्त लाभ प्राप्त नहीं हो सके, तो किसानों के सामूहिक फार्मों को छोड़कर निजी फार्मों पर चले जाने से सामूहिक फार्मों की संख्या जो कि सन् १९५१ में ६,७९७ थी, १९५२ ई० में घटकर ४,६७९ रह गई।

४. १९५३ ई० में सामूहिकीकरण का कार्यक्रम त्याग दिया गया। उस समय कृषि के सामूहिकीकृत क्षेत्र की उत्पादन-कुशलता निजी क्षेत्र की अपेक्षा नाम मात्र

ही अधिक थी, हालांकि सामूहिकीकृत क्षेत्र के पास अधिक उपजाऊ भूमि और बेहतर उपकरण थे। कृषि-सामूहिकीकरण के असफल होने के कारण थे—यंत्रीकरण की धीमी प्रगति, कृषि-शिल्पियों का अभाव तथा सदस्यों की ओर से उत्साह की कमी। किंतु, यूगोस्लाविया के साम्यवादी स्पष्ट रूप से १९५३ ई० में ही यह दृढ़ निश्चय कर सके कि उनका भविष्य आर्थिक विकेंद्रीकरण पर निर्भर है। उस वर्ष सरकार ने संपत्ति संबंध तथा किसान कार्य सहकारिता के पुनर्गठन के संबंध में विनियम बनाया, जिसमें निम्नलिखित व्यवस्था थी: (क) सदस्यों के बहुमत द्वारा किसी सामूहिक फार्म को भंग करना; (ख) सरकारी भूमि द्वारा बनाए गए सामूहिक फार्मों को छोड़कर अन्य सामूहिक फार्मों के सदस्यों को फार्मों को छोड़ने और उनमें लगाई गई अपनी मूल संपत्ति निकालने की स्वतंत्रता; (ग) सामूहिक फार्म छोड़ने वाले सदस्यों द्वारा—अपनी निकाली जाने वाली संपत्ति के अनुपात से—फार्मों के ऋण का अनिवार्यतः भुगतान, शेष तथा नए सामूहिक फार्मों का स्वप्रबंध के आधार पर पुनर्गठन।

सामान्य कृषि सहकारी समितियाँ

१९५३ ई० के सामूहिक फार्मों के भंग करने और पुनर्गठन के आदेश के पश्चात् सरकार का ध्यान निजी किसानों और सामान्य कृषि सहकारी समितियों (स० कृ० स० स०) के विकास पर केंद्रित हुआ, ताकि उन्हें सरकार द्वारा मार्ग-प्रदर्शन उपलब्ध हो और उनकी सहायता की जाए। इस कार्यक्रम का सारांश यह है कि किसान-परिवार स्वतंत्र रूप से अलग-अलग फार्मों के मालिक हैं और उनका संचालन भी स्वतंत्रतापूर्वक करते हैं। वे सहकारी रूप से ग्राम-उद्यमों, कुछ भारी कृषि-उपकरणों, पशुधन प्रजनन केंद्रों, मदिरालयों इत्यादि के मालिक थे और उनका प्रबंध करते थे। सामान्य सहकारी समितियों द्वारा तैयार उपभोक्ता वस्तुओं को सहकारी रूप से खरीदने, कृषि-उत्पादनों के विक्रय, उधार लेने और बचत संचयों को स्थापित करने की व्यवस्था की जाती है। प्रारंभिक कृषि संस्था होने के नाते, सामान्य सहकारी समितियों की कृषि तथा कृषि-क्षेत्र के सामाजिक रूप देने के कार्य को पूरा करने का साधन बनाना है। उत्पादक की हैसियत से इन समितियों के कार्यों में, जैसे कि सहकारी शराब के कारखानों द्वारा अंगूर संस्करण की प्रक्रिया अथवा अन्य प्रक्रियाओं को सुविधाएँ, सरकार से अभिप्रेरण और सहायता मिलती है। हालांकि सामान्य सहकारी समितियों में किसानों का भाग लेना स्वैच्छिक है, परंतु इनके सदस्य बनने और कार्य में भाग लेने के लाभ बहुत अधिक हैं। ये लाभ हैं: सस्ते उर्वरक और कृषि-उपकरणों, सरकारी ऋणों, फालतू उत्पादन बेचने के साधनों तथा काश्त के तकनीकों के बारे में विभिन्न प्रकार की विस्तृत सलाह एवं सहायता,

जैसे बीज-चयन, पशुधन-पालन आदि की उपलब्धि।

स्पष्टतः सामान्य सहकारी समितियों की स्थापना को अभिप्रेरण देना सरकार की तत्काल भविष्य की नीति है। परंतु, सरकार को आशा है कि वह कभी-न-कभी बड़े पैमाने पर सामूहिक खेती का लाभ उठा सकेगी, जो कि छोटे निजी भूखंडों की अवश्यंभावी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त होगी। तार्किक रूप से सामूहिक कार्यविधि[1] के प्रति किसानों के विरोध को समाप्त करके सामान्य सहकारी समितियों के प्रसार द्वारा इस आशय की पूर्ति हो सकती थी।

फिर भी कृषि-समस्या वस्तुतः सुलझ न सकी। यूगोस्लाविया के लिए अनाज आयात करने की आवश्यकता अब भी है। सामूहिक फार्म आंदोलन की असफलता के कारणों की छानबीन उचित होगी। यद्यपि बाह्य रूप से यूगोस्लाविया में सोवियत सामूहिक फार्म के संगठनात्मक स्वरूप का अनुसरण किया गया, परंतु वहाँ न तो रूस की भाँति तेजी से फार्मों के यंत्रीकरण का कोई प्रयास किया गया, न सोवियत मशीन ट्रैक्टर केंद्रों-जैसे केंद्र थे, और न ही कृषि में बड़े पैमाने पर निवेश हुआ। परिणाम यह हुआ कि कृषि-उत्पादिता बढ़ाने में असफलता हुई। निस्संदेह, इन मामलों में यूगोस्लाविया के सामने बाधाएँ थीं। इसके भू-प्रदेश का दो-तिहाई भाग इतना पहाड़ी है कि वह बड़े पैमाने पर काश्त के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, किसानों की विचारधारा पर निजी छोटे पैमाने पर खेती करने की गहरी छाप रही है और साम्यवादी संघ को इस देश में जहाँ किसानों की संख्या कुल आबादी का आधा भाग है, उनकी अनुमति की (कम-से-कम अव्यक्त रूप से) आवश्यकता है। किसानों को अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक अनाज और अपने पशुधन के लिए जरूरी चारे से अधिक उत्पादनशील बनने एवं यंत्रीकृत उत्पादन तरीके अपनाने की चेतना पैदा करना भारी समस्याएँ हैं। निजी भूखंडों का छोटा आकार यंत्रीकरण के लिए एक बड़ी बाधा है। फिर भी, सहकारी समितियों द्वारा प्रारंभिक कदम उठाए जा रहे हैं। ये समितियाँ संविदागत प्रबंध के अंतर्गत जिसमें सहकारी समि-

---

[1] इस विषय में १९५६ ई० के भूमि-सुधार अधिनियम को सरकारी दृष्टि से देखना चाहिए। इसने निजी भूखंडों के अधिकतम आकार पर २५ एकड़ की सीमा निर्धारित की। सीधे तौर पर इसका प्रभाव केवल ४ प्रतिशत किसान-परिवारों पर पड़ा, जिनके पास २५ एकड़ से बड़े आकार के भूखंड थे। इस अधिनियम द्वारा सरकार ने अपनी 'भू-निधि' में ५ लाख एकड़ से अधिक भूमि जमा की, जिसके लिए, पहले मालिकों को बीसवर्षीय बिना सूद के बंधपत्रों द्वारा अदायगी की गई। संभवतः इसका एक अभिप्राय यह था कि निजी भूखंडों के आकार को और सीमित किया जाए, ताकि किसान को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही विवश होकर एक दूसरे से मिलकर अधिक बड़े वर्ग बनाने पड़ें।

तियों और निजी किसानों द्वारा पैदा की जाने वाली वस्तुओं के विभाजन की व्यवस्था की गई है—किसानों के परिवारों को अपनी भूमि को तैयार करने, उस पर अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज बोने और फसल काटने की मशीनें देती हैं।

कृषि-क्षेत्र में निवेश, जो कि सन् १९५३-१९५६ ई० में कुल निवेश का आठ प्रतिशत था, सन् १९५७-५९ में १५ प्रतिशत हो गया। इस प्रकार निवेश के स्वरूप में भवन-निर्माण की अपेक्षा औद्योगिक उपकरणों तथा कृषि-मशीनरी पर बल दिया गया। १९५६ ई० के मुकाबले में १९५९ ई० में कृत्रिम उर्वरकों के उपभोग में तीन गुना से भी अधिक वृद्धि हुई। ये तकनीकी कारक तथा सामूहिकीकरण से सहकारिता की ओर संस्थानिक परिवर्तन यूगोस्लाविया की कृषि को एक नई आशा बँधा सकते हैं। इसके कुल उत्पादन और उत्पादिता संबंधी सूचकांक, में वृद्धि हुई है, जोकि सारणी ८ में दर्शायी गई है।

सारणी ८. कृषि-उत्पादन-संबंधी सूचकांक
(1951-1955—100)

	1957	1958	1959
कुल	141	124	157
फसल की काश्त	163	121	181
फल उगाना	86	99	147
अंगूरों की खेती	102	133	115
पशुपालन	125	131	140

स्रोत : १९५७ और १९५८ के लिए सन् १९५९ ई० की स्टेटिस्टीकल ईयर बुक और १९५९ ई० के लिए फेडरल इकोनॉमिक प्लानिंग इंस्टीट्यूट की सामग्री।

स्पष्टतः कृषि-क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई है, परंतु यूगोस्लाविया अब भी अपने अनाज के संभरण के अधिकांश के लिए संसार के अन्य देशों पर निर्भर रहता है—यह ऐसे देश के लिए जिसका अर्थतंत्र अधिकतर कृषिप्रधान है, शोचनीय स्थिति है। ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि वह अनाज के संबंध में आत्मनिर्भर न हो और वह इस प्रकार बचे धन से प्राप्त विदेशी मुद्रा के साधनों को पूँजीगत माल तथा तकनीकी दक्षता के आयात के लिए इस्तेमाल कर सकता है, जिससे उसके उद्योग का विकास हो सके।

अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक संबंध

अप्रैल १९४८ ई० में रूस और यूगोस्लाविया के व्यापारिक संबंध टूट गए और रूसी आर्थिक सहायता बंद कर दी गई। इससे प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों

को क्षति पहुँची। रूस से तेल और कपास के आयात का रुकना यूगोस्लाविया के लिए विशेषकर हानिकारक था। पाश्चात्य देशों से सहायता प्राप्त करने के लिए बातचीत में, जोकि १९४९ ई० में प्रारंभ हुई, टीटो ने अर्थतंत्र के उन पहलुओं पर बल दिया, जोकि रूस से मेल नहीं खाते थे और किसी हद तक सैन्य सहयोग की अनुमति दी। फलस्वरूप, उसने आर्थिक और सैनिक कार्यों के लिए २,५०० अरब डालर के अनुदान एवं ऋण प्राप्त कर लिए हैं। इनमें अधिकतम ऋण अमेरिका और अन्य पाश्चात्य देशों से मिले, जोकि यूगोस्लाविया के आर्थिक विकास में सहायता देने और उसे रूसी बंधनों से मुक्त रहने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए उत्सुक थे।

हाल ही में, यूगोस्लाविया ने अपने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के प्रसार के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किए हैं। एक ओर वह पुराने बाजारों से अपने आर्थिक संबंधों के दृढ़ करने और अन्य अंतर्राष्ट्रीय सहकारी आर्थिक संबंधों के विकास का प्रयास कर रहा है। इसके साथ-साथ यूगोस्लाविया के निर्यात को बढ़ाने और अंतर्राष्ट्रीय अदायगियों में वहु-पार्श्विकता प्राप्त करने के प्रयास किए जा रहे हैं। दूसरी ओर, सरकार ने यूगोस्लाविया के पण्य-व्यापार के कुछ अंश को एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के नए बाजारों की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है ताकि न केवल वर्त्तमान व्यापार में वृद्धि हो, अपितु चिरकालीन आर्थिक सहयोग के लिए सुदृढ़ नींव भी रखी जा सके। विभिन्न देशों के साथ द्विपक्षीय आर्थिक संबंधों को बढ़ाने की दृष्टि से की गई कार्यवाहियों के अतिरिक्त, यूगोस्लाविया ने संयुक्त राष्ट्रसंघ और इसके अभिकरणों एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों के ढाँचे के अंतर्गत काम किया है। आपसी स्वतंत्रता तथा एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धांतों पर आश्रित, पाश्चात्य यूरोप के देशों के साथ आर्थिक सहयोग की यूगोस्लाविया की नीति ने बहुत अच्छे परिणाम दिखाए हैं। पण्य-व्यापार के करारों के अतिरिक्त इन देशों के साथ अन्य करार भी किए गए हैं, जोकि आर्थिक सहयोग के और पहलुओं, जैसे कि परिवहन, औद्योगिक और तकनीकी सहयोग, को नियमित करते हैं। अमेरिका और कनाडा के साथ संबंधों का विकास संतोषजनक ढंग से हुआ है।

अगस्त, १९६० में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने यूगोस्लाविया को आश्वासन दिया कि उसे साम्यवादी राष्ट्र होने के नाते अद्वितीय कदम उठाने के उपलक्ष में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता दी जाएगी। यूगोस्लाविया की योजना यह है कि विदेशी व्यापार पर प्रशासनिक नियंत्रणों और सरकारी सहायता को बंद कर दिया जाए, पाश्चात्य देशों के समान सीमा-कर की पद्धति स्थापित की जाए, आयात नीति को उदार किया जाए तथा दीनार के लिए वर्त्तमान दुरुह विनिमय-दरों के स्थान पर, जोकि प्रति डालर ३०० से १२०० के बीच हैं, एक वास्तविक विनिमय-दर स्थापित की जाए।

इन परिवर्तनों का प्रभाव यह होगा कि, जहाँ तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संबंध है, यूगोस्लाविया नियंत्रित अर्थतंत्रीय देशों से बाहर और अपेक्षतया और स्वतंत्र बाजार वाले देशों के पाश्चात्य समुदाय के अंदर होगा। यूगोस्लाविया के उद्यम अपनी वर्त्तमान श्रेष्ठ स्थिति खो देंगे और उन्हें सरकारी सहायता के बिना संसार के बाजार में मुकाबला करना पड़ेगा। योजना के परिचालन के लिए यूगोस्लाविया को ३० करोड़ और ३५ करोड़ डालर के बीच एक गारंटीकृत शृंखलाबद्ध ऋण की आवश्यकता है, जिसका उपयोग यदि आवश्यकता पड़े, तो नए तंत्र के प्रथम एक या दो वर्षों के नाजुक समय में भुगतान-संतुलन की रक्षा के लिए किया जा सके। इस योजना के संपन्न होने पर, यूगोस्लाविया संभवतः टैरिफ और व्यापार के सामान्य करार का सदस्य बन जाएगा, जो कि अंतराष्ट्रीय संगठन है, जिसके द्वारा संसार के गैर-साम्यवादी राष्ट्र विश्व-व्यापार की नीतियाँ स्थापित करने और शुल्क-दरों को नीचे लाने का प्रयास अतर्राष्ट्रीय व्यापार के पारस्परिक लाभप्रद अभिप्रेरण के साधन के रूप में करते हैं।

मूल्यांकन

यूगोस्लाविया के सन् १९६७ से १९५९ ई० तक के आर्थिक विकास के सामान्य सर्वेक्षण से पता चलता है कि अर्थतंत्र का विस्तार आयोजित प्रगति से भी अधिक था। सरकारी सूत्रों के अनुसार १९६० ई० में उत्पादन तथा उपभोग का स्तर सन् १९५७-६१ ई० के आयोजित स्तर के उच्चतर था। राष्ट्रीय आय में ४७ प्रतिशत वृद्धि हुई; या समस्त योजना-अवधि के लिए निर्धारित ९.१ प्रतिशत वृद्धि के मुकाबले में औसतन १४ प्रतिशत प्रतिवर्ष वृद्धि हुई। १९६० ई० की योजना में राष्ट्रीय आय में ८ प्रतिशत की और वृद्धि का आयोजन किया गया। यह वृद्धि अर्थतंत्र की सभी शाखाओं में विकास के परिणामस्वरूप हुई। पहले, राष्ट्रीय आय में वृद्धियाँ गैर-कृषि क्रियाओं, मुख्यतः निर्माण-प्रक्रियाओं, के विकास से हुई। इससे सामान्य तथा संतुलित विकास की प्रवृत्ति का पता चलता है। यूगोस्लाविया के उद्योगों में बहुत ही ऊँची दर से वृद्धि हुई है—जो कि औसतन १३.६ प्रतिशत प्रतिवर्ष है, जब कि पहला अनुमान ११ प्रतिशत का था। १९६० ई० के पूर्वार्द्ध में उत्पादन १९५९ ई० के पूर्वार्द्ध के उत्पादन-स्तर से १९ प्रतिशत अधिक था। १९५९ ई० में कृषि-उत्पादन की मात्रा १९६१ ई० के लिए आयोजित उत्पादन के मुकाबले में १४.४ प्रतिशत अधिक हो गई। कृषि पर निर्भर आबादी, जो कि सन् १९५६ ई० में कुल आबादी का ५७.४ प्रतिशत थी, १९५९ ई० में घट कर ५१.६ प्रतिशत रह गई। यह तथ्य जनता के अर्थतंत्र में उत्तरोत्तर होने वाले परिवर्तनों का सूचक था।

अपने विकासकाल में, यूगोस्लाविया ने बाकी संसार के साथ अपने भुगतान-संतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए विदेशी धनराशि का भी उपयोग किया। यूगो-

स्लाविया की आर्थिक नीति के मूल उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह रहा है कि विदेशी व्यापार में वृद्धि की जाए और निर्यात के स्तर को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा कर तथा आयात में मामूली वृद्धि करके धीरे-धीरे अदायगियों के अंतर की पूर्ति की जाए। कृषि की प्रगति द्वारा देश अनाज के आयात में पर्याप्त कटौती करने योग्य हो गया है।

उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ उपभोग में भी वृद्धि हो गई और उपभोग का स्वरूप औद्योगिक माल, विशेषतः टिकाऊ उपभोक्ता माल, पर अधिक खर्च के रूप में बदला गया। आंशिक रूप से औद्योगिक श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता और वेतन बढ़ने से कुल उपभोग की अपेक्षा श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की आय में वृद्धि अधिक तेजी से हुई। जैसा कि सारणी ९ सूचित करती है, १९५९ ई० में वेतन की अपेक्षा निर्वाह-खर्च में कम वेग से वृद्धि हुई। परंतु, १९६० ई० में निर्वाह-स्तर पर गंभीर मुद्रा-स्फीति (१० प्रतिशत वृद्धि) का प्रभाव पड़ा।

सामान्यतः यूगोस्लाविया का छठी दशाब्दी के अंतिम चरण का रिकार्ड एक सफलता का रिकार्ड है।

सारणी ९. यूगोस्लाविया में मजूरी-श्रमिकों की वास्तविक आय

	1957[a]	1958[a]	1959[a]	1956 के आधार पर 1959 में प्रतिशतता
प्रति श्रमिक आय	116.4	110.9	116.8	149.5
निर्वाह-खर्च	103.2	103.1	101.0	108.5
प्रति श्रमिक वास्तविक आय	112.8	107.6	115.6	137.8

[a] पिछला वर्ष = 100

स्रोतः संघीय सांख्यिकीय संस्था के सूचकांक तथा राष्ट्रीय बैंक की सांख्यिकी बुलेटिन।

यूगोस्लाविया उन्नति के पथ पर भली-भाँति अग्रसर हो रहा है। परंतु, इस संबंध में दो मूल प्रश्न उठते हैं : (१) क्या यूगोस्लाविया की 'आर्थिक प्रजातंत्र' की नीति किन्हीं वास्तविक गुणों का बोध कराती है ? (२) क्या यूगोस्लाविया ने अपने-आपको सोवियत-गुट के राष्ट्रों से बाहर निकाल और भी अधिक तेज आर्थिक विकास का परित्याग किया है ? रूस पर आश्रित देशों से इसके आर्थिक विकास की तुलना करना यहाँ कठिन होगा। चाहे तथ्य कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि यूगोस्लाविया ने

अपनी आर्थिक प्रगति की प्राप्ति एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपने उद्देश्यों और आकांक्षाओं का त्याग किए बिना ही की है। उसकी १९४८ ई० से चली आ रही सोवियत संघ के साथ आर्थिक समाकलन के विरोध की नीति अभी तक अनुसूचित सिद्ध नहीं हुई है।

ऊपर उठाए गए प्रश्नों में से पहला प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और इसका उत्तर सुलभ नहीं है। क्या यूगोस्लाविया का साम्यवादी सरकारी और आर्थिक मामलों के विकेंद्रीकरण तथा प्रजातंत्रीकरण में वास्तविक इच्छा रखता है? क्या इसका यह तर्क सही है कि सोवियत संघ की अपेक्षा यह मार्क्स के विकासवाद के सही रास्ते पर चल कर समाजवाद द्वारा पूर्ण साम्यवाद ला रहा है; क्योंकि सोवियत संघ की बजाय यूगोस्लाविया में ही साधारण जनता का वास्तविक अधिनायकत्व है—विशेषकर इसकी श्रमिक-परिषदों और संबंधित संस्थाओं में? या क्या ये सब केवल बाह्य आडंबर हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में केंद्रीकृत साम्यवादी तंत्र सरकारी और आर्थिक मामलों का निर्देशन एवं संचालन उतने ही निश्चय तथा दृढ़ता से कर रहा है जैसा कि सोवियत संघ में हो रहा है? क्या श्रमिक-परिषदें संयंत्र कर्मचारियों का वास्तविक प्रतिनिधत्व करती हैं और क्या परिषदें कानून द्वारा लगाई गई सीमाओं के अंदर-अंदर उद्यमों की बुनियादी नीतियाँ निश्चित करती हैं? या क्या दल के महत्त्वपूर्ण सदस्यों को श्रमिक परिषदों के महत्त्वपूर्ण पदों पर लाने के लिए निर्वाचन दल पूर्ण तथा अधिक नियंत्रित हैं, ताकि श्रमिकों के स्वायत्त शासन के बहाने दल की नीतियों को थोपा जा सके? कृषि-क्षेत्र में, सामान्य सहकारी समितियों और उनकी सहायक कार्यविधियों का संचालन कौन करता है—'सहकारी' अथवा दल? क्या राजनीतिक और आर्थिक 'प्रजातंत्र' वास्तविक है या पाखंड, क्या वहाँ इसका अस्तित्व है या क्या यह केवल एक पर्दा है, जिसके पीछे साम्यवादी संघ की प्रवृत्तियाँ ही काम करती हैं?

बाहर का कोई भी व्यक्ति इन प्रश्नों के उत्तर पूर्णतः नहीं जान सकता। ऊपर के जायजे से कोई भी व्यक्ति सरकारी प्रजातंत्रात्मक घोषणाओं को ठीक समझता है। उदाहरणस्वरूप श्रमिक परिषदों के चुनाव के तरीके ऐसे हैं कि वे वैध चुनाव प्रतीत होते हैं, जिनमें श्रमिकों को किसी हद तक अपनी पसंद के सदस्यों को नामित करने एवं चुनने की स्वतंत्रता है। सभाओं में यह भी बातचीत होती है कि उत्पादन, कर्मचारी, मूल्य-निर्धारण, लाभ-बँटवारे और निवेश-संबंधी मामलों के बारे में क्या करना चाहिए? खेतों पर स्वतंत्र किसान-परिवार अपनी भूमि पर अपनी इच्छानुसार कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। उनको तंग करने वाला उनके ऊपर न तो कोई अन्य भूस्वामी था और न ही कोई सामान्य सहकारी समिति, जो कि सस्ते दामों पर खाद दिलाने, फालतू उत्पादन के बिकवाने या नई गाड़ी खरीदने के लिए ऋण दिलाने में उनकी

सहायत करे। परंतु, अधिक गहराई में जाने से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चलता है कि यूगोस्लाविया साम्यवादी संघ एकमात्र वैध राजनीतिक दल है और समाचारपत्रों, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के छापने का एकाधिकार पूर्णरूप से सरकार के पास है। द्वि-दलीय राजनीतिक संघर्ष कभी भी नहीं होता, जिसमें कि कर्मचारियों के समाजवादी मैत्री-गुट को सत्ता से हाथ धोना पड़े। इस प्रकार मूल्यांकन निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता। परिस्थिति अनिश्चित ही है। एकदलीय तंत्र के अंतर्गत अधिक प्रजातंत्रात्मक तरीकों की स्वीकृत खोज को, विशेषकर प्रजातंत्र की पश्चिम की अनेक वाद की हमारी विचारधारा के अनुसार, न तो बिल्कुल अयथार्थ ही कहा जा सकता है और न ही पूर्णतः यथार्थ। एक बार, बर्तानिया लेबर पार्टी ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व पर जोर देने के संबंध में, बुनियादी रूप में स्वतंत्र उद्यम अर्थतंत्र पर एक प्रभावपूर्ण आर्थिक योजना जोड़ने का प्रयत्न किया; भारत, जहाँ कि सरकारी और निजी उद्योगों में अधिक ठीक संतुलन है, प्रजातंत्रात्मक तरीकों द्वारा औद्योगिक उपकरणों में निवेश बढ़ाने और उद्योग के निजी क्षेत्र को सरकारी उद्देश्यों की ओर झुकाने में प्रयत्नशील है; संभवतः इन्हीं समान देशों की भाँति, किंतु भिन्न संदर्भ में, यूगोस्लाविया मूलतः साम्यवादी विचारधारा द्वारा आर्थिक प्रजातंत्र के व्यावहारिक और अर्थपूर्ण तत्त्वों को समाप्त करने के तरीकों को ढूँढने का सच्चा प्रयास कर रहा है।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. एक साम्यवादी राष्ट्र के रूप में यूगोस्लाविया के स्रोत अन्य राष्ट्रों के जो कि सोवियत संघ के सहवर्त्ती कहलाते हैं, स्रोतों से किस प्रकार भिन्न हैं?

२. (क) यूगोस्लाविया साम्यवादी संघ, और (ख) कर्मचारियों के समाजवादी मैत्री संगठन का सरकार से क्या और किस प्रकार का संबंध है?

३. संघीय समाजवादी योजना के स्वरूप का वर्णन करें। इसके अंतर्गत क्या-क्या आता है?

४. अर्थतंत्र के विकास के लिए निवेश निधियों के साधन क्या हैं?

५. निम्नलिखित में से प्रत्येक के औद्योगिक उद्यम से संबंधों की व्याख्या करें:
कार्यकारी सामूहिक समिति; श्रमिक परिषद्; प्रबंध-बोर्ड; निदेशक।

६. श्रमिक परिषदों के मूल कार्य क्या हैं? इन कार्यों के करने के लिए प्रत्येक परिषद् का आंतरिक संगठन क्या है?

७. सरकार को किन कारणों से १९५३ ई० में सामूहिक फार्मों को

स्थापित करने के प्रयास को छोड़ना पड़ा ?

८. सामान्य कृषि सहकारी समितियाँ क्या हैं ? कृषि-क्षेत्र की प्रगति में उनका किस प्रकार का योगदान अपेक्षित है ?

९. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में यूगोस्लाविया की भावी योजनाओं का वर्णन करें।

१०. ऐसे कौन से वस्तुनिष्ठ प्रमाण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि यूगोस्लाविया में आर्थिक विकास हो रहा है ?

११. यूगोस्लावीय साम्यवाद के विषय में अधिकतम महत्त्वपूर्ण प्रश्न किस दृष्टि से इतने रहस्यपूर्ण हैं कि बाहर का व्यक्ति उनके उत्तर देने के प्रयत्नों में असफल हो जाता है ?

●

अध्याय ३०

लाल चीन में साम्यवाद

प्रस्तावना

चीन, जिसकी जनसंख्या ७० करोड़ है, संसार में अधिकतम जनसंख्या वाला देश है और एशिया में सबसे बढ़ा राष्ट्र है जिसका क्षेत्रफल ३७,५०,००० वर्गमील है, के सम्मुख सदा ही आर्थिक समस्याएँ रही हैं, जिन्होंने पाश्चात्य प्रेक्षकों के ज्ञान को चुनौती दी है। १९४९ ई० से यह एक साम्यवादी राष्ट्रीय चीन लोक गणतंत्र है, जोकि सोवियत रूस की भाँति तीव्र उद्योगीकरण की महत्त्वाकांक्षा रखता है, जिसके द्वारा उसे एक रहन-सहन का ऊँचा स्तर और सैनिक शक्ति एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

साम्यवादी चीन के अनुभव का विशेष महत्त्व इस तथ्य के कारण है कि एशिया के अधिकतम देशों के सम्मुख भी चीन की भाँति अधिक जनसंख्या तथा कम आर्थिक विकास की समस्याएँ हैं। चीन लोक गणतंत्र को अपने महत्त्वाकांक्षी उद्देश्यों की प्राप्ति में जो सफलता मिलेगी, उसका एशिया के अन्य राष्ट्रों की भावी राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियों पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, महान् तथा तीव्र गति से विकासशील सोवियत सायवेरिया के साथ कुछ हद तक प्रभावपूर्ण ढंग से समाकलित चीन का उद्योगीकृत अर्थतंत्र पाश्चात्य राष्ट्रों के परिवार के लिए एक भयानक राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक चुनौती हो सकता है।

साम्यवादी चीन की १९४९ ई० में विजय से पूर्व, चीन विशेष रूप से सामंती देश था, जहाँ कोई भी निर्माण उद्योग नहीं था। जनसंख्या की अपेक्षा भूमि का अत्याभाव ही चीन की आर्थिक कठिनाई का मूल कारण था और अब भी है। १९४६ ई० ३२,५०,००० से अधिक ग्रामीण जनता ने २३,२०,००,००० एकड़ भूमि की काश्त की। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्र के एक निवासी के हिस्से काश्त-योग्य एकड़ भूमि का ७/१० भाग आया, जो अनुपात में अन्य किसी भी साम्यवादी राष्ट्र के मुकाबले में कहीं कम है।

भूमि पर, बढ़ती हुई आबादी के महान् दबाव का अर्थ यह था कि केवल अत्यधिक भाग्यशाली किसान-परिवार के पास ही इतना बड़ा भू-खंड था, जिस पर वह सालोसाल अपने निजी निर्वाह के लिए और कभी-कभी सूखे या बाढ़ से उत्पन्न होने वाली स्थिति का सामना करने के लिए खाद्यान्न पैदा कर सके। प्रायः परिवारों के भू-खंड इतने छोटे थे कि केवल निर्वाह के लिए भी उनके कुछ सदस्यों को किसी बड़े या अधिक धनी किसान के पास श्रमिक के रूप में काम करना पड़ता था। या, संभवतः, छोटा किसान ऐसे भू-स्वामियों से, जिनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी थी और जो किराए की आय पर निर्वाह कर सकते थे, अतिरिक्त भूमि किराए पर ले सकता था। यदि इस पर भी छोटे किसान का गुजारा न हो, तो उसे किसी भू-स्वामी या धनी किसान से उधार लेने पर मजबूर होना पड़ता था। अधिकांश वर्षों में उसे अपने-आप को जीवित रखने के लिए उधार लेना पड़ता था या अपनी फसल की किसी-न-किसी और ढंग से पूर्ति करनी पड़ती थी। परंतु, ग्रामीण क्षेत्र के किसी भी जिले में किराए पर देने के लिए बहुत ही कम भूमि, केवल कुछ ही वैतनिक श्रम के धंधे और उधार देने के लिए बहुत ही कम धन था। इसलिए भू-स्वामी और धनी किसान थोड़ा वेतन देते थे, अधिक किराया लेते थे और अधिक सूद माँगते थे।

१९४९ ई० से पूर्व के चीन गणराज्य के अंतर्गत भूमि-संबंधी स्थिति के इस सरल यद्यपि वस्तुतः सही, दृष्टिकोण से यह समझा जा सकता है कि छोटे-छोटे किसान भूमि के पुनर्वितरण-संबंधी साम्यवादी आश्वासनों द्वारा सहज ही आकर्षित हो गए। ऐसे देश से जहाँ कृष्य-भूमि बहुत ही कम हो, किसान से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस तथ्य को महसूस करे कि भूमि के वितरण में पूर्ण समानता होने पर भी उसके परिवार को बहुत कम राहत मिल सकती है।

चूँकि ४/५ से अधिक जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र में रहती थी और चूँकि निर्धन किसानों का यह देश अपनी वार्षिक आय से पूँजी निवेश के लिए बहुत अधिक बचत नहीं कर सकता, इसलिए चीन पर साम्यवादी शासन से पहले अत्यल्प उद्योग थे और जो थे, वे भी अनेक रूप से अलाभप्रद स्थिति में विद्यमान थे। बहुत से औद्योगिक संयंत्र विदेशियों के थे और उन्हीं के द्वारा चलाए जाते थे और वे चीन में निवेश के लिए इस कारण प्रवृत्त हुए; क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में वहाँ चीनी श्रम सस्ता था एवं विशेष प्रकार का कच्चा माल उपलब्ध था, जिसका यूरोप या अमेरिका में उत्पादन बहुत महँगा था। चीनी श्रमिक बहुत ही थोड़ा वेतन स्वीकार कर लेता था; क्योंकि अन्यथा उसे निराश होकर ग्रामीण क्षेत्र को लौटना पड़ता था। मंचूरिया ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र था, जहाँ बीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी और चौथी दशाब्दी

के प्रारंभ में पर्याप्त मात्रा में पूँजी संचयन हुआ। मंचूरिया उस समय जापानियों के अधिकार में था और अब यह साम्यवादी चीन के औद्योगिक विकास का केंद्र है। जापानियों ने १६३१ ई० में मंचूरिया को छीनकर द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत, १६४५ ई० तक, अपने अधिकार में रखा और वे चीन की मुख्य भूमि पर भारी औद्योगिक मशीनरी के निर्माण द्वारा अपना अड्डा बनाए रखने में प्रयत्नशील रहे। चीनी उद्योग का विदेशी पूँजी पर अधिक आश्रित रहने के अतिरिक्त यह जानना महत्त्वपूर्ण होगा कि अधिकतम औद्योगिक उत्पादन उपभोज्य वस्तुओं, विशेषतः बुने हुए वस्त्र, साधित खाद्य-पदार्थ और पहनने के कपड़ों के रूप में था। इस प्रकार, औद्योगिक उन्नति के आधार इस्पात तथा मशीनरी के उत्पादन के लिए कोई कार्य नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त चीन का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार में प्रयुक्त जलयानों के स्वामी विदेशी थे और इनका संचालन भी वही करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में बरतानिया और फ्रांस ने अनेक बड़े-बड़े बंदरगाहों में इस व्यापार के सर्वाधिकार चीन से बलपूर्वक छीन लिए थे। इस प्रकार इन देशों और तदुपरांत जर्मनी एवं अमेरिका के व्यापारिक हितों ने इस देश के आयात-निर्यात का नियंत्रण किया। इसीलिए वे देश चीन पर, अपने दबाव डालने तथा किसी सीमा तक उसके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में थे।

गणतंत्र अवधि के दौरान चीनी साम्यवादियों ने, कृषि की भाँति, औद्योगिक स्थिति का अपने संगठन तथा प्रचार के लिए लाभ उठाया। पाश्चात्य पूँजीवादी ताकतों की साम्राज्यवादी पुरानी नीतियों का जोरदार खंडन करके और केवल चीनी-उद्योग के विकास तथा उन्नति द्वारा चीन के उद्योग एवं वाणिज्य के लिए इन ताकतों पर निर्भरता को समाप्त करने की सिफारिश करके लोगों का सहयोग प्राप्त किया गया।

प्राचीन काल से चीन पर शासन करने वाली बादशाहियों में मंचू आखिरी परिवार था, जिसका पतन १६१२ ई० में हुआ। उस वर्ष सन यात-सेन और उसके क्रांतिकारी साथियों ने चीन के नए गणतंत्र की स्थापना की। यद्यपि यह संभवतः राष्ट्रीय सरकार ही थी, तथापि देश के विभिन्न भागों के योद्धा सरदारों ने इसकी अवहेलना की और वे स्थानीय क्षेत्रों में निजी रियासतों के समान शासन करते रहे। राष्ट्रीय सरकार को सशक्त बनाने के प्रयासस्वरूप सन-सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय दल सरकार का कौमिनटांग की स्थापना की गई। जैसे ही इसकी त्रुटियों के प्रमाण दिखाई दिए, सन का नवनिर्मित राष्ट्रीय दल सरकार में समावेश कर लिया गया। परंतु, यह प्रयास भी देश को एक सूत्र में बाँधने या इसकी आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ रहा। देश योद्धा-सरदारों, डाकुओं तथा विदेशी हितों

में विभक्त था, जो कि सरकारविरोधी किसी भी आंदोलन को सुदृढ़ बनाने का कार्य कर रहे थे। सन् १९१७ की रूस की क्रांति के पश्चात, रूसी साम्यवादियों ने सन की राष्ट्रीय दल को मजबूत बनाने में सहायता करना स्वीकार किया और इसी आधार पर, रूस से संबंधित साम्यवादी १९६४ ई० में रूस से संबद्ध हो गए।

इन प्रभावों के अंतर्गत सरकार में कुछ परिवर्तन किए गए, जिनके फलस्वरूप १९२४ ई० में चीनी संविधान द्वारा राष्ट्रीय दल को ही एकमात्र वैध दल माना गया। रूसी साम्यवादी सलाहकार और संपर्क अधिकारी चीनी सरकार और सेना से संलग्न थे। सन की मृत्यु के पश्चात् हड़तालें और तोड़-फोड़ के कार्य हुए, जिनमें रूसी साम्यवादियों ने स्पष्ट रूप से कार्य किया। अंततः नेशनलिस्ट पार्टी का दक्षिणपंथ सरकारी सदस्य के रूप में कार्य करने वाले साम्यवादियों की संख्या सीमित करने के कानून को पास करवाने में सफल हुआ। च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में सेना ने संभवतः अपनी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, जिसका देश के एक भाग पर अधिकार था और जिसने साम्यवादियों पर आक्रमण करने प्रारंभ कर दिए, जिसके कारण उन्हें अपनी सेना स्थापित करनी पड़ी। पुरानी गणतंत्र सरकार के बचे लोग च्यांग-काई-शेक से मिल गए और साम्यवादी दल को अवैध घोषित कर दिया गया। देश पर अधिकार जमाने के लिए राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में लंबी घरेलू लड़ाई की शुरूआत यहीं से हुई।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान एक अंतराल था, जबकि साम्यवादियों ने जापानी आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रवादियों को सहयोग दिया, यद्यपि इस समयावधि में भी राष्ट्रीय साम्यवादी झगड़े हुए। जब अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ, तो जापानी सेना ने साम्यवादी सेना को चीन में अधिकाधिक प्रवेश पर अपना अधिकार जमाने के लिए स्वतंत्र छोड़कर, अनिवार्यतः अपना ध्यान पैसिफिक द्वीप-समूह में केंद्रित किया। युद्ध समाप्त होने के निकट रूसी सेना ने मंचूरिया पर आक्रमण किया और चीन में विद्यमान साम्यवादी शक्तियों ने उनको सहयोग दिया। युद्ध समाप्त होने पर साम्यवादी सेना अधिकाधिक प्रदेश अपने अधिकार में लेती गई, जबकि १९४९ ई० में च्यांग-काई-शेक ने प्रधान मंत्री तथा राष्ट्रवादी चीन के सेनाधिपति के पद से त्याग-पत्र दे दिया और अंत में अपनी बची सेना को फारमोसा ले गया। इस पर साम्यवादी 'चीन लोक गणतंत्र' ने अपने-आप को एकमात्र वैध चीनी सरकार होने की घोषणा की। संयुक्त राज्य अमेरिका ने अभी तक इसे चीन की मुख्य भूमि की वैध सरकार नहीं माना है।

साम्यवादी सरकार और दल

सिद्धांत रूप में चीनी सरकार का स्वरूप, सोवियत संघ के स्वरूप की भाँति,

संसदीय गणतंत्र प्रतिरूप के अनुसार है। इसके संविधान के अंतर्गत १२२६ सदस्यों की राष्ट्रीय लोक काँग्रेस एकसदनीय निकाय है, जिसका निर्वाचन सीधे ही पात्र मतदाओं द्वारा किया जाता है। इसकी तुलना रूस की सुप्रीम सोवियत से की जा सकती है। कल्पनात्मक रूप से राष्ट्रीय लोक कांग्रेस को संपूर्ण वैधानिक प्रभुसत्ता प्राप्त है। यह चीन लोक गणतंत्र के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को चुनती है और सरकार की कार्यकारी शाखाओं के अनेक पदों के लिए अध्यक्ष के नामांकनों का अनुमोदन करती है। राष्ट्रीय लोक काँग्रेस की एक स्थायी समिति है (जो कि रूस की सुप्रीम सोवियत के प्रेसीडियम के समान है) जो कि कांग्रेस के अधिवेशन में न होने के समय उसकी बजाए कार्य करने के लिए काँग्रेस द्वारा निर्वाचित की जाती है। इसमें एक अध्यक्ष, १३ उपाध्क्ष, एक महामंत्री और ६५ अतिरिक्त सदस्य होते हैं।

कार्यकारी शाखा में, लोक गणतंत्र के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के अधीन केंद्रीय लोक सरकार या राज्य-परिषद् होती है (जो कि रूस में लोक मंत्रिपरिषद् के समान है) जो कि अध्यक्ष के आदेशों का जहाँ तक कि वे राष्ट्रीय लोक काँग्रेस द्वारा पारित देश के कानून और सर्वोच्च लोक न्यायालय द्वारा उनकी व्याख्या के अनुसार हैं, पालन करती है। राज्य-परिषद् या केंद्रीय लोक सरकार में एक प्रधान मंत्री १० उपप्रधान मंत्री, १५, उपाध्यक्ष, तथा एक महासचिव होता है, जो कि ३० मंत्रियों और ५ आयोगों का प्रशासनिक पर्यवेक्षण करती है।

हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् के समान वहाँ एक सर्वोच्च राज्य सम्मेलन है, जो लोक गणतंत्र के अध्यक्ष को परामर्श देता है। चीनी साम्यवादी सरकार का ढाँचा आरेख ७ में देखा जा सकता है। समानता की दृष्टि से इसकी तुलना सोवियत संघ की सरकार के ढाँचे से की जानी चाहिए जैसा कि चित्र २ में दिखाया गया है। यह देखा जाएगा कि रूस की सुप्रीम सोवियत एकसदनीय संसद् न होकर द्विसदनीय है और उनके नामों में भी भिन्नता है, अन्यथा इन दोनों साम्यवादी ताकतों की सरकारों के स्वरूप में पर्याप्त समानता है।

निश्चय ही चीनी सरकार के ढाँचे का केवल सैद्धांतिक वर्णन लोकतंत्रीय संसद्-शासन के स्वरूप का चित्रण करता है। परंतु, जैसा कि सोवियत संघ में है, यह सैद्धांतिक वर्णन वास्तविक कार्य रूप से बहुत भिन्न है। चीनी साम्यवादी पार्टी देश में केवल एक ही राजनीतिक दल है और अधिकारी पद के किसी भी उम्मीदवार को दल की के केंद्रीय समिति की अनुमति लेना आवश्यक है।

चीनी साम्यवादी दल संसार में सबसे बड़ा साम्यवादी दल है, जिसके लगभग १,१०,००,००० सदस्य, ६,००,००० बुनियादी दल संगठनों में सारे देश में फैले हुए हैं।

इनके अतिरिक्त सहायक साम्यवादी युवक संघ (Communist Youth Alliance) के करीब दो लाख सदस्य हैं। दल के सदस्यों में लगभग १५ प्रतिशत औद्योगिक श्रमिक, लगभग ५० प्रतिशत गरीब किसान, २० प्रतिशत मध्यम आय वाले किसान और लगभग १० प्रतिशत मनीषी[1] हैं। सिद्धांत रूप से तो दल की सर्वोच्च शासकीय निकाय दल कांग्रेस ही है। संविधान के अनुसार दल की सदस्यता प्रत्येक ऐसे चीनी नागरिक के लिए खुली है, जो स्वय कार्य करता है और दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ नहीं उठाता, जो पार्टी के कार्यक्रमों और संविधान को मानता है, जो किसी-न-किसी दल-संगठन का सदस्य हो और उसके लिए कार्य करता है और जो दल के निर्णयों का पालन करता है एवं अपेक्षित सदस्यता-शुल्क की अदायगी करता है। संविधान के अनुसार दोनों, स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस की बैठक[2] वर्ष में एक बार अवश्य होनी चाहिए।

दल का एक राजनीतिक व्यूरो है (जिसका स्वरूप रूस के साम्यवादी दल का केंद्रीय समिति के प्रेसीडियम के समान है) जो कि स्पष्टतः दल की केंद्रीय समिति की ओर से मुख्य निर्णय लेता है। इस राजनीतिक ब्यूरो के अध्यक्ष की हैसियत में माओ-त्से-तुंग इसे, और इसी प्रकार प्रायः सरकार तथा राष्ट्र को अपनी नीतियों को कार्यांवित करवाने का आदेश देता प्रतीत होता है। नए कानून और आदेश जाहिरा और सीधे रूप में भले ही दल की केंद्रीय समिति से आएँ, या केंद्रीय समिति ही, कांग्रेस की स्थायी समिति को नए कानून का सुझाव दे, परंतु स्थायी समिति ही राष्ट्रीय लोक कांग्रेस के अनुमोदनार्थ कानून तैयार करती है। परस्पर गुँथे हुए दल और सरकार के अधिकारियों की इस प्रकार की व्यवस्था सोवियत संघ की राष्ट्रीय सरकार में विद्यमान है। स्पष्ट है कि दल के मुखिए का यह एकाधिपत्य वैसा ही है, जैसा कि स्तालिन की मृत्यु के पहले सोवियत संघ में था, और संभवतः उससे भी अधिक। एक, या बहुत ही थोड़े मनुष्यों, के शासन के रहस्य के फलस्वरूप तीव्र और निष्ठुर रूप से कार्यकुशलता और भूमि के पुर्नवितरण का कार्य संपन्न हुआ। चीनी दल ने उसी विचारधारा को अंगीकृत किया है, जो कि समस्त विश्व-साम्यवादी आंदोलन में सरकारी कार्यविधियों और आर्थिक व्यवस्थाओं को नियंत्रण में लेने के औचित्य के लिए प्रचलित है। क्रांति के अनुशासनबद्ध तथा संघर्षयुक्त उपकरण के रूप में चीनी साम्यवादी दल के लिए यह आवश्यक है कि वह चीनी लोक गणतंत्र का नेतृत्व ऐसे ढंग से करे, जिससे अंततः पूर्ण समाजवाद और साम्यवाद स्थापित हो जाए।

---

[1] हेनरी सच्चार्ट्स, दि न्यूयार्क टाइम्स ३० सितंबर, १९५६ ई०।

[2] दि न्यूयार्क टाइम्स २७, सितंबर, १९५६ ई०।

चीन लोक गणतंत्र सरकार

राष्ट्रीय लोक काँग्रेस (रा० लो० काँ०)
(१२२६ सदस्य)

सर्वोच्च लोक न्यायालय

सर्वोच्च महासमाहर्त्ता

रा० लो० काँ० की स्थायी समिति
(अध्यक्ष, १३ उपाध्यक्ष, महासचिव, तथा रा० लो० काँ० द्वारा निर्वाचित ६५ अन्य सदस्य)

चीन लोक गणतंत्र का अध्यक्ष
(रा० लो० काँ० द्वारा निर्वाचित उपाध्यक्ष)

सर्वोच्च राज्य सम्मेलन (अध्यक्ष का सलाहकार, लगभग ६ सदस्य)

केंद्रीय लोक सरकार (राज्य-परिषद्)
प्रधान मंत्री, १० उप-प्रधान मंत्री
१५ उपाध्यक्ष, महासचिव

४० मंत्रालय		७ आयोग
गृह	श्रम	राज्य योजना आयोग
विदेश	भू-विज्ञान	राष्ट्रीय निर्माण आयोग
रक्षा	भवन तथा सिविल इंजीनियरी	राष्ट्रीयकता मामलों का आयोग
लोक सुरक्षा	संचार	समुद्रपार चीनी मामलों का आयोग
विधि	डाक तथा दूर संचार	भौतिक संस्कृति तथा खेल-कूद आयोग
निवेश	रेल	राष्ट्रीय अर्थ आयोग
वित्त	शक्ति उपकरण	राष्ट्रीय तकनीकी आयोग
खाद्य	प्रथम मशीनरी निर्माण	
वाणिज्य	वित्तीय मशीनरी निर्माण	
विदेशी व्यापार	धातुक्रम उद्योग	
कृषि	वस्त्र उद्योग	
वन	हलका उद्योग	
जल-संरक्षण	नगर-निर्माण	
शिक्षा	स्वास्थ्य	
उच्चतर शिक्षा	संस्कृति	

लकड़ी
समुद्री पदार्थ
भूमि-उद्धरण
सेवा

विद्युत् शक्ति
पेट्रोलियम-उद्योग
कोयला-उद्योग

चित्र ७. चीन लोक गणतंत्र सरकार (युआन-लीवु, ऐन इकोनॉमिक सर्वे ऑफ कम्युनिस्ट चायना, न्यूयार्क, बुकमैन एसोसिएट्स १९५६ ई०, तथा दि न्यूयार्क टाइम्स १३ मई १९५६ ई० से)

चीन की अर्थतंत्र-संबंधी योजना

विरासत

१९३७ ई०से पूर्व लगभग २५ वर्ष लंबी जंगी योद्धाओं की आपसी घरेलू लड़ाई ने चीनी अर्थतंत्र को तहस-नहस कर दिया। तदंतर सन् १९३७ से १९४५ ई० तक जापानी आक्रमणकारियों से युद्ध चलता रहा। अगले तीन वर्ष अर्थात् दिसंबर, १९४९ ई० तक भीषण घरेलू युद्ध चलता रहा, जबकि राष्ट्रीय कौमिन्टांग को फारमोसा द्वीप में भगा कर साम्यवादियों ने चीन की मुख्य भूमि पर नियंत्रण किया। राजनीतिक हलचल की इस लगभग आधी शताब्दी के दौरान चीनी अर्थतंत्र को भारी क्षति पहुंची। संचार-व्यवस्था पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गई, औद्योगिक प्रगति रुक गई और कृषि रूढ़िवादिता के अंधकार में पिछड़ी रही। इसके अतिरिक्त, १९४९ ई० में भीषण बाढ़ के फलस्वरूप चीन की जुताई के योग्य भूमि के ३० से ४० प्रतिशत भाग के जलप्लावित होने की रिपोर्ट भी मिली है।

नई साम्यवादी सरकार को, जोकि १९४९ ई० में सत्तारूढ़ हुई, बिरासत में भयंकर मुद्रा स्फीतिकरण प्राप्त हुआ। युद्ध की लंबी समयावधि ने सरकारी खर्च में वृद्धि आवश्यक कर दी, जोकि करों द्वारा आय की वृद्धि से कहीं अधिक थी। बीसवीं शताब्दी के चौथी दशाब्दी के आरंभ में केवल १५ प्रतिशत सरकारी खर्च की पूर्ति कर-वसूली से होती थी। इस समय तक सरकार की उधार लेने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी और बढ़ते हुए घाटे को नोट छाप कर पूरा करने के लिए बाध्य हो गई थी। १९४८ ई० तक शंघाई का मूल्य सूचकांक छापे जासे वाले नोटों से भी अधिक तेजी से बढ़ रहा था।

इस गंभीर वित्तीय स्थिति के अतिरिक्त, नई साम्यवादी सरकार ने कुछ भौतिक संपत्तियाँ विरासत में प्राप्त कीं। चीन, जिसकी कुल आबादी का तीन-चौथाई भाग सीधे ही कृषि-व्यवसाय में लगा हुआ है, की कृषि-भूमि का विस्तार २४-२५ करोड़ एकड़ था। कई हजार वर्ष तक प्राकृतिक खाद्यों के प्रगाढ़ प्रयोग के फलस्वरूप

भूमि बहुत उपजाऊ हो गई थी। उत्तरीय प्रदेश गेहूँ, मिलेट (ज्वार-बाजरा, काओलियांग और मक्का) आदि 'शुष्क' फसलों, जिनमें गेहूँ मुख्य फसल थी, के उत्पादन के लिए उपयुक्त था, जबकि दक्षिण के नदी थालों में 'नमी वाली' फसलें, विशेषकर चावल उगाई जाती थीं। कपास, रेशम, तंबाकू, रंग का तेल तथा हरी चाय महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक फसलें रही हैं। चीन के पास अन्य महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक साधन थे। १९४७ ई० के अनुमान के अनुसार उसके पास (मंचूरिया में २००० करोड़ टन के अतिरिक्त) लगभग ४४,००० करोड़ मीट्रिक टन कोयले की उपलब्ध राशि थी। वहाँ पेट्रोलियम और कच्ची धातु की महत्त्वपूर्ण निधियाँ भी बताई जाती हैं। चीन के अधिकतम महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक साधनों की पूँजी अलौह धातु है जैसे कि टीन, सिक्का, मौलिवडिनस इस्पात और विशेषकर टंगस्टन और सुर्मा। सारांश यह है कि चीन को पर्याप्त मात्रा में प्राकृतिक साधन प्राप्त हैं—यद्यपि, जैसे कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इनको पर्याप्त मानने के लिए इसकी अत्यधिक जनसंख्या को दृष्टि में रखना आवश्यक होगा।

पुनर्वास

१९४९ ई० में नई साम्यदादी सरकार के लिए तत्काल कार्य युद्ध से अस्त-व्यस्त आर्थिक व्यवस्था का पुनर्वास और तेज आर्थिक विकास के लिए कदम उठाना था। प्रथम कार्य एक स्थायी मुद्रा-प्रणाली का संस्थापन था। राष्ट्रीय सरकार की अवमूल्यित मुद्रा के अतिरिक्त चीन में विदेशी मुद्रा, चीनी बैंकों द्वारा चलाई गई मुद्रा और साम्यवादियों द्वारा देश के विभिन्न भागों में अपने फौजी हमले के दौरान जारी की गई मुद्रा प्रचलित थी। मई, १९४९ ई० में नए शासन द्वारा समस्त देश के लिए एक मुद्रा चलाई गई। उसके पश्चात् शीघ्र ही विदेशी मुद्रा के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया और नई चीनी मुद्रा को विदेशी मुद्रा में बदलने का एकाधिकार सरकार को दिया गया। दूसरी मुख्य आवश्यकता थी कि देश भर में माल की आमदोरफ्त अधिक स्वतंत्रता से हो। फौजी शक्ति को मुख्य रेल लाइनों के पुनर्स्थापन के कार्य में लगाया गया। साम्यवादी कृषि पुनरुद्धार और उपभोग-पदार्थों के उत्पादन में जुट गए। अक्तूबर, १९४९ ई० के पश्चात् सभी बड़े कसबों और नगरों में स्टेट ट्रेडिंग कंपनियाँ बनाई गईं। चूँकि इन कंपनियों द्वारा माल खरीदने के आदेश बहुत से निजी औद्योगिक उद्यमों को जीवित रखने के लिए महत्त्वपूर्ण थे, इसलिए इनका प्रयोग ऐसे उद्यमों पर, जिनको फिल्हाल निजी तत्त्वावधान में चलने की अनुमति दी गई थी; सरकारी नियंत्रण के मुख्य साधन के रूप में किया गया। पुनर्वास के दौरान मूल्य तथा वेतन-स्तर को स्थिर रखना पुनर्वास की नीति के महत्त्वपूर्ण कार्य थे।

इस समय अर्थतंत्र के पूर्ण समाजीकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए सरकार द्वारा निम्नलिखित कदम उठाए गए :—

१. अर्थतंत्र के समाजीकृत क्षेत्र का विस्तार : निजी व्यवसाय के नियंत्रण के लिए सरकार द्वारा मूल उद्योगों को हाथ में लेना आवश्यक था। वास्तव में, सत्ता प्राप्त करने पर नई साम्यवादी सरकार को मंचूरिया में जापानियों द्वारा बनाए गए अनेक यंत्र हाथ लगे, जोकि चीन को द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में सोवियत संघ से प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त साम्यवादी जैसे-जैसे चीन के अधिकाधिक हिस्से पर कब्जा करते गए, वैसे-वैसे वे राष्ट्रीय सरकार के सारे आर्थिक उद्यम पर अधिकार करते गए। इस प्रकार १९५० ई० तक साम्यवादी सरकार बहुत से मूल उद्योगों की उत्पादन शक्ति के २० और १०० प्रतिशत के बीच स्वामित्व प्राप्त कर चुकी थी। इनमें अधिकतम सरकारी प्रभुत्व वाले उद्योग थे : पेट्रोलियम, बेल्लित इस्पात और परिवहन तथा संचार।[१]

२. आर्थिक योजना का विस्तार और परिपूर्णता : योजना-तकनीक का प्रयोग और योजना-कार्य में लगे योग्य कर्मचारियों का प्रशिक्षण आवश्यक था। सरकारी उद्यमों की गतिविधियों का निर्देशन ही पर्याप्त नहीं था। सरकार को सारे वार्षिक निवेश-खर्च का निर्देश और इस निवेश की प्रकृति एवं भौगोलिक स्थिति के नियंत्रण में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक था कि आर्थिक व्यवस्था के निजी क्षेत्र में भी आर्थिक योजनाओं को सीधे लागू किया जाए। संभवतः योजना निकाय राष्ट्रीय निवेश के समस्त आकार और उसकी भौतिक रचना पर तब तक नियंत्रण नहीं कर सकती थी, जब तक कि बहुत सी निजी फर्मों के, जोकि अभी विद्यमान थीं, उत्पादन और निवेशिक निर्णयों पर उसका नियंत्रण न हो। सरकार ने निजी फर्मों से माल खरीदने और उनको ठेके देने की अपनी शक्ति द्वारा किसी हद तक ऐसा नियंत्रण किया। १९५३ ई० तक निजी उद्योग के कुल उत्पादन का दो-तिहाई सरकारी आदेश के अनुसार था। इसके अतिरिक्त, सारे निजी बैंकों का चीन के लोक-बैंक में समावेश होने का अर्थ यह था, (जोकि दिसंबर १९५२ ई० तक संपूर्ण हो गया था) कि निजी फर्मों को अपनी धनराशि को उन आवश्यकताओं के लिए, जोकि वे अपनी आय से नहीं जुटा सकती थीं, सरकारी वित्तीय अभिकरणों से उधार लेना पड़ता था। इस तरह सरकार को निजी उद्योगों के फार्मों पर पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त हो गया।

---

[१] वू, युआन-ली, ऐन इकोनॉमिक सर्वे ऑफ कम्युनिस्ट चायना, न्यूयार्क, बुकमैन एसोसिएट्स, १९५६ ई०, पृष्ठ २०२।

३ **समाजीकृत घरेलू वाणिज्य :** विपणन, परिवहन एवं सरकारी या निजी तौर पर पैदा किए गए प्रत्येक प्रकार के माल के वितरण के लिए सरकारी व्यापार निकायों की स्थापना से सरकार को देश के विभिन्न क्षेत्रों में उपभोक्ता के स्वरूप का नियंत्रण करने की क्षमता प्राप्त हो गई, जिससे किसी विशेष क्षेत्र में संकट होने पर वह कुशलतापूर्वक राशन की व्यवस्था कर सकती थी। १९५६ ई० तक कुल थोक और खुदरा व्यापार के ७५ प्रतिशत भाग का प्रबंध सरकारी व्यापार निकाय तथा सहकारी समितियाँ, जोकि प्राइवेट थीं, परंतु सरकार द्वारा नियंत्रित थीं, करती थीं।

साम्यवादी दल के मुखिया, माओ-त्से-तुंग, ने दल की केंद्रीय समिति में अपने १९४७ ई० के भाषण में यह स्पष्ट कर दिया कि नई सरकार पूर्ण औद्योगिक तथा कृषि समाजीकरण की प्राप्ति के लिए कार्य करेगी। किंतु, उन्होंने यह संकेत दिया कि लक्ष्य की प्राप्ति से पहले क्रमिक अंतरिम समयावधि होगी, जिसके दौरान केंद्रीय योजना के अंतर्गत भारी उद्योग के विकास को उपभोक्ता-माल-उद्योग की अपेक्षा प्राथमिकता मिलेगी और भूमि-सुधार के अंतर्गत भूमि-स्वामित्व के पुर्नवितरण का मुख्य कार्य संपन्न होगा। ये अंतरिम कार्य होंगे। 'नए प्रजातंत्र' के पहले कुछ वर्ष (सन् १९४९–५२ ई०) ऐसे थे, जिनमें आर्थिक व्यवस्था के पुनर्वास और पुर्ननिर्माण का कार्य एवं द्वितीय विश्वयुद्ध और भयंकर घरेलू युद्ध की क्षति को पूरा करने का कार्य किया गया।

विकास-संबंधी आयोजना

१९५२ ई० के पतन में घोषणा की गई कि प्रथम पंचवर्षीय योजना आगामी वर्ष में आरंभ होगी। राज्य आयोजना समिति (जिसका नाम बाद में राज्य आयोजना आयोग (रा० आ० आ०) रखा गया) की स्थापना की गई। अर्थ के कार्य से संबंध रखने वाले राष्ट्रीय सरकार के सभी मंत्रालयों तथा प्रादेशिक एवं सरकार द्वारा संचालित उद्यमों समेत, सभी अन्य सरकारी अभिकरणों में योजना विभाग स्थापित किए गए। राज्य आयोजना आयोग के सहयोग के लिए अक्तूबर, १९५२ ई० में राज्य सांख्यिकीय ब्यूरो बनाया गया, जिसका प्रधान साथ-साथ राज्य आयोजना आयोग का उप-प्रधान भी बना। उसी समय योजना के अधीन चालू भारी पूंजी निर्माण प्रायोजनाओं के पर्यवेक्षण के लिए राष्ट्रीय निर्माण आयोग की स्थापना की गई। इसके आद्योपरांत कार्यान्वयन- के निरीक्षण के लिए राष्ट्रीय सरकार ने एक पर्यवेक्षण मंत्रालय बनाया। मई, १९५६ ई० में अल्पकालीन योजना का कार्य सँभालने के लिए राष्ट्रीय अर्थ आयोग (रा० अ० आ०) की स्थापना की गई, जिससे रा०

आ० आ० दीर्घकालीन विकास योजनाओं पर अपना ध्यान केंद्रित कर सके। महत्त्वपूर्ण भवन-निर्माण के सामान और कच्चे माल के संभरण का समन्वय करने के लिए एक साधारण संभरण ब्यूरो स्थापित किया गया। नए औद्योगिक तकनीकों के प्रयोग और उनके प्रचार के कार्य की देख-रेख के लिए एक औद्योगिक आयोग का निर्माण किया गया। फरवरी, १९५८ ई० में राष्ट्रीय निर्माण आयोग समाप्त कर दिया गया और उसका कार्य रा० आ० आ० और रा० अ० आ० में बाँट दिया गया।

योजना-संबंधी मुख्य सिद्धांत, जोकि १९५३ ई० में स्थापित किए गए, इस प्रकार थे :—(१) पूँजी-पदार्थ उद्योगों का विकास इस ढंग से होना चाहिए, जिससे भारी उद्योगों की तीव्र उन्नति को प्रोत्साहन मिले। (२) पूँजी-पदार्थ उद्योगों की उन्नति की दर उपभोग-पदार्थ उद्योगों की उन्नति की दर से अधिक होनी चाहिए। (३) कृषि-विकास इस प्रकार होना चाहिए कि पर्याप्त खाद्यान्न और औद्योगिक कच्चे माल की सप्लाई सुनिश्चित हो सके। (४) नकद मजदूरी की बढ़ोत्तरी की दर श्रम-उत्पादिता में वृद्धि की दर से कम होनी चाहिए, जिससे मुद्रा-स्फीति के बिना ही पूँजी-निर्माण हो जाए।

अभी प्रथम योजना के विवरण प्रकाशित नहीं किए गए थे। सरकारी तथा रा० आ० आ० के प्रवक्ताओं द्वारा की गई घोषणाओं से संकेत मिला कि प्रथम योजना का मसौदा १९५५ ई० तक भी पूरा नहीं हुआ था, जबकि योजना को दो वर्ष पूर्व कार्यांवित कर दिया गया था। जैसा कि १९५५ ई० में सूचित किया गया, योजना का मुख्य उद्देश्य उद्योग-उत्पादन को दुगुना करने के साथ-साथ पूँजी-पदार्थ का उत्पादन करने वाले उद्योगों को सर्वोच्च प्राथमिकता देना था। प्रथम योजना के अंतर्गत किए गए निवेश के क्षेत्रीय वितरण और कुछ मुख्य उत्पादन-लक्ष्य सारणी १० और ११ में दर्शाए गए हैं।

सारणी १०. प्रथम योजना के अंतर्गत निवेश का क्षेत्रीय वितरण

	योग की प्रतिशतता
औद्योगिक मंत्रालय	58.2
कृषि, वन उद्योग तथा जल-संरक्षण	7.6
परिवहन, डाक-व्यवस्था और दूर संचार	19.2
व्यापार, बैंकिंग तथा सामग्री संग्रह	3 0
संस्कृति, शिक्षा एवं लोक स्वास्थ्य	7.2

जन उपयुक्त वस्तुओं का विकास	3.7
अन्य	1.1
	100.00

स्रोत : प्रथम पंचवर्षीय योजना, पीकिंग, फॉरेन लैंग्वेज प्रेस, १९५६ ई०, पृष्ठ २९।

सारणी ११. प्रथम योजना के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण उत्पादन लक्ष्य

	मंचूरिया को मिलाकर साम्यवाद से पूर्व उत्पादन की चरम सीमा	1952 वास्तविक उत्पादन	1957 योजना	प्रतिशतता 1959 की 1952
कोयला (दस लाख मीट्रिक टन)	61.8	63.5	113.0	178
कच्चा लोहा (" ")	1.8	1.9	4.6	246
इस्पात (" ")	0.9	1.35	4.1	306
बिजली (विलियन किलोवाट घंटे)	6.0	7.26	15.9	219
पेट्रोलियम (दस लाख मीट्रिक टन)	0.3	0.43	2.0	462
सिमेंट (" " ")	2.3	2.86	6.0	210
सूती कपड़ा (दस लाख गाँठें bolts)	41.0	111.65	164.0	147

स्रोत : हैंड बुक आन पीपुल्स चाइना, पीकिंग, फॉरेन लैंग्वेज प्रेस, १९५७ ई०।

१९५७ ई० के अंत में सरकार ने यह दावा किया कि संपूर्ण प्रथम योजना के जायजे के अनुसार निर्धारित लक्ष्यों से १७ प्रतिशत अधिक सफलता प्राप्त हो चुकी थी और पूँजी-निर्माण-क्षेत्र में यह सफलता लक्ष्य से १३ प्रतिशत अधिक थी। ये दावे कुछ उत्पादन के मूल्य में वृद्धि पर आश्रित थे, जिसका हिसाब १९५२ ई० के मूल्यों को आधार मान कर लगाया गया था। अतः, उनकी वैधता इस बात पर आश्रित थी कि ये मूल्य कैसे निर्धारित किए गए थे। सरकार ने योजना के परिणामों में दो असंतुलनों को स्वीकार किया : (१) जबकि कृषि-उत्पादन में दावा की गई वृद्धि कृषि-लक्ष्यों से अधिक थी, फिर भी कुल उत्पादन (चीन की) आबादी के लिए

न्यूनतम आवश्यकता से काफी कम थी। (२) कई क्षेत्रों में औद्योगिक विकास की प्रगति अनुपातिक नहीं थी। इसके अतिरिक्त पूँजी सुविधाओं के विकास की तेजी ने स्फीति-दबाव उत्पन्न कर दिया था और श्रम-बचत औद्योगिक उपकरणों के प्रयोग से बेकारी बढ़नी शुरू हो गई थी।

फिर भी, चीनी साम्यवादी दल ने अपने सितंबर, १९५६ ई० के अधिवेशन में भारी उद्योग के विकास को प्राथमिकता देने की नीति पर बल देना जारी रखा। १९५८ ई० में आरंभ होने वाली दूसरी पंचवर्षीय योजना-संबंधी प्रस्ताव १९५६ ई० में तैयार कर लिए गए थे। इनमें सुझाव दिया गया कि १९६२ ई० में औद्योगिक तथा कृषि-उत्पादन का कुल मूल्य १९५७ ई० के लिए आरंभ में निर्धारित लक्ष्यों से लगभग ७५ प्रतिशत से अधिक होगा (जिसके मुकाबले में प्रथम योजना में मूल रूप से निर्धारित वृद्धि ५१.१ प्रतिशत थी, जिसके विषय में अपने लक्ष्य से १७ प्रतिशत अधिक होने का दावा किया गया था। पूँजी-पदार्थों के उत्पादन का विकास इस बार फिर उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन के विकास की अपेक्षा अधिक तेजी से होना था, ताकि १९६२ ई० तक इनमें से प्रत्येक कुल औद्योगिक उत्पादन के लगभग आधे के बराबर हो जाता (जिसकी अपेक्षा १९५७ ई० के लिए आयोजित लक्ष्यों के अनुसार उत्पादक वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन ३८ प्रतिशत और ६२ प्रतिशत था।)। १९५८ ई० में, जब दूसरी योजना प्रारंभ हुई, तो आगामी ३ वर्षों में आर्थिक विकास के लिए 'तेजी से आगे बढ़ो' का तर्क रखा गया। माँग की गई कि तीन सालों में इस्पात में १९ प्रतिशत, विद्युत् शक्ति में १८ प्रतिशत, कोयले में १७ प्रतिशत और अन्य उद्योगों में भी ऐसी ही उत्पादन-वृद्धि होनी चाहिए। १९५८ ई० के अंत में घोषणा की गई कि १९५७ ई० की अपेक्षा औद्योगिक उत्पादन ६५ प्रतिशत बढ़ गया था। बाह्य संसार ने उत्पादन-वृद्धि के इस तथा अन्य आश्चर्यजनक दावों पर बहुत ही अविश्वास प्रकट किया। यदि यह भी मान लिया जाए कि प्रतिशतता में वृद्धि की संगणना के आधार बहुत ही साधारण कोटि के थे, तो भी ये दावे स्वीकार करना असंभव दिखाई देता था कि १९५७ ई० के स्तर के मुकाबले में अक्तूबर तक लोहे के उत्पादन में ४४० प्रतिशत वृद्धि हुई थी, कोयले का उत्पादन पहले महीने[1] से १९० प्रतिशत बढ़ गया था, या, किसानों की खोज के फलस्वरूप, चीन के कच्चे लोहे के भंडार पहली सूचना[2] के अनुसार ११ बिलियन टन न होकर १०० बिलियन टन पाए जा चुके थे। परंतु, इस तथ्य को भी दृष्टि में रखते हुए कि ये दावे बढ़ा-चढ़ा

---

[1] न्यू चायना न्यूज एजेंसी, १४ नवंबर, १९५८ ई० में प्रकाशित दावे।

[2] वही, २७ दिसंबर, १९५८ ई०।

कर दिए गए थे, यह संभव है कि लाल चीन के औद्योगिक उत्पादन में १९५८ ई० के दौरान बहुत असाधारण वृद्धि हुई।

दूसरी योजना के अंतर्गत (जो कि सन् १९५७ से १९६२ ई० तक चलेगी) राष्ट्रीय आय का डेढ़ गुना करने, औद्योगिक उत्पादन को दुगुना करने और कृषि-उत्पादन में एक-तिहाई वृद्धि करने का आयोजन है। यदि १९६२ ई० के लिए निर्धारित ये लक्ष्य प्राप्त हो गए, तो भारी उद्योग[1] के उत्पादन के क्षेत्र में चीन से आगे केवल संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और पश्चिम जर्मनी ही होंगे। सारणी १२ में दिखाए गए तीन बुनियादी उद्योगों के उत्पादन के विवरण से प्रथम योजना के दौरान चीन की औद्योगिक प्रगति और दूसरी योजना के अंतर्गत आगे आयोजित उन्नति का पता चलता है :

सारणी १२. बुनियादी औद्योगिक उत्पादन

	1952 वास्तविक	1955 वास्तविक	1957 मूल	आयोजित संशोधित	1962 आयोजित
कोयला (10 लाख मीट्रिक टन)	63	93	113	120	190-210
विद्युत् (1,000 अरब किलोवाट घंटे)	7·6	12·1	15·9	18·0	40-43
इस्पात (10 लाख मीट्रिक टन)	1·35	2·48	4·1	5·5	10·5-12

१९६० ई० के मध्य की उत्पादन रिपोर्टों से सूचना प्राप्त हुई कि १९६० ई० के लिए इस्पात-उत्पादन में ३८ प्रतिशत वृद्धि का आयोजित लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा। यह इस्पात अच्छी किस्म का होगा। परंतु, १९५९ ई० की संदिग्ध विश्वस्तता वाली टन उत्पादन रिपोर्टों के कारण १९६० ई० के लिए निर्धारित इस्पात के लक्ष्य पूरे टनों के रूप में प्राप्ति की संभावना का निर्णय नहीं किया जा सकता था। कच्चा लोहा, कोयला और सीमेंट-जैसे महत्त्वपूर्ण उत्पादनों की पर्याप्त आयोजित वृद्धियाँ ऐसे ही पूरी हो रही थीं, जैसे हाल के उपभोक्ता माल उद्योगों के अधिक रूढ़िवादी लक्ष्य। कृषि-उत्पादन निर्धारित लक्ष्यों से पीछे रहता प्रतीत हो रहा था। १९६० ई० में आयोजना अभिकरण तीसरी योजना (सन् १९६३-१९६७ ई०) के लिए अंतिम लक्ष्यों का मसौदा तैयार कर रही थीं। इस अगैती योजना से पहली बार सरकार की इस इच्छा का

---

[1] दि लंदन इकोनॉमिस्ट, ६ अक्तूबर, १९५६।

आभास हुआ कि यह एक ऐसी बुनियादी पंचवर्षीय योजना अपनाना चाहती है, जिसका निर्माण इसके लागू होने वाली अवधि से पहले हो जाए और जिसे इतने ध्यान से बनाया जाए कि इसकी मियाद के दौरान पहली और दूसरी योजना की भाँति, किसी मुख्य संशोधन की आवश्यकता न पड़े। तीसरी योजना बनाने के संबंध में अग्रिम सूचना से ज्ञात होता है कि इसकी विशेषताएँ अधिक सावधानी और परिशुद्धता से निर्धारित लक्ष्य, विदेशी अर्थ-सहायता पर न्यूनतम भरोसा और कृषि-उत्पादन के विस्तार पर अधिक बल होंगी। आखिरी लक्ष्य तेती से बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं और वर्षांनुवर्षी प्रायः होने वाले सूखों और बाढ़ों की बाधाओं का सूचक है।

चीन के आयोजित अर्थतंत्र में निजी उपकरण

१९४५ ई० में ही माओ ने लिखा कि "हमारी नई प्रजातंत्रात्मक पद्धति का कार्य निजी पूँजीवादी अर्थतंत्र के स्वतंत्र विकास को, जो कि लोगों की आजीविका का नियंत्रण करने की बजाए उन्हें लाभ पहुँचाता है, प्रोत्साहन देना और ईमानदारी से प्राप्त की हुई सारी निजी संपत्ति[1] की रक्षा करना है।" साम्यवादी दल के नेता सत्तारूढ़ होने के पश्चात् भी निजी उद्यम तथा पूँजी को शुरू-शुरू के पुनर्वास और पुर्नानिर्माण के कार्यों में जुटाने की सोच रहे थे। परंतु, जब वे एक बार इन कार्यों में पूरी तरह लग गए, तो सरकार ने अर्थतंत्र के निजी क्षेत्र में अपने नियंत्रण को कड़ा करना आरंभ कर दिया। यदि किसी निजी फर्म के स्वामी के विरुद्ध सरकारी अधिकारियों को घूस देने के प्रयत्न, या सरकारी कानून और आदेश या किसी अन्य क्रांतिकारी कार्य उल्लंघन करने का आरोप लगाया जाता था, तो उसकी फर्म को जब्त कर लिया जाता था। १९५० ई० के प्रारंभ में सरकार ने सब निजी फर्मों को अपने वर्तमान लेन-देन, आर्थिक स्थिति तथा अपने व्यापार के अन्य सभी पहलुओं पर विवरणात्मक रिपोर्ट प्रस्तुत करने का आदेश जारी किया। दिसंबर, १९५० में 'निजी उद्यमों के लिए अस्थायी विनिमय' जारी किए गए। इनमें उन उपबंधों का विस्तृत वर्णन था, जिनके अंतर्गत निजी उद्यम कार्य कर सकते थे। निजी उद्यम को अपने उत्पादन और विक्रय की पूरी योजनाएँ सरकार की अग्रिम अनुमति के लिए भेजनी पड़ती थीं और उन्हें अपनी कमाई का विभाजन लाभांशों, कर्मचारियों के लिए कल्याण-लाभों तथा विनिमयों में निर्धारित अन्य उपभोगों में करना पड़ता था। १९५१ ई० के अंत में सरकार ने निजी उद्यम के विरुद्ध एक भारी आंदोलन शुरू किया। घूस, करावंचन, सरकारी संपत्ति की चोरी, धोखादेही तथा व्यापार के क्षेत्र में सरकारी

---

[1] ब्रैंड्ट, सी० तथा अन्य, ए डॉक्यूमेंट्री हिस्ट्री कैंब्रिज, हरवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२, पृष्ठ ३०३।

आर्थिक रहस्यों की चोरी के विरुद्ध यह 'पाँच निरोधक' आंदोलन था। उद्योगपतियों तथा व्यापारियों से व्यतिक्रम के कारण बड़े-बड़े जुर्माने वसूल किए गए। अक्तूबर, १९५३ ई० में सरकार ने निजी उद्यम-हितों, उद्योग एवं वाणिज्य राष्ट्रीय कांग्रेस—का सम्मेलन बुलाया जिसमें अर्थतंत्र के समाजीकरण के सरकारी आशय को स्पष्ट किया गया और निजी उद्योग एवं व्यापार को सरकार द्वारा संचालित अर्थतंत्र के पूर्णतः समाकलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। इस कार्यक्रम के अनुसार तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान निजी व्यवसाय का पूर्ण समाजीकरण किया जाना था। १९५५ ई० के अंत तक औद्योगिक तथा व्यापारिक दोनों ही प्रकार के निजी उद्यमों को सरकार द्वारा अंतर्लयन और स्वगीकरण की प्रक्रिया का विकास बड़ी तेजी से हुआ। संयुक्त सरकारी तथा निजी उद्यमों की कार्यविधि संयुक्त थी, जिसके अंतर्गत लाभ, जो कि पहले निजी स्वामी प्राप्त करते थे, अब दोनों को मिलता था। संयुक्त उद्यम उसी तरह पूर्ण रूप से सरकारी नियंत्रण में थे, जैसे कि पूरे सरकारी उद्यम। परंतु, संयुक्त उद्यम के मालिक को अपने स्वामित्व का एक अंश रखने और संयुक्त उद्यम द्वारा अर्जित लाभ का कुछ भाग प्राप्त करने की अनुमति थी। १९५६ ई० तक संयुक्त उद्यम के मालिक का हिस्सा सामान्यतः निवल लाभ का लगभग २५ प्रतिशत था। जून, १९५६ में एक आदेश द्वारा इसे उद्यम में लगे उसके धन के पूँजी-मूल्य के ५ प्रतिशत तक सीमित कर दिया गया। यह पूँजी-मूल्य संयुक्त उद्यम के मालिक तथा सरकारी प्रतिनिधि में बातचीत द्वारा निर्धारित किया जाता था, यद्यपि अधिक सौदा-शक्ति सरकारी प्रतिनिधि को प्राप्त होती है। व्यापारी के सम्मुख अपनी व्यवसायिक संपत्ति के यथेच्छ-मूल्य को स्वीकार करने के सिवा और कोई चारा न था। प्रायः पहले मालिकों को नए संयुक्त उद्यमों में नौकरियाँ दे दी जाती हैं, ताकि उनकी प्रबंधदक्षता तथा संचित अनुभव का लाभ उठाया जा सके। ऐसी परिस्थिति में उन्हें वेतनमानों के अनुसार वेतन दिया जाता है, जो कि पूर्णरूप से सरकार द्वारा चलाए उद्यमों के प्रबंधकों को लागू होते हैं। यद्यपि सरकारी सूत्रों के अनुसार पहले निजी मालिकों में से अधिकतम नए संयुक्त उद्यमों में सच्चे दिल से सम्मिलित हो गए हैं, किंतु कुछ के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अकारण ही इस सुधार का विरोध किया है और शांतिपूर्ण विरोध के रवैये को बनाए रखा है।[1]

१९५६ ई० में छोटे व्यापारियों, फेरी लगानेवालों और हस्तशिल्पियों को सरकारी समितियों में सम्मिलित करके पूर्ण समाजवादीकरण की दिशा में एक और कदम उठाया गया। सितंबर, १९५६ ई० तक ऐसे छोटे व्यापारियों में से ९० प्रतिशत

---

१. न्यू चायना न्यूज एजेंसी, १२ जुलाई, १९५६।

उत्पादक सहकारी समितियों या संभरण और विपणन सहकारी समितियों के सदस्य बन गए थे। तकनीकी रूप से ये सहकारी समितियाँ स्वैच्छिक थीं, परंतु उनका पथ-प्रदर्शन और निर्देशन सरकार द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त इन सहकारी समितियों और इनके संचालन के लिए उधार देने वाली थोक संस्थाओं का संचालन सरकार स्वयं करती है। इस तरह सरकार छोटे व्यापार को केंद्रीय आर्थिक योजना की परिधि में ले आई।

निजी व्यापारियों के मन में कोई संदेह बाकी नहीं रहा है कि जो थोड़ी स्वतंत्रता उनको प्राप्त है, वह भी अधिक देर नहीं टिकेगी। दिसंबर, १९५६ ई० में सरकारी प्रवक्ता ने स्पष्ट कर दिया कि संयुक्त उद्यमों में सम्मिलित पूँजी पर निजी व्यापारियों को निश्चित रूप से मिलनेवाला ५ प्रतिशत सूद केवल दस वर्ष, अर्थात् १९६२ ई० में समाप्त होने वाली दूसरी योजना के अंत तक मिलेगा। यह संक्रमण काल का अंत तथा पूर्ण सामाजिक युग का प्रारंभ होगा। उस तिथि के पश्चात राशि की अदायगी केवल उन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में जारी रखी जाएगी, जहाँ व्यापारी आर्थिक संकट में हों। कहा जाता है कि कुछ व्यापारियों ने स्वयं अपने लाभों को न लेकर अपने पूँजीवाद स्तर को छोड़ने की उतसुकता दिखाई है। स्पष्टतः सरकार का उद्देश्य है कि तीसरी योजना समाप्त होने से पहले संयुक्त उद्यमों में लाभों में भूतपूर्व स्वामियों की प्रत्येक प्रकार की हिस्सेदारी को समाप्त करके उद्योग के समाजीकरण को पूर्ण कर दिया जाएगा।

इन सब कार्यवाहियों के फलस्वरूप, १९५६ ई० के अंत तक बड़े और छोटे औद्योगिक एवं वाणिज्यिक सभी निजी उद्योगों को वास्तविक रूप से सरकारी अर्थतंत्र में खपा लिया गया। १९५७ ई० तक निजी उद्यमों के बहुत से भूतपूर्व स्वामियों ने, जिन्होंने अपने ही उद्यमों को संयुक्त आधार पर वैतनिक प्रबंधकों की हैसियत में सँभाले रखा था, अपने-आप को असुविधाजनक परिस्थितियों में पाया। अपनी भूतपूर्व पूँजी पर सूद लेते रहने के कारण उन्हें मजदूर संघों से बाहर निकलना पड़ा और इसी प्रकार बीमा तथा पेंशन-लाभों से वंचित रहना पड़ा। चूँकि पूँजीवाद को सामाजिक कलंक समझा जाने लगा, इसलिए उन्हें सामाजिक मानहानि भी सहनी पड़ी। कहा जाता है कि कुछ ने अपनी भूतपूर्व संपत्ति के अधिकारों को स्वयं त्याग दिया। इस प्रकार भूतपूर्व निजी व्यापार पूर्ण समाजीकरण के अंतिम चरण की ओर बढ़ता है। यह शारीरिक दबाव और सीधे संपत्ति-हरण की बजाय एक चतुर राजनीतिक दबाव और अस्थायी वित्तीय प्रोत्साहन द्वारा संपन्न किया गया। निःसंदेह इन दबावों और प्रोत्साहनों का समन्वय तथा प्रयोग इतने चातुर्य से किया गया कि

पूर्ण सामाजिक अर्थतंत्र के संक्रमण काल में अधिक सीधे और कठोर तरीकों के परिणामस्वरूप होने वाली तोड़-फोड़ नहीं हुई।

सोवियत आर्थिक सहायता

प्रथम योजना के दौरान सोवियत संघ की सहायता का विशेष महत्त्व था। यह सहायता थोड़ी सूद-दरों पर कर्जों तथा भारी संख्या में सलाहकारों और तकनीशिनों के रूप में थी। मैत्री संश्रय एवं पारस्परिक सहायता के लिए १९५० ई० में की गई संधि के अनुसार सोवियत संघ में माल तथा उपकरण खरीदने के लिए, १ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर पर ३० करोड़ डालर रूसी-ऋण की व्यवस्था की गई। १९५३ ई० में, प्रथम योजना की शुरूआत के साथ ही, और अधिक सहायता दी गई जो कि विद्युत्-शक्ति संयंत्रों के निर्माण एवं विस्तार, के लिए तथा कृषि-उपकरणों, सुरंगें लगाने, मशीने बनाने, धातु-विज्ञान, रासायनिक और परिवहन कार्यों के रूप में थी। इसके बदले में चीन ने रूस को कृषि-उत्पादन तथा अलौह धातुएँ निर्यात करना स्वीकार किया। उसी वर्ष कुछ समय पश्चात् एक नए समझौते में बड़े पैमाने के १४१ औद्योगिक संयंत्रों के निर्माण या नवीकरण के लिए सोवियत सहायता की व्यवस्था की गई। इनके अंतर्गत आधुनिक लौह-फौलाद मिश्रित कारखाने, अलौह धातु-विज्ञान संयंत्र, कोयले की खाने, तेल साफ करने के कारखाने, बिजली घर और रासायनिक कारखाने आदि थे। इनमें से अधिकतम १९५९ ई० तक समाप्त होने थे, जबकि शेष के पूरे होने के लिए लगभग १० वर्ष अपेक्षित थे। १९५४ ई० में आगे दी जाने वाली सोवियत सहायता के अंतर्गत ५ करोड़, २० लाख रूबल (एक करोड़ ३० लाख डालर, सरकारी विनिमय-दर के अनुसार) के ऋण तथा ४ करोड़ रूबल (एक करोड़ डालर) १४१ संयंत्रों की पूरक आवश्यकताओं के भुगतान के लिए १५ नए औद्योगिक संयंत्रों के लिए उपकरण तथा माल की व्यवस्था की गई। १९५६ ई० में दोनों देशों में वैज्ञानिक तथा तकनीकी सहयोग के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम बनाया गया। १९५६ ई० में ही दो और समझौते हुए, जिनके अंतर्गत पहले सहायता समझौते के अतिरिक्त ५५ नए संयंत्रों के निर्माण तथा सिक्यांग से सोवियत सीमा तक रेल-सड़क-निर्माण के समन्वय की व्यवस्था की गई। अगस्त, १९५८ ई० में सोवियत संघ ने ४७ और औद्योगिक संयंत्रों के निर्माण के लिए तकनीकी सहायता देनी स्वीकार की।

सोवियत सलाहकार और तकनीकी चीन के उद्योग की लगभग सभी शाखाओं में प्रवेश कर गए हैं, यद्यपि रिपोर्टें, जैसे कि यह लेख—संकेत करती हैं कि उनमें से बहुत से सोवियत संघ लौट आए हैं; क्योंकि यह स्पष्ट नहीं है कि चीन में उनका भविष्य क्या होगा। यह भी व्यवस्था की गई है कि सोवियत उद्यम चीनी

श्रमिकों और इंजीनियरों को क्षेत्र-प्रशिक्षण के लिए स्वीकार करें। चीन के बहुत-से विद्यार्थी सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी देशों में उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

जुलाई, १९५७ के बजट-भाषण में चीन के वित्त मंत्री ने बताया कि साम्यवादी सरकार की स्थापना से लेकर सोवियत सहायता की रकम ५२९ करोड़ और ४० लाख येन (लगभग २,४०,००० करोड़ डालर है) यह रकम चीन की आवश्यकताओं के अनुसार अधिक नहीं है। भारत की पहली और दूसरी योजना के लिए सभी साधनों से प्राप्त लगभग २.७ बिलियन डालर विदेशी सहायता से तुलनीय है। जबकि सोवियत संघ से प्राप्त पूंजी सहायता ने चीन के औद्योगीकरण को पर्याप्त मात्रा में प्रगतिशील किया है। परंतु, अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पहला पूंजी-प्रवाह कम हो गया है और संभवतः यह प्रवाह उत्तरोत्तर कम ही होता रहेगा।

कृषि

पृष्ठभूमि

साम्यवादी चीन मुख्यतः कृषि-प्रधान देश रहा है। तेजी से उद्योगीकरण के उसके प्रयत्नों के कारण अर्थतंत्र के कृषि-क्षेत्र में से अनेक भारी-भारी माँगें की गई हैं। शहरों के श्रमिकों को, जिनकी संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है, रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर द्वारा औद्योगिक रोजगारों में प्रशिक्षण प्राप्त करने और उन्हें दक्षतापूर्वक निभाने के लिए प्रोत्साहन देना आवश्यक है। वर्त्तमान शासन के प्रति निष्ठा पैदा करने और बनाए रखने के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या के निर्वाह का प्रबंध करना और प्रति व्यक्ति खुराक में वृद्धि करना आवश्यक है। सोवियत रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी राष्ट्रों से आयात की गई निर्मित वस्तुओं, विशेषकर भारी पूंजी उपकरणों की कीमत का भुगतान करने के लिए कृषि-उत्पादनों के निबल निर्यात की आवश्यकता है। कृषि-उत्पादन में वृद्धि अवश्य होनी चाहिए और यह वृद्धि स्पष्टतः २ प्रतिशत प्रति वर्ष से, जिस दर से कि आबादी बढ़ती बताई जाती है, काफी अधिक होनी चाहिए, ताकि साम्यवादी सरकार अपने लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके।

भूतकाल में अधिक जनसंख्या और उसके परिणामस्वरूप कृषि-निवेश के अभाव के कारण आर्थिक विकास व्यावहारिक रूप से असंभव हो गया है। इस समस्या का मूल रूप से ठोस समाधान स्पष्टतः काश्त-योग्य उपलब्ध भूमि पर निर्भर ग्रामीण जनसंख्या में कमी करने की आवश्यकता है। अधिक आय वाली बड़ी-बड़ी फार्म इकाइयों से बचत होगी और कृषि के आधुनिकन तथा यंत्रीकरण, सिंचाई प्रायोजनाओं और कृत्रिम उर्वरकों के इस्तेमाल में धन लगाया जा सकेगा। कृषि-सामूहिकी-

करण तथा कृषि-निवेश द्वारा एवं फालतू ग्रामीण जनता को बढ़ते हुए उद्योगों में भेजना भी इस समस्या का एक समाधान हो सकता है। परंतु, भू-जोतों को एक समान करने से ही यह समस्या हल नहीं होगी; क्योंकि ऐसा करने से कृषि-इकाइयाँ इतनी छोटी हो जाएँगी कि कोई भी इकाई कृषि-उपकरण और प्रक्रियाओं के सुधार में न तो धन लगा सकेगी और न ही उसका लाभ उठा सकेगी।

भूमि-सुधार

चीन के साम्यवादी नेताओं ने प्रारंभ के दिनों में ही यह घोषणा की कि कृषि-सामूहिकीकरण उनका अंतिम लक्ष्य है। परंतु, अपने शासन की प्रारंभिक अवस्था (सन् १९५०-५३ ई०) में ही उन्होंने बताया कि यह एक दीर्घकालीन लक्ष्य होगा और तत्काल तो भूमि का पुनः वितरण किया जाएगा, ताकि सारे देश के किसानों के पास बराबर-बराबर भूमि हो जाए। इसकी पूर्ति के लिए सरकार ने सभी ग्रामीण परिवारों को चार श्रेणियों में विभक्त करने की व्यवस्था की : (१) जमींदार—वे भूस्वामी जो मुख्यतः अपनी भूमि को लगान पर देकर आय प्राप्त करते थे। (२) अमीर किसान—वे किसान जिनके पास कर्मचारी नियुक्त करने के लिए या अन्य व्यक्तियों के नकद ऋण देने के लिए पर्याप्त भूमि थी। (३) मध्यम श्रेणी के किसान—वे किसान जिनके पास अपने परिवारों के निर्वाह के लिए ही पर्याप्त भूमि थी और जिनमें न तो अपनी भूमि अन्य व्यक्तियों को लगान पर देने की सामर्थ्य थी और अन्य भू-स्वामियों से लगान पर और भूमि लेने की आवश्यकता थी। (४) निर्धन किसान—जिनके पास इतनी थोड़ी भूमि थी कि या तो उन्हें कुछ और भूमि लगान पर लेनी पड़ती थी या जिन्हें अपनी भूमि दूसरों को लगान पर दे देनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त वे परिवार, जिनके पास उनके जिले के लिए निर्धारित औसत भूमि से अधिक भूमि थी, अधिक भूमि वाले समझे जाते और उनकी भूमि में से कुछ भूमि निर्धन या भूमिहीन परिवारों को बाँट दी जाती थी।

सरकार के तत्वावधान में ग्रामीण स्तर पर किसान सभाएँ बनाई गईं, जिनके सदस्य निर्धनतम स्थानीय किसान थे—अर्थात् ऐसे किसान, जिन्हें भूमि के पुनर्वितरण से सबसे अधिक लाभ होना था। इन सभाओं ने अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए प्रत्येक स्थानीय किसान-परिवार को इन चार श्रेणियों में से किसी एक में श्रेणीबद्ध कर दिया। प्रथम दो श्रेणियों के सभी व्यक्तियों—जमींदारों और अमीर किसानों—को इस सभा के सम्मुख बुलाकर यह कहा गया कि वे प्रतिक्रांतिवादियों-जैसा, अपने साथी किसानों के श्रम को भाड़े पर लेकर शोषण करने का निरंकुश पूँजीवादियों-जैसा, या अन्य व्यक्तियों को लगान पर भूमि अथवा ब्याज पर धन देकर शोषकों-जैसा अपना पहले वाला रवैया छोड़ दें। इन आरोपों से इनकार करने पर

उनके परिवार के सभी सदस्यों को मार दिया जाता था या उन्हें बेगार-शिविरों में भेज दिया जाता था। स्थानीय जन-न्यायालयों को विवादास्पद वर्गीकरणों के संबंध में पंच-फैसला करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार कानून को लागू करने वाले स्थानीय अभिकरणों और कर्मचारियों ने इस संबंध में सक्रिय रूप से काम करना शुरू कर दिया, जिससे जमींदारों और अमीर किसानों से लेकर भूमि निर्धन या भूमिहीन किसानों में बाँट दी गई।

सामूहिकीकरण : स्वैच्छिक

इन उपायों द्वारा साम्यवादी भूमि के पुनर्वितरण तथा कृषि-सुधार-कार्य का प्रथम चरण जून, १५५३ ई० तक संपूर्ण हो गया। इस कार्य के दूसरे चरण में जो कि उस समय आरंभ हुआ, सामूहिकीकरण पर बल दिया गया और यह कार्यक्रम १९५७ ई० में संपन्न होने तक चलता रहा। साम्यवादी शासन द्वारा सफलतापूर्वक कृषि-सामूहिकीकरण प्रारंभ करने से पहले भूमि से पेचीदा और उग्र पुनर्वितरण की आवश्यकता महसूस करने के अनेक कारण थे। पहले तो सामूहिकीकरण का जमींदार और अमीर किसान जोरदार विरोध कर सकते थे और भूमि के पुनर्वितरण से मध्यम तथा गरीब श्रेणी के किसानों को उनकी भूमि से वंचित किए बिना जमींदारों और अमीर किसानों का प्रभाव समाप्त हो सकता था। दूसरा, भूमि-पुनर्वितरण के कार्यक्रम से साम्यवादी दल के ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं का विकास हुआ, जो कि सामूहिकीकरण आंदोलन के लिए विशेषतः लाभदायक सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त, चूंकि भूमि के पुनर्वितरण में सैनिक परिवारों को प्राथमिकता दी गई; इसलिए देश की आंतरिक सुरक्षा और कोरिया-युद्ध के लिए आवश्यक भारी संख्या में सैनिक भर्ती करने में सरकार को सहायता मिली। अतः, १९५३ ई० के अंत तक साम्यवादी शासन के पास एक प्रभावशाली ग्रामीण दल संगठन और बड़ी भारी सेना हो गई और उसने कृषि-सामूहिकीकरण के अधिकतम संभावी विरोधी तत्त्वों का विनाश कर दिया।

इतने पर भी, अनिवार्य सामूहिकीकरण तत्काल नहीं किया गया। दिसंबर, १९५३ ई० के सरकारी संकल्प में केवल तीन प्रकार की पूर्णतः स्वैच्छिक और निजी फार्म सहकारिताएँ बनाने को प्रोत्साहन देने की माँग की गई :

१. **अस्थायी परस्पर सहायता समूह** : इनके अंतर्गत किसान-सदस्यों के वाहन, पशुओं, औजारों और उनकी श्रम-शक्ति को एकत्र कर लिया गया और उनका पारस्परिक रूप से कुछ मौसमी प्रयोजनों, जैसे कि फसल बोने और काटने के लिए इस्तेमाल किया गया।

२. स्थायी परस्पर सहायता समूह : इनमें, प्रत्येक सदस्य-परिवार का अपनी भूमि पर, जिसे वह एक अलग इकाई के रूप में इस्तेमाल करता था, पूर्ण अधिकार था। परंतु, अनुभव द्वारा यह ज्ञात हुआ कि लगभग दस परिवारों की एक कृषि-इकाई से अनुकूलतम उपज कृषि-इकाई बनती थी। अतः, किसान-परिवारों से आग्रह किया गया कि वे स्वेच्छा से इस आधार पर अपनी भूमि को एकत्र करके इस प्रकार की बड़ी-बड़ी इकाइयाँ बना लें। प्रत्येक सदस्य परिवार को उक्त इकाई में दी गई उसकी जोत के अनुसार कुछ 'हिस्से' दिए गए, जिन पर उसे सहकारी इकाई के उत्पादों में से 'स्वामित्व लाभांश' मिलता था। प्रत्येक सदस्य परिवार को अपने निजी इस्तेमाल के लिए उपज पैदा करने तथा पशुपालन के लिए एक छोटा भू-खंड रखने की अनुमति दी गई। प्रत्येक सदस्य सिद्धांत रूप में, सहकारी इकाई से, जब कभी वह चाहे, भूमि के अपने हिस्से को वापस लेने के लिए स्वतंत्र था।

३. अर्द्ध-समाजवादी कृषि उत्पादक सहकारी समितियाँ : इनमें शामिल होने वाले सदस्य परिवारों को सहकारी समिति की निबल आय में से हिस्सा प्राप्त होता था, जोकि सहकारी समिति को दिए गए उनके श्रम-योगदान के अनुसार ही निर्धारित किया जाता था। सहकारी समिति में एकत्रित भूमि के लिए, जोकि संभवतः असमान मात्रा में थी, कोई भुगतान नहीं किया गया। परंतु, सहकारी समिति में दिए गए औजारों तथा पशुओं के लिए कुछ मुआवजा दिया गया। प्रत्येक सदस्य-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिए एक छोटा निजी भू-खंड रख सकता था। फार्म का यह स्वरूप बिल्कुल सोवियत रूस के सामूहिक फार्म के समान था। परंतु, स्पष्टतः किसी भी किसान-परिवार को उसकी इच्छा के विरूद्ध सहकारी समिति का सदस्य बनने के लिए बाध्य नहीं किया गया।

स्पष्टतः सरकार को अपने कृषि-लक्ष्यों की प्राप्ति केवल तीसरी प्रकार की इन सहकारी समितियों या सामूहिक इकाइयों द्वारा संभव प्रतीत हुई। इस आंदोलन को प्रोत्साहन देने के प्रथम वर्ष के दौरान देश के केवल ४ प्रतिशत किसान-परिवार इस प्रकार की सामूहिक समितियों के सदस्य बने और शीघ्र ही इसके विकास को विरोध का सामना करना पड़ा। स्वभावतः किसानों ने पुनर्वितरण द्वारा प्राप्त भूमि के निजी इस्तेमाल से लाभ प्राप्त करना अधिक पसंद किया। सरकार कृषि उत्पादक सहकारिता आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए उत्सुक थी और उसने १९५४ ई० में यह लक्ष्य निर्धारित किया कि १९५७ ई० में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत तक देश के आधे से अधिक किसान-परिवार और भूमि को अर्द्ध-समाजवादी सहकारी समितियों के अंतर्गत लाया जाएगा।

मार्च, १९५५ ई० तक साम्यवादी नेताओं को इन लक्ष्यों के अनुरूप सामूहिकीकरण के कार्यक्रमों को गति की बुद्धिमत्ता के बारे में संदेह होना शुरू हुआ। उत्पादक सहकारी समितियों को अनुभव नहीं था और अनेक मामलों में उनके सफल संचालन के लिए पर्याप्त तैयारी नहीं की गई। किसान सदस्यों को अधिक फसल के उत्पादन के बारे में संदेह पैदा हो गया। १९५७ ई० के सहकारी लक्ष्य को घटा कर किसानों और जमीन का ३३ प्रतिशत कर दिया गया और वास्तव में कुछ सहकारी समितियाँ बंद कर दी गईं। १९५५ ई० में देश के केवल १.५ करोड़ या लगभग १५ प्रतिशत किसान-परिवार इन सहकारी समितियों के सदस्य थे। परंतु, देश के किसानों को सामूहिकीकरण के संबंध में जानकारी प्राप्त हो गई और इस दिशा में अगला कदम उठाने के लिए वातावरण तैयार हो गया।

सामूहिकीकरण : जबर्दस्ती

दल के नेताओं ने यह दावा किया कि अधिकांश किसान उत्सुक थे कि चीन साम्यवादी पथ पर आगे बढ़े। उनका मत था कि कृषि सामूहिकीकरण के, जिसे वे १९६० ई० तक पूर्ण करना चाहते थे, बिना समाजवादी उद्योगीकरण के संभव नहीं था। साम्यवादी नेताओं ने यह माँग की कि किसान 'स्वेच्छा से' कृषि-उत्पादक सहकारी समितियों के सदस्य बनें। 'अर्द्ध-समाजवादी' सहकारी समितियों को पूर्ण समाजवादी कृषि संगठनों में बदलने का कार्य आगामी तीन-चार वर्षों में संपन्न किया जाना था।

१९५६ ई० के शुरू में कृषि-सामूहिकीकरण आंदोलन तेज कर दिया गया। सरकार ने कृषि के संबंध में एक १२ वर्षीय योजना प्रकाशित की, जिसमें यह माँग की गई थी कि १९५६ ई० के अंत तक देश के ८५ प्रतिशत किसान-परिवार सामूहिक समितियों के सदस्य बन जाएँ। उस वर्ष के अंत में यह घोषित किया गया कि ९६ प्रतिशत किसान-परिवार, जो कि देश की ९० प्रतिशत काश्त-शुदा भूमि पर खेती करते थे, किसी-न-किसी प्रकार की कृषि-उत्पादक सहकारी समिति के सदस्य बन चुके थे और कुछ किसान-परिवारों में से ८३ प्रतिशत परिवार ५,००,००० 'समुन्नत' सहकारी समितियों अर्थात् 'पूर्णतः' समाजवादी समितियों, के सदस्य बन चुके थे। ये समितियाँ ('अर्द्ध-समाजवादी' समितियों के विपरीत) सोवियत रूस के सामूहिक फार्मों के समान थीं। स्पष्टतः, कम उग्र समाजवादी सहकारी समितियों के प्रति सामान्य किसानों की रुचि के अभाव में, सामूहिकीकरण की यह गति केवल सरकार और दल की बहुत ही जबर्दस्ती की नीति द्वारा ही संभव थी।

दबाव का एक भारी प्रभार अभियान द्वारा किसानों को यह समझाना था कि सहकारी समितियों के सदस्य बनने पर उनकी आय में वृद्धि हो जाएगी। जब अनेक सहकारी समितियाँ ऐसा करने में असमर्थ रहीं, तब किसानों में असंतोष की भावना

उत्पन्न हुई। फलस्वरूप सरकार द्वारा उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न किए गए। १९५७ ई० के अंत में शेष चार प्रतिशत किसान-परिवारों को भी सामूहिक फार्मों के सदस्य बनाने के लिए दृढ़ प्रयास किए गए। सरकारी आदेश द्वारा सामूहिक फार्मों को आसपास के असामूहिकीकृत किसान-परिवारों की उत्पादन-योजनाओं, कर-भुगतानों और विक्रय का अधीक्षण करने का अधिकार दिया गया। स्वतंत्र किसानों को शिक्षित करने का कार्य भी सामूहिक फार्मों को सौंपा गया, जिससे उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो जाए—अर्थात् उन्हें सामूहिक फार्मों का सदस्य बनाया जाए। यह आंदोलन सफल रहा और कृषि-क्षेत्र में पूर्णतः सामूहिकीकरण हो गया।

सामूहिक फार्म का स्वरूप

सामूहिकीकृत फार्मों के संगठन और ढाँचे की परिभाषा कृषि-उत्पादक सहकारी समितियों संबंधी आदर्श विनियमों के मसौदे में, जो कि एक जुलाई, १९६६ ई० को प्रकाशित हुआ, तथा चीनी साम्यवादी दल द्वारा सितंबर, १९५६ ई० और सितंबर, १९५७ ई० में जारी किए गए बाद के निर्देशों में की गई। इन फार्मों का 'प्रजातंत्रीय प्रबंध' पद्धति के अंतर्गत चलाए जाने की कल्पना की गई थी। मूल प्रबंधात्मक अधिकार 'साधारण सभा' को प्राप्त था, जिसके सभी सदस्य थे और जिसकी साल में कम-से-कम दो बैठकें होती थीं। यह सभा निदेशक, उप-निदेशक और प्रबंध-समिति का चुनाव करती थी, फार्म के विधान को स्वीकार करती थी; और प्रबंध समिति द्वारा प्रस्तुत उत्पादन-योजना, बजट तथा निबल आय के वितरण-संबंधी योजनाओं की जाँच एवं उनका अनुपालन करती थी। सिद्धांत में इन सभी विषयों पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार साधारण सभा को प्राप्त था। निदेशक और उपनिदेशक क्रमशः प्रबंध समिति के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष भी थे और उनमें से एक पद पर महिला का होना आवश्यक था। प्रबंध समिति, जिसके ९ से १९ सदस्य होते थे, साधारण सभा के निर्णयों और निदेशों के अनुसार फार्म के नियमित प्रबंध के लिए जिम्मेवार थी। एक नियंत्रण समिति भी होती थी, जो कि यह देखती थी कि क्या प्रबंध समिति साधारण सभा के प्रस्तावों का अनुपालन करती थी; यह समिति सामूहिक फार्मों के लेखाओं की जाँच करती थी। फार्म की पूँजी मुख्यतः निधियों, बीजों, पशुओं तथा हर साल आरक्षित अन्य संपत्ति के रूप में प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त सदस्यों से सदस्यता प्राप्त करते समय शेष निधि एकत्र की जा सकती थी। सहकारी फार्म पीपुल्स-बैंक और या ऐसी संभरण और विपणन सहकारी समितियों से उधार भी ले सकते थे जिनके साथ उनका लेन-देन चलता था। सामूहिक फार्मों की निवल आय वर्ष के अंत में या कभी-कभी अग्रिम भुगतान के रूप में सदस्यों में उनके श्रम के अनुसार बाँट दी जाती थी। इनके

सदस्यों को घर पर अन्य सहायक धंधे करने की भी इस शर्त पर इजाजत मिल जाती थी कि इससे सहकारी समितियों के उत्पादन को हानि नहीं पहुँचेगी।

व्यवहारतः यह संगठन इतना प्रजातंत्रात्मक नहीं था जितना कि इन प्रक्रियाओं से प्रतीत होता है। अध्यक्ष तथा संभवतः अनेक अन्य प्रमुख निर्वाचित कर्मचारी, भले ही वे साम्यवादी दल के सदस्य न हों, परंतु वे प्रायः हमेशा दल के मनोनीत व्यक्ति होते थे। इन चुनावों की व्यवस्था और नियंत्रण सोवियत रूस के चुनावों की तरह ही सावधानी से किया जाता है। साधारण सभा में भाग लेना तो केवल औपचारिकता ही है। सन् १९५७ ई० में दल के नेता सत्तावाद के कारण व्याप्त असंतोष पर बहुत चिंतित थे। अतएव 'वास्तविक प्रजातंत्रात्मक' प्रबंध के महत्त्व पर बल देने की कोशिश की गई। दल के एक निदेश द्वारा दल के सदस्यों द्वारा बयान जारी करने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण लगाया गया। तथापि समस्त स्थिति असंतोषजनक बनी रही और शीघ्र ही ग्राम्य-क्षेत्र में आर्थिक और सामाजिक संगठन की पूर्णतः नई पद्धति—कृषि 'कम्यून' (स्थानीय शासन)—ने जन्म लिया।

कम्यून

कम्यून (स्थानीय शासन) कृषि तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के संगठन के लिए, साम्यवादी शासन की वर्त्तमान आयोजना है। इसकी रूपरेखा की प्रथम जानकारी १९५८ ई० में मिली। नवंबर तक यह घोषणा की गई की २६,००० लोक-कम्यूनों की स्थापना हो चुकी थी, जिनके अंतर्गत ९८ प्रतिशत ग्रामीण किसान आ गए थे। प्रत्येक कम्यून में सामूहिक फार्मों की औसत संख्या लगभग ३० थी। उनकी जनसंख्या लगभग २५,००० थी, यद्यपि प्रत्येक के आकार में काफी असमानता थी। इन कम्यूनों ने स्थानीय सरकारों के, जो कि हमारी काउंटी के समान हैं, सारे प्रशासनिक कार्य सँभाल लिए हैं। वे अपने-अपने क्षेत्रों में सारे कृषि और औद्योगिक संसाधनों का नियंत्रण करते हैं। वे सरकारी मंत्रालयों की स्थानीय शाखाओं और सरकारी संभरण तथा विपणन-सुविधाओं के साथ-साथ सरकारी स्टोरों तथा अपने क्षेत्र में शिक्षा-व्यवस्था का प्रशासन करते हैं। प्रत्येक कम्यून एक स्थानीय मिलिशिया की संस्थापना करती है। प्रायः सभी पुरुष इसके सदस्य होते हैं। कम्यून उधार समितियों की स्थापना करता है, जो कि सदस्यों की बचत को सँभालने का और स्थानीय बैंक का कार्य करती हैं। यह वृद्धों के लिए आरक्षा-गृह तथा सार्वजनिक कब्रिस्तानों के प्रबंध के लिए भी जिम्मेदार है। सामुदायिक रसोइयों, भोजनालयों और शिशुपालन-गृहों को भी यह चलाता है। अपने क्षेत्र में सारे कृषि, औद्योगिक तथा वाणिज्य करों को कम्यून ही एकत्र करता है और इसके तत्त्वावधान के सभी उद्यमों का लाभ इसी को मिलता है। सभी निजी स्वामित्व के बचे हुए भूखंड, जानवरों और मकानों का स्वा-

स्मित्व वस्तुतः कम्यून ने अपने अधिकार में ले लिया है।

कम्यून के अंतर्गत कृषि-श्रमिक साधारणतः बड़े-बड़े उत्पादन-ब्रिगेडों (जो कि पहले सामूहिक फार्म के श्रमिकों के समान थे), में संगठित हैं, जो कि क्रमशः, उत्पादन टुकड़ियों में विभक्त हैं। यह दावा किया जाता है कि इन अधिक बड़ी कार्य-इकाइयों द्वारा काश्त के यंत्रीकरण और वैज्ञानिक उपायों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलेगा और साथ ही सिंचाई की बड़ी योजनाओं का भी विकास होगा। कम्यून व्यवस्था के अंतर्गत कृषि-कार्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति का मूल दैनिक वेतन उसके 'श्रम और कार्य के प्रति रवैये' के रूप में व्यक्त किया जाता है, जिसके अतिरिक्त उसे मासिक या मौसमी इनाम भी मिलता है। श्रमिक की खपत का लगभग आधा खर्च उसकी ऐसी आय से चलता है। उसकी खपत का शेष भाग उसे भोजन के रूप में प्राप्त होता है, जिसकी कम्यून की ओर से मुफ्त व्यवस्था होती है। इसके अतिरिक्त कम्यून द्वारा रहने का, कपड़ों का तथा अन्य सेवाओं, जैसे कि चिकित्सा व्यवस्था, हजामत, सिनेमा मनोरंजन इत्यादि प्रबंध निःशुल्क किया जाता है। कम्यून आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं बनाए गए हैं। उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों के लिए उत्पादन, पूँजी निर्माण, माल तथा उत्पादन के क्रय और विक्रय तथा मशीनरी एवं उपकरणों के प्राप्त करने के बारे में योजनाएँ बनांनी पड़ती हैं, जो कि सरकारी योजना निकायों के पास 'जाँच, अनुमोदन और संतुलन' के लिए भेजी जाती हैं।

१९५८ ई० के अंत में एक मार्गीकरण और कमानशाही के विरुद्ध शिकायतें सुनने में आईं। दल के नेताओं ने इन पर ध्यान दिया और उनमें 'सुधार' की माँग की। उन्होंने कहा कि 'मूल सहकारी समितियों और ब्रिगेडों द्वारा अपनी अर्थ-व्यवस्था स्वयं करने का उत्साह कम न किया जाए।'[१] फलतः कम्यून के अंतर्गत रहन-सहन कुछेम कठोरतम पहलुओं—जैसे कि सामुदायिक भोजनालय में खाना खाने और पुरुषों तथा महिलाओं के अलग-अलग शयनागारों में रहने एवं केवल निर्धारित समयावधियों पर ही परिवारों के मेल के बंधनों आदि से छूट दी गई।

इस समय ऐसा प्रतीत होता है कि कम्यून ग्रामीण जीवन के संगठन की मूल इकाई रहेगा, यद्यपि इसके विस्तृत कार्यों में निःसंदेह फेर-बदल होंगे जैसे कि इसके संस्थापन काल से होते आए हैं। जनवरी, १९५९ ई० तक लगभग ९९ प्रतिशत किसान कम्यूनों के सदस्य बन चुके थे जो कि सीधे सरकार द्वारा चलाए गए लगभग ७०० फार्मों को छोड़कर, समस्त चीनी कृषि-क्षेत्र पर छा गए हैं। इन सरकारी फार्मों का क्षेत्रफल और उन पर कार्य करने वालों की संख्या नगण्य है। ग्रामीण क्षेत्र में 'समाज-

---

[१] इस प्रकार की भावनाएँ साम्यवादी शासन की विचारधारा की प्रमुख पत्रिका 'रेड फ्लैग' में व्यक्त की गईं।

वादी परिवर्तन' वस्तुतः पूर्ण हो चुका है।

मूल्यांकन

लाल चीन के संबंध में केवल सामान्य मूल्यांकन ही संभव है—और वह भी निश्चित दृढ़ निष्कर्ष के रूप में न होकर मूल्यांकन की कठिनाइयों का विवरण होगा। ज्यादा-से-ज्यादा व्यापक शब्दों में विश्वास के साथ तीन निष्कर्षों का दावा किया जा सकता है। प्रथम, साम्यवादी शासन ने कई दशाब्दियों के पश्चात् पहली बार चीन को सही अर्थों में एक राष्ट्र बना दिया है। साम्यवादी शासन के अंतर्गत एकीकरण से पहले आधुनिक काल में आंतरिक मान तथा वाह्य प्रतिष्ठायुक्त कोई राष्ट्रीय सरकार नहीं थी। साम्यवादियों ने ऐसे देश को ग्रहण किया जो कि घरेलू खींचातानी और फूट के कारण छिन्न-भिन्न था, विदेशी हमलावरों द्वारा पीड़ित था, जिसकी आर्थिक एवं वित्तीय व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी और जिसमें आर्थिक प्रगति तथा रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए अपने प्राकृतिक साधनों की संपत्ति का उपयोग करने की न तो कोई कामना थी और न ही उसके उपयोग के ढंग का ज्ञान था। आज हमारा अपना देश चीन को मान्यता दे या न दे और चाहे वह संयुक्त राष्ट्रों के परिवार से बाहर रहे, फिर भी लाल चीन एक राजनीतिक सत्ता है, जिसकी मुद्रा स्थिर तथा आर्थिक व्यवस्था सुव्यवस्थित है और जो स्पष्टतया तीव्र आर्थिक उन्नति प्राप्त करने के लिए एक दृढ़ राष्ट्रीय संकल्प लिए हुए है।

दूसरे, चीन में साम्यवादी आर्थिक आयोजना द्वारा उसके लिए निर्धारित किए गए चकित करने वाले ऊँचे आर्थिक लक्ष्यों के कारण एक जागृति आ गई है। यहाँ की जनता को पहली बार ज्ञात हुआ है कि उनके साधन, रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के साथ-साथ जनता की समृद्धि के लिए कितने समर्थ हैं। चूँकि हम ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुए हैं जहाँ सामान्य आर्थिक सुधार, तकनीकी उन्नति तथा बढ़ता हुआ प्रति व्यक्ति उत्पादन निश्चित रूप से परिवेशगत तथ्य है, इसलिए उस जनता पर ऐसे विचारों के क्रांतिकारी प्रभाव को समझना हमारे लिए कठिन है, जिसमें ये पहली बार रोपे गए हैं। सभी समाचार इस बारे में सहमत हैं कि आर्थिक विकास की इच्छा और संकल्प चीनी मूल्यांकन-मानों में गहरे और सार्थक रूप से कूट-कूट कर भर दिया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या इससे मानवता की सुख-समृद्धि बढ़ सकेगी, जबकि सफलता का मार्ग इतना सरल नहीं है और रहन-सहन के पर्याप्त ऊँचे स्तर की प्राप्ति की संभावना काफी दूर लगती है। यथार्थवादी रूप में पाश्चात्य जगत् के दृष्टिकोण से आर्थिक लाभ की दिशा में चीन की विचारधारा के मोड़ को साम्यवादी शासन की क्रांतिकारी नहीं तो महान् सफलता अवश्य माना जाना चाहिए।

तीसरे और नकारात्मक दिशा में, यह तथ्य आता है कि ये सफलताएँ उन तकनीकों और संगठनात्मक स्वरूपों द्वारा प्राप्त की गई हैं, जो कि लोकतंत्र तथा बहुलवाद का खंडन करते हैं, जैसे कि चीन के पाश्चात्य मित्र उसके लिए कामना करते हैं। चीन में साम्यवादी दल ही एकमात्र राजनीतिक संगठन है। सरकार और उसके सर्वव्यापी संगठनों तथा कृत्यों ने व्यक्ति एवं मानव-जीवन की इकाई के रूप में उसकी निरूढ़ व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को केंद्रीकृत नियंत्रणों के जाल के नीचे दबा दिया है। यह पूछा जा सकता है कि व्यक्ति की प्रतिष्ठा का क्या मूल्य जबकि वह भूखा मर रहा हो, जैसे कि साम्यवादी शासन से पूर्व बहुत से चीनी मर रहे थे और जिनकी संख्या संभवतः आज कम है। यह प्रश्न तो विचारणीय है, परंतु इसकी गहनता इस तथ्य को नहीं छिपा सकती कि राजनीतिक झुकाव व्यक्तिगत अधिकारों एवं स्वतंत्रता से परे सत्तावाद की दिशा में ही रहा है। सरकार द्वारा भूधृति सुधार, जबर्दस्ती कृषि सामूहिकीकरण, उसके साथ सारे ग्रामीण क्षेत्र का कम्यूनों में पुनर्गठन तथा धीरे-धीरे निजी उद्योग तथा वाणिज्य के अधिग्रहण का कुछ व्यौरा इस अध्याय में दिया गया है। हालांकि ये सब लाल चीन को राष्ट्र का दरजा दिलाने के अभिन्न अंग रहे हैं, परंतु ये भी व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रता का निष्ठुरता, कठोरता तथा जबरदस्ती के साथ निषेध करने वाले हैं।

इन सामान्य निष्कर्षों के सापेक्ष महत्त्व का मूल्यांकन करने के लिए जब कोई इसकी पृष्ठभूमि का ब्यौरा भरने का प्रयास करता है, तब चीन के क्रांतिकारी परिवर्तनों के आर्थिक परिणामों के विषय में निश्चित ढंग से बहुत थोड़ी सी ही बात कही जा सकती है। सारे सांख्यिकीय आँकड़े सरकारी साधनों से प्राप्त होते हैं जिनकी किसी प्रकार की स्वतंत्र जाँच-पड़ताल नहीं हो सकती। ये आँकड़े, उदाहरणार्थ, यूगोस्लाविया सरकार तथा उसके अभिकरणों द्वारा प्रस्तुत ऐसे ही आँकड़ों से कहीं कम विश्वस्त माने जा सकते हैं। सोवियत रूस की अपेक्षा चीनी अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करने वाले छात्रों को चीन सरकार के सांख्यिकीय आँकड़ों की सही जाँच करने की बहुत कम सहूलियतें हैं। दल द्वारा (१९५९ ई० में) अधिकृत तौर पर यह स्वीकार करने से, कि कुछ सांख्यिकीय आँकड़े जिनका पहले वर्णन किया गया था, काफी बढ़ा-चढ़ा कर बताए गए थे, वास्तविक आर्थिक सफलताओं का अनुमान लगाने के साधनों की खोज में पर्याप्त मात्रा में निराशा उत्पन्न होती है। वस्तुनिष्ठ विद्वान प्रायः सहमत हैं कि हाल के वर्षों में चीन के कृषि एवं उद्योग दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण आर्थिक विकास हुआ है—संभवतः यह विकास कहीं-कहीं सोवियत संघ के आर्थिक इतिहास में तुलनीय समयावधियों में, प्राप्त विकास से भी अधिक तेज रहा है। परंतु, वर्त्तमान स्थिति में इससे अधिक मूल्यांकन असंभव है।

अत्यंत खेद की बात है कि चीनी आर्थिक विकास का मूल्यांकन अधिक परिशुद्धता के साथ नहीं किया जा सकता। संसार के बहुत से तटस्थ और कम-विकसित देश विशेषकर यह जानने के इच्छुक हैं कि अनेक दृष्टियों से समानता रखने वाले दो राष्ट्रों चीन या भारत में से, जिसकी अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन आगे किया जाएगा, कौन सा देश अधिक तेजी और दृढ़ता से भावी आर्थिक संपन्नता (सामर्थ्य) एवं रहन-सहन के स्तर की ठोस वृद्धि का शिलान्यास कर रहा है। दोनों ही देशों में जनसंख्या बहुत अधिक है, जो कि तीव्रता से बढ़ रही है; दोनों के पास समृद्ध प्राकृतिक साधन हैं, दोनों ने लगभग एक ही समय निष्प्रभावी राजनीतिक परिस्थितियों से निकलकर नए आशायुक्त आर्थिक वातावरण में प्रवेश किया, दोनों ही शीघ्रता से अपने आर्थिक स्तर को बहुत ऊँचा उठाने में निश्चित रूप से प्रयत्नशील हैं। दोनों ही इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परंपरागत आर्थिक आयोजनाओं का प्रयोग करते हैं—परंतु दोनों की यह एकरूपता यहीं तक है। भारत पाश्चात्य देशों की पद्धति का अनुसरण करते हुए अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता बनाए रखने के साथ-साथ बहुत सारे महत्त्वपूर्ण निजी उद्यम को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। चीन ने एक राजनीतिक दल की प्रणाली को अपनाया है। वहाँ, अभी या थोड़े ही समय में, देश की आर्थिक व्यवस्था के किसी भी महत्त्वपूर्ण अंग में निजी उद्यम का कोई स्थान नहीं होगा। मानव की जीविका और आर्थिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए दो राष्ट्रों की प्रयोगशाला में बिल्कुल विपरीत प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। प्रश्न उठता है कि इन प्रयोगों से क्या निष्कर्ष निकला? कौन सी व्यवस्था ज्यादा तीव्र गति से स्थायी आर्थिक प्रगति का प्रसव कर रही है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इस समय कई अन्य कम-विकसित देश पहली बार राष्ट्रीयतापूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर रहे हैं और वे उन राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं की खोज में हैं, जिनसे उनके पोषण के लिए द्रुत उद्योगीकरण एवं कृषि-उन्नति की उत्पत्ति हो सके। तथापि सही बात तो यह है कि इस समय कोई भी विश्वस्त मापदंड नहीं है, जिससे लाल चीन की आर्थिक प्रगति को सही ढंग से मापा जा सके।

फिर भी बुद्धिमत्ता के साथ यह अनुमान लगाना संभव है कि प्रगति के लिए इन दो देशों की, जो कि संसार में अधिकतम आबादी वाले हैं और जहाँ की जनसंख्या समस्त संसार की एक-तिहाई है, दौड़ का परिणाम किस बात से निर्धारित किया जाएगा। दो महत्त्वपूर्ण कारण स्पष्टतः ये होंगे : पहला, आर्थिक दृष्टि से उत्पादनशील पूँजी निवेश के लिए आंतरिक बचत को प्रवृत्त करने की दोनों राष्ट्रों की अपनी-अपनी क्षमता और दूसरा, बाह्य आर्थिक सहायता, जो इनमें से प्रत्येक को उपलब्ध हो सकती है। इस समय पहली गणना में लाल चीन को एक निरूढ़ लाभ

मिला हुआ लगता है। चीन में उद्योग के पूरी तरह समाजीकृत होने और कृषि-क्षेत्र में कम्यून-संगठन व्यवस्था होने के कारण केंद्रीकृत सत्तावादी अभिकरणों की त्याग की माँग करते हुए राष्ट्रीय बचत और पूँजी निवेश लागू करने का अधिकार मिला हुआ है जो कि भारत की अपेक्षा ज्यादा उत्कृष्ट है, जहाँ एक ज्यादा विकेंद्रीकृत एवं लोकतंत्रात्मक राजनीतिक प्रणाली है और 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' है और वहाँ पर आर्थिक आयोजना कम तानाशाही वाली है। दूसरे मामले में उत्तर अभी निर्धारित करना है। यहाँ भी, चीन अपेक्षाकृत लाभदायक स्थिति में हो सकता है; क्योंकि उसकी मूल विचारधारा का सोवियत रूस की विचारधारा के साथ घनिष्ठ संबंध है और सोवियत रूस की अपने साथी साम्यवादी देशों को आर्थिक सहायता दे सकने की क्षमता तेजी से बढ़ रही है। यद्यपि अमेरिका और भारत देश प्रजातंत्रात्मक हैं, तो भी ऐसा प्रतीत होगा कि भारत के साथ हमारी विचारधारा का संबंध इतना नाजुक है कि भारत व्यापक आर्थिक सहायता के लिए अमेरिका पर निर्भर नहीं कर सकता। तथाति विचारधारा या फलमूलक ईर्ष्या या गुटवाद के कारण स्थिति बदल भी सकती है। वास्तव में सोवियत रूस और लाल चीन के बीच हाल ही की इस प्रकार की कुछ घटनाओं से इसकी पुष्टि होती है। इसी बीच, अमेरिका और पाश्चात्य यूरोपीय देश भारत-जैसे देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अधिक महसूस कर सकते हैं और ये देश पहले की अपेक्षा आर्थिक सहायता की राशि और सीमा को कहीं अधिक बढ़ा सकते हैं। ये ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, जिनके बारे में न तो कोई जानकारी है और न ही कोई भविष्यवाणी की जा सकती है।

हर हालत में, इन दो महान देशों में २० वीं शताब्दी की सातवीं दशाब्दी के राजनीतिक व आर्थिक विकास का इसी शताब्दी की आठवीं एवं नवीं दशाब्दियों के संसार पर प्रबल प्रभाव पड़ेगा। चीन की प्रणाली, उसके संचालनों तथा उसकी कुछ समस्याओं का कुछ विस्तार से अध्ययन करने के बाद अब हम भारत की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था-संबंधी योजना की इसी प्रकार की जाँच करेंगे।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. जब साम्यवादी शासन आरंभ हुआ, तब किस अर्थ में चीन वास्तव में एक राष्ट्र नहीं था ?

२. लाल चीन के साम्यवादी दल और सरकार के परस्पर संबंध की सोवियत सरकार तथा साम्यवादी दल के परस्पर संबंध से तुलना कीजिए।

३. सत्तारूढ़ होने के बाद साम्यवादियों द्वारा किए गए 'पुनर्बास कार्य' के

स्वरूप और विस्तार का वर्णन कीजिए।

४. पंचवर्षीय योजनाओं के मुख्य तत्त्व क्या रहे हैं?

५. निजी औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संपत्ति के समाजीकरण की विशेषता क्रमिकतावाद रहा है। इस तथ्य की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

६. साम्यवादी नेताओं ने कृषि के समाजीकरण या सामूहिकीकरण से पूर्व भूधृति में सुधार को क्यों प्राथमिकता दी?

७. क्या कृषि का सामूहिकीकरण ऐच्छिक रूप में किया गया या जबर्दस्ती के साथ?

८. नए कम्यून सामूहिक फार्मों से किस प्रकार भिन्न हैं?

९. ऐसा क्यों कहा जाता है कि कम्यूनों ने ग्रामीण क्षेत्र के सारे जीवन में क्रांति ला दी है?

१०. प्रायः ऐसा कहा जाता है कि जहाँ चीन के मुख्य देन की प्रगति में साम्यवादी शासन ने योगदान दिया है, वहाँ उसने उससे कुछ छीना भी है। इस सामान्यीकरण की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

११. सारे संसार के दृष्टिकोण में लाल चीन के भविष्य का इतना अधिक महत्त्व क्यों है?

सातवें भाग के लिए छात्र प्रतिवेदनों के विषय

१. यूगोस्लाविया को अमेरिकन आर्थिक सहायता का इतिहास और वर्त्तमान स्तर।

२. कौमिनफार्म से यूगोस्लाविया के निकाले जाने में निहित कारक।

३. टीटो की जीवन-कहानी।

४. सोवियत संघ के साम्यवाद और यूगोस्लाव के साम्यवाद में सैद्धांतिक अंतर।

५. यूगोस्लाविया की श्रमिक परिषदों में साम्यवाद का प्रभाव।

६. यूगोस्लाविया में कृषि सामान्य सहकारिता की समस्या।

७. यूगोस्लाविया में नागरिक स्वतंत्रताओं का स्तर।

८. लाल चीन में जनता की वृद्धि की ओर साम्यवादी दल और सरकार का रवैया।

९, माओ की जीवन-कहानी।

१०. लाल चीन को भावी सोवियत आर्थिक सहायता।

११. संयुक्त राज्यों और संयुक्त राष्ट्र द्वारा लाल चीन को मान्यता न देने के कारण।

१२, लाल चीन संबंधी सरकारी आँकड़े सही करने की समस्या।

१३. लाल चीन में आर्थिक आयोजना का संगठन।

१४. परिवार-एकता की ओर चीन के परंपरागत रवैये के साथ कम्यून का संबंध।

१५. कम्यूनों के गैर-आर्थिक पहलू।

सातवें भाग के अंतर्गत और अध्ययन के लिए सुझाव

आडलर एस०; दि चाइनीज इकोनॉमी, न्यूयार्क, मंथली रिव्यू प्रेस, १९५७ ई०।

ब्राडंट, सी०; ऐंड अदर्स इडस, ए डाक्यूमेंटरी हिस्ट्री ऑफ चाइनीज कम्युनिज्म, कैंब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२ ई०।

बक जे० एल०; लैंड यूटीलाइजेशन इन चाइना, नानकिंग यूनिवर्सिटी, १९३७ ई०।

चाओ के० सी०; इकोनॉमिक प्लानिंग ऐंड ऑर्गेनाइजेशन इन मैंनलैंड चाइना, कैंब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६० ई०।

डीजिलास एम०; दि न्यू क्लास, न्यूयार्क, प्रेइगर, १९५७ ई०।

ड्राकोविच एस० एम०; टीटो, मास्कोज ट्रोजन होर्स, चिकागो, रिजेनरी, १९५७ ई०।

ग्लुकस्टीन वाई०; माओज चाइना, बोस्टन, बीकन, १९५७ ई०।

हुघेज टी० जे०, ऐंड लार्ड डा० ई० टी०; इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ कम्युनिस्ट चाइना, न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९।

मैकविकर सी० पी०; टीटोइज्म : पैटर्न फौर इंटरनेशनल रिवोल्यूशन, लंदन, मैकमिलन, १९५७ ई०।

नील एफ० डब्ल्यू०; टीटोइज्म : इन एक्शन, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, १९५८ ई०।

प्रीडानौफ इ० एस०; टीटोज यूगोस्लाविया, वाशिंगटन, पब्लिक ऐफेयर्स, प्रेस, १९५५ ई०।

रॉस्टो, डब्ल्यू० डब्ल्यू०, ऐंड अदर्स; दि प्रोसपेक्ट्स फौर कम्युनिस्ट चाइना, न्यूयार्क, विली, १९५४ ई०।

स्वचार्टज बी० आई०; चाइनीज कम्युनिज्म ऐंड दि राइज ऑफ माओ, कैंब्रिज, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१ ई०।

टोमासेविच जे०; पीजेंट्स; पॉलिटिक्स, ऐंड इकोनॉमिक चेंज इन यूगोस्ला-

विया, स्टेनफोर्ड, स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५ ई०।

ऊलाम ए० बी०; टीटोइज्म ऐंड दि कोमिनफार्म, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२ ई०।

विंट जी०; कॉमनसेंस अबाउट चाइना, लंदन, जोलेंस, १९६० ई०।

वू वाइ०, ऐन इकोनॉमिक सर्वे ऑफ कम्युनिस्ट चाइना, न्यूयार्क, बुकमैन एसोसिएट्स, १९५६ ई०।

भाग ८

भारत में आर्थिक आयोजना

अध्याय ३१

भारत की आर्थिक आयोजना

भूमिका

विश्व के अर्थतंत्रों के किसी भी तुलनात्मक अध्ययन में ४० करोड़ की आबादी, दुनिया की मानवता के छठे हिस्से वाले देश को शामिल करना ही होगा। आबादी के नाम पर भारत में गैर-साम्यवादी अविकसित दुनिया का लगभग ४० फी सदी रहता है। वह दुनिया का सबसे ज्यादा आबादी वाला लोकतंत्र है। सर्वजनीन वयस्क मताधिकार पर आधारित उसके लोकतंत्रीय मतदाताओं की संख्या १९५२ ई० में १८ करोड़ थी – जो यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, बेलजियम, हालैंड और स्कैंडेनेवियाई देशों की कुल मिली-जुली जनसंख्या के बराबर होती है। इस विशाल देश की आर्थिक अगति का इतिहास लंबा है और कुछ समय पहले तक उसकी आर्थिक संभावनाओं को सुधारने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। दो साल के ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के बाद जब से भारत को राजनीतिक आजादी मिली है, उसके नए लोकतंत्र ने जन्म लिया है और उसके नए नेताओं ने आर्थिक विकास के बुनियादी काम में रुचि ली है। उसने दो पंचवर्षीय आयोजनाएँ पूरी की हैं और तीसरी आयोजना (सन् १९६१–६६ ई०) हाल ही में प्रभावी हुई है। वह अर्द्ध 'विकसित' स्थिति से निकल कर आगे बढ़ने को आतुर है और आर्थिक प्रगति के स्वतः प्रजनक तत्त्वों को पा लेना चाहता है। 'एक देश के' रूप में भारत मुक्त राजनीतिक चयन की दशाओं के अधीन एक औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश में आयोजित आर्थिक विकास का कार्यक्रम चालू करने का परम अवसर प्रदान करता है।'[1]

भारत मानव-सभ्यता की एक प्राचीन स्थली है (अभिलिखित इतिहास २७०० ई० पू० से चलता है)। इसकी धरती का क्षेत्रफल १२,१८,३२७ वर्गमील है। वह पंद्रह राज्यों (अब राज्यों की संख्या बढ़ गई है)† और पाँच केंद्र शासित क्षेत्रों में बँटा

---

[1] जयोफ्री टाइसन, 'इंडिया प्लांस फौर दि सिक्सटीज।' लॉयड्स बैंक रिव्यू, अप्रैल, १९६० ई०।

† कोष्ठक के शब्द हमारे हैं।

है। उत्तर की सीमा पर चीन है और इन दोनों पुराने देशों के बीच हिमालय की विशाल पर्वतमाला है। दोनों ही देश आज तेजी से आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हैं—चीन एकतांत्रिक एकदलवाद के अधीन और भारत एक मुक्त लोकतांत्रिक प्रणाली के अधीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक मानचित्र पर भारत की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। यह पूर्वी गोलार्द्ध के लगभग मध्य में है और पूर्व और पश्चिम के समुद्रमार्गों के बीच वह बड़े ही उपयुक्त स्थान पर है।

पूरा ही प्रायद्वीप भारत उष्ण कटिबंध में आता है, जबकि सिंध-गंगा का मैदान कर्क रेखा के उत्तर में पड़ता है। इस देश की जलवायु में काफी अंतर पड़ता है और भारतीय जनता की आदतों, पोशाकों, तरीकों, पेशों शरीर-लक्षणों तथा रंग तक में बहुत विविधता आ जाती है।

भूगोल की दृष्टि से भारत को तीन प्राकृतिक महाखंडों में बाँटा जा सकता है: (१) उत्तर के पहाड़—हिमालय, जिसमें दुनिया की कुछ सबसे ऊँची चोटियाँ हैं। यह न केवल सुरक्षा की दीवाल का काम करता है, बल्कि दक्षिण-पश्चिमी मानसून के पानी वाले बादलों को रोक कर मैदानों में वर्षा कराता है और सिंधु-गंगा-प्रणाली की नदियों को जन्म देता है। (२) सिंधु-गंगा की प्रणाली हिमालय की तीन नदियों—सिंधु, गंगा और ब्रह्मपुत्र के थाले। अनुकूल जलवायु, उर्वर मिट्टी और समतल स्वरूप के कारण यह मैदान इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण धाराओं की क्रीड़ा-स्थली रहा है। (३) दक्षिण का पठार—समूचा प्रायद्वीप भारत। इसके दो ओर समतल समुद्रतटीय पट्टियाँ हैं और पहाड़ों ने इसे उत्तर से अलग कर दिया है। इस तरह प्रायद्वीपी भारत समुद्र में काफी दूर तक फैला हुआ है।

भारत के बहुभाषी, बहुजातीय, बहु सांस्कृतिक और बहुधार्मिक जीवन का मूलमंत्र विविधता में एकता रहा है। भौतिक एकता में विश्वास के आधार पर भारत ने अपनी जीवन-पद्धति में बहुआयामीय मूल्यों को इतने वर्षों के अनुभव से पिरोया है। आधुनिक भारत में जातीय मिलन और सांस्कृतिक मिलन की जो झाँकी देखने को मिलती है, उसमें इतिहास के विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक तत्त्वों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। द्रविड़, आर्य, मंगोल, शक, हूण, ग्रीक, सेमेटिक, पश्चिम यूरोपीय जैसे ब्रिटिश और फ्रांसीसी सभी तत्त्वों ने कभी-न-कभी इस सामंजस्य में योगदान दिया है, जिसे आज 'भारतीय सभ्यता' कहा जाता है।

भारत की भाषागत और आर्थिक विविधता को अक्सर गलत समझा जाता है। भारत के संविधान में गिनाई गई १३ भाषाएँ राष्ट्रीय भाषाएँ हैं। उर्दू (और सिंधी) को छोड़ कर सभी के सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्र हैं और मोटे तौर पर वहीं राज्यों की सीमाओं के आधार हैं। इनमें से कुछ भाषाएँ बड़ी ही विकसित हैं और

कुछ का इतिहास २००० वर्ष तक पुराना है और कुछ का साहित्य इतना समृद्ध है कि उनको आधुनिक विश्व की प्रगतिशील भाषाओं में गिना जा सकता है। अंग्रेजी भारत में एक महत्त्वपूर्ण दूसरी भाषा है और रहेगी, फिर भी संविधान में व्यवस्था है कि यथासंभव ४० प्रतिशत जनता द्वारा बोली जाने वाली हिंदी को भारत संघ की राजभाषा बना दिया जाएगा।

भारत के बहु-धार्मिक स्वरूप पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। पुराने जमाने से हिंदू धर्म प्रमुख धर्म रहा है। लगभग १००० ईसवी में भारत इसलाम के संपर्क में आया और सोलहवीं सदी में ईसाई धर्म के १९४७ ई० में भारत के विभाजन के बाद अलग पाकिस्तान के एक अलग इसलामी राज्य बन जाने के बाद भी लगभग एक करोड़ मुसलमान भारत में ही बने रहे। इसी तरह ईसाई शासन के (अर्थात् ब्रिटिश राज्य के १९४७ ई० में) समाप्त हो जाने के बाद भी लगभग एक करोड़ भारतीय ईसाई हैं। इसके अलावा आज लगभग ६० लाख सिख, १० लाख से ज्यादा बौद्ध, एक लाख के करीब पारसी और कुछ हजार यहूदी हैं। अधिकांश हिंदू आबादी कुल का लगभग ७५ प्रतिशत—होने के कारण भारत अपने को हिंदू राज्य घोषित कर सकता था, जैसाकि पाकिस्तान ने अपने को इसलामी राज्य घोषित करके किया है। परंतु, उसने धर्मनिरपेक्ष राज्य बनना ठीक समझा। भारत के संविधान के अधीन धर्म, जाति या लिंगभेद के बावजूद सभी नागरिकों को समान अधिकार और समान अवसर मिले हुए हैं।

हालांकि भूगोल की दृष्टि से भारत समुद्र और हिमालय के कारण अलग हो गया है, फिर भी सभ्यता के आरंभिक दिनों से ही बहुत देशों के लोग उसकी ओर आकर्षित हो कर आते रहे हैं। भारतीय जनता की नेहरूजी द्वारा तथाकथित सामाजिक संस्कृति का क्रमशः विकास होता रहा है। राष्ट्र ने अपने अनेक पक्षों के साथ भी अपने सामाजिक व्यक्तित्व का विकास किया है, फिर भी एक स्थायी एकता बनी रही है। जाति, भाषा, संस्कृति और धर्म के आधार वाले समुदायों का कोई भी हिस्सा आज यह दावा नहीं कर सकता कि आज भारत के चित्त और मस्तिष्क का जो स्वरूप है, उसका एकमात्र स्वामित्व उसी का है। आज के भारत में हर हिस्से ने अपना अंशदान दिया है।

राजनीतिक और सरकारी ढाँचा

हमारा संबंध प्रथमतः 'नए' भारत से है—अपनी विविधता और विभिन्नता वाली धरती में भारतीय आज जिस 'नई' अर्थ-व्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं, उस अर्थ-व्यवस्था से। देश के ताजे राजनीतिक अनुभवों और उसके वर्त्तमान राजनीतिक

ढांचे की जल्दी-जल्दी समीक्षा करने में उस संदर्भ का पता चलता है, जिसमें सरकार मोटे तौर पर आर्थिक गतिविधि को आयोजित, कार्यान्वित और सामान्यतः निर्देशित कर रही है।

१९४७ ई० में लगभग दो सौ साल के ब्रिटिश-शासन के बाद भारत आजाद राज्य बना। उन्नीसवीं सदी के शुरू में भारत उप-महाद्वीप में 'पुनर्जागरण' की एक नई हिलोर दौड़ गई थी और राजनीतिक आजादी की आकांक्षा बलवती हुई थी। नए सुविख्यात राजनीतिक दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई थी। पनपती हुई भारतीय राष्ट्रीयता के अगुवा ब्रिटिशों द्वारा शिक्षित शिष्टजन थे, जो बाद में स्वाधीन भारत के नए विचारों के प्रमुख शिल्पी बने। इन आरंभिक नेताओं ने यह माना था कि पहले राजनीतिक आजादी पाए बिना आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती, इसलिए भारतीय जनसमूह की दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए बहुत थोड़ा काम या कुछ नहीं किया। स्वाधीनता के संघर्ष का एक रूप राष्ट्रवादियों के चरम दल द्वारा आतंकवादी आंदोलन का चलाया जाना था। १९२० ई० के बाद के दशक में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व के अधीन भारतीय स्वाधीनता आंदोलन ने एक नए अध्याय में प्रवेश किया। गांधीवादी संघर्ष के प्रमुख अस्त्र थे: सविनय अवज्ञा—ब्रिटिशों द्वारा भारतीयों के लिए बनाया गया कानून तोड़ना और असहयोग (ब्रिटिश स्कूल और विश्वविद्यालय छोड़ना, ब्रिटिश नौकरियाँ छोड़ देना और ब्रिटिश अदालतों का बहिष्कार—ये तीन तरह के बहिष्कार)। वह सत्य और अहिंसा में विश्वास करते थे, वह लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अच्छे साधनों को भी जरूरी मानते थे। १९४२ ई० में गांधी जी ने स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम अध्याय का श्रीगणेश किया। सारा देश उनके आह्वान पर उनके साथ था। दूसरा महायुद्ध खत्म हुआ और ब्रिटिश शासन का अंत हुआ एवं १५ अगस्त, १९४७ ई० को शक्ति ब्रिटिश से भारतीयों के हाथों में आई। भारत एक 'सर्वप्रभु लोकतंत्रात्मक गणराज्य' बना।

तुरंत भारत ने एक लोकतंत्रात्मक संविधान सभा बनाई, जिसने भारत के संविधान की रचना की, जिसे २६ जनवरी, १९५० ई० को उद्घोषित किया गया। संविधान का स्वरूप संघीय है और वह केंद्र सरकार तथा राज्य-सरकारों के बीच शक्तियों के वितरण पर आधारित है। सुरक्षा, विदेश नीति, रेलवे, राष्ट्रीय संचार, मुद्रा, दंड-संहिता आदि में अनन्य शक्ति केंद्रीय सरकार को दी गई है। बहुत सी बातों में उनमें समवर्ती शक्ति दी गई है, जिसमें केंद्रीय सरकार के अभिभावी अधिकार के अधीन रहते हुए राज्य-सरकारें भी कानून बना सकती हैं, राज्यों को इन विषयों में अनन्य अधिकार मिला हुआ है। भूमि पट्टेदारी प्रणाली, वन, सिंचाई, शिक्षा, उद्योग, नगरपालिकाएँ, पुलिस और कानून का प्रवर्तन। भारतीय संविधान केवल सभी

अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्रीय सरकार को देता है, बल्कि अन्य अनेक तरीकों से उसे आपवादित अधिकार प्रदान करता है।

संविधान मोटे तौर पर ब्रिटिश संसदीय पद्धति को लेकर चलता है। कार्यपालक शक्ति यद्यपि नाम के लिए राष्ट्रपति (राज्यों में राज्यपालों) में निहित है, पर उनका प्रयोग प्रधान मंत्री (राज्यों में मुख्य मंत्री) के अधीन एक मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है, जो संयुक्त रूप में अलग-अलग संसद् के प्रति (राज्यों में विधान मंडलों के प्रति) उत्तरदायी है। भारतीय संसद् में दो सदन हैं, निचले सदन को 'लोक सभा' और ऊपरले सदन को 'राज्य सभा' कहा जाता है। कुछ राज्यों के विधान मंडलों में दो सदन हैं और कुछ में एक।

न्याय के परिवर्तन में सत्यनिष्ठा के लिए और कार्यपालिकाओं के संभव अतिचार के विशुद्ध भारत के संविधान की रक्षा के मामले में स्वतंत्र दृढ़ भावना का परिचय देकर भारतीय न्यायपालिका ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। संविधान में एक उच्चतम न्यायपालिका की व्यवस्था है, जिसे सांविधानिक अधिकारों को पालन कराने की शक्ति दी गई है। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की घोषणा को दो भागों में शामिल किया गया है। पहले भाग का प्रवर्त्तन अदालतों द्वारा कराया जा सकता है और इसमें समानता के सिद्धांत पर जोर दिया गया है और यह व्यवस्था है कि राज्य, धर्म, जाति, वंश या लिंग के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ कोई भेदभाव न करेगा। दूसरे भाग में 'राजनीति के निदेशक तत्त्व' दिए गए हैं, जो किसी अदालत द्वारा प्रवर्तनीय तो नहीं हैं, पर देश की सरकार के लिए मूलभूत हैं और जनता के लिए कुछ दीर्घकालीन आर्थिक और सामाजिक लाभों की गारंटी देते हैं।

मताधिकार देने के पहले पढ़ने-लिखने की जानकारी होना जरूरी है कि नहीं, इस परंपरागत चर्चा में पड़े बिना भारतवासियों द्वारा अपने सर्वजनीन वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र का सफलतापूर्वक आरंभ करने के लिए उनकी प्रशंसा करनी ही होगी। स्वतंत्र भारत के पहले आम चुनाव (१९५२ ई०) में एक करोड़ से ऊपर व्यक्तियों ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया, १०,००० से ऊपर उम्मीदवार चुनाव में खड़े हुए और नई लोकतंत्री संस्थाओं—भारतीय संसद् और १५ राज्यों की राज्य विधान सभाओं के लिए ३००० से ऊपर व्यक्ति चुने गए। चुनाव शांति के वातावरण में बड़े सहज रूप में संपन्न हुए, हालांकि वे स्वस्थ राजनीतिक स्पर्धा की भावना में ओत-प्रोत थे।

भारत में दल प्रणाली नई और विकासशील है। तीन प्रमुख राजनीतिक दल ये हैं: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (जिसे कांग्रेस कहते हैं), प्रजा समाजवादी दल और साम्यवादी दल। इनमें से एक भी धर्म या किसी और संकीर्णवाद पर आधारित नहीं

हैं और सभी उद्घोषित सामाजिक-राजनीतिक लक्ष्यों की ओर उन्मुख हैं। काँग्रेस दल, जिनका प्रभावी नेतृत्व (१९४७ ई० से भारत के प्रधान मंत्री) श्री नेहरू के हाथ में मुख्यतः रहा है, अपना विश्वास गांधीवादी सिद्धांतों कल्याणकारी राज्य और अर्थ-व्यवस्था के समाजवादी ढांचे में रखता है। यह दल भारतीय संसद् और राज्य विधान सभाओं में बहुमत रखता है (केरल राज्य की एकमात्र साम्यवादी सरकार का १९५९ ई० में पतन हो गया और फिर वह अगले चुनाव में राज्य में बहुमत न पा सकी)। प्रसोपा और साम्यवादी दल के पास विरोधी दल की लगभग बराबर-बराबर सीटें हैं (राज्यों और संघीय संसद् में मिलाकर)। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रसोपा दुनिया के लोकतांत्रिक समाजवादी दलों के साथ चलना चाहता है और साम्यवादी दल मास्को द्वारा संचालित अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन के साथ संबद्ध है। दोनों में से पिछला ज्यादा बोलता और शोर मचाता है और उसने अपने कार्यकलाप को कुछ विशेष क्षेत्रों तक सीमित कर रखा है, प्रदेशों में भी और काम के बारे में भी। समाजवादी लोकतंत्र में अपने विश्वास की घोषणा करते हैं और इस तरह साम्यवाद का विरोध करते हैं और वे काँग्रेस का भी उसकी पूँजीपतियों की समर्थक और कम क्रांतिकारी नीतियों के कारण विरोध करते हैं। उनके विचार आकर्षक हैं, पर उनका संगठन दुर्बल है, कम फैला हुआ है और अक्सर उसमें मतभेद रहते हैं। प्रसोपा और साम्यवादी दल कोई भी काँग्रेस को बड़ी चुनौती नहीं दे सकते। प्रधान मंत्री नेहरू अब भी बड़े ही लोकप्रिय नेता हैं, काँग्रेस की राष्ट्रव्यापी संगठन-परंपरा है और ७५ सालों के इसके अस्तित्व की पुरानी विरासत भी बड़ी ही समृद्ध है। कुछ छोटे-छोटे दूसरे राजनीतिक दल भी हैं, जो कम-से-कम राष्ट्रव्यापी आधार पर महत्त्वपूर्ण लोकसमर्थन नहीं प्राप्त कर सकते हैं। भारत की आज जो स्थिति है, उससे यह पता नहीं चलता कि भविष्य में राजनीतिक दलों में कुछ वृद्धि हो जाएगी। (भारत के लोकप्रिय प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का स्वर्गवास २७ मई, १९६४ को हो गया और अब भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस भी दो गुटों में बँट चुकी है। इस समय श्रीमती इंदिरा गांधी सत्तारूढ़ काँग्रेस की नेत्री एवं भारत की प्रधान मंत्री हैं)†

भारत की आर्थिक विरासत

भारत को अपने करोड़ों निवासियों के लिए विरासत में जो जीवन-स्तर मिला है, वह दयनीय रूप से कम था। जब १९४७ ई० में भारत ने आजादी प्राप्त की, तो उसके नेतृत्व को सबसे बड़ी चुनौती इस बात ने दी कि उसके अधिकांश निवासी भुखमरी के स्तर पर अपना जीवन-निर्वाह कर रहे थे। नंगे पैरों वालों की भीड़, चिथड़े लपेटे हुए भिखारी हर जगह पर थे और साथ ही बड़े-बड़े महल, निजी बंगले और उसके अवर्णनीय उद्यान, बड़े-बड़े होटल और आधुनिक दफ्तरों की इमारतें—एक विदेशी प्रेक्षक के सामने वह विभिन्नता प्रस्तुत कर देने के लिए दोनों ही चरम सीमाएँ साथ-साथ चल रही हैं। क्या यह सामूहिक निर्धनता और इधर-उधर प्रकट

---

† कोष्ठक के शब्द हमारे हैं।

होने वाले सुव्यक्त विलास-वैभव के लिए ब्रिटिश उपनिवेश शासन को दोषी ठहराया जा सकता है ?

> ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन जाति-प्रणाली एवं जमींदारों और मजदूरों द्वारा किसानों के शोषण के लिए जिम्मेवार नहीं था। उसे इन परिस्थितियों को न बदलने के लिए ही दोषी ठहराया जा सकता है—ब्रिटेन वालों ने देश में शांति-व्यवस्था स्थापित की, सड़कें, रेलें और बंदरगाह बनाए, बैंक स्थापित किए और विश्वविद्यालय खोले। आधुनिक उद्योगों की नींव रखी गई। पर, औपनिवेशक शासन ने स्थानीय रीति-रिवाजों को यथासंभव कम-से-कम बदलने की नीति अपनाई। पश्चिम से प्रभावित आर्थिक खंड भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अधिकांश से अलग-अलग रहा और बाद में पुरातन समाज-प्रणाली के साथ-साथ उसमें भी अगति बनी रही, जबकि पश्चिम के राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था में तेजी से प्रगति होती रही थी।[1]
>
> संक्षेप में ब्रिटेन वासियों ने भारत के आर्थिक विकास का सक्रिय नेतृत्व नहीं किया और वे उसके आर्थिक विकास को प्रेरित कर सकने के लिए टालमटोल करते रहे।

नए भारत के नेताओं को तत्काल इस समस्या का सामना करना पड़ा। शताब्दियों पुरानी अगति को खत्म करने और अपनी अर्थ-व्यवस्था को आगे ले जाना ही आज भारत की जनता और सरकार का लक्ष्य है। उस समय की अर्थ-व्यवस्था जीवन-स्तर सुधारने और शिक्षा एवं चिकित्सा-सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए जरूरी साधनों की व्यवस्था करने में समर्थ थी। भारत के स्वतंत्र राज्यत्व प्राप्त करने के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक तथ्य थी—उसकी बढ़ती आबादी और कम रह जाने वाले खाद्य-संभरण के बीच की भारी खाई। भारत में जमीन की तो कमी नहीं है, पर प्रति व्यक्ति खेतिहर जमीन बहुत ही कम पड़ती है। खनिज, जल और वन-संसाधन—जिनका अधिकांशतः विदोहन नहीं हुआ है—उसकी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में बहुत कम योगदान देते हैं। १९५५ ई० तक उद्योगों की स्थिति विषम थी और भारत के विशुद्ध घरेलू राष्ट्रीय उत्पादन में उसका कुल योगदान २० प्रतिशत से कम था। १९५१ ई० में ६७ प्रतिशत कामगर जनता खेती और खनन में लगी हुई थी और निर्माता उद्योगों में केवल २० प्रतिशत लोग ही स्थान पाते थे। भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष इस्पात की खपत ८ पौंड ही थी, जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह ८६० पौंड और यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) में यह ५२० पौंड है। इस तथ्य के बावजूद स्थिति ऐसी ही थी कि भारत प्राकृतिक संसाधनों में पीछे नहीं है। इस तथ्य के बाव-

---

[1] डब्ल्यू० एस० वोयटिन्सकी; इंडिया द अवेकनिंग जायंट, न्यूयार्क, हार्पर, १९५७, पृष्ठ ५३।

जूद स्थिति ऐसी थी कि भारत में उपयोग्य कच्चे लोहे के संचय लगभग तीन अरब टन या संयुक्त राज्य अमेरिका के निवेशों के तीन चौथाई के करीब हैं। भारत के कच्चे लोहे की किस्म बहुत अच्छी है और उसमें औसत से ६४ प्रतिशत लोहा मिलता है। अंदाज है कि कोयले का संचय ३६ से ६० अरब टन तक है। मैंगनीज, बॉक्साइड, क्रोमाइट, अभ्रक, कच्चे ताँबे, मेगनेसाइट और तीसरे खनिजों के भी काफी बड़े भंडार भारत में हैं। भारत की संभाव्य पनबिजली शक्ति २.७० करोड़ अश्वशक्ति होने का अंदाज है, जो केवल संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर आती है। इस तरह भारत की स्थिति विचित्र रूप से अपार भंडार के बीच अभाव वाली है।

नए भारत को इन समस्याओं का सीधे-सीधे सामना करना पड़ा। काम का सूत्रपात करने, अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न तत्त्वों में तालमेल लाने, समूचे अर्थतंत्र में प्राण फूँक देने, असंतुलन और गतिरोधों को दूर करने तथा आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए तत्काल नेतृत्व की माँग थी। ऐसा नेतृत्व सरकार ने एक राष्ट्रीय आयोजना आयोग बना कर और पंचवर्षीय आयोजनाओं की शृंखला चला कर प्रदान किया। आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास को तेज चाल से चलाने का विचार नेताओं में १९३० ई० के आसपास ही था। सबसे ज्यादा प्रखर नेता श्री नेहरू ने यह ज्यादा अच्छी तरह से समझ लिया था कि (स्वतंत्र भारत की आजादी से १० साल पहले) उन्होंने कांग्रेस दल के अधीन एक गैर-सरकारी आयोजना समिति बनाई थी।

भारतीय आयोजन का सामान्य रूप

भारत की 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था का जन्म भारतवासियों के लोकतंत्र में दृढ़ विश्वास और तेजी से आर्थिक विकास करने की उनकी प्रबल आकांक्षा के कारण हुआ है। इसे 'लोकतंत्रीय साधनों से आयोजित आर्थिक विकास' भी कह सकते हैं। यह उन आर्थिक तरीकों से भिन्न है, जिनके द्वारा दूसरे स्थानों पर आयोजित आर्थिक विकास संपन्न हुआ है। सोवियत संघ और चीन में एकतंत्री तरीका अपनाया जाता है। इस पिछले तरीके से तुरंत आर्थिक सफलता का कारण रहा है : इसमें खपत पर जबरदस्ती रोक और साथ-साथ कुछ तो पूँजी को छीन कर और कुछ बेगार द्वारा उत्पादन में वृद्धि मतदाता को संतुष्ट करने की पद्धति पर आधारित कोई भी लोकतांत्रिक समाज उससे श्रम के लाभों को दशाब्दियों तक नहीं रोक सकता। यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में विकास अबंध निजी उपक्रम की लोकतंत्री प्रणाली के नाम से दुनिया में प्रसिद्ध आर्थिक विकास के तरीके के अधीन हुआ है। भारत ने एकतंत्री तरीका नामंजूर कर दिया। वह अबंध प्रकार के प्रयोग को भी मंजूर न कर सका। यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में जिन परिस्थितियों में यह प्रणाली सफल हुई हैं,

वे आज के भारत से बड़ी ही भिन्न थीं। लोकतंत्री अधिकार और आजादी से सज्जित भारी जनसंख्या और बीसवीं सदी के आय के समान वितरण और कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की प्रेरणा के अधीन बढ़ कर भारत को अपनी आर्थिक गरीबी दूर करने के लिए नए तरीके खोजने पड़े। इस खोज का नतीजा लोकतंत्री साधनों से आयोजित अर्थ-व्यवस्था को मान लेना है।

भारत सरकार के एक संकल्प द्वारा मार्च, १९५० में राष्ट्रीय आयोजना आयोग की स्थापना की गई। पहली पंचवर्षीय आयोजना १९५१ ई० में शुरू और १९५६ ई० में खत्म हुई। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना १९६१ ई० में खत्म हुई। आयोजना आयोग ने तीसरी आयोजना को भी अंतिम रूप दिया, जो १९६१ ई० में शुरू हुई। 'आयोजना' शब्द का प्रयोग करते ही सुदृढ़ बंधनों, विनियमों, श्रम का अनिवार्य संचालन, उद्योगों का जबरदस्ती राष्ट्रीयकरण और व्यक्ति की सामान्य आजादी के हनन की झाँकी सामने आ जाती है। भारतीय आयोजना में ऐसी कोई भी बात देखने को नहीं मिलती। यह प्रायः पूरी तरह से बाजार की अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है; माँग और संभरण के विपणन तत्त्वों में कभी गंभीर हस्तक्षेप नहीं किया जाता। श्रम पर किसी भी प्रकार की कोई विवशता नहीं लादी गई है; मजूरी का फैसला मालिकों और मजदूरों के बीच आपसी बातचीत की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा ही ठीक किया जाता है, लाभ इस पर निर्भर रहता है कि बाजारों में क्या मिलता है।

राष्ट्रीय आयोजना आयोग

भारत सरकार ने एक मंत्रिमंडलीय मंत्री के अधीन राष्ट्रीय आयोजना आयोग की स्थापना की। इसके कार्य-क्षेत्र की परिभाषा इन शब्दों में की गई है :

> भारत के संविधान ने कुछ मौलिक अधिकारों की गारंटी भारतीय नागरिकों को दी है और राज्य नीति के कुछ निर्देशक तत्त्वों को गिनाया है, खास कर राज्य जनता के कल्याण का संवर्द्धन करने का प्रयास करेगा, जिसके लिए वह यथासंभव प्रभावी रूप से एक ऐसी समाज-व्यवस्था का योग क्षेम करेगा, जिसमें न्याय सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—राष्ट्र-जीवन की सभी संस्थाओं में व्याप्त रहेगा और अन्य चीजों के साथ-साथ राज्य अपनी नीति इस तरह रखेगा, जिससे (क) नागरिक, पुरुष और स्त्री सफल रूप से, पर्याप्त आजीविका-साधन पाने के अधिकारी होंगे (ख) समुदाय के राष्ट्रीय संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस तरह से वितरित रहेगा, जिससे सभी का हित-साधन हो सके और (ग) अर्थतंत्र का संचालन इस तरह से

रखा जाएगा, जिससे सार्वजनिक अहित करते हुए धन और उत्पादन-साधन कुछ लोगों में ही केंद्रित न हो जाएँ।[1]

इन अधिकारों का ध्यान रखते हुए और इन सिद्धांतों तथा जनसाधारण के जीवन-स्तर को तेजी से बढ़ाने के सरकार के घोषित उद्देश्य को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय आयोजना आयोग नीचे लिखी बातों के लिए उत्तरदायी है और ऐसा वह देश के संसाधनों का सक्षम विदोहन करके, उत्पादन बढ़ा कर और समुदाय की सेवा में रोजगार पाने का अवसर सभी को प्रदान करके करेगा। (१) वित्त, जनसाधन, कच्चे माल के रूप में देश में उपलब्ध संसाधनों का निर्धारण करना (२) माल और सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों के बारे में राष्ट्र की जरूरतों का अंदाज लगाना (३) देश के संसाधनों का सर्वाधिक प्रभावी और संतुलित उपयोग करने के लिए आयोजना बनाना (४) देश के संसाधनों के उपयोग के बारे में पूर्वताएँ तय करना और आयोजना की प्रगति का समय-समय पर मूल्यन करना।

आयोजना आयोग का संगठन बड़ा लंबा-चौड़ा है। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। लोकतंत्री आयोजना निकाय का ढाँचा पिरामिड की तरह उत्तरोत्तर उत्कर्ष वाला होना चाहिए और आधार बड़ा व्यापक होना चाहिए। अखिल भारतीय स्तर पर संघ सरकार आयोजना के लिए जिम्मेवार है। राज्य-स्तर पर राज्य परिषदें हैं, जिनके अध्यक्ष राज्यों के मुख्य मंत्री हैं। राज्य के नीचे गाँवों को जिला प्रशासन निकायों और समुदाय विकास प्रायोजनाओं के जरिए आयोजना के अधीन लाया जाता है। 'एक लोकतंत्री राज्य में आयोजना एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें हर नागरिक को कुछ अंश में शामिल होने का अवसर मिलना चाहिए', इस बात की घोषणा पंचवर्षीय आयोजना की रूपरेखा में की गई है। भारत में आयोजना दुतरफा प्रक्रिया है। यह नीचे से ऊपर को चलती है और जनसाधारण के विचारों—आदर्शों को व्यक्त करती है और दूसरी ओर यह ऊपर से नीचे की ओर चलती है और पढ़े-समझे नेताओं से जानकारी एवं हिदायतें निरक्षर करोड़ों लोगों तक पहुँचाती है (भारत में साक्षरता लगभग २० प्रतिशत है)। गाँव और जिला-स्तर के सभी संगठनों से सुझाव एवं प्रस्ताव मँगाए जाते हैं। आयोजना के मसौदे की रूपरेखा राज्य और संघ सरकारों द्वारा बनाई जाती है। राष्ट्रीय आयोजना आयोग के इन सबको इकट्ठा करता है और एक समूचा मसौदा तैयार करता है। फिर इस मसौदे को संसद्, प्रत्येक राज्य विधान मंडल, शैक्षिक संस्थाओं और अनेक सार्वजनिक मंचों पर चर्चा के लिए घुमाया जाता है। इन सब चर्चाओं के आधार पर राष्ट्रीय आयो-

---

[1] भारत सरकार, पहली पंचवर्षीय योजना, नई दिल्ली, १९५१, भूमिका।

जना आयोग आखिरी आयोजना को तैयार करता है। उद्योग, वाणिज्य, श्रम, कृषि और दूसरे हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत से संगठनों को आयोजना के मसौदे के बारे में अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। आयोजना आयोग के अनुरोध पर बहुत-सी शैक्षिक संस्थाएँ (विश्वविद्यालय, अनुसंधान ब्यूरो आदि) अध्यापकों और छात्रों के सेमिनार आयोजना के मसौदे का अध्ययन करने के लिए बुलाती है और अपनी टिप्पणियाँ आयोग के पास भेज देती हैं। राष्ट्रीय आयोजना आयोग के काम के साथ सलाहकार मंडल और विशेषज्ञों के पैनल संलग्न रहते हैं, जिनमें अर्थशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्त्ता और सांख्यिकीविद् संलग्न रहते हैं। विरोधी दलों के सदस्य, प्रसिद्ध व्यक्ति और विदेशों के विद्वान व्यक्तियों के साथ अक्सर राष्ट्रीय आयोजना आयोग द्वारा सलाह की जाती है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि भारतवासी राष्ट्र के आर्थिक विकास की आयोजना के बारे में मोटे तौर पर जानते हैं और उन पर चर्चा एवं विवाद करते हैं।

भारत में आयोजना एक बड़ी ही आनम्य प्रक्रिया रही है। आयोजनाओं की समय-समय पर समीक्षा की जाती है और आयोजना की प्रगति की सावधानी से पड़ताल की जाती है। आयोजना में अक्सर सुधारात्मक परिवर्तन भी किए जाते हैं, जो लक्ष्यों और लक्ष्यों के प्राप्त करने के तंत्र दोनों के ही बारे में होते हैं। भारतीय आयोजना में जिस पुरातनवादिता के साथ लचीलापन लाया गया है, वह लोगों को मात्र अवसरवाद लग सकता है; अन्यथा लक्ष्य और तरीकों को आयोजना की असफलता नहीं, तो गलत आयोजना बनाना तो अवश्य कहा जाएगा। फिर भी ध्यान से देखने पर लोगों को विश्वास हो जाता है कि भारत के प्रसंग में लोकतंत्री आयोजना को लचीला होना चाहिए। अक्सर जरूरी आँकड़े या जानकारी नहीं मिलती और आँकड़ों में कुछ चीजें गायब रहती हैं। आयोजक प्रायः दूसरे देशों के अनुभव का ज्यादा आधार लेते हैं और अपने दिमाग से अनुमान भी लगा लेते हैं। इसलिए अक्सर आरंभ की मूल कल्पनाएँ ही भ्रामक पाई जाती हैं; परीक्षण करने पर परस्पर असंगत नतीजे निकलते हैं और प्राप्त अनुभव के प्रकाश में आयोजना को फिर से बनाना जरूरी होता है।

आयोजना के उद्देश्य

भारत में लोकनीति और राष्ट्रीय प्रयास का मुख्य उद्देश्य आजादी के बाद से तेजी से और संतुलित रूप में आर्थिक विकास करना रहा है। पहली पंचवर्षीय आयोजना इस दिशा में एक कदम थी। इस आयोजना में रखा गया विकास-कार्यक्रम अर्थ-व्यवस्था के आधार को पुष्ट करने के लिए था और इसलिए था कि भविष्य में ज्यादा तेजी से प्रगति होने में सुविधा देने के लिए संस्थागत परिवर्तन शुरू कर दिए

जाएं। दूसरी पंचवर्षीय योजना पहली आयोजना में शुरू की जा चुकी प्रक्रिया को आगे बढ़ाना था। इसमें उत्पादन, निवेश और रोजगार में ज्यादा वृद्धि करने की व्यवस्था की गई थी। साथ-साथ आर्थिक और उससे ज्यादा सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अर्थ-व्यवस्था को ज्यादा गतिशील और प्रगतिशील बनाने के लिए जरूरी संस्थागत परिवर्तनों को इसमें और आगे बढ़ाने की व्यवस्था थी। परिवर्तन का आकार और गति—दोनों ही बड़े महत्त्व के हैं।

पहली पंचवर्षीय आयोजना अवधि में राष्ट्रीय आय लगभग १८ प्रतिशत बढ़ गई। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के प्रमुख काम थे (१) राष्ट्रीय आय में और २५ प्रतिशत की वृद्धि करना (२) रोजगार के अवसरों में इतनी दर से वृद्धि करना कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण श्रमिकों की बढ़ी हुई संख्या को आत्मसात् कर ले और (३) उद्योगीकरण की दिशा में बड़ा कदम उठाना, जिससे आगामी आयोजनाओं में ज्यादा तेज प्रगति के लिए आधार बनाया जा सके। राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने अपने पहले आयोजना-प्रारूप में अपना दीर्घकालीन उद्देश्य यह घोषित किया था कि पाँच पंचवर्षीय आयोजनाओं के द्वारा उन्नीसवीं सदी के दशक के मध्य में भारतवासियों के जीवन-स्तर में दूना सुधार कर देना।

प्रायः यह सुझाव दिया गया है कि भारत के आयोजना-उद्देश्य बहुत ऊँचे हैं, कम-से-कम उसके आज के संसाधनों प्रयासों के योजित किए जाने के प्रसंग में। इस मत पर बहस की जा सकती है। भारत में आज के जीवन-यापन-स्तर बहुत ही निचले हैं। आबादी की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उत्पादन अपर्याप्त है और जनसंख्या के काफी अनुपात को स्वस्थ जीवन-यापन सुलभ करने के लिए जरूरी सेवाएं और सुविधाएं प्रदान करने में पहले काफी आर्थिक विकास करना होगा। 'भारत में खाद्य का औसत ग्रहण माने गए पोषण-स्तरों से नीचे हैं; सन् १९५५–५६ ई० में कपड़े की खपत लगभग १६ गज प्रति व्यक्ति है, जो अब भी युद्ध-पूर्व के स्तर के आसपास के हैं; मकानों की बहुत कमी है, और ६-११ आयु वर्ग के केवल आधे बच्चे और ११-१४ आयु वर्ग के एक-बटा-पांच से भी कम बच्चे स्कूल जाते हैं। भारत की लगभग आधी आबादी को काँग्रेस में हर महीने १३ रुपए उपभोक्ता द्रव्यों पर खर्च करने होते हैं। भारत में (यांत्रिक) ऊर्जा की प्रति व्यक्ति खपत संयुक्त राज्य अमेरिका की १/७३ के करीब है और इस्पात की खपत संयुक्त राज्य अमेरिका के स्तर की १/१२२ है।'[1] विकास की गति और भी तेज होनी चाहिए।

भारतीय आयोजक और भारतवासी आमतौर पर यह मानते हैं कि भौतिक समृद्धि में स्तर का बढ़ना अपने-आप में कोई उद्देश्य नहीं है। दूसरी पंचवर्षीय

---

[1] भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, पृष्ठ २५।

आयोजना में इसे ज्यादा अच्छे बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन का एक साधन माना गया था। उद्देश्य यह है कि आर्थिक विकास में समुदाय की उत्पादक शक्ति बढ़े और विभिन्न गुणों तथा इच्छाओं की अभिव्यक्ति एवं माँग गुंजाइश वाले परिवेश की व्यवस्था की जा सके।

इन उद्देश्यों को हाल ही में 'समाज का समाजवादी ढांचा' जैसा कि शब्दावलि में समेटा गया है। 'मुख्यतः इसका मतलब यह है कि प्रगति की दिशा का निर्णय करने के लिए बुनियादी कसौटी निजी लाभ नहीं, बल्कि समाज का फायदा होना चाहिए, और विकास के ढाँचे एवं आर्थिक-सामाजिक संबंधों के ढांचे की आयोजना इस तरह होनी चाहिए कि उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय और रोजगार में ही समग्र रूप से वृद्धि न हो, बल्कि आय और धन के बीच ज्यादा-से-ज्यादा असमानता आ सके।'[1] किंतु, समाज के समाजवादी ढांचे को स्थिर और अचल नहीं मानना चाहिए। उसकी जड़ किसी सिद्धांत या मतवाद में नहीं है, देश अपनी ही प्रतिभा और परंपरा के अनुसार विकसित होता है, ऐसा आयोजकों का कहना है। न यह जरूरी ही है और न वांछनीय ही कि अर्थतंत्र एकाश्म प्रकार का बन जाए। अर्थ-व्यवस्था में राजकीय उद्योग क्षेत्र-विस्तार का भी मतलब यह नहीं होना चाहिए कि निर्णय करने और अधिकार का प्रयोग करने का पूरी तरह केंद्रीयकरण कर दिया जाए। समाजवादी समाज की भारतीय संकलपना मे उत्पादन के राजकीय क्षेत्र के विस्तार की तो व्यवस्था है, लेकिन उसमें उत्पादन के सभी साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व या पूँजीपतियों को अलग कर देना शामिल नहीं है। 'महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दिशा-निदेश की भावना सुस्पष्ट होनी चाहिए, कुछ बुनियादी मूल्यों का हमेशा ध्यान रखना चाहिए और अनुभव के प्रकाश में संस्थाओं तथा संगठनों एवं उनके आचरण-नियमों को अनुकूलित कर लेने के लिए हमेशा उद्यत रहना चाहिए। समाजवादी ढांचे का आग्रह निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने, जीवन-स्तर बढ़ाने, सभी के लिए अवसर की वृद्धि करने, फायदा न उठा सकने वाले वर्गों में उद्यम को बढ़ाने और समुदाय के सभी वर्गों में सझेदारी की भावना पैदा करने पर है।'[2]

भारतीय आयोजना के विभिन्न सुनिर्दिष्ट लक्ष्यों में परस्परविरोध आसानी से खोज निकाला जा सकता है। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में प्रमुख उद्देश्य ये थे : (क) राष्ट्रीय आय में काफी वृद्धि (ख) तेजी से उद्योगीकरण, (जिनमें बुनियादी और भारी उद्योगों पर आग्रह था), (ग) रोजगार के अवसरों में भारी विस्तार और (घ) आय और धन की असमानताएँ कम करना। उद्देश्य (क) उद्देश्य (घ) के बिल्कुल अनु-

---

१. वही, पृष्ठ २२।
२. वही, पृष्ठ २३।

रूप नहीं हो सकता; क्योंकि आय और धन की असमानता बचत और निवेश और फलस्वरूप भावी आय का सर्वविदित स्रोत है। उसी तरह उद्देश्य (ख) और (ग) एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं; क्योंकि बुनियादी और भारी उद्योग अनिवार्यतः पूँजी-सघन होते हैं और इसलिए तत्कालीन रोजगार अवसरों की वृद्धि को कम कर देते हैं। फिर भी अधिकांश आर्थिक प्रबंधों में एक से ज्यादा उद्देश्य हमेशा रहता है। उद्देश्यों के बहुविध होने का मतलब यह नहीं कि वे परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आर्थिक नियंत्रण की समकालीन चर्चा के समय एक अकेले उद्देश्य की जगह उद्देश्यों के मिश्रण की चर्चा करना एक फैशन ही बन गया है। लगता है, भारतीय आयोजकों को इसका खूब पता है।

'समाजवादी ढाँचे' शब्द के प्रयोग का लक्ष्यार्थ यह है कि भारत एक ऐसे समाज को विकसित करने का प्रयास कर रहा है, जो पश्चिमी ढाँचे की अपेक्षा मूलभूत से भिन्न है। वास्तव में समाजवाद की भारतीय संकल्पना सोवियत प्रणाली से मूलभूत रूप से भिन्न है। जब कि रूस में प्रायः समूचे ही अर्थतंत्र में बड़े ही केंद्रीकृत नियंत्रण पर जोर दिया जाता है, भारत में समाजवादी ढाँचे के आयोजन में, सरकार का स्वामित्व और संचालन अपेक्षतया अर्थतंत्र के बहुत थोड़े खंड को लेकर ही होता है। इस सीमित क्षेत्र में भी भारतीय आयोजना संबंधित समस्याओं पर होने वाली राष्ट्रव्यापी चर्चा और प्राप्त हुए अनुभव तथा जनता की माँग के अनुसार, आयोजना में सुधार करने के लिए सरकार का उद्यत रहना, रूसी ढाँचे की अपेक्षा पश्चिमी ढाँचे से ज्यादा पास है। संक्षेप में, भारत ने रूस से आयोजना की तकनीक और शब्दावली ग्रहण की है, पर उसने उसका सर्वग्रासी केंद्रीकरण नहीं अपनाया है।

आयोजना की रूपरेखा

सारणी-१३ में पहली दो पंचवर्षीय आयोजनाओं के लिए राजकीय उद्योग-क्षेत्र (संघ सरकार और सभी राज्य सरकारों द्वारा) कुल विकासीय व्यय को प्रस्तुत किया गया है।

दूसरी आयोजना में अर्थतंत्र के सरकारी क्षेत्र में पहली आयोजना के कार्यक्रम से दूने से भी ज्यादा शामिल किया गया है। आँकड़ों में चालू अनुरक्षण परिव्यय और शुद्ध निवेश भी शामिल हैं। उदाहरण के लिए दूसरी आयोजना में १०.०८ अरब डालर का कुल सार्वजनिक व्यय रखा गया था, जिसमें २.१ अरब डालर चालू परिव्यय और ७.९८ अरब डालर निवेश के लिए थे। सन् १९५१-५६ ई० और सन् १९५६-६१ ई० के आयोजित परिव्ययों के वितरण की तुलना करने से आग्रह में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ता है। पहली आयोजना में कृषि और समुदायों के

सारणी—१३ सरकारी क्षेत्र में विकास-परिव्ययों का प्रयोजनवार वितरण

	करोड़ डालरों में †		प्रतिशत		१९५६--६१ का १९५१-५६ के प्रतिशत के रूप में
	१९५१--५६	१९५६--६१	१९५१--५६	१९५६--६१	१९५१--५६
जोड़	४३४.५	१००८	१००.०	१०.०	२३२
१. कृषि और समुदाय विकास	७५.८	११९.३	१७.५	११.८	१५७
२. सिंचाई और बिजली	११७.९	१९१.७	२७.१	१९.०	१६३
३. परिवहन और संचार	१०४.४	१८६.९	२४.०	२८.९	१७९
४. उद्योग और खनन	३६.३	२९०.९	८.४	१८.५	८०१
५. समाजसेवा और पुनर्वास	८९ २	१९८.५	२०.५	१९.७	२२२
६. फुटकर	१०.९	२०.८	२.५	२.१	१९१

† अमेरिकी डालर सरकारी विनिमय दर (१ रु०=०.२१ डालर) से जोड़े गए हैं।

स्रोत—भारत सरकार, पहली और दूसरी पंचवर्षीय आयोजनाएँ, नई दिल्ली, सन् १९५१, १९५६ ई०।

विकास को तरजीह दी गई थी, जबकि दूसरी आयोजना में उद्योग और खनन के ऊपर आग्रह किया गया है। भारी उद्योग, खासकर इस्पात की रोलिंग मिलों पर इतना ज्यादा जोर दिया गया है कि लगता है कि देश के आर्थिक पुनरुत्थान में उसका योगदान अत्युक्ति की सीमा तक पहुँचा दिया गया है। फिर भी सन् १९५६-६१ ई० में औद्योगिक उत्पादन की आयोजित वृद्धि को पहली पंचवर्षीय आयोजना में इस क्षेत्र में मानी हुई कमी की पूर्ति के रूप में उचित ठहराया जा सकता है। उसमें सरकारी क्षेत्र के परिव्यय में इसका अनुपात मात्र ८.४ प्रतिशत ही था।

सरकारी क्षेत्र के विकास के समानांतर वैसा ही एक विकास-कार्यक्रम निजी या मुफ्त उपक्रम वाले क्षेत्र के लिए भी प्रायोजित किया गया था। इस क्षेत्र में अनुमानों और कार्य-प्रणाली के आयोजन के बहुत से व्यौरे नहीं मिलते। वे कुछ 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था पर निहित विश्वास के ऊपर आधारित हैं—कि सरकारी और गैर-सरकारी दोनों क्षेत्रों से मिला-जुला योगदान मिलता रहेगा। आगे चल कर भारतीय आयोजना के इस पहलू के व्यौरे को लिया जाएगा।

इन विभिन्न क्षेत्रों के समग्र परिव्यय कार्यक्रमों के अलावा प्राप्त करने के लिए ज्यादा व्यौरेवार लक्ष्य भी तय किए गए थे। पहली पंचवर्षीय आयोजना के ये सारे लक्ष्य पूरे नहीं हुए। जहाज-निर्माण, डी० डी० टी०, सुपरफॉस्फेट, अखबारी कागज, रेल डिब्बे और मशीन टूलों के उत्पादन में काफी कमी रही और लोहा-इस्पात प्लांटों की क्षमता बढ़ाने में भी ज्यादा प्रगति न हो पाई। पेनीसिलिन, अमोनियम सल्फेट, केबुल, सीमेंट और टेलीफोन के उत्पादन के लक्ष्य पूरे कर लिए गए या उत्पादन आगे बढ़ गया। सब मिला कर १९५१ ई० की तुलना में १९५६ ई० के औद्योगिक उत्पादन का देशनांक लगभग २२ प्रतिशत ज्यादा था। खाद्यान्न समेत कृषि-उपज और समग्र राष्ट्रीय आय की प्रगति संतोषजनक रही।

दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में उत्पादन-लक्ष्य सभी श्रेणियों के औद्योगिक उत्पादनों के लिए बढ़ा दिए गए थे; वृद्धि की नीचे लिखी प्रतिशत-दरें नमूने के लिए दी जा रही हैं :

७५—१०० प्रतिशत : पिग आयरन, बिजली के केबल, कागज और कागज के गत्ते, बाइसिकिलें और सिलाई-मशीनें।

१०१—१५० प्रतिशत : सेंट्रीफ्यूगल पंप, डिजल इंजन, आटोमोबाइल, रेल-इंजन, बिजली की मोटरें, बिजली के पंखे।

१५१-२०० प्रतिशत : स्ट्रक्चरल इस्पात, सीमेंट, नाइट्रोजन-उर्वरक, सल्फ्यूरिक एसिड, सोडा भस्म, बिजली के ट्रांसफॉर्मर।

२०१-३०० प्रतिशत : तैयार इस्पात, एल्यूमिनियम, मशीन टूल, सीमेंट, मशीनें, कास्टिक सोडा ।

३०० प्रतिशत से ज्यादा चीनी के लिए मशीनें, वस्त्र मशीनें, फॉस्फेट-उर्वरक ।[1]

यह संदिग्ध है कि कुल मिला कर इन विभिन्न दिशाओं में साथ-साथ ये वृद्धि-दरें हासिल की जा सकती थीं, हालांकि अकेले अपने में इनमें से एक भी लक्ष्य असंभव नहीं लगता था ।

विभिन्न क्षेत्रों में विकास का कुल योग समग्र राष्ट्रीय उत्पादनों की वृद्धि में देखा जा सकता है । पहली और दूसरी आयोजना में राष्ट्रीय उत्पादनों की प्रत्याशित वृद्धि सारणी—१४ में बताई गई है :

प्रमुख क्षेत्रों यानी कृषि, खनन और कारखाना-स्थापनों में शुद्ध उत्पादनों के लक्ष्य कुल मिला कर ज्यादातर आयोजना में दे दिए गए और ब्यौरेवार अंगभूत उत्पादन-लक्ष्यों पर आधारित हैं । दूसरे क्षेत्रों में केवल अप्रत्यक्ष अनुमान लगाए जा सके हैं । लगता है, राष्ट्रीय आय सन् १९५५-५६ ई० के रु० १०,८००करोड़ से बढ़ कर सन् १९६०-६१ ई० में (सन् १९५२-५३ ई० के दामों के अनुसार) रु० १३,४८० करोड़ हो गई अर्थात् लगभग २५ प्रतिशत बढ़ी । इसका मतलब है कि प्रति व्यक्ति आय सन् १९५५-५६ ई० की रु० २८१ से बढ़ कर सन् १९५५-५६ में १८ प्रतिशत बढ़ कर रु० ३३१ हो गई, जबकि पहली आयोजना के दौरान में यह वृद्धि ११ प्रतिशत थी ।

आयोजित परिव्यय, प्रायोजित लक्ष्य और राष्ट्रीय आय के रूप में अनुमानित प्रतिफल आयोजना की रूपरेखा को मोटे तौर पर स्पष्ट कर देते हैं । सारणी—१५ से सन् १९५६-६१ ई० में सरकारी क्षेत्र में प्रायोजित विकास कार्यक्रम के लिए वित्तीय आयोजनाएँ प्रकट हो जाती हैं । इस योजना के अस्थायी स्वरूप की जोड़ को चार समरूप बराबर हिस्सों में भली-भाँति वितरित कर देने से पता चलता है कि : (१) बजट स्रोत (आंतरिक राजस्व) (२) भारतीय जनता से उधार (३) घाटे की अर्थ-व्यवस्था जिसका मतलब है कि ऋण और धन-संबंधी संक्रियाएँ और (४) बाह्य स्रोत (विदेशों से उधार और मदद) : इसके बाद भी आयोजित स्रोतों के बीच ८४ करोड़ डालर का अंतर रह जाता है ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि अमेरिकी दृष्टिकोण से बजट की प्राप्तियों से ज्यादा जो भी परिव्यय रखा जाता है, वह घाटे की अर्थ-व्यवस्था है, किंतु भारतीय आयोजना में न तो जनता के लिए गए उधार को और न न्यास में रखी निधियों के

---

[1] वही, परिशिष्ट ११ ।

सारणी १४ : औद्योगिक उद्भव के अनुसार राष्ट्रीय उत्पादन

	(करोड़ रुपयों में १९५२-५७ के दाम)			प्रतिशतक वृद्धि	
	१९५०-५१	१९५१-५६	१९६०-६१	१९५१-५६	१९५६-६१
१. कृषि और संबंधित व्यवसाय	४,४५०	५,२३०	६,१७०	१८	१८
२. खनन	८०	९५	१५०	१९	५८
३. कारखाना	५९०	८४०	१,३८०	४३	६४
४. छोटे उद्यम	७८०	८४०	१,०८५	१४	३०
५. निर्माण	१८०	२२०	२९५	२२	३४
६. वाणिज्य, परिवहन आदि	१,६५०	१,८७५	२,३००	१४	२३
७. व्यवसाय	१,४२०	१,७००	२,१००	२०	२३
८. कुल राष्ट्रीय उत्पादन	९,११०	१०,८००	१३,४८०	१८	२५

स्रोत : भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, पृष्ठ ७३।

सारणी—१५, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में सरकारी परिव्यय को पूरा करने के लिए पैसे के स्रोत।

(करोड़ डालरों में)	
कुल आयोजित सरकारी परिव्यय	१००८.००
१. बजट स्रोत	२५२.००
(क) कर की वर्तमान दरों से	७३. ५
(ख) अतिरिक्त कर	९४. ५
(ग) सरकार के स्वामित्व की रेलें, शुद्ध लाभ	३१. ५
(घ) भविष्य निधि आदि	५२. ५
२. जनता से उधार	२५२. ०
(क) बंधपत्र	१४७. ०
(ख) अल्प बचत	१०५. ०
३, अन्य ऋण और धन-संबंधी संक्रियाएँ (घाटा)	२५२. ०
४. बाह्य संसाधन	१६८.००

सरकार द्वारा रखी जाने वाली कुछ न्यास निधियाँ आदि, जिनका कारबार अपने पास रखते समय उपयोग कर सकता है।

स्रोत—भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, पृष्ठ ७७-७८।

उपयोग को इस रूप में लिया गया है घाटे की अर्थ-व्यवस्था को नपे-तुले अर्थ में लिया गया है और उपर्युक्त सारणी की मद (३) तक ही उसे सीमित रखा गया है। वित्तीय व्यवस्था के सारणी में बताए गए रूप में पर्याप्त होने न होने और उसकी स्फीतिकारी संभावनाओं के बारे में काफी चर्चाएँ हुई हैं। व्यौरों में न जाकर यह कहा जा सकता है कि किसी भी अविकसित देश में लोकतंत्री तरीकों से क्षिप्र आर्थिक विकास की किसी भी आयोजना में इन विकल्पों में से एक का सहारा लेना होगा (क) मुद्रा-स्फीतिकारी दबाव, बढ़े हुए करों और सार्वजनिक उधार कार्यक्रमों के जरिए चालू खपत में बड़ा त्याग और (ग) दूसरे राष्ट्रों की मदद पर निर्भर रहना।

भारत की 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था में निजी उद्योग-क्षेत्र

'निजी' का मतलब गैर सरकारी क्षेत्र से है। जैसा बताया जा चुका है, भारत की 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था में निजी (मुक्त उद्यम) और राजकीय (सरकारी) क्षेत्र के 'मिश्रित' प्रयास की व्यवस्था है। पूरे अर्थतंत्र को दो बड़े क्षेत्रों में बाँट दिया गया है। आयोजना निजी और राजकीय दोनों ही क्षेत्रों के लिए बनाई जाती है।

पहली और दूसरी आयोजना में अर्थतंत्र के विभिन्न व्यौरेवार हिस्सों में सरकारी परिव्यय के बंटन को देखा जा सकता है। राष्ट्रीय आयोजना आयोग का अनुमान है कि निजी स्रोतों से निजी क्षेत्र में दूसरी आयोजना में लगभग २३०० करोड़ रु० के निवेश की प्रत्याशा थी। पहली आयोजना में इस क्षेत्र के लिए जो परिव्यय रखा गया था, उससे यह कुछ ज्यादा है। राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने यह बता सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की है कि इन निधियों के प्राप्त होने के अलग-अलग व्यौरे क्या हैं, केवल निगमों के रूप में गठित फर्मों द्वारा बड़े पैमाने पर किए जाने वाले पूँजी-विस्तार कार्यक्रम के निवेश व्यौरे बताए गए हैं। निगमित उद्योग फर्मों के उपार्जनों के उपनिवेश के लिए उनको नई प्रतिभूतियाँ जारी करनी होती हैं और सार्वजनिक रूप से संगठित औद्योगिक निवेश निगमों की मदद का अंदाज किया गया है। फिर भी इनका जोड़ निजी क्षेत्र में कुल अनुमानित निवेश का एक-तिहाई ही आता है।

यह समझना बड़ा मुश्किल है कि किस प्रकार निजी क्षेत्र की आयोजना प्रभावी बनाई जा सकती है और किस तरह सरकारी अभिकरण इस क्षेत्र के निवेश के ऊपर ठोस अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं, जिससे आर्थिक विकास के लिए समग्र रूप से राष्ट्रीय आयोजना बनाना व्यावहारिक हो सके। परिस्थिति की निकट से छानवीन करने पर ये नतीजे निकलते हैं :

१. सरकारी अधिकारी निजी क्षेत्र के कार्यक्रमों की पूर्ति इन तरीकों से अवांछित निवेशों की कटौती करके करा सकते हैं : (क) निजी उपक्रम के पूँजी निर्गम का नियंत्रण करके, (ख) आयात-निर्यात का नियंत्रण करके; (ग) उद्योगों को लाइसेंस देकर (घ) कर के समंजन और रियायतों से (नए औद्योगिक उपक्रमों की अस्थायी तौर पर कर से विमुक्ति बहुत ही आम बात है), (४) इस प्रयोजन के लिए बनाए गए विभिन्न सरकारी निगमों (जैसे राष्ट्रीय विकास निगम, औद्योगिक वित्त निगम और औद्योगिक ऋण एवं निवेश निगम) के जरिए चुनी हुई वित्तीय मदद देकर।

जिन क्षेत्रों के उद्योगों के विकास को आयोजना के उद्देश्यों के अनुरूप रखने के लिए दो मुख्य साधनों की व्यवस्था (विकास और विनियम) अधिनियम १९५१ ई० द्वारा की गई थी, नामतः व्यक्तिगत उद्योगों के लिए (क) लाइसेंस देना और (ख) विकास-परिषदों का संगठन। वाद के संसाधनों ने अधिनियम के क्षेत्र का विस्तार कर दिया। इस अधिनियम के अधीन लाइसेंस समिति नए निजी उद्यम स्थापित करने और पुरानों का विस्तार करने के अधिकार के आवेदनों की छानबीन करने के हेतु वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय सलाहकार निकाय के रूप में काम करती है। सन् १९५२ ई० से १० 'उद्योग' के विकास-परिषदें बनाई गईं। इनका प्रवर्त्तन सरकार

के द्वारा किया जाता है और निजी उद्योगों के हितों को भी शामिल किया जाता है। निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास में सरकार के मार्गदर्शन के लिए इनका प्रभावी रूप में उपभोग किया जा रहा हे।

२. निजी क्षेत्र में आयोजना ऐसी मार्गदर्शन इकाइयों की शृंखला के जरिए चलाई जाती है, जो संबंधित निजी उद्योगों के प्रतिनिधियों की सहमति और परामर्श से काम करती हैं। ये बताती हैं कि उपलब्ध संसाधनों को किन दिशाओं में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। निजी क्षेत्र के सप्रयोजन मार्गदर्शन में सरकारी अभिकरणों और संबंधित निजी उद्योगपतियों के बीच सक्रिय सहयोग से 'मिश्रित' आर्थिक आयोजना के सफलता से चलाए जाने का प्रमाण मिलता है।

३. देश में अच्छे औद्योगिक संबंध बनाए रखने के लिए विशद् व्यवस्था और श्रम-संबंधी कानूनों एवं औद्योगिक शांति के लिए सरकार की सक्रिय नीति यद्यपि अप्रत्यक्ष प्रभाव है, फिर भी वे निजी क्षेत्र के मामलों के ऊपर अच्छा-खासा सरकारी प्रभाव डालते हैं। फिर भी, सरकार मजदूरों का नियंत्रण सरकार द्वारा प्रवर्त्तित संघ आंदोलन के जरिए नहीं करती है। भारत के मजदूर संघ लोकतंत्रात्मक हैं और स्वाधीन हैं। श्रम-प्रबंध विवाद, हड़तालें और तालाबंदी निजी क्षेत्र में जानी हुई चीजें हैं। पर, सरकार औद्योगिक विवादों के पंच फैसले के लिए विवश कर सकती है और औद्योगिक विवाद के कारण अगर किसी निजी उपक्रम को भारी नुकसान पहुँच रहा हो, तो जरूरी हो, तो वह उसे अपने हाथ में भी ले सकती है।

४. भारतीय आयोजना के इस पहलू को समझने के लिए १९५८ ई० में जारी किए गए भारत सरकार के औद्योगिक नीति-संबंधी संकल्प को देखना जरूरी है। वह आज भी सर्वांगीण राष्ट्रीय आयोजना के अधीन निजी क्षेत्र के कार्यकलाप के संचालन के लिए मुख्य सिद्धांत-सूत्र के रूप में चल रहा है। सरकार उद्योगों को उनके साथ सरकार के संबंध के अनुसार तीन श्रेणियों में रखती है। अनुसूची 'क' में १७ उद्योग आते हैं, 'जिनका भावी विकास राज्य की अनन्य जिम्मेवारी होगी।' इनमें 'सरकारी स्वामित्व' और संचालन सर्वोपरि रहता है। अनुसूची 'ख' में १२ दूसरे उद्योग गिनाए गए हैं, 'जिनको क्रमशः राज्य के स्वामित्व' में लिया जाएगा और इसलिए इनमें नए उपक्रम स्थापित करने के लिए आमतौर सूत्रपात राज्य द्वारा किया जाएगा, पर इसमें निजी उपक्रमों में भी राज्य के प्रयास की अनुपूर्ति की उम्मीद की जाएगी।' बाकी सभी उद्योग तीसरी अनुसूची में आते हैं और 'केवल निजी उपक्रम के लिए' छोड़ दिए गए हैं।

अनुसूची 'क' में ये शामिल हैं। शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद और संबंधित सुरक्षा के साज-सामान, परमाणु ऊर्जा, लोहा-इस्पात की भारी कास्टिंग और फोर्जिंग, लोहा और

इस्पात के उत्पादन के लिए, खनन और मशीन टूल निर्माण के लिए जरूरी भारी संयंत्र तथा मशीनें बड़ी हाइड्रोलिक एवं भाप के टरबाइनों समेत भारी बिजली संयंत्र साज-समान; कोयला और लिग्नाइट; खनिज तेल; लोहा धातुक; मैंगनीज धातुक; जिप्सम, गंधक, सोना और हीरे का खनन; जस्ता, टीन, मोलिबडिनम और वोलफ्राम परमाणु ऊर्जा से संबंधित कुछ खनिजों का खनन और प्रक्रियाकरण; विमान, वायु-यातायात; रेलवे, परिवहन, जहाज-निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ और बेतार; तथा बिजली का उत्पादन एवं वितरण।

अनुसूची 'ख' में कुछ और खनिज आए हैं; एल्यूमीनियम और अनुसूची 'क' में न शामिल की गई अलौह वस्तुएँ, मशीन टूल; लौहमिश्र और टूल इस्पात; भेषजों, रंग-द्रव्यों और प्लास्टिक का उत्पादन करने वाले रसायन उद्योगों के लिए जरूरी बुनियादी और मध्यवर्त्ती उत्पादन; प्रतिजैव और दूसरे अत्यावश्यक भेषज; उर्वरक; संश्लिष्ट रबर; कोयले का कार्बनीकरण; रसायन पल्प; सड़क परिवहन, समुद्री परिवहन।

नीति-संबंधी संकल्प में इस बात पर जोर दिया गया है कि 'उद्योगों को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटने का मतलब' यह नहीं कि उनको अलग सुदृढ़ बंधनों में कसा जा रहा है। नीति लचीली है और अपवादों की अनुमति रही है।

५. इस स्थल पर भारत के अर्थतंत्र के कुछ ढाँचे-संबंधी तत्त्वों पर ध्यान देना संगत होगा। आर्थिक आयोजना के मामले में वे निजी क्षेत्र के ऊपर काफी सरकारी नेतृत्व की गुंजाइश प्रदान करते हैं। ब्रिटिश शासन में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योग जैसे रेलें, टेलीग्राफ, बेतार, टेलीफोन और सुरक्षा-उद्योग सरकारी नियंत्रण में थे और आजाद भारत की सरकार ने यह विद्यमान व्यवस्था विरासत में पाई और इस तरह मोर्चे के स्थल उसके कब्जे में रहे। साथ ही भारत को 'रिजर्व-बैंक' नाम वाला केंद्रीय बैंक भी १९४० ई० के बाद ही पूरी तरह से राष्ट्रीयकृत होने की प्रक्रिया में था। नई सरकार ने सिर्फ यह बातचीत पूरी की और १९४८ ई० में भारत के रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण को पूरा करके अपने सर्वोपरि आर्थिक नेतृत्व को आगे बढ़ा लिया। साथ ही, इस सदी के आरंभ में ही एक आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का सूत्रपात हुआ था, इसलिए भारत के आजादी पाने के बाद वे अग्रसर हो सकने वाले निजी उपक्रम के रूप में फलीभूत नहीं हो सके थे। इसलिए निजी कारबारी हितों ने सरकारी आर्थिक आयोजना के तत्त्वावधान में काम करना ज्यादा सुविधाजनक पाया।

६. जहाँ तक निजी क्षेत्र का प्रश्न है, वस्तुतः यह बता सकना बड़ा कठिन है कि सरकार के हाथ में नियंत्रण की सबसे ज्यादा प्रभावी चाभी कौन सी है। एक अर्थशास्त्री इसे प्रायः एक पहेली ही पाता है कि आयोजना के अधिकारियों ने निजी क्षेत्र के लक्षण किस तरह तय किए। जब हम बड़े पैमाने के उद्योगों की सीमा को

लाँघ कर आगे बढ़ते हैं, तो वह अनिश्चय और भी बढ़ता जाता है। छोटे पैमानों के निजी उद्योगों और देहाती उद्यमकर्त्ताओं के ऊपर नियंत्रण का जाल और भी सूक्ष्म है। सरकार यही कर सकती है कि एक उद्योग या किसी उद्योग वर्ग के लिए, कानून के अधीन बनाए गए कुछ संगठनों के जरिए काम करे। ऐसे संगठन नीचे लिखे प्रकार के साधनों से नियंत्रण और आयोजना के खास लक्ष्यों की पूर्ति कराते हैं: (क) वित्तीय मदद या कम दर वाले कर्ज देना (ख) विपणन की सुविधाएँ देना, (ग) शिल्प-विज्ञानी मदद का वचन देना और (घ) अनुसंधान का मार्गदर्शन देना। भारत संघ के अधिकांश राज्यों में जो राज्य वित्त निगम बनाए गए हैं, वे निगम और अखिल भारतीय खादी और हथकरघा बोर्ड, लघु उद्योग अनुसंधान ब्यूरो से और (अधिकांश) राज्य सरकारों के घरेलू उद्योग विभाग ऐसे संगठनों के उदाहरण हैं। राज्य प्राधिकारियों ने आम तौर पर कम कर लगा कर या सीधे सहायता दे कर और बड़े निजी उद्यमकर्ताओं द्वारा उसी प्रकार की चीजों के उत्पादन की मात्रा पर रोक लगा कर घरेलू और ग्राम-स्तर के छोटे उद्योगों का पोषण किया है। जब हम भारत की बेरोजगारी की समस्या की विशालता और खपत द्रव्यों की तुरंत जरूरत को देखते हैं, तो हमें बड़े पैमाने के उद्योगों के पूरक के रूप में छोटे उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देने की इच्छा हमारी समझ में आ जाती है। बड़े पैमाने के उद्योग पूंजी सघन और श्रम बचाने वाले हैं और न तो वे दूर-दूर के क्षेत्रों में काफी रोजगार ही दे पाते हैं और न तत्काल जरूरत के खपत-योग्य द्रव्य ही पैदा कर पाते हैं।

भारत के अर्थतंत्र के इस क्षेत्र में कठिन समस्याएँ भी हैं। तकनीकी और वित्तीय सहायता की कमी काम करने के लिए उपयुक्त आवास की कमी एवं मरम्मत तथा अनुरक्षण की सुविधाओं का अपर्याप्त होना छोटे पैमानों के उद्योगों की गंभीर बाधाएँ हैं। फिर भी, आयोजना काम कर सकती है और कर रही है। औद्योगिक एस्टेटें[1] और देहाती सामुदायिक कारखाने बना कर सूत्रपात किया गया है, ताकि ये अभाव दूर किए जा सकें। देहाती विद्युत्करण के विस्तार और बिजली के कामगरों द्वारा दे सकने में योग्य कम दाम पर मिलने लग जाने पर काफी मदद मिलेगी। छोटे पैमाने के उत्पादन से संबंधित बहुत से कार्यकलापों की मदद औद्योगिक सहकार संस्थाएँ गठित करके की जाती हैं। इनका मार्गदर्शन और विनिमय सरकार करती है। इस तरह निजी क्षेत्र के दूरवर्ती होने पर भी राज्य के काबू में आ जाते हैं और सरकार उन छोटे लोगों से भी कार्यक्रमों की पूर्ति तथा लक्ष्यों के अनुरूप काम करा

---

[1] ये मिली-जुली सरकारी-निजी प्रायोजनाएँ हैं। सरकार इमारत और सादे साज-सामान किराए पर देती है और देहाती निजी उत्पादक यूनिटें इनको काम में लाती हैं।

लेती है, जिनसे उनकी व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं छुड़ाई जाती, बल्कि जिनको आर्थिक विकास के दिग्दर्शित रास्ते पर चलने में मदद और सहायता दी जाती है।

आयोजना की तकनीक

भारतीय आयोजना के संबंध में काफी साहित्य मिलता है, खास तौर पर जब हम तेजी से आर्थिक विकास करने के लिए प्रयास करने वाले दूसरे अल्प-विकसित देशों से तुलना करते हैं। फिर भी आर्थिक आयोजना की तकनीकों के बारे में कुछ अंदाज करना मुश्किल है। आयोजना की पूर्वताएँ निश्चित करने के मूलभूत अनुसंधान-संबंधी जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। कुछ बुनियादी लेखा व्यवहारों के स्पष्टीकरण भी नहीं मिलते। फिर भी दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के बारे में कुछ सामान्य बातें खोज निकाली जा सकती हैं।

१. आय के विकास की वांछित दर के बारे में सर्वोपरि लक्ष्य पहले तय किया गया था और फिर उस लक्ष्य को पाने के लिए पूंजी निवेश की जरूरतों को इस अनुमान के सहारे जोड़ा गया कि नए निवेश पहली पंचवर्षीय आयोजना के अधीन उतनी ही उत्पादकता करते रहेंगे।

२. यह अनुमान किया गया कि आय पहली आयोजना की विकास-दर की दूनी बढ़ेगी और इस उच्च दर से आय के बढ़ने के प्रसंग में वांछित मात्रा में बचत की रकम मिल जाएगी। इसलिए राष्ट्रीय आय की तुलना में बचत का अनुपात १९५५-५६ ई० के ७ प्रतिशत की जगह दूसरी आयोजना के आखीर तक ११-१२ प्रतिशत तक बढ़ने को था।

३. क्षेत्रों के लक्ष्य विश्वजनीन लक्ष्यों के जोड़ की विसमग्रीकरण प्रक्रिया द्वारा निकाले गए थे।

४. निवेश परिव्यय ढांचा दो अनुमानों पर आधारित था। (क) कि कुल निवेश्य संसाधन अपेक्षित मात्रा में उपलब्ध थे, और (ख) अर्थतंत्र के दूरगामी विकास को विकास की इस स्थिति में भारी उद्योगों पर आग्रह करके और उनकी ओर मोड़ दे कर चालू रखा जाएगा।

५. इस तथ्य की दृष्टि में भारी उद्योग अधिकांश निवेश्य संसाधनोंको तत्काल बिक्री योग्य उत्पादन बढ़ाए बिना ही चट कर जाते हैं, घरेलू और छोटे उद्योगों के विकास के द्वारा उद्योग-द्रव्यों के संभरण में तेजी से विस्तार की व्यवस्था की गई।

६. वित्त की आयोजना में सुदृढ़ आश्वासन के बिना ही दो अनुमान किए गए। पहले का संबंध तो आयोजित सरकारी व्यय और आयोजित आंतरिक राजस्व के तथा विदेशी आर्थिक सहायता की उपलब्धता के बीच के अंतर को बिना व्यवस्था

किए छोड़ देने से हैं। यह भी अनुमान कर लिया जाए कि भारतवासियों को ज्यादा कर देने के लिए और सार्वजनिक छोटी बचत योजनाओं या सरकारी बंधपत्रों में पैसा लगाने के लिए समझा लिया जाएगा, फिर भी आयोजकों ने राजकीय क्षेत्र में कुल परिव्यय के लगभग ८ प्रतिशत को प्रत्यक्षतः बिना कोई व्यवस्था किए छोड़ दिया। एकमात्र स्पष्टीकरण का 'देखा जाएगा' का रवैया। दूसरी सरकारों से बाह्य मदद के उपलब्ध होने की निर्भरता को माना गया था, उस पर जोर दिया गया था और उसे आयोजना में शामिल किया गया था, पर इसका आधार एक अक्लमंदी वाले इस अंदाज से ज्यादा न था कि दुनिया की स्थिति इसकी पूर्ति कर देगी। राजकीय क्षेत्र में आयोजित परिव्यय के लगभग १७ प्रतिशत से ऊपर के लिए वाह्य संसाधनों की प्रत्याशा की गई थी। आयोजना का दूसरा प्रमुख अनुमान था कि घाटे की अर्थ-व्यवस्था के आगे अतिरिक्त और अनुपाती निवेश परिव्यय आ जाएँगे, जिसमें द्रव्यों की उपज बढ़ जाएगी और इससे दाम, मजूरी और लागत का स्तर विकास की प्रक्रिया के आगे न आ पाएगा।

७. रोजगार के बारे में भी आयोजकों ने विश्वजनीन लक्ष्य लेकर फिर क्षेत्र-वार लक्ष्य बनाए थे। प्रत्येक रोजगार पाने वाले व्यक्ति के लिए पूँजी के अनुपात पर ज्यादा प्रकाश नहीं डाला गया था। निहित अनुमान यह था कि अनुपात वही रहेगा, जो पंचवर्षीय आयोजना में था।

भारतीय आयोजना में कृषि

भारत का कृषि पर निर्भर होना सर्वविदित है। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत के कुल श्रम-बल का ७२.४ प्रतिशत (१४.३० करोड़ में से १०.३६ करोड़) खेती में लगा हुआ था, जिसमें मत्स्य-पालन भी शामिल हैं। जनगणना के सभी महिला कामगरों को नहीं जोड़ा गया और अगर इस दिशा में गलती की गुंजाइश को निकाल दिया जाए, तो प्रतिशतक और भी ज्यादा हो जाएगा। भारत सरकार के अनुमानों के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय का ५१ प्रतिशत खेती से आता है। स्पष्ट है कि भारत के आर्थिक विकास का किसी भी आयोजना में कृषि का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। पहली आयोजना में यह बात इससे प्रकट थी कि लोकनिधियों के निवेश का १७.५ प्रतिशत कृषि पर था और सिंचाई एवं बिजली योजनाओं के २७.१ प्रतिशत निवेश में से बहुत कुछ तथा देहाती विकास कार्यक्रमों के लिए किए गए बंटनों में से बहुत कुछ खेती के लाभ के लिए था। कृषि के उत्पादनों में वृद्धि करने को पहले आयोजनाकाल में सर्वोच्च पूर्वता दी गई थी।

दूसरी आयोजना के काल में भी इस आग्रह को कम न किया गया। यह माना गया कि उसमें रखे हुए औद्योगिक विकास के भारी कार्यक्रम का निहितार्थ यह

है कि कृषि-उद्भव के कच्चे माल और खाद्यान्न के उत्पादन को तेजी से भारी पैमाने पर बढ़ाने की जरूरत है। यह भी माना गया कि जिन खेतिहर चीजों की दुनिया में माँग है, जैसे चाय, पटसन, कपास और तेलहन, उनकी ज्यादा उपज करने से उसकी औद्योगिक संभावनाएँ बढ़ती हैं; क्योंकि इससे औद्योगिक साज-सामान के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा मिलने पर प्रभाव पड़ता है।

इस तरह दूसरी आयोजना में भी कृषि को महत्त्व का स्थान दिया गया था और उसमें दो मुख्य उद्देश्य तय किए गए : (१) खेतिहर उत्पादन के रास्ते से वे बाधाएँ हटाना, जो कृषि-ढांचे के स्वरूप के कारण खड़ी होती हैं और (२) उच्च स्तर की दक्षता और उत्पादकता वाली कृषि-अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए अनुकूल स्थितियाँ पैदा कर देना।

पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्रवाई की गई, वह यह थी कि भूधृति-प्रणाली में सुधार किया जाए, बीच के लोगों को हटा दिया जाए (सरकार और कृषकों के बीच में आने वाले बड़े-छोटे जमींदारों की शृंखला को समाप्त कर दिया जाए) और काश्तकारों का सीधा संबंध सरकार के अधिकारियों के साथ जोड़ दिया जाए। दक्षता और उत्पादकता बढ़ाने के लिए ये उपाय किए गए : (क) संगठनों में परिवर्तन; किसानों की सहकारी-संस्थाएँ बनाना, (ख) संसाधनों का वंटन; उपलब्ध खेती योग्य जमीन की कमी की बात मानते हुए जोत की अधिकतम सीमा तय कर देना, (ग) सिंचाई उर्वरकों आदि की व्यवस्था और (घ) व्यावहारिक शर्तों पर ऋण उपलब्ध करना। इन कृषि-कार्यक्रमों के अलावा सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय विस्तार सेवा-जैसे कार्यक्रम भी हैं, जिनका उद्देश्य देहाती जीवन के सारे ढाँचे में क्रांति ला देना है। भारतीय आयोजना के इन पहलुओं पर आगे चल कर विचार किया जाएगा।

भूमि-सुधार कार्यक्रमों की बुनियाद में बीच के लोगों को हटाने का जो कार्यक्रम था, इसके सामान्य ढाँचे के मुख्य तत्त्व ये हैं :

१. ऊसर, जंगल आदि सर्वमान्य जमीनों की, जो मिल्कियत बीच वालों के पास थी, वह प्रबंध और विकास के प्रयोजन से राज्य सरकारों की कर दी गई।

२. बीच वालों के पास जो घरेलू फार्म या उनके द्वारा स्वयं जुताई जाने वाली जमीनें थीं, वे साधारण उनके पास ही छोड़ दी गईं और घरेलू फार्मों के पट्टेदार उनके अधीन काश्तकार बने रहे। अधिकांश राज्यों में बीच वालों के पास अपनी जुताई वाली जो जमीनें थीं या जो उनके घरेलू फार्म में आती थीं, उनके अलावा उनके द्वारा स्वयं जुताई के लिए उनको और कोई जमीन नहीं दी गई।

३. अधिकांश राज्यों में बीच वालों से सीधे जमीन अपने पास रखने वाले मुख्य आभोगी राज्य के सीधे संपर्क में ले आए थे।

कानून बनाने और बीच वालों से जमीन लेने का अधिकांश काम पहली पंच-वर्षीय योजना के दौरान किया गया। बीच के लोगों को करीब-करीब खत्म कर दिया गया है। बागान और शहरी इलाकों के कुछ मामलों को अपवादस्वरूप जोड़ दिया गया। भूधृति के ऊपर राज्यों के कानून लागू होते हैं, जो भारत संघ के सभी राज्यों में एक-जैसे नहीं हैं। किसी भी मामले में बिना उचित मुआवजा दिए बीच वालों का उन्मूलन नहीं किया गया। मुआवजे का तय करना और भुगतान कठिन समस्याएँ थीं। बीच वालों को अपनी समस्याओं से जो शुद्ध आय होती थी, मुआवजे की दर नियमतः उसके गुणकों के रूप में तय की गई। अधिकांश राज्यों में कम आय वाले वर्गों के लिए ज्यादा गुणक दिए गए। बीच वालों के अधिकार हटा देने से राज्य को मिलने वाले लगान की मात्रा बढ़ गई। मुआवजे की वित्त-पूर्ति इस बढ़ोतरी से होती थी। मुआवजा कुछ हालतों में ही नकद दिया गया, पर ज्यादातर बंधपत्रों के रूप में दिया गया, जो हस्तांतरणीय और परक्राम्य हैं और १० से ४० साल तक के समय में चुकाए जाने वाले हैं। इस मुआवजे को तय करने और भुगताने का बहुत सा काम अब भी शेष बताया जाता है। फिर भी दूसरी आयोजना में विधवाओं और बच्चों को तथा छोटे-छोटे जमींदारों को जल्दी भुगतान कर देने की जरूरत को स्वीकार किया गया है।

शुरू-शुरू में कुछ जमींदारों द्वारा कानून की संविधानिक वैधता को चुनौती दिए जाने के कारण इनमें से कुछ कानूनों का अमल में लाया जाना रुका रहा। काफी सारे मामलों में अदालतों ने जमींदारों के अधिकारों की बात मंजूर की। फिर १९५२ ई० में इस गतिरोध को दूर करने के लिए संविधान में संशोधन किया गया। वह बड़ी रोचक बात है कि इस मामले में कोई सार्वजनिक आंदोलन नहीं किया गया। जमींदारों समेत सभी अभिमतों वाले लोगों ने भूमि-सुधार के इस बुनियादी सिद्धांत को स्वीकार किया। कुछ लोग इस मामले को अदालत तक संवैधानिक अधिकारों पर जोर देने के लिए ही ले गए, कानून की भावना को चुनौती देने के लिए नहीं। उन्होंने निष्ठा की भावना से संविधानिक संशोधन को स्वीकार किया। इस बात पर ध्यान देना उचित ही होगा कि सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में बहुत से बड़े-बड़े जमींदार हैं और उन्होंने चालू भूमि-सुधार-नीति तय करने में सक्रिय योगदान दिया। भारत के साम्यवादी दल को छोड़ किसी ने भी मुआवजे के सिद्धांत का विरोध नहीं किया, जिसको संविधान में ही स्थान दिया गया है। राष्ट्रीय संसद और राज्य विधान मंडलों में जो बहस हुई, वह मुआवजे की मात्रा के बारे में थी, सिद्धांत के बारे में नहीं।

बीच वालों को खत्म कर देने से भूधृति की बहुविधता बहुत कुछ कम हो गई है और पहले बीच वालों से जमीन लेने वाले अधिकांशतः काश्तकार अब जमीन के मालिक बन गए हैं। जमीन के इस स्वामित्व के कुछ दायित्व भी जमीन के उपयोग और प्रबंध के बारे में हैं। स्वामित्व की इकाइयों को और छोटे टुकड़ों में बाँटने, तबादले या विभाजन से उनके और छोटे-छोटे हिस्से करने और विद्यमान टुकड़ों के तबादलों विनियमित करने के लिए व्यवस्था करते की जरूरत समझी गई है और इसे कृषि-विकास की दिशा में अत्यावश्यक कदम माना गया है। जमीन के नए मालिकों से यह समझ लिए जाने की उम्मीद की जाती है कि वे समूचे राष्ट्र की आकांक्षाओं और हितों का आदर करेंगे। समूचे राष्ट्र के हितों के अभिरक्षक के रूप में राज्य प्राधिकारी विनियामक शक्तियों का प्रयोग करते हैं। राज्य के सुगठित और अनुभवी नेतृत्व के जरिए आजाद किसानों को दिशा बताने और समझाने के तरीके जबर्दस्ती छीन लेने एवं किसानों को दबाने के एकतंत्री तरीकों को चुनौती दे रहे हैं।

पहली पंचवर्षीय आयोजना में यह सिद्धांत माना गया था कि एक व्यक्ति की अधिकतम जोत की एक सीमा तय की जानी चाहिए। लादी गई अधिकतम सीमा के दो पहलू हैं : (१) आगे जमीन लेने पर सीमा, और (२) विद्यमान जोतों पर सीमा। भविष्य में जमीन लेने पर रखी गई सीमा बंबई राज्य में जमीन के दर्जे के अनुसार १२ से ४८ एकड़ तक है, उत्तर प्रदेश में ३० एकड़ है, दिल्ली में ३० एकड़, बंगाल में २५ एकड़ और मध्य प्रदेश में ५० एकड़। दूसरी आयोजना के काल में सभी राज्यों द्वारा विद्यमान कृषि-जोतों के बारे में अधिकतम सीमा के बंधन लगाए जाने को थे। इन सीमाओं के स्तर तय करने के लिए पहली पंचवर्षीय आयोजना में सुझाया गया था कि क्षेत्रविशेष की सामान्य 'परिवार जोत' के गुणकों को काम में लाना चाहिए। संकल्पना के रूप में परिवार जोत या तो (क) एक काम की इकाई हो सकती है या (ख) जमीन का वह क्षेत्र, जो एक निश्चित आय दे सकता है। प्रगति की भूतकालीन दर से लगता है कि १९६२ ई० तक विद्यमान जोतों की सीमा तय करने वाले कानून सभी राज्यों में बन जाएँगे।

सहकारी खेती की बात बहुत समय से की जाती रही है, पर सफलताएँ नगण्य रही हैं। दूसरी आयोजना के काल में इस बारे में मुख्य काम यह था कि सहकारी खेती के विकास की ठोस नींव रखने के लिए बड़ी जरूरी कारंवाई की जाए, जिससे लगभग १० साल में खेती की काफी जमीन सहकारी आधार पर जोती जाने लगे। सहकारी खेती का अर्थ निश्चय ही भारी जमीन को इकट्ठा करके उसे साझे प्रबंध में ले आना है। इकट्ठा करने के लिए सुझाया गया तरीका नीचे लिखे में से

कोई एक हो सकता है।

१. जमीन का स्वामित्व तो लोगों के पास अलग-अलग रहे, पर जमीन का प्रबंध एक इकाई के रूप में किया जाए और मालिकों को एक प्रकार का स्वामित्व-लाभांश दे कर मुआवजा दिया जाए।

२. जमीन कुछ काल के लिए सहकारी संस्थाओं को पट्टे पर दे दी जाए और मालिकों को तय किया हुआ लगान या कानून द्वारा तय किया गया लगान दिया जाए।

३. स्वामित्व सहकारी संस्था को दे दिया जाए, पर जमीन की कीमत के व्याज वाले प्रमाणपत्र व्यक्तियों को दे दिए जाएँ।

पंचवर्षीय आयोजना के आखीर तक देश में लगभग एक हजार सहकारी संस्थाएँ काम कर रही थीं। उसके बाद से प्रगति अच्छी नहीं रही। फिर भी आयोजक और सत्तारूढ़ दल इन दोनों बातों में अब भी विश्वास करते हैं : (क) जोतों की अधिकतम सीमा तय करना और (ख) सहकारी खेती। यह खुले आम माना गया है कि पहले से 'सीमित प्रतिफल' ही निकलेंगे; क्योंकि लगाई गई सीमा के बाद जो जमीन बनेगी, वह भारत की कुल उपलब्ध जमीन की तुलना में बहुत ज्यादा नहीं रहेगी। मुख्य आशा तो सहकारी खेती से ही है, लेकिन राष्ट्रीय आयोजना आयोग और काँग्रेस दल—दोनों ने इस बारे में धीमी प्रगति पर असंतोष प्रकट किया है।

काँग्रेस दल के एक अधिवेशन में जबर्दस्ती सहकारी खेती कराने के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया गया था। श्री नेहरू ने, जो दल और आयोजना आयोग के मुख्य व्यक्ति थे, इसका समर्थन किया। लेकिन, जबर्दस्ती के सिद्धांत को मंजूर नहीं किया गया। दल के बहुत से सदस्यों ने इसे उन मूलभूत लोकतंत्री सिद्धांतों के विरुद्ध पाया, जिनका भारत समर्थन करता रहा है। फलतः बाध्यकर सहकारी खेती के विचार को छोड़ दिया गया। जबर्दस्ती न की जाए, स्वेच्छा से सहकारी खेती की इकाइयाँ बनाने का काम किसानों पर ही छोड़ दिया जाए।

फिर भी इससे एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सवाल उठता है, जिसे कोई भी आयोजना प्राधिकारी नहीं ठुकरा सकता। अगर कृषि के खंड में आयोजना को जरा भी सफल होना है, तो करोड़ों छोटे किसानों का सहयोग प्राप्त करना ही होगा। भारत की कृषि की दक्षता और उत्पादकता बढ़ाने की दिशा में अलग-अलग काम करके छोटी-छोटी जोतों वाले छोटे-छोटे किसान ज्यादा सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। आधुनिक सिंचाई-प्रणालियों का प्रयोग, वैज्ञानिक उर्वरकों का काम में लाना, खेती का संभव यंत्रीकरण, संभरण खरीदने और फार्मों की उपजों को बेचना—इन सबको छोटे किसान अकेले-अकेले ही नहीं जुटा सकते। भारत ने जमीन का राज्य द्वारा छीन

लिया जाना और किसानों को राज्य फार्मों पर मजदूर बना लेने का विचार नामंजूर कर दिया है। उसने अपने उन करोड़ों किसानों की जिम्मेवारी की भावना और रचनात्मक कल्पना के आधार पर प्रयोग करने का रास्ता चुना है, जिनको उनके द्वारा जोती जाने वाली जमीन का मालिक बना दिया गया है। स्थिति इस समय यह है कि सफलता दिखाई नहीं दे रही है। पर, किसी तरह प्राप्त की ही जानी चाहिए अन्यथा भारत की बड़ी-बड़ी बहुप्रयोजनी नदी-घाटी-योजनाएँ, जो बाढ़-नियंत्रण और सिंचाई दोनों ही उद्देश्य से बनाई गई है, उसके तेजी से बढ़ने वाले उर्वरक-कारखाने, शिल्प विज्ञान और बीज-सुधार के उसके अनुसंधान, राज्य की बैंक-व्यवस्था दूरवर्त्ती प्रदेशों में ले जा कर सस्ती दरों पर देहातों में ऋण दिलाने की उसकी व्यवस्था—इन सबका कोई भी नतीजा न निकलेगा। खाद्य के मोर्चे की दारुण समस्या की यह चुनौती बड़ी विकट है।

हाल में स्वेच्छा से बनाए गए मिले-जुले सहकारी फार्मों पर ज्यादा जोर दिया गया है। तीसरी आयोजना के दौरान हमारे देश में २० लाख एकड़ जमीन को समेटने वाले ऐसे लगभग २०,००० फार्म स्थापित करने की योजना है। इस समस्या का अध्ययन करने वाले एक अभिकरण ने यह सिफारिश की कि दस-दस सहकारी खेती सोसाइटियाँ वाली ३२० मार्गदेशन प्रायोजनाएँ साझी खेती से होने वाले आर्थिक लक्ष्यों का नमूना किसानों के सामने पेश करने के लिए चलाई जानी चाहिए। यह अनुमान लगाया गया है कि अगर सभी उपांत जोतों को साझे के फार्मों में बदल दिया जाए, तो खेतों की उपज प्रायः ३० प्रतिशत बढ़ जाएगी।

सामुदायिक विकास प्रायोजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा

सामुदायिक विकास प्रायोजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा भारत के कृषि-खंड को विकसित करने में लगी हैं। भारत के फार्मों का जबर्दस्ती 'सामूहिकीकरण' या 'समुदायीकरण' का चूँकि कोई सवाल नहीं उठा है, इसलिए देहाती अर्थ-व्यवस्था में पुनर्जीवन लाया जा सकता है और स्वयं किसानों के सहयोग से खेतों की उपज बढ़ायी जा सकती है। लेकिन यह कैसे हो ? सिंचाई और भूमि-सुधार जैसे तकनीकी उपाय तब तक कारगर नहीं होंगे, जब तक किसान उसका लाभ न उठाएँ। सभी बातों पर विचार करने से यह नतीजा निकलता है कि देहाती नीति का मूल तत्त्व अब इसी में निहित है कि खेतों के 'छोटे आदमियों' का रवैया बदल दिया जाए। 'व्यक्ति और समूह की उन्नति के लिए सप्रयोजन प्रयास' के बारे में उसके रवैये को बदलना होगा। सामुदायिक विकास प्रायोजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा द्वारा किए जाने वाले काम नहीं हैं, बल्कि जनता के कार्यक्रम हैं। सरकार का

काम प्रेरणा देना और सूत्रपात कराना है। कार्यक्रम का लक्ष्य है कि गाँव के किसानों के वैयक्तिक प्रयास उनके सर्वमान्य कल्याण की दिशा में मोड़ दिए जाएँ।

दूसरी आयोजना में कृषि-कार्यक्रमों के तीन पहलुओं पर जोर दिया गया। पहले तो सामुदायिक विकास प्रायोजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा सघन प्रयास के क्षेत्र बनाए जाने थे, जिसमें सरकार के विकास-अभिकरण मिलजुल कर न केवल खेतिहर उपज बढ़ाने के लिए, बल्कि देहाती जीवन के सभी पहलुओं का सुधार करने के कार्यक्रम के अभिन्न अंग के रूप में समुदाय द्वारा सहयोजित आयोजना में एक टीम की तरह काम करते हैं। फिर सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए जो स्थानीय व्यक्ति मिलजुल कर आते हैं, उनको अपने लिए नवजीवन का निर्माण करने में मदद दी जाए, यह भी इसका एक दूसरा तरीका है। फिर इस आंदोलन के क्षेत्र में सभी देहाती परिवारों, खासतौर पर 'अल्प विशेषाधिकारप्राप्त' लोगों को समेट लिया है, ताकि वे सहकारी आंदोलन और जीवन के दूसरे क्षेत्रों में अपना प्राप्य स्थान पा सकें।

प्रायोजना में कार्य की इकाई विकास 'खंड' है, जो आमतौर पर १५० से १७० वर्गमील तक के इलाके लगभग १०० गाँवों को लेता है, जिनकी कुल देहाती आबादी मिलाकर ६०,००० या ७०,००० के करीब होती है। खंड की आयोजना इस तरह बनाई जाती है कि उसकी कोई जगह मुख्यालय से दस मील से ज्यादा दूर नहीं होती और एक प्रखंड विकास अधिकारी (बी० डी० ओ०) के कार्यभार के अधीन होता है। हर खंड में प्रशिक्षण अधिकारियों का एक वर्ग रहता है : एक खेती के लिए, दूसरा पशुपालन के लिए, भूमि सुधार, सिंचाई, कुओं की खुदाई, स्वास्थ्य और स्वच्छता, कल्याण, शिक्षा तथा मनोरंजन सहकारिता एवं हस्तशिल्प के प्रशिक्षण के लिए। स्थानीय हालतों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बीज के विकास के लिए एक प्रयोग केंद्र, एक औषधालय केंद्र, एक पशुचिकित्सा केंद्र और पशु-प्रजनन केंद्र बनाए जाते हैं। हर पाँच गाँवों के लिए विशेष विकास-परिषदें चुनी जाती हैं और हर ऐसे समूह के लिए एक ग्रामसेवक (वी० एल० डब्ल्यू०) नियुक्त किया जाता है। ये सामुदायिक परिषदें स्थानीय विकास-योजना पर बहस करती हैं और उसको तैयार करती हैं एवं सरकारी अधिकारी उसकी मदद के लिए तत्पर रहते हैं।

पाँच गाँवों वाली विकास-परिषदों के ऊपर एक खंड-परिषद् बनाई जाती है, जो लगभग सौ गाँवों के समूचे खंड के लिए होती है। तीन ऐसे खंडों से मिलकर एक पूरी प्रायोजना बनती है, जिसके लिए एक सामान्य प्रायोजना विकास-परिषद् चुनी जाती है। एक राज्य की ऐसी सभी प्रायोजनाओं को राज्य-मंत्रालय के जरिए सहयोजित किया जाता है। राज्य-स्तर पर एक विकास-परिषद् चुनी जाती है, जो

राज्य मुख्य मंत्री के पदेन सभापतित्व में काम करती है। अखिल भारतीय स्तर पर केंद्रीय परिषद् इस बारे में सभी राज्यों के कार्यकलाप को सहयोजित करती है।

देहाती योजनाओं की आयोजना और पूर्ति में जनता का सहयोग इस आंदोलन का मूल मंत्र है और इस बारे में बड़े अच्छे नतीजे निकले हैं। सामुदायिक विकास प्रायोजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा में जनता ने जो योगदान दिया है, उसका मूल्य लगभग उतना ही है, जितना इसके लिए सरकार ने खर्च किया है। हाँ, जनता का योगदान अक्सर किस्म के रूप में होता है, जैसे श्रमदान के घंटे और या स्थानीय रूप से पैदा किया गया कच्चा माल या लोगों द्वारा वहीं पर तैयार किया गया माल। पर, नकद भी थोड़े से चंदे दिए गए हैं।

सामुदायिक विकास प्रायोजना और राष्ट्रीय विकास सेवा कि काम में अंतर है। पिछली सेवा पहले की तैयारी के रूप में काम करती है। राष्ट्रीय विस्तार सेवा मार्गदर्शी और शिक्षात्मक पहलुओं पर जोर देती है, जब कि सामुदायिक विकास प्रायोजना ठोस और स्थानीय विकास के लिए काम करती है। देहाती विकास की ये आयोजनाएँ भारत के देहाती आर्थिक विकास की एक कुंजी ही हैं। लोकतंत्री आयोजना की प्राणवत्ता के वे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। आज तक किसी देशी आलोचक ने या पश्चिमी देशों के या लौह आवरण वाले (साम्यवादी) देशों के किसी भी विदेशी आलोचक ने भारतीय आयोजना के इस पक्ष की सराहना न की हो, ऐसा नहीं हुआ है, फिर भी समस्या आसान नहीं है। आयोजक हमेशा यह याद रखते हैं 'यह समस्या—देहातों में रहने वाले सात करोड़ परिवारों का दृष्टिकोण बदल देने की है और उनमें नए ज्ञान एवं नई जीवन-पद्धति के लिए जोश भर देने तथा उनमें ज्यादा अच्छे जीवन को बिताने और उसे पाने के लिए काम कराने की इच्छा एवं आकांक्षा का मंत्र फूंक देने की है।'[1]

उद्योग

भारत की पंचवर्षीय आयोजनाओं का औद्योगिक स्वरूप ही उनकी ओर बाहर की दुनिया का ध्यान आकर्षित करता है। खेती की और अन्य देहाती विकास योजनाएँ, जो भारत के उप महाद्वीप में बहुत समय से चलती रही हैं, अब संगठनात्मक दृष्टिकोण निश्चय ही ज्यादा महत्त्वाकांक्षी है—सघन और व्यापक दोनों रूपों में—पर बुनियादी विचार वहीं हैं, जो पहले भी थे। उद्योग के मामले में बात नई भी है और भिन्न भी। यहाँ पर चीजें तेजी से आने को बढ़ रही हैं और आज तक हुई सफलता से भारतीय जनसमूह की कल्पना में जोश आया है एवं दुनिया सम्मान के साथ उसकी ओर ध्यान देने लगी है।

---

[1] भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, पृष्ठ २४५।

पहली आयोजना में उद्योग की ओर ज्यादा जोर नहीं दिया गया था। राजकीय उद्योग-क्षेत्र के परिव्यय का केवल ७.६ प्रतिशत ही इसमें लगाया गया था, हालांकि उद्घोषित उद्योग-नीति के अधीन सभी बुनियादी और भारी उद्योग राजकीय क्षेत्र में ही आते हैं। उद्योगों की प्रगति पहली पंचवर्षीय आयोजना के दौरान संतोषजनक लगती है, अगर उसके केवल औद्योगिक उत्पादन के देशनांक में हुई वृद्धि से ही परखा जाए। पर अगर उद्देश्यों, पूर्वताओं और क्षमताओं तथा अपेक्षित उत्पादन के स्तरों की पृष्ठभूमि में देखा जाए, तो सफलता एकरूप से संतोषजनक नहीं रही है। उर्वरक, रेलवे, इंजिन, टेलीफोन-उद्योग, रेलवे-कोचें, केबुल और पेनीसिलिन के मामलों में प्रगति संतोषजनक रही। मशीन टूल, सीमेंट, कागज और सुपरफॉस्फेट में खास कर कमी रही। लोहे और इस्पात के संयंत्रों का निर्माण करने में हुई देर ज्यादा ध्यान खींचती है। निजी उद्योग-क्षेत्र में नई प्रायोजनाओं में अदल-बदल और आधुनिकन के अनुमानित कुल खर्च में करीब पाँचवें हिस्से की कमी रही। इस क्षेत्र में सबसे ज्यादा निवेश सूती मिलों, लोहे और इस्पात तथा पेट्रोल की सफाई में लगाया गया।[1] मोटे तौर पर निजी निवेश में कमी ऐसे उद्योगों में रही, जिनमें भारी पूंजी निवेश की जरूरत थी और तुलना में कम लाभ की गुंजाइश थी।

पहली आयोजना को देश के बड़े पैमाने पर विकास की तैयारी के रूप में माना गया था। दूसरी आयोजना में उद्योगीकरण की ओर एक निश्चित मोड़ आया। राजकीय क्षेत्र के उद्योगों (खनन को शामिल करके जिसे भारत की सभी आयोजनाओं में इस श्रेणी में गिना जाता है) पर अनुमानित परिव्यय कुल के १८.५ प्रतिशत तक पहुँच गया। लोहा-इस्पात के विस्तार को सबसे ज्यादा पूर्वता दी गई है; क्योंकि किसी दूसरे औद्योगिक उत्पादन की तुलना में इनके उत्पादन का स्तर कहीं ज्यादा अच्छे रूप में पूरी अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की तेजी को अंकित करता है। भारत में दूसरे अधिकांश इस्पात पैदा करने वाले देशों की तुलना में कम लागत पर लोहा-इस्पात पैदा करने के लिए परिस्थितयाँ ज्यादा अनुकूल हैं। लोहा धातुक और मैंगनीज के अपार भंडारों के होने और कोकिंग कोयले के पर्याप्त मात्रा में मिलने से भारत बड़े ही तर्कसंगत रूप में इस उद्योग का विस्तार करना चाहता है। तीन नए इस्पात-संयंत्र दूसरी आयोजना के स्तंभ रहे हैं।

इस उद्योग के विकास के ब्यौरे महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत से प्राकृतिक संसाधन और सस्ते मजदूर तो उपलब्ध हैं, पर भारत के पास तकनीकी 'ज्ञान' नहीं है। भारत

---

[1] भारत सरकार ने दो पहले से विद्यमान इस्पात-मिलों को निजी खंड में बने रहने देने के लिए अपनी घोषित औद्योगिक नीति में में फेर-बदल कर लिया।

ने इस बारे में मदद के लिए हमारे देशों की ओर देखा। तीन इस्पात-मिलों के खड़े करने का प्रबंध किया गया—एक रूस वालों की तकनीकी मदद से, एक ब्रिटिश मदद से और तीसरा पश्चिम जर्मनी की मदद से। भारत सरकार ने अपनी घोषित औद्योगिक नीति बदल दी, जिससे निजी उद्योग के क्षेत्र में विद्यमान इस्पात-मिलें बनी रह सकें और अपना विस्तार कर सकें। ये हैं टाटा आयरन स्टील (टिस्को) और इंडिया आयरन स्टील (इस्को), जिनका आधुनिकन और विस्तार अमेरिकी नीति की सहायता और पुर्नर्निर्माण तथा विकास के अंतर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा दिए गए ऋण से पूरा किया गया है। अमेरिकी सरकार राजकीय क्षेत्र के तीन में से किसी इस्पात-कारखाने में मदद देने से हिचकती रही है। इससे इस बुनियादी उद्योग में अमेरिकी योगदान सीमित रहा है। प्रसंगतः रूस द्वारा बनायी गई इस्पात-मिल का सबसे ज्यादा प्रचार हुआ है। भारत का इस्पात-उद्योग आगे बढ़ रहा है और हाल में अंतर्राष्ट्रीय बैंक के दौरा-दल को पता चला कि उसकी इस्पात-आयोजनाएँ आर्थिक दृष्टि से ठोस हैं। अब कुछ भारतीय इस्पात यूरोप के बाजारों में भी जाने लगी है।

लोहा-इस्पात-कारखाने के बाद भारी इंजीनियरी और भारी रसायन-उद्योगों का पनपना एक स्वाभाविक बात है। नाइट्रोजन उर्वरकों की उत्पादन-क्षमता विस्तार को अपनी पूर्वता दी गई है। देश के आर्थिक विकास में कृषि-कार्यक्रम को ऐसा बुनियादी महत्त्व देने की जरूरत को समझते हुए ही ऐसा किया गया। निर्माण-सामग्री के रूप में लोहा-इस्पात के बाद सीमेंट का स्थान है और इसलिए उसे बड़े महत्त्व का स्थान दिया गया है।

राजकीय क्षेत्रों की तरह लोहा और इस्पात निजी क्षेत्र की औद्योगिक प्रायोजनाओं में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, हालांकि एल्यूमिनियम और फैरो-मैंगनीज प्रायोजनाओं का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। ऊष्मसह उद्योगों का विस्तार-कार्यक्रम मुख्यतः लोहे और इस्पात के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। फिर स्वभावतः भारी और हल्के इंजीनियरी उद्योगों के लिए काफी प्रायोजना का प्रश्न है। निजी क्षेत्र की प्रायोजना में फिर औद्योगिक मशीनों, बिजली की मोटरों और ट्रांसफार्मरों के उत्पादन में विस्तार की व्यवस्था है (ये हैं सूती वस्त्र, पटसन वस्त्र, चीनी, कागज और सीमेंट की मशीनें) चाय साफ करने, दुग्धशाला का साज-सामान, कुछ कृषि-मशीनें जैसे ट्रैक्टरों के लिए टेलर और सड़क बनाने की मशीनों के निर्माण में भी प्रगति करने की व्यवस्था है। ज्यादा चाल वाले भारी डीजल इंजिनों और बिजली से चलने वाली ऊपर की ओर गादे की किनारों वाली केंद्रों के निर्माण के लिए भी इंतजाम किए गए हैं। इनमें से अधिकांश उद्योगों में विदेशी तकनीकी मदद की जरूरत होती है और जरूरी व्यवस्था की जा रही है। रसायन-उद्योग में सोडा

भस्म, कास्टिक सोड़ा, फास्फेट, उर्वरक और रंग द्रव्यों को निजी क्षेत्र के कार्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। खनिज तेल, बिजली और औद्योगिक तेल, बिजली और औद्योगिक अलकोहल, प्लास्टिक और सांश्लेषिक ढलाई पाउडरों को भी ध्यान में रखा जा सकता है। उपभोक्ता ट्रक क्षेत्र में कागज, चीनी, वनस्पति, तेल, सूती वस्त्र और औषधियों को विशेष स्थान दिया गया हैं।

निजी क्षेत्र में भारत की औद्योगिक आयोजना की चर्चा करते समय तीन संस्थाओं का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए : (१) भारत का औद्योगिक वित्त निगम (२) भारत का औद्योगिक ऋण और निवेश निगम और (३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम। इनमें से प्रत्येक का निर्माण संसद् के कानून से किया गया और प्रत्येक को भारत सरकार के निदेशन एवं मार्गदर्शन के अधीन रखा गया है। प्रत्येक को प्रत्यायोजित की गई शक्तियों के क्षेत्र में अपने दैनंदिन काम में प्रत्येक भारत सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त है। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम मूलभूत रूप से एक विकास निगम है—इसका प्रथम उद्देश्य नेतृत्व का व्यावहारिक उदाहरण देकर निजी क्षेत्र को प्रेरित करना है। यह निजी क्षेत्र में नमूने के संयंत्र लगाता है और प्रत्येक को तब तक चलाता है, जब तक वह लाभ न देने लगे, और तब उसे निजी उपक्रम को बेच दिया जाता है। बाकी दोनों निगम वित्त निगम हैं, जिनका उद्देश्य निजी उद्योगों को दीर्घकालीन आधार पर कर्ज देना है, किसी निजी उद्योगपति या वर्ग द्वारा किसी वांछनीय उद्योग के लिए भेजी गई किसी ठोस योजना को इन निगमों द्वारा वित्तीय मदद मिल सकती है। अधिकांश राज्य सरकारों ने भी राज्य-स्तर के वित्त निगम के राष्ट्रीय निगम तरह के ही, बनाए हैं, जिससे निजी उद्योगों को कर्ज दिए जा सके। ये अभिकरण सफल रहे हैं और ये संक्रियाएँ भारत की औद्योगिक आयोजना में निजी और राजकीय क्षेत्रों के बीच की अन्यथा न दिखाई पड़ने वाली कड़ियों को स्पष्ट कर देती हैं।

ग्रामोद्योग और छोटे उद्योग अपने विभिन्न पहलुओं के साथ आर्थिक ढाँचे और राष्ट्रीय आयोजना की योजना दोनों के अभिन्न अंग और सतत् जारी रहने वाले तत्त्व रहे हैं। हम पहले बता चुके हैं कि ग्रामोद्योग और छोटे उद्योग बड़े पैमाने के निगमित उपक्रमों के पूरक हैं। पिछले उद्योग आगे की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद खड़ी करते हैं, तो पहले उपभोग द्रव्यों के संभरण के आज के भारी अभाव को पूरा करने के लिए काम करते हैं। ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों की दिशा में उठाए गए महत्त्वपूर्ण कदम ये हैं :

१. भारत सरकार द्वारा ग्रामोद्योगों के विकास के लिए अलग पैसा निश्चित कर दिया जाना।

२. हथकरघा-उद्योग, खादी (हाथ से बुने वस्त्र), और ग्रामोद्योग, हस्तशिल्प, रेशम और नारियल की जटा-उद्योग की समस्याओं को निपटाने के लिए कुछ अखिल भारतीय मंडल बनाना।

३. भारत सरकार द्वारा सिद्धांततः यह नीति मान लेना कि कुछ श्रेणियों के खुदरा भंडार अपनी चीजें केवल ग्रामोद्योगों और लघु उद्योगों से ही खरीदेंगे और बड़े पैमाने के उद्योगों के ऊपर ग्रामोद्योगों एवं लघु उद्योगों को अनुकूल विशेषक मूल्य देने की नीति।

४. संबंधित बड़े पैमाने के और लघु उद्योगों के लिए समान उत्पादन-आयोजना तैयार करना। उत्पादन-क्षेत्र को रक्षित रखना, बड़े पैमाने के उपक्रमों की क्षमता में विस्तार करना, बड़े पैमाने के उद्योगों की संबंधित चीजों पर एक शुल्क या आबकारी शुल्क लगा देना और कच्चे माल, साज-सामान तथा तकनीकी एवं वित्तीय मदद छोटी इकाइयों के लिए जुटा कर निश्चित कदम उठाने-जैसे उपाय इन समान आयोजनाओं के लिए किए जाते हैं।

५. ग्रामोद्योगों और लघु उद्योगों के विकास के लिए औद्योगिक 'संपदाओं' (एस्टेटों) और औद्योगिक सहकारी सभाओं के बनाए जाने पर जोर देना।

६. विपणन-अनुसंधान के लिए व्यवस्था करना; क्योंकि इससे ग्राम-स्तर पर उत्पादन कार्यक्रमों को रूप देने और उचित मोड़ देने के लिए ज्ञान और जानकारी प्राप्त होती है।

७. राज्यों से उनको 'उद्योगों को राज्य सहायता' अधिनियमों के अधीन यह अपेक्षा करना कि वह ग्रामोद्योगों और छोटे उपक्रमों को मदद देगी। भारत के रिजर्व बैंक (भारत का संघीय रिजर्व बैंक) और स्टेट बैंक ऑफ इंडिया (भारत का एकमात्र राज्य-क्षायत वाणिज्यिक बैंक) ग्रामोद्योगों और लघु उद्योगों की वित्तीय योजनाओं को स्वीकृत करने में एक भारी भूमिका निभाते हैं।

भारत की औद्योगिक आयोजना के बिखरे अंगों को जोड़ कर इकट्ठा करना अक्सर कठिन हो जाता है। पहले तो राजकीय और निजी उद्योग-क्षेत्र बहुत कुछ लचीले ढांचे के आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं, जो औद्योगिक नीति संकल्प के बुनियादी सिद्धांतों के अनुकूल है। निजी उद्योग-क्षेत्र में दो उपखंड हैं: (क) बड़े पैमाने का,

आधुनिकीकृत 'संगठित' (अर्थात् निगमित) उपखंड और (ख) छोटे पैमाने का, परंपरा की ओर उन्मुख, ग्राम-स्तर पर और 'अ-संगठित' उपखंड। दोनों को साथ-साथ चलाना हँसी-खेल नहीं हैं और भारतीय आयोजना में इस जटिल काम की ओर ध्यान दिया गया है। अक्सर एक क्षेत्र दूसरे के समताल में काम नहीं करता या उपखंड दूसरे के विरोध में जाता है। बिगड़े हुए या खराब हुए संबंधों को जोड़ने के लिए अक्सर समितियाँ और या उप-समितियाँ बनाई जाती हैं। अगर आयोजना बनानी है, और लोकतंत्री ढंग से, तो काम में परस्पर सहयोग की आयोजनाएँ चलने के रास्ते खोजने के लिए आपसी चर्चाएँ और बातचीत निश्चय ही मदद दे सकती हैं।

सिंचाई और बिजली

भारत की पंचवर्षीय आयोजनाएँ व्यापक क्षेत्र के लिए बनाई गई हैं। आर्थिक कार्यकलाप के अलावा वे शिक्षा, वैज्ञानिक और शिल्प वैज्ञानिक अनुसंधान, स्वास्थ्य, समाज-कल्याण सेवाएँ और पिछड़े वर्गों का कल्याण आदि को भी लेती हैं। निश्चय ही इनका महत्त्वपूर्ण आर्थिक अभिप्राय है। उद्योग के दो अतिरिक्त क्षेत्रों पर भी ध्यान देना होगा (१) सिंचाई और बिजली तथा (२) परिवहन और [illegible]र।

सिंचाई और बिजली पर पहली आयोजना में अनुमानित सरकारी परिव्यय का २७.१ प्रतिशत रखा गया और दूसरी आयोजना में १९.० प्रतिशत। इसमें देहातों में बिजली लगाना, और बहुद्देश्यीय सिंचाई और बिजली प्रायोजनाएँ शामिल हैं। भारत में उपलब्ध कुल नदी-पानी-संसाधनों का अनुमान एक फुट गहरे १३५.६० करोड़ एकड़ जल के समकक्ष बताया गया है, जिसमें से १९५१ ई० में केवल ५.६ प्रतिशत काम में लाया जाता था। आगे चल कर सिंचाई का लक्ष्य क्या है या विभिन्न प्रकार के स्रोतों से सिंचाई का कुल कितना विकास संभव है, यह तय करना असंभव है। बहुत सी बहुप्रयोजनी नदी-घाटी-प्रायोजनाओं को पहाड़ों पर जमी बर्फ या मानसून से पानी मिलता है, आधुनिक तरीके की विशिष्ट सिंचाई-प्रायोजनाएँ हैं: दामोदर-घाटी-आयोग, भाखड़ा-नंगल-प्रायोजना, हीराकुंड और चंबल। दामोदर-घाटी-आयोग संयुक्त राज्य अमेरिका के टेनेसी घाटी प्राधिकार-जैसा ही है। ये प्रायोजनाएँ इन उद्देश्यों से बनाई गई हैं: (१) बाढ़-नियंत्रण (२) खेतों की सिंचाई और (३) घरेलू और औद्योगिक खपत के लिए बिजली का उत्पादन। प्रसंगवश होने वाले फायदों में नदियों को ज्यादा नाव्य बनाना और सड़क एवं रेल परिवहन को होने वाला लाभ शामिल है, जिनको पहले समय-समय पर बाढ़ से नुकसान पहुँचता था। फिर भी सिंचाई और बिजली ही दो ज्यादा निश्चित महत्त्वपूर्ण लाभ हैं, जिनके लिए प्रायोजनाएँ बनाई गई हैं। दूसरी स्थानीय, छोटे पैमाने की सिंचाई-योजनाएँ भी हैं, जैसे नलकूप, दूसरी तरह के कुँए, नहरें आदि खोदना। अब तक इस बारे

में कुल प्रगति संतोषजनक रही है, पर सिंचाई के नए पानी और बिजली से अभी तक अधिकतम लाभ नहीं उठाया जा सका है।

परिवहन और संचार

भारत की पहली और दूसरी आयोजनाओं में अनुमानित परिव्यय का क्रमशः २४.० प्रतिशत और २८.६ प्रतिशत परिवहन तथा संचार-संबंधी निवेश में लगाया गया है। आर्थिक विकास का किसी आयोजना की सफलता के लिए सक्षम और विकसित परिवहन एवं संचार-प्रणाली बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भारत की पुरानी परिवहन-प्रणाली विदेशी व्यापार और आंतरिक सरकारी प्रशासन की जरूरतों के अनुसार खड़ी की गई थी। आज जरूरत इस बात की है कि इस प्रणाली को औद्योगिक और आर्थिक विकास की ओर उन्मुख किया जाए। पहली पंचवर्षीय आयोजना में विद्यमान सुविधाओं के पुनर्वास के काम पर जोर दिया गया, जिसको महायुद्ध ने काफी क्षति पहुँचायी थी। दूसरी आयोजना में काफी विस्तार की व्यवस्था की गई। भारत की परिवहन-प्रणाली का महत्त्वपूर्ण अंग रेलवे है। वे पूरी तरह भारत सरकार के अधीन रही है—एक विशेष मंत्रालय उनके प्रशासन के लिए जिम्मेवार रहा है। भारत अपने रेलवे-उद्योग में—जिसमें इंजन—डिब्बे बनाना भी शामिल है, काफी प्रगति कर चुका है।

सड़कों और नदियों से सवारियों तथा माल का ले जाया जाना रेलवे के काम का पूरक है। लेकिन, मोटर-यात्रा अभी बहुत कम विकसित हुई है। तटीय और समुद्रपार की जहाज सेवाएँ और वायु-यातायात अभी विकास की आरंभिक स्थिति में हैं। भारत के आयोजित पूंजी परिव्यय में परिवहन और संचार पर किया गया आग्रह यह मान कर चलता है कि वे न केवल देश के औद्योगिक विकास के लिए अनिवार्य हैं, बल्कि देश की रक्षा और प्रशासन के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। संचार-सेवाओं में डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो प्रसारण, समुद्रपार संचार और ऋतु-विज्ञान आते हैं। ये सब बड़े समय से भारत सरकार के अधीन हैं और उपयुक्त मंत्रालय उनका प्रशासन चलाते हैं। वर्त्तमान आयोजना उनके राजकीय क्षेत्र में खोजने के बारे में केवल विद्यमान यथापूर्व स्थिति को बनाए रख रही है। विकासशील अर्थ-व्यवस्था में गुण और परिणाम—दोनों ही दृष्टियों से उनके समग्र विस्तार पर जोर देना तर्कसंगत ही है।

तीसरी आयोजना

तीसरी आयोजना के मसौदे को सरकारी रूप से ५ जुलाई, १९६० ई० को प्रकाशित किया गया था और इसका उद्देश्य राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि कर देना, खाद्य में आत्मनिर्भरता लाना, बुनियादी उद्योगों में तेजी से विस्तार

करना और आर्थिक असमानताओं को कम करना है। इस आयोजना-अवधि में कुल आयोजित निवेश १०,२०० करोड़ रुपए रखे गए हैं—६,२०० करोड़ रुपए राजकीय क्षेत्र में और ४,००० करोड़ रुपए निजी खंड में। इसके अलावा लोकखंड में १,०५० करोड़ रुपयों का चालू परिव्यय और किया जाएगा, जिससे पहले से प्राप्त विकास रखरखाव किया जा सके। राजकीय क्षेत्रों के इस निवेश-संबंधी परिव्यय की पूर्ति के लिए अनुमानित अतिरिक्त आवश्यक कराधान १,६५० करोड़ रुपए हैं। फिर भी अतिरिक्त राजस्व इकट्ठा करने के लिए उपयोग के विद्यमान स्तर को कम करने का कोई इरादा नहीं है। उलटे राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने यह आयोजना बताई है कि उपयोग की वृद्धि ४ प्रतिशत तक सीमित रखी जाएगी एवं इसके और राष्ट्रीय आय की आयोजित वृद्धि के बीच के अंतर को तीसरी पंचवर्षीय आयोजना के काल में जरूरी अतिरिक्त राजस्व का साधन माना जाएगा। आयोजना यह मान कर चलती है कि तीसरी आयोजना में विदेशी मुद्रा की औद्योगिक साज-सामान और सामग्री के आयात के लिए होने वाली पूरी जरूरत ३,२०० करोड़ रुपए होगी। यह आयोजना है कि सारी रकम अनुदान या कर्ज के रूप में आर्थिक मदद के जरिए दूसरे देशों से पूरी-पूरी ही प्राप्त की जाएगी।

तीसरी आयोजना की अवधि के आखिर तक प्राप्ति के लिए नमूने के तौर पर कुछ लक्ष्य नीचे दिए जा रहे हैं :

सिंचाई वाली अतिरिक्त जमीन	:	२ करोड़ एकड़
राष्ट्रीय कृषि में वृद्धि		३० से ३३ प्रतिशत
बिजली शक्ति पैदा करने की क्षमता में वृद्धि	:	१०० प्रतिशत
नाइट्रोजन उर्वरकों की वार्षिक उपज में वृद्धि	:	५०० प्रतिशत
सीमेंट-उत्पादन की क्षमता में वृद्धि	:	५० प्रतिशत
नई रेलवे लाइनें	:	१२०० मील
पक्की सतह वाली नई सड़कें	:	२०,००० मील
वार्षिक कोयला-उत्पादन में वृद्धि	:	६० प्रतिशत
इस्पात के धातुपिंड पैदा करने की क्षमता में वृद्धि	:	६० प्रतिशत
पेट्रोल के वार्षिक उत्पादन में वृद्धि	:	४० प्रतिशत
सवारी मोटरगाड़ियाँ बनाने की क्षमता में वृद्धि	:	५० प्रतिशत
बाईसिकलों के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि	:	१०० प्रतिशत

सूती कपड़े के उत्पादन में
वार्षिक वृद्धि : १६ प्रतिशत

समाज सेवाओं के क्षेत्र में तीसरी पंचवर्षीय आयोजनाकाल के आखीर तक प्राथमिक शिक्षा ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य हो जाएगी और तकनीकी शिक्षा का काफी विस्तार किया जाएगा। रोजगार, आवास और चिकित्सा-सुविधाओं के विस्तार की भी आयोजना है, पर ये महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय जरूरत की तुलना में काफी पीछे बनी रहेगी। तीसरी आयोजना में परिवार-नियोजन का काम करने वाली क्लिनिकों की संख्या १८०० से बढ़ा कर २००० कर दी जाएगी।

उद्योग के निजी क्षेत्र पर अपेक्षतया ज्यादा आग्रह बढ़ जाना तीसरी पंचवर्षीय आयोजना की विशेषता है। तीसरी आयोजना में प्रस्तावित कुल निवेश का लगभग ४० प्रतिशत इस खंड को देते हुए राष्ट्रीय आयोजना आयोग तीन महत्त्वपूर्ण बातें कहता है : (१) निजी उद्योग क्षेत्र को राष्ट्रीय आयोजना के स्थूल अनुशासन में और राजकीय क्षेत्र से समताल रखते हुए काम करना चाहिए, (२) आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह होना चाहिए कि आर्थिक शक्तियों का संकेंद्रण या एकाधिकार प्रवृत्तियों को रोका जाए। इसके अनुकूल राष्ट्रीय आयोजना आयोग यह आशा करता है कि निजी क्षेत्र में 'करोड़ों विमानों, शिल्पियों, व्यापारियों और छोटे उद्योगपतियों' को प्रोत्साहन दिया जाएगा, न कि निगमों के रूप में गठित बड़ी-बड़ी फर्मों को और (३) राष्ट्रीय अर्थतंत्र के विकास के नेतृत्व की भूमिका का निर्वाह राजकीय क्षेत्र करेगा और वह बड़े-बड़े निगमों व्यापारिक फर्मों वाले निजी क्षेत्र की अपेक्षतया और पूर्णतया ज्यादा तेजी से पनपेगा। आयोजना की स्थूल रूपरेखा के अधीन निजी उपक्रम से अपना दायित्व निभाने की माँग की गई है। यह समझा जाता है कि अगर भारत 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' के जरिए आर्थिक विकास जारी रखना चाहता है, तो उस मिश्रण में निजी उपक्रम का योगदान महत्त्वपूर्ण बना रहना चाहिए। आयोग का अनुमान है कि निजी क्षेत्र के औद्योगिक निवेश कार्यक्रम के लिए पैसा नीचे लिखे स्रोतों से आएगा : निजी उद्योगों के उपार्जन का पुनर्निवेश ६१० करोड़ रुपए; निगमित प्रतिभूतियों का नए तौर पर जारी होना, २०० करोड़ रुपए; विदेशी निवेश ३०० करोड़ रुपए; और बाकी मिले-जुले सरकारी निजी उपक्रमो में सरकार के भाग लेने से आएगा।[1]

---

[1] दि न्यू स्टेट्समैन, कलकत्ता, १ जुलाई, १९६० ई०, दि न्यूयार्क टाइम्स २७ अगस्त, १९६० ई०, दि न्यू लीडर, १० अक्टूबर, १९६० ई०।

सारणी—१६ तीसरी आयोजना के अधीन राजकीय क्षेत्र में बजट निधियों का आयोजित परिव्यय

(करोड़ रुपयों में)

	पहली आयोजना	दूसरी आयोजना	तीसरी आयोजना
कृषि	३३१	५६८	१०००
सिंचाई	५६१	९१५	१५५०
उद्योग और खनन	१७३	८९०	१५५०
परिवहन और संचार	४९८	१३८५	१४५०
समाज सेवाएँ	४५५	९४५	१२५०
फुटकर	५१	९९	२००
जोड़	२०६९	४८००	७०००

इस सारणी में दी गई मदें पाठ में बताए गए निवेश से तुलनीय नहीं हैं। इसलिए ये जोड़ वहाँ बताए गए 'निवेशों' के जोड़ जितने नहीं हैं।

स्रोत—दि न्यू स्टेट्समैन, कलकत्ता, १ जुलाई, १९६० ई०।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. किस अर्थ में विविधता में एकता भारत के स्वरूप का अंग है?

२. भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकार के ढाँचे में क्या-क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं?

३. भारत के तीनों प्रमुख राजनीतिक दलों में किन बातों में अंतर है?

४. जब भारत स्वाधीन राष्ट्र बना, तो किस अर्थ में भारत की स्थिति विपुलता के बीच अभाव वाली थी?

५. भारत की आर्थिक आयोजना के कौन-कौन तत्त्व उसका 'लोकतंत्री' स्वरूप उचित ठहराता है?

६. पहली और दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के बीच बड़े-बड़े अंतर क्या हैं?

७. निजी उद्योग-क्षेत्र से आर्थिक आयोजना का पालन कराने के लिए सरकार के पास क्या-क्या साधन हैं?

८. आर्थिक आयोजना के लिए कुछ पूर्व अनुमान करना जरूरी होता है। इसका निरूपण दूसरी पंचवर्षीय योजना में करिए।

९. पहली दो पंचवर्षीय आयोजनाओं के अधीन भूधृति-सुधार के मुख्य नतीजे क्या निकले ?

१०. 'सामुदायिक विकास प्रायोजना' और भारत की आयोजना में उसकी भूमिका का वर्णन कीजिए।

११. उद्योगों के निजी क्षेत्र में आगे आयोजना के लिए वित्तीय मदद का इस्तेमाल किस तरह किया गया है ?

१२. सरकार ने ग्रामोद्योगों और हस्तशिल्प-उद्योगों को प्रोत्साहन एवं मदद देना किस कारण जरूरी समझा है ?

१३. तीसरी आयोजना की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?

●

अध्याय ३२

भारत की आर्थिक आयोजना : एक मूल्यांकन

भारत की आर्थिक आयोजना का मूल्यांकन न तो आसान ही है और न परिभाषा योग्य। मूल्य-निर्धारण के प्रतिवेदन भारत सरकार द्वारा हर वर्ष प्रकाशित किए जाते हैं और अर्थ-आयोग या समितियाँ विशेषज्ञों द्वारा तथ्य खोजने के लिए किए गए विशेष कार्यों द्वारा इसकी अनुपूर्ति करती हैं। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना का सर्वांगीण मूल्यांकन करने के बाद शुरू हुई; दूसरी आयोजना हाल ही में खत्म हुई है और तीसरी आयोजना (सन् १९६१-६६ ई०) की भूमिका के रूप में दूसरी की सफलताओं और असफलताओं का मूल्यांकन किया गया है। पहली आयोजना में रखे गए विकास-कार्यक्रम का लक्ष्य था : (१) आधार में अर्थ-व्यवस्था को मजबूत करना और (२) संस्थागत परिवर्तन शुरू करना, जो भविष्य में ज्यादा तेजी से प्रगति करने में सुविधा देंगे। दोनों बातों में पहली आयोजना में काफ़ी प्रगति हुई। दूसरी आयोजना में पहली आयोजना की चीजों को चालू रखा गया था। कुल मिला कर तेजी से बढ़ने वाली चाल से निवेश की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाने और लागू करने में राजकीय क्षेत्र की अपनी क्षमता सिद्ध कर दी है। निजी क्षेत्र में निगमित बड़े पैमाने के उद्योगों ने उसके लिए तय किए गए लक्ष्यों की अच्छी तरह पूर्ति की है। हालांकि उत्पादक-क्षमता बढ़ी है और विकास का भीतरी ढांचा व्यापक हुआ है, फिर भी विदेशी मुद्रा-संसाधनों के सीमित मात्रा में उपलब्ध रहने के कारण निजी निवेश और औद्योगिक कार्यकलाप में आगे वृद्धि में अड़चन पड़ी है। दूसरी आयोजना के लिए संरक्षित रखा जाना एक घोषित नीति बन गई है। विदेशी मदद की संभावनाओं में सुधार हो जाने की बात राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने कही है। छोटी बचतों और जनता से लिए गए सरकारी ऋणों में हाल में हुई वृद्धि यह बताती है कि राष्ट्रीय बचत-प्रयास में विस्तार की संभावना है।

दूसरी ओर राष्ट्रीय आयोजना आयोग के अनुमान बताते हैं कि दूसरी आयोजना की सफलता मूल लक्ष्यों से काफी कम है। सर्वांगीण भौतिक रूप से लगभग ८० प्रतिशत विश्वजनीन लक्ष्य पूरे कर लिए गए। फिर भी खाद्य का मोर्चा अब भी भारी चुनौती बना हुआ है और आयोजना के आखीर तक ८० लाख रोजगारों की बजाय ६५ लाख जगह ही प्राप्त की जा सकी। कोयले के उत्पादन का ६ करोड़ टन के लक्ष्य में लगभग ४० लाख टन की कमी रही। उर्वरक, भारी इंजीनियरी, एल्यूमिनियम और कुछ दूसरे उद्योग भी अपने लक्ष्य पूरे न कर सके। बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष रही, पर प्रगति के प्रतिफलों का संतुलित औद्योगिक वितरण अब भी एक समस्या बना हुआ है। आय और उपभोग के स्तरों में, विकास की दरों में भी और अतिरिक्त रोजगार पैदा करने में भी, देश के विभिन्न प्रदेशों के बीच काफी असमानतएँ बनी रही हैं। आयोजकों ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान देने का वादा किया है।

जनसंख्या और खाद्य-समस्याएँ

पंचवर्षीय आयोजनाओं का फैलाव जनसंख्या की बढ़ोत्तरी के १.१ प्रतिशत विकास के अनुमान पर किया गया था। इसमें संदेह नहीं कि भारत की विद्यमान हालतों में आर्थिक विकास की आयोजना के सभी अनुमानों पर जनसंख्या-विकास की बढ़ी हुई दर का उलटा असर पड़ेगा। जनसंख्या की वास्तविक दर १.८ प्रतिशत प्रतिवर्ष के करीब रही है। भारत की भारी आबादी और प्रजनन की दर का ज्यादा होना, जीवन-स्तर कैसे बढ़ाया जाए—इस समस्या को ज्यादा विकट बना देता है। हाल के एक अध्ययन से पता चला है कि भारत की आबादी १९६५ में ४५.६० करोड़, १९७० ई० में ५०.६० करोड़ और १९७५ में ई० ५६.३० करोड़ हो जाएगी।[1] आयोजना का बनाना जनसंख्या-वृद्धि की अनुमानित दर के साथ निकट रूप से संबद्ध रहता है और आयोजना के लक्ष्यों की प्राप्ति जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि से निकट से जुड़ी हुई रहती है।

खाद्य की उपज भारत की हमेशा बढ़ती जा रही आबादी से पीछे पड़ रही है। १९५९ ई० में भारत का अनुमान था कि सन् १९६५-६६ ई० तक भारत भी तेजी से बढ़ती आवादी की दृष्टि में ११ करोड़ टन खाद्यान्नों के उत्पादन का लक्ष्य युक्तिसंगत रहेगा। उनके अनुसार अगर भारत को खाद्य-उत्पादन की दर समय से ज्यादा तेज बढ़ती रहती, तो बीसवीं सदी के सातवें दशक के मध्य में यह लक्ष्य २८ करोड़ टन या लक्ष्य से २५ प्रतिशत कम रहेगा। हालांकि खाद्य की जरूरत तो बढ़ रही है, पर

---

[1] 'दि फ्यूचर ग्रोथ ऑफ वर्ल्ड पापुलेशन', संयुक्त राष्ट्र संघ, आर्थिक और समाज-कार्य विभाग, न्यूयार्क, १९५८।

भारत का खेतिहर उत्पादन मौसम की चपलता पर आधारित रहने के कारण बहुत ही कम और ज्यादा होता रहता है। भारत के थोड़े से विदेशी मुद्रा साधनों के कारण भारत के खाद्य-संभरण का असंतुलन बड़ा ही कीमती पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका से खाद्य-अनुदान के बावजूद भारत में खाद्य-आयात की लागत दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के पहले ढाई सालों में विदेशी मुद्रा में ३०८ करोड़ रुपए पड़ी। भारत में खाद्य-संकट लगातार पड़े रहने की काफी गुंजाइश है और जबतक खाद्यान्नों की पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होने लगती, भारत का औद्योगिक विस्तार सहज रूप से आगे नहीं बढ़ सकता। १९६० ई० में भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच जो खाद्य-समझौता हुआ है, वह बीच में अतिरिक्त भंडार बनाए रखने के लिए एक ठोस कदम है। 'घाटे के विरुद्ध यह बीच' सरकार की तत्काल चिंता को कम कर देता है और दीर्घकालीन खाद्य-आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए उसे ध्यान केंद्रित करने का अवसर दे देता है। इस समझौते के अधीन चार से ऊपर साल में भारत १.६ करोड़ टन गेहूँ और १० लाख टन चावल का संयुक्त राज्य अमेरिका से आयात करेगा। इस मसौदे का कुल मूल्य १ अरब डालर से कुछ ज्यादा ही है। हर साल के लिए खरीद-प्राधिकरण दोनों सरकारों द्वारा की जाने वाली वार्षिक समीक्षा पर निर्भर रहेगा।

बचत-आय अनुपात

पहली आयोजना में अनुमान था कि निवेश में लगाई जाने वाली राष्ट्रीय आय सन् १९५०-५१ ई० के ५ प्रतिशत से बढ़ कर १९६८-६९ ई० में २० प्रतिशत हो जाएगी और फिर इसी स्तर पर बनी रहेगी। अब लगता है कि यह बहुत ज्यादा भारी उम्मीद थी। राष्ट्रीय बचत में वृद्धि का मतलब यह नहीं कि बचत में निश्चय ही वृद्धि हो। हालांकि राष्ट्रीय आय की वृद्धि की हर आयोजना में की गई कल्पना से ज्यादा ही थी, पर आय में से बचत का अनुपात बहुत थोड़ा-थोड़ा ही आगे बढ़ा। इस तरह जिस अनुमान पर घरेलू बचत पर आधारित निवेश-वृद्धि सोची गई थी, उस पर पुनर्विचार करना होगा।

वृद्धिशील पूँजी निकाय अनुपात

किसी अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि नए निवेश का निवेश पर मिलने वाले प्रतिफल के साथ क्या अनुपात है। पहली आयोजना में यह वृद्धिशील पूँजी निकाय अनुपात १.८ : १ था। यह ज्यादा अनुकूल प्रतिफल एक तो मानसून अच्छे रहने के कारण था और साथ ही इस कारण भी कि औद्योगिक निकाय में पहले उद्योग में न आने वाली क्षमता को उपयोग में लाने से काफी वृद्धि हुई। दूसरी आयोजना में आयोजित अनुपात २.३ : १ था, जो व्यक्तिगत उद्योग-क्षेत्रों में उन क्षेत्रों में प्रस्तावित निवेश से सापेक्ष शुद्ध विकास की अनुमानित वृद्धि के आधार

पर जोड़ा गया था ।[1] पहली आयोजना की तुलना में दूसरी आयोजना में कुछ ज्यादा पूँजी-सघनता की उम्मीद थी; क्योंकि उसमें उद्योगीकरण की ओर आग्रह बढ़ गया था । वस्तुतः अगले आयोजनाकालों में भी जैसे-जैसे यह आग्रह बना रहेगा, अतिरिक्त निकाय की प्रत्येक इकाई के लिए अपेक्षित पूँजी की रकम भी और आगे बढ़ती जाएगी । तीसरी, चौथी और पाँचवीं आयोजनाओं के काल में इस समय सोचे गए पूँजी-निकाय अनुपात क्रमशः २.६ : १, ३.४ : १ और ३.७ : १ हैं ।

राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने स्पष्ट कह दिया है कि ये आँकड़े प्रायोगिक हैं । वृद्धिशील पूँजी निकाय अनुपात पूँजी की सर्वांगीण उत्पादकता का उपाय है । यह लगी हुई पूँजी पर ही नहीं, बल्कि दूसरे बहुत से तत्त्वों पर निर्भर करता है, जैसे कि पूँजी-निवेश के साथ संलग्न शिल्प-विज्ञानी प्रगति की मात्रा, नए प्रकार के साज-सामान का कितनी कार्यकुशलता के साथ प्रयोग किया जाता है और पूँजी के प्रयोग के लिए किस किस्म की प्रबंधकीय तथा संगठन-संवंधी प्रवीणता को इस्तेमाल में लाया जाता है । भारत के लिए अनुमान किए गए पूँजी-निकाय अनुपातों की तुलना बाहर के वैसे अनुपातों से करते समय यह ध्यान रखना होगा कि हिसाब में अ-मुद्रीकृत निवेश को नहीं जोड़ा गया है, हालांकि भारत-जैसे प्रमुख देहाती अर्थतंत्र में इस प्रकार के निवेश की काफी मात्रा रहती है । भारतीय अर्थतंत्र के कुछ विद्यार्थियों का विश्वास है कि आयोजनागत पूँजी-निकाय अनुपात अयथार्थ रूप में कम है । जिस सीमा तक यह सच है, यह अंतःप्रवृत्ति रहेगी कि समानताएँ आयोजित लक्ष्यों से कम रहें ।

निवेश का ढांचा

दूसरी आयोजना में निश्चय ही औद्योगिक विकास पर जोर दिया गया । उपभोक्ता द्रव्यों के निकाय की वृद्धि-दर को जानबूझ कर कम रखा गया, ताकि पूँजी द्रव्य के निर्माण में अपेक्षतया ज्यादा संसाधनों को लगाया जा सके । कुछ भारतीय अर्थवेत्ताओं को संदेह था कि क्या उपभोक्ता द्रव्यों के निकाय की विकास-दर को इस तरह कम करके ही समूची अर्थ-व्यवस्था की दीर्घकालीन विकास-दर को बढ़ाया जा सकता है ? अनेक उपभोक्ता द्रव्य उद्योगों के विस्तार को इन उद्योगों में निर्मित उत्पादनों की मांग के विस्तार के साथ परस्पर संबद्ध नहीं रखा गया है । ऐसे व्यौरेवार और विश्वजनीन अनुमानों के अभाव में संसाधनों के गलत बंटन की संभावना बनी हुई है । आयोजना का (क) घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण बहुत सी जबर्दस्ती की गई बचतों और (ख) विदेशी ऋणों और मदद के रूप में बाह्य संसाधनों से काफी अंतर

---

[1] भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, नई दिल्ली १९५६, पृष्ठ ९ ।

को पूरा कर सकने की आशा—पर निर्भरता को देखते हुए, यह सच ही हो सकता है कि भारी उद्योगों की ओर झुकाव काफी ज्यादा है और भारत की आयोजना को खतरे में डाल देता है। अगर भारत के भावी वित्त-साधन ज्यादा निश्चित थे, तो उसे विकास के कम पूंजी-सघन रास्ते को चुनना था और हल्के उद्योगों तथा छोटे पैमाने की प्रायोजनाओं पर ज्यादा जोर देना था, जिससे भीतर कम दबाव पड़ता तथा बाकी दुनिया के प्रति उसकी ऋणिता भी कहीं कम होती।

अभाव और अतिरिक्त क्षमता

भारत के चुने हुए उद्योगों के मासिक उत्पादन आँकड़ों के अनुसार पिछले आठ सालों में भारतीय उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता पैदा हो गई है। १९५० ई० और १९५३ ई० के बीच के वर्षों के लिए ७८ उद्योगों की क्षमता के ब्यौरेवार आँकड़े मिलते हैं। इस काल में २८ उद्योग ६० प्रतिशत से कम क्षमता पर चल रहे थे। लगभग ५७ प्रतिशत उद्योग तीन साल या ज्यादा समय तक ६० प्रतिशत से कम क्षमता पर चलाए गए। औद्योगिक विस्तार के आयोजन में इन तथ्यों का निकट से संबंध है। इस समय बहुत से उद्योगों का यह कहना है कि पर्याप्त बाजार की कमी है। निजी क्षेत्र से यह शिकायत आ रही है कि कुछ नए राज्य-उपक्रम उन चीजों की भी क्षमता बढ़ा देते हैं, जहाँ निजी क्षेत्र के उद्योगों की विद्यमान देयता का भी पूरा उपयोग नहीं होता। दूसरी आयोजना में यह चेतावनी दी थी कि नए निवेशों के पूरी तरह फलीभूत होने तक कुछ अपूर्ण उपयोग को बरदाश्त करना होगा। किसी भी हालत में देश में भारी साधारण अभाव के बीच अतिरिक्त क्षमता या नई पैदा की गई क्षमता के अपूर्ण—उपयोग के बने रहने ने आयोजकों के लिए एक पहेली ही पैदा कर दी है।

कम उपयोग में आई क्षमता का दूसरा पहलू बहुप्रयोजनी नदी-घाटी-परियोजनाओं से संबंधित है। इन पूंजी-सघन प्रायोजनाओं से मिलने वाले सिंचाई के पानी का अक्सर किसानों द्वारा उपयोग नहीं किया जाता। संभवतः किसानों का परंपरागत तरीकों से चिपका रहना ही यह स्थिति पैदा कर देता है और जोतों का छोटा होना भी इन नए संसाधनों के पूरे उपयोग में एक बाधा है। किसान अक्सर ऐसे सिंचाई-पानी के दिए जाने पर लगाए गए शुल्कों के विरोध में आंदोलन और उसके उपयोग का बहिष्कार करते रहे हैं। आयोजना के अधीन संसाधनों के कम उपयोग के उपलक्षण की चर्चा में फिर 'शिक्षित बेरोजगार' के चक्र की बात कही जाती है। एक ओर तो प्रवीण श्रम तकनीशियनों, इंजीनियरों और विशेषज्ञों के मामले में भारत की विकासशील अर्थ-व्यवस्था देश के मानव-साधन की भारी माँग करती है, तो दूसरी ओर अपनी शिक्षा और प्रशिक्षण के अनुकूल उपयुक्त नौकरियों के लिए बहुत से भारतवासी मारे-मारे फिर रहे हैं। राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने माना है कि 'अशिक्षित

बेरोजगारों का बढ़ती संख्या एक ऐसी समस्या है, जिसे सर्वांगीण आर्थिक आयोजना के अंगस्वरूप सुलझाया जाना चाहिए।

घाटे की वित्त-व्यवस्था

घाटे की वित्त-व्यवस्था के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। भारतीय आयोजना की संकल्पनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था का मतलब है कि करप्राप्तियों, राज्य-उपक्रमों से शुद्ध उपार्जन, जनता से ऋण, विदेश से ऋण और मदद और सरकार के पास रखी कुछ न्यास निधियों के उपयोग से ज्यादा सरकारी खर्च। इस परिभाषा में इस बात पर जोर दिया गया है कि घाटे का निर्णय सरकार के चालू राजस्व और व्यय एवं सभी पूंजी लेखाओं के लेन-देन के रूप में ही नहीं करना चाहिए। साथ ही यह तय करने में कि किस तरह की वित्त-व्यवस्था सचमुच घाटे की वित्त-व्यवस्था है, यह ध्यान रखना होगा कि संबंधित लेन-देन मुद्रा संभरण को बढ़ाने जा रहा है या नहीं।

घाटे की वित्त-व्यवस्था को लेकर भारत के लोकमत में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग औद्योगिक विस्तार के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का खुल कर विरोध करते हैं, जबकि दूसरे लोग इसे आर्थिक विकास का एक अपरिहार्य साधन मानते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रायोजकत्व में भारत आए विशेषज्ञों ने इस मामले की जाँच की थी। भारतीय आयोजना में अंतर्ग्रस्त घाटे की वित्त-व्यवस्था के सिद्धांत और विस्तार के बारे में उनकी रिपोर्ट अनुकूल रही। यह विचारधारा यह मान कर चलती है कि विस्तारशील निवेश को प्रोत्साहन देने और रोजगार पैदा करने के साधन के रूप में हर साल मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि की जा सकती है। आर्थिक विकास को प्रोतसाहित करने के लिए इसे वे 'कृत्यकारी' मूल्यवृद्धि मानते हैं।

घाटे की वित्त-व्यवस्था की स्फीति-संभावनाओं का प्रमुख निदर्शक वह सीमा है, जहाँ तक मुद्रा-संभरण में हुई वृद्धि के अनुकूल उपभोग द्रव्यों का संभरण बढ़ाया जा सकता है। दूसरी आयोजना ने इस संबंध को माना था और स्फीतिविरोधी तत्त्व के रूप में घरेलू चीजों के उद्योगों के उत्पादन को महत्त्वपूर्ण मानने पर जोर दिया था। फिर भी यह बड़ा संदिग्ध है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था के घरेलू वस्तु-उद्योग क्या अपने हस्तशिल्प और स्थानीय रूप से तैयार किए गए द्रव्यों के साथ भारी उद्योगों में बड़े-बड़े निवेशों से पैदा हुई आय-वृद्धि के कारण बढ़ी उपभोग-द्रव्यों की माँग का सामना कर सकते हैं? भारी द्रव्यों के विकास पर घाटे की वित्त-व्यवस्था के अनुसार किए गए खर्च का दबाव तेजी से मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति में पहले ही लक्षित हो रहा है।

बाह्य संसाधनों का उपयोग

भारतीय आयोजना में विदेशी ऋण और मदद के रूप में बाह्य संसाधनों पर काफी निर्भर रहा गया है। पर, यह प्रश्न किया जाता है कि भारत बाकी दुनिया के संसाधनों पर क्यों दावा करता है और वह यह आशा क्यों करता है कि उसकी आयोजनाओं के आंतरिक वित्तपोषण की खाई को बाहर की दुनिया पाट दे। स्पष्ट ही भारत को बाह्य संसाधनों की उपलब्धता स्पष्टतः बहिर्गामी और आर्थिक तत्त्वों पर, निर्भर है। अगर हम यह मान भी लें कि राजनीतिक और दूसरे मतभेदों के बावजूद हर देश हर दूसरे देश के आर्थिक विकास में दिलचस्पी रखता है, तब भी बाहरी मदद के उपलब्ध होने के बारे में भारतीय अनुमान बड़े ही अवास्तविक रहे हैं। दूसरी आयोजना कुल मिला कर १७०० करोड़ रुपयों के घाटे के साथ पूरी हुई, जब कि मूल अनुमान ११०० करोड़ रुपए के घाटे का था। मूल अनुमानों से भी कहीं ज्यादा विदेशी ऋणों और मदद पर निर्भर रहना भारतीय आयोजना की एक वास्तविक दुर्बलता है। इसी दिक्कत के कारण राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने दूसरी आयोजना चलने के तीसरे साल में उसका पुनर्मूल्यांकन करके उसमें सुधार किए थे। यह फैसला किया गया था कि पैसे का कुल परिव्यय तो मूल अनुमानों जितना ही रहना चाहिए, हालांकि मूल्य में वृद्धि के कारण भौतिक बुनियादी लक्ष्यों को कम कर देना जरूरी होगा। समूचे निवेश कार्यक्रम को (क) 'मूल' प्रायोजनाएँ, जिनको संभव और बिल्कुल अपरिहार्य माना गया और (ख) बाकी प्रायोजनाएँ, जिनको जब कभी अतिरिक्त साधन उपलब्ध हो जाएँगे, हाथ में लिया जाएगा—इन हिस्सों में बाँट दिया गया।

सारांश

प्रमाण यह नहीं बताते कि आर्थिक आयोजना भारत में गंभीर रूप से असफल रही है। जहाँ तक (धन के रूप में) समग्र विकास परिव्यय का संबंध है, राजकीय क्षेत्र लक्ष्यों से थोड़ा सा ही पीछे रहा है और निजी क्षेत्र ने रखे गए लक्ष्यों से ज्यादा सफलता प्राप्त की है। जहाँ तक उत्पादन की प्रवृत्तियों का संबंध है, कृषि-उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई है और औद्योगिक उत्पादन में काफी प्रगति हुई है, हालांकि उसकी वृद्धि-दर कम पड़ती जा रही है। भारत की इस्पात-आयोजना की पूर्ति हो रही है, हालांकि जहाँ तक तय किए गए समय का सवाल है, काम कुछ पीछे रहा है। सन् १९४९-५० ई० से राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जो प्रवृत्ति दिखाई दी थी, उसे बचाए रखा गया था।

भारत की आयोजना का एक अच्छा रूप है—उसका भीतरी लचीलापन। लोकतंत्री आयोजना में समय-समय पर पुनर्विलोकन और फिर सुधारात्मक उपाय करना एक सामान्य बात है। राष्ट्रीय आयोजना आयोग अपनी सीमाओं से सुपरिचित

है और सदैव अपने आलोचकों को याद दिलाता रहता है कि उसके अनुमान ऐसे आँकड़ों पर आधारित हैं, जिनकी शुद्धता विवादास्पद है। अक्सर दूसरे देशों के अनुभवों को मार्गदर्शक के रूप में लिया जाता है और बाद में हुए अनुभव के आधार पर फिर उसमें फेर-बदल कर ली जाती है। भारतीय आयोजक आयोजना के मूलभूत रीति विज्ञान को सुधारने के जरूरत के प्रति ज्यादा सजग हैं। राष्ट्रीय आयोजना आयोग तीसरी पंचवर्षीय आयोजना को इस रूप में बना रहा है कि उसमें तेज आर्थिक विकास के लिए छह पूर्व शर्तें रखी गई हैं : (क) मूल्य-स्थिरता (ख) देहाती जनशक्ति का समुचित सदुपयोग (ग) राजकीय उद्यमों की कार्यकुशलता, (घ) निर्माण-लागतों में बचत, (ङ) जनता का सहयोग और (च) बढ़ी हुई आर्थिक कार्यकुशलता। दो बातें यह बताती हैं कि राष्ट्रीय आयोजना आयोग इस बात के प्रति सजग है कि हर चीज उसी हालत में नहीं है, जैसी होनी चाहिए। कमजोरियों का पता चलाया गया है और एक स्वतः व्याख्यात्मक घोषणा की गई है कि अगर इन कमजोरियों को न सुधारा गया, तो अर्थ-व्यवस्था को दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि तीसरी पंचवर्षीय आयोजना भारत में लोकतंत्री आर्थिक आयोजना के लिए भारी परीक्षण का काम देगी।

भारत का आर्थिक विकास और बाकी दुनिया

जिस तरह एक अकेले अर्थतंत्र के हिस्से एक दूसरे पर बहुत ही निर्भर रहते हैं, उसी तरह हर राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से हर दूसरे राष्ट्र के साथ जुड़ा होता है। विश्वजनीन आर्थिक परस्पर-निर्भरता को सिद्धांत में बहुत समय से मान्यता दी गई है। तुलनात्मक लागत लाभ और संसाधनों के अधिकतम बंटन के सिद्धांत की अनुपूर्ति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय कार्य-संचालन के राष्ट्रीय आय जनन प्रभाव वाले सिद्धांत द्वारा की जा रही है। 'अपने पड़ोसी को भिखारी बना दो' वाला नारा राष्ट्रीय समृद्धि के अचूक इलाज के रूप में अब कारगार नहीं रहा है। अब ज्यादा तौर पर यह विश्वास किया जाने लगा है कि या तो सभी राज्य धनी बनते हैं या कोई भी धनी बनने में सफल नहीं रहता है।

भारत की आर्थिक विकास आयोजना ने स्पष्ट ही ४० करोड़ जनता की आर्थिक हालत सुधारने के काम में बाकी दुनिया से सहयोग की जरूरत समझी। पहली और दूसरी—दोनों आयोजनाओं में उपलब्ध अनुमानित विदेशी संसाधनों को महत्त्वपूर्ण माना गया था। दूसरी आयोजना में शुरू में अनुमान लगाया गया था कि चालू लेखे का कुल घाटा अर्थात् पाँच साल की आयोजना-अवधि में निर्यात के ऊपर आयात का ज्यादा रहना ११ करोड़ रुपए होगा।[1] पूँजी लेखे में संयुक्त राज्य

---

[1] भारत सरकार, दूसरी पंचवर्षीय आयोजना, नई दिल्ली, १९५६, पृष्ठ २।

अमेरिका के गेहूँ ऋण के और पुनर्निर्माण तथा विकास के अंतर्राष्ट्रीय बैंक के ऋणों के परिशोधन-भुगतान ब्रिटिश सरकार से पौंड पेंशनों के खाते में होने वाली प्राप्तियों से (भारत और ब्रिटेन के बीच एक व्यवस्था, जिसके अनुसार पहले भारत में रहे ब्रिटिश सरकारी नौकरों को पेंशनों की एक निधि बनाई जाती है) पूरी तरह निपटा दिए जाएँगे। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के दौरान जो कुछ ऋण और उधार लिए गए थे, उनके आगे इस अवधि में कुछ रकम लौटाई जानी थी, पर आयोजना में उनको सकल की जगह निवल रूप में रख कर, उनके लिए व्यवस्था कर दी गई थी। सब मिलाकर सरकारी लेखे के पूँजी वचनों से भारत के अंतर्राष्ट्रीय भुगतान की स्थिति पर कोई उलटा असर नहीं पड़ता था। निजी पूँजी लेखे में विदेशी हितों के स्वामित्व की पूँजी का कुछ प्रत्यावर्तन तो होना था, पर दुनिया में चलने वाली नई निजी पूँजी-व्यवहार में भुगतान-कोष में उसके कुप्रभाव को रोक देती है। आयोजक इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ११०० करोड़ रुपयों का चालू लेखे में जो ऊपर बताया गया घाटा होना है, उसका प्रतीकार सरकारी या निजी हिसाब में नई विदेशी पूँजी के भारत में आने से हो जाएगा। विदेशी मुद्रा संचित कोष से २०० करोड़ रुपए निकालने के बाद ९०० करोड़ रुपयों का अंतर रह गया, जिसकी पूर्ति के लिए यह आयोजना थी : (क) विदेशी मुद्रा बाजार में राजकीय बंधपत्र जारी किए जाएँगे, (ख) विदेशी बैंकों से कर्ज लेने की व्यवस्था की जाएगी, (ग) पुनर्निर्माण और विकास के अंतर्राष्ट्रीय बैंक तथा उसके सहकारी के रूप में बने अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम से उधार लिया जाएगा (घ) संयुक्त राष्ट्र तकनीकी मदद प्रशासन या संयुक्त राष्ट्र विशेष आर्थिक विकास करने जैसे दूसरे अंतर्राष्ट्रीय अभिकरणों से कर्ज और अनुदान लेने की व्यवस्था की जाएगी, (ङ) विदेशी निजी निवेश को प्रोत्साहन दिया जाएगा और आखिर में (च) विदेशी सरकारों से कर्ज और अनुदान लिए जाएँगे। आयोजकों ने स्पष्ट कहा था कि दूसरी आयोजना की विदेशी मुद्रा-संबंधी जरूरतें पूरी करने के लिए देश के लिए वित्त-व्यवस्था के इन सभी स्रोतों का लाभ उठाना जरूरी होगा।[1] मिला कर पहली आयोजना की रकम की तुलना में दूसरी आयोजना में अपेक्षित बाह्य मदद कहीं ज्यादा थी। राजकीय क्षेत्र के लिए उपलब्ध वित्तीय संसाधनों का अनुमान लगाते समय भारत से बाहर के ८०० करोड़ रुपयों के संसाधन जोड़े गए थे (जबकि पहली आयोजना में ये केवल २०९ करोड़ रुपए के थे)। निजी क्षेत्र में निवेश कार्यक्रम के लिए १०० करोड़ रुपयों की विदेशी पूँजी देश में आने की कल्पना दूसरी आयोजना में की गई थी।

भारत को अप्रैल, १९६१ ई० में शुरू हुई तीसरी पंचवर्षीय आयोजना में राजकीय क्षेत्र में प्रस्तावित प्रायोजनाओं के लिए विदेशी मुद्रा के रूप में करीब ४.६ अरब

---

[1] वही, पृष्ठ १०८।

डालर कीजरूरत पड़ेगी। तीसरी आयोजना में राजकीय क्षेत्र में कुल २३.६ अरब डालर के करीब निवेश की बात कही गई है। पाँच साल के भीतर विदेशी मुद्रा की इतनी ज्यादा जरूरत पड़ेगी, इस बात पर आयोजकों ने काफी चिंता और गंभीरता के साथ जोर दिया। इस समय उसकी विदेशी मुद्रा का रक्षित कोष इतने स्तर तक कम हो गया है कि और नीचे जाने की गुंजाइश नहीं रहती। इसका अर्थ यह है कि तीसरी आयोजना की विदेशी मुद्रा की पूरी जरूरतें विदेशी ऋण और मदद से पूरी करनी होंगी। साथ ही पहली दो आयोजनाओं की तुलना में इस विदेशी मुद्रा की क्रय-शक्ति भी कम होगी; क्योंकि समुद्र पार के बाजारों में दाम तेजी से बढ़े हैं। इस संदर्भ में आयोजना की सफलता में विदेशी मुद्रा एक मूल तत्त्व है। राजकीय क्षेत्र के कुल निवेश के ५० प्रतिशत से अधिक को बुनियादी उद्योगों, परिवहन और संचार के विस्तार में लगाना होगा। यह तभी हो सकेगा, जब विदेश से बड़े पैमाने पर मशीनों और साज-सामान की खरीद संभव हो सकेगी। साथ ही, निजी क्षेत्र के आयोजित निवेश की जरूरतों के लिए भी आयोजनाकाल में भारत को अनुमानतः ६३ करोड़ डालर की जरूरत पड़ेगी। फिर सन् १९६१-६५ ई० की तीसरी आयोजना के काल में लगभग १०५ करोड़ डालर की उस विदेशी मुद्रा के उधार के चुकाने का मौका भी आएगा, जो पिछले दस सालों में भारत को पेशगी मिली थी। इस तरह तीसरी आयोजना में विदेशी मुद्रा की कुल जरूरत ६२ करोड़ डालर होगी।[1]

पूर्व और पश्चिम से मदद

'पहली पंचवर्षीय आयोजना की समीक्षा' मई, १९५७ ई० (भारत सरकार) के अनुसार इस समय में राजकीय क्षेत्र के लिए वाह्य सहायता के रूप में प्राधिकरण ६२.२४ करोड़ डालर का था, जिसमें से इस अवधि में वस्तुतः ४१.२२ करोड़ डालर को काम में लाया गया। कुल प्राधिकरण में से करीब ७८ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका से आया और बाकी में अधिकांश कोलंबो-योजना के देशों, खास कर कनाडा और आस्ट्रेलिया से।[2] पुनर्निर्माण और विकास के अंतर्राष्ट्रीय बेंक का भी २.६५ करोड़ डालर का ऋण था। सोवियत संघ या सोवियत ब्लाक के दूसरे देशों ने कोई पैसा न दिया था।

१९५० के बाद शुरू के सालों में सोवियत संघ का रवैया तेजी से और काफी बदल गया। १९५३ ई० के अंत तक इसका भारत के साथ पहला-पहला व्यापारिक

---

[1] दि न्यूयार्क टाइम्स, ६ जुलाई, १९६० ई०।

[2] कोलंबो-आयोजना एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन है, जो दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के विकास में सहयोग के आधार पर मदद देने के लिए बनायी गई है।

करार हुआ। सितंबर, १९५४ ई० में सोवियत संघ ने एक इस्पात-मिल खड़ा करने के लिए मशीनों और साज-सामान के साथ-साथ तकनीकी सहायता देने की अपनी इच्छा प्रकट की। फलतः राजकीय क्षेत्र में आयोजित तीन इस्पात-संयंत्रों में से एक भिलाई-इस्पात-प्रायोजना के लिए रूसी मदद और सहयोग प्राप्त हुआ। अनुमान है कि इस भारी प्रायोजना की लागत २७.५० करोड़ डालर है, जिसके लिए रूसियों ने १३.२० करोड़ डालर की मदद देने का वचन दिया है, जो इस प्रायोजना के लिए जरूरी विदेशी संसाधनों का एक काफी हिस्सा है। रूसी कर्ज का भुगतान १२ वार्षिक क़िश्तों में करना होगा, जो साज-सामान के हर टुकड़े के दिए जाने के कारण एक साल बाद शुरू होगा और पौंडों में बदलने योग्य समयों में २.५ प्रतिशत वार्षिक की व्याज-दर के साथ चुकाया जाएगा। सोवियत संघ से दूसरा स्वीकृत प्रस्ताव अक्टूबर, १९५६ ई० में आया। यह एक बड़ी विशालकाय मशीन-निर्माण प्रायोजना है, जो शुरू में ४५०००टन की होगी, पर आगे चल कर १,६५,००० टन तक बढ़ाई जा सकेगी। पूरी प्रायोजना से भारत की बढ़ती हुई इस्पात-मिलों की तीन चौथाई मशीनों-संबंधी जरूरत पूरी हो जाएगी। रूस से हुए अंतिम करार में जो दूसरी प्रायोजनाएँ शामिल की गई हैं, वे हैं : एक ताप बिजली-शक्ति केंद्र, जिसमें करीब ३.३६ करोड़ डालर लगेंगे और एक आप्टिकल काँच-कारखाना, जो लगभग २० लाख डालर की लागत का होगा। तकनीकी सहायता रूसी प्रदान करेंगे और भारतीयों के लिए सोवियत संघ में प्रशिक्षण-सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

चेकोस्लोवाकिया के साथ हुए भारत के करार में एक ढलाई भट्टी प्रायोजना के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा में मिलने वाले सामान के लिए २.१ करोड़ डालर का कर्ज है। अप्रैल, १९५७ ई० से भारत में रूमानियाँ की एक तेल-कुआँ बोर करने की मशीन (रिंग) काम कर रही है। राज्य के स्वामित्व में पहली तेल परिष्करणी रूमानियाँ के साथ हुए नए करार के अधीन बनाई जाएगी, जिसमें ३ करोड़ डालर के संयंत्र के लिए जरूरी १.०९ करोड़ डालर के विदेशी मुद्रा के ऋण की व्यवस्था की गई है। राजकीय क्षेत्र में बनाई जाने वाली दूसरी परिष्करणी के वास्ते ब्यौरेवार आयोजना बनाने के लिए सोवियत संघ से निवेदन किया गया है। हीरे के खनन का विस्तार करने की सोवियत सलाह के कारण विद्यमान निजी छोटी कंपनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। भेषज-निर्माण के क्षेत्र में सोवियत तकनीकी सहायता और भारतीय कामगरों के प्रशिक्षण से पेनीसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन और दूसरी प्रतिजैव भेषजों, महत्त्वपूर्ण विटामिनों, मलेरिया-रोधी भेषजों और दूसरे बुनियादी रसायनों के निर्माण का रास्ता खुल गया (१९५८)। इन प्रायोजनाओं के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा की पूर्ति के लिए सोवियत संघ ने २ करोड़ डालर के ऋण का प्रस्ताव किया था। सोवियत ब्लाक द्वारा मदद के लिए दिए

गए वचनों (जनवरी १९५६ ई० तक) के सारांश से पता चलता है कि सोवियत संघ ने २८.० करोड़ डालर की और उसके यूरोपीय सह-देशों ने ४.५ करोड़ डालर की मदद का वादा किया था। सोवियत संघ से मिली कुल रकम ये हैं : भिलाई के लिए ऋण १३.२ करोड़ डालर, भारी उद्योगों के लिए ऋण १२.६ करोड़ डालर, भेषजों के लिए ऋण २ करोड़ डालर और फुटकर अनुदान लगभग २० लाख डालर। दूसरे साम्यवादी देशों के कुल योग में ये आते हैं : चेकोस्लोवाकिया से कर्ज २.१ करोड़ डालर, रूमानियाँ से कर्ज १.१ करोड़ डालर, और पूर्वी जर्मनी, पोलैंड एवं दूसरे देशों से कुल विभिन्न कर्ज लगभग १.३ करोड़ डालर।

इन कार्यक्रमों के फलस्वरूप भारत का व्यापार सोवियत ब्लाक के देशों के साथ काफी बढ़ा है, हालांकि १९५७ ई० में उसके कुल विदेशी व्यापार का यह ४ प्रतिशत था। रूस से १९५५ ई० के आयात में निबल अतिरिक्त रहा है। इसलिए भारत सोवियत संघ और उसके सह-देशों के साथ अपना निर्यात बढ़ाने के लिए चिंतित है।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९५६-६१ ई० (दूसरी आयोजना) के भारतीय विकास-प्रयास में पश्चिमी जगत ने साम्यवादी देशों से प्राप्त विदेशी संसाधनों का छह गुने से भी ज्यादा दिया है।[1] इस जोड़ का आधे से ज्यादा संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न कार्यक्रमों के अधीन आया है और पुनर्निर्माण एवं विकास के अंतर्राष्ट्रीय बैंक से अतिरिक्त २० प्रतिशत। तकनीकी सहायता के अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका के कार्यक्रमों के तीन रूप रहे हैं : (क) देशी खेतिहर उपज के रूप में बिक्री, भेंट या ऋण, (ख) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्रशासन द्वारा उपलब्ध किए गए नियमित कार्यक्रम के कोष के रूप में मदद और (ग) निर्यात-आयात बैंक, राष्ट्रपति की एशियाई विकास-निधि और विकास-ऋण-निधि में से दिए गए कर्ज। इसके अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका के निजी संगठनों जैसे फोर्ड और रॉकफेलर प्रतिष्ठान से लगभग ८ करोड़ डालर की मदद के मिलने का अनुमान है। संयुक्त राज्य अमेरिका की मदद का महत्त्वपूर्ण अंश देशी खेतिहर उपजों का भेजा जाना है। भारत में खाद्य के भारी अभाव की दृष्टि में इसका बहुत गहरा महत्त्व है, हालांकि इसकी तुलना नई इस्पात-मिल जैसी किसी ठोस प्रायोजना के साथ नहीं की जा सकती है। तकनीकी सहायता के अलावा संज्य रायुक्त अमेरिका की सरकार की सहायता ने यह पहले बताई जा चुकी सामुदायिक विकास प्रायोजनाओं और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा जैसे देहाती विकास-कार्यक्रमों में भी भारी योगदान दिया है। उद्योग और खनन-विकास एवं

---

[1] विल्फ्रेड मैलेनबोम, भारत के विकास में पूर्व और पश्चिम का योगदान (ईस्ट ऐंड वेस्ट इन इंडियाज डेवलपमेंट), वाशिंगटन नेशनल प्लानिंग एसोसिएशन, १९५९, पृष्ठ ४४।

खनन-प्रायोजनाओं को संयुक्त राज्य अमेरिका के कार्यक्रमों में कम महत्त्व दिया गया है।

पुनर्निर्माण और विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक भी भारत को कर्ज देने का एक और महत्त्वपूर्ण स्रोत रहा है और उसने ३१ दिसंबर, १९५८ ई० तक कुल ३८.५० करोड़ डालर के ऋण दिए हैं। कोलंबो-आयोजना के दूसरे देश बहुत समय से जो मदद देते रहे हैं और जापान, जर्मनी और ब्रिटेन द्वारा हाल में ही दी गई मदद भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः दूसरी आयोजना की दो और चोटी की मदें थीं—ब्रिटेन से सहायता प्राप्त दुर्गापुर की इस्पात-मिल और जर्मनी से सहायता प्राप्त राउरकेला का संयंत्र।

सारणी—१७ निजी निधियों का आना बताती है। वस्तुतः पश्चिमी देश से पूँजी का प्रवाह काफी बढ़ता रहा है। निजी विदेशी निवेश के प्रति भारतीय रवैये की घोषणा एक नीति के वक्तव्य में की गई थी, जिसमें विदेशी और देशी पूँजी के बीच कोई भेदभाव न करने और विदेशी पूँजी को न हड़पने का वादा किया गया था। इस वक्तव्य में साथ ही भारत की घोषित औद्योगिक नीति के वक्तव्य और उसकी आर्थिक आयोजानाओं की सीमाओं के भीतर रहते हुए भारत में विदेशी निजी निवेश को भी आमंत्रित किया गया था।

सारणी १७—दूसरी आयोजना १९५६-६१ के दौरान अनुमानित विदेशी ऋण और अनुदान

(करोड़ डालरों में)

	३१ दिसंबर, १९५८ तक	१ जनवरी, १९५९ से ३१ मार्च, १९६१ तक संभाव्य	जोड़
सोवियत संघ	२८	१५	४३
सोवियत गुट के दूसरे देश	४.५	२.५	७.०
पुनर्निर्माण और विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक	३८.५	११.५	५०.०
अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष	२०.०	(—)७.५	१२.५
संयुक्त राज्य अमेरिका	१०३.०	४०.०	१४३.०
कोलंबो-आयोजना के दूसरे देश	१५.०	१०.०	२५.०

यूनाइटेड किंगडम	१५.०	—	१५.०
पश्चिमी जर्मनी	४.०	६.०	१०.०
जापान	६.०	—	६.०
निजी निधियों से	२२.५	१०.०	३२.०
जोड़	२५६.५	८७.५	३४४.०

स्रोत—विल्फ्रेड मैलेनबोम, भारत के विकास मे पूर्व और पश्चिम का योगदान (ईस्ट एँड वेस्ट इन इंडियाज डेवलपमेंट), वाशिंगटन, नेशनल प्लानिंग एसोसिएशन, १९५९, पृष्ठ ५० ।

निजी क्षेत्र में भारत और विदेशी पूँजी ने विशिष्ट निवेश प्रायोजनाओं में मिलजुल कर योगदान दिया है और विदेशी पूँजी का अनुपात सभी संयुक्त प्रायोजनाओं में कुल निवेश का करीब चौथाई रहा है। हालांकि आजादी के बाद के सालों में विदेशी उपक्रमों के प्रति भारत का रुख क्रमशः ज्यादा मैत्रीपूर्ण होता गया है, पर फिर भी विदेशों में भारत को अनुकूल निवेश-स्थल मानने में अभी हिचकिचाहट है। हालांकि निजी पूँजी का भारत में आना भविष्य के लिए अच्छी बात है, पर अभी तक यह इस बिंदु तक नहीं पहुँची है, जिसे आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कहा जा सके।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, राजकीय क्षेत्र में पश्चिमी राष्ट्रों से मिली कुल मदद पूर्वी या सोवियत गुट के देशों से मिली मदद से कहीं ज्यादा है। फिर अंतर रकम की अपेक्षा और भी है; दृष्टिकोण में भी अतर है। साम्यवादी मदद कार्यकलाप के संकीर्ण क्षेत्र में ही केंद्रित लगती है, जबकि पश्चिमी राष्ट्रों से मिली मदद मोटे तौर पर विकास-प्रयास के पूरे कार्यक्रम में ही व्याप्त है। साम्यवादी मदद को प्रायोजनाविशेष के रूप में अलग किया जा सकता है। साम्यवादियों का आग्रह भारी उद्योग-कार्यक्रमों पर है, जबकि पश्चिमी सहायता का उद्देश्य कृषि और उद्योगों, देहाती जीवन और शहरी जीवन का संतुलित प्रसार है। साम्यवादी सहायता केवल वाणिज्यिक आधार पर है और इसकी न्यून व्याज-दरें एवं सस्ती किश्तें प्रचार की बातें हैं। इसके सामने पश्चिमी सहायता का काफी हिस्सा बिल्कुल सहायता के ही रूप में है; हालांकि ऋणों पर उसकी ज्यादा व्याज-दरों के बारे में अक्सर बहुत ज्यादा विरोधी प्रचार किया जाता है।

पश्चिमी लोकतंत्रों और साम्यवादी गुट के देशों दोनों ही के द्वारा बढ़ती हुई मात्रा में भारत के विकास में आर्थिक योगदान देते जाना ध्यान देने योग्य बात है।

इससे इस बात की झाँकी मिलती है कि इस राष्ट्र के विकासों को इस समय बाकी दुनिया क्या महत्त्व दे रही है। तीनों ही आयोजनाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत के आर्थिक विकास-संबंधी उद्देश्यों के पूर्ति केवल घरेलू संसाधनों से नहीं की जा सकती। आयोजना बाहर की दुनिया को खुले आम भाग लेने का आमत्रण दे रही है, पर दुर्भाग्य से उन्होंने जरूरी विदेशी मदद की विशिष्ट चीजों को खास तौर पर स्पष्ट करके नहीं बताया है। उलटे वे बताती हैं कि विकास-कार्यक्रमों के भुगतान शेष के पहलुओं के लिए जरूरी है कि 'वाह्य सहायता इस रूप में मिले कि उसके द्वारा दिए गए विदेशी मुद्रा-संसाधनों के उपयोग में लचीलापन रहे।'[1] फिर भी भारत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'विदेशी मदद के साथ कोई राजनीतिक बंधन नहीं होना चाहिए। विदेशी सहायता तभी स्वीकार की जाएगी, जब उसके साथ, स्पष्ट या अस्पष्ट, कोई ऐसी शत नहीं होगी, जो अंतर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाने की देश की समर्थता के ऊपर दूर से भी कोई असर डाल सकें।'[2] हमेशा ही व्याज और भुगतान की बंदिशों के बावजूद अनुदानों की अपेक्षा ऋणों को ज्यादा पसंद किया जाता रहा है। साथ ही दुनिया से बहुत ज्यादा कर्ज न लेने के लिए भी भारत की चिंता बहुत ही स्पष्ट है। यह समझा गया है कि ऐसा करने से आज की समस्या तो हल हो जाएगी, पर भविष्य के लिए और दूसरी समस्याएँ खड़ी न हो जाएँगी।

अक्सर यह बताया गया है कि विदेशी मुद्रा की 'खाई' या जरूरत का भारत ने जो आयोजित अनुदान लगाया है; वह कम रहा है। दूसरी आयोजना में आयोजित 'खाई' की तुलना में वास्तविक 'खाई' का चौड़ा हो जाना इस बात की पुष्टि करना है और यही पुष्टि तीसरी आयोजना में विदेशी मुद्रा की जरूरत के बढ़े हुए अनुमानों से भी हो जाती है। विदेशी विशेषज्ञों की यह राय है कि भारत में पूँजी निवेश से पैदा होने वाली उत्पादकता में वृद्धि के भारतीय अनुमान ज्यादा ऊँचे रखे गए थे और इससे 'खाई' के पैदा होने में मदद मिलती है। यह निश्चित है कि तीसरी आयोजना को सफल बनाने में भारत को काफी विदेशी मदद की जरूरत है, जिसके लिए वह पूर्व और पश्चिम दोनों की ओर देख रहा है। इस प्रकार भारत की आयोजनाएँ और भावी सफलताएँ बाकी दुनिया की आशाओं-आकांक्षाओं के साथ काफी गुँथी हुई हैं, भले ही उसके आर्थिक विकास के स्वरूप और समय के बारे में लोकतंत्री गुट और एकतंत्री गुट के हित बिलकुल अलग-अलग हैं। प्रत्येक गुट यह विश्वास करता

---

[1] भारत सरकार, पहली पंचवर्षीय आयोजना, पृष्ठ ६५।

[2] वही, पृष्ठ २६।

है कि भारत के भावी विकास के लिए दूसरे गुट की अपेक्षा उसी के आर्थिक इतिहास, दर्शन और सफलताएँ ज्यादा संगत हैं।

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. क्या इस नतीजे पर पहुँचना संभव होगा कि पहली और दूसरी पंचवर्षीय आयोजनाओं को सफलता के साथ पूरा किया गया ?

२. भारत के भावी आर्थिक विकास की संभावना के लिए आबादी और खाद्य-संभरण की समस्याएँ आशावाद की ओर ले जाती हैं या निराशावाद की ओर ?

३. वृद्धिशील पूँजीनिकास अनुपात किस प्रकार आयोजना के लिए महत्त्वपूर्ण होता है ?

४. क्या यह कहना सुसंगत होगा कि उत्पादन-क्षमता का उपयोग चल रहा है और साथ ही नए औद्योगिक विस्तार की आयोजना बनाई जा रही है ?

५. भारत को अपने आयोजित आर्थिक विकास में विदेशी वित्तीय मदद की इतनी ज्यादा जरूरत क्यों है ?

६. भारत को आर्थिक मदद तुलना में किसने ज्यादा दी है, साम्यवादी राष्ट्रों ने या असाम्यवादी राष्ट्रों ने ?

७. तीसरे आयोजनाकाल के लिए विदेशी मदद और ऋणों के बारे में आयोजक आशावादी हैं या निराशावादी ?

आठवें भाग के लिए छात्र-प्रतिवेदनों के लिए विषय

१. कांग्रेस दल का इतिहास।

२. अल्पमत राजनीतिक दलों के कार्यक्रम।

३. किन कारणों से ब्रिटेन वाले सन् १९४७ ई० में भारत को पूरी तरह आजादी देने को तैयार हो गए ?

४. राष्ट्रीय आयोजना आयोग का संगठन और व्यक्ति।

५. भारत की शिक्षा-प्रणाली और अर्थतंत्र से उसका संबंध।

६. भारत में निजी निवेश के बारे में अमेरिकी व्यापारिक फर्मों का रूख।

७. भारतीय गाँव का समाजशास्त्रीय ढाँचा।

८. भारत में सहकारिता आंदोलन।

९. कौन-कौन से कारण भविष्य में भारत की आबादी बढ़ने पर प्रभाव डालेंगे ?

१०. १९५० ई० से भारत को अमेरिकी सहायता का विशद सर्वेक्षण।

आठवें भाग के लिए और आगे पढ़ाई के बारे में सुझाव

वी० एंसटे ; दि इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया, न्यूयार्क, लौंगमैंस ग्रीन, १९५२ ई० ।

जे० एच० ब्रिमेल ; कम्युनिज्म इन साउथ-ईस्ट एशिया, न्यूयार्क, आॅक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९ ई० ।

बी० दत्ता ; इकोनॉमिक्स ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन, कलकत्ता, वर्ल्ड प्रेस १९५७ ई० ।

वी० एम० डीन ; न्यू पैटर्न्स आॅफ डेमोक्रेसी इन इंडिया, कैंब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९ ई० ।

डवल्यू० मालेनबौम ; ईस्ट एंड वेस्ट इन इंडियाज डेवलपमेंट, वाशिंगटन, नेशनल प्लानिंग एसोसिएशन, १९५९ ई० ।

एफ० मोराएस ; इंडिया टुडे, न्यूयार्क, मैकमिलन, १९६० ई० ।

जे० डी० ओवरस्ट्रीट और एम० विंडमिलर ; कम्युनिज्म इन इंडिया, बर्कले, यूनिवर्सिटी आॅफ केलिफोर्निया प्रेस, १९५९ ई० ।

के० एम० पनिक्कर ; कॉमनसेंस एबाउट इंडिया, लंदन गोलेंज, १९६० ई० ।

डी० एल० स्पेंसर : इंडिया मिक्स्ड इंटरप्राइजेज एंड वेस्टर्न बिजनेस, दि हेग, निकौफ, १९५९ ई० ।

वी० वकील और वी० आर० ब्रह्मानंद ; प्लानिंग फोर ऐन एक्सपेंडिंग इकोनॉमी, न्यूयार्क, इंस्टीट्यूट ऑफ पेसिफिक रिलेशंस, १९५६ ई० ।

डब्ल्यू० एस० वौर्यटिस्की ; इंडिया : दि एवेकनिंग जाइंट, न्यूयार्क हर्पर १९५७ ई० ।

अध्याय ३३

संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद का भविष्य

हमने संयुक्त राज्य अमेरिका के अपने पूँजीवादी अर्थतंत्र के स्वरूप और उसकी संस्थाओं का पूँजीवाद-संबंधी पिछले अध्यायों में अध्ययन किया था और उसकी कुछ सफलताओं और अभावों की जाँच की थी। इस समय जो जनमत है, वह भौतिक समृद्धि की उच्च कोटि के आधार पर बना है और इस समय किसी भी महत्त्वपूर्ण वर्ग की ऐसी आकांक्षा बिंबित नहीं करता कि इस अर्थतंत्र को मूलभूत रूप में किसी भी प्रकार से बदलने की कोई जरूरत है। इसलिए हमें उन संभावनाओं और संभाव्यताओं का अध्ययन करने की जरूरत है, जिनसे हमारा अर्थतंत्र मानवता की सेवा उससे भी अच्छे रूप में कर सके, जैसी कि उसने अतीत में की है।

हमारी पूँजीवादी प्रणाली में अतीत में जो कमियाँ रही हैं, उनमें से कुछ बढ़ती हुई प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय और विभिन्न सरकारी कार्रवाइयों के कारण दूर हो गई हैं। इस प्रकार आर्थिक असमानता की जिस समस्या पर एक पीढ़ी पहले ज्यादा जोर दिया जाता था, वह प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के स्तर के बढ़ने के कारण सब मिला कर महत्त्वहीन होती जा रही है। जहाँ तक कर काटने के बाद शेष पारिवारिक आय का संबंध है, अब हमारे परिवारों के कुछ थोड़े प्रतिशत सबसे छोटे और सबसे ऊँचे आय-वर्गों में रखे जा सकते हैं। लाभ के अभिप्रेरण पर चलने वाली प्रणाली में पैसे के मूल्यों और मानव-मूल्यों के बीच के बुनियादी संघर्षों को कभी भी पूरी तरह से नहीं निपटाया जा सकता। लेकिन, हमारे पास बहुत कुछ एक ऐसा विनियामक तंत्र है, जो इन दो मूल्य-वर्गों के बीच की खाई को पाट सकने में समर्थ है। अनुपार्जित आय जिस अर्थ में हमने उसे लिया है, पूँजीवादी अर्थतंत्र में सहज ही मिलती है। फिर भी भारी उत्तराधिकार-कर, पूँजी लाभ-कर और प्रगतिशील आय-कर दरों ने इसके महत्त्व में सुधार कर दिया है। एकाधिकार हमारे यहाँ सदैव रहेगा। पर, साथ ही इसकी शक्ति को सीमित करने के साधन विद्यमान हैं और

उनके प्रभावी होने की मात्रा इस बात पर निर्भर है कि कितनी तेजी के साथ हम उसका प्रयोग करते हैं। समाजवादियों के लिए स्पर्द्धी उद्योग की बर्बादी आलोचना का एक प्रिय विषय रहा है। पर, जैसे-जैसे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ती जाती है, वह ज्यादा बर्दाश्त करने योग्य होती जाती है। व्यक्ति की आर्थिक असुरक्षा, बीमारी, बेरोजगारी या बुढ़ापे के कारण परिवार की आय का रूक जाने के खिलाफ बीमा के 'सामाजिक सुरक्षा' कार्यक्रमों का उपाय अपनाया जाता है और इस कार्यक्रम के क्षेत्र एवं विस्तार को ज्यादा-से-ज्यादा विशद् बनाने के लिए हमारे प्रमुख राजनैतिक दल एक दूसरे से आगे निकल जाने की कोशिश करते हैं।

भावी समस्याएँ

हालांकि जिन आर्थिक क्षेत्रों की बात अभी कही गई है, उनमें मानव की जरूरतों की ज्यादा अच्छी सेवा करने के लिए हमारे अर्थतंत्र को ढालने की दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। पर जैसी स्थिति आज है, पूँजीवाद के जो अभाव हैं, उनके कारण संयुक्त राज्य अमेरिका में उसके लगातार स्वीकार किए जाते रहने में कोई खतरा नहीं है। फिर भी जो लोग हमारी पूँजीवादी प्रणाली के भविष्य का निर्माण करने का प्रयास करते हैं, उनको दो बातों को लेकर ज्यादा चिंता होती हैं। प्रश्नों के रूप में इन दोनों बातों को नीचे लिखे प्रकार से रखा जा जकता है :—

(१) क्या हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र के भावी स्वरूप में उसके आर्थिक संसाधनों, सा मग्रियों और मानव-साधनों के पूरी तरह से और स्थिर रूप से काम में लगाया जाना संभव हो सकता है और होगा तथा यह मुद्रास्फीति को गंगीर रूप से नहीं बढ़ाएगा ?

(२) क्या हमारे समाज के विभिन्न आर्थिक हित और प्रभावशील वर्ग सामाजिक उत्पादन बढ़ाने के लिए सहयोग कर सकते हैं या करेंगे, न कि केवल उसका ज्यादा हिस्सा पाने के लिए स्पर्द्धा करते रहेंगे ?

इन दो प्रमुख समस्याओं के विश्लेषण की ओर, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद के भविष्य को अंधकार में डाल रही हैं, ध्यान देने के पहले हमें इस बात को देखना होगा कि एक पूँजीवादी प्रणाली में इन समस्याओं का सरकारी कार्रवाई द्वारा सामना करने के लिए जो कुछ किया जा सकता है, उसकी कुछ स्वजात सीमाएँ होती हैं। पूँजीवाद के लिए यह बुनियादी बात है कि उत्पादन के ऊपर फैसला करने वाला नियंत्रण उत्पादन के माल के स्वामियों या 'प्रबंध' के उनके प्रतिनिधियों के ऊपर छोड़ दिया जाए। अगर व्यापार के संबंध में फैसला करने का काफी हिस्सा सरकारी आर्थिक आयोजना अभिकरणों के ऊपर छोड़ कर, पूरा स्थिर रोजगार प्राप्त

किया जाए, तो हमारा पूँजीवादी अर्थतंत्र जीवित न रह सकेगा। पूँजीवाद का एक आंतरिक गुण यह है कि व्यक्ति के अपने आर्थिक अधिकारों पर जोर दिया जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका में हमने इस अधिकार की व्याख्या में कुछ बंधनों के साथ हमेशा इस बात को शामिल माना है कि व्यक्ति को समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के साथ सहयोग करने का पूरा अधिकार है। अगर इस अधिकार को सारतः कम कर दिया जाए, तो हमारे समाज में आर्थिक हित वाले वर्गों की कोई समस्या न रह जाएगी, पर पूँजीवाद के एक अत्यावश्यक लक्षण या गुण का लोप हो जाएगा। इसलिए मोटे तौर पर भविष्य की समस्या यह है कि संभव हो, तो किस प्रकार स्थिर पूरा रोजगार और सहयोग विभिन्न आर्थिक हित वर्गों के बीच लाया जा सकता है और इसके लिए सरकार को उतना सर्वशक्तिमान् न बनाना पड़े, जिससे हमारा अर्थतंत्र समाजवादी या किसी दूसरे गैर-पूँजीवादी रूप में बदल जाए।

स्थिर पूरा नियोजन

किसी ने कहा है कि अगर दुनिया के सभी अर्थशास्त्रियों को इकट्ठा किया जाए, तो कभी भी किसी एक नतीजे पर न पहुँच सकेंगे। हालांकि आर्थिक विवाद के बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं, जिनके मामले में यह बात सारतः सच है। पर, यह स्थिर पूरे नियोजन के ऊपर लागू नहीं होती। इस मामले में व्यावसायिक अर्थशास्त्री, 'शास्त्रीय' और वे जो निजी कारवार के साथ संवद्ध हैं, दोनों इन दो नतीजों को लेकर प्रायः सर्वसम्मत हैं कि (१) स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करना अमेरिकी पूँजीवाद की एक प्रमुख दीर्घकालीन समस्या है, (२) इसे किस तरह सुलझाया जाए, इस बात का ज्ञान ब्यौरे की कुछ बातों में हेरफेर के बावजूद आज विद्यमान है। यहाँ पर हम सभी प्रकार के उत्पादक संसाधनों के 'चक्र' अ-नियोजन की बात करते हैं, नई और ज्यादा अच्छी प्रकार की औद्योगिक मशीनों तथा प्रक्रियाओं द्वारा विस्थापित व्यक्तियों के 'शिल्प-विज्ञानी' बेरोजगार की बात नहीं करते। पिछली बात इस अध्याय के क्षेत्र के बाहर है। हाँ, बाद में इस वारे में कुछ सुझाव दिए गए हैं।

स्थिर पूरे नियोजन का महत्त्व

स्थिर पूरे रोजगार का अभाव हमारी पूँजीवादी प्रणाली के लिए सचमुच एक बड़ा खतरा है। अर्थशास्त्री इसे इस रूप में मानते हैं, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि अर्थशास्त्र की बहुत-सी चर्चाएँ और साहित्य इस बारे में होता है। वस्तुतः यह हर ऐसे उद्योगपति के लिए शाश्वत चिंता का विषय रहा है, जो अपने तत्काल लक्ष्य के परे देख सकता है। कारबार की पत्रिकाओं में इस तरह की कार-

बार-संभावनाओं के बारे में भविष्यवाणियाँ, संदेह, आशंकाएँ, आशाएँ और आलोचनाएँ भरी पड़ी रहती हैं। जब यह अध्याय लिखा जा रहा है, उसी समय यह आशंका व्यक्त की जाने लगी है कि स्थायी उपभोक्ता द्रव्य खरीदने के लिए कर्ज बहुत ज्यादा दिए जा चुके हैं। यह आशंका है कि इस प्रयोजन से ऋण-विस्तार को सीमा तक बढ़ाने पर बिक्री का स्तर गिर सकता है और माँग के त्वरण के सिद्धांत के अनुसार इसका भारी उद्योगों पर प्रभाव पड़ेगा और फलस्वरूप कारबार में गंभीर अस्थिरता आएगी। इनमें से अधिकांश आशंकाएँ मोटरगाड़ी-उद्योग के संचालन के ऊँचे स्तर बनाए रखने की सामर्थ्य को ले कर हैं, जिसके कारण इस्पात और दूसरी चीजों की माँग का स्तर ऊँचा हो गया है। कामगर और उनके संघ यह आशंका करते हैं कि मशीनें मनुष्यों को विस्थापित कर देंगी और निर्माता उद्योगों में 'आत्मगतिक' मशीनों के बढ़ने से मनुष्यों की बेरोजगारी बढ़ जाएगी। जब तक इन पंक्तियों को पढ़ा जाएगा, तब तक इन आशंकाओं के स्थान पर दूसरी नई आशंकाएँ आ जाएँगी। यह भविष्यवाणी करना ज्यादा ठीक होगा कि इन समस्याओं का क्षेत्र कैसा भी हो, एक बात निश्चय ही सामने आती है कि अमेरिकी पूँजीवाद की एक प्रमुख समस्या यह है कि भविष्य में उत्पादक संसाधनों का पूरा स्थिर नियोजन किस प्रकार आश्वस्त किया जाए।

युद्धकालीन उत्पादन को एक ओर रखा जाए और दूसरी ओर १९३० ई० की मंदी के निचले स्तर को रखा जाए, तो स्थिर पूरे रोजगार की समस्या और ज्यादा उच्चावच रूप में हमारे सामने आती है। १९३२ ई० में हमारी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १९३५-१९३९ ई० के डालरों के रूप में मापने पर केवल ३३४ डालर आती है, जब कि १९४४ में वह ९२७ डालर थी। युद्धकालीन स्थिति के उद्दीपन के अधीन प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १२ सालों के बीच अपने पिछले स्तर के पौने तीन गुने से ज्यादा बढ़ गई। भौतिक उत्पादन का देशनांक निर्माता उद्योगों में १९३२ के ५८ के निम्न बिंदु से बढ़ कर १९४४ में २३९ के उच्च बिंदु तक पहुँच गया, जो १९३२ ई० के स्तर से चार गुनी ऊँचाई थी। जो दृष्टिकोण यह मान कर चलता है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अपने १९२९ ई० के स्तर से १९४४ ई० के स्तर तक समान वार्षिक वृद्धि के आधार पर बढ़ सकती थी, उस दृष्टि से उत्पादन के घाटे को देखना बड़ा अजीब लगता है। अगर ऐसा होता, तो संयुक्त राज्य अमेरिका में हर व्यक्ति को इस अवधि में उसे वास्तव में मिली रकम से औसत रूप में ३००० डालर की ज्यादा वास्तविक आय मिली होती। चार व्यक्तियों के परिवार में यह १२,००० डालर होती और पूरी आबादी के लिए १९३५-१९३९ ई० की क्रय शक्ति के अनुसार यह ३८० अरब डालर होती। १९२९-१९४४ई० अवधि का 'खोया हुआ' यह उत्पादन

१९४० ई० में अनुमानित ३०० अरब डालर के राष्ट्रीय धन से सारतः ज्यादा था। चूँकि इस अनुमान में प्रकृति द्वारा दी गई धरती का मूल्य भी शामिल है, अगर हमारी 'खोई हुई' उत्पादन शक्ति का वास्तव में उपयोग किया जाता, तो १९४०ई० में विद्यमान धन के प्रत्येक अंश का दोहरा तो कर ही लिया जाता और कुछ अरब डालर बाकी भी बच रहते।[1]

सच यह है कि १९३० ई०के काद के दशक में उद्योग के बाद उद्योग, संयंत्र, श्रम और संसाधन, जो वांछित आर्थिक माल बहुत ज्यादा मात्रा में उत्पादित कर सकते थे, बेकार होते गए। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के इस्पात-उद्योग में सन् १९३० से १९४० ई० तक इस्पात पैदा करने के साज-सामान की औसत उत्पादन-क्षमता करीब ७.८ करोड़ निबल टन प्रति साल थी, जब कि इस्पात का औसत वार्षिक उत्पादन करीब ३८५ लाख टन ही रहा। अगर इन ११ सालों में यह उद्योग पूरी क्षमता के साथ चला होता, तो उसके द्वारा वास्तव में पैदा किए गए इस्पात के अलावा ४० करोड़ टन इस्पात और ज्यादा पैदा किया गया होता। एक 'संयुक्त राष्ट्र विश्व-आर्थिक-सर्वेक्षण' में बताया गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्धोत्तर जो तीन मंदियाँ आईं (सन् १९४८-१९४९, १९५३-५४, १९५७-१९५८ ई०)। वे भले ही हल्की रही हों, उनसे संयुक्त राज्य अमेरिका के लोगों को करीब ३५-४० अरब डालर के मूल्य के माल का घाटा रहा, जो अन्यथा इस अवधि में पैदा किया गया होता।[2]

स्थिर पूरे नियोजन की संकल्पना

पूँजीवादी अर्थतंत्र में स्थिर पूरे नियोजन की जरूरत की बात या चिंता करने वाले अधिकांश लोगों ने इस बात को बिल्कुल नहीं या बहुत कम सोचा है कि इस संकल्पना का असली मतलब क्या है। यह मानना होगा कि एक ऐसे अर्थतंत्र में, जिसमें केंद्रीय आयोजना या सरकारी प्रबंध नहीं होता, उसमें पूर्णतः स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं है। जहाँ कारबार से लाभ चाहने वाले, कामगर, निवेश लगाने वाले और उपभोक्ता सभी को अपने निजी आर्थिक कार्यकलाप के बारे में अपने निजी फैसले करने के लिए सारतः मुक्त छोड़ दिया जाता है, वहाँ ये फैसले पूरी तरह से हर समय ऐसे आपस में जुड़े हुए नहीं होंगे कि हर प्रकार के

---

[1] स्पष्ट ही बाकी बचे रहने वाले अरबों डालर युद्धकाल में व्यक्तियों के रोजगार द्वारा उत्पादन के विस्तार के लिए काफी होते। इन व्यक्तियों को हमारे सामान्य श्रम-बल के अंग स्वरूप नहीं माना जा सकता।

[2] १९५८ ई० का विश्व-आर्थिक-सर्वेक्षण, जो २६ मई १९५९ ई० के 'दि न्यूयार्क टाइम्स' में दिया गया था।

उत्पादन-संसाधन के प्रत्येक अंश का पूरा-पूरा उपयोग हर समय किया जा सके। अगर कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है, जो करीब-करीब परिपूर्ण रूप में ऐसा कर देती है, तो भी वह स्थायी रूप में उस तरह लगातार नहीं चल सकती। इसलिए अर्थशास्त्री स्थिर पूरे नियोजन के दो मतलब लगाते हैं। वह हमारे सभी संसाधनों का एक ऐसी मात्रा तक लगातार उत्पादक उपयोग है, जो तथाकथित सहनीयता की सीमा में आती है। ये सीमाएँ उस मशीनज्ञ द्वारा लगाई जाने वाली सीमाओं-जैसी होती हैं, जो धातु के एक टुकड़े को निर्दिष्ट मोटाई तक काटता है। अगर वह बताई गई मोटाई से ०-००१ इंच जितनी मोटाई तक भी काट लेता है, तो यह कहा जाता है कि वह अपना काम संतोषजनक रूप में अच्छा कर रहा है। आर्थिक स्थिरता की सहनीयता की सीमा एक समयावधि में कितनी होगी, इसको ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। उत्पादक संसाधन, जो इसमें लगते हैं, इतने भिन्न प्रकार के होते हैं कि पूरे नियोजन का कोई ऐसा समरूप पैमाना नहीं होता, जो उसमें से प्रत्येक में लगाया जा सके। फिर भी आर्थिक अस्थिरता को अक्सर श्रम के अनियोजन के रूप में ही प्रथमतः देखा जाता है। इस अर्थ में यह कहा गया है कि सहनीयता की सीमा तीन या चार प्रतिशत होनी चाहिए और इसमें तकनीकी रूप से अनियोजित लोग शामिल नहीं हैं। अगर संभाव्य श्रम, बल लगभग सात करोड़ व्यक्ति हो, तो इसका मतलब है कि लगभग २१ से २८ लाख बेरोजगार व्यक्ति सहनीयता की सीमा में आएँगे। हाँ, किसी भी समय इनमें से बहुत से लोग एक नौकरी से दूसरी में जाने की प्रक्रिया में होंगे।

स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने की संभावना

जब हम इन शब्दों में सोचते हैं, तो अर्थशास्त्रियों का विचार लगभग एकमत रहता है कि अपने पूँजीवादी अर्थतंत्र के काम करने का हमारा जो आज का ज्ञान है, वह उत्पादक संसाधनों के पूरे नियोजन से काफी इधर-उधर हो जाने को रोक देना संभव बना देता है। (हम बाद में उन कारणों को लेंगे कि इस सिलसिले में 'संभव' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है और 'संभाव्य' या 'निश्चित' शब्द का क्यों नहीं)। यह सर्वसम्मति इस विश्वास को शामिल करती है कि स्थिर पूरे नियोजन को संभव बनाने वाले ठोस साधन पूँजीवादी प्रणाली की संस्थाओं में मिल सकते हैं और उनका उपयोग करने से हमारा अर्थतंत्र समाजवादी या किसी दूसरे गैर-पूँजीवादी प्रकार के आर्थिक संगठन की ओर नहीं चला जाएगा। अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया जाने वाला यह आश्वासन 'आर्थिक सिद्धांत' के विज्ञान में की गई उस ताजी प्रगति को बिंबित करता है, जो भौतिक विज्ञानों के समानांतर या संभवतः वैसी ही हैं। २५ वर्षों के समय में अर्थशास्त्र के अध्ययन को रोबिन्सन क्रूसो या वस्तु विनि-

मय वाले अर्थतंत्र के परीक्षण से आगे बढ़ाकर अब उसे पूँजीवादी अर्थतंत्र में कारण-कार्य-प्रभाव-संबंध के सूक्ष्म और कुशल ज्ञान तक पहुँचा दिया गया है, जिसका संबंध लाभ अभिप्रेरित फैसला करने और धन के प्रवाह तथा वित्तीय लेन-देन से है। इस विकास से ही पूँजीवादी अर्थतंत्र में आर्थिक स्थिरीकरण का सिद्धांत विकसित हुआ है।

यह केवल आर्थिक सिद्धांत का विकास नहीं है, जिसने इसे संभव बना दिया है। वर्षों की इसी अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार हमारे अर्थतंत्र में प्रभाव की ऐसी स्थिति तक आगे बढ़ी है, जो बिल्कुल नया है। १९३० ई० के बाद की आर्थिक मंदी ने जो शक्तियाँ पैदा कीं, और दूसरे विश्व युद्ध और उसके बाद जो अनुपूरक तत्त्व सामने आए, उन्होंने सरकार को तुलना में सबसे बड़ा आय पाने वाला, सबसे बड़ा खर्च करने वाला, सबसे बड़ा उधार लेने वाला, सबसे बड़ा उधार देने वाला, और राष्ट्र का सबसे बड़ा रोजगार देने वाला बना दिया। १९६० ई० में रोजगार में लगे हुए संयुक्त राज्य अमेरिका के हर ९ व्यक्तियों में से एक व्यक्ति सरकारी—संघीय, राज्य या स्थानीय—नौकरी में लगा था। १९६० ई० में माल और सेवाओं की सरकारी खरीद लगभग सौ अरब डालर थी, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में बेचे गए सभी माल और सेवाओं की लगभग २० प्रतिशत थी। संघीय सरकार का सालाना बजट ८० अरब डालर है और वह सरकारी इकाइयों में बहुत विशाल है। साथ ही सहायक अनुदानों के कार्यक्रम के जरिए संघ सरकार, राज्य के और स्थानीय सरकारों के आर्थिक फैसलों के ऊपर काफी प्रभाव डालती है। संघीय खजाने की नीतियाँ और संघीय रिजर्व बैंक प्रणाली के साथ संघ सरकार का निकट का संबंध कुछ ऐसे दूसरे साधन हैं, जो आर्थिक शक्तियों पर प्रभाव डालते हैं।

आर्थिक सिद्धांत में विकास और सरकार के आर्थिक कार्यों में खास कर राष्ट्रीय स्तर पर हुए विकासों के जरिए अब हमारे पास वे साधन आ गए हैं कि हम पूरे नियोजन के चक्र विनाश को प्रभावी रूप से निपटा सकें।[1]

---

[1] सरकार की आर्थिक संक्रियाओं के दीर्घकालीन बढ़ते हुए महत्त्व के ब्यौरे वार विश्लेषण के लिए देखिए—सोलोमैन फैब्रीकैंट, गवर्नमेंट इन इकोनॉमिक लाइफ, न्यूयार्क, ३५वीं वार्षिक रिपोर्ट, राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो, १९५५, और सोलोमन फैब्रीकैंट, दि ट्रेंड ऑफ गवर्नमेंट ऐक्टिविटी इन दि यूनाइटेड स्टेट्स सिन्स, १९००, न्यूयार्क, राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो, १९५२। लेखक बताता है कि सरकार का वर्त्तमान आर्थिक महत्त्व की स्थिति तक विकास केवल इसी कारण हुआ है कि नागरिकों ने साधारणतः यह इच्छा प्रकट की है कि सरकार ज्यादा-से-ज्यादा सेवाओं का संचालन उनके लिए करे। बुनियादी रूप से यह हमारे 'उष्ण' और 'शीत' युद्ध का प्रतिफल नहीं है। देखिए—गवर्नमेंट इन इकोनॉमिक लाइफ, पृष्ठ ५-६।

कीनेस का सिद्धांत

प्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री स्व० लार्ड कीनेस को परंपरागत आर्थिक सिद्धांत में ये क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने इस शास्त्रीय आर्थिक सिद्धांत को छोड़ दिया कि समूचा व्यापार सारतः वस्तु-विनिमय पर आधारित है और विनिमय के लिए माल का उत्पादन करने से ही अपने-आप क्रय शक्ति भी पैदा हो जाती है, जिससे वह माल खरीदा जा सके। इस पिछले सिद्धांत के अधीन माँग और संभरण एकरूप बन गए और तब माल का साधारण अतिरिक्त उत्पादन संभव न था तथा संसाधनों का अल्प उपयोग विशुद्धतः थोड़ा सा और अस्थायी था। साथ ही, पूँजीवादी अर्थतंत्र के मुक्त बाजार में काम करने वाले आर्थिक तत्त्वों के समुच्चय द्वारा संसाधनों के पूरे उपयोग की प्रवृत्ति हमेशा पैदा की जाती रही थी। इस सिद्धांत के स्थान पर कीनेस ने यह विचार प्रस्तुत किया कि संसाधनों का पूरा उपयोग तभी होता है, जब कारबारी फर्में और सरकारें माल पैदा करने एवं उस साज-सामान का विस्तार करने का फैसला करती हैं, जो उपलब्ध उत्पादक अभिकरणों को समग्रतः आत्मसात् कर लेंगे। उनका विचार था कि इस नतीजे तक समग्र रूप में पहुँचाने वाले फैसले किए जाएँगे या नहीं, यह प्रथमतः कारबारी इकाइयों द्वारा किए गए उपक्रम-संबंधी फैसलों पर निर्भर होगा। उनका विचार था कि ये फैसले प्रथमतः इस बात पर निर्भर होंगे कि कारबारी उपक्रम ऐसे बाजारों को पहले से देख पाते हैं, जो उनके अपने-अपने उत्पादनों को पूर्णतः या केवल अंशतः ले लेंगे। साथ ही, यह उस क्रय शक्ति की मात्रा पर निर्भर होगा, जो माल खरीदने के लिए बाजारों में आती है। बाजार में खर्च करने वाले व्यक्ति होते हैं, कारबारी उपक्रम करने वाले होते हैं और सरकार होती है और समग्र खर्च उनके उन फैसलों पर निर्भर होता है कि कितना ज्यादा या कितना कम खर्च किया जाए।

इस तरह कीनेस के सिद्धांत से यह विचार निकलता है कि जब सरकार करों को प्राप्त करने वाले, खर्च करने वाले, उधार लेने वाले, उधार देने वाले, रोजगार देने वाले और एक निवेश लगाने के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती है, तो उसके इन मामलों के संबंध में किए गए कार्य इस बात के महत्त्वपूर्ण निर्णायक होंगे कि किसी प्रत्याशित भावी क्षण में उस अर्थतंत्र के बाजारों की हालत क्या होगी। उधार की उपलब्धता या अनुपलब्धता और उस उधार की लागत का संबंध कारबारी उपक्रमों के अपनी पूँजी-सुविधाओं और अपने सामान खरीदने के बारे में विस्तार या संकुचन करने के फैसले के संबंध के साथ जुड़ना चाहिए। जब इसके साथ बैंक प्रणाली के प्रभाव को भी देखा जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संघीय सरकार की खर्च करने, कर लगाने, उधार लेने, उधार देने और ऋण-संबंधी नीतियाँ हमारे अर्थतंत्र के भीतर

विशाल आर्थिक नियंत्रण करने वाले लघु चक्र के रूप में काम करती हैं। जैसे ही इस लघु चक्र की चाल या गति की दिशा को बदल दिया जाता है, वैसे ही पूरे अर्थतंत्र की शक्तियाँ संचालित हो उठती हैं और आर्थिक प्रणाली के सभी खंडों में निजी कारबारी, इकाइयों, उपभोक्ताओं, निवेशकों आदि द्वारा किए जाने वाले फैसलों को प्रभावित करने लगती हैं।

'प्रभावित करने लगती हैं' को खास तौर से देखना चाहिए। पूरे अर्थतंत्र में किए जाने वाले फैसले सरकार द्वारा 'निदेशित' नहीं होते। हर उद्यम, हर उपभोक्ता, हर निवेशक आदि संभव आर्थिक कार्यकलाप के बारे में अपने-अपने फैसले करता है। जिस 'परिवेशीय वायुमंडल' में यह फैसले किए जाते हैं, सरकार उसी में फेरबदल कर देती है। इस, उस या दूसरे प्रकार के कर की तरह ऊँची या नीची करें दी जाती हैं, विभिन्न प्रकार के मालों या सेवाओं में से प्रत्येक के लिए सरकारी खर्च कम या ज्यादा कर दिया जाता है और बैंक से उधार ज्यादा या कम मात्रा में ज्यादा या कम ब्याज लागत पर उधार लेने वालों को उपलब्ध कर दिया जाता है। इनमें से प्रत्येक बाजार पर प्रभाव डालने वाला शक्तिशाली तत्त्व है, जिसके आधार पर उत्पादक माल उपभोक्ता माल और श्रम सेवाओं को खरीदता और बेचा जाता है। चूँकि बाजार इन तत्त्वों के आधार पर चलता है, इसलिए कारवारों की प्रत्याशाएँ बदल जाती हैं और कारबारी उपक्रम करने वाले, उपभोक्ता निवेशक, मजदूर संघ आदि नए 'वायुमंडल' की हालतों के अनुरूप खरीदने, बेचने, खर्च करने, बचाने, निवेश करने, भाड़े पर लेने, उधार लेने, उधार देने, आदि के बारे में अपने आर्थिक फैसलों में फेरबदल कर लेते हैं। इस प्रकार उचित समय पर उचित तरीके से और उचित मात्रा में 'वायुमंडल' को बदल कर सरकार आर्थिक फैसलों को साधारण कारवार कार्यकलाप से उद्दीपन देने या मुद्रा-स्फीति बढ़ जाने को कम करने की दिशा में प्रभावित करती है। हमारी संघीय सरकार के आर्थिक कार्यों से पैदा होने वाली इन संभाव्यताओं के कारण ही आश्वस्त रूप से यह कहा जा सकता है कि अपने पूँजीवादी समाज की बुनियादी संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए बिना ही हम सहनीयता की सीमाओं के भीतर स्थायी आर्थिक स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं। हमारी वे बुनियादी संस्थाएँ हैं, अपने उत्पादक माल के निजी लाभ के लिए निजी संपति का उपयोग, स्पर्द्धा, करार करने की आजादी और उपक्रम करने की आजादी।

स्थिरता के बारे में कारबार करने वालों का दृष्टिकोण

आर्थिक स्थिरीकरण प्राप्त कराने वाले विशिष्ट साधनों की ओर देखने से पहले हम यह देखते हैं कि अगर आर्थिक स्थिरीकरण के प्रति उपर्युक्त दृष्टिकोण छात्र को कुछ आशावादी लगता है, तो हमारे कथन आर्थिक हवाई सिद्धांतवादियों के कोरे

प्रलाप नहीं हैं। जिन व्यावहारिक या दृढ़ दृष्टिकोण वाले कारबारी लोगों ने इस समस्या की जाँच की है, वे भी इस नतीजे पर पहुँचे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का वाणिज्य मंडल भी आर्थिक अस्थिरता के दीर्घ अध्ययन के बाद सहमत हो गया कि अगर हम माल के अत्यधिक उत्पादन को टालने का साहस रखते हैं और जो हम जानते हैं, उसका इस्तेमाल करने की बुद्धिमानी हम में है, तो यह विश्वास करने का कारण है कि भावी अस्थिरता काफी सहनीय सीमाओं में रखी जा सकती है।[1] आर्थिक विकास-संबंधी समिति की अनुसंधान और नीति समिति भी, जिसके सदस्य हमारे बहुत बड़े निगमों के चोटी के कार्यपालक व्यक्ति हैं, समस्या का सघन अध्ययन करने के बाद इसी नतीजे पर पहुँची थी। इसका कहना है : 'आर्थिक विकास या कार्य-कुशलता पर बिना बंधन लगाए और आजादी को नुकसान पहुँचाए बिना आर्थिक उच्चावच कम किए जा सकते हैं— स्थिरता की यह सामान्य स्थिति सामान्य उपायों से प्राप्त की जा सकती है—उन उपायों से, जो उन परिवेशों को प्रभावित करते हैं, जिनमें हम व्यक्तियों के कार्य पर बिना बंधन लगाए अपना कार्य-संचालन करते हैं। आर्थिक स्थिरता बढ़ाने के लिए सरकार को जो कार्य करना है, उसके लिए सरकार की शक्तियों को बढ़ाना जरूरी नहीं है, बल्कि सरकार परंपरा से और उचित रूप से एक मुक्त समाज में जो प्रभाव रखती है, उसका सदुपयोग भी पर्याप्त उपाय है।'[2]

नवयुग दर्शन से तुलना

१९२० ई० के बाद के दशक के अमेरिकी आर्थिक इतिहास से परिचित छात्र यह देखेंगे कि यहाँ जो बात कही गई है, वह उस समय के 'नवयुग' के दर्शन के समान ही है। जब हमारा अर्थतंत्र प्रथम महायुद्ध के बाद की समृद्धि के बीच में चल रहा था, बहुत से कारबारी लोगों और शास्त्रीय अर्थवेत्ताओं ने यह कहा था कि हम उच्च स्तर के आर्थिक कार्यकलाप के एक स्थायी 'नवयुग' में चल रहे थे, लेकिन उसके बाद ही हमारे अर्थतंत्र को अब तक कभी भी जिस निकृष्टतम मंदी का अनुभव हुआ है, उसके भीषण प्रभाव में उनके वे अभिमत तुरंत बह गए। यह सीधा प्रश्न है कि क्या कारबारी लोग और शास्त्रीय अर्थवेत्ता अब फिर दूसरे महायुद्ध के बाद की समृद्धि से चमत्कृत होकर फिर वैसी ही मनचाही बातें सोचने लगे हैं? इन दोनों प्रकार के

---

[1] संयुक्त राज्य अमेरिका का वाणिज्य मंडल, कैन वी डिप्रेशन—प्रूफ आवर इकोनॉमी, वाशिंगटन, १९५५ ई०, पृष्ठ २१।

[2] डिफ़ेंस एगेन्स्ट रिसेशन, पौलिसी फोर ग्रेटर इकोनॉमिक स्टैबिलिटी, आर्थिक विकास-संबंधी समिति की अनुसंधान और नीति समिति द्वारा राष्ट्रीय नीति का विवरण, न्यूयार्क, मार्च, १९५४, पृष्ठ २।

नतीजों के आधारों का, जो ऊपर से एक-जैसे लगते हैं, ध्यान से परीक्षण करने पर दोनों के बीच एक बुनियादी अंतर दिखाई देता है। सन् १९२० ई० के बाद स्थायी आर्थिक समृद्धि के विश्वास का आधार यह था कि हमारे अर्थतंत्र के निजी करबार के क्षेत्र के भीतर जो आर्थिक शक्तियाँ अपने-आप चालित होती हैं, वे स्थायी समृद्धि को पैदा करेंगी और बनाए रखेंगी। यह सिद्धांत शास्त्रीय आर्थिक सिद्धांत है, जिसे पहले बताया जा चुका है, जैसा ही था या संभवत: सीधे-सीधे पैदा हुआ था। उसमें यह बताया गया था कि मुक्त बाजार वाले पूँजीवादी अर्थतंत्र में आर्थिक शक्तियाँ स्वत: समंजन करती हैं और अगर अर्थतंत्र में कोई गलत समंजन हो जाता है, तो उस गलत समंजन के अस्तित्व में आ जाने मात्र से ही अपने-आप उसको ठीक करने वाली शक्तियाँ संचालित हो जाती हैं।

सन् १९३० ई० के बाद की मंदी ने इस सिद्धांत को गलत सिद्ध कर दिया। स्थायी आर्थिक स्थिरता की संभावना का वर्त्तमान विश्वास कि संसाधनों का पूरे नियोजन-स्तर तक उपयोग होता रहेगा, बिल्कुल भिन्न धारणाओं पर आधारित है। पहले तो यह कीनेस के सिद्धांत की उन बातों पर आधारित है, जो १९२० ई० में विद्यमान विश्लेषण-साधनों और तकनीकों की अपेक्षा कहीं अच्छी तरह से सुसज्जित अर्थशास्त्रियों द्वारा लगभग सर्वसम्मति के साथ ठोस माना गया है। दूसरे, स्थायी स्थिरता लाने के लिए स्वचालित शक्तियों पर विश्वास नहीं किया गया है, बल्कि ऐसी स्थिरता सरकारी संचालन के आर्थिक चरणों में शामिल तत्त्वों के समुचित उपयोग द्वारा प्राप्त की जाएगी। तीसरे (दूसरी बात को भिन्न शब्दों में कहा जाए) आर्थिक स्थिरीकरण के लक्ष्य प्राप्त करने में हम उस हालत में अब भी असफल रह सकते हैं, अगर हम प्राप्त स्थिरीकरण साधनों और तकनीकों का वस्तुतः उपयोग न करें। संक्षेप में हम असफल हो सकते हैं।

स्थिरीकरण साधन

ज्यादा ठोस रूप में कहा जाए, तो ये आर्थिक स्थिरीकरण साधन तकनीकें या तरीके क्या हैं, जो हाल में विस्तृत हुए सरकारी आर्थिक कार्यकलाप का उपयोग कर सकते हैं? आरंभ के अध्याय में यह बताया गया था कि इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि व्यक्तिगत छात्र को इस बात में मदद दी जाए कि वह हमारे समाज को सही नीति चुनने में सहायता देने की अपनी समुचित भूमिका निभा सके। अगर हम अपनी पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली को बनाए रखना चाहते हैं, तो जिस बड़े ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के भीतर सही नीति के संबंध में निर्णय करने होंगे, वह है संभाव्य स्थिरीकरण। इस क्षेत्र में हम में से प्रत्येक नागरिक अपनी भूमिका अदा कर सके, इसके

लिए यह जरूरी है कि वह जाने कि ये आर्थिक स्थिरीकरण साधन क्या हैं, वे कैसे संचालित होते हैं, नीति के वैकल्पिक चुनाव क्या हैं, कौन-कौन सी गलतियाँ हो सकती हैं, उनसे कैसे बचा जा सकता है। और साथ ही सही काम करने से क्या फल मिलेगा और गलती करने से क्या दंड मिलेगा। इन मामलों पर ही बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं और छात्र ब्यौरेवार अध्ययन के लिए उनको पढ़ सकता है। यहाँ पर हम केवल मोटे तौर पर इन प्रश्नों के प्रारंभिक उत्तरों की रूपरेखा ही दे सकते हैं। हम अपने को केवल संघीय सरकार के सीधे कार्यकलाप और बैंक-संचालन पर उनके प्रभाव तक ही सीमित रखेंगे।

स्थिरीकरण साधनों का पूरा क्षेत्र दो क्षेत्रों में बँटा है। एक में ये शामिल हैं; कर लगाना, खर्च करना, उधार लेना, उधार देना और संघीय सरकार के ऋणों के भुगतान-संबंधी कार्यकलाप। यह राजकोषीय क्षेत्र है। दूसरे क्षेत्र में केंद्रीय बैंक प्रणाली के ऊपर संघीय सरकार के प्रभाव के सभी पहलु शामिल हैं। यह मुद्रा-संबंधी क्षेत्र है। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक आर्थिक स्थिरीकरण साधन या तरीके या तकनीकें हैं और यहाँ पर केवल विशिष्ट चीजों का ही वर्णन किया जा रहा है।

राजकोषीय नीतियाँ : खर्च करना और उधार लेना

हम सभी स्थिरीकरण तरीकों में से सबसे आसान तरीकों से शुरू करते हैं। अगर संघीय सरकार उस अवधि में जब बेचने वाले की दृष्टि से बाजार की हालत खराब है, तब बढ़ी हुई खरीदारी के लिए ज्यादा पैसा खर्च करने लगती है और मांग बढ़ा देती है, तो कहना यह है कि इससे दाम दृढ़ हो जाएंगे और बेचने वाले की दृष्टि से बाजार की हालत सुधर जाएगी। इससे अनुमानतः कारबार की प्रत्याशाएं सुधर जाएंगी और निजी उद्योग द्वारा उत्पादन के विस्तार को प्रेरणा मिलेगी। यह स्पष्ट है कि अगर सरकार इस प्रकार इस्तेमाल किया गया ज्यादा पैसा कारबार उपक्रमों और व्यक्तियों पर ज्यादा कर लगा कर इकट्ठा करती है, तो वह ज्यादा खर्च करेगी और करदाता उतना ही कम खर्च करेंगे, जिससे कुल मिला कर कारबार की प्रत्याशाओं में कोई सुधार नहीं होगा। पर, अगर सरकार बढ़े हुए खर्चों को पूरा करने के लिए बैंकों से पैसा उधार ले, तो ऐसा पैसा सरकार द्वारा बैंक को दिए गए दायित्वों के रूप में 'समर्थक' प्रेरणाधार-जैसा होगा और मांग-जमा के रूप में होगा तथा इसका नतीजा बिलकुल दूसरी तरह का होगा। इस मामले में बढ़ा हुआ खर्चा नई 'चेक बुक' के पैसे से किया जाएगा, जो अब तक किसी के पास न था और इस तरह हमारे अर्थतंत्र के बाजार में परिचालित मुद्रा-निधियों के प्रभाव में बढ़ जाएगा। इस प्रयोजन से सरकार को हमेशा सुयोग्य और उपयोगी प्रायोजनाओं का संचय तैयार रखना

चाहिए। जिसके लिए खर्च शुरू करने की आयोजनाएँ तैयार रहें और जैसे ही आर्थिक उद्दीपन की जरूरत पड़े, इस नए पैदा किए हुए पैसे को खर्च किया जा सके।

इसके उल्टे यह भी नतीजा निकाला जा सकता है कि अगर हमारा अर्थतंत्र मुद्रा-स्फोतिकारी अत्यधिक उत्पादन की ओर अग्रसर है, तो उल्टी नीति अपनाई जा सकती है। सरकार को यथाशीघ्र राष्ट्र के कल्याण के लिए जो भी खर्च जरूरी न हों उनको खत्म कर दे अगर इस कमी का नतीजा यही होता है कि कारबार फर्मों और व्यक्तियों द्वारा दिए जाने वाले कर में कमी हो जाती है, तो इसका मतलब केवल यही होगा कि खर्च करने के लिए सरकार के पास कम पैसा होगा और जनता के पास अनुपात में ज्यादा पैसा होगा। इससे मुद्रास्फीति का वातावरण कम न हो सकेगा। इससे ऐसी नीति अपनाते समय सरकार को पुराने आधार पर ही कर लेना चालू रखना चाहिए और खर्च के ऊपर प्राप्तियों के शेष को बैंकों द्वारा सरकार को पहले दिए गए ऋण की पुष्टि में माँग-जमा के रूप में सरकारी दायित्वों को चुकाने के लिए इस्तेमाल करना चाहिए। इस नीति के साथ वस्तुतः समुचित मुद्रा-नीतियाँ (बाद में जिनकी चर्चा की जा रही है) भी चलानी होंगी, जिससे बैंकों के लिए यह असंभव हो जाए कि सरकार द्वारा चुकाए गए ऋणों की जगह वे तुरंत निजी कारबारियों या व्यक्तियों को नए ऋण दे दे।

राजकोषीय नीतियाँ : कर लगाना

सरलता और प्रत्यक्षता के अगले क्रम में संघीय सरकार के अनेक कर लगाने वाले कार्यकलाप आते हैं। जनता के हाथ के पैसे को सबसे ज्यादा सीधे रूप में प्रभावित करने वाले संघीय कर वैयक्तिक और निगमित आय-कर हैं। जब सरकार आय-कर की दरें बढ़ा देती है, तो वह व्यक्तियों और कारबारी फर्मों की जेबों एवं खजानों से पैसा ले लेती है और फलतः उन्हें हमारे अर्थतंत्र के बाजारों से अपने माल की खरीद कम करने के लिए विवश होना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि स्फीतिकारक तत्त्व क्षीण पड़ जाते हैं, कारबार की प्रत्याशएँ कम आकर्षक रह जाती हैं और कारबार फर्में कच्चे माल तथा तैयार द्रव्य की वस्तु-सूचियों और पूँजी माल की खरीद कम कर देती हैं। अनुमानतः व्यक्ति उपभोक्ता माल-संबंधी अपने खर्च को कम कर देंगे और इस तरह अर्थतंत्र के सभी बाजारों पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। वस्तुतः अगर सरकार साथ-साथ ही ज्यादा खर्च करने लगे; क्योंकि वह ज्यादा कर वसूल कर रही थी, तो स्थिरीकरण का प्रभाव प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। इसलिए सरकार को प्राप्तियों में जो वृद्धि हुई है, उससे बैंकों के दायित्व चुकाने चाहिए और ऐसी

मुद्रा-नीतियाँ चलानी चाहिए कि सरकार ने अपने ऋण चुकाने में बैंक को जो दिया है, उसे वे अपने निजी कारबार फर्मों को उधार न दे दें।

इसके विपरीत जब अर्थतंत्र को उद्दीपन की जरूरत हो, तो सरकार को आय-कर कम कर देना चाहिए, अपने खर्च का स्तर बनाए रखना या बढ़ा देना चाहिए और बैंकों से उधार लेना चाहिए, जिसके लिए बैंक 'नई' माँग जमा-चालू कर सकें, जिसके अधीन चैक से पैसा निकाला जा सके। इससे हमारे अर्थतंत्र के बाजारों में पैसे का प्रभाव बढ़ जाएगा, कारबार की संभावना अच्छी हो जाएगी और अनुमानतः कारबार फर्में एवं व्यक्ति ज्यादा खर्च करने लगेंगे।

स्वचालित स्थिरक

जिन तकनीकों की बात अभी-अभी कही गई है, उनको 'प्रबंधित तकनीकें' कहा जा सकता है। उनको काम में लाने के लिए यह जरूरी होता है कि न सरकार, न कोई व्यक्ति कुछ करे, अर्थात् बहुत कुछ खर्च करने या कर लगाने के बारे में और उधार लेने या कर चुकाने के बारे में। अनुमानतः वह 'कोई व्यक्ति' या तो कांग्रेस होती है या सरकार का कोई कार्यकारी विभाग, जिसको वांछनीय होने पर काम करने की शक्ति सरकार द्वारा प्रत्यायुक्त कर दी जाती है। यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि इन्हीं दिशाओं में काम करने वाले कुछ 'स्वचालित' स्थिरकों की माला भी विद्यमान रहती है। इसमें उस प्रकार के कर और खर्च की वे श्रेणियाँ आती हैं, जो मंदी या स्फीति का जोर होने पर अपने-आप ही वृद्धि या कमी कर देती हैं। उनका एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि मंदी या स्फीति के आरंभिक विकास को धीमा कर दें और इस तरह 'प्रबंधित' स्थिरकों को चालित करने के लिए जरूरी फैसले करने के लिए समय दे दें।

हमारा संघीय व्यक्तिगत आय-कर इस प्रकार के स्वचालित स्थिरक का सबसे अच्छा नमूना है। यह व्यक्तिगत आयों पर उत्तरोत्तर दरों से लगाया जाता है। नतीजा यह होता है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय किसी अवधि में बढ़ती जाती है, तो उसकी उत्तरोत्तर आय-वृद्धि के ज्यादा-से-ज्यादा अंश को कर के रूप में ले लिया जाता है। इस तरह अगर किसी व्यक्ति की आय ५ हजार डालर से ६ हजार डालर प्रति वर्ष हो जाए, तो उसे २५२ डालर देने पड़ेंगे अथवा अतिरिक्त हजार डालर की बढ़ी हुई आय पर २५.२ प्रतिशत की दर से आय-कर देना होगा।[1] अगर

---

[1] यह उदाहरण और बाद के उदाहरण ऐसे मामले में जहाँ परिवार में पति-पत्नी ही हैं और बच्चे नहीं तथा दान में दिए गए चंदों आदि के लिए कर में कोई कमी नहीं होती और वे १९६० की दरों के अनुसार व्यक्तिगत आय-कर देते हैं।

उस व्यक्ति की आय ७ हजार डालर तक बढ़ती रही, तो उसे २६० डालर या ७वीं हजार का २६ प्रतिशत कर के रूप में देना होगा। अगर यह और आगे १० हजार डालर प्रतिवर्ष तक बढ़ी, तो ९ हजार से १० हजार डालर के बीच उसे ३२२ डालर या ३३.२ प्रतिशत कर के रूप में देना होगा। उसी तरह अगर आय १६ हजार हो जाए, तो १५ हजार और १६ हजार डालर के बीच ४६२ डालर या ४६.२ प्रतिशत करों मे चला जाएगा। इस तरह जैसे-जैसे समृद्धि की अवधि में किसी व्यक्ति की आय बढ़ती है और खास कर स्फीति के जोर की अवधि में, तो इस आय का ज्यादा-से-ज्यादा अंश सरकार द्वारा ले लिया जाता है और वह उस आय को पाने वाले आरंभिक लोगों के पास खर्च करने के लिए नहीं रह पाता। इस तरह आय में होने वाली वृद्धि का थोड़ा-थोड़ा अंश ही बाजार में खरीददारी के लिए जा पाता है। इस तरह अगर उत्तरोत्तर आय कर की दरें न होतीं, तो अनुमानत: स्फीति का जोर तुलना में इतना कम न हो पाता। हाँ, इस स्वचालित स्थिरक को प्रभावी बनाने के लिए सरकार को ये बढ़ी हुई कर-प्राप्तियाँ बैंक का उधार चुकाने में लगानी चाहिए और बैंक नीति का प्रभाव इस दिशा में डालना चाहिए कि सरकार द्वारा चुकाए गए उधार की जगह निजी लोगों को ज्यादा ऋण न दे दिए जाएँ।

यही स्वचालित स्थिरक-प्रक्रिया आर्थिक कार्यकलाप में मंदी आ जाने पर उल्टी गति से चलने लगती है। जैसे ही व्यक्ति की अपनी आय कम होने लगती है, तो आय कम होने के पहले प्रभाव जहाँ तक क्रय शक्ति का संबंध है, इस कारण हल्के रहते हैं कि आय पाने वालों को करों में ज्यादा रकम नहीं देनी पड़ती। अगर किसी की आय १६ हजार से घट कर १५ हजार डालर रह जाती है, तो ४६२ डालर या हजार डालर की कमी पर ४६.२ प्रतिशत की कमी क्रय शक्ति में कमी नहीं होती; क्योंकि इसमें वे कर हैं, जो उसे अब नहीं देने होंगे। इसी तरह अगर किसी आदमी की आय ६ हजार डालर से पाँच हजार डालर रह जाती है, तो २६२ डालर या हजार डालर की कमी का २५.२ प्रतिशत की कमी क्रय शक्ति की कमी नहीं है; क्योंकि यह उसके द्वारा अब कर के रूप में न दी जाने वाली रकम है। इस तरह मंदी का आरंभिक प्रभाव यह होता है कि व्यक्तिगत आय का काफी ऊपरी हिस्सा कम हो जाता है। पर, यह उसकी क्रय शक्ति में कमी का द्योतक नहीं है, इसलिए अर्थतंत्र के बाजारों में इस मंदी का प्रभाव हल्का रहता है और अर्थतंत्र को उस प्रभाव को झेलने की सामर्थ्य मिल जाती है। आर्थिक मंदी के पहले आघात को हल्का करने लिए इस प्रकार अपने-आप कुछ गुंजाइश हो जाती है। इसी तरह सरकारी खर्च की कुछ मदें हैं, जो कारबार में उग्रता के साथ मंदी के बढ़ने पर बढ़ जाती हैं और कारबार कार्यकलाप के ऊँचे स्तर तक बढ़ने पर कम हो जाती हैं। बेरोजगार बीमा निधियाँ (जिनका संचालन

राज्य करते हैं, पर अधीक्षण संघीय सरकार) इस प्रकार की संक्रिया का उदाहरण हैं। जब रोजगार पूरा चल रहा होता है, तो बेरोजगार प्रति कर प्रीमियम की बढ़ी रकम राज्य-निधियों में दी जाती है और इस तरह जनता से पैसा सरकार के पास आ जाता है। अगर बेरोजगार हो जाता है, तो सरकार की निधियों में दी जाने वाली प्रीमियम कम हो जाती है और निधि में से दी जाने वाली लाभ की रकम बढ़ जाती है। जैसे ही बेरोजगार की मात्रा बढ़ती जाती है, प्रीमियम और भी कम हो जाती है, तथा निधि से किए जाने वाले भुगतान की मात्रा और ज्यादा बढ़ जाती है। यह खास कर इसलिए महत्वपूर्ण है कि इन निधियों में से चुकाए गए लाभ सीधे उपभोक्ता माल के लिए संभाव्य खर्च करने वालों की जेब में जाते हैं और जल्दी ही बाजार में पहुँच कर वहाँ पर खरीद एवं दामों को बढ़ा देते हैं।

ऊपर बताए गए उदाहरण 'स्वचालित स्थिरकों' के थोड़े से उदाहरण हैं, जो हमारी संघीय सरकार की संक्रियाओं द्वारा व्यक्तिगत आय-करों का महत्त्व बढ़ा कर, बेरोजगार बीमा निधियों, निगमित आय-करों, बुढ़ापे की सुरक्षा के संग्रह और खर्चा, अनुभवी पुराने लोगों के लाभों, खेतिहार-दाम के पुष्टिकारक उपायों, तरह-तरह की सरकारी सहायता के उपबंधों, सरकारी उधार देने और निजी ऋणों की गारंटी देने और संघीय सरकार की बहुत सी दूसरी संक्रियाओं के जरिए पैदा कर दिए गए हैं। इन स्वचालित स्थिरकों का मात्रागत मूल्य कई प्रकार से आता गया है। एक अनुमान यह है कि कर लगाने और खर्च के हमारे चालू कार्यक्रम के आधार पर अगर यह मान लें कि हमारे अर्थतंत्र का उत्पादन १० अरब डालर प्रति वर्ष की दर से गिर जाएगा, तो सरकार को दिए जाने वाले करों में कमी और सरकार के खर्च में वृद्धि, जो इसके फलस्वरूप अपने-आप होगी, वह कुल मिला कर लगभग ३.५ अरब डालर होगी। और इस तरह खर्च के लिए उपलब्ध निजी आय पर मंदी का प्रभाव मूल १० अरब डालर से घट कर ६.५ अरब डालर ही रह जाएगा।[1] स्वचालित स्थिरकों की क्षमता का एक और अंदाज नीचे लिखे हिसाब से लगाया जा सकता है : जुलाई १९५३ से जुलाई १९५४ तक संयुक्त राज्य अमेरिका

---

[1] डिफेंस एगेन्स्ट रिसैशन, पौलिसी फौर ए ग्रेटर इकोनॉमिक स्टैबिलिटी, पृष्ठ १२। इस अनुमान का समर्थन राष्ट्रीय अनुसंधान ब्यूरो के अर्थशास्त्रियों ने किया है। उनका अनुमान है कि अगर कारबार की मंदी से ८० लाख व्यक्ति बेरोजगार हों, तो उपभोक्ता और कारबार को अपनी कर देयताओं में १५.७ अरब डालर की कमी महसूस होगी और हमारे 'स्वनिर्मित स्थिरक कुल मिला कर करीब १९.२ अरब डालर की रकम को अप्रभावित कर देंगे। देखिए पौलिसीज टू कम्बेट, डिप्रेशन, प्रिंसटन, यूनिर्सिटी प्रेस, १९५६।

में व्यक्तिगत आय समग्रतः लगभग ४.४ अरब डालर वार्षिक घट गई । इस कमी का जो हिस्सा कम दिए गए व्यक्तिगत कर-भुगतान द्वारा लुप्त हो गया, वह लगभग १ अरब डालर था। इस तरह व्यक्तिगत आय पर निबल प्रभाव लगभग ३.४ अरब ही रहा, ४.४ अरब डालर का मूल प्रभाव नहीं। १९५३ ई० की दूसरी तिमाही और १९५४ ई० की दूसरी तिमाही के बीच निगमित आय समग्रतः ७.४ अरब डालर की वार्षिक आय की दर से घट गई, लेकिन सरकार को देथ निगमित कर की मात्रा ४.५ अरब डालर या निगमित आय की कमी का ६० प्रतिशत घटी।[1] १९५७-५८ ई० की मंदी के अध्ययन से पता चलता है कि निगमों की निबल आय १६.९ अरब डालर कम हो गई, जब कि निगम कर ६.२ अरब डालर कम हुई। इस तरह निगमों के लाभ में कमी का ३६ प्रतिशत कर की कमी में चला गया। इस मंदी में जो व्यक्तिगत आय में कमी हुई, उसमें से व्यक्ति लागत आय करों की कमी ने १.१ अरब डालर ले लिया।[2] साथ दी स्वचालित स्थिरकों के परिमाणगत प्रभाव के एक ताजे अध्ययन से, इसमें इस चर्चा में लिए गए स्थिरक भी शामिल हैं। पता चलता है कि जब किसी चक्र-विस्तार के दौरान राष्ट्रीय आय १० अरब डालर बढ़ जाती है, तो स्वचालित स्थिरकों के द्वारा व्यक्तियों और निगमों के पास केवल ६.७ अरब डालर नई खर्च करने योग्य आय पैदा हो जाती है और जब राष्ट्रीय १० अरब डालर कम हो जाती है, तो खर्च करने योग्य आय लगभग ३.८ अरब डालर गिर जाती हैं।[3]

मुद्रा-नीतियाँ

अब हम अपनी मुद्रा-नीतियों के प्रबंध करने की उन संभावनाओं को लेते हैं, जिनके द्वारा हमारी साधारण आर्थिक अस्थिरता को पहले सुझाई गई सहनीयता की सीमा के भीतर रखा जा सकता है। यहाँ हम यह मान लेते हैं कि पाठक हमारी वाणिज्यिक बंक प्रणाली और संघीय रिजर्व प्रणाली की संक्रियाओं से परिचित हैं। हर वाणिज्यिक बेंक माँग-जमा निर्मित करता है, जिन्हें चेक द्वारा निकाला जा सकता है। इस प्रकार की समग्र प्रक्रिया ने उसके ऊपर इस अपेक्षा का बंधन डाला है कि हर समय जिले के संघीय रिजर्व बेंक में उसका जमा (जिसे उसका 'रिजर्व' कहते हैं) उसके माँग-जमा के निर्दिष्ट प्रतिशत के बराबर रहना चाहिए। अगर कोई वाणि-

---

[1] सौलौमन फैब्रीकेंट, गवर्नमेंट इन इकोनॉमिक लाइफ, पृष्ठ ९-१०।

[2] हैरल्ड आई० लुंड, अंडर राइटिंग प्रौसपैरिटी-हाउ वी हैव स्टैबिलाइज्ड एग्रोईंग इकोनॉमिक, सेंटपाल, आर्थिक अध्यवत ब्यूरो मैकालेस्टर कालेज, १९६०, पृष्ठ १५।

[3] एम० ओ० क्लीमेंट, दि क्वांटिटेटिव इम्पैक्ट ऑफ ऑटोमेटिक स्टैबिलाइजर्स, रिव्यू ऑफ इकोनॉमिक्स एंड स्टैटिस्टिक्स, फरवरी, १९६०, पृष्ठ ५६-६१।

ज्यिक बैंक दूसरे बैंकों, सरकार, या व्यक्तियों को, जो संबंधित बैंक द्वारा भुगतान के लिए दावे पेश करते हैं, उनके दायित्व चुकाने के लिए अपने हिसाब में से पैसे लेना है, तो संघीय रिजर्व बैंक में उसकी जमा (और इसलिए रिजर्व कम हो जाते हैं) जब कोई वाणिज्यिक बैंक दूसरे बैंकों, सरकार या व्यक्तियों से पैसा लेने के लिए दावा पेश करता है, तो संघीय रिजर्व में उसके जमा (और इसलिए रिजर्व) बढ़ जाते हैं। इसी तरह वह संघीय रिजर्व बेंक को, अगर उसके द्वारा चाही गई कोई परिसंपत्ति बेच देता है, तो उसके संघीय रिजर्व जमा (और इसलिए रिजर्व) बढ़ जाते हैं और तब वह संघीय रिजर्व बैंक से अतिरिक्त जमा उधार ले सकता है। अगर वाणिज्यिक बैंक संघीय रिजर्व बैंक से कोई परिसंपत्ति खरीदता है और अगर वह उसके द्वारा दिए गए कर भी चुकाता है, तो संघीय रिजर्व बैंक में उसके जमा (और इसलिए रिजर्व) कम हो जाते हैं। इस तरह देश के वाणिज्यिक बैंक जब संघीय रिजर्व बैंक को जमा के लिए दावे पेश करते हैं, जब वे परसंपत्तियाँ उसे बेचते हैं (तरह-तरह के निवेश) और जब वे संघीय रिजर्व दैंक का कर्ज चुकाते हैं, तो उनके रिजर्व (संघीय रिजर्व में जमा) बढ़ जाते हैं। इसी तरह उनके रिजर्व उस हालत में कम हो जाते हैं, जब वे संघीय रिजर्व द्वारा पेश किए गए दावों को चुकाते हैं, जब वे संघीय रिजर्व बैंक से परिसंपत्तियाँ खरीदते है और जब वे संघीय रिजर्व बैंक से पिछले ऋण चुकाते हैं। इस तरह और कोई चीज वाणिज्य बैंकों और संघीय रिजर्व बैंक के इन संबंधों पर प्रभाव डालती है, तो अगर वह किसी दूसरे विरोधी प्रभाव से निरर्थक न हो जाए, तो उस वाणिज्य बैंक के रिजर्व को बढ़ा या घटा देती हैं। और इस तरह उनके लिए असंभव हो जाता है कि वे कारबार फर्मों और व्यक्तियों को उनके कुल माँग-जमा ऋणों को बढ़ा दे या इन ऋणों की कुल मात्रा में कमी कर दे। पहली चीज वे प्रभाव कहलाती हैं, जो बैंक से उधार मिलना 'आसान' कर देते हैं और पिछली जो बैंक के उधार 'मुश्किल' कर देते हैं।

संघीय रिजर्व : खुला बाजार संक्रियाएँ

मुद्रा-नीति की हमारी इस चर्चा के सिलसिले में वाणिज्य बैंकों और संघीय रिजर्व बैंकों के बीच के ये दो संबंध खास कर महत्त्वपूर्ण हैं। पहले तो वाणिज्य बैंक फेडरल रिजर्व बैंक को, जो आस्तियाँ बेचते हैं या उससे काफी मात्रा में खरीदते हैं, वे संघीय सरकार के दायित्व होते हैं। कभी-कभी वाणिज्य बैंक के लिए वह ज्यादा फायदे की बात होती है कि अपनी मुक्त निधियों में से संघीय दायित्वों में निवेश करे और वह जिले के फेडरल रिजर्व बैंक से उनको खरीद लेता है। जब यह होता है, तो संघीय रिजर्व बैंक में खरीदने वाला बैंक अपने जमा के आगे एक चेक लिख कर

संघीय रिजर्व बैंक को देता है। वह इस चैक की रकम को वाणिज्य बैंक के जमा खाते में से घटा देता है और इस तरह संघीय रिजर्व बैंक में वाणिज्य बैंक का रिजर्व कम हो जाता है। और तब कारबार फर्मों तथा व्यक्तियों को उधार देने की उतनी शक्ति भी कम हो जाती है। दूसरे समय पर वाणिज्य बैंक के लिए यह फायदे की बात होती है कि वह संघीय सरकार के अपने दायित्वों को कम कर दे और वह उनको जिले के संघीय बैंक को बेच कर ऐसा करता है। पिछला अपने नाम से एक चेक लिख कर बेचने वाले बैंक को दे देता है, जो उसे संघीय रिजर्व बैंक के अपने खाते में जमा कर देता है। नतीजा यह होता है कि संघीय रिजर्व बैंक वाणिज्य बैंक के जमा-खाते की रकम बढ़ा देता है और इस तरह पिछले का रिजर्व बढ़ जाता है। यह स्पष्ट है कि जो कोई चीज वाणिज्य बैंकों को आम तौर पर संघीय रिजर्व बैंक से सरकारी दायित्वों को खरीदने के लिए उद्दीपित करती है, वह उस बैंक के रिजर्व को कम कर देती है और इस तरह वाणिज्य बैंकों को उधार देने की संभाव्य क्षमता को घटा देती है। जो कोई चीज वाणिज्य बैंकों को संघीय सरकार के दायित्व संघीय रिजर्व बैंकों को बेचने के लिए उद्दीपित करती है, वह बैंक के रिजर्व बढ़ा देती है और इस तरह उनकी उधार देने की संभाव्य क्षमता को भी बढ़ा देती है।

इसी स्थल पर संघीय रिजर्व प्रणाली अपनी खुला बाजार समिति (जिसमें संघीय रिजर्व शासी मंडल के सात सदस्य होते हैं और बारह प्रादेशिक संघीय बैंकों के पाँच प्रतिनिधि) के मार्गदर्शन में हमारी वाणिज्य बैंक प्रणाली के रिजर्वों की सकल आकार के ऊपर भारी प्रभाव डालती है और इस तरह बैंक से उधार को "आसान' या 'मुश्किल', इस तरह उस पैसे को बढ़ा या कम, कर देती है, जो कारबार फर्म या व्यक्ति अपनी आर्थिक संक्रियाओं का वित्त-पोषण करने के लिए अपने बैंकों से उधार ले सकते हैं। इस तरह बैंक का पैसा घट या बढ़ जाता है और वह हमारे अर्थतंत्र के व्यापार-स्रोतों में से परिचलन में से उठ जाता है या परिचलन में आ जाता है। इस तरह वह बाजार में आने वाले माल की माँग और संभरण पर इस तरह प्रभाव डालता है कि या तो बाजार-भाव बढ़ जाते है या कम होते हैं और इस तरह कारबार का काम तेज हो जाता है या मंदा हो जाता है। खुला बाजार समिति किस तरह काम करती है, उसके ब्यौरों की थोड़ी सी रूपरेखा ही यहाँ पर दी जाती है। संघीय रिजर्व बैंक के पास हर समय बहुत सारी संघ सरकार की देयताएं रहती हैं। जब कभी खुला बाजार समिति की राय में कारबार के काम में उद्दीपन की जरूरत होती है, तो यह फैसला किया जाता है कि संघीय रिजर्व बैंक इन संघीय देयताओं में से काफी मात्रा में खरीद लेंगे और इसके लिए उनका आकर्षक मूल्य देने का प्रस्ताव करेंगे। इसका मतलब है कि वाणिज्य बैंक संघीय देयताओं को संघीय

रिजर्व बैंकों को बेच देंगे और इस तरह जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वाणिज्य बैंकों के रिजर्व बढ़ जाएँगे और उनकी उधार देने की क्षमता भी बढ़ जाएगी। इस तरह उधार मिलना और आसान हो जाएगा। इसके विपरीत जब खुला बाजार समिति यह फैसला करती है कि स्फीति की बढ़ोत्तरी पर रोक लगाई जानी चाहिए, तो संघीय बैंकों को यह आदेश दिया जाता है कि वे संघीय देयता को वाणिज्य बैंकों को बेच दें। ये देयताएँ आकर्षक मूल्य पर बेचने का प्रस्ताव किया जाता है, वाणिज्य बैंक उनको खरीद लेते हैं, और उनका पैसा चुकाने में अपने रिजर्व कम कर लेते हैं तथा अपनी उधार देने की क्षमता घटा देते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी संक्रियाएँ खुला बाजार समिति से बड़े ही कुशल प्रकार के निर्णय और उद्देश्यनिष्ठता की अपेक्षा करती हैं और इसके लिए बड़े ही सुकोमल तरीके से काम करना होता है; क्योंकि अगर उधार मिलना ज्यादा आसान या मुश्किल बनाने का काम जरूरत से ज्यादा कर दिया गया, तो आर्थिक स्थिरीकरण का वह उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा, जो समिति का नीति-संबंधी लक्ष्य है।

संघीय रिजर्व बट्टा दर

इन संक्रियाओं से वाणिज्य बैंकों की उधार देने की क्षमता घट या बढ़ जाती है और बैंक से मिल सकने वाले उधार की 'मात्रा' पर ही प्रभाव नहीं पड़ता। इसका 'खर्च' भी, अर्थात् उधार लेने वाले को जो व्याज-दर देनी पड़ती है, वह भी बैंक के रिजर्व बढ़ने से घट जाती है और बैंक के रिजर्व घटने पर बढ़ जाती है। इसके अलावा संघीय रिजर्व शासीनिकाय के पास फिर भी बैंक उधार का खर्च बढ़ाने या घटाने का एक ज्यादा सीधा तरीका भी है, जिसके अनुसार जरूरत पड़ने पर वह वाणिज्य बैंकों से कारबार द्वारा लिए जाने वाले उधार की मात्रा को बढ़ाने या घटाने का प्रयास करता है। अगर किसी वाणिज्य बैंक के पास रिजर्व कम हैं और वह उधार लेने वालों को जो कर्ज देना चाहता है, दे नहीं पा रहा है, तो इसके रिजर्वों को संघीय रिजर्व बैंक में उसके जमा-खाते से ज्यादा उधार द्वारा बढ़ा सकता है। वाणिज्य बैंक को संघीय रिजर्व बैंकों द्वारा ऐसा ऋण देने के लिए किसी दर से व्याज लिया जाता है और संघीय रिजर्व शासीनिकाय वह दर सभी संघीय रिजर्व बैंकों के लिए तय करता है। इसे संघीय रिजर्व 'बट्टा' दर कहा जाता है। इसे कम रख कर वाणिज्य बैंकों को अतिरिक्त जमा उधार लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और तब ये अतिरिक्त रिजर्व बन जाते हैं और तब बैंक की उधार देने की क्षमता को बढ़ा देते हैं। इसे अपेक्षतया ज्यादा रख कर बैंकों को संघीय रिजर्व बैंकों के अपने उधार चुका देने के लिए और नए कर्ज न लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इस तरह उनके रिजर्व कम हो जाते हैं और उनकी उधार देने की

क्षमता घट जाती है। जैसे ही यह बट्टा दर घटती या बढ़ती है, वाणिज्य बैंक यह समझ लेते हैं कि व्यापार फर्मों या व्यक्तियों को उनकी उधार देने की सामर्थ्य का खर्च कम आ रहा है या ज्यादा और तदनुसार बैंकों पर यह दबाव पड़ता है कि वे कर्जों के लिए अपना व्याज भी उसी तरह कम-ज्यादा कर दें। इस तरह वाणिज्य बैंकों से संभाव्य उधार लेने वाले कभी-कभी हतोत्साह करने वाली बड़ी ऊँची व्याज-दरें अपने संभाव्य कर्जों के लिए देते हैं और कभी-कभी उनको कहीं कम व्याज-दरों पर व्याज लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जैसे-जैसे बैंक के पैसों का खर्चा गिरता या बढ़ता जाता है, तदनुसार कारबार की विस्तार और संकोच की आयोजनाएँ भी बनती-बिगड़ती रहती हैं। साथ ही संघीय रिजर्व शासीनिकाय के हाथ में यह बहुत तीखा शस्त्र है; क्योंकि बट्टा दर में थोड़ी वृद्धि या कमी द्वारा बड़ी भारी प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। साथ ही बड़े सुकोमल रूप से काम करना होता है; क्योंकि उस दर को एक समय पर १ प्रतिशत की मामूली दर से भी बढ़ा या घटा देने पर एक प्रकार की परिस्थिति में वाणिज्य बैंकों और कारवार वालों द्वारा काफी ज्यादा प्रत्युत्तर प्राप्त हो सकता है और दूसरे समय पर दूसरी परिस्थितियों में मात्रा में उतने ही परिवर्तन से उतना असर नहीं होता। संघीय रिजर्व शासीनिकाय द्वारा बट्टा दर को घट-बढ़ करने में इस प्रकार की और दूसरी बहुत सी जटिल समस्याओं का ध्यान रखना होगा।

संघीय रिजर्व प्रणाली का शासीनिकाय बैंक उधार को बढ़ाने और घटाने की अपनी शक्तियों में कुछ दूसरे नियंत्रण भी रखता है: काँग्रेस द्वारा बताई सीमाओं के भीतर वह उन माँग-जमाओं के प्रतिशत को घटा या बढ़ा सकता है, जो वाणिज्य बैंकों को अपने रिजर्व में रखनी होती हैं। इसे सभी संघीय रिजर्व बैंकों की नीतियों के ऊपर सामान्य अधीक्षण की शक्ति मिली हुई है और उनकी संक्रियाओं पर प्रभाव डालने के लिए वह सशक्त रूप से समझाने के तरीके काम में ला सकता है। यह संघीय कोषागार के निकट सहयोग से काम करता है और संघीय सरकार की अपनी संक्रियाओं के वित्त-पोषण पर भी कुछ प्रभाव रखता है; अपने विभिन्न कामों द्वारा जैसे खुला बाजार संक्रियाएँ और बट्टा दर का घट-बढ़ करना और चालू उधार स्थिति में मनचाही घोषणा करना, द्वारा वह वाणिज्य बैंकों और कारबारी और औद्योगिक समुदाय की वित्त-आयोजना के ऊपर काफी प्रभाव डालता है। अंततः समय-समय पर इसे काँग्रेस द्वारा कुछ चुने हुए उधार नियंत्रण सौंपे जाते हैं, जिससे वह बैंक द्वारा उधार के उपयोग के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उधार के विस्तार या संकोच को बहुत कुछ उग्र रूप से प्रभावित कर सकता है। पिछली बात के उदाहरण में उस उपभोक्ता उधार-क्षेत्र की बात कही जा सकती है, जिसमें कुछ साल पहले बोर्ड को बहुत अधिकार मिला

हुआ था, या निगमित शेष माल की खरीद के लिए उधार के उपयोग की बात कही जा सकती है, जिस क्षेत्र में उसे इस समय काफी अधिकार मिला हुआ है। शासी-निकाय अपनी खुला बाजार-संक्रियाओं, वाणिज्य बैंकों को संघीय रिजर्व बैंक के कर्जों की बट्टा दर तय करने और संबंधित शक्तियों के द्वारा अमेरिका में वाणिज्य बैंकों के विस्तार और संकोच के ऊपर भारी प्रभाव रखता है तथा इस तरह वह उन कारबार प्रत्याशाओं को प्रभावित कर सकता है, जो श्रम को बहुत कुछ भाड़े पर लेने, माल-सूची को बढ़ाने या कम करने, नए उत्पादक साज-सामान पर ज्यादा या कम निवेश लगाने आदि जैसे कारबार निर्णयों को और कारबार के निर्णय करने के बाकी सब मामलों को इसी तरह प्रभावित करता है। इस प्रभाव का क्षेत्र बहुत ही व्यापक और अपार है तथा यह समूचे अर्थतंत्र में व्याप्त है। यह न केवल बैंक से उधार लेने की रकम या उधार लेने के निर्णयों को ही प्रभावित करता है, बल्कि यह इतना प्रभावशाली होता है कि उन कारबार-संक्रियाओं पर भी भारी असर डालता है, जिनका बैंक के पैसे से सीधा संबंध नहीं होता और जो उनसे अप्रत्यक्ष रूप से ही जुड़ी हुई होती हैं। बैंक से उधार का उपलब्ध होना और उसके खर्च-संबंधी संघीय रिजर्व नीतियाँ ही वह 'मुद्रा-नीति' है, जिसका हमने इस अध्याय के शुरू में 'राजकोषीय नीति' के सिलसिले में जिक्र किया था, जिनको हमने अपने समाज की आर्थिक संक्रियाओं में स्थिरीकरण लाने वाले नियंत्रणों के वर्ग के रूप में गिना था।

संघीय रिजर्व बोर्ड की प्रभावी शक्तियों के व्यावहारिक अनुप्रयोग का सारांश सारणी १८ में देखा जा सकता है। इसमें न्यूयार्क और फिलाडेल्फिया के रिजर्व बैंकों के संबंध में सन् १९५७ और १९५८ ई० के दौरान मंडल की विशिष्ट नीति का कार्य दिखाया गया है, जब सामान्य कारबार कार्यकलाप में काफी कमी आई थी और उसको फिर से चेताया गया था। ये कार्य इस प्रकार के थे: (१) संघीय रिजर्व बैंकों द्वारा सदस्य बैंकों को दिए जाने वाले ऋणों-(अर्थात् नए रिजर्वों) के लिए ली जाने वाली बट्टा दर को बदल देना; (२) रिजर्व की अपेक्षाओं को बदल देना अर्थात् माँग-जमा के उस प्रतिशत को बदल देना, जो जिले के संघीय रिजर्व बैंक के पास सदस्य बैंक के अपने जमा-खाते में जरूर रहनी चाहिए। (३) उपांत जरूरतों को बदल देना अर्थात् श्रेष्ठिचत्वर से खरीदे गए शेष माल के दाम का प्रतिशतक बदल देना, जिसे खरीददार को अपनी निधियों में से ही देना होता है और इसके विपरीत वह सदस्य बैंक से जो उधार ले सकता है, उसके प्रतिशतक को बदल देना। 'औद्योगिक उत्पादन के देशनांक' वाला स्तंभ सामान्य कारबार के कार्यकलाप को बताता है। सारणी यह बताती है कि जबतक उत्पादन देशनांक स्थिर और ऊँचा बना रहा अर्थात् जनवरी से जुलाई १९५७ ई० तक, तब तक बोर्ड ने कुछ भी नहीं

किया। फिर अगस्त, १९५७ ई० में उसने बट्टा दर बढ़ा दी और उत्पादन-देशनांक गिरने लगा। इस अधोगति की दर को रोकने के लिए बोर्ड ने पहली नवंबर, १९५७ ई० में और फिर जनवरी, १९५८ ई० में बट्टा दर कम कर दी और पिछले के साथ उपांत जरूरतें भी कम कर दीं तथा फिर एक महीने बाद रिजर्व अपेक्षाओं को भी कम कर दिया। देशनांक गिरता रहा और मार्च, १९५८ ई० में बोर्ड ने बट्टा दर तथा रिजर्व अपेक्षाएँ कम कीं एवं अगले महीने में भी इन दोनों चीजों को भी दुहराया। मई, १९५८ ई० में देशनांक बढ़ने लगा। इसके चालू रहते हुए बोर्ड ने फिर अगस्त, १९५८ ई० में उपांत-अपेक्षाओं को बढ़ा दिया। उसने सितंबर में बट्टा दर बढ़ा दी और अक्तूबर में वह फिर बढ़ा दी और उपांत-अपेक्षाओं में फिर वृद्धि कर दी। अक्तूबर, १९५८ ई० में ही इन दोनों को बढ़ाया। इन दो सालों की अवधि में संघीय रिजर्व बैंक कारबार कार्यकलाप के उपयुक्त खुला बाजार संक्रियाओं में भी लगे रहे। इनको सारणी में शामिल नहीं किया गया है; क्योंकि सारे देश के लिए मुश्किल है। समूची अवधि में देशनांक १५५ से गिर कर १३२ तक आया और फिर ऊपर १५१ तक ठीक हो गया।

सारणी–१८ : १९५७-१९५८ ई० के दौरान कारबार में उतार-चढ़ाव के चक्र के समय संघीय रिजर्व द्वारा किया गया कार्य

महीना	औद्योगिक उत्पादन १९४७-१९४८ १००	बट्टा दर (न्यूयार्क और फिलाडेल्फिया के संघीय रिजर्व बैंक)	रिजर्व अपेक्षाएँ (जमा का प्रतिशतक)	उपांत-अपेक्षाएँ
१९५७ जनवरी	१५४			
फरबरी	१५५			
मार्च	१५५			
अप्रैल	१५३			
मई	१५४			
जून	१५४			
जुलाई	१५४			
अगस्त	१५४	बढ़ाया : ३ से ३½ प्रतिशत		
सितंबर	१५२			

	अक्तूबर	१४९		
	नवंबर	१४६	घटाया ३$\frac{१}{२}$ से ३ प्रतिशत	
	दिसंबर	१४३		
१९५८	जनवरी	१३९	घटाया ३ से २$\frac{३}{४}$ प्रतिशत	कम किया ७० से ५० प्रतिशत
	फरवरी	१३६		कम किया
	मार्च	१३३	घटाया २$\frac{३}{४}$ से २$\frac{१}{१}$%	कम किया
	अप्रैल	१३२	घटाया २$\frac{१}{४}$ से १$\frac{३}{४}$%	कम किया
	मई	१३५		
	जून	१३९		
	जुलाई	१४२		
	अगस्त	१४४		बढ़ाया ५० से ७० प्रतिशत
	सितंबर	१४५	बढ़ाया १$\frac{३}{४}$ से २ प्रतिशत	
	अक्तूबर	१४६	बढ़ाया २ से २$\frac{१}{२}$%	बढ़ाया ७० से ९० प्रतिशत
	नवंबर	१५०		
	दिसंबर	१५१		

न्यूयार्क संघीय रिजर्व बैंक के मामले में ऐसा नवंबर में हुआ।

स्रोत : फिलाडेल्फिया का संघीय रिजर्व बैंक। बैंक के संलग्न अर्थवेत्ता डॉ० वर्नार्ड शुल ने यह जानकारी प्रदान की।

आर्थिक विकास के साथ स्थिरीकरण

अब तक हमने अपने अर्थतंत्र में राजकोषीय और मुद्रा-नीति के उचित प्रबंध के जरिए उत्पादन-संसाधनों के स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने की संभावनाओं की चर्चा की थी। फिर भी यह लक्ष्य उस अर्थतंत्र के लिए विशेष आदर्श नहीं है, जिसके लिए हमने मानव-कल्याण को अधिकतम करने का काम तय किया था। हमें इस लक्ष्य में एक और अत्यावश्यक लक्ष्य जोड़ना होगा। उत्पादक संसाधनों के स्थिर पूरे नियोजन के साथ-साथ आर्थिक विकास अर्थात् 'राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति बढ़ाने के साथ-साथ'। अपने अर्थतंत्र में इस पिछले अर्थ में आर्थिक विकास की उम्मीद अब हमें हो चली है। अगर कम आर्थिक विकास या बिल्कुल आर्थिक विकास न होने के बदले में स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त हो, तो वह वास्तव में बड़ा बुरा सौदा होगा। इसीलिए आर्थिक स्थिरीकरण के सिद्धांत के विकास के साथ-साथ ही अर्थवेत्ताओं की 'आर्थिक विकास' के विषय में बड़ी तेजी से रुचि बढ़ी है। इसमें से बहुत कुछ काम

आर्थिक अध्ययन के अनुसंधान और स्नातक स्तर पर किया गया है; क्योंकि यह एक मार्गदर्शी काम है।

आर्थिक विकास के विषय के अध्ययन-अनुसंधान ने फिलहाल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में दो अनुपूरक रास्ते अपनाए हैं। पहला अपने स्वरूप में आगमनात्मक है और आर्थिक इतिहास के क्षेत्र से निकट से संबंधित है या संभवतः उसका एक हिस्सा ही समझा जाता है। इसमें विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक इतिहास की जाँच यह देखने के लिए की जाती है कि किस प्रकार की परिस्थितियों में काम करते हुए किन-किन शक्तियों ने आर्थिक विकास को आगे बढ़ाया या उसका रास्ता रोका। इस रास्ते की बाधा सांख्यिकी सामग्री के अपूर्ण होने की भारी समस्या है और समाज-विज्ञानों में हमेशा विद्यमान रहने वाला यह संदेह है कि क्या किसी दिए गए कारण से ही कोई नतीजा निकला है ? इन अड़चनों के बावजूद आनुभविक प्रकार की बहुत सी संबंधित जानकारी विकसित की जा रही है। दूसरा रास्ता अध्ययन-अनुसंधान का बिल्कुल सैद्धांतिक रास्ता है। अर्थवेत्ताओं ने कीनेस का दृष्टिकोण अपना कर आर्थिक स्थिरता के सैद्धांतिक ढाँचे को बहुत कुछ पूरा-पूरा समझ लिया है। अब वे अपना ध्यान आर्थिक स्थिरीकरण सिद्धांत में आर्थिक विकास के सिद्धांत को एकीकृत करने की ओर दे रहे हैं। दूसरे शब्दों में, अब वे यह पता लगाना चाहते हैं कि राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों के साथ क्या चीज जोड़ी जाए, जिससे इन नीतियों में वे गतिशील तत्त्व आ जाएँ, जिनके फलस्वरूप हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र में आर्थिक स्थिरता के अनुभव के साथ-साथ प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि की प्रवृत्ति भी लाई जा सके। यह अर्थशास्त्र को अध्ययन-अनुसंधान की ऐसी दुनिया में पहुँचा देता है, जिसे हाल के वर्षों में इस समाज-विज्ञान की संभाव्यताओं के रूप में माना गया है।

चलते-चलते इस बात को भी समझ लेवा चाहिए कि आर्थिक विकास की समस्या एक प्रकार के आर्थिक उतार-चढ़ाव की समस्या के साथ बहुत निकट से जुड़ी हुई है। वास्तव में कुछ अर्थवेत्ता यह विश्वास करते हैं कि अगर हम आर्थिक मंदियाँ खतम करते हैं, तो विकास की समस्या अपने-आप सुलझ जाएगी। लेकिन, जैसा होता रहा है, अगर भौतिक उत्पादन के देशनांक के अनुसार औद्योगिक कार्यकलाप की मापजोख की जाए, तो होता यह है कि हम कुछ समय तक तो आगे की ओर बढ़ते हैं और फिर पहले प्राप्त स्थिरक की अपेक्षा वापस कुछ नीचे ही आ जाते हैं। फिर हमें वही पहले प्राप्त स्तर उत्पादन में और आगे शुद्ध प्रगति करने से पहले प्राप्त करना होता है। उदाहरण के लिए इन निर्दिष्ट वर्षों में भौतिक उत्पादन के देशनांक में औसत वृद्धि उसके तत्काल पहले के साल में देशनांक के स्तर से ऊपर बढ़ने के बाद १९४७ से १९५९ ई० तक की अवधि में ७ विंदु थी। अगर हर साल उत्पादन

इसी औसत से बढ़ता, कुछ सालों में उलटा वापस न गिरता, तो भौतिक उत्पादन का देशनांक १९४७ ई० के ९९ से बढ़ कर १९५९ ई० में १८३ पहुँच जाता और मात्र १५९ न रहता, जो कि यह वस्तुतः रहा। यह आर्थिक विकास पर अस्थिरता के प्रभाव का परिपूर्ण लेखाजोखा नहीं हो सकता; क्योंकि निश्चय ही इन दोनों बातों के बीच कार्यकारण संबंध है कि कुछ वर्षों में देशनांक तेजी से बढ़ा और उसके कुछ पहले वह वापस गिरा था। तथापि भले ही यह तुलना कुछ अत्युक्तिपूर्ण हो, फिर भी इससे आर्थिक विस्तार की उन संभाव्यताओं की कुछ धारणा हमें हो जाती है, जिनका लाभ हम मंदियों के कारण न उठा सकते हैं।

आर्थिक विकास के साथ-साथ स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने की समस्या के इस नए सैद्धांतिक दृष्टिकोण का वर्णन यहाँ पर थोड़े से ब्यौरों में किया जा सकता है। पहले तो यह उस विचार को दूर कर देना चाहता है, जो स्थिरीकरण की समस्या के पिछले चिंतन के साथ-साथ बहुत कुछ चलता रहा था, यह विचार कि हमारे-जैसा पूँजीवादी अर्थतंत्र केवल नीचे लिखी दो चीजों में से ही एक चीज में से ही एक चीज चुन सकता है: (१) बिना विकास के आर्थिक स्थिरता और (२) आर्थिक विकास के साथ आर्थिक स्थिरता पर लगातार कुछ मूल्य-स्फीति का चलते रहना। आमतौर पर अर्थवेत्ताओं द्वारा यह विश्वास किया जाता रहा है कि हमारे जनसमूह द्वारा पहले की अपेक्षा दूसरे विकल्प को ज्यादा पसंद किया जाएगा और अगर हमें कुछ चुनाव करना पड़े, तो यही अभिभावी रहेगा। फिर भी दो कारणों से यह पिछला चुनाव अ-स्वाद हो जाता है: पहले तो अगर आर्थिक विकास के साथ-साथ स्थिर पूरा नियोजन लाने के लिए कुछ स्थायी स्फीति जरूरी मान ली जाए, तो उस स्फीति के कारण ऐसी अनेक नई समस्याएँ पैदा हो जाएँगी कि अर्थतंत्र के विभिन्न वर्ग उस आर्थिक विकास के प्रतिफलों में से किस मात्रा में हिस्सा बढ़ाएँ। अनुमानतः कर्ज लेने वाले, कर्ज देने वाले, मजदूरी और वेतन पर काम करने वाले, पेंशन पाने वाले, लाभ पाने वाले आदि अलग-अलग प्रकार से अपना हिस्सा प्राप्त करेंगे; क्योंकि स्फीति द्वारा उनकी आय के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में अनिवार्य अंतर है। इस प्रकार पूरे नियोजन और आर्थिक विकास की समस्याओं के ऊपर न्याय तथा समानता की बहुत सी समस्याएँ आ कर खड़ी हो जाएँगी। दूसरे, अगर आर्थिक विकास प्राप्त करने के लिए हम राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों के अंगस्वरूप स्थायी स्फीति को भी जरूरी मान लें, तो यह आश्वासन कैसे मिल सकेगा कि ऐसी स्फीति को स्वीकार्यता की चुनी हुई सीमाओं के बीच इस प्रकार सफलता के साथ सदैव रखा जा सकेगा? यह पूरी तरह समझा जाता है कि पूँजीवादी समाज में मूल्य-स्फीति में आगे बढ़ने की और फिर काबू होने से बाहर हो जाने की प्रवृत्ति होती है। अगर आम

मूल्य-स्तर में १ या २ प्रतिशत की वृद्धि को एक स्थिर अर्थ-व्यवस्था में प्रति व्यक्ति आय में निरपेक्ष वृद्धि पैदा करने के लिए जरूरी मूल्य-स्फीति मान लिया जाए, तो अनुमानतः हमेशा एक आरंभी सर्पिल, एक काबू से बाहर की स्फीति का खतरा बना रहेगा और आखिर में राजकोषीय एवं मुद्रा-नीतियों के उन दूसरे तत्त्वों का विनाश हो जाएगा, जिनको उनके स्थिरकारी प्रभाव के कारण ही स्वीकार किया गया था।

स्थिरकों का मिश्रण या मिलाया जाना

आर्थिक स्थिरता, पूरा नियोजन और आर्थिक विकास के सिद्धांत के क्षेत्र में हाल ही में जो काम किया गया है, उससे अब लगता है कि इन दो अवांछनीय विकल्पों के बीच चुनाव को अनावश्यक बना दिया है। अब यह लगता है कि जहां तक राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों के प्रबंध के स्वरूप के ज्ञान का संबंध है, हम आर्थिक स्थिरता पूरा नियोजन और आर्थिक विकास को मुद्रा-स्फीति के बिना ही मिश्रित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि हम जानते हैं कि अब इन लक्ष्यों को किस तरह साथ-साथ प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिए अबाध उपक्रम, स्पर्द्धा, उत्पादक माल में निजी संपत्ति और लाभ के अभिप्रेरण की पूंजीवादी बुनियादी संस्थाओं को भी कोई आघात नहीं पहुँचता। अर्थवेत्ताओं ने सन् १९५५ ई० में आर्थिक प्रतिवेदन-संबंधी संयुक्त कांग्रेस समिति की कर-नीति उप समिति के सामने दिए जाने वाले साक्ष्य के समय यह विचारधारा जनता के विचार के लिए प्रकट की थी कि जब राष्ट्र के लगभग ८० प्रमुख शैक्षिक और कारबारी अर्थवेत्ता और वित्तीय विशेषज्ञ साक्ष्य द रहे थे।

इन साक्ष्यों में यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया था कि 'समुदाय पूरा नियोजन प्राप्त कर सकता है और साथ ही वह जो पूंजी निर्माण की दर चाहता है, वह भी प्राप्त कर सकता है (जो वृद्धिशील प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का मूल स्रोत है), और वह यह सब आय पुनर्वितरण कराधान की नैतिक दृष्टि से वांछनीय समझी गई मात्रा के साथ प्राप्त किया जा सकता है।'[1] अंतिम मद में जो बात कही गई है, वह उस रियायत को बताती है कि हमने स्थायी रूप से यह विचार मान लिया है कि कराधान का एक कार्य असली आय का पुनर्वितरण करना है। इस आश्वासन के पीछे बुनियादी विचार यह है कि एक बात यह तय कर लेने के बाद कि संघीय व्यय का स्तर क्या रहेगा और एक बार तय कर लेने के बाद कि किस प्रकार के कर हम

---

[1] पौल ए० सेमुअलसन के वक्तव्य से लिया गया, जो १७ दिसंबर, १९५२ के 'बिजनिस वीक' के पृष्ठ ७९ पर उद्धृत है।

लगाना चाहते हैं, जिससे कर का बोझ बराबर-बराबर बाँटा जा सके और राष्ट्रीय आय का वितरण उस रूप में किया जा सके, जिस रूप में हम करना चाहते हैं, तो ऐसा होने पर (एक) उधार मिलने और उसकी लागत का (मुद्रा-नीति) और (दो) कर-दरों के स्तर का कुछ मिश्रण होगा, जिसके मिलाने पर संसाधनों का पूरा नियोजन हो सकेगा और पूँजी माल पैदा करने के लिए उत्पादन शक्ति के चालू उपयोग के बारे में वांछनीय फल प्राप्त हो सकेगा (जो प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का मूल स्रोत है)। दूसरे शब्दों में, अगर मुद्रा-प्रबंध के विभिन्न उपलब्ध साधनों की ओर राजकोषीय प्रबंध के विभिन्न साधनों को उचित मात्रा में मिलाया जाए, तो आर्थिक स्थिरता, पूरा नियोजन, आर्थिक विकास और मुद्रा-स्फीति न होने से लक्ष्य के सभी खंडों को साथ-साथ प्राप्त किया जा सकता है।

'उचित मात्रा में मिश्रण' का अभिप्राय बताने के लिए साक्ष्य के समय एक ठोस उदाहरण दिया गया था। मान लीजिए कि अमेरिका ऐसी राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों का अनुसरण कर रहा है कि उनसे स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त हो गया है। अब वह अपने आर्थिक विकास की दर को बढ़ाना चाहता है और राष्ट्रीय आय को कम आय वाले परिवारों के लिए अनुकूल रूप में वितरण करता रहना चाहता है, तो वह इन दो नए या बदले हुए उद्देश्यों को भी प्राप्त कर सकता है और फिर भी स्थिर पूरा नियोजन बनाए रख सकता है, अगर वह मुद्रा और राजकोषीय नीतियों के विशिष्ट अंगों के 'मिश्रण' को आगे लिखे तरीके से बदल दे : (१) संघीय देयताओं की संघीय रिजर्व खुला बाजार खरीद द्वारा उधार को आसान बना दे और इसके लिए संघीय रिजर्व बैंक के ऋणों पर वाणिज्य बैंकों से ली जाने वाली संघीय रिजर्व बट्टा दर कम कर दे और संभवतः ऐसा ही प्रभाव डालने वाले अतिरिक्त मुद्रा उपाय अपना ले (२) एक या अधिक संघीय करों की दरें बढ़ा कर कारबारी फर्मों या व्यक्तियों से लिए जाने वाले करों में सकल वृद्धि कर दे। इससे अनुमानतः बजट अतिरिक्त पैदा हो जाएगा या कम-से-कम परिचलन में पैसा कम हो जाएगा और इससे पूँजी निर्माण को उद्दीपित करने के लिए अपनाई गई आसान उधार, मुद्रा-नीति से पैदा हुई स्फीति-प्रवृत्ति रोकी जा सकेगी। एक और उदाहरण इस तरह दिया जा सकता है कि मान लो अपनी राजकोषीय नीतियों द्वारा हम निगम आय-कर कम करके पूँजी माल में नए निवेश को उद्दीपित करना चाहते हैं। ऐसी नीति के स्फीतिकारी प्रतिफलों को टालने के लिए हम उस तरह के करों की दर बढ़ा देंगे, जो निवेश के अभिप्रेरण पर सीधा प्रभाव नहीं डालते और इतनी मात्रा तक बढ़ा देंगे कि निगम आय-कर में कटौती के स्फीतिकारी प्रभाव को रोकने के लिए वह काफी हो और उक्त कटौती द्वारा उद्दीपित किया गया निवेश फलस्वरूप बढ़ सके।

इन उदाहरणों से यह बताया जाता है कि राजकोषीय और मुद्रा-नीति के प्रबंध के नए सिद्धांत इस विचार पर आधारित हैं कि हमारी सभी राजकोषीय नीतियाँ और हमारी सभी मुद्रा-नीतियाँ एक ही समय पर आर्थिक कार्यकलाप को उद्दीपित या मंद करने के उसी लक्ष्य की ओर उन्मुख की जाएँ, यह जरूरी नहीं है। इस अभिनव सिद्धांत के अनुसार समस्या यह है कि इन नीतियों में से कुछ को, जो स्वतः उद्दीपित करती हैं, ऐसी कुछ नीतियों के साथ, जो स्वतः मंद करती हैं, इन अनुपात में मिश्रित किया जाए कि कुल नतीजा यह हो कि संसाधनों का पूरा उपयोग किया जा सके और साथ ही पूँजी-विस्तार की अपेक्षित मात्रा प्राप्त की जा सके (आर्थिक-विस्तार का स्रोत), और जो आय-वितरण के हमारे अभिप्रेत प्रयोजन की हमारी कर-प्रणाली द्वारा चाही गई मात्रा में बाधा न डाले और मुद्रा-स्फीति भी पैदा न करे। इन उद्दीपक और मंदकारी कार्यों के उपलब्ध मिश्रण या मेल या मिलावट और मुद्रा राजकोषीय नीति के अनेक तत्त्वों को जिन अनेक अनुपातों में मिलाया जा सकता है, उनको गणित समीकरण-जैसी पूर्णता के साथ काम में लाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव के ब्यौरे हमारे इस अध्ययन के क्षेत्र से बाहर हैं। पर, इनसे स्थिर पूरा नियोजन और आर्थिक विकास साथ-साथ प्राप्त करने की चालू उपलब्ध तकनीकों के अनिवार्य स्वरूप का पता चल जाता है और इससे वह आर्थिक कौशल स्पष्ट हो जाना चाहिए, जिसकी माँग इन तकनाकों के उपयोग द्वारा की जाती है।

स्वचालित और प्रबंधित स्थिरकों की तुलना

फिर 'स्वचालित' और 'प्रबंधित' आर्थिक स्थिरीकरण तरीकों के बीच का भेद ध्यान में रखना चाहिए। पहले प्रकार के तरीके कारबार में मंदी या स्फीति शुरू होने पर अपने-आप संचालित हो जाते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के लिए एक निश्चित फैसला करना होता है कि कुछ करना होगा और फिर उपयुक्त निश्चित कार्य करना होता है। पहले को कभी-कभी 'अंतर्निमित' स्थिरक कहा जाता है। इसका मतलब यह है कि वे इसलिए अस्तित्व में आए हैं कि हमारी संघ सरकार स्वयं स्थिरीकरण प्राप्त करने की अपेक्षा दूसरे प्रयोजनों से वैयक्तिक और निगमित आय-करों को व्यक्तियों तथा निगमों के आर्थिक जीवन में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण चीज बना चुकी है, अनेक राज्यों को बेरोजगार मुकाबला प्रणाली स्थापित करने के लिए विवश कर चुकी है, सरकार के काम के रूप में ही खेतिहर चीजों के मूल्य-समर्थन के लिए और अभ्यस्त लोगों के लाभ के लिए भुगतान करना स्थापित कर चुकी है आदि। वे इसलिए अस्तित्व में आते हैं; क्योंकि हम उनको सरकार का सामान्य कृत्य मानते हैं और वे या तो कारबार-कार्यकलाप को उद्दीपित करने के लिए या स्फीति के आधिक्य को उद्दीपित

करने के लिए या स्फीति के आधिक्य को हल्का करने के लिए संचलित हो जाते हैं और उनके लिए किसी को ऐसा कोई विशिष्ट निर्णय नहीं लेना पड़ता कि उनके स्थिरीकरण कृत्य को चालू करने का अवसर आ गया है।

लेकिन 'प्रबंधित स्थिरकों' को लेकर समस्या बिल्कुल दूसरी है। ये हैं : कराधान की दरों का स्तर, सरकारी व्यय का स्वरूप और स्तर, सरकारी देयताओं की संघीय रिजर्व खुला बाजार में खरीद या बिक्री या संघीय रिजर्व बैंकों से रिजर्व उधार लेने के लिए वाणिज्य बैंकों की बट्टा दर को बढ़ा या घटा देना। 'प्रबंधित' स्थिरकों में से प्रत्येक के लिए यह फैसला करने के लिए एक अभिकरण की जरूरत होती है कि इसको सक्रिय किया जाए और फिर चुनी हुई दिशा में उस फैसले के साथ-साथ कुछ निश्चित कार्रवाई की जाए। 'प्रबंधित' स्थिरकों का यह पहलू संभाव्य आर्थिक स्थिरीकरण के सिलसिले में दो बड़ी समस्याएँ खड़ी कर देता है, जिनका हम अध्ययन करते रहे हैं। पहली समस्या यह है कि क्या अंतर्ग्रस्त अभिकरण एक या अधिक स्थिरकों को सक्रिय या निष्क्रिय बनाने की जरूरत को ईमानदारी से समझने की कोशिश करेंगे और अगर जरूरत हुई, तो ईमानदारी से ऐसी नीति को प्रभाव में लाने की कोशिश करेंगे? दूसरी समस्या यह है कि इन स्थिरकों को प्रबंधित करने के लिए एक सच्चा प्रयास किया भी जाए, तो भी किस तरह प्रत्येक अंतर्ग्रस्त अभिकरण यह जान पाएगा कि वह जिस खास स्थिरक या स्थिरकों का प्रबंध करता है, उनके प्रभाव की ठीक जरूरत कब हो जाती है और उसका कितनी गहराई के साथ उपयोग करना चाहिए और कब उसको निष्क्रिय कर देना चाहिए? पहली समस्या अभिप्रेरण की समस्या है और उसने जनमत और राजनीतिक शक्तियों के मामले बहुत कुछ अंतर्ग्रस्त हैं। पिछली समस्या एक तकनीकी समस्या है कि आर्थिक भविष्य-कथन के प्रयोजन से आर्थिक शक्तियों को किस प्रकार पहचाना और मापा जाए। हम पहले इनमें से पहली समस्या की चर्चा करेंगे।

'मुद्रा-नीति' के घेरे में आने वाले स्थिरक पूरी तरह से 'प्रबंधित' स्थिरक भी होते हैं। स्पष्ट है कि फिर भी इस समय और दिखायी पड़ने वाले भविष्य में उनके प्रयोग के लिए अभिप्रेरण की समस्या आड़े नहीं आती है जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे संघीय रिजर्व शासी मंडल के क्षेत्राधिकार में आते हैं; क्योंकि वह क्षेत्राधिकार कांग्रेस के अधिनियम द्वारा स्थापित कर दिया गया है। मंडल का स्वरूप गैर-राजनीतिक है और इसमें नियुक्तियाँ तकनीकी योग्यता के आधार पर की जाती हैं, राजनीतिक संबंधन के आधार पर नहीं। नियुक्ति की अवधि भी लंबी होती है। मंडल ने कई बार कोशिश की है कि उसका प्रमुख प्रयोजन संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक कार्यकलाप में स्थिरीकरण लाना है, जैसा कि इसे संचालित करने वाली

संघीय संविधि में भी परिभाषित कर दिया गया है। संघीय सरकार के विभिन्न अभिकरण कारबारी समुदाय, अर्थवेत्ताओं और जनसाधारण ने यह उद्देश्य मान लिया है और उन्होंने कभी भी इसकी आलोचना करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई है। मंडल के निर्णय और इसके नियंत्रण वाले स्थिरकों के वास्तविक प्रबंध की आलोचना जनता द्वारा तभी की जाती है, जब सर्वाधिक प्रभावी स्थिरीकरण सभी स्थलों के लिए वे बहुत जल्दी या बहुत देर से या बहुत भारी मात्रा में या बहुत हल्की मात्रा में लगाए गए मालूम पड़ते हैं। इनके उद्देश्यों की आलोचना नहीं की जाती है।

प्रबंधित स्थिरकों का राजनीतिक पक्ष

उन 'प्रबंधित' स्थिरकों को लेकर परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है, जो राजकोषीय नीति की श्रेणी में आते हैं—संघीय कर दरों को बढ़ाना और कम करना, संघीय खर्च को बढ़ाना और कम करना, बेरोजगारी मुआवजा-प्रणाली में परिवर्तन करना और किसानों को मदद देना आदि। इन स्थिरकों के लिए जो उपाय अस्थि-मज्जा रूप में होते हैं, वे केवल हमारी संघीय काँग्रेस के क्षेत्राधिकार में आते हैं। इसलिए उन पर प्रतिनिधियों और सीनेट सदस्यों के मतों पर प्रभाव डालने वाले सभी राजनीतिक अभिप्रेरणों का असर पड़ता है, जो इन बातों के बारे में होते हैं—विशिष्ट कर-उपाय, विनियोजन उपाय और आर्थिक महत्त्व वाले अनेक काँग्रेसी विधेयक। इसलिए अगले साल वैयक्तिक आय-कर की दर बदल दी जाए और अगर ऐसा हो, तो कैसे बदली जाए, इस पर जो विचार किया जाता है, वह फैसला राजनीतिक विचारों से ज्यादा प्रभावित होता है। हमारे अर्थतंत्र के बाजारों में खरीद को उद्दीपित करने या मंद करने के लिए दरों में परिवर्तन करने की हमें कोई जरूरत है या नहीं, इसके आर्थिक विश्लेषण के आधार पर उतना नहीं। प्रस्तावित बड़े भारी और संघ द्वारा प्रस्तावित राजमार्ग प्रणाली-संबंधी निर्णय का आधार ज्यादातर यह राजनीतिक विचार हो सकता है कि कौन सा निर्णय अगले चुनाव में ज्यादा मत दिला सकेगा। इसकी अपेक्षा इस बात की ओर कम ध्यान दिया जाता है कि सामान्य आर्थिक कार्य-कलाप को उद्दीपित या मंद करने के लिए जरूरत पड़ने पर संघीय खर्च बढ़ाने या घटाने के लिए ऐसी प्रायोजना का संभाव्य उपयोग क्या है। हमेशा ज्यादातर यह प्रलोभन रहता है कि कारबार में और आगे वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए बढ़े हुए खर्चों का और घटी कर-दरों का इस्तेमाल किया जाए, किसी मंदी को निपटाने के लिए इस प्रकार के उपायों को रक्षित न रखा जाए।

यह काँग्रेस या काँग्रेस-सदस्यों की आलोचना के रूप में नहीं कहा जा रहा है। हमारी काँग्रेस एक ऐसे मंच के रूप में सुस्थापित राजनीतिक निकाय है, जिस पर अनेक

प्रकार के निर्वाचकों के परस्परविरोधी हितों का राष्ट्रीय नीतियों में समाधान किया जाता है, तथापि यह प्रश्न उठता है कि क्या निर्वाचक मंडल कांग्रेस को यह हिदायत दे पाएँगे या नहीं दे पाएँगे या कितनी जल्दी दे पाएँगे या उसे देना बुद्धिमत्तापूर्ण या जरूरी समझेंगे कि कांग्रेस को कुछ आर्थिक मामलों के बारे में कुछ आम नीतियाँ तय करनी चाहिए ? और फिर इन नीतियों के प्रभावीकरण को सालवार और महीनेवार संघीय रिजर्व शासी मंडल-जैसे एक सक्षम गैर-राजनीतिक निकाय के हाथों में सौंप दे। उदाहरण के लिए कांग्रेस के लिए ऐसे कानून बनाना संभव और बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है, जिसमें 'विशाल' राजमार्ग प्रणाली के बहुत जरूरी और दीर्घकालीन निर्माण की व्यवस्था की गई हो और उस कानून में राजमार्ग के रास्ते की सामान्य योजना दी गई हो, परिव्यय आदि दिए गए हों और फिर प्रायोजना को सक्षम व्यक्तियों के एक राजनीतिक अभिकरण के प्रशासन के अधीन रख दे और उनको यह हिदायत दे दें कि प्रायोजना के विभिन्न अंगों को अमल में लाने की गति और उसका शुरू करना इस बात पर निर्भर होगा कि आर्थिक स्थिरीकरण के प्रयोजन से वह अभिकरण संघीय खर्च के ज्यादा या कम किए जाने की जरूरत का किस प्रकार निर्धारण करता है। इसी तरह यह भी प्रस्ताव किया गया है कि कांग्रेस एक साधारण व्यक्तिगत आय-कर-संबंधी कानून बनाए, जिसमें उसके द्वारा वांछित क्रमिक कर-दरों का पैमाना दिया गया हो और फिर प्रशासन करने वाले एक गैर-राजनीतिक अभिकरण को यह अनुमति दे दे कि हर साल या संभवतः हर तिमाही में वह राजस्व के लिए सरकार की जरूरतों और आर्थिक स्थिरीकरण के प्रयोजन की सबसे अच्छी पूर्ति को ध्यान में रख कर उन दरों का समूचा स्तर तय करे। ऐसे उपायों द्वारा और कांग्रेस ने संघीय रिजर्व शासी निकाय को जरा स्थूल मुद्रा-शक्तियाँ प्रदान की हैं, उनके साथ-साथ कांग्रेस उस एक मात्र प्रकार की महत्त्वपूर्ण 'आर्थिक आयोजना' की व्यवस्था कर सकती है, जो पूँजीवाद की बुनियादी संस्थाओं के अनुकूल होगी।

ये सुझाव यहाँ पर हमारी कांग्रेस के राजनीतिक स्वरूप का संश्लेषण आर्थिक स्थिरीकरण लक्ष्यों के आंगिक रूप से संघीय करों और खर्चों के साथ जोड़ने की जरूरत के साथ करने की कठिन समस्या के लिए अचूक औषध के रूप में नहीं दिए जा रहे हैं। उनसे इस बात की जरूरत पर निश्चय ही जोर दिया जा रहा है कि हमारी लोकतंत्रीय राजनीतिक संस्थाओं और राजकोषीय नीति क्षेत्र के प्रबंधित आर्थिक स्थिरकों के स्वरूप के बीच जो संघर्ष है, उसका समाधान किया जाए। आसान-से-आसान शब्दों में इस परिस्थिति की व्याख्या इस तरह की जा सकती है : राजनीतिक दृष्टि से यह हमेशा ज्यादा इष्टकर होगा कि खर्च किया जाए और कर कम लगाए जाएँ—और इसके लिए जहाँ तक वास्तविक या प्रारंभ होने वाली मंदी या

स्फीति कर अति-उत्पादन का संबंध है, हमारे अर्थतंत्र की चालू हालत की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा। इसका मतलब है कि राजनीतिक दृष्टि से ज्यादा खर्च शुरू करना, कर-दरें कम करना और आसन्न आर्थिक मंदी को टालने के लिए घाटे की आर्थिक व्यवस्था करना हमेशा ही इसकी अपेक्षा ज्यादा आसान होगा कि कम खर्च शुरू किया जाए, कर-दरें बढ़ाई जाएँ और स्फीति-अत्युत्पादन को रोकने के लिए सरकारी कर्ज चुका दिए जाएँ। फिर भी अर्थवेत्ता अपने इस निष्कर्ष में एक मत हैं कि अगर राजकोषीय नीति स्थिरकों को प्रभावी बनाना है, तो उनको इस तरह प्रबंधित करना होगा कि वे पहले एक दिशा में काम करें और फिर दूसरी दिशा में। अगर स्थिरकों को इस तरह प्रबंधित किया जाए कि हमेशा वे मंदी की जरूरतों को लेकर चलें और कभी भी नहीं या कभी-कभी ही स्फीति-अत्युत्पादन की जरूरतों को लेकर, तो निःसंदेह ही प्रतिफल होगा—एक समय के लिए—स्फीति के साथ-साथ संसाधनों का पूरा-पूरा नियोजन। आखिरी नतीजों का फैसला एक ध्वंसक शक्तियों द्वारा किया जाएगा, जिनका जनन स्थायी मुद्रा-स्फीति द्वारा किया जाएगा। उनका ठीक-ठीक स्वरूप क्या होगा, यह पहले से तय नहीं किया जा सकता। लेकिन, वे हमें सभवतः आर्थिक विकास के साथ स्थिर पूरे नियोजन की ओर ले जा सकेंगे।

इसी कारण से ही हमने आर्थिक स्थिरीकरण की समस्या की चर्चा इस कथन के साथ शुरू की थी कि हमारी पूँजीवादी प्रणाली में स्थिर पूरा नियोजन संभव है और बाद में हमने यह भी जोड़ा था कि यह आर्थिक विकास के साथ-साथ संभव है। यह संभव है, लेकिन निश्चित नहीं है। अगर हम आशावादी दृष्टिकोण से झुकें, तो हम यह भी कह सकते हैं कि यह संभाव्य भी नहीं है। इसे कैसे प्राप्त किया जाए, यह ज्ञान तो विद्यमान है। इस ज्ञान का उसके द्वारा संभाव्य रूप से पूरे होने वाले लक्ष्य के लिए उपयोग करना इस बात पर निर्भर है कि हम प्रारंभ होने वाले स्फीति-अत्युत्पादन की अवधि के समान ही प्रारंभ होने वाली मंदी की अवधि में भी उतनी ही प्रखरता और तेजी के साथ इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को इच्छुक हैं।

अगर हम इसको तकनीकी रूप में लें, तो अर्थवेत्ताओं को चाहिए कि इस समस्या को समाधान के लिए राजनीतिक वैज्ञानिकों पर छोड़ दें; क्योंकि इसमें राजनीतिक लोकतंत्र को अपेक्षतया दीर्घकालीन नीति के निर्णयों की जरूरत और संघ सरकार के कार्य के साथ समताल बिठाने की मूलभूत समस्या आती है। वास्तव में यह हम सब की समस्या है। बहुत से लोग विश्वास करते हैं कि हमारी पूँजीवादी प्रणाली का भावी अस्तित्व स्थिर पूरे नियोजन और पर्याप्त आर्थिक विकास

को पूँजीवाद के बुनियादी संस्थाओं के साथ सफलतापूर्वक मिलाने पर ही निर्भर करता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए यह एक बड़ी चुनौती है और अब तक जिस आर्थिक स्थिरीकरण समस्या के इस पहलू का समाधान नहीं किया जा सकता है, उसके बहुत ही गंभीर अध्ययन की माँग करती है।

आर्थिक भविष्य-कथन

दूसरे बुनियादी प्रश्न का एक ज्यादा आशावादी उत्तर यह दिया जा सकता है, अगर ऐसे राजनीतिक अभिकरण स्थापित कर दिए जाएँ और उनको महत्त्वपूर्ण 'प्रबंधित' स्थिरीकरण तरीकों के ऊपर क्षेत्राधिकार दे दिया जाए, तो वे यह कैसे जानेंगे कि अर्थतंत्र के ऊपर कब और कौन से प्रभाव अमल में लाने चाहिए? यह प्रथमतः 'आर्थिक भविष्य-कथन' की समस्या हैं। जब हम इसे एक आर्थिक स्थिरीकरण कार्यक्रम के रूप में देखते हैं, तो हम पाते हैं कि इसका अनुपात भी कम नहीं हैं। यह विभिन्न 'प्रबंधित' स्थिरकों के संचालन का समय तय करने की समस्या का मूल विंदु हैं। इसमें न केवल यह प्रश्न उठता है कि कौन से खास स्थिरक को किस समय सक्रिय किया जाए, बल्कि यह भी कि वह कार्य कितना तीव्र या मुदु होना चाहिए, उसकी तीव्रता कब बढ़ाई या घटायी जानी चाहिए और कब यह कार्य बिल्कुल बंद कर देना चाहिए। इस अध्याय में कुछ पृष्ठ पहले विभिन्न स्थिरीकरण तरीकों के 'मिश्रण' या मिलाने-जुलाने की जिस समस्या की चर्चा की गई थी, उसमें भी ये सुकोमल प्रश्न उठते हैं कि पहले से चल रहे एक या अधिक स्थिरकों में किस समय एक अन्य स्थिरक के कार्य को मिश्रित किया जाए और किस समय मिश्रण या मेल का अनुपात कुछ इधर-उधर कमवेश किया जाए।

एक अर्थ में आर्थिक स्थिरकों के प्रबंध के लिए आर्थिक भविष्य-कथन की समस्या एक अकेले कारबारी उद्यम द्वारा फैसला करने के आधारस्वरूप किए जाने वाले 'कारबारी भविष्य-कथन' की समस्या से कम मुश्किल है। पहले में काम कर रहे सभी आर्थिक तत्त्व और समूचे अर्थतंत्र पर उनके प्रभाव की जोड़-तोड़ करनी होती है। समूचे अर्थतंत्र को प्रभावी करने वाले साधारण तत्त्वों का सकल सांख्यिकीय पैमानों से विश्लेषण किया जा सकता है। इस अर्थ में इसकी अपेक्षा यह ज्यादा आसान काम है कि समूचे अर्थतंत्र के बीच एक अकेले कारबारी उद्यम पर आर्थिक तत्त्व क्या प्रभाव डालेंगे, इसका भविष्य-कथन किया जाए। तथापि एक दूसरे अर्थ में स्थिरीकरण के प्रयोजन से आर्थिक भविष्य-कथन कहीं ज्यादा मुश्किल काम है। इसे न केवल यह निर्धारण करने में समर्थ होना चाहिए कि कब एक मंदी या स्फीति-अत्युत्पादन प्रारंभ होने वाला है या उसके बनने के लिए तैयारी चल रही है। इसके

अलावा उसे इस बात का भविष्य-कथन करने के लिए भी समर्थ होना चाहिए कि उस प्रारंभ होने वाली मंदी या अत्युत्पादन के प्रसंग में कौन से स्थिरकों का 'मिश्रण' या समुच्चय अपने-आप काम करने लगेगा और प्रारंभ होने वाली मंदी या अत्युत्पादन के विकसित होने पर कौन-कौन से प्रबंधित स्थिरकों को सक्रिय करना पड़ेगा। जब तक इन सभी बातों में भविष्य-कथन कुछ मात्रा में परिशुद्धता प्राप्त न कर ले, तबतक प्रबंधित स्थिरक उचित समय से पहले शुरू किए जा सकते हैं या उचित समय से ज्यादा देर तक चालू रखने के लिए आयोजित किए जा सकते हैं या ज्यादा जल्दी ही उनकी तीव्रता को काफी बढ़ा दिया जा सकता है या बहुत जल्दी या बहुत देर से उनको मृदु करने का काम शुरू किया जा सकता है। इन समय-निर्धारण की समस्याओं का और आर्थिक भविष्य-कथन का, जिसके ऊपर समय तय करने के फैसले आधारित होते हैं, महत्त्व इस बात से और बढ़ जाता है कि एक बार जब कुछ 'प्रबंधित' स्थिरकों को संचालित कर दिया जाता है, तो उनकी आयोजित समाप्ति से पहले उनको रोकना असंभव या कठिन होता है। इसका एक उदाहरण काफी होगा : अगर एक संघीय राजमार्ग कार्यक्रम का एक चुना हुआ खंड स्थिरीकरण के प्रयोजन से शुरू किया जाए, तो संबंधित राजमार्ग के अध-पूरे टुकड़ों पर काम रोक देना या निर्माण-कार्य करने वाले निजी ठेकेदारों के अध-पूरे ठेकों को रोक देना असहनीय हो जाएगा।

इस प्रकार के आर्थिक भविष्य-कथन के झमेले अनेक प्रकार के और महत्त्वपूर्ण होते हैं, लेकिन उससे हमें हताश नहीं होना चाहिए। फिर अर्थशास्त्र के इस क्षेत्र में विस्मयकारी रूप से कुछ बड़े ही प्रखर और तीव्र विकास हुए हैं। पिछली कई दशाब्दियों में हमारे अर्थतंत्र के स्रोतों से होकर कार्यकलाप के दैनंदिन विश्लेषण के लिए नए साधन विकसित किए गए हैं। इन्होंने अब कुछ मात्रा में परिशुद्धता प्राप्त कर ली है, जो यह बताती है कि अब हम करीब-करीब उन विशद और प्रगट करने वाले आँकड़ों को प्राप्त करने लगे हैं, जो चर्चित प्रकार के सफल आर्थिक भविष्य-कथन के लिए जरूरी हैं। ये विकास तीन अलग और विभिन्न, किंतु एक दूसरे की पूरक दिशाओं में हुए हैं। हम उनका 'राष्ट्रीय आय लेखे', 'अंतर्वेशन', 'बहिर्वेशन' लेखे और 'निधि प्रवाह लेखे' के रूप में निर्देश करेंगे। इनमें से पहला संभवतः उन छात्रों के लिए काफी प्रचलित है, जो साधारण अर्थशास्त्र में अपना बुनियादी पाठ्यक्रम पूरा कर चुके हैं; क्योंकि वे अवर-स्नातक स्तर पर अर्थशास्त्र के अध्ययन में काफी अच्छी तरह शामिल किए जा चुके हैं। दूसरे, अंतर्वेशन-बहिर्वेशन लेखे, अर्थशास्त्र के अवर-स्नातक छात्रों के लिए कम परिचित हैं और स्थिरीकरण के आर्थिक भविष्य-कथन की समस्या पर वे बहुत कुछ सीमित और तकनीकी प्रभाव ही डालते हैं। इनमें

से तीसरा, निधि प्रवाह लेखे, सब से नया विकास है और संभवत: आमतौर पर सब से कम लोग इसे जानते हैं।[1]

राष्ट्रीय आय लेखे

विकसित होने वाले इन तीन नए प्रकार के विश्लेषणों में राष्ट्रीय आय लेखे पहला है। उनका बुनियादी प्रयोजन हमारे अर्थतंत्र की सर्वांगीण उत्पादकता, हमारे अर्थतंत्र के प्रत्येक कई स्थूल खंडों का उस समूचे उत्पादन में अंशदान और उस तरीके की मात्रा की माप-जोख करना है, जिसमें संपत्ति के मालिकों की स्थूल श्रेणियों द्वारा उस उत्पादन का हिस्सा बताया जाता है, उत्पादन में उसका उपयोग किया जाता है और उत्पादान-प्रक्रिया में वैयक्तिक सेवाओं का योगदान किया जाता है। इन लेखों की बड़ी ही स्थूल संकल्पना है 'सकल राष्ट्रीय उत्पादन'। यह चालू बाजार मूल्यों पर संबंधित समयावधि (वर्ष या तिमाही) के दौरान हमारे अर्थतंत्र द्वारा उत्पादित सभी माल और सेवाओं की एक माप-जोख होता है कि इस माप-जोख में माल और सेवाओं के स्वरूप की या उन्हें विशिष्ट रूप से कौन पता है, इसकी परवाह नहीं की जाती है। सकल राष्ट्रीय उत्पादन में हुए परिवर्तन कम-से-कम राष्ट्र की पूरी उत्पादक शक्तियों का एक मोटा संकेत होते हैं और उस मात्रा का भी, जिसमें अर्थतंत्र समय-समय पर अपने उत्पादन-संसाधनों का पूरी-पूरी तरह से उपयोग नहीं कर पाता है। उत्पादक संसाधनों के पूरे नियोजन की अवधि में सकल राष्ट्रीय उत्पादन आर्थिक माल पैदा करने की अर्थतंत्र की क्षमता की माप-जोख करती है और हमारी जनता को सुलभ उत्पादन-क्षमता की बाहरी सीमा आँकती है। सकल राष्ट्रीय उत्पादन को अलग-अलग बाँटने पर पता चलता है कि उसमें माल की कौन-कौन सी स्थूल श्रेणियाँ शामिल हैं और सकल उत्पादन में अनेक उत्पादक तत्त्वों को अंशदान किया है।

चूँकि सकल राष्ट्रीय उत्पादन के आँकड़ों में से कुछ समंजन जोड़ या घटौतियाँ एक निश्चित अवधि के लिए की जाती हैं, इसलिए दूसरे लेखे विकसित होते हैं। इनमें से एक, जिसे 'शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन' कहा जाता है, सकल राष्ट्रीय उत्पादन से

---

[1] जिन प्रमुख विकासों की हम चर्चा करेंगे, उनके पूरक के रूप में बड़ा ही उपयोगी और निरंतर विस्तारशील अनेक ऐसे तत्त्वों का अध्ययन है, जो आर्थिक भविष्य-कथन से सुसंगत है और जिसे गैर-सरकारी अभिकरणों द्वारा हाथ में लिया जा चुका है या लिया जा रहा है। उदाहरण के लिए इनमें से एक निजी कारबार द्वारा नए संयंत्र और साज-सामान पर खर्च की भावी आयोजना-संबंधी सामयिक सर्वेक्षण और प्रकाशित रिपोर्ट है, जिसे मैकग्राहिल प्रकाशन कंपनी छापती है। दूसरी, भविष्य की अवधि में उपभोक्ता माल, खास कर स्थायी माल पर, खर्च के लिए आयोजना के बारे में उपभोक्ताओं की प्रवृत्ति का सामयिक अध्ययन और तत्संबंधी रिपोर्ट है। यह मिसिगन विश्वविद्यालय के उपभोक्ता सर्वेक्षण-केंद्र द्वारा किया जाता है।

उस पिछले अंश के लिए घटौतियाँ करने पर बचता है, जो वर्ष के उत्पादन के दौरान घिस गए या बेकार हुए पूँजी द्रव्य की जगह नए द्रव्य लगाने के लिए खर्च होता है। इसलिए 'शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन' सकल राष्ट्रीय उत्पादन का वह अंश बताता है, जो उत्पादक शक्ति को क्षति पहुँचाए बिना बार-बार प्राप्त किया जा सकता है। 'शुद्ध राष्ट्रीय' उत्पादन में ऐसी कुछ मदें निकालने के लिए फिर कुछ समंजन किए जाते हैं, जिनको सकल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना में दो बार शामिल किया गया था। इमसे 'राष्ट्रीय आय' की रकम का पता चलता है। यह संबंधित समयावधि में उपलब्ध हुए सकल माल और सेवाओं का मूल्य रुपयों में जोड़ने से आने वाली रकम है। ये उपभोक्ता द्वारा दैनंदिन उपभोग या कारबार उपक्रम या सरकार द्वारा अतिरिक्त पूँजी साज-सामान के उपयोग के लिए उपलब्ध हुए थे। यह कुल मिला कर शुद्ध आय है, जो उत्पादन के कई तत्त्वों में या उसके मालिकों में उत्पादन में उनके द्वारा किए गए योगदान के पुरस्कारस्वरूप बँटी होती है।

इस राष्ट्रीय आय के जो हिस्से व्यक्तियों की जेब से नहीं जाते और उन कुछ व्यक्तियों की आयों के लिए जिनसे उत्पादक कार्यकलाप शुरू नहीं होता, कुछ समंजन करने पर राष्ट्र की कुल 'वैयक्तिक आय' पता चलती है। यह राष्ट्र की सभी जनता की कुल जेबों में क्रय शक्ति के प्रवाह की एक माप-जोख है। यह उनकी खर्च करने और बचाने की सर्वांगीण सामर्थ्य को मापती है। तथापि यह समूची व्यय करने की शक्ति का निजी रूप से उपयोग करने की अनुमति उन्हें नहीं दी जाती है। इनमें से कुछ करों के रूप में उनसे ले लिया जाता है। इस रकम को घटा कर और कुछ दूसरे समंजन करने के बाद जनता की समूचे रूप में कुल 'निबटाने योग्य व्यक्तिगत आय' का पता चल जाता है। यह संबंधित अवधि में जनता के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति की कुल रकम है जिसका वे उपभोक्ता द्रव्य, स्थायी या अस्थायी खरीदने के लिए निजी बचत के रूप में इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

चूँकि ये राष्ट्रीय आय लेखे वार्षिक आधार की बजाय तिमाही आधार पर उपलब्ध किए गए हैं, विकसित किए गए हैं, परिशुद्ध किए गए हैं, ज्यादा-से-ज्यादा विश्वसनीय सांख्यिकीय सामग्री पर आधारित होने लगे हैं और वर्षों की बड़ी-बड़ी अवधि के लिए जोड़े जाने लगे हैं, वे हमारे अर्थतंत्र की उत्पादन-प्रक्रियाओं की प्रवृत्तियों और परिवर्तनों, के ऊपर और उत्पादन-ऊर्जा में अंशदान देने वाले वर्गों के बीच उस उत्पादन के लाभों के वितरण की प्रवृत्तियों और परिवर्तनों के ऊपर ज्यादा-ज्यादा प्रकाश डालने लगे हैं। ये लेखे अब तिमाही आधार पर जोड़े और प्रकाशित किए जाते हैं तथा आर्थिक नीति के निर्माण के आधार के रूप में आर्थिक भविष्य-कथन के लिए बहुमूल्य सहायक साधन बन गए हैं। जब, जैसे ही और अगर हम

अपने पास उपलब्ध इन संभाव्य आर्थिक स्थिरकों के उपयोग को ज्यादा-ज्यादा विकसित करने लगेंगे, राष्ट्रीय आय लेखे उनके प्रशासन के निरूढ़ अंग बन जाएंगे।

अंतवेंशन और वहिवेंशन लेखे

अंतवेंशन-वहिवेंशन को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लीओनतीफ द्वारा १९४७ ई० के बाद के दशक के शुरू में विकसित किया गया था। वे हमारे अर्थतंत्र के विभिन्न कृत्यकारी खंडों के बीच प्रोद्योगिकीय संबंधों और उद्योगों के कृत्यकारी रूप से संबद्ध किन्हीं चुने हुए वर्गों के अंगभूत सदस्यों के बीच प्रोद्योगीकीय संबंधों की ओर उन्मुख होते हैं। इन लेखों में इस्तेमाल होने वाली सांख्यिकीय सामग्री को यद्यपि डालर के मूल्य में व्यक्त किया जाता है, फिर भी आग्रह खंडों के बीच वास्तविक पदार्थों और सेवाओं के अंतःप्रवाह के ऊपर रहता है और उनको केवल पैसे के मूल्य में व्यक्त किया जाता है।

इन लेखों के स्वरूप के उदाहरण के लिए हमने अपने अर्थतंत्र के अंतवेंशन-वहिर्वेंशन संबंधों की एक पुरानी सारणी का एक अनुकूलन चुना है और उसे सारणी १९ में उद्धत किया है। इसे प्रोफेसर लीओनतीफ ने सन् १९३९ ई० में विकसित किया था। (इस सारणी की तारीख पुरानी होने की हमें फिक्र नहीं होनी चाहिए; क्योंकि हम इन लेखाओं के स्वरूप और उनके संभाव्य उपयोग में ही रुचि रखते हैं) सारणी में अर्थतंत्र के सभी हिस्सों के ब्यौरे नहीं हैं इसलिए सर्वग्रासी स्तंभ (बाकी सब) बिल्कुल दायीं ओर रख दिया है। इसमें हमारे अथतंत्र के १३ उद्योग-क्षेत्रों में अंतवेंशन-बहिर्वेंशन का चित्रण किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में वस्तुतः कई उद्योगों का कुल समूह दिया गया है। इस तरह पहले क्षेत्र में 'कृषि और खाद्य' में सभी कृषि-संबंधी और खाद्य-संस्करण वाले उद्योगों को शामिल किया गया है और इसी तरह 'रसायन क्षेत्र' में बहुत से रसायन-उद्योगों को शामिल किया गया है। सारणी की नीचे की रेखा अर्थतंत्र में श्रम-सेवा के बहिर्वेंशन को बताती है।

आँकड़ों की प्रत्येक पड़ी पंक्ति आर-पार चलती हुई अर्थतंत्र के उस क्षेत्र के वहिर्वेंशन के हिस्से का मूल्य डालरों में बताती है, जो सारणी के ऊपर स्तंभों में रखे गए क्षेत्रों में से प्रत्येक द्वारा इस्तेमाल किया जाता है। इस तरह सारणी यह बताती है कि सन् १९३९ ई० में रसायन-उद्योगों के ४१.५० करोड़ डालर के उत्पादों का उपयोग कृषि और खाद्य-उद्योगों में किया गया था। रसायन-उद्योगों के ३.१ करोड़ डालर के उत्पादों का मोटरगाड़ी-उद्योग में और कोयला कोक-निर्मित गैस-उद्योग या-बिजली उद्योगों में रसायन-उद्योगों के उत्पादकों का जो हिस्सा इस्तेमाल किया गया था, वह सांख्यिकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक खड़ा स्तंभ नीचे

की ओर चलते हुए बताता है कि उद्योगों के उस क्षेत्र में कितने डालर के मूल्य का अंतर्वेशन-तत्त्व लगा है, जो खड़े रूप से रखे गए प्रत्येक संबंधित क्षेत्र से लिया गया है। उदाहरण के लिए यह बताता है कि १६३६ ई० में मोटरगाड़ियों के उत्पादन में कृषि और खाद्य-उद्योगों के उत्पादनों का जो हिस्सा लगा था, वह सांख्यिकीय महत्त्व का न था, लेकिन ३६.३० करोड़ डालर के मूल्य की लौहधातुएँ मोटरगाड़ी-उद्योग में खर्च हुई थीं, ४४.८० करोड़ डालर के मूल्य के गढ़े जाने वाले धातु-उद्योगों के उत्पादन और केवल ५० लाख डालर के मूल्य के पेट्रोल और प्राकृतिक गैस तथा ८.८० करोड़ के परिवहन उत्पादन मोटरगाड़ीं-उद्योग के उत्पादनों में लगे थे। इस तरह १३ क्षेत्रों में से किसी एक का महत्त्व बाकी दूसरे १२ क्षेत्रों में से किसी एक का महत्त्व बाकी दूसरे १२ क्षेत्रों के प्रसंग में उस दूसरे क्षेत्र को सामग्री के अंतर्वेशन या सेवाओं के संभरणकर्त्ता के रूप में या उस दूसरे क्षेत्र के वहिर्वेशन का उपयोग करने वाले के रूप में आँका जा सकता है।

अर्थतंत्र के खंडों के बीच या कई खंडों को बनाने वाले उपविभाजित विशिष्ट उद्योग भी इन परस्परसंबंधों का विस्तार 'तकनीकी' गुणांक के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। तब इनमें से प्रत्येक संख्या के रूप में उस मात्रा को व्यक्त करेगा, जहाँ तक प्रत्येक दूसरे के ऊपर (एक) उसके उत्पादों के बाजार या (दो) अपने उत्पाद पैदा करने के लिए उसके लिए जरूरी सामान या सेवा के स्रोत के रूप में निर्भर करता है। ऐसे परस्परनिर्भर गुणांकों के उपयोग अपरिमित हैं। उदाहरण के लिए यह मान लिया जाए कि उपयुक्त अंतर्वेशन-वहिर्वेशन सारणियाँ बनाई जा चुकी हैं, तो वे बता सकेंगी कि कौन से उद्योगों से किस अनुपात में गृह-निर्माण में १५ प्रतिशत विस्तार के लिए जरूरी कुल कितना अंतर्वेशन सामान और सेवाएँ अपेक्षतया ज्यादा मात्रा में प्रदान करने के लिए कहा जाएगा। या दूसरा उदाहरण लें, तो वे बताएँगी कि मोटरगाड़ियों के उत्पादन में १० प्रतिशत कमी होने से इस्पात, ताँबा, चमड़ा, काँच आदि उद्योगों की बिक्री और तदनुसार संभवतः उनके वहिर्वेशन किस मात्रा तक प्रभावित होंगे। आर्थिक भविष्य-कथन और खास तौर पर स्थिरीकरण कार्य के निरंतर प्रभावों का गुणात्मक और संख्यात्मक भविष्य-कथन करने की प्रयोजन-पूर्ति ऐसी जानकारी की उपयोगिता, स्पष्ट हो जाएगी। जैसे-जैसे इन लेखाओं में उद्योगों के उपविभाजन के ज्यादा-ज्यादा ब्यौरे और अर्थतंत्र के विभिन्न खंडों के कुल आँकड़े शामिल होते जाएँगे, वैसे-वैसे आर्थिक स्थिरीकरण उपायों को आगे चलाने के सिलसिले में उनकी उपयोगिता बढ़ती जाएगी।

निधि-प्रवाह लेखे

पहले हमने उन संभाव्य साधनों की चर्चा की थी, जो हमारे पूँजीवादी प्रति

सारणी—१९ : संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ-प्रणाली में अंतर्वेशन-वहिर्वेशन संबंध

१९३९ ई० हर खाने के आँकड़े १९३९ ई० के सामने के प्रवाह में बताती है जिसमें परिवहन शामिल है, लेकिन व्यापार का उपांत नहीं। सभी अंतर्वेशन नियोजन (घरेलू) छोड़ कर करोड़ डालर में नापा गया है और श्रम अंतर्वेशन (घरेलू) जन घंटों में जोड़े गए हैं।

	उद्योग													
उद्योग	१ कृषि व खाद्य	२ लौह धातुएँ	३ मोटरगाड़ियाँ	४ धातु गढ़ना	५ अलौह धातुएँ	६ गैर-धातु खनिज	७ पेट्रोल और प्राकृतिक	८ कोयला कोक और निर्मित गैस	९ बिजली उपयोग	१० रसायन	११ लकड़ी-कागज मुद्रण और प्रकाशन	१२ वस्त्र और चमड़ा	१३ परिवहन	१४ सभी अन्य
१. कृषि व खाद्य	—	०	०	०	०	०	०	०	०	२१.६	१६.०	७१.७	०	१६,४१.८
२. लौह धातुएँ	१.९	०	३६.३	९४.९	४.२	०	०	०	०	०	६.२	०	७.१	१,०६.८
३. मोटरगाड़ियाँ	११.२	०	—	०	०	०	०	०	.१	०	०	०	.४	२,४६.४
४. धातु गढ़ना	६९.१	४.२	४४.८	—	२.०	२.३	१२.७	३.०	१७.१	४.५	१४.६	१०.८	२६.०	६,७१.२
५. अलौह धातुएँ	२.९	१०.९	९.३	२७.१	—	.४	.१	.१	५.४	८.८	.५	.२	.०	१,००.०
६. गैर-धातु खनिज	१०.८	३.४	६.०	३.३	०	—	.१	१.०	.०	१०.५	१.२	०	०	१,४८.०
७. पेट्रोल और प्राकृतिक	१९.२	५.०	.५	२.१	८	३.८	—	२.७	५.०	२.४	१.२	१.०	६.६	२,४४.८
८. कोयला कोक और निर्मित गैस	४.७	२०.२	१.१	४.४	१.६	४.७	.८	—	१५.८	९.२	५.३	२.६	२८.९	१,०९.४
९. बिजली उपयोग	१२.९	४.२	१.७	८.३	३.६	४.५	१.१	३.४	—	३.६	७.६	७.३	१.४	३,३८.४
१०. रसायन	४१.५	३.६	३.१	११.०	.३	१.७	१.३	०	०	—	१०.९	३२.६	१.५	२,२६.९
११. लकड़ी, कागज मुद्रण और प्रकाशन	१२.०	०	१.७	४.८	०	२.६	.२	०	.१	१.१	—	१.५	.५	५,५८.६
१२. वस्त्र और चमड़ा	९.५	०	६.३	१.३	.१	.२	०	०	०	१.१	७.८	—	०	५,८५.०
१३. परिवहन	८०.७	२१.९	८.८	१५.१	३.८	२२.९	२४.५	७१.६	०	२०.२	३०.४	.९	—	८०.१
१४. घरेलू (श्रम अंतर्वेशन)	३१६९	९.६	८५	३८१	५५	८.१	४८	७४	२०२	७९	३३८	४५२	४४६	—

स्रोत : डब्ल्यू लिओनतीफ की 'स्टडीज इन स्ट्रक्चर ऑफ दि अमेरिकन इकोनॉमी' न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५३ ई०, सारणी ३, पृष्ठ २६ से अनुकूलित।

व्यक्ति उत्पादन के सहवर्त्ती विकास के साथ-साथ आर्थिक कार्यकलाप में स्थिरीकरण लाने के लिए अब उपलब्ध हो गए हैं। 'राष्ट्रीय आय लेखे' और 'अंतर्वेशन-वहिर्वेशन लेखे' उन लक्ष्यों की ओर निदेशित राजकोषीय और मुद्रा-नीतियां बनाने के लिए अत्यावश्यक आर्थिक ज्ञान का आधार स्थापित करने की दिशा में काफी आगे बढ़ गए हैं। फिर भी वे राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों के सफल प्रबंध के लिए जरूरी गतिशील आर्थिक प्रक्रियाओं की पूरी-पूरी जानकारी नहीं दे पाते हैं। स्पष्ट ही स्थिरीकरण और विकास के प्रयोजन से राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों का प्रबंध इस तरह करना चाहिए कि हमारे अर्थतंत्र में पैसे और उधार की निधियों का प्रवाह प्राप्त किया जा सके, जो उसके हिस्सों के वीच संतुलित संबंध ला सकेगा और स्थिरता तथा विकास का संवर्द्धन कर सकेगा।

पैसे और उधार के लिए निधियों का प्रवाह आर्थिक प्रक्रियाओं में भाग लेने वालों द्वारा माल और सेवाओं को खरीदने एवं बेचने उधार लेने तथा देने, स्टॉक बंधपत्र बंधक बैंक लेखे आदि वित्तीय आस्तियों को प्राप्त करने या हटा देने के निर्णयों में जन्म लेता है। ये 'भाग लेने वाले' व्यक्ति, कारबार उपक्रमी बैंक, सरकारें, बीमा कंपनियाँ आदि हो सकते हैं। ऐसे प्रत्येक निर्णय से एक सौदा पैदा होता है अर्थात् खरीद-बिक्री का एक कार्यकलाप, उधार लेने-देने का एक कार्यकलाप या एक प्रकार की आस्तियों का दूसरे प्रकार में बदलना। राष्ट्रीय आय-लेखों और अंतर्वेशन-वहिर्वेशन लेखों की न्यूनता यही है कि वे अंगभूत 'सौदा' कार्यकलापों की श्रेणियों को प्रगट नहीं करते, जो हमारे अनेक उद्योगों के बीच कुल राष्ट्रीय आय या अंतर्वेशन या वहिर्वेशन संबंधों को स्पष्ट करते हैं और उनके अंतर्भूत रहते हैं। राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों में फेर-बदल करने की जरूरत का पता लगाने के सिलसिले में उपलब्ध आर्थिक दत्त-सामग्री के उपयोग की यही सीमा रही है।

दैनंदिन आर्थिक सौदों के बारे में हमारे ज्ञान में जो खाई रहती थी, उसके पाटने का काम अब हमारे अर्थतंत्र में 'निधि प्रवाह लेखों' के ताजे विकास द्वारा शुरू हो गया है। ये राष्ट्रीय आय-लेखों और अंतर्वेशन एवं वहिर्वेशन विश्लेषणों के पूरक होंगे। निधि प्रवाह लेखों की मूल संकल्पना विकसित की जा चुकी है और उसे परिशुद्ध एवं प्रखर किया जा रहा है। इन लेखों के स्वरूप और उपयोग के बारे में पहला विशद् प्रतिवेदन संघीय रिजर्व बोर्ड के अनुसंधान और सांख्यिकी डिवीजन द्वारा १९५५ ई० में दिया गया था।[1] इस प्रतिवेदन पर आधारित सारणी-२० इसके

---

[1] फ्लो ऑफ फंड्स इन दि यूनाइटेड स्टेट्स, सन् १९३९-१९५३ ई०, वाशिंगटन संघीय रिजर्व प्रणाली का शासी मंडल, १९५५ ई०।

उदाहरण के रूप में दी जा रही है और उसकी व्याख्या आगे की गई है। १९५९ ई० तक रीति विधान और दत्त-सामग्री की परिशुद्धि में प्रगति हुई और मंडल तिमाही आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका के निधि प्रवाह दत्त-सामग्री को प्रकाशित करने के लिए तैयार हो गया। तथापि ये परिशुद्धियाँ ऐसी थीं कि सारणी को जनसाधारण के लिए समझना मुश्किल बना देती थीं, इसलिए इस प्रकार के विश्लेषण और प्रबंधित स्थिरकों के उपयोग से उसका संबंध समझने के प्रयोजन से हमें १९५३ ई० की दत्त-सामग्री की ओर ध्यान देना होगा।[1] निधि प्रवाह लेखा प्रणाली इसलिए बनाई गई है कि वित्तीय और गैर-वित्तीय संबंधों को अंतर्ग्रस्त करने वाली समस्याओं के विश्लेषण के लिए उपयुक्त सांख्यिकीय ढाँचा तैयार किया जा सके और उद्योग क्षेत्र तथा वित्तीय विपणन विश्लेषण को समूचे अर्थतंत्र के लिए एक एकीकृत विश्लेषण में बाँधा जा सके।[2]

सारणी में पड़ी लेखा में वे दस उद्योग क्षेत्र दिए गए हैं, जिनमें हमारा अर्थतंत्र बँटा हुआ है। इनमें से प्रत्येक इस अर्थ में सजातीय है कि उसमें वे निर्णय करने वाली आर्थिक इकाइयाँ दी गई हैं, जो उसी प्रकार के कृत्य करती हैं और संगठन के रूप में भी वैसी ही हैं। वे सभी आर्थिक इकाइयाँ अर्थात् परिवार और व्यक्ति जो 'उपभोक्ता' कहे जाते हैं, पहले क्षेत्र में लिए गए हैं। सभी निजी 'कारबार इकाइयाँ' अगले तीन में ली गई हैं अर्थात् जो कृषिइतर निगम हैं, जो कृषिइतर अनिगमित कारबार हैं और जो कृषि कारबार हैं। अगली दो 'सरकारी इकाइयाँ' हैं—कुछ संघीय और कुछ राज्य और स्थानीय। अगली तीन वित्तीय इकाइयाँ है—बैंक, बीमा, और 'अन्य' वित्तीय संस्थाएं। आखिरी स्तंभ में बाकी सारी दुनिया के अर्थतंत्रों को लिया गया है। हर क्षेत्र के स्तंभ के नीचे इस क्षेत्र के मुद्रा सौदों का कुल परिमाण दिया गया है।

सारणी में खड़े रूप से बाईं ओर लेन-देन की कई श्रेणियाँ सूचीबद्ध की गई हैं जैसे सामान और सेवाओं वाले लेन-देन, बीमा के लेन-देन, कर के लेन-देन, बंधक लेन-देन आदि। लेन-देन की ये श्रेणियाँ फिर दो प्रमुख वर्गों में बाँटी गई हैं। 'अ-वित्तीय' में लेन-देन की वे सभी श्रेणियाँ आती हैं, जिनमें माल के लिए भुगतान या प्राप्तियाँ होती हैं, श्रम सेवाएँ, मुद्रा-कोषों का उपयोग आदि। उदाहरण के लिए 'वेतन तालिका'

---

[1] जो छात्र उस आधार से परिचित होना चाहते हैं, जिस पर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए इस समय तिमाही रूप से निधि प्रवाह लेखे जोड़े और प्रतिवेदित किए जाते हैं, वे कृपया देख लें फेडरल रिजर्व बुलेटिन अगस्त, १९५९ ई०, पृष्ठ ८२८–८५९ और वित्तीय एवं कारबार आँकड़ों के परिशिष्ट की सारणियाँ।

[2] वही, पृष्ठ ८२९।

सारणी—२०

निधि-प्रवाह लेखा का सार—१९५३

(वार्षिक व्यय : विलियन डालर में)

S = निधि-स्रोत, U = निधि-उपयोग

मंडल	उपभोक्ता		व्यवसाय						सरकार				आर्थिक संस्थाएँ						विश्व का शेष भाग		योग	
			निगमित		अनिगमित		कृषि		संघीय शासन		राज्य एवं स्थानीय		अधिकोषण		बीमा		अन्य					
	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U	S	U
गैर-आर्थिक																						
१. वेतन-खाते	१९५·५	२·७	····	११८·७	—	३०·०	—	२.६	—	१९.६	—	१३.५	—	१.९	—	२.६	—	४.४	—	α	१९५.५	१९५.५
२. लागत-खाते हुंडियाँ और भुगतान	५९·४	१६·३	९·७	२०·०	१७·५	४०·०	१.१	१३.०	१.०	५.५	०.८	१.०	६.२	२.१	३.५	०.३	१.७	१.५	०.५	१.९	१०१.४	१०१.४
३. बीमा और अनुदान	२३·९	२२·७	१·३	१२·२	१·०	३·०	०.४	०.४	७.५	१४.४	११.९	११.७	α	०.३	२९.०	१६.७	५.७	१.४	२.२	०.३	८२.८	८३.०
४. कर एव कर वापसी	२·६	४०·९	०·५	३६·०	—	६·८	—	१.१	६४.८	३.१	२१.४	—	—	०.८	—	०.७	—	α	—	α	८९.४	८९.६
५. पूँजी अभिग्रहण	२२·०	६३·८	०·२	२६·७	१·५	६·०	०.४	५.०	α	४.२	०.१	७.८	—	०.१	α	०.२	—	२.१	—	—	८२०.९	८१९.५
६. वस्तुसूची में मूल परिवर्तन	—	—	—	१ ६	—	(०·९)	—	(०.३)	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—		
७. नई प्रदत्त पूँजी	—	(३९·४)	····	(२४·९)	—	(५·१)	—	(४.६)	—	(४.२)	—	(७.२)	—	(०.१)	—	α	—	(२.१)	—	—		
८. अन्य	(२२·०)	(२४·४)	(०·२)	(०·२)	(१·५)	α	(०.४)	—	α	(०.१)	(०.१)	(०.५)	—	—	α	(०.२)	—	—	—	—		
९. अन्य माल एवं सेवाओं की खरीद-बिक्री	....	१५५·४	५३८·३	३४१·८	१९५·८	१३०·२	२९.८	१०.८	५.०	३८.८	५.८	६.४	०.८	०.७	०.५	३.४	४.९	३.०	१५.८	१४.३		
१०. कुल	३०३·४	३०१·८	५५०·०	५५५·३	२१५·९	२१५·९	३१.७	३२.८	७८.४	८५.१	४०.१	४०.४	७.०	५.९	३३.०	२३.९	१२.३	१२.४	१८.४	१६.५	१२९०.०	१२९०.०
आर्थिक																						
११. मुद्रा एवं जमा	....	४·४	····	०·१	—	०·४	—	α	—	१.६	—	१.०	५.०	—	—	०.२	—	०.२	α	०.३	५.०	५.०
१२. संघीय देयता	····	०·३	····	१·१	—	०·६	—	—	५.२	—	—	१.८	—	०.९	—	α	—	०.२	—	०.६	५ २	५.१
१३. न्यास	६·२	०·६	१·३	—	१·८	०·५	०.४	—	—	०.३	—	—	—	२.५	—	२.१	α	३.७	—	—	९.८	९.८
१४. निगमित प्रत्याभूतियाँ और राज्य एवं स्थानीय न्यास	—	३·२	६·७	०·३	....	....०·६	—	—	—	०.३	३.६	०.३	०.१	१.१	—	६.५	०.४	०.३	०.१	०.१	१०.९	१०.८
१५. अन्य	४·५	४·४	····०·६	०·१	१·६	२·३	०.६	α	०.१	०.२	—	—	०.२	१.४	०.३	०.२	४.५	०.९	०.६	१.४	११.८	१०.८
१६. योग	१०·७	१२·९	७·४	१·६	३·५	३·२	१.०	α	५.३	—१.४	३.६	३.०	५.२	५.८	०.३	९.१	५.०	५.०	०.६	२.३	४२.६	४१.५
१७. कुल योग	३१४·४	३१४.४	५५७.४	५५७·४	२१९·३	२१९·३	३२.८	३२.८	८३.७	८३.७	४३.६	४३.६	१२.२	१२.२	३३.३	३३.३	१७.३	१७.३	१९.०	१९.०	१३३२.७	१३३२.७

α पचास मिलियन डालर से कम

स्रोत : संयुक्त राज्य में निधि-प्रवाह, १९३९-१९५३, वाशिंगटन, संघीय रिजर्व-पद्धति के गवर्नरों का मंडल, १९५५, पृष्ठ, ३८ ।

से मतलब है मालिकों के लिए श्रम सेवाओं की खरीद-बिक्री का; 'करों' में नागरिकों को सरकार की सेवाओं की खरीद-बिक्री शामिल है; अन्य माल और सेवाओं की खरीद और बिक्री में खाद्य, कपड़े आदि के रोजमर्रा के खरीद-बिक्री के लेन-देन आते हैं। 'वित्तीय' वर्ग में उस श्रेणी के लेन-देन आते हैं, जो 'वित्तीय दायों के परिवर्तनों' को प्रगट करते हैं। 'निगमित प्रतिभूतियों की श्रेणी में उदाहरण के लिए वे लेन-देन, आएँगे, जिनमें व्यक्ति या कारबार फर्में, पैसा या उधार निगमित प्रतिभूतियों के विनिमय में देती हैं; 'बंधकों' में लेन-देन शामिल होंगे, जिनमें कोई परिवार कुछ पैसों के लिए अपने घर को बंधक रखता है।

चूँकि पड़े रूप से सूची में दिया गया प्रत्येक खंड किसी सूत्र से पैसे लेता है और किसी प्रयोजन से उनका इस्तेमाल करता है, इसलिए हर खंड के नीचे दुहरे स्तंभ हैं। एक को 'स' कहा गया है, जो यह बताता है कि वे लेन-देन की अनेक खड़ी श्रेणियों में से प्रत्येक से लिए गए पैसे 'प्राप्तियाँ' हैं। दूसरे पर 'उ' चिह्न लगाते हैं, जो यह बताता है कि वे भुगताए गए हैं।

अगर पड़े रूप से व्यवस्थित इन 'खंडों' और खड़े रूप से व्यवस्थित लेन-देन की श्रेणियों को समझ लिया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पड़ी पंक्ति के और खड़े स्तंभ के प्रत्येक कटान के आँकड़े या तो उस खंड के उस श्रेणी के लेन-देन के लिए प्राप्त या उपयोग में लाए गए समग्र धन या उधार का निरूपण करते हैं। उदाहरण के लिए पड़ी और खड़ी बिल्कुल पहली मद बताती है कि १९५३ ई० में अपने मालिकों की दी गई सेवा के प्रतिफल में उपभोक्ताओं ने १९५.५ अरब डालर प्राप्त किए, जब कि इसके ठीक दाएँ ओर की मद बताती है कि उपभोक्ताओं ने उस साल २.७ अरब डालर सीधे-सीधे उनके लिए काम करने वाले कर्मचारियों को चुकाए या, फिर दूसरा उदाहरण लें, खड़े संघीय सरकार ने स्तंभ 'स' और 'उ' की कटान पड़ी पंक्ति 'कर और कर-वापसी' के साथ देखने में पता चलता है कि १९५३ ई० में संघीय सरकार ६४.८ अरब डालर की रकम कर भुगतान के रूप में प्राप्त कर रही थी और दूसरी ओर कर-वापसी के रूप में ३.१ अरब डालर की रकम लौटा रही थी। हर खंड के 'उ' स्तंभ के सहारे हम अगर 'कर और कर-वापसी' वाली पंक्ति पर चलें, तो हम देखेंगे कि हर खंड ने कितनी रकम समग्र संघीय कर प्राप्तियों के लिए प्रदान की हैं। अगर उसी पंक्ति के सहारे हम 'स' स्तंभ को लेकर चलें, तो पता चलेगा कि संघीय कर की समग्र वापसी के रूप में प्रत्येक खंड को कितनी रकम वापस मिली। ये आँकड़े बताते हैं कि व्यक्तियों या परिवारों (उपभोक्ताओं), और व्यापार निगमों का संघीय कर भुगतान लेन-देन में कैसा प्रमुख स्थान रहा था और संघीय सरकार द्वारा चुकाई गई कर—वापसी कुल ३.१ अरब डालर में कमी कर

से व्यक्तियों या परिवारों को २.६ अरब डालर मिले और कारबार-निगमों को ५० करोड़ डालर।

इन थोड़े से उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे अर्थतंत्र के अनेक खंडों में से प्रत्येक के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के लेन-देन से पैसों की प्राप्ति और उनके लिए पैसों के उपभोग के बारे में अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। किसी साल के लिए (या तिमाही निकलने वाली दत्त-सामग्री के लिए तिमाही के लिए) इन निष्कर्षों से अवधिविशेष में लेन-देन के खडों और प्रकारों के बीच का 'स्थिर संबंध' ही बिंबित होता है। धन-प्रवाह लेखाओं का असली महत्त्व इसमें है कि वर्षों (या तिमाही) की माला में ऐसी लेखाओं की माला खंडों के बीच, लेन-देन की श्रेणियों के बीच और लेन-देन के खंडों और श्रेणियों के बीच 'बदलते हुए संबंधों' के बारे में क्या निरूपित करती है। इन सबंधो की 'गतिशीलता' को प्रकट करके ये लेखा हमारे अर्थतंत्र में पैसे के प्रवाह के परिवर्तन के संबंध में बहुत भारी जानकारी दे सकते हैं, जो हमारी राजकोषीय और मुद्रा-नीतियों के प्रबंध के लिए जिम्मेवार अभिकरणों के लिए बड़े काम की सिद्ध होगी। इसके अलावा एक बार विकसित और प्रतिवेदित कर दिए जाने के बाद आगे फिर खंडों के उप-विभाजन और लेन-देन की श्रेणियों के उप-विभाजन के रूप में यह दत्त-सामग्री निजी कारबार उपक्रमों द्वारा भविष्य में ऐसे कार्य-संचालन की आयोजना के लिए अवर्णनीय रूप से उपयोगी है, जिनमें निजी प्रबंधों के हजारों फैसले के जरिए नए उत्पादनों का विकास, पूँजी-विस्तार की मात्रा और स्वरूप, अनुसंधान के लिए उपलब्ध रकम का श्रेष्ठतम उपयोग आदि जैसे मामले अंतर्ग्रस्त होते हैं। ऐसे निजी कारबार के फैसलों के लिए व्यौरेवार तथ्यात्मक आधार पैदा कर देने से निश्चय ही वे ज्यादा सुदृढ़ हो सकेंगे और इस तरह समूचे अर्थतंत्र पर स्थिरकारी प्रभाव डाल सकेंगे।

एक और उदाहरण में इन विकासशील भुगतान-प्रवाह लेखों की संभाव्य उपयोगिता की बात स्पष्ट हो जाएगी। अगर १९५३ ई० की सारणी की हम फिर से जाँच करें, तो इससे इस बात का पता चलेगा कि उस साल में उपभोक्ताओं ने ३१४.४ अरब डालर का कुल जोड़ खर्च किया था। इसका विभाजन इस तरह था: माल और वैयक्तिक सेवाओं समेत सेवाओं की खरीद १५८.१ अरब डालर (मद क और झ): देय ऋण पर व्याज १६.३ अरब डालर (ख), बीमा और अनुदान (भेंटें) २२.७ अरब डालर, (ग,: कर ४०.९ अरब डालर (घ), घरों और अन्य स्थायी उपभोग द्रव्यों की खरीद ६३.८ अरब डालर (ङ): उनके नगद और वित्तीय निवेश के अतिरिक्त खर्च १२.९ अरब डालर (ट,ठ,ड,ढ, और ण)। उपभोक्ताओं को मजूरी और वेतन (वेतन-तालिका) से प्राप्त रकम केवल १९५.५ अरब डालर थी (क): इसमें अन्य स्रोतों से

आए ११८.९ अरब डालर या ३८ प्रतिशत शामिल नहीं हैं। इस रकम में से ८५.९ अरब डालर निवेश के प्रतिफल स्वरूप आए थे (ख) तथा इसमें बीमे और अनुदान (ग) धन कर वापसियाँ (घ) भी शामिल थीं। बाकी ३३ अरब डालर में से २२ अरब डालर घरों या दूसरे स्थायी उपभोक्ता द्रव्यों की बिक्री से प्राप्त हुए थे (ड) और दूसरे लगभग ११ अरब डालर (त) उधार से आए थे, जिनमें से वंधक रखकर लगभग आधा उधार लिया गया था (ड)।

इस बात को समझने के लिए ज्यादा कल्पना की जरूरत नहीं है कि खंड और लेन-देन के संबंध के रूप में रखने के बाद सभी दत्त-सामग्री राजकोषीय और मुद्रा-संबंधी नीतियों के प्रबंध के लिए जिम्मेवार लोगों के लिए कितने महत्त्वपूर्ण मतलब की हो सकती है। उपभोक्ता के हाथ से हो कर जाने वाले पैसों का कुल जोड़ जैसे ही घटता-बढ़ता जाएगा, उसके वैयक्तिक श्रेणी वाले अंग खंड लेखाओं के 'उपयोग' की ओर और फिर खंड लेखाओं के 'स्रोत' की ओर किस तरह बदलते रहेंगे? हर ओर के बीच के अंगों के बीच का संबंध जैसे-जैसे बदलता रहता है और जैसे ही किसी दूसरी लेन-देन श्रेणी से सापेक्ष 'उपयोग' की ओर की या 'स्रोत' की ओर की एक खास लेन-देन श्रेणी बदल जाती है, वैसे ही फलस्वरूप पैदा होने वाले गतिशील तत्त्व हमारे अर्थतंत्र के अल्पकालीन और दीर्घकालीन प्रवृत्तियों दोनों के ऊपर सशक्त प्रभाव डालते हैं। ऐसे परिवर्तनों और प्रवृत्तियों के स्रोतों की खोज संभवतः उनका भविष्य-कथन करने की हमारी सामर्थ्य बढ़ा देती है और वही वह तत्त्व है, जिससे राजकोषीय और मुद्रा-नीतियाँ वनाने की माँग की जाती है।

लगता है, अपने आर्थिक इतिहास में हम पहली बार उस अवस्था तक पहुँच रहे हैं, जिसमें सुदृढ़ राजकोषीय और वित्तीय नीतियों के लिए जरूरी तकनीकी आधार विशद रूप में मिलते रहेंगे। इस सिलसिले में छात्रों को याद रखना चाहिए कि अपने उदाहरणों में हमने सबसे आसान कटानों और अंतःश्रेणी संबंधों की ही बात कही है। संघीय रिजर्व वोर्ड द्वारा अब जो तिमाही लेखे प्रकाशित किए जाते हैं, उनसे लेन-देन के खंडों और श्रेणियों के बीच के संबंधों के कहीं ज्यादा जटिल और साभिप्राय परिवर्तन को खोजा जा सकता है। हमारे अर्थतंत्र में राजकोषीय और मुद्रा-संबंधी प्रबंध के लिए नीतियाँ तैयार करने के एक साधन के रूप में इस प्रकार लेखाओं की संभावनाएँ बहुत ही ज्यादा हैं।

१९४६ ई० का नियोजन अधिनियम

काँग्रेस ने जब १९४६ ई० में नियोजन अधिनियम पास किया, तो स्थिर पूरा नियोजन प्राप्त करने के हेतु संगठन करने के लिए पहला भारी कदम उठाया गया।

इसमें यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रपति देश की अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के बारे में एक वार्षिक विशद् प्रतिवेदन कांग्रेस को देंगे, जिसमें बताया जाएगा कि उत्पादन, रोजगार, क्रयशक्ति और संबद्ध आर्थिक तत्त्वों की संभाव्य प्रवृत्तियाँ भविष्य में क्या रहेंगी। राष्ट्रपति अगर स्फीतिजन्य अत्युत्पादन की ओर बढ़ती हुई अस्वस्थ प्रवृत्ति देखेंगे, तो विस्तार रोकने के लिए उपाय सुझाएंगे और अगर आर्थिक क्षितिज पर संभाव्य मंदी आती हुई दिखाई दे रही होगी, तो उद्योगों को उद्दीपन प्रदान करने के उपाय सुझाएंगे। इन उपायों में उधार और मुद्रा-नियंत्रण, कराधान उपाय, बेरोजगारी प्रतिकर, श्रम नीतियाँ, न्याय-संबंधी नीतियाँ और सार्वजनिक निर्माण कार्यों के लिए सरकारी खर्च आदि को शामिल किया जाएगा। राष्ट्रपति की मदद के लिए अधिनियम में उनके द्वारा सीनेट की मजूरी के साथ नियुक्त, तीन व्यक्तियो की आर्थिक परिषद् की स्थापना की व्यवस्था है। परिषद् का कार्य है कि सभी संबंधित आँकड़ा सामग्री को इकट्ठा किया जाए, जरूरी दत्त-सामग्री के लिए स्रोत पैदा किए जाएँ, आर्थिक भविष्य-कथन तकनीकों को विकसित किया जाए और इस तरह अपना भविष्य-निरूपण और सिफारिश तैयार करने में राष्ट्रपति की मदद दी जाए। अधिनियम में आर्थिक प्रतिवेदन-संबंधी एक नई संयुक्त कांग्रेस समिति को भी बनाया गया, जिसमें सात सीनेट सदस्य और सात प्रतिनिधि सभा सदस्य होते हैं और जो राष्ट्रपति के प्रस्तावों पर तथा उस विषय से सबद्ध सभी कांग्रेसी विधेयकों पर विचार करती हैं एवं विधान बनाने संबंधी सिफारिशें करती हैं। कांग्रेस में स्थापित विशद् स्थायी आर्थिक नियमों में यह पहला है।

हालांकि अधिनियम के वास्तविक प्रस्तावों ने जो आशा की थी, आर्थिक स्थिरीकरण की ओर वह प्रगति करने में तो यह ससफल रहा है, पर इसकी सफलताओं का कम मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। अधिनियम ने सीधे-सीधे और हमारे इतिहास में पहली बार संघीय सरकार को यह दायित्व सौंपा कि साधारण औद्योगिक कार्यकलाप के उतार-चढ़ाव को हलका रखने के लिए और आर्थिक विकास बढ़ाने के लिए अपनी पूरी शक्तियों का उपयोग करे। यह दायित्व आज दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा माना जाता है। आर्थिक परिषद् अधिनियम के केंद्र-विंदु के रूप में है और किसी दूसरी सरकारी अभिकरण की तुलना में कहीं ज्यादा अच्छी एक सर्वांगीण आर्थिक स्थिरीकरण के रूप में काम करती है। अधिनियम में अपेक्षा की गई है कि परिषद् में ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाएँ, 'जो प्रशिक्षण, अनुभव और सफलताओं के फलस्वरूप—आर्थिक विकासों को समझने के लिए—सरकारी कार्यक्रमों का मूल्यन करने के लिए और राष्ट्रीय अर्थनीति तैयार करने के लिए सुयोग्य हैं।' परिषद् के व्यक्तियों में व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित और अनुभवी अर्थशास्त्रियों को

महत्त्व दिया गया है और वे अधिनियम की भारी अपेक्षाओं की पूर्ति करते हुए प्रतीत होते हैं। बताया जाता है कि परिषद् का विश्लेषण और राष्ट्रपति की सिफारिशें तैयार करने में परिषद् के सभापति आर्थिक विकास और स्थिरता के सलाहकार बोर्ड पर भारी भरोसा करते हैं। परिषद् के सभापति इस बोर्ड के भी सभापति होते हैं और उसके सदस्य अनेक कारबारी विभागों के आर्थिक मामलों से संबंधित अवर सचिव होते हैं।

कांग्रेस के लिए राष्ट्रपति की वार्षिक आर्थिक प्रतिवेदन परिषद् के साथ काफी बातचीत और सलाह-मशविरा करके तैयार किया जाता है। इसके लिए परिषद् का योगदान राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था की स्थिति का गैर-राजनीतिक व्यावसायिक विश्लेषण मात्र होता है। कुल मिला कर राष्ट्रपति के प्रतिवेदन में अर्थशास्त्र में राजनीति को या संभवतः राजनीति में अर्थशास्त्र को मिला लेती है, ऐसा समझा जा सकता है। आर्थिक प्रतिवेदन-संबंधी संयुक्त कांग्रेसी समिति राजनीतिक विचारों को छोड़ नहीं पाती और कांग्रेस के कुछ सत्रों में अधिनियम की भावना के अनुसार काम करने में असफल रही है, फिर भी उसे कुछ ठोस सफलताएँ प्राप्त करने का श्रेय दिया जा सकता है। इसमें बहुत से ऐसे साक्ष्य हैं, जो हमने या इसकी उप समिति ने आर्थिक स्थिरीकरण और विकास के क्षेत्र की समस्याओं के विभिन्न पहलुओं के बारे में लिए हैं। ऐसे एक साक्ष्य का इस अध्याय के शुरू में विस्तृत निरूपण किया गया था।

सहकारिता

आर्थिक हित वर्ग

हमारी प्रमुख समस्या के दूसरे पहलू में यह प्रश्न आता है कि हम वैयक्तिक या वर्गीय तत्काल हितों को उन दीर्घकालीन परिवर्तनों और शिल्प-विज्ञानी प्रगतियों से नीचा दरजा किस तरह दे सकते हैं, जिनको पूँजीवाद का अस्तित्व बने रहने के लिए सर्वहित साधन बनने देना होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका की हमारी पूँजीवादी प्रणाली के आरंभिक इतिहास में यह कोई गंभीर समस्या न थी। उस समय आर्थिक हित वर्ग प्रभावी रूप से संगठित न थे और अक्सर उनके प्रयोजन भी स्वरूप या एक रूप न थे। साथ ही हमारे प्राकृतिक संसाधनों के तेजी से हुए विदोहन और शिल्प-विज्ञान में सुधार की गति स्थूल आर्थिक प्रगति पर इन वर्गों द्वारा समय-समय पर लगाए गए बंधनों से कहीं तेज रही।

शताब्दी बदलते-बदलते हमारे प्राकृतिक संसाधनों की खोज हो चुकी थी और वे निजी स्वामित्व में थे। हमारी औद्योगिक प्रणाली प्रौढ़ बनी और जमींदारों, मज-

दूरों, मालिकों, किसानों, निदेशकों, इंजीनियरों और दूसरे वर्गों के बीच की दीवालें स्पष्ट हुईं और सुदृढ़ होती गईं। उद्योग जमते गए और उनके तत्काल हित वर्ग अलग-अलग होते गए और इस तरह साभिप्रेत रूप से रेल-मार्गों, कृषि कपास के किसान या गेहूँ के किसान जैसे विशिष्ट वर्गों, पेट्रोल, इस्पात, बिजली शक्ति, कोयला, आयात-निर्यात उद्योग और यह वह मजदूर संघ आदि का निर्देश करना संभव हो गया। यह कहना अयथार्थ नहीं है कि हर आर्थिक वर्ग ने अपनी तत्काल आर्थिक आकांक्षाओं को बाकी सभी वर्गों की आकांक्षाओं के विरुद्ध समझा अर्थात् पूरे समाज के हित वर्गों के विपरीत। इन सशक्त आर्थिक हित वर्गों की खींचतान के कारण १६३० ई० के बाद की भारी मंदी और भी प्रखर हो गई; क्योंकि प्रत्येक अपने ही तत्काल लक्ष्यों की रक्षा करने और पूरा करने के लिए कृतसंकल्प था।

दूसरे महायुद्ध ने इस प्रवृत्ति में एक स्पष्ट पटाक्षेप किया और वह संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक विकास में भारी विस्तार का अंशतः साधक बना। जब हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व और हमारा तथा हमारे संबंधियों और मित्रों का वैयक्तिक अस्तित्व खतरे में था और हमारे आदर्शों को इतना भारी खतरा था कि हमें प्रत्येक उत्पादक संसाधन के प्रत्येक अंश को इस्तेमाल करने के लिए मजबूर होना पड़ा। आर्थिक अभिप्रेरणों के साथ-साथ सामाजिक दबाव ने हमारी जमीन, श्रम और पूंजी को हमेशा से कहीं ज्यादा पूरे-पूरे उपयोग में लगा दिया। युद्ध के समान और महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों ने उत्पादन के ऊपर व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अपने निजी सीमित लाभों के लिए शांतिकाल में लगाए गए सभी बंधन तोड़ दिए। एकाधिकारी कारबारों ने स्वेच्छा से या विवशता से उत्पादन पर काफी समय से चले आने वाले लाभप्रद एकाधिकारी बंधन हटा लिए, संगठित श्रम ने निकास तथा श्रम बचाने वाले तरीकों के ऊपर शांतिकाल में लगाए गए बहुत से बंधन हटा दिए। उदाहरण के लिए टुकड़े-दर पर और अभिप्रेरक मजूरी दरों वाली पद्धतियाँ। किसानों ने १६३० ई० के बाद समाज के अनुमोदन के साथ उत्पादन पर लगाए गए बंधन हटा दिए और जमीन से ज्यादा मात्रा में खाद्य और कच्चा माल पैदा करने लगे। वस्तुतः सामान्य अमेरिकी व्यक्ति पहले से कहीं ज्यादा एक सामान्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य से अभिप्रेरित हो गया और अनेक प्रकार के फैसले करके उसने समाज-हित अधिकतम युद्ध-उत्पादन को निजी आर्थिक और गैर-आर्थिक हितों से ऊपर रखा।

१६५० ई० के बाद हम फिर जब शांतिकालीन परिस्थितियों में लौट आए, तो आर्थिक हित वर्ग फिर से बन गए और आज स्पष्टतः प्रत्येक वर्ग फिर से समाज की आर्थिक प्रगति के आड़े आ कर अपने निजी तत्काल आर्थिक हितों के संवर्द्धन में ही बहुत कुछ लगा हुआ है। संगठित आर्थिक हित वर्गों की विविधता, संख्या और

शक्ति की एक रीति-नीति राष्ट्र की राजधानी में अपने कार्यालय का सभाकक्षीय (लौबी) प्रचार करना है। एक संघीय कानून के अधीन सभाकक्ष-प्रचारकों को तिमाही रूप से अपने नाम लिखाने होते हैं और अपने श्रम का स्वरूप और खर्च की रकम बतानी होती है। कांग्रेसनल रेकर्ड (संसदीय वृत्तांत) में यह पंजी-सूची नियमित रूप से छापी जाती है, जिसमें सभाकक्ष-प्रचारकों द्वारा प्रतिनिधित्व पाने वाले सैंकड़ों वर्गों के नाम गिनाए जाते हैं, जिनका कुल वार्षिक खर्च हाउस और सीनेट के सदस्यों के सामने अपना पक्ष रखने और 'पीछे' लोगों को कांग्रेस में अपने प्रतिनिधियों पर दबाव डालने के लिए प्रेरित करने में १ अरब डालर से ऊपर आसानी से जोड़ा जा सकता है। पंजी-सूची में विशेष हितवर्गों की एक अविश्वसनीय विविधता की ही झाँकी देखने को मिलती है, जिसका नमूना और उसके सदस्यों का नमूना नीचे दिए प्रकार से देखा जा सकता हैं: परिवहन उद्योग (अमेरिकी रेलमार्ग संघ, अमेरिकी जहाज मालिक संघ, अमेरिकी ट्रक लदान संघ निगमित); निर्माता उद्योग (राष्ट्रीय निर्माता संघ, राष्ट्रीय इमारती लकड़ी निर्माता संघ, घास काटने का संस्थान निगमित) कृषि (अमेरिकी फार्म ब्यूरो संघ, अमेरिकी राष्ट्रीय पशुपालक संघ, राष्ट्रीय अन्न निर्माता संघ); खाद्य निर्माण (राष्ट्रीय डिब्बाबंदी संघ, जमे हुए खाद्य को पैक करने वालों का राष्ट्रीय संघ); सेवा उद्योग (राष्ट्रीय रंग वस्त्र सेवा संस्थान, अमेरिकी होटल संघ, अमेरिका का यात्रा सम्मेलन, राष्ट्रीय पार्किंग संघ); श्रम (अमेरिकी श्रम संघ और औद्योगिक संगठनों की कांग्रेस, राष्ट्रीय पत्रवाहक संघ); वित्त और बीमा (अमेरिकी बैंकर संघ, राष्ट्रीय बीमा एजेंट संघ, लोकवित्त में वाणिज्य बैंकों का भाग लेना बढ़ाने संबंधी समिति), विपणन (राष्ट्रीय खुदरा सूखे माल संबंधी संघ, राष्ट्रीय मोटरगाड़ी विक्रेता संघ, बिक्रय वाली कंपनियों का राष्ट्रीय संघ), व्यवसाय (अमेरिकी मेडिकल संघ, अमेरिकी समाजसेवी संघ, अमेरिकी नर्स संघ, अमेरिका लेखाकार संस्थान) और बहुत से अन्य अनेक। कुछ ऐसे आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अर्थतंत्र के विभिन्न औद्योगिक या कारबार खंडों के परे जाते हैं (राष्ट्रीय लघु कारबारी संघ निगमित, संयुक्त राज्य अमेरिका वाणिज्य मंडल, अमेरिका उचित व्यापार परिषद्)। दूसरे विशेष हितों की व्यापक शृंखलाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ मामलों में तो उनके ठीक स्वरूप के बारे में एक पहेली ही उठ खड़ी है (नगर-प्रेषित आयोजना निगमित, राष्ट्रीय कर रियायत समूह, अमेरिका संगीत प्रशासक संघ, अमेरिका बाउलिंग मालिक संघ निगमित, भारतीयों का अरापाहो कबीला, वायु नदी आरक्षण कोमिंग, दक्षिणी पश्चिमीं अखरोट छिलका संघ)।[1]

---

[1] उद्धृत किए गए नमूनें के ये संगठन 'कॉंग्रेसनल रेकर्ड ३ जनवरी, १९५९ ई०, पृष्ठ ३७-३८ से लिए गए हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के हाल के एक राष्ट्रपति ने सभाकक्ष-प्रचार के

हालांकि हर एक सभाकक्ष-प्रचारक वर्ग आर्थिक दबाव वर्ग नहीं है, उनमें बहुत से इस प्रकार के होते हैं। ये संगठित वर्ग यह विश्वास सचाई के साथ कर सकते हैं कि उनके सभी या अधिकांश कार्यकलाप के पूरे समाज के भले के लिए होते हैं। लेकिन, उनके विशिष्ट कार्यक्रम आर्थिक परिवर्तन और औद्योगिकीय प्रगति में बाधा देना चाहते हैं और स्पर्द्धा को रोकना चाहते हैं, जो कि पूँजीवाद में सबके भले के लिए समंजन और परिवर्तन लाने के लिए बुनियादी शक्ति होती हैं। अनेक कृषि-संबंधी वर्ग समानता या गारंटी किए ऐसे मूल्यों की माँग करते हैं, जो खेतिहर उत्पादनों के लिए विश्वसनीय माँग या संभरण में परिवर्तन के विरुद्ध उनको संरक्षण देंगे। ये घरेलू उद्योग विदेशी स्पर्द्धा के खिलाफ सीमा-कर का संरक्षण माँगते हैं या कम-से-कम सीमा-कर की दीवालों को कम करने का विरोध करते हैं। मजदूर संघ अपने अधिकार क्षेत्र स्थापित करने और काम में उन नियमों के बारे में अपने अधिकारों और शक्तियों

बारे में नीचे लिखी टिप्पणी की, जैसा कि (विधेयक का नाम) ···प्रस्ताव के मामले में देखने को मिला राष्ट्र की राजधानी में एक छोटा सुसंगठित वर्ग अपनी बात पहुँचाने और मनवाने में सफल हो सकता है। अधिकांश लोग अपनी बात कहलाने के लिए ऐसा सुसंगठित मंच नहीं रखते। (लाइफ, २३ जनवरी, १९५६ ई०)। वाशिंगटन के सभाकक्ष-प्रचारकों के कार्य का एक ठोस उदाहरण १९५६ ई० के शुरू में सीधे संघीय विनियमों से प्राकृतिक गैस उत्पादकों को छूट देने वाले विधेयक पर सीनेट के मतदान को प्रभावित करने के प्रयास का मिलता है। एक सीनेटर ने यह आरोप लगाया था कि विधेयक के समर्थकों के एक प्रतिनिधि ने इस शर्त पर कि वह विधेयक के पारित होने का पक्ष ले, उसके साथ यह प्रस्ताव किया था कि उसके चुनाव के फंड के लिए २५००० डालर का चंदा दिया जाएगा। एक अन्य सीनेटर का कहना था कि, जब से (१५ साल से) मैं वाशिंगटम में आया हूँ, मैंने पहले कभी ऐसा सघन, विविध रूप और युक्तिपूर्ण सभाकक्ष-प्रचार न देखा था। बताया जाता है कि एक दूसरे सीनेटर ने दीर्घाओं की ओर बोलते हुए जोर से कहा था, 'इस सभा को सभाकक्ष-प्रचारकों से क्यों भर दिया है ?' एक सीनेटर का अनुमान था कि विधेयक का समर्थन चाहने वाले सभाकक्ष-प्रचारकों ने अकेले उसके ऊपर ही २५००० डालर खर्च किए थे। एक अन्य सीनेटर का कहना था कि विधेयक के समर्थकों ने 'सीनेटरों की वंशावली' ही खोज निकाली है और उसके पास विधेयक के संबंध में ऐसे रिश्तेदारों तक से चिट्ठियाँ आई थीं, जिनको वह लगभग भूल ही चुके थे। एक अन्य ने कहा कि उसकी पत्नी के एक पुराने मँगेतर ने अपना परिचय नया कर लिया था और विधेयक को रोकने के लिए जोर डाला था (दि न्यूयार्क टाइम्स, ५ फरवरी, १९५६ ई०)। राष्ट्रपति आइजन होवर ने विधेयक के बारे में कहा था कि वे बड़े ही आपत्तिजनक काम करके अपने हितों को लाभ पहुँचाना चाहते हैं और वे औचित्य के मान्य स्तरों का उल्लंघन करके इतने घमंड के साथ काम करते हैं कि सरकारी प्रक्रियाओं की ईमानदारी के प्रति अमेरिकी जनता के दिमाग में संदेह तक पैदा हो जाने का खतरा खड़ा हो जाता है। (दि न्यूयार्क टाइम्स १८ फरवरी; १९५६ ई०)। एक समाचार-पत्रिका ने तो एक संपादकीय में यहाँ

की रक्षा करते हैं, जो नई मशीनें और नई सामग्रियों के लागत-संबंधी लाभ को कम कर देते हैं और इस प्रकार तरह-तरह के 'सुकोमल' नियमों द्वारा विद्यमान श्रम-दक्षताओं के लिए माँग बढ़ाने की कोशिश करते हैं। पानी के जहाजों की कंपनियाँ मदद चाहती हैं ताकि वे रेल-कर्मचारियों से स्पर्द्धा कर सकें और रेल कंपनियों, मोटर, ट्रकों से माल ले जाने के ऊपर कर लगाने या दंड की व्यवस्था कराना चाहती हैं। कोयला-उद्योग चाहता है कि गैस को अतिरेक वाले इलाकों से पूर्व के महानगरीय उद्योग-केंद्रों में न आने दिया जाए। पूर्वी समुद्र बोर्ड के हित पूर्वी बंदरगाहों से समुद्र में जहाजों के आने-जाने का संरक्षण देने के लिए सेंट लारेंस जलमार्ग के पूरे उपयोग पर रोक चाहते हैं। सुस्थापित डेरी हित यह विनिमय बनवा देना चाहते हैं कि खुदरा दूकानों में कागज के डिब्बों में दूध बेचना मुश्किल हो जाए, जब कि स्वतंत्र खुदरा बिक्रेता बड़ी दुकानों की शृंखला, पुनर्विक्रय मूल्य-अनुरक्षण और उचित व्यापार कानूनों के लिए दंड की व्यवस्था चाहते हैं, जिससे नए स्रोतों या

तक लिखा था, 'सभाकक्ष-प्रचारकों से सबसे बड़ा खतरा यह है कि अक्सर वे विधेयक के खिलाफ इतनी भारी आवाज बुलंद कर सकते हैं, जो उन मतदाताओं से कहीं ज्यादा होती है, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं।' इसमें उच्च सीमाकरों के समर्थक एक ऐसे सभाकक्ष-प्रचारक का उदाहरण दिया गया है जो करीब '७० बड़े-बड़े नामों वाले संघों' से कॉंग्रेस-सदस्यों के पास तुरंत पत्र भिजवा सकता है और उन सभी का मुख्यालय सभाकक्ष-प्रचारक के वाशिंगटन स्थित अपने दफ्तर में ही होता है (टाइम, ३० जनवरी, १९५६ ई०)। राष्ट्रीय कॉंग्रेस और अन्य विधान मंडलों पर दबाव डालने के लिए इन वर्गों द्वारा खर्च की जानेवाली कुल रकम का अंदाज १ अरब डालर यथार्थ ही है, पर कॉंग्रेस पर प्रभाव डालने के लिए वे जिस खर्च को अधिकृत रूप में स्वीकार करते हैं, वह बहुत कम होता है, १९६० ई० में लगभग ४० लाख डालर। वर्गों के कार्यपालकों के पास काफी गुंजाइश रहती है कि वे किन-किन खर्चों का विवरण दें। १९४६ ई० में सभाकक्ष-प्रचारक के खर्च के विवरण देने और पंजी कराने की व्यवस्था तो की गई, पर उस व्यवस्था का परिवर्तन कराने के लिए कोई अभिकरण नियुक्त नहीं किया गया, इसलिए ये वर्ग इन कामों के बारे में जितना चाहें कम-ज्यादा विवरण कॉंग्रेस को दे सकते हैं। जब अनेक सभाकक्ष-प्रचारक इसे रोकने के लिए इकट्ठे हो गए, तो दिसंबर, १९५९ ई० में अमेरिकी कोषागार की आंतरिक राजस्व सेवा ने एक आदेश निकाला जिसमें यह व्यवस्था थी : 'सभाकक्ष-प्रचार काम के लिए, कानून के बनाने या पास न होने देने में, राजनीतिक आंदोलनों के कामों के लिए (जिसमें किसी सार्वजनिक पद के किसी उम्मीदवार का समर्थन या विरोध भी शामिल है) या पूर्वोक्त किसी प्रयोजन के लिए प्रचार (विज्ञापन समेत) का खर्च सकल आय से घटाया न जाएगा।' (यूनाइटेड स्टेट्स न्यूज ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट, ११ जून, १९६०, पृष्ठ १०३)। इसका मतलब है कि चंदा या सदस्यता-शुल्क के रूप में किसी सभाकक्ष-प्रचारक या व्यक्ति या निगम को दी गई रकम वैयक्तिक या निगम आय कर जोड़ने में घटाने योग्य कारबार खर्च नहीं मानी जा सकती।

विपणन-तरीकों से स्पर्द्धा न हो पाए या कम रहे। सरकार की दुर्बल न्यायविरोधी नीति की आड़ में अनेक एकाधिकारी व्यापार संगठनों द्वारा तरह-तरह के सूक्ष्म एकाधिकार और विपणन में भाग लेने के तरीकों का समर्थन किया जा सकता है।

द्विधा

ये और इसी तरह के दूसरे कार्यक्रम और काम पूँजीवाद के लिए एक बड़ी द्विधा बन गए हैं। एक ओर तो वैयक्तिक संरक्षण और श्रम और निजी संसाधनों और औद्योगिक संयंत्रों का सर्वाधिक लाभकर उपयोग पूँजीवाद का एक निरूढ़ अधिकार है। फिर भी एक बिंदु ऐसा भी है कि जिसके परे वैयक्तिक फायदे, खासकर सशक्त आर्थिक हित वर्गों में संगठित हो जाने पर, इतने बंधनों में बँध पड़ जाते हैं कि सामान्य आर्थिक समृद्धि और दीर्घकालीन आर्थिक विकास पैदा करने की पूँजीवादी प्रणाली की योग्यता को ही खतरा पहुँचाने लगते हैं। क्या आज हम अपने आर्थिक विकास की एक ऐसी स्थिति में हैं, जहाँ आर्थिक हित वर्गों द्वारा पैदा की गई इन धारणाओं को समूचे समाज की आर्थिक प्रगति की ओर सुसंबद्ध रूप से मोड़ना जरूरी होगा ?

इन प्रश्नों से जो समस्याएँ उठती हैं, उनका विशद् मुकाबला करने की अभी कोशिश नहीं की गई है, हालांकि बहुत से लोगों में यह भावना बलवती होती जा रही है कि सशक्त सुगठित आर्थिक हित वर्गों के विशिष्ट कार्यकलाप अक्सर सार्वजनिक कल्याण के विरूद्ध जाते हैं। संभवतः १९४६ ई० के नियोजन अधिनियम-जैसा कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सकता। दो व्यवस्थाएँ जरूरी हैं। एक तो आर्थिक हित वर्गों द्वारा आग्रह किए जाने या किसी ऐसे वर्ग को आर्थिक लाभ पहुँचाने वाले विधान-प्रस्ताव की जनसमाज द्वारा और विधान मंडलों में हमारे विधायकों द्वारा काफी बड़ी छानबीन की जानी चाहिए। ऐसा उपाय हमारी सार्वजनिक नीति का अंग तभी बन सकता है, जब किसी संकीर्ण वर्ग को होने वाले लाभ स्पष्टतः किसी व्यापक सामाजिक लाभ की पूर्ति के लिए कुछ न टाला जा सकने योग्य अवांतर लाभ ही हों। विधान-प्रस्तावों का सुगठित वर्गों द्वारा किए जाने वाले विरोध के बारे में भी वही कसौटी अपनानी चाहिए। दूसरे जहाँ भी संभव हो, हमें कोशिश करनी चाहिए कि आर्थिक प्रगति का बोझ, व्यक्ति पर न पड़ने दिया जाए। उदाहरण के लिए किसी श्रम-प्रवीणता का स्थान लेने के लिए अगर कोई नई मशीन बन जाती है, तो मूलतः उत्पादन बढ़ने और लागत कम होने से सारे समाज को ही लाभ पहुँचता है। अक्सर होता यही है कि ऐसे परिवर्तन का मुख्य भार व्यक्ति पर पड़ता है। इसकी पूर्वाशा में वह और उसी तरह प्रभावित उसके भाई उस नई मशीन या तरीके के प्रयोग के विरुद्ध संगठित हो जाते हैं। संभवतः यह न्यायोचित तो है,

पर ऐसी कार्यवाही का कारण समझ में आ सकता है; क्योंकि समाज की समृद्धि बढ़ाने में व्यक्ति इतनी भारी हानि कैसे उठाए या अगर उसे उठानी ही होगी, तो उससे संगठन द्वारा यह परिवर्तन रोकने की दृढ़ प्रवृत्ति के बिना उसकी तबियत से ही ऐसा कैसे कराया जा सकता है। बेरोजगारी मुआवज़ा और समाज सुरक्षा-जैसे उपाय इस बारे में मदद दे सकते हैं। औद्योगिक कामगर के लिए 'वार्षिक मजूरी'-जैसी ताजी हलचलें इस विषय में संगत हैं। क्या कोई ऐसे साधन हैं कि सामाजिक प्रगति का खर्च व्यक्ति की अपेक्षा पूरे समाज पर ही डाल दिया जाए, जिससे व्यक्ति या उसके वर्ग को उस आर्थिक परिवर्तन और औद्योगिक प्रगति के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए मजबूर न होना पड़े। यह प्रायः अछूता क्षेत्र है और हमारे पूँजीवादी अर्थतंत्र का योगक्षेम चाहने वालों को इस ओर सहानुभूति के साथ पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।

निष्कर्ष

पूँजीवादी संस्थाओं वाले अर्थतंत्र में मुद्रा-स्फीति के बिना आर्थिक विकास के साथ-साथ स्थायी स्थिर पूरे नियोजन प्राप्त करने की आज हमारी जो संभावनाएँ हैं, उनके संबंध में इस 'द्विधा' का विशेष महत्त्व है। लगता है कि इन संभावनाओं को प्राप्त करने के लिए अनेक सशक्त आर्थिक हित वर्गों को परस्पर आत्मसंयम से काम लेना होगा। हर एक को अपने लाभ के पीछे ही उसके स्थूल आर्थिक प्रतिफलों की परवाह किए बिना नहीं जाना चाहिए। दीर्घकालीन आर्थिक स्थिरता के कार्यक्रम को अमल में लाने का तत्काल खर्च चुकाने से प्रत्येक को इन्कार नहीं करना चाहिए। अगर किसानों के पास योग और क्षेम के प्रति कृषि-समंजन की भारी जरूरत पर ध्यान दिए बिना पिछले आय-स्तरों को पाने की शक्ति मिल जाए और वे उसका प्रयोग भी करने लगें, तो वे हमारे अर्थतंत्र की संभाव्यताओं को प्राप्त करने का मार्ग रोक देंगे और उसे आगे न बढ़ने देंगे। अगर मजदूर संघ औद्योगिक उत्पादकता से सुसंबद्ध रूप में ही मजूरी बढ़ाने पर जोर देते रहें और अगर एकाधिकारी कारबारी हित अर्थतंत्र की स्फीतिकारी प्रवृत्तियों का फायदा उठाकर सिर्फ लाभ बढ़ाने के लिए ही अपनी मूल्य-नीति तय करने लगें या कारबार-संगठनों के पास यह आग्रह करने की शक्ति हो कि अर्थतंत्र की स्थिति की परवाह किए बिना बैंक उधार 'आसान' और 'सस्ता' बना रहे, तो फिर हम किस तरह स्थिरता और विकास के लिए अपनी आर्थिक प्रणाली की पूरी संभाव्यताओं का उपयोग करने के अनुकूल अपनी राष्ट्रीय नीतियों को फलवती बना पाएँगे ?

जिस समाज में संकीर्ण वैयक्तिक और वर्गीय फायदों को बढ़ाने के लिए वैयक्तिक या वर्गीय कार्रवाई को संरक्षण मिलता है, उसमें हम समाज के दीर्घकालीन

आर्थिक कल्याण को किस तरह बढ़ा सकेंगे और किस तरह उसमें सभी की रुचि पैदा कर सकेंगे ? हमारा परमाणु ज्ञान और तकनीक अब स्पष्ट ही मनुष्य के बूते से बाहर जा चुकी हैं, जो मनुष्य उन पर नियंत्रण रख सकता कि वे मानवता की सेवा के लिए काम में लाई जाएँगी और उसके विनाश के लिए नहीं। एक छोटे, पर महत्त्वपूर्ण आधार पर लगता है कि हमने आर्थिक स्थिरीकरण के ज्ञान और तकनीकों को उससे कहीं ज्यादा तेजी से विकसित किया है, जितनी कि इस ज्ञान और तकनीकों द्वारा संभव दीर्घकालीन आर्थिक प्रगति के लिए आर्थिक हित वर्ग काम और त्याग करने की इच्छा को उसके अनुकूल ढाल पाए हैं। पूँजीवादी अर्थतंत्र की संस्थाओं को आज जो विश्वव्यापी चुनौतियाँ दी जा रही हैं, उनके रक्षण के लिए इस समस्या की ओर ज्यादा ध्यान देना बहुत जरूरी है।

सबसे ज्यादा आशाप्रद संभावना यह है कि कुछ संगठित आर्थिक हित वर्गों के दूरदर्शी नेता इस समस्या के भारी और अंतर्गामी महत्त्व को समझने लग गए हैं। उदाहरण के लिए हमारे बड़े ही सशक्त मजदूर-संगठनों के एक बड़े कुशल और सम्मानित प्रवक्ता ने संगठित श्रम और संगठित प्रबंध की आत्मप्रेरित प्रवृत्तियों के बढ़ते हुए ध्रुवण के प्रति स्पष्ट ही सच्चा भय व्यक्त किया है।[1] उनका प्रस्ताव है कि इन वर्गों के नेता हर साल दो-तीन सप्ताहों के लिए सरकार के नियंत्रण में नहीं, बल्कि तत्त्वावधान में सौदेबाजी से अलग रह कर मिलते-जुलते लक्ष्यों को खोजने के लिए, बात करने के लिए इकट्ठें हों और जब वे खूब बात कर चुकें, तो उनको कुछ और बात करनी चाहिए।' उनका सुझाव है कि आपसी हितों की ऐसी बहुत सी समस्याएँ हैं, जो हमलोगों द्वारा संयुक्त रूप से ध्यान दिए जाने की अपेक्षा करती हैं, अगर उद्योगों को बार-बार के और बहुत गहरे श्रम-प्रबंध संघर्षों द्वारा अपना काम पूरा करने से नहीं रोकना है, तो ऐसी समान समस्याओं की ओर ध्यान देना ही होगा—बूढ़े मजदूर, सेवा-निवृत्ति, पेंशन, स्वचालित यंत्रों, मुद्रा-स्फीति आदि की समस्याएँ। एक अन्य श्रम नेता[2] ने कई अवसरों पर ही सिफारिश की है कि एक सम्मेलन निकाय बनाया जाना चाहिए, जो अनेक संगठित आर्थिक वर्गों और असंगठित नागरिकों के हितों से परे स्थूल समस्याओं पर समाज के कार्य के आधारस्वरूप 'सिद्धांतों' की रचना करे। किंतु, उनका प्रस्ताव है कि ऐसे प्रयास ज्यादा व्यापक

---

[1] आर्थर जे० गोल्डबर्ग, अमेरिकी संयुक्त इस्पात कामगरों और ए० एफ० एल० सी० आई० ओ० के प्रधान परामर्शदाता, जैसा कि 'बिजनेस वीक' २९ नवंबर, १९५८ ई० के पृष्ठ १०५-१०७ पर छपा है।

[2] वाल्टर रूथर, ए० एफ० एल० सी० आई० ओ० के० सी० आई० ओ० डिवीजन के अध्यक्ष।

आधार पर होने चाहिए और उनके भाग लेने वालों में सभी वर्गों के, संगठित या असंगठित, के प्रतिनिधि होने चाहिए, जो संबंधित प्रकार की आर्थिक नीति में मूल हित रखते हों।

एक और उदाहरण से इस बात की रूढ़िबद्धता प्रकट हो जाती है कि बुनियादी समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें हितों की परस्परता और स्वैच्छिक सहयोगी साधन अपनाने होंगे, अगर हम पूँजीवादी प्रकार से आर्थिक संगठन के अधीन उनका समाधान करना चहते हैं। सन् १९५९ ई० में अमेरिकी कांग्रेस की संयुक्त आर्थिक समिति ने विभिन्न वर्गों को इस बारे में अपने विचार प्रस्तुत करने लिए के आमंत्रित किया था कि अधिकतम नियोजन प्राप्त करने के लिए, पर्याप्त दर से आर्थिक विकास करने और काफी स्थिर मूल्य-स्तर रखने के लिए क्या साधन हो सकते हैं। उत्तर देते समय अमेरिकी बैंकर संघ ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया, वह पूरा-पूरा पढ़ने लायक है।

'इस वक्तव्य को समाप्त करते हुए हम सभी संबंधित वर्गों में सामाजिक उत्तरदायित्व की एक बलवती भावना विकसित करने के महत्त्व पर जोर देना चाहेंगे। हम इस बात को अपने को ज्यादा उचित या अपने को दूसरों से ज्यादा पवित्र मानने की वृत्ति के रूप में नहीं कह रहे हैं, बल्कि केवल इसलिए कह रहे हैं कि दूसरों के साथ इसके महत्त्व को समझते हैं और यह अनुभव करते हैं कि इस विषय के वक्तव्य में इसका उल्लेख अनुपयुक्त न होगा।

इन समस्याओं को निबटाने में सभी वर्गों द्वारा यथासंभव विषयनिष्ठ होने की कोशिश करना जरूरी है। हर वर्ग का यह दायित्व है कि जिम्मेदार तरीके से काम करे और जानबूझ कर तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने और दूसरों के ऊपर अनुचित हमला करने से दूर रहे। सभी को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि अगर हम निर्भर करने योग्य डालर को और स्थिर आर्थिक प्रगति को प्राप्त कर सकें, तो आगे चलकर इससे सभी को फायदा होगा।

एक बड़े ही वास्तविक अर्थ में हमारे उन्मुक्त समाज की इस समय परीक्षा हो रही है। अतीत में हमारी सफलताएँ बड़ी महान रही हैं, लेकिन अभी हमें यह सिद्ध करना है कि आज की दुनिया में जिन कठिन आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उनको कारगर तरीके से निबटाने में हमारी लोकतंत्रीय संस्थाएँ बड़ी ही समर्थ हैं।

साम्यवाद की जो चुनौती हमारे सामने है, वह हमारी सफलता को अत्यावश्यक बना देती है। सभी वर्गों और व्यक्तियों को—सरकारी कर्मचारियों, कार-

बारियों, बैंक मालिकों, कर्मचारियों, श्रम नेताओं, किसानों, शिक्षकों, अर्थवेत्ताओं, संपादकों, लेखकों और सारी जनता को ही—अमेरिकी नागरिक की हमारी उच्च जिम्मेवारियों के आदर्श के अनुसार काम करने के लिए प्रयास करना होगा।'[1]

ये वाक्य बड़े ओजस्वी हैं और विचार बड़े की प्रशंसनीय, लेकिन 'अमेरिकी नागरिक की हमारी जिम्मेवारियाँ क्या हैं' जब हम रोज निगम-कार्यपालकों, संघ-अधिकारियों, समाचारपत्र-संपादकों, मजदूर संघ प्रशासकों, कामगरो, किसानों, डाक्टरों, वकीलों, गृहिणियों आदि के रूप में काम करते हैं। हमारी 'जिम्मेवारियाँ' हमारे लिए वास्तविक बन जानी चाहिए, हमारे निजी व्यक्तित्व के परे और हमारे तत्काल आर्थिक हित वर्गों के परे उनको कुछ ठोस स्वरूप प्राप्त कर लेना चाहिए और कुछ ऐसी बन जानी चाहिए, जिसके लिए हम व्यक्तिशः प्रयास करने की इच्छा करें और हर अवसर पर तदनुकूल अपने प्रभाव का उपयोग करें। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हमें जो तरह-तरह के प्रवाहपूर्ण उपदेश सुनने को मिलते हैं, उनको अमल में नहीं लाया जा सकता। संभवतः इसी खाई को पाटने के लिए राष्ट्रपति ने फरवरी, १९६० ई० में एक गैर-सरकारी 'राष्ट्रीय लक्ष्य आयोग' की स्थापना 'अपनी पीढ़ी की बड़ी-बड़ी समस्याओं को पहचानने और विभिन्न क्षेत्रों में हमारे उद्देश्यों का निरूपण करने के लिए—राष्ट्रीय नीतियों और कार्यक्रमों की समन्वय स्थूल रेखा अगले दशक या और आगे के लिए विकसित करने के लिए की थी।'[2]

आयोग में जाने-माने ग्यारह व्यक्ति थे, जिनमें से प्रत्येक समाज-कल्याण के क्षेत्र में अपनी गहरी अभिरुचि और हमारे-जैसे राजनीतिक आर्थिक तंत्र में सरकारी और निजी हितों के बीच परस्पर संबंध के बारे में अपनी विशद् जानकारी सिद्ध कर चुका था। आयोग का काम पूरी तरह से गैर-राजनीतिक था। यह समझा जाता था कि आयोग की उपपत्तियों या सिफारिशों का प्रतिवेदन '१९६० ई० के चुनाव से पहले नहीं दिया जाएगा। नवंबर, १९६० ई० के अंत में राष्ट्रीय लक्ष्यों-संबंधी इसका प्रतिवेदन निकला, जिसके बाद दिसबर में सोलह ऐसे लेख प्रकाशित हुए, जो आयोग के कार्यकाल में इसके विचारार्थ विशेषज्ञों द्वारा तैयार किए गए थे।'[3]

---

१. अमेरिकी कांग्रेस, संयुक्त आर्थिक समिति के समक्ष दिए गए साक्ष्यों से उद्धरण भाग ९ ख, वाशिंगटन, सरकारी मुद्रण कार्यालय, १९५९, पृष्ठ ३००००।

२. दि न्यूयार्क टाइम्स, ७ फरवरी, १९६० ई०।

३. आयोग का प्रतिवेदन और संबंधित लेख दोनों ही दिसंबर, १९६० ई० में कपड़े और कागज की जिल्दों के संस्करणों में प्रेंटिस हाल द्वारा इस नाम से प्रकाशित किए गए थे : गोल्स फार अमेरिकंस प्रोग्राम फॉर ऐक्शन इन दि सिक्सटीज।

हालांकि यह प्रतिवेदन भावी अमेरिकी पूंजीवाद की ऊपर बताई गई द्विधा का आंशिक समाधान ही है; फिर भी काफी प्रभावी है। यह कुछ ऐसे उपदेशों में प्राण फूँकने का प्रयास करता है, जिनको अब तक कोरा उपदेश ही समझा जाता रहा है।

'स्वाधीनता को संरक्षित करने का तरीका है कि उसमें जिया जाए। हमारा स्थायी लक्ष्य है कि एक ऐसे राष्ट्र को बनाया और बनाने में मदद दी जाए, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता पूरी-पूरी तरह से विकसित करने की आजादी होगी। हमें इस सिद्धांत के प्रति अपने को सर्मपित करना होगा। १९६० ई० के बाद हर अमेरिकावासी को विशिष्ट वैयक्तिक जिम्मेवारी स्थायी प्रयास और त्याग के लिए आमंत्रित किया जाता है। अपनी आजादी को रक्षित करने और बढ़ाने के लिए एक घातक चुनौती का सामना करने के लिए और आजादी का क्षेत्र सारी दुनिया में फैलाने के लिए : ये ऊँचे और कठिन लक्ष्य हैं। उनका चुनाव मुश्किल है और ये बड़े महँगे पड़ेंगे। वे यह माँग करते हैं कि बड़े लक्ष्यों के सामने छोटे लक्ष्यों को नीचे रखा जाए, व्यक्ति की प्रतिष्ठा हमारी पहली चिंता रहे। हमारी सभी संस्थाएँ····नागरिक की प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाएँ, उसकी क्षमता का अधिकतम विकास करे। उनके जिम्मेवार कार्यों को विकसित करें और व्यक्ति के चुनाव के अवसर को व्यापक और प्रभावी बनाएँ····व्यक्ति के सम्मान का मतलब है हर व्यक्ति का सम्मान किया जाए। कानून के सामने हर पुरुष-स्त्री को समान अधिकार होना चाहिए और उसे मत देने तथा पद सँभालने के समान अवसर मिलने चाहिए। शिक्षा पाने, नौकरी पाने, योग्य होने पर तरक्की पाने, मकान खरीदने, समुदाय के काम में पूरी तरह हिस्सा बँटाने के समान अवसर होने चाहिए···किसी भी राष्ट्र की अंतिम परीक्षा यह है कि उसकी जनता को किस मात्रा तक प्रभावी आजादी मिली हुई है····इसलिए अमेरिका में लोकतंत्रीय प्रक्रिया को रक्षित करने और परिपूर्ण बनाने का इस दशक में और आगे भी यही मूल लक्ष्य है····लोकतंत्र समानता के लिए हमारे संघर्ष को वास्तविकता प्रदान करता····लोकतंत्रीय प्रक्रियाओं में सुधार यह माँग करता है कि जनता को ज्यादा-से-ज्यादा शिक्षित बनाया जाए····निजी हित वर्ग सभा करने और याचिका देने के अधिकार का उदाहरण देते हैं। इस तरह अनेक प्रकार के प्रभाव वर्गों का कार्य करना हमारी लोकतंत्रीय प्रक्रिया का अंग बन गया है। विशेष हित वर्गों को वैधतापूर्वक काम करना चाहिए।'[1]

---

[1] गोल्स फौर अमेरिकन्स प्रोग्राम फौर ऐक्शन इन दि सिक्सटीज : पृष्ठ १–५, १९६० ई०, अमेरिकी असेम्बली कोलंबिया विश्वविद्यालय न्यूयार्क, प्रकाशक की अनुमति से।

इन विवादहीन लक्ष्यों के लिए आयोग कुछ ठोस साधनों की सिफारिश करता है। कुछ घरेलू लक्ष्य में ये भी शामिल हैं :

'शिक्षा के लिए सरकारी और निजी खर्च १९७० ई० तक लगभग ४० अरब डालर हो आना चाहिए–अर्थात् १९६० ई० के खर्च का दूना....विज्ञान में अपने कुल प्रयास का ज्यादा हिस्सा हमें बुनियादी अनुसंधान पर खर्च करना चाहिए। हमें मानना चाहिए कि विज्ञान और दूसरे सभी क्षेत्रों में हमारे रचनात्मक कार्य तभी ज्यादा उत्पादक और सार्थक होंगे। जब हम न केवल किसी दूसरे राष्ट्र से आगे जाने के लिए, बल्कि अपने-आप को योग्य बनाने के लिए उनको हाथ में लेंगे...आर्थिक शक्ति के केंद्र यथासंभव वितरित और संतुलित होने चाहिए। निगमों, संघों या दूसरे संगठनों में आर्थिक शक्तियों का बहुत ज्यादा केंद्रीयकरण खुली स्पर्द्धा के उत्पादक प्रतिफलों में हानि पहुँचाएगा और उनका दुरूपयोग हो सकेगा...अर्थतंत्र को अधिकतम दर से अबाध उपक्रम पर मूलतः निर्भर रह कर और ज्यादा स्फीति को टालते हुए आगे बढ़ना होगा....पूरे नियोजन के अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए यह विकास अनिवार्य है....हमें बेरोजगारी को निरंतर कुल श्रमिकों के ४ प्रतिशत से रखने की कोशिश करनी चाहिए'[1] हमारे अर्थतंत्र को आगे बढ़ाने के लिए प्रौद्योगिकीय परिवर्तन को एक सबल शक्ति रूप में संवर्द्धित और प्रोत्साहित करना होगा। व्यक्ति के ऊपर इसका उलटा असर न पड़े, इसका काफी ध्यान रखते हुए ही इसकी आयोजना बनानी होगी और इसे शुरू करना होगा....हमें गंदी बस्तियों की दशा सुधारनी होगी, बड़े शहरों की अवनति की प्रक्रिया को बदलना होगा और कम आय और अल्पसंख्यक वर्गों को लोगों की वहीं इकट्ठे होने की जरूरत को कम करना होगा। चिकित्सा और देखभाल की माँग काफी बढ़ गई है। इसे पूरा करने के लिए हमें ज्यादा डाक्टर, नर्सें और दूसरे चिकित्सकीय व्यक्ति रखने होंगे। ज्यादा संख्या में अस्पताल, चिकित्सालय, नर्सिंग होम होने चाहिए....डाक्टरों के प्रशिक्षण के लिए निजी, राज्य और संघीय सहायता का बढ़ना जरूरी है....सरकारी और निजी दोनों ही प्रकार के अभिकरणों के जरिए चिकित्सा बीमा का विस्तार जरूरी है....एक महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी लक्ष्य यह है कि बाल-अपराध और परिवार-संकट को रोकने के तरीकों और उनके कारणों के बारे में ज्यादा जानकारी प्राप्त की जाए।'[2]

---

[1] उसके साथ के एक लेख, 'अमेरिकी अर्थतंत्र में उच्च नियोजन और विकास' (लेखक : हरबर्ट स्टीन और एडवर्ड एफ० डैनीसन) में बताया गया है कि १९६० ई० की शरद् ऋतु में श्रमिकों का लगभग ६ प्रतिशत बेरोजगार है।

[2] वही, पृष्ठ ७–९।

प्रस्तावित 'विदेशी लक्ष्यों' में से कुछ ये हैं :

'संयुक्त राज्य अमेरिका की बुनियादी विदेशी नीति अपनी आजादी और आजाद संस्थाओं को रक्षित करने की नीति होनी चाहिए····हमें उन राष्ट्रों के साथ सहयोग करना चाहिए, जिनके आदर्श और हित हमारे जैसे ही हैं। हमें तनाव कम करने की और विरोधियों के साथ मेलजोल के मान्य क्षेत्र खोजने की कोशिश करनी चाहिए····अविकसित देशों की आजाद संस्थाओं को रक्षित और सुदृढ़ करने और स्वाधीन दुनिया की रक्षा के लिए विदेशी सहायता में काफी वृद्धि करने की जरूरत है, जिसे प्रमुख स्वाधीन राष्ट्रों के बीच समरूप से बाँटना चाहिए····हम देश या विदेश में जो कुछ करना चाहते हैं, साम्यवादी हमला तोड़-फोड़ उसके लिए खतरा खड़ा कर रहे हैं। फलतः हमारी आजादी और जीवन-पद्धति को बनाए रखने और राष्ट्रों की आजादी के बने रहने की चिंता बड़े ही प्रभावी प्रति उपायों की माँग करते हैं···चूँकि यह बड़ा परमाणु-युद्ध दुनिया के लिए एक बड़ी विपत्ति होगी, परमाणु अस्त्रों का सीमित करना और उसका नियंत्रण बड़ा जरूरी है। हमारा अंतिम लक्ष्य निःशस्त्रीकरण होना चाहिए····

सप्राण और प्रभावी अमेरिकी विदेशी नीति अपनाने में एक मूल लक्ष्य संयुक्त राष्ट्र संघ को बनाए रखना और सुदृढ़····इसलिए हमारे सामने यह संभावना है, किसी तरह यह निश्चित बात नहीं है कि दशक भर में कुल कर-दरें बहुत कुछ वर्तमान स्तर पर बनी रहेंगी और शायद बढ़ानी भी पड़ें।'[1]

एक 'निश्चायक शब्द' में कहा गया है :

'अगर काफी अमेरिकावासी अपने दैनंदिन निर्णयों में राष्ट्रीय हितों का पर्याप्त ध्यान रखें, तो हम अपने लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे और अपनी जीवन-पद्धति को बनाए रख सकेंगे। आगे के वर्षों में अमेरिकी नागरिक को अपने समय और शक्ति का कहीं ज्यादा हिस्सा सीधे-सीधे राष्ट्र की समस्याओं के समाधान में लगाना होगा। निजी वर्गों और व्यक्तियों के योगदान के भारी महत्त्व को इस प्रतिवेदन में बार-बार दुहराया गया है····प्रत्येक अमेरिकावासी का बुनियादी लक्ष्य यह है कि उसमें उतनी ही ज्यादा व्यापक जिम्मेवारी की भावना आए, जितने विश्वव्यापी उसके उपक्रम हो चले हैं और उतने ही आवश्यक, जितने कि खतरों और अवसरों का वह सामना कर रहा है।'[2]

ये उद्धरण सामान्य लक्ष्यों को अमल में लाने के लिए बीच-बीच में दिए गए ब्यौरेवार कार्य के सुझावों और आयोग द्वारा जोरदार शब्दों में बताए गए स्थूल

---

[1] वही, पृष्ठ १५–२१।

[2] वही, पृष्ठ २३।

साधनों के साथ न्याय नहीं कर सकते। फिर भी कुल मिला कर यह कहना अनुचित न होगा कि प्रतिवेदन उस मूलभूत द्विधा का यथार्थवादी रूप से सामना करने में असफल रहा है कि यह एक ऐसे आर्थिक राजनीतिक संस्थागत परिपार्श्व में अकाट्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किस तरह लक्ष्यबद्धता और कार्यप्रेरणा पैदा कर सकते हैं, जिसमें स्वतः व्यक्ति के और उनके द्वारा संगठित अनेक हित वर्गों के अधिकारों और मूल्यों पर आग्रह किया जाता है ? आयोग द्वारा प्रायोजित एक लेख में आयोग के प्रतिवेदन की अपेक्षा इसी विशिष्ट समस्या पर ज्यादा ध्यान दिया गया है—'अर्थतंत्र का प्रभावी और लोकतांत्रिक संगठन' (लेखक : केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रेसीडेंट क्लार्क केर)। इस निबंध के लेखक के सामने बुनियादी प्रश्न यह है कि 'राष्ट्र के रूप में हम अपने आर्थिक संगठनों को' कार्य के विशेष सार्वजनिक लक्ष्यों और स्तरों की ओर उसके लोकतांत्रिक स्वरूप को बुनियादी रूप से खतरा पहुँचाए बिना मोड़ सकते हैं ?' इस प्रश्न का 'सीधा स्पष्ट उत्तर' देने की प्रतिज्ञा न करते हुए भी इस लेख में उन 'सिद्धांतों' की शृंखला निरूपित की गई है, जो हमारे समाज में निजी शक्ति के 'युक्तिसंगत वितरण' के लिए जरूरी हैं :

१. समाज के प्रभावी कृत्य-संचालन के अनुकूल शक्ति के यथासंभव ज्यादा केंद्र होने चाहिए....
२. इन शक्ति-केंद्रों की सामर्थ्य को उस समय मोटे तौर पर संतुलित रखना चाहिए, जब वे एक दूसरे के संघर्ष में आएँ, ताकि एक अकेला एक दूसरे के ऊपर अभिभावी न होने पाए....
३. शक्ति के केंद्र एक दूसरे से अलग रहने चाहिए....
४. इन शक्ति-केंद्रों के भीतर और बीच में रहते हुए व्यक्तियों को यथासंभव चुनाव करने का मौका दिया जाना चाहिए।
५. प्रत्येक शक्ति-केंद्र में भाग लेने वालों को नेतृत्व के ऊपर कम-से-कम अत्यावश्यक न्यूनतम नियत नियंत्रण रखने में समर्थ होना चाहिए....
६. हर शक्ति-केंद्र को भाग लेने वालों के अधिकारों की रक्षा के लिए पर्याप्त न्यायिक प्रणाली उपलब्ध रहनी चाहिए—(जैसे) निगमों और मजदूर संघों में एक जैसा ही शिकायत करने का यंत्र।
७. हर शक्ति-केंद्र को भाग लेने वालों के रहन-सहन के ऊपर उनके अस्तित्व और प्रभावी संचालन के अनुकूल रहते हुए न्यूनतम नियंत्रण रखना चाहिए।
८. अर्थतंत्र के लिए जरूरी सरकारी नियंत्रण प्रमुख समस्याओं की अपेक्षा प्रक्रियाओं पर ही केंद्रित रखने चाहिए।[१]

---

[१] वही, पृष्ठ १५१–५२।

यह निर्धारण करने के लिए कि आज हमारी स्थिति कहाँ है और इन सिद्धांतों के अमल में लाने में किस तरह और हमें कहाँ तक बढ़ना चाहिए, लेख में प्रवीणता के साथ बड़े निगमों, सशक्त मजदूर-संघों, वर्गों के बीच मिली-जुली व्यवस्थाओं, सरकार के नियामक अभिकरणों, अल्पसंख्यक वर्गीकरणों और जनकल्याण से सापेक्ष निजी आर्थिक शक्तियों के दूसरे केंद्रों के योगदान और साथ ही संघर्षशील निजी हितों के गोरखधंधे में सरकार के सामान्य कृत्यों की चर्चा की गई है। अंतिम पैराग्राफ में सूत्रबद्ध रूप में अगले दशकों में अमेरिकी पूँजीवाद की बुनियादी समस्या को इस प्रकार लिया गया है :

'मुक्त उपक्रम' प्रणाली की प्रशंसा करना और फिर इस प्रणाली से यह माँग करना कि यह चुने हुए सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति करे, बड़ा आसान काम तो है, पर यह निरर्थक भी है। उन तरीकों को खोज निकालना न तो आसान है, न निरर्थक, जो दोनों बातों को एक दूसरे से संगत बना सकते हैं। उन साधनों की खोज और विकास, जिनमें अमेरिकी अर्थ-प्रणाली दो अनिवार्य बातों की पूर्ति कर सकती है, अमेरिकावासियों के लिए १९६० ई० के बाद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और चुनौती देने वाला लक्ष्य है—ये दो बातें हैं, लोकतंत्र और नई हालतों में उसका पूरी तरह प्रभावी रहना।[1]

कक्षा में विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

१. स्थिर पूरे नियोजन से क्या अभिप्राय है? यह संकल्पना आर्थिक विकास और मुद्रा-स्फीति से किस तरह जुड़ी है?

२. हमारे महायुद्धकालीन अनुभव ने हमारे अर्थतंत्र के लिए पूरे रोजगार का महत्त्व किस तरह प्रकट किया?

३. स्थिर पूरे नियोजन के मामले में अर्थशास्त्री और व्यापारी किस बात को ले कर सहमत हैं?

४. आर्थिक सिद्धांत के लिए स्थिर पूरे नियोजन के चालू रहने के बारे में ३० साल पहले की स्थिति की अपेक्षा आज ज्यादा आशावादी होने का क्या आधार है?

५. सरकार के आर्थिक कार्यकलाप में विकास ने स्थिर पूरे नियोजन की समस्या को किस तरह प्रभावित किया है?

६. मुद्रा-नीतियों और राजकोषीय नीतियों के बीच क्या अंतर है? और प्रबंधित स्थिरकों के बीच क्या अंतर है?

---

[1] वही, पृष्ठ १६१।

७. एक स्वचलित और एक प्रबंधित स्थिरक के संचालन का वर्णन करते हुए स्थिरीकरण तकनीकों के उपयोग का सोदाहरण वर्णन करें।

८. गवर्नरों का संघीय रिजर्व बोर्ड आर्थिक स्थिरीकरण से किस तरह का संबंध रखता है ?

९. कभी-कभी स्थिरकों को 'संयुक्त' या 'मिला-जुला' बना देना किस कारण अच्छा होता है ?

१०. प्रबंधित स्थिरकों का उपयोग करने में 'राजनीतिक' दिक्कत क्या रहती है ?

११. आर्थिक भविष्यवाणी आर्थिक स्थिरीकरण का इतना महत्त्वपूर्ण अंग क्यों है ?

१२. आर्थिक सांख्यिकी में अपेक्षतया ताजे कौन-कौन से विकास आर्थिक स्थिरीकरण समस्या के भविष्य-कथन करने वाले पहलू के समाधान में मदद देते हैं ?

१३. आर्थिक हित वर्ग कौन होते हैं ? उन्होंने हमारे इतिहास के वर्गों को किस तरह बदला है ?

१४. संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक हित वर्ग पूँजीवाद के भविष्य के साथ किस प्रकार जुड़े हुए हैं ?

१५. 'राष्ट्रीय लक्ष्य' से आप क्या समझते हैं ? क्या हमारे कोई लक्ष्य हैं ?

नवें भाग के लिए छात्र-प्रतिवेदनों के लिए विषय

१. हमारे श्रमिक वर्ग के बेरोजगार वाले हिस्से की जाति, लिंग और आयु के वर्गीकरण के अनुसार रचना।

२. कारबार वस्तु-सूची नीतियों का आर्थिक स्थिरीकरण से संबंध।

३. आर्थिक विकास-संबंधी समिति के उद्भव और विकास का इतिहास।

४. राष्ट्रपति के एक सबसे ताजे आर्थिक प्रतिवेदन की समीक्षा।

५. स्थिर पूरे नियोजन और मूल्य-स्तर के बीच का संबंध।

६. हमारी संघ सरकार की सांख्यिकी सेवा में जरूरी सुधार और विस्तार।

७. हमारे अर्थतंत्र में लक्ष्य के रूप में मूल्य-स्तर पर स्थिरता लाने के लिए क्या नियोजन अधिनियम १९४८ ई० में संशोधन किया जाना चाहिए ?

८. संगठित आर्थिक हित वर्ग द्वारा संपर्क स्थापना पर किए जाने वाले कुछ वार्षिक खर्च की गणना।

९. चुने हुए मजदूर संघों का उनके बुनियादी हितों और प्रयोजनों को समयों के लिए अध्ययन।

१०. प्रबंधकों और मजदूर संघों के बीच के मतभेदों में सौमनस्य लाने के लिए १९६० ई० में किए गए उच्च स्तर के प्रयत्न।

११. १९५९ ई० की इस्पात-हड़ताल से समाज को हुई क्षति की मात्रा।

१२. राष्ट्रीय लक्ष्य आयोग का कार्य।

नवें भाग के अंतर्गत और अध्ययन के लिए सुझाव

ए० ए० बर्ले ; पावर विदाउट प्रोपर्टी—ए न्यू डेवलपमेंट इन अमेरिकन पोलिटिकल इकोनॉमी, न्यूयार्क, हारकोर्ट, प्रेस १९५९ ई०।

ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूशन ; इकोनॉमिक्स ऐंड दि पॉलिसी मेकर, वाशिंगटन १९६० ई०।

एस० चेज ; लिव ऐंड लेट लिव, न्यूयार्क, हारपर, १९६० ई०।

इंटरप्राइज, न्यूयार्क, डबलडे, १९५८ ई०।

एडिटर्स ऑफ फोरच्यून ; अमेरिका इन दि सिक्सटीज न्यू इकोनॉमी ऑफ सोसाइटी, न्यूयार्क, हारवर, १९६० ई०।

जे० के० गॉलब्राइथ ; दि एफ्लूएंट सोसाइटी, बोस्टन, हाफ्टन मिफलिन, १९५८ ई०।

सी० ए० हाल ; फिस्कल पॉलिसी फौर स्टेबिल ग्रोथ, न्यूयार्क हौल्ट, राइन हार्ट और विंस्टन, १९६० ई०।

ए० लासर्न ; ह्वाट वी आर फौर, न्यूयार्क, हारपर, १९५९ ई०।

डब्ल्यू० लिपमैन ; दि कम्युनिस्ट वर्ल्ड ऐंड आवर्स, बोस्टन, लिटिल ब्राउन, १९५९ ई०।

आर० डब्ल्यू० मिलर ; कैन कैपिटलिज्म कम्पीट-ए कंपेन फौर अमेरिकन फ्री इंटरप्राइज, न्यूयार्क रोनाल्ड, १९५९ ई०।

नेशनल प्लानिंग एसोसिएशन ; लौंग रेंज प्रोजेक्शंस फौर इकोनॉमिक ग्रोथ द अमेरिकन इकोनॉमी इन १९७० ई०, वाशिंगटन, १९५९ ई०।

वी० पैकार्ड ; दि स्टेट्स सीकर्स, न्यूयार्क, मैके, १९५९ ई०।

वी० पैकार्ड ; दि वेस्ट मेकर्स, न्यूयार्क, मैके, १९५९ ई०।

जे० पी० पावेत्सन ; नेशनल इनकम ऐंड फ्लो ऑफ फंड्स एनैलेसिस, न्यूयार्क, मैक-ग्राहिल, १९६० ई०।

प्रेसीडेंट ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स ; इकोनॉमिक रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसीडेंट, वाशिंगटन, गवर्नमेंट प्रिंटिग ऑफिस, हर वर्ष प्रकाशित।

सी० बी० रॉडल ; द कम्युनिस्ट चैलेंज टु अमेरिकन बिजनेस, बोस्टन, लिटिल ब्राउन, १९५८ ई०।

के० श्रिफ्टगीजर ; विजनेस कम्स ऑफ एज : द स्टोरी ऑफ दि कमिटी फौर इकोनॉमिक डेवलपमेंट, न्यूयार्क, हारपर, १९६० ई०।

डब्ल्यू० एल० थौर्य और आर० ई० क्वेंडट ; द न्यू इनफ्लेशन, न्यूयार्क, मैकग्राहिल, १९५९ ई०

ए० डब्ल्यू० जेलोमैक : ए चेंजिंग अमेरिका— ऐट वर्क ऐंड प्ले, न्यूयार्क विले, १९५९ ई०।

परिशिष्ट

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का संविधान (मौलिक विधि)

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का संविधान (मौलिक विधि)

सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत के तीसरे तत्त्व द्वारा पाँचवें समावर्तन में जिस रूप में संशोधित और परिवर्द्धित किया गया।

मास्को, १९६०

विषय-सूची

अध्याय १
सामाजिक ढाँचा
अध्याय २
राज्य का ढाँचा
अध्याय ३
सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में राज्य शक्ति के उच्चतर अंग।
अध्याय ४
संघ गणराज्यों में राज्य शक्ति के उच्चतर अंग।
अध्याय ५
सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के राज्य-प्रशासन के अंग।
अध्याय ६
गणराज्यों के राज्य-प्रशासन के अंग।
अध्याय ७
स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्यों में राज्य शक्ति के उच्चतर अंग।
अध्याय ८
राज्य शक्ति के स्थानीय अंग।
अध्याय ९
न्यायालय और अभियोजक का कार्यालय।
अध्याय १०
मौलिक अधिकार और नागरिकों के कर्त्तव्य।

अध्याय ११

मतदान-पद्धति ।

अध्याय १२

चिन्ह, झंडा, राजधानी ।

अध्याय १३

संविधान में संशोधित की प्रक्रिया ।

अध्याय १　　सामाजिक ढाँचा

अनुच्छेद १

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ कामगरों और किसानों का एक समाजवादी राज्य है ।

अनुच्छेद २

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के राजनीतिक आधार के रूप में कामगर जनता के डिपुटियों की सोवियतें हैं, जो जमींदारों और पूँजीपतियों की ताकत को उखाड़ फेंकने और मजदूर वर्ग के अधिनायक तत्त्व की जीत के फलस्वरूप पनपीं और मजबूत बनीं ।

अनुच्छेद ३

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में सभी शक्ति शहर और देहात की कामगर जनता में निहित होती है, जिसका प्रतिनिधित्व कामगर जनता के डिपुटियों की सोवियतों द्वारा किया जाता है ।

अनुच्छेद ४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का आर्थिक आधार अर्थतंत्र की समाजवादी पद्धति और उत्पादन के साधनों और साधित्रों का समाजवादी स्वामित्व जो पूँजीवादी अर्थतंत्र की पद्धति के समापन के उत्पादन के साधनों और साधित्रों के निजी स्वामित्व को खत्म कर देने के और मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण समाप्त कर देने के फलस्वरूप सुदृढ़ रूप से स्थापित किया गया है ।

अनुच्छेद ५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में समाजवादी संपत्ति या तो राज्य संपत्ति के रूप में विद्यमान है (सभी जनता की है) या सहकारिता और सामूहिक फार्म संपत्ति के रूप में है (सामूहिक फार्म की संपत्ति, सहकारी सभाओं की संपत्ति) ।

अनुच्छेद ६

जमीन, उसकी खनिज संपत्ति, ज़ल, वन, मिल, कारखाने, खानें, रेल, जल, और वायु-परिवहन, बैंक, संचार, राज्य द्वारा संगठित बड़े-बड़े कृषि-उद्योग (राज्य फार्म मशीनें और ट्रैक्टर केंद्र आदि) तथा साथ ही नगरपालिका उद्यम और शहरों एवं औद्योगिक स्थानों में निवासी मकानों का अधिकांश राज्य की संपत्ति है अर्थात् सभी जनता की है।

अनुच्छेद ७

सामूहिक फार्मों और सहकारी संगठनों के सामान्य उद्यम और उनके साथ उनके ढोर और औजार, सामूहिक फार्मों और सहकारी संगठनों की उपज और साथ ही उनकी सामान्य इमारतें सामूहिक फार्मों और सहकारी संगठनों की सामान्य समाजवादी संपत्ति होती है।

सामूहिक फार्म के प्रत्येक गृहस्थ का, सामान्य सामूहिक फार्म उद्यम से होने वाली उसकी बुनियादी आय के अलावा, निजी उपयोग के लिए घरेलू जमीन का एक छोटा भू-खंड होता है और उसकी निजी संपत्ति के रूप में भू-खंड पर एक सहायक पशुपालन केंद्र, रहने का एक मकान, ढोर, मुर्गियाँ और छोटे-मोटे कृषि-औजार, कृषि-संबंधी कामगर संघ (आर्टल) के नियमों के अनुसार होते हैं।

अनुच्छेद ८

सामूहिक फार्मों के कब्जे की जमीन उनके उपयोग के लिए बिना किसी शुल्क के और असीमित समय के लिए अर्थात् शाश्वत् रूप में सुरक्षित की जाती है।

अनुच्छेद ९

समाजवादी अर्थतंत्र-पद्धति के साथ-साथ, जो सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के अर्थतंत्र का अभिभावी रूप है, विधि व्यक्तिगत किसानों और शिल्पकारों की छोटी-मोटी निजी अर्थ-पद्धति की भी अनुमति देती है, जो उनके निजी श्रम पर और दूसरों के श्रम का शोषण न करने पर आधारित होती है।

अनुच्छेद १०

नागरिकों के द्वारा काम से प्राप्त अपनी आयों और बचतों की, उसके रहने के मकानों और सहायक पशुपालन की, घरेलू अर्थ-व्यवस्था की चीजों और उपयोग की चीजों तथा निजी उपयोग और सुविधा की चीजों की निजी संपत्ति के अधिकार तथा साथ ही नागरिकों द्वारा निजी संपत्ति को उत्तराधिकार में पाने के अधिकार का संरक्षण-विधि द्वारा किया जाता है।

अनुच्छेद ११

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का आर्थिक जीवन राज्य की उस

आर्थिक आयोजना द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है, जिसका लक्ष्य जनसंपदा को बढ़ाना, कामगर जनता के भौतिक और सांस्कृतिक स्तरों को तेजी से बढ़ाना, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की आजादी को समेकित करना और उसकी रक्षा-संबंधी क्षमता को सुदृढ़ करना है।

अनुच्छेद १२

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में प्रत्येक सुयोग्य देह वाले नागरिक के लिए काम करना इस सिद्धांत के अनुसार एक कर्त्तव्य और सम्मान का एक विषय है: जो काम नहीं करता, उसे खाने को भी न मिलेगा।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में लागू किया जाने वाला सिद्धांत समाजवाद का है : प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार प्राप्त करना, प्रत्येक को उसके काम के अनुसार प्रदान करना।

अध्याय २ राज्य का ढाँचा

अनुच्छेद १३

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ एक संघीय राज्य है, जो नीचे लिखे समान सोवियत समाजवादी गणराज्यों के ऐच्छिक सम्मिलन के आधार पर बना है, नामतः —

रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य
सोवियत समाजवादी गणराज्य
यूक्रेनी
वायलोरूसी
उजवक्
कज्जाक
जार्जियन
अजर्वजान
लियुआनियन
मोलदेवियन
लटावियन
किरघिज
ताजिक्
आर्मेनियन
तुर्कमन
एसटोनियन

अनुच्छेद १४

सोवियत समाजाददी गणराज्य संघ के क्षेत्राधिकार में, जैसा कि उसकी राज्य शक्ति के उच्चत्तर अंगों और राज्य प्रशासन के अंगों द्वारा निरूपित किया गया है, ये शामिल हैं :

(क) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का प्रतिनिधित्व, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की दूसरे राज्यों के साथ संधियों का निष्पादन, अनुसमर्थन और तोड़ देना, संघीय गणराज्यों के विदेशी राज्यों के संबंध शासित करने वाली सामान्य प्रक्रिया को स्थापित करना ।

ख) युद्ध और शांति के प्रश्न ।

ग) सोवियत सामाजवादी गणराज्य संघ में नए गणराज्यों का प्रवेश ।

घ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान के पालन के ऊपर नियंत्रण और संघ गणराज्यों के संविधानों की सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान के साथ अनुरूपता सुनिश्चित करना ।

ङ) संघ गणराज्यों के बीच सीमा-परिवर्तन की पुष्टि ।

च) संघ गणराज्यों के भीतर नए स्वायत्त गणराज्यों और स्वायत्त गणराज्यों और स्वायत्त प्रदेशों के निर्माण की पुष्टि ।

छ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की रक्षा का संगठन, सोवियत समाजवादी गणराज्य की सभी सशस्त्र सेनाओं का निदेशन, संघ गणराज्यों की सैन्य-संरचना के संगठन को शासित करने वाले विदेशी सिद्धांतों का निर्धारण ।

ज) राज्य एकाधिकार के आधार पर विदेशी व्यापार ।

झ) राज्य की सुरक्षा का अधिरक्षण ।

ञ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की राष्ट्रीय-आर्थिक आयोजनाओं का निर्धारण ।

ट) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के समेकित राज्य आय-व्ययक और उसकी पूर्ति संबंधी प्रतिवेदन का अनुमोदन, उन करों और राजस्वों का निर्धारण, जो संघीय गणराज्यों के और स्थानीय आय-व्ययकों में जाते हैं ।

ठ) अखिल संघ क्षेत्राधिकार वाले बेंकों, औद्योगिक और कृषि संस्थाओं और उद्यमों और व्यापार-उद्योगों का प्रशासन, संघ गणराज्य क्षेत्राधिकार के अधीन उद्योगों और निर्माण का सामान्य मार्गदर्शन ।

ड) अखिल संघीय महत्त्व के परिवहन और संचार का प्रशासन ।

ढ) मुद्रा और सुधार-प्रणाली का निदेशन ।

ण) राज्य बीमा का संगठन ।

त) उधार का करार करना और देना ।

थ) भूधृति के और खनिज संपदा वन और जल के बुनियादी सिद्धांतों का निर्धारण ।

द) शिक्षा और लोक स्वास्थ्य के क्षेत्र में बुनियादी सिद्धांतों के निर्धारण ।

ध) राष्ट्रीय-आर्थिक सांख्यिकी एक रूप-प्रणाली का संगठन ।

न) श्रम-विधान के सिद्धांतों का निर्धारण ।

प) न्यायक प्रणाली और न्यायिक प्रक्रिया-संबंधी विधान के और नागर आपराधिक संहिताओं के सिद्धांतों का निर्धारण ।

फ) संघीय नागरिकता-संबंधी विधान, विदेशियों के अधिकारों-संबंधी विधान ।

ब) विवाह और परिवार-संबंधी विधान के सिद्धांतों का निर्धारण ।

भ) राज-क्षमा के अखिल संघ अधिनियमों का जारी करना ।

अनुच्छेद १५

संघीय गणराज्यों की प्रभुता सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान के अनुच्छेद १४ में परिभाषित क्षेत्रों तक ही सीमित है । इन क्षेत्रों के बाहर हर संघीय गणराज्य स्वतंत्र रूप से राज्य-अधिकार का प्रयोग करता है । सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ संघीय गणराज्यों के प्रभुसत्ता अधिकारों का संरक्षण करता है ।

अनुच्छेद १६

हर संघीय गणराज्य का अपना संविधान होता है, जिसमें गणराज्य के विशिष्ट स्वरूप का ध्यान रखा जाता है और जिसे सोवियत समाजवादी गणराज्य के संविधान के पूर्णतः अनुरूप तैयार किया जाता है ।

अनुच्छेद १७

प्रत्येक संघीय गणराज्य संघ का सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ से अबाध रूप में अलग हो जाने का अधिकार आरक्षित है ।

अनुच्छेद १८

किसी गणराज्य संघ का राज्य क्षेत्र उसकी सम्मति के बिना नहीं बदला जा सकेगा ।

अनुच्छेद १८ (क)

हर संघ गणराज्य को विदेशों के साथ सीधे संबंध करने का और उनके साथ करार करने तथा राजनयिक एवं वाणिज्य दूतीय प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान करने का अधिकार है ।

अनुच्छेद १८ (ख)

प्रत्येक संघीय गणराज्य की अपनी गणराज्य सैन्य-संरचना होती है।

अनुच्छेद १९

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की विधियों का प्रत्येक संघ गणराज्य के राज्य-क्षेत्र में वही प्रभाव होता है।

अनुच्छेद २०

किसी संघीय गणराज्य की विधि और संघ की किसी विधि के बीच मतभेद होने पर संघीय विधि अभिभावी होगी।

अनुच्छेद २१

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों के लिए एक रूप संघ नागरिकता की स्थापना की गई है।

किसी संघीय गणराज्य का प्रत्येक नागरिक सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का नागरिक है।

अनुच्छेद २२

रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य में ये शामिल हैं: बश्किर, बुरियत, दघेस्तान, कवरडिनियन,-वालकार, काल्मीकी, कारेलियन, कौमी, भारी, मौरडोदियन, उत्तरी औसीटियन टाटार, उद्मुर्त, चैंचेनों, इंगुश, च्वाश और याकूत स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य, तथा आद्यगेयी, गौरनीअल्ताई, यहूदी, काराचाई-चरकेस, तुवा और खाकास स्वायत्त स्वदेश।

अनुच्छेद २३

निरसित

अनुच्छेद २४

अजरवेजान सोवियत समाजवादी गणराज्य में ये शामिल हैं: नाखीचेवान् स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य और नागोर्नी करवख स्वायत्त प्रदेश।

अनुच्छेद २५

जार्जियन सोवियत समाजवादी गणराज्य में ये शामिल हैं: अबखजियान् और अजारियन् स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य और दक्षिण ओसेटियन स्वायत्त प्रदेश।

अनुच्छेद २६

उजबेक सोवियत समाजवादी गणराज्य में करा-कल्पाक स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य शामिल है।

अनुच्छेद २७

ताजिक सोवियत समाजवादी गणराज्य में गोर्नी बदखशां, स्वायत्त प्रदेश शामिल है।

अनुच्छेद २८

संघीय गणराज्यों के प्रदेशों और राज्य-क्षेत्रों के प्रशासनिक राजक्षेत्रीय ढाँचे संबंधी समस्याओं का समाधान संघीय गणराज्यों के क्षेत्राधिकार के भीतर आता है।

अनुच्छेद २९

निरंसित

अध्याय ३ : सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में राज्य शक्ति के उच्चतर अंग

अनुच्छेद ३०

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में राज्य-शक्ति का उच्चत्तम अंग सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत है ।

अनुच्छेद ३१

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत संविधान के अनुच्छेद १४ के अनुसार सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में निहित सभी अधिकारों का प्रयोग करती है, जहाँ तक वे संविधान के कारण सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के उन अंगों के क्षेत्राधिकार में नहीं आते, जो सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के प्रति उत्तरदायी है अर्थात् सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रि-परिषद् और सोवियत समाजवादी संघ गणराज्य संघ के मंत्रालय।

अनुच्छेद ३२

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की विधायिनी शक्ति का प्रयोग अनान्यतः सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा किया जाता है।

अनुच्छेद ३३

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत में दो सदन होते हैं : संघ की सोवियत और नेशनलिटीज की सोवियत।

अनुच्छेद ३४

संघ की सोवियत का चुनाव सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों द्वारा ३ लाख की आबादी के प्रत्येक अंश के लिए एक डिपुटी के आधार पर बनाए गए चुनाव जिलों द्वारा मतदान दे कर किया जाता है।

अनुच्छेद ३५

नेशनलिटीज का चुनाव सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों द्वारा संघीय गणराज्यों, स्वायत्त गणराज्यों, स्वायत्त प्रदेशों और राष्ट्रीय क्षेत्रों के जरिए प्रत्येक संघ गणराज्य से २५ डिपुटी, प्रत्येक स्वायत्त गणराज्य से ११ डिपुटी, प्रत्येक स्वायत्त प्रदेश से ५ डिपुटी और प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र से १ डिपुटी के आधार पर मतदान दे कर किया जाता है।

अनुच्छेद ३६

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत का चुनाव ४ सालों की अवधि के लिए किया जाता है।

अनुच्छेद ३७

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के दोनों सदनों, संघ सोवियत और नेशनलिटीज सोवियत को समान अधिकार मिले हुए हैं।

अनुच्छेद ३८

संघ सोवियत और नेशनलिटीज को विधान का सूत्रपात्र करने की समान शक्ति है।

अनुच्छेद ३९

किसी विधि को उस समय पास किया हुआ मान लिया जाता है, यदि वह सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के दोनों सदनों द्वारा प्रत्येक में साधारण बहुसंख्यक मतदान द्वारा पास कर दिया जाता है।

अनुच्छेद ४०

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा पास की गई विधियाँ सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम के अध्यक्ष और सचिव के हस्ताक्षरों के साथ संघीय गणराज्य की भाषाओं में प्रकाशित कर दी जाती हैं।

अनुच्छेद ४१

संघ की सोवियत और नेशनलिटीज की सोवियत के सत्र साथ-साथ ही शुरू और खत्म होते हैं।

अनुच्छेद ४२

संघ की सोवियत संघ की सोवियत का एक सभापति और चार उप-सभापति चुनती है।

अनुच्छेद ४३

नेशनलिटीज की सोवियत नेशनलिटीज सोवियत के एक सभापति और चार

उप-सभापति चुनती है।

अनुच्छेद ४४

संघ की सोवियत और नेशनलिटीज की सोवियत से सभापति संबंधित सदनों की बैठकों का सभापतित्व करते हैं और उनके कार्य और कार्यवाही के संचालन के प्रभारी होते हैं।

अनुच्छेद ४५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों का सभापतित्व संघ के सभापति और नेशनलिटीज की सोवियत के सभापति द्वारा एकांतर रूप से किया जाता है।

अनुच्छेद ४६

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के सत्रों का संयोजन सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम द्वारा साल में दो बार किया जाता है।

असाधारण सत्रों का संयोजन सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम द्वारा विवेकानुसार या संघीय गणराज्यों में से किसी की माँग पर किया जाता है।

अनुच्छेद ४७

संघ की सोवियत और नेशनलिटीज की सोवियत के बीच मतभेद होने पर उस प्रश्न को निबटारे के लिए सदनों द्वारा समता के आधार पर बनाए गए एक सौमनस्य आयोग को सौंप दिया जाता है। यदि सौमनस्य आयोग किसी समझौते में पहुँचने में असफल रहता है या उसका निर्णय दोनों में किसी एक सदन का समाधान करने में असफल रहता है, तो उस प्रश्न पर सदनों में दूसरी बार विचार किया जाता है। दोनों सदनों के बीच सहमति न होने पर सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम सोवियत समाजवादी का विघटन कर देती है और नए चुनाव का आदेश दे देती है।

अनुच्छेद ४८

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम का चुनाव करती है, जिसमें सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम का एक अध्यक्ष और १५ उपाध्यक्ष—प्रत्येक संघीय गणराज्य से एक-एक, प्रेसीडियम का एक सचिव और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम के १६ सदस्य होते हैं।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम अपने सभी कार्यकलाप के लिए सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत के प्रति उत्तरदायी है।

अनुच्छेद ४९

सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम :

(क) सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत के तंत्रों को बुलाती है।

(ख) आज्ञप्तियाँ जारी करती है,

(ग) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की प्रचलित विधियों का निर्वचन करती है।

(घ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के अनुच्छेद ४७ के अनुरूप सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत का विघटन कर देती है और नए चुनावों का आदेश देती है।

(ङ) स्वयं पहल करके या किसी एक संघीय गणराज्य की माँग पर राष्ट्रव्यापी मतग्रहण (मतगणना) कराती है।

(च) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के और संघीय गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के आदेशों और निर्णयों को रद्द करती है, यदि वे विधि के अनुरूप नहीं होते।

(छ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के सत्रों के बीच के मध्यकाल में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की निम्न परिषद् के सभापति की सिफारिश पर, बाद में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा पुष्टि के अधीन रहते हुए, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मंत्रियों को छोड़ती और नियुक्त करती है।

(ज) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के अलंकरणों (आर्डर और पदक) तथा सम्मान-उपाधियों की स्थापना करती है।

(झ) आर्डर और पदक प्रदान करती है और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सम्मान-उपाधियों को प्रदान करती है।

(ञ) क्षमा देने के अधिकार का प्रयोग करती है।

(ट) सैन्य उपाधियों, राजनयिक पदवियों और दूसरी विशेष उपाधियों को स्थापित करती है।

(ठ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सशस्त्र सेनाओं के उच्च कमान को नियुक्त और पदच्युत करती है।

(ड) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के सत्रों के

बीच के मध्यकाल में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ पर सैन्य हमला होने की स्थिति में या आक्रमण के विरुद्ध रक्षा-संबंधी अंतर्राष्ट्रीय संधि दायित्वों के लिए जरूरी होने पर युद्ध की स्थिति की उद्घोषणा करती है।

(ढ) आम या आंशिक आमबंधी का आदेश देती है।

(ण) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की अंतर्राष्ट्रीय संधियों का अनुसमर्थन करती है और उनको भंग कर देती है।

(त) विदेशों में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के पूर्णाधिकारी प्रतिनिधि नियुक्त करती है या उनको वापस बुला लेती है।

(थ) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की रक्षा के हित में या लोकव्यवस्था और राज्य की सुरक्षा बनाए रखने के हित में अलग स्थानों पर या पूरे सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में सैन्य-शासन की उद्घोषणा करती है।

अनुच्छेद ५०

संघ की सोवियत और नेशनलिटीज की सोवियत संबंधित सदनों के सदस्यों के प्रत्यय पत्रों की जाँच करने के लिए प्रत्यय समितियाँ चुनती है।

प्रत्यय समितियों का प्रतिवेदन मिलने पर सदन निर्णय करते हैं कि डिपुटियों के प्रत्यय पत्रों को मान्यता दी जाए या उनका चुनाव रद्द कर दिया जाए।

अनुच्छेद ५१

सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत जब कभी जरूरी समझती है, जाँच आयोग का किसी मामले के संबंध में लेखा परीक्षा की नियुक्ति करती है।

सभी अधिकारियों और संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे आयोगों की माँग का पालन करें और उनको सभी जरूरी सामग्री और प्रलेख प्रस्तुत कर दें।

अनुच्छेद ५२

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के किसी सदस्य पर सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की सहमति के बिना न तो मुकदमा चलाया जा सकेगा, न उसे गिरफ्तार किया जा सकेगा। या जब सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत का सत्र न चल रहा हो, तो सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम की सहमति के बिना ऐसा न किया जा सकेगा।

अनुच्छेद ५३

सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की पदावधि खत्म होने पर या पदावधि खत्म होने से पहले उसका विघटन हो जाने पर सोवियत समाजवादी

गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम तब तक उसकी शक्ति रखती है, जब तक सोवियत समाजवादी गणराज्य की नवनिर्वाचित सुप्रीम सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की नई प्रेसीडियम न बना ले।

अनुच्छेद ५४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की पदावधि खत्म होने पर या उसकी पदावधि खत्म होने के पहले उसका विघटन हो जाने पर सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की पदावधि खत्म होने की तारीख या उसके विघटन की तारीख के दो महीने से अनधिक समय के भीतर नए चुनाव कराए जाने का आदेश देती है।

अनुच्छेद ५५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की नवनिर्वाचित सुप्रीम सोवियत को सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ सुप्रीम सोवियत की बाहर जाने वाली प्रेसीडियम द्वारा चुनाव के बाद तीन महीने से पहले बुलाया जाता है।

अनुच्छेद ५६

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सरकार अर्थात् सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति करती है।

अध्याय ४ : संघीय गणराज्यों में शक्ति के उच्चत्तर अंग

अनुच्छेद ५७

किसी संघीय गणराज्य की राज्य-शक्ति का उच्चतम अंग संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत है।

अनुच्छेद ५८

संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत का चुनाव गणराज्य के नागरिकों द्वारा चार साल की पदावधि के लिए किया जाता है।

प्रतिनिधित्व का आधार संघीय गणराज्य के संविधान द्वारा तय किया जाता है।

अनुच्छेद ५९

किसी संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत उस गणराज्य का एकमात्र विधायी अंग है।

अनुच्छेद ६०

किसी संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत :

(क) गणराज्य के संविधान को मंजूर करती है और सोवियत समाजवादी गणराज्य के संविधान के अनुच्छेद १६ के अनुरूप उतने संशोधन करती है।

(ख) इसके अंगभूत स्वायत्त गणराज्यों के संविधाओं की पुष्टि करती है और उनके राज्य-क्षेत्र की सीमाओं को परिभाषित।

(ग) राजकीय—आर्थिक आयोजना को और गणराज्य के आयव्ययक को मंजूर करती है और आर्थिक प्रशासन के क्षेत्रों को तय करती है।

(घ) संघीय गणराज्य के न्यायांग द्वारा दंडित नागरिकों को राज-क्षमा और क्षमा देने के अधिकार का प्रयोग करती है।

(ङ) संघीय गणराज्य के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रतिनिधित्व के प्रश्नों का निर्णय करती है।

(च) गणराज्य की सैन्य संरचनाओं के संगठन का तरीका निर्धारित करती है।

अनुच्छेद ६१

संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम को नियुक्त करती है जिसमें संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम का एक अध्यक्ष होता है, उपाध्यक्ष होते हैं, एक प्रेसीडियम का सचिव होता है और संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम के सदस्य होते हैं।

संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम की शक्तियाँ संघीय गणराज्य के संविधान द्वारा परिभाषित की जाती हैं।

अनुच्छेद ६२

संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत अपनी बैठकों को चलाने के लिए एक अध्यक्ष और उपाध्यक्षों को चुन लेती है।

अनुच्छेद ६३

संघीय गणराज्य सुप्रीम सोवियत संघीय गणराज्य की सरकार अर्थात् संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् को नियुक्त करती है।

अध्याय ५ : सोवियत समाज का गणराज्य संघ के राज्य प्रशासन के अंग

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की राज्य-शक्ति का उच्च कार्यपालक और प्रशासक अंग सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् है।

अनुच्छेद ६५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् सोवियत समाजवादी सुप्रीम सोवियत के सामने उत्तरदायी है। या सुप्रीम सोवियत के सत्रों के बीच

मध्यांतर होने पर सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम के प्रति उत्तरदायी है।

अनुच्छेद ६६

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् चालू विधियों के अनुसरण में और उनके आधार पर आदेश और निर्णय निकालती है और उनके अमल में लाए जाने की पड़ताल करती है।

अनुच्छेद ६७

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के निर्णय और आदेश सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के पूरे क्षेत्र में वाध्यकर होते हैं।

अनुच्छेद ६८

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् :

(क) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के अखिल संघ और संघ-गणराज्य मंत्रालयों के काम का समन्वय करती है और निदेश निकालती है और साथ ही अपने क्षेत्राधिकार के अधीन दूसरी संस्थाओं के बारे में भी ऐसा ही करती है और संघीय गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के जरिए आर्थिक प्रशासन क्षेत्रों की मंत्रिपरिषदों का मार्गदर्शन करती है।

(ख) राष्ट्रीय–आर्थिक आयोजना को और राज्य आय-व्ययक को चलाने के लिए और उधार और मुद्रा-पद्धति को सुदृढ़ करने के उपायों को स्वीकार करती है।

(ग) सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य के हितों के संरक्षण के लिए और नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपाय करती है।

(घ) विदेशों से संबंध के क्षेत्र में सामान्य अभिदर्शन प्रदान करती है।

(ङ) सैन्य सेवा के लिए बुलाए जाने वाले नागरिकों की वार्षिक टुकड़ी को तय करती है और देश की सशस्त्र सेनाओं के सामान्य संगठन को निदेशित करती है।

(च) जहाँ जरूरी हो, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्य तथा रक्षा के लिए सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के अधीन विशेष समितियों और केंद्रीय प्रशासन को नियुक्त करती है।

अनुच्छेद ६९

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् को प्रशासन और अर्थव्यवस्था की उन शाखाओं के बारे में अधिकार होता है, जो सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ क्षेत्राधिकार के भीतर आती है और संघीय गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों और आर्थिक प्रशासन क्षेत्रों की आर्थिक परिषदों के निर्णयों और आदेशों को

निलंबित कर सकती है और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मंत्रियों के आदेशों और हिदायतों को रद्द कर सकती है।

अनुच्छेद ७०

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा की जाती है और उसमें ये लोग होते हैं :

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के प्रथम उप-सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के उप-सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मंत्री।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की राज्य आयोजना समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् से सोवियत नियंत्रण आयोग के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य की मंत्रिपरिषद् की राज्य श्रम और मजदूरी समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की व्यवसाय और तकनीकी प्रशिक्षण संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् राज्य वैज्ञानिक और तकनीकी समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की स्वचलन और मशीन-निर्माण संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की तकनीक संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की सुरक्षा तकनीकी संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की रेडियो—विद्युद्णु संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की नौवहन संबंधी राज्य समिति के सभापति।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की निर्माण-संबंधी

राज्य समिति के सभापति ।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की राज्य अन्न और अनाज समिति के सभापति ।

सोवियत समाजवादी मंत्रिपरिषद् की वैदेशिक आर्थिक संबंध-संबंधी राज्य समिति के सभापति ।

सोबियत समाजवादी गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के अधीन राज्य सुरक्षा समिति के सभापति ।

सोवियत समाजवादी गणराज्य राज्य बैंक के प्रशासनिक मंडल के सभापति ।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के अधीन केंद्रीय सांख्यिकीय मंडल के प्रमुख ।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् की राज्य आर्थिक अनुसंधान परिषद् के सभापति ।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् में संघीय गणराज्यों की परिषदों के सभापति पदेन सदस्य होते हैं ।

अनुच्छेद ७१

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ या सोवियत समाजवादी गणराज्य के जिस मंत्री को सोवियत समाजवादी गणराज्य की सुप्रीम सोवियत के किसी सदस्य द्वारा कोई प्रश्न पूछा जाए, उससे उसका मौखिक या लिखित उत्तर संबंधित सदन में तीन दिन से अनधिक अवधि के भीतर देना चाहिए ।

अनुच्छेद ७२

सोवियत समाजवादी गणराज्य के मंत्री सोवियत समाजवादी गणराज्य के क्षेत्राधिकारी के भीतर आने वाली राज्य प्रशासन की शाखाओं को निदेश देते हैं ।

अनुच्छेद ७३

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मंत्री अपने-अपने मंत्रालयों के क्षेत्राधिकार की सीमा के भीतर चालू विधियों के आधार पर और उनके अनुसार और साथ ही सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के निर्णयों और आदेशों के अनुसार आदेश और हिदायतें निकालते हैं और उनके निष्पादन की जाँच करते हैं ।

अनुच्छेद ७४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के मंत्रालय या तो अखिल संघ या संघ गणराज्य मंत्रालय होते हैं ।

अनुच्छेद ७५

प्रत्येक अखिल संघ मंत्रालय उसे सौंपे गए राज्य प्रशासन की शाखा को पूरे

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के राज्य क्षेत्र में या तो सीधे उसके द्वारा नियुक्त निकायों के जरिए निदेश देता है।

अनुच्छेद ७६

संघ गणराज्य मंत्रालय उन्हें सौंपी गई राज्य प्रशासन की शाखाओं को नियमतः संघीय गणराज्यों के तत्संवादी मंत्रालयों के जरिए ही निदेश देते हैं, वे सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम द्वारा पुष्ट की गई एक सूची के अनुसार निश्चित और सीमित संख्या के उद्यमों को ही सीधे-सीधे प्रशासित करते हैं।

अनुच्छेद ७७

नीचे लिखे मंत्रालय अखिल संघ मंत्रालय है :

विदेश व्यापार मंत्रालय
व्यापारी समुद्री मंत्रालय
रेल मंत्रालय
मध्य आकार के मशीन-निर्माण उद्योग-संबंधी मंत्रालय
बिजली घर निर्माण मंत्रालय
परिवहन-निर्माण मंत्रालय

अनुच्छेद ७८

नीचे लिखे मंत्रालय संघीय गणराज्य मंत्रालय हैं :

आंतरिक कार्य मंत्रालय
उच्च और माध्यमिक विदेशीकृत शिक्षा मंत्रालय
भूगर्भ सर्वेक्षण और खनिज संसाधन संरक्षण मंत्रालय
लोक स्वास्थ्य मंत्रालय
वैदेशिक कार्य मंत्रालय
संस्कृति मंत्रालय
रक्षा मंत्रालय
संचार मंत्रालय
कृषि मंत्रालय
वित्त मंत्रालय

अध्याय ६ संघीय गणराज्यों के राज्य प्रशासन के अंग

अनुच्छेद ७९

संघीय गणराज्यों की राज्य शक्ति का उच्चतम कार्यपालक और प्रशासक अंग संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् है।

अनुच्छेद ८०

संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् संघीय की सुप्रीम सोवियत के प्रति या संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत के सत्रों के बीच के मध्यकाल में संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम के प्रति जिम्मेदार और उत्तरदायी है।

अनुच्छेद ८१

संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् सोवियत समाजवादी गणराज्य की चालू विधियों और संघीय गणराज्य भी चालू विधियों और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् के निर्णयों और आदेशों के आधार पर और उनके अनुसार निर्णय और आदेश निकलती है और उनके निष्पादन की जाँच करतीं है।

अनुच्छेद ८२

संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् को अपने स्वायत्त गणराज्यों की मंत्रिपरिषदों के निर्णयों और आदेशों को निलंबित करने और अपने राज्य-क्षेत्रों, प्रदेशों और स्वायत्त प्रदेशों के कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों की कार्यपालिका समितियों के निर्णयों और आदेशों को और साथ ही आर्थिक प्रशासन क्षेत्रों की आर्थिक परिषदों के निर्णयों और आदेशों को रद्द करने का अधिकार है।

अनुच्छेद ८३

संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत द्वारा की जाती है और उसमें ये लोग होते हैं :

संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के सभापति

मंत्रि

राज्य समितियों, आयोगों के सभापति और संघीय गणराज्य की सुप्रीम सोवियत द्वारा संघीय गणराज्य के संविधान के अनुरूप बनाए गए मंत्रिपरिषद् के दूसरे कार्यालयों के प्रमुख।

अनुच्छेद ८४

संघीय गणराज्य के मंत्री संघीय गणराज्य के क्षेत्राधिकार के भीतर आने वाली राज्य प्रशासन की शाखाओं को निदेश देते हैं।

अनुच्छेद ८५

संघीय गणराज्य के मंत्री अपने-अपने मंत्रालयों के क्षेत्राधिकार की सीमाओं के भीतर सोवियत समाजवादी गणराज्य की विधियों और संघीय गणराज्य की विधियों, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् और संघीय गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् और संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के निर्णयों और आदेशों और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संघीय गणराज्य मंत्रालयों के

आदेशों और हिदायतों के आधार पर और उनके अनुसार आदेश और हिदायतें निकालते हैं।

अनुच्छेद ८६

संघीय गणराज्य के मंत्रालय या तो संघीय गणराज्य या गणराज्य मंत्रालय होते हैं।

अनुच्छेद ८७

प्रत्येक संघीय गणराज्य मंत्रालय उसे सौंपी गई राज्य प्रशासन की शाखा को निदेश देता है और संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के तत्संवादी संघीय गणराज्य मंत्रालय दोनों के अधीनस्थ होता है।

अनुच्छेद ८८

प्रत्येक गणराज्य मंत्रालय उसे सौंपी गई राज्य प्रशासन की शाखा को निदेश देता है और संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के सीधे अधीन होता है।

(क) आर्थिक प्रशासन के क्षेत्रों की आर्थिक परिषदें उन्हें सौंपे गए आर्थिक कार्यकलाप की शाखाओं को निदेश देती हैं और संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के सीधे अधीनस्थ होती हैं।

आर्थिक प्रशासन क्षेत्रों की आर्थिक परिषदें अपने क्षेत्राधिकार में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ और संघीय गणराज्य की विधियों और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की मंत्रिपरिषद् और संघीय गणराज्य की मंत्रिपरिषद् के निर्णयों और आदेशों के आधार पर और उनके अनुसार निर्णय और आदेश निकालती हैं।

अध्याय ७ : स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्यों में राज्य शक्ति के उच्चतम अंग

अनुच्छेद ८९

स्वायत्त गणराज्य में राज्य शक्ति का उच्चतम अंग स्वायत्त गणराज्य की सुप्रीम सोवियत होती है।

अनुच्छेद ९०

स्वायत्त गणराज्य की सुप्रीम सोवियत का चुनाव गणराज्य के नागरिकों द्वारा चार साल की अवधि के लिए स्वायत्त गणराज्य के संविधान द्वारा स्थापित प्रतिनिधित्व के आधार पर किया जाता है।

अनुच्छेद ९१

स्वायत्त गणराज्य की सुप्रीम सोवियत स्वायत्त गणराज्य का एक मात्र विधायी अंग है।

अनुच्छेद ९२

प्रत्येक स्वायत्त गणराज्य का अपना संविधान होता है, जो स्वायत्त गणराज्य के विशिष्ट स्वरूप का ध्यान रख कर बनाया जाता है और संघीय गणराज्य के संविधान के पूरी तरह अनुरूप रहते हुए तैयार किया जाता है।

अनुच्छेद ९३

स्वायत्त गणराज्य की सुप्रीम सोवियत स्वायत्त गणराज्य की सुप्रीम सोवियत की प्रेसीडियम को चुनती है और अपने संविधान के अधीन स्वायत्त गणराज्य की मंत्रिपरिषद् को नियुक्त करती है।

अध्याय ८ : राज्य शक्ति के स्थानीय अंग

अनुच्छेद ९४

राज्य क्षेत्रों, प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों, क्षेत्रों, जिला, शहरों और देहाती स्थानों (स्तेनित्साओं, गाँवों, पुरवों, किसलाकों, आऊलों) की राज्य शक्ति के अंग कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतें होती हैं।

अनुच्छेद ९५

राज्य क्षेत्रों प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों, क्षेत्रों जिलों, शहरों और देहाती स्थानों (स्त्रेसाओं, गाँवों, पुरवों, किसलाकों, औलों) की कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों का चुनाव संबंधित राज्य क्षेत्रों, प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों, क्षेत्रों, जिलों, शहरों और देहाती स्थानों की कामगर जनता द्वारा दो साल की अवधि के लिए किया जाता है।

अनुच्छेद ९६

कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों के प्रतिनिधित्व के आधार का निर्धारण संघीय गणराज्यों के संविधानों द्वारा किया जाता है।

अनुच्छेद ९७

कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतें अपने अधीनस्थ प्रशासन अंगों के काम का निदेश देती हैं, लोक-व्यवस्था बनाए रखना आश्वस्त करती हैं, विधियों का पालन और नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण आश्वस्त करती हैं, स्थानीय आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यों का निदेशन करती हैं और स्थानीय आय-व्ययक तैयार करती हैं।

अनुच्छेद ९८

कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतें सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ और संघीय गणराज्य की विधियों द्वारा उनमें विहित शक्तियों की सीमा के भीतर निर्णय लेती हैं और आदेश निकालती हैं।

अनुच्छेद ९९

राज्य क्षेत्र, प्रदेश, स्वायत्त प्रदेश, क्षेत्र, जिला, शहर या देहाती स्थान को कामगर लोक डिपुटियों की सोवियत का कार्यपालक और प्रशासनिक अंग उसके द्वारा चुनी गई कार्यपालिका समिति होती हैं, जिसमें एक सभापति, उप-सभापति एक सचिव और सदस्य होते हैं।

अनुच्छेद १००

एक छोटे स्थान में कामगर लोक डिपुटियों की सोवियत का कार्यपालक और प्रशासनिक अंग संघीय गणराज्य के संविधान के अनुसार, सभापति, उप-सभापति, और सचिव होते हैं, जिनका चुनाव कामगर लोक डिपुटियों की सोवियत द्वारा किया जाता है।

अनुच्छेद १०१

कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों के कार्यपालक अंग कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों के जो उनको चुनती हैं और कामगर लोक डिपुटियों की वरिष्ठ सोवियत के कार्यपालक अंग दोनों के प्रति सीधे उत्तरदायी होते हैं।

अध्याय ९ : न्यायालय और अभियोजक का कार्यालय

अनुच्छेद १०२

सोबियत समाजवादी गणराज्य संघ में न्याय का स्त्रशासन सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के उच्चत्तम न्यायालय, संघीय गणराज्यों के उच्चत्तम न्यायालयों राज्य क्षेत्रों, प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों और क्षेत्रों के न्यायालयों, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के निर्णय से स्थापित सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के विशेष न्यायालयों और लोक न्यायालयों द्वारा किया जाता है।

अनुच्छेद १०३

सभी न्यायालयों में मुकदमों की जांच विधि द्वारा की गई विशेष व्यवस्था को छोड़ कर जनता के निर्धारकों के सहयोग से की जाती है।

अनुच्छेद १०४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का उच्चत्तम न्यायालय उच्चत्तम न्यायांग है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के और संघीय गणराज्यों के विधि द्वारा स्थापित सीमाओं के भीतर न्यायांगों के कार्यकलाप के पर्यवेक्षण का भार सौंपा जाता है।

अनुच्छेद १०५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के उच्चतम न्यायालय का चुनाव सोवियत संमाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा पाँच साल की अवधि

के लिए किया जाता है।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के उच्चत्तम न्यायालय ने संधीय गणराज्यों के उच्चत्तम न्यायालयों के सभापति पदेन शामिल होते हैं।

अनुच्छेद १०६

संघीय गणराज्यों के उच्चत्तम न्यायालयों का चुनाव संघीय गणराज्यों की सुप्रीम सोवियतों द्वारा पाँच साल की अवधि के लिए किया जाता है।

अनुच्छेद १०७

स्वायत्त गणराज्यों के उच्चत्तम न्यायालयों का चुनाव स्वायत्त गणराज्यों की सुप्रीम सोवियतों द्वारा पाँच सालों की अवधि के लिए किया जाता है।

अनुच्छेद १०८

राज्य क्षेत्रों प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों और क्षेत्रों के न्यायालयों का चुनाव संबंधित राज्य क्षेत्रों, प्रदेशों, स्वायत्त प्रदेशों और क्षेत्रों के कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों द्वारा पाँच साल की अवधि के लिए किया जाता है।

अनुच्छेद १०९

जिला (शहर) के लोक न्यायालयों के लोक न्यायाधीशों का चुनाव जिलों (शहरों) के नागरिकों द्वारा सार्वजनीन प्रत्यक्ष और समान मताधिकार के आधार पर गुप्त शलाका द्वारा पाँच साल की अवधि के लिए किया जाता है।

जिला (शहर) के लोक न्यायालयों के लोक निर्धारकों का चुनाव औद्योगिक, दफ्तर के और व्यावसायिक कामगरों तथा किसानों द्वारा अपनी काम की जगहों या निवास की जगहों पर आम सभा में और सैन्य-इकाइयों में सैनिकों की आम सभा में किया जाता है।

अनुच्छेद ११०

न्याय कार्यवाही संघीय गणराज्य, स्वायत गणराज्य या स्वायत्त प्रदेश की भाषा में चलायी जाती है और जिन लोगों को यह भाषा नहीं आती, उनको यह गारंटी दी जाती है कि मुकदमों की सामग्री से एक दुभाषिये के जरिए अपने को पूरी तरह परिचित बनाने का अवसर दिया जाएगा और उसी तरह उनको न्यायालय में अपनी भाषा के प्रयोग का अधिकार दिया जाता है।

अनुच्छेद १११

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के सभी न्यायालयों में मुकदमों की सुनवाई सार्वजनिक तौर पर होती है, जब तक कि विधि में अन्यथा व्यवस्था न हो

और अपराधी को बचाव के अधिकार की गारंटी दी जाती है।

अनुच्छेद ११२

न्यायाधीश स्वतंत्र होते हैं और केवल विधि के अधीन होते हैं।

अनुच्छेद ११३

सभी मंत्रालयों और उनके अधीनस्थ संस्थाओं तथा साथ ही आमतौर पर सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के कर्मचारियों और नागरिकों द्वारा विधि के सख्त पालन को आश्वस्त करने की उच्चत्तम पर्यवेक्षण शक्ति सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के महाअभियोजक में विहित होती है।

अनुच्छेद ११४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के महाअभियोजक की नियुक्ति सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा ७ साल की अवधि के लिए की जाती है।

अनुच्छेद ११५

गणराज्यों, राज्य क्षेत्रों, प्रदेशों, स्वायत्त गणराज्यों और स्वायत्त प्रदेशों के अभियोजकों की नियुक्ति सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के महाअभियोजक द्वारा ५ साल की अवधि के लिए की जाती है।

अनुच्छेद ११६

क्षेत्र, जिला और शहर के अभियोजकों की नियुक्ति संघीय गणराज्यों के अभियोजकों द्वारा सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के महाअभियोजक के अनुमोदन के अधीन ५ साल की अवधि के लिए की जाती है।

अनुच्छेद ११७

अभियोजक के कार्यालय के अंग किसी भी स्थानीय अंग से स्वतंत्र रह कर अपने कृत्यों का निर्वहन करते हैं और एकमात्र सोवियत समाजवादी गणराज्य के महाअभियोजक के ही अधीन होते हैं।

अध्याय १० : नागरिकों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य

अनुच्छेद ११८

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को काम करने का अधिकार है अर्थात् गारंटी किए हुए रोजगार और मात्रा और किस्म के अनुसार अपने काम के लिए भुगतान पाने का अधिकार है।

काम करने का अधिकार राष्ट्रीय अर्थतंत्र के समाजवादी संगठन, सोवियत समाज के उत्पादक तत्वों के तीव्र विकास, आर्थिक संकट की संभावना दूर करके

और बेरोजगारी को समाप्त करके आश्वस्त किया जाता है।

अनुच्छेद ११९

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को आराम और अवकाश का अधिकार है।

आराम और अवकाश का अधिकार औद्योगिक दफ्तर के और व्यावसायिक कामगरों के लिए आठ घंटे के दिन की स्थापना करके, कठोर श्रम वाले व्यवसायों के लिए कार्य दिन ७ या ६ घंटे घटा कर और खास तौर पर कठोर श्रम वाली काम की हालतों वाली दूकानों में ४ घंटे तक घटा कर औद्योगिक दफ्तर के और व्यावसायी कामगरों को पूरे वेतन पर वार्षिक दीर्घावकाश की स्थापना करके और आरोग्य-आश्रमों, अवकाशगृहों और क्लबों में कामगर जनता के निवास की व्यवस्था का जाल फैला कर आश्वस्त किया जाता है।

अनुच्छेद १२०

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को बुढापे में और बीमारी या असमर्थता के मामले में भीं संधारण का अधिकार है।

यह अधिकार औद्योगिक, दफ्तर के और व्यावसायिक कामगरों के लिए राज्य के खर्च पर समाज बीमा का व्यापक विकास करके, कामगर लोगों के लिए निःशुल्क चिकित्सा सेवा की व्यवस्था करके और कामगर लोगों के उपयोग के लिए स्वास्थ्य केंद्रों का व्यापक जाल फैला कर आश्वस्त किया जाता है।

अनुच्छेद १२१

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को शिक्षा का अधिकार है।

यह अधिकार सार्वजनीन आठ साल की अनिवार्य शिक्षा द्वारा, माध्यमिक सामान्य पोलिटेकनिक शिक्षा का, व्यावसायिक तकनीकी शिक्षा का और माध्यमिक विशेषीकृत उच्चत्तर शिक्षा का जो स्कूल और जीवन तथा उत्पादन के बीच निकट के संबंध पर आधारित होती है, और ज्यादा व्यापक विकास करके, संध्या और पाठेतर शिक्षा का बहुत ज्यादा विकास करके, सभी विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा द्वारा राज्य अनुदानों की प्रणाली द्वारा, निःशुल्क शिक्षा द्वारा, राज्य अनुदानों की प्रणाली द्वारा, स्कूलों में पढ़ाई स्थानीय भाषा में चलाकर और कारखानों, सरकारी फार्मों और सामूहिक फार्मों में कामगर लोगों के लिए निःशुल्क व्यावसायिक तकनीकी और सस्य विज्ञान प्रशिक्षण की निःशुल्क व्यवस्था करके आश्वस्त किया जाता है।

अनुच्छेद १२२

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में महिलाओं को आर्थिक, सरकारी, सांस्कृतिक, राजनीतिक और दूसरे सार्वजनिक कार्यकलापों में पुरुषों के साथ समान

अधिकार दिया जाता है।

इन अधिकारों के प्रयोग की संभावना को काम करने, काम के लिए भुगतान पाने, आराम और अवकाश, समाज बीमा और शिक्षा और माँ तथा बच्चों के हितों के राज्य-संरक्षण द्वारा, बड़े परिवारों की माताओं और अविवाहित माताओं के लिए राज्य-सहायता द्वारा पूरे वेतन पर प्रसूति छुट्टी देकर और प्रसूतिगृहों, नर्सरियों और बालवाड़ियो के व्यापक जाल की व्यवस्था करके पुरुषों के साथ स्त्रियों को समान अधिकार देकर आश्वस्त किया जाता है।

अनुच्छेद १२३

सोवियत समाजवादी गणराज्य के नागरिकों के अधिकारों की समानता उनकी राष्ट्रीयता या जाति पर बिना ध्यान दिए आर्थिक, सरकारी, सांस्कृतिक, राजनीतिक और दूसरे सार्वजनिक कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों में एक अखंड और त्रुटिहीन विधि है।

नागरिकों के अधिकारों पर कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रोक या इसके विपरीत उनको कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विशेषाधिकार उनकी जाति या राष्ट्रीयता के आधार पर देना और साथ ही जातीय या राष्ट्रीय एकाकीपन या घृणा और निंदा का समर्थन करना विधि द्वारा दंडनीय है।

अनुच्छेद १२४

नागरिकों के लिए उपासना की स्वाधीनता आश्वस्त करने के लिए सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ में धर्म राज्य और विद्यालय से अलग है। धार्मिक उपासना की स्वाधीनता और धर्मविरोधी प्रचार की स्वाधीनता की मान्यता सभी नागरिकों के लिए दी गई है।

अनुच्छेद १२५

कामगर लोगों के हितों के अनुरूप और समाजवादी पद्धति को सुदृढ़ करने के लिए सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को विधि द्वारा इन चीजों की गारंटी दी जाती है :

(क) भाषण की स्वतंत्रता,

(ख) प्रेम की स्वतंत्रता,

(ग) सभा की स्वतंत्रता, जिसमें सामूहिक बैठकें बुलाना शामिल है।

(घ) गलियों में जुलूस और प्रदर्शन निकालने की स्वाधीनता।

ये नागर अधिकार कामगर लोगों को और उनके संगठनों को मुद्रणालय, कागज के भंडार, सार्वजनिक इमारत और गलियाँ, संचार-सुविधाएं और इन अधिकारों के प्रयोग के लिए अपेक्षित सामग्री प्रदान करके आश्वस्त किए जाते हैं।

अनुच्छेद १२६

कामगर जनता के हितों के अनुरूप और जनसमूह के बीच संगठनात्मक पहलू और राजनीतिक कार्यकलाप को विकसित करने के लिए सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को लोक संगठनों, मजदूर संघों, सहकारी सभाओं, युवा संगठनों, खेलकूद और रक्षा-संगठनों, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक सभाओं में सम्मिलित होने के अधिकार की गारंटी दी गई है; और कामगर वर्ग, कामगर किसानों और कामगर बुद्धिजीवी वर्ग के राजनीतिक रूप से सजग और बड़े ही सक्रिय नागरिक स्वैच्छिक रूप से सोवियत संघ के साम्यवादी दल में सम्मिलित होते हैं, जो कामगर लोगों का साम्यवादी समाज बनाने के उनके अपने संघर्ष का अग्रणी है और सरकार और जनता दोनों के कामगर लोगों के सभी संगठनों का प्रमुख तत्त्व है।

अनुच्छेद १२७

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों को उनके शरीर की अलंघ्यता की गारंटी दी जाती है। किसी भी व्यक्ति को न्यायालय के निर्णय या अभियोजक की मंजूरी के बिना गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद १२८

नागरिकों के घरों की अलंघ्यता और पत्राचार की एकांतता को विधि द्वारा संरक्षण दिया जाता है।

अनुच्छेद १२९

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ कामगर लोगों के हितों की रक्षा के कारण या वैज्ञानिक कार्यकलाप के कारण या राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष चलाने के कारण सताए गए विदेशी नागरिकों को शरण लेने का अधिकार प्रदान करता है।

अनुच्छेद १३०

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान के अनुसार चले, विधियों का पालन करे, श्रम-अनुशासन बनाए रखे, सार्वजनिक कर्त्तव्य-निर्वाह में ईमानदारी बरतें और समाजवादी समागम के नियमों का आदर करें।

अनुच्छेद १३१

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि सार्वजनिक समाजवादी संपत्ति की सुरक्षा करें और उसे सुदृढ़ बनाएं तथा उसे सोवियत पद्धति की पवित्र और अलंघ्यनीय, देश की संपदा और शक्ति के स्रोत, और सभी कामगर लोगों की समृद्धि और संस्कृति के स्रोत के रूप में मानें।

सार्वजनिक समाजवादी संपत्ति के विरुद्ध अपराध करने वाले लोग जनता के शत्रु हैं।

अनुच्छेद १३२

सार्वजनीय सैन्य सेवा विधि के समान है।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सशस्त्र सेनाओं में सैन्य सेवा सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के नागरिकों का एक सम्मानित कर्त्तव्य है।

अनुच्छेद १३३

देश की रक्षा करना सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्त्तव्य है। मातृभूमि के प्रति देशद्रोह, निष्ठा की शपथ का उल्लंघन, शत्रु के पास भाग जाना, राज्य की सैन्य शक्ति को हानि पहुँचाना, जासूसी करना—बड़े ही जघन्य अपराध के रूप में कानून की पूरी कठोरता के साथ दंडनीय हैं।

अध्याय ११ : मतदान प्रणाली

अनुच्छेद १३४

कामगर लोक डिपुटियों की सभी सोवियतों के सदस्य—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियतों के, संघीय गणराज्यों की सुप्रीम सोवियतों के, राज्य क्षेत्रों और प्रदेशों की कामगर लोक डिपुटियों के सोवियतों के, स्वायत्त गणराज्यों की सुप्रीम सोवियतों के, स्वायत्त प्रदेशों की कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों के, और क्षेत्र जिला, शहर और देहाती (स्तनिप्सा, गाँव पुरवा, किसलाक, श्रोल) की कामगर लोक डिपुटियों की सोवियतों के—मतदाताओं द्वारा सार्वजनीन समान और प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर गुप्त शलाका द्वारा चुने जाते हैं।

अनुच्छेद १३५

डिपुटियों का चुनाव सार्वजनीन होता है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के ऐसे सभी नागरिक जो १८ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुकते हैं, वे सभी जाति या राष्ट्रीयता, लिंग, धर्म, शिक्षा, निवास, सामाजिक उद्भव, संपत्ति, हैसियत या अतीत के कार्यकलाप पर ध्यान दिए बिना विधिक दृष्टि से पागल प्रमाणित किए गए व्यक्तियों को छोड़ कर डिपुटियों के चुनाव में मत देने का अधिकार रखते हैं।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का प्रत्येक नागरिक जो २३ वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है, सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के लिए जाति या राष्ट्रीयता, लिंग, धर्म, शिक्षा, निवास, सामाजिक उद्भव, संपत्ति, हैसियत या अतीत के कार्यकलापों पर ध्यान दिए बिना चुने जाने का का पात्र हो जाता है।

अनुच्छेद १३६

डिपुटियों के चुनाव समान होते हैं; प्रत्येक नागरिक को एक मत मिलता है, सभी नागरिक चुनाव में समान आधार पर भाग लेते हैं।

अनुच्छेद १३७

महिलाओं को पुरुषों के समान ही चुनाव करने और चुने जाने का अधिकार है।

अनुच्छेद १३८

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सशस्त्र सेनाओं में काम करने वाले नागरिकों को दूसरे सभी नागरिकों के साथ समान आधार पर चुनाव करने और चुने जाने का अधिकार है।

अनुच्छेद १३९

डिपुटियों का चुनाव प्रत्यक्ष होता है : कामगर लोक डिपुटियों की सभी सोवियतें कामगर लोक डिपुटियों की देहाती और शहर सोवियतों से लेकर सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत तक, नागरिक द्वारा प्रत्यक्ष मतदान द्वारा चुनी जाती है।

अनुच्छेद १४०

डिपुटियों के चुनाव में मतदान गुप्त होता है।

अनुच्छेद १४१

उम्मीदवारों का नामन चुनाव जिलों द्वारा किया जाता है।

उम्मीदवारों के नामन का अधिकार कामगर लोगों के सार्वजनिक संगठनों और सभाओं को सुरक्षित किया जाता है जैसे साम्यवादी दल संगठन, मजदूर संघ, सहकारिताएँ, युवा संगठन और सांस्कृतिक सभाएँ।

अनुच्छेद १४२

यह प्रत्येक डिपुटी का कर्त्तव्य है कि अपने मतदाओं को अपने काम और कामगर लोक डिपुटियों की अपनी सोवियत के काम के बारे में बताए और उसे किसी भी समय विधि द्वारा तय किए गए तरीके से मतदाताओं के वहुमत के निर्णय पर वापस वुलाया जा सकता है।

अध्याय १२ : चिन्ह, झंडा, राजधानी

अनुच्छेद १४३

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का राज्य-चिह्न सूरज की किरणों से चित्रित व्रह्मांड को आगे बनाए गए हसिया-हथौड़ा है, जिसके चारों ओर अनाज की बालें बनी होती हैं और उसके साथ संघीय गणराज्यों की भाषाओं में यह लेख रहता

है 'सभी देशों के कामगर, एक हो जाओ।' इन चिह्नों के ऊपर पाँच नोकों वाला एक तारा रहता है।

अनुच्छेद १४४

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का राष्ट्रीय झंडा लाल कपड़े का होता है, जिसमें डंडे के पास के ऊपरी कोने में सुनहले रंग में हँसिया और हथौड़ा चित्रित किए जाते हैं और उनके ऊपर पाँच नोकों का एक लाल तारा सुनहरे हासियों के साथ बना होता है। चौड़ाई का लंबाई के साथ अनुपात १:२ का होता है।

अनुच्छेद १४५

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की राजधानी मास्को शहर है।

अनुच्छेद १४६

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का संविधान सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की सुप्रीम सोवियत के दोनों सदनों में से प्रत्येक द्वारा दो-तिहाई मतों से अन्यून बहुमत द्वारा किए गए निर्णय से ही बदला जा सकता है।

●

हिंदी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली

अंतर्विरोध	Contradiction
अंतर्वेशन	Input
अंतर्भूत मूल्य	Inherent Value
अनर्जित आय	Unearned Income
अनार्थिक संस्थाएँ	Non-economic Institutions
अनुच्छेद	Article
अनुपात	Ratio
अनुपूरक	Supplementary
अपव्यय	Waste
अपूर्ण पूँजीवाद	Imperfect Capitalism
अभाव	Scarcity
अभिप्रेरण	Incentive
अभिकरण	Agencies
अमानी दरें	Time-Work-Rates
अवपीड़न	Coersion
आर्थिक अरक्षा	Economic Insecurity
आर्थिक असमानता	Economic Inequality
आर्थिक प्राणी	The Economic-man
आर्थिक संस्थाएँ	Economic Institutions
आर्थिक सिद्धांतों की सार्वभौमता	Universality of Economic Principles
आर्थिक शक्ति	Economic Power
आय-व्ययक	Budget
आरक्षित	Reserve
आरोही	Progressive
इतिहास की व्याख्या	Interpretation of History

उजरती दरें	Piece-work Rates
उत्पादक संसाधन	Productive Resources
उत्तराधिकार	Inheritence
उत्तराधिकार-कर	Inheritence-Tax
उद्यमकर्तृ ऊर्जा	Interpreneurical Energy
उपभोग्य वस्तुएँ	Consumer's Goods
एकक	Unit
एकाधिकार	Monopoly
एकांगीपन	One-sidedness
एकाधिकारीय प्रकृति	Monopolistic Nature
कृत्य	Function
गुरूता	Severity
जब्त किया जाना	Confiscatory
तिथिक्रम	Chronological order
धनेतर	Non-Pecuniary
नम्यता	Flexibility
निगमित रूप	Corporate Form
निपुणता के लिए मजदूरी में अंतर	Wage-differential for Skill
निर्वाह	Subsistence
निवेश	Investment
निरूढ़	Inherent
नौकरशाही	Bureaucracy
पण्यावर्त्त कर	Turn-over Tax
प्रतिकर	Compensation
प्रतिरोध	Resistance
प्रतिस्पर्द्धा	Competition
प्रकीर्ण	Miscellaneous
परजीवी	Parasite
परस्परघाती	Internecine
प्रसामान्यक	Norms
प्रयोग मूल्य	Use Value

प्रादेशिक	Regional
पूँजी का दबाव	Concentration of Capital
पूँजी का संचयन	Accumulation of Capital
पूँजीवादी अर्थतंत्र	Capitalist Economy
बढ़ता हुआ जीवन-स्तर	Rising Standards of Living
बाजार मजदूरी	Market Wage
बाजार मूल्य	Market Value
बेशी मूल्य	Surplus Value
मजदूर -वर्ग	Proletariat
माँग त्वरण-सिद्धांत	Acceleration of Demand
मानक स्वरूप	Standard Pattern
मुद्रा-विनिमय दर समीकरण	Equation of Exchange
मूलभूत दोष	Basic Defect
मूल्यांकन	Evaluation
मूल्य-सिद्धांत	Theory of Value
राजकोषीय नीतियाँ	Fiscal Policies
राज्य अभियोजक	The State-Prosecutor
लाभ-अभिप्रेरण	Profit-Motive
वर्ग-संघर्ष	Class-Struggle
वहिर्वेशन	Output
व्यक्तिवाद	Individualism
विनिमय-मूल्य	Exchange Value
विपणन पद्धतियाँ	Marketing Systems
विरासत	Heritage
विलय	Merging
वृद्धिशील	Incremental
वैकल्पिक	Alternative
वैयक्तिक पहल की स्वतंत्रता	Freedom of Individual Initiative
शिल्प-विद्या	Technology
संतुलन का अभाव	Lack of Balance
संक्रमण	Transition

संकल्पनाएँ	Concepts
संभाव्य	Potential
सरकारी बंधपत्र	Government Bonds
सरकारी नियमन	Government Regulation
संविदा	Contract
संसाधन	Resource
सामान्य मजदूरी	Normal Wage
सामाजिक विघटन कार्य-शक्तियाँ	Socially Disruptive Forces
सामूहिकीकरण	Collectivization
स्थिरीकरण	Statrilization
स्वयं को चिररक्ष बनानेवाला	Self-Perpetuating
स्वामित्व	Ownership
स्वैच्छिक तरीका	Arbitrary Manner
स्वैच्छिक	Voluntary
सोद्देश्य कार्य	Purposive Action
ह्रासमान तुष्टिगुण सिद्धांत	Principle of Diminishing Utility
ह्रासमान प्रतिफल सिद्धांत	Principle of Diminishing Return

द.नं.१६३८३